विवरणप्रमेयसंग्रहः

[भाषानुवादसहितः]

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,

काशी ।

विवरणप्रमेयसंग्रहः

[भाषानुवादसहितः]

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी ।

विवरणप्रमेयसंग्रहः

[भाषानुवादसहितः]

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,

काशी ।

विवरणप्रमेयसंग्रहः

[भाषानुवादसहितः]

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी ।

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागेऽष्टमं प्रसूनम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यमुनिविरचितः

विवरणप्रमेयसंग्रहः

व्याकरणाचार्य-काव्यतीर्थ-वेदान्तमर्मज्ञपण्डितश्रीललिताप्रसाद-
डबरालकृतेन भाषानुवादेन

समलङ्कृतः

श्रीजो० म० गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयभूतपूर्वाध्यक्षेण पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्लशास्त्रिणा
श्रीमदच्युतग्रन्थमाला-विश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षेण साहित्याचार्य-
पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिणा च

सम्पादितः

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,

काशी।

प्रथमावृत्तिः १५००]   संवत् १९९६   मूल्यम्

प्रकाशक--
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी

मुद्रक
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी

* श्री *

सम्पादकीय वक्तव्य

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्यमुनिजीकी कृति विवरणप्रमेयसंग्रहको भाषानुवादके साथ पाठकोंके सम्मुख रखते हमें परम हर्ष हो रहा है। वेदान्त-दर्शनमें दो प्रस्थान अति प्रसिद्ध हैं—विवरणप्रस्थान और भामतीप्रस्थान। यह विवरणप्रस्थानका अति प्रामाणिक और समादृत ग्रन्थ है। चतुःसूत्री भाष्यपर लिखी गई पञ्चपादिका टीकाके नौ वर्णकोंका यह व्याख्यानरूप है। पञ्चपादिकाके ऊपर प्रकाशात्म यति द्वारा निर्मित विवरणनामक निबन्धका अवलम्बन कर विवरण-प्रमेयसंग्रहकी रचना की गई है। विवरणप्रमेयसंग्रहके आरम्भमें स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं—

'भाष्यटीकाविवरणं तन्निबन्धनसङ्ग्रहः।
व्याख्यानव्याख्येयभावक्लेशहानाय रच्यते॥'

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रमेयांशके विषयमें अनुवादकने भूमिकामें प्रकाश डाल ही दिया है, उसको दुहराना पिष्टपेषण होगा, अतः उसपर मौनमुद्रा धारण कर मैं ग्रन्थकारके जीवनके विषयमें दो चार शब्द निवेदन कर देना चाहता हूँ।

श्रीविद्यारण्यमुनिका पूर्वावस्थाका नाम माधवाचार्य था। उन्होंने सन् १३३५ ई० में विजयनगरके राज्यकी नींव डाली थी और स्वयं राज्यका मन्त्रिपद ग्रहण कर उसका विस्तार किया था। उन्हींके सत्प्रयत्न और बुद्धिबलसे दक्षिणमें यवनसाम्राज्य शिथिल हुआ था। श्रीमाधवाचार्यजीका जन्म तेरहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हुआ था और चौदहवीं शताब्दीके अन्त भागमें उनका देहावसान हुआ था। वे लगभग १०० वर्षतक जीवित रहे थे। उनके पिताका नाम श्रीमायण और माताका नाम श्रीमती था, एवं वेदभाष्यकार सायण और भोग-नाथ दो उनके सहोदर भाई थे। उनका बौधायन सूत्र और भारद्वाज गोत्र था।

उन्होंने पराशरमाधवके प्रारम्भ श्लोकमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्त्तिर्मायणः पिता।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ॥

बौधायनं यस्य सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी ।
भारद्वाजं यस्य गोत्रं सर्वज्ञः स हि माधवः ॥

प्रतीत होता है कि माधवाचार्यका कुल नाम 'सायण' था । सर्वदर्शनसंग्रहके आरम्भ श्लोकमें उन्होंने अपनेको सायणरूपी क्षीरसागरका कौस्तुभ कहा है—

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धेः कौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ॥
पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोच्य शास्त्राण्यसौ ।
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरुपन्यासत् सतां प्रीतये ॥

माधवीय धातुवृत्तिके आरम्भ श्लोकमें उन्होंने अपने श्रीपितृचरण मायणको भी सायण उपाधिसे अलङ्कृत किया है—

अस्ति श्रीसङ्गमक्ष्मापः पृथ्वीतलपुरन्दरः ।
तस्य मन्त्रिशिखारत्नमस्ति मायणसायणः ॥

पिताके नामके साथ सायणशब्दका प्रयोग करनेसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सायण माधवका कुल नाम था । वेदभाष्यकार सायणाचार्य अपने कुलनामसे ही प्रसिद्ध थे । पराशरमाधवमें उन्होंने 'सायणो भोगनाथश्च' वाक्य द्वारा सायणके कुलनामका ही उल्लेख किया है ।

तैत्तिरीयसंहिताके भाष्यके आरम्भ श्लोकसे भी उनका 'सायण' कुल नाम था, यही स्फुट प्रतीत होता है—

'अन्वशात् माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥
स प्राह नृपतिं राजन् सायणार्यो ममाऽनुजः ।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम् ॥
इत्युक्तो माधवार्येण वीरबुक्कमहीपतिः ।
अन्वशात् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥'

जहांपर 'सायणमाधवीय' इस प्रकारका उल्लेख है, वहांपर भी 'सायण' कुल नाम ही संगत होता है और जहां पर 'सायणाचार्यविरचिते माधवीये' ऐसा उल्लेख है, वहांपर माधवाचार्यकी आज्ञासे सायण द्वारा विरचित यही अर्थ युक्तियुक्त प्रतीत होता है । और भी अनेक स्थलोंमें श्रीसायणाचार्यकी कुलनामसे प्रसिद्धि देखी गई है । अतः माधवाचार्यका 'सायण' कुलनाम ही था ।

श्रीमाधवाचार्यजीके ग्रन्थोंके अवलोकनसे प्रतीत होता है कि उनके तीन

गुरु थे—श्रीशङ्करानन्द, श्रीविद्यातीर्थ और श्रीभारतीतीर्थ। उन्होंने विवरणप्रमेयके आरम्भमें श्रीशङ्करानन्दजीको प्रणाम किया है—

स्वमात्रयानन्दयदत्र जन्तून् सर्वात्मभावेन तथा परत्र।
यच्छङ्करानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद् यतयो विशन्ति॥

और ग्रन्थकी समाप्तिमें श्रीविद्यातीर्थजीको ग्रन्थका समर्पण किया है—

यद्विद्यातीर्थगुरवे शुश्रूषाऽन्या न रोचते तस्मात्।
अस्त्वेषा भक्तियुता श्रीविद्यातीर्थपादयोः सेवा॥

और जैमिनीयन्यायमालाविस्तरमें उन्होंने श्रीभारतीतीर्थको गुरुरूपसे प्रणाम किया है—

स भव्याद् भारतीतीर्थयतीन्द्रचतुराननात्।
कृपामव्याहतां लब्ध्वा परार्ध्यप्रतिमोऽभवत्॥

इससे प्रतीत होता है कि श्रीमाधवाचार्यके (श्रीविद्यारण्यमुनीश्वरके) पहले विद्यातीर्थ गुरु थे, उनके देहावसानके पश्चात् उनके शिष्य श्रीभारतीतीर्थके समीप उन्होंने विद्या प्राप्त की थी और वृद्धावस्थामें श्रीशङ्करानन्दजीसे संन्यासदीक्षा ली थी, इस प्रकार उनके तीन गुरु होनेमें कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती।

श्रीमाधवाचार्यने चिरकाल तक विजयनगरराज्यके मन्त्रित्वपदमें आसीन रहकर, बड़ी कुशलतासे राज्यका संचालन और विस्तार कर वृद्धावस्थामें संन्यासग्रहण किया। वे संन्यास-ग्रहण करनेके पश्चात् शृङ्गेरीमठके अध्यक्ष हुए थे।

श्रीमाधवाचार्यने अपना गार्हस्थ्यजीवन केवल राजनीतिसेवामें ही व्यतीत नहीं किया था, किन्तु उन्होंने उत्तम ग्रन्थोंकी रचना कर संस्कृतभण्डारकी वृद्धि करते हुए सरस्वती देवीकी भी प्रचुरमात्रामें सेवा की थी।

वीरबुक्क राजाकी आज्ञासे उन्होंने कुछ कालके लिए जयन्तीपुरमें राज्य भी किया था। उनके शासनकालमें उक्त देश अधिक समृद्ध हुआ था। उसी समय माधवाचार्यने कोङ्कण देशकी राजधानी गोवापर अपना अधिकार स्थापित किया और मुसलमानों द्वारा भग्न सप्तनाथ प्रभृति देवताओंकी मूर्तियाँ स्थापित कीं। राज्यकार्यमें उनकी निपुणता असीम थी, जो सबपर विदित है, शास्त्रचर्चामें भी उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे समानरूपसे वैयाकरण, दार्शनिक, कवि, स्मृतिसंग्रहकर्त्ता एवं सर्वदर्शनपारंगत थे। इस प्रकारका सम्पूर्ण गुणोंका अपूर्व सम्मिश्रण

विरलेमें ही दिखाई देता है। श्रीमाधवाचार्यने जिस विषयमें हाथ डाला उसे पूर्ण करके ही छोड़ा।

श्रीमाधवाचार्यने (श्रीविद्यारण्यमुनीश्वरने) **वेदान्तमें**—विवरणप्रमेयसंग्रह, बृहदारण्यकवार्तिकसार, पञ्चदशी, अनुभूतिप्रकाश, अपरोक्षानुभूतिकी टीका, जीवन्मुक्तिविवेक, ऐतरेयोपनिषद्दीपिका, तैत्तिरीयोपनिषद्-दीपिका और छान्दोग्योपनिषद्-दीपिकाका निर्माण किया।

व्याकरणमें—

माधवीयधातुवृत्तिकी रचना की।

धर्मशास्त्रमें—

पराशरमाधव और कालमाधवका निर्माण किया।

मीमांसामें—

जैमिनीयन्यायमालाविस्तरकीरचना की।

इनके अतिरिक्त शङ्करदिग्विजय, सूतसंहिताटीका* आदि स्फुट ग्रन्थोंका भी उन्होंने निर्माण किया।

प्रतीत होता है कि श्रीमाधवाचार्यने पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें से विवरणप्रमेयसंग्रह, पञ्चदशी, अपरोक्षानुभूतिकी टीका, अनुभूतिप्रकाश, बृहदारण्यकवार्तिकसार, छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, जीवन्मुक्तिविवेक, ऐतरेय, तैत्तिरीय और छान्दोग्य उपनिषदोंपर दीपिका—इन वेदान्त ग्रन्थोंकी रचना संन्यासग्रहणके अनन्तर की थी, कारण कि इन सबकी विद्यारण्यकृतिरूपसे प्रसिद्धि है।

श्रीविद्यारण्यमहामुनिका पञ्चपादिकाविवरणके ऊपर लिखा गया प्रस्तुत विवरणप्रमेयसंग्रहनामक प्रमेयबहुल ग्रन्थ दार्शनिक संसारमें एक अपूर्व और उपादेय ग्रन्थरत्न है।

पञ्चदशीकी रचना कर उन्होंने वेदान्ततत्त्व-जिज्ञासुओंका जो उपकार किया है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि पञ्चदशीके सदृश प्रमेयबहुल एवं सुबोध ग्रन्थ वेदान्तजगत्में दूसरा नहीं है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

अनुभूतिप्रकाश, जीवन्मुक्तिविवेक आदि ग्रन्थ भी अपनी तुलना नहीं रखते।

जिनकी लेखनीसे विवरणप्रमेयके सदृश टीकानिबन्ध, पराशरमाधवके समान स्मृतिनिबन्ध, माधवीयधातुवृत्तिके सदृश व्याकरणग्रन्थ और जैमिनीयन्यायमाला-

---

* कुछ लोगोंका कथन है कि सूतसंहिता किसी अन्य माधवाचार्यकी रचना होगी, यह सायणमाधवकी रचना नहीं है, देखिये रुद्रभाष्यभूमिका, पूना, आनन्दाश्रम सं० सी०।

विस्तरके सदृश मीमांसाग्रन्थ, सर्वदर्शनसंग्रहके सदृश संग्रहनिबन्ध प्रसूत हुए, उन्हें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहना ही उचित है ।

सूतसंहिताके ऊपर श्रीमाधवाचार्यने जो टीकाकी रचना की है, उससे उनके अगाध पाण्डित्यका पता चलता है ।

विवरणप्रमेयसंग्रहका भाषानुवाद हमारे आदरणीय मित्र व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, वेदान्तभूषण पण्डितवर श्रीललिताप्रसादजी डबरालने बड़े परिश्रमसे किया है । आदर्श प्रतिमें जहाँ तहाँ अशुद्धियाँ रह गईं थीं, विवरण, तत्त्वदीपन आदिके आधारपर उनको शुद्ध कर उन्होंने पाठका संशोधन भी भलीभाँति किया है । हम उनके इस प्रकार परिश्रमपूर्वक किये गये अनुवादकार्यके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं ।

अन्तमें हम भगवान् काशीपुराधिपति श्रीविश्वनाथजीको कोटिशः प्रणाम करते हैं, जिनकी असीम कृपासे ही दानवीर श्रीमान् सेठ गौरीशङ्कर गोयनकाजीका वेदान्तप्रचाररूप शुभ सङ्कल्प दिन-पर-दिन विकसित हो रहा है, इति शम् ।

वसन्तपञ्चमी
१९९६

विनीत
श्रीकृष्णपन्त

भूमिका

यह अनुभवसिद्ध है कि प्राणिमात्र सुखको ही परम पुरुषार्थ समझता है। केवल उसीकी प्राप्तिके लिए सदा सांसारिक तथा पारलौकिक कृत्योंके साधनमें लीन रहता है। कामनाओंकी पूर्ति ही सुखकी साधारण तथा सच्ची परिभाषा हो सकती है दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि कामनाओंका निश्शेष होना ही सुख है। ऐहिक अथवा पारलौकिक सुखके साधनोंसे तो कामनाओंकी वृद्धि ही होती है, उससे उनका निश्शेष होना कभी भी सम्भव नहीं है। एकमें तो कमसे कम निन्नानबेका फेर कभी भी पिण्ड नहीं छोड़ता और दूसरेमें भी "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति" (पुण्य-क्षय होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें आना पड़ता है) इसके अनुसार जन्म-मरणके चक्र-भ्रमणमें कामनाएँ नृत्य करती ही रहती हैं। वस्तुतः सच्चा सुख तो तभी समझना चाहिये जब कि कामनाओंका अन्त हो जाय, और कामनाओंका अन्त पूर्णकाम होनेपर ही हो सकता है, जैसे कि श्रीगौड़-पादाचार्य कहते हैं—"आप्तकामस्य का स्पृहा"। पूर्णकाम होना भी आत्म-स्वरूपके साक्षात्कारके बिना कथमपि सम्भव नहीं है, कारण कि केवल आत्मा ही सुख तथा आनन्दका सागर है। उसके बिना सुख या आनन्द कहांसे मिल सकता है? यह सिद्धान्त शास्त्रके अतिरिक्त युक्ति तथा अनुभवसे भी सिद्ध है। जिस पुरुषके पास अखण्ड प्रकाश देनेवाली मणि विद्यमान है, उसको किसी भी दीप आदि बहिर्भूत साधनोंकी अपेक्षा नहीं रहती, उसके समीप तो रात्रि-दिन एक-सा प्रकाश रहता है एवम् सुख या आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्माका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर बहिर्भूत साधनोंकी अपेक्षा ही नहीं रह जाती है? फिर कौन-सी कामना घेर सकती है। जो कुछ भी बाहरी साधनोंसे सुख-सा प्रतीत होता है, वह सब आत्मीयताके ही नाते होता है। जिस स्त्री, पुरुष बाल, या वृद्ध एवम् स्थावर तथा जङ्गम सम्पत्तिके साथ आत्मीयताके लेशका भी सर्वथा अभाव है, उसके द्वारा सुख-प्राप्तिकी आशा कभी भी नहीं की जा सकती। जिसके साथ जिस तारतम्यसे आत्मीयताका नाता है, उसमें ही आत्मीयताके तारतम्यके अनुसार सुखकी मात्रा पाई जाती है।

महर्षियोंने उस आनन्दात्मक ब्रह्मात्माके साक्षात्कारके एकमात्र उपायभूत

उपनिषद् भागका अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा प्रकाश पाकर वेदान्तदर्शनका आविर्भाव किया। शास्त्रकी गहनता और साथ-साथ कालक्रमसे बुद्धिबलका ह्रास होता देखकर परम दयालु महर्षि वेदव्यासजीने उक्त वेदान्तशास्त्रके तात्पर्य-निर्णयके लिए वेदान्तमीमांसाके रूपमें ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण किया, जिनके ऊपर श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजीने भाष्यकी रचना की।

उक्त भाष्यके गूढ़ तात्पर्यको सरल तथा विस्तृतरूपमें दर्शाना ही प्रकृत ग्रन्थका मुख्य प्रयोजन है। ऐसा होनेपर भी यह ग्रन्थ साक्षात् भाष्यको प्रतीक बनाकर व्याख्यानरूपमें नहीं लिखा गया है, किन्तु भाष्यकी पञ्चपादिका नामक टीकाके व्याख्यानभूत विवरणको लक्ष्य करके स्वतन्त्र निबन्धरूपमें लिखा गया है। इसलिए परममूलभूत पञ्चपादिकाके विषयमें प्रसङ्गप्राप्त कुछ निवेदन कर देना अप्रासङ्गिक न होगा।

सन् १८९१ इ० में ई० जे० लाजरस कम्पनी द्वारा मुद्रित पञ्चपादिकाकी भूमिकामें ग्रन्थकारके विषयमें लिखा है कि पञ्चपादिकाके प्रणेता श्रीपद्मपादाचार्य श्रीशङ्कराचार्य भगवत्पादके प्रमुख शिष्योंमें थे। भाष्यकी टीका करनेके लिए अन्य शिष्योंने इनसे अधिक अनुरोध किया था, क्योंकि ये श्रीशङ्कराचार्यजीसे तीन बार भाष्य पढ़ चुके थे। दूसरी बात यह भी थी कि सुरेश्वराचार्य द्वारा विरचित वार्तिकके ऊपर अश्रद्धाप्रदर्शन करते हुए गुरु महाराजने भी आज्ञा दी थी कि भाष्य-पर टीका की जाय। इसके अतिरिक्त यह भी उसी भूमिकाके प्रारम्भमें ही लिखा है—"अस्याः किल पञ्चैव पादाः प्रचरेयुस्तत्राऽपि आद्या चतुःसूत्र्येव प्रसिद्ध्येदिति भगवता शङ्करभगवत्पादेन रचयिताऽभिदधे, इति वर्णयन्ति स्म शङ्करदिग्विजये माधवाचार्याः।" अर्थात् भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने इस ग्रन्थके रचयिता पद्मपादाचार्यजीसे कहा था कि इस टीकाके पाँच ही पाद प्रचलित हों और उसमें भी चार सूत्रतक ही यह प्रसिद्ध हो इत्यादि वृत्तका आधार माधवाचार्यप्रणीत शङ्करदिग्विजय* है। इसके आगे लिखा है कि बहुत ढूँढा गया, परन्तु चार सूत्रतक ही यह ग्रन्थ मिला और इसका व्याख्यानभूत विवरण भी इतना ही मिलता है।

इन लेखोंके आधारसे ज्ञात होता है कि श्रीपद्मपादाचार्यने सम्पूर्ण भाष्यपर टीका बनाई होगी और उसमें पाँच पादोंकी टीकाका नाम पञ्चपादिका

* शङ्करदिग्विजय पूनाका संस्करण सर्ग १३ श्लोक ५–७३।

पड़ा होगा, परन्तु इस समय चार ही सूत्रोंके भाष्यकी टीका मिलती है, इसलिए अधिककी प्राप्तिका उपाय होना चाहिये, ऐसी कुछ विद्वानोंकी धारणा हो गई है। परन्तु मेरी धारणा इसके विपरीत है। जैसे 'भिषक् द्रव्याणि संस्थाता रोगी च' चतुर वैद्य, शुद्ध ताजी औषधियाँ या उपयुक्त सामग्री, परिचारक एवम् रोगी—इन चार पादोंकी सम्पत्तिसे चिकित्साशास्त्रकी उपयोगिता है, वैसे ही वेदान्तदर्शनशास्त्रकी उपयोगिता भी (१) अध्यास, (२) जिज्ञासा, (३) लक्षण, (४) प्रमाण और (५) समन्वय—इन पाँच पादोंकी सम्पत्तिपर ही निर्भर है। अर्थात् वेदान्तदर्शन भी पञ्चपादात्मक ही है। इसका प्रथम पाद अध्यासवाद है, जिसका पूर्ण विवरण अध्यासभाष्यमें किया गया है। उसमें दिखलाया गया है कि अनर्थ उपस्थित है और मिथ्या होनेसे उसका निवारण भी सम्भव है। दूसरा पाद ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण है, उसमें विस्तृतरूपसे दिखलाया गया है कि उपस्थित अनर्थकी निवृत्ति ब्रह्मापरोक्षज्ञानके अतिरिक्त दूसरे किसी भी साधनसे नहीं हो सकती। तीसरा पाद जन्माद्यधिकरण है, उसमें स्वरूप तथा तटस्थ लक्षणोंके द्वारा ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है। चौथा पाद शास्त्रयोनित्वाधिकरण है, जिसमें ब्रह्मसद्भावमें प्रमाण दिया गया है। इन दोनों पादोंसे ब्रह्ममें लक्षण तथा प्रमाण न होनेकी आशङ्काका पूर्णतया खण्डन किया गया है। पांचवाँ पाद समन्वयाधिकरण है, उसमें स्पष्ट तथा विस्तृतरूपसे व्याख्यान किया गया है कि ब्रह्ममें प्रमाणरूपसे दिखलाई गई श्रुतियोंका प्रामाण्य ब्रह्ममें तात्पर्य माननेसे ही उपपन्न हो सकता है, विधिमें तात्पर्य माननेसे कथमपि नहीं हो सकता। इस प्रकार (१) अध्यास, (२) ब्रह्मसाक्षात्कार-विचार, (३) ब्रह्मका लक्षण, (४) ब्रह्ममें प्रमाण और (५) ब्रह्ममें समन्वय—ये पाँच पाद ही वेदान्तशास्त्रकी उपादेयता सिद्ध करते हैं। उक्त पाँच पादोंका प्रतिपादन चतुःसूत्रीके भाष्यमें ही समाप्त हो जाता है। इन पाँच पादोंके व्याख्यानभूत भाष्यकी टीकाका नाम ही **'पञ्चपादिका'** है। इस आशयकी पुष्टि शङ्कर-दिग्विजयकी "तत्राऽपि सूत्रयुगलद्वयमेव भूम्ना—अर्थात् इसमें (सम्पूर्ण भाष्यमें) भी प्रथम चतुःसूत्री ही प्रसिद्धिको अवश्य प्राप्त करे" इत्यादि पंक्तियाँ स्पष्ट रीतिसे व्यक्त कर रही हैं। अन्यथा यहांपर 'एव' शब्द देना व्यर्थ हो जाता है।

मेरा ध्यान है, जैसा कि शङ्करदिग्विजयसे पता चलता है, भाष्यकार भगवत्पादको भी इतने ही ग्रन्थकी टीका करनेके लिए अत्यन्त विरक्त श्रीपद्म-

पादाचार्यको प्रेरित करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि इतना ही ग्रन्थ उक्त रीतिसे अत्यन्त महत्त्वका है। यद्यपि प्रतिज्ञा श्लोकके 'भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तद्व्याख्यां श्रद्धयाऽऽरभे' इस उत्तरार्द्धसे सम्पूर्ण भाष्यकी टीका करना प्रतीत होता है, चतुःसूत्रीके भाष्यमात्रकी नहीं; तथापि चतुःसूत्रीके ही भाष्यको भी भाष्य कहनेमें कोई विरोध नहीं आ सकता। प्रतिज्ञामें पञ्चपादिका नाम नहीं दिया गया है, सम्भव है चतुःसूत्रीके भाष्यकी टीका करके पूज्य गुरुपादोंकी सेवामें भेंट करनेके अनन्तर उक्त नामकी प्रसिद्धि पूज्यपादोंके श्रीमुखसे ही हुई हो। 'पदादिवृन्तभारेण गरिमाणं बिभर्त्ति यत्' (पदादिरूप वृन्तोंके द्वारा जिस भाष्यको गुरुता प्राप्त है।) यह प्रतिज्ञाश्लोकका पूर्वार्द्ध भी उक्त आशयको व्यक्त कर रहा है। यहांपर यदि 'पदादि' शब्दसे लक्षणा द्वारा पदच्छेद आदि लिए जायँ, तो इससे भाष्यमें कौन-सी असाधारण गुरुता आ सकती है, कारण कि पदच्छेदादिका रहना तो सभी निबन्धोंमें साधारण है। और यदि पादार्थक पदशब्द मानकर अध्यायोंके पाद लिये जायँ, तो भी उक्त विशेषण भाष्यकी गुरुतामें प्रयोजक नहीं हो सकता, क्योंकि अध्यायोंके पाद आदि वृन्त तो सूत्रोंमें हैं, इससे भाष्यमें गुरुता कैसे आ सकती है? इसलिए उक्त प्रतिज्ञाश्लोकका इस प्रकार अर्थ करना चाहिए—'उक्त अध्यासादि पांच पाद आदि वृन्तोंके द्वारा जिस (चतुःसूत्रीके) भाष्यको गुरुता प्राप्त हुई है, उस प्रसन्न—प्रसादप्राप्त—तथा गम्भीर—गूढार्थक (चतुःसूत्रीके) भाष्यकी टीकाको [पूज्य गुरुवचनोंमें] श्रद्धाकी प्रेरणासे आरम्भ करता हूँ'। सम्भव है पदके स्थानमें पाद ही पाठ हो।

विवरणकारने इस श्लोकका कुछ भी व्याख्यान नहीं किया है। तत्त्वदीपनके व्याख्यानके अनुसार तो उक्त विशेषणके आधारपर भाष्यपदसे भगवान् शङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत प्रकृत शारीरकभाष्यका ही ग्रहण कैसे होगा? क्योंकि पदच्छेद, पदार्थकथन तथा विग्रहवाक्य आदि किस भाष्यमें नहीं हैं, जिससे कि अन्य भाष्योंकी व्यावृत्ति हो सके। भाष्यपदसे तो 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र' इत्यादि लक्षणसे लक्षित अन्य भी भाष्य लिए जा सकते हैं, अतः इतरव्यावृत्तिके लिए ही उक्त विशेषण दिया गया है। पदादिको पदच्छेदादिपरक माननेसे विशेषण व्यर्थ ही होगा, क्योंकि पदच्छेदादिका रहना तो भाष्यका स्वरूप ही है। यदि पदच्छेदादि न हों, तो भाष्य ही कैसे कहलाएगा?

अथवा आदि पदके स्वारस्यसे 'पद' शब्दका तन्त्रके द्वारा निर्देश मानकर पदशब्दकी आवृत्ति करके एक पदशब्दको अध्यास आदि पादपरक और दूसरेको पदच्छेदादिपरक मानकर व्याख्यान करना चाहिए। इससे यही धारणा स्थिर होती है कि श्रीपद्मपादाचार्यको चार सूत्रोंके भाष्यकी ही टीका करना अभिप्रेत था। इतने ही अंशमें अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद, एकाविद्यावाद तथा नानाऽविद्यावाद इत्यादि विवादग्रस्त विषय प्रायः सभी आ जाते हैं। शेष ग्रन्थमें तो चतुःसूत्रीप्रतिपादित विषयका ही खण्डन, मण्डनादि नानाविध शैली द्वारा स्पष्टीकरणमात्र है।

विवरणकारने प्रतिबिम्बवादका समर्थन किया है—उनका मत है कि जैसे जलमें एक तो व्यापकरूप आकाश स्वतः विद्यमान है और दूसरा महाकाशका प्रतिबिम्बरूप आकाश भी है, वैसे ही देहधारी प्राणियोंमें भी जीव और अन्तर्यामी रूप द्विगुणित चैतन्यकी सदृष्टान्त उपपत्ति हो सकती है; इस पक्षमें एक जीव-वादको लेकर प्रतिकर्मकी व्यवस्था जलसूर्यकादि दृष्टान्त द्वारा की गई है। एवम् इस प्रस्थानके मतमें शब्द द्वारा भी अपरोक्ष ज्ञान होता है, परन्तु होता है अधिकारीको; अतएव 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे ही भ्रान्त दशमने अपना साक्षात्कार कर पाया। दुर्योधनने द्रौपदीके 'अन्धेका पुत्र अन्धा' इस वाक्यसे ही उसके या पाण्डवोंके अभिमानका तत्काल ही साक्षात्कार किया था।

इस ग्रन्थमें प्रारम्भसे अन्ततक कुल नौ वर्णक हैं। प्रथम वर्णकमें "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" की नियमविधिताका प्रतिपादन करते हुए जीव और ब्रह्मके ऐक्यरूप बिषयादि अनुबन्धोंका दिग्दर्शन कराकर अध्यास तथा जीवब्रह्मभेद, प्रमाण, प्रमेय, प्रमातृत्व आदिकी व्यवस्था अहंकार तथा अविद्याका परिचय इत्यादि मुख्य-मुख्य प्रारम्भिक विषयोंका विवेचन किया गया है। द्वितीय वर्णकमें वेदान्तशास्त्रकी सार्थकता दिखलाते हुए पूर्वमीमांसासे गतार्थ न होना मुख्यतः प्रतिपादन किया गया है। तृतीय वर्णकमें वेदान्तशास्त्रके आरम्भकी उपयोगिताको पुष्ट करनेके लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रके पदोंकी विस्तृत व्याख्या करते हुए ज्ञान और कर्मके समुच्चयका निराकरण किया गया है। प्रथम वर्णकमें संक्षेपतः सूचित अधिकारी, विषय, प्रयोजन, सम्बन्धरूप अनुबन्धचतुष्टयका चतुर्थ वर्णकमें विस्तृतरूपसे प्रदर्शन किया गया है। पांचवें वर्णकमें ब्रह्मके स्वरूप यथा तटस्थ लक्षण दिखलाये गये हैं। छठे वर्णकमें लक्षणोंका

पृथक् प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता दिखलाई गयी है। सातवें वर्णकमें 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्रका ब्रह्ममें प्रमाण दिखलानेके तात्पर्यसे व्याख्यान किया गया है। आठवें वर्णकमें सिद्धस्वरूप वस्तुका बोध करानेमें शब्दसामर्थ्य माननेपर भी सातवें वर्णकमें दिये गये प्रमाणोंका तात्पर्य ब्रह्ममें नहीं हो सकता, इस आशङ्काका उत्थानपूर्वक खण्डन किया गया है। और नवम वर्णकमें उन वादियोंके मतका खण्डन किया गया है जिनका यह आग्रह है कि शब्दमात्रका कार्यसे अन्वित ही अर्थ होता है, अतः ब्रह्म भी कर्मकाण्डका ही अङ्ग है।

भगवान् भाष्यकारके अनन्तर वेदान्तशास्त्रमें दो प्रवल मत माने जाते हैं— एक विवरणकारका और दूसरा भामतीकारका। ये दोनों विवरणप्रस्थान और भामतीप्रस्थान स्वतन्त्र नामोंसे आधुनिक वेदान्तजगत्में प्रसिद्धिको प्राप्त हैं। इन दोनों प्रस्थानोंमें कुछ विषयोंकी व्याख्या करनेमें मतभेद हो गया है। जैसे—

(१) भामतीप्रस्थान 'श्रोतव्यः' इसको विधि न मानकर अनुवादकमात्र मानता है और विवरणप्रस्थान विधि मानता है। इस प्रस्थानका अभिप्राय यह है कि यद्यपि "श्रोतव्यः" श्रवण (विचार) का अपूर्व विधान नहीं करता, कारण कि ब्रह्मज्ञानके निमित्त विधीयमान अध्ययनविधिसे ही अन्वय और व्यतिरेक द्वारा तात्पर्यावधारणा-त्मक विचार प्राप्त ही है, तथापि श्रवणको नियमविधि मानना आवश्यक है। आशय यह है कि जैसे सोमयागादि वैदिक कर्मोंके प्रति "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययनविधिको, आचार्यकरणपूर्वक द्विजरूप अधिकारीके अध्ययनके ही पुण्यजनक होनेसे, नियमविधि मानते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी श्रवण—नियम-पूर्वक वेदान्तवाक्योंका ही विचार करने—से ब्रह्मज्ञानका उपयोगी अदृष्ट उत्पन्न हो सकता है, दूसरे वाक्योंके विचारसे या अनियमसे नहीं हो सकता, इस प्रकार नियमविधि मानना उचित है। भाष्यकार आचार्यपादने दर्शनको ही विधि माननेका निषेध किया है, श्रवणको नियमविधि माननेका निषेध नहीं किया है। यदि दर्शनको विधि मान लें, तो 'द्रष्टव्यः' इस पदमें विधिरूप प्रत्ययार्थमें दर्शन विशेषण और ब्रह्म दर्शनका विषय (कर्म) होनेसे अत्यन्त अप्रधान हो जायगा। इससे वेदान्तवाक्योंका प्रधान प्रतिपाद्य ब्रह्म न होगा और दर्शन (ज्ञान) के पुरुषव्यापाराधीन न हो सकनेसे उसे विधि मानना संगत भी नहीं हो सकता। ज्ञान तो विषयादि सामग्रीके अधीन है, इससे उसमें पुरुषके कायिक या मानसिक किसी भी व्यापारकी अपेक्षा नहीं होती, इसलिए दर्शनको विधि मानना तो कथ-

मपि सम्भव नहीं हो सकता, अतः 'द्रष्टव्यः' पदमें "अर्हे कृत्यतृचश्च" सूत्रसे अर्ह (योग्य) अर्थमें तव्यप्रत्ययका विधान करना उचित है, विधिरूप अर्थमें नहीं। परन्तु 'श्रोतव्यः' पदमें तो "प्रैषातिसर्ग०' इत्यादि पाणिनीय सूत्रसे विधिरूप अर्थमें तव्यप्रत्ययका विधान करनेमें दर्शनका अनुवाद करके विचारके विधानमें कोई दोष नहीं आता, बल्कि नियमविधि माननेसे ही ब्रह्मका वेदान्तैकगम्यत्व भी सिद्ध हो सकता है।

यदि शङ्का हो कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस वाक्यमें सर्वत्र तव्यप्रत्यय अर्हार्थक ही है, अतः पूर्वोक्त वाक्यके साथ संगति हो सकती है। एवं दर्श-पूर्णमासप्रकरणमें रजस्वलाके लिए रात्रिव्रतके विधानार्थ अगत्या वाक्यभेद माननेपर भी प्रकृतमें वाक्यभेदका मानना प्रभाकरानुयायियोंको सह्य नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य" इत्यादिके तात्पर्यबलसे श्रवणको विधि मान सकते हैं। भगवान् सूत्रकारने भी 'सहकार्यन्तरविधि०' सूत्रसे इसका स्पष्टीकरण किया है। एक वाक्यको विधायक और दूसरेको अनुवादक माननेसे पुनरुक्त दोष भी नहीं आता। देखिये ग्रन्थ पृ० १३–१४।

(२) जीवब्रह्मभेदके विषयमें भामतीप्रस्थान "गन्धस्पर्शरसादीनां कीदृशी प्रतिबिम्बता" के अनुसार नीरूप ब्रह्मका प्रतिबिम्ब असम्भव कहकर घटाकाशादिदृष्टान्तसे अवच्छेदवादकी सिद्धान्तरूपसे पुष्टि करता है। इसके विपरीत विवरणप्रस्थान जीवको ब्रह्मका प्रतिबिम्ब मानता है।

यद्यपि ग्रीवास्थ मुख और दर्पणगत मुखमें भेद दीख पड़ता है, यदि बिम्बभूत मुख पूर्वाभिमुख हो तो दर्पणगत पश्चिमाभिमुख दीख पड़ता है, तथापि दर्पणगत मुखके लिए "यह मेरा ही मुख है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः उसमें भेदप्रत्यक्षको भ्रम मानना उचित है, कारण कि दर्पणमें बिम्बसे अतिरिक्त मुखकी उत्पत्तिका कोई साधन नहीं है। दर्पणादि उपाधिके अवयवोंका तादृश परिणाम होना सम्भव नहीं है, प्रथम तो प्रतिबिम्बमें दीखता हुआ निम्नोन्नतभाव दर्पणका स्पर्श करनेसे नहीं मालूम होता और बिम्बकी अपेक्षा उपाधिके तारतम्यके अनुसार छोटे या बड़े प्रतिबिम्ब दीख पड़नेसे बिम्बकी मुहर भी प्रतिबिम्बको नहीं कह सकते। मुहरकी छापमें न्यूनाधिक परिमाण नहीं आ सकता। और बिम्बसे दर्पणादि उपाधिका मुहरकी तरह अत्यन्त व्यवधानशून्य संयोग न होनेपर भी प्रतिबिम्ब दीख

पड़ता है । मुहरकी छाप छिद्रशून्य संयोगके विना नहीं हो सकती । दूसरी बात यह भी है कि बिम्बसन्निधानके हटते ही प्रतिबिम्ब भी नहीं रह जाता; इसलिए प्रतिबिम्ब बिम्बसे अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता । परन्तु शुक्तिरजतके तुल्य मिथ्या भी नहीं है । कारण कि प्रतीयमान वस्तुका बाधके अनन्तर ही मिथ्यात्व सिद्ध होता है । शुक्तिरजतस्थलमें तो 'यह रजत नहीं है' ऐसा बाध होता है । प्रकृतमें 'यह मेरा मुख नहीं है' ऐसा बाध नहीं होता, किन्तु 'दर्पणमें मेरा मुख नहीं है' इस प्रकार देशविशेषके सम्बन्धका ही बाध होता है । अतएव जीव और ब्रह्मके वास्तविक ऐक्यका होना असङ्गत नहीं होता । अमूर्त आकाशका भी प्रतिबिम्ब दीखता है, इससे नीरूप होनेपर भी आत्माका प्रतिबिम्ब हो सकता है । ग्रीवास्थ मुखका दर्पणमें दीख पड़ना स्वप्नमें अपने शिरश्छेदके दीखनेके तुल्य मायामय होनेसे असम्भव नहीं है । जीव तथा ब्रह्मका ऐक्य होते हुए भी जैसे देवदत्त आदि द्रष्टा प्रतिबिम्बगत मलिनतादि दोषोंके सद्भावका अपने बिम्बभूत मुखमें अनुभव नहीं करता वैसे ही जीवगत भ्रम आदि दोषोंका अनुभव या संसर्ग ब्रह्ममें नहीं हो सकता। उपाधिका स्वभाव प्रतिबिम्बमें ही दोषोंका संसर्ग कर सकता है, बिम्बमें नहीं । इस उपाधिके विनाशसे शुद्ध (बिम्ब-प्रतिबिम्बभावरहित) ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है । इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे सिद्ध जीव और ब्रह्मके ऐक्यकी सिद्धि होती है । प्रतिबिम्बवादका समर्थन 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि श्रुति तथा 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इत्यादि स्मृति एवम् 'अतएव चोपमा सूर्यका-दिवत्' इत्यादि सूत्ररूप प्रमाणोंसे होता है, प्रतिबिम्बवादके आगमप्रमाण द्वारा सिद्ध होनेसे 'नीरूपका प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता' इत्यादि प्रत्यक्षादि विरोध बाधित हो जाते हैं, कारण कि श्रुत्यादिरूप आगमप्रमाण सबसे प्रबल माना जाता है, आकाशादिदृष्टान्तका तात्पर्य तो केवल ब्रह्मकी असंगतामात्रके बोधनमें है, प्रतिबिम्बवादका खण्डन करके अवच्छेदवादका समर्थन करनेमें नहीं है । यद्यपि सोपाधिक भ्रमस्थलमें उपाधिरूप दोषकी निवृत्तिसे ही भ्रमकी निवृत्ति देखी गयी है, अधिष्ठानके ज्ञान द्वारा नहीं, अतः जीव और ब्रह्मके भेदकी निवृत्ति भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मसाक्षात्कारसे मानना सङ्गत न होनेकी आशङ्का करना उचित नहीं है; कारण कि प्रकृतमें अहङ्काररूप उपाधि, जिसके कारण कर्तृत्व आदि धर्मविशिष्ट जीवकी कल्पना होती है, अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारसे ही निवृत्त होने योग्य है, क्योंकि अहङ्कार मूल अविद्याका कार्य होनेसे निरुपाधिक ही

भ्रम है। इसलिए अहङ्कारोपाधिक कर्तृत्व आदि सोपाधिक भ्रमकी निवृत्ति अधिष्ठानतत्त्वस्वरूप ब्रह्मके साक्षात्कारसे अवश्य हो सकती है।

इस प्रकार विवरणप्रस्थानके अनुसार प्रतिबिम्बवादका संक्षेपमें परिचय कराया गया है।

वस्तुतः प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद दोनों कल्पनामात्र ही हैं। आत्माकी वास्तविक असङ्गता घटाकाशादिदृष्टान्तसे अधिक स्पष्ट हो सकती है, इसलिए अवच्छेदवादकी कल्पना की गई और अल्पज्ञत्व, सर्वज्ञत्व, संसारित्व और मुक्तत्व आदि व्यवस्था प्रतिबिम्बपक्षमें सुगम होती है, इसलिए प्रतिबिम्बवादकी कल्पना की गई है। मुख्य अजाति पक्षमें घटाकाशादि दृष्टान्त समझना चाहिए।

संसारको आविद्यिक अनिर्वचनीय कार्य माननेवाले अनिर्वचनीयवादियोंको जीव और ब्रह्मके भेदको भी, जो कि अविद्याकार्य अहङ्कारोपाधिक बिम्बप्रतिबिम्बरूप ही है, अनिर्वचनीय ही मानना पड़ेगा; इतना ही दोनों मतोंमें भेद है। वस्तुतः जीव तो ब्रह्मरूप ही है।

(३) भामतीप्रस्थानमें शब्दप्रमाणसे परोक्ष ही ज्ञान माना गया है, प्रत्यक्ष नहीं। उक्त प्रस्थानके अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार श्रवणानन्तर मनन और निदिध्यासन करनेसे शुद्ध हुए अन्तःकरण द्वारा ही होता है।

विवरणप्रस्थानमें, सन्निकृष्टविषयस्थलमें शब्दसे भी प्रत्यक्ष माना जाता है। अतएव श्रवणमें ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति प्रधानकारणता बनती है। मनन और निदिध्यासन तो श्रुत अर्थको ही पुष्ट करते हैं, अतः वे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माने जा सकते, उनका उपयोग केवल प्राक्तन पाप कर्मोंके फलस्वरूप असम्भावना, विपरीत भावना तथा चित्तकी अस्थिरता आदि प्रतिबन्धकके निवारणमें ही होता है। अर्थात् शब्दश्रवणसे उत्पन्न हुआ भी साक्षात्कार संशयादिके रहते चित्तकी एकाग्रताके बिना स्थिर नहीं रह सकता, मनन निदिध्यासन द्वारा असंभावना आदिकी निवृत्तिपूर्वक चित्तके एकाग्र होनेपर ही स्थिर होता है। इस विषयमें पञ्चदशीकार भी कहते हैं—

"वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक् परोक्षावभासिते।
करामलकवद् बोधमपरोक्षं प्रसूयते॥" (तत्त्वदीप० ६२ श्लोक)

श्रवणात्मक विचारके पहले 'तत्त्वमसि' वाक्य आपाततः परोक्षरूपसे ब्रह्मका

ज्ञान कराकर उक्त प्रतिबन्धोंके न रहनेसे करामलकके तुल्य ब्रह्मका अपरोक्ष (साक्षात्कार) करा देता है ।

'शब्द द्वारा ही ब्रह्मका अपरोक्ष (साक्षात्कार) होता है' इसमें "आचार्यवान् पुरुषो वेद", "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्", "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इत्यादि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी प्रमाण हैं । "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि वाक्य तो ब्रह्मके साक्षात्कारमें शब्दगत शक्तिरूप व्यापारका ही निषेध करते हैं, लक्षणारूप व्यापारका निषेध नहीं करते। इस विषयमें अधिक विस्तार प्रकृतानुपयोगी होनेसे नहीं किया गया । विद्वान् इस विषयमें अधिक ऊहापोह तत्-तत् ग्रन्थोंसे स्वयं ही कर सकते हैं ।

काशीसे बाहर रहनेके कारण इस ग्रन्थका अनुवाद करनेमें विशेष असुविधा रही। इसकी प्रथम मुद्रित मूल पुस्तक जो मेरे पास थी, उसके यत्र तत्र अशुद्ध होने तथा विषयके दुर्ज्ञेय होनेके कारण कभी-कभी अर्थनिर्णय करना कठिन हो जाता रहा ।

यों तो प्रगाढ़ विद्वानोंको भी सन्देह होता ही है—"ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि", फिर मेरे जैसे व्यक्तिके लिए तो पद-पदपर सन्देह होना अनिवार्य है । तथापि जो कुछ दुःसाहस किया, उसका एकमात्र कारण विश्वतारक पतितपावन भगवान् श्रीकाशीपुरीके अधीश्वर परम दयालु भगवान्‌का तथा विद्वानोंकी गुणग्राहिताका ही अवलम्बन था ।

अन्तमें इस पुस्तकके सुसम्पादनके लिए श्रीयुत माननीय पं० चण्डीप्रसादजी शुक्ल, श्री पं० श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री तथा पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यासको अनेकानेक धन्यवाद देता हुआ विद्वानोंसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि अनुवादमें कहीं दोष प्रतीत हो, तो क्षमा करनेकी कृपा करें ।

विदुषामनुकम्पाप्रार्थी—

ललिताप्रसाद डबरालः

विवरणप्रमेयसङ्ग्रहकी विषयसूची

ॐ नमः परमात्मने

श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीत

विवरणप्रमेयसंग्रह

[भाषानुवाद सहित]

स्वमात्रयाऽऽनन्दयदत्र जन्तून् सर्वात्मभावेन तथा परत्र ।
यच्छङ्करानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति ॥१॥

भाष्यटीकाविवरणं तन्निबन्धनसंग्रहः ।
व्याख्यानव्याख्येयभावक्लेशहानाय रच्यते ॥ २ ॥

वदनविनिर्जितशारदसुधामयूखप्रभाबिम्बाम् ।
सरसिजमनोज्ञनयनां बालां वन्दे सतीमम्बाम् ॥ १ ॥

भाष्यस्य टीकाविवृतेः प्रमेयसङ्घस्य श्रीमाधवगुम्फितस्य ।
गुरून् प्रणम्याऽर्थप्रकाशनाय भाषां विधत्ते ललिताप्रसादः ॥ २ ॥

इस लोकमें अपनी मात्रा द्वारा और परलोकमें सर्वात्मता द्वारा सब प्राणियोंको आनन्द दे रहा जो शङ्करानन्दपद हृदयकमलमें प्रकाशमान है वही सब योगियोंका गम्य स्थान है, अर्थात् उसे मैं प्रणाम करता हूं * ॥ १ ॥

भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य द्वारा निर्मित ब्रह्मसूत्रभाष्यके ऊपर जो पञ्चपादिका-टीकाका व्याख्यान विवरण है, उसमें ग्रथित विषयोंका संग्रहात्मक यह विवरणप्रमेयसंग्रहनामक ग्रन्थ व्याख्यानव्याख्येयरूप क्लेशकी निवृत्तिके लिए बनाया जाता है ॥ २ ॥

---

* यह प्रसिद्ध है कि विद्यारण्यमुनि या माधवाचार्यके गुरु श्रीशङ्करानन्द थे, अतः 'गुरुरेव परं साक्षात् नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्' अर्थात् गुरु ही साक्षात् परब्रह्म है, गुरुसे पृथक् तत्त्व नहीं है, इस प्रामाणिक स्मृतिके आधारपर ग्रन्थके आरम्भमें सर्वमय मूलतत्त्वस्वरूप अपने

नित्यस्वाध्यायविधितोऽधीत्य वेदान्तमस्य ये ।
संशेरतेऽर्थे ते सूत्रभाष्यादिष्वधिकारिणः ॥३॥

नित्यो हि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिः 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति वचनात्। काम्यत्वे हि वेदाध्ययनस्याऽन्योन्याश्रयता—अर्थावबोधे सति कामना, कामनायां सत्यां षडङ्गोपेतवेदाध्यनप्रवृत्तस्याऽर्थावबोध इति। अतः सर्वोऽपि नित्यविधिबलादेव षडङ्गसहितं वेदमधीत्याऽर्थं जानाति ।

कश्चित् पुण्यपुञ्जपरिपाकवशान्निरतिशयपुरुषार्थप्रेप्सायां तदुपायं वेदेऽन्विष्येदमवगच्छति—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्या-

---

नित्य स्वाध्यायविधिसे वेदान्तोंका अध्ययन करके जिन लोगोंको वेदान्तके अर्थावधारणमें—तात्पर्यज्ञानमें—सन्देह होता है, वे ही ब्रह्मसूत्रभाष्य आदि निबन्धोंके अधिकारी हैं ॥ ३ ॥

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (वेदाध्ययन करना चाहिए) इस प्रकारकी अध्ययन-विधि नित्यविधि है, क्योंकि 'ब्राह्मणेन०' (ब्राह्मणको किसी कारणकी अर्थात् फलकी इच्छाके बिना केवल अपना कर्तव्य समझकर वेदाध्ययन करना चाहिए, उसके अर्थोंको जानना चाहिए और अनन्तर उसमें प्रतिपादित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए) इस प्रकार स्वाध्यायाध्ययनमें नित्यविधिका ही प्रतिपादक वचन मिलता है। इसपर भी यदि कोई हठात् उसे नित्यविधि न मानकर काम्य-विधि माने, तो अन्योऽन्याश्रय दोष आवेगा—क्योंकि तभी वेदप्रतिपादित फलकी कामना होगी जब वेदार्थका परिज्ञान होगा, और वेदार्थका परिज्ञान तभी होगा जब कामना होनेके बाद छः अङ्गोंसे युक्त वेदके अध्ययनमें पुरुष प्रवृत्त होगा। अतः नित्यविधिके बलसे पहले षडङ्गसहित वेदाध्ययन करके ही सभी अधिकारी वेदार्थको जानते हैं, यह निर्विवाद है।

उन वेदार्थाभिज्ञोंमें से कोई पुण्यपुञ्जके परिपाकसे (प्रभावसे) निरतिशय पुरुषार्थकी अभिलाषा होनेपर उसके सम्पादनके लिए वेदमें पुरुषार्थके हेतुकी अन्वेषणा कर यह जानता है—'आत्मनस्तु०' (आत्माके लिए ही सभी वस्तुएँ प्रिय

गुरुका स्मरण कर ग्रन्थकार नमस्कार करते हैं, जिससे आरब्ध ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्ति हो। और इसीसे अनुबन्धचतुष्टय भी बतलाया गया है—ब्रह्मात्मैक्य विषय है, दुःखनिवृत्ति प्रयोजन है, वक्ष्यमाण विशेषणसे युक्त तत्त्वजिज्ञासु अधिकारी है और प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है।

त्मशेषतयैवाऽन्यस्य सर्वस्य प्रियत्वोक्तेरात्मव्यतिरिक्तात् सर्वस्माद् विरक्तोऽधिकारी, 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विज्ञातम्' इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इत्युपसंहारात् परमपुरुषार्थभूतस्याऽमृतत्वस्याऽऽत्मदर्शनोपायत्वं प्रतिपाद्य, दर्शनस्य चाऽपुरुषतन्त्रस्याऽविधेयत्वात् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यात्मदर्शनमनूद्य तदुपायत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नामाऽङ्गि विधीयत इति ।

ननु षडङ्गोपेतवेदाध्यायिनः सत्यपि वेदार्थावगमे विचारमन्तरेण

होती हैं) इस श्रुतिसे आत्माके अङ्गरूपसे ही अन्य सभी वस्तुएँ प्रिय कही गई हैं, अतः आत्मभिन्न सब वस्तुओंसे विरक्त पुरुष ही वेदान्तप्रतिपाद्य विषयका अधिकारी है, और 'आत्मनि खल्वरे०' (हे मैत्रेयि ! श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्माका साक्षात्कार होनेपर ही यह सब ज्ञात हो जाता है) इस प्रकार उपक्रम करके 'एतावदेव अरे खल्वमृतत्वम्' (हे मैत्रेयि ! यही अमृतत्व है) इस प्रकार उपसंहार होनेसे पुरुषका परम अभीष्ट अमृतत्व ही है और उसका उपाय केवल आत्मदर्शन है, ऐसा प्रतिपादन कर अपुरुषतन्त्र* दर्शनके विधेय न होनेके कारण 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (अरे मैत्रेयि ! आत्माका दर्शन करना चाहिए) इस श्रुतिसे दर्शनका अनुवाद करके 'श्रोतव्यः०' (उसके उपायरूपसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) इस वाक्यसे आत्मसाक्षात्काररूप फलके प्रति उपकारक† मनन और निदिध्यासनरूप अङ्गोंके साथ श्रवण नामवाले अङ्गीका विधान किया जाता है ।

यदि शङ्का हो कि जिसने छः अङ्गोंके साथ वेदोंका अध्ययन किया है,

---

* दर्शनशब्दका ज्ञान अर्थ होता है । ज्ञान नित्य है, वह पुरुष द्वारा विधेय नहीं हो सकता । यदि कथञ्चित् वृत्त्यात्मक ज्ञान लिया जाय, तो भी वह विषयादि कारणकलापके अधीन होनेसे पुरुष द्वारा विधेय नहीं हो सकता है, इसलिए 'आत्मा द्रष्टव्यः' इसको दर्शनविधि नहीं मान सकते हैं, किन्तु यह दर्शनानुवादमात्र है, यह भाव है ।

† अर्थात् श्रवण आत्मसाक्षात्कारके प्रति स्वतन्त्र कारण नहीं है, किन्तु मनन और निदिध्यासनके साथ कारण है, अतः ब्रह्मज्ञानरूप फलमें सहकारीरूपसे उपकारक मनन और निदिध्यासनरूप सहकारियोंके साथ श्रवणरूप अङ्गीका (मुख्य साधनका) 'श्रोतव्यः' इत्यादिके साथ विधान किया जाता है ।

तात्पर्यानवगमान्न तेनाऽवगतोऽर्थः श्रुत्यभिप्रेतो भवितुमर्हतीति चेद्, मैवम्; एतच्छ्रुतितात्पर्यस्यैव पुराणेषु प्रतिपादितत्वात्। तथा हि—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
ज्ञात्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥ १ ॥

तत्र तावन्मुनिश्रेष्ठाः! श्रवणं नाम केवलम्।
उपक्रमादिभिर्लिङ्गैः शक्तितात्पर्यनिर्णयः ॥ २ ॥

सर्ववेदान्तवाक्यानामाचार्यमुखतः प्रियात्।
वाक्यानुग्राहकन्यायशीलनं मननं भवेत् ॥ ३ ॥

उसको वेदार्थका परिज्ञान होनेपर भी विचारके बिना उनके तात्पर्यका ज्ञान न होनेसे उस पुरुषके द्वारा ज्ञात अर्थ श्रुतिका तात्पर्यविषय नहीं हो सकता है? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिके तात्पर्यनिर्णायक वेदान्तविचारके पूर्व भी पुराणोंमें श्रुतिका वैसा ही (पूर्वोक्त ही) तात्पर्य निर्णीत है। जैसे—

श्रुति वाक्योंसे आत्माका श्रवण करना चहिए, युक्तियों द्वारा आत्माका मनन करना चाहिए और मननसे परिपक्व ज्ञानके बाद उसका ध्यान करना चाहिए, क्योंकि आत्माके साक्षात्कारमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन कारण हैं ॥१॥

हे श्रेष्ठ मुनियो! श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीनोंमें से श्रवण उसे कहते हैं—जो आचार्यके सुन्दर मुखसे निकले हुए शब्दों द्वारा उपक्रम आदि छः प्रमाणोंके आधारपर सब वेदान्तवाक्योंकी शक्तिके तात्पर्यका निर्णय है। और वेदान्तवाक्योंके अर्थके अनुग्राहक—समर्थक—पञ्चावयव वाक्योंसे * युक्त अनुमानका परिशीलन मनन कहलाता है ॥२–३॥

* पञ्चावयवोंकी अनुमानमें अत्यन्त उपयोगिता होती है, वे हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। यद्यपि वेदान्तसिद्धान्तमें तीन ही अवयवोंकी अपेक्षा मानी जाती है, तथापि कोई लोग प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण और कोई लोग उदाहरण, उपनय और निगमन इस प्रकार उनकी उपयोगिता मानते हैं, अतः ऐसी उक्तिमें कोई विशेष आग्रह नहीं है, यह भाव है।

निदिध्यासनमैकाग्र्यं श्रवणे मननेऽपि च ।
निदिध्यासनसंज्ञं च मननं च द्वयं बुधाः ! ॥४॥

फलोपकारकाङ्गं स्यात् तेनाऽसम्भावना तथा ।
विपरीता च निर्मूलं प्रविनश्यति सत्तमाः ! ॥५॥

प्राधान्यं मननादस्मिन्निदिध्यासनतोऽपि च ।
उत्पत्तावन्तरङ्गं हि ज्ञानस्य श्रवणं बुधाः ! ॥६॥

तटस्थमन्यव्यावृत्त्या मननं चिन्तनं तथा ।
इतिकर्तव्यकोटिस्थाः शान्तिदान्त्यादयः क्रमात् ॥७॥

श्रवण और मननके अनन्तर अर्थात् विचार और तदनुकूल युक्तियोंके परिशीलनके अनन्तर मनकी एकाग्रता—सब विषयोंकी ओरसे चित्तको बटोर कर श्रुत—मत विषयमें ही उसको सदा लीन करना—निदिध्यासन कहलाता है। हे विज्ञ * उत्तम मुनिजनो ! निदिध्यासन और मनन ये दोनों फलोपकारक अङ्ग हैं, इनसे क्रमशः असम्भावना तथा विपरीतभावना समूल नष्ट हो जाती है ॥ ४, ५ ॥

हे बुधवृन्द ! मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा श्रवण में प्रधानता है, क्योंकि वह ज्ञानोत्पत्तिमें अन्तरङ्ग—मुख्य—साधन है ॥६॥

और मनन तथा निदिध्यासन तो असम्भावना आदिकी व्यावृत्ति द्वारा ज्ञानके बहिरङ्ग साधन हैं। शम, दम आदि तो इतिकर्तव्यताकोटिमें वर्तमान हैं † ॥७॥

---

* इसमें सत्तमशब्दका ही उत्तम अर्थ है । सत्तमशब्दका प्रयोग इसलिए किया गया है कि इन मुनियोंने आत्मश्रवणके लिए जिज्ञासा की है, अतः आत्मश्रवण नहीं चाहनेवालोंसे ये श्रवणके विषयमें प्रश्नकर्ता मुनि उत्तम हैं, यह भाव है ।

† तात्पर्य यह है कि उदाहरणके लिए ग्रहयाग लीजिए। उसकी इतिकर्तव्यता है—इस प्रकार मण्डल हो, अमुक अमुक मन्त्रसे अमुक अमुक दिशामें अमुक अमुक आकारके मण्डलके ऊपर अमुक अमुक पौर्वापर्यसे अमुक अमुक ग्रह वा इन्द्रादि देवताका आवाहन, ध्यान आदि षोडशोपचारसे पूजा करे, अमुक देवता या ग्रहकी प्रसन्नताके लिए अमुक मन्त्र, जप या पाठ अमुक संख्यामें करे एवम् अमुकामुक कर्ममें अमुक द्रव्यकी आहुति दे इत्यादि क्रियाकलापपरिपाटी इतिकर्तव्यता कहलाती है। इसी तरह आत्मसाक्षात्कारके उपाय विचारकी इतिकर्तव्यता शम, दम आदि हैं। शम, दम आदि प्रक्रियाके अनुशीलनसे ही विचारका उदय होता है ।

ततः सर्वाङ्गनिष्ठस्य प्रत्यग्ब्रह्मैक्यगोचरा ।
या वृत्तिर्मानसी शुद्धा जायते वेदवाक्यतः ॥८॥
तस्यां या चिदभिव्यक्तिः स्वतःसिद्धा च शाङ्करी ।
तदेव ब्रह्मविज्ञानं तदेवाऽज्ञाननाशनम् ॥९॥

'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू है) इत्यादि महावाक्योंसे शम, दम आदि चार साधनोंसे सम्पन्न पुरुषकी जीवब्रह्मैक्यविषयक जो शुद्ध मानसिक वृत्ति होती है, उसमें होनेवाली स्वतःसिद्ध* शाङ्करी चित्की—चैतन्यकी—अभिव्यक्ति ही ब्रह्मविज्ञान है। और वही अज्ञानका नाशक है ॥८, ९॥

* इस श्लोकमें 'स्वतःसिद्ध' और 'शाङ्करी' दो विशेषण हैं। उनका संक्षेपमें यह अभिप्राय है—वेदान्तमतमें ज्ञान स्वतःप्रकाश—अपने आप प्रकाश होनेवाला—माना गया है। इसके प्रकाशके लिए किसी द्वितीय ज्ञान (प्रकाश) की आवश्यकता नहीं है, जिस तरह प्रथम घटज्ञानका प्रकाशक द्वितीय ज्ञान (घटको मैं जानता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय) नैयायिक मानते हैं, उस तरह वेदान्ती नहीं मानते, ज्ञानके स्वप्रकाश होते हुए भी घट, पट आदिका प्रकाश सदैव नहीं होता, इसका यह कारण है कि वेदान्त-मतमें ज्ञान स्वतः आकारवाला नहीं है। इसके घट, पट आदि आकार विषय-रूप उपाधि द्वारा ही होते हैं। और विषय वेदान्त-मतमें तत्तदवच्छिन्न चैतन्य ही है, वह चैतन्य अज्ञानसे आवृत रहता है। जब इन्द्रियसे विषयावच्छिन्न चैतन्यका संयोग होता है, तब मन—अन्तःकरण—चक्षु आदि बाह्येन्द्रियोंके द्वारा विषय देशमें जाकर नालीके द्वारा खेतमें गये हुए जलकी तरह विषयके आकारमें परिवर्तित हो जाता है, इस परिवर्तनको मनकी विषयाकार वृत्ति कहते हैं। वृत्तिके उत्पन्न होते ही विषयावच्छिन्न चैतन्यका आवरण नष्ट हो जाता है, यह वृत्ति जड़ मनका परिणाम है, अतः वृत्ति भी जड़ ही है। इसलिए इतने ही से विषयका प्रकाश नहीं हो सकता, विषयप्रकाशके लिए जब उस मनोवृत्तिमें चित् (नित्य प्रकाश) का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब इस वृत्तिके माहात्म्यसे ज्ञान भी विषयाकार हो जाता है और उस समय अन्तःकरणसे नित्य सम्बद्ध साक्षी भी इसकी गवाही देता है। ऐसी परिस्थितिमें विषयका प्रत्यक्ष हो जाता है—इस प्रत्यक्षप्रक्रियासे घट, पट आदिके प्रत्यक्षके लिए विषय-इन्द्रिय-सन्निकर्ष, विषयाकार मनोवृत्ति, उस वृत्तिसे आवरणविनाश अथवा साक्षीसे सम्बन्ध और उस वृत्तिमें चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब, इतनी सामग्री अपेक्षित है। अत एव घट, पट आदि प्रत्यक्षस्थलीय मनोवृत्ति साक्षिभास्य होनेसे, स्वयंप्रकाश नहीं कही जा सकती। परन्तु जहांपर 'सोऽहं' 'तत्त्वमसि' (वह मैं हूँ, या वह तू है) इत्यादि वाक्योंके श्रवण (विचार) से ब्रह्माकार मनोवृत्ति होती है (हम कह आये हैं कि मनकी वृत्ति विषयके आकारवाली होती है, इसलिये वेदान्तवाक्योंके श्रवणके अनन्तर होनेवाली वृत्तिका विषय ब्रह्म है, अतः यह ब्रह्माकार वृत्ति कहलाती है) वहाँपर ब्रह्माकार वृत्तिके होते ही ब्रह्मको आवृत किया हुआ अज्ञानावरण तुरन्त नष्ट हो जाता है, क्योंकि वृत्तिज्ञान अज्ञानका नाशक है। अब आवरणके नष्ट होते ही उस वृत्तिमें अभिव्यक्त स्वयंप्रकाश ब्रह्मरूपी विषय चिदाभासके

प्रत्यग्ब्रह्मैक्यरूपा या वृत्तिः पूर्णाऽभिजायते ।
शब्दलक्षणसामग्र्या मानसी सुदृढा भृशम् ॥१०॥
तस्याश्च द्रष्टृभूतश्च प्रत्यगात्मा स्वयंप्रभः ।
स्वस्य स्वभावभूतेन ब्रह्मभूतेन केवलम् ॥११॥
स्वयं तस्यामभिव्यक्तस्तद्रूपेण मुनीश्वराः! ।
ब्रह्मविद्यासमाख्यस्तदज्ञानं चित्प्रकाशितम् ॥१२॥
प्रतीत्या केवलं सिद्धं दिवाभीतान्धकारवत् ।
अभूतं वस्तुगत्यैव स्वात्मना ग्रसते स्वयम् ॥१३॥

हे मुनीश्वरो ! 'तत्त्वमसि' आदि शब्दरूप सामग्रीसे जो प्रत्यग्ब्रह्माकाररूप पूर्ण और अत्यन्त सुदृढ़ मनकी वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका द्रष्टा स्वतःप्रकाशमान प्रत्यगात्मा ही है, अन्य नहीं है, क्योंकि उस वृत्तिमें अपने स्वभावभूत ब्रह्मरूपसे आप ही (प्रत्यगात्मा ही) अभिव्यक्त हुआ है । अतः इतर द्रष्टाकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं द्रष्टारूप है । उक्त स्वरूपसे अभिव्यक्त परमात्मा ही 'ब्रह्मविज्ञान' शब्दसे कहलाता है, और चित्से प्रकाशित ब्रह्माज्ञान दिवाभीत अर्थात् उल्लू द्वारा कल्पित अन्धकारके समान केवल प्रतीतिमात्रसे सिद्ध

बिना ही स्वयंप्रकाश हो जाता है, और इसके प्रकाशके लिए साक्षिप्रतिभासकी आवश्यकता नहीं है—यह तो स्वयं सकल विश्वका साक्षी नित्यसिद्ध प्रकाश है, इसके प्रकाशके लिए द्वितीय साक्षी कौन हो सकता है ? केवल आवरण नाशके लिए इसे वृत्तिमात्रकी आवश्यकता रहती है । इसलिए यह चिदभिव्यक्ति नित्यसिद्ध कही गई है । अब रहा 'शाङ्करी' विशेषण, यह अधिक गूढ़ अभिप्राय रखता है । व्युत्पत्तिके अनुसार (शङ्करस्य इयं शाङ्करी) शङ्कासम्बन्धिनी, ऐसा अर्थ मालूम पड़ता है । इसमें विचारणीय यह है कि शङ्कर कौन, उसका सम्बन्ध क्या और किससे ? यदि अभिव्यक्तिसे, तो अभिव्यक्ति, ज्ञान या शङ्कर तो पर्याय ही हैं। एक ही पदार्थमें सम्बन्ध कैसे ? और ज्ञान तथा विषयका सम्बन्ध भी तो अपने मतमें काल्पनिक (आध्यासिक) ही है । इस दशामें इससे समूल अज्ञानका नाश कैसे हो सकता है ? इत्यादि अनेक विकल्पोंका भण्डार यह विशेषण है । अस्तु, संक्षेपमें उत्तर लिखते हैं—यह श्लोक पौराणिक है, पुराणोंमें तन्त्र मतका पर्याप्त सङ्ग्रह पाया जाता है । अतः 'शाङ्करी' विशेषण भी तन्त्रमतकी छाया है । जिसका भाव होता है—शिवस्वरूप शङ्करका स्वभाव । उपरोक्त अभिव्यक्ति शुद्ध, नित्यप्रकाश शिवस्वरूप ही है और उसका स्वतःसिद्धप्रकाशत्व भी स्वभाव ही है, अतः स्वतःसिद्ध और शाङ्करी दोनों विशेषणोंकी सार्थकता हुई, अन्यथा 'शाङ्करी' विशेषण निरर्थक ही नहीं प्रत्युत असङ्गतार्थक भी हो जाता । अथ च श्रीशङ्कराचार्य-प्रतिपादित अद्वैतवृत्तिका बोध कराना भी 'शाङ्करी' विशेषणका तात्पर्य है ।

स्वात्मनाऽज्ञानतत्कार्यं प्रसन्नात्मा स्वयं बुधाः ! ।
स्वपूर्णब्रह्मरूपेण स्वयमेवाऽवशिष्यते ॥१४॥
एवंरूपावशेषस्तु स्वानुभूत्येकगोचरः ।
येन सिध्यति विप्रेन्द्रास्तद्धि विज्ञानमैश्वरम् ॥" १५ ॥

नन्वेवमपि श्रवणस्य विधिर्नोपपद्यते । तथा हि—स किं ज्योतिष्टोमादेरिवाऽपूर्वविधिः ? उताऽवघातादिवन्नियमविधिः ? किं वा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यादिवत् परिसङ्ख्याविधिः ? नाऽऽद्यः, वेदान्तश्रवणादीनां दृष्टफल-

है, वास्तवमें वह कोई वस्तु ही नहीं है। आत्मज्ञानके उदित होनेपर अपने-आप ही अपनेको तथा अपने कार्य अध्यास आदि सबको जब निगलता है अर्थात् उन सबको समेटकर वह अन्धकार (अज्ञान) स्वयं विलीन हो जाता है। हे विज्ञजनो ! तब वही आत्मा आनन्दरूप होकर अपने पूर्णब्रह्मरूपसे अवशिष्ट रहता है। [इसलिए] हे विप्रेन्द्रो ! केवल अपने अनुभवसे ज्ञात होनेवाला उक्त ब्रह्मावशेष जिस विज्ञानसे सिद्ध होता है, वही ब्रह्मविज्ञान है, ऐसा आप जानें ॥१०–१५॥

अब शङ्का करते हैं कि इसपर भी श्रवणको विधि मानना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता—क्योंकि जो श्रवणको विधि मानता है, उससे पूछना चाहिए कि क्या तुम 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इस विधिके समान श्रवणको अपूर्वविधि मानते हो ? अथवा 'व्रीहीनवहन्ति' इसके समान नियमविधि मानते हो ? या 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इसके समान परिसङ्ख्याविधि मानते हो ? *। इसमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानरूप दृष्टफलके प्रति वेदान्तके श्रवण आदिकी साधनता

* 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' (ज्योतिष्टोम याग करे) यह अपूर्वविधि है, अर्थात् ज्योतिष्टोम याग, इस वाक्यको छोड़कर किसी अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है, अतः यह अपूर्व विधि है। 'व्रीहीनवहन्ति' (धानोंको मूसलसे कूटे अर्थात् मूसलसे कूटकर धानके छिलके निकाले) यह नियमविधि है, क्योंकि छिलका निकालना अन्य साधनोंसे प्राप्त है, अवघातसे ही व्रीहिके छिलके निकाले जायँ ऐसा नियम होनेसे यह विधि नियमविधि कहलाती है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' (पाँच पाँचनखवाले खाने चाहिएँ अर्थात् पञ्च और अपञ्च नखवाले जितने प्राणी हैं, उनमें से शशक (खरगोश), शल्लकी (शाही), गोधा (गोह), खड्गी (गेंडा) और कूर्म, ये पाँच ही खाने चाहिएँ, इतर नहीं) यह परिसङ्ख्याविधि है, क्योंकि रागसे पञ्चनख और अपञ्चनखका भक्षण प्राप्त है, अतः इससे इतरकी निवृत्ति होती है।

ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धत्वात् ; प्रसिद्धं हि लोके वैद्यशास्त्रश्रवणस्य तद्विषयावगमं प्रति साधनत्वम्। न द्वितीयः, नियमादृष्टस्य कल्पकाभावात्। अवघातादौ तु नियमादृष्टजन्यपरमापूर्वमेव एतत्कल्पकम्। न च ब्रह्मज्ञानमदृष्टजन्यम्, केवलव्यतिरेकाभावात्। नहि वेदान्तश्रवणादौ सत्यपि नियमादृष्टाभावापराधेन ब्रह्मज्ञानानुत्पत्तिर्दृष्टचरी। ज्ञानस्य कथंचिददृष्टजन्यत्वेऽप्ययं विधिर्भाष्यविरुद्धः, समन्वयसूत्रव्याख्याने महता प्रयत्नेन विधिनिराकरणात्। अन्यथा वेदान्तानां विधिपरत्वं ब्रह्मपरत्वं चेति वाक्यभेदप्रसङ्गः। नाऽपि तृतीयः, पञ्चनखापञ्चनखभक्षणयोरन्यतः प्राप्तावन्यपरिवर्जनवदात्मसाक्षात्कारस्योपनिषदतिरिक्तात् प्राप्त्यसंभवात्। तस्मात् नास्ति श्रवणविधिरिति।

अन्वय-व्यतिरेकरूप प्रमाणसे प्राप्त ही है, लोकमें प्रसिद्ध है कि आयुर्वेदशास्त्रका विचार आयुर्वेदके प्रतिपाद्य विषयोंके परिज्ञानमें साधन है [इसी प्रकार वेदान्तशास्त्रका विचार भी वेदान्तके विषयके परिज्ञानमें कारण हो सकता है, यह भाव है]। द्वितीय पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि नियमविधिसे उत्पन्न होनेवाले अदृष्टकी कल्पना करनेवाला कोई नहीं है। अवघात आदि स्थलोंमें तो अवहनननियमादृष्टसे उत्पन्न होनेवाला परम अपूर्व ही नियमादृष्टका कल्पक है, [प्रकृतमें नियमादृष्टका कल्पक ब्रह्मज्ञान तब होता, जब वह नियमादृष्टसे जन्य होता, परन्तु] ब्रह्मज्ञान नियमादृष्टसे जन्य नहीं है, क्योंकि केवलव्यतिरेक प्रमाण नहीं है। कारण कि वेदान्तश्रवणके रहते नियमादृष्टके अभावमात्रसे ब्रह्मज्ञानकी अनुत्पत्ति नहीं देखी जाती है। यदि कथञ्चित् तुम्हारे कथनानुसार ब्रह्मज्ञानको अदृष्टजन्य मान भी लिया जाय, तथापि यह श्रवणविधि भाष्यविरुद्ध ही है, क्योंकि समन्वयसूत्रमें बड़े ऊहापोहसे भगवान् भाष्यकारने श्रवणविधिका परिहार किया है। यदि यह न माना जाय, तो वेदान्तवाक्योंके विधिपरक और ब्रह्मपरक होनेसे वाक्यभेद प्राप्त होगा। तृतीय परिसङ्ख्याविधिका भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जैसे पञ्चनख और अपञ्चनखके भक्षणकी रागसे प्राप्ति होनेपर अन्यतरकी निवृत्तिके लिए उक्त स्थलमें परिसंख्याविधि मानी जाती है, वैसे आत्मसाक्षात्कारकी उपनिषत्से अतिरिक्त प्रमाण द्वारा प्राप्ति नहीं है; अतः श्रवणविधि नहीं है।

अत्रोच्यते—दृष्टफलस्याऽपि धर्मज्ञानस्य साधनेऽध्ययने नियमविधिस्तावदङ्गीकृत एव। यदा त्वर्वाचीनपुरुषार्थे परोक्षे धर्मज्ञानेऽप्येवम्, तदा किमु वक्तव्यं परमपुरुषार्थब्रह्मसाक्षात्कारसाधने श्रवणे नियमविधिरिति ? यद्यध्ययने नियमादृष्टजन्यं यागीयापूर्वं तत्कल्पकं स्यात्, तर्हि श्रवणेऽपि ब्रह्मज्ञानं तत्कल्पकमस्तु, ब्रह्मज्ञानस्य सर्वादृष्टजन्यत्वात्; 'सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' इति स्मरणात्। अत्र हि प्रसिद्धयागादीनेवाऽपेक्ष्य सर्वग्रहणमिति भ्रमं व्युदस्य श्रवणादेरपि संग्रहायैवाऽखिलमित्युक्तम्, अन्यथा पौनरुक्त्यात्।

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥" (मनुस्मृ० २।१६८)

इस प्रकार पूर्वपक्ष होनेपर समाधान कहते हैं कि धर्मज्ञानरूप दृष्टफलके प्रति साधनभूत अध्ययनमें पूर्वमीमांसकोंने नियमविधिका ही अङ्गीकार किया है। जब द्वितीय श्रेणीके परोक्षरूप धर्मज्ञानात्मक पुरुषार्थके उपायभूत अध्ययनमें नियमविधिका स्वीकार किया जाता है, तो प्रथम श्रेणीके पुरुषार्थरूप ब्रह्मज्ञानके प्रति साधनभूत वेदान्तविचारमें नियमविधि है, इसमें कहना ही क्या है? अर्थात् 'श्रोतव्यः' यह नियमविधि ही है। यदि वेदाध्ययनमें अध्ययननियमसे उत्पन्न हुए अदृष्टजन्य यागसम्बन्धी अपूर्व अपने कारणभूत नियमजन्य अदृष्टकी कल्पना करनेवाला हो सकता है, तो फिर श्रवणमें भी ब्रह्मज्ञान नियमादृष्टकी कल्पना अवश्य कर सकता है, क्योंकि सभी अदृष्टोंसे ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति होती है, कारण कि 'सर्वं कर्माऽखिलम्०' (सब कर्मोंकी परिसमाप्ति ज्ञानमें ही होती है) ऐसा श्रीमद्भगवद्गीताका वाक्य है। इस वाक्यमें किसीको भ्रम हो जाय कि पूर्वमीमांसोक्त प्रसिद्ध यागोंकी ही अपेक्षासे 'सर्व' शब्द दिया गया है, तो उसकी निवृत्ति करके श्रवण आदिका परिग्रहण करनेके लिए 'अखिलम्' शब्द कहा गया है, अन्यथा पुनरुक्ति हो जायगी।

यदि कहो कि 'योऽनधीत्य०' (जो द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—वेद न पढ़कर अन्य अर्थशास्त्र आदि विषयोंमें परिश्रम करते हैं, वे जीते-जी ही अपने पुत्रपौत्रोंके साथ शीघ्र शूद्रत्वको प्राप्त होते हैं) इस प्रकारकी स्मृतिसे वेदाध्ययन न करनेपर पाप होता है, ऐसा कहा गया है, अतः स्वाध्यायाध्ययनमें विधिका

इत्यकरणे प्रत्यवायमपेक्ष्य विध्यङ्गीकारे प्रकृतेऽपि तथाऽस्तु।

"नित्यं कर्म परित्यज्य वेदान्तश्रवणं विना।
वर्तमानस्तु संन्यासी पतत्येव न संशयः॥"

इति प्रत्यवायसस्मरणात्।

ननु ब्रह्मज्ञाने श्रवणादीनामन्वयव्यतिरेकादिना नास्ति साधनभावप्राप्तिः; निर्विशेषस्य ब्रह्मणो वेदान्तैकसमधिगम्यत्वात्, तत्कथं नियमसिद्धिः? मैवम्; 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यत्र शास्त्रैकगम्यापूर्वीयव्रीहिष्वन्यतो दलनाद्यप्राप्तावपि अवघाते यथा नियमः, तथा श्रवणेऽपि पाक्षिकत्वमन्तरेणैव नियमोऽस्तु। अथ व्रीहिमात्रसाधारणाकारेण प्राप्तिमपेक्ष्य तत्र नियमः? तदत्राऽपि समानम्, विषयज्ञानमात्रसाधारणाकारस्य सुवचत्वात्।

अथाऽवघातेऽपूर्वविधिरेव सन् फलतो नियम इति व्यवह्रियते, श्रवणेऽपि तथा

अङ्गीकार किया जाता है, तो ब्रह्मज्ञानके साधन श्रवणमें भी उसी प्रकार विधि हो सकती हैं, क्योंकि 'नित्यं कर्म०' (नित्य कर्मोंका परित्याग करके जो संन्यासी वेदान्तश्रवण नहीं करता, वह निःसन्देह पतित हो जाता है) इस स्मृतिसे वेदान्तश्रवण न करनेसे भी प्रत्यवाय सुना जाता है।

यदि शङ्का हो कि अन्वय और व्यतिरेकसे ब्रह्मज्ञानके प्रति श्रवण आदिमें साधनता प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म केवल उपनिषत् प्रमाणसे गम्य है, इसलिए श्रवणकी नियमविधि कैसे हो सकती है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'व्रीहीनवहन्ति' (व्रीहियोंका अवघात करे) इत्यादि अवघातस्थलमें शास्त्रमात्रसे ज्ञात होनेवाले अपूर्वसम्बन्धी व्रीहियोंमें प्रमाणान्तरसे तुषमोचनकी—विदलनकी—प्राप्ति न होनेपर भी जैसे नियमविधि मानी जाती है, वैसे ही श्रवणमें भी पाक्षिक प्राप्तिके न होनेपर भी नियमविधि मानी जा सकती है। यदि कहिए कि सर्वसाधारण व्रीहियोंको लेकर विदलनकी प्राप्तिकी अपेक्षा करके उक्त स्थलमें नियमविधि है? तो वह यहाँपर भी अर्थात् श्रवणस्थलमें भी समान है, क्योंकि सर्वसाधारण विषयज्ञानको लेकर विचारमें हेतुता प्राप्त ही है, ऐसा कह सकते हैं।

यद्यपि अवघातमें (विशेषाकारसे) अपूर्वविधि ही है, तथापि जैसे फलतः नियमविधिका* व्यवहार होता है, वैसे ही श्रवणमें अपूर्वविधि होनेपर भी

---

* अर्थात् अवघातसे उत्पन्न तण्डुल ही अपूर्वके प्रति कारण हैं, अन्य साधनोंसे निष्पन्न तण्डुल नहीं, इस प्रकार अन्यमें निषेध होनेसे अवघातमें नियमविधि फलित होती है, वस्तुतः

भविष्यति । न च भाष्यविरोधः, दर्शनविधेरेव तत्र निराकरणात् । दर्शनविधाने हि 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः प्राधान्येन' इति न्यायेन प्रत्ययार्थस्य नियोगस्यैव प्राधान्याद् दर्शनस्य प्रकृत्यर्थतया गुणभूतत्वेन तद्विशेषणस्य ब्रह्मणोऽपि सुतरां गुणभावः स्यात्; ततो न वेदान्तैर्ब्रह्म सिध्येत् । फलत्वेन प्रधानं ब्रह्मदर्शनमुद्दिश्य श्रवणविधाने तु न कोऽपि दोषः ।

वाक्यभेदश्च किमेकदेशिनाऽऽपाद्यते किं वा तान्त्रिकेण ? नाऽऽद्यः, वेदान्तेऽप्यवान्तरवाक्यभेदेन 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यत्र ज्ञानसाधनत्वेन यज्ञादिविध्यङ्गीकारात् । न द्वितीयः, प्रेताग्निहोत्रप्रकरणे 'अधस्तात् समिधं

फलतः नियमविधिका व्यवहार होगा । यदि शङ्का हो कि श्रवणविधि माननेसे समन्वयसूत्रके भाष्यके साथ विरोध होगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त भाष्यमें दर्शनविधिका ही निराकरण किया गया है, श्रवणविधिका निराकरण नहीं किया गया है । कारण यह है कि यदि आत्मसाक्षात्कारका विधान किया जाय, तो 'प्रकृतिप्रत्ययौ'० ('प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलकर प्रधानरूपसे प्रत्ययके अर्थका ही अभिधान करते हैं) इस न्यायसे नियोगरूप (प्रेरणारूप) प्रत्ययार्थके ही मुख्य होनेसे प्रकृतिका अर्थ होनेके कारण दर्शन (साक्षात्कार) गौण होगा और दर्शनमें विशेषणतया प्रविष्ट ब्रह्म तो अत्यन्त गौण अर्थात् अमुख्य होगा । इस परिस्थितिमें वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकेगी, [अतः दर्शनविधिके निराकरणमें ही समन्वयसूत्रके भाष्यका तात्पर्य है, श्रवणविधिके निराकरणमें उसका तात्पर्य नहीं है, यह भाव है] । यदि फलरूपसे प्रधानीभूत ब्रह्मसाक्षात्कारको उद्देश्य करके श्रवणका विधान करें, तो कोई भी दोष नहीं है ।

और [वेदान्तवाक्योंके विधिपरक और ब्रह्मपरक माननेमें वाक्यभेद प्रसक्त होगा, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसपर कहते हैं कि] क्या किसी एकदेशी वेदान्तीने वाक्यभेदका अपादान किया है या पूर्वमीमांसकने ? इनमें पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अवान्तर वाक्योंके भेदसे वेदान्तमें भी 'विविदिषन्ति यज्ञेन' (यज्ञोंसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि स्थलोंमें ज्ञानके साधनरूपसे यज्ञ आदिकी विधिका अङ्गीकार किया गया है ।

अवघातविधि नियमविधि नहीं है, ऐसा यदि कहा जाय, तो यह प्रकार विचारमें भी लागू हो सकता है, क्योंकि वेदान्तविचारसे ही ब्रह्मज्ञान होता है, अन्य साधनोंसे नहीं होता, इस प्रकार श्रवणविधिको अपूर्वविधि माननेसे भी फलतः नियमविधि हो सकती है, यह भाव है ।

धारयन्ननुद्रवेत्' इत्यधोधारणं विधाय 'उपरि हि देवेभ्यो धारयति' इति पठितम्। तत्र दैविकमुपरिधारणमन्यप्रकरणमध्ये श्रुतमपि विधेयमिति 'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इत्यधिकरणे निर्णीतत्वात्।

अथ कथञ्चिदेतदधिकरणं प्रभाकरो नाऽङ्गीकुर्यात् तथापि दर्शपूर्णमासप्रकरणे 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्' इति रजस्वलाया व्रतकलापविधिमङ्गीकरोत्येव। तस्माद् ब्रह्मप्रकरणेऽपि श्रवणं विधीयतां का तव हानिः? अथ व्रतकलापस्य प्रकरणान्वयासम्भवादगत्या वाक्यभेदाश्रयणम्, इह तु तव्यप्रत्ययस्याऽर्हार्थत्वेनाऽप्यन्वयसंभवान्न तद्युक्तमिति तवाऽपरितोषः, तर्हि 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य' इत्यादि वाक्यं श्रवणादिविधायकमस्तु, तस्याऽनारभ्याऽधीतत्वेनोक्तविरोधा-

---

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रेताग्निहोत्रप्रकरणमें 'अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेत्' (स्रुग्दण्डके नीचे समिधाको रखकर आवसथ्य अग्निके पास जाय) इस श्रुतिसे अधोधारणका विधान करके 'उपरि हि देवेभ्यो धारयति' (देवताओंके लिए स्रुग्दण्डके ऊपर समिधा रक्खे) इस प्रकारका वाक्य पढ़ा गया है। इसमें देवतोद्देश्यक उपरिधारण यद्यपि अन्य प्रकरणमें (प्रेताग्निहोत्र प्रकरणमें) श्रुत है, तथापि वाक्यभेदसे उपरिधारणका विधान किया जाता है, इस प्रकारका निर्णय 'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' (पूर्वमी० अ० ३ पा० ४ सूत्र १५) इस सूत्रमें किया गया है।

यदि इस अधिकरणको प्रभाकर किसी तरहसे न माने तो दर्शपूर्णमासप्रकरणमें 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्' इस वाक्यसे वाक्यभेदका अङ्गीकार करके उसके मतमें भी रजस्वलाके व्रतोंका विधान किया ही गया है। इसलिए ब्रह्मप्रकरणमें वाक्यभेदसे श्रवणका विधान किया जाय, तो भी तुम्हारी क्या हानि है? यदि तुम्हे असन्तोष हो कि रजस्वलाके व्रतकलापका दर्शपूर्णमासप्रकरणमें अन्वय नहीं हो सकता है, इसलिए अगत्या हमको वाक्यभेदका अवलम्बन करना पड़ता है, और प्रकृत 'श्रोतव्यः' इत्यादि ब्रह्मप्रकरणस्थ वाक्योंमें तो 'तव्य' प्रत्ययका अर्ह (योग्य) अर्थ हो सकता है, अतः वाक्यभेद करना युक्त नहीं है, तो 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य' † इत्यादि वाक्य ही श्रवणका विधायक है, कारण कि यह वाक्य किसी दूसरे प्रकरणका आरम्भ करके नहीं पढ़ा गया है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे प्रकरणविरोध

भावात् । आपाततः श्रवणाद्यप्रतीतावपि वाक्यपर्यालोचने वाक्यस्य श्रवणादिविधिपरत्वात् । सूत्रकारेणैव 'सहकार्यन्तरविधिः' इति सूत्रे पाण्डित्यबाल्ययोः श्रवणमननरूपत्वेन विधिं सिद्धवत्कृत्य 'अथ मुनिः' इति वाक्यशेषे निदिध्यासनरूपत्वेन मौनस्य विधित्वप्रतिपादनाद् असाम्प्रदायिकत्वं दूरापास्तम् । ननु एवमपि अधीत्य स्वाध्यायेनाऽवगतस्य 'श्रोतव्यः' इत्यस्य श्रवणविधेरनुपपत्तिस्तदवस्थैवेति चेत् , न; तव्यप्रत्ययस्य विधावपि स्मरणात् । 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यादिषु समानप्रकरणेषु श्रुत्यन्तरेषु श्रवणस्य अवश्यं वाक्यभेदेन विधेरङ्गीकर्तव्यतया त्वदपरितोषस्य निरवकाशत्वात् । न चैकस्यामेव शाखायां 'श्रोतव्यः' 'पाण्डित्यं निर्विद्य' इति

या वाक्यभेद प्रसक्त नहीं हो सकते हैं । यद्यपि उक्त वाक्यमें अर्थात् 'ब्राह्मणः पाण्डित्यम्' इत्यादि वाक्यमें पाण्डित्य शब्दको सुनते ही आपाततः 'पण्डिताई' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है, श्रवणरूप अर्थ प्रतीत नहीं होता, तथापि वाक्यका पूरा पर्य्यालोचन करनेसे उक्त वाक्य श्रवणका विधायक ही ज्ञात होता है । 'सहकार्यन्तरविधिः०' (ब्र० सू० ३ । ४ । ४७) इत्यादि सूत्रमें सूत्रकारने ही पाण्डित्य और बाल्यकी क्रमशः श्रवण और मनन रूपसे विधि सिद्धसी करके 'अथ मुनिः' इस वाक्यशेषसे निदिध्यासनरूप मौनविधिका प्रतिपादन किया है, अतः इस वाक्यकी विधायकतामें असाम्प्रदायिकत्वका भी खण्डन हुआ समझना चाहिए । यदि कहो कि उक्त प्रकारसे श्रवणका विधान होनेपर भी वेद पढ़कर उससे ज्ञात 'श्रोतव्यः' इस श्रवणविधिकी, † अनुपपत्ति ज्योंकी त्यों ही है, क्योंकि 'श्रोतव्यः' इस वाक्यमें विधायक प्रत्यय नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'तव्य' प्रत्ययका विधि भी अर्थ है । और समानप्रकरणमें पढ़े गये 'तद्विजिज्ञासस्व' (ब्रह्मका विचार करो) इत्यादि वाक्योंसे वाक्यभेद द्वारा श्रवणका विधान अवश्य करना होगा, (क्योंकि इस स्थलमें विधायक लोट् लकार है) अतः तुम्हारा वाक्यभेदप्रयुक्त असन्तोष भी निरालम्बन ही है । यदि शङ्का हो कि एक ही शाखा में 'श्रोतव्यः' (विचार करना चाहिए) 'पाण्डित्यं निर्विद्य' (पाण्डित्यका—श्रवणका—सम्पादन करके) इस प्रकार दो बार श्रवणका

* भूतकालीन ब्राह्मणोंने श्रवण आदि साधनोंसे आत्माका साक्षात्कार करके जीवन्मुक्ति प्राप्त की थी, अतः इदानीन्तन ब्राह्मण भी श्रवणकी प्राप्ति करें, यह श्रुतिका अर्थ है ।

श्रवणविधिद्वयं पुनरुक्तमिति वाच्यम्, एकत्र विधायाऽपरत्र विधिमनूद्य विशेषकथनात्। अथवा यथा द्विर्मैत्रेयीब्राह्मणमपुनरुक्तम्, एकस्योपसंहाररूपत्वात्; तथा द्विःश्रवणविधिर्भवतु। तस्मात् उपपद्यत एव श्रोतव्य इति विधिः ॥१॥

तत्र श्रवणं नाम वेदान्तवाक्यानि विचार्य 'उपक्रमादिभिर्लिङ्गैर्वाक्यतात्पर्यनिर्णयः' इति पुराणवचनेनोक्तम्। तथा च विरक्तेनाऽधिकारिणाऽमृतत्वसाधनभूतात्मदर्शनाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्य इति। एवं तावदधीतस्वाध्यायः पुमान् वेदादेवाऽवगत्य पश्चादेवं संदिग्धे—किं वैराग्यमात्रमधिकारिविशेषणम् उताऽन्यदप्यस्ति ? नानाविशेषणेषु तद्विशिष्टाधिकारिणि च किं प्रमाणम् ? वेदान्तवाक्यविचारश्च धर्मविचारेणैव गतो न वा ? कथं वा वेदान्तवाक्यानि विचार्याणि ? किंलक्षणमात्मतत्त्वम् ? तस्मिंश्च किं प्रमाणम् ?

विधान करनेसे पुनरुक्ति होगी, तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उन दो वाक्योंमें एक वाक्यसे श्रवणका विधान कर दूसरे वाक्यसे अनुवाद करके विशेषका कथन किया जाता है। अथवा जैसे एकके उपसंहाररूप होनेसे दो बार कहे गये मैत्रेयीब्राह्मणमें पुनरुक्ति नहीं है ? वैसे ही एकके उपसंहाररूप होनेसे दो बार कही गई श्रवणविधि भी पुनरुक्तिदोषग्रस्त नहीं है। इससे श्रवणको विधि मानना युक्ति-युक्त ही है ॥१॥

श्रवण, मनन और निदिध्यासनोंमें से पूर्वोक्त पुराणवचनसे श्रवणका—वेदान्तवाक्योंका खूब सोच समझकर उपक्रम आदि हेतुओं द्वारा किया गया तात्पर्य-निर्णय—अर्थ कहा गया है। इस परिस्थितिमें विरक्त अधिकारीको मोक्षके प्रति कारणभूत आत्मसाक्षात्कारके लिए वेदान्तवाक्योंका विचार करना चाहिए, यह सिद्ध होता है। वेदका अध्ययन करनेके बाद अधिकारी पुरुष—स्वाध्यायसे ही 'आत्मज्ञानके लिए श्रवण करना चाहिए'—यह जानकर फिर इस प्रकार सन्देह करता है—क्या वैराग्य ही अधिकारीका विशेषण अर्थात् अधिकारिताकी योग्यताका सम्पादक है ? अथवा दूसरा भी कोई अधिकारिताका सम्पादक विशेषण है ? यदि दूसरे भी विशेषण हैं, तो उन विशेषणोंसे युक्त अधिकारीमें क्या प्रमाण है ? वेदान्तका विचार धर्मके विचारसे गतार्थ है अथवा नहीं ? अर्थात् वेदान्तवाक्योंका विचार धर्मविचारसे गतार्थ हो सकता है ? या नहीं ? किस प्रकार वेदान्तवाक्योंका विचार करना चाहिए ? आत्मतत्त्वका क्या लक्षण है ? और

तस्य च प्रमाणस्याऽस्ति केनचिद् विरोधो न वा ? तत्त्वगोचरज्ञानं च किं कर्मभिः समुच्चित्याऽमृतत्वसाधनम् उत केवलमेव ? केवलस्य साधनत्वे वा किं प्रमाणम् ? कीदृशममृतत्वं किंप्रमाणकं चेति। त एते संदेहा अन्येऽप्येवंविधा नानाविधैर्न्यायैर्निर्णेतव्याः । तांश्च न्यायान् परमकृपालुर्भगवान् बादरायणः सूत्रयितुकामः प्रथमतः 'श्रोतव्यः' इति वाक्ये प्रतिपन्नमधिकारिविषयफलाख्यानुबन्धत्रयोपेतं विधिं न्यायेन निर्णयंस्तदर्थभूतविचारकर्तव्यतां वक्ष्यमाणकृत्स्नशास्त्रप्रवृत्तिहेतुत्वेनोपोद्घातभूतां सूत्रयामास--'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति।

तत्र 'आत्मनस्तु कामाय' इति वाक्ये विरक्त्युपलक्षितसाधनचतुष्टयसपन्नो य एवाऽधिकारी प्रतीयते स एव अथशब्दार्थः। 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इति वाक्ये वित्तोपलक्षितलौकिकवैदिककर्मभिरमृतत्वं नास्तीति यदुक्तं

उसमें प्रमाण क्या है ? यदि उसमें कोई प्रमाण है, तो उसके साथ किसी प्रमाणका विरोध है अथवा नहीं ? तत्त्वविषयक विज्ञान क्या कर्मोंकी सहकारितासे अमृतत्वका साधन है, अथवा वह स्वतन्त्र ही उसका साधन है ? यदि स्वतन्त्र ही साधन है, तो उसमें प्रमाण क्या है, अमृतत्व कैसा है ? और उसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रकारके सन्देहोंका और इनके समान अन्य कई सन्देहोंका भी अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे निर्णय करना चाहिए। उन युक्तियोंका, अत्यन्त कृपालु भगवान् वेदव्यासजीने, एकरूपसे सूत्रों द्वारा ग्रथन करनेके लिए पहले 'श्रोतव्यः' इस वाक्यसे अवगत अधिकारी, विषय और सम्बन्ध रूप तीन अनुबन्धोंसे युक्त विधिका निर्णय करते हुए उपोद्घातभूत विचारकर्तव्यतारूप श्रवणके अर्थको, जो कि कहे जानेवाले सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रमें प्रवृत्तिका प्रयोजक है, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० अ० १ पा० १ सू० १) इस सूत्रसे सूत्रित किया है।

'आत्मनस्तु कामाय' (आत्माके काम—सुखके लिए) इत्यादि वाक्यमें वैराग्यसे उपलक्षित चार साधनोंसे युक्त जो अधिकारी प्रतीत होता है, वही सूत्रस्थित 'अथ' शब्दका अर्थ है। 'अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति०' (द्रव्यसे अर्थात् लौकिक-वैदिक कर्मोंसे अमृतत्वकी आशा नहीं है) इस वाक्यका—वित्तशब्दसे उपलक्षित अर्थात् द्रव्यसाध्य लौकिक और वैदिक कर्मोंसे अमृतत्वकी आशा नहीं है, इस प्रकार—जो अर्थ है, वही 'अतः' शब्दका हेतुरूप

तदेवाऽतःशब्देन हेतूक्रियते । 'आत्मनि खलु' इत्यादिना वाक्येनाऽमृतत्वसाधनात्मदर्शनाय वेदान्तवाक्यविचाररूपं श्रवणं कर्तव्यमित्युक्तम्। तत्सर्वं ब्रह्मजिज्ञासापदेनाऽवगन्तव्यम् ।

नन्वेतत् सूत्रं विधायकमनुवादकं वा? नाऽऽद्यः, लिङ्-लोट्-तव्यप्रत्ययानामदर्शनात् । नेतरः, अप्रवर्तकेनाऽनेन श्रवणविध्यसङ्ग्रहप्रसङ्गात् , मैवम्; 'कर्तव्या' इत्यध्याहार्यत्वात्। ज्ञानेच्छयोर्वस्तुतन्त्रयोः कर्तुमशक्यत्वात् अध्याहृतेन जिज्ञासापदं नाऽन्वियादिति चेत्, तर्ह्यनयैवाऽनुपपत्त्या जिज्ञासापदेनाऽनुष्ठानयोग्यो विचारो लक्ष्यताम्। अविनाभावसम्बन्धश्च सन्दंशन्यायप्रसादात् सुसंपादः। संदष्टो हि ज्ञानेच्छाभ्यां विचारः। प्रथमत इच्छायां सत्यां

अर्थ किया जाता है। 'आत्मनि खलु' इत्यादि वाक्योंसे जो यह कहा गया है कि अमृतत्वके प्रति साधनभूत आत्मदर्शनके लिए वेदान्त-विचाररूप श्रवण करना चाहिए, वही सब 'ब्रह्मजिज्ञासा' शब्दका अर्थ है।

यदि शङ्का हो कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र विधायक है या अनुवादक है? पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सूत्रमें लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय देखनेमें नहीं आते [जिससे कि विधायक समझा जाय]। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो अनुवादक होता है वह प्रवर्तक नहीं होता, अतः इस अनुवादक सूत्रसे श्रवणविधिका सङ्ग्रह नहीं होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'कर्तव्या' पदके अध्याहारसे उक्त सूत्रको विधायक माननेमें कोई हानि नहीं है। यदि शङ्का हो कि ज्ञान और इच्छा तो वस्तुके अधीन हैं, अतः इनका विधान न होनेसे अध्याहृत 'कर्तव्या' शब्दका जिज्ञासाशब्दके साथ अन्वय नहीं हो सकता? तो इसपर यह कहते हैं कि इसी अन्वयकी अनुपपत्तिसे जिज्ञासाशब्दकी अनुष्ठानके योग्य पुरुषप्रयत्नसाध्य विचारमें लक्षणा करनी चाहिए, [अतः उक्त दोष नहीं हो सकता है]। इच्छा और ज्ञानके साथ विचारका अविनाभावसम्बन्ध 'सन्दंश' न्यायके प्रसादसे प्राप्त हो सकता है, क्योंकि ज्ञान और इच्छा दोनोंके द्वारा विचार पकड़ा गया है [अर्थात् इच्छा होनेपर विचार होता है और विचार होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः सँड़सीमें दोनों तरफसे जैसे कोई पदार्थ पकड़ा जाता है, वैसे ही विचार भी इच्छा

विचारे सति पश्चादेव ज्ञानोत्पत्तेः। न च वाच्यं लक्षणायां विचाराख्यो विषयानुबन्ध एव सिध्येद् न ब्रह्मज्ञानाख्यः फलानुबन्ध इति, अजहल्लक्षणया स्वार्थस्याऽपि स्वीकृतत्वात्।

ब्रह्मज्ञानजनकत्वान्यथानुपपत्त्या विचारस्य वेदान्तवाक्यविषयत्वं लभ्यते। नह्यन्यविचारकाणां ब्रह्मज्ञानमुपलभामहे। फलत्वान्यथानुपपत्त्या ब्रह्मज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वसिद्धिः। अधिकारिभिरिष्यमाणं हि फलम्। अत्र हि साधनचतुष्टयसंपन्ना अधिकारिणो निःशेषदुःखोच्छित्तिनिरतिशयानन्दावाप्ती तत्सा-

और ज्ञानसे पकड़ा जाता है, अतः 'सन्दंश' न्यायसे अविनाभावसम्बन्ध हो सकता है, यह तात्पर्य है]। यदि शङ्का हो कि जिज्ञासाशब्दकी विचारमें लक्षणा माननेपर विचाररूप विषयकी ही सिद्धि होगी, ब्रह्मज्ञानरूप फलानुबन्धकी सिद्धि नहीं होगी, * तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि ['अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें रहनेवाले ब्रह्मजिज्ञासाशब्दकी] अजहल्लक्षणा मानी जाती है, अतः ब्रह्मज्ञानरूप स्वार्थका भी अङ्गीकार होता है।

विचारमें जो वेदान्तवाक्योंकी विषयता है, वह ब्रह्मज्ञानके प्रति कारणताकी अन्यथानुपपत्तिसे प्राप्त होती है, क्योंकि वेदान्तशास्त्रके सिवा अन्य शास्त्रका विचार करनेवालोंको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हुई हो, ऐसा कहीं-पर भी नहीं देखा जाता। फलत्वकी अन्यथानुपपत्तिसे ब्रह्मज्ञानमें मोक्ष-साधनताकी सिद्धि होती है। क्योंकि फल उसे कहते हैं—जिसकी अधिकारियों द्वारा इच्छा की गई हो। चार साधनोंसे सम्पन्न जो वेदान्तशास्त्रके अधिकारी हैं, वे सम्पूर्ण दुःखोंका उच्छेद और निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति तथा उनके साधनको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं चाहते हैं, तत्त्वज्ञान दुःखका

* तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तिमें प्रयोजक ज्ञानके विषयीभूत—विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी—इस प्रकारके चार अनुबन्ध हैं। यदि प्रकृतमें 'ब्रह्मजिज्ञासा' शब्दकी विचारमें लक्षणा मानी जायगी, तो विचाररूप विषयलक्षण अनुबन्धकी ही सिद्धि होगी और ब्रह्मज्ञानरूप फलानुबन्धकी अर्थात् प्रयोजनरूप अनुबन्धकी सिद्धि नहीं होगी, अतः ब्रह्मजिज्ञासाशब्दकी विचारमें लक्षणा नहीं माननी चाहिए। इसका अजहल्लक्षणाके अङ्गीकार द्वारा परिहार करते हैं, जहाँ अजहल्लक्षणाका आश्रयण किया जाता है, वहाँ स्वार्थका परित्याग नहीं होता है, परन्तु अवान्तररूपसे स्वार्थका भी वह बोध करती है, जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओंसे दहीकी रक्षा करो) यहांपर अजहल्लक्षणाके प्रभावसे स्वार्थ—काक और लक्ष्य-अकाक दोनोंका ग्रहण होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी ब्रह्मज्ञानरूप फलानुबन्धकी सिद्धि हो सकती है।

धनं च विहाय नान्यदिच्छन्ति । तत्त्वज्ञानस्य दुःखोच्छेदानन्दावाप्तिरूपत्वासंभवेन परिशेषात्तत्साधनत्वम् ।

तदेवं साधनचतुष्टयसंपन्नस्य कर्मभिर्मोक्षासिद्धेर्मोक्षसाधनब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्त्तव्य इति श्रुतार्थः समग्रोऽपि सूत्रे संगृहीतः ।

एवं शास्त्रप्रवृत्तिहेतुत्वं च विचारकर्त्तव्यताया अन्वयव्यतिरेकसिद्धम् । सति ह्यनुबन्धत्रयोपेते विधौ पुरुषाः प्रवर्त्तन्ते, ज्योतिष्टोमादौ तथा दर्शनात् । असति तु न प्रवर्तन्ते, सप्तद्वीपा वसुमतीत्यादौ प्रवृत्त्यदर्शनात् ।

सा च विचारकर्त्तव्यता वक्ष्यमाणशास्त्रप्रवृत्तिहेतुभूता प्रथमसूत्रेणाऽनेनेत्थं निर्णीयते--

विमतं शास्त्रमारम्भणीयम्, सम्भावितविषयप्रयोजनत्वात्, कृष्यादिवदिति । न च सूत्रे विषयप्रयोजनानुपादानान्नाऽयं विषयः सूत्रसिद्ध इति

उच्छेद और आनन्दावाप्तिरूप नहीं हो सकता है, अतः परिशेषात् उन दोनोंके प्रति तत्त्वज्ञान साधन ही है ।

उक्त प्रकारसे साधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुषको कर्मोंसे मोक्षफल नहीं हो सकता है, अतः अधिकारीको मोक्षके साधनीभूत ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्त-वाक्योंका विचार करना चाहिए, इस प्रकार समग्र श्रुति द्वारा अभिप्रेत अर्थ इस 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमें संगृहीत किया गया है ।

इस प्रकारसे अन्वय और व्यतिरेक द्वारा विचारकी कर्तव्यतामें शास्त्रके प्रति प्रवृत्तिकी हेतुता सिद्ध हुई, क्योंकि तीन अनुबन्धोंसे युक्त विधिमें पुरुष प्रवृत्त होते हैं, ऐसा ज्योतिष्टोम आदिमें देखा जाता है । और तीन अनुबन्धोंसे शून्य वस्तुमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'सप्तद्वीपा वसुमती' (पृथ्वी सात द्वीपोंसे युक्त) इत्यादिमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । और वह विचारकी कर्तव्यता आगे कहे जानेवाले शास्त्रमें प्रवृत्तिकी जनक है, अतः उसका इस प्रथम सूत्रसे निम्न लिखित प्रकारके न्यायवाक्योंसे इस प्रकार निर्णय किया जाता है—

विवादग्रस्त वेदान्तशास्त्रका आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि इस शास्त्रके विषय तथा प्रयोजनरूप दोनों अनुबन्धोंका सम्भव है, जैसे कि कृषि (खेती) आदिका—उसके विषय और प्रयोजनके सम्भावित होनेसे—आरम्भ किया जाता है ।

यहांपर यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि सूत्रमें विषय और प्रयोजनका कथन न होनेसे यह विषय सूत्र द्वारा सिद्ध ही नहीं है, क्योंकि

शङ्कनीयम्, मुखतोऽनुपादानेऽप्यर्थात् सूचितत्वात्। सूत्रस्य हि सूचनमलङ्कारः, न तु दोषाय। तत्र तावद् 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादिशास्त्रेण विचार्याणां वेदान्तानां 'स वा अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्मात्मैकत्वं विषयः। तच्चैकत्वमखण्डैकरसवस्तुप्रतिपादकेन ब्रह्मशब्देन सूत्रे सूत्रितम्। 'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं दुःखोच्छेदब्रह्मप्राप्ती प्रयोजनम्। ते च तत्साधनभूतब्रह्मज्ञाननिर्देशात् सूत्रिते एव। न केवलं सूत्रकारो विषयप्रयोजने सूत्रितवान्, किन्तु तयोरुपपादनं चैवमभिप्रेयाय—विमतं शास्त्रं सम्भावितविषयप्रयोजनम्, अविद्यात्मकबन्धप्रत्यनीकत्वात्, जाग्रद्बोधवदिति।

न च बन्धस्याऽविद्यात्मकत्वमसूत्रसूचितमिति वाच्यम्, बन्धस्य

सूत्रकारने साक्षात् अपने मुखसे (अपने शब्दोंसे) यद्यपि ऐसा नहीं कहा है, तो भी अर्थतः सूचित कर दिया है। वाचक शब्दोंसे अभीष्ट अर्थका साक्षात् प्रतिपादन न कर अर्थात्—व्यञ्जना वृत्तिसे—उस अर्थका बोधन करना सूत्रोंका अलङ्कार ही है, दोष नहीं है। पहिले विषयको लीजिए—'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों द्वारा विचार किये जानेवाले जो वेदान्तवाक्य हैं, उनका—'स वा अयमात्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध ब्रह्मात्मैक्य ही—विषय है, उस एकत्वरूपी विषयको—अखण्डैकरस वस्तुका बोध करानेवाले ब्रह्मशब्दके रखनेसे सूत्रकारने—सूचित किया। 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी शोकसे पार होता है) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (ब्रह्मज्ञानवाला पर पदको प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे अवगत दुःखविनाश तथा परम पदकी प्राप्ति रूप फल ही वेदान्तके प्रयोजन हैं। और इन दोनों प्रयोजनोंको इनके उपायभूत ब्रह्मज्ञानके निर्देशसे ब्रह्मजिज्ञासापदसे ही सूचित कर दिया है। सूत्रकारने विषय तथा प्रयोजनको ही सिर्फ सूचन नहीं किया, बल्कि निम्नलिखित प्रकारसे इनका स्पष्ट उपपादन भी किया है—विवादग्रस्त शास्त्र विषय तथा प्रयोजन दोनोंकी सम्भावनासे युक्त है, अविद्यास्वरूप बन्धका विरोधी (उच्छेद करनेवाला) होनेसे, जाग्रत् अवस्थाके ज्ञानके समान। यदि कहो कि बन्ध अविद्यात्मक है, इसको सूत्रकारने अपने सूत्रमें नहीं कहा है, अतः

ज्ञाननिवर्त्यत्वाङ्गीकारेणैव तत्सूचनात्। तथा हि—निःशेषदुःखनिवर्तकत्वं तावद् ब्रह्मज्ञानस्य फलत्वसिद्धये सूत्रकारेणाऽङ्गीकृतम्। प्रमातृत्वकर्तृत्व-भोक्तृत्वादिबन्धश्च सर्वोऽपि दुःखबीजत्वाद् दुःखमेव। तत्र विचारणीयम्—किमयं बन्धः पारमार्थिकः स्यादपारमार्थिको वेति। आद्ये ब्रह्मज्ञानान्न निवर्तेत। ये त्वेकदेश्यादयः पारमार्थिकस्यैव ज्ञानान्निवृत्तिमङ्गीकुर्युस्ते प्रष्टव्याः—ज्ञानं स्वविषये वा निवृत्त्याख्यमतिशयं जनयति स्वाश्रये वा? आद्येऽपि स्वविषयं संसारिणमात्मानमेव निवर्तयेद्, उत तद्गतं धर्ममात्रम्, अथवा स्वबोध्याखण्डैकरसत्वविरोधिन एव कर्तृत्वादीन्, किं वा विषय-गतानवबोधमेव? न तावत् प्रथमद्वितीयतृतीयाः, नहि नानावर्णे चूतादि-

---

अविद्यात्मक बन्ध नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे बन्धनकी निवृत्ति माननेसे सूत्रकारने अर्थतः बन्धकी अविद्यात्मकता सूचित कर ही दी है। कारण कि सूत्रकारने ब्रह्मज्ञानको वेदान्तशास्त्रके फलकी सिद्धि करनेके लिए दुःखका उच्छेद करनेवाला मान ही लिया है। और प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण बन्ध भी दुःखके प्रति हेतु होनेसे स्वयं दुःखरूप ही हैं। इस परिस्थितिमें यहांपर इस प्रकार विचारना चाहिए—यह बन्ध (संसार) पारमार्थिक (सत्य) है अथवा अपारमार्थिक (मिथ्या) है? यदि कहो कि पारमार्थिक है, तो उसकी ब्रह्मज्ञानसे निवृत्ति नहीं हो सकेगी। जिन भास्कर आदि एकदेशियोंने पारमार्थिक सत्य वस्तुकी ही ज्ञानसे निवृत्ति मानी है, उनके प्रति प्रश्न करना चाहिए कि क्या ज्ञान अपने विषयमें निवृत्ति नामका कोई विशेष उत्पन्न करता है? अर्थात् ज्ञानके होनेसे उसका विषय निवृत्त हो जाता है अथवा क्या अपने आश्रयमें वह ज्ञान उक्त विशेषको उत्पन्न करता है अर्थात् ज्ञान अपने आश्रयको ही हटा देता है? यदि प्रथम पक्ष मानो, तो उसमें भी प्रश्न इस प्रकार किये जा सकते हैं कि क्या वह ज्ञान अपने विषयीभूत केवल संसारी आत्माकी ही निवृत्ति करता है? अथवा अपने विषयमें रहनेवाले सम्पूर्ण धर्मोंकी निवृत्ति करता है? अथवा आत्मपदसे ज्ञात होनेवाले अखण्डैकरसके विरोधी—कर्तृत्व आदि धर्मोंकी ही निवृत्ति करता है? या केवल विषयके अज्ञानकी निवृत्ति करता है? परन्तु इन विकल्पोंमें से प्रथम, द्वितीय और तृतीय विकल्प तो युक्त ही नहीं हैं, क्योंकि विचित्र वर्णवाले

फले नीलभागज्ञानं स्वविषयं वा तत्समवेतरसादिकं वा विरोधिनं पीतिमादिगुणं वा निवर्तयति। चतुर्थे त्वस्मन्मतापत्तिः। आश्रयातिशयपक्षेऽपि किमाश्रयनिवृत्तिः, किं वा तद्गुणानाम् उताश्रयविषयोभयसंबन्धिधर्माणाम् ? नाऽऽद्यः, प्रतिक्षणमात्मविनाशापत्तेः। न द्वितीयः, घटज्ञानेनाऽऽत्मगतधर्मादिगुणानिवृत्तेः। न तृतीयः, स्वदेहज्ञानेन देहात्मसंबन्धाद्यनिवृत्तेः। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इति श्रुतत्वाद् वास्तवोऽपि बन्धो ज्ञाननिवर्त्य इति चेद्,

अर्थात् चितकबरे आम आदि फलके नीलगुणविशिष्ट भागका परिज्ञान— अपने विषयीभूत फलको या उसमें (आममें) समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले रस आदिको अथवा नीलके विरोधी पीत आदि गुणोंको—निवृत्त नहीं करता है। यदि चतुर्थ विकल्पका अर्थात् ज्ञान विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति करता है, इस चौथे विकल्पका अङ्गीकार किया जाय, तो हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें ही तुम्हारा आना हुआ। ज्ञान अपने आश्रयमें (आत्मामें) अतिशयको—निवृत्ति नामके विशेषको—उत्पन्न करता है, इस द्वितीय विकल्पका अङ्गीकार यदि किया जाय, तो उसमें भी प्रश्न होता है कि क्या वह ज्ञान आश्रयकी (आत्माकी) ही निवृत्ति करता है ? अथवा उसके गुणोंकी निवृत्ति करता है अथवा आश्रय और विषय दोनोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले धर्मोंकी निवृत्ति करता है ? इनमें पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे आश्रयकी निवृत्ति माननेसे प्रतिक्षण ज्ञानके होनेसे प्रत्येक क्षणमें आत्माके विनाशकी प्रसक्ति होगी। द्वितीय विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि घटज्ञानसे आत्माके गुणोंकी निवृत्ति नहीं देखी जाती। तीसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि अपनी देहका ज्ञान होनेसे शरीर और आत्माके सम्बन्ध आदि निवृत्त नहीं होते। यदि* शङ्का हो कि 'तमेव विदित्वा०' (उस परमात्माको जानकर विद्वान् पुरुष मृत्यु—संसार—को पार कर जाता है) इस प्रकारकी श्रुतिमें प्रपञ्चकी उक्ति होनेसे संसारके सत्य

* शङ्काका अभिप्राय यह है कि यदि बन्ध मिथ्या होता, तो मिथ्यापदार्थ कुछ है ही नहीं फिर उसकी निवृत्तिके उपायको दिखलानेकी आवश्यकता ही क्या थी ? उपाय दिखाया गया है, अतः बन्धनकी सत्यता माननी होगी।

न; श्रुतेर्बन्धसत्यत्वासत्यत्वयोस्ताटस्थ्यात्। अस्माभिस्तु श्रुतोपपत्त्यर्थं बन्धस्याऽविद्यात्मत्वं कल्प्यते। यथा ज्योतिष्टोमादीनां श्रुतस्य स्वर्गसाधनत्वस्योपपत्त्यर्थमपूर्वं भवद्भिः कल्प्यते तद्वत्। अथ तत्र क्षणिकानां कर्मणां कालान्तरभाविफलसाधनत्वाभावव्याप्तिनियमः कल्पकोऽस्ति, तर्हीहाऽपि 'ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकम्' इति व्याप्तिनियमः कल्पकोऽस्तु। अतोऽपारमार्थिकत्वमवशिष्यते बन्धस्य। तदेवं ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यस्य बन्धस्याऽज्ञानात्मकत्वं सूत्रेणैव सूचितम्।

माननेपर भी उसकी ज्ञानसे निवृत्ति हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति केवल इतना ही प्रतिपादन करती है कि बन्ध (संसार) केवल ज्ञानसे निवृत्त होता है, बन्ध सत्य है या मिथ्या, इस विषयमें श्रुति तटस्थ है †। अतः श्रुतिप्रतिपादित अर्थकी उपपत्तिके लिए हम बन्धको अविद्यात्मक मानते हैं। जैसे कि 'स्वर्गका * यजेत' (स्वर्गकी इच्छावाला याग करे) इस श्रुतिवाक्यसे बोधित स्वर्गसाधनताकी ज्योतिष्टोम आदि यागमें सङ्गतिके लिए आप (मीमांसक) भी अपूर्वकी कल्पना करते हैं। यदि शङ्का हो कि याग तो क्रियाकलापरूप है, और क्रिया क्षणिक है अर्थात् अस्थायी है, तथा स्वर्ग आदि फल यागके अव्यवहित उत्तर क्षणमें तो होते नहीं, किन्तु कुछ कालके बाद होते हैं, अतः कार्यके अव्यवहित पूर्वकालमें रहनेवाला ही कारण हो सकता है, इस नियमसे क्रियात्मक याग स्वर्गके प्रति साधन नहीं हो सकता है, इससे श्रुतिकी सङ्गतिके लिए अपूर्वकी कल्पना की जाती है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तुल्ययुक्त्या हम भी कहेंगे कि 'ज्ञानमज्ञाननाशकम्' अर्थात् ज्ञान अज्ञानका नाशक होता है, यह लौकिक नियम ही बन्धकी अज्ञानात्मकताका कल्पक है। इसलिए बन्धका अपारमार्थिकत्व ही (मिथ्यात्व ही) अवशिष्ट रह जाता है। अतः पूर्वोक्त सम्पूर्ण शास्त्रार्थसे ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त होनेवाले बन्धकी अज्ञानात्मता ही सूत्र द्वारा सूचित की गई।

---

† तात्पर्य यह है कि बन्धका सत्यत्व या मिथ्यात्व जो उपपन्न हो उसे मान लीजिए, इसमें श्रुतिका कोई विरोध नहीं है। अब हमसे पूछिए—बन्ध सत्य है या मिथ्या? हम कहेंगे कि बन्धको सत्य मानकर उसकी ज्ञानसे निवृत्ति माननेमें पूर्वोक्त दोष आते हैं, और सत्य वस्तुकी निवृत्तिका सम्भव भी नहीं है। प्रपञ्चकी ईश्वरज्ञानसे निवृत्ति मानना भी दृष्टान्तकोटिको नहीं पा सकता, क्योंकि निवृत्त होनेवाला प्रपञ्च तो हमारे मतमें मिथ्या ही है। अब परिशेषात् बन्धको मिथ्या ही मानना होगा। इससे उसकी निवृत्तिका भी सम्भव हो सकता है। बन्धको अविद्याकल्पित माने बिना श्रुतिका, ब्रह्मज्ञानसे मृत्युका पार करना, यह अर्थ करना कभी भी सङ्गत नहीं हो सकता।

नन्वेवं तदविद्यात्मकत्वं सूत्रकारेण मुखत एव वर्णनीयम्, विषयप्रयोजनसाधनद्वारा कृत्स्नशास्त्रारम्भसमर्पकत्वात्। मुखतोऽप्रतिपादनेऽतात्पर्यप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि वर्णितमेवैतन्मुखतो द्वितीयाध्याये 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यादिसूत्रे। सूत्रस्य चाऽयमर्थः—आत्मनो देहोत्क्रान्तिपरलोकगत्येतल्लोकागतीनां श्रुतत्वात् सर्वगतत्वं विरुद्धमिति चेद्, बुद्धिगुणसारत्वात्। बुद्ध्यात्मनोरितरेतरतादात्म्याध्यासेन बुद्धिगुणेष्वेवोत्क्रान्त्यादिषु सर्वगतस्याऽऽत्मनोऽभिमानमात्रं जायते। तच्च श्रुत्याऽनूद्यते—निजस्वरूपबोधनायेति। तर्हि

पुनः शङ्का करते हैं कि यदि बन्ध अविद्यात्मक है, यह सूत्रकारको अभिमत है, तो उन्हें अपने मुखसे ही बन्ध अविद्यात्मक है, ऐसा कहना चाहिए था, क्योंकि मुखतः प्रतिपादित बन्धका अज्ञानात्मकत्व ही सम्पूर्ण शास्त्रका प्रारम्भ करनेमें हेतु होता है। यदि उसका अर्थात् बन्धकी अविद्यात्मकताका सूत्रकारने मुखसे प्रतिपादन नहीं किया है, तो सूत्रकारका उसमें तात्पर्य भी नहीं हो सकता है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बन्धकी अविद्यात्मकताका द्वितीय अध्यायमें 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यादि सूत्रमें स्पष्टरूपसे अपने ही मुखसे सूत्रकारने प्रतिपादन किया है। उक्त सूत्रका यह अर्थ है—

आत्माकी देहसे उत्क्रान्ति (निकलना), परलोककी यात्रा और इस लोकमें आगति (आना) श्रुतिमें सुनी जाती हैं, अतः उसका सर्वगतत्व (सब जगह रहना) विरुद्ध है, [अर्थात् जो सर्वत्र विद्यमान है, उसका आना, जाना और निकलना कैसे बन सकता है, क्योंकि वह तो सर्वत्र विद्यमान ही है, फिर उसका कहांसे और कहां आना जाना हो? यदि जैसे हम एक गांवसे दूसरे गांवमें जाते हैं वैसे ही वह भी इस लोक और परलोकमें जाता आता है, ऐसा माना जाय, तो वह सर्वगत सब कालमें सब जगह विद्यमान कैसे होगा? ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सूत्रकार उत्तर देते हैं]—'तद्गुणसारत्वात्' सूत्रमें तत्पदका अर्थ बुद्धि, जो मन, अन्तःकरण आदि नामसे भी कही जाती है, लिया गया है। उसके गुण काम-सङ्कल्प या गमनाऽगमन आदि लिए जाते हैं। सूत्रार्थ हुआ—बुद्धि और आत्माका इतरेतराध्यास होनेसे बुद्धिके पूर्वोक्त जाना-आना आदि गुणोंमें सर्वगत आत्माको अभिमानमात्र हो जाता है, उस अध्यासमूलक स्वगतत्वाभिमानको ही लेकर 'अपनी गति, आगति, उत्क्रान्ति आदि माननेवाले अरे जीव! तू सर्वगत आत्मा है'

कृत्स्नशास्त्रारम्भं प्रत्युपोद्घातत्वात् प्रथममेवाऽध्यासविषयं सूत्रं प्रणेतव्यम्। उपोद्घातश्च प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संगृह्य प्रागेव तदर्थमर्थान्तरवर्णनमिति चेद्, न; प्रतिपादने प्रवृत्तेन सूत्रकारेण विरोधपरिहारसूत्रस्य प्रथमतो वक्तुमशक्यत्वात्। प्रतिपाद्यं मुखतः प्रतिज्ञाय पश्चात् तत्सिद्धिहेतुप्रदर्शनं प्रतिपादनम्। तथा च प्रथमेनाऽध्यायेन ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयं प्रदर्श्य तदुपपादको विरोधपरिहारः पश्चात् कर्त्तव्यः। प्रथममप्रदर्शिते पुनः समन्वयविशेषे तद्विरोधाशङ्का तन्निराकरणं च निर्विषयं स्यात्।

नन्वेवमादावध्यासानुक्तौ विषयप्रयोजनासिद्ध्या शास्त्रप्रवृत्तिर्न स्याद्,

---

इस प्रकार केवल अपने स्वरूपका बोध करानेके निमित्त श्रुति अनुवाद करती है, अतः उक्त सूत्रका वाच्यार्थ यह हुआ कि सर्वगत आत्मामें कर्तृत्व आदि संसर्गाध्यासमूलक होनेसे मिथ्या हैं। इससे बन्ध अविद्यात्मक है, इसमें सूत्रकारका तात्पर्य स्वरसतः उपपन्न हुआ। यदि शङ्का हो कि ऐसी दशामें, यह सूत्र रचे जानेवाले इस सम्पूर्ण ब्रह्ममीमांसाशास्त्रके प्रति उपोद्घातरूप हुआ, इसलिए बन्धको मिथ्या कहनेवाला अध्यासप्रतिपादक सूत्र ही सर्वप्रथम लिखना चाहिए था, क्योंकि अपने वक्तव्य अर्थका बुद्धिमें सङ्ग्रहकर ग्रन्थप्रणयनसे पूर्व ही उसके अनुकूल दूसरे अर्थका वर्णन करना ही अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थका प्रतिपादन करना ही उपोद्घात कहा जाता है [संक्षेपतः इसका आशय यह हुआ कि वेदान्तका तात्पर्य ब्रह्मात्म्यैक्यमें ही है, उसकी सिद्धि अध्याससिद्धिके अधीन है, अतः अध्यासका ही मुखतः प्रथम वर्णन करना उचित है], तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सूत्रकार सर्वप्रतिपाद्यके प्रतिपादनमें प्रवृत्त हैं, इसलिए विरोध-परिहार करनेवाला उक्त सूत्र सर्वप्रथम—प्रतिपाद्यके प्रतिपादनसे पूर्व—नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिपाद्य अर्थकी सर्वप्रथम साक्षात् तद्वाचक शब्दोंसे प्रतिज्ञा करके पश्चात् प्रतिपाद्य अर्थकी सिद्धि करनेवाले हेतु (न्यायवाक्य) का प्रयोग करना प्रतिपादन कहलाता है। इसलिए पहले अध्यायसे सभी वेदान्तोंका तात्पर्य ब्रह्म (ब्रह्मात्मैक्य) में ही है, यह दिखलाकर बादमें उसका प्रतिपादक विरोध-परिहार करना ही उचित समझा जाता है। यदि पहले समन्वयविशेषका प्रदर्शन न किया जाता, तो उसके विरोधकी आशङ्का और उसका परिहार निरर्थक होता।

इसपर भी यदि शङ्का हो कि यदि पहले अध्यासका स्वरूप न कहा जाय, तो विषय और प्रयोजनकी असिद्धि होनेसे शास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होगी? तो

मैवम्; प्रथमसूत्रेऽध्यासः साक्षादनुक्तोऽप्यर्थात् सूचित इत्युपपादितत्वात् सिध्यत्येव शास्त्रप्रवृत्तिः ॥२॥

ननु सूत्रसूचितोऽप्यध्यासो न युक्तिसहः। तथा हि—आत्मानात्मानौ इतरेतरतादात्म्याध्यासरहितौ, क्वाऽपीतरेतरभावरहितत्वात्, तमःप्रकाशवत्। न च हेत्वसिद्धिः, विमतौ तादात्म्यशून्यौ, विरुद्धस्वभावत्वात्, तमःप्रकाशवत्। न चाऽसिद्धो हेतुः, विमतौ विरुद्धस्वभावौ, युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरत्वाद्, देवदत्ततद्वैरिवत्। न च वाच्यं देवदत्तस्य स्वशरीरादिसंघातेऽस्मत्प्रत्ययस्तत्रैव तद्वैरिणो युष्मत्प्रत्ययः; न च तत्र विरोधोऽस्ति। एवं तद्वैरिण्यपि

यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रथम सूत्रमें यद्यपि साक्षात् अध्यास नहीं कहा गया है, तथापि अर्थात् उसका उपपादन किया गया है, अतः शास्त्रमें प्रवृत्ति हो सकती है ॥२॥

यदि शङ्का हो कि अध्यास सूत्र द्वारा सूचित होने पर भी युक्तियोंसे सिद्ध नहीं हो सकता है। कैसे? देखिए—आत्मा और अनात्मा परस्पर तादात्म्याध्याससे रहित हैं, कहींपर भी उनके परस्पर तादात्म्यकी उपलब्धि न होनेसे, प्रकाश और अन्धकारके समान। यदि शङ्का हो कि उक्त अनुमानके हेतुकी सिद्धि नहीं है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा तादाम्याध्याससे रहित हैं, विरुद्धस्वभाववाले होनेसे, तम और प्रकाशके समान। यदि शङ्का हो कि इस अनुमानमें भी हेतुकी असिद्धि है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि विमत अर्थात् आत्मा और अनात्मा परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं, युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्ययके* विषय होनेसे, देवदत्त और उसके वैरीके समान। यदि शङ्का हो कि देवदत्तको अपने शरीर, इन्द्रिय आदि सङ्घातमें जहाँ अस्मत्प्रत्यय (मैं व्यवहार) होता है, वहींपर उसके वैरीको युष्मत्प्रत्यय (तू व्यवहार) होता है, परन्तु वहाँ विरोध नहीं है, वैसे ही देव-

* युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्यय हैं—तू और मैं इस प्रकारके व्यवहार। सामान्य घट, पट आदिका व्यवहार ही, जो आत्माके लिए नहीं होता है, युष्मत्प्रत्यय कहलाता है। आत्माके व्यवहारको अस्मत्प्रत्यय कहते हैं। घट, पट आदि जितने अनात्म पदार्थ हैं, वे सब के सब युष्मत्प्रत्ययके विषय हैं और आत्मा अस्मत्प्रत्ययका विषय है। आगेके ग्रन्थमें भी जहाँ युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्ययका प्रयोग हो, वहाँपर भी यही अर्थ समझना चाहिए।

प्रत्ययव्यत्यासेन योजने दृष्टान्तः साध्यविकलः स्यादिति। नहि भिन्नाश्रययोः प्रत्यययोर्विषयौ दृष्टान्तत्वेन विवक्ष्येते; किं तर्हि समानाश्रययोरिति। नहि प्रत्येकाकारौ दृष्टान्तत्वेन विवक्ष्येते; किं तर्हि देवदत्तप्रतीत्या तद्वैरिप्रतीत्या च सिद्धः समुदायाकारो दृष्टान्त इति नोक्तदोषः। स्यादेतत्—किमत्र लोकप्रसिद्धावात्मानात्मानौ पक्षीक्रियेते ? किं वा प्राभाकरादिसिद्धौ ? उत वेदान्तिसिद्धौ ? नाऽऽद्यः, द्वयोरनुमानयोः सिद्धसाधनत्वात्। तृतीयानुमानस्याऽनुभवविरोधात्। लोके हि देहादिचैतन्यान्तसंघात आत्मा पाषाणादिरनात्मा। न च तयोरैक्याध्यासैक्ये वेदान्त्यभिमते। नाऽपि

दत्तके वैरीमें भी प्रत्ययको (व्यवहारको) उलटा करनेसे अर्थात् देवदत्तके वैरीको अपने शरीरसङ्घातमें जहाँ अस्मत्प्रत्यय—मैं, इस प्रकारका व्यवहार—होता है, उसी शरीरसङ्घातमें देवदत्तको युष्मत्प्रत्यय—तू, इस प्रकारका व्यवहार—होता है, इसीसे भी युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्ययका विरोध नहीं है, अतः दृष्टान्तवाक्य—तृतीय अनुमानमें जो 'देवदत्त और उसके वैरीके समान, यह जो दृष्टान्त दिया है—वह साध्यसे—विरुद्धस्वभाववत्त्वरूप साध्यसे—हीन होगा ? तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि हम भिन्न-भिन्न पुरुषके व्यवहारके विषयको—युष्मत्प्रत्ययगोचर और अस्मत्प्रत्ययगोचरको—दृष्टान्तरूपसे नहीं कहते हैं, किन्तु समानाश्रयवाले प्रत्ययके विषयको कहते हैं, वैसे प्रत्येक अलग-अलग देवदत्त और उसके वैरी दृष्टान्त नहीं हैं, किन्तु देवदत्तकी और उसके वैरीकी प्रतीतिसे सिद्ध हुआ जो समुदायाकार है, उसको ही दृष्टान्त मानते हैं, अतः दृष्टान्त साध्यहीन नहीं हो सकता है। यहाँ शङ्का करते हैं कि इन अनुमानोंमें जो आत्मा और अनात्मा पक्षरूपसे कहे गये हैं, क्या वे लोकप्रसिद्ध आत्मा और अनात्मा हैं, या प्रभाकर आदि द्वारा माने गये आत्मा और अनात्मा हैं या वेदान्तियों द्वारा माने गये आत्मा और अनात्मा हैं ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उसके माननेसे प्रथम अनुमानमें और द्वितीय अनुमानमें सिद्धसाधन होगा और तृतीय अनुमानमें अनुभवविरोध होगा, कारण कि लोकमें यह सिद्ध है कि देहादिचैतन्यान्तका समुदाय आत्मा है और पाषण (पत्थर) आदि अनात्मा हैं और उनके तादात्म्याध्यास और उनकी एकता वेदान्ती वस्तुतः नहीं मानता है, और उनका

तयोर्नियतो विरोधोऽनुभूयते । न द्वितीयः, प्राभाकरादयो हि प्रमातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्याश्रयं जडमात्मानमाहुः, इन्द्रियदेहाद्यखिलप्रपञ्चमनात्मानम् । तत्र वेदान्तिमते प्रमातृत्वाद्याश्रयोऽहङ्कारो जाड्यं च तत्कारणमज्ञानमित्युभयमप्यनात्मन्येवाऽन्तर्भवति । तथा चाऽनात्मन एककोटेरध्यासतादात्म्यविरोधानङ्गीकारात् पूर्वोक्तमेव दोषद्वयं स्यात् । न तृतीयः, वेदान्तिनो हि सर्वोपप्लवरहितं विज्ञानघनमात्मानमाहुस्तद्व्यतिरिक्तं च सर्वमनात्मानम् । तत्र किमेकस्मिन् प्रत्ययद्वयगोचरत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम् उताऽऽत्मन्यस्मत्प्रत्ययगोचरत्वम् अनात्मनि चेतरदिति । आद्ये स्वरूपासिद्धिः, द्वितीये भागासिद्धिः ।

परस्पर विरोध भी नियमसे नहीं भासता है । द्वितीय पक्ष भी अर्थात् प्रभाकर आदि द्वारा माने गये आत्मा और अनात्मा भी पक्ष नहीं हो सकते हैं, क्योंकि प्रभाकर आदि आत्माको कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मोंका आश्रय तथा जड़ मानते हैं और इन्द्रिय, देह आदि सम्पूर्ण प्रपञ्चको अनात्मा मानते हैं । इस परिस्थितिमें वेदान्तीके मतके अनुसार प्रमातृत्व आदि धर्मोंका आश्रय अहङ्कार और उसका कारण जड़ अज्ञान ये दोनों अनात्म पदार्थोंमें ही अन्तर्भूत होते हैं, इसलिए अनात्मरूप एक कोटिमें तादात्म्याध्यास और विरोधिताका स्वीकार न होनेसे पूर्वोक्त ही दोष अर्थात् सिद्धसाधन और अनुभवविरोध इस द्वितीय कल्पमें भी आते हैं । तृतीय पक्ष अर्थात् वेदान्ती द्वारा स्वीकृत आत्मा और अनात्मा पक्ष हैं, यह पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्ती लोग सब उपाधियोंसे रहित विज्ञानरूप पदार्थको ही आत्मा मानते हैं और उससे भिन्न सम्पूर्ण पदार्थोंको अनात्मा मानते हैं, अब इसमें यह पूछा जाता है कि क्या एक वस्तुमें रहनेवाली युष्मत्प्रत्ययविषयता और अस्मत्प्रत्ययविषयता हेतु है ? अथवा भिन्न वस्तुमें रहनेवाली अर्थात् आत्मामें अस्मत्प्रत्ययविषयता और अनात्मामें युष्मत्प्रत्ययविषयता हेतु है ? प्रथम पक्ष मानना तो युक्त नहीं है, क्योंकि प्रथम पक्षका आश्रयण करनेसे स्वरूपासिद्धि दोष होगा *। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस पक्षका अवलम्बन करनेसे † भागासिद्धि

* पक्षमें हेतु नहीं रहेगा अर्थात् एक वस्तुमें युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्ययकी विषयता नहीं रह सकती है, अतः विरुद्धस्वभावका साधन नहीं हो सकता है, यह भाव है ।

† पक्षके एक देशमें हेतुका न रहना भागासिद्धि है ।

देहेन्द्रियान्तःकरणप्राणादिष्वनात्मसु युष्मत्प्रत्ययाभावात्। व्यवहारदृष्ट्या तदभावेऽपि शास्त्रदृष्ट्या 'चिदवभास्यो युष्मदर्थः' इत्येतल्लक्षणानुसारेणाऽस्त्येव तत्र युष्मत्प्रत्यय इति चेद्, एवमपि स्वप्रकाशे चिदात्मनि वेदान्तिनामस्मत्प्रत्ययाभावात् स दोषस्तदवस्थः। तस्मात् नाऽनुमानसिद्धिरिति।

अत्रोच्यते—वेदान्तिनं प्रत्यस्त्येवाऽनुमानसिद्धिः। न चाऽऽत्मनि भागासिद्धिः; स्वप्रकाशस्याऽप्यहङ्कारे स्फुटतरव्यवहारयोग्यत्वेनाऽस्मत्प्रत्ययगोचरत्वस्योपचरितुं शक्यत्वात्। न चैवं मन्तव्यं देहद्वयसाक्षिणोश्चैतन्ययोरन्योन्यं युष्मदस्मदर्थत्वेऽपि विरोधाभावादनैकान्तिक इति; चैतन्यस्य चिदवभास्यत्वलक्षणलक्षितयुष्मदर्थत्वाभावात्। तादृश एव चाऽत्राऽभिप्रेतो न तु लौकिक-

---

दोष होगा। कारण कि देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि अनात्म पदार्थोंमें युष्मत्प्रत्ययकी विषयता नहीं है। यदि शङ्का हो कि यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे अन्तःकरण आदि अनात्माओंमें युष्मत्प्रत्ययकी विषयता नहीं है, तथापि शास्त्रदृष्टिके अनुसार अर्थात् 'चिदवभास्यो युष्मदर्थः' इस लक्षणके अनुसार तो अन्तःकरण आदिमें युष्मत्प्रत्ययकी विषयता है ही, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर भी स्वप्रकाश चिदात्मामें वेदान्ती लोग अस्मत्प्रत्ययकी विषयताका अङ्गीकार नहीं करते हैं, इसलिए भागासिद्धि और स्वरूपासिद्धि तदवस्थ ही हैं, अतः उक्त अनुमानकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

उक्त शङ्काका समाधान करते हैं—वेदान्तीके प्रति तथोक्त अनुमानकी सिद्धि हो सकती है। यदि शङ्का हो कि आत्मामें भागासिद्धि पूर्वमें दी गई है, तो वेदान्तीके प्रति उक्त अनुमान कैसे हो सकता है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्माके स्वप्रकाश होनेपर भी अहङ्कारके रहते ही वह स्पष्ट व्यवहारका योग्य होता है, अतः अस्मत्प्रत्ययकी विषयता उसमें गौणरूपसे मानी जाती है। यदि शङ्का हो कि दोनों शरीरोंके अर्थात् देवदत्त और उसके प्रतिद्वन्दीके शरीरोंके साक्षीरूप चैतन्यमें परस्पर युष्मदर्थ और अस्मदर्थका (अर्थात् तू और मैं इस प्रकारका) व्यवहार होनेसे युष्मदर्थ और अस्मदर्थका विरोध न होनेके कारण व्यभिचार होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चैतन्य चिदवभास्यत्वरूप लक्षणसे लक्षित युष्मदर्थ नहीं हो सकता, अतः प्रकृतमें वही चिदवभास्यत्वरूप—चित्‌से प्रकाशित होनेवाला—

युष्मदर्थः । तथाऽप्येतेनाऽनुमानेन प्रत्ययद्वारा विरोधसिद्धिर्न तु स्वरूपेणेति चेत् तर्ह्येवमस्तु—

आत्मानात्मानौ विरुद्धस्वभावौ, विषयिविषयत्वात्, नेत्ररूपवदिति । ननु चिद्रूपस्याऽऽत्मनो जड़रूपमनात्मानं प्रति साधकत्वेनाऽऽनुकूल्यमनुभूयते; अतो वध्यघातकभावलक्षणस्य सहावस्थानसामर्थ्याभावलक्षणस्य वा विरोधस्य च प्रातिकूल्यस्य प्रसाधनेऽनुभवविरोधः तथा दृष्टान्तश्च साध्यविकल इति चेद्, मैवम्; भावाभाववत् परस्परात्मतासामर्थ्याभावलक्षणस्य विरोधस्येह विवक्षितत्वात् । कथं तर्हि मध्याऽनुमाने तमःप्रकाशयोर्दृष्टान्तत्वम्, तयोः सहावस्थानसामर्थ्याभावलक्षणविरोधस्य प्रसिद्धत्वादिति चेद्, मैवम्; मन्दप्रदीपे वेश्मनि तमसो दीपेन सहावस्थानात् । अन्यथा स्फीतालोकप्रदेश-

---

युष्मदर्थ विवक्षित है, अतः उक्त दोष नहीं है। अब पुनः शङ्का करते हैं कि तथोक्त अनुमानसे यही सिद्ध होता है कि आत्मा और अनात्माका प्रतीतिसे ही विरोध है, वस्तुतः अर्थात् स्वरूपतः विरोध नहीं है ? तो इसपर कहते हैं कि यही अनुमान हो—

आत्मा और अनात्मा विरुद्धस्वभाववाले हैं, क्रमशः विषयी और विषय रूप होनेसे, नेत्र और रूपके समान । यदि शङ्का हो कि चैतन्यरूप जो आत्मा है, वह जड़रूप अनात्माका साधक है, अतः उस आत्मामें अनात्माके प्रति अनुकूलता ही अनुभूत होती है, अतः उनके नाश्यनाशकरूप अथवा एक साथ अवस्थितिमें असामर्थ्यरूप विरोध या प्रतिकूलताका साधन किया जाय, तो अनुभवविरोध होगा और 'नेत्र और रूपके समान' इस प्रकार जो दृष्टान्त दिया गया है, वह साध्यशून्य भी होगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो आपने दो प्रकारके विरोध ऊपर बतलाये हैं, उनमें से एकका भी साधन नहीं किया जाता है, किन्तु भावपदार्थ और अभावपदार्थके समान परस्पर तादात्म्यसामर्थ्यका जो अभावात्मक विरोध है, वही प्रकृतमें विवक्षित है। अब यदि सहावस्थान होनेसे विरोध नहीं किया जाता, तो पूर्वोक्त द्वितीय अनुमानमें अन्धकार और प्रकाशका दृष्टान्त कैसे सङ्गत होगा, क्योंकि इन दोनोंमें तो एक साथ न रहना रूप ही विरोध प्रसिद्ध है, तो इस प्रकारकी शङ्का भी नहीं जँचती, क्योंकि टिमटिमाते हुए दीपवाले घरमें अन्धकारका भी दीपकप्रकाशके

वदत्राऽपि स्पष्टरूपदर्शनप्रसङ्गात्। तमःप्रकाशशब्दाभ्यां तदेकदेशभूतौ छायातपावुपलक्ष्येते इति चेत्, तथाऽपि छायायामेकविधायां तारतम्येनोपलभ्यमानमौष्ण्यं स्वधर्मिण आतपस्याऽपि अवश्यमवस्थानं सूचयतीति सहावस्थानं दुर्वारम्।

एवमेव तमःप्रकाशशब्दाभ्यां लक्षितलक्षणया छायातपस्थयोः शैत्यौष्ण्ययोः स्वीकारेऽपि सहावस्थानं सुसंपादम्। तस्मात् जातिव्यक्त्योर्यथा तादात्म्यसामर्थ्यं नैवं तमःप्रकाशयोरित्ययमेव तयोर्विरोधः ॥ ३ ॥

ननु तमःप्रकाशदृष्टान्ते भावाभावरूपत्वमुपाधिः। आलोकाभावस्तम इति तार्किका रूपदर्शनाभावस्तम इति प्राभाकरा इति चेद्; मैवम्; उप-

---

साथ रहना देखा गया है। यदि ऐसा न मानो, तो जैसे अधिक तेजके प्रकाशमें स्पष्ट रूपदर्शन होता है, उसी भाति मन्द प्रकाशमें भी स्पष्ट रूपदर्शन होना चाहिए। यद्यपि तमपदसे अन्धकारसामान्य नहीं लेते, किन्तु उस अन्धकारका ही एक अवयव (विशेषरूप) छाया लेते हैं एवं प्रकाशशब्दसे भी प्रकाशका एकदेश आतप (धूप) ही लेते हैं, तब इनका सह अवस्थान (साथ रहना) नहीं होता, तो पूर्वोक्त विरोध बना ही है, ऐसा कह सकते हैं, तथापि एक प्रकारकी छायामें तारतम्यसे (कमी बेशीसे) अनुभवमें आनेवाली गरमी अपने धर्मी आतपका भी अवश्य रहना सूचित करती ही है। धर्मीके बिना धर्मका रहना असम्भव है, अतः यदि वहां धर्मकी उपलब्धि है, तो धर्मी अवश्य है, अतः सहावस्थान दुर्वार है।

इसी प्रकार 'तम और प्रकाश शब्दोंसे लक्षितलक्षणा द्वारा छाया और आतपके स्थानमें अनुभवमें आनेवाली ठंढक और गरमी लेते हैं' ऐसा यदि स्वीकार किया जाय, तो भी सहावस्थान बन सकता है [क्योंकि ऐसे स्थानपर सर्दी और गरमीका भी तारतम्यसे एक साथ रहना होता ही है]। इन सबसे यही निर्णय होता है कि जिस प्रकार जाति और व्यक्तिका तादात्म्य (अभेद) है, उस प्रकार प्रकृत अन्धकार तथा प्रकाशका भी तादात्म्य न होना ही विरोध है ॥३॥

यदि शङ्का हो कि तमःप्रकाश दृष्टान्तमें भावाऽभावत्वरूप उपाधि है। क्योंकि प्रकाशका अभाव अन्धकार है, यह नैयायिक मानते हैं और प्राभाकर कहते हैं कि रूपदर्शनका अभाव अन्धकार है, इसलिए सोपाधिक दृष्टान्त होनेसे अनुमान नहीं बन सकता, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो वस्तु उपचय (वृद्धि)

चयापचयाद्यवस्थाभेदवत्त्वेनोपलक्ष्यमाणस्याऽभावत्वायोगात् । नीलरूपत्वेन द्रव्यत्वात् । ननु भावत्वपक्षे बहलालोकवति देशे निमीलितनयनस्य कथं तमःप्रतीतिः, बहलालोकेन निवृत्त्यङ्गीकारात् । सहावस्थानं तु मन्दालोकेनैव पूर्वमुक्तमिति चेद्; न, गोलकान्तर्वर्तितमसः प्रतीत्युपपत्तेः । न च नेत्रस्याऽन्तर्वर्त्तिवस्तुग्राहकत्वासम्भवः, पिहितकर्णस्याऽन्तरशब्दग्राहकत्वदर्शनात् । न चैवं गोलकान्तरस्थाञ्जनादेरपि निमीलितनयनेन ग्रहणप्रसङ्गः; तमोव्यतिरिक्तरूपिण आलोकसहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वनियमात् ।

अथ मतम्—द्रव्यत्वे सति तमस आलोकविनाशितस्याऽऽलोकापगमे झटिति नोत्पत्तिः, कार्यद्रव्याणां द्व्यणुकादिक्रमेणैवाऽऽरम्भादिति, तन्न;

और अपचय (ह्रास) रूप अवस्थाविशेषोंसे युक्त अनुभवमें आवे, उसको अभाव रूप मानना योग्य नहीं है। और अन्धकारमें नीलरूपवत्ताकी प्रतीति होती है, इसलिए रूपवान् होनेसे वह द्रव्य है। इससे अन्धकार अभावरूप नहीं हो सकता, किन्तु भावरूप ही है। अन्धकारको भावरूप माननेमें यदि शङ्का हो कि अधिक प्रकाशवाले स्थानमें आँख बन्द करनेपर अन्धकारकी प्रतीति कैसे होगी ? क्योंकि उस स्थानमें अधिक प्रकाशने अन्धकारको दूर कर दिया है। अन्धकारका और प्रकाशका साथ-साथ रहना तो मन्द प्रकाशमें ही कहा गया है ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आँखोंके गोलकके अन्दर अन्धकार आँख बन्द करनेपर दिखाई देता है। और ऐसा भी नहीं कह सकते हैं कि आँखोंमें अपने भीतरकी वस्तुका ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि बन्द किये गये कान भी अपने भीतरी (मन ही मन कहे हुए) शब्दका ग्रहण करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियसामान्य होनेसे आँखोंमें भी भीतरी रूप ग्रहण करनेकी शक्ति है। यदि शङ्का हो कि तब तो आँख बन्द करने या खुली रखनेपर आँखोंमें लगाये गये अञ्जन (काजल) का भी दर्शन होना चाहिए, परन्तु होता नहीं है, तो यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धकारसे अतिरिक्त रूपवान् वस्तुका आलोकसहकृत आँखसे ही प्रत्यक्ष किया जाता है, ऐसा नियम है।

पुनरपि अन्धकारको भाव माननेमें दोष देते हैं—यदि अन्धकार द्रव्य है तो आलोकसे नष्ट किये हुए अन्धकारकी आलोकके दूर होते ही तुरत उत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि कार्यद्रव्योंका आरम्भ तो द्व्यणुकादिक्रमसे ही होता है।

विवर्तवादिनां क्रमानपेक्षणात्, कारणं तु मूलाविद्यैव । अथाऽपि तमो न रूपवद्द्रव्यम्, स्पर्शशून्यत्वात्, आकाशवत् इति चेद्, नः वायुर्न स्पर्शवान्, रूपशून्यत्वात्, आकाशवदित्याभासेन समानत्वात् प्रत्यक्षविरोधस्य तुल्यत्वात्।

अथाऽऽलोकाभावे समारोपितं नीलरूपं गोचरयतीति तमःप्रत्यक्षस्याऽन्यथा गतिरुच्यते एवमपि हेतुरनैकान्तिकः—रूपवद्द्रव्यस्यैव धूमस्य चक्षुःप्रदेशादन्यत्र स्पर्शशून्यत्वात् । तत्र विद्यमान एव धूमस्पर्शोऽनुद्भूत इति चेत्,

---

उत्तर देते हैं कि ऐसा दोष नहीं है। विवर्तवादियोंके मतमें पदार्थकी उत्पत्तिमें द्व्यणुकादि क्रमकी अपेक्षा नहीं होती, उनके मतमें विवर्त्तका कारण तो मूला अविद्या ही है। यदि शङ्का हो कि अन्धकार (पक्ष), रूपवाला द्रव्य नहीं हो सकता (साध्य), स्पर्शशून्य होनेसे (हेतु), आकाशके तुल्य (दृष्टान्त), इस अनुमानसे अन्धकार रूपवान् द्रव्य सिद्ध नहीं हो सकता? तो यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमान—वायु स्पर्शवाला नहीं है, रूपरहित होनेसे, आकाशके तुल्य—इस अनुमानाभासके सदृश है, कारण कि दोनों अनुमानोंमें प्रत्यक्षविरोध तुल्य है।

[तात्पर्य यह है कि यदि आकाशके दृष्टान्तसे अन्धकारमें स्पर्शशून्यत्व हेतुसे रूपवद् द्रव्यत्वका अभाव सिद्ध करते हो, तो उसी आकाशको दृष्टान्त बनाकर रूपवत्त्वाभावको हेतु मानकर वायुमें स्पर्शवत्ताका अभाव सिद्ध क्यों न किया जाय। परन्तु यह किसीको अभीष्ट नहीं है, इसलिए इस दूसरे अनुमानको आभास अवश्य मानना चाहिए। इसीके तुल्य पहला अनुमान भी आभास ही है। यदि आप—"दूसरे अनुमानमें प्रत्यक्ष विरोध आता है, क्योंकि वायुमें स्पर्शवत्ताकी प्रत्यक्षसे उपलब्धि होती है इससे वह आभास है"—ऐसा कहें तो अन्धकारमें भी नीलरूपवत्ताकी प्रत्यक्षसे प्रतीति होनेसे पूर्व अनुमान भी प्रत्यक्षविरोधसे आभास ही है।]

आलोक (प्रकाश) के अभावमें नीलरूपका आरोप किया जाता है। उस आरोपित नीलरूपसे अन्धकारमें रूपवत्ताकी प्रतीति होती है इस तरहके पूर्वपक्षीके प्रत्यक्षविरोधको दूर करनेपर भी स्पर्शशून्यत्वरूप हेतु तो व्यभिचारग्रस्त है ही, क्योंकि यद्यपि धूम रूपवान् ही द्रव्य है, तथापि आँखको छोड़कर और कहीं भी उसका स्पर्श नहीं होता। ऐसी अवस्थामें स्पर्शशून्यत्वरूप

तर्हि तमःस्पर्शोऽपि सन्नेव सर्वत्रानुद्भूत इति हेत्वसिद्धिः स्यात्। न च सतः सर्वत्रानुद्भवोऽसम्भावितः, आकरजे सुवर्णादौ सत एव स्वपरप्रकाशकभास्वररूपस्योष्णस्पर्शस्य च सर्वत्रानुद्भवदर्शनात्। तदेवं भावरूपतमोवादे न कोऽपि दोषः।

नन्वभाववादेऽपि तथा। उपचयाद्यवस्थानां प्रतियोग्यालोकोपाधिकत्वाद् नीलरूपस्याऽऽरोपितत्वादिति चेद्, मैवम्; दुर्निरूपत्वात्। तथा हि--किमालोकमात्राभावस्तमः, उतैकैकालोकाभावः, सर्वालोकाभावो वा। प्रथमद्वितीयपक्षयोः प्रागभाव इतरेतराभावः प्रध्वंसाभावो वा तम इति

हेतुसे रूपवत्ताका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि धूममें स्पर्श विद्यमान ही है किन्तु वह केवल चक्षुसे अन्यत्र अनुद्भूत रहता है, तो यह कहना अन्धकारमें भी समान ही है, क्योंकि अन्धकारमें स्पर्श है परन्तु सर्वत्र अनुद्भूत है, इससे हेतुकी असिद्धि स्पष्ट है। यदि शङ्का हो कि विद्यमान वस्तुका सर्वत्र उद्भूत न होना सम्भव नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुवर्ण तैजस द्रव्य है इससे उसमें उष्ण स्पर्श और प्रकाशका होना अनिवार्य है परन्तु इन दोनों गुणोंकी कहींपर भी खनिज सुवर्णादिमें उद्भूतता नहीं देखी जाती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि विद्यमान वस्तु भी सर्वत्र उद्भूत नहीं रह सकती है। इससे निष्कर्ष निकला कि अन्धकारको भावरूप रूपवान् द्रव्य माननेमें कोई दोष नहीं है।

यदि शङ्का हो कि अन्धकारको अभावरूप माननेमें भी तो कोई दोष नहीं होता, क्योंकि इसमें वृद्धि और ह्रासकी प्रतीतिके कारण तो अभावरूप अन्धकारके प्रतियोगी आलोकके वृद्धि और ह्रास हैं, स्वतः उसमें वृद्धि और ह्रास नहीं है (आलोककी वृद्धिसे अन्धकारका ह्रास और आलोकके ह्राससे अन्धकारकी वृद्धि मालूम होती है, यह अभिप्राय है) और उसमें प्रतीयमान नीलरूप तो आरोपित ही है, यह शङ्का भी सङ्गत नहीं हो सकती, क्योंकि यह दुर्निरूप है, अर्थात् तेजका अभाव अन्धकार है इसका निरूपण करना कठिन है। दुर्निरूपताको दिखाते हैं—क्या आलोकमात्र (आलोकसामान्य) का अभाव अन्धकार है? या एकका (किसी भी आलोकविशेषका) अभाव अन्धकार है अथवा सब आलोकोंका अभाव अन्धकार है? इन तीनों विकल्पोंमें प्रथम और द्वितीय पक्ष मानें तो हम प्रश्न करेंगे कि यहाँ अभावपदसे प्रागभाव, अन्योन्याऽभाव या प्रध्वंसाभावका ग्रहण है? इनमें से किसी भी अभावका ग्रहण

दुर्भणम्, सवितृकरसंतते देशे प्रदीपजन्मनः प्राग्वा जाते वा प्रदीपे दीपनाशे वा तमोबुद्ध्यभावात् । तृतीये सर्वालोकसंनिधानमन्तरेण न निवर्तेत ।

रूपदर्शनाभावस्तम इत्यप्ययुक्तम्, बहलान्धकारसंवृतापवरकमध्यस्थितस्य बहीरूपदर्शनान्तस्तमोदर्शनयोर्युगपदेव भावात् । तस्मात् नाभावस्तम इति दृष्टान्ते नाऽस्त्युक्तोपाधिः ॥४॥

नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशमान देशमें दीपक जलानेसे पूर्व (जब कि दीपके प्रकाशका प्रागभाव है) या जला लेनेपर (दीपक-प्रकाशके साथ अन्धकारकी अन्योन्याभावदशामें) अथवा दीपके बुझ जानेपर (उसकी ध्वंसाभावदशामें) भी अन्धकार नहीं देखा जाता । तृतीय पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि यदि सम्पूर्ण आलोकोंका अभाव अन्धकार है, तो जब तक सम्पूर्ण आलोकोंका सन्निधान न हो जायगा, तब तक अन्धकार निवृत्त ही न हो सकेगा [क्योंकि सम्पूर्ण आलोकोंका अभावरूप ही अन्धकार है । अभावरूप अन्धकारकी निवृत्ति अभावाऽभावरूप होनेसे प्रतियोगिस्वरूप है । प्रकृतमें प्रतियोगी सर्वालोक है, एक आलोकके न रहनेसे भी सर्वालोक नहीं हो सकता प्रतियोगीकी सत्ताके लिए सब आलोकोंके सन्निधानकी आवश्यकता है, यह भाव है] ।

मीमांसक-मतका खण्डन करते हैं कि अन्धकारको रूपदर्शनका अभाव कहना भी अयुक्त है, क्योंकि घने अन्धकारसे व्याप्त घरमें बैठे हुए पुरुषको बाहर रूपका दर्शन और अन्दर अन्धकारका दर्शन एक-साथ ही होता है । [तात्पर्य यह है कि यदि रूपदर्शनाऽभावको अन्धकार मानें, तो अन्धकार रहते रूपका दर्शन न होना चाहिए, क्योंकि व्याप्ति है कि जिस वस्तुके अभावकी बुद्धि होती है, उस वस्तुकी बुद्धि नहीं हो सकती, इसलिए रूपदर्शनाभाव बुद्धिके रहते रूपदर्शनबुद्धि कैसे हो सकती है ? यदि कहा जाय कि जहांपर (घरके अन्दर) रूपदर्शनाभावरूप तम है वहांपर रूपदर्शन नहीं होगा, इससे कोई विरोध नहीं है, तो ऐसा सङ्कोच करनेपर भी निर्वाह न होगा, क्योंकि तब हम प्रश्न करेंगे कि वह अभाव प्रागभाव आदिमें से कौनसा अभाव है ? इनमेंसे कोई भी नहीं बन सकेगा, क्योंकि यत्किञ्चित् रूपदर्शनके प्रागभाव, अन्योन्याभाव या ध्वंसके रहनेपर भी सौरालोकवाले देशमें अन्धकार नहीं देखा जाता । यदि अन्धकार सकलरूपदर्शनाभावरूप माना जाय,

नन्वेवमप्यन्योन्यतादात्म्यसामर्थ्याभावाख्यो भवदीयो मूलहेतुरनैकान्तिकः। 'इदं रजतम्' इत्यत्र भ्रान्तिस्थले पुरोवर्त्तिरजतयोर्विविक्तयोस्तादात्म्यसामर्थ्याभावेऽपि तादात्म्यसंदर्शनादिति चेद्, नः तत्र सामर्थ्यसद्भावेन हेत्ववृत्तेः। तत्सामर्थ्यं च सम्यग्रजतस्थले पुरोवर्त्तिरजतयोर्वास्तवतादात्म्यदर्शनादवगन्तव्यम्। न चैवमात्मानात्मनोरपि क्वचिद्वास्तवतादात्म्ये सति तत्सामर्थ्यसम्भवादसिद्धो हेतुरिति वाच्यम्, वास्तवतादात्म्यस्य तयोः क्वाऽपि दुःसंपादत्वात्। तथा हि—किं द्रष्टुर्दृश्यतादात्म्यमुच्यते

तो पूर्वोक्त रीतिसे सम्पूर्णरूपदर्शनोंके सन्निधानके विना अन्धकारकी निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी।] इसलिए तम अभावरूप नहीं है इससे दृष्टान्तमें उक्त उपाधि नहीं है ॥४॥

पूर्वोक्त इन तीनों अनुमानोंसे प्रतीति द्वारा और चौथे अनुमानसे स्वरूपतः आपने यह सिद्ध किया है कि आत्मा और अनात्मामें परस्पर अध्यास नहीं है अर्थात् उनके परस्पर तादात्म्याध्यासका अभाव है—इस साध्यका प्रधान हेतु 'एकका दूसरेके साथ तादात्म्य हो जानेकी सामर्थ्यका अभाव' जो आपने कहा है, वह व्यभिचारग्रस्त है। देखा जाता है कि 'यह चाँदी है' इस भ्रमात्मक प्रतीतिमें सामने पड़ा हुआ शुक्तिका टुकड़ा और चाँदी—इन दोनोंके भिन्न-भिन्न होनेसे परस्पर तादात्म्यकी सामर्थ्य न रहनेपर भी तादात्म्यभ्रम होता है। ऐसी अवस्थामें पूर्वोक्त हेतुसे परस्परतादात्म्याध्यासका अभाव कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रकार शङ्का होती है। ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भ्रमस्थलमें दोनों (सामनेवाला इदम् और चाँदी) के परस्पर तादात्म्यकी सामर्थ्य होनेसे हेतु नहीं है। वह सामर्थ्य बाजारके सच्चे चाँदीके टुकड़ेमें स्पष्ट है, क्योंकि जिस प्रकार भ्रमस्थलमें 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रतीतिसे इदम् (यह) का और रजतका तादात्म्य होता है उसी प्रकार 'इदं रजतम्' (यह रजत है) सत्यरजतस्थलमें भी दोनोंका तादात्म्य है, तब किस आधारपर कहा जा सकता है कि सामने पड़े हुए शुक्तिके टुकुड़े और रजत इन दोनोंमें परस्पर तादात्म्य-सामर्थ्यका अभाव है। यदि शङ्का हो कि इसी प्रकार आत्मा और अनात्माका भी कहींपर सत्य तादात्म्य होगा, अतः उनमें तादात्म्यसामर्थ्यका सम्भव होनेसे हेतु असिद्ध है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा का परस्पर सत्य तादात्म्य कहींपर भी नहीं हो सकता है—देखो, आत्मा द्रष्टा है

दृश्यस्य वा द्रष्टृतादात्म्यम् ? आद्येऽपि न तावत् स्वाभाविकम्, चिदेकरसे द्रष्टरि दृश्यांशासम्भवात् ; अन्यथा कर्मकर्तृभावेन तादात्म्यानुपपत्तेः। आगन्तुकत्वेऽपि किं द्रष्टा स्वयमेव दृश्यांशाकारेण परिणमते उत हेतुबलात् ? उभयमप्यसङ्गतम्, द्रष्टुर्निरवयवत्वात्। नहि निरवयवमाकाशं स्वतो वा

और अनात्मा दृश्य है, ऐसी परिस्थितिमें क्या द्रष्टाका दृश्यके साथ तादात्म्य कहते हो या दृश्यका द्रष्टाके साथ तादात्म्य कहते हो ? यदि प्रथम पक्ष अर्थात् द्रष्टाका दृश्यके साथ तादात्म्य कहते हो, तो विचार करना चाहिए कि यह तादात्म्य स्वाभाविक है या आगन्तुक (किन्हीं दूसरे कारणोंसे प्राप्त) है ? स्वाभाविक तो उनका तादात्म्य हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा चिदेकरस—शुद्धचिद्रूप—है, अतः उसमें दृश्यत्वांश रह ही नहीं सकता। यदि यह न मानो, तो कर्तृकर्मरूप होनेसे* तादात्म्यकी उपपत्ति ही न होगी [दृश्य कर्म है और द्रष्टा कर्ता है, यह तभी हो सकता है, जब द्रष्टा और दृश्य भिन्न-भिन्न हों, अन्यथा नहीं, यह भाव है]। यदि आप स्वसम्मत तादात्म्यको आगन्तुक मानें, तो प्रश्न होता है कि क्या द्रष्टा स्वतः दृश्याकारमें परिणत होता है, या किसी हेतुके बलसे ? ये दोनों ही पक्ष ठीक नहीं हैं, क्योंकि द्रष्टा निरवयव है, [अतः उसका स्वतः या किसी कारणसे

---

* "परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम्" यह कर्मका लक्षण है। इसमें परपदसे कर्मसे
भिन्न कर्ता लेना चाहिए, इसलिए परका अर्थ कर्ता हुआ "कर्तामें समवायसम्बन्धसे रहनेवाली
क्रियासे उत्पन्न हुआ जो फल उसका आश्रय कर्म कहलाता है"। इस लक्षणमें क्रियाकी अपेक्षासे
परपदका अर्थ कर्ता अप्रधान है और कर्म क्रिया और कर्ता दोनोंकी अपेक्षासे प्रधान है। इसलिए
एकमें ही गुण जौर प्रधान भाव नहीं हो सकता। यद्यपि "यो देवदत्तो गच्छति तं पश्यामि" (जो
देवदत्त जा रहा है उस देवदत्तको मैं देखता हूँ) यहांपर एक ही देवदत्तमें गमन और दर्शनके
प्रति गुण और प्रधान भाव प्राप्त है, तथापि एक ही क्रियामें एक को ही गुणप्रधान-
भाव नहीं बन सकता है, यह कर्तृकर्मभावविरोधका तात्पर्य है।

और "सच्च त्यच्चाऽभवत्" (वह ब्रह्म सत् और त्यत् जगत् हो गया) इत्यादि श्रुति तो अवि-
द्यात्मक परिणाम दिखाती है न कि वास्तव परिणाम जो उत्तर पक्षमें स्पष्ट होगा। "देवदत्तो यज्ञदत्तं
जानाति" (देवदत्त यज्ञदत्तको जानता है) इस प्रतीतिसे जैसे दो द्रष्टाओंका भी परस्पर विषयि-
विषयभाव देखा गया है, वैसे ही जड दृश्यके भी विषयी और विषय दोनों बन जानेसे समान
होनेमें भी क्या हानि है ? यह कुतर्क भी आपात रमणीय है, क्योंकि प्रत्यगात्मा प्रत्यक्षका
विषय नहीं है, किन्तु परोक्षवृत्तिसे वेद्य होनेसे अनुमेय है। अब विषयीके समान होने दृश्य
भी अनुमेय ही रह जायगा। बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षका विषय नहीं होगा।

कारणान्तराद्वा सावयवाकारेण परिणममानं दृष्टम्। दृश्यस्य धर्मिणो द्रष्ट्रा प्रतियोगिना तादात्म्यमित्यस्मिन् द्वितीयेऽपि पक्षे द्रष्ट्टत्वस्य स्वाभाविकत्वे दृश्यत्वं हीयेत। अंशतो दृश्यत्वमपि स्वस्याऽस्तीति चेत्, तर्हि कर्मकर्तृत्वविरोधः। आगन्तुकत्वेऽपि किं दृश्यं स्वयमेव चिद्रूपेण परिणमते उताऽऽत्मचैतन्यं स्वस्मिन् संक्रामयति। नाऽद्यः, जड़जन्यस्य कार्यस्य चिद्रूपत्वासम्भवात्। नहि जड़ाया मृदः परिणामो घटः चिद्रूपो दृष्टः। न द्वितीयः; आत्मचैतन्यस्य सर्वगतस्य वस्तुतः प्रवेशायोगात्। तदेवं काऽप्यत्यन्तदुःसंपादवास्तवतादात्म्ययोश्चिदचितोस्तत्सामर्थ्यासम्भवेन हेतुसिद्धेर्मध्यानुमानं सुस्थम्। ततो मूलानुमानसिद्धेरध्यासाभावः सुस्थितः।

दृश्याकारमें परिणाम नहीं हो सकता है] जैसे कि निरवयव आकाशका किसी भी प्रकार सावयत्वरूपसे परिणाम नहीं देखा जाता। दृश्यका द्रष्टाके साथ तादात्म्य है अर्थात् दृश्य द्रष्टाके आकारमें परिणत होता है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस पक्षमें दृश्यका द्रष्टाके आकारमें परिणत होना यदि स्वाभाविक है, तो द्रष्टा और दृश्य दोनोंके समान हो जानेसे उसका दृश्यत्व ही नष्ट हो जायगा। यदि अंशत दृश्यत्व माना जाय, तो पूर्वोक्त कर्तृकर्म-विरोध होगा, आगन्तुक मानें, तो क्या स्वयं ही दृश्य द्रष्टाके आकारमें परिणत होता है, या अपनेमें आत्मचैतन्यका सङ्क्रमण कराता है। पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि जड़का परिणामरूप कार्य चैतन्यात्मक नहीं हो सकता, कारण कि जड़ मिट्टीका कार्य घट चैतन्यरूप नहीं देखा जाता। दृश्य चैतन्यको ही अपनेमें सङ्क्रान्त कर अपना अंश बना लेता है, यह द्वितीय पक्ष भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि सर्वत्र व्यापक चैतन्यका स्थलविशेषमें सङ्क्रमण भी नहीं हो सकता। इस रीतिसे जिनका कहीं भी सत्य तादात्म्य उपपन्न नहीं हो सकता, ऐसे आत्मा और अनात्माकी तादात्म्यसामर्थ्य न होनेसे हेतुकी (तादात्म्यसामर्थ्यके अभावकी) सिद्धि हो जानेसे द्वितीय अनुमान की (विमतौ तादात्म्यशून्यौ इत्यादि अनुमानकी) उपपत्ति हो सकती है, और इसीसे मूलभूत प्रथम अनुमानकी ('आत्मानात्मानौ इतरेतरतादात्म्यध्यासरहितौ' इत्यादि अनुमानकी) सिद्धि हो जानेसे अध्यासका अभाव सिद्ध हो ही जाता है।

मा भूद् धर्मिणोस्तादात्म्याध्यासः । तथाप्यात्मधर्माणामनात्मनि संसर्गाध्यासोऽस्तु । न च चिदेकरसस्याऽऽत्मनो धर्मासम्भवः; आनन्दविषयानुभवनित्यत्वादीनां सत्त्वात् । यद्यपि एते स्वरूपभूता एवाऽऽत्मनः, तथाप्यन्तःकरणवृत्त्युपाधौ नानेवाऽवभासन्त इति तेषां धर्मत्वमुपचर्यते । न च धर्मिणं विहाय धर्माणां स्वातन्त्र्येणाऽध्यासासम्भवः, जपाकुसुमसंनिधौ लोहितः स्फटिक इत्यादौ धर्ममात्राध्यासदर्शनात् । नैतत् सारम् ; धर्माणां स्वातन्त्र्यायोगात् । स्फटिकेऽपि प्रतिबिम्बितजपाकुसुमाश्रितमेव लौहित्यं प्रतीयते न तु स्वातन्त्र्येण । तस्मात् नाऽस्ति धर्माणामप्याश्रयव्यत्यासेन संसर्गा-

---

यदि शङ्का हो कि आत्मा और अनात्मा रूप धर्मियोंका परस्पर तादात्म्याध्यास उक्त युक्तिसे भले ही न हो, परन्तु आत्माके धर्मोंका अनात्मामें अध्यास हो सकता है ? यदि कहो कि आत्मा तो चिदेकरस है, अतः उसमें कोई धर्म ही नहीं रह सकते हैं, इसलिए उसके धर्मोंका अध्यास नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें आनन्द और विषयका अनुभव (ज्ञान), नित्यत्व आदि धर्म विद्यमान हैं । यद्यपि ये पूर्वोक्त आनन्द आदि आत्माके स्वरूपभूत हैं, धर्म नहीं हैं, तथापि अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिके होनेपर अनेक-से भासते हैं, अतः उनमें (आनन्द आदिमें) आत्मधर्मत्वका उपचारसे (अमुख्यरूपसे) व्यवहार होता है । यदि फिर शङ्का हो कि धर्मीके अध्यासके बिना धर्मोंका स्वतन्त्ररूपसे अध्यास नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जपाकुसुमकी सन्निद्धि होनेपर ('स्फटिक रक्त है' इत्यादि अध्यासस्थलमें धर्मीका अध्यास न होनेपर भी जपाकुसुम और स्फटिकके परस्परतादात्म्याध्यास न होनेपर भी) केवल धर्मका अध्यास देखा जाता है । [अतः आत्मा और अनात्मारूप धर्मियोंका परस्पर तादात्म्याध्यास न होनेपर भी उनके धर्मोंका अध्यास हो सकता है, यह पूर्वपक्ष बन सकता है ।] इसका समाधान यह है कि यह पूर्वपक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि धर्मीके अध्यासके बिना स्वतन्त्ररूपसे धर्मोंका अध्यास नहीं हो सकता । स्फटिक रक्त है, इत्यादि स्थलमें भी स्फटिकमें प्रतिबिम्बित जपाकुसुमगत रक्तिमाका ही अध्यास होता है, स्वतन्त्ररूपसे नहीं, अतः धर्म और आश्रयके अध्यासके बिना धर्मोंका संसर्गाध्यास नहीं हो सकता है ।

ध्यासः। धर्मधर्मिणोरर्थयोरध्यासे निराकृते तदविनाभूतो ज्ञानाध्यासोऽपि निराकृत एव। तस्मात् न युक्तिसहोऽध्यास इति।

अत्रोच्यते––किं युक्तिविरोधादवस्तुत्वमध्यासस्याऽऽपाद्यते किं वा वस्तुस्वरूपमेवाऽपलप्यते? नाऽऽद्यः; अनिर्वचनीयवादिनामस्माकमध्यासस्याऽवस्तुत्वयुक्तिविरोधयोरिष्टत्वात्। विरुध्यते ह्यात्मानात्माध्यासो युक्तिभिरित्येवानिर्वाच्यत्वमङ्गीक्रियते। अन्यथा तस्य वस्तुत्वमेवाऽभ्युपेयं स्यात्।

ननु तर्हि अपलपाम एवाऽध्यासम्––नाऽस्त्येवात्मानात्मनोरध्यासः; तत्सामग्र्यभावात्; लोके हि 'इदं रजतम्' 'अयं सर्पः' इत्यादावधिष्ठानाध्यस्यमानयोर्गुणावयवकृतं सादृश्यमध्याससामग्री, न चाऽसावत्रास्ति; आत्मनो

धर्मीरूप अर्थोंके अध्यासका निराकरण होनेसे तन्निबन्धन ज्ञानाध्यासका भी निराकरण हुआ ही समझना चाहिए, अतः अध्यासका किसी भी युक्तिसे समर्थन नहीं हो सकता है।

उक्त शङ्कापर कहा जाता है—क्या आप 'युक्तिविरोध होनेसे अध्यास नहीं मानना चाहिए' ऐसा कहते हैं, अथवा आपका यह अभिप्राय है कि अध्यास कोई वस्तु ही नहीं है। यदि पूर्व पक्ष अर्थात् युक्तिविरोधसे अध्यासको वस्तु न मानना, यह आपको अभीष्ट है, तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनिर्वचनीयवादका अवलम्बन करनेवाले हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें अध्यासको अवस्तु (वस्तु नहीं है, ऐसा) कहना और युक्तिविरोध दिखाना अभीष्ट ही है। कारण कि आत्मा और अनात्माका परस्परात्मतारूप अध्यास युक्तियोंसे विरुद्ध है; इसीसे तो हम उस अध्यासकी अनिर्वचनीयताका स्वीकार करते हैं (मिथ्या मानते हैं)। यदि ऐसा न होता, तो अध्यासको वास्तविक ही मानना पड़ता।

अब रहा दूसरा पक्ष—हम अध्यास ही नहीं मानते अर्थात् आत्मा-अनात्मा दोनों भिन्न ही हैं इनका अध्यास हो ही नहीं सकता, क्योंकि उक्त अध्यासकी सामग्री नहीं है। लोकमें 'इदं रजतम्' (यह चाँदी है), 'अयं सर्पः' (यह साँप है) इत्यादि भ्रमस्थलमें गुण या अवयवोंके द्वारा अधिष्ठान और अध्यस्यमान दोनोंके सादृश्यकी प्रतीति होना अध्यास (भ्रम) की सामग्री है, वह सामग्री

निर्गुणत्वान्निरवयवत्वाच्च। न च वाच्यम्—'लोहितः स्फटिकः' इत्यत्राऽसत्येवोक्तसादृश्येऽस्त्यध्यास इति; तत्र सोपाधिकभ्रमत्वेन सादृश्यानपेक्षणात्। लौहित्याश्रयभूतं संनिहितं जपाकुसुममुपाधिस्तस्य स्फटिके लौहित्यावभासनिमित्तत्वात्। नन्वेवं कर्तृत्वाद्याश्रयं संनिहितमहङ्कारमुपाधिं कृत्वाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिकमध्यसितुं शक्यमिति चेत्, तर्ह्यस्तु कथंचित् कर्तृत्वाद्यध्याससम्भवस्तथाप्यात्मन्यहङ्कारादिशरीरान्तधर्म्यध्यासो निरुपाधिको न सम्भवत्येव, सादृश्याभावादिति चेत्, तदेतदसारम्; गुणैरवयवैश्च शून्यस्याऽपि गन्धस्य 'केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्धः' इत्यादौ यथा सौगन्ध्यधर्मेण सादृश्यम्; तथाऽऽत्मनोऽपि पदार्थत्वधर्मेण सादृश्य-

---

प्रकृत आत्मा और अनात्मामें नहीं है, क्योंकि आत्मा निर्गुण और निरवयव है। [शुक्ति-रजत या रज्जुसर्प सावयव और सगुण हैं; अतः उनका अवयवकृत और गुणकृत सादृश्य बन सकता है।] यदि शङ्का हो कि 'लोहितः स्फटिकः' (लाल स्फटिक है) इस स्थलमें सादृश्यके न रहनेपर भी अध्यास होता है, इससे अध्यासमें सादृश्यकी अपेक्षा नहीं है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त दृष्टान्तमें ('लोहितः स्फटिकः' इत्यादिमें) उपाधिके द्वारा अध्यास—भ्रम—होनेसे सादृश्यकी अपेक्षा नहीं होती है। लौहित्यका आश्रयभूत निकटस्थित जपाका फूल ही यहां उपाधि है; क्योंकि उस फूलका सन्निधान होना ही स्फटिकमें लौहित्यकी (लालिमाकी) प्रतीतिका हेतु है। यदि शङ्का हो कि कर्तृत्व आदिका आश्रय तथा चिदात्माके सन्निहित अहङ्कार (अन्तःकरण) को ही उपाधि बनाकर आत्मामें अन्तःकरण प्रभृति अनात्माके कर्तृत्व आदि धर्मोंका अध्यास कर सकते हैं? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें भी कर्तृत्व आदि सोपाधिक अध्यासका सादृश्यके बिना किसी-न-किसी प्रकार सम्भव होनेपर भी आत्मामें अहङ्कारसे लेकर शरीरपर्यन्त धर्मियोंका तादात्म्याध्यास, जो कि निरुपाधिक है, सादृश्य न होनेसे नहीं ही बन सकता, अतः इन सब कारणोंसे अध्यासको न मानना ही उचित है? यह शङ्का ही सारहीन है, क्योंकि जैसे गुण और अवयवोंसे शून्य गन्धका भी 'केतकीके (केवड़ेके) गन्धके सदृश सर्पका गन्ध है' इस प्रतीतिमें सुगन्धसामान्यसे सादृश्य देखा जाता है, वैसे ही आत्मा और अनात्माके भी पदार्थत्वसामान्यसे सादृश्यका सम्भव है। [अतः सामग्रीका अभाव न होनेसे अध्यासमें

सम्भवात् । चैतन्यैकरसे धर्मः कोऽपि वस्तुतो न सम्भवतीति चेत्; तर्हि मा भून्निरुपाधिकभ्रमं प्रति सादृश्यस्य सामग्रीत्वम् । सादृश्यमन्तरेणैव 'पीतः शङ्खः' इति निरुपाधिकभ्रमदर्शनात् । अथ तत्र रागपित्तोद्रेककाचकामलादि सामग्र्यन्तरमस्ति; अस्त्येव तर्ह्यत्राऽप्यविद्याख्या सामग्री ।

ननु ज्ञानाभावत्वेन भावरूपत्वेन च विप्रतिपन्नाया अविद्यायाः सामग्रीत्वाङ्गीकारात् वरमध्यासापलाप एवेति चेत्, मैवम्; प्रत्यगात्मसत्त्व-

---

कुछ बाधा नहीं है ? ।] यदि शङ्का हो कि चैतन्यैकरस आत्मामें वस्तुतः किसी धर्मका सम्भव नहीं है, [तब सादृश्यादि धर्म कैसे रह सकेंगे ?) तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक भ्रममें सादृश्य सामग्री (कारण) नहीं माना जाता । कारण कि सादृश्यके न रहते भी 'पीतः शङ्खः' (पीला शङ्ख) ऐसा निरुपाधिक भ्रम देखा जाता है । यदि शङ्का हो कि 'पीतः शङ्खः' (पीला शङ्ख) इस अध्यासभ्रममें पित्तके बढ़ जानेसे नेत्रगत कामला, काच आदि अन्यान्य दोषरूप सामग्री उपस्थित है, अतः उसीसे 'पीतः शङ्खः' आदि अध्यास उपपन्न होंगे ? तो इसका भी उत्तर देते हैं कि प्रकृत आत्मा और अनात्माके अध्यासमें भी अविद्या सामग्री मौजूद ही है ।

वादी फिर शङ्का करता है कि अविद्याके बारेमें विवाद है अर्थात् वह ज्ञानाभावरूप है या भावरूप है, अतः इस तरह विवादग्रस्त अविद्याको अध्यासकी सामग्री माननेकी अपेक्षा अध्यासको ही न मानना अच्छा है । [अभिप्राय यह है कि कारणके बिना अध्यास नहीं बन सकेगा और यदि अध्यास मानें तो उसका कारण भी मानना होगा—उसका दूसरा कोई कारण प्राप्त नहीं है परिशेषात् अविद्याको ही उसका कारण मानना होगा—अविद्या विवादास्पद वस्तु है । इस विवादका सामना एवं अपने सिद्धान्तका स्थापन करनेके लिए बड़े समारोहसे शास्त्रार्थ करना होगा । इतने कोलाहलकी अपेक्षा अध्यासको न मानना ही अच्छा है जब अध्यास ही नहीं माना जायगा तब किसके लिए विवाद होगा] । वादीकी इस शङ्काका उत्तर देते हैं कि अध्यासका अपलाप नहीं कर सकते । केवल प्रत्यगात्माकी सत्ताका अवलम्बन करके उस चिदानन्दके आच्छादकरूपसे विद्यमान अनादिसिद्ध एवं प्रत्यक्षसे दिखाई देनेवाले अध्यासका अपलाप नहीं कर सकते । यदि प्रत्यक्षसिद्ध अध्यासका भी अपलाप किया जाय, तो प्रत्यगात्माका भी अपलाप करना होगा ॥

मात्रमुपजीव्य तदीयचिदानन्दाच्छादकत्वेन व्यवस्थितस्याऽनादेः प्रत्यक्षस्याऽपलापायोगात्। अन्यथा प्रत्यगात्माप्यपलप्येत।

कार्यस्याऽध्यासस्याऽनादित्वमयुक्तमिति चेद्, मैवम्; आत्मनि तावत्कर्तृत्वभोक्तृत्वरागादिदोषसंयोग एवाऽध्यासः। तत्र भोक्तृत्वाध्यासः कर्तृत्वाध्यासमपेक्षते; अकर्तुर्भोगाभावात्। कर्तृत्वं च रागादिदोषसंयोगाध्यासमपेक्षते; रागादिरहितस्य कर्तृत्वाभावात्। दोषसंयोगश्च भोक्तृत्वमपेक्षते; अनुपभुक्तेऽनुपभुक्तजातीये वा रागाद्यनुत्पत्तेः। तथा च बीजाङ्कुरवत् प्रवाहरूपेण कर्तृत्वादीनामनादित्वम्। एतेनैतदप्यपास्तम्—प्रपञ्चस्य प्रतीतौ सत्यामारोपः, आरोपे च प्रतीतिरिति परस्पराश्रयत्वमिति। अनादित्वे सति

[तात्पर्य यह है कि प्रत्यगात्मा चैतन्यस्वरूप है, जड़ नहीं है और सत् है, तुच्छ नहीं है, इससे उस साक्षिस्वरूप प्रत्यगात्माकी सत्तासे सत्ताको प्राप्त होकर अविद्या उसके निरवच्छिन्न आनन्द, अनन्तत्व, विभुत्व, सत्यत्व आदि स्वरूपको आच्छादित करती है। अतएव सावच्छिन्न विषयानन्दका अनुभव होनेपर भी नित्यानन्दका अनुभव नहीं होता। एवम्भूत अध्यासका जो अपलाप करते हैं उनको यही मानना होगा कि नित्यानन्दादिस्वरूपवाला कोई प्रत्यगात्मा ही नहीं है।]

अब शङ्का करते हैं कि अध्यासको यदि आप कार्य कहते हैं; तो ऐसी अवस्थामें अध्यास अनादि कैसे? उत्तर देते हैं—आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि दोषके संसर्गको ही अध्यास कहते हैं। इसमें जो कर्ता नहीं है वह भोग करनेवाला नहीं हो सकता, इसलिए भोक्तृत्वका अध्यास कर्तृत्वके अध्यासकी अपेक्षा रखता है। और कर्तृत्वका रागद्वेषके बिना सम्भव नहीं है; अतः कर्तृत्वाऽध्यासमें राग आदि धर्मोंके सम्बन्धाध्यासकी अपेक्षा है। और यह रागादिरूपदोषका सम्बन्ध भोक्तृत्वके बिना अनुपपन्न है, क्योंकि अनुपभुक्त एवं अनुपभुक्तसजातीय जो नहीं हैं, ऐसे भोगोंमें रागादि होते ही नहीं, अतः रागादिदोषसंसर्गाध्यासमें भोक्तृत्वकी अपेक्षा है। इस क्रमसे बीजाङ्कुरकी भाँति प्रवाहरूपसे कर्तृत्वादिमें अनादित्व सिद्ध हुआ। इस अनादिपरम्पराके दिखानेसे प्रपञ्चकी प्रतीति होनेपर अध्यासकी कल्पना और अध्यास सिद्ध होनेपर प्रपञ्चकी प्रतीति इस प्रकार वादी द्वारा प्रदर्शित अन्योन्याश्रय दोष

पूर्वपूर्वाध्यासोपदर्शितस्य देहादेः संस्काररूपेण स्थितस्योत्तरोत्तराध्यास-हेतुत्वात्।

न च देहादेरवस्तुत्वादनारोप इति वाच्यम्, प्रतीतिमात्रेणारोप्यत्वसिद्धौ वस्तुसत्ताया अप्रयोजकत्वात्। 'इदं रजतम्' इत्यादौ हि सत्यानृतयोः शुक्तिरजतयोस्तादात्म्यमध्यस्यते। न च दूरस्थवनस्पत्योः सत्ययोरेव तादात्म्यमध्यस्यत इति वाच्यम्; तत्राऽपि सत्येव वृक्षद्वयेऽधिष्ठानेऽनृतस्यैवैकत्वधर्मस्याऽध्यासात्। अन्यथा वस्तुनोर्गुणगुणिनोरपि तादात्म्यस्याऽध्यस्तत्वप्रसङ्गात्।

भी खण्डित हो गया। अनादि प्रवाहपरम्परामें अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। किञ्च, अनादि होनेपर भी पूर्व-पूर्व अध्यासके द्वारा दिखलाई देनेवाले संस्काररूपसे स्थित देह आदि उत्तरोत्तर अध्यासके कारण हो जायँगे [भाव यह है कि जैसे पूर्व-पूर्व बीज और वृक्ष उत्तरोत्तर वृक्ष और बीजके कारण होते हैं तथा पूर्व-पूर्व रजतज्ञान संस्कारद्वारा उत्तरोत्तर रजतभ्रमके कारण होते हैं वैसे ही आत्मामें भी भोग द्वारा विषयमें रागादि और रागादिसे कर्तृत्व आदि हेतुपरम्परासे उत्तर-उत्तर अध्यास होते हैं]।

यदि शङ्का हो कि देहादि तो कोई वस्तु ही नहीं हैं, अतः उनका आत्मामें आरोप कैसे होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतीतिमात्रसे आरोप्यकी सिद्धि हो जानेसे ही आरोप हो सकता है, अतः आरोपमें वस्तु-सत्ताकी आवश्यकता नहीं है। इसीसे 'यह रजत है' इस भ्रमस्थलमें भी सत्य शुक्ति और अनृत (मिथ्या) रजतका परस्पर तादात्म्य अध्यस्त होता है। यदि शङ्का हो कि जहांपर दूर देशमें स्थित दो पेड़ोंमें ऐक्यका (एकत्व संख्याका) आरोप होता है, वहांपर तो दोनों वृक्ष सत्य ही हैं, सत्य और अनृत नहीं है। इससे सत्यानृतका ही तादात्म्य अध्यास कहलाता है। इस नियममें व्यभिचार होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त स्थलमें सत्य अधिष्ठानभूत दो वृक्षोंमें अनृतरूप एकत्व अध्यस्त है। अन्यथा (यदि दो सत्य वस्तुओंमें ही प्रतीयमान अध्यस्त माना जाय, तो) गुण और गुणीरूप सत्य

यद्यप्यात्मानात्मनोरन्योन्यस्मिन्नन्योन्यतादात्म्याध्यासः समानः, तथाप्यात्मनः संसृष्टरूपेणैवाऽध्यासो न स्वरूपेणेति सत्यत्वम्, अनात्मनस्तु स्वरूपेणाऽप्यध्यास इत्यनृतत्वम् ।

न च तयोः सत्यानृतयोस्तादात्म्ये गुणगुण्यादाविव भेदाभेदावभासेन

दो वस्तुओंका भी तादात्म्य* अध्यस्त माना जायगा ।

यद्यपि आत्मा और अनात्मामें दूसरेमें दूसरेमें तादात्म्यका अध्यास एक-सा ही है; तथापि आत्माका अध्यास अनात्मामें संसृष्टरूपसे ही है, स्वरूपसे नहीं । इससे आत्मा सत्य सिद्ध हुआ । अनात्माका तो स्वरूपसे भी अध्यास है, इससे उसमें अनृतत्व सिद्ध होता † है ।

शङ्का होती है कि सत्यानृतके तादात्म्य (पूर्वोक्त रीतिसे भेदाऽभेद)

---

* 'वेदान्तमतमें गुण और गुणीका तादात्म्य (भेदाऽभेद) मानते हैं, अतएव 'नीलो घटः' ऐसा समानाधिकरण प्रयोग संगत होता है । यदि सर्वथा अभेद मानें, तो 'घटो घटः' के तुल्य 'नीलः घटः' यह प्रयोग अप्रामाणिक होगा। और यदि सर्वथा भेद मानें, तो 'अश्वो गर्दभः' इस प्रयोगकी तरह उक्त प्रयोग अप्रामाणिक होगा । इससे उक्त स्थलमें समान विभक्तिका प्रयोग देखनेसे भेदाऽभेद ही सिद्ध होता है, यह भेदाऽभेदरूप तादात्म्य अध्यस्त नहीं है ।

† तात्पर्य यह है—'इदं रजतम्' पुरोदृश्यमान इदम् पदार्थ और रजत दोनों परस्पर तादात्म्यापन्न हैं । इदंका तादात्म्य रजतमें और रजतका तादात्म्य इदम् पदार्थमें है । एवं अध्यस्त पदार्थ अनृत और अधिष्ठान सत्य होता है, ऐसा नियम है । तब दोनोंके अध्यस्त और दोनोंके अधिष्ठान होनेसे पर्यायेण एक ही में सत्यत्व और अनृतत्व दोनोंका प्रसङ्ग आ जाता है । ऐसा माननेसे शून्यवाद आ जायगा । अतः इदम् पदार्थ स्वरूपतः सत्य है, क्योंकि वही दोनों अध्यासोंका अधिष्ठान और अनध्यस्त है । जो इदमंश रजत-तादात्म्यापन्न होनेसे संसृष्ट है वही रजतमें अध्यस्त है, उसको अनृत माननेमें कोई बाधा नहीं है । स्वरूपतः वही सत्य और अनध्यस्त है । एवम् आत्मा और अनात्माके परस्पर अध्याससे सिद्ध 'अहं स्थूलः' (मैं मोटा हूँ) इत्याद्याकारप्रतीतिमें अहंपदार्थ (आत्मा) का स्थूल देहमें अध्यास और स्थूल देहका अहंपदार्थमें परस्पर अध्यास होनेके कारण दोनों अध्यस्त होनेसे दोनों अनृत ही हैं, अतः आपाततः निरवधिक भ्रमका प्रसङ्ग मालूम होता है। इसलिए कहा गया है कि आत्माका संसृष्टत्वरूपसे ही अध्यास है, स्वरूपसे नहीं । 'अहम् इस उदाहरणमें आत्माका 'अहं' (मैं) यह रूप संसृष्ट ही है, स्वरूपभूत नहीं है । आत्माका स्वरूपभूत रूप तो सत्-चित्-आनन्दादि है, स्वरूपभूत चैतन्यादि अविद्याबलसे अहमाकारको प्राप्त हुआ है । आत्माका संसृष्ट रूप ही (अहम्) है, अतः यह भी अवश्य मिथ्या ही है। इसका भी अधिष्ठान चिदेकरस आत्मा ही है, जिसका कभी भी बाध नहीं होता, अतः वह सत्य है । इससे परमार्थतः निरवधिक भ्रमका प्रसङ्ग नहीं है, इत्यादि तात्पर्य समझना चाहिए ।

'शौक्ल्यवान् पटः' इतिवद् 'देहेन्द्रियादिमान् अहम्' इति वा 'ममेदं देहादि' इति वा प्रत्ययः शङ्कनीयः; इतरेतरत्वमत्यन्तैकत्वमापाद्यैवाऽध्यासस्वीकारात् । तर्हि तादात्म्याध्यास इति न वक्तव्यं किं त्वेकत्वाध्यास इत्येव वाच्यमिति चेद्, न; 'पटस्य शौक्ल्यम्' इतिवत् 'मम देहः' इति भेदव्यवहारस्य दर्शनात् । न चैवं सति भेदग्रहेण भेदाग्रहे व्यापके निवृत्ते तद्व्याप्योऽध्यासोऽपि निवर्तेतेति वाच्यम्, भेदग्रहस्याऽनङ्गीकारात् । नहि लौकिकः 'मद्देहः' इति भेदं व्यवहरन्तोऽपि शास्त्रसंस्कारमन्तरेण देहाद्भिन्नमात्मानं गृह्णन्ति ।

तस्मादनुभवत एकत्वाध्यास एव, व्यवहारतस्तु तादात्म्याध्यास इत्यपि व्यपदेष्टुं शक्यते; देहात्मनोरहमित्यभेदव्यवहारस्य मद्देह इति भेदव्यवहारस्य

माननेसे गुण और गुणीका भेद तथा अभेद दोनोंके प्रतिभास होनेसे जैसे 'शौक्ल्यवान् पटः' (शुक्ल गुणवाला वस्त्र) यह प्रतीति होती है, वैसे ही 'देहेन्द्रियादिमानहम्' (देहेन्दियादिवाला मैं हूँ) या 'ममेदं देहादि' (यह देहादि मेरा है) यह भी प्रतीति होनी चाहिए ? इसका समाधान देते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि इतरेतरत्वका अध्यास अत्यन्त एकत्वका आपादान करके ही स्वीकृत किया गया है । 'तब तो ऐसी दशामें आपको तादात्म्यका अध्यास न कहना चाहिए; किन्तु एकत्वका ही अध्यास कहना चाहिए' ऐसी शङ्का उत्पन्न होती है; इसका समाधान करते हैं कि 'कपड़ेकी सफेदी' इस प्रतीतिके तुल्य 'मेरा शरीर' इस प्रतीतिके होनेसे भेदव्यवहार भी देखनेमें आता है । यदि शङ्का हो कि अब तो इस भेदप्रतीतिने अध्यासके प्रति व्यापकीभूत 'भेदके अग्रह' को हटा दिया, इस व्यापकके निवृत्त हो जानेसे इसका व्याप्य अध्यास भी निवृत्त हो जायगा, अर्थात् अध्यास नहीं होगा । तो यह भी युक्त नही है, क्योंकि भेदग्रहका स्वीकार नहीं है । यद्यपि लौकिक पुरुष (शास्त्रीय ज्ञानसे शून्य पुरुष) 'मेरा देह' ऐसा भेदसे व्यवहार करते हैं, तथापि शास्त्रोपदेशसे जन्य संस्कारके हुए बिना 'देहसे आत्मा भिन्न है' ऐसा स्वीकार नहीं करते ।

इससे अनुभवसे एकत्वका अध्यास ही व्यवहारसे तादात्म्यका अध्यास है ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि देह आदि और आत्मा इन दोनोंमें 'अहम्' (मैं) इस रीतिसे अभेदव्यवहार और 'मेरा शरीर है' इस प्रकार भेदव्यवहार

च सद्भावात् । न चैकत्वमेव तादात्म्यमिति वाच्यम्; भेदाऽभेदसहमन्योन्याभावविरोधि तादात्म्यम्, भेदविरोध्येकत्वमिति तयोर्विविक्तत्वात् । जीवब्रह्मणोरप्येकत्वमेव वस्तुतोऽविद्याकल्पितभेदमपेक्ष्य तादात्म्यमिति व्यपदिश्यत इत्यविरोधः । न च जीवब्रह्मैक्यवदात्मदेहैक्यमनुभूयमानमपि वास्तवं भवितुमर्हति । सत्यानृतरूपेणात्यन्तविविक्तयोर्वास्तवैक्यस्याऽयोगात् । तस्मादध्यस्तमेवैकत्वम् ।

भी होता है । ['न चैतयोः सत्यानृतयोः' ग्रन्थसे लेकर 'शक्यते' तक ग्रन्थका संक्षेपसे तात्पर्य यह है कि यदि गुण और गुणीमें भेदाऽभेदकी तरह आत्मा और अनात्मामें भी भेदाऽभेदका स्वीकार करते हैं तो भेदका स्वीकार करनेसे सिंह और माणवककी भेदप्रतीतिके प्रसिद्ध होनेसे जैसे 'सिंहो माणवकः' इस प्रतीतिको गौणी प्रतीति मानते हैं, अध्यास नहीं मानते हैं वैसे ही देह और आत्माकी भेदप्रतीतिके प्रसिद्ध होनेसे 'अहं स्थूलः' 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भी गौणी हो जायगी । इससे भेदका स्वीकार नहीं किया जा सकता । कारण कि जो जो प्रतीयमान होते हैं वे सबके सब स्वीकृत होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि उक्त लोकप्रतीतिमें ही व्यभिचार है और मरुमरीचिका भी तो प्रतीत होती है, क्या उनका स्वीकार कर सकते हैं ? इस आशयको लेकर ग्रन्थकारने लिखा है कि अनुभवसे एकत्वका ही स्वीकार किया जाता है, और व्यवहारमें भेद-अभेद दोनोंके आनेसे तादात्म्यका ही स्वीकार किया जाता है ।'] 'एकत्व ही तादात्म्य है' यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भेद और अभेद दोनोंको सहनेवाला (जिसमें भेद और अभेद दोनोंका परस्पर कोई विरोध न हो, ऐसा) तथा अन्योन्याभावका विरोधी तादात्म्य है और भेदका विरोधी एकत्व है, इस रीतिसे एकत्व और तादात्म्यका विषय अत्यन्त विविक्त— भिन्न है । वस्तुतः जीव और ब्रह्मका एकत्व ही है, किन्तु अविद्याकल्पित भेदको लेकर तादात्म्यके माननेमें कोई विरोध नहीं आता । यदि शङ्का हो कि जीव और ब्रह्ममें एकत्व जैसे वास्तविक है वैसे ही अनुभवसे सिद्ध आत्मा और देहके ऐक्यको भी परमार्थ (सत्य) ही क्यों न मान लिया जाय ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि सत्य और अनृतरूपसे अन्यत्र— पृथक्-पृथक् गृहीत होनेवाले पदार्थोंका ऐक्य (एक होना) सत्य नहीं हो

तस्य चाऽध्यासस्याऽनाद्यनिर्वचनीयभावरूपाज्ञानमुपादानम् ; तस्मिन् सत्यध्यासोदयादसति चाऽनुदयात् । नन्वेतावन्वयव्यतिरेकावध्यासप्रतिबन्धकतत्त्वज्ञानाभावविषयतयाऽप्युपपन्नाविति चेद्, न; तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकलक्षणरहितत्वात् । सति हि पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधितया जायमानं प्रतिबन्धकम् । तत्त्वज्ञानं त्वसत्येव काचकामलादिदोषाख्येऽध्यासपुष्कलकारणे जायत इति लक्षणरहितम् । तथाऽपि तत्त्वज्ञानस्याऽध्यासविरोधितया विरोधिसंसर्गाभावविषयत्वेनाऽपि तावुपपत्स्येते इति चेद्, न;

सकता । इसलिए देह और आत्माका ऐक्य अध्यासमूलक ही है । [देहादिकी विनाशिता प्रत्यक्षसिद्ध है इसके अनृतत्वसाधनके लिए विशेष युक्तिके प्रदर्शनकी आवश्यकता नहीं है और आत्माको शास्त्र अविनाशी घोषित करते हैं, अतः आत्मा सत्य सिद्ध है । इससे इनका अनृतत्व और सत्यत्व अन्यत्र प्रसिद्ध है, इनका अनुभूयमान ऐक्य भ्रमात्मक ही है । और भेद वास्तव है इसलिए दोनोंका तादात्म्य अध्यस्त है, यह भाव है] ।

पूर्वोक्त अध्यासका उपादान कारण अनादि अनिर्वचनीय भावरूप अविद्या है, क्योंकि उस अविद्याके रहनेपर अध्यास होता है और उस अविद्याके न रहनेपर अध्यास नहीं होता, ऐसा अन्वय और व्यतिरेक है । यदि शङ्का हो कि दिखाये गये अन्वय और व्यतिरेक अध्यासके प्रतिबन्धक तत्त्वज्ञानके अभावमें ही लागू रहेंगे अर्थात् अविद्याके रहनेपर तत्त्वज्ञानका अभाव और अविद्याके न रहनेपर तत्त्वज्ञान होता है, अतः इससे अविद्याकी कारणता सिद्ध नहीं हो सकती ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानमें प्रतिबन्धकका लक्षण नहीं जाता है । प्रतिबन्धक उसको कहते हैं जो कार्यके सम्पूर्ण कारणकलापके रहते भी उस कार्यका विरोधी होकर उत्पन्न हो । तत्वज्ञान तो अध्यासके जबर्दस्त कारण काच, कामला आदि दोषके न रहनेपर ही उत्पन्न होता है । इस कारण तत्त्वज्ञान प्रतिबन्धकके लक्षणसे रहित है । यदि शङ्का हो कि प्रतिबन्धकके लक्षणसे शून्य होनेपर भी तत्त्वज्ञान अध्यासका विरोधी तो है ही, इससे आपके पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेक विरोधी तत्त्वज्ञानके सम्बन्धके अभावको लेकर ही उपपन्न हो जायंगे, क्योंकि यह नियम है कि कार्यमात्रका प्रतिबन्धकका संसर्गाभाव कारण है, फिर वे अन्वय और व्यतिरेक अविद्याके साधक क्यों माने जायँ ?

कार्यस्य तावदुपादानापेक्षा प्रथममुत्पद्यते, पश्चाद्विरोधिसंसर्गाभावापेक्षा; तथा च 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवद्' इति न्यायेनाऽन्तरङ्गोपादान-विषयत्वमेव तयोर्न्याय्यम्। प्रध्वंसवदुपादानापेक्षैव मा भूदिति चेद्; विमतं सोपादनम्, भावत्वे सति कार्यत्वाद्, घटवदित्यनुमानात्। ननु पटगुणे रूपेऽनैकान्तिको हेतुः, नहि तस्योपादानं संभवति। तस्य किं पट एवोपादानं द्रव्यान्तरं वा? नाऽऽद्यः, सव्येतरयोर्विषाणयोरिव युगपदुत्प-न्नयोः कार्यकारणभावानुपपत्तेः। द्वितीये द्रव्यान्तरगतत्वेन पटगुणत्वहानि-रिति, मैवम्; तार्किकमते तावद् 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' इति न्यायेन यौगपद्याभावात् पटस्यैवोपादानत्वसंभवः। वेदान्तिमते तु तन्तू-

तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि कार्यको सबसे प्रथम उपादान कारणकी अपेक्षा होती है। अनन्तर विरोधीके संसर्गाभावकी अपेक्षा होती है। इसलिए 'अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग इन दोनोंमें अन्तरङ्ग बलवान् होता है' इस न्यायसे पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेक द्वारा अन्तरङ्ग उपादान (अविद्या) की ही सबसे पहले अपेक्षा उचित है। यदि शङ्का हो कि प्रध्वंसरूप कार्यमें जैसे उपादानकी अपेक्षा नहीं होती है, वैसे ही अध्यासमें भी उपादानकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमानसे अध्यासमें सोपादानत्व सिद्ध है—विवादग्रस्त (अध्यास) उपादान कारणवाला है, भावरूप कार्य होनेसे, घटके समान। यदि शङ्का हो कि वस्त्रके गुण शुक्ल, नील आदि रूपमें यह हेतु व्यभिचरित है, क्योंकि उसका कोई उपादान नहीं हो सकता। यदि उपादान मानते हैं, तो पट ही उपादान है या कोई दूसरा द्रव्य? पट तो उपादान नहीं माना जा सकता, कारण कि एक साथ उत्पन्न होनेवाले गऊ आदिके दाहिने और बायें सींगोंमें जैसे कार्यकारणभाव नहीं होता, वैसे ही साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले पट और उसके गुण शुक्ल आदि रूपमें कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। दूसरे पक्षमें, अन्य द्रव्य पटके गुणके प्रति यदि उपादान माना जाय, तो वह पटका गुण नहीं कहा जायगा। तो यह भी शङ्का सङ्गत नहीं है, क्योंकि नैयायिकोंके मतमें उत्पन्न हुआ द्रव्य क्षणभर गुणरहित रहता है, इस नियमसे गुण और द्रव्य एक-साथ उत्पन्न नहीं होते। इससे पटके गुणका उपादान पट ही हो सकता है। [अतः भावरूप कार्यमें सोपादानत्वका व्यभिचार नहीं है]। पूर्वोक्त नैयायिकसंमत नियमको न

नामुपादानत्वेऽपि कार्यकारणयोरभेदात् पटगुणत्वं न हीयते । न च काचादिदोषाणामुपादानत्वसंभवेऽपि किमनेनाऽज्ञानेनेति वाच्यम्, अध्यासतदुपादानयोरेकाश्रयत्वनियमात् । इह त्वध्यास आत्माश्रितो दोषाश्चेन्द्रियाद्याश्रिता इति नोपादानत्वं तेषाम् । ननु रजताध्यासः शुक्त्याश्रितः प्रतीयते तदुपादानं त्वज्ञानमात्माश्रितमिति त्वन्मतेऽपि नैकाश्रयत्वसिद्धिः, मैवम्; आत्माश्रितस्यैवाऽध्यासस्य शुक्तिसंसर्ग इत्युपपादयिष्यमाणत्वात् ।

ननु तर्हि अर्थाध्यासस्याऽज्ञानमुपादानमस्तु ज्ञानाध्यासस्य त्वात्माऽन्तःकरणं चोपादानं भविष्यति, सम्यग्ज्ञानेषु मतभेदेन तयोरुपादानत्वा-

---

माननेवाले वेदान्तियोंके मतमें यद्यपि तन्तु ही पट और उसके गुण दोनोंके प्रति उपादान कारण हैं, तथापि कार्य और कारण इन दोनोंमें अभेद होनेके कारण तन्तुके गुण होनेपर भी उनके पटगुण कहलानेमें कोई आपत्ति नहीं है। इससे अध्यासमें सोपादनत्व सिद्ध हुआ। परन्तु उसके उपादान काच आदि दोष ही मान लिये जायँ, अतिरिक्त अविद्याको उपादान माननेकी क्या आवश्यकता है? ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अध्यास और उसके उपादानको एक ही आश्रयमें रहना चाहिए, ऐसा नियम है। आपके कथनके अनुसार यह नहीं बनेगा, क्योंकि अध्यास ज्ञानरूप होनेसे आत्मामें है और काच आदि दोष इन्द्रिय आदिमें हैं। अतः काच आदि दोष अध्यासके प्रति उपादान कारण नहीं हो सकते हैं।

यदि शङ्का हो कि रजतका तादात्म्याध्यास शुक्तिमें ही प्रतीत होता है और उसका उपादान अविद्या आत्मामें आश्रित है इससे (अविद्या माननेपर भी) आपके मतमें एकाश्रयत्व (एक ही जगह रहने) की सिद्धि नहीं हो सकती? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें ही रहनेवाले अध्यासके साथ शुक्तिका सम्बन्ध है, इसका उपपादन आगे किया जायगा। [अज्ञानका आश्रय तथा विषय चेतन ही है, जड़ नहीं हो सकता, इत्यादि अज्ञानके प्रकरणमें कहा जायगा, यह भाव है।]

अच्छा, तो अर्थाध्यासके प्रति अज्ञानको उपादान भले ही मानो, परन्तु ज्ञानाध्यासके प्रति आत्मा या अन्तःकरण ही उपादान होंगे, क्योंकि सम्यग्ज्ञान (प्रमाज्ञान)के विषयमें नैयायिक और वेदान्तियोंका मतभेद है, अतः आत्मा और अन्तःकरण उपादान माने गये हैं? ऐसा यदि कहो, तो यह भी ठीक नहीं

दिति चेद्, मैवम्; आत्मनोऽपरिणामित्वात्। अन्तःकरणस्य चेन्द्रियसंयोगलिङ्गादिसापेक्षत्वात्। नह्यत्र संयोगादिः संभवति। मिथ्यापदार्थस्य प्रत्ययमात्रशरीरस्य प्रत्ययात् प्रागसिद्धेः केनेन्द्रियं संयुज्येत। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ तु भ्रान्तिज्ञानस्याऽधिष्ठानज्ञानविषयतयाऽन्यथासिद्धौ।

न चाऽधिष्ठान[ज्ञान]संप्रयोगादेव भ्रान्तिज्ञानोत्पत्तिसिद्धिः, मिथ्यार्थसंप्रयोगाभावे तत्प्रतीत्यनुपपत्तेः। न च संस्कारोपनीततया 'सोऽयं देवदत्तः' इति प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशवत् तत्प्रतीतिः; तद्वदेवाऽभ्रान्तत्वापत्तेः। न चाऽधि-

---

है, क्योंकि आत्मा परिणामी नहीं है, इससे वह उपादान नहीं हो सकता। और अन्तःकरणके परिणामी होनेपर भी वह प्रत्यक्षस्थलमें इन्द्रिय-संयोग तथा परोक्षज्ञानमें हेतु या शब्द आदिकी अपेक्षा रखता है। और अध्यासस्थलमें इन्द्रियसंयोग आदिका सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रतीतिमात्रस्वरूप मिथ्यापदार्थ प्रतीतिसे पहले किस तरह इन्द्रियसे संयुक्त हो सकेगा? इन्द्रियके अन्वय और व्यतिरेक तो भ्रमज्ञानके अधिष्ठानभूत पुरोवर्ती विषयके ज्ञान करानेसे अन्यथासिद्ध हैं।

यदि शङ्का हो कि अधिष्ठानके साथ हुए इन्द्रियसंयोगसे ही भ्रमज्ञानकी उपपत्ति हो जायगी। तो यह भी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुके साथ इन्द्रियसम्प्रयोग हुए बिना मिथ्या वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता है? यदि शङ्का हो कि साक्षात् विषयके साथ सम्प्रयोग न होनेपर भी 'सोऽयं देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है) इस प्रत्यभिज्ञामें तत्तांशके समान संस्कार द्वारा मिथ्या विषयके साथ सम्बन्ध हो जानेसे मिथ्या वस्तुकी प्रतीति हो सकती है। [तात्पर्य यह है कि जैसे प्रत्यभिज्ञामें पुरोवर्ती देवदत्तसे इन्द्रियसंयोग होता है तत्तांशके साथ अर्थात् पूर्वानुभूत परोक्ष देवदत्तके साथ इन्द्रियका संयोग नहीं होता तो भी पूर्वानुभवसे उत्पन्न संस्कार उद्बुद्ध होकर तत्तांश की प्रतीति करा देता है, वैसे ही भ्रमस्थलमें भी शुक्ति आदि अधिष्ठानके साथ यद्यपि इन्द्रियसंयोग है, रजतादिसे नहीं है, तथापि चाकचिक्य सादृश्य आदि दोषमाहात्म्यसे पूर्वानुभूत रजतका संस्कार उद्बुद्ध होकर मिथ्या रजतादिविषयकी प्रतीति करा देगा, अतः मिथ्या विषयके साथ भी इन्द्रियसंयोगकी आवश्यकता नहीं है। इससे अन्तःकरण ज्ञानाध्यासका उपादान हो सकता है।] तो यह

ष्ठानसंसर्गांशस्याऽसत्त्वाद् भ्रान्तत्वम्; तर्हि तस्याऽसत्त्वेन संप्रयोगायोग्यस्याऽऽरोप्यस्याऽपरोक्षत्वाभावप्रसङ्गात्।

ननु मिथ्यार्थेऽन्तःकरणमिन्द्रियसंप्रयोगं नाऽपेक्षते; विनाऽपि तेन स्वाप्नज्ञानदर्शनादिति चेत्; तथाऽप्यन्तःकरणस्य ज्ञानाकारपरिणामे ज्ञातृत्वशून्यत्वाद् मिथ्यार्थव्यवहारो न सिध्येत्। अथाऽन्तःकरणमेव जड़मपि ज्ञानकर्तृत्वाकारेण परिणंस्यते, आत्मा वा ज्ञाता भविष्यतीति मन्येथाः;

भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि आपके द्वारा प्रदर्शित प्रत्यभिज्ञाकी रीतिसे भ्रम-प्रक्रिया समझी जाय, तो प्रत्यभिज्ञास्थलमें तत्तांशकी तरह मिथ्यारजतका ज्ञान भी भ्रमज्ञान नहीं कहा जा सकेगा। यदि कहो कि शुक्तिरजतज्ञानस्थलमें अधिष्ठान शुक्ति आदिका रजतके साथ संसर्ग नहीं है इससे भ्रम कहलाता है। [प्रत्यभिज्ञास्थलमें तो पुरोवर्ती देवदत्तका पूर्वानुभूत परोक्ष देवदत्तके साथ संसर्ग है, इससे भ्रम नहीं कहा जाता] तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि भ्रमस्थलमें अधिष्ठानका संसर्ग नहीं है, तो संप्रयोगमें अयोग्य मिथ्या रजतादिका अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ही न होगा।

पुनः यदि शङ्का हो कि यथार्थ वस्तुके ज्ञानके लिए तो अन्तःकरण इन्द्रियसंयोगकी अपेक्षा करता है और मिथ्यावस्तुके ज्ञानके लिए उसकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्वप्नमें विषयेन्द्रिय-संयोगके विना स्वप्नके पदार्थोंका ज्ञान होता है? तो यह भी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर भी निर्वाह नहीं हो सकता, कारण कि उपादान होनेके नाते अन्तःकरणका ज्ञानके आकारमें परिणाम हो जानेपर ज्ञातृत्वरहित होनेसे मिथ्या वस्तुका व्यवहार सिद्ध न होगा। [व्यवहार ज्ञान, अभिलपन, उपादान और हान भेदसे चार प्रकारका होता है यह चतुर्विध व्यवहार ज्ञातृत्वसम्पत्तिसे ही बन सकता है, ज्ञातृत्वका प्रयोजक अन्तःकरण तो मिथ्याज्ञानाकारमें परिणत हो गया है, इससे मिथ्यावस्तुविषयक व्यवहारकी सुतरां असिद्धि होगी, यह तात्पर्य हुआ] यदि शङ्का हो कि जड़ अन्तःकरण ही ज्ञानके कर्तृत्वाकारसे परिणत हो जायगा और आत्मा ज्ञाता होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रम, यथार्थज्ञान, बन्ध और मोक्षके एकाश्रयत्व (एक ही आधारमें होने) का नियम है। इस नियमके अनुसार जब अन्तःकरण भ्रान्त होगा तब उसमें ही सम्यक् ज्ञान और बन्धनिवृत्ति—मोक्ष मानना होगा। आत्मामें भ्रम नहीं है; अतः उसमें सम्यक् ज्ञान तथा बन्धनिवृत्ति—मोक्षकी स्थिति

एवमपि भ्रान्तिसम्यग्दर्शनबन्धनिवृत्तीनामेकाश्रयत्वनियमादन्तःकरणस्य भ्रान्तत्वे तस्यैव सम्यग्दर्शनबन्धनिवृत्ती प्रसज्येयाताम्। इष्यते त्वात्मन एव भ्रान्तत्वादिकम् , तच्चाऽऽत्माश्रिताज्ञानोपादानत्वपक्षे सिध्यति; नाऽन्यथा। तस्मादज्ञानमेवोपादानं परिशिष्यते।

न चाऽज्ञाने विवदितव्यम्; 'अहमज्ञः' 'मामन्यं च न जानामि' इति प्रत्यक्षेण जड़ात्मिकाया अविद्याशक्तेरात्मानमाश्रित्य बाह्याध्यात्मिकेषु व्याप्ताया अनुभूयमानत्वात्। ननु ज्ञानाभावविषयोऽयमनुभवः, तन्न; 'अहं सुखी' इतिवदपरोक्षानुभवत्वात्। अभावस्य च षष्ठप्रमाणगम्यत्वात्। प्रत्यक्षाभाववादे तु धर्मिप्रतियोगिनोरात्मज्ञानयोः प्रतीतौ 'मयि ज्ञानं नास्ति' इति एतादृशं ज्ञानाभावप्रत्यक्षं व्याहन्येत। तयोरप्रतीतौ च हेत्व-

---

भी न बनेगी, ऐसा इष्ट नहीं है प्रत्युत] आत्मामें ही भ्रम, सम्यक् ज्ञान और बन्ध-निवृत्ति—मोक्ष इष्ट है, वह तब बन सकता है, जब अध्यासका उपादान कारण आत्माश्रित अज्ञान माना जाय। अन्यथा (अन्तःकरण आदिको भ्रमका उपादान माननेपर) उक्त (भ्रान्त्यादिकी एकाश्रयत्वरूप) व्यवस्था सङ्गत न होगी, अतः परिशेषात् अज्ञान ही अध्यासका उपादान सिद्ध हुआ।

और अज्ञानके अस्तित्वमें भी सन्देह नहीं करना चाहिए। क्योंकि 'मैं अज्ञ—अज्ञानी हूँ' और 'मैं अपने आपको तथा दूसरेको नहीं जानता हूँ' इस प्रत्यक्षप्रतीतिसे आत्मामें आश्रित होकर सब बाह्य घट आदि और आध्यात्मिक अहङ्कार आदि वस्तुओंमें व्याप्त जड़स्वरूप अविद्या शक्ति सिद्ध ही है। इससे प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुमें विवाद करना उचित नहीं है। यदि कहो कि 'मैं नहीं जानता' इत्यादि पूर्वोक्त अनुभव ज्ञानके अभावको ही विषय करता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त अनुभव 'मैं सुखी हूँ' इस अनुभवके सदृश प्रत्यक्ष अनुभव है और अभाव तो 'अनुपलब्धिरूप छठे प्रमाणका विषय होनेसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है। अभावको प्रत्यक्ष माननेवालेके मतमें भी धर्मी (अहंपदार्थ ज्ञाता—आत्मा) प्रतियोगी (ज्ञानकी) प्रतीति रहनेपर 'मुझमें ज्ञान नहीं है' इस प्रकार ज्ञानके अभावका प्रत्यक्ष व्याहत (परस्परविरुद्ध) होगा, इस व्याघातके भयसे यदि आत्मा और ज्ञान दोनोंकी प्रतीति नहीं होती, ऐसा

भावादेव तत्प्रत्यक्षानुत्पादः । ननु सर्वत्र व्यवहारो ज्ञानस्य फलत्वेन लिङ्गं भवति; तल्लिङ्गाभावेन ज्ञानाभावोऽनुमीयते इति चेद्, न; तदापि धर्म्यादि-प्रतीत्यप्रतीत्योरुक्तदोषात् । षष्ठमानगम्यो ज्ञानाभाव इति भट्टमतेऽपि अयमेव दोषः । अस्मन्मते तु साक्षिवेद्यो ज्ञानमात्राभावः । ज्ञानविशेषा-भावस्तु 'व्यवहारे भट्टनयः' इत्यभ्युपगमेन षष्ठमानगम्यः ।

यदा तु 'मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः' इति पुराणमतमाश्रित्याऽभावपदार्थ एव नाऽङ्गीक्रियते, तदा न काऽपि चिन्ता ।

माना जाय, तो हेतुके बिना अभावका ज्ञान ही नहीं होगा [क्योंकि अभावज्ञानमें धर्मी तथा प्रतियोगी दोनोंका ज्ञान कारण माना गया है] । ज्ञानका फल सर्वत्र व्यवहार देखा गया है, अतः फल होनेके कारण व्यवहार ज्ञानका अनुमान करनेमें लिङ्ग 'हेतु' है । फलस्वरूप व्यवहाररूपी हेतु न होनेसे ज्ञानके अभावका अनुमान किया जाता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा माननेमें भी धर्मी आदिकी प्रतीति और अप्रतीतिमें उक्त दोष बना ही है । [यदि ज्ञानाभावका व्यवहाररूप फलाभावसे अनुमान करते हैं, तो प्रश्न होता है कि इस अनुमानके अनुव्यवसायमें धर्मी (आत्मा) और प्रतियोगी (ज्ञान)की प्रतीति है या नहीं ? यदि है तो 'मैं अपनेमें ज्ञानाभावका अनुमान करता हूँ', या 'मैं ज्ञानाभाववाला हूँ' इनमें धर्मी और प्रतियोगी दोनोंका ज्ञान होनेसे व्याघात बना ही है । यदि यही पक्ष अभिमत है, तो अनुमानका उदय ही असम्भव है । पर्वतादि धर्मीके ज्ञानके बिना जब कोई भी अनुमिति नहीं देखी गई है, तब अनुव्यव-सायकी आशा करना तो दूर ही रहा, यह भाव हुआ ।]

षष्ठ प्रमाणसे (अनुपलब्धिसे) अभाव जाना जाता है, इस भट्ट (मीमांसक) मतमें भी यही पूर्वोक्त व्याघात आदि दोष आते हैं । और हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें तो ज्ञानसामान्यका अभाव साक्षीसे जाना जाता है और ज्ञानविशेषका अभाव अनुपलब्धि नामक षष्ठ प्रमाणसे ही जाना जाता है, क्योंकि व्यवहारमें भट्ट (मीमांसक) का मत ग्राह्य है, ऐसा सिद्धान्त है ।

अगर पृथ्वी, घट, कपाल, उसके भी छोटे टुकड़े, फिर उसका चूर्ण और तब परमाणु इस पुराण मतको आश्रयणकर अभाव पदार्थका स्वीकार ही न किया जाय तो हमें कोई चिन्ता भी नहीं है । [तात्पर्य यह है कि प्रभाकरानुयायी

ननु भावरूपाज्ञानस्यापि ज्ञाननिवर्त्यत्वाङ्गीकारादहमज्ञ इत्याद्याश्रयविषयप्रतीतिगर्भितमज्ञानप्रत्यक्षं व्याहतमेव । मैवम् , आश्रयविषयाज्ञानानि त्रीण्यपि एकेनैव साक्षिणाऽवभास्यन्ते । तथा चाऽऽश्रयविषयौ साधयन्नयं साक्षी तद्वदेवाज्ञानमपि साधयत्येव न तु निवर्तयति । तन्निवर्तकं त्वन्तःकरणवृत्तिज्ञानमेव । तच्चात्र नास्तीति कथं व्याहतिः ?

मीमांसक अभाव पदार्थ नहीं मानते । पृथ्वी या घटके अभावका उपपादन पूर्वोक्त पुराणवचनके अनुसार यों है—पृथ्वी ही घटभावसे परिणत हो गई । अब घट रहा, पृथ्वी नहीं रही, यही पृथ्वीका अभाव है । घटके टुकड़े कर दिये गये घटका अभाव अर्थात् घट नाम बदल कर कपाल हो गये, एवम् उसका अभाव और छोटे टुकड़े उसका भी अभाव चूर्ण (धूल) उसका भी अभाव अन्ततः परमाणु हो गये, बस यही अभाव पदार्थ है । इससे अतिरिक्त अभाव कुछ नहीं है । इस प्रकार अभावका खण्डन हो गया । हम वेदान्तियोंकी, एक अद्वैततत्त्वपर अवलम्बित होनेसे, अभावका ही क्या प्रपञ्चमात्रका खण्डन कर देनेसे कोई हानि नहीं है ।]

वादी वेदान्तिमतमें दोष देता है कि भावरूप* अज्ञानको ज्ञानसे निवर्त्य माननेपर भी 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा आश्रय और विषय दोनोंकी प्रतीतिसे युक्त अज्ञानका प्रत्यक्ष बाधित ही है । समाधान करते हैं कि नहीं बाधित नहीं है, क्योंकि आश्रय, विषय और अज्ञान तीनों एक ही साक्षीसे प्रकाशित होते हैं । इसलिए आश्रय और विषयको प्रकाशित करता हुआ साक्षी उन्हींकी तरह अज्ञानको भी प्रकाशित करता है, उसकी निवृत्ति नहीं करता । अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला तो अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चिद्रूप ज्ञान है । और अज्ञानका विनाशक वह वृत्तिज्ञान प्रकृतमें नहीं है । तब व्याघात कैसे होगा ?

* तात्पर्य यह है कि यदि भावरूप अज्ञानका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तो ज्ञानसे उसकी निवृत्ति कैसे होगी । ज्ञानसे निवृत्ति माननेसे तो व्याघात बना ही है । यदि कहो कि निवृत्ति नहीं होती, तो अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा । यदि माना जाय कि भावरूप अज्ञानका प्रत्यक्ष (ज्ञान) नहीं होता है, तो ऐसे भावरूप अज्ञानके माननेमें प्रमाण ही क्या होगा—ऐसा आप कह भी नहीं सकते । आप तो इस भावरूप अज्ञानमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण देते हैं, इस विवादसे भावरूप अज्ञान नहीं मानना चाहिये, इस अभिप्रायसे शङ्का की गई है । समाधानका आशय यह है कि भावरूप अज्ञानका प्रत्यक्ष होता है और वह ज्ञानसे नष्ट भी होता है तब भी कोई व्याघात नहीं है, क्योंकि एक कालमें भाव और अभावका रहना विरुद्ध है । जैसे घटाभावकालमें एवं घटाभावके देशमें घटका रहना विरुद्ध

नन्वहं घटं न जानामीत्यत्राज्ञानव्यावर्त्तको घटो न तावत् संबन्धरहितेन साक्षिणा प्रत्येतुं योग्यः ; बाह्यविषयसिद्धेः स्वसंबद्धप्रमाणायत्तत्वात् । नाऽपि प्रमाणेन; प्रमाणनिवर्त्यत्वादज्ञानस्येति चेत्, सत्यम्; केवलस्य घटस्य साक्षिवेद्यत्वाभावेऽपि अज्ञातत्वधर्मविशिष्टस्याऽज्ञानद्वारा संबन्धवता साक्षिणा प्रतीतिरुपपद्यत एव। न च वाच्यं केवलस्य साक्षिवेद्यत्वाभावे विशिष्टस्याऽपि तदनुपपन्नम्, रसादेश्चाक्षुषद्रव्यविशिष्ट-

शङ्का करते हैं कि "मैं घटको नहीं जानता" इस प्रतीतिमें अज्ञानके व्यावर्तक (विशेषक) घटसे सम्बद्ध हुए बिना उसका साक्षीसे भान तो नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य विषयोंके प्रतिभासकी सिद्धि अपनेसे (साक्षीसे) सम्बद्ध प्रमाणके (अन्तःकरणसे युक्त चक्षु आदिके) अधीन है। प्रमाणसे भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमाणव्यापारके होते ही अज्ञान निवृत्त हो जाता है। तो इस शङ्काका समाधान यह है कि यद्यपि आपका कहना सच है तथापि केवल घटादि बाह्य विषयोंके साक्षिवेद्य नहीं होनेपर भी अज्ञातत्वधर्मविशिष्ट विषयोंका अज्ञानके द्वारा सम्बन्ध हो जानेसे साक्षीसे प्रतीति हो ही सकती हैं। यदि शङ्का हो कि केवल विषय साक्षी से वेद्य नहीं है तो विशिष्ट भी साक्षिवेद्य कैसे होगा ? जैसे कि केवल रसादिके चक्षुसे वेद्य न होनेसे चाक्षुष द्रव्य (आम्रादि) विशिष्ट होनेपर भी वे चक्षुसे वेद्य नहीं होते हैं। तो यह

है। परन्तु एक देश या एक कालमें भी दो भावोंका रहना कोई विरुद्ध नहीं है। जैसे एक ही देश और कालमें घट और पट दो भाव पदार्थ रह सकते हैं वैसे ही हमारे मतमें ज्ञान अज्ञान दोनों भाव पदार्थ हैं। इससे उनका एक ही अधिकरणमें तथा एक कालमें रहना व्याहत नहीं है। साक्षिज्ञान ही जैसे विषय तथा आश्रय दोनोंका प्रतिभासरूप है वैसे ही विषयका विशेष्य होनेसे भावरूप अज्ञानका भी प्रतिभासरूप है अपने प्रतिभाससे (ज्ञानसे) अपना नाश कहीं नहीं देखा गया। अन्यथा घटज्ञानसे घटनिवृत्ति हो जानी चाहिए। ज्ञानका अज्ञानसे विरोध तब आता जब हम भी वादीकी भाँति अज्ञानको ज्ञानका अभावरूप मानते, किन्तु ऐसा हम मानते नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि अपने साधक साक्षिज्ञानका कोई विरोध नहीं है—विरोध है पूर्वोक्त वृत्तिज्ञानसे। यहां इस शंकाका भी अवकाश नहीं है कि वृत्तिज्ञान भी तो वस्तुतः साक्षिज्ञान ही है (बिम्ब-प्रतिबिम्बमें अभेद माना जाता है) केवल वृत्तिरूप उपाधि है। तब अपनेसे भासित होनेवाले अज्ञानका अपने ही द्वारा नाश कैसे होगा; क्योंकि देखा गया है कि सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले तिनका—फूस आदि को आतशी शीशा द्वारा आकर सूर्यप्रकाश स्वयं भस्म कर देता है वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

स्याऽपि चाक्षुषत्वादर्शनादिति, परमाणोः केवलस्य मानसप्रत्यक्षत्वाभावेऽपि 'परमाणुमहं जानामि' इति ज्ञानविशेषणतया मानसप्रत्यक्षविषयत्वस्य परैरङ्गीकारात्। लोकेऽपि राहोः केवलस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽपि चन्द्राद्युपरक्तस्य प्रत्यक्षत्वदर्शनात्। परमतेऽपि 'घटमहं न जानामि' इत्यत्र ज्ञानाभावविशेषणस्य घटस्य प्रतीत्यप्रतीत्योर्दूषणस्याऽभिहितत्वात्। तस्मात् सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव। ननु तर्हि ज्ञाताज्ञातविषयभेदो न स्यात् तथा प्रमाणव्यापारवैयर्थ्यं तदन्वयव्यतिरेकविरोधश्चेति चेद्, मैवम्; यद्वदज्ञानमज्ञातत्वधर्मं स्वविषये संपाद्य तस्य साक्षिणा

भी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि केवल परमाणुके मानसप्रत्यक्षविषय न होनेपर भी दूसरे दर्शनकारोंने 'परमाणुको मैं जानता हूँ' इस ज्ञानके विशेषणरूपसे उसमें मानसप्रत्यक्षकी विषयता मानी है। और लोकमें भी राहुका स्वतः प्रत्यक्ष न होनेपर भी चन्द्रादिके सम्बन्धसे उसका प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। [यह कहना भी सङ्गत नहीं हो सकता कि भावरूप अज्ञान माननेसे उसकी उपपत्तिके लिए इतनी कष्टप्रद कल्पना करनेकी अपेक्षा अज्ञान ज्ञानाभावरूप ही क्यों न मान लिया जाय ? इस आशङ्कासे कहते हैं कि] दूसरे दर्शनकारोंके (नैयायिक आदिके) मतमें अज्ञानको अभावरूप माननेपर भी 'घटको मैं नहीं जानता' इस प्रतीतिमें घटाभावके विशेषणीभूत घटकी प्रतीति या अप्रतीतिमें दूषण (प्रतीति होनेसे व्याघात अप्रतीति होनेसे घटाभावज्ञानका ही असम्भव होगा, इस प्रकार दूषण) दे ही चुके हैं। इससे सभी वस्तुएँ कुछ ज्ञानके विशेषणरूपसे और कुछ अज्ञानके विशेषणरूपसे साक्षीरूप चैतन्यकी विषय हैं—अर्थात् साक्षी ज्ञातत्वरूपसे और अज्ञातत्वरूपसे सभी वस्तुओंको विषय करता ही है। [जो ज्ञानका विषय है वह ज्ञात और जो अज्ञानका विषय है वह अज्ञात कहलाता है। अज्ञात वस्तुका ज्ञान करानेके लिए प्रमाणव्यापार अपेक्षित होता है, तदनन्तर विषयका ज्ञान होता है, ऐसा सिद्धान्त है। ऐसी स्थितिमें यदि आपके (वेदान्त) मतमें सभी वस्तुएँ साक्षिज्ञानकी विषय हैं, तो सब ज्ञात ही होंगे, पुनः ज्ञाताऽज्ञातव्यवस्था नहीं बनेगी, इस प्रकार शङ्का करते हैं] तब तो ज्ञात और अज्ञात विषयोंकी व्यवस्था ही न बनेगी और प्रमाणव्यापार भी व्यर्थ हो जायगा और प्रमाणव्यापार होनेपर ज्ञातता होती है, प्रमाणव्यापार न होनेपर नहीं होती है, इस अन्वय और व्यतिरेकका विरोध भी होगा। समाधान करते हैं कि

सम्बन्धं घटयति तद्वत् प्रमाणमपि ज्ञातत्वं धर्मं स्वविषये संपाद्य तस्य साक्षिणा सम्बन्धघटकमित्यङ्गीकारेणोक्तदोषनिवृत्तेः। तदेवमुक्तोपपत्तिसहित-महमज्ञ इति प्रत्यक्षं भावरूपाज्ञाने प्रमाणम्।

तथाप्यनुमानैकरुचिं प्रति तदप्युच्यते प्रत्यक्षवदुपपत्त्यपेक्षां विना साक्षादेव भावरूपत्वसाधनाय। विमतं प्रमाणज्ञानम्, स्वप्रागभावव्यति-रिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति, अप्र-काशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रकाशवद्, इति। ज्ञान-

---

उक्त शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे अज्ञान अपने विषयमें अज्ञातत्व धर्मका सम्पादन करके उस विषयका साक्षीसे सम्बन्ध करा देता है, वैसे ही प्रमाण भी अपने विषयमें ज्ञातत्व धर्मका सम्पादन करके उसका साक्षीसे सम्बन्ध जोड़ देता है, इस सिद्धान्तका अङ्गीकार करनेसे उक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है। इन पूर्वोक्त युक्तियोंके द्वारा 'अहमज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) यह प्रत्यक्षप्रतीति भावरूप अज्ञानमें प्रमाण हुई।

* तथापि—प्रत्यक्षसे भावरूप अज्ञानके सिद्ध होनेपर भी 'बद्धमुष्टिवानरन्याय' से तर्क हीमें विश्वास रखनेवालोंके प्रति प्रत्यक्षमें जैसे उपपत्तियोंकी अपेक्षा होती है, वैसे अनुमानमें नहीं होती, अतः उपपत्तियोंके बिना ही अनुमान साक्षात् साध्यकी सिद्धि करता है, वह स्वयं उपपत्तिस्वरूप है, इसलिए भावरूप अज्ञानके साधनके लिए अनुमान प्रमाण भी कहते हैं—

विवादग्रस्त प्रमाणज्ञान अपने प्रागभावसे अतिरिक्त, अपने विषयका आवरण, अपनेसे निवर्त्य और अपने अधिकरणमें स्थित वस्त्वन्तरपूर्वक होता है, अर्थात् स्वप्रागभावव्यतिरिक्त आदि चार विशेषणोंसे विशिष्ट स्वभिन्न अन्य वस्तु प्रमाणज्ञानकी उत्पत्तिसे पूर्व अवश्य रहती है, अप्रकाशित अर्थका प्रकाश करनेवाला होनेसे; अन्धकारमें प्रथम उत्पन्न प्रदीपके प्रकाशके समान [क्रमशः

---

* प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी भ्रमादिसाधारण देखा गया है। अतएव अपने प्रामाण्यके लिए वह परीक्षाकी आवश्यकता रखता है। परीक्षोत्तीर्ण ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। प्रमाणन्तरोंसे तथा व्यवहारसे संवाद या विसंवादके निराकरणादि प्रकारसे ही परीक्षा की जाती है, अतः पूर्वोक्त प्रत्यक्षप्रतीतिके प्रामाण्यकी रक्षाके निमित्त प्रमाणान्तरोंका संवाद दिखाते हैं—प्रमाणान्तरोंमें भी प्रथम तर्कप्रवण नैयायिकोंके मुखमुद्रणके लिए 'पररीत्या परो बोधनीयः' इस न्यायका अवलम्बन करके इस ग्रन्थसे भावरूप अज्ञानके साधनके लिए अनुमान भी प्रमाण दिखाते हैं।

मात्रस्य पक्षत्वे त्वनुवादज्ञाने हेत्वसिद्धिः स्यादिति प्रमाणेत्युक्तम् । तथा धारावाहिकव्यावृत्तये विमतमिति । वस्तुपूर्वकमित्येवोक्ते स्वाश्रयेणाऽऽत्मादिना सिद्धसाधनता स्याद्, अतो वस्त्वन्तरेत्युक्तम् ।

तथा स्वाश्रयातिरिक्तसामग्रीं धर्मादिकं पूर्वज्ञानं प्रागभावं चाऽवरोहक्रमेण

अनुमान प्रयोगमें आये हुए पदोंके प्रयोजनका निरूपण करते हैं]—यदि पक्षमें प्रमाणपद नहीं दिया जाता, तो ज्ञानमात्र पक्ष होता । अनुवादज्ञानमें हेतु न जानेसे हेत्वसिद्धि दोष आ जायगा, [क्योंकि अनुवादज्ञान पूर्व प्रकाशित अर्थका ज्ञान है, अप्रकाशित अर्थका नहीं, इससे उसमें हेतुकी असिद्धि हुई] अतः सब ज्ञान न लिए जायँ, यह प्रमाणपद देनेका प्रयोजन हुआ । धारावाहिक प्रमाण ज्ञानकी व्यावृत्तिके लिए विमत* पद दिया गया है । यद्यपि वस्तुपूर्वक इतना ही कह देनेसे भी निर्वाह हो सकता था, तथापि प्रमाणज्ञानके आश्रयीभूत आत्मादिको लेकर सिद्धसाधन दोष होगा, अतः वस्त्वन्तर पद दिया गया है । [आदिपदसे अन्तःकरण और उसकी वृत्ति आदि लिए जायँगे] ।

उसी प्रकार अवरोहक्रमसे 'स्वदेशगत' आदि चारों विशेषण स्वाश्रयसे अतिरिक्त सामग्रीकी, धर्मादिकी, पूर्वज्ञानकी और स्वप्रागभावकी व्यावृत्ति करते हैं † ।

---

* तात्पर्य यह है कि विषयेन्द्रियसंयोगसे घटका प्रमात्मक ज्ञान होता है । जब तक इसकी विरोधी दूसरी कोई वृत्ति नहीं होगी तब तक दीपशिखाकी भाँति उसके अनेक ज्ञानोंकी धारा बनी ही रहेगी । यह ज्ञानधारा सजातीय होनेसे प्रमाणज्ञान कहलाती है । उत्तर-उत्तर धाराके पूर्व-पूर्व धारा वस्त्वन्तर है । अतः धाराज्ञानमें सम्पूर्ण विशेषणोंके जानेसे धाराज्ञान भी पक्ष हो जायगा, जो इष्ट नहीं है, क्योंकि निरुक्त धारावाहिक ज्ञानको उक्त रीतिसे वस्त्वन्तर-पूर्वक सभी मानते हैं, अतः सिद्धसाधन दोष आ जायगा । इसलिए विमतम्, (विवादग्रस्त) पद दिया गया है। धारावाहिक ज्ञानमें किसीका विवाद न होनेसे वह पक्षकोटिमें नहीं आ सकता ।

† स्वाश्रयसे अतिरिक्त चक्षुरादि सामग्रीका निवारण करनेके लिए स्वदेशगत विशेषण दिया गया है । कार्यमात्रके प्रति धर्मादि—अदृष्ट कारण माना गया है, अतः उसको लेकर सिद्धसाधन या अर्थान्तर न हो जाय, इसलिए स्वनिवर्त्यपद दिया गया है । प्रमाणज्ञानसे धर्मादिकी निवृत्ति नहीं होती है, योग्यविभुगुणोंको स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्व होनेसे पूर्वज्ञान उत्तर प्रमाणज्ञानसे निवर्त्य होता है और उस प्रमाणज्ञानसे पूर्व भी रहता है, अतः इसकी व्यावृत्ति करनेके लिए स्वविषयावरणपद दिया गया है । पूर्वज्ञान स्वनाशक उत्तर ज्ञानके विषयका आवरण नहीं करता । एवं कार्यके प्रति प्रागभाव कारण माना गया है ।

स्वदेशेत्यादिविशेषणचतुष्टयेन निवर्तयति। एतावता च विवक्षितविशेषं भावरूपाज्ञानं सिध्यति। धारावाहिकज्ञानेषु व्यभिचारं वारयितुम् अप्रकाशितेति। धारावाहिकप्रभासूभयवैकल्यं वारयितुं प्रथमेति। आतपवति देशे समुत्पन्नदीपप्रभायां तद्वारयितुमन्धकारे इति।

अनिर्वचनीयस्य ज्ञानार्थरूपद्विविधाध्यासस्याऽन्यथानुपपत्त्या तदुपादानस्याऽज्ञानस्याऽनिर्वचनीयत्वम्। न चाऽन्यथाप्युपपत्तिस्तस्य सत्यत्वे तत्कार्यस्याऽपि सत्यत्वप्रसङ्गात्। तथा च मूलकारणत्वान्यथानुपपत्त्याऽनादित्वम्। सादित्वे चोपादानपरम्परापेक्षायां मूलकारणं न सिध्येत्। तदेवमनाद्यनिर्वाच्यभावरूपाज्ञानमात्माश्रितमात्मविषयमध्यासस्योपादानमिति सिद्धम्।

ननु किमिदमज्ञानमात्मानमिवानात्मानमप्यावृणोति किं वा नावृ-

इस अनुमानसे विवक्षित है विशेष जिसका, ऐसा भावरूप अज्ञान सिद्ध होता है। धारावाहिकज्ञानमें हेतुके व्यभिचारवारण करनेके लिए 'अप्रकाशित' पद दिया गया है। [दृष्टान्तवाक्यके पदोंकी मीमांसा करते हैं]—धारावाहिक दीपप्रभाओंमें साध्य और हेतु दोनोंका अभाव है, अतः असिद्धिरूप दोषका वारण करनेके लिए 'प्रथम' पद दिया गया है। सूर्यके प्रकाशवाले देशमें जलाये गये दीपकी प्रभामें व्यभिचारवारण करनेके लिए अन्धकार पद दिया गया है।

ज्ञान और अर्थके भेदसे उक्त द्विविध अनिर्वचनीय अध्यासकी अन्यथानुपपत्तिसे उस अध्यासके प्रति उपादानभूत अज्ञान भी अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है। अध्यासकी अन्यथा उपपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि उस कारणको सत्य माननेसे कार्य भी सत्य हो जायगा। इसलिए मूलकारणकी अन्यथानुपपत्तिसे इस अज्ञानमें अनादित्व ही सिद्ध होता है। उसको सादि माननेपर उपादानपरम्पराकी अपेक्षासे मूलकारण भी सिद्ध न हो सकेगा। इस प्रकार आत्माका आश्रय करके आत्माको विषय करनेवाला अनिर्वचनीय भावरूप अनादि अज्ञान ही अध्यासके प्रति उपादानकारण सिद्ध हुआ।

क्या यह पूर्वोक्त रीतिसे सिद्ध भावरूप अज्ञान जैसे आत्माको आवृत करता है, वैसे ही अनात्माको आवृत करता है या नहीं? आवृत करता है, यह

उक्त विशेषणविशिष्ट प्रागभावको ग्रहणकर पूर्वोक्त सिद्धसाधन या अर्थान्तर न हो जाय, इससे स्वप्रागभावव्यतिरिक्त पद दिया गया है, यह भाव है।

णोति ? नाऽऽद्यः ; प्रमाणप्रयोजनयोरभावात् । तथा हि 'इदं नीलम् अज्ञानेनावृतम्' इति प्रमाणेन ग्रहीतव्यम्, तच्च नीलप्रतीत्यप्रतीत्योर्न संभाव्यते । अथ मन्यसे नीलावगतिकाल एवाऽज्ञानावरणासंभवेऽपि नीलावगतेः पूर्वकालीनमावरणं गम्यत एवेति, तन्न; गमकानिरूपणात् । किमिदानीमवगतत्वं गमकं किं वा इदानीमेवेत्यवधारणम्, किं वा तदेवेदं नीलमिति प्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्तिः ? आहोस्विदभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोर्मध्ये ज्ञानस्मृत्यभावान्यथानुपपत्तिः ? नाऽऽद्यः, धारावाहिकज्ञानेषु पूर्वमवगतस्यैव पश्चा-

---

पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि वह अज्ञान अनात्माको आवृत करता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है और प्रयोजन भी नहीं है। यदि अज्ञान अनात्माको आवृत करेगा, तो 'यह नील अज्ञानसे आवृत है' इस प्रकारके किसी प्रमाणसे ही अनात्माके आवरणका ग्रहण करना होगा। परन्तु इस प्रकारके प्रमाणका नीलकी प्रतीति या अप्रतीति कालमें सम्भव नहीं है। [तात्पर्य यह कि जिस प्रमाणसे आपको नीलका अज्ञानसे आवृत होना प्रतीत हुआ है, उस प्रमाणसे यदि नीलकी प्रतीति हो तो व्याघात होगा अर्थात् नीलकी प्रतीति होनेपर फिर वह कैसे आवृत होगा ? यदि नीलकी प्रतीति नहीं होती यह माना जाय, तो नीलके ऊपर अज्ञानकृत आवरणने कुछ अतिशय उत्पन्न किया, यह कैसे ज्ञात होगा और इसमें उक्त प्रमाणका प्रामाण्य भी कैसे होगा] अब शङ्का करनेवाला कहता है कि यद्यपि नीलके ज्ञानकालमें ही अज्ञान द्वारा होनेवाले आवरणका सम्भव नहीं है, तथापि नीलज्ञान होनेके पूर्वकालमें आवरणकी प्रतीति होती ही है, यदि इसे नहीं माना जाय तो नीलज्ञानके पूर्वकालमें भी नीलकी प्रतीति होनी चाहिए। समाधान करते हैं कि नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस अवगतिके पूर्वकालिक आवरणका गमक (सिद्ध करनेवाला हेतु) कोई नहीं बन सकता, क्योंकि उक्त विषयमें प्रश्न हो सकता है कि क्या इस समयमें वस्तुका अवगम गमक है ? या इसी समयमें वस्तुका अवगम, इस प्रकार अवधारणगर्भित अवगम गमक है ? 'अथवा तदेवेदं नीलम्' (यह वही नील है) इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञाकी अन्यथा अनुपपत्ति गमक है ? आहोस्वित् अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञाके मध्यमें ज्ञानजन्य स्मृतिके अभावकी अन्यथा अनुपपत्ति गमक है ? इन चारों विकल्पोंमें से कोई भी गमक नहीं हो सकता, क्योंकि 'अभी अवगत होना सूचित करता है कि अब तक अनवगत अर्थात् आवृत था' इस आशयसे किया गया

दप्यवगमेन पूर्वकालीनावरणं विनैवेदानीमवगतत्वसंभवात्। न द्वितीयः, अन्योन्याश्रयत्वात्—पूर्वावरणसिद्धाविदानीमेवेत्यवधारणसिद्धिस्तत्सिद्धावितरसिद्धिरिति। न तृतीयः, अभिज्ञाय कंचित्कालं विस्मृतस्यैव प्रत्यभिज्ञेति नियमाभावात्। सर्वदा स्फुरत्यप्यात्मनि सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानदर्शनात्। न चतुर्थः, अभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोर्मध्येऽप्यावरणविरहितत्वेनोत्पन्नानामेव ज्ञानानां स्मृत्यभाव इत्यपि सुवचत्वात्। नहि यद्यदनुभूतं तत्तत् स्मर्यत

प्रथम विकल्प उचित नहीं है, क्योंकि धारावाहिक ज्ञानोंमें पूर्वमें अवगतका ही पीछे भी अवगम होता है। उस पश्चाद्भावी अवगमका विषय ही अब अवगत हुआ है, ऐसा व्यवहार होता है, और पीछे होनेवाले अवगमके पूर्वकालमें अनवगम न रहनेसे उसका आवरण भी नहीं है। अतः प्रथम विकल्पमें व्यभिचार आया। उत्तरकालवैशिष्ट्य तो पूर्वकालमें अज्ञात ही है, इस प्रकार व्यभिचारका वारण करना उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वकालमें हुई अवगतिका विषयभूत अर्थ ही 'अवगम कर रहा हूँ' इस उत्तरकालविशिष्ट अवगतिका विषय है, इससे विशेषणभूत अर्थके होनेसे व्यभिचार बना ही है। यदि इस कालसे पूर्वकालमें आवरण नहीं रहा, तो 'अभी जाना' ऐसा अवधारण क्यों ? इस आशयवाला द्वितीय विकल्प भी गमक नहीं हो सकता, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष होगा—पूर्वकालमें आवरणके सिद्ध होनेपर अभी ही जाना गया, ऐसा अवधारण सिद्ध होगा और इस अवधारणके बलसे पूर्वकालमें अनवगतिका प्रयोजक आवरण सिद्ध होगा। पूर्वापरकालसम्बन्धको विषय करनेवाली प्रत्यभिज्ञा मध्यमें आवरणकी फलभूत अनवगतिके बिना नहीं हो सकती। तृतीय विकल्प भी युक्तिसह नहीं है, क्योंकि किसी वस्तुके पूर्व अनुभवके बाद कुछ कालके अनन्तर उसको भूल जानेसे ही प्रत्यभिज्ञा होती हैं, यह कोई नियम नहीं हैं, कारण कि आत्माका सर्वदा नित्यस्फुरण होनेपर भी 'सोऽहम्' (वही मैं हूँ) ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। पूर्वोक्त चतुर्थ विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञाके मध्यमें आवरणके न होनेपर उत्पन्न हुए ज्ञानोंका ही स्मरण नहीं होता, ऐसा कह सकते हैं [एतावता स्मरण नहीं होता, ऐसी बात नहीं है] क्योंकि अनुभवसे जो जो ज्ञात होते

एवेति नियमोऽस्ति। न च वाच्यं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इति विषयसंबन्ध्यज्ञानमनुभूयते सम्बन्धश्चाज्ञानस्याऽऽवरणत्वेनात्मनि दृष्टस्तत्कथमपलप्यत इति। साक्षिचैतन्येन स्वस्मिन्नध्यस्तानामज्ञानविषयतत्सम्बन्धानामनुभवाङ्गीकारात्। सम्बन्धश्चाज्ञानविषययोः कार्यकारणभावलक्षणो नावरकाव्रियमाणत्वलक्षणः, अध्यस्तस्याऽऽवरणायोगात्। प्रतीतिकाले तावदावरणं व्याहतम्। अप्रतीतिकाले तु स्वयमेव नास्ति, द्विचन्द्रादिवदध्यस्तस्य प्रतीतिमात्रशरीरत्वात्। यद्यध्यस्तमप्याव्रियेत तदा तत्प्रतिभासः कदाचिदपि न स्यात्; अध्यस्तस्य मानाऽगोचरत्वेन तदावरणानिवृत्तेः। प्रमाणगम्यं हि वस्तु

हैं उन सबका स्मरण होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। कारण कि मार्गमें उदासीनभावसे अनुभूत तृणादिका स्मरण नहीं होता है, यह सर्वानुमत है।

'मैं आपके कहे हुए अर्थको नहीं जानता हूँ' * इस प्रतीतिमें विषयके सम्बन्धी अज्ञानका अनुभव है, और अज्ञानका आवरणत्वरूप सम्बन्ध भी आत्मामें देखा गया है। इस दशामें उसका अपलाप (न मानना) कैसे सम्भव है? समाधान करनेवालेका कहना है कि उक्त प्रतीतिमें अर्थात् 'तुम्हारे कहे हुए अर्थको मैं नहीं जानता' इस प्रतीतिमें साक्षीमें अध्यस्त अज्ञान, उसका विषय तथा अज्ञान विषयके सम्बन्ध आदिका ही साक्षी चैतन्यके द्वारा अनुभव अङ्गीकार किया गया है। अज्ञान और विषयका परस्पर सम्बन्ध कार्यकारणभावरूप है, आवरणाव्रियमाणत्वरूप नहीं है, क्योंकि स्वयं विषय ही आत्मामें अध्यस्त है और अध्यस्त पदार्थमें आवरणका सम्बन्ध नहीं हो सकता। विषयकी प्रतीतिके कालमें उसका आवरण है, यह कहना तो विरुद्ध ही है। और जिस कालमें उस अध्यस्तकी प्रतीति नहीं है, उस कालमें तो वही स्वयं नहीं है, क्योंकि अध्यस्त तो द्विचन्द्रादिके तुल्य प्रतीतिमात्रशरीर होता है, इससे विषयकी अप्रतीतिके कालमें तो आवरणका सम्भव ही नहीं हो सकता। यदि अध्यस्तका भी आवरण मान लिया जाय, तो उसकी प्रतीति कभी हो ही नहीं सकती। क्योंकि अध्यस्त द्विचन्द्रादि पदार्थोंमें प्रमाणकी विषयताके न होनेसे उसके आवरणकी कभी भी

---

* युक्तियोंसे विषयमें आवरण की सिद्धि नहीं हो सकती, तो न सही, परन्तु 'मैं अमुक वस्तुको नहीं जानता' इस प्रतितिसे विषयका आवरण प्रतीत होता ही है और प्रतीयमानका अपलाप भी नहीं कर सकते, इसलिए विषयमें आवरण मानना चाहिए, इस आशयसे शङ्का करते हैं।

परमार्थत्वादप्रतीयमानमपि तिष्ठति तत्कथंचिदाव्रियेतापि, अध्यस्तं तु माननिवर्त्त्यं तत्कथं नामाऽऽव्रियेत। तस्मात् नाऽस्त्येवानात्मावरणे प्रमाणम्।

तथा प्रयोजनं च दुःसंपादम्, सर्वत्र ह्यावरणस्य प्रसक्तप्रकाशप्रतिबन्धः प्रयोजनम्। तदत्र किमनात्मनि स्वतःप्रकाशः प्रसक्तः? किं वा प्रमाणबलात्? चैतन्यबलात्? नाद्यः, जड़त्वात्। न द्वितीयः, माननिवर्त्यस्यावरणस्य तत्प्रतिबन्धकत्वायोगात्। न तृतीयः, चैतन्यावरणादेव तत्सिद्धावनात्मनि पृथगावरणकल्पनावैयर्थ्यात्। नहि सूर्ये मेरुव्यवहिते सति रात्रावारणप्रतिबन्धाय छत्रादिकमपेक्ष्यते। अथाऽभ्रच्छन्नेऽपि सवितर्यौष्ण्याख्यसूक्ष्मातपप्रतिबन्धाय छत्राद्यपेक्षावदत्राऽप्यज्ञानावृतचैतन्यकृतप्रकाशलेशमपि वारयितुं पृथगावरणमित्युच्येत; तदसत्; किमेकमेव अज्ञानमात्माश्रय-

---

निवृत्ति ही नहीं होगी। प्रमाणगम्य वस्तुके पारमार्थिक होनेसे वह अप्रतीयमान भी कदाचित् हो सकता है, अतः उसको आवृत मानना भी ठीक है, और अध्यस्त, तो प्रमाणसे निवृत्त होता है, अतः उसमें आवृतत्व कैसे रह सकता है, इसलिए विषयके आवरणमें कोई भी प्रमाण नहीं है।

इसी प्रकार विषयका आवरण माननेमें कोई प्रयोजन भी नहीं है, क्योंकि आवरणका सर्वत्र यही प्रयोजन होता है कि विद्यमान प्रकाशका प्रतिबन्ध हो। इस परिस्थितिमें क्या अनात्मामें प्रकाशकी प्रसक्ति स्वयं है? या प्रमाणके बलसे? अथवा चैतन्य द्वारा? प्रथम पक्ष अर्थात् अनात्मामें स्वयं तो प्रकाश हो नहीं सकता, क्योंकि अनात्मा जड़ पदार्थ है। द्वितीय विकल्प भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाणसे निवृत्त होनेवाला आवरण प्रमाणसे प्रसक्त प्रकाशका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि चैतन्यके ही आवरणसे अनात्माका भी आवरण सिद्ध हो जायगा, अतः अतिरिक्त अनात्माका आवरण मानना निष्प्रयोजन है, क्योंकि सूर्यके मेरु द्वारा व्यवहित होनेपर रात्रिमें सूर्यतापके निवारण करनेके लिए कोई छाताका उपयोग नहीं करता है। यदि शङ्का हो कि सूर्यके मेघ द्वारा आच्छन्न होनेपर भी साधारण उष्णरूप गर्मीका प्रतिबन्ध करनेके लिए जैसे आवरणकी अपेक्षा की जाती है, वैसे ही प्रकृतमें भी अज्ञान द्वारा आवृत चैतन्यके साधारण प्रकाशका निरास करनेके लिए पृथक् आवरण मानना चाहिए,

मनात्मावरणं चेत्यङ्गीक्रियते, किं वा प्रतिविषयमज्ञानभेदः कल्प्यते ? नाऽऽद्यः; आवरणविनाशमन्तरेण विषयावभासायोगात्। एकपदार्थज्ञानेनैवाऽज्ञाननिवृत्तौ सद्यो मुक्तिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, कल्पकाभावात्; अज्ञानावृतचैतन्यकृतप्रकाशलेशस्येष्टत्वात्। अन्यथेदमज्ञातमिति व्यवहारो न सिध्येत्। अतः प्रमाणप्रयोजनशून्यत्वादावरणपक्षो दुर्भणः। नाऽपि द्वितीयः, आवरणाभावे सत्यनात्मनः सर्वदा प्रतीतिप्रसङ्गादिति।

अत्रोच्यते--आद्योऽनङ्गीकृत एव। द्वितीये तु कथं सर्वदा प्रतीतिः ? किं

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ विकल्प होता है कि क्या एक ही अज्ञान आत्माका आश्रयण करके विषयको आवृत करता है, ऐसा मानते हो ? या प्रतिविषय अज्ञानका भेद मानते हो ? इनमें प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि आवरणके विनाश के बिना विषयका प्रकाश नहीं हो सकता। [यदि कहो कि विषयका प्रकाश होनेसे ही आवरण करनेवाले अज्ञानका भी नाश हो जाता है, तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि] एक ही घटज्ञानसे अज्ञानके निवृत्त होनेपर तत्क्षण ही मुक्तिका प्रसङ्ग हो जायगा, परन्तु यह देखा नहीं जाता। अब रहा दूसरा पक्ष अर्थात् प्रतिविषय अज्ञानका भेद मानना, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अज्ञानके भेदका कल्पक कोई प्रमाण ही नहीं है [तात्पर्य यह है कि आप यदि कहें कि अज्ञान प्रतिविषय भिन्न-भिन्न है, अतः जिस विषयका अज्ञान नष्ट होगा, उसी विषयका प्रत्यक्ष होगा, अन्यका नहीं, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार अनेक अज्ञान और उसके प्रागभाव और ध्वंस माननेमें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए परिशेषात् एक ही अज्ञान मानना युक्तियुक्त है]। कारण कि अज्ञानसे आवृत चैतन्यकृत प्रकाश ही हमें इष्ट है। यदि ऐसी बात न होती, तो 'यह अज्ञात है' यह व्यवहार ही सिद्ध न होता। अतः प्रमाण और प्रयोजनके न होनेसे अज्ञानका आवरणपक्ष मानना युक्तियुक्त नहीं है। द्वितीय पक्ष अर्थात् अज्ञान अनात्माको आवृत नहीं करता है यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि आवरणके अभावमें सर्वदा ही अनात्माकी प्रतीति होगी।

इस प्रश्नपर कहा जाता है—पहले पक्षका (अनात्माके आवरणपक्षका) तो प्रदर्शित रीतिसे अनङ्गीकार ही किया गया है। अब रहा द्वितीय पक्ष अर्थात् आवरणाभावपक्ष; उसमें आप दोष देते हैं कि आवरणके न होनेपर विषयकी सर्वदा प्रतीति होगी, ठीक है, परन्तु यहांपर यह प्रश्न उपस्थित होता

ज्ञाततया उताऽज्ञाततया अथवा कदाचिद् ज्ञाततया अन्यदा वा अज्ञाततया ? नाऽऽद्यः, ज्ञाततापादकप्रमाणप्रवृत्तेः कादाचित्कत्वात् । न द्वितीयः, अज्ञाततायाः कञ्चित् कालं ज्ञाततया निवृत्तेः । न तृतीयः, इष्टत्वात् । उक्तं हि—'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव' इति ।

नन्वज्ञातत्वं नामाऽज्ञानविषयत्वम् । विषयत्वं च विषयिकृतातिशयाधारत्वम् । न चाऽज्ञानकृतमावरणमनात्मन्यङ्गीक्रियते तत्कथं तस्याऽज्ञातत्वमिति ? उच्यते—शुक्तीदमंशावच्छिन्नचैतन्यगतमज्ञानं रजताध्यासमुत्पाद्य तदवभासाख्यमतिशयं शुक्तौ करोतीति शुक्तेरज्ञातत्वसिद्धिः । एवं सर्वत्राऽनात्मन्यावरणा-

---

है कि अनात्माकी सर्वदा प्रतीति किस रूपसे होगी ? क्या ज्ञातत्वरूपसे पदार्थकी हमेशा प्रतीति होगी ? अथवा अज्ञातत्वरूपसे होगी ? या कभी ज्ञातत्वरूपसे और कभी अज्ञातत्वरूपसे प्रतीति होगी ? इनमें प्रथम पक्ष—सर्वदा विषय ज्ञातत्वरूपसे ज्ञात रहता है यह पक्ष—तो युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञातताको उत्पन्न करनेवाली प्रमाणकी प्रवृत्ति—अन्तःकरणका परिणाम—तो कभी-कभी होनेवाली है । द्वितीय पक्ष—अज्ञाततारूपसे सर्वदा ज्ञानका रहना—भी नहीं बन सकता, क्योंकि अज्ञातताकी भी कुछ कालतक ज्ञाततासे निवृत्ति हो जाती है । अब परिशेषात् तृतीय पक्ष रहा, परन्तु वह इष्ट ही है, क्योंकि विषयका कदाचित् ज्ञात होना और कदाचित् अज्ञात होना अनुभवसिद्ध होनेसे इष्ट ही है । इसमें विवरणकी भी सम्मति है—सब वस्तुएँ ज्ञातता और अज्ञाततारूपसे साक्षिचैतन्यकी विषय हैं । [तात्पर्य यह है कि ज्ञातत्वरूपसे विषय प्रमाणव्यवधानकी अपेक्षा रखकर साक्षीसे सम्बद्ध रहता है और अज्ञातत्वरूपसे वह अज्ञानका विशेषण होकर साक्षीसे सम्बद्ध रहता है] ।

यहाँ शङ्का होती है कि अज्ञातत्वका अर्थ अज्ञानविषयत्व ही हो सकता है और विषयत्व विषयी (ज्ञान) से उत्पन्न अतिशय (विशेषता) का अधिकरण कहलाता है । इस अवस्थामें जब आप अज्ञानकृत आवरणविशेषका अनात्मामें स्वीकार नहीं करते, तब आपके मतमें अनात्मामें—जड़विषयमें—अज्ञातत्व (अज्ञानकृत आवरणरूप अतिशयका आधारत्व) कैसे होगा ? उत्तर देते हैं कि शुक्तिरूप इदमंशसे अवच्छिन्न चैतन्यमें [वस्तुगत्या शुक्ति कहा गया है प्रतीतिसे इदमंश है, ऐसा समझना चाहिए] स्थित जो अज्ञान है वही उसमें (शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें) रजताध्यास (रजतविशेष)का उत्पादन करके उस रूपान्तर रजतके अवभासस्वरूप अतिशयको शुक्तिमें उत्पन्न करता है, इसीसे शुक्तिमें अज्ञातत्वकी

नङ्गीकारेऽप्यज्ञातत्वं वेदितव्यम्। ननु रजताख्यो विक्षेपो न तावच्छुक्तौ ज्ञातायामवभासते, तस्य शुक्तिज्ञाननिवर्त्त्यत्वात्। अज्ञातायां तु शुक्तौ कथं तदतिशयो विक्षेप इत्यवगम्येत ? मैवम्, शुक्त्याकारो न ज्ञातः इदमाकारश्च ज्ञात इति दोषद्वयनिवृत्तेः।

नन्वात्माश्रयमज्ञानमेकमेव तच्च विक्षेपमात्रं करोति नावरणमित्यस्मिन् पक्षेऽपि किं मुसलेन घट इव शुक्तिज्ञानेन विक्षेप एवोपादाने प्रविलाप्यते उतोपादानमपि निवर्त्त्यते। आद्ये तथैव ब्रह्मज्ञानेनाऽपि विक्षेपमात्रप्रविलये सति अनिर्मोक्षापत्तिः। द्वितीये शुक्तिज्ञानेनैवाज्ञाननिवृत्तौ सद्यो मुक्तिप्रसङ्गः। सद्यो मुक्तिपरिजिहीर्षया प्रतिविषयमज्ञानभेदे वाऽध्यासस्याऽ-

---

सिद्धि होती है। इसी प्रकार सर्वत्र अज्ञानविषय अनात्मामें—अज्ञानकृत आवरणके न माननेपर भी—अज्ञातत्व समझना चाहिए। यदि शङ्का हो कि रजतस्वरूप विक्षेपका ज्ञात शुक्तिमें अवभास ही नहीं हो सकता; क्योंकि रजतादिविशेष शुक्तिज्ञानसे निवृत्त हो जाते हैं। यदि शुक्तिका ज्ञान ही नहीं है, तो उसमें अज्ञानकृत अतिशयका भान कैसे हो सकता है? यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तित्वरूपसे शुक्तिका आकार (स्वरूप) ज्ञात नहीं है, परन्तु इदन्त्वाकारसे (पुरोवर्तितत्वाकारसे) तो वह ज्ञात है, इस प्रकार उक्त दोनों दोष नहीं रह सकते।

आत्माका आश्रयण करनेवाला अज्ञान एक ही है और वह जड़ (अनात्मा) विषयमें केवल विक्षेप—रूपान्तर—उत्पन्न करता है, आवरणको उत्पन्न नहीं करता है; इस आपके सम्मत पक्षमें हम भी प्रश्न कर सकते हैं कि जैसे मुसलाघात घटको उसके उपादानकारण मिट्टीमें मिला देता है, वैसे ही क्या शुक्तिज्ञान विक्षेपका ही (रजतादि रूपान्तरका ही) उसके उपादान अज्ञानमें विलापन करता है? या उपादानकी भी निवृत्ति करता है? इन दो विकल्पोंमें कौन अभीष्ट है? प्रथम विकल्प तो कह नहीं सकते, क्योंकि जैसे शुक्त्यादिके ज्ञानसे विक्षेपमात्रके विलीन होनेपर भी उपादान अज्ञान बना ही रहता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानसे भी विक्षेप (प्रपञ्च) का विलयनमात्र होगा, उपादान अज्ञान तो बना ही रहेगा, इससे मुक्ति कभी हो ही नहीं सकेगी। दूसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि एक शुक्तिके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होते ही मुक्ति मिल जानी चाहिए। यदि सद्योमुक्तिका प्रसङ्ग न आने पावे, इस इच्छासे प्रतिविषय

ज्ञानानुपादानकत्वे चाऽङ्गीक्रियमाणे कल्पनागौरवाध्याससत्यत्वे प्रसज्येयातामिति, मैवम्; न तावत् प्रथमपक्षे दोषोऽस्ति। विमतं ब्रह्मज्ञानम्, विक्षेपोपादाननिवर्तकम्, तद्विरोधित्वे सति पश्चाद्भावित्वाद्; यथा शुक्तिज्ञानं स्वप्रागभावरजताध्यासयोर्निवर्तकमित्यनुमानात् । द्वितीयपक्षेऽपि नास्त्युक्तदोषः, मूलाज्ञानस्यैवाऽवस्थाभेदा रजताद्युपादानानि शुक्त्यादिज्ञानैर्निवर्त्त्यन्ते इत्यङ्गी-

---

अज्ञानभेद माना जाय, अथवा अध्यासका उपादान कारण अज्ञान न माना जाय, तो प्रथम पक्षमें पूर्व व्याख्यानरीतिसे कल्पनागौरव और द्वितीय पक्षमें अध्यासकी सत्यता आ जायगी। सिद्धान्ती कहता है कि उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम पक्षमें (एक ही अज्ञान आत्माका आश्रयण कर विषयमें विक्षेपमात्र उत्पन्न करता है आवरण नहीं करता है, इस पक्षमें) कोई दोष नहीं है। कारण कि हम अनुमान करेंगे कि ब्रह्मज्ञानसे उपादान—अज्ञान भी नष्ट हो जाता है। अनुमान प्रयोग यों है—विमत (विवादग्रस्त) ब्रह्मज्ञान (पक्ष) विक्षेप और उपादान—अज्ञान—दोनोंका निवर्तक है, उनका विरोधी होकर उनके पश्चाद्भावी होनेसे (हेतु), जैसे शुक्तिज्ञान स्वप्रागभाव और रजताध्यास दोनोंका निवर्तक है (उदाहरण)।

[इस अनुमानका आशय यह है कि परस्पर विरुद्ध दो पदार्थ एक कालमें एक आश्रयमें नहीं रह सकते। उदाहरणमें लीजिए—शुक्तिज्ञानके साथ उसके प्रागभावका तथा रजतादि रूपान्तरके अवभासका विरोध है, इसलिए शुक्तिज्ञान दोनोंको ही दूर करेगा। ब्रह्मज्ञान तो विक्षेप और मूल अज्ञान दोनोंका विरोधी है, क्योंकि मूल अज्ञानका अधिकरण भी आत्मा ही है और उसके विरोधी ब्रह्मज्ञानका अधिकरण भी आत्मा ही है, इसलिए ब्रह्मज्ञान स्वविरोधी मूलाज्ञानको भी अपने अधिकरणमें नहीं रहने देगा, इससे प्रतिपक्षीका यह कथन—शुक्त्यादिके ज्ञानसे अज्ञानसहित अध्यासकी निवृत्ति नहीं देखी जाती, अतः ब्रह्मज्ञानसे भी अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि इसमें कोई दृष्टान्त नहीं मिलता—खण्डित हो गया, क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका लोकमें विरोध स्पष्ट ही है। आगम भी कहते हैं—"तरति शोकमात्मवित्" इत्यादि। इस रीतिसे शुक्तिज्ञानकी भाँति ब्रह्मज्ञान केवल विक्षेपमात्रका निवर्तक नहीं है, किन्तु मूल अज्ञानका भी निवर्तक है; अतः ब्रह्मज्ञान होनेपर मुक्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है।] द्वितीय पक्षमें भी उक्त दोष नहीं

कारात्। तदेवं जड़ेष्वावरणानङ्गीकारे न कोऽपि दोषः। यत्तु भावरूपाज्ञान-साधकानुमाने स्वविषयावरणेत्युक्तम्, तत्तथैवात्मविषये। शुक्त्यादिजड़विषये तु रजताद्युपादानानामज्ञानावस्थाविशेषाणां चैतन्यव्यवधायकत्वेन फलत आवरणत्वं न तु साक्षादित्यविरोधः।

नन्वात्मन्यप्यावरणं नाम किं प्रकाशनाशः किं वा प्रकाशस्य विषयप्राकट्याख्यकार्योत्पादने प्रतिबन्ध उत तत्रैव सहकार्यन्तरप्रतीक्षा? नाऽऽद्यः, प्रकाशस्य नित्यात्मचैतन्यरूपत्वात्। नाऽपि द्वितीयतृतीयौ, अन्तःकरणवृत्तिव्यक्त-

---

आता, क्योंकि शुक्तिज्ञानसे मूल अज्ञानके अवस्थामात्र—रजत आदिके उपादान कारण—नष्ट होते हैं, ऐसा अङ्गीकार है। [आशय यह हुआ कि शुक्तिके ज्ञानसे मूल अज्ञानकी एक अवस्थाका नाश होनेसे मूल अज्ञानकी अन्य अवस्थाएँ जब शेष ही रहती हैं, तब शुक्तिज्ञानसे सद्यः मुक्तिका प्रसङ्ग कैसे होगा? ब्रह्मज्ञानसे तो मूल अज्ञानका नाश होता है अतः उनकी अनन्त कल्पनाएँ और अध्यास-सत्यता आदि दोष नाममात्रको भी नहीं रह जाते] इससे जड़ विषयोंमें आवरणका अङ्गीकार न करनेमें कोई भी दोष नहीं है। अविद्याकी भावरूपताके साधक अनुमानमें स्वविषयावरणपदमें स्थित विषयपदसे पूर्वोक्त रीतिके अनुसार आत्मरूप ही विषय लेना चाहिए। शुक्ति आदि जड़ विषयोंमें तो रजत आदिके उपादानभूत अज्ञानके अवस्थाविशेषोंके चैतन्यका व्यवधायक होनेसे फलतः आवरण सिद्ध होता है, साक्षात् सिद्ध नहीं होता, अतः कोई विरोध नहीं है। [आशय यह है कि घटको आवृत कर देनेपर भी प्रकाशका घटके साथ व्यवधान होगा और प्रकाशके—दीपादिके—ढक देनेपर भी परस्पर दोनोंका व्यवधान हो जायगा। जड़—घटादि—विषयमें प्रदर्शित युक्तियोंसे आवरण बन नहीं सकता, अतः चेतनके अज्ञान द्वारा आवृत कर दिये जानेपर विषय और चेतनका व्यवधान बन जाता है, और इस व्यवधानके द्वारा विषयमें अज्ञातता आ जाती है, अतः यह फलतः आवरण कहलाता है]।

शङ्का करते हैं कि आत्मामें भी आवरण क्या वस्तु है—क्या प्रकाशका नाश है? अथवा प्रकाशके विषयमें प्रकटतारूप कार्यका प्रतिबन्ध करना? अथवा उक्त कार्य करनेमें दूसरे किसी सहकारीकी प्रतीक्षा रखना? इन तीनोंमें से प्रथम कल्पका कहना तो उचित नहीं है, क्योंकि प्रकाश नित्य आत्मचैतन्यरूप है, उसका नाश नहीं हो सकता। दूसरे और तीसरे पक्ष भी नहीं

चित्प्रकाशमन्तरेण विषये पृथक् प्राकट्यानङ्गीकारात् ; ततो दुर्निरूपमावरण-स्वरूपमिति चेत् , सत्यमेतत् ; अत एवाऽऽवरणस्याऽनिर्वाच्याविद्यारूपत्व-मङ्गीकर्त्तव्यम् , न तु दुर्निरूपत्वमात्रेण तदपलापो युक्तः ; अनुमानसिद्धत्वात् । तथा हि—अस्ति तावन्मूढानामेवं व्यवहारः—अशनायाद्यतीतं विवेकि-प्रसिद्धमात्मतत्त्वं 'नाऽस्ति, न प्रकाशते च' इति । सोऽयं व्यवहार आत्मनि भावरूपावरणनिमित्तो भवितुमर्हति, 'अस्ति, प्रकाशते' इत्यादिव्यवहार-

बन सकते; क्योंकि अन्तःकरणकी विषयाकार वृत्तिसे व्यक्त चिदाभाससे भिन्न विषयमें प्रकटता नामकी किसी दूसरी वस्तुका अङ्गीकार ही नहीं किया गया है । [तात्पर्य यह है कि विषयेन्द्रियसंयोग आदि सामग्रीके रहते अन्तःकरणका विषयाकार परिणाम अवश्य होगा । स्वच्छस्वभाव होनेसे उसमें चिदाभास भी पड़ेगा ही, इसमें अज्ञान कुछ नहीं कर सकता अर्थात् प्रमाणके सामने अज्ञान रहता ही नहीं ।] अतएव आत्मामें भी आवरणके स्वरूपका निरूपण करना नहीं बन सकता । इससे प्रत्यक्ष-सिद्ध अज्ञानकी भी सिद्धि नहीं हो सकती ।

उत्तर देते हैं—बहुत ही ठीक कहा, जब निरूपण नहीं हो सकता तभी तो हम आवरणको अनिर्वचनीय अविद्यारूप मानते हैं। निरूपण नहीं हो सकता, एतावता उसका अपलाप नहीं हो सकता है, क्योंकि आवरणकी तो अनुमानसे सिद्धि होती है । [जैसे कोई प्रश्न करे कि मिश्री कैसी होती है, उत्तर दिया जायगा—मधुर, पुनः प्रश्न होगा कि माधुर्यका निरूपण करो, तो उत्तर यही होगा उसका निरूपण नहीं हो सकता, क्या एतावता अनुभव-सिद्ध माधुर्यका अपलाप हो सकेगा ? वैसे अनुमानसिद्ध आवरणके स्वरूपका निर्वचन नहीं है, इसलिए अनुमानसिद्ध आवरणका अपलाप नहीं कर सकते, अनुमानप्रयोग दिखाते हैं]—यद्यपि 'मैं हूँ', 'मैं जाता हूँ', करता हूँ, सोता हूँ, इत्यादि पामरपर्यन्त प्रसिद्ध प्रतीतिसे आत्मा सबको प्रतीत है, तथापि शास्त्रीय विचार करनेवाले पुरुषोंमें भूख-प्याससे रहित कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य जो आत्मतत्त्व प्रसिद्ध है, उस आत्मतत्त्वके विषयमें अविवेकी जन 'नास्ति, न प्रकाशते' (न है और न प्रकाशित ही होता है) इस तरहसे व्यवहार करते हैं। यह अविवेकियोंका व्यवहार स्वयंप्रकाश आत्मामें भावरूप अज्ञानकृत, आवरणके ही द्वारा हो सकता है, 'अस्ति, प्रकाशते' (है, प्रकाशित होता है) इत्यादि व्यवहारके पर्याप्त कारण रहते हुए भी इसके विपरीत 'नास्ति, न प्रकाशते' (नहीं है, प्रकाशित नहीं होता है)

पुष्कलकारणे सति तद्विपरीतव्यवहारत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवम्; यथास्ति प्रकाशते घट इति व्यवहारः। न च कारणपौष्कल्यमसिद्धम्, नित्यसिद्धस्वप्रकाशचैतन्यातिरेकेणात्राऽन्यापेक्षाभावात्। न चान्यथासिद्धिः; इतोऽतिरिक्तावरणस्य मूर्त्तद्रव्यस्याऽऽत्मनि निरवयवे सर्वगते दुःसंपादत्वात्। एवं चाऽऽत्मन्युक्तव्यवहारयोग्यत्वम् आवरणस्य स्वरूपमिति निरूपितं भवति।

नन्वज्ञानमित्यत्र नञो यद्यभावोऽर्थः तदा ज्ञानाभाव इति स्याद्, विरोध्यर्थत्वे च भ्रान्तिज्ञानम्, अन्यार्थत्वे च भ्रान्तिसंस्कारः; तथा च ज्ञानाभावभ्रान्तिज्ञानतत्संस्कारा एवाऽज्ञानाभिधानास्त एव ब्रह्मतत्त्वावभासं

व्यवहार होनेसे, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा भी नहीं है, जैसे घट सत् है और प्रकाशित होता है। 'अस्ति, प्रकाशते' इस व्यवहारके लिए पुष्कल कारण-सामग्री नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि नित्यसिद्ध स्वयंप्रकाश चैतन्यसे भिन्न—अतिरिक्त—सामग्रीकी अपेक्षा ब्रह्मके 'अस्ति, प्रकाशते' व्यवहारके विषयमें नहीं है। यह आत्मा घट-पट आदिकी भाँति जड़ नहीं है, जो इन्द्रियसे संयोग और आलोकादि की अपेक्षा करे। 'नास्ति, न प्रकाशते' (नहीं है, प्रकाशित नहीं होता है) व्यवहारके आवरणसे दूसरे कारणसे सिद्ध न होनेपर वह अन्यथासिद्ध है, यह कहना उचित नहीं है। इस (हमारे सम्मत भावरूप आवरण) के सिवा निरवयव सर्वगत आत्मामें दूसरे मूर्तद्रव्यसे किया गया आवरण किसी प्रकार भी सम्पन्न नहीं हो सकता—इस प्रकार अनुमानसे सिद्ध भावरूप आवरणका अपलाप करना साहसमात्र होगा। यदि स्वरूपनिरूपणका दुराग्रह ही हो, तो सुनिये वह भी कहते हैं—परमात्मामें 'अस्ति, प्रकाशते' इस तरहकी व्यवहारयोग्यताके रहते भी उसका 'नास्ति, न प्रकाशते' इस विपरीत व्यवहारके योग्य हो जाना ही आवरणका स्वरूप है।

अब अज्ञानकृत भावरूप आवरणका प्रयोजन दिखलानेके लिए शङ्का करते हैं—'अज्ञान' पद 'न' और 'ज्ञान' दो पदोंके समाससे बना है। इसमें 'नञ्' का अर्थ यदि अभाव माना जाय, तो 'ज्ञानाभाव' ऐसा अर्थ होगा। यदि विरोधी अर्थ माना जाय, तो ज्ञानविरोधी—भ्रन्तिज्ञान—अर्थ होगा और भेद अर्थ माना जाय, तो ज्ञानका भेद—भ्रान्तिजनक संस्कार अज्ञानका अर्थ होगा। अब इस प्रकार ज्ञानाभाव, भ्रमज्ञान और उसका जनक संस्कार ये तीन अज्ञान पदके अर्थ

प्रतिबध्योक्तव्यवहारं जनयिष्यन्ति किमनेन भावरूपावरणकल्पनेनेति चेद्, मैवम्; सुषुप्तादौ ब्रह्मतत्त्वानवभासस्यानन्यथासिद्धत्वात्। तथा हि--किं तत्र ब्रह्मतत्त्वस्य स्वत एवाऽनवभासः किं वा पुरुषान्तरसंवेदनवद् द्रष्टु-जीवाद् ब्रह्मतत्त्वस्य भिन्नत्वेन उत प्रतिबन्धवशात्? नाऽऽद्यः, ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वात्। न द्वितीयः, तत्त्वमसीत्यैकत्वश्रुतेः। तृतीये किं भ्रान्ति-ज्ञानात् प्रतिबन्ध उत तत्संस्काराद् अथवा ज्ञानाभावाद् आहोस्वित् कर्म-वशात्? नाऽऽद्यः; सुषुप्त्यादौ मिथ्याज्ञानस्याऽपि लुप्तत्वात्। न द्वितीयः, रजतभ्रमसंस्कारस्य शुक्तितत्त्वावभासप्रतिबन्धकत्वादर्शनात्। तृतीये तु

होंगे। ये ही तीनों ब्रह्मतत्त्वके 'अस्ति, प्रकाशते' इस पूर्वोक्त अवभासको रोककर निर्दिष्ट 'नास्ति न प्रकाशते' व्यवहारको उत्पन्न कर देंगे, फिर ज्ञानकृत भावरूप आवरणकी कल्पना करनेमें क्या प्रयोजन है? उत्तर देते हैं—ऐसा नहीं है। यदि भावरूप आवरण न माना जाय, तो सुषुप्त पुरुषमें तादृश ब्रह्मतत्त्वका अनवभास कैसे उपपन्न होगा? [पञ्चपादिकामें मूल पाठ 'सुषुप्ति' मिलता है। अतः सुषुप्ति अवस्थामें अर्थ करना चाहिए। हमारे मतमें तो अज्ञान सुषुप्ति अवस्थामें अहङ्कारादि विक्षेपको संस्कारमात्रसे शेष रखकर स्थित रहता है, पुनः अदृष्टवश जागरादि अवस्थाओंमें विक्षेपका प्रादुर्भाव करता है, सुषुप्तिमें स्थित अज्ञान ही सुषुप्तिमें अशनायाद्यतीत ब्रह्मतत्त्वका अवभास रोकता है।] सुषुप्तिमें ब्रह्मतत्त्वानवभासकी अन्यथासिद्धिका अभाव दिखाते हैं—क्या सुषुप्तिमें ब्रह्मतत्त्वका स्वयं अवभास नहीं होता? अथवा जैसे दो पुरुषोंमें भेद होनेसे पुरुषान्तरका ज्ञान पुरुषान्तरको नहीं हो पाता वैसे ही द्रष्टृरूप जीव और ब्रह्मतत्त्वके भिन्न होनेसे अनवभास है क्या? या अन्य किसी दूसरे प्रतिबन्धके कारण अनवभास है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता, क्योंकि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है उसका स्वतः अनवभास कैसे होगा? दूसरा पक्ष—जीव और ब्रह्मका भेद कहना—भी नहीं बनता, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे एकत्व सिद्ध है। तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि उस तृतीय पक्षमें क्या भ्रान्तिज्ञानसे प्रतिबन्ध है अथवा उसके संस्कारसे या ज्ञानके अभावसे अथवा कर्मवश प्रतिबन्ध है? पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि सुषुप्ति आदिमें मिथ्याज्ञान—भ्रम—भी नहीं रहता है। दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि रजतभ्रमसंस्कार शुक्तितत्त्वके अव-

न तावत् स्वरूपज्ञानस्य नित्यस्याऽभावः संभवति। अन्यज्ञानाभावस्तु न स्वयंप्रकाशब्रह्मतत्त्वावभासप्रतिबन्धक्षमः । अन्यथा मुक्तावपि प्रतिबन्धप्रसङ्गात् । चतुर्थेऽपि किं कर्माणि चैतन्यमखिलमपि प्रतिबध्नन्ति उत स्वावभासकांशं विहाय । आद्ये साधकाभावात् कर्माणि नैव सिध्येयुः । न द्वितीयः, अप्रामाणिकार्द्धजरतीयत्वप्रसङ्गात् । न च भावरूपावरणेऽपि

भासका प्रतिबन्धक नहीं देखा जाता है। इससे प्रपञ्चभ्रमके संस्कारके रहनेपर भी ब्रह्मतत्त्वावभासका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है। तृतीय पक्षका भी सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है, अतः उसका अभाव नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञानाभावशब्दसे नित्यस्वरूप ज्ञानका अभाव तो कह नहीं सकते, अतः परिशेषात् अन्य ज्ञानका अभाव कहना होगा, परन्तु वह स्वयंप्रकाश ब्रह्मतत्त्वके अवभासका प्रतिबन्ध नहीं कर सकता है, अन्यथा सुषुप्ति आदिमें ही नहीं, बल्कि मुक्तिदशामें भी ब्रह्मतत्त्वावभासका प्रतिबन्ध हो जायगा। चतुर्थ पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि क्या कर्म सम्पूर्ण चैतन्यका प्रतिबन्ध कर देते हैं? या अपनेको (कर्मोंको) प्रकाशित करनेवाले अंशको छोड़कर शेष अंशका प्रतिबन्ध करते हैं? पहला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि सम्पूर्ण चैतन्यका प्रतिबन्ध हो जानेपर कोई भी अपना (कर्मोंका) साधक ही नहीं रह जायगा। इस दशामें कर्म ही सिद्ध न होंगे। कुछ अंशको प्रतिबद्ध करते हैं, ऐसा द्वितीय विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रामाणिक अर्द्धजरतीयत्व प्रसक्त होगा। [आशय यह है कि कर्मपदसे यागादि स्थूलरूप क्रियाकलाप लेना तो सुषुप्तिमें सम्भव नहीं है, इसलिए यागादिका सूक्ष्मरूप (अदृष्टादि) ही लेना होगा, वह निराश्रय नहीं रहेगा, किन्तु आत्माका आश्रयण करके ही रहेगा, तब स्व स्वाश्रयीभूतका प्रतिबन्ध कैसे कर सकेगा? और सुषुप्तिमें अदृष्ट भी तो संस्काररूपसे ही रहेगा। जैसे रजतादिका संस्कार अधिष्ठानतत्त्वावभासका प्रतिबन्धक नहीं होता, वैसे ही संस्काररूप कर्म भी प्रतिबन्धक नहीं हो सकते। इस आशयको आगे ग्रन्थकार अनुमान द्वारा सिद्ध करेंगे। यदि अंशतः प्रतिबन्ध 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से माना भी जाय, तो अर्द्धजरतीयता उपस्थित ही है। इसलिए भावरूप आवरण ही सुषुप्ति आदिमें ब्रह्मतत्त्वके अवभासका प्रतिबन्ध करता है। इस प्रतिबन्धकी सिद्धिके लिए भावरूप आवरण मानना सप्रयोजन है]।

तुल्यौ विकल्पदोषाविति वाच्यम् , स्वावभासकांशपरित्यागस्याऽर्द्धजरतीयस्याऽप्यहमज्ञ इत्यपरोक्षानुभवान्यथानुपपत्त्या कल्प्यत्वात् । न च तथा कर्माण्यपरोक्षाण्यनुभूयन्ते । यद्यपि तत्र परोक्षानुभव एव कल्पकः स्यात्, तथाऽपि कर्माणि न प्रतिबन्धकानि, संस्काररूपत्वाद्, रजतभ्रान्तिसंस्कारवत् ।

ननु 'ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत' इति स्मरणात् तमोगुण एव प्रतिबन्धकः स्यादिति चेद्, न; तस्य ब्रह्मज्ञानादनिवृत्तावनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ।

शङ्का—भावरूप आवरण माननेपर भी उक्त दोनों विकल्पोंका प्रसङ्ग है अर्थात् स्वाश्रयको सर्वांशसे आवृत करनेपर स्वयं सिद्ध नहीं हो सकेगा और अंशतः आवृत करनेसे वही अर्द्धजरतीयता बनी है ।

उत्तर—भावरूप अज्ञानपक्षमें यह दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि अपने साधक अंशका त्याग कर इतर अंशका प्रतिबन्ध करनेमें 'अहमज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) इस प्रत्यक्ष अनुभवकी अन्यथा अनुपपत्तिरूप प्रमाणसे अर्द्धजरतीयकी कल्पना ठीक ही है । [आशय यह है कि 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रत्यक्ष प्रतीतिमें अज्ञान और आश्रय दोनों प्रतीत होते हैं । अज्ञान यदि आश्रयका आवरण करता है, तो आश्रयके आवृत होनेसे जब स्वयं वह असिद्ध होगा, तब 'अहमज्ञः' यह प्रतीति कैसे बनेगी, परन्तु यह प्रतीति अवश्य होती है; अतः उसकी उपपत्तिके लिए मानना ही पड़ेगा कि स्वसाधक अंशका आवरण नहीं करता है । इस अवस्थामें उक्त प्रतीतिकी अन्यथा अनुपपत्तिसे उक्त अर्द्धजरतीयकी कल्पना ठीक ही है] । कर्मसे प्रतिबन्ध माननेवाला ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि कर्म उक्त प्रतीतिके विषयके समान प्रत्यक्ष नहीं है । यद्यपि कर्मोंका परोक्षानुभव भी तो अन्यथा अनुपपन्न है, अतः वही कल्पक हो जायगा, तथापि कर्म प्रतिबन्धक नहीं हो सकते, संस्काररूप होनेसे, रजतसंस्कारके समान, इस अनुमानसे संस्काररूप कर्म प्रतिबन्धक नहीं हो सकते हैं ।

प्रतिपक्षी पुनः शङ्का करता है कि 'ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत' (तम निद्रा, आलस्य आदि द्वारा ज्ञानको आवृत कर पुरुषको कर्तव्यके अकरणमें प्रेरित करता है) इस भगवद्गीताके वचनको प्रमाण मान कर सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें तम ही ब्रह्मतत्त्वावभासका प्रतिबन्धक होगा, अतिरिक्त आवरणकारक अज्ञान माननेकी क्या आवश्यकता है ? उत्तर देते हैं—ऐसा नहीं कहना

निवृत्तौ तु तस्यैव भावरूपावरणत्वान्नाममात्रे विवादः स्यात्। तस्माद्भेदाभेदवादिनाऽपि सुषुप्तौ ज्ञानाभाव एव ब्रह्मतत्त्वानवभासहेतुरित्यमुं दुराग्रहं परित्यज्य भावरूपाज्ञानमेवाऽङ्गीकर्त्तव्यम्।

यच्च तदीयं दुराग्रहान्तरं जाग्रत्स्वप्नयोरहं मनुष्य इति भ्रान्तिरेव ब्रह्मतत्त्वानवभासहेतुरिति, तदप्यसत्; तन्मते भ्रान्तेरस्या दुर्भणत्वात्। यथैव खण्डो गौर्मुण्डो गौरित्यत्रोभयसामानाधिकरण्येन गोत्वजातेरेकस्या एवोभाभ्यामपि व्यक्तिभ्यां सह भेदाभेदौ प्रमाणिकावेव स्वीक्रियेते तथै-

---

चाहिए, क्योंकि यदि ब्रह्मज्ञानसे उसकी निवृत्ति नहीं होती, तो मोक्ष ही सिद्ध नहीं होगा। और यदि उसकी निवृत्ति मानते हैं, तो भावरूप आवरण अज्ञान ही हुआ, केवल नाममात्रमें झगड़ना रहा। [आशय यह है कि तमको नित्य प्रतिबन्धक माननेसे ब्रह्मज्ञान होगा ही नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धकका नाश होनेपर ही प्रतिबध्यका उदय होता है। जब तक घटादिविषयप्रतिभासका प्रतिबन्धक अन्धकार होगा, तब तक प्रतिभास नहीं होगा। प्रकाशसे प्रतिबन्धक अन्धकारके दूर होनेपर ही घटका प्रतिभास होगा, अतः तमको अनिवर्त्य माननेसे अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा। यदि इस दोषके परिहारकी इच्छासे उसे ज्ञाननिवर्त्य मानते हो, तो लोकशास्त्रसिद्ध 'ज्ञानसे अज्ञानरूप आवरण ही निवृत्त होता है' इस नियमका त्याग कर नवीन नामकरणका प्रयास करना व्यर्थ है, अतः उक्त स्मृतिमें भी 'तमः' शब्द अज्ञानका पर्याय ही है, पदार्थान्तर नहीं है।] इस पूर्वोक्त शास्त्रार्थसे सिद्ध हुआ कि भेदाऽभेदवादी भास्करको भी 'सुषुप्तिमें ज्ञानाभाव ही ब्रह्मतत्त्वका अवभास न होनेमें कारण है' अपने इस दुराग्रहको छोड़कर भावरूप अज्ञान मानना ही पड़ेगा।

उस भेदाऽभेदवादी 'भास्कर' का जो यह दूसरा दुराग्रह है—जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओंमें 'अहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य हूँ) यह भ्रमप्रतीति ही ब्रह्मतत्त्वके अनवभासका कारण है यह बिलकुल तुच्छ है, क्योंकि उसके मतमें 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भ्रम है, ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे 'खण्डो गौः, मुण्डो गौः' (गाय खण्ड है, गाय मुण्ड है) इस प्रतीतिमें खण्ड और मुण्ड दोनोंका सामानाधिकरण्य देखने से एक ही गोत्व जातिका खण्ड और मुण्ड दोनों व्यक्तियोंके साथ प्रामाणिक ही भेद और अभेद माने जाते हैं, वैसे ही 'अहं मनुष्यः' 'अहं

चाऽहं मनुष्योऽहं ब्रह्मेति चैकस्य जीवस्य शरीरब्रह्मभ्यामुभाभ्यामपि सह भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव किं नाऽङ्गीक्रियेते ? तथा चाऽहं मनुष्य इति देहात्मनोरभेदप्रत्ययोऽपि प्रामाणिक एव स्यात्, न तु भ्रान्तिः।

'नाऽहं मनुष्यः, किन्तु ब्रह्म' इत्ययं शास्त्रीयनिषेधोऽपि 'नाऽयं खण्डो गौः, किन्तु मुण्डः' इतिवदुपपद्यते। अथोच्येत प्रतिपन्नेदन्तोपाधौ यथा 'नेदं रजतम्' इति निषेधः तथा प्रतिपन्नात्मोपाधौ 'नाऽहं मनुष्यः' इति मनुष्यत्वस्य निषेधात् मनुष्यत्वप्रतीतिरात्मनि भ्रान्तिरिति, तन्न; तथा सति खण्डो गौरिति खण्डाकारेण प्रतिपन्ने गोत्वोपाधौ पश्चान्नायं खण्ड इति निषेधात्

ब्रह्म' इस प्रतीतिसे एक जीवका मनुष्यपदवाच्य शरीर और ब्रह्म दोनोंके साथ भी भेद और अभेद प्रामाणिक ही क्यों न माने जायँ, अतः इस प्रतीतिको भेदाऽभेदवादी भ्रम नहीं कह सकता। 'अहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य हूँ) इस प्रकार देह और आत्माका अभेदज्ञान भी प्रामाणिक ही होगा, भ्रमात्मक नहीं।

जैसे 'नेदं रजतम्' इस निषेधसे 'इदं रजतम्' यह भ्रान्ति है, वैसे ही 'नाहं मनुष्यः' इस शास्त्रीय निषेधसे 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भी भ्रमात्मक ही सिद्ध होगी, यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'मैं मनुष्य नहीं हूँ, किन्तु ब्रह्म हूँ' यह शास्त्रीय निषेध भी जैसे 'यह गाय खण्ड नहीं है, किन्तु मुण्ड है' इस प्रतीतिकी उपपत्ति होती है, वैसे ही इसकी भी उपपत्ति हो जायगी। [सामान्यतः निषेध पूर्वप्रतीतिमें भ्रमत्वका साधक नहीं है, किन्तु स्वसमानाधिकरणनिषेध पूर्वप्रतीतिमें भ्रमत्वका साधक है; इस अभिप्रायसे शङ्का करते हैं]—जैसे इदम् पदार्थमें ही तो अभेदेन रजत प्रतीत होता है और उसी इदन्तारूप उपाधिमें उसका निषेध किया जाता है, इससे 'इदं रजतम्' यह पूर्वप्रतीति भ्रमात्मिका मानी जाती है, वैसे ही आत्मामें देहसामानाधिकरण्यकी प्रतीति है और शास्त्रसे उस आत्मारूप उपाधिमें ही मनुष्यत्वका निषेध किया जाता है, अतः इससे 'अहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य हूँ) यह आत्मामें मनुष्यत्वकी पूर्वप्रतीति भ्रमात्मिका है। उक्त व्याप्तिमें भी व्यभिचार देखकर उत्तर देते हैं—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'खण्डो गौः' इस प्रतीतिसे खण्डाकारसे प्रतिपन्न गोत्वरूप उपाधिमें पश्चात् 'नाऽयं खण्डो गौः' (यह खण्ड गौ नहीं है) इस निषेधसे पूर्वकालिक खण्डप्रतीति भ्रमात्मक ही मानी जायगी, पर मानी नहीं जाती; इससे उक्त व्याप्ति भी व्यभिचरित है।

खण्डप्रतीतेरपि भ्रान्तित्वप्रसङ्गात् । न च वाच्यं मुण्डे खण्डो निषिध्यते, न तु गोत्वोपाधाविति; मुण्डे खण्डस्याऽप्रसक्तत्वात् । ननु खण्डव्यक्त्यवच्छिन्नं गोत्वं प्रतिपन्नोपाधिः, न च तत्र खण्डो निषिध्यते, किन्तु मुण्डव्यक्त्यवच्छिन्ने गोत्व इति चेत् , तर्हि प्रकृतेऽपि मनुष्यत्वावच्छिन्न आत्मा प्रतिपन्नोपाधिः । न च तत्र मनुष्यत्वं निषिध्यते, किन्तु ब्रह्मत्वावच्छिन्न आत्मनि । एवं सत्यनुगतेन गोत्वेन खण्डमुण्डव्यक्ती इवाऽनुगतेनाऽऽत्मना शरीरब्रह्मणी संबद्धे, ततः खण्डो गौरिति प्रत्ययवदहं मनुष्य इति प्रत्ययस्य प्रामाणिकत्वं दुर्वारम् ।

अथ तत्र व्यवहारानुच्छेदात् प्रामाण्यं तव, तत्प्रकृतेऽपि समानम् । त्वन्मते

मुण्डमें खण्डका निषेध किया जाता है, किन्तु खण्डाकारसे प्रतिपन्न गोत्वरूप उपाधिमें खण्डका निषेध नहीं किया जाता; इससे व्यभिचार नहीं है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि मुण्डमें खण्डकी प्रसक्ति ही नहीं है, जिससे कि उसका उसमें निषेध किया जाय । 'खण्डो गौः' इसमें खण्डव्यक्त्यवच्छिन्न गोत्व प्रतिपन्न उपाधि (खण्डत्वाकारका समान अधिकरण) है, उसमें खण्डका निषेध नहीं करते हैं, किन्तु मुण्डव्यक्त्यवच्छिन्न गोत्वमें निषेध करते हैं, इससे भ्रम नहीं है; ऐसा यदि कहो तो हम भी कह सकते हैं कि 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीतिमें भी मनुष्यत्वावच्छिन्न आत्मा प्रतिपन्न उपाधि है, क्योंकि उसमें मनुष्यत्वका निषेध नहीं है, किन्तु ब्रह्मत्वाच्छिन्न आत्मामें निषेध है; इससे दोनों प्रतीतियाँ समान हैं । एकमें भ्रमत्व और दूसरीमें प्रमात्व कैसे उपपन्न होगा ? ऐसी दशामें इस प्रकार दोनोंमें अनुगत गोत्वके साथ खण्ड-मुण्ड व्यक्तिके तुल्य अनुगत आत्माके साथ शरीर और ब्रह्म ये दोनों सम्बद्ध हैं, इससे 'खण्डो गौः' इस प्रतीतिके समान 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीतिका भी प्रमात्मक होना दुर्वार होगा ।

'खण्डो गौः' इस प्रतीतिमें व्यवहारानुच्छेद है अर्थात् 'नायं खण्डो गौः' इस निषेधके अनन्तर भी गोमें खण्डव्यवहार देखा जाता है और 'अहं मनुष्यः' इस व्यवहारका ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर 'नाहं मनुष्यः' इस निषेधके अनन्तर आत्मामें बाध देखा जाता है; अतः 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीतिको भ्रम कहते हैं, इस प्रकार व्यवहारका अनुच्छेद तो 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीतिमें भी समान है, [क्योंकि ब्रह्मज्ञान होनेपर भी जीवन्मुक्त अवस्थामें प्रारब्धवश 'अहं मनुष्यः' इस प्रकार आत्मामें मनुष्यत्वका व्यवहार देखा ही जाता है] । तुम्हारे मतमें मोक्षदशामें

मोक्षावस्थायामपि सर्वोपादानकारणभूतेन ब्रह्मणा सर्वज्ञेनाऽभिन्नस्य जीवस्य सर्वात्मतया सर्वशरीरेन्द्रियाद्यभिमानव्यवहारानुच्छेदात् ।

जातिव्यक्तिकार्यकारणगुणगुणिविशेषणविशेष्याऽवयवावयविसम्बन्धानां भेदाभेदप्रयोजकानां पञ्चानामप्यभावाद्देहात्मनोरभेदो भ्रान्तिरिति चेद्; नैवम्; पञ्चानामपि संभूय प्रयोजकत्वं तावद्व्यभिचारदर्शनादयुक्तम् । एकैकस्य प्रयोजकत्वे तु प्रयोजकबाहुल्यगौरवस्य त्वयैवाङ्गीकृतत्वात् शरीर-

---

भी सब प्रपञ्चका उपादान कारण सर्वज्ञ ब्रह्मसे अभिन्न जीवका सर्वात्म होनेसे सब शरीरेन्द्रियादिमें आत्माभिमानका उच्छेद नहीं होता है, हम वेदान्तियोंके मतमें प्रपञ्च अविद्यात्मक है, अविद्याके नष्ट होनेसे सब व्यवहारका उच्छेद होना सम्भव है; परन्तु आपके मतमें तो सब प्रपञ्च सत्य है । उसका उच्छेद नहीं होगा, प्रत्युत जीवित अवस्थामें तो अपने एक ही शरीरेन्द्रियका अभिमान था, अब तो मोक्षदशामें सर्वात्म होनेसे सब शरीरेन्द्रियादिका अभिमान हो जायगा, तब भला व्यवहारके उच्छेदका कैसे सम्भव है ?

जाति और व्यक्ति (खण्ड गौ और मुण्ड गौ) कार्य और कारण (सुवर्ण और कुण्डल) गुण और गुणी (नील और घट) विशेषण और विशेष्य (दण्डी और पुरुष) अवयव और अवयवी (शरीर और हाथ) ये पांच ही सम्बन्ध भेदाऽभेदके प्रति प्रयोजक माने गये हैं । 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रत्ययमें इनमें से कोई भी नहीं है । जातिव्यक्ति-सम्बन्ध भी नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर और आत्मा दोनों द्रव्य ही हैं । कार्यकारणभाव भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि शरीर पाञ्चभौतिक है, आत्माका कार्य ही नहीं है । दोनोंके द्रव्य होनेके कारण गुणगुणिभाव भी नहीं कह सकते । जैसे दण्डका वैशिष्ट्य चैत्रादि पुरुषके अधीन है, वैसे देहका वैशिष्ट्य आत्माके अधीन नहीं है, अतएव विशेष्यविशेषणभाव भी नहीं कह सकते । आत्माके निरवयव द्रव्य होनेसे अवयवावयविभाव सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । अतः मानना होगा कि 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भ्रमात्मिका है । उत्तर देते हैं कि यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि पाँचोंको मिलाकर भेदाऽभेदका प्रयोजक मानना तो व्यभिचार दिखाई देनेसे अयुक्त है, क्योंकि पांचोंका मिलाव कहीं भी नहीं दिखाई देता । यदि एक-एकको अलग-अलग प्रयोजक मानते हैं, तो प्रयोजकबाहुल्यप्रयुक्त गौरवका तो आपने स्वीकार कर ही

शरीरिसम्बन्धोऽपि प्रयोजकः किं न स्यात् । एतस्याऽप्रयोजकत्वे तथैवान्येषामपि तदापादयितुं शक्यमिति न क्वाऽपि भेदाभेदौ सिध्येताम् । अथाऽतिप्रसङ्गभिया पञ्चस्वेव निर्बन्धः, तर्हि शरीरात्मनोः कार्यकारणभावोऽस्तु । ब्रह्मगतकारणत्वस्यात्मनि चेतनत्वसाम्येनोपचरितुं शक्यत्वात् ।

लिया, तब शरीरशरीरिभाव भी भेदाऽभेदका प्रयोजक क्यों न माना जाय ? यदि कहो कि शरीरशरीरिभाव सम्बन्ध भेदाऽभेदका प्रयोजक नहीं है, तो अन्य जातिव्यक्ति आदि सम्बन्ध भी तुल्यन्यायसे अप्रयोजकत्वके आपादक हो सकते हैं ऐसी दशामें कहीं भी भेदाऽभेद सिद्ध नहीं होगा । [आशय यह है कि खण्ड गौ, नील घट इत्यादि सामानाधिकरण्य प्रतीतिसे जैसे उक्त सम्बन्ध भेदाऽभेदके प्रयोजक माने गये हैं, वैसे ही सामानाधिकरण्यप्रतीति 'मैं मनुष्य हूँ' इसमें भी है, तब शरीरशरीरिभाव भी भेदाऽभेदका प्रयोजक क्यों न माना जाय ? यदि शरीरशरीरिभावको मणिमन्त्रन्यायसे प्रयोजक न मानते, तो तुल्यन्यायसे पूर्वोक्त सम्बन्ध भी भेदाऽभेदका प्रयोजक न माना जायगा । 'यह रजत है' इस प्रतीतिके तुल्य 'मैं मनुष्य हूँ' यह प्रतीति नहीं है; क्योंकि आपके (सर्वत्र भेदाऽभेदवादीके) मतमें मोक्षदशा तक शरीरेन्द्रियादिके भानका उच्छेद न होनेसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीतिका उत्तर कालमें कभी भी बाध नहीं होता । यदि गुणगुण्यादिसम्बन्ध भेदाऽभेदके प्रयोजक हैं, तो शरीरशरीरिभावरूप सम्बन्ध भी प्रयोजक है । यदि यह प्रयोजक नहीं है, तो गुणगुण्यादि भी नहीं हैं । इससे भेदाऽभेदकी सिद्धि ही नहीं होगी, और कहीं भेदाऽभेद मानते हैं, कहीं नहीं मानते, इससे 'सर्वत्र भेदाऽभेद है' इस अपने सिद्धान्तका विरोध भी होगा, इससे आप प्रतिज्ञाभ्रष्ट हो जायँगे ।] यदि अतिप्रसङ्गके भयसे (मैं मनुष्य हूँ, इत्यादि प्रतीतिमें भी प्रामाणिक भेदाऽभेदके प्रसंगके) उपरोक्त जातिव्यक्ति आदि पांच ही सम्बन्धोंके स्थलोंमें भेदाऽभेद प्रामाणिक हैं, अन्यत्र भ्रमात्मक ही हैं, ऐसा यदि कहो, तो 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीतिमें भी आपके मतमें भेदाऽभेद प्रामाणिक हो सकता है, क्योंकि शरीर और आत्माका कार्यकारणभाव सम्बन्ध है । चेतनत्वके सामान्य होनेसे ब्रह्मगत कारणत्वका जीवात्मामें आरोप किया जा सकता है ।

ननु मुख्यसम्बन्ध एव प्रयोजकः, तदभावादेवाहं मनुष्य इति प्रतीतिर्भ्रान्तिरिति चेत्, एवमपि भ्रान्तिर्नामाऽन्तःकरणपरिणामश्चेदात्माश्रयाऽविद्या न स्यात्। अन्तःकरणपरिणाम एवात्मन्यारोप्यत इति चेत्, तथाप्यन्यथाख्यातिवादिनस्तव मतेऽधिष्ठानारोप्ययोः संसर्गस्य शून्यत्वादात्माविद्यासम्बन्धो न स्यात्। अथात्मपरिणामो भ्रान्तिरिति चेद्, न; आत्मनोऽपरिणामित्वात्। आत्मनोऽपरिणामित्वमस्माकमसिद्धमिति चेत्, सत्यम्; तथापि नित्यज्ञानगुणस्त्वयाऽऽत्मा स्वीक्रियते, तथा च तस्मिंस्तिष्ठत्येव ज्ञाने भ्रान्तित्वाकारपरिणामो वक्तव्यः। तच्च न युक्तम्। एकजातीयविशेषगुणद्वयस्याऽविनश्यदवस्थस्यैकस्मिन् द्रव्ये युगपत्समवाया-

---

मुख्य सम्बन्ध ही भेदाऽभेदका प्रयोजक है, गौणसम्बन्ध नहीं है, जीवात्मा तथा शरीरका कार्यकारणभाव गौण है, अतः भेदाऽभेदके प्रामाणिक न होनेसे 'मैं मनुष्य हूँ' यह प्रतीति भ्रम मानी जाती है, ऐसा यदि आपका कहना हो, तो समवायिकारणकी मीमांसा करनेपर उक्त प्रत्यय भ्रम नहीं हो सकेगा। भ्रान्ति 'भ्रमज्ञान' यदि अन्तःकरणका परिणाम माना जाय, तो अज्ञानको आत्माश्रयत्व नहीं बन सकेगा, जैसे तन्तुजन्य पटको मृदाश्रयत्व नहीं होता, वैसे ही अन्तःकरण-परिणाम अविद्या आत्माश्रय नहीं कही जा सकती। यदि अन्तःकरणका परिणाम ही अज्ञान आत्मामें आरोपित किया जाता है, ऐसा माना जाय, तो आत्माका और अज्ञानका सम्बन्ध नहीं बनेगा, क्योंकि अन्यथाख्याति (रजतादिके भ्रमस्थलमें शुक्ति आदि अधिष्ठानमें आरोप्य रजतादिका सम्बन्ध न रहते हुए सादृश्यसे आपणस्थ रजत उपनीतभानसे भासित होता है, ऐसा) माननेवाले आपके मतमें अधिष्ठान और आरोप्यका सम्बन्ध ही नहीं माना गया है। और सर्वत्र ही भेदाऽभेदवादी आरोप मान भी नहीं सकता है, यह भी एक दूसरा दोष समझना चाहिए। उक्त दोषके कारण अन्तःकरणपरिणाम न मानकर आत्माका ही परिणाम भ्रम ज्ञानको मानें, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि आत्माका परिणाम ही नहीं हो सकता, वह तो अपरिणामी है। यदि वादी कहे कि आत्मा अपरिणामी हमारे मतमें सिद्ध नहीं है, तो ठीक है, परन्तु आत्माको आप नित्य ज्ञानरूपी गुणवाला मानते ही हैं, तब नित्य ज्ञानके रहते आत्माका भ्रमाकार परिणाम कहना होगा; जो कभी सङ्गत नहीं हो सकता है। कारण कि एकजातीय दो विशेष गुणोंका बिना

योगात् । नहि पटे शौक्ल्यद्वयं युगपत्समवेतं दृश्यते । तस्माज्जागरस्वप्नयोरप्यनाद्यनिर्वचनीयाज्ञानमेव ब्रह्मावरणमभ्युपगन्तव्यम् ।

नन्वज्ञानेन सम्बन्धे सत्यात्मनोऽसङ्गत्वं भज्येतेति चेद्, नः सम्बन्धस्याऽप्यनादेरज्ञानवत्कल्पितस्य स्वकार्यवदसङ्गत्वाभञ्जकत्वात् ।

एक दूसरेके विनाशके एक ही अधिकरणमें समवायसे रहना बन नहीं सकता। जैसे कि एक पटमें एक साथ दो शुक्ल गुणोंका समवाय नहीं होता है । [एकजातीय पद देनेसे एक ही आम्रफलमें रूप, रस दो गुणोंके अविरोधसे युगपत् स्थितिका दृष्टान्त भी खण्डित हो गया । प्रकृतमें एक आत्मा द्रव्यमें नित्य ज्ञानके रहते भ्रमात्मक ज्ञानाकार परिणाम नहीं बन सकता । यदि वह ज्ञानको हठात् गुण न मानकर द्रव्य ही मान ले, तो भी नित्य ज्ञानाकारमें परिणत आत्माका भ्रमज्ञानाकारमें परिणाम नहीं हो सकता है, कुण्डलाकारमें परिणत सुवर्णका पूर्व आकारके विद्यमान रहते कटकाकार परिणाम नहीं देखा गया है । आत्माके नित्यज्ञानका विनाश नहीं होगा, इससे पूर्वाकारका नाश होनेपर दूसरा तत्सजातीय आकारका ग्रहण करेगा, यह कहना भी नहीं बनेगा ।] इससे भावाभाववादीको भी स्वप्न और जागरणमें अनादि अनिर्वचनीय भावरूप अज्ञान ही ब्रह्मको आवृत करता है, मानना ही होगा, अतः हमारा पूर्वोक्त कथन सिद्ध हो गया ।

शङ्का—अज्ञानके साथ सम्बन्ध होनेसे आत्माका असङ्गत्व बाधित हो जायगा।

समाधान—ऐसा नहीं होगा, क्योंकि यह अविद्याका सम्बन्ध भी तो अनादि और अविद्याकी नाईं कल्पित ही है, अतः वह कल्पित सम्बन्ध स्वाध्यस्त प्रपञ्चके तुल्य आत्माकी पारमार्थिक असङ्गताका व्याघात नहीं कर सकता । [जिस प्रकार आकाशमें कल्पित मालिन्य वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार आत्मामें अध्यस्त अविद्यासम्बन्ध वास्तविक नहीं है, किन्तु कल्पित है । मिथ्या पदार्थका पारमार्थिक पदार्थसे विरोध नहीं हो सकता, अतः कल्पित सम्बन्ध आत्माकी पारमार्थिक असङ्गताको नहीं मिटा सकता । जैसे आम्रफलके पक जानेसे उत्पन्न हुआ माधुर्य अपने धर्मी आम्रफलमें ही अन्यथाभाव कर देता है, वैसे ही अध्यस्त अज्ञानवाले आत्मामें ज्ञान होनेपर अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे धर्मी आत्मामें अन्यथाभाव आ जायगा । आरोपित अविद्यासम्बन्ध आदि धर्मोंके मिथ्या होनेसे दोष भी नहीं आ सकता है] ।

तदेवं भावरूपाज्ञानमनात्मानमनावृत्यैव तत्र विक्षेपमात्रं जनयति आत्मानं त्वावृत्य तत्र 'अहमिदम्' 'ममेदम्' इत्येवं व्यवहारयोग्यानध्यासानपि जनयति ।

नन्वहमिति निरंशश्चिदात्मा प्रतीयते, न त्विदं रजतमितिवदंशद्वयानुविद्धं रूपम्, ततो नाऽयमध्यासः । तथेदमित्यपि शरीरं प्रतीयते । न च तस्याऽध्यस्तत्वं सम्भवति, प्रमाणभूतैरिन्द्रियैः गृह्यमाणत्वात् । अध्यस्तत्वे चाऽज्ञानवत् केवलसाक्षिप्रत्यक्षवेद्यता स्यात् । यद्यपीदं रजतमितिवदहं मनुष्य

उक्त प्रकारकी युक्तियोंसे यह निष्कर्ष निकला कि भावरूप अज्ञान अनात्माको आवृत न करके उसमें विशेष (रजतादि रूपान्तरका प्रतिभास) उत्पन्न करता है, और आत्माको तो आवृत भी करता है तथा उसमें 'अहमिदं ममेदं' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) इस प्रकारके व्यवहारयोग्य (अहङ्कारादिरूपान्तर प्रतिभासात्मकविशेष) अध्यासोंको भी उत्पन्न करता है ।

'अहम्' यह प्रत्यय अंशशून्य चिदात्माको विषय करता है, 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रत्ययके समान दो अंशोंसे—सामान्य अधिष्ठान अंश और रजत विशेषाकार अंशसे—युक्त रूपवाला नहीं है, अतः यह अध्यास नहीं हो सकता । वैसे 'अहमिदम्' इसमें जो इदमंश है, वह भी केवल शरीरको विषय करता है, (जैसे 'इदं रजतम्'का ' इदम् ' अंश जो अध्यस्त रजतपदार्थ है उसका ही तादात्म्यसे बोध करता है, वैसे 'अहमिदम्' इस ज्ञानमें प्रविष्ट अंश अहंपदार्थ निरंश चिदात्माके साथ तादात्म्यको प्राप्त नहीं है, किन्तु शरीरको विषय करता है) और शरीरको अध्यस्त कह नहीं सकते, क्योंकि शरीर प्रमाणभूत इन्द्रियों (चक्षुरादियों) से गृहीत होता है । शरीरको अध्यस्त माननेपर तो अज्ञानके तुल्य वह केवल साक्षिप्रत्यक्षसे ही गृहीत हो सकता है । [अध्यस्त पदार्थ प्रमाणगम्य नहीं होता है, प्रत्युत प्रमाण द्वारा उसकी निवृत्ति होती है, इस वेदान्तके नियमसे शरीरादिके अध्यस्त माननेमें प्रमाणभूत चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उसकी निवृत्ति हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है, अतः शरीर अध्यस्त नहीं है यह, शंका करनेवालेका आशय है] । यद्यपि 'इदं रजतम्' इस भ्रान्तिकी तरह 'अहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य हूँ) इस ज्ञानमें भी 'मैं' और 'मनुष्य' इस प्रकार दो अंशोंकी प्रतीति होती है, इससे अधिष्ठानारोप्यभाव

इत्यंशद्वयवत्त्वेनाधिष्ठानारोप्यभावः प्रतीयते, तथापि नाऽसौ नियतः। आत्मन्युत्क्रान्ते पृथगपि शरीरस्योपलम्भात्। नह्यध्यस्तं रजतमधिष्ठानात् पृथगुपलभ्यते।

अथ शरीरोपलम्भकं मानं व्यावहारिकमेव न तत्त्वावेदकमिति मन्येथास्तथाप्यात्मन्यध्यस्तत्वे तत्रैव लयः स्यात्। न च तथा श्रूयते, किन्तु पृथिवीं शरीरमिति पृथिव्यामेव लयः श्रूयते; ततो नात्मन्येतदध्यस्तम्।

तथा ममेदमित्यपि शरीरव्यतिरिक्तम् अहंबुद्धययोग्यमहंकर्तृसम्बन्धि

(अधिष्ठान उसे कहते हैं—जिसमें मिथ्या पदार्थ भासित होता है और आरोप्य उसे कहते हैं—जो भासित होता है) स्पष्ट प्रतीत होता है, तथापि यह नियत नहीं है, अर्थात् अहंपदवाच्य आत्माके शरीरसे निकल जानेपर भी मनुष्यपदवाच्य शरीरकी उपलब्धि रह जाती है। और अध्यस्त रजत अधिष्ठानके बिना पृथक् उपलब्ध नहीं होता है। [तात्पर्य यह है कि यदि शरीर आत्मामें अध्यस्त होता तो आत्माके न रहनेपर शरीर भी नहीं रहता, किन्तु ऐसी बात नहीं है, शरीर तो आत्मा (अधिष्ठान) से पृथक् उपलब्ध होता है, अतः वह अध्यस्त नहीं माना जा सकता]।

यदि कहो कि शरीरका ज्ञान करानेवाले चक्षु आदि प्रमाण व्यावहारिक ही हैं, तत्त्वावेदक नहीं हैं [अर्थात् वे चक्षु आदि प्रमाण व्यावहारिक विषयको प्रत्यक्ष कर सकते हैं, तत्त्वभूत पदार्थको विषय नहीं कर सकते, अतः उनका ज्ञान व्यावहारिक ही होगा, तात्त्विक (पारमार्थिक) नहीं होगा। इससे शरीर व्यावहारिक है, इतना ही सिद्ध होता है, यह नहीं माना जा सकता कि यह इन्द्रियज्ञेय होनेसे पारमार्थिक है, अध्यस्त नहीं है]। तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि शरीरको आत्मामें अध्यस्त मानो, तो भ्रमात्मक रजतका जिस तरह शुक्तिमें लय होता है, उसी तरह इसका भी लय आत्मामें ही होगा। परन्तु ऐसा श्रुति नहीं कहती है, बल्कि इसके विपरीत कहती है कि 'पृथिवीं शरीरम्' (शरीरका पृथ्वीमें लय होता है) इससे सिद्ध हुआ कि 'अहमिदम्' इस प्रत्यय में इदंपदका अर्थ—शरीर—आत्मामें अध्यस्त नहीं है।

उक्त रीतिसे 'ममेदम्' (यह मेरा है) इस प्रतीतिमें भी 'इदम्' पदार्थ शरीरसे भिन्न 'मम' पदका अर्थ आत्मा जो अहंबुद्धियोग्य विषय है, उसके सम्बन्धी

वस्तुजातं प्रतीयते, न च तत्राऽध्यासशङ्कापीति। उच्यते—अहमित्यत्र तावज्जडांशान्तर्भावं प्रतिपादयिष्यामः, ततोऽसावध्यास एव। शरीरस्याप्यन्तःकरणेन्द्रियवद् दृश्यत्वादध्यस्तत्वं साधनीयम्। अन्तःकरणेन्द्रियाणां चात्मनः पृथक्सत्त्वोपलब्ध्यभावादज्ञानवत् केवलसाक्ष्यपरोक्षतयाऽध्याससिद्धिः।

न च तेषां संसृष्टतयैवाध्यासो न स्वरूपेणेति शङ्कनीयम्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' अत्रैव 'समवलीयन्त' इत्यात्मतत्त्वावबोधे सत्यात्मन्येव लय-

---

वस्तुजातका अवलम्बन करता है, इससे यहांपर अध्यासकी शङ्का ही नहीं हो सकती। [अध्यासमें तादात्म्यकी प्रतीति होती है और तादात्म्यकी प्रतीति समानविभक्तिस्थलमें होती है। यहांपर 'मम इदम्' ऐसा सम्बन्धबोधक विभिन्नविभक्तिका निर्देश होनेसे अध्यास नहीं माना जा सकता, इससे आपके 'अहमिदम्' तथा 'ममेदम्' दोनों व्यवहार अध्यास नहीं कहे जा सकते, यह भाव है]। इसपर कहते हैं—'अहम्' इस प्रत्ययमें जडांश भी मिला है, यह अहंकारनिरूपणके अवसरपर दिखलाया जायगा। इससे (अहंप्रत्ययमें दो अंश होनेसे) अहंप्रत्यय अध्यास ही सिद्ध होता है। शरीर भी अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंकी तरह दृश्य होनेसे अध्यस्त ही है, ऐसा सिद्ध करना चाहिए। अन्तःकरण और इन्द्रियादिकोंकी अध्यस्तता सिद्ध करते हैं—अन्तःकरण या इन्द्रियोंका आत्मासे पृथक् (शरीरसे आत्माके निकल जानेपर) उपलब्धि नहीं होती है, अतः अज्ञानकी तरह केवल साक्षिप्रत्यक्षसे ही इनका ज्ञान होता है, इससे अज्ञानके तुल्य इनका भी अध्यास सुतरां सिद्ध है।

* इन्द्रिय और अन्तःकरण आदिका संसृष्टरूपसे ही अध्यास हो सकता है, स्वरूपसे नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'न तस्य प्राणाः०' (उसके प्राण कहीं निकल नहीं जाते हैं, किन्तु यहाँ (आत्मामें ही) लीन हो जाते हैं) ऐसी श्रुति है। इस श्रुतिसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर

---

* माना कि अन्तःकरण और इन्द्रियोंका 'अहं स्मरामि, गच्छामि, शृणोमि, पश्यामि' इत्यादि व्यवहारोंमें अध्यास हो, परन्तु इन प्रतीतियोंमें सर्वत्र अन्तःकरण आदिका संसृष्टरूपसे भान होता है, अतः इनका अध्यास भी संसृष्टरूपसे ही (अर्थात् इनका आत्मासे संसर्ग मिथ्या है) मानना चाहिए, स्वरूपसे तो ये सत्य ही हैं। आत्मासे पृथक् इनकी उपलब्धिका अभाव भी संसृष्टरूपसे ही रहता है, इस आशयसे शङ्का और समाधान करते हैं।

श्रणात्, स्वरूपतोऽप्यध्याससिद्धेः। शरीरस्याऽपि पृथिवीद्वारेणात्मन्येव लय इत्यवगन्तव्यम्। यदा देहेन्द्रियादिविशिष्टो भोक्ताऽध्यस्तस्तदा तदुपकरणं बाह्यभोग्यजातमध्यस्तमिति किमु वक्तव्यम्। नहि स्वप्नमाहेन्द्रजालकल्पितस्य राज्ञो राज्योपकरणं पारमार्थिकं भवति। तस्मादहमिदं ममेदमित्येते त्रयोऽप्यध्यासा एव।

प्राणादिका आत्मामें ही लय सुना जाता है, इससे इनका स्वरूपतः भी अध्यास सिद्ध है। [जैसे रज्जुसर्पका, रज्जुका साक्षात्कार होनेपर, रज्जुमें लय हो जाता है, अतः वह सर्प रज्जुमें अध्यस्त माना जाता है, वैसे ही अन्तःकरण आदिका भी आत्मामें ही लय हो जाता है, अतः ये भी आत्मामें ही अध्यस्त हैं। इस तरह जब अन्तःकरण आदि अध्यस्त हैं तब शरीरका अध्यस्त होना सुतरां सिद्ध है, यह उत्तरका आशय है]। शरीरका लय पृथिवीके द्वारा आत्मामें ही होता है, ऐसा समझना चाहिए। [आत्मतत्त्वसे आकाशादिक्रमसे सृष्टि प्रादुर्भूत होती है। तथा लय तद्विपरीत क्रमसे—पृथ्व्यादिक्रमसे—होता है, अन्ततः सकल प्रपञ्च आत्मामें लीन हो जाता है, इससे पृथ्व्यादिक्रमसे शरीरका लय आत्मामें ही है * (पृथ्वीमें आत्यन्तिक लय नहीं है, अन्यथा उसका उपलम्भ ही नहीं होगा)] जब देह, इन्द्रिय आदिसे युक्त भोग करनेवाला (अहं) आत्मामें अध्यस्त माना गया है तब उसके उपकरण बाहरी भोग्य सभी पदार्थ अध्यस्त हैं, इसमें क्या कहना ? अर्थात् कैमुतिकन्यायसे ये सभी अध्यस्त ही हैं। जैसे—स्वप्न तथा इन्द्रजालमें कल्पित राजाके लिए उसके राज्य-साधन—हाथी, अश्व, अमात्य आदि सभी—कल्पित ही होते हैं, पारमार्थिक नहीं होते, [वैसे ही आत्माके वस्तुतः निरञ्जन होनेपर भी उसका भोक्ता होना स्वाप्निक तथा ऐन्द्रजालिक राजा होनेके तुल्य है और उस कल्पित भोक्ताका देहेन्द्रियादि उपकरण भी स्वाप्निक राज्यकी भाँति कल्पित ही है] इससे 'अहम्' (मैं) 'इदम्' (यह) 'मम इदम्' (यह मेरा) ये तीनों अध्यास ही हैं, यह सिद्ध हुआ।

* आत्माके इस शरीरसे निकल जानेपर शरीरकी उपलब्धि अध्यासकी बाधिका नहीं है, क्योंकि मृतक भी घट-पट आदि पृथ्वी विकारकी तरह अधिष्ठानसत्तानुवेधसे प्रतीयमान रहता है। वस्तुतः यह शरीर या मनुष्यादि कुछ नहीं है। शरीर आदि व्यवहार तो उसमें भूतपूर्वगतिसे अज्ञानजनित संस्कार द्वारा होते हैं।

न च केवलधर्माध्यासेऽपि विवदितव्यम्; 'बधिरोऽहम्'इत्यत्रेन्द्रियधर्मस्य केवलबाधिर्यस्याऽऽत्मन्यध्यासदर्शनात् ।

ज्ञानाध्यासस्त्वर्थाध्यासाविनाभूतत्वान्न पृथक् साधनीयः । तदित्थमनुभवारूढोऽध्यासोऽपलपितुमशक्य इति सिद्धम् ।

गुरुशिष्यौ वादिनौ वा शास्त्रे तत्त्वविचारकौ ।
तत्र शिष्यं प्रति गुरुः पूर्वमध्यासमुक्तवान् ॥ १ ॥
विवदन्तेऽत्र येऽध्यासे तानुद्दिश्याथ लक्षणम् ।
संभावनाप्रमाणं च कथ्यतेऽध्याससिद्धये ॥ २ ॥

ननु सर्वत्र लक्षणेन लक्ष्यमितरस्माद् व्यावर्त्त्यते संभावनया च तस्य स्वदेशकालोपाधावसंभावनाबुद्धिर्निरस्यते, प्रमाणेन च तत्सद्भावः साध्यते ।

केवल धर्मका (धर्मीके बिना) अध्यास होता है, इसमें भी किसीको विवाद (शङ्का) नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'बधिरोऽहं' (मैं बहिरा हूँ) इस प्रतीतिसे केवल इन्द्रियधर्म बहिरेपनका भी आत्मामें अध्यास देखा जाता है ।

ज्ञानाध्यास भी अर्थाध्यासके बिना कहीं नहीं रहता है अर्थात् अर्थाध्याससे अविनाभूत—व्याप्त है, अतः उसको पृथक् साधन करनेकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार अनुभवसिद्ध अध्यासका अपलाप नहीं हो सकता है, यह सिद्ध हुआ ।

[आगे अध्यासलक्षण तथा सम्भावनाके प्रदर्शक ग्रन्थके अवतरणस्वरूप दो श्लोक ग्रन्थकार रचते हैं]—

गुरु और शिष्य अथवा वादकथामें प्रवृत्त दो पुरुष ही शास्त्रविषयक तत्त्वविचार करनेवाले होते हैं, उनमें गुरुने शिष्यके प्रति पहले अध्यास कह दिया है ॥१॥

जो विप्रतिपन्न लोग अध्यासके विषयमें विवाद करते हैं, उनके प्रति लक्षण किया जाता है और सम्भावना तथा प्रमाण अध्यासकी सिद्धिके लिए कहे जाते हैं ॥ २ ॥

शङ्का करते हैं कि सभी जगह लक्षणसे लक्ष्य दूसरोंसे भिन्न किया जाता है, सम्भावनासे अपनी देशकालरूपी उपाधिमें उसकी असम्भावना (न हो सकनेकी शङ्का) का दूरीकरण होता है और प्रमाणसे उसका सद्भाव (अपने देशकालमें होना) सिद्ध होता है । इससे यहाँपर (ये दोनों कार्य)

तथा चात्राध्याससाधनायोपन्यसिष्यमाणानि प्रत्यक्षानुमानव्यवहारान्यथानुपपत्त्यागमाख्यानि प्रमाणान्येवाऽर्थादध्यासस्याऽन्यव्यावृत्तावसंभावनानिरसने च पर्यवस्यन्ति। अव्यावृत्तस्याऽसंभावितस्य चाऽध्यासस्य प्रमातुमशक्यत्वात्। अतो न लक्षणसंभावने प्रमाणात् पृथग्वर्णनीये इति चेद्, मैवम्; द्विविधो ह्यत्राध्यासाकारः। अन्यस्यान्यात्मता मिथ्यात्वं चेति। तत्राऽन्यस्यान्यात्मतायाः साधकत्वेनोपन्यसिष्यमाणैः प्रत्यक्षादिभिर्न मिथ्यात्वमनुभवितुं शक्यते, मिथ्यात्वस्येदं रजतमित्यत्र बाधानुपपत्तिगम्यत्वात्। इह च बाधाभावात्। नन्वत्राऽपि बाधनिमित्तमितरेतरविवेकमन्तरेणाऽन्यस्यान्यात्मतावभासोऽयमित्यवगन्तुमशक्यत्वादस्त्येव बाध इति चेद्, मैवम्; यौक्तिकबाधे सत्यपि

अध्यासका साधन करनेके लिए आगे दिखाये जानेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान, व्यवहार, अन्यथाऽनुपपत्ति और आगमरूप प्रमाण ही अध्यासके अन्यव्यावर्तक तथा असम्भावनाके निवर्तक अर्थतः हो जायँगे, क्योंकि अन्यसे जो व्यावृत्त नहीं है तथा जिसकी असम्भावनाकी निवृत्ति नहीं हुई है, ऐसा अध्यास प्रमात्मक ही नहीं हो सकता (अर्थात् अध्यासको प्रमात्मक कराते हैं, इसीसे यह सिद्ध हो गया कि लक्ष्य इतर पदार्थोंसे भिन्न और असम्भावनासे रहित है), इसलिए प्रमाणसे पृथक् लक्षण तथा सम्भावनाका वर्णन करना व्यर्थ है।

समाधान करते हैं—ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि यहांपर अर्थात् वेदान्तसिद्धान्तमें अध्यासके दो भेद माने गये हैं। एक तो अन्यको—दूसरी वस्तुको—अन्य—दूसरी वस्तु—समझना और दूसरा उसका मिथ्यात्व। प्रथम आकार (अन्यकी अन्यात्मता) के साधक ही प्रत्यक्षादि प्रमाण जो सब आगे दिये जायँगे, उनसे अध्यासकी मिथ्यात्मता नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि मिथ्यात्व प्रत्यक्षादिसे गम्य नहीं है। यह रजत है, इस प्रत्ययमें भी रजतका मिथ्यात्व 'नेदं रजतम्' इस बाधकी अनुपपत्तिसे ही प्रतीत होता है, 'प्रत्यक्ष' से प्रतीत नहीं होता [अर्थात् यदि उक्त रजत मिथ्या न होता, तो उसका 'नेदं रजतम्' ऐसा बाध न होता, और 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) ऐसा बाध होता है, अतः मिथ्या है]। 'मैं मनुष्य हूँ' यहाँपर बाधका योग नहीं है अर्थात् 'नाहमस्मि' (मैं नहीं हूँ) अथवा 'नाहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य नहीं हूँ) ऐसी बाधप्रतीति ब्रह्मसाक्षात्कारके पूर्व किसीको भी नहीं होती है। [आगे वर्णन

भ्रान्तिप्रतिभासोच्छेदिनोऽपरोक्षबाधस्याभावेन मिथ्यात्वाध्यवसायस्यास्पष्टत्वात् । अतस्तस्य स्पष्टीकरणाय लक्षणमेव वक्तव्यम् ।

किये जानेवाले प्रत्यक्ष*, अनुमान †, व्यवहारानुपपत्ति ‡ और आगम × तो केवल आत्मामें अनात्मबुद्धि होती है अध्यासके इस एक अंशमें ही प्रमाण हैं, इनसे मिथ्यात्वकी सिद्धि नहीं हो सकती, यह आशय है ।] 'अहं मनुष्यः' इत्यादि स्थलमें भी जब तक 'अहम्' (मैं आत्मा) भिन्न पदार्थ है और 'मनुष्य' (शरीरादि) भिन्न पदार्थ है, इस प्रकार एक दूसरेका विवेक—पार्थक्यज्ञान, जो कि बाधका कारण है, न हो जाय; तब तक 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञानको अध्यास नहीं समझ सकते हैं। इससे उक्त प्रतीतिमें भी बाध होता ही है। [क्योंकि यदि 'मैं मनुष्य हूँ' इस व्यवहारको प्रत्यक्षादि आंशिक अध्यास कहते हैं, तो यह सिद्ध हुआ कि मैं और शरीर भिन्न हैं, परन्तु भ्रमसे अभिन्न समझे जाते हैं (अध्यस्त हैं), अतः भ्रमात्मक ज्ञान होनेसे यहाँपर भी अध्यास कहा गया है, यह बिना किसी प्रमाणान्तरके ही सिद्ध हो जाता है। यह भी नहीं कह सकते कि अन्यको अन्यरूपसे समझनेमें परस्पर विवेकग्रहकी आवश्यकता नहीं है जिससे बाध निमित्त बना ही रहे, अनात्मा देवदत्तका अपनेको देवदत्त समझना भी अध्यास ही है इन युक्तियोंसे अध्यासके मिथ्यात्व सिद्ध होनेपर भी लक्षणादि द्वारा उसका मिथ्यात्वप्रतिपादन करना आवश्यक ही है] यदि ऐसा कहो, तो ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वप्रदर्शित युक्तियोंसे (अन्यकी—अन्यात्मतावभासकी अनुपपत्तिसे) बाधके सिद्ध होनेपर भी भ्रमात्मक ज्ञानका उन्मूलन करनेवाले प्रत्यक्ष बाधके न होनेसे मिथ्यात्वका अध्यवसाय (निश्चय) स्पष्ट नहीं हो सकता है । (युक्तिजन्य, ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान होता है, वह 'अहं मनुष्यः' इस प्रत्यक्ष भ्रमका निवारण नहीं कर सकता ।) अतः 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अध्यासके मिथ्यात्वको स्पष्ट करनेके लिए लक्षण ही करना चाहिए ।

* 'अहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य हूँ) इत्यादि ज्ञानको प्रत्यक्ष समझना चाहिए ।

† 'अहं मनुष्यः' इत्यादि व्यवहार अध्यासनिमित्तक है, व्यवहार होनेसे, पश्वादिके व्यवहारके समान, ऐसा अनुमान समझना चाहिए ।

‡ अपनेमें कर्ता, भोक्ता, प्रमाता आदि व्यवहार करना व्यवहारपदसे लिया जाता है ।

× 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादि शास्त्र लेना चाहिए ।

तथा लोके ज्ञानेनाऽप्रामाण्यहेतुरहितेनाऽवगतेऽप्यौत्पातिकसवितृसुष्या-दावसंभावानादर्शनादत्राप्यात्मन्यविषयत्वासङ्गत्वसादृश्याभावादीनामध्यासवि-रोधिधर्माणामुपलम्भादसंभावनाबुद्धिर्जायते । न च वाच्यम् आत्मन्यविष-यादिरूपेऽनवगते सति नासंभावनाबुद्धिः, अवगते तु नाध्यास एव तिष्ठतीति; परोक्षावभासस्यासंभावनाबुद्धिहेतुत्वात्, तावता चाऽपरोक्षाध्यासाऽनिवृत्तेः ।

अब सम्भावनाकी आवश्यकता दिखलाते हैं—'तथा लोके' इत्यादिसे। अप्रामाण्यके हेतुसे रहित अर्थात् प्रमाणभूत चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे लोकमें निश्चित किया गया भी उत्पात-सूचक सूर्यके छिद्रादिमें 'सूर्यमें छिद्रकी संभावना नहीं है' ऐसी असम्भावना बुद्धि देखी जाती है, इसी दृष्टान्तसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस अध्यासमें भी असम्भावना-बुद्धि हो सकती है, क्योंकि आत्मामें अविषयत्व *, असङ्गत्व †, सादृश्यका ‡, अभाव आदि अध्यासके विरोधी धर्म पाये जाते हैं [अध्यासके लिए ज्ञानका विषय होना एवम् सावयवी होना तथा सादृश्यका रहना अत्यन्त आवश्यक है, इन धर्मोंके रहनेसे शुक्तिमें रजतादिका भ्रम उपपन्न होता है। आत्मामें इन धर्मोंके न रहनेसे अध्यास नहीं बन सकता इस असम्भावनाबुद्धिके निराकरणके लिए सम्भावनाका पृथक् कहना आवश्यक है]।

यहांपर यह शङ्का हो सकती है कि जब तक आत्मामें अध्यास विरोधी अविषयत्व आदि धर्मोंका निश्चय नहीं होता, तब तक आत्मामें अध्यासकी असम्भावनाबुद्धि नहीं हो सकती है और जब अविषयत्व आदि अध्यासविरोधी उक्त धर्मोंका ज्ञान आत्मामें हो गया, तब अध्यास ही नहीं टिक सकता। फिर असम्भावनाबुद्धि किसको विषय करेगी ? उत्तर देते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि परोक्ष अवभास ही असम्भावनाका कारण है । इतने ही से अपरोक्ष अध्यासकी निवृत्ति नहीं हो सकती है [आत्मामें अविषयत्वादिका परोक्षज्ञान होनेसे अध्यासकी असम्भावना बुद्धि हो सकती है।

* अधिष्ठान शुक्त्यादि और अध्यस्त रजतादि इन दोनोंका ज्ञान होना अध्यासके लिए आवश्यक होता है, और आत्मा वेदान्तमतमें ज्ञानका अविषय है।

† शुक्तिरजतादिके द्रष्टाकी चक्षु आदि इन्द्रियोंका जब अध्यस्तके साथ अनुषङ्ग होता है तब भ्रमकी उत्पत्ति होती है, और आत्मा सङ्गरहित माना गया है।

‡ शुक्त्यादि—अधिष्ठान अध्यस्त—रजतादिका परस्पर गुण तथा अवयवका सादृश्य

तस्मादसंभावनानिरासाय प्रमाणात् पृथगेव संभावनाऽपि वक्तव्यैव। तथा चान्यैरपि लक्षणसंभावनापूर्वकत्वं प्रमाणस्योक्तम्।

मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्।
तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरप्यवारणम् ॥१॥
संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना।
न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः ॥२॥ इति।

परन्तु इस परोक्षज्ञानसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रत्यक्षभ्रमकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञानसे ही प्रत्यक्षभ्रम निवृत्त हो सकता है। इससे जब भ्रम बना है, तब उक्त परोक्षज्ञानसे अध्यासकी असम्भावना भी बनी है यही उत्तरका तात्पर्य है]। इसलिए असम्भावनाकी निवृत्तिके लिए प्रमाणसे पृथक् सम्भावनाका भी कथन सर्वथा सङ्गत है।

इस पूर्वोक्त आशयसे ही दूसरे तन्त्रकारोंने भी प्रमाणको लक्षण तथा सम्भावनापूर्वक ही माना है—

प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणके अधीन है अर्थात् प्रमाणसे ही प्रमेयकी सिद्धि होती है और प्रमाणकी सिद्धि लक्षणसे होती है। और वह लक्षण यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें है, तो देवताओंसे भी उन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका निवारण नहीं हो सकता ॥१॥

[प्रमाणसंवाद आदि हेतुसे ही पक्षकी पुष्टि होती है, इसमें प्रमाण देते हैं]—

प्रतिज्ञावाक्यमें सम्भावित पक्ष (वह्नियुक्त पर्वतादि) हेतुके (धूमादिके) द्वारा यदि सिद्ध किया जाता है और जो पक्ष प्रतिज्ञा वाक्यमें वास्तवमें संभावित नहीं है अर्थात् उत्पत्ति कालमें ही नष्ट हो गया है। उसकी हेतुओंसे रक्षा (साधन) नहीं हो सकती है [अभिप्राय यह है कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतिज्ञावाक्यसे जब पर्वतमें वह्निकी संभावना होती है, तभी धूमादि हेतुसे वह्निकी सिद्धि होती है। यदि प्रतिज्ञावाक्यसे पर्वतमें वह्निकी सिद्धि न हो तो हेतुसे भी उसका साधन देवता भी नहीं कर सकते हैं ॥२॥]

होनेसे ही भ्रमकी उत्पत्ति होती है, यह सावयव पदार्थोंमें ही सङ्गत है। आत्मा निरवयव है, अतः उसमें सादृश्य भी नहीं बन सकता।

तत्राऽपि लक्षणपूर्विका संभावना। लक्षणेन हि व्यावृत्तस्वरूपे उपस्थापिते पश्चादिदं संभाव्यते न वेति विचारो युज्यते। अन्यथा निर्विषयो विचारः स्यात्। ततो लक्षणमेव प्रथमं वक्तव्यम्। तदुच्यते--द्विविधो ह्यध्यासो ज्ञानविशिष्टोऽर्थोऽर्थविशिष्टं ज्ञानं चेति। तत्राऽर्थस्य तावत् स्मर्यमाणसदृशोऽन्यात्मनाऽवभास्यमानोऽन्योऽर्थोऽध्यास इति लक्षणम्। ज्ञानस्य तु स्मृतिसमानोऽन्यस्यान्यात्मतावभासोऽध्यास इति।

ननु 'इदं रजतम्' इत्यत्र चक्षुरादिप्रमाणाभावात् पारिशेष्यात् स्मर्यमाणमेव रजतं न पुनस्तत्सदृशमित्यख्यातिवादिन आहुरिति चेद्, मैवम्;

इन दोनोंमें अर्थात् लक्षण और संभावनामें लक्षणपूर्वक सम्भावना होनी चाहिए अर्थात् सम्भावनासे पूर्व लक्षणका होना आवश्यक है, क्योंकि लक्षण द्वारा इतर पदार्थोंसे व्यावृत्त स्वरूप (असंकीर्ण) उपस्थापित वस्तुमें पीछे 'यह सम्भव है या नहीं' यह विचार करना युक्त होता है। [घट या वन्ध्यापुत्रादि पदार्थका शब्दादि द्वारा ज्ञान हो जानेपर ही तद्विषयक 'है या नहीं' इत्यादि विकल्प हो सकता है, इसी भावको लेकर आगे विपर्यय दिखलाते हैं]—अन्यथा—इसके विपरीत लक्षण किये बिना पूर्व ही 'यह वस्तु है या नहीं' इत्यादि विचार करना—विषयहीन हो जायगा। अतः विचारके विषयका प्रतिपादन करनेके लिए सर्वप्रथम लक्षण करना आवश्यक होता है। इससे अब अध्यासका लक्षण कहते हैं।

['स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' इस भाष्यलक्षणकी व्याख्याके उद्देश्यसे भेदप्रदर्शनपूर्वक लक्षण करते हैं]—

अध्यास दो प्रकारका है—एक ज्ञानविशिष्ट अर्थ और दूसरा अर्थविशिष्ट ज्ञान। उद्देशक्रमसे पहले अर्थाध्यासका लक्षण करते हैं—उनमें स्मर्यमाणके—स्मरणविषयके—सदृश और दूसरी वस्तुके रूपसे प्रतीयमान होनेवाला अर्थ अर्थाध्यास कहलाता है। और दूसरा 'स्मरणके समान अर्थात् असन्निहित विषयक और दूसरी वस्तुका दूसरे रूपसे अवभास ज्ञानाध्यास कहलाता है।

यहाँपर मीमांसक शङ्का करता है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस शुक्तिरजतज्ञानमें रजतके साथ चक्षुरादि प्रमाणके (संप्रयोगके) न होनेसे परिशेषसे स्मरणका ही रजत विषय है, स्मर्यमाणके सदृश रजतान्तर नहीं है? यह उसकी शङ्का

पुरोवस्थितत्वेनावभासमानत्वाद् । न चेदमंशस्यैव तथाऽवभासो न रजतस्येति मन्तव्यम्; यथा सम्यक्स्थलेष्विदं रजतमयं घट इत्यादिष्वितरेतरसंसृष्टौ सामान्यविशेषावपरोक्षाववभासेते तथेहापि प्रतिभासात् । अथ मतं सामान्यविशेषयोर्नैरन्तर्येण प्रतिभासात्तथा व्यवहारः, न तु संसर्गसंवित्सद्भावादिति, तन्न; परमार्थस्थलादीपन्न्यूनताया अप्यदर्शनात् । पुरोवर्ति-

---

भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'यह रजत है' इसप्रकार शुक्तिमें सामने स्थितरूपसे रजतकी प्रतीति होती है। [जो स्मर्यमाण—स्मरणका विषय है, वह पदार्थ सामने विद्यमान है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। और यह शुक्तिरजत सामने विद्यमान मालूम होता है]। मीमांसक फिर शङ्का करता है कि यह सामने विद्यमानताकी प्रतीति इदमंशमें है, रजतांशमें नहीं। इसका वेदान्ती खण्डन करता है कि यह भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि जैसे सच्चे 'व्यावहारिक' रजतस्थलमें 'इदं रजतम्' (यह रजत है) तथा 'अयं घटः' (यह घड़ा है) इत्यादि ज्ञानमें एक दूसरेके साथ मिले हुए सामान्य और विशेष दोनों अंश प्रत्यक्ष भासित होते हैं, वैसे ही 'यह रजत है' इस भ्रमात्मक शुक्तिरजतज्ञानमें भी दोनों अंशोंका (इदम् सामान्य अंश और रजत विशेषक अंशका) प्रत्यक्ष अवभास होता है। मीमांसकका यह कथन भी कि सामान्य विशेष दोनों अंशोंका नैरन्तर्य (अव्यवधान) होनेसे ऐसा (दोनों अंशोंका प्रत्यक्ष) मालूम होता है, दोनोंके परस्पर संसर्गज्ञानका सद्भाव है, इससे नहीं [अर्थात् दोनों (यह और रजत) अंश अव्यवहित रहते हैं, इससे दोनों अंशोंका प्रत्यक्ष ज्ञान जान पड़ता है, इससे यह समझना उचित नहीं है कि दोनों अंशोंका परस्पर संसर्ग (तादात्म्य) ज्ञान है। अतः दोनोंका प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि भ्रममें संसर्गज्ञान नहीं है। सामान्य अंशका ही प्रत्यक्ष तथा रजतका ही स्मरण है]।

ठीक नहीं, क्योंकि परमार्थ स्थलसे कुछ भी प्रकृतमें कमी नहीं है। [अर्थात् 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञानमें और 'इदं रजतम्' इस प्रमाज्ञानमें जरा-सी भी न्यूनताका अनुभव नहीं होता है। जब तक परमार्थ रजतज्ञानसे भ्रमज्ञानमें कोई न्यूनताका अनुभव न हो, तब तक यह कहना सङ्गत नहीं होता कि भ्रमज्ञानीय सामान्य और विशेष दोनों अंशोंका परस्पर संसर्गग्रह नहीं होता] यदि कहो कि भ्रमज्ञानमें पुरोवर्ती

रजताभाव एव न्यूनतेति चेद्, नः; किमपरोक्षसंविदभावाद्रजताभावनिश्चयः, किं वा नेदं रजतमिति बाधकज्ञानात् ? नाद्यः, संविदभावस्यैवाऽसंप्रतिपत्तेः। अर्थाभावेनैव संविदभावनिश्चये स्यादन्योन्याश्रयता। तस्मादपरोक्षसंवित्सद्भावादेव पुरोवर्तिरजतसत्ताऽभ्युपगन्तव्या। न च वैपरीत्येनार्थसत्तानिश्चयाधीनः संवित्सत्तानिश्चय इति वाच्यम्, तथा सत्यर्थनिश्चयोऽपि तथैव निश्चयान्तराधीन इत्यनवस्थाप्रसङ्गात्। तस्मात् संविन्निश्चयः स्वत एव तदधीना चार्थसत्ता। नापि द्वितीयः, 'इदं रजतम्' इति पूर्वज्ञानेन विरुद्ध-

रजतके अभावकी ही कमी है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें प्रश्न होता है कि क्या प्रत्यक्षज्ञानके अभावसे रजतके अभावका निश्चय किया जाता है अथवा 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस बाधक ज्ञानसे ? पहला पक्ष तो सङ्गत नहीं है, क्योंकि भ्रमात्मक रजतका प्रत्यक्षज्ञान नहीं है, इस प्रकार संविद्का अभाव सम्प्रतिपन्न—उभय वादियोंको सम्मत—नहीं है। यदि अर्थके (रजतादि विषयके) अभावसे ही प्रत्यक्षज्ञानका अभाव माना जाय, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। कारण कि अर्थाभावसे ज्ञानाभाव और ज्ञानाभावसे अर्थाभावका निश्चय होगा। इससे अपरोक्ष ज्ञान होनेसे ही पुरोवर्ती रजतकी सत्ता माननी चाहिए। ऐसा भी नहीं कह सकते कि आपके (वेदान्तीके) उक्त कथनके विपरीत अर्थकी (रजतादि विषयकी) सत्ताके निश्चयसे ही ज्ञानकी सत्ताका निश्चय हो सकता है, क्योंकि ऐसा माननेमें रजत आदि अर्थका निश्चय भी इसी तरहसे दूसरे-दूसरे निश्चयोंके अधीन होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। [यदि अर्थसत्ताके निश्चयानन्तर संवित्सत्ताका निश्चय कहो, तो अर्थसत्ताका निश्चय भी तो किसी निश्चयान्तरसे ही होगा और इस अर्थसत्ताके निश्चायक निश्चयान्तरका भी निश्चय तो निर्विषयत्व रूपी दोषभयसे निश्चयान्तरसे ही करना होगा, इस प्रकार अनवस्थासे मूलभूत अर्थसत्ताका निश्चय ही नहीं बनेगा। स्वतः तो अर्थसत्ताका निश्चय अर्थके जड़ होनेसे नहीं बनेगा, यह तात्पर्य हुआ]। इससे संवित्—प्रत्यक्षज्ञानकी सिद्धि स्वतः है और इस स्वतः सिद्ध प्रत्यक्ष ज्ञानके निश्चयसे अर्थकी सत्ता सिद्ध होती है। द्वितीय पक्ष—बाधक ज्ञानसे अर्थाभावका निश्चय भी उचित नहीं है, क्योंकि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस पूर्वज्ञानसे विरुद्ध 'नेदं रजतम्' (यह

स्योत्तरज्ञानस्य बाधासामर्थ्यात् । तर्ह्युत्तरज्ञानस्य का गतिरिति चेत्, पूर्वज्ञानस्य त्वन्मते या गतिः सैव भविष्यति । यथा त्वयेदं रजतमित्यत्रेदमाकाररजताकारयोरविवेकः कल्पितः तथा निषेधेऽप्यविवेक एव न तु संसर्गसंविदिति किं न कल्प्यते ? व्यवहारसंवादज्ञानान्निषेधसंसर्गसंविदस्तीति निश्चीयत इति चेत्, तर्हि संविदः स्वप्रकाशत्वं हीयेत । विप्रतिपन्नं

रजत नहीं है) इस द्वितीय ज्ञानमें बाधकत्वका सामर्थ्य नहीं बन सकता । जिस समय 'इदं रजतम्' (यह रजत है) ऐसा प्रथम ज्ञान हुआ उस समय कोई विरोधी तो है नहीं, अतः वह उत्पन्न हो जायगा । अनन्तर 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) उत्पन्न हुआ भी विरोधी ज्ञान प्रथम उत्पन्न ज्ञानका बाध कैसे कर सकेगा, यह अभिप्राय है] मीमांसक प्रश्न करता है—यदि वह बाधक नहीं है, तो उत्तरज्ञानका कैसे समन्वय होगा ? वेदान्ती प्रतिबन्दी उत्तर देता है—जैसा समन्वय आपके मतमें पूर्ववाक्यका है, वैसा ही समन्वय उत्तर वाक्यका भी होगा । इसीको स्पष्ट करते हैं—जैसे तुमने, 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस भ्रमज्ञानमें—इदमाकार (सामान्य अंश) और रजताकार (विशेष अंश) इन दोनोंका अविवेक (असंसर्गाऽज्ञान) कल्पित है [संसर्गसंवित् नहीं], ऐसा माना है, वैसे ही निषेधवाक्यमें भी अविवेक ही कल्पित होगा न कि निषेधका संसर्गज्ञान (संवित्) । [यह, रजत और अभाव—इन तीनोंके भी अविवेककी (असंसर्गाग्रह—संसर्गके अभावके अज्ञान की) कल्पना करके संगति हो जानेसे उत्तरवाक्यमें 'न' पदसे 'निषेधका संसर्गज्ञान ही बोधित होता है' ऐसा क्यों माना जाय ? यह आशय हुआ ।] 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस निषेधवाक्यसे रजताभावका ज्ञान होनेसे प्रवृत्त्यभावरूप व्यवहार देखा जाता है, इससे उत्तर वाक्यमें निषेधका संसर्गज्ञान रहता है, इस आशयसे मीमांसक प्रतिबन्दीका खण्डन करता है—व्यवहार—रजताभावज्ञानसे होनेवाला प्रवृत्त्यभावरूप व्यवहार—के संवादसे 'नेदं रजतम्' इस उत्तर वाक्यमें निषेधका सम्बन्धग्रह है, ऐसा निश्चय होता है और पूर्ववाक्यमें रजतज्ञानसे व्यवहार नहीं होता है, अतः उसमें सम्बंधसंवित्का सद्भाव नहीं है। वेदान्ती इसका खण्डन करता है—'व्यवहारसंवादज्ञानसे निषेधके सम्बन्धका ज्ञान होता है, यदि ऐसा मानते हो, तो संविद्-

प्रत्येवैवं प्रसाधनान्न समापसिद्धान्त इति चेत्, तथाप्यनवस्था दुष्परिहरा। न च पुरोवर्त्तिरजताभावः सर्वसम्प्रतिपन्न इति वाच्यम्, यथाप्रतिभासमेव मिथ्यारजतस्य शुक्तिज्ञानेन निरसनयोग्यस्याऽस्माभिरभ्युपगमात्। मिथ्यारजताभ्युपगमोऽपि नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधेन विरुध्यत इति चेत्, न; तस्य निषेधस्य लोकप्रसिद्धपरमार्थरजतविषयत्वात्। न चैवमप्रसक्तप्रतिषेधः शङ्कनीयः, मिथ्याभूते रजते परमार्थरजतार्थिप्रवृत्तिदर्शनेन परमार्थरजतत्वस्य सामान्योपाधौ प्रसक्तेरङ्गीकार्यत्वात्। अन्यथा भूतले

ज्ञानके स्वप्रकाशत्वका विधान हो जायगा। (मीमांसक संविद्को स्वप्रकाश मानता है, अतः उक्त रीतिसे अपसिद्धान्त दोष आ जाता है)। यदि मीमांसक आग्रह करे कि हम ऐसा प्रसाधन (व्यवहारसंवादसे संसर्गसंवित्का ग्रह कहना) उनके प्रति है, जो संवित्के स्वप्रकाशत्वमें विवाद करते हैं अर्थात् ज्ञानको अनुमेय मानते हैं, तो भी अनवस्थाका परिहार तो नहीं हो सकता। सामने विद्यमान शुक्त्यादिमें रजतका अभाव सभी वादी मानते हैं, यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि हम वेदान्ती प्रतिभासके अनुसार शुक्तिज्ञानसे बाधने योग्य मिथ्या रजतका स्वीकार करते ही हैं, इससे रजतका अभाव सर्ववादिसिद्ध है, ऐसा नहीं मान सकते। मीमांसक पुनः शंका करता है—'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस त्रैकालिक निषेधसे प्रतिभासकालमें भी मिथ्यारजतका स्वीकार विरुद्ध होगा। वेदान्ती उत्तर देता है—ऐसा नहीं, 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) यह निषेध लोकप्रसिद्ध परमार्थ (व्यावहारिक) रजतको विषय करता है। मीमांसकको यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि लौकिक रजत तो यहाँपर प्रसक्त ही नहीं है। 'इदं रजतम्' प्रतिभासका तो मिथ्यारजत विषय है, इससे जो प्रसक्त नहीं है, उसके निषेधका प्रसङ्ग होगा, (जो किसीको भी अभीष्ट नहीं है), क्योंकि मिथ्यारजतमें लोकप्रसिद्ध परमार्थ रजतकी इच्छावाले पुरुषकी प्रवृत्ति देखनेसे परमार्थ रजतत्वकी भी सामान्य उपाधि (इदमंश) में प्रसक्तिका अङ्गीकार माना गया है [यदि इदमंशमें केवल प्रातिभासिक रजत ही प्रसक्त होता, तो उसमें लौकिक रजतसे काम लेनेवाले पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती; किन्तु प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः रजतप्रतिभासकी प्रसक्तिसे एक

घटनिषेधोऽपि दुर्भणः स्यात्। घटसत्त्वे निषेधो व्याहन्येत घटासत्त्वे चाऽप्रसक्तप्रतिषेधः। ततो देशसामान्योपाधिना कालसामान्योपाधिना घटप्रसक्तिर्न तु साक्षात्। तथैव परमार्थरजतस्याप्यस्तु। एवं च सत्युत्तरकालीनो नाऽस्त्यत्र रजतमिति प्रत्ययः परमार्थरजतविषयो मिथ्यैव रजतमभादिति प्रत्ययश्च मिथ्यारजतविषय इत्युभयमप्युपपद्यते। अन्यथैकः प्रत्ययोऽपलप्येत।

ननु रजतापरोक्ष्यानुपपत्त्या तु संसृष्टावभासं परिकल्प्य तदुपपत्तये हि मिथ्यारजतकल्पनाक्लेशः क्रियते। रजतापरोक्ष्यं तु संसृष्टावभासमन्त-

---

सम्बन्धीज्ञान दूसरे सम्बन्धीका स्मारक होता है, इस न्यायके बलसे परामार्थ रजत भी बुद्धिमें आ जाता है, यह भाव हुआ]। ऐसा न माननेमें बाधक दिखाते हैं—अन्यथा—इसके विपरीत माननेमें—तो भूतलमें घटका अभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घटकी सत्तामें (घटके रहते हुए) घटका निषेध करना व्याहत—असङ्गत—होगा। और घटके न रहनेपर उसका निषेध करना अप्रसक्तप्रतिषेध हो जायगा। इसलिए देशसामान्य तथा कालसामान्य उपाधिसे ही घटकी प्रसक्ति कहनी होगी, साक्षात् तद्देश या तत्काल ही में प्रसक्ति प्राप्त नहीं है। एवं परमार्थ रजतकी भी सामान्यतः प्रसक्ति समझनी चाहिए। पूर्वोक्त प्रक्रियाका अङ्गीकार करनेपर उत्तरकालमें होनेवाले 'यहांपर रजत नहीं है' यह प्रत्यय (ज्ञान) लोकप्रसिद्ध परामार्थ रजतको विषय करता है। और झूठा ही रजत भासता था, यह ज्ञान मिथ्यारजतको विषय करता है, इस तरह दोनों ज्ञानोंकी व्यवस्थाकी उपपत्ति बन गई; नहीं तो एक ज्ञानका अपलाप हो जाता। [अर्थात् उत्तरकालमें यहां रजत नहीं है, अब तक मिथ्या ही रजत भासित हुआ था, ऐसी दो तरहकी प्रतीति होती है। यही दो प्रकारका अनुभव उक्त व्यवस्थामें प्रमाण है; यदि उक्त व्यवस्था न मानी जाय, तो परस्पर विरुद्ध होनेसे कोई एक ज्ञान नहीं होना चाहिए, यह अभिप्राय हुआ]।

मीमांसक पुनः शङ्का करता है—'रजतके प्रत्यक्षकी अनुपपत्तिसे 'इदं रजतम्' ज्ञानको परस्पर संसर्गयुक्त ज्ञान मानना पड़ता है। और माने हुए इस संसृष्ट ज्ञानकी उपपत्तिके लिए मिथ्यारजतकी कल्पनाका क्लेश उठाना पड़ता है। (ये सब क्लेश क्यों उठाए जायँ) रजतका प्रत्यक्ष तो संसर्गयुक्त ज्ञान माने बिना

रेणैवाऽपरोक्षशुक्तिज्ञानाविवेकादप्युपपद्यत इति चेद्, न; तथा सति विवेकज्ञानसमयेऽप्येतावन्तं कालं तद्रजतमनेनाऽविविक्तमित्यविवेक एव परामृश्येत, न च तथा परामृश्यते; किं त्वेतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादिति प्रत्यभिज्ञया संसृष्टावभास एव परामृश्यते। अतः पुरोवर्त्तिमिथ्यारजतमङ्गीकर्त्तव्यम्; अन्यथा शुक्तिं दृष्ट्वा रजते प्रवर्तत इति किं केन सङ्गच्छेत?

तस्मात् न स्मर्यमाणमिदं रजतम्, किन्तु स्मर्यमाणसदृशमेव। तत्सादृश्यं च पूर्वानुभवसापेक्षज्ञानगम्यत्वादुपपन्नम्। नह्यननुभूतरजतस्य रजतभ्रान्तिर्दृश्यते।

ही सामने विद्यमान चक्षुगोचर (प्रत्यक्षविषय) शुक्तिका विवेक न होनेसे (अर्थात् शुक्तिका रजतसे पृथक्‌रूपसे ज्ञान न होनेसे) भी बन सकता है। उत्तर देते हैं—यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा (शुक्तिज्ञानके अविवेकसे रजतका आपरोक्ष्य (प्रत्यक्ष) होता, तो शुक्तिज्ञानके विवेकके अनन्तर या विवेककालमें 'इतने समय तक, वह रजत इससे विविक्त (शुक्तिसे भिन्न) नहीं जाना' इस तरह अविवेक ही का परामर्श होता' परन्तु ऐसा परामर्श नहीं होता है; (प्रत्युत इसके विपरीत विवेकज्ञान होनेपर) 'इतने समय तक यह रजत है' ऐसा प्रतीत हुआ' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञासे संसृष्टज्ञानका ही परामर्श होता है। इसलिए (संसृष्टज्ञानकी उपपत्तिके लिए) पुरोवर्ती मिथ्यारजतका अङ्गीकार करना ही चाहिए। अन्यथा शुक्तिको देखकर रजतमें प्रवृत्ति होती है, यह प्रवृत्ति क्या किसी प्रकार संगत हो सकती है? [नियम है कि पुरुषकी जहां-कहीं भी प्रवृत्ति होती है, वह तद्विषयक ज्ञानके अनन्तर ही होती है। रजतकी इच्छा रखनेवाले पुरुषकी पुरोवर्ती 'इदम्' पदार्थमें प्रवृत्ति देखी जाती है; इससे इदंपदार्थको उसने रजतरूपसे अवश्य जाना है, ऐसा मानना ही होगा, यह भाव है।]

इससे इस भ्रमज्ञानके विषय रजतको स्मर्यमाण अर्थात् स्मरणका विषय नहीं कह सकते, किन्तु स्मर्यमाणके सदृश ही कह सकते हैं। और यह स्मर्यमाणका सादृश्य पूर्व अनुभवकी अपेक्षावाले ज्ञानसे ज्ञेय होनेके कारण संगत होता है। जिस पुरुषको कभी भी रजतका अनुभव नहीं हुआ है, उसको रजतभ्रम नहीं होता। [जैसे स्मर्यमाण पदार्थ स्मृतिसे ज्ञेय होता है, और स्मृतिज्ञान अनुभवकी अपेक्षा रखता है; वैसे ही भ्रमज्ञानका विषय पदार्थ भी रजतके संस्कारज्ञानसे ज्ञेय है और संस्कार पूर्वानुभवकी अपेक्षा रखता है, अतः स्मर्यमाण और भ्रमात्मक पदार्थमें

अत एव संस्कारजन्यत्वाद् ज्ञानाध्यासस्याऽपि स्मृतिसाम्यमवगन्तव्यम्। विमतं न संस्कारजम्, स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानत्वात्, प्रत्यक्षवत्; इति चेद्, न; संप्रयोगमात्रजन्यत्वस्योपाधित्वात्। न चाऽनुमानागमादिज्ञानेषु साध्याव्याप्तिः शङ्कनीया, व्याप्त्यादिज्ञानसापेक्षत्वेन संस्कारजेषु तेषु साध्याभावात्। स्यादेतत्—विमताः प्रत्यया यथार्थाः, प्रत्ययत्वात्,

पूर्वानुभवसापेक्षज्ञानगम्यत्व रूप सादृश्य बन गया।]

यह अर्थाध्यासमें सादृश्य कहा गया। अब ज्ञानाध्यासमें सादृश्य कहते हैं कि अतएव अनुभवसापेक्षसंस्कारगम्य होनेसे ही ज्ञानाध्यासमें भी स्मृतिकी समानता समझ लेनी चाहिए। * विमत—भ्रम संस्कारजन्य नहीं है, स्मृतिभिन्न ज्ञान होनेसे, प्रत्यक्षके समान। [कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षमें स्मृतिभिन्नत्व और संस्कारजन्यत्वाभावका साहचर्य नियमरूप व्याप्ति देखी गई है, अतः आपका वेदान्तीका] अभिमत स्मृतिभिन्न भ्रम भी संस्कारजन्य नहीं हो सकता। इस प्रकारके अनुमानसे स्मृतिसाम्य भ्रममें नहीं है, यदि वादी ऐसा कहे, तो उसका यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमानमें संप्रयोगमात्रजन्यत्व अर्थात् केवल इन्द्रियसंनिकर्षसे जन्यत्वरूप उपाधि † है। अनुमान, आगम आदि ज्ञानोंमें संस्कारजन्यत्वके अभावरूप साध्यकी अव्याप्ति है, अर्थात् अनुमानादिमें संस्कारजन्यत्वाभावरूप साध्य है, किन्तु सम्प्रयोगमात्रजन्यत्वरूप उपाधि नहीं हैं, अतः साध्यकी व्यापक उपाधि नहीं हुई, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उन अनुमान आदि ज्ञानोंमें व्याप्तिज्ञानकी भी अपेक्षा है, अतः संस्कारजन्य होनेसे संस्कारजन्यत्वाभावरूप

* विमतपदसे वह पक्ष लिया जाता है, जो विवादका विषय न हो। प्रकृतमें भ्रमज्ञानको वेदान्ती संस्कारजन्य और स्मृतिसे भिन्न एक ही ज्ञान मानते हैं। मीमांसक इससे विपरीत भ्रमको अनुभव और स्मरण रूप दो ज्ञान मानते हैं, इससे भ्रम विमतिग्रस्त होनेसे विमत कहलाता है।

† साध्यके व्यापक और साधनके अव्यापकको उपाधि कहते हैं। उपाधिको दिखानेके लिए स्मरण रखना चाहिए कि प्रायः पक्षमें साधनाव्यापकत्व और दृष्टान्तमें साध्यव्यापकत्व दिखाया जाता है। जैसे प्रकृतमें भ्रमज्ञान पक्ष है, उसमें साधन (हेतु) स्मृतिभिन्नज्ञानत्व विद्यमान है और सम्प्रयोगमात्रजन्यत्व नहीं है। क्योंकि भ्रम दोषादिसे भी जन्य होता है। अतः साधनाव्यापकत्व उक्त उपाधिमें आ गया। दृष्टान्त प्रत्यक्षज्ञानमें संस्काराजन्यत्वरूप साध्य और उपाधि दोनों हैं, अतः उपाधि साध्यव्यापक हो गई। यहांपर व्यापकका लक्षण समानाधिकरणघटित समझना चाहिए।

संमतवत्, इति न्यायेन प्रमाणं स्मृतिश्चेति द्वैराश्यमेव ज्ञानस्य। तथा च रजतज्ञानमपि नाऽध्यासः, किन्तु स्मृतिः, संस्कारमात्रजन्यत्वात्, संमतवत्। न च स्मृतित्वे सत्यतिसादृश्याच्छुक्त्यन्तरमेव किं न स्मर्यत इति वाच्यम्, कर्तृगतरागादिदोषाणामपि निमित्तत्वात्, शुक्त्यन्तरे तदभावात्। तैरेव दोषैः स्मरणाभिमानस्य प्रमुषितत्वान्न रजतस्मरणे तत्तांश उल्लिख्यते। तथाविशेषावभासकत्वस्य तैरेव प्रतिबद्धत्वान्न शुक्तिग्रहणेऽपि नीलपृष्ठत्वादिकमवभासते। तथा च ग्रहणस्मरणे उभे अप्यविविक्ते संपद्येते, ततो रजतार्थी पुरोवर्त्तिनि प्रवर्त्तते।

ननु किं ग्रहणस्मरणे द्वे अपि प्रवर्त्तके? आहोस्विदेकैकम्। आद्येऽपि

साध्य भी उनमें नहीं है। मीमांसक अपना मत प्रकट करता है—विमत—सभी भ्रमादिज्ञान यथार्थज्ञान—प्रमाज्ञान—ही हैं, ज्ञान होनेसे—संमतके अर्थात् प्रत्यक्षादि ज्ञानके समान, इस अनुमानसे इन्द्रियसम्प्रयोगादिजन्य प्रमाण ज्ञान और स्मरण इस प्रकार ज्ञानके दो ही भेद हो सकते हैं। इस दशामें भ्रमात्मक रजतज्ञान भी अध्यास नहीं है, किन्तु स्मृति ही है, क्योंकि वह संस्कारमात्रजन्य है, जैसे कि सम्मत। अर्थात् माता, पिता आदिके स्मरणात्मक ज्ञान संस्कारजन्य हैं। 'यदि भ्रमको स्मरण माना जाय, तो शुक्तिके अत्यन्त सादृश्यसे दूसरी शुक्तिका ही स्मरण होना चाहिए, रजतका नहीं' यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि रजतार्थीमें विद्यमान रागादि दोष भी भ्रममें निमित्त माने गये हैं, वे दोष दूसरी शुक्तिमें नहीं हैं। इन्हीं दोषोंके कारण स्मरणाभिमानके प्रमेय हो जानेसे रजतके स्मरणमें तत्तांशका उल्लेख नहीं होता है। एवम् इन्हीं दोषोंके कारण विशेषताके सूचक धर्मोंके भी प्रतिबद्ध हो जानेसे शुक्तिका अनुभव होते हुए भी नीलपृष्ठत्वादिका अवभास नहीं होता है। इस प्रकार अनुभव और स्मरण दोनों भी अविविक्त हो जाते हैं अर्थात् पार्थक्यरूपसे गृहीत नहीं होते हैं, इसलिए रजतार्थी पुरुषकी पुरोवर्ती पदार्थमें ही प्रवृत्ति होती है।

वेदान्ती मीमांसकके मतमें दोष देते हैं—आपने (मीमांसक ने) कहा कि अविविक्त हुए ग्रहण और स्मरण प्रवृत्ति कराते हैं, इसमें हम (वेदान्ती) आपसे पूछते हैं कि ग्रहण (अनुभव) और स्मरण दोनों प्रवर्तक हैं या एक-एक प्रवर्तक

किं संभूय प्रवर्त्तके ? किं वा क्रमेण ? नाऽऽद्यः, स्मृतिग्रहणयोर्यौगपद्याभावात्। क्रमविशिष्टयोर्द्वयोः प्रवर्त्तकत्वमित्ययुक्तम् ; पूर्वज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति व्यवहितस्याऽकारणत्वात्। नाऽप्येकैकस्य प्रवर्त्तकत्वम्, व्यवहारस्य विशिष्टविषयत्वात्। ततो विशिष्टप्रवृत्तये संसृष्टप्रत्यय एष्टव्य इति चेद्, न; ग्रहणस्मरणनैरन्तर्योत्पत्तेः प्रवर्तकत्वात्। इदं रजतमित्यभादिति संसर्गप्रत्ययः प्रत्यभिज्ञायत इति चेद्, न; तादृशव्यवहारमात्रत्वात्। यस्तु जातमात्रस्य बालस्य मधुरे तिक्तत्वावभासस्थूत्कारात्द्यनुमेयः, सोऽपि जन्मान्तराद्यनुभूततिक्तत्वस्मृतिरेव, न तु भ्रान्तिरूपः संसर्गप्रत्ययः। माधुर्यविशेषतत्तांशौ

हैं। यदि प्रथमपक्ष मानते हो, तो क्या दोनों मिलकर प्रवर्तक होते हैं ? या क्रमशः ? पहला पक्ष नहीं बनता, क्योंकि ग्रहण और स्मरण इन दोनोंका एक कालमें होना असम्भव है, कारण कि ज्ञानेच्छादि योग्य विभु गुणोंका उत्तरगुणनाश्यत्व माना गया है। क्रमसे होनेवाले दोनों ज्ञानोंको क्रमशः प्रवर्तक मानना भी अयुक्त है, क्योंकि पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञानसे व्यवहित है, अतः वह प्रवृत्तिके प्रति कारण नहीं हो सकता। एक-एक भी प्रवृत्तिका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि व्यवहार विशिष्टको विषय करता है अर्थात् रजतार्थीकी प्रवृत्ति रजतत्वविशिष्ट पुरोवर्ती पदार्थमें होती है। यह प्रवृत्ति पूर्वोक्त नियमके अनुसार एक विशिष्टज्ञानसे ही हो सकती है—एक-एक ज्ञानसे नहीं हो सकती, यह तात्पर्य है अतः विशिष्ट प्रवृत्तिके लिए संसर्गयुक्त विशिष्टज्ञानको ही अभीष्टका साधक मानना होगा। इस पूर्वोक्त पूर्वपक्षका मींमांसक उत्तर देता है—यह पूर्व पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रहण और स्मरणकी अव्यवधानसे उत्पत्ति ही प्रवृत्तिके प्रति हेतु होगी। 'इदं रजतम्' (यह रजत है) ऐसा प्रतीत हुआ, इस प्रतीतिसे संसर्गयुक्त विशिष्ट ज्ञानकी प्रत्यभिज्ञा होती है; यह भी कहना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा व्यवहारमात्र है (अर्थात् जैसे दूरस्थ दो वृक्षोंमें उत्पन्न न हुआ भी एकत्व दूरत्वदोषसे भासित होता है, वैसे ही सर्वत्र भ्रममें संसर्गयुक्त विशिष्ट ज्ञानके उत्पन्न न होते हुए भी दोषवशात् संसर्गज्ञानकी प्रत्यभिज्ञाका व्यवहार होता है।) [इससे संसृष्टज्ञान उत्पन्न ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यह भाव है]। सद्योजात बालकके थूकनेसे अनुमान किये गये मधुर रसमें कड़ुवापनका ज्ञान भी जन्मान्तरमें अनुभूत तिक्त रसका स्मरण ही है, भ्रमरूप संसर्गज्ञान नहीं है। माधुर्यविशेष और तत्ता ये दोनों अंश तो ग्रहण और स्मरण

तु ग्रहणस्मरणयोः पित्तदोषान्नोल्लिख्येते। जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यत इति च भाष्यकारवचनं प्रायिकाभिप्रायम्। अन्यथा स्तनपानादावपीष्टसाधनतास्मृत्यभावेन प्रवृत्तिर्न स्यात्। भ्रान्तिपक्षेऽपि जन्मान्तरानुभवः कारणत्वेनैष्टव्यः। अन्यथाऽनुभूतत्वाविशेषेण सप्तमरसोऽपि भ्रान्तौ भासेत। अतत्त्वे तत्त्वज्ञानमिति वदता शास्त्रकारेणैव दर्शितः संसर्गावभासो भ्रमत्वेनेति चेद्, न; तस्य व्यवहाराभिप्रायत्वात्। सम्यक्प्रदेशेषु संसर्गज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वं व्याप्तं तत्कुतोऽत्र त्यज्यत इति चेद्, गौरवादिति ब्रूमः। भ्रान्ति-

---

दोनों ज्ञानोंमें पित्त दोषसे ही विषय नहीं होते हैं। [ग्रहणमें माधुर्यविशेषकी प्रतीति और तिक्तमें तत्ताकी प्रतीति दोषसे छिप जाती है, यह भाव है।] 'जन्मान्तरमें अनुभूतका स्मरण नहीं होता है' यह भाष्यकारका वचन तो प्रायिक है [अतः आप्तवचनसे कोई विरोध नहीं है]। यदि ऐसा न माना जाय, तो स्तनपानादिमें भी इष्टसाधनताका स्मरणात्मक ज्ञान न होनेसे प्रवृत्ति न होगी। [क्योंकि प्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनत्वका ज्ञान अर्थात् यह कार्य मेरा इष्टका साधक है, ऐसा ज्ञान कारण है, अतः भाष्यवचनको प्रायिक ही मानना चाहिए।] बालकके उस तिक्तावभासको यदि भ्रान्ति मानें, तो भी जन्मान्तरका अनुभव कारण बनानेके लिए आश्रयणीय होगा ही। [क्योंकि भ्रममें पूर्वानुभवको कारण वेदान्ती मानते ही हैं। पहले ही कह आये हैं कि जिसको रजतका अनुभव नहीं है उसको रजतभ्रम नहीं होता, यह गूढ़ाभिप्राय है।] नहीं तो, अननुभूतत्वमें कोई विशेष न होनेसे मधुरादि छः रसोंसे अतिरिक्त सातवां रस भी भ्रममें भासित होना चाहिए। [जैसे इस जन्ममें अनुभवमें न आया हुआ मधुर रस बालकके भ्रमका विषय होता है, वैसे ही अनुभवमें न आया हुआ सप्तम रस भी भ्रमका विषय होना चाहिए, यह तात्पर्य हुआ।] 'जो वस्तु तात्त्विक नहीं है, उसमें तत्त्वज्ञान होना भ्रम है, इस प्रकार कहनेसे सांख्यशास्त्रकारोंने भी भ्रममें संसर्गज्ञान दिखलाया है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रोंका यह वचन भी व्यवहारके अभिप्रायसे ही है (अर्थात् अयथार्थ ज्ञानके अभावमें भी अयथार्थ व्यवहार होता है; एतदभिप्रायक सांख्यसिद्धान्त है।) यदि शङ्का करो कि यथार्थ ज्ञानस्थलमें संसर्गज्ञान प्रवर्तक माना गया है, उसका प्रकृतमें त्याग करना उचित नहीं है? तो इसका समाधान यही करते हैं कि प्रकृतमें ऐसा मानना गौरवग्रस्त है।

वादिनाऽपि तत्कारणत्वेनाऽवश्यं ग्रहणस्मरणयोरविवेक एष्टव्यः। तथा च तेनैवोभयसिद्धेन प्रवृत्तिसिद्धौ किमतिरिक्तसंसर्गज्ञानेन? तस्मादख्यातिरेव युक्तेति।

अत्रोच्यते—केयमख्यातिर्नाम। किं ख्यात्यभावमात्रमुतान्यार्थिनोऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतुविज्ञानम्? अथाविविक्तानेकपदार्थज्ञानम्? आद्ये, सुषुप्तौ भ्रमः स्यान्न जाग्रत्स्वप्नयोः। द्वितीये, झटिति बाधादालस्याद्वा यत्र न प्रवृत्तिस्तत्र

भ्रमवादीको—एकविशिष्टसंसर्गज्ञानरूप भ्रम माननेवालेको—भी भ्रमके प्रति कारणरूप ग्रहण और स्मरणका अविवेक मानना तो आवश्यक ही है। इस अवस्थामें उभयवादिसिद्ध पूर्वोक्त ग्रहण और स्मरणके अविवेकसे ही विशिष्टव्यवहारकी यदि उपपत्ति हो जाती है, तो अतिरिक्त भ्रमात्मक संसर्गज्ञानकी कल्पना क्यों की जाय? [ग्रहण और स्मरणसे अतिरिक्त तृतीय ज्ञानकी कल्पना करनेमें स्पष्ट ही गौरव है और मेरे—ग्रहणस्मरणवादीके मतमें गौरव नहीं है, क्योंकि 'इदम्' पदार्थका ग्रहण भ्रमवादी मानता ही है, अन्यथा अधिष्ठानका स्फुरण ही नहीं होगा। एवं पूर्वानुभूत रजतका स्मरण भी अनिवार्य है, अन्यथा जिसने रजतका अनुभव नहीं किया है, उसको भी रजतभ्रम होना चाहिए। इससे ग्रहण और स्मरणके उभयमतसिद्ध होनेसे हमारा यह पक्ष गौरवग्रस्त नहीं है, यह वादीका तात्पर्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अख्याति ही युक्त है।

वेदान्ती अख्यातिवादका खण्डन करता है—इस मतके विषयमें कहा जाता है कि आपकी अख्याति क्या वस्तु है? [इसका विवेचन कीजिए, ऐसा भीमांसकके प्रति पर्यनुयोग हुआ] विकल्प करते हैं—क्या ख्यातिका न होना ही अख्याति है? अथवा अन्य वस्तुको चाहनेवाले पुरुषकी अन्य वस्तुमें प्रवृत्तिकारणत्वका विज्ञान ख्याति है? या अविविक्त अनेक वस्तुओंका विज्ञान ख्याति है। पहला पक्ष तो नहीं हो सकता, क्योंकि इसके माननेमें केवल सुषुप्ति (गाढ़निद्रा)* ही में भ्रम हो सकेगा जागर-स्वप्नमें नहीं होगा। जागर या स्वप्नमें कुछ-न-कुछ ख्याति रहती ही है, अतः ख्यातिका सामान्याऽभाव नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी दोषपूर्ण है, 'इदं रजतम्' इस भ्रमके अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही शीघ्र 'नेदं रजतम्' बाध हो गया,

* वस्तुतः वेदान्तमतमें सुषुप्तिमें भी अज्ञानकी ख्याति रहती ही है, अतः अभ्युपगमवादसे यह ग्रन्थ है या 'पररीत्या परो बोधनीयः' इस न्यायसे प्रवृत्त है।

भ्रान्तिर्न स्यात् । तृतीयेऽपि अविविक्तत्वप्रतियोगिविविक्तत्वं नाम किं भेदग्रहः ? उताभेदाग्रहः ? अहोस्वित् इतरेतराभावभेदद्वित्वादिसंख्याविशिष्ट-ज्ञानम् ? नाद्यः, इदमिति रजतमिति चाऽपुनरुक्तशब्दद्वयस्मृतिहेतुत्वेन सामान्यविशेषयोर्भेदग्रहे सत्यविवेकासंभवात्। न द्वितीयः, उक्तरीत्या भेदस्य गृहीतत्वादेव तद्विरुद्धस्याभेदस्याऽऽग्रहे सति तदग्रहनिषेधस्याऽविविक्तत्वस्य दुःसंपादत्वात्। तृतीयेऽपि किमाहत्यैव द्वित्वादिज्ञानमपेक्षितम् ? उताऽऽनुषङ्गि-कमपि पर्याप्तम् । आद्ये, 'गामानय दण्डेन'इत्यत्र गोदण्डयोरपि साक्षाद् द्वि-

अथवा 'इदं रजतम्' इस भ्रमके रहते भी आलस्यके कारण जहाँ प्रवृत्ति न हुई वहाँपर द्वितीय विकल्पात्मक अख्याति (भ्रम) नहीं होनी चाहिए । तीसरा विकल्प भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि इस तीसरे विकल्पमें भी विविक्तत्वके अभावका प्रतियोगिभूत विविक्तत्व क्या भेदका ज्ञान है ? अथवा अभेदका अज्ञान विविक्तत्व है, या इतरेतराभाव-भेद-द्वित्वादिसंख्याविशिष्ट ज्ञान विविक्तत्व है ? [जैसे घट और पटका विवेक इतरेतराभावविशिष्टज्ञान है और दोनोंका भेदविशिष्ट ज्ञान भी है एवम् दोनोंमें विद्यमान द्वित्व संख्याविशिष्टज्ञान भी है, अतः इन दोनोंका विवेकग्रह बनता है । अन्यथा अविवेक होगा वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए यह इन विकल्पोंका भाव है] इनमें प्रथम पक्ष—भेदज्ञान युक्त नहीं है, क्योंकि 'इदम्' और 'रजतम्' इन दोनों अपुनरुक्त शब्दोंके स्मृतिके कारण होनेसे 'इदम्' सामान्य और 'रजतम्' विशेष इन दोनोंका भी भेदग्रह स्पष्ट होनेपर 'इदम्' और रजतका अविवेक असम्भव होगा । द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि जब प्रथम विकल्पके खण्डनके अवसरमें प्रदर्शित रीतिसे भेदग्रह हो ही गया, तब भेदके विरोधी अभेदके अग्रह रहते हुए इस अभेदाऽग्रहके निषेधस्वरूप अविविक्तत्वका सम्पादन दुःसाध्य हो जायगा । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें विकल्प होगा कि निरुक्त द्वित्वादिका ज्ञान साक्षात् रहना चाहिए या उसका आनुषङ्गिकरूपसे रहना भी विवेकग्रहके लिए उपयुक्त है, यदि साक्षात् द्वित्वादिज्ञान विवेकका उपयोगी माना जाय, तो 'दण्डसे गौ ले आओ' इस वाक्यमें गौ और दण्डमें भी साक्षात् * द्वित्वादिकी प्रतीति न होनेसे अविवेककी (भ्रमकी) प्रसक्ति हो जायगी ।

* गौ और दण्ड इनमें साक्षात् एकत्व ही है, अन्यथा इनमें द्विवचन हो जाना चाहिए । यदि गोमें कर्मभाव और दण्डमें करणभावका भेदका साक्षात् होनेसे विवेक है ही, ऐसा

त्वाद्यप्रतीतेरविवेकः प्रसज्येत। द्वितीये, पुरोवर्त्तिरजतयोरप्यानुषङ्गिकद्वित्वादि-ज्ञानसद्भावादविवेको न स्यात्।

ननु प्रतियोगिनमुपजीव्याविवेकानिरूपणेऽपि धर्मिद्वारा निरूप्यतामिति चेत्? तदप्यसत्; न तावत् प्रतीयमानयोर्धर्मिणोरविवेकः संभवति, अपुनरुक्तत्वेन स्पष्टं प्रतिभासात्। अप्रतीयमानयोरविवेकश्चेत्? सुषुप्तावपि भ्रमः प्रसज्येत।

नन्वविवेको नामाऽसंसर्गाग्रहः। स च प्रतीयमानयोरिदंरजतयोः संभवति, 'इदंरजते असंसृष्टे' इति प्रत्ययादर्शनादिति चेत्, तदाऽपि किं ग्रहण-

---

दूसरे * पक्षमें तो पूरोवर्ती 'इदम्' पदार्थ और 'रजत' इन दोनोंमें भी आनुषङ्गिक द्वित्वादिज्ञानका सद्भाव है ही, अतः इनका (इदम् और रजतका) अविवेक (संसर्गभ्रम) नहीं हो सकेगा।

यदि शङ्का हो कि प्रतियोगी (विवेक) के निरूपण द्वारा अविवेकका प्रतिपादन नहीं बन सकता है, तो मत बने; परन्तु धर्मियोंके द्वारा ही यदि निरूपण कर लिया जाय, तो क्या हानि है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतीतिमें आनेवाले "इदम् और रजत" दोनों धर्मियोंका अविवेक सम्भव नहीं है। वहां तो अपुनरुक्त भिन्न-भिन्न इदम् और रजत इस प्रकार प्रतीतिमें आनेसे भेदकी स्पष्ट ही प्रतीति हो रही है। यदि प्रतीतिमें न आनेवाले धर्मियोंके अविवेकका भ्रम मानो, तो सुषुप्तिमें भी भ्रमका प्रसङ्ग हो जायगा। [सुषुप्तिमें किसी भी आकारका ज्ञान नहीं रहता है, यह भाव है।]

पुनः मीमांसक अविवेकका विवरण करता है—असंसर्ग (सम्बन्धाभाव) का अग्रह (ज्ञान न होना) ही अविवेक कहलाता है। और वह असंसर्गका अग्रह प्रतीतिमें भासनेवाले इदम्—पुरोवर्ती और रजतका हो सकता है, क्योंकि इदं और रजत असंसृष्ट (संसर्गाभावविशिष्ट) हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता है। वेदान्ती खण्डन करता है—"यह भी सङ्गत नही है" क्योंकि अविवेकका अर्थ असंसर्गका अग्रह माननेपर भी हम विकल्प करेंगे कि क्या ग्रहण (अनुभव) और

कहा जाय, तो गोगत कर्मकारकत्व और दण्डगत करणकारकत्वका भेद कैसे बनेगा, क्योंकि कारकत्व दोनोंमें समानरूपसे विद्यमान है। तब इन कर्मकारक और करणकारकका भेदप्रयोजक आप कर्मबोधिका और करणबोधिका भिन्न २ दो विभक्तियोंके आनेसे अपुनरुक्त शब्द द्वारा ही भेद कहेंगे, तो आनुषङ्गिक भेदादि द्वारा द्वित्वादिविशिष्टज्ञान हुआ, इस आशयसे माने हुए आनुषङ्गिक द्वित्वादिविशिष्टज्ञान पक्षका खण्डन इस ग्रन्थसे करते हैं—

स्मरणयोरेवाऽसंसर्गाग्रहो विवक्षितः, उत ययोः कयोश्चिद् ? आहोस्वित् संसर्गज्ञानरहितयोः । आद्ये 'अहं मनुष्यः' इति भ्रमो न स्यात्; उभयोरपि ग्रहणत्वात् । द्वितीये 'खण्डो गौः, शुक्लः पटः' इत्यपि भ्रमः स्यात्; असंसर्गप्रतीत्यभावात् । तृतीयेऽपि स एव दोषः; नहि तत्र संसर्गज्ञानं संभवति । तद्विषयस्यैक्यस्याऽभावात् । ऐक्यस्य च तद्विषयत्वं प्रत्यभिज्ञायामवगतम् ।

यदि गुणगुण्यादिसंबन्ध एव तद्विषयो नैक्यमित्युच्यते तर्हीदं रजतमित्यत्राऽपि सादृश्यसंबन्धस्तद्विषय इति वक्तुं शक्यत्वेन संसर्गप्रत्ययो

स्मरण इन दोनों ज्ञानोंके असंसर्गके अग्रहको ही अविवेक कहते हैं ? अथवा किसी भी दो ज्ञानोंके असंसर्गके अग्रहको अविवेक कहते हैं ? अथवा संसर्गरहित ज्ञानोंके ही असंसर्गाऽग्रहको अविवेक कहते हैं ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो 'अहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य हूँ) इस प्रतीतिको भ्रम नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इस प्रतीतिमें मैं और मनुष्य ये दोनों ज्ञान अनुभवात्मक ही हैं; इसलिए 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञानमें ग्रहण और स्मरणके अविवेकरूप भ्रमके लक्षणकी अव्याप्ति हो जायगी । द्वितीय पक्ष माननेसे 'खण्डो गौः' (एक प्रकारका विशेष गौ) इस ज्ञानमें और 'शुक्ल पटः' (सफेद कपड़ा) इस ज्ञानमें भ्रमत्व हो जायगा । इससे लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आवेगा; क्योंकि प्रदर्शित दोनों ज्ञानोंमें असंसर्गकी प्रतीति नहीं है । तृतीय विकल्पमें भी प्रथम विकल्पमें उक्त दोषका ही सद्भाव है, अतः वह भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि 'खण्डो गौः' इत्यादि ज्ञानमें संसर्गज्ञानका सम्भव ही नहीं है । संसर्गज्ञानका प्रयोजक ऐक्यज्ञान उक्त ज्ञानमें है ही नहीं । संसर्गज्ञानका ऐक्य आलम्बन है, यह 'सोऽयम्' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञामें सिद्ध है ।

यदि मीमांसक गुणगुण्यादिसम्बन्ध ही संसर्गज्ञानका आलम्बन है, ऐक्य नहीं, ऐसा समाधान करे, तो 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस ज्ञानमें सादृश्यसम्बन्ध भी संसर्गज्ञानका विषय है, ऐसा भी मान सकते हैं, इससे 'इदं रजतम्' इस भ्रममें भी संसर्गज्ञानका निवारण नहीं हो सकता । [इससे लक्षणमें अव्याप्ति दोष रह जायगा । खण्डनकर्ताका आशय यह है कि गुणगुण्यादि सम्बन्ध सब संसर्गज्ञानके प्रयोजक हैं, यह तो असम्भव होनेसे आप नहीं मान सकते, अतः प्रत्येकको ही उसका प्रयोजक मानना होगा;

दुर्वारः । अथ तत्र नेदं रजतमिति असंसर्गप्रत्ययेन बाधान्न संसर्गतत्प्रत्ययौ संभवतः; तर्हि त्वन्मते गुणगुण्यादावपि इतरेतराभावज्ञानाख्योऽसंसर्गप्रत्ययोऽस्त्येवेति संसर्गतत्प्रत्यययोरसंभवाद् भ्रमत्वापत्तिस्तदवस्था । तस्माद् नाऽसंसर्गाग्रहोऽप्यविवेकः ।

नन्वविवेकं दूषयताऽत्र विवेचकं किंचिन्निरूपणीयम् । न तावत् ग्रहणं स्मर्यमाणात् स्वार्थं विविनक्ति; विशेषावभासकत्वस्य दोषैः प्रतिबद्धत्वात् । नाऽपि स्मरणं गृह्यमाणात् स्वार्थं विवेक्तुमलम्, स्मरणाभिमानस्य प्रमुषितत्वादिति चेद् ? मैवम्; उभयोरपि विवेचकत्वस्य सुसंपादत्वात् । तथा हि—

इस अवस्थामें हम सादृश्यसम्बन्धको भी संसृष्टभानका प्रयोजक मान सकते हैं, क्योंकि कोई राजनियम तो है नहीं कि केवल पांच ही सम्बन्ध संसर्गज्ञानके प्रयोजक हैं, छठा या सातवाँ नहीं है]। यदि कहो कि 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस असंसर्गज्ञानसे बाधित हो जानेके कारण 'इदं रजतम्' इसमें संसर्ग और संसर्गज्ञान नहीं हो सकते, तब तो तुम्हारे (मीमांसकके) मतमें गुणगुण्यादिस्थलमें भी इतरेतराऽभावज्ञानरूप (एकमें दूसरेका परस्पर अभावज्ञानरूप) असंसर्गज्ञान विद्यमान ही है, इससे—संसर्ग और उसके ज्ञानके असम्भव होनेसे गुणगुण्यादिभावविशिष्ट 'शुक्लः पटः' इत्यादि ज्ञानमें भ्रमत्वकी आपत्ति तदवस्थ ही (वैसी ही बनी) है । इससे अव्याप्ति–अतिव्याप्तिदोषपूर्ण होनेसे असंसर्गाऽग्रह—संसर्गके अभावके अग्रहरूप—अविवेकका (भ्रमका) निर्वचन नहीं हो सकता ।

शङ्का—अविवेकको अर्थात् ग्रहण और स्मरणके विवेकाग्रहको माननेमें दूषण देनेवाले वेदान्तीको 'ग्रहणस्मरणका अविवेक 'भ्रम नहीं है, किन्तु ग्रहणस्मरणसे भ्रममें विवेक (भेद) है' इसको सिद्ध करनेके लिए किसी विवेचकका निरूपण करना चाहिए । ग्रहण तो अपने विषयको स्मरणके विषयसे विभक्त नहीं कर सकता, क्योंकि विशेषको सूचित करनेवाले शुक्तित्वादि दोषोंसे प्रतिबद्ध है । एवं स्मरण भी अपने विषयको अनुभूयमानसे विभक्त करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उसका स्मरणाभिमान दोषोंसे ही प्रमुषित हो गया है; [अतः किसी विवेचकके न होनेसे ग्रहण और स्मरणके अविवेकको ही भ्रम मानना चाहिए; उससे अतिरिक्तको भ्रम नहीं मानना चाहिए, यह भाव है ।]

किमिदमाकाररजताकारयोस्तत्तज्जातिव्यक्तिविशिष्टयोरेव त्वया भेदोऽभ्युपेयते किं वा केवलयोरपि ? नाऽद्यः, प्रकृतयोरिदमाकाररजताकारयोर्जात्याद्यविशिष्टयोर्भेदाभावेनैक्ये सति तद्गोचरसंसर्गज्ञानप्रसङ्गात्। द्वितीयेऽपि किं प्रथमज्ञानेन वस्तु गृहीत्वा द्वितीयज्ञानेन धर्मिप्रतियोगिभावमवगत्य पश्चात् तृतीयज्ञानेन भेदो गृह्यते ? उत वस्तुना सहैव भेदग्रहणम् ? आद्ये सर्व-

समाधान—नहीं, उक्त शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ग्रहण और स्मरण दोनों ही विवेचक हो सकते हैं; इसे कहते हैं—* क्या तत्तज्जातिव्यक्तिविशिष्ट इदमाकार और रजताकारके भेदका आप स्वीकार करते हैं ? या केवल इदमाकार और रजतके भेदका ही ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो 'इदं रजतम्' इस प्रकृत भ्रममें भासित होनेवाले इदमाकार और रजताकार दोनोंके तत्तज्जातिव्यक्तिविशिष्ट न होनेसे उनका भेद है नहीं, अतः ऐक्य होनेसे ऐक्यालम्बनक संसर्गज्ञानका प्रसङ्ग हो जायगा। [अर्थात् परस्पर विरोधी दो पदार्थोंमें एकका निषेध करनेसे दूसरेका विधान स्वतः सिद्ध हो जाता है, इस प्रसिद्ध नियमसे प्रकृतमें भेदका निषेध करनेसे ऐक्य होगा, और ऐक्यसे संसर्गज्ञानके प्रसङ्गसे भ्रमलक्षणकी आपके मतमें अव्याप्ति होगी, यह भाव है]। यदि द्वितीय पक्ष अभीष्ट है, तो भेदग्रहकी प्रक्रिया बतलाइए। क्या 'इदं रजतम्' इस प्रथम ज्ञानसे वस्तुओंका (इदम् और रजत का) ज्ञान हुआ, अनन्तर दूसरे ज्ञानसे गृहीत वस्तुओंमें धर्मिप्रतियोगिभावका ज्ञान (एक वस्तुमें धर्मिज्ञान दूसरी वस्तुमें प्रतियोगिबुद्धि अर्थात् अमुक वस्तुका भेद अमुक वस्तुमें हैं, इस प्रकारका ज्ञान) करके तदनन्तर तृतीय ज्ञानसे भेदका ग्रह होता है ? अथवा वस्तुग्रहके साथ-साथ प्रथम ज्ञानसे ही भेदका भी ज्ञान हो जाता है ? अर्थात् भेदविशिष्ट ही वस्तुका भान होता है ? ये दोनों ही प्रक्रियाएँ सङ्गत नहीं हैं, क्योंकि यदि प्रथम पक्ष मानो, तो सम्पूर्ण वस्तुओंके ज्ञानको, भेदके ज्ञानसे पूर्व अविविक्तविषयक होनेसे, भ्रमज्ञान कहना पड़ेगा, परन्तु यह किसीको भी इष्ट नहीं है। यदि द्वितीय पक्ष मानो, तो 'इदं रजतम्' इस ज्ञानमें प्रथमतः इदमाकारके ज्ञात होते ही भेदका भी ग्रह हो जानेके कारण

* ग्रहणसे स्मरणका और उसके विषयका स्मरणके विषयसे विवेक हो सकता है। इसका समर्थन करते हुए पूर्वोक्त दोषोंका निराकरण करते हैं—'तथाहि' इत्यादिसे।

पदार्थज्ञानानां भेदग्रहणात् प्राग् अविविक्तविषयतया भ्रमत्वप्रसङ्गः। द्वितीये च इदन्ताग्रहणादेव भेदस्यापि गृहीतत्वेन भेदापेक्षितो विशेषोऽप्यवभासित एवेति ग्रहणस्य विवेचकत्वमङ्गीकार्यम्।

तथा स्मरणमपि विवेचकमेव। नहि स्मरणाभिमानो निरूपयितुं शक्यः, यत्प्रमोषात् स्मृतेरविवेचकत्वम्। तथा हि किं स्मृतिरेव स्मरणाभिमानः स्मृतेरन्यो वा स्मृतिगतधर्मो वा पूर्वानुभवविशिष्टत्वेनाऽर्थग्रहणं वा स्वगत एव कश्चित्स्मृतिविशेषो वा पूर्वानुभवगोचराद्विशिष्टज्ञेयनिमित्तो विशेषो वा फलभेदकजनकत्वं वा स्मरामीत्यनुभवो वा। नाऽद्यः, स्मृतेः

भेदसे अपेक्षित विशेषाकारका भी अवभास हो ही गया, अतः ग्रहणको विवेचक मानना चाहिए अर्थात् जब ग्रहण विवेचक हो गया, तब अविवेक कैसे रह सकता है, यह भाव है।

उसी प्रकार स्मरण भी विवेचक हो ही सकता है, जिसके प्रमोषसे स्मरण विवेचक नहीं बन सकता, ऐसे आपके अभिमत स्मरणाभिमानका निरूपण नहीं किया जा सकता, क्योंकि क्या स्मृति ही स्मरणाभिमान है? या स्मृतिसे भिन्न? अथवा स्मृतिमें रहनेवाला धर्म? अथवा पूर्वानुभवविशिष्टत्वरूपसे (पहिले इसका अनुभव हुआ है, इस प्रकारकी प्रतीतिसे) अनुविद्ध वस्तुका ज्ञान? अथवा स्वगत कोई स्मृतिविशेष? (अर्थात् स्मृतिज्ञानमें एक प्रकारकी विलक्षण स्मृति) या पूर्व अनुभवके विषयसे विशिष्ट ज्ञेयका निमित्तरूप विशेष? अथवा फलभेदका जनक? (पूर्व अनुभवके फलसे अतिरिक्त विशेष फलका जनक) अथवा 'स्मरामि' (स्मरण करता हूँ) इस प्रकारका अनुभव स्मरणाऽभिमान है? [इस प्रकार आठ विकल्प दिखाकर खण्डन करते हैं]— प्रथम पक्ष (स्मृति ही को स्मरणाभिमान मानना) तो उचित नहीं है, क्योंकि स्मृतिका प्रमोष होनेसे रजतज्ञानका अभाव ही प्रसक्त होगा अर्थात् रजतकी स्मृति ही तो आपके मतमें भ्रम है, उसका आप प्रमोष मानते हैं, तो अवशिष्ट कौन-सा ज्ञान रह गया, जिसको कि आप भ्रम कहेंगे, यह भाव है। दूसरा पक्ष भी नहीं मान सकते, क्योंकि अतिरिक्तका प्रमोष होनेसे स्मृतिको अविवेचकत्व होगा, इस प्रकार वैयधिकरण्यका प्रसङ्ग आ जाता है। [अर्थात् स्मृतिसे स्मरणाभिमान अतिरिक्त है और उसका ही आप प्रमोष मानते हैं। अतः

प्रमोषे रजतज्ञानस्यैवाऽभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अन्यस्य प्रमोषे स्मृतेरविवेचकत्वमिति वैयधिकरण्यापातात्। न तृतीयः, तादृशधर्मानुपलम्भात्। न चतुर्थः, पूर्वदृष्टः स एवाऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाभ्रमे पूर्वानुभवसंभेदग्रहे सत्येव विना तत्प्रमोषमविवेकदर्शनात्। अथ केवलस्मृतिमभिलक्ष्योक्तम् प्रत्यभिज्ञा तु न तथेति चेत्, तथापि नाऽयं पक्ष एव संभवति। तथा हि—किं पूर्वानुभवः स्वात्मानमपि विषयीकरोति उतार्थमात्रम्? नाद्यः, वृत्तिविरोधात्। द्वितीये त्वर्थ एव स्मृत्याऽवभास्यो न तु पूर्वज्ञानं तस्याननुभूतत्वात्। ननु ज्ञातो घट इत्यत्र ज्ञानविशिष्टार्थस्मृतिर्दृश्यत इति चेत्, न;

स्मृति पूर्णरूपसे ही रही, उसका तो कोई अंश कम नहीं हुआ, तब स्मृति अपने विषयको अनुभवके विषयसे क्यों न विविक्त कर सकेगी, यह भाव है]। तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि वैसा स्मृतिमें कोई धर्म दीखता ही नहीं है। चौथा पक्ष भी संगत नहीं है, 'पहले देखा गया ही यह देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञा-भ्रममें पूर्वानुभवके सम्भेदका ग्रह होनेपर ही उस सम्भेदके प्रमोषके बिना अविवेक देखा जाता है। यदि यह समाधान दिया जाय कि उस स्मरणाभिमानका प्रमोष (भ्रमात्मक) स्मृति स्थलमें ही मानते हैं; प्रतिज्ञा वैसी नहीं है; तो भी यह सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि क्या पूर्व अनुभव अपनेको भी विषय करता है? या केवल विषयमात्रको विषय करता है? पहला पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उसके माननेमें वृत्तिका विरोध हो जायगा। [अनुभव या स्मरण कोई भी ज्ञान हो, सभी अन्तःकरणके वृत्तिविशेष हैं, इनसे दूसरे पदार्थका अवभास होता है, अपना अवभास नहीं, अन्यथा कर्तृकर्मविरोध होगा, इस विरोधसे प्रकृतमें पूर्वज्ञान केवल अर्थमात्रको विषय करता है, अपनेको जो कि अर्थके स्मरणके कारण संस्कारका जनक है, विषय नहीं करता। अतः उसका स्मरणमें विषय होना असम्भव है, क्योंकि पूर्वानुभवमें विषय न होनेसे उसका संस्कार ही नहीं हुआ, तब बिना संस्कारके स्मृति कैसे हो सकती है, संस्कार अनुभूतका ही होता है, अतः यह पक्ष विरुद्ध हुआ, यह तात्पर्य है]। दूसरे पक्षमें तो केवल अर्थ ही स्मृतिका विषय होगा, पूर्वज्ञान विषय नहीं होगा? क्योंकि वह पूर्व अनुभवका विषय ही नहीं हुआ है। 'ज्ञातो घटः' 'यह

स्मृत्यन्तरत्वात् । अनुव्यवसायेन ज्ञानागोचरानुमानेन वा जन्येयं स्मृतिर्व्यवसायजन्याया घटमात्रगोचरायाः स्मृतेरन्या। न चाऽनयाऽपि स्वजनको [ऽनु] व्यवसायाख्यः पूर्वानुभवो विषयीक्रियते किं तर्ह्यनुव्यवसायेनानुभूतो व्यवसाय [विशिष्टो] घट एव। अत एतत्सिद्धम्— विमता स्मृतिर्न स्वमूलज्ञानविशिष्टमर्थं गृह्णाति, स्मृतित्वात्, पदार्थस्मृतिवत्, इति। पदानि हि स्वसंबद्धेष्वर्थेषु स्मृतिं जनयन्ति।

घट अनुभवका विषय हुआ है' इस प्रकार ज्ञानविशिष्ट अर्थका स्मरण देखा गया है, इससे पूर्व ज्ञान भी स्मृतिका विषय होता है, ऐसा मीमांसकका प्रतिपक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अनुभवमें ज्ञानविशिष्ट-घटविषयक 'ज्ञातो घटः' इस स्मरणसे यह भिन्न स्मरण है, क्योंकि अनुव्यवसायसे अथवा ज्ञानविषयक अनुमानसे उत्पन्न हुई स्मृति व्यवसाय (प्रथम ज्ञान) से उत्पन्न केवल घटको विषय करने वाली स्मृतिसे भिन्न ही होती है। यह स्मृति भी अपने जनक अनुव्यवसाय-नामक पूर्व अनुभवको विषय नहीं करती, किन्तु 'घटको मैं जानता हूँ' इस अनुव्यवसायसे जाने गये व्यवसायविशिष्ट घटको ही विषय करती है। [शङ्का और समाधानका तात्पर्य यह है कि मीमांसकके मतमें 'ज्ञातो घटः' इस प्रतीतिमें ज्ञानविशिष्ट घटके विषय होनेसे ज्ञान भी स्मरणका विषय कहलाता है। और वेदान्तीके मतमें स्मृति दो प्रकारकी होती है। एक प्रथम ज्ञानसे अनुभूत घट-पटादि विषयकी होती है। इस स्मृतिमें केवल घट-पटादि ही विषय होते हैं, पूर्वानुभवजनित संस्कार द्वारा ही स्मृति होती है। और संस्कार पूर्व अनुभवके विषयका ही हो सकता है, प्रकृतमें केवल घट-पटादि ही पूर्व अनुभवके विषय हैं। अतः अनुभव स्वयं पूर्व अनुभवका विषय न होनेसे संस्कारके बिना स्मरणका विषय नहीं हो सकता। दूसरी—अनुव्यवसायसे अथवा घटपटादि विषयमें प्रकटतास्वरूप कार्यसे किये गये कारणभूत ज्ञानके अनुमानसे अनुमित अपनेमें विद्यमान ज्ञान द्वारा उत्पन्न—स्मृति है। इस स्मृतिमें अवश्य पूर्वानुभवका संभेद होता है, क्योंकि इस स्मृतिके जनक अनुव्यवसाय तथा अनुमिति दोनोंमें पूर्वानुभव विषय है]। इससे यह (अनुमान) सिद्ध हुआ कि—विमत स्मृति अपने मूलज्ञानविशिष्ट अर्थका ग्रहण नहीं करती, स्मृति होनेसे, पदार्थस्मृतिके समान; क्योंकि पद अपनेसे सम्बद्ध अर्थोंमें ही

नन्वेतद् बौद्धो न सहते। तथा हि--पदानामर्थैः संयोगादिसंबन्धानामसंभवात् सम्बद्धार्थस्मारकत्वमित्येतदयुक्तम्। बोधजननशक्तिः सम्बन्ध इति चेत्, किमनुभवजननशक्तिः? किं वा स्मृतिजननशक्तिः? नाऽद्यः, पदानां वाक्यरूपेण वाक्यार्थानुभवजनकत्वेऽपि स्वार्थेषु तदसंभवात्। व्युत्पत्तिकाले पदार्थानां मानान्तरगृहीतत्वेनाऽपूर्वार्थत्वाभावात्। तदुक्तम्--'पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते' इति।

द्वितीयेऽपि सा शक्तिर्न तावदज्ञाता स्मृतिमुत्पादयति; ज्ञातकारण-

---

स्मृति उत्पन्न करते हैं। [इससे तात्पर्य यह निकला कि केवल घट-पटादिज्ञानसे उत्पन्न संस्कारोंके द्वारा हुई स्मृति शुद्ध विषयको ही ग्रहण करती है और अनुमान अथवा अनुव्यवसायजन्य संस्कार द्वारा उत्पन्न हुई पूर्व ज्ञानको भी विषय करने वाली स्मृतिसे भिन्न है।]

शङ्का—'पदोंसे अपनेसे सम्बद्ध अर्थकी स्मृति होती है' इस मतको बौद्ध नहीं सहता है, क्योंकि पदोंका अर्थोंके साथ संयोग आदि सम्बन्धोंके असम्भव होनेसे 'पद सम्बद्ध अर्थका स्मरण कराते हैं, यह मत युक्त नहीं है। यदि पदोंकी अर्थबोधोत्पादिका शक्तिको सम्बन्ध माना जाय, तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि इस बोधजननशक्तिको क्या अनुभवात्मकबोध-जनन शक्तिरूप मानते हो? या स्मरणात्मक बोधजननशक्तिरूप मानते हो? प्रथम पक्ष तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि पदोंमें वाक्यरूपसे वाक्यार्थानुभव-जनकता होनेपर भी उनमें अपने अर्थविषयक अनुभवके प्रति जनकता नहीं है। व्युत्पत्तिकालमें पदार्थोंका दूसरे प्रमाणोंके द्वारा ग्रहण होता है; अतः पदोंका वह अपूर्व अर्थ नहीं कहा जा सकता। [मीमांसकका तात्पर्य यह है कि यद्यपि वाक्यरूपसे पद वाक्यार्थोंके अनुभावक हैं, तथापि प्रत्येक पदकी व्युत्पत्तिके ग्रहके समयमें तो वह अपने-अपने अर्थके ही अनुभावक हैं; इससे पदोंमें अर्थानुभवजनकत्व सिद्ध हो गया। बौद्ध कहता है कि व्युत्पत्तिग्रह तो वृद्ध व्यवहारादिसे ही होता है, और वह अर्थ, जिसको कि आप पदका अर्थ कह रहे हैं; व्यवहार दर्शनादिरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा ही गृहीत हुआ; पदने कोई अपूर्व अर्थका ग्रहण नहीं कराया, पदार्थ वही माना जा सकता है, जो केवल पदके द्वारा बोधित हो]। ऐसा कहा भी गया है कि यह अधिक अर्थका बोधक न होनेसे (अर्थात् नूतन अर्थका नहीं? प्रत्युत पूर्वसिद्ध अर्थका ही बोधक)

त्वात्। नाऽपि ज्ञाता; शक्तेः कार्यैकसमधिगम्यत्वेन स्मृत्युत्पत्तिशक्तिज्ञानयोः परस्पराश्रयत्वात्। अथोच्यते--मध्यमवृद्धप्रवृत्त्या प्रवृत्तिहेतुज्ञानमनुमाय शब्दानन्तर्यात्तज्जनकत्वं शब्दस्य निश्चित्यावापोद्धाराभ्यां व्युत्पत्तिकाल एव शक्तिनिश्चयान्नान्योऽन्याश्रयतेति। तदापि किं शब्दमात्रे शक्तिनिश्चयः अर्थविशेषसंबद्धे वा? नाद्यः, अस्य

होनेसे स्मारकसे भिन्न नहीं है अर्थात् स्मारक ही है।

यदि स्मरणको जननशक्तिरूप सम्बन्ध मानो, तो वह भी सङ्गत नहीं है; क्योंकि इस पक्षमें अज्ञात होती हुई उक्त शक्ति स्मरणको उत्पन्न नहीं कर सकती, कारण कि ज्ञात ही शक्तिरूप कारणमें कार्यजननसामर्थ्य होती है। [ऐसा न मानने पर जिनको शक्तिग्रहण नहीं है; उनको भी पदश्रवणसे अर्थका बोध हो जायगा]। यदि ज्ञात शक्तिको स्मरणकी उत्पादिका मानो, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि शक्तिका कार्यके द्वारा ही परिज्ञान होनेसे स्मृतिकी उत्पत्ति और शक्ति इन दोनोंमें परस्पर अन्योन्याऽऽश्रय दोष हो जायगा। [आशय यह है कि जब स्मृतिका उदय हो, तब स्मृतिरूप कार्य 'कार्यमात्रं सकारणकम्' इस व्याप्तिके द्वारा अपनी कारणशक्तिका ग्रह करा सकेगा, और उक्त शक्तिका ज्ञान होनेपर ही स्मृतिकी उत्पत्ति हो सकती है, अतः अन्योऽन्याश्रय है।] उक्त दोषके वारणके लिए यदि कहा जाय कि [उत्तम वृद्धको 'गामानय' इस वाक्यके श्रवणके अनन्तर] मध्यम वृद्धकी (जिससे वह वाक्य काम करानेके अभिप्रायसे कहा गया है) प्रवृत्तिको देखकर प्रवृत्तिके कारण ज्ञानका [मध्यम वृद्ध उक्त वाक्यका अर्थ समझ गया और इस वाक्यका ऐसा ही अर्थ है अन्यथा ज्ञानके बिना प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती इत्यादि तर्क द्वारा] अनुमान कर शब्दके आनन्तर्यसे (शब्दके श्रवणके अनन्तर तादृश अर्थज्ञानका उदय होनेसे) 'शब्द ही इस अर्थका जनक है' इस प्रकार शब्दकी अर्थजनकत्वरूप सामर्थ्यका निश्चय करके अवाप और उद्धारसे*

* जब प्रथम "गामानय" वाक्य सुना और मध्यमवृद्धके व्यवहारको देखा तब व्युत्पित्सु बालकने उक्त वाक्यका यही अर्थ है ऐसा निश्चय किया। तदनन्तर 'गां बधान' 'अश्वमानय' ऐसे वाक्य सुने और मध्यम वृद्धकी प्रवृत्ति भिन्न भिन्न प्रकारकी देखी बालकने विचार किया गो पद और आश्रय भिन्न भिन्न वाक्योंमें होते हुए भी समान है और अर्थकी भी अनुवृत्ति दिख रही है। इससे गोपदका सास्नालाङ्गूलादिमान् अर्थ है और आनयका दूर देशसे समीप देशमें लाना अर्थ है—इस प्रकारके अन्वय और व्यतिरेकसे प्रत्येक पदके अर्थके बोधक आवापोद्वापको आवापोद्धार कहते हैं।

शब्दस्याऽयमर्थ इति नियमासिद्धिप्रसङ्गात् । द्वितीयेऽपि शक्तिसम्बन्धस्य व्यवस्थापकं संबन्धान्तरमेष्टव्यमित्यनवस्था स्यात् । शक्तिः स्वपरनिर्वाहिका इति चेत् , तथापि स्मृतिकाले किं शब्दमात्रदर्शनादर्थः स्मर्यते किं वाऽर्थगोचरशक्तिमच्छब्ददर्शनाद् उत शक्तिज्ञानजन्यसंस्काराच्छब्ददर्शनाच्च । नाद्यः, अनियमापत्तेः । न द्वितीयः, शब्ददर्शनसमय एवाऽर्थस्याऽपि दृष्टत्वेन शब्दजन्यस्मृतिवैयर्थ्यात् । न तृतीयः, तावता स्मृत्यसंभवात् । अन्यत्र

व्युत्पत्तिके समयमें ही शक्तिका निश्चय हो जायगा [स्मृतिरूप कार्यसे नहीं] अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं हो सकता । तब भी क्या शब्दमात्रमें शक्तिका निश्चय होता है ? अथवा अर्थविशेषसे सम्बद्ध शब्दमें शक्तिका निश्चय होता है ? यदि शब्दमात्रमें कहो, तो 'इस शब्दका यह अर्थ है' इस प्रकारके नियमकी सिद्धि नहीं बन सकेगी [क्योंकि आप तो अर्थविशेषसे असम्बद्ध शब्दमें ही शक्तिका निश्चय मानते हैं, तब नियम कैसे बनेगा] । अर्थविशेषसे सम्बद्ध शब्दमें ही शक्तिनिश्चय होता है, ऐसे द्वितीय पक्षमें भी तादृश शक्ति-सम्बन्धके व्यवस्थापक दूसरे सम्बन्धकी खोज करनी होगी, फिर उस सम्बन्धके व्यवस्थापक तीसरेका अन्वेषण करना होगा इत्यादि रीतिसे अनवस्था हो जायगी । यदि शक्ति अपनी और दूसरे सम्बन्धकी स्वयं व्यवस्थापिका है अर्थात् सम्बन्धान्तरकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहो, तो भी यह विकल्प उपस्थित होगा कि जिस समय स्मृति हो रही है, उस समय क्या शब्दमात्रके दर्शन (श्रवण) से अर्थका स्मरण होता है ? या अर्थको विषय करनेवाले शक्ति-शाली शब्दसे ? अथवा शक्तिज्ञानसे उत्पन्न संस्कार और शब्ददर्शन दोनोंसे ? इनमें पहला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि अनियमकी आपत्ति होगी । [यदि सामान्य शब्दश्रवणसे ही अर्थका स्मरण हो जाता है, तो प्रत्येक शब्दसे प्रत्येक अर्थका स्मरण हो जाना चाहिए । अमुक शब्दसे अमुक अर्थका ही स्मरण होता है, ऐसा नियम नहीं बनना चाहिए] दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि शब्ददर्शनके समयमें ही अर्थका भी ज्ञान हो ही जायगा, ऐसी अवस्थामें अर्थज्ञानके लिए मानी गई शब्द द्वारा अर्थकी स्मृतिका वैयर्थ्य हो जायगा । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इतना माननेपर भी स्मृतिका होना सम्भव नहीं है, कारण कि अन्य स्थलों (शुक्ति-रजत आदि)

स्मारकस्मार्ययोः सादृश्यविरोधिकार्यकारणभावादिसम्बन्धान्तरनियमात् शब्दार्थयोस्तदभावात्। तस्मात् पदानि स्मारकाणि, वाक्यं पुनः प्रमाणमित्येतद्वेदवादिनां प्रक्रियामात्रमिति।

अत्रोच्यते--शब्ददर्शनात् शक्तिसंस्काराच्चाऽर्थस्मृतौ न कश्चिद्दोषः। यदुक्तमन्यत्रेत्यादिना तदसत्। किमन्यत्रेव शब्देऽपि सादृश्यादिकमभ्युपेयमित्युच्यते किं वा शब्दवदन्यत्रापि शक्तिरेवाऽस्तु मा भूत्सादृश्यादिकमिति किं वा शब्दे सादृश्यादिकमूलसम्बन्धाभावात् सत्यामपि शक्तौ न स्मृतिजनकत्वमिति। नाद्यः, शब्दे सादृश्यादर्शनाद्, अदृष्टस्य च कल्पने गौरवात्। अन्यत्र तु दृष्टत्वेनाऽकल्पनीयत्वात्। न द्वितीयः, अनुभूयमानस्याऽ-

---

में स्मारक और स्मार्यमें सादृश्यके विरोधी कार्य-कारणभाव आदि सम्बन्धान्तरोंके रहनेका नियम है, अर्थात् उपरोक्त सम्बन्धोंमें से जब कोई भी एक सम्बन्ध रहेगा, तभी स्मार्यस्मारकभाव होगा [जैसे कि शुक्ति-रजतमें सादृश्य, रामार्जुनमें विरोध, और राम-दशरथमें जन्यजनकभावसे एक दूसरेका स्मरण होता है इत्यादि।] इस प्रकार शब्द और अर्थमें उपरोक्त कोई अन्य सम्बन्ध नहीं है, अतः शब्द और शब्दार्थमें स्मार्यस्मारकभाव न बन सकनेसे पद स्मारक होते हैं और वाक्य प्रमाण है, यह वेदवादी मीमांसकोंकी प्रक्रिया अपनी परिभाषामात्र ही है। इतना बौद्धकी ओरसे 'पद पदार्थका स्मारक है' इस मतमें पूर्वपक्ष हुआ।

इस पूर्वपक्षका उत्तर दिया जाता है। शब्दके साक्षात्कार और शक्तिसंस्कार—इन दोनोंसे अर्थकी स्मृति होनेमें कोई बाधा नहीं है। 'अन्य स्थलोंमें सादृश्य आदि सम्बन्ध ही स्मारक हैं' इत्यादि पूर्वोक्त नियम भी अयुक्त है, क्या अन्य स्थलोंकी भाँति शब्दस्थलमें भी सादृश्य आदि सम्बन्धोंका स्वीकार करना चाहिए? या शब्दस्थलकी भाँति अन्य स्थलोंमें भी शक्तिका ही स्वीकार करना चाहिए? सादृश्यादि सम्बन्धोंका स्वीकार नहीं करना चाहिए? अथवा शक्ति रहते हुए भी सादृश्य आदि मूल सम्बन्धोंके न रहनेसे शब्द स्मृतिका उत्पादक नहीं हो सकता? इसमें प्रथम पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि शब्दस्थलमें सादृश्य नहीं पाया जाता है और नूतन 'अदृष्ट' की कल्पना करनेमें गौरव है। अन्य स्थलोंमें तो सादृश्य आदि दृष्ट (अनुभूत) हैं, अतः नवीन कल्पना नहीं

पलापायोगात् । न तृतीयः, शक्तस्य कार्याजनकत्वे व्याघातापत्तेः । तस्माच्छक्तिमन्ति पदानि अर्थेषु स्मृतिं जनयन्त्येव । नहि तत्रार्थैः सह पूर्वानुभवाः स्मर्यन्ते । अन्यथा घटादिवदनुभवानामपि तत्तच्छब्दार्थत्वं प्रसज्येत ।

नाऽपि पञ्चमः, कारणविषयाद्युपाधिमन्तरेण ज्ञानानां स्वरूपेषु क्वापि विशेषानुपलम्भात् । नाऽपि षष्ठसप्तमौ, अनुभवगताभ्यां ज्ञेयफलाभ्यामतिरिक्तज्ञेयफलयोः स्मृतावभावात् । नाऽप्यष्टमः, स्मरामीत्यस्याऽनुभवस्याऽन्य-

---

होती है, (अतः कुछ गौरव नहीं है)। द्वितीय विकल्प भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि जिस वस्तुका अनुभव हो रहा हो, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, अर्थात् अन्य स्थलोंमें अनुभवसिद्ध सादृश्य आदि सम्बन्धोंका शब्ददृष्टान्तसे निषेध नहीं कर सकते । तीसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'शक्तिके रहते यदि कार्य नहीं हो तो व्याघात दोष होता है । 'यदि शक्ति हो तो कार्य अवश्य होता है' ऐसा नियम है, शक्ति रहते कार्य नहीं होता, ऐसा कहना तो 'मुझमें बोलनेकी सामर्थ्य नहीं है' इस कथनके तुल्य विरुद्ध है । ('शब्दका अर्थके साथ अर्थबोधजननरूप शक्ति ही सम्बन्ध है, उसका ग्रह व्युत्पत्तिकालमें व्यवहार-दर्शनसे हो जानेपर अन्य समयमें भी शब्द साक्षात्कारसे निरुक्त शक्तिसंस्कारके उद्बुद्ध होते ही शब्दसम्बन्धी अर्थका स्मरण हो जाता है' यह उक्त समाधानका सरल तात्पर्यार्थ है)। इससे शक्तिशाली पद अर्थविषयक स्मृति उत्पन्न करते ही हैं, यह सिद्ध हुआ । पदार्थमात्रकी स्मृतिमें अर्थोंके साथ-साथ पूर्व अनुभव (व्यवसाय) भी विषय नहीं होते । यदि पूर्व अनुभव भी स्मृतिके विषय मान लिये जायँ, तो जैसे घट पदका अर्थ घट (कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ) है, वैसे ही ज्ञानको भी घटादि पदका अर्थ मानना होगा । [इससे 'स्मृति विवेचक नहीं हो सकती है' इसमें आपने जो (पूर्वानुभवविशिष्ट अर्थका ग्रहण स्मरणाभिमानरूप) चतुर्थ विकल्प किया है, वह उपपन्न नहीं हो सका] पांचवाँ विकल्प (अपनेमें कोई एक विशेष) भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानोंके स्वतः निराकार होनेसे उनमें कारण या विषय आदि उपाधिके सम्पर्कके बिना स्वयं कोई विशेष उपलब्ध नहीं हो सकता । छठा और सातवां पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवके ज्ञेय (विषय) तथा फल (प्रकटता आदि) से अतिरिक्त स्मरणका कोई ज्ञेय या फल नहीं है । आठवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्मरामि' (स्मरण करता

त्र विवेचकत्वे सिद्धे सति अत्र कथंचित् प्रमोषादविवेचक इति वक्तुं शक्येतापि । तदेव तावदसिद्धम् । ग्रहणवाचकशब्दपरित्यागेन स्मरणवाचकशब्दानुविद्धो ह्ययमनुभवो जायते । स कथं प्रथमतो ग्रहणस्मरणयोरसति विवेके सम्भवेत् ? तथा च विवेके सत्यनुभवः अनुभवे च सति विवेक इति स्यादन्योन्याश्रयता । तदित्थं प्रमोषणीयस्य स्मरणाभिमानस्य दुर्भणत्वात् स्मरणस्य विवेचकत्वं प्राप्नोत्येव ।

हूँ) यह स्मरणाभिमानरूप ज्ञान यदि भ्रमसे अन्य स्थलमें विवेचक (भेदक) सिद्ध हो, तो यहां (भ्रमस्थलमें) किसी प्रकार (दोष विशेषादि) से उसका प्रयोग होनेसे वह अविवेचक है, ऐसा कहना किसी प्रकार बन सकता है। परन्तु ऐसा तो है नहीं, अर्थात् स्मरण करता हूँ, यह ज्ञान कहींपर भी विवेचक नहीं है। 'स्मरामि' (स्मरण करता हूँ) यह अनुभव तो ग्रहण (अनुभव) वाचक शब्दके परित्यागसे और स्मरणवाचक शब्दके (स्मृधातुके) योगसे होता है। यदि ग्रहण और स्मरणमें उक्त अनुभव होनेके पूर्व ही भेदका (विवेकका) ग्रहण नहीं हुआ हो तो वही—'स्मरामि' (स्मरण करता हूँ) ऐसा अनुभव ही—कैसे हो सकेगा, इसके विपरीत यदि—'स्मरामि' अनुभव होनेपर ही विवेक मानो, तो विवेक होनेपर अनुभव और अनुभव होनेपर विवेक इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा। (जैसे सास्नालाङ्गूलादिविशिष्ट आकृतिमें एकशफादि आकृतिसे स्वतःसिद्धभेदमूलक 'गौ' इत्यादि व्यवहार होता है एवं स्मरण और अनुभवमें स्वतःसिद्धभेदमूलक ही 'स्मरामि' अनुभव है, न कि यह अनुभव स्वयं भेदक है। ऐसा प्रतिपक्षी वेदान्तीका सरल तात्पर्यार्थ हुआ। इसलिए इस पूर्वोक्त रीतिसे अपलापयोग्य उस स्मरणाभिमानका निरूपण नहीं बन सकता है, अतः स्मरणमें विवेचकत्व सुतरां प्राप्त हो जाता है।

मीमांसक पुनः पूर्वपक्ष करता है—अनुभव और स्मरण यदि दोनोंमें घट, पट आदि अर्थमात्र विषय होते हैं, तो इसमें परस्पर भेद कैसे होगा? इसलिए भेदकी प्रतीति उपपन्न करनेके लिए आपको (वेदान्तीको) भी स्मरणमें पूर्वानुभवविशिष्ट अर्थविषय होता है, ऐसा अवश्य मानना ही होगा, यही हमारा स्मरणाभिमान होगा। (तब उसके दोषवशात् प्रमुषित होनेसे स्मरण विवेचक नहीं हो सकता)।

ननु ग्रहणस्मरणयोरर्थमात्रविषयत्वे भेदाभावप्रसङ्गेनाऽवश्यं त्वयाऽपि स्मृतेः पूर्वानुभवविशिष्टार्थविषयत्वं स्वीकार्यं तदेव स्मरणाभिमानोऽस्त्विति चेद्, नः कारणविशेषादेव भेदसिद्धेः। अन्यथा त्वन्मतेऽपि पूर्वानुभवगोचरानुमानज्ञानात् स्मृतेः को भेदः स्याद्? विषयस्य समत्वात्। ननु स इत्याकारेण स्मृतिर्ज्ञानानुमानाद्भिद्यत इति चेत्, कोऽयं स इत्याकारः; किं परोक्षदेशकालादिविशिष्टता उत पूर्वानुभवसंभिन्नता किं वा संस्कारजन्यत्वम्? नाऽद्यः, अनुमानादिष्वपि स्मृतित्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, ज्ञानानुमानेऽपि प्रसङ्गात्। तृतीये तु कारणविशेष एव भेदहेतुः स्यात्।

अस्तु तर्हि प्रकृतेऽपि संस्कारजन्यैव रजतस्मृतिरिति चेद्, नः रजतस्य

उत्तर देते हैं—नहीं (उपर्युक्त भेद नहीं है) कारणविशेषसे ही भेदकी सिद्धि होती है। (स्मृतिका कारण संस्कार है और अनुभवका इन्द्रियसंप्रयोग आदि कारण है, अतएव उनका भेद है, यह भाव है)। यदि कारणविशेष द्वारा भेद न मानो, तो पूर्वानुभवको विषय करनेवाले अनुमान और स्मृतिमें तुम्हारे मतमें भी क्या भेद होगा? क्योंकि दोनों स्थलोंमें पूर्वानुभवविशिष्ट अर्थ समान है। स्मृतिमें 'सः' (वह) ऐसा आकार होता है, वही आकार व्यवसायविषयक ज्ञानानुमानसे स्मृतिका भेद करता है, ऐसा यदि आप कहें, तो बतलाइए 'सः' यह आकार परोक्ष देशकालादिके सम्बन्धका सूचक है? या पूर्व अनुभवके सम्पर्कका बोधक है अथवा संस्कारसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा अवगम कराता है? पहला पक्ष नहीं कह सकते। अनुमान आदि ज्ञानोंमें भी स्मृतिलक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी (इन ज्ञानोंमें भी परोक्ष देश, काल आदिका सम्बन्ध रहता है)। द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि ज्ञानानुमानमें भी प्रसङ्ग हो जायगा (उसमें भी व्यवसायका सम्बन्ध रहता है)। तीसरा पक्ष माननेमें तो कारणविशेष ही भेदका कारण निश्चित होगा।

यदि स्मृति और अनुभवमें कारणविशेष संस्कार ही भेदक है, तो भ्रममें भी संस्कार ही स्मृति उत्पन्न करेगा, इस आशयसे मीमांसक शङ्का करता है—'प्रकृतमें (भ्रमस्थलमें) भी संस्कार द्वारा उत्पन्न हुई रजतकी स्मृति ही है।'

समाधान—ऐसा ठीक नहीं है, (भ्रमस्थलमें भी रजत सामने स्थित

पुरोवस्थितत्वेन प्रतिभासादित्युक्तोत्तरत्वात्। न च पुरोवस्थितत्वमविवेककृतमिति वक्तुं शक्यम्, अविवेकस्य भ्रमं प्रति अप्रयोजकत्वात्। तथा हि—किं गृह्यमाणयोरविवेकः किं वा गृह्यमाणस्मर्यमाणयोरुत स्मर्यमाणयोः? नाद्यः, स्वप्नदशायामात्मव्यतिरिक्तस्य कस्याप्यग्रहणेन द्वयोर्गृह्यमाणयोरभावे तदविवेकस्य भ्रमप्रयोजकस्याप्यभावेन भ्रमाभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, स्वप्न एव गृह्यमाणेनात्मना स्मर्यमाणस्य नीलादेरविवेके सत्यहं

है, ऐसा प्रतिभासित होता है, यह उत्तर पहले ही दिया जा चुका है (स्मरण-विषयकी सामने अवस्थिति नहीं हो सकती)। रजत (भ्रमविषयकी सामने अवस्थिति अविवेकसे मालूम होती है, वस्तुतः सामने नहीं है) ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रमके प्रति अविवेक प्रयोजक नहीं है। (ऐसा कोई नियम नहीं है कि अविवेकसे ही भ्रम हो), अविवेककी भ्रमप्रयोजकताका निरास करते हैं—देखिए, क्या अनुभवमें आनेवाले ही दो पदार्थोंका अविवेक भ्रमप्रयोजक है? अथवा अनुभवविषय और स्मरणविषयका अविवेक भ्रमप्रयोजक है? या स्मरणके विषयभूत दो पदार्थोंका अविवेक भ्रम प्रयोजक है? इनमें पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि स्वप्न अवस्थामें आत्मासे अतिरिक्त किसी भी पदार्थका ग्रहण नहीं होता है, अतः उसमें अनुभवके विषयभूत दो पदार्थोंका अभाव होनेसे उनका अविवेकरूप भ्रमका प्रयोजक भी नहीं है, इससे स्वाप्न पदार्थ भ्रमविषय नहीं कहे जा सकेंगे। द्वितीय विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें ही अनुभवके विषयीभूत आत्माके साथ स्मरणविषय नीलादिका अविवेक होनेपर 'अहं नीलः' (मैं नील हूँ) इस प्रकारका प्रतिभास प्रसक्त होगा। स्वप्नदशामें अहं* प्रतिभास जागरके तुल्य ही है। वही आत्मा है, वह तो स्वप्नमें सत्य ही है, इतर पदार्थ काल्पनिक होनेसे अहमात्मक आत्मामें ही अध्यस्त हैं, अतः आत्मासे भिन्न कोई भी पदार्थ अनुभवका विषय नहीं है। जो भासित होता है, वह मीमांसकमतमें स्मरण-विषय है, इसमें गृह्यमाण दो पदार्थोंके न होनेसे पूर्वपक्षका खण्डन तथा अनुभूयमान आत्मा और स्मर्यमाण

* यद्यपि यह भी वेदान्तीके मतमें भ्रम ही है, तथापि अन्य वादीसे सम्प्रतिपन्न जागरतुल्यताको लेकर अहंप्रतिभास ही आत्मप्रतिभास है और वह जागरतुल्य सत्य है, ऐसा मानकर प्रश्न है।

नीलमिति प्रतिभासप्रसङ्गात्। तृतीये तु परोक्षमेव सर्वं भ्रान्तावभासेत, सर्वस्याऽपि स्मर्यमाणत्वात्। एवं च सति प्रकृतस्य पुरोवस्थितरजतज्ञानस्य स्मृतित्वानुमाने परोक्षावभासित्वोपाधिर्द्रष्टव्यः।

यथार्थानुमानस्य चाऽयं प्रतिप्रयोगः। विवादाध्यासिताः प्रत्यया न यथार्थाः, बाध्यमानत्वाद्, भ्रान्तिव्यवहारवत् इति। तस्माद् ज्ञानद्वैराश्य-दुराग्रहं परित्यज्य तृतीयं भ्रान्तिज्ञानमङ्गीकर्तव्यम्।

ननु तर्हि मा भूदख्यातिः; अस्त्वन्यथाख्यातिः; देशकालान्तरगतं

(मीमांसक रीतिसे) नीलादिका अविवेक होनेसे दूसरे पक्षका खण्डन हुआ।) तीसरा पक्ष मान लेनेसे तो भ्रममें सब पदार्थ परोक्ष ही भासित होंगे, क्योंकि सभी तो स्मरणके विषय हैं। [यदि सभी स्मर्यमाणोंका अविवेक ही भ्रम-प्रयोजक है, तो स्मर्यमाण सभी परोक्ष होते हैं, इससे उन सबका भेदग्रह नहीं हुआ, अतः सब भ्रममें भासित होनेवाले पदार्थ परोक्ष ही होंगे। तब 'इदं रजतम्' (यह रजत है) ऐसा प्रत्यक्षावभासका सूचक इदमादि शब्दोंसे अभि-लाप नहीं बनेगा, यह तात्पर्य है]। इस प्रकारके निर्णयसे सिद्ध हुआ कि मीमांसकोंका पूर्वोक्त रजतज्ञान भी अध्यास नहीं है, किन्तु स्मृति है इत्यादि पृष्ठ संख्या ९९ में कहे गये अनुमानमें परोक्षत्वावभासित्व उपाधि लगानी चाहिए। (इससे उक्त अनुमान दूषित हुआ) एवं सभी ज्ञान यथार्थ ज्ञान हैं इत्यादि पृ० संख्या ९८ में प्रतिपादित अनुमानका प्रतिपक्षी अनुमानप्रयोग इस प्रकार करना चाहिए—विवादयुक्त (भ्रमादि) ज्ञान यथार्थ नहीं हैं, बाधके विषय होनेसे, भ्रान्तिसे उत्पन्न *व्यवहारके समान। अतः मीमांसकको ज्ञानके केवल ग्रहण और स्मरण दो ही राशियाँ हैं, ऐसा दुराग्रह छोड़कर तीसरा भ्रमज्ञान मानना ही चाहिए। इससे मीमांसकसंमत भ्रमविषयक अख्यातिवादका खण्डन हुआ।

अब नैयायिक सम्मत अन्यथाख्यातिवादका निराकरण करनेके लिए शङ्का करते हैं—(स्मरणाभिमानके प्रमोषके उपपन्न न हो सकनेसे) भ्रम भले ही अख्याति न हो, परन्तु अन्यथाख्याति तो हो सकता है। काच आदि दोषोंसे दूषित

---

* यद्यपि भ्रममें विवाद ही हैं कि वह यथार्थ है या अयथार्थ। परन्तु तज्जनित 'इदं रजतम्' इत्यादि शब्दाभिलापरूप व्यवहार और रजतार्थीके प्रवृत्तिरूप व्यवहारका अयथार्थत्वरूप बाधितत्व सबको ही सम्प्रतिपन्न है, अतः व्यवहारके समान, यह दृष्टान्त दिया गया है, यह भाव है।

हि रजतं शुक्तिसंप्रयुक्तेन दोषोपहितेन्द्रियेण शुक्त्यात्मना गृह्यते। न चैवमननुभूतस्याऽपि ग्रहणप्रसङ्गः, सादृश्यादेर्नियामकत्वादिति; तदेतदसत्, किं ज्ञानेऽन्यथात्वं किं वा फले उत वस्तुनि ? नाऽऽद्यः, रजताकारज्ञानं शुक्तिमालम्बत इति हि ज्ञानेऽन्यथात्वं वाच्यम्। तत्र शुक्तेरालम्बनत्वं नाम किं ज्ञानं प्रति स्वाकारसमर्पकत्वम् ? उत ज्ञानप्रयुक्तव्यवहारविषयत्वम् ? नाऽऽद्यः, रजताकारग्रस्तं ज्ञानं प्रति शुक्त्याकारसमर्पणासंभवात्। न द्वितीयः, व्याघ्रादिदर्शनप्रयुक्तव्यवहारविषयस्य खड्गकुन्तधनुरादेर्व्याघ्रादिज्ञानालम्बन-

---

इन्द्रियका शुक्तिसे सम्पर्क होनेपर दूसरे देश (आपण आदि) तथा दूसरे कालमें विद्यमान रजत एतद्देशकालगत) शुक्तिरूपसे (शुक्तिके साथ अभेदेन) गृहीत होता है। यदि अन्य देशकालगतका भी दोषसे अन्यत्र अन्यात्मना भान हो सकता है, तो जिस पदार्थका कभी भी अनुभव नहीं हुआ है, उसका भी ग्रहण हो जाना चाहिए, इस प्रकारका अतिप्रसङ्ग नहीं दे सकते, क्योंकि अन्यथाभान होनेमें सादृश्य आदिका ज्ञान नियामक है। (अननुभूतमें सादृश्यज्ञान नहीं होता है। आदि पदसे काचादि दोषका समवधान लेना चाहिए। इस शङ्काका खण्डन करते हैं—यह (अन्यथाख्याति) कहना उचित नहीं है। आप जिस पदको अन्यथाख्याति कहते हैं, उस पदसे तीन प्रकारके अन्यथात्वका भान हो सकता है—एक ज्ञानका अन्यथात्व, दूसरा ज्ञानके फल प्रकटता अथवा अनुव्यवसाय में अन्यथात्व, तीसरा ज्ञान विषयका अन्यथात्व। आप किसमें अन्यथात्व मानते हैं ? इस आशयसे विकल्प करते हैं—क्या ज्ञानमें अन्यथात्व मानते हो ? अथवा फलमें ? या वस्तुमें (ज्ञानविषयमें) ? पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि रजताकार ज्ञान हो और उसका आलम्बन शुक्ति हो, ऐसा ही अन्यथात्व ज्ञानमें कहना होगा, उसमें शुक्तिका आलम्बनत्व क्या पदार्थ है ? इस जिज्ञासाके उत्तरमें ज्ञानको अपना आकार समर्पण करना ? अथवा ज्ञानजनित व्यवहारका (शब्दाभिलाप अथवा हानोपादानरूप प्रवृत्तिका) विषय होना आलम्बनत्व है ? इन दोनोंमें से एकको ही आप कहेंगे। इनमें प्रथम पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि जो रजताकारसे घिरा हुआ है, उस ज्ञानको शुक्ति अपना आकार दे सकती है यह असम्भव है। द्वितीय विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि व्याघ्र आदिके (हिंस्रक जन्तुके) दर्शन–साक्षत्कारात्मक ज्ञान—होनेसे किये गये प्रहार आदि व्यवहारके विषय खड्ग,

त्वप्रसङ्गात् । नाऽपि फलेऽन्यथात्वम्, फलस्य स्फुरणस्य भ्रान्तौ सम्यग्ज्ञाने वा स्वरूपतो वैषम्यादर्शनात् । वस्तुन्यपि कथमन्यथात्वम्? किं शुक्तिकाया रजततादात्म्यं किं वा रजताकारेण परिणामः? आद्येऽपि किं शुक्तिरजतयोरत्यन्तं भेदः किं वा भेदाभेदौ? नाऽऽद्यः, अत्यन्तभिन्नयोर्वास्तवतादात्म्यासम्भवात्; अनिर्वचनीयत्वस्य त्वयाऽनभ्युपगमात् । शून्यतादात्म्यप्रतीतौ गुणगुण्यादावपि तत्संभवेन भ्रान्तित्वं दुर्वारम्, समवायस्य प्रक्रियामात्रसिद्धस्य तादात्म्यानतिरेकात् । भेदाभेदपक्षे तु खण्डो गौरिति-

---

भाला, धनुष आदि प्रहारसाधन व्याघ्रादिज्ञानके विषय हो जायँगे । और फलमें भी अन्यथात्व नहीं बन सकता, क्योंकि स्फुरणरूप फलका (प्रकटतारूप माननेसे जो वस्तुनिष्ठ होता है अथवा अनुव्यवसायात्मक ज्ञानरूप माननेसे आत्मनिष्ठ होता है, उसका) भ्रान्तिज्ञानमें अथवा सम्यक्ज्ञानमें स्वरूपतः कोई वैषम्य (भेद) नहीं देखा जाता । तीसरे पक्षमें कहा गया वस्तुमें अन्यथात्व क्या शुक्तिका रजतके साथ तादात्म्य (अभेद) है? या शुक्तिका रजतके आकारसे परिणाम है? यदि प्रथम पक्ष मानते हो, तो क्या शुक्ति और रजतका अत्यन्त भेद मानते हो? या भेदाऽभेद? अन्त्यन्त भेद मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अत्यन्त भिन्न पदार्थोंका वास्तविक तादात्म्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि अनिर्वचनीय (मिथ्या) पदार्थका आप स्वीकार करते ही नहीं हैं। [यदि अनिर्वचनीय पदार्थका स्वीकार किये बिना ही अवास्तविक तादात्म्य माना जाय, तो तादात्म्यके असत् हो जानेसे वन्ध्यापुत्र आदिकी भाँति अपरोक्षरूपसे उसका प्रतिभास नहीं हो सकता । किंच, सामान्य, विशेष, गुण और गुणियोंका तादात्म्य भी असत् हो जानेसे भ्रम कहलाएगा, इस आशयसे कहते हैं—] शून्यतादात्म्यकी प्रतीति माननेपर गुणगुण्यादि स्थलमें भी (अत्यन्तभेदवादीके मतमें) अवास्तव तादात्म्यका सम्भव होनेसे भ्रान्तिका प्रसङ्ग नहीं हटाया जा सकता । अपनी प्रक्रियासे—परिभाषामात्रसे—सिद्ध समवाय तो तादात्म्यसे अतिरिक्त नहीं है। ['नीलो गौः' इत्यादि गुणगुणिभावस्थलमें सामानाधिकरण्यप्रतीतिका आलम्बन तादात्म्य नहीं है, किन्तु समवाय है, और वह समवाय सत् ही है, इससे शून्य संसर्ग नहीं है, इस पूर्वपक्षके उत्तरमें समवाय तादात्म्यसे अतिरिक्त कहा गया है, यह भाव है]। दूसरे भेदाऽभेदपक्षमें तो 'खण्डो गौः' आदि खण्डनामात्मक गुणविशिष्ट सामान्य-

वदभ्रान्तिः स्यात्। परिणामपक्षेऽपि बाधो न स्यात्—विमतं रजतज्ञानमबाध्यम्, परिणामज्ञानत्वात्, क्षीरपरिणामदधिज्ञानवत्। ततः क्षीरवदेव शुक्तिः पुनर्न दृश्येत। ननु कमलस्य विकाशरूपपरिणामहेतोः सूर्यतेजसोऽपगमे पुनर्मुकुलीभाववद्रजतपरिणामहेतोर्दोषस्याऽपगमे पुनः शुक्तिभावोऽस्तु, मैवम्; विकसितमेव मुकुलमासीदितिवद्रजतमेव शुक्तिरासीदिति प्रतीत्यभावात्। कथंचित्तद्भावेऽपि न परिणामपक्षो युक्तः, निर्दोषस्याऽपि रजतप्रतीतिप्रसङ्गात्। नह्येकमेव क्षीरं दधिरूपेण कंचित्पुरुषं प्रति परिणतमन्यं प्रति नेति दृष्टचरम्। तस्मान्नाऽन्यथाख्यातिः सुनिरूपा।

विशेषभाव स्थलकी नाईं 'इदं रजतम्' यह प्रतीति भी भ्रम नहीं होगी। यदि परिणामपक्ष माना जाय, तो उसका बाध नहीं होगा, क्योंकि इसमें अनुमान होगा कि 'विमत (भ्रमात्मक) रजतज्ञान बाध्य नहीं है, परिणामज्ञान होनेसे, दूधके परिणामभूत दधिके ज्ञानकी तरह। तब तो (ऐसा माननेसे) दूधकी भाँति (जैसे दधिरूपमें परिणत होनेपर दूधका दर्शन नहीं होता, वैसे ही) शुक्तिका पुनः दर्शन ही नहीं होगा ? [परिणाम होनेपर भी कारणकी निवृत्ति होनेसे परिणामीके दर्शनका दृष्टान्त द्वारा वादी समर्थन करता है]— जैसे कमलके विकासरूप परिणामके कारणभूत सूर्यप्रकाशके अस्त होनेपर फिर कमलका मुकुलीभाव (बंधी हुई कलीका रूप) देखा जाता है, वैसे ही रजतरूप परिणामके कारण काच आदि दोषोंके निकल जानेपर पुनः शुक्तिका रूप देखा जा सकता है। उत्तर देते हैं—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे खिला हुआ ही कमल बँधी हुई कलीके रूपमें हो गया है, वैसे ही रजत ही शुक्तिकाके रूपमें हो गया है, ऐसी प्रतीतिका अभाव है (इससे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें अत्यन्त वैषम्य हो गया)। कथंचित् (तुष्यतु दुर्जनन्यायसे) तादृश प्रतीतिका सद्भाव मान भी लिया जाय, तो भी परिणाम पक्ष युक्तिसंगत नहीं है; कारण कि जिस पुरुषके नेत्रोंमें काचादि दोष नहीं हैं, उसको भी रजतभ्रम होना चाहिए। एक ही (वही) दूध किसी-किसी पुरुषके लिए तो दधिरूपसे परिणत हो जाय और किसी-किसी के प्रति न हो, ऐसा अब तक कहीं देखा या सुना नहीं गया है। इसलिए अन्यथाख्यातिका भी निरूपण करना नहीं बन सकता।

अस्तु तर्ह्यात्मख्यातिः—विमतं रजतं बुद्धिरूपम्, संप्रयोगमन्तरेणाऽपरोक्षत्वाद्, बुद्धिवत्। ननु चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्या उत्पद्यन्त इति हि सौगतानां मतम्। तत्र न तावत् सहकारिप्रत्ययाख्यादालोकादे रजताकारोदयः संभवति, तस्य स्पष्टतामात्रहेतुत्वात्। नाऽप्यधिपतिप्रत्ययाख्यात् चक्षुरादेः, तस्य विषयनियममात्रहेतुत्वात्। नाऽपि समनन्तरप्रत्ययाख्यात् पूर्वज्ञानात्; विजातीयघटज्ञानानन्तरं विजातीयरजतभ्रमोदयदर्शनात्। नाऽप्यालम्बनप्रत्ययाख्याद्बाह्यात्, विज्ञानवादिना तदनङ्गीकारात्।

अच्छा तो भ्रम आत्मख्याति ही मान लिया जाय, [यद्यपि पूर्वोक्त दूषणोंसे शुक्तिकाका रजताकारमें परिणाम नहीं बन सकता, तथापि दोषदूषित इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ही चाक्षुषादि ज्ञान रजतादिरूपसे परिणत हो सकता है, ऐसा अन्यथाख्यातिको माननेवाले कुछ आचार्य मानते हैं, उनके मतका अथवा विज्ञानवादीके मतका खण्डन करनेके लिए आत्मख्याति मानकर यह पूर्वपक्ष किया गया है।] क्योंकि विमत (भ्रमविषय) रजत बुद्धिरूप है, इन्द्रियसन्निकर्षके बिना अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होनेसे, बुद्धिके समान, इस प्रकार अनुमान हो सकता है।

शङ्का—चार प्रकारके (सहकारी प्रत्यय १, अधिपति प्रत्यय २, समनन्तर प्रत्यय ३ और आलम्बन प्रत्यय ४ इस प्रकारके चार) हेतुओंकी अपेक्षा करके चित्त और चैत्य (ज्ञान और ज्ञानके विषय सुख-दुःख) उत्पन्न होते हैं, ऐसा बौद्ध लोग मानते हैं। परन्तु इन चारोंमें सहकारी प्रत्ययके नामसे पुकारे जानेवाले आलोक आदिसे रजतके आकारका उदय नहीं हो सकता, क्योंकि आलोक आदि तो स्पष्टतामात्रके प्रति ही हेतु हैं। अधिपति प्रत्ययसे अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियोंसे भी रजताकार नहीं बन सकता, क्योंकि चक्षुरादि तो केवल विषयके नियममात्रके हेतु हैं। [अर्थात् उत्पन्न हुए रसादिज्ञानमें रसादिविषयमात्रका नियमन ही चक्षुरादि अधिपति प्रत्यय करते हैं, नवीन आकारके उत्पादक नहीं हैं]। समनन्तर प्रत्यय नामक पूर्वज्ञानसे भी रजताकार नहीं होता, क्योंकि विजातीय घटज्ञानके अनन्तर विजातीय रजतभ्रमका उदय देखा जाता है। [समनन्तर प्रत्यय केवल सजातीय उत्तरज्ञानमात्र कहलाता है, विजातीय ज्ञानकी उत्पत्ति करानेमें उसकी सामर्थ्य नहीं है]। आलम्बन प्रत्यय नामक बाह्य पदार्थसे भी नहीं कह सकते, क्योंकि जब विज्ञानवादीके मतमें बाह्य पदार्थका स्वीकार ही नहीं

ततः कथं विज्ञानस्य रजतकार इति चेत्, संस्कारसामर्थ्यादिति ब्रूमः। ननु संस्कारस्याऽपि स्थायित्वे क्षणिकं सर्वमिति सिद्धान्तहानिः। क्षणिकत्वेऽपि तस्य ज्ञेयत्वेन विज्ञानमात्रवादहानिरिति चेद्, न; अनादिसिद्धज्ञानसन्ततौ यदा कदाचित्पूर्वं रजतज्ञानमुत्पन्नं तदेव संस्कार इत्यङ्गीकारात्। यद्यपि संस्कारो विजातीयानेकज्ञानव्यवहितस्तथापि कदाचित्सजातीयं रजतज्ञानान्तरमुत्पादयति। यथा व्रीहिबीजमनेकाङ्कुरादिकार्यव्यवधानेन पुनः सजातीयबीजान्तरमुत्पादयति तद्वत्। अथ न पूर्वबीजादुत्तरबीजोत्पत्तिः, किन्तु पूर्वबीजजन्याङ्कुरादिसन्तानादिति मन्यसे ? तर्ह्यत्रापि पूर्वरजतज्ञानजन्यज्ञानसन्तान एव संस्कारोऽस्तु। एवं पूर्वरजतज्ञानमपि पूर्वरजतज्ञानादुत्पद्यते। ततोऽनादिवासनाप्रापितं रजतं बुद्धिरूपमेव सद् भ्रान्त्या बहिर्वदवभासते इति।

है, तब विज्ञानको रजतका आकार कैसे प्राप्त हो सकेगा ? बौद्ध उक्त शङ्काका समाधान करता है कि संस्कारकी सामर्थ्यसे ही ज्ञान रजताकार होगा, ऐसा हम कहते हैं। वादी शङ्का करता है—यदि संस्कार फिर स्थायी माना जाय, तो 'सब क्षणिक ही हैं' ऐसी प्रतिज्ञा न बन सकनेसे आपके सिद्धान्तकी हानि होगी। यदि संस्कार भी क्षणिक ही माना जाय, तो वह भी ज्ञेय हो जायगा, इससे विज्ञानमात्रवादकी (विज्ञानसे इतर पदार्थ कुछ नहीं है इस मतकी) हानि होगी। बौद्ध समाधान देता है—नहीं, हानि नहीं होगी, अनादिसिद्ध ज्ञानसन्तानमें (बराबर चलनेवाली ज्ञानधारामें) किसी समय पूर्वमें उत्पन्न हुआ, रजतज्ञान ही संस्कार है, ऐसा अङ्गीकार किया गया है। यद्यपि संस्कार विजातीय घट, पट आदि विषयक अनेक ज्ञानोंसे व्यवहित हो गया है, तथापि कदाचित् (उत्पन्न पूर्वज्ञान) सजातीय दूसरे रजतज्ञानको उत्पन्न कर देता है। दृष्टान्त देते हैं—जैसे व्रीहिका बीज अनेक अङ्कुर आदि कार्योंके व्यवधान रहते भी सजातीय दूसरे व्रीहिबीजोंको उत्पन्न करता है, वैसे ही व्यवहित भी संस्कार सजातीय ज्ञान उत्पन्न कर सकता है। यदि पूर्व बीजसे उत्तर बीजकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु पूर्व बीजसे उत्पन्न हुए अङ्कुरादिकी परम्परासे बीजान्तरकी उत्पत्ति होती है, ऐसा मानते हो, तो प्रकृतमें भी पूर्व रजतज्ञानसे उत्पन्न ज्ञानपरम्पराको ही संस्कार समझ लीजिए। इस प्रकार प्रथम रजतज्ञान भी पूर्व रजतज्ञानसे

अत्रोच्यते—किं तद्रजमलौकिकत्वाज्जन्मरहितम् उत लौकिकरजतवदेव जायते ? आद्ये जायमानज्ञानस्वरूपं न स्यात्। द्वितीयेऽपि किं बाह्यार्थाज्जायते उत ज्ञानात् ? नाऽऽद्यः; त्वया बाह्यार्थस्याऽनङ्गीकारात्। ज्ञानमपि विशुद्धं तावन्न जनकम्; विशुद्धज्ञानस्य मोक्षरूपत्वात्। अथ दुष्टकारणजन्यज्ञानाद्रजतोत्पादः, तथाऽपि किं जनकप्रतीतिरेव रजतं गृह्णाति अन्या वा ? नाऽऽद्यः, क्षणिकयोर्जन्यजनकयोर्भिन्नकालीनत्वेनाऽपरोक्षरजतप्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। अन्यप्रतीतिरपि न तावददुष्टकारणजन्या रजतग्राहिणी, अतिप्रसङ्गात्। दुष्टकारणजन्या अपि यदि रजतजन्या तदा रजतस्याऽर्थक्रिया-

---

उत्पन्न होता है। इससे अनादि वासनाके द्वारा उपस्थापित रजत ज्ञानरूप ही होता हुआ भ्रमसे बाहरके जैसा प्रतीत होता है।

अब पूर्वोक्त पूर्वपक्षका उत्तर कहा जाता है—क्या वह रजत अलौकिक होनेसे जन्मरहित है ? या लौकिक रजतकी नाईं ही उत्पन्न होता है ? यदि जन्मरहित है, तो उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका वह स्वरूप नहीं हो सकता। यदि जन्म माना जाय, तो उसका जन्म बाह्य अर्थसे होता है ? या ज्ञानसे ? पहला पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि बाह्य अर्थका तुम्हारे मतमें अङ्गीकार ही नहीं किया गया है। ज्ञानसे मानना भी नहीं बनता, क्योंकि विशुद्ध ज्ञान तो उत्पन्न करनेवाला हो ही नहीं सकता, क्योंकि विशुद्ध ज्ञान मोक्षरूप है। यदि दूषित कारणोंसे उत्पन्न ज्ञानसे रजतकी उत्पत्ति मानो, तो हम विकल्प करेंगे कि क्या रजतकी जनक प्रतीति ही रजतको ग्रहण करती है ? या दूसरी प्रतीति ? पहला विकल्प नहीं मान सकते, क्योंकि जन्य (उत्पन्न होनेवाला) और जनक (उत्पन्न करनेवाला) दोनों ही क्षणिक हैं, अतः उनके भिन्नकालिक होनेसे रजतकी प्रत्यक्ष प्रतीतिके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा। [जिस कालमें जब तक जनककी प्रतीति है, तब तक जन्य उत्पन्न ही नहीं हुआ, इससे उस कालमें जन्यकी प्रतीति नहीं हो सकती और जन्यके उत्पन्न होनेपर क्षणिक जनककी प्रतीति जब विनष्ट हो गई, तब जनकप्रतीतिस्वरूप जन्यकी (रजतकी) प्रतीतिका प्रत्यक्ष कैसे होगा, यह भाव हुआ।] दूसरी प्रतीति भी अदूषित (शुद्ध) कारणोंसे उत्पन्न होकर भ्रमविषय रजतको ग्रहण करानेवाली नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा माननेसे अतिप्रसङ्ग हो जायगा अर्थात् सभी यथार्थज्ञान भ्रमके उत्पादक हो जायंगे। दूषित कारणोंसे उत्पन्न प्रतीति भी यदि रजतसे उत्पन्न हुई है, तो रजतको

कारित्वेन सत्त्वे सति बाह्योऽर्थोऽङ्गीकार्यः स्यात्। रजताजन्यत्वे तु न रजतं तद्विषयः स्यात्; ज्ञानाकारार्पको हेतुर्विषय इत्यङ्गीकारात्। तस्मादात्मख्यातिपक्षे रजतमेव न प्रतीयेत।

ननु तवाऽपि रजतज्ञानस्य स्मृतित्वे स्यादख्यातिर्ग्रहणत्वे चाऽन्यथाख्यातिः आत्मख्यातिर्वा स्यात्, नहि ज्ञानस्य स्मृतिग्रहणाभ्यामन्यः प्रकारः संभवतीति चेद्, मैवम्; किं विलक्षणसामग्र्यनिरूपणात्तदसंभवः? किं वा विलक्षणज्ञानस्वरूपानिरूपणाद् उत विलक्षणविषयानिरूपणात्? नाऽऽद्यः; संप्रयोगसंस्कारदोषाणां सामग्रीत्वात्। न च वाच्यं दोषः प्रतिबन्धकत्वेन पूर्वप्राप्तकार्यानुदयस्यैव हेतुर्नत्वपूर्वकार्योदयस्येति; अनुदयस्य प्रागभाव-

---

अर्थक्रियाकारित्व (व्यवहारप्रयोजकत्व) होनेसे उसके सत् हो जानेपर बाह्य अर्थ मानना ही होगा, और वह प्रतीति यदि रजतसे जन्य नहीं है, तो उस प्रतीतिका विषय रजत नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानमें आकारका समर्पक हेतु ही विषय होता है; ऐसा आपके मतमें अङ्गीकार किया गया है, इससे आत्मख्यातिपक्षमें रजतकी प्रतीति ही नहीं बन सकती।

विज्ञानवादी शङ्का करता है—तुम्हारे मतमें भी यदि रजतकी स्मृति मानी जाय, तो अख्यातिवाद प्रसक्त होगा, और यदि रजतका ग्रहण (अनुभव) माना जाय, तो सुतरां अन्यथाख्याति या आत्मख्याति ही प्रसक्त होगी, क्योंकि स्मरण और ग्रहणसे अतिरिक्त ज्ञानका कोई तीसरा प्रकार ही नहीं होता है। वेदान्ती समाधान देता है—नहीं, (आप ज्ञानके तृतीय प्रकारका असम्भव कैसे कहते है?) क्या विलक्षण सामग्रीका निरूपण न होनेसे तृतीय प्रकारका असम्भव है? या विलक्षण ज्ञानके स्वरूपका निर्वचन नहीं किया जा सकता है, इससे उसका असम्भव है? अथवा विलक्षण विषयका निरूपण न हो सकनेसे उसका असम्भव है? पहला विकल्प युक्त नहीं है, क्योंकि संप्रयोग, संस्कार, और दोषात्मक सामग्री उस स्थलमें विद्यमान ही है [अर्थात् शुक्तिसे इन्द्रियसंप्रयोग, पूर्वानुभूत रजतसंस्कार, विषयगत चाकचिक्यादि और इन्द्रियगत काचादि दोषोंके रहते हुए सामग्रीका अभाव नहीं कह सकते, यह भाव है] और यह कहना भी उचित नहीं है कि दोष प्रतिबन्धक ही होते हैं, अतः दोष प्राप्त कार्यके उदयका अभाव ही करते हैं, किसी अपूर्व कार्यके उत्पन्न करनेमें

रूपस्याऽनादित्वेन दोषाजन्यत्वात् । वातपित्तादिदोषाणां चाऽपूर्वकार्योत्पादकत्वदर्शनात् । न च दोषस्य संस्कारोद्बोधकत्वेनाऽन्यथासिद्धिः, तदुद्बोधस्याऽवान्तरव्यापारत्वात् । नह्युद्यमननिपतने कुर्वन् कुठारः छिदिक्रियां प्रत्यहेतुर्भवति ।

ननु संप्रयोगस्येदन्तामात्रज्ञानोपक्षीणत्वात् संस्कारस्य स्मृतिजनकत्वेऽपि त्वयाऽत्र स्मृतेरनङ्गीकृतत्वाद्दोषस्य च स्वातन्त्र्येण ज्ञानहेतुत्वादर्शनाद् रजतावभासः कथमिति चेत्, उच्यते—प्रथमं दोषसहितेनेन्द्रियेणेदन्तामात्रविषयाऽन्तःकरणवृत्तिर्जन्यते, तत इदन्तायां तद्ग्राहकवृत्तौ च चैतन्यमभि-

---

हेतु नहीं होते हैं', क्योंकि उदयका अभाव प्रागभावरूप है, अतः वह नित्य है, जन्य नहीं है, इस अवस्थामें दोषसे जन्म नहीं हो सकता है। और वात, पित्त आदि दोषोंको अपूर्व कार्यकी (ज्वरादिकी) उत्पत्ति करते हुए देखा गया है। दोष संकारके उद्बोधनमात्र करा देनेसे ही अन्यथासिद्ध हैं (अतः अपूर्व कार्यके प्रति हेतु नहीं हो सकते) ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोषोंमें संस्कारका उद्बोधन करना तो अवान्तर व्यापार है [प्रधान व्यापार तो अपूर्व कार्य उत्पन्न करना ही है] ऊपर उठता और नीचे गिरता हुआ (उद्यमन और निपतन करता हुआ) कुठार छेदनक्रियाके प्रति अहेतु नहीं होता है। [अर्थात् वह छेदनके प्रति हेतु ही हैं, उसके उद्यमन-निपतनरूपी आवान्तर व्यापारोंसे छेदनके प्रति अन्यथासिद्धि नहीं हो सकती ।]

पुनः बौद्ध शङ्का करता है—इन्द्रियसम्प्रयोग केवल इदन्ताका ज्ञान कराकर सामर्थ्य हीन हो गया [इससे सम्प्रयोगमें भ्रमात्मक अपूर्व ज्ञान उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य नहीं है] अतः संस्कार यद्यपि स्मृतिका जनक है, तथापि आप वेदान्ती (भ्रम स्थलमें) स्मृतिको मानते ही नहीं । [इससे 'भ्रमरूप' अपूर्व कार्यके प्रति संस्कारको भी हेतुत्व नहीं हो सकता ।] और दोष स्वतन्त्र रूपसे ज्ञान उत्पन्न करते हुए नहीं देखे गये हैं (अतः दोष भी भ्रमके हेतु नहीं हो सकते) तब आपके (वेदान्तीके) मतमें 'भ्रममें' रजतका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? उत्तर देते हैं—पहिले दोषयुक्त इन्द्रियसे 'इदम्' को ही विषय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्ति उत्पन्न होती है, तदन्तर इदन्तामें और इदन्ताके ग्राहक वृत्तिमें चैतन्य अभिव्यक्त होता है, तादृश चैतन्यमें विद्यमान अविद्या दोषसे

व्यज्यते, तच्चैतन्यनिष्ठा चाऽविद्या दोषवशात् संक्षुभ्नाति, तत्रेदमंशावच्छिन्न-चैतन्यस्थाऽविद्या संक्षुभिता सती सादृश्यादुद्बोधितरूप्यसंस्कारसहायवशाद् रूप्याकारेण विवर्त्तते। वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थाऽविद्या तु रूप्यग्राहिवृत्ति-संस्कारसहकृता वृत्तिरूपेण विवर्त्तते; तौ च रूप्यविवर्त्तवृत्तिविवर्त्तौ स्वस्वाधिष्ठानेन साक्षिचैतन्येनाऽवभास्येते इत्येवं रजतावभासः। यद्यप्यत्राऽन्तःकरणवृत्तिरविद्यावृत्तिश्चेति ज्ञानद्वयम्, तथाऽपि तद्विषयः सत्यानृतयोरिदं-रजतयोरन्योन्यात्मतयैकत्वमापन्नस्ततो विषयावच्छिन्नफलस्याऽप्येकत्वेन ज्ञानैक्यमप्युपचर्यते। नाऽपि द्वितीयतृतीयौ, मिथ्याज्ञानमिथ्याविषययोर्नि-रूपणात्।

यद्यप्यत्र संप्रयोगसंस्कारौ निरपेक्षावेव प्रमितिस्मृत्योर्जनने समर्थौ, तथापि प्रमितिस्मृतिनैरन्तर्योत्पत्तिमात्रेण प्रवृत्त्यसंभवादुभाभ्यां संप्रयोगसंस्का-

---

संक्षुब्ध होती है। उनमें इदम् अंशसे अवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली अविद्या संस्कारवश क्षुब्ध होती हुई सादृश्यसे उद्बुद्ध हुए रजतसंस्कारकी सहायतासे रजतके आकारमें विवर्तरूप परिणामको प्राप्त हो जाती है। और वृत्तिसे अव-च्छिन्न चैतन्यगत अविद्या तो रजतको ग्रहण करनेवाली वृत्ति सँस्कारसे सहकृत होकर रजतको विषय करनेवाली वृत्तिके रूपसे बदल जाती है, ये दोनों अर्थात् रजतविवर्त और वृत्तिविवर्त अपने-अपने अधिष्ठानभूत साक्षिचैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं, इस प्रक्रियाके अनुसार हमारे मतमें रजतका अवभास सिद्ध होता है। यद्यपि उक्त प्रक्रियामें अन्तःकरणवृत्ति और अविद्यावृत्ति ये अलग अलग दो ज्ञान हैं; तथापि उन दोनोंके विषय सत्य—इदम् अंश—और मिथ्या—रजत अंश—परस्परतादात्म्यापन्न होनेसे एक हो गये हैं, इससे विषयावच्छिन्न फल (प्रकटनादि) के भी एक हो जानेसे 'इदं रजतम्' इत्या-कारक ज्ञानका भी एक ही होना गौणवृत्तिसे व्यवहार किया जाता है। मिथ्या ज्ञान और तादृश विषय नहीं है, इस प्रकारके पूर्वोक्त द्वितीय और तृतीय विकल्प भी संगत नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञान और मिथ्या विषयका निरूपण हो ही गया है।

यद्यपि प्रकृतमें इन्द्रियसप्रयोग और संस्कार एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए ही प्रमाज्ञान और स्मरणको उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं, तथापि यथार्थ ज्ञान और स्मृतिका अव्यवधान हो जानेसे ही (रजतार्थीकी) प्रवृत्ति

राभ्यां जन्यमेकं मिथ्याज्ञानं कल्पनीयम्। यथा निरन्तरोत्पन्नेष्वपि वर्णज्ञानेषु यौगपद्याभावात् पदार्थज्ञानान्यथानुपपत्त्या पूर्वपूर्ववर्णसंस्कारसहितमन्त्यवर्णविज्ञानमेकमेव हेतुत्वेन त्वया कल्प्यते, तद्वत्।

ननु विमतं ज्ञानं नैकं भिन्नकारणजन्यत्वाद्रूपरसज्ञानवदिति चेद्, न; अनुमानप्रत्यभिज्ञयोरनैकान्त्यात्। तत्रोभयत्रापि स्मृतिगर्भमेकैकमेव हि प्रमाणज्ञानमभ्युपगतम्। कारणं चानुमानस्य व्याप्तिसंस्कारलिङ्गदर्शने, प्रत्यभिज्ञायास्तु सम्प्रयोगसंस्कारौ। न चानुमानस्य व्याप्तिस्मृतिलिङ्गदर्शने कारणं न संस्कार इति वाच्यम्, ज्ञानद्वययौगपद्यासम्भवात्। यद्यपि स्मृतेः

न होनेसे सम्प्रयोग और सँस्कार इन दोनोंसे उत्पन्न हुए स्मरण और अनुभवसे विलक्षण एक मिथ्याज्ञानकी कल्पना करनी ही चाहिए। जैसे अव्यवधानसे उत्पन्न हुए भी वर्णज्ञानोंमें एक साथ रहनेका अभाव है, इससे पदार्थज्ञानकी उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः इसकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे क्रमशः जायमान वर्णज्ञानोंसे अतिरिक्त पूर्व-पूर्व अक्षरोंके सहित अन्त्य वर्णके विज्ञानात्मक एक ही हेतुकी कल्पना तुम करते हो, वैसे ही [हम प्रवृत्तिरूप हेतुसे अतिरिक्त ज्ञानकी कल्पना करते हैं]।

पुनः शङ्का करते हैं—विमत (भ्रम) ज्ञान एक नहीं है, भिन्न-भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेसे, रूपज्ञान और रसज्ञानके तुल्य। [इस अनुमानसे भ्रममें एकज्ञानत्व नहीं बन सकता। जैसे रूपज्ञान चक्षुसे और रसज्ञान रसनासे भिन्न-भिन्न कारणोंसे होता है वैसे ही भ्रममें भी इदन्ताका ज्ञान सम्प्रयोगसे और रजतका ज्ञान संस्कारसे होता है, ऐसी दशामें एक ज्ञान कैसे? यही शङ्काका तात्पर्य है।) उत्तर देते हैं—यह अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि आपका 'प्रकृत हेतु भिन्नकारणजन्यत्व' अनुमान और प्रत्यभिज्ञामें व्यभिचरित है। कारण कि इन दोनों (अनुमान और प्रत्यभिज्ञा) में स्मृतिगर्भ एक-एक ज्ञान ही प्रमाण—प्रमितिकरण माना गया है। अनुमानमें व्याप्तिका संस्कार और लिङ्ग (धूमादि) का प्रत्यक्ष ये दो भिन्न-भिन्न कारण हैं और प्रत्यभिज्ञामें तो इन्द्रियसम्प्रयोग और संस्कार ये दो भिन्न-भिन्न कारण हैं। अनुमानमें व्याप्तिस्मरण और हेतुका प्रत्यक्ष ही कारण है, संस्कार कारण नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि दो ज्ञान एक कालमें नहीं रह सकते हैं। यद्यपि स्मृतिको प्रत्यभिज्ञाके कारण

प्रत्यभिज्ञाकारणतायां नायं दोषस्तथापि स्मृतिहेतुत्वेनावश्यं संस्कारोद्बोधो वक्तव्यः। तथा च तेनैव तदुत्पत्तौ, स्मृतेः केवलव्यतिरेकाभावाद्गौरवाच्च न कारणत्वम्। ननु रूप्यधीर्न निरपेक्षानेककारणजन्या अभिज्ञात्वाद् घटज्ञानवदिति चेद्, नः रूप्यधीरुक्तजन्या अभिज्ञाप्रमाणस्मृतिभ्यामन्यत्वात्

माननेमें यह दोष नहीं है, ['सोऽयं देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है) इस प्रत्यभिज्ञाज्ञानमें तत्तारूपकी स्मृति और इदमंशका प्रत्यक्ष एक ही कालमें होता है, इससे प्रत्यभिज्ञाकी कारणभूत स्मृति प्रत्यक्षके साथ-साथ होती ही है। अतः ज्ञानद्वयका यौगपद्याऽसम्भव नहीं है, यह भाव है] तथापि स्मृतिके कारणस्वरूप संस्कारका उद्बोधन अवश्य ही मानना पड़ेगा। इसलिए उस संस्कारसे ही प्रत्यभिज्ञाकी उत्पत्ति हो सकती है, फिर केवल व्यतिरेकके *अभावसे तथा गौरव होनेसे स्मृतिको कारण न मानना ही उचित है। अनुमान द्वारा शङ्का करते हैं—रजतज्ञान निरपेक्ष अनेक (एक दूसरेसे सम्बन्ध न रखनेवाले सम्प्रयोग और संस्कार इन दो) कारणोंसे जन्य नहीं है, अभिज्ञा होनेसे, घटज्ञानकी तरह। (एक देश या एक कालमें ही रहनेवाली वस्तुके ज्ञानको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। भ्रमात्मक रजतज्ञान भी अभिज्ञारूप है, इससे निरपेक्षकारणोंका समभिव्याहार इसमें कारण नहीं माना जा सकता।) उक्त अनुमानमें सत्प्रतिपक्षदोषरूप उत्तर देते हैं—ऐसा नहीं है, क्योंकि हम इसका विरोधी अनुमान करेंगे—भ्रमात्मक रजतज्ञान उक्त निरपेक्ष अनेक कारणोंसे उत्पन्न होता है, अभिज्ञाप्रमाण और स्मृतिसे भिन्न होनेसे, प्रत्यभिज्ञाके तुल्य, (प्रत्यभिज्ञामें भिन्न देश और कालका अवच्छेद रहता है, यह अवच्छेद भ्रममें भी समान है, और प्रत्यभिज्ञाको कोई भी अभिज्ञा नहीं कहता, अतः तत्तुल्य भ्रम भी अभिज्ञा नहीं कहा जा सकता) ऐसा भी अनुमान करना सुलभ है, और रजतभ्रमबुद्धि प्रमा—यथार्थ ज्ञान है, संस्कारसहित हेतुसे उत्पन्न होनेसे, अनुमानके समान [अनुमानमें व्याप्तिसंस्कार तथा हेतुदर्शन दो कारण होते हैं, एवम् भ्रममें भी वेदान्तमतमें पूर्वानुभूत रजतका संस्कार और इन्द्रियसम्प्रयोग ये दो

* स्मृतिके न होनेपर भी उद्बुद्ध संस्कारसे प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः स्मृतिके अभावमें प्रत्यभिज्ञाका अभावरूप व्यतिरेक नहीं है, किन्तु उसका अभाव है, अतः संस्कारको कारण अवश्य मानना चाहिए। ऐसी दशामें जब कि संस्कार ही प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान करा देगा, तब अन्तर्गडु स्मृतिको उसमें कारण माननेकी क्या आवश्यकता है ?

प्रत्यभिज्ञावदित्यपि सुवचत्वात् । न च वाच्यं रूप्यधीः प्रमा संस्कारसहित-हेतुजन्यत्वादनुमानवदिति, दोषाजन्यानुभवत्वस्योपाधित्वात् ।

ननु ज्ञानेऽनुपपत्त्यभावेऽपि रूप्यस्य सत्त्वेनानुभूयमानस्य मिथ्यात्वं विरुद्धमिति चेद्, मैवम्; शुक्तीदन्तांशवच्छुक्तिसत्ताया एव रजतसंसर्गाङ्गीकारात् । तर्हि तस्य संसर्गस्यैव सत्त्वेनानुभूतस्य मिथ्यात्वं विरुद्धमिति चेद्, एवं तर्हि त्रिविधं सत्त्वमस्तु—ब्रह्मणः पारमार्थिकं सत्त्वम्, आकाशा-

---

कारण हैं इससे यह अनुमानके सदृश प्रमा ही है। किञ्च, जैसे प्रत्यभिज्ञामें स्मृति और अनुभव दो कारण हैं तथा चित्रज्ञानमें नील, पीत आदि अनेक अवभास कारण हैं और जब उक्त दोनों ज्ञान प्रमा (यथार्थ) माने जाते हैं तब ऐसे संस्कार और इन्द्रियसम्प्रयोग (प्रत्यक्ष सामग्री) से जायमान रजतावभास यथार्थ क्यों न माना जाय ? यह आशय है], ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस अनुमानमें दोषसे उत्पन्न न होनेवाला अनुभवत्व उपाधि है। (अनुमानादि उपर्युक्त तीनों ज्ञानोंमें यथार्थज्ञानत्व भी है और दोषाजन्याऽनुभवत्व—दोषसे न होनेवाला अनुभवत्व भी है, अतः साध्यव्यापकत्व है। और रजतबुद्धिमें निरुक्त हेतु 'संस्कारसहित हेतुजन्यत्व' है, परन्तु उक्त उपाधि नहीं है, अतः साधनाऽव्यापकत्व भी है।)

यदि शङ्का की जाय कि (भ्रमात्मक) रजतज्ञानको एक ज्ञान माननेमें यदि कोई अनुपपत्ति न भी हो, तो भी रजत 'इदं रजतं सत्' (यह रजत सत् है) इस प्रकार सत् प्रतीत होता है, ऐसी दशामें उसे मिथ्या कहना उक्त अनुभवके विरुद्ध है। तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिकी इदन्तांशकी भाँति शुक्तिकी सत्तामें ही रजतसम्बन्धका स्वीकार माना गया है। [जैसे 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रतीतिसे शुक्तिमें विद्यमान इदन्ता–पुरोवर्तिता (सामने रहना) ही रजतमें भासित होती है, वैसे ही 'सत्' इस अनुभवसे भी शुक्तिकी ही सत्ताका अवभास होता है, यह आशय है] तब तो जो सद्रूपसे अनुभवमें आ रहा है उस संसर्ग का भी मिथ्यात्व अनुभवके विरुद्ध ही है यदि ऐसा कहा जाय, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त दोषके वारणके लिए तीन प्रकारकी सत्ता का स्वीकार करना आवश्यक है। प्रथम ब्रह्ममें * पारमार्थिक सत्ता, द्वितीय आकाश

---

* जिसका तीनों कालमें भी बाध न हो, उससे पारमार्थिक सत्त्व कहते हैं।

देर्मायोपाधिकं व्याहारिकं सत्त्वम्, शुक्तिरजतादेरविद्योपाधिकं प्रातिभासिकं सत्त्वम्। तत्रापारमार्थिकसत्त्वयोर्द्वयोर्मिथ्यात्वमविरुद्धम्। न च मिथ्यात्वकल्पनं मानहीनम्, 'मिथ्यैव रजतमभात्'इति रजततद्ज्ञानयोर्मिथ्यात्वप्रत्यभिज्ञानात्। अतो न मतान्तरवदस्मन्मते अनुभवविरोधो निर्मूलकल्पना वा। अख्यातौ त्वपरोक्षावभासिनः स्मर्यमाणत्वं विरुध्यते। ज्ञानद्वयरजतापारोक्ष्यस्मृतित्वस्मरणाभिमानप्रमोषादिकं बह्वदृष्टं कल्प्यम्। एवं

आदिकी मायाके कारण प्राप्त हुई * व्यावहारिक सत्ता और तृतीय शुक्तिरजत आदि (भ्रमविषय) की अविद्याजनित †प्रातिभासिक सत्ता। इन तीनों सत्ताओंमें अग्रिम दोनों अपारमार्थिक हैं, इनका मिथ्यात्व विरुद्ध नहीं है। और मिथ्यात्वकी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'अबतक असत्य (झूठा) ही रजत प्रतीत हो रहा था' इस प्रतीतिसे रजत तथा उसके ज्ञानके मिथ्यात्वका प्रत्यभिज्ञान ही प्रमाण है। इसलिए हमारे (वेदान्तीके) मतमें दूसरे मतोंकी भाँति अनुभवविरोध अथवा निर्मूल कल्पना, कोई भी दोष नहीं आता। [दूसरे मतोंमें विरोध दिखलाते हैं—] अख्यातिवादमें तो प्रत्यक्ष अवभासित होनेवाले रजतको स्मर्यमाण—स्मरणका विषय कहना विरुद्ध है; और एक ज्ञानको दो ज्ञान कहना, रजतके प्रत्यक्षत्व तथा स्मृतित्व एवं स्मरणाभिमान (तत्ताद्यंश) का प्रमोष, इत्यादि अनेक प्रकारकी नवीन कल्पनाएँ करनी होंगी। इस प्रकार ‡अन्यथाख्याति आदि अन्य मतोंमें भी विरोध और निर्मूल कल्पना आदि जो दोष

* अधिष्ठान तत्त्व-ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर जिसका बाध हो और जो केवल व्यवहारकालमें सम्वादि हो अर्थात् दो, तीन, चार या अधिकसे अधिक पाचवीं कक्षा तक स्थायी हो उसे व्यावहारिक सत्त्व कहते हैं। इस व्यावहारिक सत्ताकी उत्पादिका अविद्या माया कहलाती है।

† जिसकी अधिष्ठानभूत ब्रह्मसे इतर शुक्ति आदिके ज्ञानसे निवृत्ति हो और व्यवहारमें जो विसम्वादि हो अर्थात् जो केवल प्रतिभासकालमें स्थायी हो उसे प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं, और इसकी उत्पादिका अविद्या है। माया और अविद्याका अवान्तर भेद आगे चलकर स्पष्ट बतलाया जायगा।

‡ अन्यथाख्यातिवादमें—शुक्ति-रजतके अनुभूयमान संसर्गको भी शून्य कहना, (न मानना) आपणस्थ रजतका पुरोदेशमें प्रतिभास और इन्द्रियके व्यवहितके ग्रहण करनेमें दोषोंकी सामर्थ्यकी कल्पना करना इत्यादि—प्रत्यक्षविरुद्ध अनेक नवीन कल्पनाएँ आती हैं, एवं आत्मख्यातिमें भी आन्तर रजतका बाहर प्रतीत होना, शून्य संसर्गका भासना, इत्यादि पूर्वोक्त प्रमाणविरुद्ध सभी कल्पनाएँ आती हैं।

मतान्तरेष्वपि यथायोगमूहनीयम्। अतो रजतं मायामयमित्यस्मन्मतमेवादर्तव्यम्।

ननु तत्वज्ञाननिवर्त्यत्वाद्रजतमविद्यामयं न तु मायामयम्। न च मायैवाविद्या, लक्षणप्रसिद्धिभ्यां तयोर्भेदावगमात्। आश्रयमव्यामोहयन्ती कर्तुरिच्छामनुसरन्ती माया तद्विपरीता त्वविद्या। लोके हि मायानिर्मितहस्त्यश्वरथादौ मायाशब्द एव प्रसिद्धो नाविद्याशब्द इति। उच्यते--अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभासप्रतिबन्धविपर्ययावभासयोर्हेतुत्वं लक्षणं तच्चोभयोरविशिष्टम्। न च मन्त्रौषधादि सत्यं वस्त्वेव मायेति वाच्यम्,

---

आते हैं उनका हमें विचार करना चाहिए। और इससे—अख्यातिवादादि मतोंके खण्डित हो जानेसे—रजत मायामय है, इस हमारे मतका ही आदर करना चाहिए।

[प्रातिभासिक रजत मायामय कहा गया है, यह उचित नहीं है, क्योंकि माया तो अपने आश्रय ऐन्द्रजालिक आदिमें भ्रम नहीं करती और उसकी इच्छाके अनुसार रहती है। शुक्तिरजतमें ऐसा नहीं देखा गया है कि भ्रम किसी पुरुषकी इच्छाका अनुवर्तन करता हो, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] रजत तत्त्वज्ञानसे निवर्त्य (विनाशी) होनेके कारण अविद्याका विकार हो सकता है, मायाका नहीं, और माया ही अविद्या है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि लक्षण और प्रसिद्धिसे इन दोनोंमें भेदकी प्रतीति होती है। [भेदकी सिद्धि लक्षणद्वारा दिखाते हैं—] माया अपने आश्रयमें व्यामोह (भ्रम) उत्पन्न नहीं करती, उसकी इच्छाके अधीन रहती है। और इससे प्रतिकूल अविद्या होती है। (अर्थात् आश्रयको व्यामोहित करती है, उसकी इच्छाका अनुवर्तन नहीं करती।) [प्रसिद्धिसे भी भेद सिद्ध करते हैं—] यह प्रसिद्ध है कि लोकमें मायासे उत्पन्न हाथी, घोड़े, रथ आदि 'माया' शब्दसे ही प्रसिद्ध हैं, अविद्याशब्दसे नहीं। (अर्थात् इनको माया कहा जाता है, अविद्या नहीं।) [अविद्या और मायामें कोई भेद नहीं है, इस आशयसे इनका लक्षण करते हुए उत्तर देते हैं—] 'अनिर्वचनीय होकर तत्त्वावभासके प्रतिबन्धका कारण और विपर्यय—मिथ्या अवभासका कारण' यह लक्षण अविद्या और माया दोनोंमें एक रूप-सा है। मन्त्र, औषध आदि सत्य वस्तु ही माया है, यह भी नहीं मानना

तत्र मायाशब्दप्रयोगाभावात् । द्रष्टारो हि दृष्टमिद्रजालमेव मायां वदन्ति न त्वदृष्टं मन्त्रादिकम् । मन्त्रान्वयव्यतिरेकौ तु काचादिवन्निमित्तकारणत्वेनोपपन्नौ । न ह्यनिर्वचनीयं मायाशब्दवाच्यमिन्द्रजालं सत्यमन्त्राद्युपादानकं भवति । अतोऽनाद्यनिर्वचनीयं किंचिदुपादानं कल्पनीयम्, सादित्वेऽनवस्थापतेः । तस्य च मायाशब्दवाच्यत्वमुपादानोपादेययोरभेदादुपपन्नम् । एवं चेन्द्रजालोपादानत्वेन कल्पिता मायैव रजताद्यध्यासानामप्युपादानमस्तु, मास्तु पृथगविद्या; मायां तु प्रकृतिमिति सर्वोपादानत्वश्रुतेः । अतो लाघवान्मायैवाविद्या । न च मायाया आश्रयं प्रत्यव्यामोहकत्वं नियतम्,

---

चाहिए, क्योंकि मन्त्रादिमें मायाशब्दका प्रयोग नहीं देखा गया है । देखनेवाले पुरुष हाथी-घोड़े आदि दिखाई पड़नेवाले वस्तुस्वरूप इन्द्रजालको ही माया कहते हैं । दिखाई न देनेवाले मन्त्र, औषध आदिको नहीं कहते । मन्त्र आदिके साथ अन्वय और व्यतिरेक (यदि मन्त्र, औषध आदिका प्रयोग है, तो तादृश हस्ती, अश्व आदि दीखते हैं, अन्यथा नहीं; इत्यादि व्याप्ति) तो अक्षिगत काचादि रोगके तुल्य मणिमन्त्रादिकी निमित्तकारणताका ही प्रतिपादन करनेमें उपयुक्त हैं । अनिर्वचनीय, जो मायापदसे व्यवहृत होता है, ऐसे इन्द्रजालके उपादान (समवायिकारण) मन्त्र आदि सत्य पदार्थ नहीं माने जा सकते; क्योंकि मृदादि सत्य उपादानोंसे सत्य ही घटादिकी उत्पत्ति होती है । इसलिए ऐसे किसी एक उपादानकी कल्पना करनी चाहिए जो अनादि और अनिर्वचनीय (मिथ्या) हो, कारण कि उसे सादि माननेमें अनवस्थाकी आपत्ति होगी । (क्योंकि उत्तरोत्तर कारणान्वेषणपरम्परा न रुकनेसे मूल कारणकी भी असिद्धि हो जायगी ।) इससे उस मूल कारणका मायापदसे ही व्यवहार करना उपादान और उपादेयमें अभेद माननेसे उचित ही है । इस प्रकार ऐन्द्रजालिक वस्तुकी उपादानस्वरूप मानी गई माया ही रजत आदि अध्यासों (विभ्रमों) की भी उपादान रहे, पृथक् अविद्याकी कल्पनाकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि मायाके लिए 'मायां तु प्रकृतिं' (मायाको प्रकृति समझो) इस वाक्यसे सकल प्रपञ्चका उपादानत्व प्राप्त ही है । (इससे मायाकी उपादानत्वकल्पना नूतन नहीं है ।) इसलिए माया ही अविद्या है, यह लाघवमूलक कल्पना ही बिलकुल ठीक है । और ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि माया अपने आश्रयको व्यामोहित नहीं

विष्णोः स्वाश्रितमाययैव रामावतारे मोहितत्वात्। नाप्यविद्याया आश्रयव्यामोहनियतिः, जलमध्येऽधोमुखत्वेन वृक्षेष्वध्यस्तेष्वपि तदूर्ध्वमुखतायां द्रष्टुरव्यामोहात्। अथात्र तीरस्थवृक्षदर्शनजन्यविवेकवशादव्यामोहः अविद्यास्वभावस्तु व्यामोहक इति चेत्, तर्ह्यैन्द्रजालिकस्यापि प्रतीकारज्ञानादव्यामोहः। माया तु स्वभावाद् व्यामोहिकैव, इन्द्रजालद्रष्टृषु व्यामोहदर्शनात्। सति तु प्रतीकारज्ञाने तेऽपि न मुह्यन्त्येवेत्यनाश्रयत्वं न व्यामोहप्रयोजकम्। न च माया कर्तुरिच्छामनुसरति, मन्त्रौषधादौ निमित्तकारण एव कर्तुः स्वातन्त्र्यात्। तादृशं चेच्छानुवर्तित्वमविद्याया अपि दृष्टम्, नेत्रस्याङ्गुल्यवष्टम्भेन द्विचन्द्रभ्रमोत्पत्तेः। अविद्यास्वरूपे कर्त्ता न

करती, क्योंकि विष्णु अपनी मायासे ही रामावतारमें मोहित * हुए थे, यह देखा गया है। तथा अविद्या अपने आश्रयको व्यामोहित करती ही है, ऐसा भी नियम नहीं है, क्योंकि यद्यपि देखनेवालोंको जलमें प्रतिबिम्बित हुए वृक्ष औंधे मुंह-से माल्म पड़ते हैं तथापि उन तीरस्थ वृक्षोंकी उद्ध्र्वमुखतामें उन्हें जरा भी व्यामोह नहीं होता। यदि कहो कि यद्यपि अविद्याका स्वभाव अपने आश्रयमें भ्रम उत्पन्न करना ही है तथापि ऐसे स्थलमें तीरमें स्थित वृक्षके प्रत्यक्षसे उत्पन्न हुए विवेकके कारण अविद्याके आश्रयमें व्यामोह (भ्रम) नहीं होता, तो यह भी कहना उचित नहीं है, कारण कि ऐन्द्रजालिक (इन्द्रजाल दिखानेवाले पुरुष) को प्रतीकारका ज्ञान होनेसे (मायाके द्वारा भी) व्यामोह नहीं होता है। माया तो स्वभावसे आश्रयमें व्यामोह उत्पन्न करती ही है, क्योंकि इन्द्रजाल देखनेवालोंमें व्यामोह देखा गया है। प्रतीकारका ज्ञान होनेपर वे भी व्यामोहित नहीं होते हैं, इसलिए अनाश्रयत्व (मायाका आश्रय न होना) भ्रमका प्रयोजक नहीं है। और माया कर्ताकी इच्छाके अनुसार चलती है, ऐसा भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि मन्त्र, औषध आदि निमित्त कारणोंके प्रयोगमें ही कर्ताका स्वातन्त्र्य है। उस प्रकारकी इच्छाका अनुवर्तन करना तो अविद्यामें भी देखा गया है, क्योंकि नेत्रको अङ्गुलीसे कुछ दबा देनेसे दो चन्द्र दीखनेका भ्रम उत्पन्न होता ही है। यदि अविद्याके स्वरूपमें कर्ताका व्यापार उपयोगी नहीं है, तो मायाके स्वरूपमें भी कर्ताका व्यापार उपयोगी नही है; (अर्थात् यदि अविद्यास्वरूपकी निष्पत्ति कर्तृव्यापाराधीन

* तथापि रामो लुलुभे मृगाय।

व्याम्रियत इति चेत् , तदितरत्रापि समम् । प्रसिद्धिरपि शास्त्रीया तावत्तयोर-भेदमेव गमयति, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादिश्रुतौ सम्यग्ज्ञान-निवर्त्याविद्यायां मायाशब्दप्रयोगात् ।

तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते ।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥

इति स्मृतौ मायाऽविद्ययोर्मुखत एवैकत्वनिर्देशात् । लोकप्रसिद्धिस्त्वे-कस्मिन्नपि वस्तुन्युपाधिभेदादुपपद्यते । विरूपजनकत्वाकारेणेच्छाधीनत्वा-कारेण वा मायेति व्यवहारः । आवरणाकारेण स्वातन्त्र्याकारेण वाऽविद्येति व्यवहारः । तस्माद्रजतस्य मायामयत्वमुपपन्नम् ।

नहीं है, तो मायाका स्वरूप भी कर्तृव्यापाराधीन नहीं है;) ऐसा समझना चाहिए । और शास्त्रीय प्रसिद्धि भी इन दोनोंमें अभेदका ही बोध कराती है, क्योंकि 'भूयश्चा०' (अन्तमें विश्वमायाकी निःशेष निवृत्ति हो जाती है) इत्यादि श्रुतिमें सम्यक् ज्ञानसे निवृत्त होनेवाली अविद्याके लिए ही मायाशब्दका प्रयोग देखा गया है ।

'तरत्यविद्यां०' (जिस परमात्माका हृदयमें समावेश हो जानेपर योगीजन विस्तृत मायारूप अविद्याको पार कर जाते हैं, उस अमेय विद्यास्वरूप परमात्माके लिए नमस्कार है) इस स्मृतिमें माया और अविद्याका ऐक्य 'मायाम् अविद्याम्' इन समानाधिकरणशब्दों द्वारा स्पष्ट ही कहा गया है । लोकप्रसिद्धि तो एक ही वस्तुमें उपाधिके भेदसे उपपन्न हो सकती है । [जैसे—] विरूपजनकत्वरूपसे (ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें घट, पट आदि विक्षेप उत्पन्न करनेवाली होनेसे) अथवा इच्छाके अधीन उसका आकार पानेसे (ऐन्द्रजालिकको हाथी, घोड़ा आदि जो कुछ दिखानेकी इच्छा होती है, माया उसकी इच्छाके अनुसार तादृश आकारका ग्रहण कर लेती है; इससे) 'माया' यह व्यवहार होता है और अधिष्ठानके अवभासका प्रतिबन्धक जो आवरण है उसके रूपसे अथवा स्वातन्त्र्यसे (इच्छाके अधीन रूपग्रहण न करनेसे) 'अविद्या' यह व्यवहार होता है । [इससे इन्द्रजाल आदिके लिए मायाशब्दका व्यवहार और अन्यत्र अविद्याशब्दका व्यवहार भी उपपन्न ही है, अतः कोई विरोध नहीं है ।] इससे शुक्तिरजतको मायामय कहना सङ्गत ही है ।

ननु कोऽयं क्लेशः रजतं यथावभासं पारमार्थिकमेवास्त्विति चेद्, नः तथा सति घटादिवद्दोषरहितैरपि गृह्येत। पारमार्थिकग्रहणं प्रत्यपि दोषस्य कारणत्वे, निर्दोषाणां न किंचित् प्रतिभायात्। मायामयत्वे तद् दोष एव नियंस्यति। विमतं सर्वैर्ग्राह्यं शुक्तीदमंशगत्वाच्छौक्ल्यवदिति चेद्, नः इदमंशमात्रगतत्वस्योपाधित्वात्। मायारजतं तु दोषजन्यबुद्ध्याऽभिव्यक्ते शुक्तीदमंशावच्छिन्ने चैतन्येऽध्यस्तम्, ततो निर्दोषैर्न गृह्यते। न ह्यन्यबुद्धिः पुरुषान्तरप्रत्यक्षा। अथ पुनः परमार्थवादी कथंचिद् दृष्टं नियामकं ब्रूयात्,

---

अब दिगम्बर शङ्का करते हैं—जैसी प्रतीति हो रही है उसके अनुसार रजतको परमार्थ सत् क्यों न मान लिया जाय, व्यर्थ इतनी कल्पनाओंका क्लेश क्यों उठाया जाय? उत्तर देते हैं—नहीं, यदि प्रतीतिके बलसे रजतको सत्य मान लिया जाय, तो सत्य घट आदिकी तरह शुक्ति-रजतका भी सबको अवभास होने लगेगा। और यदि पारमार्थिकके ग्रहणमें भी दोष ही कारण मान लिया जाय, तो जिनकी इन्द्रियोंमें कोई दोष नहीं है, उन्हें किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकेगा। और मायामय (मिथ्या) माननेमें तो कोई दोष नहीं आता, क्योंकि दोष ही उसका नियम करेंगे (अर्थात् दोषसे मायामयका ही प्रतिभास हो सकता है, इससे जिसमें दोष होंगे उसे ही मायामयका प्रतिभास होगा, दूसरेको नहीं)। पुनः दिगम्बर शङ्का करते हैं—विमत (शुक्तिरजत) सबसे ही ग्राह्य है, शुक्तिके इदमंशगत होनेसे, शुक्तिके इदमंशगत शुक्ल गुणके समान, इस अनुमानसे हम रजतको परमार्थ सिद्ध करते हैं। उत्तर देते हैं—नहीं, ऐसा अनुमान कभी नहीं कर सकते, क्योंकि उक्त अनुमानमें इदमंशमात्रगतत्व उपाधि है। रजतको मायामय माननेपर तो वह दोषसे उत्पन्न हुई भ्रमात्मक बुद्धिसे अभिव्यक्त हुए शुक्तिके इदमंशसे अवच्छिन्न चैतन्यमें अध्यस्त होता है, इसलिए दोषरहित प्रमाताको उसका ग्रहण नहीं होता है। [क्योंकि उसमें मायामय रजतग्रहण करनेका हेतु दोष नहीं है] कारण कि दूसरे 'पुरुष'की बुद्धिका दूसरे पुरुषको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। [विषयके मिथ्यात्वके बिना ज्ञानका अयथार्थत्व—भ्रमत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता, इससे भ्रमत्वकी सिद्धिके लिए रजतादि विषयको मिथ्या माननेकी कल्पना अब तक की गई है। यदि हम प्रतिभासको सत्य मान लें, तब तो प्रतिभासके अनुसार रजत यथार्थ ही होगा—इस आशयसे शङ्का करनेवाले वादीके

तथाप्यसौ नेदं रजतमिति प्रतिपन्नोपाधौ रजतस्य त्रैकाल्याभावबोधकं बाधकप्रत्यक्षं कथं निस्तरेत् ? मिथ्यावादे त्वनुकूलमेवैतत्, प्रतिपन्नोपाधावत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यैव मिथ्यात्वलक्षणत्वात्। न ह्ययं निषेधो मिथ्यारजतं गोचरयतीत्यधस्तादेव मिथ्यैवाभादिति प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययमाश्रित्योपपादितम्। अन्यथाख्यात्यात्मख्यात्योस्तु 'नेदं रजतं' किन्तु तद्र-

---

मतका अनुवाद कर खण्डन करते हैं—] यदि फिर भी भ्रमविषयको परमार्थ सत् कहनेवाला वादी किसी प्रकार दुराग्रहसे दृष्टको नियामक कहे, (अर्थात् दृष्ट—प्रतिभासके विषय घट, पटादि परमार्थ सत् हैं, अतः रजत भी प्रतिभासमान होता है, अतः परमार्थ सत् है, यदि ऐसा कहे) तो वह जिस पुरोवर्तीमें प्रतीत होता है उसमें ही 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार तीनों कालमें रजतके अभावके बोधक बाधक प्रत्यक्षका किस तरह पार पावेगा। अर्थात् सङ्गति किस प्रकार करेगा। मिथ्यावाद (मायामय माननेवालेके मत) में यह सब अनुकूल (सङ्गत) ही है, क्योंकि जिस अधिकरणमें जिसका सत्त्वेन प्रतिभास हो रहा है उसी अधिकरणमें उसके त्रिकालमें रहनेवाले अभावका प्रतियोगी होना, यह मिथ्यात्वका लक्षण है। [अर्थात् जिस शुक्त्यादिमें रजत प्रतीत होता है उसी शुक्त्यादिमें 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) ऐसा त्रैकालिक अभाव प्रतीत होता है, इससे रजतके तादृश अभावका प्रतियोगी होनेसे वह मिथ्या सिद्ध होता है।] 'नेदं रजतम्' यह निषेध मिथ्या रजतको विषय नहीं करता है (अर्थात् मिथ्या रजतका निषेध नहीं करता है), इसका पहले ही 'अबतक यह मिथ्या ही रजत भासित होता रहा' इस प्रत्यभिज्ञाप्रतीतिका आश्रयण करके प्रतिपादन कर चुके हैं। अन्यथाख्यातिपक्षमें (अर्थात् अन्य देश और कालमें विद्यमान रजतका इस देश और कालमें प्रतिभास माननेवालेके मतमें) 'नेदं रजतं किन्तु तद् रजतम्' यह (इस देश और कालमें प्रतीयमान) रजत नहीं है, किन्तु वह (देशान्तर तथा कालान्तरमें विद्यमान) रजत है, ऐसा बाधकज्ञान होना चाहिए और आत्मख्यातिपक्षमें (आन्तर ज्ञान ही बाहर रजतरूपसे भासित होता है, इस मतमें) भी यह रजत नहीं है, किन्तु बुद्धि है, ऐसा बाधकज्ञान होना चाहिए, न कि अबतक मिथ्यैव रजत भासित होता रहा, यह परामर्श।

जतमिति वा बुद्धिरिति वा परामर्शः स्याद्, न तु मिथ्यैवेति। अतो निर्दोषैरग्रहणाद्बाधपरामर्शाभ्यां च रजतस्य मिथ्यात्वमेव युक्तं न सत्यत्वम्।

ननु कोऽयं बाधो नाम यद्बलान्मिथ्यात्वनिश्चयः। किमन्यार्थिनोऽन्यत्र प्रवृत्तिनिरोधः किं वा तत्प्रवृत्तियोग्यताविच्छेद उताऽविविक्ततया प्रतिपन्नस्य विवेक आहोस्वित्तादात्म्येन प्रतिपन्नस्यान्योन्याभावप्रतिपत्तिः अथवा विपरीतज्ञानस्य प्रध्वंसः तद्विषयप्रध्वंसो वा दोषादिप्रध्वंसो वा? नाद्यः, विरक्तस्य प्रवृत्त्यभावेन बाधाभावप्रसङ्गात्। अथ रागपूर्वकप्रवृत्तिनिरोधो बाधः, तदापि दूरे मरीच्युदकं दृष्ट्वा प्रवर्त्तमानस्य मार्गे सर्पचोरादिदर्शनेन निवृत्तौ बाधप्रसङ्गः। न च तत्र बाधः, उदकज्ञानस्यानिवृत्तेः।

इसलिए दोषरहित पुरुषोंसे उसका ग्रहण न होनेसे और 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञानसे तथा 'मिथ्यैवाऽभात्' इस परामर्शसे भी भ्रमविषय रजतादिको मिथ्या (मायामय) मानना ही उचित है, न कि सत्य मानना।

पुनः शङ्का करते हैं—यह बाध क्या वस्तु है? जिसके बलसे मिथ्यात्वका निश्चय होता है, क्या अन्य वस्तुकी अपेक्षा रखनेवाले पुरुषकी अन्य वस्तुमें प्रवृत्तिका प्रतिबन्ध होना अथवा उसकी प्रवृत्तिकी योग्यताका विच्छेद? किंवा जिसे पहले विवेक न हुआ हो उसे पीछे विवेक होना? या जो तादात्म्यसे समझा गया हो उसके अन्योन्याभावका ग्रहण करना? अथवा विपरीत ज्ञानका नाश? अथवा उस ज्ञानके विषयका नाश? या दोषादिका नाश? इनमेंसे पहला पक्ष उचित नहीं हो सकता, क्योंकि विरक्त पुरुष की प्रवृत्ति न होनेसे बाधके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा (क्योंकि बिना प्रवृत्ति हुए उसका प्रतिबन्ध कहना असङ्गत है, विरक्तकी प्रवृत्ति ही नहीं होती; अतः प्रवृत्तिका प्रतिबन्धरूप बाध नहीं होगा, इससे विरक्तके भ्रमविषय शुक्तिरजतमें मिथ्यात्व नहीं बनेगा)। यदि रागपूर्वक प्रवृत्तिके प्रतिबन्धको बाध कहें, तो भी दूरदेशमें मरीचि-जलको देखकर रागसे ही हुई प्रवृत्तिके बीच मार्गमें सर्प या चोर आदिके मिल जानेसे हुए प्रतिबन्धमें भी बाधका प्रसङ्ग हो जायगा और वहां पर बाध है नहीं, क्योंकि वहां उदकज्ञानकी निवृत्ति नहीं देखी जाती। (यदि बाध होता, तो उदकज्ञानकी भी निवृत्ति हो जाती।) दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक बार बाधसे भ्रमके निवृत्त हो जानेपर भी दूसरे समय

न द्वितीयः, कालान्तरे तत्रैव शुक्तौ भ्रान्तिप्रवृत्तिसंभवेन योग्यताया अविच्छेदात् । तृतीयेऽपि किं वस्तुषु गृहीतेषु भेदो धर्मः सन् पश्चाद् गृह्यते उत वस्तुस्वरूपभूतस्तदैव गृह्यते ? आद्ये, सर्वत्र वस्तुज्ञानस्याविविक्तविषयस्य भेदज्ञानं बाधकं स्यात् । द्वितीये, वस्तुनि गृहीते क्वाप्यविवेको न स्यात् । चतुर्थेऽप्यत्यन्तभेदवादे भेदाभेदवादे वा 'शुक्लो घटः' इति प्रथमं तादात्म्यं प्रतिपद्य पश्चाद् घटस्य शौक्ल्यमिति भेदप्रतिपत्तिर्बाधः स्यात् । न पञ्चमः, ज्ञानस्य क्षणिकस्य स्वत एव प्रध्वंसात् । नापि षष्ठसप्तमौ, वस्तुनोर्विषयदोषयोर्ज्ञानेन

उसी शुक्तिमें भ्रमसे रजतार्थीकी प्रवृत्तिका सम्भव होनेसे योग्यताका विनाश नहीं है । तीसरे विकल्प माननेमें भी, क्या वस्तुओंके गृहीत होनेपर धर्म होता हुआ भेद पीछे गृहीत होता है ? अथवा वस्तुओंका स्वरूप ही होता हुआ भेद वस्तुग्रहणकालमें ही गृहीत होता है ? [जैसे उत्पन्न हुए घटका पहले ग्रहण होता है, पुनः उसमें रक्त, पीत आदि धर्मोंकी उत्पत्ति होती है, उसके अनन्तर उनका ग्रहण होता है, इस प्रकार वस्तुका भेद ग्रहणके अनन्तर गृहीत होता है अथवा जैसे वर्तुलाद्याकार घटका स्वरूप ही है घटके ग्रहणकालमें ही उसका भी ग्रहण हो जाता है वैसे ही वस्तुग्रहणकालमें ही भेदका भी ग्रहण हो जाता है, यह दोनों विकल्पोंका तात्पर्य है] पहिला विकल्प माननेमें सर्वत्र ही अविविक्तविषयक वस्तु-ज्ञानका भेद-ज्ञान बाधक हो जायगा । [अर्थात् प्रथम (विवेक-ज्ञानके पूर्व) द्रव्यादि सभी पदार्थ विविक्त—पृथक् पृथक् गृहीत नहीं होते, प्रत्युत सामान्यतः एक ही ज्ञानमें अविवेकसे गृहीत होते हैं पश्चात् निरुक्त ज्ञानके विषयोंमें इतरेतराभावात्मक विवेक होता है । उस पूर्वज्ञानको भी भ्रमत्वापत्ति हो जायगी, यह तात्पर्य है] द्वितीय विकल्प माननेमें तो वस्तुके ग्रहणके साथ ही विवेकका ग्रहण होनेसे कहीं भी अविवेक नहीं होगा (पुनः भ्रम ही कैसे होगा ? जिसका आप बाध करते हैं) । चतुर्थ विकल्पमें भी अत्यन्त भेदवाद अथवा भेदाभेदवाद दोनों मतमें भी 'शुक्लो घटः' (सफेद घड़ा) इस समानाधिकरणप्रतीतिसे प्रथमतः तादात्म्य (अभेद) की प्रतीति होकर पश्चात् घड़ेकी सफेदीकी (द्रव्य नहीं है, किन्तु गुण है इस प्रकारकी) प्रतीतिसे भेदका ज्ञान होना बाध कहलाने लगेगा। (अर्थात् इस प्रकारका बाध आपके अभीष्ट मिथ्यात्वकी सिद्धि नहीं कर सकता) पञ्चम विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि क्षणिक ज्ञानका स्वतः विनाश होता है । छठां और सातवां विकल्प भी ठीक

प्रध्वंसासम्भवात् । न च बाध एवापलपनीयः, लोकप्रसिद्धत्वात् । तस्माद्बाधं न पश्याम इति । उच्यते—अज्ञानस्य वर्त्तमानेन प्रविलीनेन वा स्वकार्येण सह तत्त्वज्ञानेन निवृत्तिर्बाधः, तथाविधाऽनवबोधनिवृत्तौ बाधप्रसिद्धेः । नन्वेवं सति शुक्तिज्ञानमेव मिथ्यारजततदुपादानयोर्निवर्त्तकत्वाद्बाधकं स्यात्, सत्यमेवम् ; रहस्यमेतत्, तथापि परमार्थरजतबुद्ध्या प्रवर्त्तमानस्य तदभावबोधनेन प्रवृत्त्याकाङ्क्षोच्छेदित्वान्नेदं रजतमिति ज्ञानमपि बाधकत्वेन व्यपदिश्यते । ततो बाधान्मिथ्यात्वनिश्चयः ।

नन्वस्त्वेवं मिथ्यारजतज्ञानं भ्रमः । स्वप्नपदार्थज्ञानं तु न प्रमाणम्,

---

नहीं जँचता, क्योंकि ज्ञानके विषय या दोष का ज्ञानसे नाश नहीं होता। और बाधका अपलाप भी नहीं कर सकते, क्योंकि बाध लोकमें प्रसिद्ध है। इससे हम बाधका कोई लक्षण नहीं देखते। [जिस बाधके द्वारा आप भ्रमविषयको मिथ्या कह रहे हैं।] उत्तर देते हैं—तत्वज्ञानसे वर्तमान तथा प्रविलीन अपने कार्यके साथ-साथ अज्ञानकी निवृत्ति ही बाध है, क्योंकि तथाविध अनवबोध (समूल अज्ञान) की निवृत्तिमें ही बाधशब्दकी प्रसिद्धि है। (अर्थात् अज्ञाननिवृत्ति ही बाध है।) [यदि अनबोध (अज्ञान) की निवृत्ति ही बाध है, तो रजतका बाध शुक्तिज्ञानसे होता है, इससे शुक्तिज्ञान ही बाध होगा, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] तब तो ऐसा माननेसे शुक्तिज्ञान ही मिथ्यारजत और उसके उपादान अज्ञानका निवर्तक है, अतः शुक्तिज्ञान ही बाधक होगा [वादीका गूढ़ाशय यह है कि शुक्तिज्ञानसे रजतका अभावज्ञान हुआ, इससे प्रवृत्तिका विघात हुआ, रजतके मिथ्यात्वसे नहीं, उत्तर देते हैं—] आपका ऐसा कहना यद्यपि ठीक है, क्योंकि यही वेदान्त शास्त्रका रहस्य; सिद्धान्त है—तथापि परमार्थ रजतबुद्धिसे प्रवृत्त हुए पुरुषकी रजतके अभावबोधनसे निषेधप्रवृत्तिकी आकाङ्क्षाके उच्छेदकारक होनेसे 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) यह ज्ञान भी बाधक कहा जाता है। इसलिए बाधज्ञानसे मिथ्यात्वका निश्चय होता है।

[इतने ग्रन्थसे मिथ्याज्ञानका 'इन्द्रियसंप्रयोग, पूर्वानुभूतका संस्कार और दोष' इन तीन कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला अवभास तटस्थलक्षण और अन्यमें अन्यका

बाधितत्वात् । नापि स्मृतिः, अपरोक्षत्वात् । नापि भ्रमः, तल्लक्षणाभावात् । भ्रमस्य हि कारणत्रितयजन्यत्वं तटस्थलक्षणम् । न हि तत्स्वप्नेऽस्ति, निद्राख्यदोषस्यादृष्टोद्बुद्धसंस्कारस्य च सत्त्वेऽपि तृतीयस्य संप्रयोगस्याभावात् । नापि स्वरूपलक्षणं परत्र परावभास इत्येवंरूपं तत्र संभवति, परत्रेत्युक्तस्याधिष्ठानस्याभावात् । ततस्त्वत्पक्षे स्वप्नप्रत्ययस्य का गतिरिति । उच्यते—सम्प्रयोगो हि जागरणे बाह्यशुक्तीदमंशादिगोचरान्तःकरणवृत्त्युत्पादकः, अन्तःकरणस्य देहाद्बहिरस्वातन्त्र्यात् । स्वप्ने तु देहस्यान्तरन्तःकरणं स्वतन्त्रत्वात्स्वयमेव प्रवर्त्तिष्यत इति नास्ति संप्रयोगापेक्षा । ततो जागरणे

अवभास स्वरूपलक्षण हुआ, इन दोनों लक्षणोंकी स्वप्नादिज्ञानमें अव्याप्ति है, क्योंकि स्वप्नमें इन्द्रियसंप्रयोग तथा अधिष्ठानादिका भी अभाव है। और स्वाप्न ज्ञानको प्रमाण भी तो नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रमका लक्षण उसमें जाता है; अतः स्वाप्न ज्ञानको किस कोटिमें रखेंगे ? इस आशयसे शङ्का करते हैं—] पूर्वोक्त रीतिसे मिथ्यारजतज्ञानको भ्रम सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु स्वाप्न ज्ञानको नहीं। स्वाप्न पदार्थका ज्ञान तो प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जागरणमें उसका बाध हो जाता है। और स्मृति भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष अवभास है। भ्रम भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका लक्षण ही स्वाप्न ज्ञानमें उक्त प्रकारसे नहीं जाता है। 'पूर्वोक्त तीनों कारणोंसे उत्पन्न होना'' यह भ्रमका तटस्थलक्षण है। इसका स्वप्नमें सम्भव नहीं है। यद्यपि निद्रादि दोष और अदृष्ट द्वारा उद्बुद्ध संस्कार रूप दो कारण हैं, तथापि तीसरे इन्द्रियसंप्रयोगरूप कारणका अभाव ही है। एक वस्तुमें अन्य वस्तुका अवभास, इस प्रकारका स्वरूपलक्षण भी उसमें नहीं घटता। कारण कि 'अन्य वस्तुमें' इससे निर्दिष्ट अधिष्ठान-अंश स्वप्नमें नहीं है। इसलिए तुम्हारे मतमें स्वप्नज्ञानकी क्या दशा होगी ? यथार्थ या अयथार्थ किसीमें भी उसके न आनेसे वह तीसरी कोटि कौन-सी है ? जिसमें स्वप्नादिज्ञानका अन्तर्भाव हो ? इसपर कहते हैं—सम्प्रयोग जागरणमें बाह्य शुक्तिरूप इदमंश आदि विषयमें अन्तःकारणकी वृत्तिको उत्पन्न कराता है, क्योंकि अन्तःकरणकी देहसे बाहर स्वतन्त्रता नहीं है। स्वप्नमें तो देहके भीतर अन्तःकरणका स्वातन्त्र्य होनेसे वह स्वयं प्रवृत्त हो सकता है (वृत्त्याकारपरिणाम बन सकता है) अत एव इन्द्रियसम्प्रयोगकी उसे अपेक्षा नहीं

स्वप्नेऽप्यन्तःकरणवृत्तिरेव तृतीयं कारणम्। अधिष्ठानमपि सर्वत्र वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यमेव। शुक्तीदमंशादिस्तु चक्षुरादिसंप्रयोगस्यैव जनकः, अन्यथा निर्विषयस्य संप्रयोगस्यानुत्पत्तेः; अधिष्ठानचैतन्यावच्छेदकोपाधित्वात्। ततो यथा जागरणे संप्रयोगजन्यवृत्त्यभिव्यक्ते शुक्तीदमंशावच्छिन्ने चैतन्ये स्थिताऽविद्या रजताकारेण विवर्तते तथा स्वप्नेऽपि देहस्यान्तरन्तःकरणवृत्तौ निद्रादिदोषोपप्लुतायामभिव्यक्ते वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ये स्थिताऽविद्याऽदृष्टोद्बोधितनानाविषयसंस्कारसहिता प्रपञ्चाकारेण विवर्त्तताम्।

ननु स्वप्नभ्रमस्यात्मचैतन्यं चेदधिष्ठानं तदाऽध्यस्यमानसामानाधिकरण्येमेदं रजतमयं सर्प इतिवदहं नीलमहं पीतमित्यादिरूपेण प्रतीयात्, न त्विदं नीलमित्यादिपुरोदेशसंबन्धेन। अथ स देशोऽपि चैतन्येऽध्यस्तः, तर्हि

है। इससे जागरण और स्वप्नमें भी संप्रयोगस्थानीय अन्तःकरणकी वृत्ति ही तृतीय कारण है। और अधिष्ठान भी सर्वत्र जागरण और स्वप्नमें वृत्यवच्छिन्न (वृत्तिप्रतिबिम्बित) चैतन्य ही है। शुक्ति आदिका इदमंश आदि तो चक्षुरादि इन्द्रियसंप्रयोगका ही जनक है। अन्यथा निर्विषयक संप्रयोगकी उत्पत्ति ही नहीं होगी। कारण कि अधिष्ठान चैतन्यका अवच्छेदक ही उपाधि मानी जाती है। इससे जैसे जागरणमें संप्रयोगसे उत्पन्न अन्तःकरणकी वृत्तिमें अभिव्यक्त शुक्तिरूप इदमंशावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली अविद्या रजतके आकारमें विवर्तरूप परिणामको प्राप्त होती है वैसे ही स्वप्नमें भी देहके भीतर ही होनेवाली निद्रादि दोषोंसे दूषित अन्तःकरणकी वृत्तिमें अभिव्यक्त वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें विद्यमान अविद्या अदृष्ट द्वारा उद्बुद्ध किये गये नाना विषयोंके संस्कारोंसे युक्त होती हुई प्रपञ्चके आकारमें विवर्तरूपसे परिणामको पा सकती है।

स्वप्नमें निरुक्त वृत्यवच्छिन्न आत्मचैतन्य ही है उसमें स्वाप्न पदार्थका अवभास माननेमें अनेक दोष दिखलाते हैं—यदि स्वप्नभ्रमका अधिष्ठान आत्मचैतन्य है, तो अध्यस्यमान (अध्यास—मिथ्याज्ञानका जो विषय है, उस) पदार्थके साथ सामानाधिकरण्य (तादात्म्य) होनेसे 'इदं रजतम्' (यह रजत है) 'अयं सर्पः' (यह सर्प है) इस प्रकारकी प्रतीतिके तुल्य 'मैं नील हूँ' 'मैं पीत हूँ' इस प्रकारकी प्रतीति होनी चाहिए। 'यह नील है' इत्याकारक समीपदेशके सम्बन्धसे नहीं होनी चाहिए। [आत्मचैतन्यके साथ तादात्म्य होनेसे 'यह नील है' ऐसी प्रतीति आत्मचैतन्यसे बहिर्भूत

देशोऽहमित्यप्यन्तरेव प्रतिभासेत। अथ मन्यसे अत्यल्पमिदमुच्यते, जागरेऽपि चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वात् किं तत्र न चोदयसीति ? तर्ह्यस्तु तत्रापि चोद्यमिति। अत्र ब्रूमः—किं शरीरावच्छिन्नाहङ्कारसामानाधिकरण्येनान्तः प्रतीतिरापाद्यते उत चैतन्यसामानाधिकरण्येन ? नाद्यः, अहङ्कारस्यानधिष्ठानत्वात्। न द्वितीयः, इष्टापत्तित्वात्। अन्यथाऽध्यस्तानां स्वतो जडानां स्फुरणं न स्यात्। अहमुल्लेखस्त्वहङ्कारप्रयुक्त इति नात्र चैतन्यमात्रे संजायते।

देशसम्बन्धका अवगाहन करनेवाली इदन्त्वावच्छेदेन तादात्म्यप्रतीति नहीं होनी चाहिए, यह भाव है।] यदि उस पुरोवर्ती देशको भी आत्मामें अध्यस्त मानो, तो 'मैं देश हूँ' ऐसा भी अन्दर ही प्रतिभासित होना चाहिए। [आत्मचैतन्यके साथ तादात्म्य दिखानेवाली प्रतीति होनी चाहिए, न कि बाह्य देशके साथ, यह तात्पर्य है।] यदि कहो कि यह आत्मचैतन्यके साथ तादात्म्यप्रतीतिका अतिप्रसङ्गात्मक दोष तो अत्यल्प है, इसे केवल स्वप्नमें ही क्यों देते हो, जागरण-अवस्थामें चैतन्यको ही अधिष्ठान होनेसे वहांपर भी क्यों नहीं देते ? तो जागरणमें भी यही दोष रहे, इस शङ्काके उत्तरमें हम (वेदान्ती) कहते हैं—क्या [यद्यपि चैतन्य सर्वत्र व्यापक है और 'सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन् ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' इस रीतिसे सर्व प्रतीतियोंका विषय भी आत्मचैतन्य ही है तथापि स्पष्ट अभिव्यक्ति शरीरावच्छेदसे ही होती है और शरीरावच्छेदसे होनेवाली अहमाकार प्रतीति ही मुख्यतः आत्मचैतन्यको विषय करती है, ऐसे] शरीरावच्छिन्न अहङ्कारके साथ सामानाधिकरण्य (तादात्म्य) से अन्तःप्रतीति ('अहं देशः' 'अहं नील' इत्याद्याकारक भीतरी प्रतीति) की आपत्ति दे रहे हो ? अथवा (शुद्ध) चैतन्यके साथ सामानाधिकरण्यसे उक्त आपत्ति दे रहे हो ? प्रथम विकल्प तो हो नहीं सकता, क्योंकि अहङ्कार अधिष्ठान नहीं माना गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानना इष्ट ही है। (अर्थात् स्वाप्न पदार्थ अन्दर ही भासित होता है उसका अधिष्ठानभूत आत्मचैतन्यके ही साथ तादात्म्य होता है, इसलिए द्वितीय पक्ष इष्ट होनेसे दोषका आपादक नहीं हो सकता) द्वितीय पक्षके इष्ट माननेमें हेतु देते हैं—यदि आत्मचैतन्यको अधिष्ठान न मानो, तो अध्यस्त पदार्थ स्वतः जड़ (अप्रकाशस्वरूप) है उसका स्फुरण—प्रकाश नहीं होगा, इससे घटपटादि विषयोंका मुझे

ननु घटादयोऽपि शुक्तिरजतादिवत् स्फुरणसमानाधिकृता एवावभासन्ते। यद्येवं तर्हि चैतन्य एव तेऽप्यध्यस्यन्ताम् । न च घटादिस्फुरणं प्रमाणजन्यं नात्मस्वरूपमिति वाच्यम् , विमतं विषयावच्छिन्नचैतन्यमहङ्कारावच्छिन्नचैतन्याद्वस्तुतो न भिद्यते उपाधिपरामर्शमन्तरेणाऽविभाव्यमानभेदत्वाद् यथा घटाकाशो महाकाशात् । एवं च सति शरीरापेक्षयाऽन्तर्बहिर्विभागं कृत्वाऽहं

ज्ञान हो गया, इस प्रकार आत्म-संसर्गके भानकी उत्पत्ति नहीं होगी । [अब 'अहं नीलः' प्रतीतिका निवारण करते हैं—] प्रतीतिमें 'अहम्' का उल्लेख तो अहङ्कारके द्वारा ही होता है, इसलिए यहांपर चैतन्यमात्रमें 'अहम्' आकारका उल्लेख नहीं होता है । [आगे प्रतिपादन की जानेवाली युक्तिसे इदमनिदात्मक अहंङ्कारके द्वारा तत्तत् शरीरेन्द्रिय-संघातमें ही तत्तत् प्रमाताको अहम्‌का उल्लेख करनेवाली प्रतिनियत प्रतीति होती है, घटपटाद्यवच्छेदसे नहीं, यह भाव है] ।

[स्वाप्न पदार्थ तथा शुक्तिरजत आदि विभ्रम ही नहीं है, बल्कि व्यावहारिक घट, पट, आदि सकल प्रपञ्च भी आत्मचैतन्यमें ही अध्यस्त है; इस वेदान्त-सिद्धान्तके समर्थनके अभिप्रायसे शङ्का करते हैं—] घटादि पदार्थ भी शुक्ति-रजतादिके तुल्य 'सन् घटः स्फुरति' इत्यादि प्रतीतिसे स्फुरणात्मक सद्रूप ब्रह्मके साथ सामानाधिकरण्य (तादात्म्य) को ही प्राप्त हुए प्रतीत होते हैं । और यदि ऐसा मान लिया जाय (अर्थात् जो जिसके साथ तादात्म्यापन्न ही प्रतीत होता है वह उसमें अध्यस्त है), तो घट, पट आदि व्यावहारिक पदार्थ भी आत्म-चैतन्यमें ही अध्यस्त मान लिए जायंगे । [जैसे शुक्तिरजतका स्फुरण परमार्थतः चैतन्यस्वरूप है यह प्रतीति होती है, वैसे घटादिका स्फुरण चैतन्यस्वरूप है, यह प्रतीति नहीं होती, अतः घटादिका अध्यास आत्मचैतन्यमें नहीं हो सकता; इस आशयसे शङ्का करते हैं—] इन्द्रियादिप्रत्यक्षप्रमाण द्वारा उत्पन्न घटादिका स्फुरण (ज्ञान) आत्मस्वरूप नहीं है, ऐसा कहना भी नहीं बनता, क्योंकि विमत विषयावच्छिन्न चैतन्य (घटादिस्फुरण) अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्यसे वस्तुतः भिन्न नहीं है, उपाधिके परामर्शको छोड़कर भेदप्रतीतिके न होनेसे, जैसे घटाकाश महाकाशसे वस्तुतः भिन्न नहीं है । [जैसे घटाकाश और महाकाशमें केवल घटरूप उपाधिका उल्लेखमात्रविशेष है, और आकाशसामान्य उभयत्र समान है वैसे ही विषयावच्छिन्नचैतन्य और अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्यमें भी केवल

नाहमित्यात्मानात्मव्यवहारोऽहङ्कारोपाधिकोऽवगन्तव्यः। अन्तर्बहिर्व्याप्तिश्च एकस्यापि चैतन्यस्यानन्तत्वादुपपद्यते। न हि चैतन्यमणुपरिमाणम्, शरीरव्यापित्वेनोपलम्भात्। नापि निरवयवस्योपाधिं विना मध्यमपरिमाणं युज्यते। ततः सर्वगतचैतन्येऽधिष्ठाने जागरणव्यवहारः पारमार्थिकत्वेनाभिमतोऽप्यध्यस्तः किमु वक्तव्यं स्वप्नस्तत्राध्यस्त इति।

ननु 'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्यादौ नामादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासो विधीयते। तत्र कथं कारणदोषमन्तरेण भ्रम इति चेद्, मैवम्; तत्र हि मानसी क्रियैव

विषय और अहङ्काररूप उपाधिमात्रकृत विशेष है चैतन्यसामान्य उभयत्र समान ही है, अतः दोनों चैतन्योंमें पारमार्थिक कोई भेद नहीं है। इस अनुमानसे घटादिका स्फुरण आत्मस्वरूप ही है और आत्म-चैतन्यमें ही अध्यस्त है, यह सिद्ध किया गया।] इस निर्दिष्ट प्रकारसे शरीरकी अपेक्षा भीतर अथवा बाहर इन दो विभागों की कल्पना करके 'अहम्' (मैं) 'नाहम्' (मैं नहीं) यह इस प्रकार आत्मा और अनात्माका व्यवहार अहङ्काररूप उपाधिके कारण है, ऐसा समझना चाहिए। और एक ही चैतन्यका भीतर या बाहर सर्वत्र रहना अनन्त—व्यापक होनेसे उपपन्न है। चैतन्य अणुपरिमाण तो है ही नहीं जिससे एक कालमें एक ही छोटेसे स्थानमें उसका रहना हो, क्योंकि सम्पूर्ण शरीरमें उसकी व्याप्तिका उपलम्भ होता है। और निरवयव पदार्थका उपाधिसंसर्गके बिना मध्यमपरिमाण (शरीरादिपरिच्छेदसे परिच्छिन्न परिमाण) होना भी सङ्गत नहीं है। इस हेतुसे जागरणकालमें पारमार्थिकरूपसे माने गये घट, पट आदि सकल व्यवहार सर्वगत चैतन्यरूप अधिष्ठानमें ही जब अध्यस्त हैं तब स्वप्न उस सर्वगत आत्म-चैतन्यमें ही अध्यस्त है, यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या है? अर्थात् बिना कहे ही यह सिद्ध है कि स्वप्न आत्म-चैतन्यमें ही अध्यस्त है।

[इतने पूर्वोक्त ग्रन्थके विचारसे स्वप्नादिपदार्थज्ञानमें भ्रमलक्षणकी अव्याप्तिका परिहार किया गया अब नामोपासनादिमें अतिव्याप्तिका परिहार करनेके लिए शङ्का करते हैं—] 'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते''* (नामको ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करे) इत्यादि श्रुतिसे नाममें ब्रह्मदृष्टिरूप अध्यासका विधान किया जाता है और अध्यास भ्रम है वह कारणदोषके बिना कैसे उपपन्न होगा? इस प्रकारकी शङ्का भी ठीक

* श्रुतिमें तो 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' ऐसा पाठ है।

विधीयते, न भ्रान्तिज्ञानम्; अपुरुषतन्त्रस्याविधेयत्वात्। न च देवतास्मरणनग्नस्त्रीविस्मरणयोरिच्छाधीनत्वात् पुरुषतन्त्रमेव ज्ञानमिति वाच्यम्, तत्रापि मनस ऐकाग्र्यापादने स्मृतिहेतौ विस्मृतिहेतौ च विषयान्तरप्रवर्त्तने पुरुषस्य स्वातन्त्र्यं न स्मृतिविस्मृत्योरित्यङ्गीकार्यत्वात्। अन्यथा पौनःपुन्येनावृत्तिमन्तरेण सकृदधीतवेदादिकं कदाचित् पुरुषेच्छया झटिति स्मरेत्, पुत्रमरणादिकं च सद्य एव विस्मरेत्। तस्मान्न भ्रमो विधेय इति भ्रमस्य कारणत्रितयजन्यत्वं न व्यभिचरति। परत्र परात्मतावभास इत्येवंरूपतायां तु न कस्यचिदपि विवादः। अख्यातिवादिनाऽपि संसृष्टव्यवहारसिद्धये

नहीं है, क्योंकि 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' (नामको ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करे) इत्यादि श्रुतिमें मानसी क्रिया (उपासना) का ही विधान है, भ्रमज्ञानका नहीं, क्योंकि जो वस्तु पुरुषके व्यापारके अधीन नहीं है उसका विधान नहीं हो सकता। [ज्ञान पुरुषके व्यापारके अधीन नहीं है, क्योंकि इन्द्रियादिसंप्रयोग होनेपर वह अपने-आप ही उत्पन्न हो जाता है। यहांपर पुरुषमें 'कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं वा' (करने, न करने या विपरीत करनेकी) कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, अन्यथा दुर्गन्धका अनुभव या कटु शब्दोंका प्रत्यक्ष किसीको भी नहीं हो सकता।] देवताके स्मरण और नग्न स्त्रीके विस्मरणके इच्छाके अधीन होनेसे ज्ञान भी पुरुषाधीन है ही, यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहांपर भी स्मृतिके कारण मनके ऐकाग्र्यसम्पादनमें और विस्मृतिके कारण विषयान्तरकी प्रवृत्तिमें पुरुषका स्वातन्त्र्य है न कि स्मृति या विस्मृति रूप ज्ञानकी उत्पत्तिमें, ऐसा माना गया है। यदि ऐसा न मानकर स्मरण और विस्मरणमें भी पुरुषका स्वातन्त्र्य मान लिया जाय, तो पुनः पुनः आवृत्ति किये बिना भी एक बार ही पढ़े हुए वेदादि ग्रन्थोंका जब कभी पुरुष चाहे अपनी इच्छामात्रसे शीघ्र स्मरण कर लेगा और पुत्रमरण आदि (अनिष्ट प्राप्तिजन्य शोक) जल्दी ही भूल जायगा, यह दोष उपस्थित होगा; इसलिए भ्रम (अध्यास) का विधान नहीं किया जा सकता। अतः वह इन्द्रियसंप्रयोग आदि तीन कारणोंसे उत्पन्न होता है, इसका कहीं भी व्यभिचार नहीं है। 'अन्य वस्तुका अन्य वस्तुके रूपसे अवभास होना' इस अंशमें तो किसीको भी विवाद नहीं है। अख्यातिवादी (मीमांसक) को भी संसृष्टव्यवहार ('इदं

मानसस्य संसर्गज्ञानस्य संसर्गाभिमानस्य वा बलादङ्गीकार्यत्वात्। इतरे त्वधिष्ठानाध्यस्यमानयोः स्वरूपदेशकालविशेषेषु विवदमाना अपि नोक्तभ्रमस्वरूपे विवदन्ते।

ननु शून्यवादी शून्य एव संवृतिबलाद्रजतादिभ्रमं वदन् परत्रेत्युक्तं सद्रूपाधिष्ठानं न सहते। न च निरधिष्ठानभ्रमासंभवः, केशोण्डूकगन्धर्वनगरादिभ्रमस्य त्वन्मतेऽपि तथात्वात्। न च निरवधिकबाधासंभवः, 'न सर्पः' इत्याप्तवाक्यस्य बाधकस्य तथात्वादिति। नैतत्सारम्, अङ्गुल्या-

---

रजतम्' इस प्रकार इदंपदवाच्यमें रजतत्वके सम्बन्धविशिष्टज्ञान) की सिद्धिके लिए मानस संसर्गज्ञान अथवा संसर्गाभिमानको हठात् मानना ही पड़ेगा। आत्मख्याति या अन्यथाख्यातिवादी प्रभृति अन्य सब वादी तो अधिष्ठान (शुक्त्यादि) और अध्यस्यमान (रजत आदि) के स्वरूप, देश और काल विशेषोंमें विवाद करते हुए भी 'अन्यमें अन्यका अवभास' लक्षण भ्रमके स्वरूपके विषयमें कुछ भी विवाद नहीं करते।

[परत्रपदसे अभिमत अधिष्ठानको न माननेवाला बौद्ध भ्रमलक्षणमें विवाद करता हुआ शङ्का करता है—] शून्यवादी बौद्ध शून्यमें ही साम्वृत्तिक सत्तासे रजतादिभ्रमका समर्थन करता हुआ परत्रपदसे कहा गया जो सद्रूप अधिष्ठान है, उसका सहन नहीं करता हुआ अपने पक्षका स्थापन करता है—निरधिष्ठान (बिना अधिष्ठानके) भ्रम हो नहीं सकता, ऐसा आप नहीं कह सकते; क्योंकि केशोण्डूक या गन्धर्व नगर आदि भ्रम तुम्हारे (वेदान्तीके) मतमें भी बिना अधिष्ठानके ही होता है (अर्थात् शुक्तिज्ञान होनेके अनन्तर रजतका 'नेदं रजतम्' बाधसे शुक्ति सत्य रहती है उसका बाध नहीं होता वह बाधित न होनेसे ही बाधकी अवधि कहलाती है] अतः बाध अवधिके सहित ही होता है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'न सर्पः' (सर्प नहीं है) यह आप्तवाक्यस्वरूपबाध निरवधिक होता है [अर्थात् जिस भ्रमका बाध आपके अभिमत अधिष्ठानके ज्ञानसे नहीं हुआ बल्कि 'सर्प नहीं है' इस आप्तवाक्यसे हुआ, उस बाधमें कुछ भी अवधि नहीं है, और जो सर्प भासित हुआ उसका बाध हो गया, अधिष्ठान है ही नहीं, उसका ज्ञान भी नहीं है, यह भाव है]। इस बौद्धकी शङ्काका उत्तर देते हैं—यह कहना यथार्थ नहीं है, कारण

ऽपाङ्गावष्टम्भे सति वेष्टितानां नेत्ररश्मीनां केशोण्ड्रकाधिष्ठानत्वात् । आकाशस्य च गन्धर्वनगराधिष्ठानत्वात् । अन्यथा शून्यज्ञानस्यापि भ्रमत्वप्रसङ्गात् । तथात्वे च शून्यासिद्धेः । ज्ञानज्ञेयभ्रमयोरन्योन्याधिष्ठानत्वे चाधिष्ठानस्य पूर्वभावित्वेनान्योन्याश्रयत्वात् । बीजाङ्कुरन्यायेन ज्ञानज्ञेयव्यक्तीनां परम्पराभ्युपगमेऽपि बीजाङ्कुरप्रवाहानुगतमृद्वद् ज्ञानज्ञेयप्रवाहानुगतस्य स्थायिनः कस्यचिदभ्युपगन्तव्यत्वात् । तदनभ्युपगमे

कि अङ्गुलीसे अपाङ्गभागमें नेत्र दबाकर मलनेसे एकत्रित हुई नेत्रकी किरणें ही केशोण्ड्रकके अधिष्ठान हैं और आकाश गन्धर्वनगरका अधिष्ठान है। नहीं तो शून्य ज्ञानको भी भ्रमत्वका प्रसङ्ग हो जायगा। ऐसा होनेपर शून्यकी ही असिद्धि हो जायगी। (भ्रमसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती और निरधिष्ठानक भी भ्रम हो सकता है, ऐसी दशामें शून्य ज्ञान भी शुक्तिरजतज्ञानके तुल्य निरधिष्ठानक होनेसे भ्रम कहला सकेगा।) 'रजतका अधिष्ठान भ्रम और भ्रमका अधिष्ठान रजत' इस प्रकार ज्ञेय—रजतादि और भ्रम-ज्ञान इन दोनोंको परस्पर अधिष्ठान मान लेनेमें अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि अधिष्ठानका अध्यस्यमानसे पूर्वकालमें रहना आवश्यक है। (भ्रम और रजतको एक दूसरेका अधिष्ठान मानकर भ्रमकी साधिष्ठानता सिद्ध नहीं हो सकती, अतः अन्य तृतीय सत्यको अधिष्ठान मानना ही होगा) बीजाङ्कुरन्यायसे ज्ञान (भ्रम-ज्ञान) और ज्ञेय (रजतादि) व्यक्तियोंकी परम्परा माननेपर भी बीजाङ्कुरप्रवाहमें अनुगत मिट्टीकी भाँति ज्ञान और ज्ञेयके प्रवाह (परम्परा) में अनुगतरूपसे प्रतीत होनेवाली किसी स्थायी वस्तुको अवश्य ही मानना होगा। [जैसे घट और कपालमें परस्पर अन्वित—अनुगत मृत्के अन्वयसे कार्यकारणभावकी उपपत्ति होती है वैसे ही परस्पर अन्वित बीजाङ्कुरमें अन्वयी-अनुगत तदारम्भक कारण द्रव्यके अन्वयसे कार्यकारणभावकी उपपत्ति होती है और बीजाङ्कुरपरम्परामें जिस बीजसे जो अङ्कुर उत्पन्न हुआ है उसी अङ्कुरसे अपने कारण स्वरूप बीजकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु दूसरे बीजकी उत्पत्ति होती है एवम् यह बीज भी पुनः दूसरे अङ्कुरको उत्पन्न करता है, अपने कारणभूत अङ्कुरको नहीं। और इस प्रकार एकत्र बीजाङ्कुरमें कार्यकारणका ग्रह हो जानेपर उस गृहीत कार्य-कारणभावको लेकर अदृष्ट बीजाङ्कुरपरम्परामें भी कार्य-कारणभावका ग्रह हो जाता है अतः बीजाङ्कुरपरम्परामें अनवस्था तथा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता और

वाऽदृष्टकल्पनायामन्धपरम्परापत्तेः। 'न सर्पः' इत्याप्तवाक्यबाधस्यापि किंतु रज्जुरित्येतत्पर्यन्तत्वेन सावधिकत्वात्। किमप्यत्र नास्ति वृथा त्वं बिभेषीत्येवंरूपबाधेऽप्यत्रेत्युक्तस्य पुरोदेशस्यैवावधित्वात्। जगत्कारणत्वेन परैरुच्यमानं प्रधानं नास्तीत्यादिबाधेऽपि संप्रतिपन्नजगत्कारणमात्रस्यावधित्वात्।

यत्रापि मायाविनिर्मितहस्त्यश्वरथादावन्यत्र वा निरधिष्ठानभ्रमं निरवधिकबाधं च त्वं शङ्कसे तत्रापि भ्रमबाधयोः साधकं साक्षिचैतन्यमेवाधिष्ठानमवधिश्च स्यात्। न च तदपि बाध्यम्, तद्बाधस्य साधकाभावात्।

भ्रममें तो जिस भ्रमज्ञानमें जो रजत भासित हो रहा है उन्हीं दोनोंमें प्रथम-प्रथम कार्यकारणभावका ग्रहण होता है, अतः अन्योन्याश्रय तथा अनवस्था दोष विद्यमान ही है, यह खण्डनका आशय है।] उक्त आशयसे ही खण्डन करते हैं—यदि कोई अनुगत स्थायी कारण नहीं मानते हो, तो अदृष्टकी कल्पना करनेमें अन्ध-परम्पराके प्रसङ्गकी आपत्ति अवश्य आ सकती है। [आप्तवाक्यस्वरूपबाध निरवधिक है, इस पूर्वोक्त कथनका खण्डन करते हैं—] 'सर्प नहीं है' इस आप्तवाक्यस्वरूपबाधका भी 'किन्तु रज्जु है' यहां तक तात्पर्य होनेसे आप्तवाक्यरूपबाध भी सावधिक हो ही गया। [अर्थात् 'सर्प नहीं' यह सुननेपर 'तो क्या है?' ऐसी अपेक्षाका नित्य उदय होनेसे पुरोवर्ती वस्तुमात्र अवधि विद्यमान ही है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—] और 'यहां कुछ भी नहीं है, व्यर्थ ही तुम डर रहे हो' इस प्रकारके बाधमें भी 'यहाँ' इस पदसे उपस्थित हुआ पुरोदेश (सामनेका स्थल) ही अवधि विद्यमान है। 'दूसरे दार्शनिकों (सांख्यमतानुयायियों) से जगत्का कारण माना हुआ प्रधान नहीं है' इस बाधमें भी सर्वसम्मत जगत्का कारणमात्र ही अवधि है। [केवल त्रिगुणत्वमात्रका अभावबोधन होता है, ऐसा ही 'परमाणवो न सन्ति' (परमाणु नहीं हैं) इस बाधमें भी समझना चाहिए। निमित्ताऽभिन्नविवर्तोपादनकारण ब्रह्मरूप सदधिष्ठान सर्वत्र अवधि है, उसका बाध नहीं होता, अन्य प्रधान परमाणु आदिका बाध होता है, यह तात्पर्य है।]

जिन मायारचित हस्त्यश्वादि स्थलमें या अन्यत्र दूसरे स्थलोंमें जहाँ भी आप निरधिष्ठान भ्रमकी शङ्का करते हो उन स्थलोंमें भी भ्रम या बाधका साधक साक्षी, चैतन्य ही अधिष्ठान या अवधि होगा। ['भ्रमविषयके बाधित होनेसे भ्रमका

अन्यस्य च सर्वस्य जड़त्वात्। न च शून्यस्याधिष्ठानत्वम्, अध्यस्यमानेष्वनुगत्यभावात्। भावे वा भ्रान्तिकाले शून्यं रजतमिति प्रतीयाद्, न त्विदं रजतमिति। इदमिति प्रतीयमानमेव शून्यमिति चेत्, तर्हि नाममात्रे विवादः। नापि शून्यस्यावधित्वम्, सर्वबाधे तदप्रतीतेः। प्रतीतौ वा, चैतन्यमेव शून्यनाम्नाऽभिधीयते। नापि शून्यस्याध्यस्यमानत्वम्, तथा सत्यध्यस्तस्यापरोक्षप्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। अथ शून्यवादिनः प्रति-

---

भी बाध और भ्रमके बाधित होनेसे उस बाधित भ्रमका अवभास करानेवाले साक्षि-चैतन्यका भी बाध हो गया, इस आशयसे शङ्का-समाधान करते हैं—] साक्षि-चैतन्यका भी बाध कीजिए? नहीं, उसका बाध नहीं कर सकते, क्योंकि साक्षि-चैतन्यके बाधका कोई साधक नहीं है। साक्षि-चैतन्यसे अतिरिक्त सब वस्तु जड़रूप है। [यदि भ्रमका अधिष्ठान प्रकाशस्वरूप साक्षि-चैतन्य न हो अर्थात् उसका भी बाध हो, तो भ्रमका प्रतिभास ही नहीं हो सकेगा, और प्रतिभासके अनुभवसिद्ध होनेसे उसका अपलाप कर नहीं सकते। 'भ्रम बाधित है' इसका तात्पर्य इतना ही है कि बोधमें मिथ्या रजतादिका संसर्ग ही बाधित है न कि बोध ही। शुद्ध बोधस्वरूप तो अधिष्ठानरूपसे शेष रह जाता ही है] शून्यको अधिष्ठान मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि अध्यस्यमान (भ्रमके विषय रजतादि) में शून्य अनुगम्यमान नहीं है। [सद्रूप अधिष्ठान तो 'सदिदं रजतम्' इस अनुभवबलसे सर्वत्र अन्वयी है।] यदि शून्यको अन्वयी मान लिया जाय, तो भ्रमदशामें 'शून्य रजत है' इस प्रकारकी प्रतीति होनी चाहिए, 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति नहीं। यदि 'इदम्' (यह) इस प्रतीतिका विषय होनेवाला ही शून्य है, ऐसा मानो, तो केवल नाममात्रमें विवाद रहा। [अतिरिक्त माननेमें दोष देते हैं—] और शून्यको अवधि भी नहीं मान सकते, क्योंकि सब बाधके अनन्तर शून्यकी प्रतीति नहीं होती। यदि प्रतीति होती है, ऐसा आप कहते हैं, तो इसका मतलब यह है कि चैतन्य ही को आप शून्यनामसे कह रहे हैं। [इतने ग्रन्थसे अधिष्ठानकी शून्यताका निराकरण किया गया। अब अध्यस्यमान विषयकी शून्यताका निराकरण करते हैं—] शून्यको भ्रमका विषय होना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अध्यस्त विषयके प्रत्यक्षावभासके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि

भासमात्रनिराकरिष्णोरिष्टमेवैतत्, तर्हि तन्निराकरणमपि न प्रतिभासेत।

ननु तवाप्यध्यस्तस्य शून्यत्वं मतमेवेति चेद्, नः बाधप्रतियोगित्वस्य सिद्धये तत्प्रतीतिकाले सदसद्वैलक्षण्याङ्गीकारात्। बाधादूर्ध्वं तु भवत्येव शून्यत्वम्। विनष्टस्य शून्यतायाः कस्याप्यविवादात्। ये तु बाधितस्य रजतादेरन्यत्र सत्त्वमिच्छन्ति तेषां किं बाधकज्ञानमेव तद्गमकं किं वेह बाधानुपपत्तिः? नाद्यः, नेदं रजतं किन्तु देशान्तरे बुद्धौ वेत्यक्षणाऽनवगमात्। आप्तवाक्येनाप्यभिहितो रजताभाव एव गम्यते, न त्वदुक्तमन्यत्र सत्त्वम्।

शून्यवादी—हम तो प्रतिभासमात्रका निराकरण करना अपना इष्ट ही समझते हैं [तब भ्रमकी प्रत्यक्ष प्रतीति न होनेका प्रसङ्ग कोई दोष नहीं है]—ऐसा कहकर समाधान करे; तो उसके निराकरणका भी प्रतिभास न होगा। [क्योंकि प्रतिभासमात्रके निषेधसे निराकरणके प्रतिभासका भी निषेध हो गया। और आपके अभीष्टका भी स्वयं आपको भान नहीं होगा, इससे आपका सब प्रयास ही विफल हो जायगा, यह भाव है।]

आपको (वेदान्ती) को भी तो अध्यस्त रजतादिका शून्य मानना अभीष्ट ही है, यदि ऐसा कहो, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि हम (वेदान्ती) बाधप्रतियोगित्वकी सिद्धिके लिए रजतादिको प्रतीतिके समय सदसत्से विलक्षण (अनिर्वचनीय) मानते हैं। बाधके अनन्तर तो उसमें (अध्यस्त रजतादिमें) शून्यत्व है ही। विनष्ट हुई वस्तुकी शून्यतामें किसीको भी विवाद नहीं है। ['यद्यपि विनाशके अनन्तर सब वस्तुओंका शून्यत्व रहता है। यह सर्वसम्मत है। तथापि भ्रमसे प्रतीयमान रजतादिका बाध होनेपर शून्यत्व नहीं रहता, क्योंकि वह देशान्तरमें विद्यमान ही रहता है' इस किसी एकदेशी के मतका अनुवाद कर खण्डन करते हैं—] जो वादी बाधित रजतादिका दूसरे स्थानोंमें सत्त्व मानते हैं [उनसे हम (वेदान्ती) विकल्प करते हैं कि] उनके मतमें क्या बाधक ज्ञान ही अन्यत्र सत्ताका साधक है? अथवा यहाँपर बाधकी अनुपपत्ति? इनमें पहिला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि 'यह रजत नहीं है किन्तु देशान्तरमें (आपण आदिमें) अथवा बुद्धिमें है' इस तरहका प्रत्यक्ष चक्षुसे नहीं होता है। और 'नेदं रजतम्' इस आप्तवाक्यसे भी अभिहित (अभिधा शक्तिसे

इह बाधानुपपत्तिश्च न तावद्वादिसिद्धा, अन्यथाख्यातौ संसर्गस्यात्मख्यातौ च बहिष्ठस्यान्यत्र सत्त्वमन्तरेणैवेह बाधाङ्गीकारात् । अख्यातिवादिनाऽपि शुक्तौ रजतगोचरमिथ्याज्ञानस्य प्रतिवादिप्रसिद्धस्यान्यत्र सत्त्वमनङ्गीकृत्यैवेह निषेधः क्रियते । नापि लोकसिद्धा, इह भग्नघटस्यान्यत्र सत्त्वं विनैव निषेधात् । तर्हि घटवदेव कालभेदेन तत्र सत्त्वमस्त्विति चेद, न; पूर्वमत्र घटोऽभून्नेदानीमितिवत्कालविशेषोपाधौ निषेधाभावात् । निरुपा-

बोधित) रजताभाव ही प्रतीत होता है, न कि आपका कहा हुआ, अन्यत्र सत्त्व (आपण आदि या बुद्धिमें रहना)* ।

[यहाँपर अन्यत्र सत्त्वके बिना बाधकी उपपत्ति नहीं हो सकती (अर्थात् जिस अधिकरणमें जिस वस्तुका प्रतिभास हो रहा है उसी अधिकरणमें उसका अभाव तभी प्रसिद्ध हो सकता है, जब कि उसका अन्यत्र सत्त्व हो) एतदर्थक द्वितीय पक्षका निराकरण करते हैं—] यहाँपर बाधकी अनुपपत्ति भी सकलवादिसिद्ध नहीं है, क्योंकि अन्यथाख्यातिवादमें संसर्गके और आत्मख्यातिवादमें बहिष्ठके अन्यत्र सत्त्वके बिना ही बाधका अङ्गीकार किया गया है। अख्यातिवादी भी शुक्तिमें अन्यवादियोंके मतमें प्रसिद्ध रजतविषयक मिथ्याज्ञानका (अन्यत्र) सत्त्व माने बिना ही यहाँपर निषेध करता है । [बाधकी अन्यथा अनुपपत्ति] लोकसे भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि यहाँपर नष्ट हुए, घटका अन्यत्र सत्त्वके बिना ही निषेध होता है । तब तो ऐसी दशामें घटके तुल्य कालभेदसे वहाँ (भ्रमात्मक रजतस्थलमें) रजतका सत्त्व मान लिया जाय ? अर्थात् जैसे घटका निषेधकालमें अभाव और उससे अन्य कालमें सत्त्व रहता है वैसे ही 'नेदं रजतम्' इस निषेधकालमें भी रजतका अभाव और तदितर प्रतिभासकालमें सत्त्व मान लिया जाय ? क्या हानि है, तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, कारण कि 'पहले यहाँपर घट था,

* 'न त्वनुक्तम्' ऐसा भी पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ यह है—अभिधासे नहीं कहा गया प्रतीत नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि वाक्य दो प्रकारके होते हैं—एक मुख्य वृत्ति (अभिधा शक्ति) से अर्थका बोध करानेवाले, जैसे 'घटमानय' । और दूसरे जहांपर मुख्य वृत्तिसे उपस्थित अर्थका बाध होता है, ऐसे स्थलोंमें अमुख्य वृत्ति (लक्षणा) से अर्थका बोध करानेवाले, जैसे 'गङ्गायां घोषः' । प्रकृतमें 'नेदं रजतम्' वाक्यमें लक्षणाके बीज बाधादिके न होनेसे लक्षणाका अवसर तो है नहीं, मुख्य वृत्ति (अभिधा) द्वारा उक्त आप्तवाक्य रजतके देशान्तरवर्तित्वका बोध नहीं करा सकता; वाक्य अभिहित पदार्थके संसर्गका ही बोध करा सकता है । विवरणके अनुसार 'न त्वनुक्तम्' पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है ।

धिकनिषेधश्च परमार्थरजतस्यात्र कालत्रयेऽपि शून्यत्वादुपपद्यते । तच्छून्यत्वं चोत्तरकाले मिथ्यैव रजतमभादिति परामर्शादवगम्यते, अन्यथा सत्यमेवाभादिति परामृश्येत । भ्रान्तिकालप्रतीतिस्तु मिथ्यारजतमात्रेणाप्युपपद्यत एव । तच्च मिथ्यारजतं सोपादानं शुक्तितत्त्वज्ञानेन बाध्यते । न चास्य बाधकज्ञानस्यान्यत्र रजतसत्तासाधकत्वं शङ्कितुमपि शक्यम् । ततो बाधादुपरि समारोप्यस्य शून्यत्वेऽपि पूर्वं सद्रूपाधिष्ठाने मिथ्यावस्त्ववभासः शून्यवादिनाऽप्यभ्युपेयः ।

इस समय नहीं है' इस प्रतीतिके समान कालविशेषरूप उपाधिमें निषेधका अभाव है। [भ्रमके बाधमें दृष्टान्त विषम है, दृष्टान्तभूत भग्न घटके बाधमें 'नेदानीं घटः', (इस समय घट नहीं है) इस प्रकारके निषेधसे वर्तमानकालमें घटका अभाव बोधित होता है। और दार्ष्टान्तिक भ्रमबाधमें 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस निषेधसे किसी कालविशेषमें नहीं, बल्कि कालमात्रमें रजतका अभाव बोधित होता है, अतः प्रतिभाससे अन्य कालमें भी रजतका सत्त्व नहीं माना जा सकता। इससे न होनेवाला भी जो प्रतिभास हो रहा है, वही अनिर्वचनीयकी उत्पत्ति सिद्ध करता है, जिससे 'मिथ्यैव रजतमभात्' यह बोधका परामर्श होता है, यह भाव है।] उक्त आशयसे कहते हैं—किसी कालका उल्लेख किये बिना ही निरुपाधिक निषेध यहाँपर परमार्थरजतके तीनों कालमें भी शून्यत्व (न होने) से ही उपपन्न हो सकता है। और उस परमार्थरजतकी शून्यताकी प्रतीति 'मिथ्या ही रजत प्रतीत हुआ था' इस बाधकालसे उत्तर होनेवाले परामर्शसे प्रतीत होता है, अन्यथा (नहीं तो) 'सत्य ही रजत प्रतीत हुआ था' ऐसा परामर्श होना चाहिए था। भ्रमकालमें होनेवाली प्रतीति (प्रतिभास) तो मिथ्यारजतका ही आलम्बन करके बन सकती है। और वह मिथ्यारजत अपने उपादान (अविद्या) के सहित शुक्तितत्त्व (अधिष्ठानतत्त्व) के ज्ञानसे बाधित हो जाता है। यह बाधकज्ञान अन्य देशकालादिमें रजतकी परमार्थ सत्ताका साधक है, ऐसी शङ्का किसीको हो भी नहीं सकती है अर्थात् अधिकरण माने गये देशमें काल और वस्तु रूप उपाधियोंके अविशेषसे किया गया निषेध अन्यत्र सत्ताका बोधक कैसे हो सकेगा ? [अब 'निरधिष्ठानक भ्रम नहीं हो सकता' मूलमें की गई इस प्रतिज्ञाका उपसंहार करते हैं—] इससे बाधके अनन्तर समारोप्य (रजतादि) का शून्यत्व सिद्ध होनेपर भी बाधसे पूर्वकालमें

नन्विदं रजतं द्वौ चन्द्रमसावित्यादिष्वधिष्ठानप्रतीतिसंस्कारदोषाख्यकारणत्रितयजन्यत्वेन तटस्थलक्षणेन सत्यस्याधिष्ठानस्य मिथ्यात्मतावभासादुत्पन्नेन स्वरूपलक्षणेन च लक्षितो भ्रमोऽस्तु नाम, आत्मनि त्वहङ्कारादिरूपभ्रमो वा जीवब्रह्मरूपेणानेकजीवरूपेण च भेदभ्रमो वा कथं घटिष्यते? लक्षणासंभवात्। तथाहि—तत्र तावद्दोषस्त्रिविधः—विषयगतः सादृश्यादिः करणगतस्तिमिरादिः द्रष्टृगतो रागादिश्चेति। अत्र चात्मैव विषयकरणद्रष्ट्राख्यत्रितयस्थानीयः, अन्यस्य सर्वस्याध्यस्यमानकोटित्वात्। न चाद्वितीये निष्कलङ्कस्वभावे चात्मन्युक्तदोषा अन्यतो वा स्वतो वा संभवन्ति। कथंचिदविद्याख्यस्यावास्तवदोषस्य संभवेऽप्यध्यस्ताहङ्कारादि-

---

शुक्त्यादि सद्रूप अधिष्ठानमें मिथ्या वस्तुका ज्ञान शून्यवादी भी मानता ही है।

[ब्रह्ममें अहङ्कारादि प्रपञ्चाध्यासके ऊपर किये गए वादियोंके पूर्वपक्षोंका निराकरण करनेके लिए अनुवाद करते हैं–] 'यह रजत है', 'दो चन्द्रमा हैं' इत्यादि स्थलोंमें 'अधिष्ठानकी सामान्यसे प्रतीति, संस्कार, तथा दोष इन तीन कारणोंसे उत्पन्न होना' इस तटस्थलक्षण तथा 'सत्य अधिष्ठानको मिथ्यावस्तुके रूपमें समझना' इस स्वरूपलक्षणसे लक्षित किया गया भ्रम माना जा सकता है, परन्तु आत्मा (ब्रह्म) में तो अहङ्कारादिरूप भ्रम, जीव-ब्रह्मरूप भेदभ्रम और अनेक जीव भेदभ्रम कैसे सङ्गत हो सकता है, क्योंकि इसमें भ्रमके पूर्वोक्त दोनों लक्षण नहीं मिलते। कारण कि इन तीन कारणोंमेंसे दोषरूप कारण तीन प्रकारका है—एक तो विषयमें सादृश्य आदि, दूसरा इन्द्रियमें तिमिर आदि रोग और तीसरा द्रष्टामें राग (रजत आदिकी उत्कट इच्छा)। इस प्रकृत अहङ्कारादि प्रपञ्चाध्यास स्थलमें आत्मा ही विषय, करण, द्रष्टा इन तीनोंके स्थानमें है अर्थात् आत्मा ही अहङ्काररूप द्रष्टा, दृश्य—विषय और इन्द्रिय है, इससे अतिरिक्त सकल पदार्थ अध्यस्यमान कोटिमें—सत्य आत्मरूपी अधिष्ठानमें आरोपित की जानेवाली मिथ्या वस्तुकी पङ्क्तिमें—हैं अर्थात् हैं ही नहीं। और अद्वितीय निष्कलङ्कस्वभाव आत्मामें पूर्वोक्त तीनों प्रकारके दोष न तो किसी बाहरी आगन्तुक कारणसे आ सकते हैं [क्योंकि उसके निष्कलङ्क स्वभाव होनेसे कोई भी बाहरी दोषानुषङ्ग उसमें नहीं आ सकता] और न अपने-आप ही उसमें ठहर सकते हैं। किसी तरह अविद्यानामक मिथ्या दोषका सम्भव होनेपर भी अध्यस्त

प्रतिभासो न कारणत्रितयजन्यः, तस्य नित्यात्मचैतन्यरूपत्वात्। यद्यपि शुक्तिरजतादिस्फुरणमपि चैतन्यमेव तथापि तस्य सोपाधिकस्य संभवत्यौपचारिकं जन्म, अत्र तु उपाधिरप्यध्यस्तकोटिस्थ एव तत्कथं निरुपाधिकस्य जन्म ? ततो नास्ति तटस्थलक्षणम्।

तथेतरदपि नास्त्येव, सत्यत्वेऽप्यधिष्ठानत्वासंभवात्। अधिष्ठानं हि सामान्येन गृहीतं विशेषेणागृहीतम्। आत्मा तु निःसामान्यविशेषः कथमधिष्ठानं स्यात् ? आत्माऽधिष्ठानं वस्तुत्वात् शुक्त्यादिवदिति चेद्, न; परप्रकाश्यत्वस्योपाधित्वात्। तर्हि सिद्धान्तरहस्यानुसारेणैवमनुमीयताम्—

अहङ्कारादिका प्रतिभास निरुक्त तीन कारणोंसे उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह नित्य आत्म चैतन्यरूप है। यद्यपि शुक्तिरजतादिका प्रतिभास भी चैतन्यरूप ही है तथापि सोपाधिक होनेसे उसका औपचारिक (अध्यस्त) जन्म हो सकता है, और इस प्रकृत अहङ्कारस्फुरणमें तो उपाधि भी अध्यस्त पङ्क्तिमें ही है, तब निरुपाधिकका जन्म कैसे हो सकता है? इससे तटस्थलक्षणका यहांपर सम्भव नहीं है। [यद्यपि शुक्तिरजतस्थलमें भी 'सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन् ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' इस वचनके अनुसार ब्रह्मप्रतिभास ही है तथापि शुक्तिरूप इदन्तासे प्रतिभासमान इदमावच्छिन्नचैतन्योपाधिकमें रजतावच्छिन्न चैतन्यरूप स्फुरण उक्त कारणत्रितयसे जन्य हो सकता है, किन्तु नित्य चैतन्यात्मक स्फुरण तो कभी जन्य हो ही नहीं सकता; इसलिए अध्यात्म प्रतिभास अध्यास नहीं हो सकता, यह आशय है।]

इसीप्रकार दूसरा स्वरूपलक्षण भी नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मचैतन्यके नित्य होनेपर भी उसमें अधिष्ठानत्व नहीं हो सकता। कारण कि अधिष्ठान सामान्य अंशसे गृहीत होता है, विशेष अंशसे गृहीत नहीं होता है। [इससे अधिष्ठान सामान्य और विशेष रूप इन दो अंशोंसे सावयव होता है] आत्मा तो सामान्य और विशेष रूपसे रहित है, अतः वह कैसे अधिष्ठान हो सकेगा ? अगर ऐसा अनुमान करें कि 'आत्मा अधिष्ठान है, वस्तु होनेसे, शुक्ति आदिके तुल्य' तो इस प्रकारके अनुमानसे भी आत्माका अधिष्ठान होना नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि 'परप्रकाश्यत्व—दूसरेसे प्रकाशित होना' यह इस अनुमानमें उपाधि है। वादीद्वारा किये गये अनुमानके दूषित होनेपर भी सिद्धान्तरहस्यके अनुसार आत्माके अधिष्ठानत्वका साधन करते हैं—] तब सिद्धान्तरहस्यके अनुसार यदि ऐसा अनुमान करें कि 'आत्मा

आत्माऽधिष्ठानं चिद्रूपत्वात् शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यवदिति, मैवम्; इदमंशशुक्त्यंशावच्छिन्नरूपेण सांशस्य चैतन्यस्य सामान्यग्रहणविशेषाग्रहणयोः संभवेऽपि निरंशे आत्मनि तदसंभवात्। निरंशोऽप्याकाशादिवन्न कार्त्स्न्येनावभासत इति चेद्, नः स्वयंज्योतिषो यावत्सत्त्वमवभासात्। स्वयंज्योतिष्ट्वं चात्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः आत्मैवास्य ज्योतिरित्यादिश्रुतिसिद्धम्।

नन्वत्र ज्योतिःशब्देन प्रकाशगुणमात्रमभिधीयते तदाश्रयो द्रव्यं वा? नाद्यः, आत्मनो ज्योतिःशब्दाभिधेयस्य गुणत्वप्रसङ्गात्। द्वितीये, प्रकाशगुणा-

---

अधिष्ठान है, चिद्रूप होनेसे, शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यके सदृश, तो यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि इदमंश (सामान्यरूप) और शुक्ति-अंश (विशेषरूप) इन दोनों अंशोंसे अवच्छिन्न होनेसे सावयव चैतन्य (शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य) के—सामान्य अंशके ग्रहण (ज्ञान) और विशेष अंशके अग्रहण (अज्ञान) का सम्भव होनेपर भी निरंश आत्मामें इसका (सामान्य अंशके ग्रहण और विशेष अंशके अग्रहणका) सम्भव नहीं है। निरवयव होता हुआ भी आकाशकी भाँति वह सम्पूर्णतः भासित नहीं होता अर्थात् जैसे आकाशके अवयव न होनेसे उसके निरंश होनेपर भी उसका सर्वात्मना अवभास नहीं होता वैसे ही आत्मामें भी सम्पूर्णका ज्ञान न होकर कुछका ही ज्ञान होगा, ऐसी दशामें ग्रहणा और ऽग्रहणका सम्भव हो जायगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'स्वयंज्योति' का (जिसका प्रकाश स्वयं हो रहा है उसका) यावत्सत्त्व अवभास होगा। [अर्थात् वह जितना भी है सर्वात्मना स्वयंप्रकाश दीपककी भाँति अपने-आप प्रकाशित होनेवाला है तब कैसे संभव हो सकता है कि कुछका ग्रहण होगा, और कुछका नहीं, यह तात्पर्य है।] स्वयंज्योतिष्ट्वमें प्रमाण देते हैं—आत्माका स्वयंज्योतिष्ट्व—अपने-आप प्रकाशित होना, 'अत्रायं०' (यहांपर स्वप्नदशामें यह पुरुष—आत्मा स्वयंज्योति—स्वयंप्रकाशस्वरूप हो जाता है), 'आत्मैवा०' (आत्मा ही इसकी ज्योति—प्रकाश है) इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है।

ज्योतिःशब्दार्थके ऊपर शङ्का करते हैं—'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इस श्रुतिमें ज्योतिःशब्दसे केवल प्रकाशगुण ही लिया जाता है या उसका (प्रकाशका) आश्रय द्रव्य लिया जाता है? गुणमात्र तो नहीं ले सकते, क्योंकि ज्योतिःशब्दसे कहे जानेवाले आत्माको गुणपदार्थ होनेका प्रसङ्ग आजायगा। [यदि ज्योतिःशब्दसे आत्माका अभिधान नहीं होता, तो आगे 'आत्मैवास्य ज्योतिः'

रूपस्य ज्ञानस्य जन्यत्वेऽप्यात्मनो ज्योतिष्ट्वश्रुतिर्न विरुध्यते । ततो न यावत्सत्त्वमात्मनोऽवभास इति चेद्, मैवम्; चैतन्यमात्रवाची ज्योतिःशब्दस्तद्रूप आत्मेत्येव श्रुत्या विवक्षितत्वात् । अन्यथा स्वयमिति विशेषणस्य एवकारस्य च वैयर्थ्यात् । तथा हि—किं घटादाविवात्मन्यपि ग्राहकज्ञानस्य ग्राह्याद्व्यतिरिक्तत्वप्राप्तौ तद्व्यावृत्तये वाक्यद्वये विशेषणद्वयं किं वा ज्ञानजनकस्यान्यत्वव्यावृत्तये ? आद्ये, ग्राह्यग्राहकयोरात्मतज्ज्ञानयोरेकत्वे श्रुतिः पर्यवस्यति । एवं च सत्यात्मनो गुणत्वं ज्ञानस्य द्रव्यत्वं प्रसज्येतेति चेत्, प्रसज्यतां नाम, तार्किककल्पितानां द्रव्यादिपरिभाषाणां वस्तुनि विरोधा-

---

इस प्रकार सामानाधिकरण्यसे निर्देश नहीं किया जाता ।] द्वितीय पक्ष (प्रकाशगुणका आश्रय द्रव्य ज्योतिःशब्दसे लिया जाता है इस पक्ष) में प्रकाशगुणरूपी ज्ञानके जन्य होनेपर भी आत्माके स्वयंज्योतिष्ट्व होनेमें कोई विरोध नहीं है । इससे आत्माका यावत्सत्त्व अवभास (प्रकाश) नहीं बन सकता, यदि ऐसा कहो, तो ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि चैतन्य ही का वाचक उक्त श्रुतिमें ज्योतिःशब्द है, इससे ज्योतिःस्वरूप आत्मा है, यही अर्थ श्रुतिसे विवक्षित है । अन्यथा यदि प्रकाशगुणमात्र अथवा तदाश्रय द्रव्य ज्योतिःशब्दका अर्थ मान लिया जाय, तो 'अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' यहांपर 'स्वयम्' इस विशेषणका रखना तथा आगे 'आत्मैवास्य ज्योतिः' यहांपर 'एव' पदका देना व्यर्थ हो जायगा । इसीका उपपादन करते हैं—जैसे घटादिज्ञानस्थलमें घटादिका ग्राहकज्ञान घटादि—ग्राह्यसे भिन्न है वैसे ही आत्मामें भी आत्माका ग्राहकज्ञान ग्राह्य आत्मासे भिन्न है ऐसे ज्ञान और आत्मारूपी ग्राह्यमें भी प्राप्त हुए भेदकी व्यावृत्तिके लिए क्या उपर्युक्त दोनों वाक्योंमें दोनों विशेषण हैं ? अथवा ज्ञानजनकके भेदकी व्यावृत्तिके लिए हैं ? प्रथम पक्षका स्वीकार करनेपर (ग्राह्य और ग्राहकमें प्राप्त भेदकी व्यावृत्तिके लिए हैं, इस पक्षका स्वीकार करनेपर) तो ग्राह्य और ग्राहक, आत्मा और उसके ज्ञान इन दोनोंकी एकता (अभेद) में श्रुतिका तात्पर्य हो जायगा । और ऐसा तात्पर्य माननेपर आत्माको गुणत्व और ज्ञानको द्रव्यत्वका प्रसङ्ग आ जायगा । ठीक है, आ जाय, क्या हानि है ? क्योंकि तार्किकोंकी कल्पित द्रव्यादि परिभाषाएँ वस्तुमें विरोध पैदा करनेवाली नहीं हो सकती हैं ।

जनकत्वात् । न द्वितीयः, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । स्वयं ज्ञानं जनयत्यात्मैव ज्ञानं जनयति नान्यज्जनकमिति हि त्वया कल्प्यते, न च तथा श्रूयते; किन्तु स्वयंज्योतिरात्मैव ज्योतिरिति ततो नान्यज्ज्योतिरित्येवोपलभ्यते । न चापेक्षितत्वाज्जनकमपि निरूपणीयमेवेति वाच्यम्, नित्यज्ञानस्य तदनपेक्षत्वात् ।

विमतं ज्ञानं जायते ज्ञानत्वाद् घटादिज्ञानवदित्यनुमीयत इति चेद्, नः वेदान्तिमते दृष्टान्तासिद्धेः । घटादिज्ञानेऽपि स्फुरणांशस्य नित्यचैतन्यरूपत्वाद्, अन्तःकरणवृत्त्यंशस्य चाज्ञानत्वाद् ज्ञानव्यवहारस्य च तत्रौप-

---

[अर्थात् गुणाश्रय द्रव्य और द्रव्यसमवायि गुण इत्यादि पारिभाषिक नियमके अनुसार ज्ञानाश्रय आत्मा द्रव्य और आत्मसमवायि ज्ञान गुण है, इनका परस्पर ऐक्य नहीं हो सकता । यह नैयायिकोंका कहना संगत नहीं है, क्योंकि परिभाषाएँ तो अपनी-अपनी व्युत्पत्ति या इच्छाका अनुसरण करनेवाली हुआ करती हैं, ऐसी परिभाषाएँ वस्तुस्थितिकी साधिका नहीं मानी जा सकती हैं ।] 'ज्ञानजनकके भेदकी व्यावृत्तिके लिए हैं; इस द्वितीय पक्षका भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका स्वीकार करनेपर श्रुतकी हानि और अश्रुतकी कल्पनाका प्रसङ्ग आ जाता है । इस अनिष्ट प्रसङ्गको दिखाते हैं—स्वयं ज्ञान अपनेको उत्पन्न करता है आत्मा ही ज्ञानको उत्पन्न करता है, दूसरा कोई जनक नहीं है, यही कल्पना तुम कर सकते हो, परन्तु ऐसी श्रुति नहीं है । 'स्वयं ज्योतिरात्मैव ज्योतिः' ऐसी ही श्रुति है, इससे आत्मासे अतिरिक्त दूसरी कोई ज्योति नहीं है, ऐसा ही अर्थ उपलब्ध होता है । अपेक्षित होनेसे जनकका भी निरूपण करना ही चाहिए, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि नित्य ज्ञानको जनककी अपेक्षा ही नहीं होती है ।

विमत ज्ञान (ज्योतिःशब्दवाच्य प्रकाशगुणात्मक ज्ञान) जन्य है, ज्ञान होनेसे, घटादिज्ञानकी तरह, ऐसा अनुमान यदि किया जाय तो वह भी नहीं बन सकता, क्योंकि वेदान्तियोंके मतसे उक्त अनुमानमें दृष्टान्तकी असिद्धि है । कारण कि घटादिज्ञानमें भी स्फुरणात्मक अंशके नित्य चैतन्यरूप होनेसे और अन्तःकरणकी वृत्तिके अज्ञानात्मक होनेसे ज्ञानव्यवहार तो वहांपर भी औपचारिक ही माना गया है । [अर्थात् आपका दृष्टान्त घटज्ञान है, हमारे

चारिकत्वात् । न चैतद्व्यतिरेक्यनुमानम्, सपक्षसद्भावात् । यद्यपि मतान्तरे घटज्ञानं दृष्टान्तस्तथापि नैतदुपपद्यते । तथा हि—आत्माश्रितमिदं ज्ञानं किं प्रकाशगुणवत्किंचिद् द्रव्यमिति अङ्गीक्रियते किं वा प्रकाशगुण एवेति ? आद्ये, ज्ञानद्रव्यस्यैव प्रकाशगुणवत्त्वेन ज्योतिष्ट्वे सत्यात्मनः श्रुत्युक्तं ज्योतिष्ट्वं न स्यात् । द्वितीयेऽपि किमाश्रयद्रव्यैः सह ज्ञानगुणस्य जन्म उत ज्ञानस्यैव ? नाद्यः, आत्मद्रव्यस्य नित्यत्वात् । न द्वितीयः, विमतं ज्ञानं द्रव्यजन्मव्यतिरेकेण स्वद्रव्योपाधौ न जायते प्रकाशगुणत्वात् प्रदीपप्रकाशवत् । तत्र हि दीपप्रकाशो दीपद्रव्येण सहैव जायते न तु तद्व्यतिरेकेणेति न साध्यवैकल्यम् । दर्पणादौ च सत एव प्रकाशस्य घर्षणेनाभि-

---

मतमें घटज्ञानके दो अंश हैं। एक स्फुरण प्रतिभासस्वरूप है जो कि नित्य चैतन्यस्वरूप ही है अतः वह जन्य नहीं है और उसमें जो अन्तःकरणकी वृत्तिरूप दूसरा अंश है यद्यपि वह अंश जन्य है तथापि उसमें ज्ञानत्व नहीं है, अतः घटज्ञानादिको भी जन्य न होनेसे दृष्टान्त–असिद्ध है, यह भाव है।] और उक्त अनुमानको व्यतिरेकी अनुमान भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका सपक्ष विद्यमान है। [व्यतिरेकीका कोई सपक्ष नहीं होता।] यद्यपि नैयायिक आदि दूसरोंके मतमें (जो घटज्ञानको जन्य मानते हैं) घटज्ञान दृष्टान्त हो सकता है, तथापि यह उपपत्तिसे युक्त नहीं है। उपपत्तिका अभाव दिखाते हैं—आत्मामें आश्रित यह ज्ञान क्या प्रकाश गुणवाला कोई द्रव्य है, ऐसा मानते हो ? अथवा केवल प्रकाशगुण ही ? यदि पूर्व विकल्प मानो, तो ज्ञान-द्रव्यके ही प्रकाश गुणवाला होनेसे ज्योतिष्ट्व (ज्योतिःस्वरूप) होनेपर श्रुतिमें कथित आत्माके ज्योतिष्ट्वकी सिद्धि नहीं होगी। द्वितीय विकल्पमें भी क्या आश्रयभूत द्रव्योंके साथ ज्ञानरूपी गुणका जन्म होता है ? अथवा ज्ञानका ही ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मारूपी द्रव्य नित्य है उसका जन्म नहीं हो सकता। दूसरा भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि विमत ज्ञान द्रव्यजन्मके बिना अपनी द्रव्यरूपी उपाधिमें उत्पन्न नहीं होता है, (अर्थात् द्रव्यजन्मके साथ ही उत्पन्न होता है,) प्रकाशगुण होनेसे, प्रदीपके प्रकाशके तुल्य। इस दृष्टान्तमें दीपका प्रकाश दीपरूपी द्रव्यजन्मके साथ-साथ ही उत्पन्न होता है, इसके विपरीत—दीपजन्मके बिना नहीं होता। इससे साध्यवैकल्य नहीं आता है (अर्थात् दृष्टान्तमें

व्यक्तिर्न तु जन्मेति नाऽनैकान्तिकत्वम् । न चाऽन्तःकरणप्रकाशे व्यभिचारः शङ्कनीयः, परिणामवादे प्रकाशवदन्तःकरणद्रव्यस्यैव घटादिज्ञानरूपेणोत्पत्तेः । आरम्भवादे तु प्रकाशो नाऽन्तःकरणगुणः । तस्मादजायमानस्य ज्ञानस्य जनकानपेक्षत्वादात्मैव ज्योतिर्न त्वात्मव्यतिरिक्तं ज्योतिरित्येव श्रुत्यभिप्रायः ।

ज्योतिष्ट्वं चाऽत्र चिद्रूपत्वमेव विवक्षितं न जड़प्रकाशरूपत्वमिति 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्यन्तरादवगम्यते । प्रज्ञानशब्देनाऽत्र ज्ञातृत्वमुच्यत इति चेद्, न; भावार्थप्रसिद्धिविरोधात् । प्रकृष्टं ज्ञानमस्येति विग्रहे ज्ञातृत्वं लभ्यत इति चेत्, तथापि प्रतिक्षणमात्मनि ज्ञानोत्पत्तिकल्पने गौरवम् । तदकल्पने

साध्य नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते)। दर्पण आदिमें घर्षण आदिसे पहले ही विद्यमान प्रकाशकी केवल अभिव्यक्ति होती है, जन्म नहीं होता, इससे अनैकान्तिकता नहीं है [मलिन दर्पणको साफ करनेके अनन्तर उत्पन्न हुए दर्पणके प्रकाशमें 'द्रव्यजन्मके साथ-साथ होना रूप' साध्य नहीं है, ऐसा व्यभिचार भी नहीं हो सकता, क्योंकि वहांपर पूर्वसिद्ध दर्पणका प्रकाश, जो मलावृत था, उसकी अभिव्यक्ति ही हुई है, उत्पत्ति नहीं हुई]। अन्तःकरणके प्रकाशमें भी व्यभिचारकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परिणामवादमें प्रकाशयुक्त अन्तःकरणद्रव्यकी ही घटादिज्ञानरूपसे उत्पत्ति होती है । आरम्भवाद (नैयायिकमत) में तो प्रकाश अन्तःकरणका गुण ही नहीं है । इससे सिद्ध है कि उत्पन्न न होनेवाले ज्ञानको अपने जनक की अपेक्षा न होनेसे आत्मा ही ज्योतिःशब्दवाच्य है, आत्मासे अतिरिक्त ज्योति और कुछ नहीं है, यही श्रुतिका अभिप्राय है ।

ज्योतिष्ट्वपदसे यहांपर चिद्रूपता ही विवक्षित है, जड़प्रकाशरूपता विवक्षित नहीं है, यह 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (प्रज्ञान ही ब्रह्म है) इत्यादि दूसरी श्रुतिसे जाना जाता है । इस श्रुतिमें प्रज्ञानशब्दसे ज्ञातृत्व कहा गया है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहनेपर भावार्थकी प्रसिद्धिका विरोध होगा । प्रकृष्ट—उत्तम या अधिक—है ज्ञान जिसका इस विग्रहमें ज्ञातृत्वकी प्रतीति होती है, यह भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर प्रतिक्षण आत्मामें ज्ञानोत्पत्तिकी कल्पना करनेसे गौरव हो जायगा । और इसकी कल्पना

चाऽऽत्मा न प्रकाशेत, प्रकाशते च सदैवाऽऽत्मा। तस्मात् स्वप्रकाशचैतन्यरूपस्याऽऽत्मनो यावत्सत्त्वमवभास एवाऽभ्युपेयः।

नन्वात्मन्यगृह्यमाणविशेषत्वमनुभवसिद्धं ब्रह्माकारस्याऽग्रहणादिति चेद्, न; जीवाद् ब्रह्म भिन्नमभिन्नं वा? भिन्नत्वे ब्रह्मण्येवाऽधिष्ठानेऽनवभासविपर्यासौ स्यातां न जीवे। अभिन्नत्वं च मानहीनम्। अथ मानमेतद्—'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, कार्यकारणभावहीनद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवदिति, तर्हि ज्ञानप्रकाशविरोधादाश्रयविषयभेदाभावाच्च नाऽज्ञातता ब्रह्मणः। तदित्थमनधिष्ठाने दोषरहिते आत्मनि नाऽहङ्काराद्यध्यास इति।

अत्रोच्यते—अद्वितीये निष्कलङ्केऽप्यात्मन्यविद्याख्योऽनृतरूपो दोषोऽस्तीति

न करनेसे आत्मा प्रकाशित ही नहीं होगा किन्तु आत्मा सदैव प्रकाशित रहता है। इससे स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप आत्माके यावत्सत्त्व अवभास (साकल्येन प्रकाश) का ही स्वीकार करना चाहिए।

अब आत्मामें अहङ्कारादिके अध्यासका खण्डन करते हैं,—ब्रह्मके आकारका अवभास न होनेसे आत्मामें उसके विशेष अंशका ग्रहण न होना अनुभवसे ही सिद्ध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि जीवसे ब्रह्म भिन्न है? या अभिन्न? यदि भिन्न है, तो जैसे शुक्तिरजतस्थलमें शुक्तिरूप अधिष्ठानमें ही अनवभास और विपर्यय होते हैं वैसे ही ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें ही अनवभास और विपर्यय होंगे जीवमें नहीं, [अन्यके अग्रहणसे अन्यमें अनवभास और विपर्यय नहीं हो सकते]। और अभिन्न माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। अगर यह प्रमाण कहा जाय कि 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिवाक्य अखण्डार्थविषयक तात्पर्यवाला है, कार्यकारणभावसे रहित द्रव्यमात्रपरक होता हुआ समानाधिकरण होनेसे, 'यह वह देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञावाक्यके समान, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान प्रकाशका विरोध होनेसे और आश्रय और विषयका भेद न होनेसे ब्रह्मकी अज्ञातता सिद्ध नहीं होगी। ऐसी अवस्थामें इस प्रकार अधिष्ठान-दोषरहित आत्मामें अहङ्कारादिका अध्यास नहीं हो सकता।

इस शङ्काका उत्तर कहा जाता है—अद्वितीय निष्कलङ्क आत्मामें भी अविद्यानामक मिथ्याभूत दोष है, यह सिद्धान्त श्रुतिसे तथा श्रुतार्थापत्तिसे

श्रुतेः श्रुतार्थापत्तेश्चाऽवगम्यते। श्रुतिस्तावत्–'तद्यथा हिरण्यं निधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा' इति सुषुप्तिकाले सर्वासां प्रजानाम् अनृतरूपाविद्यापिहितत्वेन ब्रह्मचैतन्यानवभासं दर्शयति। तच्चाऽविद्यापिधानं मिथ्याज्ञानतत्संस्कारज्ञानाभावकर्मभ्योऽन्यद् मिथ्यात्मकमित्यावरणवादे समर्थितम्।

श्रुतार्थापत्तिरपि ब्रह्मज्ञानाद् बन्धनिवृत्तिः श्रूयमाणा ब्रह्मणि प्रागनवबोधोऽध्यासबन्धहेतुर्दोषोऽस्तीति कल्पयति। न चैवमज्ञानस्य प्रमाण-

---

ज्ञात होता है। प्रथम श्रुतिको दिखाते हैं—जैसे अक्षेत्रज्ञ=क्षेत्रके याथार्थ्यको न जाननेवाले, ऊपर-ऊपर चलनेवाले, भौतिक परिज्ञान रखनेवाले, क्षेत्रमें गड़े हुए हिरण्य—सुवर्णमय—कोशको नहीं जान सकते वैसे ही ये सभी प्रजाएँ (जनसाधारण) प्रतिदिन ब्रह्मलोकमें जाती हुई भी ब्रह्मको नहीं जान सकतीं, क्योंकि वे सबके सब अनृत—मिथ्याभूत—अविद्यासे व्याप्त हो रही हैं। यह श्रुति सुषुप्तिकालमें सभी प्राणियोंको मिथ्यास्वरूप अविद्यासे आवृत्त होनेके कारण ब्रह्मचैतन्यका प्रकाश नहीं होता यह दिखा रही है। और वह अविद्याकृत आवरण मिथ्याज्ञान, उसके संस्कार, ज्ञानाभाव तथा कर्म इन सबसे भिन्न मिथ्यात्मक ही है, ऐसा आवरणवादप्रकरणमें समर्थन किया गया है। [सुषुप्तिकालमें सम्पूर्ण विशेष ज्ञानोंके विलीन हो जानेसे मिथ्याज्ञान भी नहीं है अतः ब्रह्मज्ञानका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। एवं रजतभ्रमके संस्कार रहते हुए भी शुक्तिज्ञानके होनेसे उसका संस्कार भी प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। कादाचित्क ज्ञानाभाव स्वतःसिद्ध ज्ञानका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। कर्म तो प्रतिबन्धक हो ही नहीं सकता, अन्यथा ब्रह्मदर्शन कभी भी नहीं हो सकेगा। इसलिए इन सबसे भिन्न ही विलक्षणस्वभाव तथा सामार्थ्यवाला यह मिथ्याभूत अविद्याऽऽवरण है, यह तात्पर्य है]।

अब श्रुतार्थापत्तिको दिखाते हैं—ब्रह्मज्ञानसे श्रूयमाण बन्धकी निवृत्ति है, साक्षात्कारसे पूर्व अनवभास, (अज्ञान) अध्यास या बन्धका कारण रहते हैं—ऐसी कल्पना करती है। इस प्रकार अज्ञानकी श्रुति और श्रुतार्थापत्तिरूप प्रमाणोंसे सिद्धि

गम्यत्वेन तात्त्विकत्वं स्यादिति वाच्यम्, अविद्या नाम काचिदनिर्वचनीयभावरूपा नास्तीति वादिनः पक्षं निराकर्तुमेव प्रमाणोपन्यासात्। अविद्यास्वरूपं तु साक्षिचैतन्यादेव सिध्यति।

यत्तूक्तं जीवब्रह्मणोरभेदपक्षे नाऽज्ञातता ब्रह्मण इति तत्र कोऽभिप्रायः? किमज्ञानमाश्रयविषयभेदापेक्षं सदेकस्मिन् न संबध्यत एव उत संबध्य स्वाश्रयैकत्वेन विरुध्यते किं वा प्रकाशस्वभावस्याऽविद्याश्रयत्वं विरुद्धम् अथवा अविद्याश्रयत्वे ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वादिहानिरिति? नाद्यः, विमतमज्ञानमाश्रयविषयभेदं नापेक्षते, अक्रियात्मकत्वाद्, घटादिवत्। तथा विमतमेकपदार्थमेवाऽऽश्रयत्यावृणोति च आवरकत्वादपवरकस्थतमोवदिति भेदमनपेक्ष्यैकस्मिन्नेव संबन्धद्वयसिद्धेः।

होनेपर तो उसमें वास्तविकत्व आ जायगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अविद्यानामक कोई अनिर्वचनीय भावरूप पदार्थ नहीं है, इस सिद्धान्तवाले वादीके पक्षका खण्डन करनेके लिए ही निरुक्त प्रमाणोंका उपन्यास किया गया है। अविद्याका स्वरूप तो साक्षि-चैतन्यसे ही सिद्ध होता है। [यदि अविद्याके स्वरूपकी सिद्धिके लिए प्रमाणोंका दिखलाना आवश्यक होता, तो उसमें प्रामाणिकत्वका प्रसङ्ग आता, किन्तु ऐसा नहीं किया गया है, अतः उक्त दोष नहीं आता, यह भाव है।]

जो आपने यह कहा है कि जीव और ब्रह्मका ऐक्य (अभेद) होनेसे ब्रह्मकी अज्ञातता नहीं हो सकती, सो इस शङ्कासे आपका क्या अभिप्राय है? क्या अज्ञान अपने आश्रय और विषयके भेदकी अपेक्षा रखता हुआ एकमें ही सम्बन्ध नहीं कर सकता या सम्बन्ध करके अपने आश्रयके एकत्वसे विरुद्ध होता है अथवा प्रकाशस्वभाव आत्माका अविद्याश्रय होना विरुद्ध है? अथवा ब्रह्मके अविद्याश्रय होनेसे सर्वज्ञत्वकी हानि होगी? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि विमत (अज्ञान) आश्रय और विषयके भेदकी अपेक्षा नहीं रखता, अक्रियात्मक होनेसे, घटादिके समान। और विमत (अज्ञान) एक ही पदार्थको आश्रय भी बनाता है और आवृत भी करता है, आवरक होनेसे, कोठेके अन्दर (पर्देके भीतर) विद्यमान अन्धकारकी तरह, इस प्रकारके अनुमानोंसे भेदकी अपेक्षा न रखकर एक ही में आश्रयत्व और विषयत्व—इन दोनों सम्बन्धोंकी सिद्धि हो सकती है।

ननु ज्ञानवदज्ञानमप्याश्रयविषयभेदमपेक्षत एव, अहमिदं जानामीतिवदहमिदं न जानामीति व्यवहारात्। मैवम्, द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासाभिधाय्यज्ञानशब्दवशादेव तथा प्रतीतेः, मायादिशब्दव्यवहारे तदभावात्। यथा स्थितिः कर्मनिरपेक्षाप्यगमनशब्देनाभिधीयमाना कस्य किंविषयमगमनमिति कर्मसापेक्षवद्भाति तद्वत्। न द्वितीयः, विमतं स्वाश्रयैकत्वेन न विरुध्यते, आवरणत्वात्, तमोवत्। नापि तृतीयः, किं प्रकाशस्वभावस्याऽज्ञानाश्रयत्वविरोधोऽनुभूयते उताऽनुमीयते ? नाऽऽद्यः, अज्ञानसाधकसाक्षिचैतन्येऽहमज्ञ इत्यज्ञानाश्रयताया एवाऽनुभवात्। अनुमानमपि कथम्, किमात्मा नाऽज्ञानाश्रयः, आभासमानत्वात्, पुरोवर्तिघटवदिति; किं वाऽऽत्माऽज्ञानविरोधिस्वरूपः, प्रकाशत्वात्, अन्तःकरणवृत्तिवदिति; अथवा आत्मा

पुनः शङ्का—ज्ञानके समान अज्ञान भी आश्रय और विषयके भेदकी अपेक्षा रखता ही है। 'मैं इसे जानता हूँ' इस प्रतीतिके तुल्य 'मैं इसे नहीं जानता हूँ' ऐसी प्रतीति होती ही है, यह यदि कहो, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आश्रय और विषय की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान है, उसका पर्युदास—निषेध—करनेवाले अज्ञानशब्दके बलसे ऐसी प्रतीति होती है। माया आदि शब्दोंसे व्यवहार करनेपर तो, ऐसी प्रतीति नहीं होती है। जैसे स्थिति कर्मनिरपेक्ष होनेपर भी अगमनशब्द (गमननिषेध) से कही जाती हुई किसका और किंविषयक अगमन है, इस तरह कर्मसापेक्ष-सी प्रतीत होती है, वैसे ही वह माया अज्ञान (ज्ञाननिषेध) शब्दसे प्रतिपादित होती हुई आश्रय और विषयके भेदकी अपेक्षा करनेवाली-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः माया आश्रय और विषय भेदकी अपेक्षा रखनेवाली नहीं है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि विमत (अज्ञान) अपने आश्रयके एकत्वसे विरुद्ध नहीं है, आवरण होनेसे, अन्धकारके समान। तृतीय विकल्प भी नहीं जँचता, कारण कि क्या प्रकाशस्वभाव आत्माके अज्ञानाश्रय होनेका विरोध अनुभवमें आ रहा है अथवा अनुमानमें ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि अज्ञानके साधक साक्षि-चैतन्यमें 'मैं अज्ञ (अज्ञानाश्रय) हूँ' इस प्रतीतिसे अज्ञानका आश्रय होना अनुभवमें आ रहा है। अनुमान भी कैसा है ? क्या 'आत्मा अज्ञानका आश्रय नहीं है, प्रकाशमान होनेसे, सामने दिखाई देनेवाले घटके समान' ऐसा है ? अथवा क्या आत्मा अज्ञानका विरोधिस्वरूप है, प्रकाश होनेसे, अन्तःकरणकी वृत्तिकी तरह, ऐसा है ? अथवा

अज्ञानसंसर्गविरोधी, स्वयंप्रकाशत्वात्, प्राभाकराभिमतसंवेदनवदिति? नाद्यः, बाधितविषयत्वात्। परैरपि हि जन्यज्ञानेनाऽऽत्मनि भासमान एवाऽज्ञानाश्रयत्वमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथाऽऽत्मावभासक्षणे सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अज्ञानावभासकभाने व्यभिचारात्। न च तदेवाऽसिद्धमिति वाच्यम्, परेषामपि स्वाभिमताज्ञानप्रतीत्यभावे तद्व्यवहारायोगात्। न तृतीयः, दृष्टान्ताभावात्, स्वप्रकाशसंवेदनस्यैवाऽऽत्मत्वात्। नापि ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वादिहानिरिति चतुर्थः पक्षः, यथा सत्यपि बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्ये मलिनदर्पणगतप्रतिबिम्बेऽध्यस्तेन श्यामत्वादिना न बिम्बस्याऽवदातताहानिः तथा जीवस्याऽविद्याश्रयत्वेऽपि न ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वादिहानिरिति वक्तुं शक्यत्वात्। किंच, जीवब्रह्मैक्यं वा स्वप्रकाशत्वं वा यद्यदविद्यामपह्नोतुमुपन्यस्यते

क्या आत्मा अज्ञानके सम्बन्धका विरोधी है, स्वयंप्रकाश होनेसे, प्राभाकरों (मीमांसकों) के अभिमत संवेदन—ज्ञानके समान, ऐसा है? इनमें पहला अनुमान नहीं बनता, क्योंकि वह बाधितविषय है। दूसरे दर्शनकारोंको भी जन्यज्ञानसे प्रकाशमान आत्मामें ही अज्ञानाश्रयत्वका स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा आत्माके प्रकाश क्षणमें सर्वज्ञत्वका प्रसङ्ग हो जायगा। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है। कारण कि अज्ञानका भासन करानेवाले प्रत्ययमें व्यभिचार है। और ऐसा भी नहीं कह सकते कि वही (अज्ञानका प्रकाश एक प्रत्यय) असिद्ध है, क्योंकि दूसरे वादियोंको भी उनके अभिमत अज्ञानकी प्रतीति नहीं है, अतः अज्ञानव्यवहार करनेका अवसर ही नहीं होगा। तृतीय पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें दृष्टान्तका अभाव है और स्वप्रकाश संवेदन ही आत्मा है। ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वादिकी हानि हो जायगी, ऐसा पूर्वकथित चतुर्थ विकल्प भी उचित नहीं है, क्योंकि जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्बका ऐक्य (अभेद) होनेपर भी गन्दे दर्पणके अन्दर प्रतिबिम्बमें अध्यस्त (दर्पणकी मलिनताके कारण मालूम पड़नेवाले) काले वर्णसे बिम्बकी सफेदीमें कोई हानि नहीं आती, वैसे ही जीवके अविद्याश्रय होनेपर भी ब्रह्मकी सर्वज्ञतामें हानि नहीं हो सकती, ऐसा कह सकते हैं। और भी साधक कहते हैं—जीव और ब्रह्मका ऐक्य या स्वप्रकाशत्व अथवा सर्वज्ञत्व आदि जिसका, अविद्याका खण्डन करनेके लिए, उपन्यास करेंगे वह सबका-सब अविद्याके ग्रहणाभावत्व (ज्ञानाभावत्व) का निराकरण करके उसकी

तत्तदविद्याया ग्रहणाभावत्वं निराकृत्य भावरूपत्वं साधयिष्यति। भावरूपाच्छादनमन्तरेण विद्यमानानां सर्वज्ञत्वादीनां तदुपेतस्य ब्रह्मणश्चाऽनवभासानुपपत्तेः। ग्रहणाभावमात्रेण तु जीवाद् भिन्नस्य जडस्याऽसर्वज्ञस्य घटादेरेवाऽनवभास उपपद्यते न विपरीतस्य ब्रह्मणः।

ननु जीवस्याऽविद्याश्रयत्वं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वमिति वदता जीवब्रह्मणोर्विभागो वक्तव्य एवेति चेत्, किं वास्तवविभाग आपाद्यते, उताऽविद्याकृतः? आद्येऽपि किमन्तःकरणकृतावच्छेदाद् विभागः, उत स्वाभाविकादतिरेकाद् अथवा स्वाभाविकादंशांशिभावात्? नाऽऽद्यः, सादेरन्तःकरणस्याऽनाद्यवच्छेदकत्वायोगात्। न चाऽन्तःकरणमप्यनादि, सुषुप्त्यादावभावात्। सूक्ष्मावस्थं तत्त्राप्यस्तीति चेत्, किं सूक्ष्मता नाम निरवयवत्वापत्तिः उतावयवापचयमात्रं किं वा कारणात्मनाऽवस्थितिः अथवा संस्कारशेषत्वम्? नाऽऽद्यः,

---

भावरूपताकी सिद्धि करेंगे। भावरूप आवरणके बिना विद्यमान सर्वज्ञत्वादिका तथा उन सर्वज्ञत्वादि गुणोंसे युक्त ब्रह्मका अप्रकाश उपपन्न नहीं हो सकता है। ज्ञानाभावमात्रसे तो जीवसे पृथक् जड़ और असर्वज्ञ घटादिका ही अप्रकाश होता है इसके विपरीत चेतन और सर्वज्ञ—नित्य ज्ञानवाले—ब्रह्मका नहीं।

यदि ऐसा कहो कि 'जीव अविद्याश्रय है और ब्रह्म सर्वज्ञ है' इस पक्षको माननेवाले वादीको जीव और ब्रह्मका भेद कहना ही होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा पर्यनुयोग करते हो, तो हम पूछेंगे कि क्या जीव और ब्रह्ममें वास्तविक भेदकी आपत्ति दी जा रही है अथवा अविद्याकृत भेदकी? वास्तविक माननेमें भी क्या अन्तःकरणके कारण उत्पन्न हुए अवच्छेद (भेद) से विभाग है? अथवा स्वाभाविक ही भेदसे विभाग है? किं वा स्वाभाविक अंशांशिभावसे? इनमें पहला पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि अन्तःकरणका भेद प्रयोजक नहीं हो सकता। अन्तःकरण अनादि है यह भी नहीं कह सकते, कारण कि सुषुप्ति आदि अवस्थामें उसका अभाव हो जाता है। सुषुप्ति आदिमें भी वह सूक्ष्म अवस्थामें रहता ही है, यदि ऐसा कहो, तो क्या निरवयव हो जाना सूक्ष्मता है या अवयवोंका घट जाना ही सूक्ष्मता है अथवा कारणके स्वरूपसे रहना है या संस्कारका शेष रह जाना सूक्ष्मता

सावयवस्याऽवयवाभावे स्वरूपनाशात्। न द्वितीयः, अवशिष्टावयविनोऽकार्यत्वप्रसङ्गात्, कदाचिदप्यनपायात्। संपूर्णकार्यत्वे वा जागरणवद्व्यवहारापत्तेः। तृतीयेऽपि किं कारणमेव तिष्ठत्युत कार्यमपि? आद्ये, अन्तःकरणाभावापत्तिः। द्वितीये, व्यवहारापत्तिः। नापि चतुर्थः, संस्कारस्याऽवच्छेदानुपादानत्वेन सुप्तावनवच्छिन्नस्य जीवस्य मुक्तिप्रसङ्गात्। अथावच्छिद्यमानमेव काष्ठवदवच्छेदोपादानम्, अन्तःकरणं तु कुठारवन्निमित्तमेवेति चेत्, तर्हि नाऽवच्छेदसिद्धिः; निरवयवस्य चैतन्यस्य परमार्थतः काष्ठवद्विदारणोपादानत्वायोगात्।

अस्माकं त्वविद्यैवावच्छेदोपादानम्। द्वैधीभावोऽप्यविद्यानिष्ठ एव सन् आत्मनि परमध्यस्यते। अन्तःकरणस्याऽप्यविद्याकार्यस्याऽविद्याद्वारैवाऽऽत्मा-

---

है। इनमें पहला मत ठीक नहीं है, क्योंकि सावयव पदार्थके अवयवोंका नाश होनेपर स्वरूपका ही नाश हो जाता है। द्वितीय मत भी उचित नहीं है, क्योंकि अवशिष्ट अवयवोंवाला अन्तःकरण अकार्य (नित्य) हो जायगा। अतः उसका नाश कभी भी नहीं हो सकेगा। यदि सम्पूर्णको कार्य ही मानो, तो जागरणके तुल्य सुषुप्तिमें भी व्यवहार होना चाहिए। [सुषुप्तिमें कुछ कम हुए अवयव यदि कार्यरूप ही हैं तो सुषुप्तिसे प्रथम जागरादिमें विद्यमान अन्तःकरण और इस अवस्थाके अन्तःकरणमें व्यवहाराभावके प्रयोजक हेतुकी सिद्धि नहीं होगी और यत्किञ्चिदवयवाभाव व्यवहारसामान्याभावका नियामक नहीं हो सकता, यह तात्पर्य है] तृतीय विकल्पमें भी क्या कारण ही रह जाता है? या कार्य भी रहता है? पहले पक्षमें तो अन्तःकरणका अभाव ही आया और द्वितीयमें व्यवहार होनेकी आपत्ति है। चतुर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि संस्कारके अवच्छेद (भेद) का उपादान न होनेसे सुषुप्तिमें अनवच्छिन्न जीवकी मुक्ति हो जायगी। यदि कहो कि सुषुप्तिमें अवच्छेदक काष्ठके समान अवच्छेद्य (जीव) ही अवच्छेदका उपादान है अन्तःकरण तो कुठारके समान निमित्त ही है, तो ऐसी दशामें अवच्छेद (भेद) की सिद्धि नहीं हो सकेगी। परमार्थमें अवयवशून्य चैतन्य सावयवय काष्ठकी भाँति विदारणका उपादान नहीं बन सकता।

हमारे मतमें तो अविद्या ही भेदका उपादान है। भेद भी अविद्यामें स्थित ही आत्मामें अध्यस्त—आरोपित—होता है। अन्तःकरण भी अविद्याका कार्य होनेसे अविद्या द्वारा ही आत्माका भेदक है साक्षात्

वच्छेदकत्वम्, न साक्षात्; ततो न कोऽपि दोषः। नाप्यतिरेकादिति द्वितीयः पक्षः, क्लृप्ताविद्यासामर्थ्यादेव जीवब्रह्मविभागसिद्धावतिरेककल्पनावकाशाभावात्। न च वाच्यं जीवस्य ब्रह्मविषयाऽविद्येति निरूपणीयत्वेन विभागाधीनाऽविद्या न विभागस्य हेतुरिति, भेदाधीनस्याऽपि धर्मिप्रतियोगिभावस्य भेदहेतुत्वदर्शनात्। अन्यथा तवापि जीवाद् ब्रह्मणो व्यतिरेक इति विभागाधीनोऽतिरेकः कथं विभागहेतुः स्यात्? अपि च नाऽविद्याऽऽश्रयविषयभेदमपेक्षत इत्युपपादितमधस्तात्। नापि तृतीयः, निरवयस्य स्वत एवांऽशांशिभावायोगात्। तस्मादविद्याकृत एव विभाग आपादनीयः, स चेष्ट एव।

नहीं है, इससे कोई दोष नहीं आता। [अर्थात् जीवको अविद्याका आश्रय और आत्माको सर्वज्ञ माननेपर जीव और ब्रह्मकी वास्तविक विभागकल्पना आदि दोष नहीं आते] अतिरेकसे (भेदसे) ही विभाग है, ऐसा द्वितीय विकल्प भी नहीं बन सकता, क्योंकि मानी गई अविद्याकी सामर्थ्यसे ही जीव और ब्रह्मके विभागकी सिद्धि होनेसे अतिरेककी कल्पना करनेका अवकाश नहीं आता। ब्रह्मविषयिणी जीवकी अविद्या है, ऐसा निरूपण करना है, इसलिए विभागाधीन अविद्या भेदका कारण नहीं हो सकती [जबतक जीव और ब्रह्मका भेद सिद्ध न हो जाय तबतक 'जीवाश्रित ब्रह्मविषयक अविद्या है' इसका निरूपण ही नहीं होगा, अतः इसकी सिद्धिके लिए अविद्याके पूर्व ही विभाग मानना चाहिए। ऐसी अवस्थामें अविद्या पूर्वसिद्ध विभागको कैसे सिद्ध कर सकती है? इससे अतिरेकको ही भेदहेतु मानना चाहिए। मानी गई अविद्यासे काम नहीं चलेगा] यह शङ्का भी उचित नहीं है, क्योंकि भेदाधीन भी धर्मिप्रतियोगिभाव भेदका हेतु देखा गया है। अन्यथा व्यतिरेकवादी तुम्हारे मतमें भी जीवसे ब्रह्मका व्यतिरेक (भेद) है इस प्रकारका विभागाधीन व्यतिरेक भी विभागका हेतु कैसे बनेगा? और वस्तुतः अविद्या आश्रय और विषयके भेदकी अपेक्षा नहीं रखती है, इस विषयका पहले ही उपपादन किया जा चुका है। तृतीय पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि अवयवशून्य आत्मामें अपने-आप अवयवावयविभाव नहीं बन सकता। इसलिए अविद्यानिमित्तक ही विभाग मानना पड़ेगा। वह इष्ट ही है।

यद्यप्यसावविद्या चिन्मात्रसम्बन्धिनी जीवब्रह्मणी विभजते, तथापि ब्रह्मस्वरूपमुपेक्ष्य जीवभाग एव पक्षपातिनी संसारं जनयेद्। यथा मुखमात्रसंबन्धि दर्पणादिकं बिम्बप्रतिबिम्बौ विभज्य प्रतिबिम्बभाग एवातिशयमादधाति तद्वत्। नन्वहमज्ञ इत्यहङ्कारविशिष्टात्माश्रितमज्ञानमवभासते न चिन्मात्राश्रितमिति चेद्, मैवम्; यद्वत् 'अयो दहति' इत्यत्र दग्धृत्वायसोरेकाग्निसम्बन्धात् परस्परसम्बन्धावभासः तद्वदज्ञानान्तःकरणयोरेकात्मसम्बन्धादेव सामानाधिकरण्यावभासो न त्वन्तःकरणस्याऽज्ञानाश्रयत्वात्। अन्यथाऽविद्यासम्बन्धे सत्यन्तःकरणसिद्धिरन्तःकरणविशिष्टे चाऽविद्यासम्बन्ध इति स्यादन्योन्याश्रयता। न चाऽन्तःकरणमन्तरेणाऽविद्यासम्बन्धो न दृष्टचरः, सुषुप्ते संमतत्वात्। अथासङ्गस्य चैतन्यस्याऽऽश्रयत्वानुपपत्तेर्विशिष्टाश्रयत्वं

यद्यपि यह अविद्या शुद्ध चिद्धनके साथ ही सम्बन्ध रखती हुई जीव और ब्रह्मके विभागको करती है तथापि ब्रह्मस्वरूपकी उपेक्षा करके जीवभागमें ही पक्षपात रखती हुई संसारको उत्पन्न करती है। जैसे मुखसे सम्बद्ध दर्पण आदि बिम्ब और प्रतिबिम्बका विभागकर प्रतिबिम्बभागमें ही अतिशय (दर्पणादि उपाधिगत मालिन्य आदिके सम्बन्ध) का आरोप करता है, वैसे ही अविद्या भी चिन्मात्रसे सम्बन्ध रखती हुई जीव और ब्रह्मका भेद करके प्रतिबिम्बस्थानीय जीवमें ही असर्वज्ञत्व आदि अतिशयका उपाधिगत दोषके संसर्गसे आरोप करती है। 'अहम् अज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) इस प्रकारकी प्रतीतिसे अहङ्कारविशिष्ट आत्मामें रहनेवाला ही अज्ञान प्रतीत होता है, चिन्मात्राश्रित प्रतीत नहीं होता, ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे लोहा जलाता है, इस प्रतीतिमें दाहकर्तृत्व और लोहा इन दोनोंका एक अग्निके साथ सम्बन्ध होनेसे परस्पर सम्बन्धके अवभासकी प्रतीति होती है वैसे ही अज्ञान और अन्तःकरणका एक आत्माके साथ सम्बन्ध होनेसे ही सामानाधिकरण्यकी प्रतीति होती है, अन्तःकरणके अज्ञानका आश्रय होनेसे उक्त प्रतीति नहीं होती है। अन्यथा अविद्यासे सम्बन्ध होनेपर अन्तःकरणकी सिद्धि और अन्तःकरणविशिष्टमें अविद्याका सम्बन्ध होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा। यह कहना भी सङ्गत नहीं है कि अन्तःकरणके बिना अविद्याका सम्बन्ध कहीं देखा ही नहीं गया है, क्योंकि सुषुप्तिमें ऐसा देखा गया है, जो सर्वसम्मत है। और असङ्ग आत्मा अविद्याका आश्रय नहीं हो सकता, अतः विशिष्ट (अन्तःकरण

कल्प्यत इति चेत्, तदाऽप्यन्तःकरणचैतन्यतत्सम्बन्धानामेव विशिष्टत्वे चैतन्यस्याऽऽश्रयत्वं दुर्वारम्। अन्यदेव तेभ्यो विशिष्टमिति चेत्, तथापि जड़स्य तस्य नाऽज्ञानाश्रयत्वम्। अन्यथा भ्रान्तिसम्यग्ज्ञानमोक्षाणामपि जड़ाश्रयत्वप्रसङ्गात्। अज्ञानेन सहैकाश्रयत्वनियमात्। न च चैतन्यस्य काल्पनिकेनाऽऽश्रयत्वेन वास्तवमसङ्गत्वं विहन्यते। अतश्चिन्मात्राश्रितमज्ञानं जीवपक्षपातित्वाज्जीवाश्रितमित्युच्यते।

यस्तु भास्करोऽन्तःकरणस्यैवाऽज्ञानाश्रयत्वं मन्यते तस्य तावदात्मनः सदा सर्वज्ञत्वमनुभवविरुद्धम्। असर्वज्ञत्वे च कदाचित् किंचिन्न जानातीत्यज्ञानमात्मन्यभ्युपेयमेव। अथाऽग्रहणमिथ्याज्ञानयोरात्माश्रयत्वेऽपि भावरूपमज्ञानमन्तःकरणाश्रयमिति मन्यसे, तदाऽपि ज्ञानादन्यच्चेदज्ञानं काचकामलाद्येव तत् स्यात्। अथ ज्ञानविरोधि, तन्न; आत्माश्रितज्ञानेनाऽन्तःकरणा-

---

विशिष्ट) में अविद्याके आश्रयत्वकी कल्पना करते हैं; यदि ऐसा है, तो अन्तःकरण, चैतन्य और इनका सम्बन्ध इन तीनोंका ही जब विशिष्टत्व प्राप्त है, तब चैतन्यका अविद्याका आश्रय होना नहीं हटाया जा सकता*। यदि विशिष्ट इन तीनोंसे भिन्न ही माना जाय, तो भी वह जड़ है, अतः वह अज्ञानका आश्रय नहीं हो सकता। अन्यथा भ्रमज्ञान, यथार्थज्ञान और मोक्षको भी जड़ाश्रित मानना पड़ेगा, क्योंकि वे अज्ञानके साथ एक ही आश्रयमें रहते हैं, यह एक नियम है। काल्पनिक आश्रयत्व माननेसे चैतन्यका पारमार्थिक सङ्गराहित्यमें कोई विरोध भी नहीं आता। इसलिए अज्ञान चिन्मात्रमें आश्रित है। वह जीवका पक्षपाती होनेसे जीवाश्रित है, ऐसा कहा जाता है।

भास्करके मतका खण्डन करते हैं—जो भास्कर अन्तःकरणको ही अज्ञानका आश्रय मानते हैं। उनके मतमें प्रथम तो अनुभवविरुद्ध आत्माके सर्वदा सर्वज्ञ होनेका प्रसङ्ग आ जायगा और अनुभवके अनुरोधसे आत्माको असर्वज्ञ माननेपर कदाचित् 'वह कुछ नहीं जानता है' ऐसा अज्ञान आत्मामें मानना ही पड़ेगा। [अर्थात् जब आत्मामें सदैव सर्वज्ञत्व नहीं है, तो उसके असर्वज्ञ होनेसे 'कुछ नहीं जानता' ऐसा कादाचित्क अज्ञानका सद्भाव आत्मामें आ ही गया, तब अज्ञानाश्रय अन्तःकरण ही है, यह कैसे बन सकता है।] आत्माको ज्ञानाऽभाव और मिथ्याज्ञानको—

---

* इस मतमें विशिष्ट प्रत्येकसे अतिरिक्त नहीं है।

श्रितस्याऽज्ञानस्य विरोधासंभवात् । एकस्मिन्नपि विषये देवदत्तनिष्ठज्ञानेन यज्ञदत्तनिष्ठस्याऽज्ञानस्याऽनिवृत्तेः । अन्यत्र भिन्नाश्रययोरविरोधेऽपि करणगतमज्ञानं कर्तृगतज्ञानेन विरुध्यत इति चेद्, न; यज्ञदत्तोऽयम् अन्तःकरणलयहेत्वदृष्टवान्, सुषुप्तौ लीयमानान्तःकरणत्वादित्यनुमातरि देवदत्ते स्थितेनाऽनेन ज्ञानेनाऽनुमितिकरणभूते सुषुप्तयज्ञदत्तान्तःकरणे स्थितस्याऽज्ञानस्याऽनिवृत्तेः । ज्ञातृसंबन्धिन्यन्तःकरणे स्थितस्य निवृत्तिरस्त्येवेति चेद्, न; अज्ञानस्याऽन्तःकरणगतत्वे मानाभावात् । विमतं करणगतं भ्रान्तिनिमित्तदोषत्वात् काचादिकवदिति चेत्, तर्हि चक्षुरादिषु तत्प्रसज्येत । सादित्वात्तेषामनाद्यज्ञानाश्रयत्वानुपपत्तिरिति चेद्, अन्तःकरणेऽपि तुल्यम् । सत्कार्य-

---

विपर्ययका आश्रय माननेपर भी भावरूप अज्ञानका अन्तःकरण ही आश्रय है, यदि ऐसा मानते हो, तो भी यदि अज्ञानशब्दसे ज्ञानसे भिन्न अर्थका ग्रहण है, तो वह काचकामल आदि (रोग) ही होगा । यदि अज्ञानशब्दका ज्ञानविरोधी अर्थ कहो, तो उसे कह नहीं सकते, क्योंकि आत्मामें रहनेवाले ज्ञानसे अन्तःकरणमें स्थित अज्ञानके विरोधका असम्भव है । एक विषयमें भी देवदत्तके ज्ञानसे यज्ञदत्तका अज्ञान निवृत्त नहीं होता । [ज्ञान और अज्ञानका सामानाधिकरण्यसे ही विरोध होता है ।] दूसरे स्थलोंमें भिन्न-भिन्न अधिकरणमें स्थित ज्ञान और अज्ञानका विरोध न होनेपर भी करण (साधन) में विद्यमान अज्ञान कर्तामें स्थित ज्ञानसे विरुद्ध होता ही है, यदि ऐसा कहो, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि 'यह यज्ञदत्त अन्तःकरणविनाशक अदृष्टवाला है, सुषुप्तिमें इसके अन्तःकरणका लय हो जानेसे इस तरहका अनुमान करनेवाले देवदत्तमें (प्रमातामें) विद्यमान इस (पूर्वोक्त अनुमानरूप) ज्ञानसे अनुमितिके साधनभूत सुषुप्त यज्ञदत्तके अन्तःकरणमें स्थित अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है । ज्ञाताके ही अन्तःकरणमें स्थित अज्ञानकी निवृत्ति होती ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अज्ञान अन्तःकरणका आश्रयण करता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । विमत (अज्ञान) करणमें रहता है, भ्रान्तिके कारणस्वरूप दोष होनेसे, काच आदि रोगके समान । यह अनुमान प्रमाण होगा, यदि ऐसा मानो, तो चक्षुरादि इन्द्रियोंमें उस अज्ञानकी प्रसक्ति हो जायगी । यदि कहो कि नेत्र आदि सादि हैं, इससे वे अनादि अज्ञानके आश्रय नहीं बन सकते, तो अन्तःकरण भी सादि है, अतः वह भी अज्ञानका

वादाश्रयणान्न साद्यन्तःकरणमिति चेत्, चक्षुरादावपि तुल्यम्। अतो नाऽन्तःकरणाश्रयमज्ञानम्, किन्तु आऽत्माश्रयम्।

तदुक्तमाक्षेपपूर्वकं विश्वरूपाचार्यैः—

'नन्वविद्या स्वयंज्योतिरात्मानं ढौकते कथम्।
कूटस्थमद्वितीयं च सहस्रांशुं यथा तमः॥
प्रसिद्धत्वादविद्यायाः साऽपह्नोतुं न शक्यते।
अनात्मनो न सा युक्ता विना त्वात्मा तया नहि॥' इति।

तस्याश्चाऽविद्याया जीवब्रह्मविभागहेतुत्वं पुराणेऽभिहितम्—

'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति॥' इति।

आश्रय नहीं बन सकता। यदि कहो कि सत्कार्यवादके आश्रयणसे अन्तःकरण सादि नहीं है, तो चक्षु आदिमें भी यही बात लागू हो सकती है। इसलिए अज्ञान अन्तःकरणका आश्रयण नहीं करता, किन्तु आत्माका ही आश्रयण करता है।

इस निर्णयको विश्वरूपाचार्यने आक्षेपपूर्वक कहा है—जैसे सूर्यका आच्छादन अन्धकार नहीं कर सकता वैसे ही स्वयंज्योति (स्वतः प्रकाशमान), कूटस्थ (नित्य) तथा अद्वितीय आत्माका अविद्या आच्छादन नहीं कर सकती है [अर्थात् जैसे अन्धकार सूर्यको नहीं ढक सकता वैसे ही जड़स्वरूप अविद्या भी चेतनात्मक आत्माको नहीं ढक सकती। यदि आत्मा घटादिके समान परप्रकाश होता अथवा स्वप्रकाश होता हुआ कादाचित्क प्रकाशवाला होता, अथ च सावयव या परिणामी होता, तो शायद यह सम्भव होता, परन्तु आत्मा ऐसा है नहीं यह स्वयंज्योति और कूटस्थ विशेषणोंसे दर्शाया गया है। किञ्च, सूर्यको जैसे बादल ढक लेते हैं, वैसे ही अविद्या भी उसे ढक लेती है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह तो अद्वितीय है। उसके अतिरिक्त बादलके स्थानमें और कोई दूसरा पदार्थ तो है ही नहीं, यही अद्वितीय विशेषणका अभिप्राय है]।

दूसरे श्लोकसे अविद्या ही न मानी जाय, इस पक्षका खण्डन करते हैं—अविद्या प्रसिद्ध है [स्वयंप्रकाश आत्माके ब्रह्मस्वरूपका भान न होनेसे] इससे उसका अपह्नव नहीं कर सकते। वह अविद्या अनात्माश्रित है (अर्थात् उसका आश्रय अनात्मा है) यह कहना युक्तिसंगत नहीं हैं, क्योंकि उस अविद्याके बिना अनात्माकी आत्मा—सत्ता—ही नहीं है।

अविद्याया अनादित्वादेवाऽनादिविभागहेतुत्वमविरुद्धम् । अविद्याऽनादित्वं च 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इति स्मृतावुक्तम् । प्रकृतिर्नाम माया, 'मायां तु प्रकृतिम्' इति श्रुतेः । मायाविद्ययोश्चैकत्वमवोचाम ॥

नन्वेवं स्वप्रकाशस्याऽविद्याश्रयत्वेऽपि नाविद्याविषयत्वं संभवति, सदा भासमानत्वात् । नहि भासमाने घटे घटं न जानामीत्यज्ञानविषयत्वं व्यवहरन्ति । त्वदुक्तमर्थं न जानामीति भासमानस्यैवाऽर्थस्याऽज्ञानं प्रति व्यावर्त्तकतया विषयत्वं व्यवह्रियत इति चेद्, न; तत्राप्यनवगतस्यैवाऽर्थगतविशेषाकारस्य विषयत्वात् । अनवगतस्य व्यावर्त्तकतया प्रतीतिर्न युक्तेति चेद्, एवं तर्हि त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यत्रापि गतिस्त्वयैव वाच्येति ।

और वह अविद्या जीव और ब्रह्मके विभागका कारण पुराणमें कही गई है—

जब ज्ञानदशामें भेदको उत्पन्न करनेवाला अज्ञान अत्यन्त नष्ट हो गया, तब आत्मा (जीव) और ब्रह्मका असद् (स्वतः न होनेवाला) भेद कौन करेगा ?

अविद्या अनादि है, इसलिए इसको अनादि भेद (जीव-ब्रह्म भेद) का हेतु होनेमें विरोध नहीं है । अविद्याकी अनादिता 'प्रकृतिं०' (प्रकृति (माया-अविद्या) और पुरुष इन दोनोंको ही अनादि समझो,) इस स्मृतिमें कही गई है । प्रकृति मायाका नाम है, क्योंकि 'मायां तु प्रकृतिं' (प्रकृतिको ही माया समझो) इस तरह श्रुतिमें कहा है । माया और अविद्याके एकत्वका प्रतिपादन तो हम पहले ही कर चुके हैं ।

शङ्का—इस पूर्वोक्त विवेचनके अनुसार स्वप्रकाश ब्रह्मके अविद्याश्रय सिद्ध होनेपर भी उसके सदैव भासमान होनेसे वह अविद्याका विषय नहीं हो सकता । घटके प्रकाशित होनेपर 'मैं घटको नहीं जानता हूँ' इस प्रकार घटमें अज्ञानविषयताका कोई व्यवहार नहीं करता । 'तुम्हारे कहे हुए अर्थको मैं नहीं जानता हूँ' इस प्रतीतिसे भासमान अर्थके ही अज्ञानके प्रति व्यावर्तक होनेसे अज्ञानविषयत्वका व्यवहार होता है, ऐसा कहना भी नहीं बनता, क्योंकि उक्त प्रतीतिमें भी जो ज्ञात नहीं हुआ है वही (अर्थमें रहनेवाला विशेषाकार) अज्ञानका विषय है । ['त्वदुक्त अर्थका सामान्य ज्ञान होनेपर भी विशेष ज्ञान नहीं हुआ' यह 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इस वाक्यका तात्पर्य है] जो ज्ञात

उच्यते--प्रमाणेन हि प्रकाश्यमानोऽर्थो नाऽज्ञानस्य विषयः, प्रमाणस्याऽज्ञाननिवर्त्तकत्वात् । यत्तु साक्षिप्रत्यक्षगम्यं घटादिकं चैतन्यमेव वा न तस्याऽज्ञानविषयत्वे काचिद्धानिः । नहि साक्षिचैतन्यमज्ञान-निवर्त्तकं प्रत्युत तत्साधकमेव । अन्यथैतदज्ञानं सर्वैः प्रमाणैर्न्यायैश्च विरुध्यमानं कथं सिध्येत् । तदुक्तम्--

'सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी ।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम् ॥' इति ।

विचारासहत्वं चाऽविद्याया अलङ्कार एव । तदप्युक्तम्--

नहीं है, उसकी विशेषणतया प्रतीति नहीं हो सकती, यदि ऐसा कहो तो 'तुम्हारे अर्थको मैं नहीं जानता' इस वाक्यकी संगति भी आप ही (वेदान्ती) करें ? [अर्थात् अनवगत तो विशेषण हो ही नहीं सकता, परन्तु अवगत भी जब अज्ञानका विशेषण नहीं हो सकता तब जैसे सदाभास भाव ब्रह्म अज्ञानका विषय नहीं बन सकता वैसे ही 'त्वदुक्तम्' इत्यादि वाक्यकी भी पूर्वोक्त रीतिसे असङ्गति नहीं हट सकती, शङ्काका यही तात्पर्य है]

उत्तर देते हैं—प्रमाण द्वारा प्रकाशित होनेवाला अर्थ अज्ञानका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण अज्ञानका निवर्तक होता है । किन्तु जो केवल साक्षि-प्रत्यक्षसे ज्ञात होनेवाला घटादि अथवा चैतन्य ही है उसके अज्ञानका विषय होनेमें कोई हानि नहीं है । साक्षि-चैतन्य अज्ञानका निवर्तक नहीं होता है, बल्कि इसके विपरीत अज्ञानका साधक ही होता है । अन्यथा यह अज्ञान सब प्रमाण या न्यायोंसे विरुद्ध होता हुआ कैसे सिद्ध हो सकेगा ? वह इस प्रकार कहा गया है—

वह यह भ्रान्ति (अज्ञान) आलम्बन रहित होती हुई (प्रमाणरूपी या विषयरूपी आलम्बशून्य) सब न्यायोंसे विरोध रखनेवाली विचारयुक्तिके सामने नहीं ठहर सकती, जैसे कि सूर्यके सन्मुख अन्धकार नहीं ठहर सकता ।

और विचारोंके युक्तियोंके—सामने न टिक सकना अविद्याका अलंकार ही है । ऐसा भी कहा है—

'अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवात्र लक्षणम् ।
यद्विचारासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत् ॥' इति ।

न चाऽविचारितरमणीयाया आत्मानमाच्छादयितुमसामर्थ्यं शङ्कनीयम्,

'अहो धाष्टर्यमविद्याया न कश्चिदतिवर्त्तते ।
प्रमाणं वस्त्वनादृत्य परमात्मेव तिष्ठति ॥' इत्युक्तत्वात् ।

युक्त्येकशरणेनाऽप्यनुभवो नाऽपलपितुं शक्यते, अनुभवनिष्ठत्वाद्युक्तेः । अन्यथा युक्तिरप्रतिष्ठितैव स्यात् । अनुभूयते हि स्वयंज्योतिषोऽपि भोक्तृदेहादिसंघाताद्व्यावृत्तत्वमज्ञानतिरोहितमेव ।

नन्वहमित्यात्मप्रतीतौ तद्भेदोऽपि प्रतीयत एव भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वात् ।

युक्तियोंके सामने न ठहर सकना ही अविद्याका अविद्यात्व है और वही लक्षण है, अन्यथा (यदि युक्तियोंसे वह सिद्ध हो सके) तो वह यथार्थ वस्तु ही हो जाय ।

इस प्रकार अविचारितरमणीय (बिना विचारके ही सुन्दर मालूम पड़नेवाली, विचार करनेपर कुछ नहीं) अविद्यामें आत्माको आच्छन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि—

'आश्चर्य है ! अविद्याकी कितनी प्रबल धृष्टता है जिसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता । जो अविद्या प्रमाण वस्तुका भी तिरस्कार करके परमात्माके ऊपर आसन जमा बैठी है ।' यह कहा गया है ।

केवल युक्तियोंका सहारा लेनेवाला पुरुष भी अनुभवका अपलाप नहीं कर सकता है, क्योंकि युक्ति भी अनुभवपर ही निर्भर है । नहीं तो युक्ति प्रतिष्ठित (प्रसिद्ध) नहीं हो सकती है । [अर्थात् केवल युक्तिसे, जिसमें अनुभवका संवाद न हो वस्तुसिद्धि नहीं मानी जाती है, ऐसी युक्तियां केवल प्रलाप कहलाती हैं] स्वयंज्योति—स्वप्रकाश—आत्माका देहादिसंघातरूप भोक्तासे भेद अज्ञानसे आच्छन्न है, यह अनुभव सिद्ध है ।

शङ्का—'अहं' इस प्रकारकी आत्मप्रतीतिमें देहादिसंघातसे आत्मामें भेद भी प्रतीत ही होता है (इससे भेद अज्ञानसे आच्छन्न है ऐसा कहना नहीं बनता), क्योंकि भेद वस्तुका स्वरूप ही है [अर्थात् आत्मा और देहादिसङ्घातका भेद उसका स्वरूप ही है । तब 'अहम्' इस स्वरूपके भानके साथ-साथ तत्स्वरूप

न चाऽहं मनुष्य इति मिथ्याभूतदेहतादात्म्याभिमानेन भेदस्तिरोहित इति वाच्यम्, ऐक्याभिमानस्य भेदप्रतीत्यनुसारेणापि गौणतयोपपत्तौ भेदप्रतीतिविरुद्धमिथ्यात्वकल्पनायोगात्। यदि देहसमानाधिकृतत्वादहमिति प्रत्ययो नाऽऽत्मनो देहव्यतिरिक्तत्वं गृह्णीयात्तदा तन्नैव सिध्येत्, प्रमाणाभावात्। आगमानुमानयोरपि तद्विरोधे प्रमाणत्वायोगात्। न चाऽहंप्रत्ययस्य द्विचन्द्रादिबोधवन्मिथ्यात्वादविरोध इति वाच्यम्, आगमानुमान-

---

भेदका भी भान हो ही गया, यह भाव है]। 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकारकी प्रतीतिसे देहके साथ मिथ्याभूत तादात्म्य (अभेद) का अभिमान होनेसे भेदप्रतीति तिरोहित हो गई है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भेदप्रतीतिका अनुसरण करनेसे भी ऐक्य (अभेद) का अभिमान गौणलक्षणासे भी उपपन्न हो सकता है, इससे भेदप्रतीतिके विरुद्ध मिथ्यात्वकी कल्पना नहीं की जा सकती। [जैसे सिंह और माणवकके भेदके सर्वप्रसिद्ध होनेसे भी 'सिंहो माणवकः' ऐसा सामानाधिरण्यनिर्देशसे लक्षणाके द्वारा सिंह और माणवकमें अभेदकी प्रतीति होती है जिससे शौर्यातिशयका बोध होता है वैसे ही 'अहं मनुष्यः' इति प्रतीतिमें भी लक्षणाके द्वारा अभेदकी प्रतीति होती है।] यदि 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीतिमें मनुष्यपदसे बोधित होनेवाले देहके साथ समानाधिकरण होनेसे 'मैं' यह प्रत्यक्ष प्रतीति आत्मासे देहके भेदका ग्रहण न करा सके, तो वह (देह और आत्माका भेद) सिद्ध ही नहीं हो सकेगा, इसमें दूसरा कोई प्रमाण ही नहीं है। [वस्तुमात्रकी सिद्धि प्रायः प्रत्यक्षसे ही होती है और दूसरे आगम, अनुमान आदि भी प्रत्यक्षका विरोध न करते हुए ही प्रमाण होते हैं। एवं प्रकृतमें आत्माका प्रत्यक्ष 'अहम्' (मैं) ऐसी प्रतीति है। वह प्रतीति मनुष्य (देह) के साथ समानाधिकरण होनेसे देह और आत्माके भेदका ग्रहण नहीं कराती, प्रत्युत अभेदका बोधन कराती है, इसलिए प्रत्यक्ष ही अभेदका ग्राहक है, तद्विपरीत भेदका ग्राहक और कोई दूसरे प्रमाण नहीं माने जा सकते। अतः प्रमाणाभाव है, यह तात्पर्य है।] आगम—शास्त्र और अनुमान न्यायवाक्यप्रयोग भी प्रत्यक्षके—विरोधमें प्रमाण नहीं माने जाते हैं। 'अहम्' प्रत्यक्ष भी (जो देहादिसे अभिन्नविषयक-सी प्रतीति है) द्विचन्द्रादिज्ञानके तुल्य मिथ्या है, ऐसा नहीं

प्रामाण्यसिद्धौ तन्मिथ्यात्वं तन्मिथ्यात्वे चेतरप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयत्वात्। द्विचन्द्रादिबोधस्य प्रमाणबलाबलचिन्तायाः प्रागेव झटिति बाध्यत्वात्तन्मिथ्यात्वसिद्धिः। अत्र तु प्रमाणबलाबलचिन्तायामसञ्जातविरोधितयाऽहंप्रत्यय एव बलीयानिति तद्विरुद्धाभ्यामागमानुमानाभ्यां देहव्यतिरिक्तत्वं न सिध्येत्। तस्मादहंप्रत्ययेनैव देहव्यतिरिक्तत्वसिद्धौ मनुष्यत्वाभिमानो गौणो न मिथ्येति।

नैतत्सारम्, किमर्थतो देहव्यतिरिक्तात्मविषयोऽहंप्रत्ययः किं वा प्रतिभासतः? नाऽऽद्यः, अर्थतो भेदसत्ताया अप्रयोजकत्वात्। सिंहो देवदत्त इत्यादौ हि भेदप्रतिभास एव गौणत्वप्रयोजको दृष्टः। अन्यथा इदं

कहना चाहिए, क्योंकि 'आगम और अनुमानके प्रामाण्यकी सिद्धि होनेपर उसका मिथ्यात्व और उसका (देह और आत्माके तादात्म्यका) मिथ्यात्व सिद्ध होनेपर आगम आदिका प्रामाण्य सिद्ध होगा' इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषका प्रसङ्ग होगा। द्विचन्द्रादिप्रत्यय तो मिथ्या सिद्ध हो जायगा, क्योंकि वहाँपर एकचन्द्रप्रतिपादक आगमादि प्रमाण प्रबल है, द्विचन्द्रके प्रत्यक्ष आदि दुर्बल हैं, इस विचारके पहले ही शीघ्र द्विचन्द्रप्रत्यक्ष बाधित हो जाता है। (इससे द्विचन्द्रादिस्थलमें अन्योन्याश्रयका अवसर नहीं है) 'अहम्' प्रत्यक्षमें तो प्रमाणकी बलाबल चिन्ताका अवसर आनेपर कोई विरोध न होनेसे 'अहं' प्रत्यक्ष ही बलवान् हो जाता है, इसलिए 'अहं' प्रत्यक्षसे विरुद्ध आगम और अनुमान दोनोंसे आत्मामें देहका भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। अत एव 'अहं' प्रत्यक्ष द्वारा ही देहका भेद सिद्ध हो जानेपर अहंमें मनुष्यत्वाभिमान गौण लक्षणाके द्वारा ही है, मिथ्या नहीं है।

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है। क्या 'अहम्' यह ज्ञान वस्तुतः देहसे भिन्न आत्माको विषय करता है अथवा क्या प्रतिभाससे? ['अहं' इस प्रतीतिमें जैसे आत्मा भासता है वैसे ही भेद भी भासता है। यह द्वितीय विकल्पका तात्पर्य है और प्रथम विकल्पका यह तात्पर्य है कि प्रतिभास केवल आत्माका ही होता है और वह आत्मा देहसे भिन्न है, 'अहं' प्रत्ययमें भेद नहीं भासता] पहला विकल्प उचित नहीं है, क्योंकि वस्तुतः भेदका रहना किसी अर्थका साधक नहीं है। 'सिंहो माणवकः' यहांपर भी भेदका ज्ञान ही

रजतमित्यत्राऽप्यर्थतो भेदसद्भावेन गौण एव व्यवहारः स्याद्, न भ्रान्तः। द्वितीयेऽपि किमहंप्रत्ययो विचारात् प्रागेव व्यतिरेकमवभासयति उत पश्चात् ? नाऽऽद्यः, विचारशास्त्रवैयर्थ्यात्। न द्वितीयः, प्राप्ताप्राप्तविवेकेन विचारस्यैव व्यतिरेकबोधकत्वात्। ननु विचारो नाम युक्त्यनुसन्धानम्, नहि युक्तिः स्वातन्त्र्येण ज्ञानजननी किन्तु प्रमाणानुग्राहिका सती व्यतिरिक्तात्मविषयत्वमहंप्रत्ययस्य प्रमाणस्य विवेचयति। मैवम्, किं युक्तिर्विषयविशेषे प्रमाणं नियमयति एतावदेव त्वया ग्रहीतव्यं नाऽधिकं नाऽपि न्यूनमिति किं वा स्वतःसिद्धे विषये ग्रहणाय प्रवृत्तस्य प्रमाणस्य प्रसक्तं प्रतिबन्धं निरस्यति ? नाऽऽद्यः, पुरुषबुद्धिवैचित्र्येण युक्तीनामव्यवस्थिततया

गौण व्यवहारका साधक है। [स्वरूपतः भेद रहते हुए भी यदि उस भेदकी प्रतीति नहीं होती है, तो वहांपर भेदप्रतीति स्वतः छिपी हुई है उसके छिपानेके लिए लक्षणा या उपचारका अवसर ही नहीं है, इस दशामें उक्त 'सिंहो माणवकः' प्रतीतिको भ्रम ही कह सकते हैं गौण या औपचारिक नहीं]। अन्यथा (भेदज्ञानके बिना भी यदि गौणव्यवहार माना जाय) तो 'यह रजत है' यहांपर भी अर्थतः भेद रहनेसे (शुक्ति और रजत दोनों वस्तुओंमें स्वतः भेद होनेसे) गौणव्यवहार ही होना चाहिए भ्रमव्यवहार नहीं। द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहम्' यह ज्ञान विचार होनेके पूर्व ही भेदका भी बोध करा देता है अथवा विचारके अनन्तर ? पहला पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि इससे विचारशास्त्र व्यर्थ हो जायगा। द्वितीय विकल्प भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्राप्ताऽप्राप्त विवेकसे विचार ही भेदबोधक सिद्ध होता है। युक्तियोंके अनुसंधानको विचार कहते हैं। युक्तियां स्वतन्त्र होकर ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकतीं, किन्तु प्रमाणोंका अनुग्रह करती हुई (अर्थात् प्रमाणोंको सहायता देती हुई—प्रमाणित करती हुई ही) प्रमाणभूत 'अहम्' प्रत्ययका देहसे भिन्न आत्मा है, ऐसा विवेचन करती हैं, यदि ऐसी शङ्का की जाय, तो वह उचित नहीं है, क्योंकि क्या युक्तियाँ प्रमाणका विषयविशेषमें नियम कर देती हैं इतना ही तुम्हें ग्रहण करना चाहिए, न तो इससे अधिक और न इससे कम ? या स्वतः सिद्ध विषयमें उसका ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त हुए प्रमाणके आये हुए प्रतिबन्धको दूर कर देती हैं ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि पुरुषबुद्धियोंके विचित्र (परस्पर भिन्न-भिन्न होनेसे) अव्यवस्थित होनेसे

प्रमाणानामव्यवस्थितविषयत्वापत्तेः नन्विष्टापत्तिरेषा प्रमाणानां नियतविषयत्वे शास्त्रकाराणां मतभेदासंभवादिति चेद्, नः विरुद्धस्थले स्वमतमेव प्रामाणिकं नाऽन्यदिति सर्वैरङ्गीकारात्। अव्यवस्थितविषयत्वे च परमतान्यपि प्रामाणिकत्वेनाऽऽदर्तव्यानि स्युः। न च प्रबलयुक्तीनां बह्वीनां प्रमाणनियामकत्वं वाच्यम्, नहि सहस्रमपि युक्तयः सकलशास्त्राभिमतबुद्धिप्रभवा अपि चक्षुषः शब्दविषयत्वं सम्पादयेयुः रूपविषयत्वं वा निवारयेयुः। द्वितीये तु किमहंप्रत्ययस्य देहादिप्रतियोगिकात्मभेदोऽपि स्वतःसिद्धो विषयः किं वाऽऽत्ममात्रम्। आद्ये लौकायतिकस्य प्राकृतानां च विवेकः प्रसज्येत। अथ तेषां शास्त्रीययुक्तिभिः

युक्तिको भी अव्यवस्थितविषयत्व होनेकी आपत्ति होगी। [बुद्धिके अनुसार ही युक्ति होती है जब बुद्धि अव्यवस्थित है तो युक्ति भी अव्यवस्थित अवश्य होगी] प्रमाणोंका अनियत होना इष्ट ही है। उन्हें नियतविषय माननेपर, तो शास्त्रकारोंका मतभेद नहीं होगा, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि विरुद्ध स्थलमें अपने मतको ही प्रामाणिक और दूसरेके मतको अप्रमाणिक सब लोग मानते हैं। प्रमाणोंको अव्यवस्थित विषय माननेपर तो दूसरोंके मत (सिद्धान्त) भी प्रमाण मानकर आदर करने योग्य हो जायंगे अर्थात् दूसरोंके मतोंको मानना पड़ेगा। बहुत-सी प्रबल युक्तियाँ प्रमाणकी नियामक होंगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि हजारों भी युक्तियां, जो सकलशास्त्रसम्मत बुद्धियोंसे भी उत्पन्न हुई हों, शब्दको वे आंखोंका विषय नहीं बना सकतीं और न उनकी रूपविषयताका ही निवारण कर सकती हैं। [यदि युक्तियां ऐसा कर सकतीं तो हम मानते कि युक्तियाँ प्रमाण (इन्द्रियादि) की नियामक हैं। परन्तु वे ऐसा कर नहीं सकतीं; अतः युक्तियोंमें प्रमाणनियामकत्व नहीं बन सकता। द्वितीय पक्ष भी नहीं जँचता, क्योंकि 'अहं' प्रत्ययका स्वतःसिद्ध देहादिप्रतियोगिक आत्मामें भेद भी विषय है ? किं वा केवल आत्मा ही विषय है ? पहले पक्षका स्वीकार करनेपर लौकायतिक (नास्तिक) और साधारण जनोंको भी विवेकज्ञान होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। यद्यपि कह सकते हो कि उनको (नास्तिक और साधारण जनोंको) शास्त्रीय युक्तियों द्वारा

प्रतिबन्धानिरसनादविवेकस्तथापि शास्त्राभिज्ञेन त्वया न कदाचिदपि देहादिव्यतिरिक्तोऽहमिति प्रत्येतुं वक्तुं वा शक्येत। अहमित्यनेनैव भेदोक्तौ देहादिव्यतिरिक्त इत्यस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। अथाऽत्ममात्रं विषयः तर्हि सुखेन युक्तयोऽहंप्रत्ययस्याऽऽत्मग्रहणे प्रसक्तं प्रतिबन्धं निरस्यन्तु नैतावताऽहंप्रत्ययस्य देहादिविषयत्वमनुभूयमानमपोढुं शक्यम्।

नन्वेवमहं मनुष्य इति प्रत्ययः स्वविषयमेव गृह्णातीति भ्रमो न स्यात्। मैवम्, नहि स्वविषयग्राहि प्रमाणमन्यविषयग्राह्यप्रमाणमित्यस्मद्व्यवस्था, किन्तु सत्यग्राहि प्रमाणं सत्यानृतग्राहि चाऽप्रमाणमिति। अहंप्रत्ययश्च सत्यमात्मानमसत्यं देहादिकं चैकीकृत्य गृह्णातीति भ्रम एव। न च स्वप्रकाशे निरंशे आत्मन्यगृहीतविशेषांशासंभवादभ्रम इति

प्रतिबन्धका निरसन न होनेसे विवेक नहीं हो पाता, तो भी शास्त्रको जाननेवाले आप तो देहादिसे अतिरिक्त ही 'अहम्' है ऐसा प्रत्यय कभी भी नहीं कर सकते और न कह ही सकते हैं, क्योंकि 'अहम्' इतनेसे ही भेदका बोध हो ही गया पुनः 'देहसे भिन्न है' ऐसा कहना पुनरुक्त दोष हो जायगा। यदि 'अहम्' यह प्रत्यय केवल आत्माको ही विषय करता है, तो 'अहं' प्रत्ययके आत्माके ग्रहणमें प्राप्त हुए प्रतिबन्धको युक्तियां आनन्दसे भले ही हटावें, किन्तु इतनेसे ही (प्रतिबन्धमात्रके हटा देनेसे ही) 'अहं' प्रतीतिका देहादिविषयत्व जो अनुभवमें आ रहा है वह नहीं हटाया जा सकता। 'अहं स्थूलः' इस प्रतीतिमें 'अहम्' ज्ञानका विषय देह आदि है, ऐसा अनुभवमें आता है; इसका अपलाप नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त प्रकारसे 'मैं मनुष्य हूँ' यह ज्ञान अपने विषय (देहादि) का ही ग्रहण करता है, तब 'अहं मनुष्यः' यह भ्रम नहीं कहा जा सकता, यदि ऐसा कहें, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो अपने विषयका ग्रहण करता है वह प्रमाण और जो दूसरेके विषयका ग्रहण करता है वह अप्रमाण, इस प्रकार प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था हमारे मतमें नहीं है, किन्तु सत्य पदार्थका ग्रहण करनेवाला प्रमाण और सत्य अनृत-असत्य पदार्थका ग्रहण करनेवाला अप्रमाण माना जाता है। और 'अहम्' प्रतीति तो सत्य आत्मा और असत्य—अनात्मा देहेन्द्रियादि इन दोनोंका एकरूपसे (अभेदसे) ग्रहण

वाच्यम्, यद्वदकारादिवर्णेषु निरवयवेषु साकल्येन भासमानेषु ध्वनिगतं ह्रस्वदीर्घत्वादिकमारोप्यते न च ह्रस्वत्वादिकं वर्णधर्मः, स एवाऽयमकार इत्यादिप्रत्यभिज्ञया वर्णानां सर्वगतत्वावगमाद् वर्णसर्वगतत्वज्ञानवतामपि तद्युक्त्यननुसन्धानेन ह्रस्वत्वादिभ्रमोऽनुवर्त्तत एव तद्वदात्मन्यप्याबालपण्डितमनुभवसिद्धं देहादितादात्म्यभ्रमं शास्त्रजन्यब्रह्मात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण विना बाधरहितं को निवारयेत्। गौणत्वं चाऽहं मनुष्य इति प्रत्ययस्योत्तरत्र समन्वयसूत्रे निराकरिष्यते।

तदेवं स्वयंप्रकाशमानो निरंशोऽप्यात्मा मिथ्याभिमानतिरोहितो ब्रह्मतत्त्वाकारेणाऽगृहीत इत्याकारभेदेन सामान्यग्रहणविशेषाग्रहणयोः संभवादधिष्ठानत्वमविरुद्धम्। ततः सत्यस्याऽधिष्ठानस्य मिथ्यावस्तुसंभेदावभास

करती है, अतः भ्रम ही है। दृष्टान्त देते हैं—जैसे अवयवशून्य अकारादि वर्णोंका पूर्ण भान होनेपर भी व्यञ्जक ध्वनिमें विद्यमान ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि धर्मोंका आरोप होता है। ह्रस्वत्व आदि तो वर्णके धर्म हैं नहीं, क्योंकि 'यह वही अकार है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञाबुद्धिसे वर्णोंका सर्वगतत्व प्रतीत होता है। वर्णोंके इस सर्वगतत्वका ज्ञान रहते हुए भी 'उन युक्तियोंका अनुसन्धान किये बिना ह्रस्वत्व आदिकी अनुवृत्ति होती ही रहती है। दार्ष्टान्तिकमें समन्वय करते हैं—इसी तरह आत्मामें भी बालकसे लेकर धुरन्धर विद्वान् तक सबके अनुभवसे सिद्ध देह आदिका आत्मासे तादात्म्यका भ्रम शास्त्र द्वारा उत्पन्न हुए ब्रह्मात्मतत्त्वके साक्षात्कारके बिना बाध रहित होता है, ऐसी दशामें तब उसकी निवृत्ति कौन कर सकता है? 'अहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य हूँ) यह प्रतीति गौण है, इसका समन्वयसूत्रमें खण्डन करेंगे।

इस पूर्वोक्त विवेचनसे स्वयंप्रकाश अवयवशून्य भी आत्मा मिथ्या (अहम्) अभिमानसे आच्छन्न हुआ ब्रह्मतत्त्वाकारसे गृहीत नहीं होता है। इस प्रकार आकारका भेद होनेसे ('आत्माऽस्मि' इस सामान्य आकार और ब्रह्मतत्त्वात्मक विशेषाकारका) भेद होनेसे सामान्य अंशका ग्रहण और विशेष अंशका अग्रहण—इन दोनोंका सम्भव होनेसे ब्रह्मतत्त्वका अधिष्ठान होना विरुद्ध नहीं है। ऐसी अवस्थामें 'सत्य अधिष्ठानका मिथ्यावस्तुके संसर्गसे भान होना' (अर्थात् सत्य पदार्थमें अनृत पदार्थका तादात्म्य प्रतीत होना) अध्यासका स्वरूपलक्षण भी (अहंकारादि

इति स्वरूपलक्षणमस्त्येव। विषयकरणद्रष्ट्राख्यत्रितयस्थानीये आत्मन्यविद्यादोषस्य समर्थितत्वादात्मचैतन्यस्यैवाधिष्ठानग्राहकप्रमाणत्वादनादौ संसारे पूर्वपूर्वाध्याससंस्कारस्य सुलभत्वाच्च कारणत्रितयजन्यत्वं तटस्थलक्षणमपि सुसंपादम्। यद्यप्यत्राधिष्ठानाध्यस्यमानयोरात्मानात्मनोरेकीकरणेनावभासकं चैतन्यं स्वरूपतो न जायते तथापि विशिष्टविषयोपरक्ताकारेण तस्य जन्म न विरुद्धम्। एवं च सति यत्तु पूर्वं लक्षणमुक्तं तत्र स्मृतिसमानशब्देन कारणत्रितयजन्यत्वं विवक्षितम्। अन्यस्याऽन्यात्मतावभास इत्यनेन च सत्यस्य मिथ्यासंभेदावभास इति व्याख्येयम्। तस्मादात्मन्यहङ्कारादिभ्रमो वा सोपाधिकभेदभ्रमो वा लक्षणलक्षित एवेति सिद्धम्।

अध्यासमें) है ही। एवं विषय, इन्द्रिय तथा द्रष्टा इन तीनोंके स्थानापन्न आत्मामें अविद्या दोषका समर्थन पहले किया गया है, इससे आत्मचैतन्य ही अधिष्ठानग्राहक प्रमाण है और संसारके अनादि होनेसे पूर्व-पूर्व अध्यासका संस्कार भी सुलभ है, इस प्रकार अधिष्ठान, प्रमाण और संस्कार इन तीन कारणोंसे जन्यत्वरूप तटस्थलक्षण भी (उक्त अध्यासमें) सुगमतासे घटता है। ['इदं रजतम्' यह ज्ञान अध्यस्यमान रजत और अधिष्ठान शुक्ति दोनोंको विषय करने वाला और उक्त तीन कारणोंसे जन्य है, और अहङ्काराध्यासमें जो आत्मचैतन्य ही आत्मा और अनात्माके सम्भेदका अवभासी है वह तो जन्य नहीं है, इस अभिप्रायसे शङ्का करके समाधान करते हैं] यद्यपि अहंकारादि अध्यासमें अधिष्ठान अध्यस्यमान स्वरूप आत्मा तथा अनात्माका ऐक्यसे अवभास करानेवाला चैतन्य (आत्मचैतन्य) स्वरूपतः जन्य नहीं है, तथापि विशिष्टविषयसे सम्बलित आकारवान्‌का जन्म होना विरुद्ध नहीं है। ऐसी स्थितिमें जो पूर्व लक्षण किया गया है उसमें स्मृतिसमानशब्दसे "कारणत्रितयजन्यत्व" (तीन कारणोंसे उत्पन्न होना) ऐसा विवक्षित है। 'अन्यका अन्य स्वरूपसे अवभास होना।' इस लक्षणसे 'सत्यवस्तुका मिथ्या वस्तुके संभेदका अवभास' ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। इससे आत्मामें अहङ्कारादिका भ्रम अथवा सोपाधिक (जीव और ब्रह्मका) भेद भ्रम लक्षणोंसे—स्वरूप और तटस्थ इन दोनों लक्षणोंसे लक्षित ही सिद्ध होता है।

ननु कथं प्रत्यगात्मन्यध्यासः संभाव्यते, सर्वत्र ह्यध्यस्यमानेन समानेन्द्रियविज्ञानविषयत्वमेवाऽधिष्ठानस्य दृष्टम् । न च युष्मत्प्रत्ययापेतस्याऽऽत्मनस्तदस्ति । उच्यते—एकस्मिन्विज्ञानेऽधिष्ठानाध्यस्यमानयोः संभिन्नतयाऽवभास एवाऽध्यासेऽपेक्ष्यते नाऽधिष्ठानस्य विषयत्वं केवलव्यतिरेकाभावात् । अस्ति चाऽत्राऽऽत्मानात्मसंभेदावभासकमहमित्येकं ज्ञानम् । यद्यप्यात्मा निरंशत्वादविषयत्वाच्चांशेन वा स्वरूपेण वा नाऽस्य ज्ञानस्य विषयस्तथाप्याकाशप्रतिबिम्बगर्भितदर्पणवदात्मन्यध्यस्तमन्तःकरणमात्मप्रतिबिम्बगर्भितमहंप्रत्ययरूपेणाऽवभासते । अस्ति चेदं रजतमितिवदिदमित्यध्यासे द्वैरूप्यम् । यथाऽयो दहतीत्यत्र दग्धृत्वविशिष्टस्याऽग्नेरयसश्च द्वैरूप्यावभासस्तथाऽहमु-

शङ्का—प्रत्यगात्मामें अध्यासकी कैसे सम्भावना हो सकती है ? क्योंकि सर्वत्र शुक्तिरजत आदि अध्यास स्थलमें जिस इन्द्रियसे अध्यासके विषय रजतादिका ज्ञान होता है उसी इन्द्रियसे अधिष्ठानका भी ज्ञान होता है, इससे अधिष्ठानको सर्वत्र समानेन्द्रियविज्ञानविषयत्व ही देखा गया है। ऐसा समानेन्द्रियविज्ञानविषयत्व युष्मत्प्रत्ययके विषय न होनेवाले आत्माका नहीं है।

समाधान—एक विज्ञानमें अधिष्ठान और अध्यस्यमान दोनोंके ऐक्यसे अवभास होना ही अध्यासमें अपेक्षित है, 'अधिष्ठानका निरुक्तज्ञानविषयत्व होना' अपेक्षित नहीं है, ऐसा माननेमें केवलव्यतिरेकका अभाव है। (जो विषय नहीं है उसमें अध्यास नहीं होता ऐसा केवल व्यतिरेक नहीं है, क्योंकि विषय न होनेवाली—स्वतःप्रकाश संवित्में क्षणिकका अध्यास देखा गया है। और आत्मा तथा अनात्मा दोनोंके तादात्म्यका बोधक 'अहम्' इस आकारवाला एक ज्ञान देखा ही गया है। यद्यपि आत्मा अवयवशून्य एवं अविषय होनेसे अंशसे अथवा स्वरूपसे भी 'अहम्' इस ज्ञानका विषय नहीं है तथापि आकाशप्रतिबिम्बसे युक्त दर्पणके सदृश आत्मामें अध्यस्त हुआ अन्तःकरण जिसमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है 'अहम्' इस आकारके ज्ञानसे प्रकाशित होता है। 'इदं रजतम्' इस अध्यासके समान 'अहम्' अध्यासमें भी दो रूप हैं ही। जैसे 'अयो दहति' (लोहा जलाता है) इस प्रतीतिमें दाहकर्तृत्वविशिष्ट अग्निका और लोहेका दो रूपसे अवभास होता है, (अग्निका लोहके आकारसे चतुष्कोणादि आकार और लोहेका दाहकर्तृत्व आदि जैसा कि पहले

पलभ इत्यत्राप्युपलब्धृत्वविशिष्टस्याऽऽत्मनोऽन्तःकरणस्य च द्वैरूप्यावभासात्। तत्र दुःखितया परिणामितया जड़तया विषयेन्द्रियादिव्यावृत्ततया वाऽनुभूयमानोंऽशोऽन्तःकरणम्, प्रेमास्पदतया कूटस्थतया साक्षितया विषयेन्द्रियाद्यनुवृत्तचैतन्यरूपतया चाऽनुभूयमानोंऽश आत्मा। तस्मादिदमनिदमात्मकोऽहंप्रत्ययः।

नन्वेतत् प्राभाकरो न सहते। तथाहि––घटमहं जानामीत्यत्र स्वप्रकाशविज्ञानं घटादीन्विषयत्वेनाऽऽत्मानं चाऽऽश्रयत्वेन स्फोरयति। ततोऽहमित्यात्मैव भासते न तत्रेदमंशः। न च वाच्यम् अयो दहतीत्यादावयःपिण्डादेर्दग्धृत्वव्यतिरेकवदहं जानामीत्यत्राऽहङ्कारस्य ज्ञातृव्यतिरेकोऽस्त्विति, यथा शीतलायःपिण्डो दीपज्वालाद्यात्मकश्च दग्धा, विविक्तो क्वचिदुपलभ्येते

प्रतिपादन किया गया है) वैसे ही 'अहमुपलभे' (मैं जानता हूं) इस प्रतीतिमें उपलब्धिकर्तृत्वविशिष्ट आत्मा और अन्तःकरणके दो रूपका प्रकाश होता है। [उपलब्धि स्फुरणरूप होनेसे जड़धर्म नहीं है अतः तद्रूप आत्मा अन्तःकरणसे सम्बद्ध हुआ-सा परिणामी अन्तःकरणके संभेदसे प्रतीत होता है।] इसमें दुःखी, परिणामी, जड़ तथा विषय और इन्द्रियसे पृथक् रूपसे प्रतीतिमें—अनुभवमें—आनेवाला अंश अन्तःकरण है और प्रेमके आलम्बनरूपसे, कूटस्थ-(अपरिणामी) रूपसे, साक्षिस्वरूपसे एवं विषय और इन्द्रियादिमें अनुवृत्त चैतन्यरूपसे अनुभवमें आनेवाला अंश आत्मा है, इससे 'इदम्' तथा 'अनिदम्'—जड़ तथा चेतन दोनोंसे सम्मिलित अवभासवाला अहंप्रत्यय है।

शङ्का—प्राभाकर (मीमांसक) इस निर्णयको सहन नहीं कर सकता। [उसके मतका उपपादन करते हैं—] 'मैं घटको जानता हूं' इस ज्ञानमें स्वतः प्रकाशमान विज्ञान (संविद्रूप ज्ञान) घटादिको विषयरूपसे और आत्माको आश्रयरूपसे स्पष्ट ही प्रकाशित करता है। इससे 'अहम्' इस आकारसे आत्मा ही प्रकाशित होता है। उसमें इदम्—जड़ अंश नहीं है। जैसे 'लोहा जलाता है' इस प्रतीतिमें लोहेके गोलेमें दाहकर्तृत्वका अभाव है वैसे ही 'मैं जानता हूं' इस प्रतीतिमें भी अहङ्कारमें ज्ञातृत्वका अभाव है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ठण्डा लोहा और दीपज्वालादिके रूपमें विद्यमान दाहक अग्नि ये दोनों जैसे किसी स्थलमें पृथक्-पृथक् पाये जाते हैं वैसे ही

तथाऽहङ्कारज्ञात्रोः क्वचिदपि विवेकानुपलम्भात्। ततोऽहङ्कार एवाऽऽत्मा स च संविदाश्रयत्वेनाऽपरोक्षः।

यस्तु सांख्य आत्मानमनुमिमीते जडेऽन्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बस्तादृशबिम्बपुरःसरः, प्रतिबिम्बत्वाद्, मुखप्रतिबिम्बवदिति। तथाऽन्येऽपि स्वस्वप्रक्रियानुसारेण येऽनुमिमते तेषामात्मनो नित्यानुमेयत्वमहमित्यपरोक्षावभासविरुद्धम्। अथ परावबोधनार्थान्यनुमानानि तर्हि सन्तु नाम।

यत्तु तार्किकैरात्मनो मानसप्रत्यक्षविषयत्वमुक्तं तदसत्, प्रमाणाभावात्। मनोन्वयव्यतिरेकयोर्विषयानुभवेनैवाऽन्यथासिद्धेः। विषयानुभवं प्रत्याश्रयत्वसम्बन्धादेवाऽऽत्मसिद्धावात्मनि ज्ञानान्तरकल्पने गौरवात्।

अहङ्कार और ज्ञानका कहींपर भी विवेक (पृथक्-पृथक् स्वरूप) नहीं पाया जाता है, इसलिए अहंकार ही आत्मा है, वह संविद् (ज्ञान) का आश्रय होनेसे प्रत्यक्ष है।

मीमांसक सांख्यमतका खण्डन करता है—जड़ अन्तःकरणमें चित्का प्रतिबिम्ब चिद्रूप बिम्बपुरःसर है अर्थात् जैसा प्रतिबिम्ब चिद्रूप है वैसा ही बिम्ब भी चेतनस्वरूप है, प्रतिबिम्ब होनेसे (हेतु), मुखके प्रतिबिम्बके तुल्य (दृष्टान्त), इस प्रकार जो सांख्यवादी आत्माका अनुमान करते हैं और अन्यवादी भी जो अपनी-अपनी प्रक्रियाके अनुसार आत्माका अनुमान करते हैं उन सबके मतमें अत्माका नित्यानुमेय होना 'अहम्' इस प्रत्यक्षज्ञानसे विरुद्ध है। यदि वे लोग कहें कि हमारा अनुमान दूसरोंको समझानेके लिए है, तब तो रहे अनुमान, कोई हानि नहीं है।

नैयायिकोंने जो आत्माको मानस प्रत्यक्षका विषय कहा है, वह भी संगत नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। मनके साथ अन्वय और व्यतिरेक तो विषयके अनुभवसे अन्यथासिद्ध हैं। विषयानुभवके प्रति आश्रयत्वसम्बन्धसे ही आत्माकी सिद्धि होनेपर आत्मामें ज्ञानान्तरकी कल्पनामें गौरव होगा। [यदि मन है और उसका आत्माके साथ संयोग होता है तो आत्माका प्रत्यक्ष होता है। सुषुप्तिमें मन नहीं है और मनका आत्माके साथ संयोग नहीं है तो आत्मप्रत्यक्ष भी नहीं होता। इस अन्वय और व्यतिरेकसे घटादिप्रत्यक्ष ही आत्माका प्रत्यक्ष

नन्वस्तु तर्हि भाट्टमतम् । आत्मा ज्ञानकर्म, प्रत्यक्षत्वाद्, घटवत् । न च कर्मकर्तृत्वविरोधः, द्रव्यांशस्य प्रमेयत्वं बोधांशस्य प्रमातृत्वमिति व्यवस्थितत्वात् । नाऽपि गुणप्रधानभावविरोधः, प्रमेयांशः प्रधानं प्रमात्रंशो गुणभूत इति सुवचत्वात् । नैतद्युक्तम्, द्रव्यांशस्याऽचेतनस्याऽऽत्मत्वायोगात् ।

नहीं करा सकता, किन्तु आत्ममनःसंयोग ही आत्माका प्रत्यक्ष करा सकता है, यह नैयायिकका अभिप्राय है । मीमांसक खण्डन करता है—प्रदर्शित अन्वय और व्यतिरेक घट, पट आदि ज्ञानके ही साधक हैं । आत्म-मनःसंयोगके बिना कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता । इससे जैसे विषय और ज्ञानके सम्बन्धसे विषयका प्रत्यक्ष होता है उसके प्रकाशके लिए ज्ञानान्तरकी कल्पना नहीं की जाती, वैसे ही आत्माका भी विषयानुभवके साथ आश्रयत्व-सम्बन्धसे ही आत्माका प्रत्यक्ष हो जायगा, इसलिए आत्मविषयक अतिरिक्त ज्ञानकी कल्पना गौरवग्रस्त है ।]

भाट्टमत (प्रभाकरसे भिन्न कुमारिलभट्टके अनुयायियोंका मत) ही मान लिया जाय ? उनके मतमें 'आत्मा ज्ञानका कर्म है, प्रत्यक्ष होनेसे, घटके तुल्य' इस अनुमानसे आत्मा ज्ञानका कर्म है, यह सिद्ध है । [जैसे ज्ञानसे घटादिमें प्राकट्यनामक फल उत्पन्न होता है और उस फलके आश्रय होनेसे घटादि ज्ञानके कर्म हैं वैसे ही आत्मा भी आत्मज्ञानका कर्म है और स्वप्रकाशज्ञान उसमें प्राकट्यरूप फल उत्पन्न करता है, यह तात्पर्य है ।] इस प्रकार भाट्टमतका स्वीकार करनेपर कर्मकर्तृविरोध होगा [अर्थात् जो आत्मा स्वयं ज्ञानकर्ता है वह ज्ञानकर्म नहीं हो सकता । यद्यपि 'तण्डुलः पच्यते स्वयमेव' के समान कर्म आदि भिन्न-भिन्न कारक भी कर्ता हो सकते हैं तथापि एकको एक ही कालमें भिन्न-भिन्न कारकत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।] यदि ऐसा कहो, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि द्रव्यांशको प्रमेयत्व (कर्मत्व) और बोधांशको प्रमातृत्व (कर्तृत्व) माननेसे व्यवस्था बन सकती है । [अर्थात् इस मतमें द्रव्य और बोध उभयस्वरूप ही आत्मा है, इसमें द्रव्यस्वरूप बोधाकारको प्रधान माननेसे आत्मामें कर्तृत्वकी और बोधस्वरूप द्रव्याकारको प्रधान माननेसे कर्मत्वकी उपपत्ति हो जायगी, इससे एकके एककालमें शक्तिद्वय माननेमें विरोध नहीं आता ।] इससे गुण-प्रधानभावमें भी विरोध नहीं आता, क्योंकि प्रमेय अंश प्रधान और प्रमातृ

बोधांशस्यैव कर्मत्वे पूर्वोक्तविरोधद्वयानिस्तारात् । न च बोधो युगपत्प्रमेयत्वेन प्रमातृत्वेन च परिणामार्हो निरवयत्वात्, कथञ्चित्प्रधानादिवत्परिणामेऽपि प्रमातृभागस्य स्वप्रकाशत्वेन संविदाश्रयत्वेन चाऽप्रतीतावपसिद्धान्तापत्तेः; विषयत्वेन प्रतीतौ घटवदनात्मत्वप्रसङ्गात् । तस्मात् संविदाश्रयतयैवाऽऽत्मा प्रत्यक्षः, घटादयस्तु संविद्विषयतया प्रत्यक्षाः ।

यस्तु सौत्रान्तिको घटादीननुमिमीते—संवेदनेषु विषयप्रतिबिम्बाऽवभासस्तथाविधबिम्बपुरःसरः, अतस्मिंस्तदवभासत्वाद्, दर्पणगतमुखावभासवदिति,

---

अंश अप्रधान होगा, ऐसा कह सकते हैं । पूर्वोक्त यह भाट्ट मत युक्त नहीं है, क्योंकि जड़ द्रव्यांशको आत्मा मानना नहीं बन सकता। और यदि बोधरूप अंशको ही कर्म भी माना जाय, तो पूर्वोक्त कर्तृ, कर्म या गुणप्रधानभावमें विरोध बना ही रहा । बोधका प्रमातृत्वरूपसे और प्रमेयत्वरूपसे एक ही साथ परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि वह अवयवशून्य है; [अपरिणामी पदार्थका परिणाम नहीं हो सकता] साम्यावस्थामें निरवयव होते हुए भी कथंचित् प्रधान (सांख्याभिमत प्रकृति) के समान निरवयव बोधका परिणाम माननेमें भी प्रमातृभागकी स्वप्रकाशरूप तथा संविदाश्रयत्वरूपसे प्रतीति न होनेसे [उक्त प्रकारसे आत्माकी प्रतीति ज्ञानकर्मत्वरूपसे ही होती है यह कहा गया है] अपसिद्धान्तकी आपत्ति होगी । [इस मतमें बोध स्वप्रकाश और आत्मा संविदाश्रय माना गया है, उक्त विवेचनसे इस सिद्धान्तकी सिद्धि नहीं होगी ।] और बोधका विषयरूपसे प्रकाश होनेसे तो घटादिके समान अनात्मत्वका प्रसङ्ग आ जायगा । इससे संविदाश्रय आत्मत्वरूपसे ही प्रत्यक्ष है और घटादि तो ज्ञानके विषयत्वरूपसे प्रत्यक्ष हैं ।

जो सौत्रान्तिक (बौद्धैकदेशी) घटादिका अनुमान द्वारा ज्ञान होता है ऐसा कहता है, [अनुमानका स्वरूप दिखाते हैं—] ज्ञानोंमें विषयके प्रतिबिम्बका अवभास (पक्ष) उस आकारवाले बिम्बके सामने रहनेसे होता है (साध्य), जो जिस प्रकारका नहीं है उसमें उस प्रकारका अवभास (ज्ञान) होनेसे (हेतु), दर्पणमें दिखाई देनेवाले मुखप्रतिभासके तुल्य (दृष्टान्त), (दर्पण स्वतः मुखस्वरूप नहीं है, परन्तु मुख दिखाई देता है, अतः सिद्ध होता है कि

स व्यक्तव्यः किमस्मिन्ननुमानज्ञाने प्रतिबिम्बभावमन्तरेण साक्षाद्विषयभूता विषया अवभासेरन् न वा। आद्ये, अत्रैवाऽनैकान्तिको हेतुः। द्वितीये, प्रतिज्ञातार्थस्य बिम्बपुरःसरत्वस्याऽप्रतिभासाद् अनुमानानुदय एव। अतोऽनुभूयमानं विषयापरोक्ष्यं नाऽपलपनीयम्।

यत्तु विज्ञानवादिना विज्ञानरूपत्वेनैव विषयाणामापरोक्ष्यमुक्तम्, तदसत्; अविज्ञानरूपस्य बहिष्ठस्याऽप्यापरोक्ष्यदर्शनात्। तस्याऽपि विज्ञानरूपत्वे रजत-

---

दर्पणके सामने विद्यमान बिम्बभूत देवदत्तादिके मुखका ही प्रतिभास उसमें दिखाई दे रहा है वैसे ही ज्ञानमें भी विषय प्रतिभास है)। उस (सौत्रान्तिक) अनुमानकर्तासे कहना चाहिए कि क्या इस आपके निर्दिष्ट अनुमानज्ञानमें प्रतिबिम्बभावके बिना ही साक्षात् विषय होते हुए घट, पट आदि विषय प्रतीत होंगे या नहीं? यदि पूर्व कल्प मानते हो, तो इस पूर्वोक्त अनुमानमें ही हेतुका व्यभिचार हो गया। [अर्थात् यदि अनुमानमें घट, पट आदि साक्षात् विषय हो गये, तो वह अनुमानज्ञान तद्वान् ही हो गया। तब अतस्मिन् तदवभासरूप हेतु नहीं गया और इस अनुमानज्ञानके तुल्य प्रत्यक्षज्ञानमें भी घटादि साक्षात् विषय हो ही जायंगे, इससे हानि ही क्या होगी] द्वितीय पक्षमें तो आपके प्रति ज्ञानबिम्बपुरस्सरत्वका प्रतिभास न होनेसे अनुमानका ही उदय नहीं होगा। [अर्थात् यदि अनुमानज्ञानमें बिम्बभावको प्राप्त विषय भासित ही हो गया, तो विषयका ज्ञान हो ही गया, तब निष्प्रयोजन अनुमानका उदय क्यों होगा? और घटाकारज्ञानमें घटको विषय न मानना तो प्रत्यक्ष विरुद्ध ही है] इससे अनुभवमें आनेवाले घट, पट आदि विषयोंका प्रत्यक्ष नहीं होता, इस प्रकारका अपलाप करना उचित नहीं है।

विज्ञानवादी (दूसरे बौद्धैकदेशी) ने जो यह कहा है कि विज्ञानके साथ विषयका अभेद होनेसे घट, पट आदि विषयोंका प्रत्यक्ष होता है, तो उसका ऐसा कहना भी तुच्छ है, क्योंकि विज्ञानसे भिन्न बहिष्ठका भी प्रत्यक्ष देखा गया है। [अर्थात्* घटके प्रत्यक्षमें वह विषय होता है वैसे ही 'अयं घटः' (यह बाह्य पदार्थ

---

* नैयायिक प्रत्यक्षादि ज्ञानकी प्रक्रिया इस प्रकार मानते हैं—'आत्मा मनसे और मन इन्द्रियसे और इन्द्रिय घट, पट आदि विषयोंसे संयुक्त होती है' इस प्रक्रियाके अनन्तर समवाय सम्बन्धसे आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है। इस मतमें ज्ञान आत्माका गुण है। गुण और गुणीका समवाय सम्बन्ध होता है। आत्मामें उत्पन्न हुए इस ज्ञानका प्रत्यक्ष मनः-संयुक्त

बद्धाधो न स्यात्। अतो घटादि प्रमेयं विषयत्वेन प्रत्यक्षम्। प्रमितिस्तु स्वप्रकाशत्वेन न प्रत्यक्षा।

यत्तु तार्किका मनःसंयुक्तात्मनि समवेता प्रमितिः संयुक्तसमवायसम्बन्धेन ज्ञानान्तरप्रत्यक्षेत्याहुः। यच्च भाट्टाः विषयनिष्ठा प्राकट्याख्या प्रमितिः

घट है), इस प्रकार इदन्तारूप बहिर्भाव भी विषय होता है जो विज्ञानस्वरूप नहीं है, उस बहिर्भावको भी विज्ञानस्वरूप माननेसे रजतके तुल्य उसका भी बाध नहीं होगा †। इसलिए घटादि प्रमेयोंका विषयत्वरूपसे ही प्रत्यक्ष होता है, और प्रमिति तो स्वप्रकाश है, अतः उसका विषयत्वरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होता है।

यत्तु ग्रन्थसे ज्ञानको ज्ञेय माननेवालोंके पूर्वपक्षका उपपादन करके खण्डन करते हैं—तार्किक मनःसंयुक्त आत्मामें समवायसम्बन्धसे विद्यमान ज्ञानका संयुक्तसमवायसम्बन्धसे दूसरे ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहते हैं। और भट्टानुयायी मीमांसक विषयमें रहनेवाला प्रकटतानामक ज्ञान संयुक्त-तादात्म्यसम्बन्ध द्वारा दूसरेसे ज्ञेय है, ऐसा कहते हैं ‡। उपरोक्त दोनों मत

आत्मामें उक्त ज्ञानके समवायसे उत्पन्न ज्ञानान्तर (अनुव्यवसाय) से होता है। निरुक्त पूर्वज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है। और भाट्ट मीमांसक ज्ञानको विषयसमवेत मानते हैं, उनका कहना है कि ज्ञानसामग्रीसे विषयमें प्रकटतारूप ज्ञान उत्पन्न होता है उसका प्रत्यक्ष स्वयं नहीं होता, परन्तु इन्द्रियसे संयुक्त घटादिमें होनेवाली प्रकटताके साथ घटादितादात्म्यसे उसका ग्रहण होता है।

† विज्ञानवादी "इदं रजतम्" इस भ्रममें "नेदं रजतम्" इस बाधज्ञानसे केवल इदंता—बहिर्भावमात्रका बाध मानता है, क्योंकि वह बहिष्ठ विज्ञानसे भिन्न वस्तु है। रजतका, विज्ञान स्वरूप होनेसे, बाध नहीं मानता। एवं 'अयं घटः' इत्यादि प्रत्यक्षस्थलमें भी इदन्ताको भी यदि विज्ञानस्वरूप मान लिया जाय, तो उसका भी बाध प्राप्त नहीं होगा। इसलिए इदन्ता—बहिष्ठको विज्ञानस्वरूप नहीं मान सकते, और इदन्ताका 'अयं घटः' इत्याकारक प्रत्यक्ष होता ही है। इस प्रकार बहिर्भावका जो कि विज्ञानस्वरूप नहीं है, जब प्रत्यक्ष हो ही रहा है तब यह व्याप्ति कि विज्ञानस्वरूप होनेसे ही विषयका प्रत्यक्ष है नहीं मानी जा सकती।

‡ ज्ञानग्राहक दूसरा ज्ञान माननेमें यदि ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों ज्ञानोंका एक कालमें होना मानते हो, तो उन दोनोंका फल भी एक कालमें ही होना चाहिए जो कि सम्भव नहीं है। घटादि ज्ञानकालमें सर्वप्रथम मनमें एक प्रकारकी क्रिया होती है, उससे अनन्तर विभाग और तदन्तर पूर्व संयोगका नाश, तत्पश्चात् उत्तर संयोग इस प्रकार अनेक क्षणोंके विलम्बसे होनेवाले द्वितीय ज्ञानकाल तक प्रथम क्षणमें ही नष्ट होनेवाला प्रथम ज्ञान कैसे रह सकता है ?

संयुक्ततादात्म्येनाऽन्यवेद्येत्याहुः, तदुभयमप्यसत् ; प्रमितिगोचरप्रमित्यन्तराङ्गीकारेण युगपद्ज्ञानद्वयावस्थानप्रसङ्गात् । विनश्यदविनश्यतोः फलयोर्यौगपद्यमिष्टमेवेति चेत्, तथापि संयुक्ते वस्तुनि समवायस्य तादात्म्यस्य वा ग्रहणप्रयोजकत्वे प्रमित्याश्रयगतपरिमाणरसादीनामपि प्रमितिग्राहकेणैव ज्ञानेनाऽपरोक्षता प्रसज्येत ।

अथोच्यते--आत्मनिष्ठपरिमाणादीनां घटादिगतरसादीनां च प्रमितिप्रत्यायकज्ञानेनाऽपरोक्षत्वयोग्यता नास्तीति । एवमपि प्रमितेः स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकादर्शनाद् न घटादिवदन्यवेद्यता युज्यते ।

तुच्छ हैं, क्योंकि ज्ञानविषयक दूसरे ज्ञानके माननेपर एक कालमें ज्ञानरूप दो फलोंकी अवस्थितिका प्रसङ्ग हो जायगा। *यदि नष्ट होते हुए और नष्ट नहीं होनेवाले दो फलोंका एक कालमें रहना माना जाय† तो भी सयुंक्त हुई वस्तुमें समवाय अथवा तादात्म्यके ग्रहणप्रयोजक होनेसे प्रमितिके आश्रयमें विद्यमान परिमाण तथा रसादिके भी प्रमिति (ज्ञान) का ग्रहण करनेवाले दूसरे ज्ञानसे प्रत्यक्षका प्रसङ्ग हो जायगा‡ ।

यदि कहा जाय कि आत्मनिष्ठ परिमाणादि तथा विषयगत रसादिमें प्रत्यक्ष ज्ञानग्राहक ज्ञानविषयत्वकी योग्यता नहीं है। [इससे उक्त दोष नहीं आता] ऐसा माननेपर तो प्रमिति (ज्ञान) की अपनी सत्तामें प्रकाशका व्यतिरेक न होनेसे उसकी घटादिके तुल्य अन्यवेद्यता युक्त नहीं है× ।

---

* यहांपर इस दोषका अभ्युपगम माल्र्म होता है, क्योंकि आगे तथापिसे संयुक्तसमवाय या संयुक्ततादात्म्यके ग्राहक माननेमें अन्य दोष दे रहे हैं, परन्तु तत्त्वदीपन इस दोषका भी खण्डन करता है इसलिए तत्त्वदीपनका पाठ दिया जाता है—"न च विनश्यदविनश्यतोः सहावस्थानमिष्यते इति शङ्क्यम्, पूर्वोत्तरवेदनयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावेन विरोधाद् भास्यभासकवत्ताऽनुपपत्तेरित्यर्थः ।.........दूषणान्तरमाह—संयुक्तेति ।" नष्ट होते हुए और नष्ट नहीं होनेवालेका साथ रहना इष्ट है, ऐसी शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि पूर्वोत्तर ज्ञानोंमें निवर्त्यनिवर्तकभाव होता है, अतः विरोध होनेसे भास्यभासक (ग्राह्यग्राहक) भाव नहीं बन सकता । आगे संयुक्तादिसे दूषणान्तर कहते हैं ।

† योग्यविभुविशेष गुणोंमें स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्व माना गया है ।

‡ जिस प्रकार संयुक्तसमवाय आत्मसमवेत ज्ञानका ग्रहण करा देता है उसी प्रकार आत्मसमवेत परिमाणका भी वही ग्रहण करा देगा । तथा संयुक्ततादात्म्यसे भी प्राकट्यके तुल्य विषयके रसादिका भी ग्रहण चक्षुसे ही होने लगेगा ।

× अनुभव आदि ज्ञान प्रकाशस्वरूप है, अतः ज्ञानान्तरसे गम्य नहीं हो सकता । यदि घट, पट आदिके तुल्य अन्यसे ज्ञेय होता, तो जैसे कभी घटादिकी सत्ताका सन्देह होनेपर जिज्ञासा होती है

न च वाच्यं प्रमाणाख्यादात्मव्यापाराद् घटादिषु जायमानस्य प्राकट्यस्य घटगतरूपादिवदन्यवेद्यतेति कोऽसावात्मनो व्यापारः परिस्पन्दः परिणामो वा ? नाऽऽद्यः, सर्वगतस्य तदसंभवात् । द्वितीये तु मृत्परिणामफलस्य घटस्य मृदि चाऽऽत्मपरिणामफलस्य प्राकट्यस्याऽऽत्मैवाश्रयः स्यात् । केशपलितत्वपरिणामाच्छरीरे वार्द्धकवदात्मपरिणामाद्विषये प्राकट्यमिति चेत् , तथापि किं प्राकट्याश्रयत्वं चेतनत्वं किं वा प्राकट्यजनकत्वम् उत तज्जनकज्ञानाख्यव्यापाराधारत्वम् । आद्ये घटादयश्चेतनाः स्युः । द्वितीये, पुनश्चक्षुरादयश्चेतना-

प्रमाणनामक आत्माके व्यापारसे घटादि विषयमें होनेवाली प्रकटता घटादि गतरूपकी भाँति अन्यवेद्य* है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यह आत्माका प्रमाणनामक व्यापार कौन वस्तु है ? परिस्पन्द या परिणाम ? इनमें प्रथम परिस्पन्द नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वव्यापक आत्मामें उसका सम्भव नहीं है† । द्वितीय परिणाम पक्ष लें, तो जैसे मिट्टीका परिणामरूप फल घटका आश्रय मिट्टी ही है वैसे ही आत्मपरिणामरूप फल—प्राकट्यका भी आश्रय आत्मा ही होगा। जैसे केशपलितत्व (बालोंका पक जाना) रूप परिणामसे जनित बुढ़ापा शरीरमें रहता है, वैसे ही आत्मपरिणामसे उत्पन्न फल (प्रकटता) विषयमें रहेगा‡ यदि ऐसा कहा जाय, तो भी क्या प्राकट्य (ज्ञान) का आश्रयत्व चेतनत्व है, अथवा प्राकट्यका जनकत्व है ? किंवा प्राकट्यके जनक ज्ञाननामक व्यापारका आश्रय होना है ? इनमें प्रथम कल्प माननेमें तो घटादि विषयोंको भी चेतनत्वका प्रसङ्ग होगा। यदि द्वितीय (प्राकट्यजनकत्व) माना जाय, तो चक्षुरादि इन्द्रिय भी चेतन (संवित्के

वैसे ही ज्ञानकी सत्तामें भी सन्देह होनेसे जिज्ञासा होती; परन्तु अनुभव होनेपर उसकी सत्तामें न तो सन्देह ही होता है और न जिज्ञासा अतः अनुभव स्वसत्तामें प्रकाशस्वरूप ही है, यह भाव है ।

* प्रकटताको स्वप्रकाश माननेसे उसका जन्म नहीं हो सकता, यह शङ्का करनेवालेका आशय है ।

† परिस्पन्द-स्वचलन, प्रादेशिक पदार्थमें सम्भव है जैसे कुठार जमीनमें पड़ा है, तक्षाने हाथमें उठाया, काष्ठके ऊपर गिराया और काष्ठका छेद हुआ इस प्रकार कुठार में उत्पन्न स्पन्दने काष्ठच्छेद किया इस तरह स्पन्दका सर्वव्यापक आत्मामें सम्भव नहीं है, जिसके द्वारा विषयमें प्राकट्यने जन्म लिया, ऐसा मानते हो ।

‡ सकर्मक क्रियाविषयमें ही अतिशय उत्पन्न करती है ।

स्तथा स्युः । न तृतीयः, आत्मा ज्ञानक्रियावान्, तज्जन्यफलसम्बन्धित्वात्, यथा भुजिजन्यतृप्तिसम्बन्धी भुक्तिक्रियावान् देवदत्तः, इति हि त्वया ज्ञानाधारत्वमात्मनोऽनुमातव्यम्, तत्राऽसिद्धो हेतुः स्याद्, आत्मनः फलसम्बन्धाभावात् । 'मया घटोऽनुभूयते' इति फलसम्बन्धः प्रतीयत इति चेत्, तर्हि विषये एव फलं नाऽऽत्मनीति वदतस्तव मते प्रतीतिविरोधस्त्वयैव संपादितः स्यात् । अतोऽतिदुष्टौ तार्किकभाट्टपक्षावुपेक्ष्य प्रमातृव्यापारस्य प्रमाणस्य फलभूतायाः प्रमितेः स्वप्रकाशत्वमादर्तव्यम् ।

यत्तु सौगतेन संवेदनमेव प्रमाणं तदेव तत्फलं चेत्युक्तम्, तत्र स्फुट एव स्वात्मनि वृत्तिविरोधः । यद्यपि प्रमातुरात्मनो नाऽस्ति कश्चिद् व्यापारस्तथाप्यात्ममनश्चक्षुर्विषयाणां चतुर्णां संनिकर्ष एव प्रमाणरूपः सन् प्रमातृ-

---

जनकस्वरूप) हो जायँगे । तृतीय पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि आत्मा ज्ञानक्रियावाला है, उससे (ज्ञानक्रियासे) जन्य फलसम्बन्धी होनेसे, भोजन क्रियाजनित तृप्तिके सम्बन्धी भोजनक्रियावान् देवदत्तके समान, इस प्रकार ही तुम आत्मामें ज्ञानाधारत्वका अनुमानसे उपपादन करोगे । इस अनुमानमें हेतु असिद्ध है, क्योंकि आत्मामें फलसम्बन्धका अभाव *है ।

'मुझे घटका अनुभव हो रहा है' इस प्रतीतिसे फलका सम्बन्ध आत्मामें प्रतीत होता है, यह यदि कहो, तो 'विषयमें ही फलका सम्बन्ध है, आत्मामें नहीं है' यह कहनेवाले तुमने स्वयं ही अपने मतमें प्रतीतिके विरोधका सम्पादन कर दिया । इस पूर्वोक्त विवेचनसे तार्किक और भाट्ट दोनों मत अत्यन्त दूषित हैं, इससे इन दोनों मतोंकी उपेक्षा करके प्रमातृव्यापार प्रमाणके फलस्वरूप अनुभवमें स्वप्रकाशत्वका ही आदर करना चाहिए ।

बौद्धोंने संवेदन (अनुभव) ही प्रमाण† ‡ और संवेदन ही फल है, ऐसा× कहा है । इस बौद्ध मतमें अपनेमें अपनी वृत्तिका विरोध स्पष्ट + ही है । यद्यपि प्रमातृस्वरूप आत्माका कोई व्यापार नहीं है, तथापि आत्मा (प्रमाता), मन

---

* वादी प्राकट्यरूप फल विषयमें ही कहता है ।

† अर्थाकारविशिष्ट होनेसे करणव्युत्पत्ति द्वारा ज्ञान प्रमाण है ।

‡ अर्थकी उपलब्धिस्वरूप होनेसे भावव्युत्पत्तिसे स्फुरणात्मक फल भी है ।

× करण और फलका परस्पर भिन्न होना लोकप्रतीतिसे सिद्ध है, अन्यथा कार्यत्व और करणत्व ये दोनों एकमें उपपन्न नहीं हो सकते, अतः ज्ञानको ही प्रमाण तथा फल दोनों मानना विरुद्ध है ।

व्यापारत्वेनोपचर्यते। न चाऽव्यभिचारिण्यां प्रमितौ सत्यां हानोपादानोपेक्षाणां व्यभिचरितानां प्रमाणफलत्वमुपपद्यते।

न चाऽऽत्मा स्वप्रकाश इति वेदान्तपक्षो युक्तिसहः, उभयवादिसिद्धसंवित्स्वप्रकाशत्वमात्रेण व्यवहारसिद्धावात्मनोऽपि तत्कल्पने गौरवात्। तस्मात् त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकरस्य यन्मतं 'कुम्भमहं जानामि' इत्यादिषु विषयसंवेदनस्य स्वप्रकाशस्याऽऽश्रयत्वेन प्रदीपाश्रयवर्तिवत्प्रकाशमानोऽहङ्कार आत्मैव, न त्विदमनिदंरूप इति तदेवाऽऽदरणीयम्।

अत्रोच्यते—विचारे सत्यहङ्कारस्याऽनात्मत्वमेव पर्यवस्यति, आत्म-

---

(आन्तर इन्द्रिय), चक्षु (बाह्य इन्द्रिय) और विषय इन चारोंका सन्निकर्ष ही प्रमाणरूप (प्रमा-ज्ञानजनक) होता हुआ प्रमाताका व्यापार है, ऐसा उपचारसे बोधित होता है। अव्यभिचारी अनुभवरूप फलके रहनेपर व्यभिचारी हान तथा उपादानको प्रमाणका फल मानना ठीक नहीं है *।

'आत्मा स्वप्रकाश है' यह वेदान्तका पक्ष युक्तियोंसे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि संवित्के उभयवादिसिद्ध स्वप्रकाशत्वसे ही व्यवहारकी सिद्धि हो सकती है फिर भी आत्माको स्वप्रकाश माननेमें गौरव है। इससे त्रिपुटी प्रत्यक्षको† माननेवाले प्रभाकरका जो यह मत है कि 'मैं घटको जानता हूँ' इत्यादि ज्ञानस्थलमें स्वप्रकाशभूत विषयज्ञानका आश्रय होनेसे प्रदीप (शिखा) की आश्रय वर्तिका (बत्ती) के समान प्रकाशित होता हुआ अहङ्कार (मैं) आत्मा ही है, इदमनिदंरूप नहीं है, वही मानने योग्य है।

इस पूर्वपक्षपर कहा जाता है—विचार करनेपर अहङ्कारमें अनात्मत्व ही सिद्ध होता है; क्योंकि आत्मा ही अनुभवरूप है, जैसे आपसे प्रश्न किया

---

* विषयका अनुभव हुए बिना ग्रहण या त्याग नहीं बन सकता, अतः अनुभवका होना आवश्यक है। तथा अनुभव होनेपर हान और उपादान अवश्य ही हों, इसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं है, क्योंकि उदासीन पुरुषमें हान और उपादान नहीं दिखाई देते। अतः हान और उपादान व्यभिचारी हैं।

† 'अहं घटं जानामि' (मैं घटको जानता हूँ) इस ज्ञानमें त्रिपुटीका भान होता है अर्थात् इसमें 'अहम्' यह प्रथम अंश आत्माका प्रत्यक्ष है, 'घटको' यह द्वितीय विषयांशका प्रत्यक्ष और 'जानता हूँ' यह तृतीय ज्ञानांशका प्रत्यक्ष है, इस त्रिपुटीके प्रत्यक्षमें अहम् 'मैं' ज्ञानाश्रयत्वरूपसे, घट ज्ञानक्रियाजन्य अतिशयके आश्रयत्वरूपसे और ज्ञान स्वयम् आत्मरूपसे स्वप्रकाश होनेके कारण प्रकाशित रहता है।

नोऽनुभवरूपत्वात्। तथाहि—इदं तावद् भवान् प्रष्टव्यः किमात्मैव चित्प्रकाश उताऽनुभवोऽपि अथवाऽनुभव एवेति ? आद्ये जड़प्रकाशोऽयमनुभवः किं चक्षुरादिवदप्रकाशमानो विश्वमभिव्यनक्ति आहोस्विदालोकवत् सजातीयप्रकाशान्तरनिरपेक्षतया प्रकाशमान एव विषयाभिव्यञ्जकः। नाऽऽद्यः, चक्षुषः स्वातिरिक्तानुभवजनकत्वाद्, अनुभवस्य चाऽतथात्वात्। द्वितीये स्वातिरिक्तानुभवमनपेक्ष्य स्फुरणमित्येतस्य चित्प्रकाशलक्षणस्य सत्त्वेनाऽनुभवश्चित्प्रकाश एव भवेत्। यद्यप्यनुभवचक्षुरालोकानां घटादिव्यञ्जकत्वं समानम्, तथाप्यनुभवस्य विषयाज्ञानविरोधित्वात् चित्प्रकाशत्वम् आलोकस्य विषयगततमोविरोधित्वाज्जडप्रकाशत्वम् चक्षुषश्चाऽपरोक्षानुभवं प्रति साक्षात्साधनत्वादज्ञातकरणत्वमिति संभवत्येव वैषम्यम्।

नन्वालोकवत् सजातीयानपेक्षत्वमनुभवस्येत्ययुक्तम्, आलोकस्य सजा-

---

जाता है कि क्या आत्मा ही चित्प्रकाश है ? या आत्म और अनुभव दोनों चित्प्रकाश 'चैतन्यरूप' है ? अथवा केवल अनुभव ही 'चैतन्य' है और आत्मा जड़ है ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो जड़प्रकाश यह अनुभव चक्षु आदि इन्द्रियोंकी भाँति स्वयं प्रकाशित न होता हुआ क्या विश्वको (विषयको) प्रकाशित करता है, अथवा आलोककी भाँति अपने सजातीय दूसरे आलोककी अपेक्षा न रख कर ही प्रकाशित होता हुआ विषयका प्रकाश करता है ? इसमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, क्योंकि चक्षु अपनेसे भिन्न घट, पट आदि विषयके अनुभवका जनक है और आपका अनुभव तो ऐसा है नहीं। और द्वितीय कल्पमें, तो अपनेसे भिन्न ज्ञान (अनुभव) के बिना ही स्फुरणरूप चित्प्रकाशके लक्षणका अनुभवमें समन्वय होनेसे अनुभव चित्प्रकाश सिद्ध हो जाता है।

यद्यपि अनुभव, चक्षु और आलोक ये तीनों समानरूपसे ही घटादि विषयोंके प्रकाशक हैं, तथापि विषयके अज्ञानका विरोधी होनेसे अनुभव चित्प्रकाश है, विषयगत अन्धकारका विरोधी होनेसे आलोक जड़प्रकाशक है और प्रत्यक्ष अनुभवके प्रति चक्षुके साक्षात्करण होनेसे वह अज्ञातकरण है, इसलिए तीनों कारणोंमें परस्पर वैषम्य हो सकता है।

आलोकके सदृश अनुभव भी सजातीय द्वितीयकी अपेक्षा नहीं रखता, यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आलोक (दीपादि प्रकाश) अपने सजातीय

तीयचक्षुःप्रकाश्यत्वादिति चेद्, न; चक्षुः किमालोके तमो वारयत्युताऽनुभवं जनयति? नाऽऽद्यः, आलोकस्य निस्तमस्कत्वात्। द्वितीयेऽपि विजातीयेनैव चक्षुर्जन्यानुभवेन प्रकाश्यत्वमालोकस्य। तस्मादालोकवत् सजातीयानपेक्षस्याऽनुभवस्य चित्प्रकाशत्वं युक्तम्, जडप्रकाशत्वे जगदान्ध्यप्रसङ्गात्।

प्रमातृचैतन्यमेव जडानुभवबलात् सर्वमवभासयतीति चेद्, न; जडानुभवो यद्यात्मचैतन्यस्य विषयसम्बन्धमात्रे हेतुस्तदा बुद्धिपरिणाम एवाऽयं स्यात्, ततो वेदान्तिमत प्रवेशः।

चक्षुसे प्रकाशित होता है, इस प्रकार शङ्का करना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा पूर्वपक्ष करनेपर यह प्रश्न होता है कि क्या चक्षु आलोकमें रहनेवाले अन्धकारका वारण करता है या (तद्विषयक) अनुभवको उत्पन्न करता है? इनमें प्रथम कल्प उचित नहीं है, क्योंकि आलोकमें अन्धकार रहता ही नहीं है। दूसरा पक्ष माननेपर भी चक्षुसे उत्पन्न हुए विजातीय अनुभवसे ही आलोक प्रकाशित होता है। इससे सजातीयचक्षुःप्रकाश्यत्व तो तब भी सिद्ध नहीं हुआ। इसलिए आलोकके सदृश सजातीयकी अपेक्षा न रखनेवाले अनुभवको चित्प्रकाश मानना युक्तिसंगत ही है, उसे जड़प्रकाश माननेपर तो जगत् अन्धकामय हो जायगा *।

प्रमातृचैतन्य ही जड़ अनुभवके बलसे सम्पूर्णका प्रकाश कर देता है, यह समाधान भी उचित नहीं है, क्योंकि जड़ अनुभव यदि केवल आत्मचैतन्यके विषयके साथ सम्बन्धमें ही कारण है? तो यह जड़ानुभव केवल बुद्धिका परिणाम ही सिद्ध हुआ, इससे वेदान्तियोंके मतमें ही आपका प्रवेश हुआ †।

यदि इस जड़ अनुभवको आत्मप्रकाशका भी कारण मानते हो, तो यह

---

* यदि विषयका प्रकाशक अनुभव स्वयं प्रकाश न हो, तो ज्ञानप्रकाश्य जगत्‌का प्रकाश कैसे हो सकेगा; क्योंकि "स्वयं नष्टः परान्कथं साधयितुं समर्थः" की उक्ति चरितार्थ होगी, स्वयं जो प्रकाशित नहीं है, वह दूसरोंको कैसे प्रकाशित कर सकता है, यह भाव है।

† 'उपरागार्था वृत्तिः' वेदान्ती मानते ही हैं, यह विषयसम्बन्धजनक अनुभव वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत वृत्तिके बदलेमें ही हुआ, जो इष्ट ही है।

अथाऽऽत्मप्रकाशेऽपि हेतुः, तदसत् ; चिद्रूपस्य जड़ाधीनप्रकाशानुपपत्तेः । अस्तु तर्हि विषयमात्रप्रकाशकः । न च वेदान्तमतापत्तिः, आत्मचैतन्यात् पृथगेव विषयाभिव्यक्तये जड़ानुभवजन्यानुभवान्तरस्वीकारादिति चेत्, तर्हि अस्याऽपि द्वितीयानुभवस्य तथैव जड़त्वेनाऽनुभवान्तरापेक्षायामनवस्था स्यात् । नाऽप्यात्मानुभवावुभावपि चित्प्रकाशाविति द्वितीयः पक्षः, तयोरन्योन्यनिरपेक्षसिद्धिप्रसङ्गात् । तथात्वे च तयोः संविदात्मनोः सम्बन्धः केनाऽवगम्येत । उभयोरप्यन्योन्यवार्तानभिज्ञतया न सम्बन्धग्राहित्वं संभवति । अथ मन्यसे आत्मा स्वयमेव न प्रकाशते, चिद्रूपत्वात्, पुरुषान्तरसंवेदनवत्, ततोऽनुभवाधीनाऽऽत्मसिद्धिरिति, तन्न; अनुभवेऽपि तथा-

उचित नहीं है, क्योंकि चैतन्यस्वरूप आत्माका जड़के अधीन प्रकाश होना नहीं बन सकता । अच्छा तो वह विषयका ही प्रकाशक हो, ऐसा होनेपर वेदान्तमतमें हमारा प्रवेश भी नहीं होगा, क्योंकि आत्मचैतन्यसे अतिरिक्त ही विषयके प्रकाशके लिए जडानुभवसे उत्पन्न दूसरे अनुभवका स्वीकार किया जा रहा है, [और ऐसा वेदान्ती नहीं मानते] इस प्रकार समाधान भी नहीं कर सकते, क्योंकि यह पूर्वानुभवजन्य द्वितीय अनुभव भी तो प्रथमके सदृश जड़ ही होगा, तब वह भी अतिरिक्त अनुभवकी अपेक्षा करेगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा । दूसरा पक्ष (आत्मा और अनुभव दोनों चित्प्रकाश ही हैं) भी उचित नहीं है, क्योंकि इन दोनोंकी एक दूसरेकी अपेक्षा न रख कर ही सिद्धि हो जायगी । ऐसा होनेसे आत्मा और संवित् (ज्ञान) उन दोनोंका सम्बन्ध किसके द्वारा प्रतीत होगा ? दोनोंको परस्पर एक दूसरेका पता न होनेसे वे सम्बन्धके ग्राहक नहीं हो सकते * ।

यदि यह मानो कि आत्मा स्वयं प्रकाशित नहीं होता है, चिद्रूप होनेसे दूसरे पुरुषके ज्ञानके समान, † इससे अनुभवके अधीन ही आत्माकी

* दोनोंको चेतन माननेमें दोनों ही देवदत्त और यज्ञदत्त—इन दोनों चेतन पुरुषोंकी तरह वे स्वसत्तामें या प्रकाशमें परस्पर निरपेक्ष हो जायँगे और यह भी दूसरा दूषण हो जायगा कि अपने ग्रहणके बिना अपने सम्बन्धके ग्रहणका सम्भव न होनेसे आत्मा और ज्ञानका परस्पर सम्बन्धग्रहण न तो अपनेसे और न अतिरिक्तसे ही हो सकेगा ।

† जैसे संवेदन (ज्ञान) के चेतन होनेपर भी पुरुषान्तरका ज्ञान पुरुषान्तरको स्वयं प्रकाशित नहीं रहता, किन्तु उपायान्तरोंसे प्रकाशित होता है, वैसे ही चेतन आत्मा भी है ।

प्रसङ्गात्। अव्यवहितत्वादनुभवः स्वप्रकाश इति चेत्, तदात्मन्यपि समानम्। तत आत्मा स्वयमेव प्रकाशते, चिद्रूपत्वे सत्यव्यवहितत्वात्, अनुभववत् इति प्राप्नोति। नाऽप्यनुभव एव चित्प्रकाश इति तृतीयः पक्षः, आत्मैव चित्प्रकाश इति बलादङ्गीकार्यत्वात्, आत्मानुभवयोरभेदात्। तथाहि—सोऽयमनुभव आत्मगुण इति तार्किकाः प्राभाकराश्चाऽऽहुः। आत्मस्वरूपत्वाद् द्रव्यमिति सांख्या अर्थादाचक्षते। तथा परिणामक्रियाफलत्वात् क्रियाफलयोरैक्यविवक्षया कर्मेति भाट्टाः। तत्र कर्मत्वे गमनादि-

---

सिद्धि होती है, * तो यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवमें भी ऐसा कहनेका प्रसङ्ग है। अव्यवहित चिद्रूप होनेसे अनुभव स्वप्रकाश है, यदि ऐसा कहो, तो आत्माके विषयमें भी अव्यवहित चिद्रूप होनेसे आत्मा स्वप्रकाश है, यह कहना एक-सा है। इसलिए 'आत्मा स्वयं ही प्रकाश है, चेतन होकर अव्यवहित होनेसे, अनुभव (सम्मत) के समान' ऐसा अनुमान प्राप्त होता है।

अनुभव ही चेतनप्रकाश है आत्मा नहीं, यह तीसरा पक्ष भी मानने योग्य नहीं है, क्योंकि आत्मा ही चित्प्रकाश है, ऐसा जबरदस्ती मानना ही होगा, क्योंकि आत्मा और अनुभव दोनोंमें अभेद है। ['तथाहि०' ग्रन्थसे दोनोंका अभेद दिखाते हैं।

प्रथम खण्डन करनेके उद्देशसे दूसरे वादियोंका मत दिखलाते हैं—]

वह पूर्वोक्त अनुभव (ज्ञान) आत्माका † गुण है, ऐसा नैयायिक और प्रभाकरानुयायी मीमांसक मानते हैं। आत्मस्वरूप होनेसे अर्थतः द्रव्य है, ऐसा सांख्यमतावलम्बी कहते हैं। ज्ञान परिणामक्रियाका फल है तथा क्रिया और फलमें ऐक्यकी विवक्षासे वह कर्म है, ऐसा भाट्टमतानुयायी मीमांसक

---

* पुरुषान्तरका ज्ञान व्यवहित है, अतः उसे दृष्टान्त मानकर ज्ञानके स्वप्रकाशत्वका खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि अपना अनुभव अपनेसे अव्यवहित है, अतः उसके स्वप्रकाश होनेमें कोई बाधा नहीं है। परन्तु यह युक्ति आत्मामें भी समान है अर्थात् दूसरे देवदत्त आदिका चेतन आत्मा व्यवहित होनेसे स्वप्रकाश नहीं है और अपना चेतन आत्मा अव्यवहित होनेसे स्वप्रकाश है।

† प्रतिलोमक्रमका आश्रय लेनेका अभिप्राय यह है कि 'हठात् आत्माको अनुभवरूप मानना होगा' ऐसी जो प्रतिज्ञाकी गई है, उसकी सिद्धि अन्तमें गुणत्वपक्ष माननेसे ही होगी।

क्रियावत् प्रकाशत्वं फलत्वं चाऽयुक्तम् । द्रव्यत्वेऽप्यणुपरिमाणश्चेत् खद्योतवद्वस्त्वेकदेशं परिमितमेव स्फोरयेत् । महत्परिमाणत्वे तद्रूपस्याऽऽत्मनोऽपि सर्वत्राऽवभासप्रसङ्गः । अथ तदाश्रय आत्मा, तथापि स एव दोषः । मध्यमपरिमाणत्वे सावयवत्वेनाऽवयवपरतन्त्रत्वादात्मपरतन्त्रता न स्यात् । अथ घटस्य भूतलपरतन्त्रतावदात्मपरतन्त्रता स्याद्, एवमपि प्रदीपप्रकाशयोरिवाऽऽत्मचैतन्ययोरभेद एवाऽङ्गीकार्यः, प्रदीपेन प्रकाशितमितिवन्मयाऽवगतमिति व्यवहारदर्शनात् । आत्मचैतन्ययोर्भेदे व्यवहारोऽयं काष्ठेन प्रकाशितमितिवदुपचरितः स्यात् । गुणत्वपक्षे प्रदीपगतभास्वररूपवदाश्रय-

कहते हैं [इन मतोंका प्रतिलोमक्रमसे खण्डन करते हैं—] ज्ञानको कर्म माननेमें गमनादि क्रियाके तुल्य अनुभवमें प्रकाशत्व और फलत्व दोनों अयुक्त होंगे, ज्ञानके द्रव्य माननेपर भी यदि वह अणुपरिमाण माना जाय, तो खद्योतकी भाँति वस्तुके एक छोटे-से भागमात्रका ही प्रकाश कर सकेगा और यदि महत्परिमाण माना जाय, तो तद्रूप आत्माका भी सर्वत्र प्रकाश प्रसक्त होगा ।

यदि ज्ञानका आश्रय आत्मा है स्वरूप नहीं है ऐसा मानो, तो भी पूर्वोक्त दोष बना ही है । उसे मध्यमपरिमाण माननेमें तो अवयववान् होनेसे वह अवयवोंके अधीन रहेगा, आत्माके अधीन नहीं रहेगा । यदि घटकी भूतलाधीनताके तुल्य ज्ञानकी आत्मपरतन्त्रता मानी जाय, तो भी प्रदीप और प्रकाशके समान आत्मा और चैतन्यका * अभेद ही मानना पड़ेगा, क्योंकि 'प्रदीपसे प्रकाशित हो रहा है' इस व्यवहारके सदृश मैंने जान लिया, ऐसा व्यवहार देखा जाता है । यदि आत्मा और चैतन्यका परस्पर भेद माना जाय, तो 'काष्ठसे प्रकाशित हुआ, †' इस व्यवहारके समान उक्त व्यवहार भी उपचरित होगा ।

अनुभवको गुण माननेमें जैसे प्रदीपमें रहनेवाले श्वेत रूपकी उत्पत्ति आश्रयकी उत्पत्तिसे भिन्न नहीं होती है, वैसे ही अनुभवकी उत्पत्ति भी उसके आश्रयकी उत्पत्तिसे भिन्न नहीं होगी । इस अवस्थामें नित्य होनेसे आत्माके

* बुद्ध्यादयोऽष्टावात्मविशेषगुणाः ।

† काष्ठमें जलते हुए अग्निके प्रकाशसे दीखनेवाले घट, पट आदि विषय काष्ठ और अग्निका भेद रहते हुए भी काष्ठसे प्रकाशित होते हैं, ऐसा व्यवहार जैसे काष्ठ और अग्निमें अभेदका आरोप करके होता है वैसे ही आत्मा और चैतन्यके भिन्न-भिन्न माननेपर भी 'मैं जानता हूँ या मैंने जान लिया' यह व्यवहार गौण कहलाने लगेगा ।

जन्मव्यतिरेकेण जन्मासम्भवान्नित्यतयाऽऽत्मन्यव्यभिचारबलादर्थत आत्मैवाऽनुभवः स्यात्। अनुभवाधीनसिद्धिक आत्मा कथमनुभव इति चेद्; न; तथा सति घटवदनात्मत्वप्रसङ्गात्। न च नीलपीताद्यनुभवानां भिन्नत्वाद् नाऽऽत्मस्वरूपतेति वाच्यम्, स्वरूपतोऽनुभवेषु भेदाप्रतीतेः। भेदकल्पने च मानाभावात्। न च जन्मविनाशौ भेदकल्पकौ, तयोर्भेद-

---

साथ व्यभिचार न होनेके कारण अर्थतः आत्माको ही अनुभवरूप मानना पड़ेगा*। अनुभवके अधीन जिसकी सिद्धि है, ऐसा आत्मा अनुभवरूप कैसे हो सकता है? यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि घटादि विषयके सदृश आत्मामें भी अनात्मत्व का प्रसङ्ग हो जायगा †। नील, पीत आदिके अनुभव, परस्पर भिन्न होनेसे, आत्म-स्वरूप नहीं हैं, यह भी दोष नहीं दे सकते, क्योंकि स्वरूपतः अनुभवोंमें भेदकी प्रतीति नहीं है। अनुभवरूपमें स्वतः भेदकल्पना करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। जन्म या विनाश ये दोनों भेदकी कल्पना करनेवाले होंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि—[जैसे पाकके अनन्तर घटमें रक्त रूप उत्पन्न हुआ, इस प्रतीतिसे रक्तानुभवका जन्म प्रतीत होता है और रक्तानुभवकी स्थितिकालमें श्याम अनुभवके न रहनेसे उसके विनाशकी प्रतीति होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिए, यह भाव है] उनकी (जन्म और विनाशकी) सिद्धि भी भेदके सिद्ध होनेपर ही

---

* घटगत नील आदि गुण 'गुणसमूहो द्रव्यम्' इसे न माननेवालोंके मतमें नीलादि गुणोंके आश्रय घटसे अतिरिक्त हैं, और उनका जन्म घटजन्मसे पृथक् माना जाता है, परन्तु प्रदीपगत भास्वररूप ऐसा नहीं है, अर्थात् उसका जन्म आश्रय-जन्मसे पृथक् नहीं माना जाता, अन्यथा 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' इस मतके अनुसार प्रदीपके जबतक भास्वर रूपका जन्म नहीं होगा, तब तक उसका अप्रकाश रहेगा, परन्तु ऐसा है नहीं, अतः प्रदीपादि आश्रयका जन्म ही भास्वर रूपका जन्म है, अतिरिक्त नहीं है, अतः प्रदीपके साथ उसकी नित्यता और अव्यभिचारिता रही। अतएव घटादिगत नीलादि रूपको छोड़कर प्रदीपगत भास्वर रूपको दृष्टान्त बनाया है। एवं प्रकाशात्मक अनुभवरूप गुण भी उसके आश्रय आत्मासे अतिरिक्त नहीं है और जन्म न होनेसे नित्य तथा अव्यभिचारी है, इससे उसको चाहे अनुभव कहिए या आत्मा, शब्दमात्रका भेद है अर्थतः एक ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि दृष्टान्तस्थलमें आश्रय तथा प्रकाश दोनों जन्य हैं और दार्ष्टान्तिक स्थलमें आश्रय तथा प्रकाश गुण दोनों ही अजन्य है।

† जैसे घट, पट आदि विषयोंकी सिद्धि अनुभवके अधीन है, अतः वे प्रतिभासप्राण—अनात्मा—हैं वैसे ही आत्मा भी हो जायगा।

सिद्धिपूर्वकत्वेन परस्पराश्रयत्वात्। ननु चक्षुरादिसाधनार्थवत्त्वायोत्तरसंविज्जन्माभ्युपेयम् तथा यौगपद्यव्यावृत्तये पूर्वसंविन्नाशश्चाभ्युपेय इति चेद्, न; एकस्याः संविदो विषयविशेषैः सम्बन्धानामुत्पत्तिविनाशाभ्यामेव तत्सिद्धौ संविदोऽप्युत्पत्तिविनाशयोर्गौरवात्।

यत्तु सुगताः कल्पयन्ति--ज्वालानामिव सादृश्यात् संविदां सन्नेव भेदः परोपाधिमन्तरेण न विभाव्यत इति, तदयुक्तम्; ज्वालानामन्यवेद्यत्वेन तथात्वेऽपि स्वप्रकाशसंविन्निष्ठभेदस्याऽविभावनायोगात्। न च स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वाऽविभावनं निदर्शनीयम्, तत्राऽविद्यावरणस्य प्रमाणैः साधितत्वात्। तस्मादेकैव संविदनादिः; अनादित्वं च प्रागभावरहितत्वात्। तदुक्तं सुरेश्वरवार्त्तिके—

होगी, अतः ऐसा माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होगा *। यदि कहो कि चक्षु आदि साधनोंकी सार्थकताके लिए उत्तर ज्ञानका जन्म मानना पड़ेगा एवं दोनों पूर्व और उत्तर ज्ञानोंकी एक कालमें साथ-साथ स्थितिकी व्यावृत्तिके उपपादनके लिए पूर्वज्ञानका नाश भी मानना आवश्यक होगा, तो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही ज्ञानके विषयविशेषोंके (भिन्न-भिन्न विषयोंके) साथ सम्बन्धोंकी उत्पत्ति और विनाशके द्वारा ही जब उसकी (दोनों ज्ञानोंके यौगपद्यकी) व्यावृत्ति भी सिद्ध हो सकती है, तब ज्ञानकी उत्पत्ति और नाश माननेमें गौरव होगा।

और बौद्ध जो यह कल्पना करते हैं कि दीपज्वालाओंके सदृश सादृश्य होनेसे ज्ञानोंमें वर्तमान भेद भी ज्ञानके अतिरिक्त दूसरी उपाधिके बिना मालूम नहीं होता, उनकी वह कल्पना भी युक्तिसे विरुद्ध है, क्योंकि ज्वालाओंके अन्यवेद्य होनेसे उन्हें वैसा (परस्पर भिन्न रहनेपर सदृश होनेसे अतिरिक्त उपाधिके बिना उनके भेदका प्रतीत न होना) माननेपर भी स्वप्रकाश ज्ञानमें विषयरूप उपाधिके बिना भेदकी प्रतीति नहीं देखी गई है। और स्वप्रकाश ब्रह्मतत्त्वका प्रतीत न होना दृष्टान्तमें नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उसमें अविद्यारूप आवरण प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए संविद् (ज्ञान) एक ही है और अनादि है; प्रागभावसे रहित होनेसे वह अनादि सिद्ध होता है। यही बात सुरेश्वराचार्यने वार्तिकमें कही है—

* अनुभवोंमें जब नील, पीत आदि विषयोंके भेदसे भेद सिद्ध हो तब उनका जन्म और विनाश सिद्ध हो सकता है और जन्म-विनाशकी सिद्धिके अनन्तर ही परस्पर भेद सिद्ध होता है, अतः अनुभव स्वतः एक ही है, भेद औपाधिक है।

'कार्यं सर्वैर्यतो दृष्टं प्रागभावपुरःसरम् ।
तस्याऽपि संवित्साक्षित्वात् प्रागभावो न संविदः ॥' इति ।

तदेवं स्वप्रकाशानुभवस्य नित्यत्वादात्मस्वरूपत्वमविरुद्धम् । तथा चाऽऽत्मैव विषयोपाधिकोऽनुभव इति व्यपदिश्यते अविवक्षितोपाधिश्चात्मेति । यथा वृक्षाणामेवैकदेशावस्थानोपाधिना वनत्वम् उपाध्यविवक्षायां च वृक्षत्वं तद्वत् । एवं च सति त्रिपुटीप्रत्यक्षवादी कथमात्मनोऽनुभवाश्रयत्वेनाऽवभासं ब्रूयात्? कथं वाऽहङ्कारस्य जडस्याऽऽत्मत्वं संपादयेत् ? ननु कुम्भमहं पश्यामीत्यहङ्कारो द्रष्टृत्वेन परामृश्यते द्रष्टा चाऽऽत्मैवेति चेद्, न; सुषुप्तावप्यहमित्येवात्मावभासप्रसङ्गात्; न चैवमस्ति । ततो नाऽहङ्कार आत्मा, सुषुप्तावनवभासात् ।

'सभी वादी कार्यको प्रागभाव पुरस्सर मानते हैं, अर्थात् जिसका प्रागभाव हो, वही कार्य है । उस प्रागभावका भी संविद्‌के द्वारा प्रकाश होनेसे संवित्‌का प्रागभाव नहीं † हो सकता ।'

इस प्रकार स्वप्रकाश अनुभवके नित्य होनेसे उसे आत्मस्वरूप माननेमें कोई विरोध नहीं है । इससे आत्मा जब विषयरूप उपाधिसे संसृष्ट होता है, तब 'अनुभव' इस व्यवहारका भागी बनता है। और जब उपाधिकी विवक्षा नहीं होती तब वह 'आत्मा' इस व्यवहारका विषय होता है; जैसे वृक्षोंके एकदेशविशेषमें अवस्थितत्वरूप उपाधिके होनेपर उनमें वन—जङ्गल—व्यवहार होता है और उपाधिकी विवक्षा न होनेपर 'वृक्ष' व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी है। उक्त प्रकारकी व्यवस्थाके सिद्ध होनेपर त्रिपुटीप्रत्यक्षवादी प्रभाकर आत्माका, अनुभवका आश्रय होनेसे, अवभास—प्रत्यक्ष—होना कैसे कह सकता है? अथवा किस प्रकार जड़ अहङ्कारमें आत्मत्वका सम्पादन कर सकता है ? 'मैं घटको देखता हूँ', इस प्रतीतिमें 'मैं' (अहङ्कार) द्रष्टृत्वरूपसे प्रतीत होता है और द्रष्टा ही तो आत्मा है, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें भी 'मैं' (अहम्) इस प्रतीतिसे ही आत्माकी प्रतीति होनेका प्रसङ्ग हो जायगा और ऐसा है नहीं । [सुषुप्तिमें आत्मा तो अनुवर्तमान है, परन्तु ' मैं ' या 'अहङ्कार'की अनुवृत्ति नहीं है] अतः अहङ्कार आत्मा नहीं हो सकता है, क्योंकि सुषुप्तिमें उसका अवभास नहीं होता है।

---

† यदि ज्ञानका भी प्रागभाव मान लिया जाय, तो प्रागभावका प्रकाश ही नहीं हो सकेगा, यह भाव है ।

अथ सुषुप्तौ विषयानुभवाभावात् सतोऽप्यहङ्कारस्याऽनवभासः, तन्न; किं तत्राऽनुभव एव नाऽस्ति उत विषयोपरागाभावः ? नाद्यः ; अनुभवस्य नित्यत्वात् । न द्वितीयः ; विषयोपरागस्याऽऽत्मप्रतीतावप्रयोजकत्वात् । आत्मनो द्रष्टृत्वाकारोऽहङ्कारस्तत्प्रतीतौ च विषयोपरागः प्रयोजक इति चेत्, किं द्रष्टृत्वं नाम दृश्यावभासकत्वम् उत दृश्यव्यावृत्तत्वम् अथवा चिन्मात्रत्वम् ? तत्र प्रथमद्वितीययोर्दृश्यनिरूप्यत्वेनाऽऽगन्तुकस्य द्रष्टृत्वस्याऽऽत्मत्वायोगाद् नाऽहङ्कार आत्मा स्यात् । तृतीये विषयानपेक्षत्वादहङ्कारः सुषुप्तावुल्लिख्येत । अस्त्येव तत्राऽहमुल्लेख इति चेद्, न ; तथा सत्युत्थितेन पूर्वदिनाहङ्कारवत् सौषुप्ताहङ्कारोऽपि स्मर्येत । यद्यपि यदनुभूतं तत् स्मर्यत एवेति नाऽस्ति नियमस्तथाप्यत्राप्यात्मनि स्मर्यमाणे चिद्रूपोऽहङ्कारः कथं न स्मर्येत ? सौषुप्ताहङ्कारगोचरस्य नित्यचैतन्या-

---

यदि यह कहा जाय कि सुषुप्तिमें विषयका अनुभव न होनेसे अहङ्कारके रहनेपर भी उसकी प्रतीति नहीं होती है ? तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें क्या अनुभव नहीं है ? या विषयके संसर्गका अभाव है ? इनमें प्रथम कल्प नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभव नित्य है । द्वितीय कल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि विषयका संसर्ग आत्माकी प्रतीतिमें कारण नहीं है । आत्माका द्रष्टृत्वरूप आकार ही अहङ्कार (मैं) है, उस रूपकी प्रतीतिमें विषयसम्बन्ध प्रयोजक (कारण) है ? यदि ऐसा कहो, तो क्या द्रष्टृत्व दृश्यका प्रकाशकत्व है ? अथवा दृश्यसे व्यावृत्तत्व है ? या चिन्मात्रत्व है ? प्रथम और द्वितीय विकल्पमें तो द्रष्टृत्वके दृश्यसे ही निरूपित होनेसे आगन्तुक द्रष्टृत्वमें आत्मत्व नहीं रह सकता अर्थात् इन दोनों विकल्पोंमें—निरुक्त द्रष्टृत्वरूप अहङ्कार विषयका संसर्ग होनेसे—अनात्मा ही सिद्ध होता है । तृतीय विकल्पमें विषयकी अपेक्षा ही नहीं रहती, इससे सुषुप्तिमें भी अहम्का उल्लेख प्राप्त हो जाता है । सुषुप्तिमें अहम्का उल्लेख है ही, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा होनेपर तो सुषुप्तिसे जगे हुए पुरुषको जाग्रत्-अवस्थामें पूर्वदिनमें अनुभूत अहङ्कारके समान सुषुप्तिमें अनुभूत अहङ्कारका भी स्मरण होना चाहिए । यद्यपि जो विषय अनुभवमें आता है वह सब स्मरणमें भी आता है, यह नियम नहीं है, तथापि प्रकृतमें सौषुप्त आत्माका स्मरण होनेपर उसके स्वरूपभूत चिद्रूप अहङ्कारकावादीके मतमें स्मरण क्यों न हो ? सुषुप्ति अवस्थाके अहङ्कारको

नुभवस्याऽविनाशेन संस्कारानुत्पादादस्मृतिरिति चेत्, तर्हि तथैव पूर्वदिनाऽहङ्कारो न स्मर्येत। अस्मन्मते तु पूर्वदिने जातस्याऽहङ्कृत्यवच्छिन्नचैतन्यस्याऽनित्यत्वेन संस्कारोत्पादे तत्स्मृतिरविरुद्धा।

नन्वेवमेव सौषुप्ताहङ्कारोऽप्युत्थितेन स्मर्यताम्? सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शदर्शनादिति चेद्, एवं तर्हि अव्यवस्थितवादिनं त्वां तार्किकवराक एव निर्भर्त्सयतु। तथाहि—

नाऽत्र सुषुप्तिकालीन आत्मा तत्सुखं वा परामृश्यते, किं तर्ह्युत्थानावसरे प्रतिभासमानमात्मानं पक्षीकृत्य सुखोपलक्षितो दुःखाभावोऽनुमीयते। अहं स्वप्नजागरितान्तराले दुःखरहितः, नियमेनाऽस्मर्यमाणतदातनदुःख-

विषय करनेवाला चैतन्यानुभव नित्य है, उसका विनाश नहीं होता, अतः संस्कारकी उत्पत्ति न होनेसे † उसका (सौषुप्ताहङ्कारका) स्मरण नहीं होता? यदि ऐसा कहो, तो इसी युक्तिसे पूर्वदिनमें अनुभूत अहङ्कारका भी स्मरण नहीं होना चाहिए। [वादीके मतमें नित्य चैतन्याऽनुभवका विषय अहङ्कार है, उस अनुभवका नाश नहीं होता] अपने मतमें तो पूर्व दिनमें उत्पन्न हुआ अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य अनित्य है, [इससे उसका विनाश सम्भव है] अतः संस्कारकी उत्पत्तिके होनेपर उसका (पूर्वदिनमें अनुभूत अहङ्कारका) स्मरण होना विरुद्ध नहीं है।

ऐसी दशामें यदि तुम ऐसा तर्क करो कि सुषुप्तिमें अनुभूत अहङ्कारका भी स्मरण होना चाहिए? क्योंकि 'मैं सुखसे सोया' ऐसा सुप्तोत्थित पुरुषका परामर्श देखा ही गया है, तो इस विषयमें यही उत्तर है कि इस प्रकार अव्यस्थित वाद कहनेवाले तुमको नैयायिक ही डांट-डपट देगा, क्योंकि नैयायिकका मत देखो—

'मैं सुखसे सोया' इस प्रतीतिमें सुषुप्तिकालके अनुभूत आत्मा तथा सुखका स्मरणात्मक उल्लेख नहीं है, किन्तु जाग जानेपर प्रकाशित होनेवाले आत्माको पक्ष करके सुखोपलक्षित * दुःखाभावका अनुमान किया जा रहा है। [अनुमानका स्वरूप दिखाते हैं—] मैं स्वप्न और जागरणके मध्यकालीन सुषुप्तिमें दुःखरहित था, नियमतः उस कालमें अनुभूत दुःखोंका स्मरण न होनेसे,

* अभाव पदार्थ सातिशय नहीं होता अर्थात् घटका अभाव कम या अधिक नहीं होता है, किन्तु वह एक-सा ही होता है। और सुख भाव पदार्थ है, उसमें न्यूनत्व और आधिक्यका सम्भव है, अतः उसके फलस्वरूप अन्नलाघव आदिमें भी तारतम्य (कमी-बेशी) हो सकती है।

त्वात्, कुम्भवदिति। यद्यपि शाब्दव्यवहार एव लक्षणा प्रसिद्धा, न प्रत्यक्षानुमानादौ, तथाप्यत्र मुख्यसुखासम्भवाद् दुखाभाव एवाऽभ्युपेयो न तु मुख्यसुखव्यवहारः। न च परामर्शादेव मुख्यसुखं कल्पयितुं शक्यम्, तथा सत्यन्नसुखं पानसुखमिति विषयविशेषनिष्ठतया स्मृतिप्रसङ्गात्। अथ विषयांशे संस्कारानुद्बोधः कल्प्येत, एवमपि सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति चैतन्याभावपरामर्शः सुखानुभवप्रतिकूलत्वाद् दुःखाभावमुपोद्बलयति । सुषुप्तोत्थितमात्रस्याऽङ्गलाघवप्रसन्नवदनत्वादिकं तत्पूर्वकाले सुखानुभवमनुमापयेदिति चेद्; न, अनुभवानन्तरक्षणे स्मरणसम्भवेऽनुमानवैयर्थ्यात् तारतम्येन दृश्यमानमङ्गलाघवादिकं सातिशयेन स्वापसुखेन विना न स्याद् दुःखाभावस्यैकरूपत्वादिति चेद्, न; प्रतियोगिदुःखजनककरणव्यापारस्योपरमतारतम्यादभावेऽपि तत्प्रतीतेः।

घटके समान। यद्यपि शाब्दव्यवहारमें ही लक्षणाकी प्रसिद्धि है, याने लक्षणा होती है, प्रत्यक्ष या अनुमानमें नहीं होती, तथापि प्रकृतमें मुख्य सुखका असम्भव होनेसे (सुखपदका अर्थ) दुःखका अभाव ही मानना होगा, मुख्य सुखका व्यवहार नहीं माना जा सकता। और प्रकृत परामर्शसे अर्थात् 'सुखसे सोया' इस स्मरणसे भी मुख्य सुखका व्यवहार नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा माननेपर अन्नसुख, पानसुख इस प्रकार विषयविशेषविषयक सुखके स्मरणका प्रसङ्ग आ जायगा। यदि विषयांशके संस्कारका उद्बोध नहीं हुआ माना जाय, तो ऐसा माननेपर भी 'मैं सुखसे सोया कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार चैतन्यके अभावका परामर्श सुखानुभवके प्रतिकूल होनेसे दुःखाभावको ही लक्षित करता है । गाढ निद्राके अनन्तर जागनेपर अनुभूयमान शरीरका हलकापन तथा मुखकी प्रसन्नता आदि उठनेके पूर्वकालमें सुखानुभवके अनुमापक होंगे? ऐसा भी मानना उचित नहीं है, क्योंकि अनुभवके अनन्तर क्षणमें स्मरणका सम्भव होनेसे अनुमान करना निष्प्रयोजन है। तारतम्यसे अनुभूयमान अङ्गलाघव आदि निद्रामें अनुभूत अतिशयविशिष्ट सुखके बिना सम्भव नहीं होगा, कारण कि दुःखका अभाव तो एकरूप होता है? यदि ऐसा कहो, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी दुःखको उत्पन्न करनेवाले साधनोंके (इन्द्रियोंके) व्यापारके उपरमके तारतम्यसे अभावमें भी

नन्वास्तां तावत्तार्किकसमयः; सिद्धान्तस्तु कथमिति चेत्, तर्हि सावधानमनस्केन श्रूयताम्—

अस्ति स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्यस्वरूपभूत आनन्दः सर्वदा भासमानोऽपि जाग्रत्स्वप्नयोस्तीव्रवायुविक्षिप्तप्रदीपप्रभावद् 'अहं मनुष्यः' इत्यादिमिथ्याज्ञानविक्षिप्ततया न स्पष्टमवभासते। सुषुप्तौ तु तदभावाद्विस्पष्टमेवाऽवभासते। आवरणाविद्या तु ब्रह्मतत्त्वाकारमाच्छादयन्त्यपि स्वभासकं साक्षिचैतन्याकारं नावृणोति। नो चेदविद्यैव निःसाक्षिका सती न सिध्येत्। ततश्च सुषुप्तावनुभूत आनन्द आत्मा भावरूपाज्ञानं चेति त्रयमप्युत्थितेन परामृश्यते 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इति।

उस तारतम्यकी * प्रतीति हो सकती है।

यह तो तार्किक मत हुआ, इससे हमें क्या लेना-देना है, अतः इसको रहने दीजिए, आखिर सिद्धान्त † क्या है? यदि ऐसा प्रश्न करो, तो सावधानमन होकर उसका उत्तर भी सुनो—

यद्यपि स्वप्रकाश साक्षिचैतन्यका स्वरूपभूत आनन्द सदैव प्रकाशमान रहता है, तथापि जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें, वेगशाली वायुके झकोरोंसे विखरती अर्थात् अत्यन्त चञ्चल दीप ज्वालाकी कान्तिके तुल्य, 'मैं मनुष्य हूँ' इस मिथ्याज्ञानके द्वारा उड़ाये हुए होनेसे वह आनन्द स्पष्ट प्रकाशित नहीं होता। और सुषुप्तिमें तो उसके न होनेसे स्पष्ट प्रकाशमान रहता है। आवरणस्वरूप अविद्या तो ब्रह्मतत्त्वके स्वरूपको ढकती हुई भी अपनेको (अविद्याको) भासित करनेवाले साक्षिचैतन्यस्वरूपको आच्छन्न नहीं करती, अन्यथा कोई उसका साक्षी (प्रकाशक) न होनेसे स्वयं ही सिद्ध नहीं होगी ‡। इससे सुषुप्तिकालमें अनुभव किये गये आनन्द, आत्मा और भावरूप अज्ञान (अविद्या)

* इन्द्रियोंके व्यापारमें लगे रहनेसे दुःख हुआ करता है। उनके व्यापारमें कमी ज्यादा होनेसे अभावके प्रतियोगी दुःखमें भी तारतम्य होता है, यह भाव है।

† सुषुप्ति-अवस्थामें (वेदान्तसिद्धान्तमें) नित्यानुभवस्वरूप साक्षिचैतन्यका अवभास रहता है, वह नित्य है, उसका विनाश न होनेसे संस्कारका होना सम्भव नहीं है। इस दशामें 'मैं सुखसे सोया' इस परामर्शमें 'अहम्' (मैं) इस आकारका परामर्श न होगा यह प्रश्नका भाव है।

‡ ब्रह्मतत्त्वके स्वरूपके अनवभासनसे आवरण फल स्पष्ट ही है। अब आवारक अविद्याकी असिद्धिमें उक्त फलकी असिद्धि हो जायगी, अतः अविद्याकी असिद्धि अभीष्ट नहीं मानी जा सकती।

नन्वेतत् त्रयं सुषुप्तौ नाऽन्तःकरणवृत्तिभिरनुभूयते तासां तत्राऽभावात्। चैतन्येनाऽनुभवे तस्याऽविनाशिनः संस्कारानुत्पादकत्वान्न परामर्शः सिध्येदिति चेद्, मैवम्, अविद्यैवोक्तत्रयग्राहकवृत्तित्रयाकारेण सुषुप्तौ विवर्त्तते। ताभिर्वृत्तिभिरवच्छिन्नाश्चिदाभासा उक्तत्रयमनुभूयोत्थानकाले विनङ्क्ष्यन्ति तत्संस्कारजन्या स्मृतिः किं न स्यात्। अविद्याविशिष्टस्याऽऽत्मनोऽनुभवितृत्वमन्तःकरणविशिष्टस्यैव स्मर्तृत्वमिति वैयधिकरण्यमिति चेद्, न; उत्थानेऽप्यविद्याविशिष्टस्यैव स्मर्तृत्वाङ्गीकारात्। अन्तःकरणं तु स्मृतस्याऽर्थस्य

इन तीनोंका जागृत पुरुष 'मैं सुखसे सोया था मैंने कुछ नहीं जाना' * ऐसा परामर्श (स्मरण) करता है।

इन तीनोंका अनुभव सुषुप्तिकालमें अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे नहीं हो सकता, क्योंकि उस कालमें अन्तःकरणकी वृत्तियोंका अभाव है, चैतन्य (नित्य साक्षी) द्वारा अनुभव माननेपर तो वह नित्य है, उसका विनाश नहीं होता, अतः संस्कारका उत्पादक नहीं हो सकता, तब (संस्कारके बिना) परामर्श (मैं सुखसे सोया कुछ नहीं जाना यह स्मरण) सिद्ध नहीं हो सकता, यह नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्या (भावरूप अज्ञान) ही कथित आत्मादि तीनोंका ग्रहण करनेवाले तीन वृत्तियोंके आकारमें सुषुप्तिमें विवर्तरूप परिणामको प्राप्त कर लेती है। उन वृत्तियोंसे अवच्छिन्न चिदाभास (चैतन्यप्रतिबिम्ब) उक्त आत्मादि तीनोंका अनुभव करके जागनेके समय नष्ट हो जायँगे, अतः उनके संस्कारोंसे स्मृति क्यों नहीं होगी ? (सुषुप्तिमें) अविद्याविशिष्ट आत्मा अनुभव करता है और (जागरणमें) अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा स्मरण † करता है, ऐसा वैयधिकरण्य दोष होगा ? यदि ऐसा कहो, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जागनेपर भी अविद्याविशिष्ट ही आत्मा स्मरण करता है, ऐसा अङ्गीकार किया गया है, अन्तः-

---

* मैं, यह आत्मांश है, सुखसे, यह आनन्दांश है, कुछ नहीं जाना, यह अज्ञानांश है। जागरणके होते ही अहंकारका तादात्म्याध्यास हो जाता है, अतः 'मैं' इसका परामर्श होता है, वस्तुतः सुषुप्तिमें शुद्ध आत्माके साक्षीस्वरूपका अनुभव ही होता है, इसका स्पष्ट विवेचन अगले मूलमें ही हो जायगा।

† स्मरण और अनुभवमें सामानाधिकरण्यका नियम है, अन्यथा देवदत्तके अनुभूतका यज्ञदत्तको स्मरण होना चाहिए।

शब्दानुविद्धव्यवहारमापादयति। न च सुखमित्यनेन नाऽवेदिषमित्यनेन च दुःखाभावज्ञानाभावयोरेव परामर्श इति वाच्यम्, तयोः सुषुप्तौ सतोरप्यननुभवात्। तत्प्रतियोगिनोर्दुःखज्ञानयोस्तदानीमस्मरणात्।

कथं तर्हि सौषुप्तयोरननुभूतयोर्दुःखाभावज्ञानाभावयोरवगमः ? अर्थापत्त्येति ब्रूमः। उक्तरीत्या सौषुप्तमविक्षिप्तं सुखमनुस्मृत्य एतदन्यथानुपपत्त्या तद्विरोधिनो दुःखस्याऽभावः प्रमीयते। तथा परामृष्टभावरूपाज्ञानानुपपत्त्या तद्विरोधिज्ञानस्याऽभावोऽवगम्यते।

ननु भावरूपाज्ञानं ज्ञानेन न विरुध्यते, जागरणे तयोः सहावस्थाना-

---

करण तो स्मृत पदार्थका शब्दानुविद्ध * व्यवहार उत्पन्न करता है। और यह भी नहीं कहना चाहिए कि 'सुखसे' इससे 'और कुछ नहीं जाना' इससे क्रमशः दुःखाभाव और ज्ञानाभावका ही परामर्श होता है, क्योंकि सुषुप्तिमें रहनेपर भी उनका अनुभव नहीं होता है, और उनके प्रतियोगी दुःख और ज्ञानका उस कालमें स्मरण भी नहीं होता है †।

तब तो सुषुप्तिकालमें विद्यमान अननुभूत दुःखाभाव और ज्ञानाभावकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? हम कहते हैं—अर्थापत्ति प्रमाणसे हो सकती है। अर्थापत्ति दिखलाते हैं— उक्त प्रकारसे सुषुप्तिकालमें अनुभूत (अहंकारसे अनुपहित) स्थिर सुखका स्मरण कर इसकी अन्यथा अनुपपत्तिसे (यदि दुःखका लेश भी होता, तो स्थिर सुखका अनुभव नहीं होता, जिसका मैं इस समय स्मरण कर रहा हूँ) उस सुखके विरोधी दुःखके अभावका ज्ञान किया जाता है। एवम् स्मरण किये गये भावरूप अज्ञानकी अन्यथा अनुपपत्तिसे उसके विरोधी ज्ञानका (वृत्तिज्ञानका) अभाव जाना जाता है।

भावरूप अज्ञानका ज्ञानके साथ विरोध नहीं हैं, क्योंकि जाग्रत् अवस्थामें उन दोनोंका एक साथ रहना देखा गया है, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि

---

* स्मरण और अनुभवका कर्ता एक ही अविद्याविलास है, परन्तु जागरणमें सविकल्प वृत्ति होती है, अतः उस अवस्थामें आत्माका सविकल्प वृत्ति द्वारा परामर्श करनेके लिये अन्तःकरण अहङ्कारतादात्म्यापन्न अहंशब्दका ('मैं' का) अनुवेध—संसर्ग—करा देता है।

† प्रतियोगिज्ञानपुरःसर ही अभावका ज्ञान होता है, सुषुप्तिमें विषयके बिना दुःख या ज्ञान तो हो ही नहीं सकता, और उस कालमें इनका स्मरण भी नहीं है।

दिति चेद्, न; अज्ञानमात्रस्य प्रपञ्चज्ञानैरविरोधेऽपि विशेषाकारपरिणताज्ञानस्य तद्विरोधित्वात्। घटज्ञानाकारेण हि परिणतमज्ञानं पटादिज्ञानैर्विरुध्यते; अन्यथा घटज्ञानकाल एव पटादिकं सर्वं जगदवभासेत।

एवं सति सुषुप्तावस्थाकारेण परिणतस्याऽप्यज्ञानस्याऽशेषविशेषज्ञानैः विरोधो भविष्यति। ततो युक्तैवाऽर्थापत्तिः।

अथ सुषुप्तौ ज्ञानं नाऽऽसीत्, अस्मर्यमाणत्वात्, इत्यनुमीयताम्। किमनयाऽर्थापत्त्येति चेद्, न; मार्गस्थतृणादावस्मर्यमाणेऽनैकान्त्यात्। कथं तर्हि गृहमध्ये प्रातर्गजो नासीदस्मर्यमाणत्वादिति मध्याह्नेऽनुमीयते? नैवमनुमीयते, किं तर्हि? गृहावकाशमापूर्य वर्त्तमानं कुसूलादिकं प्रातरनुभूय मध्याह्ने तदनुस्मृत्य तदन्यथानुपपत्त्या प्रातर्गजाभावोऽपि प्रमीयते। तदेवं

अज्ञानमात्रका प्रपञ्चज्ञानोंके साथ विरोध न होनेपर भी विशेष आकारमें परिणत अज्ञानका ज्ञानके साथ विरोध है ही, कारण कि घटज्ञानके आकारमें परिणत अज्ञानका पटज्ञानके साथ विरोध होता है, यदि न होता तो घटज्ञानके कालमें ही पट आदि सम्पूर्ण जगत्का ज्ञान हो जाता।

ऐसा सिद्धान्त माननेपर सुषुप्तिमें विशेष अवस्थाके आकारमें परिणत अज्ञानका सम्पूर्ण विशेष ज्ञानोंके साथ विरोध होगा ही। इससे अर्थापत्ति युक्त ही है।

सुषुप्तिकालमें ज्ञान नहीं था, इस समय स्मरण न होनेसे, इस प्रकारका अनुमान ही कर लीजिए, इस अर्थापत्तिका प्रयोजन क्या है? ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि मार्गमें स्थित अस्मर्यमाण तृण आदिमें हेतु व्यभिचरित है, क्योंकि उसका भी स्मरण नहीं होता। तब कैसे 'प्रातःकाल घरके आँगनमें हाथी नहीं था, उसका स्मरण न होनेसे, इस प्रकार मध्याह्नमें अनुमान किया जाता है? नहीं, इस प्रकारका यह अनुमान नहीं है, तब क्या है? सुनिये—प्रातःकालमें घरके सम्पूर्ण स्थानको घेरे हुए कुसूल आदि पदार्थोंको देख कर मध्याह्नमें उनका स्मरण हुआ, इसके बाद उसकी अन्यथा अनुपपत्तिसे (यदि घरमें गज होता तो कुसूल आदि सामग्रीसे वह घर न घिरा होता, इस प्रकारकी अनुपपत्तिसे) प्रातःकालमें गजके अभावका भी निश्चय होता है। इसलिए सुषुप्तिमें विद्यमान दुःखा-

सुषुप्तौ दुःखाभावज्ञानाभावौ अर्थापत्तिवेद्यौ, भावरूपाज्ञानानन्दात्मानस्तु स्मर्यन्त इति सिद्धान्तस्थितिः ।

नन्वेतावताऽहङ्कारे किमायातम् ?

इदमायातम्--न सुषुप्तावहङ्कारोऽनुभूयते, नाऽप्युत्थितेन परामृश्यत इति ।

का तर्हि सुखमहमिति परामर्शगतस्याऽहमुल्लेखस्य गतिः ? एषा गतिः-- सुषुप्तौ विलीनोऽहङ्कारः प्रबोधे पुनरुत्पद्यते, स चोत्पन्नः परामृश्यमानमात्मानं सविकल्पकत्वेन स्पष्टव्यवहारायोपलक्षयति, एतदेकप्रयोजनत्वादहङ्कारवृत्तेः । अत एवाऽऽत्मा कदाचिदपि नाऽन्याभिरन्तःकरणवृत्तिभिर्व्यवह्रियते । तदुक्तं नैष्कर्म्यसिद्धौ--

'प्रत्यक्त्वादतिसूक्ष्मत्वादात्मदृष्ट्यनुशीलनात् ।
अतो वृत्तीर्विहायाऽन्या ह्यहंवृत्त्योपलक्ष्यते ॥

भाव और ज्ञानाभाव अर्थापत्तिसे जाने जाते हैं । भावरूप अज्ञान, आनन्द और आत्मा इन तीनोंका स्मरण किया जाता है, इस प्रकार सिद्धान्तमत है ।

प्रश्न—इतने बड़े व्याख्यानसे अहङ्कारमें क्या आया ?

उत्तर—यही आया कि अहङ्कारका सुषुप्तिमें अनुभव नहीं होता है, और न जागृत पुरुष ही उसका स्मरण करता है ।

तब कहिये कि 'मैं सुखसे सोया' इस परामर्शमें 'अहम्'के उल्लेखकी क्या गति होगी ? सुनिये यह गति होगी—सुषुप्तिमें लीन हुआ अहंकार जागनेपर पुनः उत्पन्न होता है और उत्पन्न हुआ अहंकार स्मरणके विषय आत्माको सविकल्परूपसे स्पष्ट व्यवहारके लिए [अहम्—मैं—उल्लेखसे] उपलक्षित करता है । एकमात्र यही प्रयोजन (आत्माका स्पष्ट सविकल्प उल्लेख हो सके) अहङ्कारवृत्तिका है, इसीलिए आत्माका कभी भी [अहमाकार वृत्तिसे अतिरिक्त दूसरी अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे] व्यवहार नहीं होता है । यह नैष्कर्म्यसिद्धिमें कहा गया है—

आत्माके प्रत्यक्स्वरूप होने, अतिसूक्ष्म होने तथा आत्मदृष्टिमात्र द्वारा उसका अनुशीलन होनेसे अन्य घटपटाद्याकार वृत्तियोंको छोड़कर केवल अहमाकारवृत्तिसे वह उपलक्षित होता है, [इसमें युक्तिका प्रदर्शन करते हैं—]

आत्मभावाविनाभावमथ वा विलयं व्रजेत् ।
न तु पक्षान्तरं यायादतश्चाऽहंधियोच्यते ॥' इति ।

ततो जाग्रत्स्वप्नयोरात्मत्वेन प्रतिभासमानोऽप्ययं जडोऽहङ्कारः सुषुप्तावभावान्न स्वयंप्रकाशस्याऽऽत्मनः स्वरूपमिति श्रुतिस्मृतिकुशलैरभ्युपेयमिति। तथा च श्रुतिः 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्'इत्यादिना भूमाख्यस्य ब्रह्मणः सार्वात्म्यमभिधाय 'अथातोऽहंकारादेशः एवाहमेवाधस्तात्' इत्यादिनाऽहङ्कारस्याऽपि सर्वात्मत्वमुक्त्वा 'अथात आत्मादेश एवात्मैवाऽधस्तात्'इत्यादिनाऽऽत्मानमहङ्काराद्भेदेन निर्दिशति ।

ननु जीवब्रह्मणोः सार्वात्म्यव्यपदेशो यथा एकत्वसिद्ध्यर्थस्तथैवाऽहङ्कारस्याऽऽप्यात्मैकत्वसिद्ध्यर्थो व्यपदेशः स्यात् ? मैवम् ; पूर्वं भेदेन

क्योंकि इस अहङ्कारकी दो अवस्थाएँ है—एक तो आत्माके साथ व्याप्त रहना और दूसरी विलीन हो जाना *। इससे अतिरिक्त तीसरी दशाको यह नहीं पाता, अत एव 'अहम्' बुद्धिसे आत्माका सविकल्प बोध होता है ।

'इसलिए जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें आत्माके स्वरूपसे यद्यपि जड़ अहङ्कार प्रतिभासमान है तथापि सुषुप्तिमें उसका अभाव होनेसे स्वप्रकाश आत्माका वह स्वरूप नहीं हो सकता है' ऐसा श्रुति और स्मृति आदि शास्त्रोंमें प्रवीण विद्वान् मानते हैं ।

इसके अनुकूल श्रुति है—वही ब्रह्म नीचे है वही ऊपर है । इत्यादि वाक्यों द्वारा भूमानामक ब्रह्मके सार्वात्म्यका (सर्वस्वरूपता या सर्वव्यापकताका) प्रतिपादन करके 'इसके अनन्तर अहङ्कारादेश है कि मैं ही नीचे ऊपर सर्वत्र विद्यमान हूँ' इत्यादि वाक्योंसे अहङ्कारमें भी सर्वात्मभाव कहा गया है, 'तदनन्तर आत्मादेश है कि आत्मा ही नीचे-ऊपर सर्वत्र विद्यमान है' इत्यादि वाक्योंसे आत्माका अहङ्कारसे भेद दिखलाया गया है, [अन्यथा भिन्न-भिन्न निर्देश करना व्यर्थ हो जाता । विभिन्न निर्देशकी सार्थकता है, ऐसी शङ्का करते हैं —]

जैसे जीव और ब्रह्मका सार्वात्म्यव्यवहार उन दोनोंमें एकत्वकी सिद्धिके लिए माना गया है, वैसे ही आत्माके साथ एकत्वकी सिद्धिके लिए ही अहङ्कारके सार्वात्म्यका व्यपदेश माना जा सकता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उपदेशसे

* अविनाभाव व्याप्ति कहलाती है अर्थात् अहंवृत्तिके उदयमें उसके साथ आत्माकी व्याप्ति रहती है अर्थात् आत्मतादात्म्यापन्न हुए बिना वह प्रतीत ही नहीं होती । अन्यथा यदि आत्माके साथ व्याप्ति नहीं है, तो उसका विलय ही हो जाता है ।

प्रतिपन्नयोर्जीवब्रह्मणोर्युक्त एकत्वसिद्ध्यर्थो व्यपदेशः, द्वयोः सार्वात्म्यायोगात्। अहङ्कारस्य तु पूर्वमेवात्मैकत्वेन प्रतिपन्नस्य पृथगुपदेशो भेदसिद्ध्यर्थ इति गम्यते। न चैवमहङ्कारस्य सार्वात्म्योपदेशो व्यर्थः, ब्रह्मणः परोक्षस्याऽपरोक्षाहङ्कारतादात्म्यकथनार्थत्वात् । तर्हि घट्टकुटीप्रभातन्यायेनाऽहङ्कार एवाऽऽत्मा स्यादिति चेत्, पुनरहङ्कारव्युदासेन ब्रह्मणो मुख्यात्मत्वोपदेशात् । श्रुत्यन्तरे च अहङ्कारश्चाऽहङ्कर्त्तव्यञ्च'इति स्पष्टं विषयेन्द्रियप्रवाहमध्ये पाठात्। स्मृतिश्च 'महाभूतान्यहङ्कारः' इति कार्यप्रपञ्चमध्ये गणयति ।

तर्ह्यहङ्कारः किमुपादानः ? किंनिमित्तः ? किंस्वरूपः ? किंप्रमाणकः ?

पूर्व भेदसे गृहीत जीव और ब्रह्मका एकत्व सिद्ध करनेके लिए तादृश व्यपदेश करना सुसङ्गत हो सकता है, क्योंकि दोनोंमें सार्वात्म्यका योग ही नहीं हो सकता है। परन्तु अहङ्कारका तो उपदेशसे पूर्व ही आत्माके साथ एकत्वग्रह है ही, अतः उसके भेदकी सिद्धिके लिए ही पृथक् व्यपदेश है, ऐसा ही तात्पर्य प्रतीत होता है। इस प्रकार अहङ्कारका सार्वात्म्योपदेश व्यर्थ होगा, यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अपरोक्ष अहङ्कारके साथ परोक्ष ब्रह्मके तादात्म्यका बोधन करनेसे वह सप्रयोजन है। इस प्रकार माननेसे तो घट्टकुटीप्रभातन्यायसे * अहङ्कार ही आत्मा सिद्ध होता है ? नहीं, सिद्ध नहीं होता, क्योंकि फिर अहङ्कारके पृथक्करण † से ब्रह्ममें ही मुख्य आत्मत्वका उपदेश किया गया है। दूसरी श्रुतिमें भी 'अहङ्कारश्चाहंकर्तव्यञ्च' (अहङ्कार और अहङ्कर्तव्य) इस प्रकार स्पष्ट ही विषय और इन्द्रियप्रवाहके बीचमें अहङ्कारका पाठ आया है। और स्मृति भी 'महाभूतान्यहङ्कारः' (महाभूत और अहङ्कार) इत्यादि वाक्योंसे अहङ्कारकी कार्यप्रपञ्चोंमें गिनती करती है।

प्रश्न—अहङ्कार यदि आत्मासे भिन्न है और कार्य है, तो उस अहङ्कारका उपादान (समवायिकारण) क्या है ? निमित्त कारण क्या है ? तथा उसका

* मुझे चुङ्गी न देनी पड़े, इसलिए कोई व्यापारी रात्रिमें छिपकर किसी वस्तुको लेकर चला, परन्तु दैवयोगसे पुलिसकी चौकीपर ही उसको सबेरा हो गया और पकड़ा गया, यही 'घट्टकुटीप्रभातन्याय' कहलाता है।

† जैसे सूक्ष्म अरुन्धती ताराको दिखलानेके लिए उसके पास स्थूल ताराको ही पहले अरुन्धती कहते हैं, पीछे उसके पासका मुख्य अरुन्धती सूक्ष्म तारा बतलाया जाता है। एवं परोक्षब्रह्मका उपदेश करनेके लिए अपरोक्ष अहङ्कार ही ब्रह्म कहा गया, तदनन्तर मुख्य ब्रह्मका प्रतिपादन करनेके लिए उसके पृथक्करणका उपदेश किया गया है।

किंकार्यः ? किमिति सुषुप्तौ नास्तीति चेत् ,

उच्यते—अहङ्कारस्याऽनाद्यनिर्वचनीयाऽविद्या उपादानम्, अविद्यायाः परमेश्वराधिष्ठितत्वं निमित्तम्, ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिद्वयं स्वरूपम्, कूटस्थ-चैतन्यं प्रमाणम्, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं च कार्यम्। सुषुप्तेरन्तःकरणप्रलय-रूपत्वान्न तत्र सद्भावः। यद्यपि क्रियाशक्तिरूपः प्राणः सुषुप्तौ वर्तते, तथापि प्राणस्याऽहङ्कारादन्यत्वे तल्लयो न विरुध्यते। अनन्यत्वे च प्राणांशं विहायाऽवशिष्टस्य लयः कल्प्यताम्। दृष्टिसृष्टिसमाश्रयणे तु सुप्त-पुरुषं प्रति सर्वलयो मुख्य एव सेत्स्यति।

यत्तु सांख्या मन्यन्ते—स्वतन्त्रमचेतनं पारमार्थिकं प्रधानमेव महदहङ्का-रादिकृत्स्नजगदुपादानम् न त्वविद्या परमेश्वराधिष्ठितेति, तदसत्; तथा सत्यहङ्कारः तद्गतकर्तृत्वभोक्तृत्वादि च इदन्तयैव भासेत अयं कर्ताऽयं

स्वरूप क्या है ? क्या उसमें प्रमाण है ? क्या उसका फल है ? और सुषुप्तिमें वह क्यों नहीं रहता है ?

उत्तर—अहङ्कारका उपादानकारण अनादि अनिर्वचनीय अविद्या है, अविद्याका परमेश्वराधिष्ठित होना ही उसका निमित्तकारण है, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ये दो उसके स्वरूप हैं, कूटस्थ चैतन्य उसमें प्रमाण है, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि उसके कार्य हैं। सुषुप्ति अन्तःकरणकी प्रलयरूपा ही है, इसलिए सुषुप्तिमें अहङ्कार (अन्तःकरण) नहीं रहता। यद्यपि क्रियाशक्तिरूप प्राण सुषुप्तिमें रहता है, तथापि प्राणसे अहङ्कार यदि भिन्न माना जाय, तो उसका लय विरुद्ध नहीं होता। यदि प्राण अहङ्कारसे भिन्न न माना जाय, तो प्राणांशको छोड़कर बाकी अंशके लयकी कल्पना करनी चाहिए अर्थात् अन्तःकरण अंशवाला पदार्थ है, अतः एक अंश रह जाता है एकका लय होता है। और दृष्टिसृष्टिपक्ष माननेमें तो सुषुप्त पुरुषके प्रति सबका लय मुख्य लय ही सिद्ध हो जायगा।

स्वतन्त्र अचेतन पारमार्थिक प्रधान ही अहङ्कार आदि सम्पूर्ण जगत्का उपा-दान है, परमेश्वरके सहारे रहनेवाली अविद्या नहीं है, ऐसा सांख्यवादी मानते हैं, परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अहङ्कार और उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म इदन्तासे ही अर्थात् यह कर्ता है—यह भोक्ता है, इस प्रकारसे ही भासित होने

भोक्तेति न त्वात्मन्यध्यस्ततयाऽहं कर्ताऽहं भोक्तेति प्रतिभासः सिध्येत्, अनिर्वचनीयख्यातेः सांख्यैरनङ्गीकारात् ख्यात्यन्तराणां च निरस्तत्वात् ।

यच्च नैयायिका मन्यन्ते—अस्ति किञ्चिदिन्द्रियं मनो नाम अणुपरिमाणं सुखदुःखेच्छाज्ञानादिनिमित्तकारणम् । यद्येतन्न स्यात्तर्ह्यात्मेन्द्रियविषयादिषु समवहितेष्वेव दृश्यमानं ज्ञानकादाचित्कत्वं न सिध्येत् । न त्वेतस्मान्मनसोऽतिरिक्तं मध्यमपरिमाणं सुखदुःखादिपरिणामि अन्तःकरणं नामाऽस्ति, यस्याऽन्तःकरणस्य वृत्तिभेदादहङ्कारो वेदान्तिभिरयःपिण्डदर्पणोदकपात्रसदृशो वर्ण्यते । यथाऽयःपिण्डेन स्वगतो ह्रस्वदीर्घवर्तुलत्वाद्याकारो वह्नौ आरोप्यते दर्पणेन चैकमेव मुखबिम्बप्रतिबिम्बरूपेण विभज्यते,

---

लगेंगे, आत्मामें अध्यस्तरूपसे 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकारका प्रतिभास सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अनिर्वचनीयख्यातिको सांख्य नहीं मानता है, दूसरी दूसरी ख्यातियोंका निराकरण ‡ किया ही गया है।

और जो कि नैयायिक मानते हैं—मन एक इन्द्रिय है, वह अणुपरिमाण है और सुख, दुःख, इच्छा और ज्ञान आदिका निमित्तकारण है। वह मन यदि नहीं होता, तो आत्मा, इन्द्रिय (चक्षुरादि बहिरिन्द्रिय) तथा विषयादिके विद्यमान रहते ही ज्ञानका दृश्यमान कभी-कभी उदय होना सिद्ध नहीं होता। [मनके माननेपर तो जब इससे संयोग होता है तब ज्ञान होता है। और जब संयोग नहीं होता तब ज्ञान भी नहीं होता, इससे ज्ञानका कादाचित्कत्व सिद्ध होता है] इस पूर्वोक्त मनसे अतिरिक्त मध्यम परिमाणवाला जिसका सुख, दुःख आदिके स्वरूपमें परिणाम हो, ऐसा अन्तःकरणनामक पदार्थ नहीं है, जिस अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी विभिन्नताके कारण अहङ्कारका वेदान्ती लोहेके तप्त टुकड़े, दर्पण तथा जलपात्रके सदृश वर्णन करते हैं। [वेदान्तियोंके वर्णन प्रकारको दिखाते हैं—] जैसे लोहेका टुकड़ा अपनेमें वर्तमान ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, वर्तुलत्व (छोटाई, लम्बाई और गोलाई) आकारको [अपनेमें संसृष्ट] आगमें समर्पित करता है, और दर्पण एक ही मुखमें

---

‡ तात्पर्य यह है कि उक्त मतमें चेतन आत्मा और अचेतन प्रधानका अत्यन्तविवेक रहनेसे चेतनाऽचेतनका 'अहं भोक्ता' इस प्रकार व्यवहार नहीं बन सकता। इसकी उपपत्ति केवल अनिर्वचनीय ख्यातिमें ही हो सकती है, जिसको सांख्य मानता ही नहीं, अतः उसके मतके अनुसार 'अयं भोक्ता' ऐसा विविक्त प्रतिभास होना ही प्राप्त होगा, जो कि होता नहीं।

उदकपात्रेण च चन्द्रप्रतिबिम्बे गमनागमनादय आरोप्यन्ते; तथैवाऽहङ्कारेण स्वगतकर्तृत्वादिकमात्मन्यारोप्यते, एक एव चाऽऽत्मा जीवब्रह्मरूपेण विभज्यते, जीवे एव परलोकगमनादय आरोप्यन्ते। न च बुद्धिरेवाऽन्तःकरणमिति वाच्यम्, आत्मगुणज्ञानव्यतिरेकेण बुद्धेरभावात्। तस्मान्नाऽस्ति वेदान्त्यभिमतमन्तःकरणमिति।

तदप्यसत्, 'बुद्धेर्गुणेन' इत्यादिश्रुतिष्वनेकशोऽन्तःकरणस्य परिणामिनो ज्ञानक्रियाशक्तिरूपस्य आत्मनि सर्वसंसारापादकस्य मनोबुद्ध्यादिशब्दवाच्यस्य प्रसिद्धत्वात्। नो चेदसङ्गस्याऽऽत्मनः संसारो न सिध्येत्। सति त्वन्तःकरणे तेनाऽऽत्मनि मिथ्यासंसार आरोप्यते जपाकुसुमेनेव स्फटिके मिथ्यालौहित्यम्।

यस्तु लौहित्यमिथ्यात्वं न सहते, स वक्तव्यः, किं स्फटिकप्रवृत्ता नयनरश्मयः स्फटिकप्रतिस्फालिता जपाकुसुममुपसर्पेयुः? किं वा कुसुमगतरूपमात्रं स्फटिके प्रतिबिम्बितं स्फटिकात्मना भाति उत पद्मरागादिमणि-

---

बिम्बप्रतिबिम्बभावसे भेद उत्पन्न कर देता है एवं जलसे भरा पात्र चन्द्रप्रतिबिम्बमें गमन और अगमन आदिका आरोप करता है। वैसे ही अहंकार अपनेमें रहनेवाले कर्तृत्व आदिका आत्मामें आरोप करता है, आत्माको जीव और ब्रह्मभेदसे विभक्त करता है और जीवमें परलोकके गमन और अगमनका आरोप करता है। बुद्धि ही अन्तःकरण है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आत्माके ज्ञानरूप गुणसे भिन्न बुद्धि कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है। इसलिए वेदान्तिसम्मत अन्तःकरण नहीं है।

नैयायिकोंका उक्त कथन भी असत् है, क्योंकि 'बुद्धेर्गुणेन' इत्यादि श्रुतियोंमें अनेक बार ज्ञान-क्रियाशक्तिस्वरूप, परिणामी तथा आत्मामें अखिल संसारका आपादक जो कहा गया है, वह मन, बुद्धि, आदि शब्दोंसे कहा जानेवाला अन्तःकरण प्रसिद्ध ही है। यदि यह न माना जाय, तो असङ्ग आत्माका संसार ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। अन्तःकरणके रहनेपर तो उसके द्वारा आत्मामें मिथ्या संसार आरोपित किया जाता है, जैसे जपाकुसुमके संनिधानसे स्फटिकमें मिथ्या (वस्तुतः न रहनेवाला) लौहित्य आरोपित किया जाता है।

जो [अख्यातिवादी जपाकुसुमके संनिधानसे प्रतीयमान स्फटिकगत] लौहित्यको मिथ्या नहीं मानता है, उससे पूछना चाहिए कि क्या स्फटिकमें पड़ी हुई नयनरश्मियाँ स्फटिकसे टकराकर जपाकुसुमपर पड़ती हैं? या

प्रभयेव कुसुमप्रभया व्याप्तत्वात् स्फटिको लोहित इवाऽवभासते अथवा तत्र व्याप्नुवन्ती प्रभैव लोहिता भाति आहोस्वित्तया प्रभया स्फटिके नूतनं लौहित्यमुत्पादितम् ? आद्ये, नेत्राभिमुखं कुसुममपि प्रतीयेत। यदि तदवयवदोषबलान्न कुसुमे संप्रयोगस्तर्हि लौहित्यमपि न भायात्, संयुक्तसमवायसम्बन्धाभावात्। न द्वितीयः; क्वचिदपि द्रव्यं परित्यज्य रूपमात्रस्य प्रतिबिम्बादर्शनात्। तृतीये तु स्फटिकलौहित्ययोः सम्बन्धो मिथ्येति त्वयाऽभ्युपगतमेव स्याद्, इवशब्दप्रयोगात्। चतुर्थे स्फटिकशौक्ल्यमपि प्रतीयाद्, अप्रतीतिकारणाभावात्। न च तया प्रभया विरोधिगुणयुक्तया शौक्ल्यमपसार्यते, तथा सति नीरूपस्य स्फटिकस्य अचाक्षुषत्व-

---

स्फटिकमें प्रतिबिम्बित हुआ फूलका लौहित्य—लालरंग—मात्र स्फटिकरूपसे प्रतीत होता है? अथवा पद्मराग आदि मणिकी कान्तिके समान पुष्पकी प्रभासे (चमकसे) व्याप्त होनेके कारण स्फटिक रक्त-सा दिखाई देता है? किंवा उसमें स्फटिकमें व्याप्त होती हुई प्रभा ही लाल मालूम पड़ती है? अथवा उस फूलकी प्रभा स्फटिकमें नया लाल रंग उत्पन्न कर देती है? इनमेंसे प्रथम विकल्पके माननेपर जपाफूलकी प्रतीति भी प्रसक्त होगी। यदि कहा जाय कि उस जपाकुसुमके अवयवगत दोषके कारण पुष्पके साथ इन्द्रियका संयोग नहीं है, अतः उसकी प्रतीति नहीं होती है; तो तुल्य युक्तिसे लाल रङ्गकी भी प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि वहांपर संयुक्तसमवाय संनिकर्ष नहीं है। [द्रव्यगत गुण, कर्म या जातिका प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय सम्बन्धसे ही होता है।] द्वितीय पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि द्रव्यको छोड़कर कहीं भी रूपमात्रका प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता। तृतीय विकल्पका अङ्गीकार करनेपर, तो तुमने स्फटिक और [प्रतीयमान] लाल रंगका सम्बन्ध मिथ्या है, ऐसा मान ही लिया है; क्योंकि तुमने 'इव' (जैसे) शब्दका प्रयोग किया है। चतुर्थ कल्पमें स्फटिकगत श्वेतगुणकी भी प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि उसकी प्रतीतिके न होनेमें कोई कारण नहीं है। यदि शङ्का हो कि शुक्लके विरोधी लाल गुणसे युक्त उस फूलकी प्रभासे [स्फटिकका] शुक्ल गुण हटा दिया जाता है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेपर स्फटिक रूपसे रहित हो जायगा, तब उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष ही नहीं होगा। केवल शुक्ल गुणका प्रतिबन्ध होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्फटिकमें भी

प्रसङ्गात् । नाऽपि शौक्ल्यं प्रतिबद्ध्यते, स्फटिकेऽपि प्रतिबन्धप्रसङ्गात् । नहि रूपं विहाय द्रव्यमात्रस्य चाक्षुषत्वं संभवति, वायावपि तत्प्रसङ्गात् । पञ्चमेऽपि प्रभा निमित्तकारणं चेद्, तदा प्रभापगमेऽपि स्फटिके लौहित्यमवतिष्ठेत। उपादानं प्रभेति चेद्, न; मणाविव कुसुमे प्रभाया एवाऽदर्शनात्, पूर्वोक्तदूषणानामङ्गीकारवादत्वात् । तदेवं स्फटिके मिथ्यालौहित्यं कुसुमनिमित्तमित्यङ्गीकर्त्तव्यम् । एवमात्मन्यहङ्कारनिमित्तं कर्तृत्वादिकमारोप्यते ।

ननु किमहङ्कारगतस्यैव कर्तृत्वस्याऽऽत्मन्यारोप उताऽऽत्मनि मिथ्याभूतं कर्तृत्वान्तरमुत्पद्यते ? आद्ये, लोहितदृष्टान्तवैषम्यं स्यात् ; द्वितीये त्वहङ्कारः सत्यकर्ता आत्मा च मिथ्याकर्त्तेति कर्तृद्वयापत्तिः, मैवम् ; न तावदाद्यः पक्षो दुष्यति; आत्मनि वस्तुतोऽसदेव कर्तृत्वं भातीत्यस्मिन्नंशे दृष्टान्त उक्तः । न चैवमन्यथाख्यातिः; कर्तृत्वधर्मसहितस्याऽहङ्कारस्याऽऽत्म-

---

प्रतिबन्ध आ जायगा, कारण कि रूपके बिना द्रव्यमात्रके चाक्षुष प्रत्यक्षका सम्भव नहीं है, [अन्यथा] वायुका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जायगा । पञ्चम कल्पके माननेमें भी, यदि पुष्पप्रभा निमित्तकारण है, तो प्रभाके दूर होनेपर भी स्फटिकमें लाल रङ्ग रह जाना चाहिए। प्रभा उपादान (समवायिकारण) है, ऐसा मानना भी युक्त नहीं है; क्योंकि मणिके समान पुष्पमें प्रभा ही नहीं देखी जाती । और [यदि हठ करो, तो] पूर्वोक्त (चतुर्थ कल्पमें आये हुए) दूषणोंका अङ्गीकार करना होगा । इससे निष्कर्ष यह हुआ कि स्फटिकमें पुष्पनिमित्तक मिथ्यालौहित्य भासता है । इसी तरह आत्मामें अहङ्कारनिमित्तक कर्तृत्वादिका आरोप किया जाता है ।

शङ्का करते हैं कि क्या अहङ्कारमें विद्यमान कर्तृत्वधर्मका ही आत्मामें आरोप किया जाता है ? अथवा आत्मामें मिथ्याभूत (अहङ्कारगत कर्तृत्वसे अतिरिक्त कर्तृत्व उत्पन्न होता है ? प्रथम पक्ष माननेमें लोहितदृष्टान्तका वैषम्य होगा और द्वितीय पक्षमें तो अहङ्कार सत्य कर्ता और आत्मा मिथ्या कर्ता है, इस प्रकार दो कर्ता मानने पड़ेंगे ? परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, कारण ? प्रथम कल्पमें कोई दूषण नहीं आता, क्योंकि 'आत्मामें वस्तुतः न रहनेवाला ही कर्तृत्व प्रतीत होता है' इस अंशमें 'लोहितः स्फटिकः' यह दृष्टान्त दिया गया है । और ऐसा माननेसे अन्यथाख्यातिपक्ष होगा, यदि ऐसी शङ्का की जाय, तो यह भी ठीक भी नहीं है,

न्यध्यस्ततया मिथ्यात्वाङ्गीकारात्, अन्यथाख्यातावारोप्यस्य रजतादेः सत्यत्वात्। नाऽपि द्वितीये दोषः; आत्माहङ्कारयोरेकतापत्त्या कर्तृद्वया-प्रसक्तेः। ननु नाऽहङ्कारः कर्तृत्वाद्यनर्थहेतुः; 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादौ हृदयग्रन्थेस्तथात्वश्रवणादिति चेत्, न; अधिष्ठानात्मसहितस्याऽहङ्कारस्यैव संभिन्नचिज्जडोभयरूपस्य ग्रन्थित्वोपचारात्।

अथ मतमहङ्कारादेरध्यस्तत्वे प्रतीतिर्न स्यात्, आत्मा न स्वात्मन्यध्यस्तं प्रत्याययति, अधिष्ठानत्वात्, स्फटिकवदिति, तन्न; जडत्वस्योपाधित्वात्। आत्मा तु चेतनः। एवमप्यध्यस्तगोचरज्ञानव्यापारशून्यत्वात् फलतो जड इति चेद्, न; अव्यवधानेन चित्संसर्गादेव प्रति-

क्योंकि कर्तृत्वधर्मसहित अहङ्कारके आत्मामें अध्यस्त होनेसे उसमें मिथ्यात्व माना गया है। और अन्यथाख्यातिमें तो आरोपविषय रजतादि सत्य माना जाता है। एवं द्वितीय पक्षमें भी दोष नहीं है, क्योंकि आत्मा और अहङ्कार इन दोनोंकी ऐक्यबुद्धि हो जानेसे दो कर्ताओंकी प्रतीति नहीं होती। कर्तृत्व आदि अनर्थोंका कारण अहङ्कार नहीं है, किन्तु 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (हृदयकी गाँठ टूट जाती है) इत्यादि वाक्योंमें श्रुत हृदयकी ग्रन्थि ही अनर्थका कारण है? यदि ऐसी शङ्का हो, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानभूत आत्माके सहित अहङ्कारमें ही—परस्परतादात्म्यापन्न चित् और जड़ उभयरूप होनेके कारण लक्षणा द्वारा—ग्रन्थिशब्दसे व्यवहार किया गया है।

यदि शङ्का हो कि अहङ्कार आदिको अध्यस्त माननेमें उनकी प्रतीति ही नहीं होगी, क्योंकि 'आत्मा अपनेमें अध्यस्तका प्रकाश नहीं करा सकता, अधिष्ठान होनेसे; स्फटिकके समान' ऐसा अनुमान उक्त अर्थका पोषक है, तो यह युक्त नहीं है; कारण कि जड़त्व इसमें उपाधि है; आत्मा तो चेतन है*।

अध्यस्तविषयक ज्ञानरूप व्यापारसे रहित होनेके कारण आत्माका जड़ होना फलित हो जाता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि अव्यवधानसे चित्तका

*साध्यका व्यापक होकर और साधनका अव्यापक होना उपाधिका लक्षण है। स्फटिकमें जड़त्व भी है और अपनेमें अध्यस्त जपाकुसुमादिको प्रकाशित न कर सकना भी है, अतः दृष्टान्तमें साध्यव्यापकत्व हुआ और आत्मामें अधिष्ठानत्व हेतु तो है, परन्तु जडत्व नहीं है; अतः साधनाव्यापकत्व हुआ। उपाधिस्थलमें प्रायः दृष्टान्तसे साध्यव्यापकत्व और पक्षमें साधनाव्यापकत्व समझना चाहिए।

भाससिद्धौ ज्ञानव्यापारस्याऽप्रयोजकत्वात् । तर्ह्यहङ्कारो नेदमंशः स्याद्, ज्ञानक्रियाव्यवधानमन्तरेण भासमानत्वात् , साक्षिस्वरूपवदिति चेद्, नः चित्स्वभावे साक्षिणि चित्कर्मत्वस्येदमंशलक्षणस्याऽभावात् । अहङ्कारे तल्लक्षणमनुभवसिद्धम् ।

प्राभाकरादयः पुनः शास्त्ररहस्यमजानन्तो लोकव्यवहारानुसारेण ज्ञानक्रियाकर्मत्वमेवेदमंशलक्षणं मन्यमानास्तद्रहितोऽहङ्कार आत्मेति वृथा मोमुह्यन्ते ।

यद्यप्यहङ्कारोऽपि वृत्तिज्ञानवेद्यः, अन्यथा पूर्वदिनाहङ्कारे स्मृत्यसंभवात्; तथाऽपि तस्य वृत्तिज्ञानस्याऽहङ्कारांशत्वादत्यन्तभेदाभावाच्छरीरविषयादिवद्वेद्यत्वं न स्पष्टम् । सूक्ष्मदर्शिनां तु स्पष्टमिति चेद् , एवमपि वृत्तिवेद्यत्वलक्षणं वृत्तिनिवर्त्यामविद्यां न व्याप्नोति । ततश्चित्कर्म-

---

सम्बन्ध होनेसे ही प्रतिभासकी सिद्धि होनेपर ज्ञानव्यापार साधक नहीं है। तब तो 'अहङ्कार इदम् अंश अर्थात् जड़ नहीं होगा, ज्ञानक्रियाके व्यवधानके बिना ही प्रकाशमान होनेसे, साक्षिस्वरूपके समान' यह भी शङ्का नहीं हो सकती; क्योंकि चित्स्वभाव साक्षीमें चित्कर्मत्वरूप इदमंशके लक्षणका अभाव है और अहङ्कारमें उसका लक्षण अनुभवसिद्ध है।

शास्त्रके रहस्यके अनभिज्ञ प्रभाकर आदि मीमांसक लोकव्यवहारके अनुसार ज्ञानक्रियाका कर्म होना ही इदमंश (अनात्मा) का लक्षण है, ऐसा मानते हुए ज्ञानक्रियाकर्मत्वरूप इदमंशका उक्त लक्षण अहङ्कारमें न होनेके कारण वह अहङ्कार आत्मा है, इस प्रकारके वृथा भ्रममें पड़े हैं।

यद्यपि अहङ्कार भी वृत्तिज्ञानसे जाना जाता है, अन्यथा पूर्व दिनमें अनुभूत अहङ्कारका स्मरण नहीं हो सकता*, तथापि उस वृत्तिज्ञानके अहङ्कारांश होनेके कारण अत्यन्त भेद न होनेसे शरीर या घट, पट आदि विषयोंकी तरह (अहङ्कारमें) वेद्यत्वकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। सूक्ष्मविचारशील विद्वानोंको तो (अहङ्कारमें भी वेद्यत्वकी) स्पष्ट प्रतीति होती ही है। ऐसा मानो, तो वृत्तिवेद्यत्वरूप इदमंशका लक्षण वृत्तिसे निवृत्त होनेवाली अविद्याको व्याप्त नहीं कर सकता। इसलिए इदमंशका

---

* अहङ्कार यदि स्वप्रकाश होता तो नित्य होनेसे उसका संस्कार न हो सकता और संस्कारके बिना स्मरण नहीं बनता। अहङ्कारको वृत्तिवेद्य माननेमें वृत्तिके अनित्य होनेसे संस्कारका सम्भव है, अतः स्मरण भी उपपन्न होता है।

त्वमेवेदमंशलक्षणम् । कुतस्तर्हि लक्षणसाम्ये शरीरविषयादावेव लोकस्येदं-व्यवहारो नाऽहङ्कारे; तदनभिज्ञत्वादिति ब्रूमः । यथा वल्मीकपाषाण-वृक्षादिषु मृन्मयत्वसाम्येऽपि विवेकहीना वल्मीकमेव तथा व्यवहरन्ति, न वृक्षादि तद्वत् । अभिज्ञास्तु यथालक्षणं चिदंशमनिदन्तया जडांशं चेदन्तया व्यवहरन्ति । तस्मात् चित्प्रतिबिम्बगर्भितोऽहङ्कार इदमनिदमा-त्मकत्वेन परीक्षकैर्निरूप्यमाणोऽपि पामरैरेकीकृत्य अहंप्रत्ययरूपेणाऽनुभूत इति सिद्धम् ।

ननु जीवस्याऽहङ्कारस्थप्रतिबिम्बत्वे दर्पणस्थमुखप्रतिबिम्बवद्बिम्बा-द्भेदः स्यात् । तत्र हि ग्रीवास्थदर्पणस्थयोरन्योन्याभिमुखत्वेन भेदो-ऽनुभूयते । मैवम् , मदीयमिदं मुखमित्यैक्यप्रत्यभिज्ञया भेदानुभवस्य

चित्कर्मत्व (चिद्भास्यत्वरूप) ही लक्षण करना उचित है, लक्षणकी समानता आनेपर शरीर तथा घट, पट आदि विषयोंमें ही इदम् (अनात्मा) व्यवहार होता है, अहङ्कारमें ऐसा क्यों नहीं होता है ? उसके रहस्यको न जाननेसे, यही हम उत्तर देते हैं । जैसे यद्यपि वल्मीक (बाँबी) पत्थर, पेड़ इत्यादि समानरूपसे मिट्टीके ही विकार हैं, तथापि विवेकहीन पुरुष वल्मीकमें ही वैसा (मिट्टीका ढेर) व्यवहार करते हैं, वृक्षादिमें नहीं करते, वैसे ही [अहङ्कारमें इदंव्यवहार नहीं करते और अन्यत्र करते हैं] । और जानकार विद्वान् तो लक्षणके अनुसार चिदंशमें आत्मा और जडांशमें इदम् (अनात्मा) व्यवहार करते हैं । इससे चित्–चेतन आत्माके प्रतिबिम्बसे युक्त अहङ्कार, इदमनिदात्मत्वरूपसे (आत्मा और अनात्मा—इन दोनोंके सम्पुटरूपसे) विवेकशील पुरुषों द्वारा निरूपित होनेपर भी पामर–विवेकहीन—पुरुष उसको एक समझकर अहम् (मैं) इस प्रतीतिरूपसे उसका अनुभव करते हैं, ऐसा सिद्धान्त हुआ ।

शङ्का—यदि जीव अहङ्कारस्थ प्रतिबिम्बरूप माना जाय, तो दर्पणगत मुखप्रतिबिम्बके तुल्य बिम्बसे भेद होगा क्योंकि वहांपर ग्रीवाके ऊँपर रहनेवाला मुख और दर्पणगत [प्रतिबिम्बस्वरूप] मुख—इन दोनोंमें एक दूसरेके सम्मुख होनेसे भेदका अनुभव किया जाता है ।

उत्तर—उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि 'यह मेरा मुख है' इस प्रकार एकताकी प्रत्यभिज्ञासे भेदप्रतीतिका बाध होता है । प्रत्यभिज्ञाका

बाधात् । न च प्रत्यभिज्ञैवेतरेण बाध्येति वाच्यम्, सति भेदे प्रतिबिम्बासम्भवात् । किं प्रतिबिम्बो नाम मुखलाञ्छितमुद्रा उत दर्पणावयवा एव बिम्बसंनिधिवशात् तथा परिणमन्ते । नाऽऽद्यः, दर्पणस्थमुखस्येतरस्मादल्पत्वात् । यत्र तु प्रौढदर्पणे प्रौढं मुखमुपलभ्यते, तत्रापि तस्य न मुद्रात्वम्, दर्पणमुखयोः संयोगाभावात् । न द्वितीयः; निमित्तकारणस्य बिम्बस्यापायेऽपि तस्याऽवस्थानप्रसङ्गात् । नहि तथाऽवतिष्ठते । तेनैव पुरुषेण दर्पणे तिर्यङ्निरीक्षिते पुरुषान्तरेण सम्यगवलोकिते वा तन्मुखानुपलम्भात् । न चैवं मन्तव्यं क्वचिन्निमित्तापाये कार्यमप्यपैति, हस्तसंयोगजन्यस्य कटप्रसारणस्य हस्तसंयोगापायेऽपायदर्शनादिति । न

ही भेदप्रतीतिसे बाध है, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि भेद माननेमें प्रतिबिम्बका सम्भव नहीं है, क्योंकि क्या प्रतिबिम्ब मुखकी छापवाली मुहर है? या दर्पणके अवयव ही बिम्बके सामने आ जानेपर प्रतिबिम्बरूपसे परिणत हो जाते हैं? [जिसके कारण मुखका आकार दीखता है] इनमें से पहला पक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि दर्पणमें विद्यमान मुख बिम्बभूत मुखसे छोटा है। [मुहर ठीक उसी परिमाणकी होती है, जितने परिमाणवालेसे वह छापी जाय, यदि मुखकी छाप प्रतिबिम्ब होती, तो मुखके समान परिमाणवाली ही होती, न्यून या अधिक नहीं होती] जिस बड़े दर्पणमें पूर्ण परिमाणवाला मुख दिखाई देता है, उस स्थलमें भी वह मुहर या छाप नहीं मानी जा सकती, क्योंकि दर्पण और मुखका संयोग ही नहीं है, [छापमें संयोग अपेक्षित है, सन्निधान-मात्रसे मुहर नहीं उतर सकती] दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि बिम्बभूत निमित्तकारणके हट जानेपर भी प्रतिबिम्बकी स्थितिका प्रसङ्ग होगा। परन्तु उस दशामें अर्थात् बिम्बके सामने न रहनेपर प्रतिबिम्ब तो वहां रहता ही नहीं, क्योंकि वही पुरुष, जिसके कि मुखका प्रतिबिम्ब उस दर्पणमें पड़ा था, सामनेसे मुंह हटाकर यदि फिर तिरछे देखे अथवा दूसरा पुरुष खूब सावधानीसे भी देखे, तो भी उस दर्पणमें उसका मुख नहीं दिखाई देता है। [इससे सिद्ध हुआ कि वहां प्रतिबिम्बकी स्थिति नहीं रहती है।] 'कहीं-कहींपर निमित्त कारणका विनाश होनेपर कार्य भी नष्ट हो जाता है, जैसे हाथके बलसे उत्पन्न चटाईका फैलाव हाथके हटा देनेसे ही नष्ट हो जाता है [और फिर संकुचित

तत्र निमित्तापायात् कार्यापायः किन्तु चिरकालसंवेष्टनाहितेन संस्कारेण संवेष्टनलक्षणविरुद्धकार्योत्पादात्। अन्यथा चिरकालप्रसारणेन संवेष्टनसंस्कारे विनाशितेऽपि हस्तापाये प्रसारणमपेयाद्, न चैवमपैति। इह तु चिरकालबिम्बसंनिधावपि अन्ते बिम्बापाये प्रतिबिम्बोऽपि गच्छत्येवेति न बिम्बः परिणामस्य निमित्तम्। अथ मन्यसे चिरकालावस्थितोऽपि कमलविकासः सवितृकिरणस्य निमित्तस्याऽपायेऽपगच्छतीति। तन्न, तत्रापि प्राथमिकमुकुलत्वे हेतुभिः पार्थिवैराप्यैश्च कमलावयवैः पुनरपि रात्रौ मुकुलत्वे विरुद्धकार्ये जनिते विकासापायात्। अन्यथा तादृगवयवरहिते म्लाने कमलेऽपि

हो जाता है] ऐसा देखा गया है' इस प्रकारकी शङ्का (प्रकृतमें) नहीं कर सकते, क्योंकि वहांपर निमित्तकारणके विनाशसे कार्यका विनाश नहीं है, किन्तु चिरकालके संवेष्टनसे प्राप्त संस्कार द्वारा पुनः फैलावके विरुद्ध संवेष्टनरूप कार्यकी उत्पत्ति होती है, जिससे फैलावका नाश होता है, [निमित्त कारणके विनाशसे नहीं होता है] नहीं तो बहुत दिनों तक फैलाए रखनेसे संवेष्टन-संस्कारके नष्ट हो जानेपर भी हाथके हटा देनेसे फैलाव भी हट जाता परन्तु नहीं हटता। प्रकृतमें तो बहुत देर या दिनों या वर्षों तक बिम्बके सामने रहते हुए भी अन्तमें बिम्बके हट जानेसे प्रतिबिम्ब भी चला ही जाता है, इसलिए बिम्ब [तादृश-प्रतिबिम्ब-स्वरूप] परिणामका निमित्त नहीं है। यदि मानो कि [सूर्यकी किरणोंके द्वारा उत्पन्न] बहुत काल * (दिन भर) तक स्थित कमलपुष्पका विकास सूर्यकी किरणरूप निमित्त कारणके हट जानेसे हट जाता है (अर्थात् पुष्पके विकासका विनाश हो जाता है), तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वहांपर (कमलपुष्पके विकासके नष्ट होनेपर) भी प्राथमिक मुकुलतामें अर्थात् कमलके बन्द होनेमें हेतुभूत पार्थिव तथा जलीय परमाणुओंसे बने हुए कमलपुष्पके अवयवोंसे, फिर भी रात्रिमें मुकुलत्वरूप विकासके विरुद्ध कार्यके उत्पन्न होनेसे ही, विकासका नाश होता है। (निमित्त

---

* कमल हेमन्त या शिशिरमें नहीं विकसित होते, इनका विकाश प्रायः वसन्तसे प्रारम्भ होता है। उन दिनोंमें रात्रि छोटी और दिन बड़े होते हैं। अतः विकास अधिक कालस्थायी होनेसे उसका संस्कार ही दृढ़ कालस्थायी होनेसे अधिक हो सकता है।

रात्रौ विकासोऽपगच्छेत् । आदर्शे तु मुखाकारपरिणते पुनः केन हेतुना समतलाकारपरिणामः स्यात् । तदवयवानां कारुकर्मव्यतिरेकेणाऽकिञ्चित्कर-त्वात् । अत एव बिम्बसंनिधिमात्रेण नादर्शावयवा मुखाकारेण परिणमेरन्; अन्यथा दर्पणद्रव्ये प्रतिमामुखे कर्त्तव्ये सति लौकिका बिम्बमेव संनिधापये-युर्न तु कारुमपेक्षेरन् । दर्पणद्रव्यस्यान्याकारपरिणामे कारुकर्मापेक्षायामपि प्रतिबिम्बपरिणामे पुनःस्वरूपपरिणामे वा न तदपेक्षेति चेद्, एवमपि न मुखप्रतिबिम्बाकारपरिणामो युक्तिसहः । चक्षुर्नासिकादिनिम्नोन्नतभावस्य स्पर्शेनाऽनुपलम्भात् । समतलमेव हि पाणिना स्पृश्यते । समतलेन व्यवहितं

कारण सूर्यके किरणोंके हट जानेसे विकासरूप कार्यका नाश नहीं होता) अन्यथा उन (पार्थिव और जलीय) अवयवोंसे रहित मुरझाये हुए कमलके पुष्पसे भी रात्रिमें विकासको चला जाना चाहिए । [दार्ष्टान्तिकमें विषमता दिख-लाते हैं—] दर्पणके मुखके आकारमें परिणत हो जानेपर तो फिर किस हेतुसे समतलाकार (बिना प्रतिबिम्बवाला अपना पुराना आकार) प्राप्त होगा? क्योंकि दर्पणके अवयव कारीगरके व्यापारके बिना अकिञ्चित्कर हैं [अर्थात् दर्पणके अवयवोंकी चित्रकारकी दस्तकारीके बिना अपने आकार बदलने या पुनः प्राप्त करनेमें सामर्थ्य ही नहीं है] । इसीसे बिम्बके सामने आनेसे ही दर्पणके अवयवोंका स्वयं मुखके आकारमें परिणाम नहीं हो सकता । यदि ऐसा हो सकता, तो लोक दर्पणमें (शीशेमें) मुखकी तसवीर खोदने या बनानेके लिए बिम्बको ही सामने रख देते, वह अपने-आप बन जाती, फिर उसके लिए कारीगरकी जरूरत नहीं समझते । यद्यपि दर्पणके दूसरे आकारमें बदलनेके लिए कारीगरकी आवश्यकता है, तथापि प्रतिबिम्बरूप परिणामके लिए (जो कि शीशेके आकारको बदलता नहीं है) अथवा पुनः अपने प्रतिबिम्बरहित स्वरूपमें आ जानेके लिए शिल्पीकी आवश्यकता नहीं है? ऐसा यदि कहो, तो भी इस परिस्थितिमें मुखके प्रतिबिम्बके आकारके सदृश दर्पणका परिणाम है, यह मानना युक्तियोंसे विरुद्ध है, क्योंकि आँख, नाक आदिका नीचा-ऊँचापन छूनेसे मालूम नहीं पड़ता । हाथसे समतलका ही स्पर्श होता है । [यदि आकारका

* अग्रिम अग्रिम मुकुल पूर्व-पूर्व मुकुलजनित संस्कारसे भी उपपन्न हो सकते हैं, परन्तु प्रथम मुकुलका कारण वही मुकुल नहीं हो सकता, अतः उसका कारण जलीय तथा पार्थिव अवयव ही होंगे । इस अभिप्रायसे प्रथम पद दिया गया है ।

मुखमिति चेत् , तर्हि चाक्षुषमपि न स्यात् । तत एतत्सिद्धम्—विमत आदर्शो मुखव्यक्त्यन्तररहितः, तज्जन्मकारणशून्यत्वाद् , यथा विषाणजन्मकारणशून्यं विषाणरहितं शशमस्तकमिति ।

ननु तर्हि शुक्तिरजतवन्मिथ्यात्वापत्तेर्न बिम्बैकत्वसिद्धिः, प्रत्यभिज्ञा तु व्यभिचारिणी, मिथ्यारजतेऽपि मदीयमिदं रजतमिति तद्दर्शनादिति चेत् , विषमो दृष्टान्तः । नेदं रजतमिति हि तत्र रजतस्वरूपबाधया रजताभिज्ञाया भ्रमत्वे तत्प्रत्यभिज्ञाया अपि भ्रमत्वमुचितम् । इह तु न तथा नेदं मुखमिति स्वरूपबाधः, किन्तु नाऽत्र मुखमिति देशसंबन्धमात्रबाधे

तादृश परिणाम हो गया होता, तो छूनेसे ऊंचा-नीचा जरूर मालूम पड़ता] समतलसे मुख ढका हुआ है [इससे छूनेमें ऊँचा-नीचा मालूम नहीं पड़ता] यदि ऐसा कहा जाय, तो उसका चक्षुसे प्रत्यक्ष भी नहीं होगा, इसलिए यह सिद्ध हो गया कि विवादग्रस्त आदर्श दूसरी (बिम्बसे अतिरिक्त) मुखव्यक्तिसे शून्य है, क्योंकि उसमें अर्थात् दर्पणमें उसका—दूसरे मुखका—जन्म देनेवाला कोई कारण ही नहीं है, जैसे विषाणोंको उपजानेवाले कारणोंसे शून्य खरगोशका विषाणसे रहित सिर ।

['प्रतिबिम्ब मिथ्या है' इस प्रतिबिम्बमिथ्यात्ववादका खण्डन करते हैं—] तब, तो शुक्तिरजतके समान प्रतिबिम्बमें भी मिथ्यात्वकी आपत्ति होनेसे एक बिम्बकी सिद्धि नहीं होगी यह प्रतिबिम्ब मेरा मुख है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा तो व्यभिचरित है, क्योंकि यह शुक्तिरजत मेरा है, इस प्रकार मिथ्यारजतस्थलोंमें भी वह देखी गई है, अतः प्रत्यभिज्ञासे मिथ्यात्वका अभाव या बिम्बमें एकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती, इस प्रकार यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त विषम है । [दृष्टान्तकी विषमता दिखाते हैं—] वहाँपर अर्थात् भ्रमात्मक शुक्तिरजतस्थलमें 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार रजत स्वरूपका बाध होनेसे रजताभिज्ञाका—रजतके प्रथम ज्ञानका—भ्रमत्व सिद्ध होनेपर उसकी प्रत्यभिज्ञाको—यह रजत मेरा है, इस द्वितीय ज्ञानको—भ्रम मानना उचित है । [क्योंकि उत्तरकालिक बाधसे पूर्वकालिक ज्ञान भ्रम माना जाता है और मूलज्ञानके भ्रमात्मक होनेसे तन्मूलक प्रत्यभिज्ञा भी सुतरां भ्रम होगी ।] मुखप्रतिबिम्ब स्थलमें, तो 'यह रजत नहीं है' इस बाधके सदृश 'यह मुख नहीं है' ऐसा स्वरूपबाध नहीं होता, किन्तु 'यहां दर्पणके अन्दर मुख नहीं है' इस प्रकार

समुत्पन्ना मदीयमेव मुखमिति प्रत्यभिज्ञा कथं भ्रमः स्यात्। न च स्वमुखावयवानामचाक्षुषत्वात् कथं प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानमिति वाच्यम्, नासादिकतिपयावयवदर्शनादपि घटादिवदवयविनश्चाक्षुषत्वोपपत्तेः। यः पुनर्दर्पणापगमे प्रतिबिम्बापगमो नाऽसौ स्वरूपबाधः, दर्पणेऽपि तत्प्रसङ्गात्। ननु 'तत्त्वमसि' वाक्येन जीवरूपः प्रतिबिम्बो बाध्यते, यः स्थाणुरसौ पुरुष इतिवद् बाधायां सामानाधिकरण्यात्, संसार्यविनाशे च मोक्षानुपपत्तेः।

देशके सम्बन्धमात्रका निषेध होता है, इससे [प्रतिबिम्ब देखनेसे] उत्पन्न हुई 'यह मेरा ही मुख है' यह प्रत्यभिज्ञा भ्रम कैसे हो सकती है? यदि शङ्का हो कि अपने मुखावयव अपनी आँखोंसे नहीं देखे जाते हैं, अतः अपनेको उक्त प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा ('मेरा ही यह मुख है' ऐसी चाक्षुष प्रत्यभिज्ञा) कैसे हो सकती है? यह शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि नासाके अग्रभाग आदि कुछ अवयवोंके दीख पड़नेपर भी घटादिके समान अवयवीका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सकता है। [तात्पर्य यह है कि चक्षुके साथ विषयका सन्निकर्ष होनेसे ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि वह सन्निकर्ष गृह, वृक्ष, घट, पट आदि सब स्थलोंमें एक ओरसे (जो अवयव सामने होगा, उससे) ही होता है, दूसरी ओरका सामनेके अवयवसे आड़ होने या उसके भीतरी अवयवोंके बाह्य अवयवोंसे आच्छन्न होनेसे किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है, तथापि गृह, वृक्ष, घट आदि अवयवीका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, 'मैं घटादिके सामनेके अवयवोंको देख रहा हूँ' इस प्रकार अवयवोंका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसे ही प्रकृतमें भी मुखके नासाग्रादि कतिपय अवयवोंके चक्षुःसन्निकर्षसे उत्पन्न प्रत्यक्ष भी अवयवी मुखका ही प्रत्यक्ष कहा जायगा।] और जो दर्पणके हटा देनेपर प्रतिबिम्बका चला जाना दीख पड़ता है, वह भी स्वरूपबाध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दर्पणमें भी उसका प्रसङ्ग हो जायगा। [जैसे दर्पणके हटा देनेसे प्रतिबिम्ब नहीं दीखता, परन्तु प्रतिबिम्बके स्वरूपका बाध मानते ही हैं, वैसे ही दर्पणका न दीखना भी तो समान ही है, इससे दर्पणका भी स्वरूपबाध क्यों न माना जाय? पुनः प्रतिबिम्ब स्थलमें बाधकी आशङ्का होती है—] 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि वाक्योंसे जीवरूप प्रतिबिम्बका स्वरूपबाध है अर्थात् 'जो स्थाणु है वह पुरुष है' इस

मैवम्, सोऽयं देवदत्त इतिवदैक्यपरत्वेनाऽपि सामानाधिकरण्यसम्भवात्। विरुद्धांशबाधमात्रेण मोक्षोपपत्तेः। कृत्स्नस्य जीवस्य बाधे मोक्षस्याऽपुरुषार्थत्वात्।

यस्तु मन्यते प्रतिबिम्ब एव नास्ति दर्पणप्रतिस्फालिता नेत्ररश्मयः परावृत्त्य बिम्बमेव दर्पणादविविक्तं गृह्णन्तीति। स्पष्टं प्रत्यङ्मु-

वाक्यके समान, यहांपर भी जीवका बाध होनेपर सामानाधिकरण्य होता है; क्योंकि संसारी जीवका विनाश न माननेपर मोक्षकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी * । ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'सोऽयं देवदत्तः' (वह यह देवदत्त है) इस प्रतीतिके समान अभेदके तात्पर्यसे भी सामानाधिकरण्यका सम्भव हो सकता है। विरुद्ध अंशमात्रका बाध होनेसे मोक्षकी संगति हो सकती है। सम्पूर्ण अंशसे जीवका बाध होनेसे मोक्षकी पुरुषार्थता सिद्ध नहीं होगी † ।

जो वादी कहते हैं कि प्रतिबिम्ब नामका कोई पदार्थ ही नहीं है, किन्तु दर्पणसे टकराई हुई नेत्रकी किरणें लौटकर फिर बिम्बको ही दर्पणसे अविविक्त बिम्ब (मुख) के आकारमें ग्रहण करती हैं,

* जैसे 'स्थाणुरयं पुरुषः' इस वाक्यका तात्पर्य होता है कि जिसको आप स्थाणु समझे हुए हैं, वह स्थाणु नहीं है, बल्कि मनुष्य है, अतः यह कोई नियम नहीं है कि दो पदोंका एक विभक्त्यन्त होना 'नीलो घटः' की भाँति सर्वत्र अभेदका ही बोधन करे। जैसे उपर्युक्त वाक्यमें बाधमें भी एकविभक्त्यन्त होनेसे सामानाधिकरण्य देखा गया है, वैसे ही तत् और त्वम् इस वाक्यका भी 'जिसको तू तू (जीव) समझता है वह तू नहीं है किन्तु वह वह (ब्रह्म) है' इस प्रकार 'जीव' के बाधमें ही तात्पर्य है—इससे सिद्ध है कि जीवरूप प्रतिबिम्ब बाधित है; यदि प्रतिबिम्बस्वरूप संसारी जीव बाधित न हो और सत्य माना जाय, तो मुक्ति कैसे होगी ? यह तात्पर्य हुआ।

† जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञामें तत्पदका अर्थ परोक्ष देवदत्त है और अयं पदका अर्थ प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला देवदत्त है, इसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष अंश विरुद्ध हैं, अतः उनका बाध हो जाता है और शुद्ध देवदत्त भासता है, वैसे ही तत् और त्वम् पदमें प्रत्यक्त्व और पराक्त्व विरुद्ध जो अंश हैं उनका जब बाध होता है तब शुद्ध चैतन्यमें अभेद भासता है, इससे वह जो अपनेको पराक् समझता था उसके उस पराक्त्व अंशका बाध होनेपर उसने अपने असली शुद्ध चैतन्य स्वरूपको पाया, इससे उसका मोक्ष पुरुषार्थ बनता है। यदि उसका सर्वात्मना विनाश हो जाता, तो ऐसे पुरुषार्थसे वह कोसों भागता अर्थात् उसको पुरुषार्थ ही नहीं समझता, अतः 'तत्त्वमसि' वाक्यमें अभेद ही पर्यवसित होता है। 'स्थाणुः पुरुषः' इस स्थलमें तो स्थाणु और पुरुषका अभेद होना सम्भव ही नहीं है, अतः बाध होनेपर सामानाधिकरण्य होता है, अभेदमें नहीं। प्रकृतमें तो काल्पनिक भेदके त्यागनेसे शुद्ध चैतन्यमें अभेदका सम्भव है।

खत्वाद्यनुभवेनैवाऽसौ निराकरणीयः। कथं तर्हि मूर्त्तद्रव्यस्य मुखस्यैकस्य विभिन्नदेशद्वये युगपत् कात्स्र्न्येन वृत्तिः। दर्पणदेशवृत्तेर्मायाकृतत्वादिति ब्रूमः। नहि मायायामसम्भावनीयं नाम, स्वशिरश्छेदादिकमपि स्वप्ने माया दर्शयति।

नन्वेवमेव जलमध्येऽधोमुखस्य वृक्षप्रतिबिम्बस्य तीरस्थवृक्षेणैक्ये सति तीरस्थो वृक्षोऽधिष्ठानम्, तत्र च मायया जलगतत्वमधोमुखत्वं चाऽध्यस्तमिति वक्तव्यम्। न चाऽत्राऽध्यासहेतुरस्ति, अधिष्ठानस्य साकल्येन प्रतीतेः; तत्कथमसावध्यासः? उच्यते—किमत्र वृक्षावरणाभावादध्यासा-

---

उनका तो प्रतिबिम्बमें प्रत्यङ्मुखत्वादिके अनुभवसे ही निराकरण हो जाता है। [यदि दर्पण और मुखका भेदग्रह नहीं होता, तो बिम्बके विपरीत दिशाकी ओर मुख किये हुए का प्रतिबिम्ब न दिखाई देता। जिस दिशाको बिम्ब है, उसी ओर प्रतिबिम्बका भी रुख दिखाई देना चाहिए, परन्तु इससे विपरीत दिखाई पड़ता है, अतः प्रतिबिम्ब नहीं है, यह नहीं कह सकते।] अब शङ्का करते हैं—एक ही मुखरूप मूर्त द्रव्यका भिन्न-भिन्न दो देशोंमें एक साथ और सर्वात्मना रहना कैसे हो सकता है? उत्तर देते हैं कि दर्पणदेशमें बिम्बका रहना मायासे बन सकता है। मायाके विषयमें कुछ भी असम्भव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि माया तो स्वप्नमें अपने सिरका छेदन भी दिखा देती है, जिसका जागरमें प्रमाण द्वारा कथमपि सम्भव नहीं है।

[उक्त विवेचनसे प्रतिबिम्ब बिम्बसे भिन्न और सत्य सिद्ध हो जाता है, इसको अन्योन्य तादात्म्यरूप अध्यास नहीं कह सकते और अध्यासका कारण अधिष्ठानका अज्ञान भी नहीं है, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] आपके पूर्वोक्त कथनानुसार माननेपर भी तो जलमें नीचे मुँह किये हुए वृक्षके प्रतिबिम्बका तीरमें विद्यमान वृक्षके साथ अन्योन्य तादात्म्य होनेपर भी तीरमें खड़ा हुआ पेड़ अधिष्ठान है और उसमें जलगतत्व—जलके बीच दिखाई देना—और अधोमुखत्व—नीचेकी ओर टहनियोंको लटकाये हुए मालूम पड़ना—ये दोनों अंश मायासे अध्यस्त—आरोपित—हैं, ऐसा ही कहना होगा। परन्तु यहांपर तो अध्यासका कारण नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानभूत तीरस्थ वृक्षके सभी पुरोवर्तित्वादि सामान्य और वृक्षत्व तथा तीरगतत्व आदि अंशोंकी जब प्रत्यक्ष प्रतीति होती है; तब कैसे अध्यास हो सकता है? इसपर उत्तर कहा जाता है कि क्या वृक्षमें मायाकृत

भावः किं वा दोषाभावात् उतोपादानाभावात् आहोस्विदध्यासविरोधिनोऽधिष्ठानतत्त्वज्ञानस्य सद्भावात् ? नाऽऽद्यः, चैतन्यावरणस्यैवाऽध्यासोपादानतया जडे पृथगावरणानुपयोगात्। एतेन तृतीयोऽपि निरस्तः। न द्वितीयः, सोपाधिकभ्रमेषूपाधेरेव दोषत्वात्। न चतुर्थः, निरुपाधिकभ्रमस्यैवाऽधिष्ठानतत्त्वज्ञानविरोधित्वात्।

तर्हि सोपाधिकभ्रमस्य कर्तृत्वादेर्नात्मतत्त्वज्ञानान्निवृत्तिः, किन्त्वहङ्कारो-

---

आवरण नहीं है, इसलिए अध्यासका अभाव कहते हो ? या दोषके न होनेसे ? अथवा उपादानके अभावसे ? किंवा अध्यासके विरोधी अधिष्ठानके तत्त्वज्ञानके रहनेसे ? इनमें पहला पक्ष तो उचित नहीं है, क्योंकि चैतन्यका आवरण ही अध्यासका उपादान माना गया है, इससे अतिरिक्त जड़ पदार्थमें आवरण मानना, किसी उपयोगका नहीं है। इससे तृतीय पक्षका भी खण्डन हो ही गया समझना चाहिए [जब जड़में आवरण माना ही नहीं जाता तब 'आवरणके न होनेसे' कहना व्यर्थ ही है, यह भाव हुआ]। द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि सोपाधिक भ्रमस्थलमें उपाधि ही दोष है। चतुर्थ विकल्प भी उचित नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक भ्रमस्थलमें ही अधिष्ठानतत्त्वज्ञान भ्रमका विरोधी माना गया है *।

शङ्का—तब तो सोपाधिक कर्तृत्वादिरूप भ्रम आत्मज्ञानसे निवृत्त नहीं होगा, किन्तु अहङ्काररूप उपाधिका विनाश होनेसे ही निवृत्त होगा।

---

* अधिष्ठानके तत्त्वज्ञानसे निरुपाधिक भ्रम शुक्तिरजत अथवा रज्जुसर्प आदि अध्यास नहीं होने पाते या ज्ञानसे पूर्व हुए भी तो अधिष्ठानका तत्त्वज्ञान होनेपर निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु सोपाधिक भ्रममें यह नियम नहीं है, उसमें तो तत्त्वज्ञान और अध्यास दोनों एक कालमें रह सकते हैं। जैसे पित्तरोगसे दूषितरसनेद्रिय पुरुषको मिश्रीका नीम जैसे कडुवा लगना या विलक्षण प्रकारसे अङ्गुलीके द्वारा निपीडित नेत्रसे दो चन्द्रमा देखना उक्त मिश्रीके तिक्तरसास्वाद तथा द्विचन्द्रदर्शनसे 'मिश्री मधुर होती है' या 'चन्द्रमा एक है' इस ज्ञानमें कोई बाधा नहीं आती और न मिश्रीके माधुर्यज्ञान तथा एक चन्द्रज्ञानसे अध्यासमें ही कोई बाधा आती है। उसकी निवृत्ति तो केवल उपाधिकी निवृत्तिसे ही होती है, इससे विषयमें भी फलतः आवरण होना अध्यासका कारण माना गया है। प्रकृतमें तो वृक्षादि विषय फलतः भी आवृत नहीं हैं फिर कैसे अध्यास होगा' यह शङ्का भी दूर हो गई, क्योंकि फलतः आवरण भी विषयज्ञानका प्रतिबन्धक है, जो कि निरुपाधिक भ्रममें ही उपयोगी है। यहांपर तो सोपाधिक भ्रम है, अतः फलतः आवरणकी भी आवश्यकता नहीं है। यह भ्रमके अधिष्ठानभूत वृक्षादिके ज्ञानसे निवृत्त होनेवाला नहीं है, यह तो तभी निवृत्त होगा जब जलरूप उपाधिका शोषण होगा।

पाध्यपगमादिति चेद्, बाढम्; पारमार्थिकदर्पणाद्युपाधेस्तत्कृतभ्रमस्य च ज्ञानादनिवृत्तावप्यज्ञानजन्योपाधेरहङ्कारस्य निरुपाधिकभ्रमरूपस्याऽऽत्मतत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ कर्तृत्वादेर्ज्ञानान्निवृत्तिरर्थात् सिध्यति ।

ननु कथं ते तत्त्वज्ञानम् । जीवो नाऽऽत्मतादात्म्यं जानाति, प्रतिबिम्बत्वाद्, दर्पणगतप्रतिबिम्बवदिति चेद्, न; अचेतनत्वस्योपाधित्वात् ।

यस्तु लौकायतः शरीरस्यैव चैतन्यं मन्यते तं प्रति दर्पणगतजाड्येन प्रतिबद्धत्वात् प्रतिबिम्बस्याऽचेतनत्वं सुसम्पादम् । चेतनत्वे तु बिम्बचेष्टया

उत्तर—ठीक है, पारमार्थिक दर्पण आदि उपाधि अथवा उस उपाधिसे जनित भ्रमकी निवृत्ति यद्यपि तत्त्वज्ञानसे नहीं होती, तो भी अज्ञानजनित अहङ्काररूप उपाधि जो कि निरुपाधिक भ्रम है, उसकी जब आत्मतत्त्वज्ञानसे निवृत्ति हो जाती है, तब इस अहङ्काररूप उपाधिके निवृत्त हो जानेपर ज्ञानसे कर्तृत्वादि निवृत्त हो जाते हैं, यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है।

[यदि जीव प्रतिबिम्ब है, तो जैसे दर्पणगत मुखप्रतिबिम्ब ज्ञानशून्य होता है, वैसे ही जीव भी ज्ञानशून्य होगा, इस अभिप्रायसे शङ्का करते हैं—] तुमको तत्त्वज्ञान होगा कैसे? क्योंकि जीव आत्माके साथ अपना अभेद नहीं जान सकता, कारण कि वह प्रतिबिम्ब है, दर्पणमें प्राप्त प्रतिबिम्बके समान। [जैसे दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब बिम्बके साथ अभेदका ग्रहण नहीं कर सकता, वैसे ही जीव भी प्रतिबिम्बवादमें ब्रह्मके साथ अभेद ग्रहण नहीं करेगा।] ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त अनुमानमें अचेतनत्व उपाधि है। [अर्थात् दर्पणादिगत मुखादि प्रतिबिम्ब अचेतन है, उसका बिम्बभूत ग्रीवास्थ मुखादि अचेतन नहीं है और बिम्बभूत आत्मा तो चेतन है, अतः अहंकारगत प्रतिबिम्बभूत जीव चेतन है।]

जो लौकायतिक (नास्तिक) शरीरको ही चेतन मानता है उसके मतमें शरीर या ग्रीवास्थ मुखके चेतन होनेसे उक्त अचेतनत्व उपाधि नहीं बनेगी, ऐसी शङ्का नही करनी चाहिए, क्योंकि उसके मतमें दर्पणकी जड़तासे चैतन्यके प्रतिबद्ध होनेसे प्रतिबिम्बका अचेतन होना सरलतासे प्रतिपादित हो सकता है। [जैसे दर्पणकी मलिनतासे बिम्बगत स्वच्छता रुक जाती है—प्रतिबिम्बित नहीं होती, वैसे ही उपाधिके जड़ांशसे बिम्बका चैतन्यांश भी प्रतिबिम्बित होनेसे रुक जाता है, यह भाव है।] प्रतिबिम्बको चेतन माननेपर तो बिम्बकी चेष्टाके बिना भी उसमें

विनाऽपि स्वयं चेष्टेत। जीवस्य तु प्रतिबिम्बत्वेऽपि नोपाधिजाड्येन प्रतिबन्ध इत्यनुभवात् सिद्धम्। यद्यपि लोके बिम्बभूतस्यैव देवदत्तस्य भ्रमनिवर्तकतत्त्वज्ञानाश्रयत्वं दृष्टं तथापि न तत्र बिम्बत्वं प्रयोजकम्, किन्तु भ्रमाश्रयत्वम्। जीवश्च भ्रमाश्रयः। अविद्यायाश्चिन्मात्राश्रयत्वेऽपि जीवपक्षपातित्वेन भ्रमोत्पादनात्।

ननु ब्रह्म स्वस्य जीवैक्यं न जानाति चेत्, असर्वज्ञं स्याद्, जानाति

स्वयं चेष्टा होनी चाहिए, परन्तु बिम्बमें चेष्टा हुए बिना प्रतिबिम्बमें चेष्टा नहीं पाई जाती। जीवका चैतन्य तो प्रतिबिम्ब होनेपर भी उपाधिगत जड़तासे नहीं रुकता यह प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध है। [क्योंकि सभी प्रतिबिम्बस्वरूप जीवको चेतन मानते हैं।] यद्यपि लोकमें बिम्बभूत देवदत्त ही भ्रमनिवर्तक तत्त्वज्ञानका आश्रय देखा गया है, दर्पणाद्युपाधिगत प्रतिबिम्ब नहीं, तथापि उसमें बिम्ब होना प्रयोजक नहीं है [देवदत्त बिम्बभूत है, एतावता उसको तत्त्वज्ञान होता है, ऐसा कार्यकारणभाव नहीं है, जिससे 'बिम्बभूत आत्माको ही भ्रमका विरोधी तत्त्वज्ञान होगा' ऐसी शङ्का करनेका अवसर आवे], किन्तु भ्रमका आश्रय होना इसमें कारण है। [लोकमें यही नियम है कि जिसको भ्रमज्ञान हुआ सम्यक्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) से उसके ही भ्रमकी निवृत्ति होती है, अर्थात् भ्रमाश्रयगत तत्त्वज्ञानको तद्‌गत भ्रमनिवर्तकत्व है, इससे भ्रमाश्रयत्वके साथ कार्यकारणभाव है, बिम्बत्वके साथ नहीं।] और जीव भ्रमका आश्रय है। यद्यपि अविद्या चित्‌का ही * आश्रयण करती है, तथापि जीवमें ही उसका पक्षपात † होनेसे उसीमें भ्रमका उत्पादन करती है।

यदि शङ्का हो कि ब्रह्म जीवके साथ यदि अपना ऐक्य—अभेद—नहीं जानता

---

* आत्मा ही अविद्याका आश्रय है, इसका विशेषरूपसे विवेचन हो चुका है। संक्षेपशारीरककार भी लिखते हैं:—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी।
निर्विभागचितिरेव केवला' इत्यादि। १।३१९।

† पक्षपातका निरूपण भी पहले कर चुके हैं। यहांपर पक्षपातका अर्थ अतिशयकारित्व है, उपाधि अपनेमें रहनेवाले मालिन्यादि दोषोंका प्रतिबिम्बमें ही अर्पण कर सकती है, बिम्बमें नहीं। एवम् अविद्या भी भ्रमाश्रयत्वका अतिशय प्रतिबिम्बस्थानीय जीवमें ही करती है, शुद्ध चिद्रूप ब्रह्ममें नहीं।

चेज्जीवगतं भ्रमं स्वगतत्वेन पश्येदिति चेद्, नः स्वमुखतत्प्रतिबिम्बयोरैक्यं जानताऽपि देवदत्तेन स्वमुखे प्रतिबिम्बगताल्पत्वमलिनत्वाद्यदर्शनात्। न च जीवस्य प्रतिबिम्बत्वे मानाभावः, श्रुतिस्मृतिसूत्रेभ्यस्तत्सिद्धेः। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इति श्रुतिः। 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इति स्मृतिः। 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' इति सूत्रम्।

न चाऽमूर्त्तस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बासम्भवः। अमूर्त्तस्याप्याकाशस्य स्वाश्रिताभ्रनक्षत्रादिविशिष्टस्य जले प्रतिबिम्बभावदर्शनात्। जलान्तराकाशोऽभ्रादिप्रतिबिम्बाधार इति चेद्, नः जानुमात्रेऽपि जले दूरविशालाकाशदर्शनात्।

है, तो वह असर्वज्ञ हो जायगा और यदि जीवके साथ अपना अभेद जानता है, तो जीवके भ्रमको भी अपना ही भ्रम समझने लगेगा ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अपने मुखको और उसके साथ प्रतिबिम्बके ऐक्यको जानता हुआ भी देवदत्त अपने मुखमें प्रतिबिम्बगत अल्पत्व और मलिनत्व आदिको नहीं समझता। और जीवको प्रतिबिम्बरूप माननेमें कोई प्रमाण ही नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुति, स्मृति तथा वेदान्तसूत्रोंसे उसकी सिद्धि होती है। 'रूपं रूपं' (वह प्रतिशरीर प्रतिबिम्बरूपमें हो गया) ऐसी श्रुति है, 'एकधा०' (स्वयं एक ही है तो भी जलमें चन्द्रादिकी भाँति वह नाना प्रकारका मालूम होता है) ऐसी स्मृति है और 'अत एव चोपमा० (३।२।१८ ब्र० सू०) (आत्मा चैतन्यरूप निर्विशेष है उपाधिवश ही उसमें विशेषका दर्शन होता है, अतएव उसके नानाभावमें सूर्यककी—जलादिप्रतिबिम्बकी—उपमा दी गई है) ऐसा सूत्र है।

यदि शङ्का हो कि अमूर्तभूत ब्रह्मपदार्थका प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अमूर्त आकाशका भी अपनेमें आश्रित मेघ, तारा आदिके सहित जलमें प्रतिबिम्ब देखा जाता है। [यद्यपि मेघ और नक्षत्रोंके सहित आकाश जलमें नहीं है, तथापि जलमें वह इनसे विशिष्ट दीख पड़ता है, अतः बाहर (ऊपर) विद्यमान आकाशका वह प्रतिबिम्ब ही है, इस अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए 'स्वाश्रिताभ्रनक्षत्रादिविशिष्टस्य' यह विशेषण दिया है।] जलके भीतर विद्यमान आकाश ही अभ्र, नक्षत्र आदि प्रतिबिम्बका

जीवो घटाकाशवदुपाध्यवच्छिन्नो न प्रतिबिम्ब इति चेद्, न; तथा सति जीवोपाधिमध्ये ब्रह्मणोऽपि सत्त्वे चैतन्यं [कथं] तत्र द्विगुणं स्यात्, न चैवमाकाशस्य घटे द्वैगुण्यं दृष्टम्। ब्रह्मणः तत्राऽसत्त्वे च सर्वगतत्वसर्वनियन्तृत्वादिहानिः। उभयानुगतचिदाकारस्यैव सर्वगतत्वसर्वनियन्तृत्वादि न ब्रह्मणीति चेद्, न; 'य आत्मानमन्तरो यमयति' इति श्रुत्या प्रकरणलभ्यस्य ब्रह्मण एव जीवमध्ये नियन्तृत्वेनाऽवस्थानश्रवणात्। अतः सर्वत्र शास्त्रे

अधिकरण है, ऐसी भी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जानुपर्यन्त—घुटने प्रमाण-वाले—जलमें ही अर्थात् थोड़े जलमें दूर और बड़ा आकाश दीख पड़ता है। यदि जलाकाश ही तादृश प्रतिबिम्बयुक्त दीख पड़ता, तो कम गहरे जलमें जलके परिमाणानुसार ही आकाश भी दीख पड़ता।

अवच्छेदवादी प्रतिबिम्बवादका खण्डन करते हैं—जीवको घटाकाशके तुल्य उपाध्यवच्छिन्न ही मानना चाहिए, प्रतिबिम्ब नहीं, यह पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर जीवोपाधिके मध्यमें ब्रह्मके भी रहनेसे उसमें द्विगुण चैतन्य कैसे होगा क्योंकि अवच्छेदवादमें आकाशका घटरूप उपाधिमें द्विगुण होना देखा नहीं गया है। यदि ब्रह्मकी जीवावच्छेद उपाधिमें सत्ता न मानो, तो ब्रह्मका सर्वव्यापकत्व तथा सकलनियामकत्व उपपन्न नहीं हो सकेगा [यदि आप घटाकाशदृष्टान्तसे जीवको भी अवच्छिन्न मानते हो, तो जैसे घटमें अवच्छिन्न आकाशकी ही वृत्ति है, उसमें अनवच्छिन्न आकाशकी वृत्ति नहीं देखी जाती, वैसे ही दार्ष्टान्तिकमें नहीं है, क्योंकि दार्ष्टान्तिमें तो चेतनकी दो वृत्तियाँ हैं—एक तो अवच्छिन्न जीवकी वृत्ति है और द्वितीय अन्तर्यामीकी है, यह द्विगुणित चैतन्यकी वृत्ति प्रतिबिम्बपक्षमें ही बन सकती है, उपाधिमें द्विगुणित चैतन्यकी वृत्तिके न माननेसे ब्रह्मकी सर्वान्तर्यामितासे विरोध होगा, अतः अवच्छेदवादमें दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य आता है]। दोनोंमें—उपाध्यन्तर्गत अवच्छिन्न जीव और उपाधिके बाहर अवस्थित ब्रह्ममें—अनुगत चिदाकारमात्रमें ही सर्वगतत्व और सर्वनियन्तृत्व आदि हैं—बाहर अवस्थित ब्रह्ममें नहीं' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'य आत्मानमन्तरो०' (जो जीवको अन्तः प्रविष्ट होकर यमन—शुभाऽशुभ कर्म तथा तत्-तत् फलोंमें नियमन—करता है) इत्यादि श्रुतिसे प्रकरणप्राप्त ब्रह्मका ही जीवमें नियन्ता होकर रहना सुना जाता

घटाकाशदृष्टान्तोऽसङ्गत्वसाधको न जीवत्वसाधकः । प्रतिबिम्बपक्षे तु द्विगुणीकृत्य वृत्तिर्न दोषाय, जलमध्ये स्वाभाविकजानुमात्राकाशस्य प्रतिबिम्बितविशालाकाशस्य च वृत्तेः । तस्मादहङ्कारोपाधिकृतो ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीवः ।

यद्यप्यज्ञानं जीवावच्छेदोपाधिरिति पुरस्तादुक्तम्, तथाऽपि सुषुप्तावज्ञानमात्रावच्छिन्नस्य जीवस्य स्वप्नदशायामीषत्स्पष्टव्यवहारायाऽन्तःकरणमुपाधिरिष्यते तथा जागरणे विस्पष्टव्यवहाराय स्थूलशरीरमुपाधिः ।

है। इसलिए शास्त्रोंमें सर्वत्र घटाकाशदृष्टान्त ब्रह्मके असङ्गत्वका—निर्लेपत्वका—ही साधक है, जीवत्वका साधक नहीं है अर्थात् घटाकाशदृष्टान्तसे अवच्छेदवादकी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रतिबिम्बपक्षमें तो चैतन्यकी द्विगुणित वृत्तिके होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जलके अन्दर स्वभावतः रहनेवाले घुटनेतकके आकाशकी और दूसरी जलमें प्रतिबिम्बित महाकाशकी वृत्ति देखी जाती है। [अतः प्रतिबिम्बपक्षमें द्विगुणित वृत्तिका दृष्टान्त मिलता है, अवच्छेदवादमें नहीं मिलता।] इसलिए अहङ्काररूप उपाधि द्वारा कृत ब्रह्मका प्रतिबिम्ब ही जीव है।

यद्यपि पहले अज्ञान ही जीवावच्छेदरूप उपाधि [अर्थात् जिस उपाधिके लगनेसे ब्रह्मका जीवरूपसे भिन्न व्यपदेश होता है, वह उपाधि] माना गया है, तथापि सुषुप्तिमें केवल अज्ञानसे अवच्छिन्न जीवका स्वप्न अवस्थामें कुछ थोड़ा स्पष्ट व्यवहार हो, इसलिए जैसे वहाँ अन्तःकरणको उपाधि मानते हैं, वैसे ही जागर अवस्थामें अत्यन्त स्पष्ट व्यवहारके लिए स्थूल शरीर भी उपाधि माना जाता है।*

---

* चैतन्यमात्रैकरस जिसका श्रुतियाँ 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्०' इत्यादि प्रकारसे वर्णन करती हैं और जो किसी प्रकार भी विकल्पको प्राप्त नहीं होता, वही अज्ञानमात्र उपाधिसे सुषुप्तिदशामें आनन्दमय होनेसे आनन्दभुक् कहलाता है, बहुत कम परन्तु कुछ विकल्पके योग्य हो जाता है, जिसका सुप्तोत्थित पुरुष 'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुखसे सोया) इस प्रकार परामर्श करता है, यह विकल्प भी परम सूक्ष्म है, क्योंकि इसका कारणीभूत अज्ञानरूप उपाधि स्वयं अतिसूक्ष्म है। इस अवस्थाका श्रुतियोंमें 'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्' इस प्रकार वर्णन किया गया है। यहांपर अज्ञानमात्रमें स्वाम्याभिमानी प्राज्ञ कहलाता है। इसके अनन्तर स्वप्नावस्थामें पूर्वावस्थासे कुछ स्थूल व्यवहारका भागी होनेके लिए अज्ञानरूप उपाधिसे युक्त ही अतिरिक्त अन्तःकरणरूप उपाधिसे युक्त होता है, जिसके कारण अपने अन्तःकरणरूप उपाधिमें ही जागरके

न चैवमुपाधिभेदाज्जीवभेदप्रसङ्गः, पूर्वपूर्वोपाध्यवच्छिन्नस्यैवौत्तरोत्तरेणावच्छेदात् ।

नन्वयं जीवावच्छेदः किं भ्रमगत उत चैतन्यगतः ? आद्ये सुषुप्तिमूर्च्छादौ स न स्यात् । तत्र भ्रमाभावात् । ततश्चाऽविद्यायास्तत्कार्यमूर्च्छाद्यवस्थानां च जीवपक्षपातित्वं न स्यात् । द्वितीयेऽपि तस्य कार्यत्वे सुषुप्त्यादावभावात् स एव दोषः । अकार्यत्वे चाविद्याऽधीनत्वं न स्यात् ।

इस प्रकार यह भी नहीं कह सकते कि उपाधिभेदसे जीवभेदका प्रसङ्ग हो जायगा अर्थात् सुप्ति, स्वप्न और जागर तीनों अवस्थाओंमें जीव भिन्न-भिन्न होंगे, क्योंकि पूर्व-पूर्व उपाधिसे अवच्छिन्नका ही उत्तर-उत्तर उपाधिसे अवच्छेद हो जाता है। [उपाधिके भेदसे उपधेयका वास्तव भेद वहींपर होता है जहाँपर पूर्व-पूर्व उपाधिका संसर्ग उत्तरोत्तर उपाधिमें न हो; जैसे एक ही जल पदार्थ गोल थालीमें रखनेसे गोलाकार हो जाता है, चौकोनी थालीमें चौकोना हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमें अज्ञानोपाधिकका ही उत्तरोत्तर उपाधि लगनेसे' उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न व्यपदेश होता है, इससे जीवभेद होनेकी आशङ्का नहीं हो सकती, यह भाव है।]

अब शङ्का होती है कि यह जीवाऽवच्छेद—ब्रह्मका जीवव्यपदेशरूपी भेद—भ्रमगत—भ्रमाधीन—है ? या चैतन्यगत—चैतन्याधीन—है ? इनमें पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति या मूर्च्छा दशामें जीवका अभाव प्रसक्त हो जायगा, कारण कि इन अवस्थाओंमें भ्रम नहीं रहता है। [यदि भ्रम ही नहीं रहा, तो उसके अधीन होनेवाला जीवविभाग भी कैसे रह सकता है ?] द्वितीय पक्षके माननेमें भी उस जीवविभागको कार्य माननेसे सुषुप्तिमें उसके न होनेसे वही पूर्वोक्त दोष होगा। [सुषुप्तिमें कार्यमात्रका विनाश हो जानेसे सुतरां जीवरूप कार्य भी नहीं रहता, यह भाव है।] और यदि यह जीवभेद कार्य न माना जाय, तो वह अविद्याके अधीन नहीं होगा।

समान सम्पूर्ण व्यवहार करता है। इस उपाधिका स्वाम्याभिमानी तैजस कहा गया है, इसका श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है—'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः' इति। तदनन्तर बाहर भी प्रकट स्थूल व्यवहारके लिए अज्ञान और अन्तःकरण दोनों उपाधियोंसे युक्त ही जागर अवस्थामें स्थूल देह उपाधि होता है और विश्व संज्ञाको प्राप्त होता है, श्रुति कहती है—'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः' इसका स्थूल देहमें स्वाम्याभिमान रहता है।

उच्यते—जागरणस्वप्नयोः स्थूलसूक्ष्मशरीरकृतो जीवावच्छेदो भ्रमरूपत्वादविद्याकार्यः। सुषुप्त्यादौ तु चैतन्यगतो जीवावच्छेदोऽनादिरप्यात्माविद्ययोः सम्बन्ध इवाऽविद्याधीनो भविष्यति। यद्यपि सम्बन्ध इवाऽवच्छेदो नाऽविद्याश्रितस्तथाप्यविद्याविशिष्टचैतन्याश्रितत्वादविद्याधीनत्वमविरुद्धम्। यथा दर्पणविशिष्टमुखाश्रितविम्बप्रतिविम्बभेदो दर्पणाधीनस्तद्वत् *।

इस शङ्काका समाधान करते हैं—जागरण तथा स्वप्न अवस्थाओंमें क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म शरीरके द्वारा प्राप्त जीवरूप विभाग भ्रमात्मक होनेसे अविद्याका कार्य है। सुषुप्ति आदिमें यद्यपि चैतन्यगत जीवावच्छेद है और वह †अनादि है, तो भी आत्मा और अविद्याके सम्बन्धके समान अविद्याके अधीन होगा। [यद्यपि अविद्या स्वतन्त्र होकर सम्बन्धकी उपादान नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे मृदादि उपादान घटादिसे पृथक् स्वतन्त्र रहते नहीं दिखाई देते हैं, वैसे ही अविद्या चित्सम्बन्धके बिना पृथक् नहीं रहती, तथापि सम्बन्धका निमित्त अवश्य है। अनुयोगिप्रतियोगिनिष्ठ भेद उनसे ही निरूपित होता है, अतः यह जीवब्रह्मका भेद उनके ही अधीन होना चाहिए। अविद्याश्रय कैसे ? इस आशङ्काका समाधान करते हैं—यद्यपि इत्यादिसे] यद्यपि अविद्या और ब्रह्मके सम्बन्धकी तरह अवच्छेद—जीवब्रह्मविभाग—अविद्याश्रित नहीं है, तथापि अविद्याविशिष्ट चैतन्यके आश्रित होनेसे अविद्याके अधीन मान लेना भी विरुद्ध नहीं है। [विशिष्टाश्रित धर्म विशेषणाश्रित माना जाता है, यह भाव है। इसीमें दृष्टान्त देते हैं—] जैसे दर्पण विशिष्ट मुखके आश्रित—अधीन—बिम्बप्रतिबिम्बभेद दर्पणके अधीन है वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए।

* यहां पर हमारी आदर्श प्रतिमें निम्नलिखित अधिक पाठ है। पर वह ठीक नहीं जंचता। मूल पुस्तकका पाठ निकाल देना हमें पसन्द नहीं है, इसलिए उसको टिप्पणीमें देते हैं—सम्पादक।

'अनिर्वचनीयसंस्कार उपाधिर्न भ्रान्तिजन्य इति नियमोऽस्ति। तदेवं चैतन्यैकरसोऽनिदंरूपोऽऽप्यात्मा स्वात्मन्यध्यस्तेऽहङ्कारे प्रतिबिम्बितो जीवावच्छेदस्याऽविद्याधीनत्वात्तत्सम्बन्धवदुपपद्यते।'

अनिर्वचनीय (मिथ्या) संस्कार (सूक्ष्म शरीरका संस्कार) जिसमें है, ऐसी अविद्या जीवकी उपाधि है, भ्रान्तिजन्य (स्थूल-सूक्ष्म शरीर) उपाधि नहीं है। ऐसा होनेपर यह निष्कर्ष निकला कि चैतन्यैकरूप इदमाकार प्रतीतिका अविषय आत्माका अपने में अध्यस्त अहंकारमें प्रतिबिम्ब अविद्या सम्बन्धके समान अनादि है, क्योंकि जीवभेद अविद्याके अधीन है। प्रकृतिमें भी अविद्याविशिष्ट ब्रह्मके अधीन जीवावच्छेदमें (ब्रह्मजीवविभागमें) सम्बन्धकी तरह अविद्यानिमित्तकत्व उपपत्तियुक्त ही है।

† 'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥'

जीव १ ईश २ तथा शुद्ध चैतन्य ३ और जीव-ईशका भेद ४ अविद्या ५ एवम् अविद्या

ननु भवद्भिः प्रतिबिम्बस्याऽवस्तुत्वाभ्युपगमान्न जीवस्य प्रतिबिम्बतेति चेद् ? मैवम्; नहि वयं प्रतिबिम्बस्वरूपभूतस्य मुखस्य चैतन्यस्य वा मिथ्यात्वं ब्रूमः किं तर्हि ? प्रतिबिम्बत्वस्य धर्मस्य तदापादकभेदविपर्यासादेश्च मिथ्यात्वं ब्रूमः। प्रतिबिम्बस्य प्रत्यभिज्ञया तत्त्वमसिवाक्येन च सत्यबिम्बात्मतामवादिष्म। प्रतिबिम्बत्वधर्मस्य मिथ्यात्वेऽपि धर्मो बध्यते मुच्यते चेति न बन्धमोक्षयोरसंभवो नाऽपि तयोर्ब्रह्मणि बिम्बप्रसङ्गः।

नन्वेवमहङ्काराद्युपाधिके बिम्बप्रतिबिम्बभेदाध्यासे सत्यप्यहङ्काराद्यध्यास उपाधिशून्यः कथं सिध्येत् ? रज्जुसर्पवदिति ब्रूमः। अथ तत्र

आप प्रतिबिम्बको अवस्तु मानते हैं, इसलिए जीव प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता ? यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि हम (वेदान्ती) प्रतिबिम्बके स्वरूपभूत मुख या चैतन्यको मिथ्या नहीं कहते हैं, किन्तु प्रतिबिम्बत्व धर्मको और उसके प्रयोजक भेदको (ब्रह्मजीवभेदको या बिम्बप्रतिबिम्बभेदको) अथवा विपर्यासको ही मिथ्या—अवस्तुभूत—कहते हैं। इससे स्वरूपभूत मुख या चेतनका कुछ नहीं बिगड़ता और प्रतिबिम्बकी प्रत्यभिज्ञासे या 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे बिम्ब और प्रतिबिम्बका स्वरूप सत्य कहा गया है। [यहांपर शङ्का होती है कि प्रतिबिम्बका स्वरूपभूत बिम्ब कैसे है ? उसका समाधान करते हैं कि जैसे मुखादिके प्रतिबिम्बस्थलमें उत्पन्न हुई 'यह प्रतिबिम्ब मेरा ही मुख है' इस प्रत्यभिज्ञासे उसकी बिम्ब (सत्यमुख) स्वरूपता सिद्ध होती है, वैसे ही ब्रह्मके जीवादि प्रतिबिम्बस्थलमें ऊपर उक्त श्रुतिवाक्योंसे जीवरूप प्रतिबिम्बकी ब्रह्मस्वरूपता सिद्ध होती है। बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था करते हैं—] प्रतिबिम्बत्व धर्मके मिथ्या होनेपर भी धर्मीको बन्धन होगा और उसीको मोक्ष होगा, धर्मी चेतन तो वस्तुभूत है, इससे बन्ध और मोक्षका असम्भव दोष भी नहीं आ सकता और बिम्बभूत ब्रह्ममें उनका प्रसङ्ग भी नहीं आ सकता।

इस प्रकार अहङ्कारादि उपाधिके कारण बिम्बप्रतिबिम्बभेदरूप अध्यास यद्यपि सिद्ध हुआ, तो भी उपाधिसे रहित अहङ्कारादि अध्यास किस प्रकार सिद्ध होगा ? यदि ऐसी शङ्का करो, तो हम कहेंगे कि रज्जुमें भ्रमात्मक सर्परूप अध्यासके

और चैतन्यका सम्बन्ध ६ ये छः पदार्थ हम वेदान्तियोंके मतमें अनादि हैं, तथापि इनमें चित्को छोड़कर शेष पांचोंको अविद्याधीन और ज्ञाननिवर्त्य मानते हैं।

स्वतन्त्रपदार्थोपाध्यभावेऽपि सर्पसंस्कारमात्रमुपाधिस्तर्हि प्रकृतेऽप्यहङ्कारसंस्कारः कुतो नोपाधिः ? नहि प्रमाणजन्यः संस्कार उपाधिर्न भ्रान्तिजन्य इति नियमोऽस्ति । तदेवं चैतन्यैकरसोऽनिदंरूपोऽप्यात्मा स्वात्मन्यध्यस्तेऽहङ्कारे प्रतिबिम्बतोऽहंव्यवहारयोग्यः सन् अहमित्येतस्मिन् प्रत्ययेऽध्यस्यमानाहङ्कारसम्भिन्नतयाऽवभासमानोऽहंप्रत्ययविषयत्वेनोपचर्यते इति सम्भवत्येव तत्राऽध्यासः ।

समान अहङ्कारादि अध्यासकी सिद्धि होगी । यदि कहो कि यद्यपि रज्जुसर्पस्थलमें कोई स्वतन्त्ररूपसे पदार्थान्तर उपाधि नहीं है, तो भी वहाँपर सर्पसंस्कारमात्र ही उपाधि है ? फिर प्रकृतमें भी अहङ्कारसंस्कार उपाधि क्यों न मान ली जाय ? क्योंकि 'प्रमाणजन्य संस्कार ही उपाधि हो सकता है, भ्रमसे उत्पन्न संस्कार उपाधि नहीं हो सकता', ऐसा कोई नियम नहीं है [जिससे कि चक्षुरादिप्रमाणजन्य सर्पसंस्कार उपाधि माना जाय और * भ्रमजन्य अहङ्कारसंस्कार उपाधि न माना जाय] । इस पूर्व कथित विवेचनके अनुसार चैतन्यैकरस अनिदंरूप आत्मा भी अपनेमें अध्यस्त अहङ्कारमें प्रतिबिम्बित होकर 'अहम्' व्यवहारके योग्य होता हुआ 'अहम्' इस प्रतीतिमें अध्यस्यमान अहङ्कारके अभेदसे प्रतीत होकर 'अहं' प्रतीतिका विषय होता है, इस प्रकार उपचार किया जाता है, अतः अहङ्कारादिस्थलमें अध्यासकी उपपत्ति हो सकती है [पिण्डाण्ड या ब्रह्माण्डकी अव्यक्तावस्थामें माया (अविद्या) जो मूल कारण है, वह ब्रह्ममें विलीन हो जाती है । ब्रह्म सिसृक्षावश ज्यों ही उस अविद्याके उन्मुख हुआ कि दोनोंके अति स्वच्छ पदार्थ होनेसे उनमें परस्पर प्रतिबिम्बग्राहित्व आ जाता है । अविद्याकी सत्ता ब्रह्म साम्मुख्यके बिना है ही नहीं और साम्मुख्य होते ही परस्पर प्रतिबिम्बित होनेसे दोनोंका सम्पुट हो जाता है, यही (ब्रह्मप्रतिबिम्बविशिष्ट अविद्याप्रतिबिम्ब ही) स्वात्मामें अध्यस्त अहङ्कार कहा गया है । सम्पुटके अविद्यामें परिवर्तनसे ही आध्यासिक अहंप्रतीति बन जाती है, जिससे निरञ्जन आत्माको भी अहंप्रतीतिका विषय होना पड़ता है, यह भाव है] ।

---

* पूर्व-पूर्व भ्रमजन्य संस्कार उत्तरोत्तर भ्रमका कारण होता है, इस प्रकार अनादिसिद्ध परम्परासे अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोष नहीं आता ।

ननु न तावन्निर्विकल्पकतयाऽवभासमाने चैतन्ये सविकल्पकाहङ्काराद्यध्यासः सम्भवति; तथाविधस्याऽदृष्टचरत्वात्। नाऽपि प्रमातृत्वादिविकल्पविशिष्टतयाऽवभासमाने तत्सम्भवः; प्रमातृत्वादेरहङ्कारपूर्वकत्वात्। न च पूर्वपूर्वाहङ्कारकृतप्रमातृत्वादिसंस्कारेण चैतन्यस्य सविकल्पकत्वम्, प्रमातृप्रमाणादिव्यवहारस्य सर्वेणाऽपि वादिना दुरुपपादत्वात्। तथाहि—

वेदान्तिसांख्ययोर्मते किमहङ्कारः प्रमाता उतात्मा ? नाऽऽद्यः, तस्य जड़त्वात्। द्वितीयेऽपि प्रमाणाख्यक्रियारूपेण परिणामित्वं प्रमातृत्वम्, तच्चाऽविकारिण्यात्मनि दुःसम्पादम्। अन्तरेणैव प्रमातृत्वं चैतन्येन विषयप्रकाशे तस्य सर्वगतत्वेन सर्वं युगपत् प्रकाशेतेति प्रतिकर्मव्यवस्था न सिध्येत्।

[लोकमें रज्जुसर्पस्थलमें 'सर्पः' इत्याकारक सविकल्पक अध्यास है, उसका अधिष्ठान भी रज्जु सविकल्पक ही है, एवं सविकल्पक अध्यास सविकल्पक अधिष्ठानमें ही देखा गया है, निर्विकल्पकमें नहीं।] आत्मा तो निर्विकल्परूपसे भासित होनेवाला चैतन्य है, अतः उसमें सविकल्पक अहङ्कारका अध्यास कैसे हो सकेगा, क्योंकि ऐसा कहीं नहीं देखा गया है। प्रमातृत्व * आदि धर्म विशिष्ट होकर भासनेवाले आत्मामें भी उस अहङ्काराध्यासका सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमातृत्व आदि धर्म भी तो अहङ्कारमूलक ही हैं। [अहङ्काररूप अध्यासके बिना असंग आत्मामें प्रमातृत्व नहीं बन सकता, अतः उत्तर कालमें सिद्ध होनेवाला पदार्थ पूर्वकालमें रहनेवालेका अधिष्ठान नहीं हो सकता।] पूर्व-पूर्व अहङ्कारजनित प्रमातृत्व आदि संस्कारसे चैतन्यका सविकल्पक होना भी नहीं बन सकता, क्योंकि कोई भी वादी प्रमातृ, प्रमाण आदि व्यवहारकी उपपत्ति नहीं कर सकते।

अनुपपत्तिको दिखलाते हैं—वेदान्त या सांख्य वादियोंके मतमें क्या प्रमाता अहङ्कार हैं ? अथवा आत्मा ? इसमें पहला पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह जड़ है। दूसरे पक्षके माननेपर भी प्रमाणस्वरूप व्यापारके रूपमें परिणाम ही प्रमाता कहलाता है, और वह परिणाम विकारसे शून्य आत्मामें नहीं हो सकता। यदि प्रमातृत्वके बिना (तादृश परिणामके हुए बिना) ही शुद्ध चैतन्यके द्वारा विषयका प्रकाश—अवभास— माना जाय, तो सब वस्तुओंका एक साथ प्रकाश होने लगेगा, क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य तो सर्वत्र व्यापक है, इसी अवस्थामें प्रतिकर्मव्यवस्था—सर्वदा सबको

* आदि पदसे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका ग्रहण है।

तार्किकादिमतेऽपि किं सर्वगतात्मन्युत्पद्यमानं ज्ञानं यावदात्मसमवायि ? उत शरीरावच्छिन्नात्मप्रदेशसमवायि ? नाऽऽद्यः; नियामकाभावेन युगपत् सर्वावभासप्रसङ्गात् । धर्माधर्मौ नियामकाविति चेद्, नः तयोः सुखदुःखजनकविषयेषु तथात्वेऽपि उपेक्षणीयतृणादिसर्ववस्तुष्वनियामकत्वात् । यस्य ज्ञानस्य यज्जनकं तत्तेन प्रकाश्यमिति नियम इति चेद्, नः चक्षुरादेरपि चक्षुर्जन्यज्ञानवेद्यत्वप्रसङ्गात् । विषयत्वे सति यस्य जनकं वेद्यमिति चेद्, नः विषयत्वस्याऽद्याऽप्यनिरूपणात् । लोकप्रसिद्ध्या तन्निरूपणेऽपि ज्ञानस्य गुणत्वे क्रियात्वे वा न स्वजनकविषयग्रा-

---

सब वस्तुओंका एक साथ ज्ञान न होना, प्रत्युत तत्तत्सामग्रीके अनुसार प्रतिनियत वस्तुका ज्ञान होना—सिद्ध नहीं हो सकेगी ।

नैयायिक आदि वादियोंके मतमें भी क्या सर्वव्यापक आत्मामें उत्पन्न होनेवाला ज्ञान आत्माके सब प्रदेशमें समवायसे रहता है ? या शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेशमें ही समवायसे रहता है ? प्रथम कल्प युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें किसी नियामकके न होनेसे एक साथ सब विषयोंका प्रकाश हो जानेका प्रसङ्ग आ जायगा । धर्म और अधर्म नियामक होंगे, यह कहना भी नहीं हो सकता, क्योंकि उन दोनोंके सुख और दुःख देनेवाले विषयोंके नियामक होनेपर भी उपेक्षाविषय—जो सुख या दुःखमें से किसीके भी उत्पादक नहीं हैं, ऐसे—तृणादि सभी विषयोंके प्रति उनका नियामकत्व नहीं बन सकता । जिस ज्ञानका जो जनक है, वह उस ज्ञानसे प्रकाशित होता है, यह नियम है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियोंको उनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे प्रकाशित होनेका प्रसङ्ग हो जायगा । [तात्पर्य यह है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रत्यक्षवेद्य नहीं होती हैं, किन्तु केवल तत्तत् इन्द्रियजनित ज्ञान द्वारा ही जानी जाती हैं; उक्त नियमके माननेसे तो इन्द्रियोंमें भी स्वजन्यज्ञानप्रकाश्यत्वका प्रसङ्ग होगा ।] विषय होते हुए जो जनक हैं वे उससे वेद्य हैं अर्थात् विषयतासम्बन्धसे जिस ज्ञानका जो जनक है वह उस ज्ञानसे वेद्य है, ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि अब तक विषयता सम्बन्धका ही निरूपण नहीं हो पाया है और अनिरूपित पदार्थ विशेषण नहीं बन सकता । यदि लोकप्रसिद्धिसे विषयत्वका निरूपण मान भी लिया जाय,

हित्वनियमसिद्धिः। प्रदीपगुणस्य प्रकाशस्याऽजनकेऽपि घटे प्रकाशकत्वदर्शनात्। बाणादिक्रियाणां चाऽनुद्दिष्टेऽपि वस्तुनि स्वाश्रयसंयुक्तेऽतिशयहेतुत्वदर्शनात्।

अथ ज्ञानाश्रयस्याऽत्मनोऽपि निरवयवत्वाद् न सर्वसंयोग इति नाऽस्ति युगपत् सर्वावभासप्रसङ्गः? तर्हि न किञ्चिदपि प्रकाशेत, क्रियारूपस्य गुणस्य वा ज्ञानस्य स्वाश्रयमतिलङ्घ्याऽन्यत्र संसर्गायोगात्। असंसृष्टग्राहित्वे चाऽतिप्रसङ्गात्।

शरीरावच्छिन्नात्मप्रदेशसमवायि ज्ञानमित्यस्मिन् पक्षेऽपि प्रदेशस्य

तो भी ज्ञानको गुण या क्रिया माननेपर स्वजनकविषयग्राहित्वरूप नियमकी* सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रदीपके प्रकाशरूप गुणका अपनेको उत्पन्न न करनेवाले घटमें भी प्रकाशकत्व देखा गया है। बाण आदिकी क्रियाओंका भी अपनी अनुद्दिष्ट [अर्थात् अजनक, जैसे छोड़नेवाला पुरुष बाणक्रियाका जनक है, वैसे ही उद्देश्य जिसको लक्ष्य करके छोड़ा जाता है, वह भी उसका जनक है, अतः अनुद्दिष्ट जो लक्ष्य नहीं है, वह अजनक भी हुआ] स्वाश्रयसंयुक्त वस्तुमें अतिशयका—छेदन आदिका—कारण बनना देखा गया हैं [इससे ज्ञानको गुण या क्रिया माननेमें व्याप्ति न होनेसे नियम नहीं बन सकता, यह भाव है]।

यदि कहो कि ज्ञानके आश्रय आत्माका भी निरवयव होनेसे सब वस्तुओंके साथ संयोग नहीं हो सकता, इसलिए एक साथ सब विषयोंके प्रकाशका प्रसङ्ग नहीं हो सकता, तो किसी भी वस्तुका प्रकाश नहीं हो सकेगा। [निरवयव आत्माका तो सबके साथ क्या एकके भी साथ संयोग नहीं होगा] क्योंकि क्रियास्वरूप या गुणरूप ज्ञानका अपने आश्रय आत्माको छोड़ दूसरे विषयोंसे संसर्ग—सम्बन्ध—करनेका अवसर ही नहीं है। यदि कहें कि यद्यपि संसर्ग नहीं है, तो भी विषयका ग्राहक हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अतिप्रसङ्ग होगा।

[ज्ञान प्रादेशिक आत्मसमवायी है, इस द्वितीय विकल्पका खण्डन करते हैं—] शरीरावच्छिन्न आत्मामें समवायसे ज्ञान उत्पन्न होता है (व्यापक

---

* 'स्वरूपज्ञानस्य जनको यो विषयस्तस्य ग्राहित्वं तद्रूपो यो नियमस्तस्य सिद्धिः' ऐसा समास है। ज्ञानका जनक जो घट, पटादि विषय है उसका ही ज्ञान प्रकाश करता है, ऐसा नियम है। उसकी सिद्धि, यह पदार्थ हुआ।

स्वाभाविकत्वे सावयवत्वमात्मनः प्रसज्येत। औपाधिकत्वेऽपि ज्ञानं तत्प्रदेशसंयुक्तग्राहि चेत्, तदा देहाद्बाह्यो घटादिर्न भासेत। बाह्यात्मप्रदेशसंयुक्तग्राहित्वे बाह्यं सर्वमप्यवभासेत।

ननु सम्बन्धरहितेऽपि वस्तुनि व्यवस्थयैव ज्ञानक्रियाऽतिशयं जनयिष्यति। यथाऽभिचारक्रियया सहस्रयोजनव्यवहितोऽप्युद्दिष्ट एव पुरुषो मार्यते तद्वत्। तन्न, तत्राऽपि हन्तृहन्यमानपुरुषद्वयसंयुक्तस्य देवतात्मन ईश्वरस्य वा कृत्यादेर्वा नियामकस्याऽनुमेयत्वात्। विमतमभिचारकर्म स्वसम्बन्धिन्यतिशयजनकम्, क्रियात्वात्, बाणादिक्रियावत्।

आत्मामें नहीं, बल्कि प्रादेशिक आत्मामें समवायसे ज्ञान उत्पन्न होता है) इस पक्षमें भी प्रदेशको स्वाभाविक माननेपर आत्माको सावयव मानना पड़ेगा। औपाधिक—आगन्तुक—माननेपर भी यदि ज्ञान तत्-तत् प्रदेशसे संसर्ग रखनेवाली वस्तुका ही ग्राहक है, ऐसा मानो तो शरीरसे बाहर रहनेवाले घट आदि विषयोंका प्रकाश नहीं होना चाहिए और यदि बाहर तथा आत्माके प्रदेशसे—शरीरसे—संयुक्त दोनों ही विषयोंका ग्राहक माना जाय, तो बाहरके सभी विषयोंका प्रकाश होने लगेगा।

ज्ञानक्रिया सम्बन्धरहित विषयमें भी व्यवस्था–नियम–से ही अतिशय–प्रकाश—को उत्पन्न करेगी, जैसे अभिचारक्रियासे (मारणकर्मसे) हजार योजन दूरके व्यवधानमें बैठा हुआ भी उद्दिष्ट ही (जिसको उद्देश्य करके आभिचारिक प्रयोग किया जाता है) पुरुष मारा जाता है, वैसे ही (ज्ञानक्रिया भी उद्दिष्टका ही प्रकाश करती है) यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस (आभिचारिक कर्म) में भी मारने और मारे जानेवाले दोनों पुरुषोंसे संसर्ग रखनेवाला देवता-स्वरूप *, आत्मा अथवा † ईश्वर अथवा ‡ कृत्यादिको ही नियामक मानना अनुमानसे सिद्ध होता है। अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—विमत अभिचारकर्म अपने सम्बन्धी (उद्दिष्ट) में अतिशयका जनक है, क्रिया होनेसे, बाणादिकी क्रियाके समान। [बाणादिक्रियाका अपने

---

* अभिचारकर्मकर्ता और शत्रु दोनोंसे देवतात्मा संयुक्त है।

† अभिचारकर्तासे आराधित ईश्वर ही संयोजक है।

‡ अभिचारकर्मसे उत्पन्न हुई कृत्या अथवा अदृष्ट नियामक होगा।

तर्ह्येवमस्तु ज्ञानाधारेणाऽऽत्मना मनः संयुज्यते, मनसा चेन्द्रियम्, तेन च विषयः, सा चेयं संयोगपरम्परा नियामिकेति। तदप्यसत्, तस्याः परम्पराया ज्ञानात्पूर्वं ज्ञानोत्पादन एवोपक्षयात्। ज्ञानादुपर्यपि संयोगपरम्परया विषयावभासे विषयसंयुक्ततत्संयुक्तादिरूपेणाऽवस्थितं सर्वं जगदवभासेत। एवमणुपरिमाणदेहपरिमाणात्मपक्षयोरपि दोषा ऊहनीयाः। तस्मान्न सर्ववादिनां प्रमाणादिव्यवहारसम्भवः।

अत्रोच्यते—सत्यमेवमन्यत्र, वेदान्तिमते तु कथंचित्सम्भवति। तथा-

---

आश्रय बाणसे संयुक्त पुरुष आदिमें अतिशय—छेदनादि करना—देखा गया है। इस दृष्टान्तसे अदृष्ट अभिचारक्रियाका आश्रय और शत्रु दोनोंसे संयुक्त देवतात्मा आदिकी सिद्धि होती है, यह भाव है।]

तब ऐसा मानिए कि ज्ञानके आधार आत्मासे मनका संयोग होता है, मनसे इन्द्रियका और इन्द्रियका विषयसे, इस रीतिसे यह संयोगपरम्परा ही नियम—व्यवस्था—करनेवाली होगी। यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि वह (आपसे प्रदर्शित) परम्परा ज्ञानसे पहले ज्ञानकी उत्पत्तिमें ही चरितार्थ है। ज्ञानके अनन्तर भी संयोगपरम्परासे विषयका प्रकाश माननेपर तो विषयसंयुक्त या विषयसंयुक्तरूपसे वर्तमान सकल जगत्का प्रकाश होने लगेगा। [संयोगपरम्परा तो किसी-न-किसी रीतिसे सकल जगत्के साथ हो ही जाती है, अतः ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर भी उक्त परम्परासे ज्ञान माननेपर सकल पदार्थोंका ज्ञान होने लगेगा।] इस रीतिसे आत्माको अणुपरिमाण या देहपरिमाण माननेमें भी दोषोंका उद्भावन करना चाहिए। [अर्थात् पूर्वोक्त रीतिके अनुसार आत्माको सर्वगत माननेपर भी विषयके साथ ज्ञानकी (प्रकाश की) जैसे व्यवस्था नहीं बन सकती, वैसे ही आत्माको अणुपरिमाण माननेपर अत्यल्पका ही ज्ञान होने पावेगा और देहपरिणाम माननेपर देहसे बाहर दूरकी वस्तुके साथ संयोग सम्बन्ध न होनेसे वह भासित नहीं होगा।] इससे भी वादियोंके मतमें प्रमाण आदि व्यवहारका सम्भव नहीं है, इस प्रकार वैतण्डिकका सिद्धान्त स्थिर हुआ।

[वेदान्ती वैतण्डिकको उत्तर देते हैं—] उक्त पूर्वपक्षपर कहा जाता है—ठीक है, अन्य मतोंमें प्रमाण आदि व्यवहार नहीं बन सकता, परन्तु वेदान्तियोंके

हि—सर्वगतं चिदात्मानमावृत्य स्थिता भावरूपाऽविद्या विविधजगदाकारेण विवर्त्तते। तत्र शरीरमध्ये स्थितोऽन्तःकरणाख्योऽविद्याविवर्त्तो धर्माधर्मप्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचितं घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति। यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदकं सेतुगतच्छिद्रान्निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्त्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत्। नह्युदकवदन्तःकरणं परिस्यन्दते, येनातिदूरवर्त्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्तिर्झटिति न सिध्येत्। किं तर्हि सूर्यरश्मिवत्तैजसत्वाद्दीर्घप्रभाकारेण परिणमते। अत एव रश्मिवत् सहसा सङ्कोचोऽप्युपपन्नः। उपपन्नश्चाऽन्तःकरणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणामः। तच्च परिणतमन्तःकरणं देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग्व्याप्य देहघटयोर्मध्यदेशेऽ-

मतमें तो किसी-न-किसी प्रकार * बन सकता है। [उपपादन करते हैं—] क्योंकि सर्वव्यापक चिद्रूप आत्माको आवृत करके विद्यमान भावरूप अविद्या नानाप्रकारके जगत्के आकारमें परिणत हो जाती है। उस शरीरके अन्दर रहनेवाला अन्तःकरणनामक अविद्याका परिणाम धर्म और अधर्मसे प्रेरित हो कर, चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियोंके रास्तेसे बाहर निकल कर यथोचित [जिस विषयसे जिस इन्द्रियका जैसा संसर्ग हुआ] घटादि विषयोंको व्याप्त कर तत्-तत् आकारमें हो जाता है। जैसे लोकमें भरे हुए तालाबका जल नालीसे बहता हुआ खेतमें जाकर उस उस खेतके अनुसार चतुष्कोण (चौकोना) तिकोना या गोल हो जाता है वैसे ही अन्तःकरण भी घट, पट आदिके आकारमें हो जाता है। अन्तःकरण जलकी तरह धीरे बहनेवाला (तरल) पदार्थ है नहीं, जिससे अत्यन्त दूर प्रदेशमें रहनेवाले चन्द्रमा, नक्षत्र ध्रुव, आदिकी प्राप्ति जल्दी सिद्ध न हो सके, किन्तु सूर्यकी किरणोंके समान तैजस होनेसे दीर्घ प्रभाके आकारसे परिणत हो जाता है। इसलिए किरणोंकी तरह जल्दी सङ्कोच भी हो जाता है। अन्तःकरणका सूर्यरश्मिदृष्टान्तसे अतिशीघ्र जाना और जल्दी ही सिमिट जाना दोनोंका सम्भव हो सकता है। और अन्तःकरणका, सावयव होनेसे, दूध आदिके तुल्य परिणाम होना भी संगत होता है। परिणामको प्राप्त हुआ वह अन्तःकरण देहके अन्दर और घट आदि

* 'वस्तुतः प्रमाणादि व्यवहार मिथ्या होनेसे नहीं ही है परन्तु व्यवहारदशामें कल्पित हैं' इससे 'कथंचन' कहा गया है।

पि दण्डायमानमविच्छिन्नं व्यवतिष्ठते। तत्र देहावच्छिन्नान्तःकरणभागोऽहङ्काराख्यः कर्तेत्युच्यते। देहविषयमध्यवर्तिदण्डायमानस्तद्भागो वृत्तिज्ञानाभिधा क्रियेत्युच्यते। विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यमित्युच्यते। तस्य च त्रिभागस्याऽन्तःकरणस्याऽतिस्वच्छत्वाच्चैतन्यं तत्राऽभिव्यज्यते। तस्याऽभिव्यक्तस्य चैतन्यस्यैकत्वेऽप्यभिव्यञ्जकान्तःकरणभागभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति।

कर्तृभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमाणम्, विषयगतयोग्यत्वभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्र-

---

विषयमें पूर्ण व्याप्त होकर देह और घटके बीचके देशमें भी लम्बे डंडेकी तरह बराबर—अविच्छिन्न—रहता है। (अर्थात् अन्तःकरणका परिणाम देहके अन्दरसे घट आदि विषय तक बराबर बना रहता है। इससे अन्तःकरणके परिणामके मुख्य तीन भाग हुए—एक देहके अन्दर, दूसरा देह और विषयके मध्य देशमें और तीसरा घट, पट आदि विषय देशमें रहनेवाला।) उनमें देहावच्छिन्न—देहके अन्दर विद्यमान—अन्तःकरणका परिणाम भाग जिसका 'अहङ्कार' ऐसा नाम पड़ता है वह कर्ता (प्रमाता) कहलाता है। देह और विषय देशके मध्यमें डंडेके समान रहनेवाला अन्तःकरणका परिणाम भाग 'वृत्तिज्ञान' नामकी क्रिया कहलाती है। विषयको व्याप्त करनेवाला उसका भाग विषयको ज्ञानका कर्म बनानेवाला 'अभिव्यक्तियोग्य' ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार तीन भागवाले उस अन्तःकरणके अत्यन्त स्वच्छ पदार्थ होनेसे उसमें (अन्तःकरणमें) चैतन्य अभिव्यक्त होता है। उस अभिव्यक्त चैतन्यके एक होनेपर भी उसके अभिव्यञ्जक (प्रकाशक) अन्तःकरणके भागोंका भेद होनेसे तीन प्रकारका चैतन्य है, ऐसा व्यवहार किया जाता है।

कर्तृभागावच्छिन्न—देहाभ्यन्तर देशमें परिणत अन्तःकरणभागमें अभिव्यक्त—प्रतिबिम्बित—चैतन्य प्रमाता कहलाता है और क्रियाभागावच्छिन्न—देह और विषयके मध्यदेशमें परिणत अन्तःकरणभागमें अभिव्यक्त—चैतन्यांश प्रमाण कहलाता है तथा विषयमें विद्यमान योग्यत्व भागसे अवच्छिन्न चैनन्यांश प्रमिति—ज्ञान—कहलाता है। इस प्रकार प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति—इन तीनों व्यवहारोंका असाङ्कर्य—पृथक्-पृथक् विवेक—बन जाता है और तीनों भागोंमें जो अन्तः-

मितीनामसाङ्कर्यम्। भागत्रयेऽप्यनुगतस्यैवाऽन्तःकरणाकारस्य प्रमातृप्रमेय-सम्बन्धरूपत्वात् 'मयेदमवगतम्' इति विशिष्टव्यवहारोऽप्युपपद्यते। व्यङ्ग्य-व्यञ्जकयोश्चैतन्यान्तःकरणयोरैक्याध्यासादन्योन्यस्मिन्नन्योन्यधर्मादिव्यव-हारो न विरुध्यते।

नन्वन्तःकरणेन चैतन्यस्याऽभिव्यक्तिर्नाम आवरणविनाशश्चेद्, घट-ज्ञानेनैव मोक्षः स्यात्, आत्मगतातिशयश्चेत् आत्मनो विकारित्वं स्यादिति चेद्, न; आवरणाभिभवस्याऽभिव्यक्तित्वात्।

यत्तूक्तमहङ्कारस्य जडत्वादात्मनोऽपरिणामित्वान्न प्रमाता सिध्यतीति।

करणका आकार अनुगत है उसके प्रमातृ और प्रमेयके सम्बन्धरूप होनेसे 'मैंने इसको जान लिया' ऐसा विशिष्ट व्यवहार भी युक्तियुक्त है। व्यङ्ग्य चैतन्य और व्यञ्जक अन्तःकरणका ऐक्याध्यास होनेसे एक दूसरेमें एक दूसरेके धर्मोंका व्यवहार भी विरुद्ध नहीं होता।

यदि अन्तःकरण द्वारा चैतन्यकी अभिव्यक्तिको आवरणका विनाश कहा जाय, तो घटज्ञानसे ही मोक्ष हो जायगा। [तात्पर्य यह है कि स्वप्रकाश आत्माकी तो सदैव अभिव्यक्ति होनी चाहिए, अतः अन्तःकरण द्वारा मानी हुई अभिव्यक्तिकी संगतिके लिए वेदान्तसिद्धान्तमें स्वीकृत अनादि अज्ञानके विनाशको ही अभिव्यक्ति कहना होगा। इस मतमें घटज्ञान भी अन्तःकरण द्वारा चैतन्यकी ही अभिव्यक्ति है, एवम् घटज्ञान होनेसे सुतरां अनादि अज्ञानका विनाश हो गया। इससे 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य' के अनुसार घटज्ञानसे ही मोक्षकी सिद्धि हो जानी चाहिए।] यदि चैतन्यकी अभिव्यक्तिको आत्मामें एक प्रकार परिणाम माना जाय, तो आत्मामें विकारित्वका प्रसङ्ग आ जायगा। इस प्रकारकी दोनों शङ्काएँ उचित नहीं हैं, क्योंकि आवरणके अभिभवको अभिव्यक्ति मानते हैं। [अभिभवको विनाश नहीं कहते, किन्तु प्रतिबन्ध या विषयावच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञानकी निवृत्ति कहते हैं, इससे अज्ञानरूपी आवरणका समूल उच्छेद नहीं होता। जिससे घटज्ञानमात्रसे मोक्षलाभका प्रसङ्ग हो। मोक्ष तो निरवच्छिन्न चैतन्यगत आवरणके समूल उच्छेदको कहते हैं। घटज्ञानादिसे तो सावच्छिन्न-गत आवरणका ही प्रतिबन्ध या विनाश होता है।]

'अहङ्कारके जड़ (अचेतन) होने तथा आत्माके परिणामी न होनेसे प्रमाताकी

तदसत्, चिदभिव्यक्तिविशिष्टः परिणाम्यहङ्कारः प्रमातेति दर्शितत्वात्।

यच्च चैतन्यस्य सर्वगतत्वान्न प्रतिकर्मव्यवस्थेति, नाऽसौ दोषः; किमेकेन पुरुषेण यत्सुखदुःखादिकमनुभूयते तत्सर्वैरनुभवितव्यं सर्वपुरुषचैतन्यस्यैकत्वादित्यापाद्यते ? किं वा देवदत्तेन यदा घटोऽनुभूयते तदा कृत्स्नं जगत्तेनाऽनुभवितव्यम् ? तच्चैतन्यस्य सर्वगतत्वादिति। नाऽऽद्यः, नहि वयं चैतन्यस्य केवलस्य विषयानुभवहेतुत्वं ब्रूमस्तस्याऽविद्यावृतत्वात्, किं तर्ह्यन्तःकरणाभिव्यक्तस्य तथात्वम्। तानि चाऽन्तःकरणानि प्रतिपुरुषं व्यवस्थितानि। तत्कथं सर्वपुरुषभोगसङ्करः। नाऽपि द्वितीयः, नहि देव-

---

सिद्धि नहीं हो सकती' इस प्रकार की गई जो आपत्ति है वह भी असत्—असंगत—है, क्योंकि चित् (चैतन्य) की अभिव्यक्तिसे युक्त परिणामी अहङ्कार प्रमाता है, ऐसा पूर्वमें ही दिखला चुके हैं।

जो कि चैतन्यके सर्वगत (व्यापक) होनेसे प्रतिकर्मव्यवस्थाका (तत्-तत् पुरुषको ही तत्-तत् घट, पट आदिका ही ज्ञान होना) असम्भव दोष दिया गया है वह भी नहीं आता, [खण्डन करनेके लिए विकल्प करके दोष दिखाते हैं]—एक पुरुष जिस सुख-दुःख आदिका अनुभव करता है क्या उस सुख-दुःखका सबको अनुभव करना चाहिए, क्योंकि 'सब पुरुषोंमें एक ही चैतन्य है' ऐसी आपत्ति दी जा रही है ? या 'जिस कालमें देवदत्त घटका अनुभव करता है उसी कालमें उसको सम्पूर्ण जगत्का ज्ञान हो जाना चाहिए क्योंकि उसका चैतन्य सकल विश्वमें व्याप्त है' ऐसी आपत्ति दे रहे हो ? इनमें प्रथम दोष नहीं आता, कारण कि हम केवल—शुद्ध—चैतन्यको विषयभानका कारण नहीं कहते, क्योंकि वह तो अविद्यासे आवृत है (जो स्वयं आवृत होनेसे प्रकाशमान नहीं है, वह दूसरेके प्रकाशका कारण कैसे हो सकेगा ?) किन्तु अन्तःकरणसे अभिव्यक्त चैतन्यको विषयके प्रकाशका (ज्ञानका) कारण कहते हैं, वे अन्तःकरण (जिनसे चैतन्य अभिव्यक्त होता है) प्रत्येक पुरुषमें व्यवस्थित (भिन्न-भिन्न) हैं। इस प्रकार माननेमें सकल पुरुषोंके भोगोंका सांकर्य कैसे हो सकता है ? [जिसके अन्तःकरणाभिव्यक्त चैतन्यसे विषय संसर्ग होगा उसको ही अनुभव होगा] दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, कारण कि देवदत्तका अन्तःकरण व्यवस्थासे परिच्छिन्न एक साथ

दन्तान्तःकरणं व्यवस्थापरिच्छिन्नं युगपत्कृत्स्नेन जगता सम्बध्यते, येन तदभिव्यक्तचैतन्यबलात् सर्वमसावनुभवेत् ।

परिच्छिन्नस्याऽपि सूर्यरश्मिवत् सर्वव्यापी परिणामः स्यादिति चेद्, न; अन्तःकरणपरिणामसामग्र्याः पुण्यपापनेत्रश्रोत्रादिरूपायाः प्रतिविषयं व्यवस्थितत्वेन परिणामस्याऽपि व्यवस्थासिद्धेः । यस्तु योगमभ्यस्य

सम्पूर्ण जगत्के साथ सम्बन्ध नहीं कर सकता, जिससे उस अन्तःकरणसे अभिव्यक्त चैतन्यके प्रभावसे सारे जगत्का वह अनुभव कर सके। [तत्-तत् देहेन्द्रियसंघातान्तःपाती अन्तःकरण केवल तत्-तत् देहेन्द्रियसंयुक्त विषयसे ही सम्बन्ध कर सकता है एवं उस अन्तःकरणसे अभिव्यक्त चैतन्यका सम्बन्ध भी उन्हीं विषयोंसे हो सकता है, जिनके साथ उसके अभिव्यञ्जक अन्तःकरणका सम्बन्ध होगा। सकल विश्वके साथ नहीं, अतः शुद्ध चैतन्यके सर्वगत होनेपर भी उक्त दोष नहीं आता अर्थात् प्रतिकर्मव्यवस्था बननेमें कोई दोष नहीं है ।]

'परिच्छिन्न [तत्-तत् अन्तःकरणाभिव्यक्त] चैतन्यका भी सूर्य किरणोंकी तरह सर्वव्यापी परिणाम हो सकता है' ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि पुण्य, पाप आँख, कान आदि अन्तःकरणके परिणामकी सामग्रीके प्रतिविषय व्यवस्थित होनेसे परिणामकी व्यवस्था भी सिद्ध हो जाती है, [अर्थात् अदृष्ट—पुण्य और पाप—वश सुख-दुःख आदिके जनक यादृश विषयसे जिसके आंख, कान आदिका संसर्ग हुआ उसका अन्तःकरण उन विषयसंसृष्ट आंख और कानोंके द्वारा निकल कर तादृश विषय देशमें जाकर तत्तदाकार परिणामको प्राप्त हो अपनेमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) के साथ अभेदको प्राप्त हो जाता है, यह निर्दोष व्यवस्थित नियम है, इसके अनुसार अन्तःकरणका तत्तदाकार परिणाम संसर्गके बिना होता ही नहीं, अतः सूर्यकिरणोंका दृष्टान्त प्रकृतमें लागू नहीं हो सकता] जो पुरुष योगाभ्यासके द्वारा अपने अन्तःकरणका सर्वव्यापी परिणामको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीका सम्पादन कर सकेगा उसको एक ही कालमें सकल विश्वका अनुभव होगा ही, इससे कोई हानि नहीं है। [पूर्वमें कह आये हैं कि अन्तःकरणके परिणामका मूल कारण अदृष्टके वशीभूत आंख और कान ही हैं, अतएव 'मनुष्यो यथा पश्यति यथा शृणोति तथा जानाति' (मनुष्य जैसे देखता या सुनता है, वैसे ही

सर्वव्यापिपरिणामसामग्रीं सम्पादयेत् स युगपत्सर्वमवगच्छत्येव न ततः काचिद्धानिः ।

ननु किं चैतन्यस्याऽसङ्गितया स्वतो विषयोपरागाभावात् तत्सिद्ध्येऽन्तःकरणोपाधिः कल्प्येत किं वा सत्यपि तदुपरागे विषयप्रकाशनसिद्ध्ये ? नाऽऽद्यः, असङ्गितयैवाऽवस्थान्तःकरणोपाधावपि तस्याऽनुपरागप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, चित्सम्बन्धादेव प्रकाशसिद्धावुपाधिवैयर्थ्यात् । तत उपाधिपरित्यागे सर्वगतचैतन्येन संयुक्तसर्ववस्तुप्रकाशयौगपद्यं केन वार्यते ।

जानता है,) इस सिद्धान्तकी उपपत्ति होती है । यदि योगी अपने योगाभ्यासके बलसे आँख और कानोंके दर्शन और श्रवणमें देशकालके व्यवधानका प्रतिबन्ध हटा देता है, तो सुतरां उसकी आँख और कानोंका देशकालसे व्यवहित भी विषयके साथ संसर्ग हो जाता है, अतः आँख और कानोंसे विषयसंसर्ग होना अन्तःकरणके परिणामका हेतु है । उस योगीके अन्तःकरणकी सर्वाकार परिणामसामग्री बन जाती है ।]

अन्तःकरणरूप उपाधि माननेका प्रयोजन शङ्कासमाधानपूर्वक सिद्ध करते हैं—चैतन्य (ब्रह्म) संगरहित है, इससे चैतन्यके साथ विषयका संसर्ग स्वतः नहीं हो सकता, क्या इसलिए अन्तःकरणरूप उपाधिकी कल्पना की जाती है ? या (चैतन्यके सर्वव्यापी होनेसे) चैतन्यका विषयसे संसर्ग होनेपर भी विषयके प्रकाशकी सिद्धिके लिए ? अर्थात् विषयसंसर्गके लिए उपाधि मानते हो ? या विषयप्रकाशके लिए ? प्रथम कल्प नहीं बनता, क्योंकि 'चैतन्य' के असङ्ग होनेसे ही अवस्था—परिणामविशेष—को प्राप्त अन्तःकरणरूप उपाधि माननेपर भी विषयका संसर्ग न होनेका दोष आ ही जायगा । (क्योंकि जो पदार्थ असंग है, उसका उपाधिसे भी संसर्ग होना नहीं बन सकता । इसलिए विषयसंसर्गके लिए उपाधि मानना व्यर्थ है ।) द्वितीय विकल्प भी नहीं बनता, क्योकि चैतन्यके साथ संसर्ग होनेसे ही विषयके प्रकाशकी सिद्धि हो जायगी, उसके लिए उपाधिका स्वीकार करना निष्प्रयोजन है । इस प्रकार (उपाधिके निष्प्रयोजन होनेके कारण) उपाधिके न माननेमें सर्वव्यापक चैतन्य (आत्मा)से संयुक्त हुई सब वस्तुओंके ज्ञानका एक साथ ही होना कौन रोक सकता है ?

अथ मन्यसे किं प्रतिबिम्बभूतजीवचैतन्यस्य युगपत् सर्वावभासकत्वमापादयसि किं वा बिम्बभूतब्रह्मचैतन्यस्य ? नाऽऽद्यः, तस्य परिच्छिन्नत्वात्। न द्वितीयः, इष्टत्वात् । जीवब्रह्मणोर्भेदाभावेऽपि किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वे असङ्कीर्णे बिम्बप्रतिबिम्बमुखयोरवदातश्यामत्वे इवेति , नैतत्सारम् ; तथा सति विषयेऽनुभवस्य ब्रह्मचैतन्यरूपतया सर्वज्ञत्ववदहङ्कारावच्छिन्नजीवानुषङ्गाभावाज्जीवस्य किञ्चिज्ज्ञत्वमपि न स्यात् । जीवोपाधेरन्तःकरणस्य चक्षुरादिद्वारा विषयसम्बन्धाज्जीवस्य विषयज्ञातृत्वं घटत इति चेद्, न; अन्तः-

---

यदि मानो कि क्या प्रतिबिम्बभावको प्राप्त जीवचैतन्य सकल वस्तुओंका एक साथ ही प्रकाश करनेवाला होगा ? या बिम्बभूत ब्रह्मचैतन्य ? इनमें पहला पक्ष बन नहीं सकता, क्योंकि वह जीवचैतन्य परिच्छिन्न है, इससे वह सकल वस्तुओंसे संयोग नहीं कर सकता । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानना इष्ट ही है । जीव और ब्रह्मका भेद न होनेपर भी अल्पज्ञत्व और सर्वज्ञत्व का सांकर्य्य नहीं होगा—[अर्थात् जीव अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वज्ञ है यह व्यवस्था बनी ही रहेगी । इसमें दृष्टान्त देते हैं—]बिम्ब और प्रतिबिम्ब भावको प्राप्त हुए दोनों मुखोंकी स्वच्छता और श्यामताके तुल्य । [यद्यपि वस्तुतः ग्रीवास्थ और दर्पणादिस्थ मुखमें भेद नहीं है तथापि ग्रीवास्थ मुखमें स्वच्छता और दर्पणादिस्थ मुखमें श्यामता व्यवस्थित ही रहती है ।] यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विषयनिष्ठ अनुभवके ब्रह्मचैतन्यरूप होनेसे अहङ्कारावच्छिन्न जीवका अनुषङ्ग न होनेसे जीवमें सर्वज्ञत्वकी भाँति अल्पज्ञत्व भी नहीं होगा । [जैसे बिम्बभूत मुखमें प्रतिबिम्बभावका और प्रतिबिम्बगत श्यामताका अनुषङ्ग नहीं होता है वैसे ही बिम्बस्थानीय ब्रह्ममें प्रतिबिम्बस्थानीय अहङ्कारावच्छिन्न जीवका और तद्गत अल्पज्ञत्वका संसर्ग नहीं हो सकता है और न प्रतिबिम्बमें बिम्बत्व या बिम्बगत अवदातत्व आदि धर्मोंका संसर्ग होता है और विषयानुभव वेदान्तमतमें विषयावच्छिन्न चैतन्य बिम्बस्थानीय ब्रह्मरूप ही है उसमें अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य अनुगत नहीं हो सकता, अतः तादृश जीवको, विषयसंसर्ग न होनेसे, किसी भी विषयका प्रकाश नहीं होना चाहिए, यह तात्पर्य है ।]

जीवकी उपाधि अन्तःकरणका चक्षुरादि बहिरिन्द्रियोंके द्वारा विषयके साथ सम्बन्ध हो जानेसे जीवको विषयका ज्ञान होना संगत हो जायगा,

करणसंसृष्टवस्तुज्ञातृत्वे ब्रह्मस्वरूपमपि जीवः सर्वदा जानीयात्। सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽन्तःकरणेऽपि संसृष्टत्वात्।

अथ मतमविद्योपाधिकत्वाज्जीवः सर्वगतः। स च न कृत्स्नं जगदवभासयितुं क्षमः, अविद्यावृतत्वेन स्वयमप्यप्रकाशमानत्वात्। 'अहमज्ञः' इति परिच्छिन्नतयाऽवगताया अप्यविद्यायाः सर्वगतचैतन्यतिरोधायकत्वमप्युपपन्नमेव। नेत्रसमीपे धृतेनाऽङ्गुलिमात्रेण महत आदित्यादेरपि तिरोधानदर्शनात्। एवं च सत्यन्तःकरणोपरागेण यत्राऽऽवरणमभिभूयते तत्रैवाऽभिव्यक्तेन चैतन्येन किंचिदेव प्रकाश्यते न सर्वमपि; तदपि न युक्तम्, कार्यभूताऽ-

---

[अर्थात् वृत्ति द्वारा अहङ्कारावच्छिन्न जीवका विषयसंसर्ग होनेसे जीवका अल्पज्ञत्व बन जायगा] ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अन्तःकरणसे संयुक्त वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर जीवको ब्रह्मस्वरूपका भी सदैव ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि सर्वत्रव्याप्त ब्रह्मका अन्तःकरणके साथ भी संसर्ग है ही [अतः अन्तःकरणसे संयुक्त ब्रह्मका ज्ञान जीवको सदैव होना चाहिए]।

[जीवको अन्तःकरणावच्छिन्न न मानकर अविद्यावच्छिन्न स्वीकार करनेसे सर्वव्यापक होनेपर भी अन्तःकरणके सम्बन्धसे यद्विषयावच्छिन्न चैतन्यगत आवरणका अभिभव होगा, उसी विषयका प्रकाश होगा। अन्यत्र आवरणके उद्भूत रहनेसे प्रकाश नहीं होगा, इससे जीवका अल्पज्ञत्व बन जाता है। इस आशयसे 'अथ मतम्' इत्यादि ग्रन्थसे पूर्वपक्ष करते हैं—] अगर माना जाय कि जीव अविद्योपाधिक होनेसे सर्वत्र व्याप्त है, तो भी वह सम्पूर्ण विश्वका प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि अविद्यासे आच्छन्न होनेके कारण वह स्वयं भी प्रकाशित नहीं हो सकता [दूसरोंका प्रकाश करना तो दूर रहा]। 'अहमज्ञः' (मैं अज्ञान वाला हूं—मैं नहीं जानता) इस प्रकार परिच्छिन्नरूपसे प्रतीत हुई भी अविद्याका—अज्ञानका—सर्वत्र व्यापक चैतन्यको आवृत कर देना युक्तिसंगत ही है। कारण कि आँखके सामने केवल छोटी-सी अङ्गुलि रख देनेसे सूर्य आदि बड़े पदार्थका भी छिप जाना देखा गया है। ऐसी दशामें (चैतन्यके अज्ञानावृत रहनेसे) अन्तःकरणके संसर्गसे जिस स्थलमें आवरणका अभिभव हुआ उस स्थलमें अभिव्यक्त हुआ चैतन्य किसी वस्तुका ही प्रकाश कर सकता है, सम्पूर्णका नहीं। [अर्थात् यद्विषयाकार अन्तःकरणकी वृत्ति हुई उसमें तद्विषया-

न्तःकरणेन स्वोपादानस्याऽज्ञानस्याऽभिभवायोगात् । तस्मान्न केनाऽपि प्रकारेण व्यवस्थासिद्धिरिति ।

अत्रोच्यते—जीवचैतन्यमसङ्गितयाऽन्यत्राऽनुपरज्यमानमपि अन्तःकरणे उपरज्यते, तादृशस्वभावत्वात् । यथा सर्वगताऽपि गोत्वादिजातिः सास्नादिमद्व्यक्तावुपरज्यते, नाऽन्यत्र तद्वत् । अथ व्यक्तिरेव न सर्वगता जातिस्तर्हि प्रदीपप्रभादृष्टान्तोऽस्तु । सा हि रूपरसगन्धवाय्वादिदेशव्यापिन्यपि रूपमेव प्रकाशयति नाऽन्यत् । तथा चाऽन्तःकरणोपाधिश्चैतन्यस्य विषयोपराग-

---

वच्छिन्न चैतन्यके अभिव्यक्त होनेसे उतना ही प्रकाशित हुआ, शेष आवृत ही रह गया, अतः जीवका अल्पज्ञ होना उचित ही है ।] [इस पूर्वपक्षका खण्डन करते हैं—] ऐसा भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कार्यरूप अन्तःकरणसे अपने उपादान कारण अज्ञानका अभिभव होना सम्भव नहीं है । इसलिए किसी भी प्रकार व्यवस्था नहीं बन सकती । [आवरणाभिभव या विषयोपराग दोनों भी प्रयोजन अन्तःकरणरूप उपाधिके नहीं हो सकते, अतः जीवको या तो बिलकुल अज्ञ होना चाहिए या सर्वज्ञ ही होना चाहिए 'जीव अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वज्ञ है' यह कहना तथा प्रमातृत्वादि प्रतिकर्मव्यवस्था किसी भी प्रकार नहीं बन सकती, यह संक्षेपार्थ हुआ] ।

[समाधान देते हैं—] इस पूर्वोक्त पूर्वपक्ष पर कहा जाता है—[अविद्यावच्छिन्न या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है, इस उभयमतसाधारण उपाधिके स्वीकारकी आवश्यकता और सङ्गति दिखाते हैं—] जीव चैतन्य असङ्गी होनेसे अन्य विषयोंमें सम्बन्ध नहीं करता हुआ भी अन्तःकरणमें सम्बन्ध करता है, क्योंकि उसका ऐसा ही स्वभाव है । जैसे सर्वत्र व्याप्त भी गोत्व आदि जाति सास्नादि—गलकम्बल—वाली व्यक्तिमें ही सम्बन्ध करती है, अन्यत्र—एक खुरवाली व्यक्तिमें नहीं, इस दृष्टान्तके तुल्य चैतन्य भी अन्यत्र उपरक्त न होता हुआ भी अन्तःकरणमें उपरक्त होता है । यदि व्यक्ति ही सर्वत्र व्याप्त है, जाति नहीं, यही मत है, तो प्रदीपकी कान्तिको दृष्टान्त समझना चाहिए । वह प्रदीपकी ज्योति—प्रकाश—रूप, रस, गन्ध और वायु आदि प्रदेशोंमें सर्वत्र व्याप्त होती हुई भी जैसे केवल रूपको ही प्रकाशित करती है रस, गन्ध आदिको नहीं, वैसे ही अन्तःकरण-रूप उपाधिका भी असङ्ग चैतन्यके साथ विषयके सम्बन्धकी सिद्धि करनेके

सिद्ध्यर्थो भविष्यति। न चाऽसत्युपरागे चित्प्रकाशो विषयानवभासयितुमीष्टे, प्रदीपप्रकाशवत् संयुक्तद्योतकत्वात्। ब्रह्म हि सर्वोपादानत्वादन्तरेणैवौपाधिकमुपरागं स्वस्वरूपवत् स्वाभिन्नं जगदवभासयति। न तु तथा जीवः, अनुपादानत्वात्। न च स्वतोऽनवभासकस्य जीवस्य घटादिवदन्यसम्बन्धादप्यवभासकत्वं नेति शङ्कनीयम्, केवलवह्नेस्तृणाद्यदाहकत्वेऽप्ययःपिण्डसमारूढस्य तद्दाहकत्वदर्शनात्। तदेवमसङ्गिनः साक्षिचैतन्यस्याऽविद्यानावृतस्य जीवत्वेऽपि स्यादेवाऽन्तःकरणवशाद् व्यवस्था। यदा त्वन्तःकरणप्रतिबिम्बो जीवस्तदाऽपि परिच्छिन्नत्वात् सुतरां व्यवस्था सिध्येत्। विषयानु-

---

लिए स्वीकार करना होगा, क्योंकि विषयके साथ उपराग हुए बिना चैतन्य-प्रकाश विषयका प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; कारण कि चैतन्यका प्रकाश प्रदीपके प्रकाशके तुल्य संयुक्त वस्तुका ही प्रकाश कर सकता है। [इतने ग्रन्थसे जीवके उपाधिवश विषयप्रकाशत्वरूप प्रमातृत्व और किञ्चिज्ज्ञत्वकी उपपत्ति की गई है, अब ब्रह्मकी सर्वज्ञताका समर्थन करते हैं—] ब्रह्मचैतन्य तो सकल विश्वका उपादान होनेसे औपाधिक सम्बन्धके बिना ही अपने स्वरूपकी तरह अपनेसे अभिन्न (भेदरहित) जगत् भासित करता है [अतः ब्रह्म सर्वज्ञ है]। जीव ऐसा (सर्वज्ञ) नहीं है, क्योंकि वह सकल विश्वका उपादान नहीं है। [यदि घट स्वयं प्रकाशक नहीं है, तो वह उपाधिवश भी प्रकाशक नहीं हो सकता, इस दृष्टान्तसे जीवको भी प्रकाशकत्व नहीं बन सकता, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] स्वतः प्रकाश न करनेवाले जीवको घटादिकी भाँति दूसरेके सम्बन्धसे भी प्रकाशकत्व नहीं बन सकता, ऐसी भी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि देखा गया है कि केवल अग्नि (औपाधिक संसर्गशून्य शुद्ध तेजःपुञ्ज) यद्यपि तृणादिका दाह नहीं भी कर सकता है, तथापि लोहपिण्डमें संसक्त होकर (अर्थात् औपाधिक संसर्ग पाकर) तृणादिका दाह करनेवाला हो जाता है, इसी प्रकार सङ्गवर्जित अविद्यानावृत साक्षिचैतन्यको जीव माननेपर भी अन्तःकरणरूप उपाधिके द्वारा सब व्यवस्था बन जायगी। और यदि (उपरोक्त साक्षी चैतन्यको जीव न मानकर) अन्तःकरणप्रतिबिम्बको जीव माना जाय, तो भी जीवके परिच्छिन्न होनेसे बड़ी सुगमतासे व्यवस्था बनेगी [ब्रह्मचैतन्यके अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होनेसे वह

भवस्य ब्रह्मचैतन्यरूपत्वेऽपि जीवोपाध्यन्तःकरणपरिणामे विषयाव्यापिन्यव्यक्तत्वाज्जीवचैतन्यरूपत्वमप्यविरुद्धम् । ब्रह्मणोऽन्तःकरणसंसृष्टत्वेऽपि ब्रह्माकारपरिणतान्तःकरणवृत्त्यभावान्न सदा जीवस्य ब्रह्मज्ञानप्रसङ्गः । नह्यन्तःकरणस्वरूपमात्रं वस्त्वभिव्यञ्जकम्, किन्तु तदाकारपरिणामः । अन्यथाऽन्तःकरणान्तर्गतानां धर्मादीनामप्यभिव्यक्तिप्रसङ्गात् । जीवोऽपि जीवाका-

---

परिच्छिन्न हो जाता है, अतः उसमें परिच्छिन्नप्रमातृत्वरूप अल्पज्ञत्व स्वतः उपपन्न होता है]। [वेदान्तमतमें] विषयानुभवके ब्रह्मचैतन्यरूप होनेपर भी सकल विषयको व्याप्त न करनेवाले जीवकी उपाधि अन्तःकरणके परिणाममें अव्यक्त होनेसे जीवचैतन्यरूप होना भी विरुद्ध नहीं है । [वादीने जो शङ्का की है कि विषयानुभव भी ब्रह्मचैतन्य ही है, उसमें जीवचैतन्यका अनुषङ्ग नहीं है, अतः जीवमें अल्पज्ञत्व भी नहीं बनता, उस शङ्काका उत्तर देते हैं—माना कि विषयानुभव ब्रह्मचैतन्य है, वह तो विषयाकार परिणत अन्त.करणका परिणाम और उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यस्वरूप ही है और वह परिणाम संसृष्टके ही आकारका होगा । सकल विषयके आकारका तो होगा नहीं, अतः सर्वव्यापक ब्रह्मचैतन्य तो उस परिणाममें व्यक्त हो नहीं सकेगा । व्यक्त होगा तो उससे प्रतिम्बित चैतन्य ही जो कि जीव कहलाता है, अतः विषयानुभवको जीवचैतन्य कहना कोई विरुद्ध नहीं है और उसका अल्पज्ञ होना भी संगत है । विषयानुभवको ब्रह्मचैतन्य कहना जीव और ब्रह्मके अभेदको लेकर या अनुभवसामान्यके बलसे समझना चाहिए ।] ब्रह्मका अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध होनेपर भी ब्रह्माकारमें परिणत अन्तःकरणकी वृत्ति न होनेसे जीवको सदैव ब्रह्मज्ञानका प्रसङ्ग भी नहीं आता [जिस विषयके आकारका अन्तःकरण परिणाम होता है, जीवके व्यापकपक्षमें उसी विषयसे अवच्छिन्न चैतन्यगत आवरणका अभिभव अथवा परिच्छिन्नपक्षमें उसी विषयसे चैतन्य (साक्षी) का संसर्ग होता है और ज्ञान भी उसी विषयका होता है, अतः ब्रह्माकार वृत्तिके बिना ब्रह्मगत आवरणका अभिभव नहीं हो सकता] क्योंकि अन्तःकरण स्वरूपतः वस्तुका अभिव्यञ्जक नहीं है, किन्तु तत्-तत् विषयके आकारका परिणाम [ही वस्तुका अभिव्यञ्जक है]। यदि अन्तःकरण स्वरूपतः व्यञ्जक माना जाय, तो अन्तःकरणके अन्दर विद्यमान धर्म आदिका भी प्रत्यक्ष होने लगेगा । जीव

राहंवृत्तिरूपेण परिणतेऽन्तःकरणेऽभिव्यज्यते, नाऽन्तःकरणमात्रे; सुषुप्तावहंवृत्त्यभावे जीवाप्रतीतेः। तदित्थमन्तःकरणप्रतिबिम्बस्य जीवत्वेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्थायां न कोऽपि विघ्नः।

यदा चाऽविद्योपाधिकः सर्वगतो जीवस्तदाऽप्यावरणतिरोधायकेनाऽन्तःकरणेन व्यवस्था सिध्येत्। सम्भवति हि कार्यस्याऽप्युपादानतिरोधायकत्वम्, वृश्चिकवृक्षादिकार्यस्य गोमयमृदादिकारणस्वभावतिरोधायकत्वदर्शनात्। नहि वृश्चिकशरीरे गोमयं प्रत्यभिज्ञायते वृक्षादौ वा मृत्स्वरूपम्। तदेवं

भी जीवाकार अहंवृत्तिके परिणामको प्राप्त हुए अन्तःकरणमें अभिव्यक्त—प्रकाशित—होता है, अन्तःकरणमात्रमें नहीं, क्योंकि सुषुप्तिमें अहंवृत्तिके न होनेसे जीवकी प्रतीति भी नहीं होती है। इस प्रकार अन्तःकरणमें चैतन्यके प्रतिबिम्बको जीव माननेपर भी प्रतिकर्मव्यवस्थामें कोई भी विघ्न—बाधा—नहीं है।

[अब अविद्योपाधिक पक्षमें प्रतिकर्मव्यवस्थाकी सिद्धि करते हैं—] यदि अविद्योपाधिसे जीवको सर्वगत (व्यापक) माना जाय, तो भी आवरणका अभिभव करनेवाले अन्तःकरणके द्वारा सब व्यवस्था सिद्ध हो जायगी। [जीव व्यापक होनेसे विषयसंसर्ग तो स्वयं भी कर लेता है, परन्तु अविद्यावरण होनेसे प्रकाश नहीं कर सकता। विषयाकार परिणाम द्वारा आवरणके हट जानेसे प्रकाश होता है, इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिकर्मव्यवस्था सिद्ध होती है। अविद्याकार्य अन्तःकरण अपने उपादानका अभिभव कैसे कर सकता है? वादीकी इस शङ्काका दृष्टान्त द्वारा निराकरण करते हैं—] क्योंकि कार्यका अपने उपादानको छिपा देना भी सम्भव है, कारण! देखा गया है कि वृश्चिक—बिच्छू या पेड़ आदिरूप कार्य अपने गोमय—गोबर—या मिट्टी आदि उपादान कारणके स्वभावका तिरोधान कर देते हैं। बिच्छूके शरीरमें गोमयकी प्रत्यभिज्ञा—पहिचान—नहीं होती और न वृक्षादिमें मिट्टीका स्वरूप ही पहिचाना जाता है। [प्रकृतमें भी अन्तःकरणरूप अविद्याकार्य विषयाकारमें परिणत होनेपर अपने उपादानभूत अविद्याका आवरण करनेवाले स्वभावका विनाश कर देता है, जिससे वस्तुका प्रकाश हो जाता है और तद्विषयावच्छिन्न चैतन्यमें अविद्याका स्वरूप देखता नहीं है; अन्यथा उसका प्रकाश ही नहीं हो सकता।]

वेदान्तिमते सर्वेणाऽपि प्रकारेण प्रमात्रादिव्यवहारसिद्धौ पूर्वपूर्वाहङ्कारकृतप्रमातृत्वादिसंस्कारेण सविकल्पके चैतन्ये सम्भवत्येव सविकल्पकाहङ्काराद्यध्यासः।

न च सर्वस्य ज्ञेयस्य चैतन्यविवर्तत्वे चैतन्यातिरेकेणाऽसत्त्वाद् विज्ञानवादिमतप्रवेश इति वाच्यम्, किञ्चित्साम्यान्मतान्तरप्रवेशे सर्वमतसाङ्कर्यस्य दुरपवादत्वात्। सर्वसाम्यं तु प्रकृतेऽपि नाऽस्ति। विज्ञानवादी हि क्षणिकान्यनेकानि विज्ञानानि विषयाश्च तेभ्योऽभिन्ना इत्याह। तत्त्वदर्शी तु नित्यमद्वितीयं विज्ञानं विषयाश्च तत्राऽध्यस्ताः पृथगर्थक्रियासमर्थास्तेषां

इस उपरोक्त रीतिसे वेदान्तीके मतमें सब प्रकार प्रमातृ आदि [आदि पदसे प्रमाण, प्रमेय तथा प्रतिकर्मव्यावस्थाका ग्रहण है] व्यवहारकी सिद्धि होनेपर पूर्व-पूर्व अहङ्कारके कारण उत्पन्न हुए प्रमातृत्व आदि संस्कारसे सविकल्पक चैतन्यमें सविकल्पक अहङ्कारादिका अध्यास सम्भव ही है।

यदि सम्पूर्ण घट, पट आदि ज्ञेय पदार्थ चैतन्यके ही विवर्त हैं, तो चैतन्यसे अतिरिक्त किसी भी पदार्थके न होनेसे विज्ञानवादीके मतमें प्रवेश होता है। [जैसे विज्ञानवादी बौद्धके मतमें विज्ञानसे अतिरिक्त जगत् कुछ भी नहीं है वैसे ही ज्ञेयरूप जगत्को चैतन्यविवर्त माननेमें विज्ञानस्वरूप चैतन्यसे अतिरिक्त कुछ नहीं होगा, क्योंकि विवर्तवादमें अधिष्ठानके अतिरिक्त अध्यस्त कुछ नहीं रहता; इसलिए इस मतमें और विज्ञानवादमें कोई भेद नहीं रहा।] ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यदि कुछ थोड़ी-सी समानता होनेसे परमतप्रवेश हो, तो सम्पूर्ण मतका साङ्कर्य हो जायगा, क्योंकि यत्किञ्चित् समानता सब मतोंमें है। [अर्थात् परमतप्रवेश माननेमें सम्पूर्ण सिद्धान्तका साम्य होना आवश्यक है यत्किञ्चित्साम्य ही परमतप्रवेशका प्रयोजक नहीं हो सकता।] सम्पूर्ण सिद्धान्तकी समानता तो प्रकृतमें भी नहीं है। [भेद दिखलानेके लिए दोनों मतोंको दिखाते हैं—] कारण कि विज्ञानवादी (बौद्ध) विज्ञानको क्षणिक और अनेक तथा विषयोंको उससे अभिन्न मानता है। तत्त्वद्रष्टा (वेदान्ती) तो विज्ञानको नित्य, अद्वितीय एक तथा विषयोंको उसमें अध्यस्त और उससे पृथक् तथा अर्थक्रियासमर्थ—व्यवहारसम्पादनमें पटु—और उनका अबाधित स्थायित्व है, ऐसा मानता है।

चाऽबाधितं स्थायित्वमस्तीति वदति ।

अद्वितीयं हि संवेदनम्, सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् । घटसंवित्पटसंविदिति भेदावभासो विषयोपाधिको न स्वाभाविकः । अद्वितीयत्वादेव संविदोऽपि नित्यत्वम् । न च संविद्विषयावभिन्नौ, प्रत्यक्त्वाप्रत्यक्त्वरूपेणाऽनुवृत्त-व्यावृत्तरूपेण चाऽत्यन्तविलक्षणत्वात् । विषयाणां च पृथगर्थक्रियासामर्थ्य-मनुभवसिद्धम् । स्थायित्वं च प्रत्यभिज्ञानादवगन्तव्यम् । तस्माच्चैतन्येऽ-हङ्काराद्यध्यासेऽपि नाऽस्ति मतसाङ्कर्यमिति सिद्धम् ।

नन्वित्थं विज्ञानवादी मनुते—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
अन्यचेत् संविदो नीलं न तद्भासेत संविदि ॥

[वेदान्तमतका समर्थन करते हैं—] संवेदन—अनुभव—अद्वितीय एक है, क्योंकि उसका सर्वत्र प्रत्यभिज्ञान—एक-सा ज्ञान—होता है। घटज्ञान एवं पटज्ञान ऐसा भेदज्ञान तो घट, पट आदि विषयके कारण औपाधिक है स्वाभाविक नहीं है। और अद्वितीय होनेसे ही ज्ञानका भी नित्यत्व सिद्ध होता है । संवित्—ज्ञान— और विषय अभिन्न नहीं है, क्योंकि दोनों प्रत्यक्त्व और अप्रत्यक्त्वरूपसे तथा अनुवृत्त तथा व्यावृत्तरूपसे अत्यन्त विलक्षण हैं । [चैतन्यात्मक संवित् प्रत्यक् अक्षररूप तथा मालामें सूत्रकी तरह सर्वत्र व्याप्त है और विषय बाह्यरूप तथा प्रत्येक परस्पर भिन्न-भिन्न हैं] और विषयोंकी पृथक् व्यवहार सम्पादनसामर्थ्य अनुभवसे सिद्ध ही है। और स्थायित्व प्रत्यभिज्ञा ज्ञानसे ही सिद्ध है, इसलिए चैतन्यमें अहङ्काराध्यासके माननेसे भी मतसाङ्कर्य नहीं हो सकता।

[पुनः विज्ञानवादी बौद्धमतकी समानता दिखलाते हैं—]

विज्ञानवादी बौद्ध ऐसा स्वीकार करता है—

नील (विषय) और उसका ज्ञान दोनोंका अभेद है, क्योंकि दोनोंके साथ-साथ ही उपलम्भ—प्रकाश—का नियम है (अर्थात् नीलादि विषय और उनका ज्ञान साथ-साथ उपलब्ध होते हैं। विषयके बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञानके बिना विषय नहीं। अतः उनका अभेद मानना उचित है। यदि संवित् (विज्ञान) से नील भिन्न होता, तो उसका विज्ञानमें भान

भासते चेत् कुतः सर्वं न भासेतैकसंविदि ।
नियामकं न सम्बन्धं पश्यामो नीलतद्धियोः ॥

संविज्जनकत्वमेव नियामकः सम्बन्ध इति चेद्, न; इन्द्रियस्याऽपि तज्जनकस्य विषयत्वप्रसङ्गात् । तस्मादभेद एव नीलतद्धियोः । 'अहमिदं जानामि' इति ज्ञातृज्ञेयज्ञानानि विविक्तस्वरूपाणि परस्परं सम्बद्धान्यनुभूयन्ते इति चेद्, न; क्षणिकानां सम्बन्धानुपपत्तेः । स्थायित्वे हि ज्ञातृज्ञेययोर्जि-

(प्रकाश) नहीं होना चाहिए ।

यदि [भिन्न होनेपर भी] भासित होता है, तो एक ही विज्ञानमें सब कुछ क्यों नहीं भासित हो जाता, क्योंकि नील और नीलविज्ञानका नियामक सम्बन्ध तो कोई दीख नहीं पड़ता ।

[यदि नील और नीलबुद्धि परस्पर भिन्न दो पदार्थ हैं, तो इन दोनोंका सम्बन्ध कोई-न-कोई अवश्य होगा । यदि सम्बन्धके बिना भी नीलबुद्धिमें नील भासित होता है, तो नील ही क्यों भासित होता है ? सभी पदार्थ नीलबुद्धिमें ही क्यों नहीं भासित होते, क्योंकि ऐसा कोई नियामक सम्बन्ध तो है नहीं, जिससे ऐसा नियम किया जा सके कि नीलबुद्धिमें नील ही भासित होता है, दूसरा पदार्थ नहीं । अतः यही मानना होगा कि नील पदार्थ और नीलबुद्धि एक ही वस्तु हैं ।]

ज्ञानका जनक नील है, अतः संविज्जनकत्व सम्बन्ध ही नियम करनेवाला सम्बन्ध होगा, यह मानना भी नहीं बनता, क्योंकि ज्ञानकी जनक इन्द्रियाँ भी हैं, अतः उनमें भी विषयत्व होनेका प्रसङ्ग आ जायगा [यदि बौद्धमतमें ज्ञानजनकत्वरूप सम्बन्ध तत्-तत् ज्ञानकी विषयताका नियामक माना जाय, तो चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी नीलादिज्ञानकी जनक होती ही हैं, इसलिए उनमें भी नीलादिज्ञानकी विषयता चली जायगी । इसलिए नीलविषय और नीलज्ञान—इन दोनोंमें अभेद ही है, यह बौद्धोंका भाव है] ।

शङ्का—'मैं इसको जानता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभवसे ज्ञाता, विषय और ज्ञान ('अहम्' प्रतीतिसे ज्ञाता और 'इदम्' से विषय तथा 'जानामि' से ज्ञान) ये तीनों अंश पृथक्-पृथक् स्वरूपवाले एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते हुए अनुभवमें आते हैं [इससे विषय और ज्ञानका अभेद मानना अनुभवविरुद्ध है, अन्यथा 'जानामि' (जानता हूँ) या 'इदम्' (इसको) इन दो पदोंमें से एक ही पदके देनेसे ज्ञान और ज्ञेय दोनोंका बोध होना चाहिए और क्रियाकर्मभावकी—ग्राह्यग्राहकत्वकी—प्रतीति नहीं होनी चाहिए] ।

ज्ञासान्तरोत्पन्नज्ञानक्रियाद्वारा सम्बन्धो युज्येत, स कथं क्षणिकयोः स्यात्? तस्मादेवं कल्पयितव्यम्—प्रथमं तावदहमिति इदमिति च जानामीति च ज्ञानत्रयं तत्तदाकारोपप्लुतं क्रमेणोत्पन्नम्; ततः प्रथमद्वितीयज्ञानाख्यवासनावासितात् तृतीयज्ञानात् तदनुरूपमाकारत्रयोपप्लुतं ज्ञानान्तरमुत्पन्नमिति। एवं

समाधान—नहीं—उपर्युक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि क्षणिक पदार्थोंका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। पदार्थोंके स्थायी होनेपर ही ज्ञाता* तथा ज्ञेयका जिज्ञासासे उत्पन्न ज्ञानक्रिया—बाह्य तथा आभ्यन्तर इन्द्रियोंके व्यापार—द्वारा ही सम्बन्ध हो सकता है, वह सम्बन्ध क्षणिक पदार्थोंका किस प्रकार होगा?

[बौद्ध 'इदमहं जानामि' (मैं इसे जानता हूँ) इस अनुभवकी उपपत्ति दिखलाता है—] इसलिए ऐसी कल्पना करनी चाहिए—[यद्यपि अनुभवमें 'मैं' 'इसे' 'जानता हूँ' इस प्रकार तीनों पृथक्-पृथक् होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, तथापि क्षणिक होनेसे सम्बन्ध तो इनमें बन नहीं सकता और ज्ञानमें नीलादि विषयका प्रतिभास निर्विवाद है। इसकी उपपत्ति बतलाना सबको अनिवार्य है, अतः प्रतिभासकी उपपत्तिके लिए आगे लिखी कल्पना ही उपयुक्त है] 'मैं इसको जानता हूँ' ऐसा परस्पर सम्बद्ध एक ज्ञान नहीं होता है, किन्तु प्रथम 'मैं' यह ज्ञान, अनन्तर 'इसको' यह द्वितीय ज्ञान और तदनन्तर 'जानता हूँ' यह तृतीय ज्ञान होता है। इस प्रकार 'मैं' 'इसको' 'जानता हूँ'—इन तीनों आकारोंसे व्याप्त भिन्न-भिन्न तीन ज्ञान क्रमसे एक दूसरेके पीछे उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर प्रथम और द्वितीय ज्ञानरूपी वासनासे वासित हुए तृतीय ज्ञानसे इसके अनुरूप तीन आकारवाला अतिरिक्त ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रक्रिया माननेसे 'क्षणिक

* ज्ञान और विषय—ज्ञेय—के अभेद या भेदके विवादरूप प्रकरणसे तथा विवरणग्रन्थके 'स्थायित्वे हि विज्ञानविषययोः क्रियानिमित्त०' इत्यादि पाठसे 'ज्ञातृ' इस पाठकी अपेक्षा 'ज्ञान' यह पाठ अच्छा मालूम होता है। आगे स्वयं विवरणप्रमेयसंग्रहकार भी लिखते हैं—'ज्ञानज्ञेययोः सम्बन्धानिरूपणेन० इत्यादि' अथवा इस मतमें क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त चेतन कुछ नहीं है और चेतन ही प्रमाता—ज्ञाता—है, इसलिए ज्ञान और ज्ञातृका अभेद मानकर ज्ञानके स्थानमें ज्ञातृपदका निवेश किया गया है। यही कारण है कि ज्ञातासे ज्ञेयका सम्बन्ध दिखलाया गया है। ज्ञानके साथ ज्ञेयसम्बन्ध दिखलानेका तात्पर्य भी चेतनके साथ ही विषयसम्बन्ध दिखलानेमें है।

सति क्षणिकज्ञानमेव विषयाकारमित्यभ्युपेयम् । अन्यथा ज्ञानज्ञेययोः सम्बन्धानिरूपणेन ज्ञेयं न प्रतीयेत । न च ज्ञानक्षणिकत्वे विवदितव्यम् । यथा नीलज्ञानं नीलस्य पीतादिव्यावृत्तिमपि बोधयति तथा वर्त्तमानत्वेनाऽवभासमानं ज्ञानं स्वस्य भूतभविष्यत्कालद्वयसम्बन्धव्यावृत्तिमपि बोधयिष्यति । ततो ज्ञानस्य क्षणिकत्वं प्रत्यक्षसिद्धमिति ।

अत्रोच्यते—न ज्ञानं क्षणिकम्, प्रतिक्षणं स्वरूपभेदानवभासात् । अतिसादृश्याद्भेदानवभास इति चेद्, न; विकल्पासहत्वात् । किं संविद्धर्मो

ज्ञान ही विषयका आकार है' ऐसा मानना पड़ेगा, नहीं तो ज्ञान और ज्ञेयके सम्बन्धका निरूपण न हो सकनेसे ज्ञेयकी प्रतीति ही नहीं होगी। [तात्पर्य यह है कि ज्ञान और ज्ञेयका आगन्तुक सम्बन्ध बन नहीं सकता, अतः उनमें स्वाभाविक अभेद ही मानना चाहिए, नहीं तो विषयके प्रतिभासकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी।] और ज्ञानको क्षणिक माननेमें विवाद तो करना ही नहीं चाहिए (अर्थात् ज्ञान क्षणिक ही है, इसमें विवादका अवसर नहीं है)। [ज्ञानकी क्षणिकताका साधन करते हैं—] जैसे नीलज्ञान नीलका पीतादिसे भेद भी दिखलाता है, वैसे ही वर्तमानरूपसे प्रतीयमान ज्ञान अपने भूत तथा भविष्य दोनों कालोंके सम्बन्धका अभाव भी प्रकट करेगा। इससे ज्ञानकी क्षणिकता प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध होती है।

[इस 'न चेत्थं विज्ञानवादी मनुते' से लेकर 'प्रत्यक्षसिद्धमिति' तकके प्रबन्धसे प्रतिपादन किये गये बौद्धमतका अगले ग्रन्थसे खण्डन करते हैं—] इस शङ्कापर उत्तर कहा जाता है—ज्ञान क्षणिक नहीं है, क्योंकि प्रतिक्षण ज्ञानके स्वरूपभेदकी प्रतीति नहीं होती। [यदि ज्ञान क्षणभर ही टिकनेवाला होता, तो दूसरे क्षणमें हुए ज्ञान और पूर्वक्षणमें हुए ज्ञानमें परस्पर स्वरूपभेदकी प्रतीति होती, परन्तु ऐसा अनुभवमें आता नहीं है, अतः पूर्वोत्पन्न ज्ञान ही द्वितीयादि क्षणमें भी स्थायी रहता है, इससे स्वरूपभेदका प्रसङ्ग ही नहीं आता।] 'अत्यन्त सदृश होनेसे स्वरूपभेदकी प्रतीति नहीं हो सकती' यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह समाधान विकल्पोंको नहीं सह सकता [प्रतिपाद्यकी समर्थक युक्तियोंका समन्वय न हो सकना ही विकल्पासहत्व कहलता है] क्या ज्ञानका धर्म भेद है और वह भेद दूसरे

ज्ञानान्तरगम्यश्च भेदः किं वा संवित्स्वरूपभूतस्तयैव संविदा वेद्यः ? आद्येऽपि धर्मिप्रतियोगिभूतयोः संविदोः संविदन्तराविषयत्वे तयोर्भेदग्रहो न सिध्येत। विषयत्वे वा धर्मिप्रतियोगिभेदाख्यत्रितयमपि भेदसंवेदने कल्पितं तदभिन्नं च स्यात्। द्वितीये संवित्स्वरूपभूतो भेदः सादृश्यान्नाऽवभासत इत्युक्ते संविदेव नाऽवभासत इत्युक्तं स्यात्, ततो जगदान्ध्यप्रसङ्गः। अथाऽपि संविदां

ज्ञानसे जाना जा सकता है ? अथवा ज्ञानका स्वरूप भेद है और वह भेद उसी ज्ञानसे प्रतीत होता है ? प्रथम विकल्प माननेमें भी यदि धर्मी और प्रतियोगीरूप दो ज्ञान भेदके ग्राहक दूसरे ज्ञानके विषय न माने जायँ, तो उन दोनोंके भेदका ग्रहण ही सिद्ध नहीं होगा। [भेद दो पदार्थोंके बिना नहीं हो सकता, इसलिए दो ज्ञानोंमें ही भेद होगा, जिस ज्ञानका भेद धर्म है, वह ज्ञान धर्मी हुआ और जिस ज्ञानका वह भेद है वह ज्ञान प्रतियोगी हुआ। यदि ये दो ज्ञान भेदग्राहक अतिरिक्त तृतीय ज्ञानके विषय न माने जायँ, तो धर्मिज्ञानके न होनेसे धर्मभूत भेदका ज्ञान कैसे होगा ? इससे ज्ञानकी क्षणिकताका साधक भेद ही सिद्ध नहीं हो सकता, यह तात्पर्य हुआ।] यदि अन्य ज्ञानके विषय वे होते हैं, ऐसा माना जाय, तो धर्मी, प्रतियोगी और भेद ये तीनों भेदज्ञानमें कल्पित होंगे और भेदज्ञानसे अभिन्न होंगे। [तात्पर्य यह है कि केवल भेदमात्र तो अतिरिक्त ज्ञानका विषय नहीं होगा, किन्तु धर्मी और प्रतियोगीसे विशिष्ट ही भेद ज्ञानका विषय होगा; इससे धर्मी और प्रतियोगीभूत ये दोनों ज्ञान तथा भेद तीनों विषय हुए। विज्ञानवादी बौद्धके मतमें बाह्य विषय नहीं है, सब ज्ञानसे कल्पित ही हैं, इसलिए ये तीनों भी भेदज्ञानसे ही कल्पित हुए। और जैसे ज्ञानसे कल्पित घटादिविषय ज्ञानसे अभिन्न माने जाते हैं, वैसे ही भेदज्ञानसे कल्पित प्रकृत धर्मी और प्रतियोगीभूत दोनों ज्ञान और भेद तीनों भेदज्ञानसे अभिन्न हो जायँगे। इस प्रकार अभेद हो जानेपर भेदसिद्धिमें कुठाराघात हो जानेसे ज्ञानकी क्षणिकता नहीं बन सकती।] द्वितीय कल्पमें ज्ञानका स्वरूप ही भेद है और वह अतिसादृश्यसे प्रतीत नहीं होता है, इसका तात्पर्य तो यही होगा कि ज्ञानका स्वरूप ही प्रकाशित नहीं होता है, ऐसी दशामें ज्ञानस्वरूपमें प्रकाशित होनेवाला सारा प्रपञ्च ही प्रकाशित नहीं होगा। [इसे आप माननेको उद्यत नहीं होंगे। अतः ज्ञानभेद बन ही नहीं सकता,

सादृश्यनिर्वाहाय भेदोऽङ्गीक्रियत इति चेत्, सादृश्यस्य मानहीनत्वादैक्याव-भासविरुद्धत्वाच्च। न च वाच्यमैक्यावभासस्य भ्रमत्वान्न सादृश्यविरोधित्वं प्रत्युतैक्यभ्रम एव भिन्नेषु सादृश्यमन्तरेणाऽनुपपन्नस्तत्कल्पक इति, अन्यो-न्याश्रयत्वात्। संविदां भिन्नत्वे सादृश्ये च सिद्धे सत्यैक्यावभासस्य भ्रम-त्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ चेतरसिद्धिरिति।

अथ मतम्—सादृश्यस्य मानहीनत्वमानविरोधित्वयोः सिद्धावै-क्यप्रत्ययस्य प्रामाण्यसिद्धिस्तत्सिद्धावितरसिद्धिरिति तुल्यं तवापीतरेतरा-श्रयत्वमिति, तन्न; ऐक्यबोधिकायाः प्रत्यभिज्ञाया मया स्वतःप्रामा-ण्याङ्गीकारात्।

ननु केयं प्रत्यभिज्ञा नाम? न तावदेकस्याऽतीतवर्त्तमानकालद्वयसंबन्ध-

---

इससे ज्ञानकी क्षणिकता बहुत दूर चली गई।] यदि कहा जाय कि ज्ञानोंके परस्पर सादृश्यकी सिद्धिके लिए भेद मानना आवश्यक है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानोंका सादृश्य माननेमें कोई प्रमाण नहीं है और ज्ञानोंकी अनुभूयमान एकताके साथ विरोध भी है। और ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि 'एकताकी प्रतीति भ्रममूलक है' इससे सादृश्यका विरोध नहीं हो सकता, प्रत्युत परस्पर भिन्न-भिन्न ज्ञानोंमें सादृश्यके बिना नहीं उपपन्न होता हुआ एकता-भ्रम ही सादृश्यकी कल्पना करनेवाला है, क्योंकि ऐसा माननेमें अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। [अन्योन्याश्रय दिखलाते हैं—] ज्ञानोंके परस्पर भिन्न होने तथा सादृश्यकी सिद्धि होनेपर ही एकताकी प्रतीतिको भ्रम कह सकते हैं और एकता-भ्रमके सिद्ध होनेपर ही भेद तथा सादृश्यकी सिद्धि हो सकती है।

यदि यह मानो कि 'जब सादृश्यमें प्रमाणहीनता वा प्रमाणविरोध सिद्ध हो जाय तब एकताज्ञान प्रमाज्ञान कहा जा सकता है और जब एकताज्ञानकी प्रमाण द्वारा सिद्धि प्राप्त हो जाय, तब दूसरे पक्षकी सिद्धि होगी, इस प्रकार तुम्हारे मतमें भी इतरेतराश्रय दोष समान ही है, तो यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि एकताको सिद्ध करनेवाली प्रत्यभिज्ञा मेरे मतमें स्वतःप्रमाण है [—इसकी सिद्धिके लिए प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं है, जिससे कि उपर्युक्त दोषका अवसर हो]।

[प्रतिवादी शङ्का करता है—]यह प्रत्यभिज्ञा कौन पदार्थ है? यह नहीं

विषयं प्रत्यक्षज्ञानं प्रत्यभिज्ञा; प्रत्यक्षज्ञानस्य वर्त्तमानमात्रार्थग्राहित्वात्। पूर्वानुभवसंस्कारसहितादिदानीन्तनवस्तुप्रमितिकारणाज्ञातस्य तस्य तथात्वमिति चेद्, एवमप्यात्मनि सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञा न सिध्येत्। नित्ये स्वयंप्रकाशे तस्मिन् संस्कारस्य जन्यज्ञानस्य चाऽसम्भवात्। नाऽपि स्वरूपज्ञानमेव प्रत्यभिज्ञा, तस्य प्रदीपप्रभावद्वर्तमानप्रकाशिनः पूर्वापरपरामर्शात्मकत्वायोगात्। अस्मन्मते तु सोऽहमित्याकारद्वयोपप्लुतं ज्ञानद्वयमेतन्न प्रत्यभिज्ञा। तस्मादनया दुर्निरूपया प्रत्यभिज्ञया कथमैक्यसिद्धिः ?

कह सकते कि एक ही घट, पटादि विषयका भूत और वर्तमान दोनों कालके सम्बन्धको विषय करनेवाला प्रत्यक्षज्ञान प्रत्यभिज्ञा है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान वर्तमान विषयको ही ग्रहण करता है। 'पूर्वानुभवसे—भूतकालमें हुए प्रत्यक्षसे—उत्पन्न संस्कारसे सहकृत वर्तमानकालिक वस्तुके चक्षुःसन्निकर्षादि प्रमाज्ञानके कारण द्वारा उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष उक्त प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा कहा जा सकता है' यदि ऐसा कहो, तो आत्माको विषय करनेवाली 'वह मैं हूँ' इस प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि नित्य और स्वयंप्रकाश आत्मामें संस्कार तथा जन्य ज्ञानका सम्भव नहीं है। [विज्ञानस्वभाव आत्मा क्षणिक तो नहीं है वह स्थायी अर्थात् नित्य है और स्वयंप्रकाश होनेसे किसी अतिरिक्त ज्ञानका विषय भी नहीं है, इसलिए नित्य स्वयंप्रकाश विज्ञानस्वरूप होनेसे उसका नाश होगा नहीं, इससे उसमें संस्कार भी नहीं हो सकता। इसलिए जब आत्मविषयक कोई अतिरिक्त वर्तमानकालिक प्रमाकारण हो ही नहीं सकता, तब जन्यज्ञान—प्रत्यभिज्ञा—का विषय आत्मा कैसे होगा, यह तात्पर्य है] स्वरूपज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा है, ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि दीपककी प्रभाके समान वह स्वरूपज्ञान वर्तमानका ही प्रकाश करता है, पूर्व और अपर—भूत और वर्तमान—दोनों कालोंका परामर्श नहीं कर सकता। हमारे (विज्ञानवादीके) मतमें तो 'सोऽहम्, (वह मैं) इस प्रकार (वह और मैं) इन दो आकारोंसे व्याप्त दो ज्ञान हैं, प्रत्यभिज्ञा नामक एक ज्ञान नहीं है। इसलिए जिस प्रत्यभिज्ञाका निरूपण नहीं बन सकता, ऐसी प्रत्यभिज्ञासे विज्ञानकी एकता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

[उपर्युक्त पूर्वपक्षका उत्तर देते हुए प्रत्यभिज्ञाका साधन करते हैं—]

उच्यते—केवले चिदात्मनि जन्यज्ञानतत्संस्कारयोरसम्भवेऽप्यन्तःकरणविशिष्टे तत्सम्भवादुक्तप्रत्यभिज्ञा किं न स्यात् ? न च विशिष्टस्य प्रत्यभिज्ञाविषयत्वे तस्यैव प्रत्यभिज्ञातृत्वमपीति कर्मकर्तृत्वविरोधः शङ्कनीयः, सर्ववादिनां देहव्यतिरिक्ताद्यनुमानविषयतयाऽऽत्मनि कर्मकर्तृभावस्य सम्प्रतिपन्नत्वात् ।

अथ मतम्—नाऽनुमानादौ विषयस्य कर्मकारकत्वम्, अतीतादिवस्त्वनुमाने विषयस्याऽविद्यमानस्य ज्ञानजनकत्वायोगात् । विषयत्वं त्वविद्यमानस्याऽपि कथंचित् सम्भविष्यति, ज्ञानस्य तदाकारत्वात् । ततोऽनुमानादौ

यद्यपि केवल शुद्ध चिदात्मामें जन्यज्ञान तथा संस्कार नहीं बन सकते, तथापि अन्तःकरणविशिष्ट आत्मामें दोनोंका सम्भव है, इसलिए सब अन्तःकरणविशिष्ट आत्मविषयक उक्त प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं हो सकती है ? ['सोऽहम्' इसी प्रत्यभिज्ञामें अन्तःकरणविशिष्ट ही आत्मा विषय होता है ।] विशिष्ट ही आत्मा प्रत्यभिज्ञाका विषय (कर्मकारक) और वही (विशिष्ट ही) प्रत्यभिज्ञाका कर्ता होगा, इससे एकको ही कर्ता और कर्म होना विरुद्ध होगा, इस प्रकार शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि इस बातको सभी वादी स्वीकार करते हैं कि देहव्यतिरिक्त आत्मा आदि अनुमानका विषय होनेसे उनमें कर्तृकर्मभाव दोनों होते हैं । ['आत्मा देहेन्द्रियाद्यतिरिक्तः, आत्मत्वात् चेतनत्वाद्वा' इत्यादि अनुमानका विषय—कर्मकारक—भी आत्मा ही है और अनुमाता अर्थात् अनुमान करनेवाला कर्ता भी आत्मा ही है, इससे आत्मामें कर्मकर्तृत्व दोनों भाव रहते ही हैं, अन्यथा आत्माका देहेन्द्रियादिसे भिन्न होना अप्रामाणिक हो जायगा ।]

अनुमान आदि (प्रत्यक्षेतर) ज्ञानोंमें विषय कर्मकारक नहीं माना जाता है, क्योंकि भूतकालीन वस्तुके अनुमानमें अविद्यमान विषयको ज्ञानजनकत्व नहीं बन सकता । [ज्ञानजनक ही कर्मकारक होता है, अतः कर्मका प्राधान्य होता है । अविद्यमान पदार्थ जनक (प्रधान) नहीं हो सकता, अतः भूत और भविष्यद् अनुमानके अनुरोधसे अनुमानका विषय कर्म नहीं माना जा सकता । विज्ञानवादी विषयत्व और कर्मत्वको एक समझनेवाले वादीको उत्तर देता है— विषय तो अविद्यमान वस्तु भी किसी-न-किसी प्रकार हो सकती है, क्योंकि ज्ञान तो तद्विषयके आकारवाला ही होता है । [इसलिए ज्ञानके आकारका समर्पक भी

कर्तृत्वमेव आत्मनः, प्रत्यक्षे तु विषयस्य ज्ञानजनकतया कर्मकारकत्वम्, ततो विरोधस्तदवस्थ इति, मैवम्; अन्तःकरणविशिष्टतयैवाऽऽत्मनः प्रत्यभिज्ञातृत्वं पूर्वापरकालविशिष्टतया च प्रत्यभिज्ञेयत्वमित्युपाधिभेदेनाऽविरोधात्। किमेतावता प्रयासेन प्रत्यभिज्ञैव मा भूदिति चेद्, न; सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायाः स्वानुभवसिद्धत्वात्। अविसंवादित्वेन च भ्रान्तित्वायोगात्। यदुक्तम्—सोऽहमित्याकारद्वयोपप्लुतं ज्ञानद्वयमिति, तदसत्; तथा सति विज्ञानं क्षणिकमित्यत्राऽपि ज्ञानद्वयप्रसङ्गेन विज्ञानस्य क्षणिकत्वासिद्धिप्रसङ्गात्।

विषय हो सकता है। कर्म तो ज्ञानजनक ही होता है, अतः कर्तृभूत आत्माके भी विषय होनेमें कोई बाधा नहीं है, परन्तु कर्म नहीं हो सकता।] इससे अनुमान आदि ज्ञानोंका आत्मा कर्ता ही हो सकता है (कर्म नहीं), प्रत्यक्षज्ञानमें तो विषय ज्ञानका जनक माना जाता है, अतः प्रत्यक्षमें कर्मकर्तृत्वका विरोध ज्यों-का-त्यों बना ही हुआ है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अन्तः-करणविशिष्टरूपसे ही आत्मा प्रत्यभिज्ञाका कर्ता है और पूर्वापर—भूतवर्तमान—कालविशिष्टरूपसे आत्मा प्रत्यभिज्ञाका कर्म है, इस प्रकार उपाधिभेद द्वारा व्यक्तिभेद होनेसे आत्मामें कर्मकर्तृभावका विरोध नहीं आ सकता। [उपाधिभेदसे एक ही व्यक्तिमें व्यक्तिभेदकी कल्पना करनेके लिए] इतना परिश्रम क्यों उठाया जाय, इससे यही अच्छा है कि प्रत्यभिज्ञा ही न मानी जाय, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि 'सोऽहं' (वह मैं हूं) इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा अपने अनुभवसे सिद्ध है। और अविसंवादी (बाधित न होनेसे) भ्रम भी नहीं मान सकते। विज्ञान-वादीका यह भी कहना 'सोऽहम्' (वह मैं) इस प्रकारके दो आकारोंसे व्याप्त ये दो ज्ञान है, उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेपर विज्ञान क्षणिक है, इसमें भी (विज्ञान और क्षणिक, इस प्रकार दो आकार होनेसे अर्थभेदके प्रसङ्गसे) दो ज्ञानोंका प्रसङ्ग हो जायगा, अतः विज्ञानमें क्षणिकत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। एकमात्र विज्ञानको ही माननेवाले (विज्ञानवादी) के मतमें क्षणिकत्व आदि धर्म अवास्तव (मिथ्या) ही हैं, यदि ऐसा मानो, तो 'सोऽहम्' (वह मैं हूं) इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर स्थायित्व आदि धर्मोंको ही अवास्तव मानकर उनका स्वीकार कर लिया जाय, यही अच्छा होगा। [एकमात्र विज्ञानतत्त्व ही वास्तव है, इसमें विवाद न हो, उससे अतिरिक्त सब कुछ कल्पित है। कल्पना

विज्ञानमात्रवादिनां क्षणिकत्वादिधर्मा अवास्तवा एवेति चेत्, तर्हि स्थायित्वादिधर्मा एवाऽवास्तवा उपादीयन्ताम्? 'सोऽहम्'इत्याद्यनुभवानुसारित्वात्।

यच्च प्राभाकरा मन्यन्ते—नैव 'सोऽहम्'इति प्रत्यभिज्ञाविषयत्वेनाऽयमात्मा सिध्यति, किं तर्हि 'सोऽयं घटः' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाश्रयत्वेनेति? तदयुक्तम्, पूर्वापरकालविशिष्टस्य क्षणमात्रवृत्तिप्रत्यभिज्ञाश्रयत्वासम्भवेन प्रत्यभिज्ञानात् स्थायित्वासिद्धिप्रसङ्गात्।

अथ मतम्—'मम संवेदनं जातम्'इतीदानीमनुस्मर्यमाणा पूर्वकालीना

अनुभवबलसे होती है—'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) यह प्रत्यभिज्ञा भूत और वर्तमान कालसे सम्बन्ध रखती हुई अनुभवमें आती है, अतः उससे स्थायित्व सिद्ध होता है। विज्ञानकी क्षणिकतामें उक्त अनुभव नहीं बन सकता, अतः स्थायित्वकी ही कल्पना करनी उचित है]।

[प्रभाकरके अनुयायी मीमांसकोंका खण्डन करनेके लिए उनके मतका अनुवाद करते हैं—] जो प्रभाकरमतानुयायी—मीमांसकैकदेशी—स्वीकार करते हैं कि आत्माकी सिद्धि 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस प्रत्यभिज्ञाका विषय होनेसे नहीं होती है, किन्तु 'सोऽयं घटः' (वह यह घट है) इस प्रत्यभिज्ञाके आश्रयत्वरूपसे होती है। [यदि आत्मा विषय माना जाय, तो घट, पट आदिकी भाँति उसमें दृश्यत्व और अनात्मत्वका प्रसङ्ग आ जायगा, अतः घट, पट आदिसे विलक्षण ज्ञानाश्रयत्वसे ही आत्माका अनुसन्धान करना चाहिए, पूर्वपक्षका यह तात्पर्य है। अब उसका खण्डन करते हैं—] उनका मत भी अयुक्त है, क्योंकि पूर्व और अपर—भूत और वर्तमान कालसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा क्षणमात्र, रहनेवाली प्रत्यभिज्ञाका आश्रय नहीं हो सकता। इसलिए 'घटोऽयम्' (यह घट है) इत्यादि प्रत्यभिज्ञानसे (प्रत्यभिज्ञाके आश्रय होनेसे) स्थायित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। [अर्थात् ज्ञानके बलसे प्रकाशित होनेवाली वस्तु ज्ञानका कर्म ही हो सकती है, उसका आश्रय नहीं। यदि कथंचित् उसे आश्रय मान लें, तो भी क्षणिक ज्ञानके आश्रय होनेसे अनुमित होनेवाले पदार्थमें क्षणिकत्व ही सिद्ध हो सकता है। पूर्व और अपर दोनों कालमें सम्बन्ध रखना सिद्ध नहीं हो सकता।]

[प्राभाकर प्रत्यभिज्ञाके बिना भी स्थायित्वकी सिद्धि दिखलाता है—] यदि मान लिया जाय कि 'पहले मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ था' यह वर्तमान स्मरणमें

घटादिसंवित् स्वाश्रयं तदानीन्तनमात्मानं साधयति। स्मृतिश्च स्वाश्रयमिदानीन्तनमात्मानं साधयति। ततश्च स्थाय्यात्मा सिध्यति न पुनरप्रामाणिकं 'सोऽहम्'इत्यात्मविषयं प्रत्यभिज्ञानं किञ्चित् कल्पनीयमिति। नैतत्सारम्, स्मृतिपूर्वानुभवौ ह्यभिज्ञाद्वयवत्तत्कालीनमात्मानं यद्यपि साधयतः, तथाप्येकस्याऽस्याऽऽत्मनः कालद्वयसम्बन्धो न केनापि सिध्येत्। संविद्द्वयमेव सम्बन्धस्याऽपि साधकमिति चेत्, तर्हि तथैव घटादिष्वप्यभिज्ञाद्वयेन

आनेवाला [पूर्वकालिक] घटादिज्ञान अपने पूर्वज्ञानके आश्रय उस कालमें विद्यमान आत्माकी सिद्धि करेगा। और इस कालमें होनेवाली पूर्वानुभवकी स्मृति इस कालमें विद्यमान आत्माकी सिद्धि करेगी, इससे आत्माका स्थायित्व सिद्ध हो ही जाता है, इसके लिए 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) ऐसी आत्माको विषय करनेवाली किसी अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञाकी प्रमाणशून्य कल्पना उचित नहीं है। [तात्पर्य यह है कि 'मुझे ज्ञान हुआ था' इस प्रकारके स्मरणमें पूर्वकालिक अनुभव ही विषय होता है, इसमें विवाद नहीं है। और वह पूर्वानुभव बिना आश्रयके हो नहीं सकता और इस समयका आश्रय ही उस कालके अनुभवका आश्रय होता है, यह कहना सङ्गत नहीं है; इसलिए उस आश्रयका पूर्वकालसे सम्बन्ध मानना उचित ही है। और इस कालमें होनेवाली उक्त स्मृति इस कालमें सम्बन्ध रखनेवाले आश्रयकी कल्पना करती है, इसलिए सिद्ध हुआ कि ज्ञानाश्रय आत्माका पूर्व और अपर कालसे सम्बन्ध सिद्ध होनेसे प्रत्यभिज्ञाके बिना भी आत्मामें स्थायित्व सिद्ध हो जाता है।] यह कहना सारगर्भित (यथार्थ) नहीं है, क्योंकि यद्यपि स्मरण और पूर्वकालका अनुभव दो ज्ञानके सदृश अपने-अपने कालमें विद्यमान आत्माकी सिद्धि करते हैं, तथापि एक ही आत्माका पूर्व और अपर दोनों कालोंसे सम्बन्ध तो किसीसे भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। [ज्ञानोंके क्षणिक होनेसे जैसे वर्तमान कालमें होनेवाले दो अनुभव पृथक्-पृथक् दो आश्रयोंकी कल्पना करते हैं, वैसे ही स्मरण और पूर्व अनुभव भी अपने-अपने कालसे सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न दो आश्रयोंकी ही कल्पना कर सकते हैं। एकके ही पूर्व और अपर कालसे सम्बन्धकी कल्पना नहीं कर सकते। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि 'सोऽहम्' इसे एक ही ज्ञान मान लिया जाय, परन्तु ऐसा मीमांसक मानता है नहीं।] दो ज्ञान ही सम्बन्धका साधन करनेवाले हैं, यदि ऐसा भी मान लिया जाय, तो एक-सी युक्ति होनेके

स्थायित्वसिद्धौ तत्सिद्धये प्रत्यभिज्ञा नाऽपेक्ष्येत । तद्दार्ढ्याय तत्र प्रत्यभिज्ञेति चेद्, एवमपि प्रकृते संविद्द्वयं किं साक्षात् सम्बन्धसाधकमुत प्रत्यभिज्ञामुत्पाद्य ? आद्येऽपि न तावदेकैकं तत्साधकम्, एकैकस्य कालद्वयविशिष्टात्मन्यनाश्रितत्वात् । नापि सम्भूय तत्साधकम्, अतीतानुभवस्य वर्त्तमानस्मृतेश्च यौगपद्यायोगात् । द्वितीये स्थाय्यात्मविषयं सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानं त्वयैवाऽङ्गीकृतं स्यात् । न च वाच्यं न कचिदपि ज्ञानविषयत्व-

---

कारण घटादिमें भी दो ज्ञानोंसे स्थायित्वकी सिद्धि हो ही जायगी, फिर उसके लिए प्रत्यभिज्ञाकी अपेक्षा न होगी ।

[मीमांसकका कहना है कि आत्माके स्थायित्वकी सिद्धिके लिए 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) ऐसी आत्म-विषयक प्रत्यभिज्ञाकी कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि 'घटोऽयम्' (यह घट है) यह घटविषयक प्रत्यभिज्ञा ही अपने आश्रयकी स्थायिता सिद्ध कर देगी । इसपर वेदान्तीका कहना है कि पूर्वोक्त प्रकारसे ज्ञानद्वय ही यदि स्थायित्व सिद्ध करता है, तो घटादिविषयक दोनों ज्ञानोंसे ही आत्माका स्थायित्व सिद्ध हो जायगा, फिर उसके लिए 'घटोऽयम्' (यह घट है) ऐसी प्रत्यभिज्ञाकी कल्पना व्यर्थ ही है ।] केवल स्थायित्वकी दृढ़ताके लिए प्रत्यभिज्ञाकी कल्पना की जाती है, ऐसा यदि मान लिया जाय, तो भी दो ज्ञानोंमें स्थायित्वसाधकत्व नहीं बन सकता, क्योंकि हम विकल्प करेंगे कि क्या वे दोनों ज्ञान [पूर्वापरकालसे] सम्बन्धके साक्षात् साधक हैं ? अथवा प्रत्यभिज्ञाको उत्पन्न करके (उसके द्वारा) साधक हैं ? प्रथम कल्पके माननेमें भी एक-एक ज्ञान तो पूर्व और अपर कालसे सम्बन्धके साधक नहीं हो सकते । क्योंकि एक-एक ज्ञान पूर्व और अपर दोनों कालोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले आत्मामें आश्रित नहीं हैं । [एक ज्ञान एक कालसे सम्बन्ध रखनेवाले आत्मामें आश्रित है, भिन्न कालविशिष्टमें नहीं, अतः कैसे कालद्वय सम्बन्धके साधक हो सकते हैं ।] और दोनों मिलकर भी उसके साधक नहीं हो सकते, क्योंकि बीते हुए अनुभव और वर्तमान स्मरणका एक साथ रहना सम्भव ही नहीं हो सकता । द्वितीय कल्पमें स्थायी आत्माको विषय करनेवाली 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस प्रत्यभिज्ञाको तुमने स्वीकार कर ही लिया है । यदि आत्मा कभी भी ज्ञानका विषय नहीं होता है, तो

मात्मनस्तत्कथं प्रत्यभिज्ञाविषयत्वमिति, 'मम संवेदनं जातम्'इति स्मृतिज्ञानविषयत्वात्। यद्यप्यनेन स्मृतिज्ञानेन स्वोत्पत्तिकालीन आत्मा स्वाश्रयत्वेनैव प्रकाश्यते न विषयत्वेन, तथापि स्मर्यमाणसंवेदनाश्रयभूतस्तत्संवेदनकालीन आत्मा विषयीक्रियत एव। अथोच्येत—स्मृत्या संवेदनमेव विषयीक्रियते, तच्च संवेदनं स्मृतं सत् स्वाश्रयमात्मानमाश्रयतयैव प्रत्याययिष्यतीति। तदसत्, स्मृतिकाले संवेदनस्याऽविद्यमानस्य स्वाश्रयसाधकत्वायोगात्। स्वयंप्रकाशमानं हि संवेदनमाश्रयं साधयति न तु स्मृतिविषयतया परप्रकाश्यम्। अन्यथा धर्मादीनामपि परतःसिद्धानां स्वाश्रयात्मसाधकत्वप्रसङ्गात्। तस्मादतीतकालीन आत्मा स्मृतिविषय एवेत्यभ्युपेयम्। तथा च 'सोऽहम्' इति प्रत्यभिज्ञाऽपि आत्मानं विषयी-

---

प्रत्यभिज्ञाका विषय कैसे हो सकेगा? ऐसी शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि 'मुझे ज्ञान हुआ था' इस स्मृतिज्ञानका आत्मा विषय ही है। यद्यपि इस स्मृतिज्ञानसे अपने (ज्ञानके) उत्पत्तिकालके आत्माका ही अपना (ज्ञानका) आश्रय होनेसे ही प्रकाश होता है, विषय होनेसे नहीं, तथापि स्मरणमें विषय हुए ज्ञानका आश्रय और उस ज्ञानकालमें विद्यमान आत्मा निरुक्त स्मृतिज्ञानसे विषय किया ही जाता है। [क्योंकि स्मृतिज्ञान 'मुझे ज्ञान हुआ' इतना है, इसके विषयमें आत्मा और ज्ञान दोनों हैं] यदि कहो कि स्मृतिज्ञानसे केवल पूर्वानुभव–ज्ञान–ही विषय किया जाता है, आत्मा नहीं; और वह ज्ञान स्मरणविषय होता हुआ अपने आश्रय आत्माको आश्रयत्वसे–आश्रयरूपसे बोधित करता है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि स्मरणके समयमें अविद्यमान ज्ञानको अपने आश्रयके साधन करनेका योग–अवसर–नहीं आ सकता। [स्मृतिमें आनेवाली अविद्यमान दीपज्वाला अपने आश्रय गृहादिका प्रकाश करते कहींपर भी नहीं देखी गई है] स्वयं प्रकाशित होनेवाला ही ज्ञान अपने आश्रयकी सिद्धि कर सकता है, स्मृतिका विषय होकर दूसरेसे प्रकाशित होनेवाला ज्ञान नहीं सिद्ध कर सकता; अन्यथा दूसरेसे सिद्ध हुए धर्मादि भी अपने आश्रय आत्माके साधक हो जायँगे। इससे मानना ही होगा कि भूतकालविशिष्ट आत्मा स्मरणका विषय होता ही है। इससे 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) यह प्रत्यभिज्ञान भी आत्माको विषय करेगा ही; इस प्रकार

करिष्यतीति प्राभाकरैरप्यात्मविषयप्रत्यभिज्ञयैव संविदात्मनः क्षणिकत्वं निराकरणीयम् ।

अथैवं घटादिषु क्षणिकत्वं साध्येत—विमता उपान्त्यादयो घटसत्ताक्षणाः स्वस्वानन्तरक्षणभाविघटनाशव्याप्ताः, घटसत्ताक्षणत्वाद्, अन्त्यक्षणवदिति । तन्न, विमतो घटनाशक्षणो घटसत्तावान्, कालत्वात्, संमतवदित्याभाससमा-

प्रभाकरके अनुयायी मीमांसकोंको भी आत्माको विषय करनेवाली प्रत्यभिज्ञाके बलपर ही ज्ञानस्वरूप आत्मामें क्षणिकत्वका निराकरण करना होगा । (अर्थात् प्रत्यभिज्ञाविरोधसे सादृश्यकी कल्पना नहीं बन सकती, जिससे कि अति-सादृश्यज्ञान भेदको छिपा सके । अतः ज्ञानमें स्थायित्व सिद्ध नहीं हो सकता, अतः प्रत्यभिज्ञाको एक ज्ञान ही मानना उचित है और पूर्व और अपर कालसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्यभिज्ञाका कर्ता एक स्थायी चेतन ही हो सकता है । 'न च ज्ञानस्य क्षणिकत्वे विवदितव्यम्' इत्यादि ग्रन्थसे की गई ज्ञानकी प्रत्यक्षसिद्ध क्षणिकताका, इस प्रकार अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञाके साथ विरोध होनेसे, खण्डन हो गया । अब ज्ञानकी क्षणिकता दर्शानेके निमित्त दृष्टान्त की सिद्धि करनेके लिए घटादिकी क्षणिकताका अनुमान द्वारा साधन करते हैं—]

अब हम (बौद्ध) आगे दिखलाए जानेवाले अनुमानसे क्षणिकता सिद्ध करेंगे—विवादग्रस्त उपान्त्यादि घट सत्ताके क्षण अपने-अपने अनन्तर क्षणमें होनेवाले घटके विनाशसे व्याप्त हैं, घटकी सत्ताके क्षण होनेसे, अन्तिमक्षणके सदृश । [तात्पर्य यह है कि सकलवादीके सम्मत विनाशके अधिकरण क्षणसे अव्यवहित पूर्वक्षणविशिष्ट सत्ता ही अन्त्यपदसे लेनी चाहिए, उस अन्तिम क्षणका अपनी-सत्ताके क्षणसे दूसरे क्षणमें विनाश हो जाता है, इस प्रकार अन्तिम क्षणसे अव्यवहित पूर्वक्षणकी सत्ताका विनाश उसके उत्तरवाले अन्तिम क्षणमें होगा, अतः सिद्ध हुआ कि उत्तर-उत्तर क्षण अपनी-अपनी पूर्व-पूर्वक्षणविशिष्ट सत्ताके विनाशसे व्याप्त हैं । इससे ज्ञात होता है कि सत्तावान्का उत्तर क्षणमें विनाश अवश्य होता है, अतः घटादिकी क्षणिकता सिद्ध हुई । अर्थात् अपने सत्ताक्षणसे अव्यवहित दूसरे क्षणमें विनष्ट हो जाना ही क्षणिकत्व है । 'सोऽयं घटः' इत्यादि ऐक्यप्रतीति अतिसादृश्यमहिमासे भ्रम है । इस दृष्टान्तसे ज्ञान भी सत्त्वविशिष्ट है, अतः वह भी घटादिके समान क्षणिक सिद्ध हुआ ।]

न्त्वात्। अत्र घटाभावानुभवविरोध इति चेत्, तर्हि क्षणिकत्वानुमानेऽपि 'सोऽयं घटः' इति प्रत्यभिज्ञाविरोधोऽस्त्येव।

ननु सर्वे भावाः क्षणिकाः, अर्थक्रियाकारित्वाद्, व्यतिरेके शशविषाणवत्। विपक्षे स्थायिनोऽर्थक्रियानुपपत्तिर्बाधिका। न च स्थायिन एव पदार्थस्य निमित्तसंयोगादन्यथाभूतस्याऽर्थक्रियापूर्वकं कार्यमुत्पादयितुं सामर्थ्यं न क्षणिकस्येति वाच्यम्, किमसौ स्थायी पदार्थ एकमेव कार्यमुत्पादयेद् उत

[उक्त अनुमानका विपक्षी अनुमान दर्शाते हैं—]ऐसा नहीं है, क्योंकि विवादग्रस्त घटनाशक्षण, घटकी सत्तावाला है, काल होनेसे, सम्मतके तुल्य, इस अनुमानाभासके तुल्य ही पूर्व अनुमान है। [तात्पर्य यह है कि जिस तरह बौद्धने अन्तिम क्षण-विशिष्ट सत्ता अथवा सत्ताविशिष्ट अन्तिम क्षणका उसके अव्यवहित दूसरे क्षणमें विनाश होता है, इस दृष्टान्तसे व्याप्ति बना ली कि 'उत्तर-उत्तर क्षण पूर्व—पूर्वके विनाशाधिकरण हैं, क्षणाविशेष होनेसे, इसी तरह प्रतिवादी हम (वेदान्ती) उसके अनुमानमें अनुकूलतर्कशून्यता दर्शानेके लिए जैसे घटसत्ताविशिष्ट क्षणमें घटसत्ता है इसमें किसीको भी विवाद नहीं हो सकता, इसको दृष्टान्त लेकर कालाविशेषसे घटसत्ताविनाशविशिष्ट क्षणमें भी घटसत्ताका अनुमान करेंगे, इस अनुमानाभास (अनुकूलतर्कशून्य) के तुल्य ही उसका भी अनुमान है।] यदि कहो कि इस वेदान्तीके दर्शाये अनुमानमें घटाभावका अनुभव ही स्पष्ट विरोध है, तो हम भी कहेंगे कि बौद्धके क्षणिकत्वसाधक अनुमानमें 'सोऽयम्' इस प्रत्यभिज्ञाके साथ विरोध स्पष्ट ही है।

[प्रकारान्तरसे क्षणिकत्वसाधक दूसरा अनुमान दिखलाते हैं—] सभी भाव—पदार्थ—क्षणिक हैं, अर्थक्रियाकारी[1] होनेसे, इसके विपरीत शशशृङ्गके तुल्य। [यहांपर शशशृङ्ग व्यतिरेकी दृष्टान्त है अर्थात् जो क्षणिक नहीं है, वह व्यवहारका प्रयोजक नहीं है, जैसे खरगोशका सींग। और घट-पटादि सत्त्वशील पदार्थ व्यवहारके उत्पादक देखे जाते हैं, अतः वे सब क्षणिक हैं] इसके व्यतिरेक (क्षणिकत्वाभाव) की सिद्धिमें स्थायी पदार्थका व्यवहारप्रयोजक न हो सकना ही बाधक है। व्यवहारपूर्वक कार्य उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य निमित्तकारणके सम्पर्कसे अन्यथाभावको प्राप्त हुए स्थायी

1 अर्थक्रिया = व्यवहार।

युगपदनेकानि अथवा क्रमेणानेकानि ? तत्र प्रथमद्वितीययोः कृतं स्थायित्वेन, सकृत्कार्योत्पादनस्य क्षणिकेनैव सिद्धेः। न तृतीयः, समर्थस्य क्षेपायोगात्। अतो भावानामेकस्मिन्नेव क्षणेऽर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वमिति। नैतद्युक्तम्, त्वन्मतेऽर्थक्रियाया दुर्निरूपत्वात्। किमर्थक्रिया नाम संविदां स्वगोचरज्ञानजननं किं वा क्षणान्तरोत्पादनम् ? आद्येऽपि स्वसन्ताने तज्जननं पुरुषान्तरसन्ताने वा सर्वज्ञसन्ताने वा ? नाद्यः, संविदां स्वप्रकाशत्वेन तदसम्भवात्। अस्तु तर्हि द्वितीयः,

---

पदार्थको ही है; क्षणिक पदार्थको नहीं; ऐसा कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि क्या यह स्थायी पदार्थ एक ही कार्यको उत्पन्न करेगा ? या एक साथ ही अनेक कार्योंको अथवा क्रमशः अनेक कार्योंको ? उनमें प्रथम और द्वितीय विकल्प माननेमें पदार्थको स्थायी मानना व्यर्थ ही है, क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति क्षणिकसे ही सिद्ध हो सकती है। तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्योत्पादनमें समर्थके कालका विलम्ब नहीं हो सकता। (अर्थात् यदि एक ही स्थायी पदार्थ अनेक कार्यके उत्पादनमें समर्थ है, तो वह अनेक कार्योंको एक साथ ही क्यों नहीं उत्पन्न करेगा ? जब कार्यकी कारणसामग्री उपस्थित है तब उसको रोकनेवाला कौन है ? जो क्रमिक कार्योत्पत्ति करावे।) इसलिए भाव—पदार्थों—का लक्षण एक ही क्षणमें अर्थक्रियाकारित्वरूप ही हो सकता है। [खण्डन करते हैं—] ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि तुम्हारे मतसे अर्थक्रियाका निरूपण नहीं हो सकता। क्या अर्थक्रियाका मतलब ज्ञानोंका अपनेको विषय करनेवाले ज्ञानको उत्पन्न कराना है ? या क्षणान्तरकी उत्पत्ति कराना है। प्रथम कल्पमें भी अपने ज्ञानके सन्तान (प्रवाह-परम्परा) में उस ज्ञानको उत्पन्न करना है ? अथवा दूसरे पुरुषके ज्ञानसन्तानमें अथवा सर्वज्ञके ज्ञानसन्तानमें ? [अर्थात् ज्ञान अपनी धारा ही में अपनेको विषय करनेवाले ज्ञानका जनक है ? या दूसरे पुरुषके ज्ञानप्रवाहमें पुरुषान्तरके ज्ञानको विषय करनेवाले ज्ञानका जनक है ? अथवा सर्वज्ञके ज्ञानके सभी ज्ञान विषय हैं ? अर्थात् सर्वज्ञज्ञानधारामें ज्ञानविषयक ज्ञानजनकत्व है ? यह अभिप्राय है।] प्रथमकल्प—ज्ञान ज्ञानविषयक ज्ञानका जनक है—नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाश हैं, वे दूसरे ज्ञानके विषय नहीं हो सकते। तब तो दूसरा

देवदत्तसंवेदनं हि स्वप्रकाशमपि यज्ञदत्तसंवेदनस्य विषयत्वाज्जनकं भविष्यतीति । तदसत्, न तावत् प्रत्यक्षज्ञानस्य विषयतया जनकमिति शक्यं वक्तुम्, नहि पुरुषान्तरज्ञानं पुरुषान्तरप्रत्यक्षतया क्वचिद् दृष्टम्। नाप्यनुमानज्ञानस्य विषयतया जनकम्, त्वया प्रत्यक्षज्ञानमेव विषयजन्यमित्यङ्गीकारात्। ननु तर्हि तृतीयोऽस्तु, सर्वज्ञस्य हि प्रत्यक्षज्ञानं सर्वपुरुषगतसंवेदनानि विषयीकुर्वत् तैर्जन्यते । मैवम्, तथा सति सोपप्लवैः संसारिसंवेदनैरीश्वरसंवेदनमप्युपप्लुतं स्यात्; त्वन्मते ज्ञानज्ञेययोरभेदात् ।

अथेश्वरज्ञानमुपप्लुतमपि नोपप्लवदोषं भजते, तत्त्वज्ञानेनोपप्लवबाधा-

---

पक्ष ही मान लिया जाय ? [यद्यपि देवदत्तका ज्ञान स्वप्रकाश भी है, तथापि यज्ञदत्तके ज्ञानविषयक ज्ञानका जनक होगा, क्योंकि [विषयके बिना ज्ञान नहीं होता, अतः विषय ज्ञानका जनक होता है, यह मानना ही होगा। एवम् देवदत्तके ज्ञानको विषय करनेवाले यज्ञदत्तके ज्ञानका जनक देवदत्तके ज्ञानको मानना उचित ही है] यह उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान विषयतया ज्ञानका जनक है, ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि पुरुषान्तरका ज्ञान दूसरे पुरुषके प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय होता कहींपर भी नहीं देखा गया है। पुरुषान्तरका ज्ञान तो अनुमेय ही हो सकता है। अनुमानरूप ज्ञानके जनक पुरुषान्तर ज्ञानको विषयतया मानेंगे, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ज्ञानको ही विषयजन्य (विषयके द्वारा उत्पन्न होनेवाला) मानते हो [अनुमान ज्ञानको नहीं]। अच्छा, तो तीसरा विकल्प मान लीजिए, क्योंकि सर्वज्ञका प्रत्यक्षज्ञान सभी पुरुषोंके ज्ञानको विषय करता है अतः वह (सर्वज्ञज्ञान) उन विषयभूत पुरुषान्तरोंके ज्ञानोंसे उत्पन्न किया जाता है, तो यह भी संगत नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे रागद्वेषजनित सुख-दुःख प्रभृति उपप्लवसे विशिष्ट संसारी जीवोंके ज्ञानोंसे सर्वज्ञ ईश्वरका ज्ञान भी उपप्लवयुक्त हो जायगा, क्योंकि तुम्हारे—विज्ञानवादीके—मतमें ज्ञान और ज्ञेय–विषय–का अभेद माना गया है। [सर्वज्ञ ईश्वरके ज्ञानका विषय उपप्लवयुक्त संसारीका ज्ञान हुआ और इन दोनोंमें तुम्हारे मतमें माना गया अभेद है। अतः ईश्वरका ज्ञान उपप्लुत हो जायगा]।

यदि कहो कि ईश्वरका ज्ञान उपप्लवसे युक्त होता हुआ भी उपप्लवके दोषोंका

दिति चेद्, मैवम्; न तावत्तदेव ज्ञानं स्वोपप्लवं बाधते, उपप्लवस्य एकस्मिन्नेव क्षणे प्राप्तिबाधयोर्द्वयोरसम्भवात्। नाऽपि ज्ञानान्तरमुपप्लवमनूद्य बाधितुं क्षमते, पूर्वज्ञानोपप्लवस्य ज्ञानान्तराविषयत्वाद् विषयत्वे च पूर्वज्ञानवदेव ज्ञानान्तर-मुपप्लुतं सत् कथं बाधकं स्यात्? न चोपप्लवांऽशं विहाय संवेदनांऽशस्यैवेश्वरज्ञानं प्रति विषयतया जनकत्वम्, तथा सति उपप्लवानभिज्ञः ईश्वरः कथमुपदिशेत्?

भागी नहीं होता, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उपप्लवोंका बाध हो जाता है, [जैसे अज्ञानी बालकको दोषवशात् द्विचन्द्र देखनेसे आश्चर्य होता है और ज्ञानीको इन्द्रियदोषवशात् द्विचन्द्र दिखाई देनेपर भी आश्चर्य नहीं होता, वह जानता है कि चन्द्र एक ही है' मगर दोषवश दो चन्द्र दीख रहे हैं, वैसे ही संसारीको उपप्लवके ज्ञानसे सुखदुःखादिका भागी होना पड़ता है। ईश्वरके ज्ञानका संसारी-ज्ञान विषय है, अतः यदि उसके ज्ञानमें उसका उपराग आ भी जाय, तो भी वह सुखदुःखका अनुभवकर्ता नहीं बन सकता, क्योंकि वह समझता है कि इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अथवा ये सब मिथ्या ही हैं, केवल मेरे ज्ञानका विषय संसारीका ज्ञान है और उसके ज्ञानके विषय ये उपप्लव हैं। इसीसे मेरे ज्ञानके भी विषय हो रहे हैं। इससे बाधित हो जाते हैं।] ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वही ज्ञान उपप्लवसहित ज्ञानको तो बाधित करता नहीं, कारण कि उपप्लवकी एक ही क्षणमें प्राप्ति तथा बाध दोनोंका सम्भव नहीं हो सकता, [अर्थात् विज्ञानवादी बौद्धके मतमें ज्ञान क्षणिक हैं। जिस क्षणमें उपप्लवसहित ज्ञान हुआ, उसी क्षणमें तो उसका बाधक ज्ञान हुआ नहीं। और उस क्षणमें जो उत्पन्न ज्ञान है वही ज्ञान स्वयं अपनेको बाधित नहीं कर सकता।] और दूसरा ज्ञान भी उपप्लवका अनुवाद करके उसका बाध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वज्ञानका विषयभूत उपप्लव दूसरे ज्ञानका विषय ही नहीं है। यदि उपप्लवको भी दूसरे ज्ञानका विषय होना मान लिया जाय, तो भी ज्ञान और ज्ञेयमें अभेद माननेसे पूर्वज्ञानकी भाँति बाधक दूसरा ज्ञान भी उपप्लवयुक्त होता हुआ कैसे बाधक हो सकेगा? उपप्लवरूप भागको छोड़कर ज्ञानभाग-मात्र ही ईश्वरके ज्ञानका विषय होता है, अतः केवल ही ज्ञान विषयतया ईश्वरके ज्ञानका जनक है, यदि यह कहो, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि उपप्लवको नहीं जाननेवाला

नाऽपि क्षणान्तरोत्पादनमर्थक्रियेति द्वितीयः पक्षः, त्वत्प्रक्रियया चरमक्षणस्याऽसत्त्वप्रसङ्गात्। तथाहि—विज्ञानानि स्थायित्वकल्पनया द्रव्यगुणादिकल्पनया रागादिदोषैर्विषयैश्चोपप्लुतानि पूर्वपूर्वसजातीयविज्ञानलक्षणेभ्यः संस्कारेभ्य उत्तरोत्तराण्युत्पद्यन्ते। तत्र 'सर्वमिदं क्षणिकम्' इति भावनया स्थायित्वकल्पना निवर्तते। 'स्वलक्षणम्' इति भावनया द्रव्यगुणादिकल्पना नश्यति। 'दुःखम्'इति भावनया रागादिदोषप्रवृत्तिसुखदुःखोपप्लवाः क्षीयन्ते। 'शून्यम्'इति भावनया विषयोपप्लवविगमः। ततश्च भावनाभेदैश्चतुर्विधैः संस्कारविरोधिभिश्चतुर्विधोपप्लवे क्रमेण मन्दीकृते भावनाप्रकर्षस्याऽन्त्यभूतादुपान्त्यप्रत्ययात् 'सर्वोपप्लवविरहि विज्ञानमुत्पद्यते। तच्च संसारस-

ईश्वर कैसे उपदेशक हो सकता है। [जिसको भले-बुरे, सुख-दुःखका कुछ भी ज्ञान नहीं है, वह प्रवृत्ति-निवृत्तिके लिए उपदेश कैसे कर सकता है ?]

द्वितीय पक्ष भी—दूसरे क्षणको उत्पन्न कर देना अर्थक्रियाका लक्षण है, यह—भी नहीं बन सकता, क्योंकि तुम्हारी प्रक्रियाके अनुसार अन्तिम क्षण असत् हो जायगा। [असत्त्वका उपपादन करते हैं—] स्थायित्व तथा द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष्य और विशेषण आदिके सम्बन्धकी कल्पनासे एवं रागादि दोषों और विषयोंसे उपप्लुत ही उत्तर-उत्तर विज्ञान पूर्व-पूर्व सजातीय विज्ञानस्वरूप संस्कारोंके द्वारा उत्पन्न होते हैं। उनमें 'सर्वमिदं क्षणिकम्' (यह सब-कुछ क्षणिक है) इस भावनासे स्थायित्वकी कल्पना नष्ट होती है। स्वलक्षण—असाधारणस्वरूप—असङ्ग—की भावनासे ज्ञातृज्ञेयज्ञानसम्बन्धादिस्वरूप द्रव्यगुणादिकी कल्पना निवृत्त होती है। दुःख—विज्ञानसे भिन्न सब दुःखका मूल है—इस प्रकारकी भावनासे रागादि दोषसे उत्पन्न प्रवृत्तिजनित सुखदुःखादि उपप्लव नष्ट हो जाते हैं। 'सब शून्य है' इस भावनासे विषयरूप उपप्लव भी नहीं रह जाता। उसके बाद संस्कारके विरोधी इन उपर्युक्त भावनाके चार भेदोंसे चारों प्रकारके (स्थायित्व, ज्ञातृज्ञेयज्ञानादिरूप द्रव्यगुणादि, रागादि दोषप्रवृत्ति—सुखदुःखादि तथा विषय इन) उपप्लवोंके क्रमशः मन्द किये जानेपर भावनाप्रकर्ष—पूर्ण परिपाक—के अन्तिम क्षण स्वरूप उपान्त्य प्रत्यय—समनन्तर प्रत्यय—के उत्पन्न होनेपर सब उपप्लवोंसे शून्य, शुद्ध, विज्ञान उत्पन्न होता है। वही विज्ञान संसारप्रवाहका अन्त्य होनेसे

न्तानान्त्यत्वात् 'चरमक्षणः' इति गीयते। तस्य च कार्याभावादसत्त्वापत्तौ तथैव क्रमेण पूर्वपूर्वज्ञानानामप्यसत्त्वं प्राप्नुयात्।

चरमक्षण ईश्वरज्ञानस्य जनकः, तद्विषयत्वादिति चेत्, तर्हि चरमक्षणसर्वज्ञज्ञानयोर्विशुद्धतया तुल्यस्वभावयोरेकसन्तानत्वं स्यात्; तुल्यस्वभावयोः कार्यकारणभावस्यैकसन्तानलक्षणत्वात्। ततः सन्तानाविच्छेदादनिर्मोक्षः स्यात्। सर्वज्ञसन्तानप्रवेश एव मोक्ष इति चेद्, एवमपि चरमक्षणस्येश्वरज्ञानविषयत्वं दुर्निरूपमिति जनकत्वं दूरापास्तम्। भेदे हि सति संविदो विषयविषयिभावः। न चेह भेदो विद्यते। न तावत् संवित् संविदन्तरात् संविदाकारेण

चरम क्षण कहलाता है। [शुद्ध विज्ञानका उदय होनेपर संसारधारा नहीं चलती है, अतः वह विज्ञानक्षण संसारका अन्तिम क्षण कहलाता है, उस क्षणमें तुम्हारा अभिमत सजातीय उत्तर क्षणका जनकत्वरूप सत्त्वलक्षण नहीं हो सकता, अतः उस क्षणको असत्त्वलक्षण आक्रान्त कर लेगा और इष्टापत्ति कह नहीं सकते, इस आशयसे कहते हैं] और वह अन्तिम क्षण व्यापारान्तरका जनक नहीं है, अतः उसी क्रमसे पूर्व-पूर्व ज्ञानोंकी भी असत्ता प्राप्त हो जायगी। [अर्थात् यदि उस अन्त्य-क्षणमें सत्त्वलक्षण नहीं गया, तो वह असत् कहलाया; तब उसका जनक पूर्व क्षण सजातीय सत्त्वान्तरका उत्पादक नहीं हुआ, इससे वह पूर्व क्षण भी सत्त्वलक्षणसे व्याप्त न होनेके कारण असत् होगा, ऐसे ही उससे पूर्व-पूर्व सभी क्षण असत् हो जायँगे, यह तात्पर्य है।]

यदि कहो कि अन्तिम क्षण ईश्वरके ज्ञानका जनक है, क्योंकि वह ईश्वरके ज्ञानका विषय है, तो अन्तिम क्षण और ईश्वरविज्ञान—इन दोनोंके शुद्धस्वरूप होनेसे समानस्वभाववालोंमें एकसन्तानत्व होनेका प्रसङ्ग आ जायगा, क्योंकि समानस्वभाववालोंमें कार्यकारणभाव होना ही एकसन्तानत्वका लक्षण है। ऐसी दशामें सन्तानके न रुकनेसे जीवको मोक्ष नहीं हो सकता। 'सर्वज्ञके सन्तान—सर्वज्ञके ज्ञानप्रवाह—में प्रवेश कर जाना ही मोक्ष है' ऐसा माननेपर भी अन्तिम क्षण ईश्वरके विज्ञानका विषय है, इसका निरूपण करना जब आसान नहीं है, तब वह ईश्वरीय विज्ञानका जनक है, यह कहना तो बन ही नहीं सकता। [विषय ही तो जनक होता है, जो विषय ही नहीं है, उसमें जनकत्वकी सम्भावना तो पहले ही नष्ट हो चुकी है। अन्तिम क्षणके विषयत्वका निराकरण करते हैं—] भेदके सिद्ध होनेपर ही ज्ञानमें विषयविषयिभाव सिद्ध होगा। और यहां प्रकृतमें—ईश्वरज्ञान

भिद्यते, तथा सति वैलक्षण्यसिद्धये प्रतियोगिनोऽसंवित्त्वप्रसङ्गात्। नाऽपि संविदाकारेण, धर्मिणोऽसंवित्त्वप्रसङ्गात्। तस्मात् चरमक्षणस्य सर्वज्ञज्ञानोत्पादनलक्षणयाऽर्थक्रियया सत्त्वं दुःसम्पादम्। यद्यस्याऽर्थक्रिया कल्प्येत, तदापि सा किं कारणस्य सत्त्वं सम्पादयति उत तत्प्रतीतिम्? नाऽऽद्यः, कार्यात् पूर्वमेव कारणस्य सत्त्वात्। अन्यथा कारणत्वायोगात्। द्वितीयेऽपि तत्कार्यं स्वकार्येण प्रतिभासितं सत् कारणं प्रत्याययति, तदपि तथेत्यनवस्था स्यात्। संवित् स्वयमेव स्वात्मानं प्रकाशयतीति नाऽनवस्थेति चेत्, तर्हि अर्थक्रियाप्रतीतिर्हेतुरिति पक्षो हीयेत। स्वयमेव स्वस्याऽर्थक्रियेति वदत आत्माश्रयत्वं दुर्वारम्। तदेवं सत्त्वं नाम नाऽर्थक्रियाकारित्वम्, किन्तु

और अन्तिम क्षणोंमें—भेद नहीं है। एक ज्ञान दूसरे ज्ञानसे ज्ञानाकार द्वारा भिन्न है (अर्थात् ज्ञानत्व भेदका प्रयोजक है) ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैलक्षण्यकी—भेदकी—सिद्धिके लिए प्रतियोगी असंविद्—ज्ञानसे भिन्न —हो जायगा [क्योंकि दो घटोंमें घटत्वरूपसे भेद नहीं देखा गया है]। संविदाकार (ज्ञानत्वरूप) से भी भेद नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा माननेपर धर्मी (जिसका असंवित्त्व धर्म है वह धर्मी) असंवित् हो जायगा (अर्थात् ज्ञान नहीं कहलायेगा)। इसलिए अन्तिम क्षणमें सर्वज्ञके ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली अर्थक्रियासे सत्त्वकी सिद्धि करना अत्यन्त कठिन है। यदि इस अन्तिम क्षणकी अर्थक्रियाकी कल्पना की जाय, तो भी क्या वह कारणसत्ताकी सम्पादक है अथवा उसकी प्रतीतिकी सम्पादक है? इनमें प्रथम कल्प उचित नहीं है, क्योंकि कार्यसे पूर्व क्षणमें ही कारणकी सत्ता मानी जाती है, [इससे कार्य कारणकी सत्ताका उत्पादक है, यह कहना संगत नहीं है।] यदि ऐसा न मानो, तो वह कारण ही नहीं कहलावेगा। दूसरे पक्षमें भी वह कार्य अपने कार्यसे प्रतीत होता हुआ कारणकी प्रतीति कराता है, वह कारण भी ऐसे ही अपने कार्यसे प्रकाशित होता हुआ कारणको प्रतीत कराता है, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। ज्ञान स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित कर देता है, इससे अनवस्था नहीं होगी, यदि ऐसा माना जाय, तो अर्थक्रियाकी प्रतीति—प्रकाश—हेतु है, यह पक्ष नहीं रह सकता। स्वयं ही अपना प्रकाशन करना अपनी अर्थक्रिया है, यदि यह माना जाय, तो आत्माश्रयदोष नहीं हटाया जा सकता। तब तो इस प्रकार सत्त्व

स्वाभाविकः कश्चिद्धर्मः । तथा चैकस्मिन् क्षणेऽर्थक्रियां कृत्वा पुनस्तूष्णीम्भूतस्याऽपि स्थायिनः सत्त्वं न विरुध्यते ।

यदुक्तं स्थायिनः क्रमेणाऽनेककार्योत्पादकत्वं नाऽस्ति, समर्थस्य क्षेपायोगाद् इति।तदसत्, शक्तस्याऽपि सहकारिसंनिधानविशेषक्रमापेक्षया कार्यक्रम उपपन्नः; लोके तथैवाऽनुभवात् ।

अथ मतम्—शक्तस्य सहकार्यपेक्षाया अप्ययुक्तत्वादशक्ता एव सर्वे पदार्थाः परस्परापेक्षया सामग्रीं जनयन्ति, सा च शक्ता कार्यमुत्पादयतीति; तदप्ययुक्तम्, सामग्रीं प्रत्यपि पदार्थानां शक्तत्वेऽन्योन्यापेक्षा न युक्ता, अशक्तत्वे च तदजनकत्वान्निष्फलाऽन्योन्यापेक्षेति अनपेक्षैव सर्वत्र

अर्थक्रियाको उत्पन्न करना नहीं है, किन्तु वस्तुका एक स्वाभाविक धर्म है। ऐसी दशामें एक क्षणमें अर्थक्रियाको उत्पन्न करके विरत हुए—कार्य न करते हुए—भी स्थायी पदार्थमें सत्ताका अङ्गीकार करना विरुद्ध नहीं है ।

स्थायीको क्रमसे अनेक कार्योंका उत्पादन करना नहीं बन सकता, क्योंकि समर्थको कार्योत्पत्तिमें विलम्ब नहीं होता, ऐसा जो पहले कहा गया है वह भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि समर्थ भी अपने सहकारियोंके क्रमिक सन्निधानविशेषसे क्रमशः कार्योंका उत्पादन कर सकता है, लोकमें भी यह देखा जाता है । [इसलिए शक्तसे—समर्थसे—क्रमशः कार्य न होंगे, किन्तु युगपत् ही हो जायँगे, यह की गई शङ्का युक्त नहीं है, यह भाव है ।]

यदि कहो कि जिसमें शक्ति होती है, उसको किसी सहकारीकी आवश्यकता नहीं होती है, इसलिए अशक्तिवाले ही सब पदार्थ एक दूसरेकी अपेक्षा करके सामग्रीका उत्पादन करते हैं, और उस शक्तकी सामग्रीसे कार्यकी उत्पत्ति होती है, तो यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ यह विकल्प हो सकता है कि एक दूसरेकी अपेक्षा करके सामग्रीका उत्पादन करनेवाले प्रत्येक पदार्थमें सामग्रीको उत्पन्न करनेकी शक्ति है या नहीं ? यदि शक्ति है, तो उन पदार्थोंको एक दूसरेकी अपेक्षा ही किसी अवस्थामें नहीं हो सकती । यदि शक्ति नहीं है, तो उन पदार्थोंसे सामग्रीका उत्पादन ही नहीं हो सकता है, फिर पदार्थोंकी अन्योन्य अपेक्षा ही व्यर्थ है । इसलिए सर्वत्र अनपेक्षा ही बनी

स्यात् । मा भूत्तर्हि कस्याऽपि सहकार्यपेक्षेति चेद्, नः अनुभवविरोधात् । न चाऽनुभवो भ्रान्तः, बाधाभावात् । यद्यपि शक्तस्याऽशक्तस्य वाऽपेक्षा न युक्तेत्युक्तम्, तथापि शक्तत्वाशक्तत्वविनिर्मुक्तवस्तुमात्रस्य सहकार्यपेक्षा स्यात्; न्यायस्याऽस्य त्वयाऽप्यङ्गीकार्यत्वात् । तथाहि—कार्यसत्त्वे सिद्धान्तहानिः, असत्त्वे च कारणविशेषेण कार्यविशेषस्य सम्बन्धानिरूपणात् सर्वं सर्वस्मादुत्पद्येत; इति परेण चोदिते सत्त्वासत्त्वसम्बन्धत्वासम्बन्धत्वाविशेषं विमुच्य नियतपूर्वभावि कारणम्, नियतोत्तरभावि कार्यम्, इति त्वया निरूपणीयम् । अन्वयव्यतिरेकौ तत्र निरूपकौ स्त इति चेत्, सहकारिण्यपि स्त एव । तस्मादस्त्येव सहकार्यपेक्षा । तत्कृतस्तूपकारविशेषश्चिन्त्यताम् ?

रहेगी । यदि कहो कि सहकारीकी अपेक्षा ही किसीको नहीं है ? तो यह भी कहना असङ्गत है, क्योंकि ऐसा कहनेपर अनुभवके साथ विरोध होगा अर्थात् लोकमें सहकारीकी अपेक्षा सर्वत्र देखी जाती है । इस अनुभवको भ्रान्त भी नहीं कह सकते, कारण कि वही अनुभव भ्रमात्मक होता है, जिसका कि बाध हो । सहकारीके अनुभवका बाध नहीं होता है, अतः वह भ्रम कैसे हो सकता है ? यद्यपि यह कहा गया है कि शक्तको या अशक्तको सहकारीकी अपेक्षा मानना युक्त नहीं है, तथापि शक्तत्व और अशक्तत्वसे रहित जितनी वस्तुएँ हैं उनको तो सहकारीकी अपेक्षा है ही, और इस व्यवस्थाको तुम्हें भी मानना ही पड़ेगा, क्योंकि तुमसे कोई प्रश्न करे कि क्या तुम कार्यको सत् मानते हो या असत् ? यदि सत्का अङ्गीकार करोगे, तो किसी कारणके साथ किसी कार्यके सम्बन्धविशेषका निरूपण न हो सकनेसे सभी कार्य सभीसे उत्पन्न हो जायँगे ? इस परिस्थितिमें सत्त्व और असत्त्व एवं सम्बद्धत्व और असम्बद्धत्वका परित्याग करके तुम्हें यही कहना होगा कि कार्यसे पूर्वमें नियमतः रहनेवाला कारण होता है और कारणसे उत्तरकालमें नियमतः उत्पन्न होनेवाला कार्य कहलाता है । [अतः शक्तत्व और अशक्तत्वसे विनिर्मुक्त वस्तुमात्रको सहकारीकी अपेक्षा माननेमें कोई हानि नहीं है ।] यदि कहो कि हमारे मतमें तो अन्वय और व्यतिरेक प्रमाणभूत हैं, तो हम भी कह सकते हैं कि सहकारीकी अपेक्षामें भी अन्वय और व्यतिरेक प्रमाण हैं । इससे सिद्ध हुआ कि सहकारीकी अपेक्षा है ही । हाँ, इसका विचार करना अपेक्षित है कि उस सहकारीसे कौन-सा उपकार होता है ?

यत्त्वत्रैकदेशी मन्यते—अन्वयव्यतिरेकसिद्धभूम्युदकादिसहकारिणो बीजाख्ये कारणे विशेषमुच्छूनताख्यं जनयन्ति, ततस्तद्बीजमङ्कुराख्ये कार्ये शक्तम्, अन्यथाऽनुपकारिभूम्यादिर्बीजेन नाऽपेक्ष्येत इति, तदसत् बीजं स्वगतविशेषोत्पत्तौ शक्तं न वा? न चेत्, सहकारिसहस्रसन्निधानेऽपि न तज्जनयेत्, ततो नाङ्कुरोत्पादनेऽपि शक्ष्यति। अथ शक्तम्, तदापि यदि सहकारिकृतविशेषान्तरं प्राप्य उच्छूनतायां शक्नुयात्, तदाऽनवस्था स्यात्। अथ तदप्राप्यैवं तत्र शक्तम्, तर्हि अङ्कुरेऽपि विशेषमन्तरेणैव शक्तं स्यात्।

अथ मतम्—अङ्कुरोत्पत्तिरुच्छूनत्वजन्मपूर्विका, उच्छूनत्वोत्पत्तिस्तु सहकारिसन्निधिमात्रसाध्या, तथैव दृष्टत्वात् इति, तन्न; तथा सति शक्तिमता कारणेन स्वात्मनि अनुपकुर्वन्नपि सहकार्यपेक्षित इति त्वयैव स्वमतव्याघात

इस विषयमें किसी एकदेशीका मत है कि अन्वय और व्यतिरेक द्वारा निश्चित पृथ्वी, जल आदि सहकारी कारण अङ्कुरके हेतुभूत बीजमें उच्छूनत्वरूप अतिशयको पहले उत्पन्न करते हैं, फिर वह बीज अङ्कुररूप कार्यके लिए समर्थ होता है। यदि भूमि आदि बीजमें किसी अतिशयविशेषका उत्पादन न करें, तो वह बीज अनुपकारी भूमि आदिकी अपेक्षा ही न करेगा, एकदेशीका यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता है, कारण कि उसके प्रति यह विकल्प कर सकते हैं—वह बीज अपनेमें रहनेवाले अतिशयकी उत्पत्तिमें समर्थ है या नहीं? यदि उसकी उत्पत्तिमें बीज समर्थ नहीं है, तो हजार सहकारियों-का सामीप्य रहनेपर भी उससे अतिशयकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, इससे अङ्कुरका उत्पादन भी उसमें न होगा। यदि बीजको अतिशयकी उत्पत्तिमें समर्थ मानें, तो भी वह बीज सहकारी द्वारा अन्य विशेषकी प्राप्ति कर उच्छूनतातिशयो-त्पत्तिमें समर्थ हो, तो अनवस्थादोष होगा और यदि उस अन्य विशेषकी प्राप्ति न करके उसमें उसे समर्थ माना जाय, तो अङ्कुरोत्पत्तिमें विशेषके बिना भी वह समर्थ हो सकता है।

यदि कहो कि लोकमें यह देखा जाता है कि अङ्कुरकी उत्पत्ति उच्छूनत्वके उत्पन्न होनेपर ही होती है और उच्छूनत्वकी उत्पत्ति सहकारीकी सन्नि-धिमात्रसे होती है, तो यह भी कहना अयुक्त है, क्योंकि ऐसा माननेपर तुमने यह स्वीकार कर लिया कि शक्तिवाले कारणने अपनेमें किसी उपकारविशेषको

आपादितः स्यात्; तस्मान्नैकदेशिपक्षो युक्तिसहः ।

नन्वत एवास्मन्मतमादरणीयम्—नहि वयं तद्वत् कारणस्वरूपे सहकार्युपकारं ब्रूमः, किन्तर्हि क्षणिकान्मूलकारणादुत्पद्यमानं कार्यं सहकारिकारणान्यपेक्षते, कार्यस्य बहुकारणसाध्यत्वादिति ब्रूमः । यद्यपि स्थायिकारणमतेऽपि एतावत् समानम्, तथापि त्वन्मते यावत्कारणसत्त्वं नैरन्तर्येण कार्योत्पत्तिर्दुर्वारा, नियामकाभावात् । न च सहकारिसम्बन्धो नियामकः, सम्बन्धेनाऽपि यावत्सम्बन्धिसत्त्वं भवितव्यत्वात् । न च तस्य सम्बन्धान्तरं नियामकम्, अनवस्थानात् । न च वाच्यं क्षणिकपक्षेऽपि न कारणसत्त्वक्षणे कार्यं जायते, तयोर्यौगपद्यप्रसङ्गात् । अन्यदा जन्माङ्गीकारेऽपि अनियमापत्तिरिति, कारणानन्तरक्षणस्य कार्यनियामकत्वात् । अतः क्षणिकवाद एव श्रेयान् ।

न करनेवाले सहकारीकी अपेक्षा कर ली, इससे तुम्हारे मतका ही व्याघात हुआ । इससे एकदेशीका पक्ष उपपत्तिशून्य है ।

क्षणिकवादी कहता है कि इससे तो हमारा मत मानना उचित है, क्योंकि हम एकदेशीके समान कारणके स्वरूपमें सहकारी द्वारा कोई उपकार होता है, ऐसा नहीं कहते हैं, प्रत्युत यह कहते हैं कि मूलभूत क्षणिक कारणसे उत्पन्न होनेवाला कार्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा करता है, कारण कि अनेक कारणोंसे कार्य हुआ करता है । यद्यपि कारणके स्थायित्ववादमें भी यह अंश समान है तथापि उस मतमें जबतक कारणका अस्तित्व रहेगा, तबतक निरन्तर कार्यकी उत्पत्तिका वारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि निरन्तर उत्पत्तिके रोकनेमें कोई नियामक नहीं है । मूल कारणके साथ सहकारीका सम्बन्ध नियामक है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जबतक सम्बन्धियोंकी सत्ता है तबतक सम्बन्ध रहेगा ही । यदि सम्बन्धका भी अन्य सम्बध नियामक माना जाय, तो अनवस्थादोष होगा । क्षणिकवादमें भी जिस क्षणमें कारण होता है, उस क्षणमें तो कार्य हो नहीं सकता, कारण कि ऐसा माननेमें कार्य और कारणका यौगपद्य प्रसक्त हो भी जायगा। और अन्य समयमें कार्यकी उत्पत्तिके माननेमें अनियमकी प्राप्ति होगी, यह भी कह नहीं सकते, क्योंकि कारणका अव्यवहित उत्तर क्षण कार्यका नियामक है, अतः क्षणिकवाद मानना ही उचित है ।

मैवम्, सर्वत्र कार्यकारणभावो व्याप्तिबलान्निश्चेतव्यः। तत्र किं तव मते कार्यकारणभावव्याप्तिर्धूमाग्निव्यक्त्योरुत तत्सन्तानयोः ? नाऽऽद्यः, क्षणिकयोरन्वयव्यतिरेकबुद्धिद्वयकालावस्थानायोगात्। द्वितीयेऽङ्गारावस्थादप्यग्नेर्धूमो जायेत, तत्सन्तानपातित्वाविशेषात्। काष्ठाभावाद् जन्म नेति चेद्, न; तस्यापि स्वसन्ताने विद्यमानत्वात्। न चाऽग्निकाष्ठयोः सम्बन्धा-

---

क्षणिकवादियोंका मत युक्त नहीं है, क्योंकि सभी जगह कार्यकारणभावका निश्चय व्याप्तिके आधारपर ही किया जाता है। इस परिस्थितिमें क्षणिकवादीसे पूछना चाहिए कि क्या तुम्हारे मतमें धूम और अग्निरूप व्यक्तिमें कार्यकारणभावकी व्याप्ति रहती है, या धूम और अग्निके सन्तानमें रहती है? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि क्षणमात्र कालमें रहनेवाले धूम और अग्नि अन्वयज्ञान और व्यतिरेकज्ञानके दो कालोंमें रह ही नहीं सकते। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि उसके माननेसे तो अङ्गारावस्थापन्न अग्निसे भी धूमकी उत्पत्ति प्रसक्त होगी, क्योंकि अग्निका सन्तान तो अङ्गारावस्थामें भी विद्यमान है। [यदि कहो कि अङ्गारदशामें लकड़ी नहीं है, अतः धूमकी उत्पत्ति नहीं होती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि लकड़ी भी उस सन्तानमें रहती ही है। अग्नि और लकड़ीका परस्पर सम्बन्ध नहीं है, अतः अङ्गारसे धूम नहीं होता? यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों सन्तानोंके नित्य होनेके कारण उस सम्बन्धका भी अस्तित्व विद्यमान है। अग्नि और धूमव्यक्ति, क्षणिक होनेसे, अन्वय और व्यतिरेक—इन दोनों बुद्धियोंके समयमें अवस्थित ही नहीं रह सकते, इसलिए उनमें व्याप्तिग्रह कैसे होगा? द्वितीय पक्ष माननेपर अङ्गार— जलते हुए लाल कोयलेके रूपमें विद्यमान अग्नि—से भी धूमकी उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि अङ्गारावस्थापन्न अग्नि भी अग्निसन्तानमें पड़ी ही है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। [जैसे अग्नि धूमजनक अग्निसन्तानमें पतित है, वैसे ही अङ्गाररूप अग्नि भी है] काष्ठ न होनेसे धूमका जन्म नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काष्ठ भी तो अपने सन्तान--प्रवाह--में विद्यमान ही है। अग्नि और काष्ठका सम्बन्ध नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों प्रवाहों-- अग्नि और काष्ठसन्तानों—के नित्य होनेसे उनका सम्बन्ध अनिवार्य है और वह सम्बन्ध दूसरे सम्बन्ध द्वारा होता है, सदैव विद्यमान नहीं रहता, ऐसा भी

भावः, सन्तानद्वयनित्यत्वेन तस्याप्यनिवार्यत्वात् । स सम्बन्धः सम्बन्धान्तरपूर्वकत्वान्न सदातन इति चेद्, न; अनवस्थापत्तेः । त्रिचतुरकक्षाविश्रान्त्यभ्युपगमाददोष इति चेत्, तर्हि स्थायिकारणपक्षेऽपि तथैवाऽनवस्थायाः सुपरिहरत्वान्नोक्तदोषः ।

ननु सहकारिण उपकारकत्वाङ्गीकारे यदि स्थायित्ववादी स्वमतमपि समीकुर्यात् तर्हि तन्नाङ्गीकुर्म इति चेद्, न; धूमकाष्ठयोः कार्यसहकारिणोरुपकार्योपकारकभावस्याऽन्वयव्यतिरेकसिद्धस्याऽवर्जनीयत्वात् । अन्वयव्यतिरेकयोश्चोपकार्योपकारकभावसाधकत्वं मूलकारणतत्कार्ययोरग्निधूमयोर्दृष्टम् । तस्मादुपकारके सहकारिणि मतद्वयेऽप्यपेक्षा समाना । तथा च क्षणिकपक्षे यथा एकवह्नेः सहकारिभेदाद् देशभेदाच्च युगपदनेककार्यजनकत्वमभ्युपेयते

नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें अनवस्था होगी। यदि कहो कि तीन या चार कक्षामें ही सम्बन्धपरम्पराकी कल्पना समाप्त कर देंगे, (अर्थात् तीसरे या चौथे सम्बन्धके सम्बन्धान्तरकी कल्पना नहीं करेंगे) इससे कोई दोष नहीं होगा, तो कारणको स्थायी माननेवालेके मतमें भी पूर्वोक्त प्रकारसे ही अनवस्थादोषका परिहार हो ही सकता है, इससे उस मतमें दिया गया अनवस्थारूप दोष नहीं आ सकता ।

सहकारीको उपकारक माननेमें यदि स्थायित्वपक्षका समर्थक वेदान्ती अपने मतको भी समान बतावे [अर्थात् हमारी ही जैसी युक्तियोंसे अपने मतमें आये हुए गुण और दोषोंका समर्थन या खण्डन करे], तो इसे हम स्वीकार नहीं कर सकते, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि कार्य और सहकारीरूप धूम और काष्ठका उपकार्य और उपकारकभाव जो अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध है उसे कोई हटा ही नहीं सकता है । अन्वय और व्यतिरेक उपकार्य और उपकारकभावके साधक हैं, यह सिद्धान्त मूलकारण अग्नि और उसका कार्य धूम— इन दोनोंमें प्रत्यक्षरूपसे देखा गया है, इसलिए दोनों मतोंमें अर्थात् क्षणिकवाद तथा स्थायित्ववादमें उपकारक सहकारीकी अपेक्षा एक-सी ही है, क्योंकि क्षणिकवादमें जैसे एक ही अग्नि सहकारी तथा देशके भेदसे एक साथ अनेक कार्योंकी उत्पादक मानी जाती है अर्थात् अग्नि अपने देशमें दूसरी अग्निको उत्पन्न करती है और अपने ऊपरके देशमें धूमको, नीचे

वह्निः स्वदेशे वह्न्यन्तरमेव जनयत्युपरिष्टाद् धूममधस्ताद्भस्म पुरुषे विज्ञानं चेति। तथा स्थायिपक्षेऽप्येकस्य कारणस्य कालभेदात् सहकारिभेदाच्चाऽनेककार्यजनकत्वम्। ततः क्रमकारित्वं किं न स्यात्? न चैतावता क्षणिकस्थायिवादिनोर्मतसाङ्कर्यं शङ्कनीयम्, पूर्वस्य प्रतिकर्मव्यवस्थावादस्याऽन्ते निराकृतत्वात्। तदेवमतिदुष्टं क्षणिकविज्ञानवादिमतमुपेक्ष्य कूटस्थनित्यचैतन्ये सर्वमप्यध्यस्ततया प्रतीयत इत्ययमेव वेदान्तवादोऽतिनिर्दोषत्वादादरणीयः।

नन्वयमपि वादो दुष्ट एव। तथाहि—कूटस्थचैतन्येन चेत् स्वस्मिन्नध्यस्ताः पदार्था अपरोक्षा अवभास्यन्ते, तदाऽनुमेयादयोऽप्यपरोक्षाः स्युः। न चेच्चैतन्यमपरोक्षप्रतीतिजनकम्, तदा घटादयोऽपि नाऽपरोक्षाः स्युः; नियामकाभावात्।

देशमें भस्मको और पुरुषमें स्वविषयक ज्ञानको उत्पन्न करती है, वैसे ही स्थायित्ववादमें भी एक ही कारण काल और सहकारीके भेदसे अनेक कार्योंका उत्पादक माना जा सकता है। इसलिए क्रमसे कार्योंको उत्पन्न करना संगत क्यों नहीं होगा? इतनी समानतासे क्षणिकवाद और स्थायित्ववादमें समानताकी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि क्षणिकवादका प्रतिकर्मव्यवस्थावादके अन्तमें हम खण्डन कर आये हैं। इस प्रकार अधिकाधिक दोषपूर्ण क्षणिक विज्ञानवादी—बौद्धमत—की अवहेलना करके 'कूटस्थ—परिणाम या विकारसे शून्य—नित्य चैतन्यमें—स्थायी आत्मामें—सम्पूर्ण पदार्थ अध्यस्तरूपसे प्रतीत होते हैं' यह वेदान्तका सिद्धान्त सर्वथा दोषरहित होनेसे आदरणीय अर्थात् मानने योग्य है।

अब शङ्का होती है कि यह उपर्युक्त सिद्धान्त भी अर्थात् 'कूटस्थ चैतन्यमें सब प्रपञ्च अध्यस्त है' यह मानना भी दोषपूर्ण ही है, क्योंकि अपनेमें—कूटस्थ चैतन्यमें—आरोपित पदार्थोंका कूटस्थ चैतन्य ही यदि अपरोक्ष अवभास कराता है, तो अनुमानके विषयभूत वह्नि आदिका भी अपरोक्षरूपसे अवभास होना चाहिए। [क्योंकि अनुमेय भी चैतन्यमें अध्यस्त ही हैं] यदि कूटस्थ चैतन्यको प्रत्यक्षज्ञानका जनक न माना जाय, तो घटादिका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि नियामक तो कोई है नहीं। [चैतन्यसे अतिरिक्त प्रकाशक कोई है नहीं और जब चैतन्य अप्रत्यक्षका भी प्रकाश करता है तब घटादिका प्रत्यक्षप्रकाश होता है और अन्यका अप्रत्यक्षप्रकाश होता है, इसका नियामक कौन होगा? यह भाव है]।

न चेन्द्रियमापरोक्ष्यनियामकमिति शक्यं वक्तुम्, बाह्येन्द्रियस्य तथात्वे सुखदुःखादेरापरोक्ष्याभावप्रसङ्गात्। अन्तःकरणस्य तथात्वे त्वनुमेयादावापरोक्ष्यं दुर्वारम्। नैष दोषः, कारकत्वव्यञ्जकत्वयोर्नियामकत्वात्। योऽयमन्तःकरणपरिणामो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य घटादीन् व्याप्नोति तस्य हि कर्मभूता घटादयः कारकाः। घटाद्यभावे तद्व्यापिपरिणामानुपपत्तेः। घटादिभिरुत्पादिते च परिणामे चैतन्यमभिव्यज्यत इति व्यञ्जकत्वं घटादीनाम्। ततस्तेषां युक्तमापरोक्ष्यम्। न चैवमनुमेयादिषु कारकत्वव्यञ्जकत्वधर्मद्वयं नियमेन सम्भवति, अतीतानागतयोरपि कदाचिदनुमेयत्वात्; तयोश्च वर्त्तमानधर्मद्वयाश्रयत्वानुपपत्तेः।

इन्द्रिय प्रत्यक्षकी नियामक होगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि चक्षुरादि बाह्येन्द्रियको प्रत्यक्षकी नियामक मानो, तो सुख, दुःख आदिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। [क्योंकि इनका प्रकाश बाह्येन्द्रियोंसे नहीं होता है।] यदि अन्तःकरण प्रत्यक्षका नियामक माना जाय, तो अनुमेयोंका भी प्रत्यक्ष प्रसक्त होगा। [क्योंकि अनुमेयोंका भी अन्तःकरण द्वारा ही ज्ञान होता है] यह दोष नहीं आता, क्योंकि कारकत्व और व्यञ्जकत्वको नियामक मान सकते हैं। [अर्थात् प्रत्यक्षस्थलमें विषयकारक तथा व्यञ्जक दोनों होते हैं, अनुमानादिस्थलमें नहीं। विषयके कारकत्व और व्यञ्जकत्वका उपपादन करते हैं—] नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा बाहर निकल कर जो यह अन्तःकरणका परिणाम घटादिको व्याप्त करता है, उसके विषयभूत घट आदि कारक कहलाते हैं। घट आदि विषयके न रहनेसे उस विषयको व्याप्त करनेवाले परिणामकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती। और घट आदि विषयोंसे उत्पन्न उस परिणाममें चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है, इससे घट आदि विषय व्यञ्जक होते हैं। इससे घट आदि विषयोंका प्रत्यक्ष होना युक्तिसंगत है। और अनुमानके विषयोंमें उक्त प्रकारके कारकत्व और व्यञ्जकत्व दोनों धर्मोंका नियमतः सम्भव नहीं है, क्योंकि भूत तथा भविष्यत्कालीन पदार्थ [जो विद्यमान नहीं हैं] भी किसी समय अनुमानके विषय होते हैं, परन्तु वे पदार्थ वर्तमान कारकत्व और व्यञ्जकत्व धर्मोंके आश्रय नहीं होते।

ननु यदा 'वृष्टिरासीत्' इत्यनुमीयते तदा वृष्टिरतीतत्वाकारेण वर्त्तते ततो वर्त्तमानधर्माश्रयत्वं स्यादिति चेद्, नैतद्युक्तम्; किमनुमानकाले वृष्टेर्वर्त्तमानत्वमुच्यते उताऽतीतत्वधर्मस्य ? आद्ये, वृष्टेर्युगपदतीतत्वं वर्तमानत्वं च व्याहन्येत । न द्वितीयः, अतीतत्वं नाम वर्त्तमानकालव्यावृत्तभूतकालयोगित्वम्, ततश्च यथा घटादौ वर्त्तमानकालोऽनुगतः सन्नवच्छेदको न तथाऽतीतत्वधर्मः, किन्तु घटाभावस्य घट इवाऽतीतत्वधर्मस्य वर्त्तमानकालः केवलं निरूपक इति नाऽतीतत्व-

---

यदि कहो कि जब 'वृष्टि हुई थी' ऐसा अनुमान किया जाता है तब अनुमानकालमें वृष्टि अतीतत्वाकारसे विद्यमान ही है, इससे वह अतीत वृष्टि भी विद्यमान धर्मद्वयकी आश्रय हो ही जायगी, यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अनुमान कालमें वृष्टिका वर्तमानत्व प्रतीत होता है ? अथवा उसके अतीत्वधर्मका वर्तमानत्व ? प्रथम पक्ष मानने पर वृष्टिमें एक ही कालमें अतीतत्व और वर्तमानत्व दोनोंका एक साथ होना सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि जब वर्तमानकालसे भिन्न भूतकालमें रहना ही अतीतत्वपदार्थ है तब जैसा घटादिमें वर्तमान काल अनुगत होता हुआ अवच्छेदक है वैसा अतीतत्वधर्म अवच्छेदक नहीं है, [जैसे 'घटोऽस्ति' (घट है) इस प्रतीतिमें वर्तमान काल तो अन्वयरूपसे घटका अवच्छेदक है अर्थात् वर्तमानकालिक घटकी सत्ताका बोध कराता है वैसे 'घटो नाऽस्ति' में प्रतीयमान लट्लकारका अर्थ होता हुआ भी वर्तमान काल अन्वयरूपसे घटका अवच्छेदक नहीं है अर्थात् घटाभावके वर्तमानकालिक सत्ताका बोध कराता है, इस अभिप्रायसे 'अतीतवृष्टिर्वर्तते' (भूतकालीन वृष्टि है) इस प्रतीतिकी उपपत्ति करते हैं--किन्तु घट जैसे घटाभावका (प्रतियोगितया) निरूपक है वैसे ही अतीतत्व धर्मका भी वर्तमान काल केवल निरूपक ही है। इससे अतीतत्वधर्ममें घटके तुल्य वर्तमानत्वका सम्भव नहीं है। [यहाँ पर 'घटवत्' (घटके तुल्य) यह व्यतिरेकी दृष्टान्त है। घटरूप धर्मीके अभावमें धर्म नहीं रह सकता। इस नियमसे अतीतत्वधर्मका धर्मी घट ही जब नहीं है, तब उस अतीत्व धर्मके साथ अन्वयिरूपसे वर्तमानत्वका योग कैसे सम्भव

धर्मस्य घटवद्वर्त्तमानत्वसम्भवः। नन्वयं धर्मो यदि न सर्वथा वर्त्तमानत्वव्यवहारार्हस्तर्हि नरविषाणवदसन्नेव स्यात्, ततो वर्तमान एवाऽयं धर्म इति चेद्, एवमपि न तद्धर्मविशिष्टायां वृष्टौ कारकत्वव्यञ्जकत्वे सम्भवतः। नहि मृतो देवदत्तो घटं कुरुते, नाऽपि विनष्टः प्रदीपस्तमभिव्यनक्ति।

नन्वनुमेयादिषु विषयेष्वकारकेष्वव्यञ्जकेषु च सत्सु कथमनुमानादिजन्यज्ञानस्य तद्विषयाकारतेति चेद्, लिङ्गशब्दादयो ह्यविनाभावशक्त्यादिसम्बन्धविशेषबलात् तत्तद्विषयाकारं ज्ञाने समर्पयन्तीति ब्रूमः।

हो सकता है, यह तात्पर्य हुआ।] यदि यह अतीतत्वधर्म सर्वथा वर्तमान व्यवहारके योग्य नहीं है, तो मनुष्यके सींगकी भाँति असत् ही हो जायगा, इससे यह अतीतत्व आदि धर्म वर्तमान ही हैं, ऐसा भी मानो, तो भी अतीतत्व आदि धर्म-युक्त वृष्टिमें कारकत्व तथा व्यञ्जकत्व हो ही नहीं सकते; [कथञ्चित् अतीतत्व आदि आकारसे वृष्टिको वर्तमान मान भी लें, तो भी उस आकारसे विद्यमान पदार्थ वर्तमान कारकत्व तथा व्यञ्जकत्व दो धर्मोंसे सम्बन्ध नहीं कर सकता, इस अभिप्रायसे दृष्टान्त देते हैं—] क्योंकि मरा हुआ—अतीत—देवदत्त घटको नहीं कर सकता और न बुझा हुआ—अतीत—दीपक घटका प्रकाश कर सकता है। [इससे विद्यमान ही पदार्थ कारक तथा व्यञ्जक हो सकते हैं। प्रत्यक्षस्थलमें ऐसा सम्भव है, परन्तु अनुमानस्थलमें सम्भव नहीं है।]

यदि शङ्का हो कि अनुमितिज्ञानके विषय यदि कारक तथा व्यञ्जक नहीं होते हैं, तो अनुमान आदि प्रमाणोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें उस विषयका आकार कैसे प्राप्त होगा ? [अर्थात् ज्ञान आपके मतमें स्वतः निराकार है, कारक तथा व्यञ्जक विषयका आकार ही ज्ञानको प्राप्त होता है, यह अनुमेयोंमें सम्भव नहीं है] तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि लिङ्ग (हेतु) तथा शब्द आदि अविनाभाव-व्याप्ति तथा शक्ति आदि सम्बन्धविशेषके आधारपर सामर्थ्यसे तत्-तत् विषयके आकारको ज्ञानमें समर्पण कर देते हैं, ऐसा हम कहते हैं। [तात्पर्य यह है कि जैसे पर्वत आदिमें धूमके दर्शनसे धूम तथा वह्निके अविनाभावका अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकसिद्ध व्याप्तिका स्मरण होनेपर उसके बलसे अनुमितिज्ञानको वह्निका आकार प्राप्त होता है वैसे ही शाब्दज्ञानमें भी शब्दका श्रावण प्रत्यक्ष होनेके अनन्तर

न चाऽतीतानागतेष्वनुमेयादिषु यथा विषयत्वं धर्मोऽङ्गीक्रियते तथा कारकत्वव्यञ्जकत्वधर्मेऽप्यङ्गीकार्ये सति प्रत्यक्षे इवानुमानादिष्वपि विषयतयैव ज्ञानाकारार्पकत्वं भविष्यतीति वाच्यम्, नहि विषयत्वं नामाऽनुमेये कश्चिद्भावरूपो धर्मः, येन दृष्टान्तः स्यात्, किन्तर्ह्यनुमानप्रवृत्तेः पूर्वमनुमेयस्य यादृगवस्थाऽऽसीत्तादृगवस्थानिवृत्तिरेव विषयत्वशब्देनोच्यते । न च सैवाऽवस्था दृष्टान्तत्वेन शङ्कनीया,

---

'यह शब्द इस अर्थका वाचक है' इत्यकारक शक्तिका स्मरण होनेसे शाब्दबोध उस शक्तिके विषयभूत अर्थका आकार प्राप्त कर लेता है, इत्यादि रीतिसे परोक्षज्ञानमें विषयका आकार आता है, उसके लिए अन्तःकरणका विषयाकार परिणाम तथा उसमें चित्के आभासकी आवश्यकता नहीं होती है, अतः अनुमेय आदिमें कारकत्व तथा व्यञ्जकत्व नहीं आते।] यदि ऐसी शङ्का हो कि अतीत तथा अनागत अनुमितिज्ञानके विषयोंमें जैसे विषयत्वका स्वीकार किया जाता है वैसे ही कारकत्व तथा व्यञ्जकत्व भी ही मानने पड़ेंगे ? तब तो प्रत्यक्षज्ञानके समान अनुमिति आदि ज्ञानोंमें भी विषयताके कारण ही ज्ञानाकारसमर्पकत्व मानना होगा, [हेतु तथा शक्तिज्ञानके बलसे ही अतीत अनुमेयादिमें आपको वर्तमान विषयत्वरूप धर्म जब मानना ही है, तब उसी प्रकार कारकत्व या व्यञ्जकत्व क्यों नहीं मान लेते ? यह तो आप कह ही नहीं सकते कि अतीतमें कोई वर्तमान धर्म नहीं माना जाता, अन्यथा अतीत विषय ही नहीं होगा, इससे विषयता प्रत्यक्षादि तुल्य ही अनुमानादिमें भी वर्तमान है । इस सिद्ध विषयताके बलसे ही ज्ञानको आकारकी प्राप्ति हो जायगी, अनुमानादिस्थलमें अतिरिक्त लिङ्ग तथा शक्तिज्ञान आदिको आकारसमर्पक माननेकी कल्पना व्यर्थ है]। तो ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि अनुमेयोंमें विषयता कोई भावरूप धर्म नहीं है, जिसमें दृष्टान्त बन सके, किन्तु अनुमान करनेके पहले अनुमेयकी जैसी अवस्था रहती है, उस अवस्थाकी निवृत्ति होनी ही विषयताशब्दसे कही जाती है । [उसी अवस्थाका विषयतापदसे दृष्टान्त दे रहे हैं—] प्रत्यक्षज्ञानस्थलमें अज्ञानरूप प्रागवस्थाकी निवृत्ति होती ही है, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि वह प्रागवस्था भी तो उस प्रागवस्थाकी निवृत्तिका प्रागभाव-

तस्या अप्युक्तनिवृत्तिप्रागभावरूपत्वात् । अतोऽतीताद्यनुमेयेषु भावरूपं कारकत्वं दुःसम्पादम् ।

अतीताद्यनुमेयस्याऽकर्मकारकत्वे कथं तत्र 'वृष्टिं जानाति' इति सकर्मकधातुप्रयोगः ? उपचारादिति ब्रूमः । यथा सकर्मके प्रत्यक्षज्ञाने फलमस्ति तथाऽनुमानादावपि तत्सत्त्वमात्रेण सकर्मकत्वमुपचर्यते । मुख्यस्य कर्मणस्तत्राऽङ्गीकारे, प्रत्यक्षवदतीताद्यनुमानेऽप्यापरोक्ष्यं दुर्वारम् । एवं च सति यत्र वर्तमानोऽग्न्यादिरनुमीयते तत्राऽप्यनुमेयत्वसाम्या-

---

स्वरूप ही है। प्रागवस्था भी अभावरूप ही है, भावरूप तो नहीं है,—अभाव भावके उत्पादनमें असमर्थ है। तथा वह किसीका धर्म नहीं बन सकता, अतः विषयत्वसे ज्ञानाकार नहीं आ सकता।] इसलिए अतीत आदि अनुमेयोंमें भावरूप कारकत्वकी सम्पत्ति होना कठिन है।

यदि शङ्का हो कि अतीत आदि अनुमेय कर्म कारक नहीं बन सकते, तो ऐसे स्थलमें 'वर्षाको जानता है, इस प्रकार सकर्मक धातुका प्रयोग कैसे होता है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उपचारसे होता है, ऐसा कहते हैं। जैसे सकर्मक प्रत्यक्षज्ञानमें फल है वैसे ही अनुमान आदिमें भी फल है, उस फलके होनेकी समानतासे ही अतीत अनुमेयादिस्थलमें सकर्मकत्वका गौण-व्यवहार किया जाता है। यदि इन स्थलोंमें मुख्य कर्मकारकत्वका व्यवहार हो, तो प्रत्यक्षकी भाँति अतीत आदिके अनुमानमें भी साक्षात्कार होनेका निवारण नहीं कर सकते। [तात्पर्य यह है कि 'घटं पश्यामि जानामि च' (घट देख रहा हूँ और जान रहा हूँ) ऐसे प्रत्यक्षस्थलमें अभावरूप प्रागवस्थाकी निवृत्तिसे भिन्न फल भावरूप प्रकटता या अनुव्यवसाय है। एवं अतीताऽनुमेयस्थलमें भी उक्त फल विद्यमान है। एतावैतैव गौण सकर्मकत्वका व्यवहार वहांपर है। कारकत्व तो विद्यमानमें ही होता है। अतः मुख्य कारक माननेमें साक्षात्कारकी आपत्ति आ जाती है। अतीतसे भिन्न वर्तमान वह्न्यादिविषयक अनुमितिस्थलमें भी विषयके कारकत्वके अभावका प्रतिपादन करते हैं—] ऐसी दशामें इस पूर्वोक्त निर्णीत सिद्धान्तके अनुसार जहाँ विद्यमान—अतीतानागतसे भिन्न—वह्नि आदिका अनुमान किया जाता है वहाँपर अनुमेयत्वके समानभावसे रहनेके कारण [जैसे अनुमेयत्व अतीत अनागत वह्नि आदिमें है वैसे ही वर्तमान वह्नि आदिमें भी है,

दग्न्यादेरकर्मकारकत्वमापरोक्ष्यपरिहारायाऽवगन्तव्यम् । प्रत्यक्षे पुनरविनाभावसम्बन्धादीनामभावाद्विज्ञानस्याऽऽकारसमर्पणाय विषयस्य कर्मकारकत्वमेवाऽभ्युपेयम् । सम्भवति हि तत्र नियमेन कारकत्वम्, प्रत्यक्षविषयस्य वर्त्तमानत्वनियमात् । तस्मात् कूटस्थचैतन्ये सर्वदा सर्वपदार्थानामध्यस्तत्वे समेऽपि कारकत्वव्यञ्जकत्ववशात् प्रत्यक्षविषयेष्वेवाऽऽपरोक्ष्यं व्यवस्थास्यते ।

न च निर्विकल्पके चैतन्ये कथं सविकल्पकपदार्थाध्यास इति शङ्कनीयम्, पूर्वपूर्वप्रमातृत्वादिसंस्कारेण सविकल्पकमेव चैतन्यमहङ्काराद्यध्यासाधिष्ठानमिति प्रतिकर्मव्यवस्थावादे प्रत्युक्तत्वात् ।

ननु तथापि संस्कारादिसर्वप्रपञ्चोपादानं मूलाज्ञानं निर्विकल्पकचैत-

---

इस अनुमेयत्वमें कोई विशेषता नहीं है] साक्षात्कार—प्रत्यक्ष ज्ञान—होनेकी आपत्ति दूर करनेके लिए वर्तमान भी उन वह्नि आदिमें कर्म कारकत्वका अभाव ही रहता है, ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए । [प्रत्यक्षमें अनुमानादिकी अपेक्षा विलक्षणता दिखलाते हैं—] प्रत्यक्षस्थलमें तो अविनाभाव—व्याप्ति—आदि सम्बन्धके अभावसे विज्ञानको आकार देनेके लिए विषयको कर्मकारक मानना ही होगा । प्रत्यक्षस्थलमें विषय नियमतः कर्मकारक हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञानके विषयका वर्तमानरूपसे रहना आवश्यक है । [अन्यथा अतीत और अनागतके समान विषयके वर्तमान न होनेसे उसमें इन्द्रियसम्प्रयोग आदि ही नहीं हो सकेगा, जिसके बिना प्रत्यक्षका होना सुतराम् असम्भव है ।] यद्यपि इस पूर्वनिर्णीत सिद्धान्तके अनुसार कूटस्थ चैतन्यमें सभी पदार्थ अर्थात् अतीत, अनागत और वर्तमान अध्यस्तत्वरूपसे समान ही हैं, तथापि कारकत्व और व्यञ्जकत्वके कारण प्रत्यक्षज्ञानके ही विषयोंमें साक्षात्कारकी व्यवस्था की जाती है । [इस प्रकार पटाद्यपरोक्षरूप प्रतिकर्म-व्यवस्था उपपन्न होती है ।]

निर्विकल्पक चैतन्यमें सविकल्पक पदार्थोंका अध्यास कैसे होगा ? ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि पूर्व-पूर्व प्रमातृत्व आदिके संस्कारसे सविकल्पक चैतन्य ही अहङ्कारादिके अध्यासका अधिष्ठान होता है, इस प्रकारसे प्रतिकर्मव्यवस्थाके समर्थनप्रकरणमें इस शङ्काका खण्डन कर आये हैं ।

यद्यपि पहले व्यवस्था बतलाई गई है, तथापि यह शङ्का हो सकती है कि

न्ये एवाऽध्यसनीयम्, अज्ञानाध्यासाधीनसिद्धिकत्वादन्यस्य सर्वस्य सविकल्पकत्वसम्पादकस्य वस्तुनः। न च निर्विकल्पकस्याऽधिष्ठानत्वमुपपद्यते, सर्वत्र सविकल्पकस्यैवाऽधिष्ठानत्वदर्शनात्। तत्कथमज्ञानाध्यासः? नैष दोषः, आपरोक्ष्यस्फुरणमात्रेणाऽधिष्ठानत्वोपपत्तेः सविकल्पकत्वस्याऽप्रयोजकत्वात्। तच्च केवलव्यतिरेकाभावादवगन्तव्यम्।

संस्कार आदि सकल प्रपञ्चके उपादानभूत मूल अज्ञान* का अध्यास निर्विकल्पक चैतन्यमें ही करना अपेक्षित है, क्योंकि सविकल्पक व्यवहारके प्रयोजक आत्मासे अतिरिक्त संस्कार आदि सम्पूर्ण पदार्थोंकी सिद्धि अज्ञानाध्यासके ही अधीन है अर्थात् अज्ञानाध्यासके बिना संस्कार आदि कोई भी पदार्थ अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। और निर्विकल्पक तो अधिष्ठान हो नहीं सकता, क्योंकि सर्वत्र—रज्जु सर्प आदि स्थलमें—सविकल्पक रज्जु आदि ही अधिष्ठान देखे गये हैं—इन सब विरोधोंसे अज्ञानका अध्यास संगत कैसे होगा? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक चैतन्य भी प्रत्यक्ष स्फुरणमात्रसे ही अधिष्ठान हो सकता है, अतः अधिष्ठानमें सविकल्पकत्वका होना आवश्यक नहीं है। यह सिद्धान्त केवलव्यतिरेकके अभावसे समझना चाहिए†।

---

* संक्षेपशारीरकमें भी कहा है—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नाऽपि गोचरः॥'

अर्थात् निर्विकल्पक चैतन्य ही मूल अज्ञानके अध्यासका अधिष्ठान है, क्योंकि सबका मूल कारण होनेसे अज्ञानका सबसे पहले रहना ही आवश्यक है, इसलिए उसके अनन्तर प्रतीयमान होनेवाले पदार्थ उसके अधिष्ठान नहीं हो सकते।

† पृथ्वीमें इतरभेदरूपी साध्यके साधक गन्धवत्त्व हेतुमें 'जो इतरभेदवान् नहीं है, वह गन्धवान् नहीं है', इस प्रकारके केवल व्यतिरेकका अभाव नहीं है, किन्तु व्यतिरेक ही है। अतः उक्त हेतुसे पृथ्वीमें इतरभेदकी सिद्धि होती है। प्रकृतमें जो सविकल्पक नहीं होता, वह अधिष्ठान नहीं होता, ऐसा केवलव्यतिरेक सम्प्रतिपन्न नहीं है, क्योंकि वेदान्तमतमें निर्विकल्प आत्मा भी स्फुरणमात्रसे अविद्याका अधिष्ठान होता है और अपरोक्ष ही अधिष्ठान होता है, इस विषयमें 'जो किसी भी अंशसे अपरोक्ष नहीं है वह अधिष्ठान नहीं हो सकता' ऐसा केवल-व्यतिरेक सम्प्रतिपन्न है। रज्जुसर्प

आत्मनो नित्यानुमेयत्वान्नाऽपरोक्षतेति चेद्, नः अहङ्कारवादेऽहमित्यपरोक्षानुभवविरोधेन प्रत्युक्तत्वात् । अहमित्यनुभवोऽनुमानजन्य एव, तथापि भूयोऽभ्यासपाटवाद् व्याप्तिपक्षधर्मतोल्लेखमन्तरेण झटिति तदुत्पत्तौ अपरोक्षभ्रमः प्राणिनां तत्रेति चेद्, नः तथा सति घटादिकं जानतो देवदत्तस्य 'मयेदं विदितम्' इति सम्बन्धावगमो न स्यात् । यथा परेण विदिते घटे स्वस्य सम्बन्धो न प्रतीयते तथा स्वेन विदितेऽपि, उभयोर्नित्यानुमेययोरविशेषात् । स्वेन ज्ञानावसरे स्वस्य ज्ञानाश्रयत्वं विशेष इति चेद्, नः स्वात्मन्यप्रतीयमाने ज्ञानाश्रयत्वस्य दुरवगमत्वात् । न च

आत्मा नित्य अनुमेय—अनुमितिका ही विषय—है, प्रत्यक्ष नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पहले अहङ्कारवादमें 'अहम्' इस प्रकारके प्रत्यक्ष अनुभवके विरोधसे [इस शङ्काका] खण्डन किया गया है। यद्यपि 'अहम्' का (मैं—आत्मा—का) अनुभव अनुमानसे ही होता है, तथापि बार बार अधिक अभ्यास होनेसे व्याप्ति तथा पक्षधर्मताके उल्लेखके बिना जल्दी आत्माकी प्रतीतिके उत्पन्न हो जानेके कारण वस्तुतः अनुमित आत्मामें मनुष्योंका प्रत्यक्षत्वभ्रम हो जाता है, ऐसा पूर्वपक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे घटादिको जानते हुए देवदत्तको 'मैंने इसे जान लिया' इस प्रकार अपनेमें विषयसम्बन्धकी प्रतीति नहीं होगी। जैसे दूसरे पुरुष द्वारा ज्ञायमान घटमें अपना सम्बन्ध नहीं जान पड़ता वैसे ही अपने द्वारा ज्ञात घटमें भी सम्बन्धका ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि ऐसी दशामें अपने तथा दूसरेके आत्माओंके नित्यानुमेय होनेमें कोई अन्तर नहीं रहा। ['प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयम्' की रीतिसे जैसे अन्य देहस्थ आत्मा अनुमेय है, अतः उसके ज्ञानका सम्बन्ध अपनेमें नहीं होता, वैसे ही अपने आत्माके अनुमेय होनेसे अपने ज्ञानका भी सम्बन्ध अपनेमें नहीं होगा, यह भाव है।] स्वकीय ज्ञानके अवसरमें स्वयं ज्ञानका आश्रय होता है [पर जिस समय परदेहस्थ आत्माको ज्ञान होता है उस समय अपना आत्मा ज्ञानाश्रय नहीं रहता], यह विशेष है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि

आदि अध्यासस्थलोंमें सर्वत्र आपरोक्ष्य है, अतः आपरोक्ष्यको केवलव्यतिरेकके बलसे अधिष्ठानत्वका प्रयोजक मानना उचित है, किन्तु सविकल्पकत्वमें केवलव्यतिरेकके अभावसे अधिष्ठानत्वका प्रयोजकत्व नहीं मान सकते, यह तात्पर्य है।

ज्ञानाश्रयत्वं फलसम्बन्धादनुमातुं शक्यम्, फलसम्बन्धस्याऽद्याप्यसिद्धेः। तत आत्मा स्वप्रकाशत्वेनाऽपरोक्षो न नित्यानुमेयः।

यस्तु स्वप्रकाशत्वे विवदते स वक्तव्यः—किमात्मा संविदाश्रयत्वेनाऽपरोक्षः किं वा संवित्सम्बन्धमात्रसत्त्वादुत संविदुपाधित्वादथो संविद्विषयत्वात्? नाद्यः, आत्मा न संविदाश्रयत्वेनाऽपरोक्षः, संवित्कर्मतामन्तरेणाऽपरोक्षत्वात्, संवेदनवत्। न द्वितीयः, अतिप्रसङ्गात्। तृतीयेऽपि न

स्वात्माके प्रतीत न होनेसे 'हम ज्ञानाश्रय हैं' ऐसा उसमें बोध हो ही नहीं सकता। फलके—विषयप्रकाशके—सम्बन्धसे ज्ञानके आश्रयका अनुमान हो जायगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि विषयप्रकाशका सम्बन्ध अबतक सिद्ध ही नहीं हुआ है। इसलिए आत्मा स्वप्रकाश होनेसे प्रत्यक्ष है, नित्य अनुमेय नहीं है। [यदि आत्मा प्रत्यक्ष न हो और उसे स्वप्रकाश न माना जाय, तो संसारमें किसी भी पदार्थका प्रकाश—ज्ञान—न हो सकेगा। श्रुति भी कहती है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (जब उसका प्रकाश होता है तभी सब प्रकाशित होते हैं और उसके प्रकाशसे ही सब कुछ प्रकाशित होता है) इत्यादि।]

जो वादी आत्माके स्वप्रकाश होनेमें विवाद करता है अर्थात् आत्माको स्वप्रकाश नहीं मानता, उससे पूछना चाहिए कि क्या आत्मा संवित्का आश्रय होनेसे प्रत्यक्ष है? अथवा संवित्के सम्बन्धमात्रसे? या संवित्की उपाधि होनेसे? अथवा ज्ञानका विषय होनेसे?—इन विकल्पोंमेंसे प्रथम विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माका ज्ञानके आश्रयत्वरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि ज्ञानके समान * वह ज्ञानके कर्म हुए बिना ही अपरोक्ष है। द्वितीय कल्प भी नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे अतिप्रसङ्ग हो जायगा,

* 'घटमहं जानामि' (मैं घटको जानता हूँ) इस प्रकार आत्मप्रतीतिसे संवलित विषयका ही अनुभव होता है। उसका निमित्त कोई ज्ञान अवश्य है। उसका आश्रय आत्मा ही है, अतः ज्ञानका आश्रय होनेसे आत्माकी सिद्धि होगी, ऐसा पूर्वपक्षीका अभिप्राय है। उत्तर देनेवालेका अभिप्राय है कि ज्ञानसे आत्माका प्रकाश हुआ, ऐसा जो तुम्हें अभिमत है, वह बन नहीं सकता, क्योंकि जो जो घट, पटादि वस्तुएँ ज्ञानाधीनप्रकाश हैं, वे ज्ञानकी कर्म अवश्य होती हैं, इसमें कहीं भी व्यभिचार नहीं है। इस व्याप्तिके अनुसार आत्मा भी ज्ञानका कर्म होना चाहिए। परन्तु वह तो ज्ञानके तुल्य स्वप्रकाश है, ज्ञेय नहीं है।

तावत् संविदुपाधित्वं नाम संविदाश्रयत्वम्, विषयस्याऽनाश्रयस्याऽपरोक्षत्वाभावप्रसङ्गात्। नाप्याऽऽश्रयविषययोरन्यतरत्वम्, विषयस्य दुर्निरूपत्वात्। संवित्प्रयुक्तव्यवहारयोग्यो विषय इति चेद्, आत्माऽपि तर्हि विषयः स्यात्। आश्रयव्यतिरिक्तत्वे सति संविद्व्यावर्त्तकत्वं चक्षुष्यतिव्याप्तम्। आश्रयव्यतिरिक्तत्वे सति संवित्प्रयुक्तव्यवहारयोग्यत्वं च संविदात्मसम्बन्धेऽतिव्याप्तम्। न च सम्बन्धस्य विषयत्वमिष्टम्, अपरोक्षत्वप्रसङ्गात्। अनुमेयो हि नित्यं समवायो भवतेष्यते। चतुर्थेऽपि न तावदात्मविषयं संवेदनं घटादिविषयसंवेदनाद्भिन्नकालीनम्। तथा सति 'मयेदं विदित-

[क्योंकि संवित्का सम्बन्ध तो परोक्षाऽपरोक्षसाधारण है]। तृतीय विकल्पमें संविदुपाधित्व संवित्का आश्रय होता है, ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि जो संवित्का आश्रय नहीं है, ऐसे विषयोंके अपरोक्षत्वका अभाव हो जायगा। आश्रय और विषय—इन दोनोंमें से एकको संवित्की उपाधि कहेंगे, क्योंकि यहाँ पर उपाधिका अर्थ विशेषण करेंगे। ज्ञानमें दोनों विशेषण होते ही हैं] ऐसा भी नहीं है, क्योंकि विषयका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है। जो ज्ञानजनित व्यवहारके योग्य हो, उसे विषय कहते हैं, ऐसा निर्वचन करनेमें तो आत्मा भी विषय हो जायगा। आश्रयसे भिन्न ज्ञानके व्यावर्तक—विशेषण—को ही विषय कहेंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह लक्षण नेत्रमें अतिव्याप्त हो जायगा। [क्योंकि 'यह ज्ञान नेत्रों द्वारा हुआ है, अतः 'चाक्षुषं ज्ञानम्' इस प्रतीतिमें 'आश्रयसे भिन्न ज्ञानका विशेषण' नेत्र है ही।] और यदि 'आश्रयसे अतिरिक्त होता हुआ जो ज्ञान द्वारा व्यवहारके योग्य हो' ऐसा कहें, तो ज्ञान और आत्माके सम्बन्धमें भी लक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी और सम्बन्धको विषय मानना इष्ट है नहीं। [अनिष्टमें लक्षणका जाना ही अतिव्याप्ति दोष है।] यदि सम्बन्धको विषय मान लिया जायगा, तो घट, पट आदिकी भाँति समवायका भी प्रत्यक्ष हो जायगा। [आप समवायसम्बन्धको नित्य अनुमेय मानते हैं।] और चौथे विकल्पमें अर्थात्—ज्ञानका विषय होनेसे आत्मा प्रत्यक्ष है, इसमें भी ऐसा नहीं कह सकते हैं कि 'आत्माको विषय करनेवाला ज्ञान घटादिको विषय करनेवाले ज्ञानसे भिन्न कालमें हुआ है' क्योंकि ऐसा माननेसे 'मैंने इसे

म्' इति संवेद्यसम्बन्धो नावगम्येत । नापि तयोरेककालत्वम् । युगपद्विरुद्ध-विषयग्राहिज्ञानद्वयोत्पादायोगात् । नहि देवदत्तस्याऽग्रपृष्ठदेशस्थितार्थव्यापिगमनक्रियाद्वयावेशो युगपद् दृश्यते । विरुद्धपरिस्पन्दद्वयस्य युगपदनुपपत्तावपि परिणामद्वयस्य नाऽनुपपत्तिरिति चेद्, न; निरवयवस्याऽवयवशः परिणामद्वयानुपपत्तेः । नाऽपि कात्स्न्र्येन परिणामद्वयम्, कृत्स्नशरीरवर्तिनो विरुद्धपरिणामयोर्बाल्ययौवनयोर्यौगपद्यादर्शनात् । तस्मात् परिशेषात् स्वप्रकाशत्वेनैवाऽऽत्मनोऽपरोक्षत्वम् ।

न च वाच्यमधिष्ठानस्याऽध्यस्यमानेनैकेन्द्रियग्राह्यत्वमन्तरेणाऽपरोक्षता-

---

जान लिया' इस प्रकार ज्ञानका विषयके—ज्ञेयके—साथ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होगा। [क्योंकि आत्माके स्वप्रकाश होनेमें अपने और दूसरेके ज्ञानके विषयमें कोई विशेष तो है ही नहीं] उन दोनों [विषय और आत्माको विषय करनेवाले] ज्ञानोंका एक ही कालमें होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक साथ विरुद्ध—भिन्न भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेवाले—दो ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। आगे और पीठकी ओर विद्यमान दो विभिन्न वस्तुओंको उपयोगमें लानेके लिए देवदत्तका एक ही साथ दोनों ओरको चलना नहीं देखा गया है। परस्पर विरोधी दो गमनक्रिया एक साथ नहीं हो सकतीं, यह हमने मान लिया; परन्तु दो परिणाम तो एक साथ हो सकते हैं ? [जैसे दधिरूपमें परिणत दूधमें घनत्व और अच्छत्व], नहीं हो सकते, क्योंकि अवयवशून्य पदार्थोंमें एक-एक अवयव करके दो परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अवयव द्वारा न सही, किन्तु सम्पूर्णरूपसे एक साथ तो दो परिणाम—परिवर्तन—हो जायँगे, ऐसा भी नहीं हो सकते, क्योंकि सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करनेवाले विरोधी परिणामका—बाल्यावस्था और वृद्धावस्था—इन दोनोंका—एक साथ रहना नहीं देखा गया है। [अवयवी पदार्थोंमें एक-एक अवयवमें रहनेवाले भिन्न-भिन्न परिणाम तो देखे जाते हैं, परन्तु सभी अवयवोंको व्याप्त करनेवाले भिन्न दो परिणाम एक साथ एक कालमें नहीं देखे गये हैं] इससे अन्तमें यही मानना होगा कि स्वप्रकाश होनेसे ही आत्मा अपरोक्ष—प्रत्यक्ष—है।

अधिष्ठान—जिसमें आरोप होता है, और अध्यस्यमान—जिसका आरोप हो रहा है—ये दोनों पदार्थ जब एक ही इन्द्रियके द्वारा गृहीत

मात्रेणाऽध्यासो न क्वचिद् दृष्ट इति, साक्षिणा मनोमात्रेण वा प्रत्यक्षे आकाशे मालिन्यादेश्चाक्षुषस्याऽऽपरोक्ष्यदर्शनात् । क्षपणकैर्भाट्टैश्चाऽऽकाशस्य चाक्षुषत्वमिष्यत इति चेद्, न; तथा सति रूपस्पर्शवत्त्वप्रसङ्गात्। चक्षुरन्वयव्यतिरेकौ त्वाकाशानुमापकमूर्तद्रव्याभावविषयतयाऽन्यथासिद्धौ ।

ये तु वादिनः स्वस्वप्रक्रियानुसारेण नित्यानुमेयमाकाशमिच्छन्ति तान्प्रत्यध्यस्यमानेनैकेन्द्रियग्राह्यत्वाभावाद् भवत्येवोदाहरणम् । तस्यैतस्य

होते हैं तब अध्यास होता है, [क्योंकि ऐसा ही शुक्तिरजताध्यासस्थलमें देखा गया है] अपरोक्षतामात्रसे अध्यासका होना कहीं भी नहीं देखा गया है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि साक्षी या मनके द्वारा प्रत्यक्ष हुए आकाशमें मलिनता आदिका चाक्षुष प्रत्यक्ष देखा गया है । क्षपणक या भट्टमतानुयायी आकाशका प्रत्यक्ष मानते ही हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे आकाशमें रूपवत्ता तथा स्पर्शवत्ताका प्रसङ्ग आ जायगा । [और रूप तथा स्पर्शसे रहित द्रव्यका चाक्षुष हो ही नहीं सकता] आँखका अन्वय तथा व्यतिरेक तो आकाशके अनुमापक मूर्त द्रव्यके अभावको विषय करनेसे ही अन्यथासिद्ध है । [यदि आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं मानते हो, तो नेत्र बंद करनेपर या नेत्रहीन पुरुषको भी आकाशका साक्षात्कार होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं गया है । इससे आँखोंसे ही आकाशका प्रत्यक्ष होता है और आँखोंके बिना नहीं होता, इस प्रकार आकाशके प्रत्यक्षमें नेत्रोंका अन्वय और व्यतिरेक दृष्ट है । यह पूर्वपक्षीका—आकाशको चाक्षुष प्रत्यक्ष माननेवाले क्षपणक आदिका—सिद्धान्त है । वेदान्ती खण्डन करता है कि उपर्युक्त अन्वय और व्यतिरेक मूर्त द्रव्यके अभावके ग्रहण करानेसे अन्यथा सिद्ध हैं, अतः वे आकाशके चाक्षुषत्वके ज्ञापक नहीं हो सकते; इस प्रकार मूर्त द्रव्याभावका साधन करनेमें चक्षुके अन्वय और व्यतिरेक उपक्षीण हो जाते हैं ।]

जो भिन्न-भिन्न वादी अपनी अपनी प्रक्रियाके अनुसार आकाशको नित्य अनुमेय मानते हैं, उनके मतमें तो आकाश और अध्यस्यमान तल मलिनतादि एक ही इन्द्रियसे गृहीत होते ही नहीं हैं। इससे उदाहरण होता ही है । [बाह्येन्द्रियग्राह्य शब्दरूपविशेष गुणका आश्रय होनेसे वैशेषिक,

विद्यानिवर्त्यस्याऽविद्यातत्कार्यरूपस्याऽध्यासस्याऽधिष्ठानभूतोऽप्यात्मा न तद्गुणदोषाभ्यां संस्पृश्यते, अनुपादानत्वात्। तदेवं वेदान्तवादे सर्वदोषपरिहारस्य सुकरत्वात् सम्भाव्यत एव प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः।

नन्वात्मन्यनात्माध्यासो लक्षणसम्भावनाभ्यामुपेतोऽपि न प्रमाणमन्तरेण सेद्धुमर्हति, मानाधीनत्वात् सर्वत्र मेयसिद्धेरिति चेत्, तर्ह्यत्र प्रत्यक्षानुमानार्थापत्त्यागमाः प्रमाणत्वेनाऽवगन्तव्याः। सर्वो लोको मनुष्योऽहं

नैयायिकादि आकाशका अनुमान करते हैं। बौद्ध तथा चार्वाक आदि तो आकाशको मूर्तद्रव्याभावसे अनुमेय कहते हैं। ऐसा ही सिद्धान्त प्रभाकरानुयायी मीमांसकोंका भी है। केवल इतना ही भेद है कि उनके मतमें अभाव भावान्तर ही है, इत्यादि प्रक्रियाओंसे आकाश अनुमेय भी इन वादियोंके मतमें है और अनुमेय इस आकाशमें आरोपित (मिथ्याभूत) तल मलिनता आदिके आरोपका प्रत्यक्ष सभी वादी मानते हैं, तब यह नियम कहाँ रहा कि अध्यस्यमान और अधिष्ठानका एक ही इन्द्रियसे ग्रहण होना चाहिए ? दोनोंके एक ही इन्द्रियसे गृहीत न होनेपर भी अध्यास होता है, इसका दृष्टान्त आकाशको नित्यानुमेय माननेवाले वादियोंके मतमें आकाशमें अध्यस्यमान तलमलिनतादि स्पष्ट ही है, यह तात्पर्य हुआ।] तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होनेवाली उस अविद्या तथा उसके कार्यभूत अहङ्कार आदि प्रपञ्च के अधिष्ठानभूत आत्मा भी अध्यस्यमान अविद्या तथा अहङ्कार आदि प्रपञ्चके गुण दोषोंसे संसृष्ट नहीं होता, क्योंकि आत्मा उसका (अज्ञान आदिका) उपादान नहीं है। इस प्रकार वेदान्तमतमें सब दोषोंका निवारण करना सरल है, अतः प्रत्यगात्मामें अर्थात् कूटस्थ निर्विकल्प चैतन्यमें अनात्मपदार्थका अध्यास सम्भव ही है।

आत्मामें अनात्माका अध्यास लक्षण तथा सम्भावनासे युक्त भले ही हो, किन्तु वह प्रमाणके बिना सिद्ध हो नहीं सकता, क्योंकि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' सर्वत्र प्रमाणके द्वारा ही प्रमेय—वस्तु—की सिद्धि होती है, यदि यह शङ्का करते हो, तो इस अध्यासकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति तथा आगम—श्रुति—इनको तुम्हें प्रमाणरूपसे समझना चाहिए। [प्रत्यक्ष प्रमाण

देवोऽहं पशुरहम्' इति जातिविशिष्टशरीरेन्द्रियादिसंघाते चिद्रूपस्य स्वस्य तादात्म्यमध्यस्यैव व्यवहारं प्रमातृप्रमेयादिरूपं कुरुत इति प्रत्यक्षमेतत्। यद्यप्यत्रेन्द्रियापगमे प्रमाणकोटावनन्तर्भावात् प्रत्यक्षसामग्र्यसम्भवस्तथापि नित्यं साक्षिप्रत्यक्षं सम्भविष्यति। यत्र सामग्र्यभावेऽप्यापरोक्ष्यं दृश्यते, तत्र साक्षिप्रत्यक्षतेति हि वेदान्तमर्यादा। तथाऽनुमानमपि—विमतौ देवदत्तस्य जाग्रत्स्वप्नकालौ तस्यैवाऽहं मनुष्य इत्याद्यध्यासपुरःसरप्रमातृत्वा-

---

दिखाते हैं] सारा संसार 'मैं मनुष्य हूँ, मैं देवता हूँ, मैं पशु हूँ', इस प्रकार जातिसे विशिष्ट शरीर, इन्द्रिय आदि समूहमें चिद्रूप आत्माके अभेदका अध्यास करके ही प्रमाता, प्रमेय आदिरूप व्यवहार करता है' यह प्रत्यक्ष ही है। [जबतक देहेन्द्रियादिसङ्घातमें 'अहम्' 'मम' इत्यादि अभिमान नहीं होता, तबतक प्रमाण, प्रमेय, प्रमातृत्व आदि कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता, अन्यथा सुषुप्तिकालमें भी जागर और स्वप्नके समान प्रमातृत्व आदिका व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि मनुष्यत्व तथा ब्राह्मणत्व जातिसे युक्त पैरसे लेकर मस्तक पर्यन्त इस देहमें प्राणीमात्रका 'मैं' और हाथ, पैर आदि अवयवोंमें तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंमें 'मेरा' ऐसा व्यवहार जो होता है, वह अध्यासके बिना हो नहीं सकता, यह भाव है] यद्यपि 'मनुष्योऽहम्' 'ममेदम्' (मैं मनुष्य हूँ, चक्षुरादि इन्द्रियाँ मेरी हैं) इत्यादि व्यवहारमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रमाणकोटिमें नहीं आतीं अर्थात् उक्त व्यवहार इन्द्रियविकलको भी होता है, अतः प्रत्यक्षसामग्रीका—इन्द्रिय-सम्प्रयोग आदिका—सम्भव नहीं है, [इसलिए उक्त व्यवहार प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता] तथापि नित्य साक्षिप्रत्यक्ष माना जायगा। [बाह्य वस्तुके प्रत्यक्षमें इन्द्रिय-संप्रयोग आदि अपेक्षित हैं, आत्मप्रत्यक्षमें नहीं, इसलिए साक्षीसे भास्य होनेके कारण उक्त व्यवहारका साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष माननेमें कोई बाधा नहीं है।] जिस स्थलमें प्रत्यक्षसामग्रीका अभाव है, और प्रत्यक्षज्ञान देखा जाता है, उस स्थलोंमें साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष है, इस प्रकार वेदान्तका सिद्धान्त है। एवम् अनुमान भी निरुक्त अध्यासमें प्रमाण है—विमत अर्थात् विवादग्रस्त देवदत्तकी जाग्रत् और स्वप्न अवस्था उसी देवदत्तके 'मैं मनुष्य हूं' इत्यादि अध्यास द्वारा ही प्रमातृत्व आदि व्यवहारसे युक्त हैं, उसीकी

दिव्यवहारवन्तौ, तस्यैव सुषुप्त्यादिकालादन्यकालत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा तस्यैव सुषुप्त्यादिकाल इति। अर्थापत्तिरपि प्रमातृत्वादिव्यवहारो देहादितादात्म्याध्यासं विना नोपपद्यते, सुषुप्तादावध्यासाभावे व्यवहारानुपलम्भादिति। आगमस्तु 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादिरवगन्तव्यः।

सुषुप्ति अवस्थासे भिन्न अवस्था होनेसे, [आदिशब्दसे मूर्च्छा आदि अवस्था लेनी चाहिएँ] जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है, जैसे उसी देवदत्तका सुषुप्तिसमय। [यहांपर व्यतिरेकव्याप्ति दिखलाई गई है। देवदत्तकी सुषुप्ति अवस्था देवदत्तके ही प्रमातृत्व आदि व्यवहारसे शून्य है, परन्तु देवदत्तकी सुप्ति अवस्थामें यज्ञदत्तके प्रमातृत्व आदि व्यवहार हैं ही, उनकी व्यावृत्तिके लिए ही 'तस्यैव'—उसकी ही—ऐसा पद दिया गया है, अतः यज्ञदत्तकी अवस्थाको लेकर दोष नहीं दिया जा सकता। उस देवदत्तकी जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाएँ 'मैं' मनुष्य हूं' इत्यादि अभिमानयुक्त प्रमातृत्व आदि व्यवहारसे पूर्ण हैं और इससे विपरीत कालको अर्थात् जिस कालमें उक्त व्यवहार नहीं रहता, उस कालको जागर या स्वप्न नहीं कह सकते, यह भाव है।]

अर्थापत्ति भी इसमें प्रमाण है। प्रमातृत्व आदि व्यवहार देहादिके साथ तादात्म्य-अध्यासके बिना नहीं हो सकते, क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें मनुष्यमें उक्त अध्यास न होनेसे उक्त प्रमातृत्व आदि व्यवहार नहीं देखा जाता है। [आत्मा स्वयं कूटस्थ निर्विकार तथा अपरिणामी है। स्वयं उसमें प्रमातृत्व आदि परिणाम नहीं हो सकते। और 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष व्यवहारोंसे उसका निर्वाह नहीं हो सकता, अतः प्रमातृत्व आदि व्यवहारकी उपपत्तिके लिए अध्यासको मानना ही पड़ेगा, यह भाव है]।

आगम—शास्त्र—प्रमाण दिखलाते हैं—'ब्राह्मणो यजेत' (ब्राह्मण यज्ञ करे) इत्यादि श्रुति भी अध्यासमें प्रमाण है। [अन्यथा ब्राह्मणपद जो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टका यागमें अधिकार दिखलाता है, वह निर्धर्मक आत्मामें अध्यासके बिना उपपन्न नहीं होगा। यद्यपि यह आगम प्रमाण भी अर्थापत्तिकी कोटिमें ही प्रविष्ट है, तथापि 'मैं मनुष्य हूँ' इस लौकिक व्यवहारकी

ननु प्रमातृत्वादिव्यवहारो देहात्मनोः सम्बन्धमात्रमपेक्षते, न तादात्म्यमिति चेत्, कोऽसौ सम्बन्धः? स्वस्वामिभावश्चेत्, तर्हि भृत्यादिशरीरेणाऽपि प्रमातृत्वादिव्यवहारः स्यात्। अस्तु तर्हि स्वेच्छामात्रानुविधायित्वं सम्बन्धः। भृत्यादिशरीरं तु स्ववचनानुविधायीति नाऽतिप्रसङ्ग इति चेद्, मैवम्; यदीच्छानुविधानयोग्यतामात्रं विवक्षितं तदा सुषुप्तेऽपि तत्स-

---

उपपत्तिके लिए कल्पित अध्याससाधिका अर्थापत्ति भी स्वतन्त्र प्रमाण मानी गई है, क्योंकि लौकिक वाक्योंको स्वतःप्रामाण्य नहीं है। और 'ब्राह्मणो यजेत' इस वैदिकवाक्यमूलक अर्थापत्तिको स्वतन्त्र न मानकर वैदिक वाक्योंको ही, स्वतःप्रामाण्य होनेसे, प्रमाण कहा गया है। इतनी सारी कल्पनाएँ तब आवश्यक होतीं, जब 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि व्यवहार तादात्म्य-अध्यासके बिना नहीं होता, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि तादात्म्यसे भिन्न स्वत्व आदि भेदसम्बन्धमूलक भी उक्त व्यवहार हो सकते हैं, जैसे मेरा परिवार, धन आदि व्यवहार, इस आशयसे शङ्का करते हैं—]।

प्रमातृत्व आदि व्यवहार देह और आत्माके परस्पर सम्बन्धकी ही अपेक्षा करते हैं, तादात्म्य सम्बन्धकी नहीं; ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उस सम्बन्धका कोई नामनिर्देश भी तो करना होगा, इस परिस्थितिमें हम प्रश्न करेंगे कि वह सम्बन्ध कौन-सा है? यदि उत्तरमें स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध—मालिक और नौकरके जैसा सम्बन्ध—माना जाय, तो नौकर आदिके शरीरसे भी स्वामीको प्रमातृत्व आदि व्यवहार होने लगेगा अर्थात् सेवकका व्यवहार भी मालिकका होना चाहिए। अच्छा, तो अपनी इच्छाका ही अनुविधान करनामात्र सम्बन्ध मानेंगे। [जब देवदत्त आदि उठूँ, बैठूँ, खाऊँ, पीऊँ इत्यादि इच्छा करते हैं, तभी सकल व्यवहार होते हैं, क्योंकि व्यवहारमात्रमें इच्छा कारण है। उस इच्छाका अनुसरण करना ही देह और आत्माका सम्बन्ध है, यह स्वेच्छानुविधानरूपी सम्बन्ध भृत्यके साथ नहीं है, यह भाव है।] सेवक आदिका शरीर तो अपने मालिकके वचनका अनुसरण करनेवाला है, इससे पूर्वोक्त अतिप्रसङ्ग नहीं आता, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि यदि इच्छाका अनुविधान करनेकी योग्यता-मात्र सम्बन्ध माना जाय, तो सुषुप्तिकालमें उस योग्यताके रहनेसे उक्त व्यवहार

त्त्वाद् व्यवहारो दुर्वारः। अथेच्छयाऽनुविधीयमानत्वम्, तर्ह्यत्यातुरे तदभावात् प्रमातृत्वादिव्यवहारो न स्यात्।

इच्छानुविधानस्य व्यवहारमूलत्वमनुभवसिद्धमिति चेत्, किमेतत्सार्वत्रिकमुत क्काचित्कम्? नाऽऽद्यः, इच्छानुविधानमन्तरेणैव दुर्गन्धादिप्रमातृत्वदर्शनात्। न द्वितीयः, इच्छाया अप्यध्यासमूलत्वेनाऽध्यासस्यैव व्यवहारहेतुत्वात्। नह्यन्तःकरणतादात्म्याध्यासमन्तरेणेच्छारूपः परिणामो निर्विकारस्याऽऽत्मनः सम्भवति।

न चाऽऽत्मानात्मनोः संयोगसमवायौ व्यवहारनिमित्तम्, सुषुप्तेऽपि तयोः सत्त्वाद् व्यवहारापत्तेः; भोक्तृभोग्यान्वयस्वकर्मारभ्यत्वस्वेन्द्रियाधिष्ठेयत्वादिसम्बन्धानां भोगाद्यध्यासमूलत्वात्। भृत्यादिशरीरे सद्भावाच्च न

भी नहीं हटाया जा सकता। [क्योंकि योग्यता जनकतावच्छेदकरूप ही है, अतः तादृश जनकतावच्छेदकता सुषुप्त देवदत्त आदिमें है ही।] और यदि इच्छासे प्रेरित अनुविधान (व्यवहार) करना ही सम्बन्ध है, [योग्यतासम्बन्ध नहीं, इससे सुषुप्तिमें योग्यता रहनेपर भी इच्छाके न होनेसे व्यवहारापत्ति नहीं आती] ऐसा कहो, तो आतुर (अशक्त) पुरुषमें उसके अभावसे अर्थात् इच्छा रहते हुए भी अनुविधान न करनेसे प्रमातृत्व आदि व्यवहार नहीं होगा।

'इच्छानुविधान समस्त व्यवहारोंका मूल कारण है, यह सिद्धान्त अनुभवसे सिद्ध है, यदि ऐसा मानो, तो हम प्रश्न करेंगे कि यह आपका सिद्धान्त सर्वत्र लागू होता है? या कहीं कहीं? इनमें प्रथम कल्प उचित नहीं है, क्योंकि इच्छानुविधानके बिना भी दुर्गन्ध आदि अनभीष्ट वस्तुका प्रमातृत्व देखा गया है। दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छाका भी मूल—आदि कारण—अध्यास ही है, इसलिए अध्यासको ही सब व्यवहारोंका कारण मानना चाहिए; कारण कि अन्तःकरणके साथ तादात्म्य-अध्यासके हुए बिना निर्विकार कूटस्थ आत्माका इच्छात्मक परिमाण हो ही नहीं सकता।

यदि कहो कि आत्मा—कूटस्थ चैतन्य और अनात्मा—देहेन्द्रियसंघात—का परस्पर संयोग तथा समवायसम्बन्ध ही निरुक्त 'अहं' 'ममेदं' व्यवहारके निमित्त हैं, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि सुषुप्तिमें उक्त सम्बन्धोंके रहनेसे व्यवहारकी भी आपत्ति हो जायगी। भोक्तृ-भोग्यसम्बन्ध स्वकर्मारभ्यत्व, स्वेन्द्रियाऽ-

व्यवहारत्वम् । अथ भृत्यादिव्यावृत्त्यर्थमव्यवधानेन भोग्यत्वं सम्बन्ध इत्युच्येत, तदापि भोगयोग्यतामात्रं चेत्, सुषुप्तेऽप्यस्ति । अथ भुज्यमानत्वम्, तथाऽप्यात्मनः सर्वशरीरदेशकालेष्वव्यवधानस्य समत्वात् कस्यचिदेव शरीरस्य कयोश्चिदेव देशकालयोर्भोग्यत्वे नियामको मूलसम्बन्धोऽपेक्ष्येत । तस्मात्तादात्म्याध्यास एव व्यवहारहेतुः ।

अस्मिन्नपि पक्षे शरीरविशेषेऽध्यासस्य किं नियामकमिति चेद्, लिङ्गशरीरविशेष इति ब्रूमः । न च लिङ्गशरीरात्मनोः सम्बन्धः सादिः, येन

धिष्ठेयत्व आदि सम्बन्ध भी प्रमातृत्व आदि व्यवहारके कारण नहीं बन सकते, क्योंकि उक्त सम्बन्ध भी भोगादि अध्यासके ही कारण होते हैं और ये सम्बन्ध भृत्यसेवक आदिके शरीरमें भी विद्यमान हैं [भोक्तृभोग्यत्व आदि सम्बन्धोंको प्रमातृत्व आदि व्यवहारके प्रति प्रयोजक माननेमें प्रथम तो अन्योन्याश्रय दोष आता है—आत्मामें भोगादिकी सिद्धिके अनन्तर ही भोक्तृ-भोग्यत्व आदि सम्बन्धोंकी सिद्धि और उक्त सम्बन्धोंकी सिद्धिके अनन्तर ही आत्मामें भोक्तृ-भोग्यत्व आदिकी सिद्धि हो सकती है । दूसरा दोष—भोक्ताका भोग तो सेवक आदिका शरीर भी है, अतः उस शरीरमें उक्त सम्बन्धके जानेसे तद्द्वारा स्वामीको भी निरुक्त प्रमातृत्व आदि व्यवहार होने लगेंगे ।] यदि भृत्यादिकी व्यावृत्तिके लिए अव्यवधानसे ही भोग्यत्व सम्बन्ध माना जाय, तो भी इसमें यदि भोगयोग्यतामात्र मानते हो, तो सुषुप्त पुरुषमें भी ऐसी योग्यता है । और यदि अव्यवधानसे भुज्यमानत्व सम्बन्ध माना जाय [जो सोये हुएमें नहीं है] तो भी सम्पूर्ण देश तथा कालोंमें आत्मा समानभावसे साक्षात् विद्यमान है, इससे [सबकी एक साथ भोगकी व्यावृत्तिके लिए] किसी शरीर विशेषका कोई-कोई देश और काल विशेष ही भोग हैं, इसका नियम बांधनेवालेको किसी दूसरे मूलकारणकी अपेक्षा होती है । अतएव तादात्म्यका अध्यास ही निरुक्त व्यवहारका कारण है ।

क्या इस तादात्म्याध्यासपक्षमें भी शरीरविशेषमें अध्यासका नियामक कोई है ? हाँ, लिङ्गशरीरविशेष है, ऐसा हम कहते हैं । और लिङ्ग शरीर तथा आत्माका सम्बन्ध सादि नहीं है, जिससे उस सम्बन्धमें भी दूसरे नियामकको

तत्राऽपि नियामकान्तरमन्विष्येत । न च प्रमातृत्वादिव्यवहारस्य देहादितादात्म्याध्यासमूलत्वे कारणदोषादप्रामाण्यं प्रत्यक्षादीनां प्रसज्येतेति वाच्यम्; तत्र तत्त्वावेदकप्रामाण्यहानिर्वेदान्तव्यतिरिक्तानामभ्युपगतैव । व्यावहारिकप्रामाण्यं तु न हीयते, व्यवहारे बाधाभावात् । मोक्षावस्थायां बाध्यत्वमात्रस्वीकारेणाऽऽध्यासिकत्वस्वीकारात् । न चाऽऽध्यासिकत्वमविसंवादिव्यवहाराङ्गत्वं चोभयं विरुद्धमिति वाच्यम्, उभयस्य प्रमाणसिद्धत्वात् । तत्राऽऽ-

ढूँढनेकी आवश्यकता आ जाय। [अनादि बीजाङ्कुरादि पदार्थोंमें अनवस्था और अन्योन्याश्रय आदि दोष अकिञ्चित्कर होते हैं, अतः नियामकान्तरकी खोज नहीं होती] यदि शङ्का हो कि प्रमातृत्व आदि व्यवहार देहादितादात्म्याध्यासके आधारपर ही माना जाता है, तो कारणके दोषसे [अध्यासके मिथ्या पदार्थ होनेसे) प्रत्यक्ष आदि प्रामाणोंमें भी अप्रामाण्य हो जायगा अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं कहे जा सकते, तो यह शङ्का युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इसके उत्तरमें वेदान्तोंको छोड़कर अन्यत्र तत्त्वावेदक प्रामाण्यका अभाव हम मानते हैं। व्यावहारिक प्रामाण्यकी कोई हानि नहीं है, क्योंकि व्यवहारमें कोई बाध नहीं है ? * यदि व्यवहारमें बाध नहीं होता, तो अप्रमाण—मिथ्या—कैसे कहते हो ? इस आशङ्काका समाधान करते हैं—-मोक्ष अवस्थामें (व्यावहारिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके) बाधित होनेसे ही वे आध्यासिक अर्थात् मिथ्या माने जाते हैं। आध्यासिकत्व और अविसंवादित्व †—यथार्थ व्यवहारका प्रयोजकत्व—ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों अर्थात् आध्यासिकत्व और

* दो प्रकारके व्यवहार होते हैं—पारमार्थिक और अपारमार्थिक। एवं दो प्रकारके प्रमाण होते हैं—जो परमार्थके दर्शक हैं, वे पारमार्थिक कहलाते हैं और दूसरे अपारमार्थिक। वेदान्तवाक्य आत्माको कूटस्थ निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप बतलाते हैं। जैसा कि परमार्थतः परमात्मा है, अतः उनमें पारमार्थिक प्रामाण्य है। और इससे इतर प्रत्यक्ष आदि प्रमाण उस कूटस्थ आत्मामें प्रमातृत्व आदिका बोधन करते हैं, अतः वे अपारमार्थिक हैं। शङ्काविषसे मरण होना देखा जाता है, अतः अपारमार्थिक प्रमाणोंसे भी व्यवहार होता है, इसलिए इनमें व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाता है। और जिनका व्यवहारमें भी बाध हो जाता है, जैसे शुक्तिरजत आदि उनमें व्यावहारिक प्रामाण्य भी नहीं माना जाता है, इन्हीं स्थलोंमें भ्रमव्यवहार होता है।

† जहाँ रजतदर्शनसे रजतज्ञान हुआ, तदनन्तर रजतार्थीकी प्रवृत्ति हुई और उसको रजतका

ध्यासिकत्वे तावत्प्रमाणान्युक्तानि, इतरच्चाऽनुभवसिद्धम्। अविसंवादित्वं न निश्चेतुं शक्यत इति चेत्, तत्र तावत्प्रत्यक्षादिजन्यव्यवहारस्याऽविसंवाद आपातिकः साक्षिसिद्धः। आत्यन्तिकस्तु नाऽभ्युपेयते। वेदान्तानां चाऽत्यन्ताबाध्यविषयत्वात्तत्त्वावेदकप्रामाण्यमुचितम्। स्वयं मिथ्याभूता अपि अबाध्यं बोधयन्त्येव, स्वप्नकामिनीसंदर्शनादौ मिथ्याभूतेऽपि वास्तवश्रेयःसूचकत्वदर्शनात्।

ननु प्रत्यक्षादीनि व्यावहारिकप्रमाणानि, व्यवहारार्थक्रियासमर्थवस्तुविषयत्वादिति हि त्वया तेषां प्रामाण्यं साधनीयम्। तथा च परतः-

---

तादृश व्यवहारका कारणत्व प्रमाणसे सिद्ध हैं। 'आध्यासिक है' इसमें तो हम प्रमाण कह ही आये हैं। और तादृश व्यवहारका कारण है, यह दूसरी बात तो अनुभवसे ही सिद्ध है। अविसंवादित्वका निश्चय करना कठिन है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे उत्पन्न हुए व्यवहारका अविसंवाद—ठीक-ठीक मिलना—आपातिक—प्रथम-प्रथम ज्ञान या व्यवहार होते ही—साक्षीके द्वारा सिद्ध है [घटादिके ज्ञानके अनन्तर जलाहरण आदि व्यवहार करनेसे अधिक विचार किये बिना ही शीघ्र साक्षीसे उक्त घटादि व्यवहारमें अविसंवाद सिद्ध होता हैं।] आत्यन्तिक अविसंवाद तो माना नहीं जाता है, क्योंकि मुक्तावस्थामें सबका बाध हो जाता है, ऐसा कहा ही है। और वेदान्तोंका विषय (ब्रह्म—आत्मा) तो कभी भी बाधित नहीं होता। [मुक्तावस्था भी आत्मस्वरूप ही है।] इसलिए ऐसे वेदान्तोंको तत्त्वावेदक प्रमाण मानना उचित ही है। वेदान्त स्वयं मिथ्या होते हुए भी कभी बाधित न होनेवाले ब्रह्मका (आत्माका) बोध कराते ही हैं। स्वप्नमें सुन्दरीका दर्शन आदि मिथ्या होता हुआ भी वास्तव—व्यावहारिक अभ्युदयका सूचक होता ही है, ऐसा देखा गया है।

यदि शङ्का हो कि प्रत्यक्ष आदि व्यावहारिक प्रमाण हैं, व्यवहार-प्रयोजक अर्थक्रिया करनेमें समर्थ वस्तुविषयक होनेसे, [घटादि प्रत्यक्षका

फल—भूषणादिविरचन—सिद्ध हो गया। इससे उसका ज्ञान व्यवहारसे मिलता हुआ होनेसे अविसंवादि कहलाया। और जहाँ शुक्तिमें रजतज्ञान होनेपर व्यवहारसे मेल न हो सके, वहाँ संवाद नहीं है। अतः उसको विसंवादि तथा भ्रम कहते हैं।

प्रामाण्यापत्तिरिति चेद्, नः विमतानि प्रमाणानि, यथार्थविषयत्वादिति साधयतस्तवापि तुल्यत्वात्। अथ विषययाथार्थ्यं विषयिज्ञानादेव सिध्यति, न ज्ञानान्तरादिति न परतस्त्वम्; तर्ह्यस्मन्मतेऽपि विषये व्यावहारिकार्थक्रियासामर्थ्यं विषयिज्ञानादेव सिध्यतीति समानम्।

अथाप्यध्यासोपादानत्वे ब्रह्मज्ञानस्य प्रपञ्चज्ञानवन्मिथ्यात्वं प्रसज्येतेति चेद्, नः स्वरूपमिथ्यात्वस्येष्टत्वात्। अथ विषयमिथ्यात्वं साध्यम्, तर्हि

विषय घट है। और वह घट अर्थक्रियाकी सामर्थ्य रखता है, इससे उसका ज्ञान व्यवहारतः प्रमाण है। अतः उसका जनक भी तादृश प्रमाण है] इस प्रकार अनुमान द्वारा तुम—वेदान्ती—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके प्रामाण्यकी सिद्धि करोगे, ऐसा करनेपर परतः प्रामाण्यकी आपत्ति होगी। [ऐसा वेदान्तीको अभीष्ट नहीं है, वे तो स्वतः प्रामाण्य मानते हैं], ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि 'विमत—प्रत्यक्ष आदि—प्रमाण हैं, यथार्थविषयक होनेसे', इस प्रकार अनुमान द्वारा तुमको भी (प्रमाणोंके प्रामाण्यका साधन करना) समान ही है। [मीमांसक ज्ञानोंका स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करते हुए भी यथार्थविषयकत्वरूप हेतुसे प्रत्यक्षादिको प्रमाण मानते हैं।] विषयका याथार्थ्य उस विषयके ज्ञानसे ही सिद्ध हो जाता है, अतिरिक्त ज्ञानसे नहीं, इससे 'परतः प्रामाण्य आता है' यह अपसिद्धान्त नहीं आता, ऐसा समाधान किया जाय, तो हमारे मतमें भी विषयमें व्यावहारिक अर्थक्रियाकी सामर्थ्य भी विषयीसे—ज्ञानसे—ही सिद्ध हो जायगी, ज्ञानान्तरकी आवश्यकता नहीं, यह प्रक्रिया समान ही है।

इतना माननेपर भी यदि (प्रमातृत्वादि) सकल व्यवहार अध्याससे ही होता है, तो ब्रह्मज्ञान भी प्रपञ्चके ही सदृश मिथ्या हो जायगा, ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि स्वरूपतः मिथ्या मानना इष्ट ही है। [यदि ब्रह्मज्ञान स्वरूपतः मिथ्या है, तो शुक्तिरजतके तुल्य उसमें भी ब्रह्मसाक्षात्काररूप अर्थक्रियाकी सामर्थ्य नहीं होनी चाहिए, वह पर्यनुयोग करना उचित नहीं है, क्योंकि स्वप्नावस्थामें मिथ्या भी स्वाप्निक अश्वादिमें आरोहणादिरूप अर्थक्रियासामर्थ्य देखी ही गई है।] यदि विषयमिथ्यात्व—ब्रह्मज्ञानका विषय—ब्रह्म—

विनश्वरग्राहित्वं प्रपञ्चज्ञाने उपाधिः ।

अथ ब्रह्मज्ञानमपि विनश्वरग्राहि, दुष्टकारणजन्यत्वात्, रज्जुसर्पज्ञानवदिति चेद्, न; हेत्वसिद्धेः । नहि ब्रह्मज्ञानं काचकामलादिदोषजन्यम् । ब्रह्मज्ञानोपादानमज्ञानमेव दोष इति चेद्, न; चैतन्यस्याऽद्वैतावभासं प्रतिबध्य द्वैतावभासजनकत्वेन चैतन्यं प्रत्यज्ञानस्य दोषत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानं प्रत्युपादानतयाऽनुकूलस्य तस्य गुणत्वात् । एकस्यैव दोषत्वगुणत्वे विरुद्धे इति चेद्, न; काचादीनां रज्ज्वादितत्त्वावभासं प्रति विरोधित्वेन दोषत्वेऽपि स्वकारणभूतपापानुमाने लिङ्गत्वेन गुणत्वदर्शनात् ।

मिथ्या है, यह सिद्ध करना* चाहो, तो विनश्वरग्राहित्व प्रपञ्चज्ञानमें उपाधि है अर्थात् ब्रह्ममें मिथ्यात्वप्रदर्शक अध्यासोपादानज्ञानग्राह्यत्वरूप हेतु उक्त उपाधिसे दूषित है, क्योंकि प्रपञ्चमें—'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इस श्रुतिसे विनाशित्वका बोध होता है, अतः उसका ज्ञान विनाशीका ग्रह भी कराता है और उक्त हेतु भी है, ब्रह्मज्ञान ऐसा नहीं है ।]

यदि कहो कि 'ब्रह्मज्ञान भी विनाशीका ही बोध कराता है, दुष्ट कारण द्वारा उत्पन्न होनेसे, रज्जुसर्पज्ञानके समान, इस अनुमानसे ब्रह्ममें मिथ्यात्व ही सिद्ध होगा, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त अनुमानमें हेतु असिद्ध है । [हेतुकी असिद्धि दिखलाते हैं—] ब्रह्मज्ञान रज्जुसर्पज्ञानके समान काच, कामला आदि दोषोंके द्वारा नहीं होता है । ब्रह्मज्ञानका उपादान—जनक—अज्ञान ही दोष है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यद्यपि चैतन्यके अद्वैतरूपसे होनेवाले प्रकाशको रोककर अज्ञान द्वैतका ही ज्ञान कराता है, अतः चैतन्यके प्रति वह दोष हो सकता है, तथापि ब्रह्मज्ञानके प्रति तो उपादान होनेसे वह जनक ही हुआ, इसलिए वह गुण ही है, दोष नहीं । यदि कहो कि एक ही अज्ञानमें परस्पर विरोधी गुणत्व और दोषत्व दोनों कैसे हो सकते हैं ? तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि काचादिमें रज्जुतत्त्वके बोध करानेमें [प्रतिबन्धक होनेसे] दोषत्व होनेपर भी अपने नेत्रगत काचादि

---

* इसमें अनुमान प्रयोग ऐसा करेंगे—ब्रह्म मिथ्या है, अध्यासमूलक ज्ञानका विषय होनेसे, प्रपञ्चके समान ।

ततः प्रमाणकारणेषु सर्वेषु सत्सु तद्विरोधित्वेनाऽऽगन्तुको यः काचादिः स एवाऽप्रामाण्यहेतुर्दोषः। लोके तु विरोधिष्वपि क्षुत्पिपासादिषु नैसर्गिकत्वमात्रेण दोषबुद्धिर्न दृश्यते तत्र किमु वक्तव्यं नैसर्गिकमनुकूलं चाऽज्ञानं न दोष इति। तस्मादाध्यासिकानामपि प्रत्यक्षादीनां नाऽप्रामाण्यमित्यध्यास उपादानं व्यवहारस्य।

विमतोऽध्यासः प्रमातृत्वादिव्यवहारस्य निमित्तकारणम्, अध्यासत्वात्,

रोगके कारणभूत पाप आदि अदृष्टके अनुमानमें हेतुभूत होनेके कारण गुण ही होते हैं, ऐसा देखा गया है अर्थात् अनुभवसिद्ध ही है। इससे सम्पूर्ण विषयेन्द्रियसन्निकर्ष, आलोकसंयोग आदि प्रमाणकारणोंके रहते, उनके विरोधी बनकर आनेवाले बाहरी जो काच आदि नेत्रगत रोग हैं, वे ही रोग [प्रमाणोंमें] अप्रामाण्यके कारणीभूत दोष हैं। जैसे लोकमें भी भूख, प्यास आदि विरोधी पदार्थोंमें नैसर्गिकत्वमात्रसे ही दोषबुद्धि नहीं देखी जाती, वैसे ही नैसर्गिक और अनुकूल अज्ञान भी दोष नहीं हो सकता, इसमें कहना ही क्या ? [यद्यपि आगन्तुक दोष ही होता है, तथापि यदि वह सर्वसाधारण तथा स्वाभाविक हो, तो उसमें दोषत्व बुद्धि नहीं होती, जैसे थोड़ा-सा भी ज्वर या जुखाम हो जानेसे दोष माना जाता है, क्योंकि वह क्षणिक परिवर्तनशील है। और प्रतिदिन होनेवाले भूख और प्याससे उत्पन्न दुःखमें दोषबुद्धि नहीं होती, क्योंकि यह आजन्म स्थायी है, अतः वस्तुतः आगन्तुक होते हुए भी वे दोष नहीं माने जाते अर्थात् ज्वरादि रोग शरीरके स्वास्थ्यके साधन नहीं हैं, अतः दोष हैं और क्षुत्पिपासादिजनित सन्ताप शरीरके स्वास्थ्यके साधन हैं, अन्यथा भोजनादिकी अनिच्छासे भोजन किये बिना शरीरस्थिति दुःसाध्य हो जायगी, अतः वे दोष नहीं हैं, वैसे ही जो आगन्तुक होता हुआ भी प्रमाकारण है, वह दोष नहीं है, अतः ब्रह्मज्ञानका उपादानभूत अज्ञान दोष नहीं है। और उसके विपरीत रज्जुसर्पज्ञानके उत्पादक काचादि दोष हैं, यह व्यवस्था हुई।] इस सारे प्रघट्टकसे निष्कर्ष यह निकला कि अध्याससे उत्पन्न होनेपर भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें अप्रामाण्य नहीं आता, इससे अध्यास ही प्रमातृत्व आदि व्यवहारका उपादान कारण है।

यदि शङ्का हो कि विमत अध्यास, प्रमातृत्व आदि व्यवहारका निमित्त कारण है, अध्यास होनेसे, शुक्तिरजत आदि अध्यासके समान, इस अनुमानसे अध्यासको

शुक्तिरजताध्यासवत्, इति चेद्, नः व्यवहारानाश्रयत्वस्योपाधित्वात्। रजताध्यासमन्तरेणाऽऽध्यात्मनि प्रमातृत्वादिव्यवहारदर्शनात् रजताध्यासो न तदाश्रयः, । देहात्माध्यासस्तदाश्रयः, सुषुप्ते देहात्माध्यासहीने व्यवहारानुपलम्भात् ।

अथ मतम्—व्यवहारः प्रमातृनिष्ठः, प्रमातृत्वं चाऽऽत्मनश्चेतनत्वाद्विनैवाऽध्यासं सिध्यतीति । तन्न, अध्यासमन्तरेणाऽसङ्गस्याऽऽत्मनो निर्व्यापारस्य प्रमाजनकत्वेन कारकप्रयोक्तृत्वलक्षणप्रमातृत्वानुपपत्तेः। अतोऽध्यासोपादानक

प्रमातृत्वादि व्यवहारके प्रति निमित्तकारण मानना चाहिए, उपादान नहीं, तो यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि 'व्यहारानाश्रयत्व' इसमें उपाधि है। [शुक्तिरजताध्यासदृष्टान्तमें 'अहम्' इत्यादि—प्रमातृत्व आदि—व्यवहारका आश्रयत्व नहीं है, क्योंकि अध्यासका आश्रय आत्मा होता है और प्रमातृत्व आदिका भी आश्रय प्रमाता होता है, इससे शुक्तिरजताध्यास व्यवहारका अनाश्रय है । और विमत अहङ्कारादि अध्यास 'अहम्' इत्यादि–प्रमातृत्व आदि–व्यवहारका आश्रय है, इस प्रकार साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वरूप उपाधि दिखलाते हैं—] रजताध्यासके बिना भी आत्मामें प्रमातृत्व आदि व्यवहार देखा गया है, इसलिए रजताध्यास 'अहम्' 'ममेदम्' इत्याद्याकार प्रमातृत्वव्यवहारका आश्रय नहीं हो सकता । [यद्यपि प्रमातामें रजताध्यास भी कभी कभी हो जाता है, तथापि वह प्रमातृत्वका प्रयोजक नहीं माना जा सकता, अतः वह निमित्त ही हो सकता है और विमत अध्यास तो व्यवहारका उपादान है ।] और [विमत] देहाध्यास प्रमातृत्व आदि व्यवहारका आश्रय है, क्योंकि देहाध्याससे रहित सुषुप्त पुरुषमें उक्त व्यवहार नहीं देखा जाता ।

प्रमातृत्वव्यवहार प्रमातामें होता है, और आत्मा चेतन है, इससे उसमें प्रमातृत्व आदि व्यवहार अध्यासके बिना भी हो सकता है, यदि ऐसी शङ्का हो, तो वह भी बन नहीं सकती, क्योंकि अध्यासके बिना असङ्ग तथा निर्व्यापार आत्मा प्रमा-ज्ञानका जनक न होनेसे 'कारकोंका प्रवर्तकस्वरूप' प्रमाता नहीं हो सकता, [क्योंकि आत्मा स्वतः संवित्स्वरूप है और सहकारी भी उसका नहीं है। एवम् उसका कोई परिणाम भी नहीं हो सकता] इसलिए प्रमातृत्व आदि व्यवहारका उपादान अध्यास ही है। यदि कहो कि

एव प्रमातृत्वादिव्यवहारः। अविवेकिव्यवहार एव तादृशः, नतु विवेकिव्यवहार इति चेद्, न; विवेकिव्यवहारोऽपि लौकिकस्तावत्पश्वादिव्यवहारसमत्वादध्यासकार्य एव। पश्वादीनां च देहादिसंघातेऽहमित्यभिज्ञाव्यवहारोऽध्यासात्मकः अगृहीतभेदयोर्द्वयोरैक्यज्ञानत्वाच्छुक्तिरजतज्ञानवत्। नहि विवेकिभिरपि लौकिकव्यवहारकाले देहात्मनोर्भेदो गृह्यते, येन पश्वादिसाम्यं न स्याद्। भेदग्रहणे च देहस्याऽनुकूलेऽन्नपानादौ प्रतिकूले च ताड़नादौ पश्वादिवन्ममेदमनुकूलं प्रतिकूलमिति बुद्ध्या प्रवृत्तिनिवृत्ती नोपपद्येयाताम्।

देहात्मनोर्भेदः प्राकृतप्रत्यक्षेणैव गम्यते, पामराणामपि स्त्रीशूद्रादीनां

विवेकहीन पुरुषोंका ही व्यवहार अध्यासोपादानक हो सकता है, विचारवान् पुरुषोंका व्यवहार तो ऐसा नहीं होगा, [क्योंकि ज्ञानी लोग तो आत्मा और अनात्माका विवेकज्ञान रखते हैं, जिसको शुक्ति और रजतका भेदज्ञान हो उसको भ्रम नहीं होता है] तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि विवेकशील पुरुषोंका व्यवहार भी लौकिक ही है, अतः वह पशु आदि अविवेकीके व्यवहारके सदृश अध्यासका ही कार्य है। [पश्वादिके व्यवहारमें अध्यास दिखलाते हैं—] पशु, आदि जीवोंको देहादिसंघातमें 'अहम्' इस प्रकारका व्यवहार अध्यासके द्वारा ही होता है। जैसे शुक्ति और रजत—इन दोनोंमें भेदके गृहीत न होनेके कारण एकताज्ञानसे शुक्तिमें 'इदं रजतम्' यह एक ज्ञान होता है। विवेक—भेदग्रह—करनेवाले पुरुष भी लोकमें व्यवहार करते समय देह और आत्माका भेदग्रह नहीं करते, जिससे कि उनके व्यवहारमें पशु आदिके व्यवहारकी तुलना न आवे। [उनको भी लौकिक व्यवहारकालमें देहात्मका भेदग्रह नहीं होता और पशुको भी नहीं होता, भेदग्रहसे तो व्यवहार ही नहीं होगा।] भेदका ज्ञान होनेपर तो देहके अनुकूल–पोषक–अन्न, पानादिमें और प्रतिकूल–घातक–ताड़न, मारण आदिमें पशुओंकी भाँति मेरा यह भोजनादि अनुकूल है और ताडनादि प्रतिकूल है, ऐसा समझकर [भोजनादिमें] प्रवृत्ति और [ताडनादिसे] निवृत्ति आदिका सम्भव ही नहीं हो सकेगा।

देह और आत्माका भेद तो साधारण प्रत्यक्ष द्वारा ही प्रतीत होता है,

परलोकार्थगङ्गास्नानादिप्रवृत्तिदर्शनादिति चेद्, न; आप्तवाक्यपरम्परयैव तत्र भेदावगमात्। नो चेदात्मज्ञानाय शास्त्रं न प्रवर्तेत। तस्मात् विवेकिनामपि लौकिकव्यवहार आध्यासिक एव।

ननु विवेकिनां शास्त्रीयव्यवहारो नाऽऽध्यासिकः, परलोकसम्बन्धिनमात्मानमाप्तवाक्याद्विज्ञायैव वैदिककर्मसु प्रवर्त्तमानत्वात्।

स्यादेतत्, किं 'चित्रया यजेत पशुकामः' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो

क्योंकि बिलकुल अज्ञानी स्त्री, शूद्र आदि भी परलोकके निमित्त गङ्गास्नान आदि पुण्य कार्योंमें प्रवृत्त हुए देखे जाते हैं। [यदि उन्हें देह और आत्माके भेदका-ज्ञान नहीं होता अर्थात् दोनोंको एक ही समझते, तो देह तो इसी लोकमें नष्ट हो जाता है, परलोकमें तो जाता ही नहीं, ऐसे ज्ञानके रहते परलोकमें फल देनेवाले पुण्यकार्यमें उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती]। यह पूर्वपक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि आप्तवाक्यकी परम्परासे ही उन्हें देह और आत्मामें भेदज्ञान होता है, नहीं तो आत्मज्ञानके लिए शास्त्रोंमें उनकी प्रवृत्ति न होती, इसलिए विवेकी पुरुषोंका लौकिक व्यवहार अध्यासके कारण ही होता है।

विवेकशील विद्वानोंका शास्त्रीय व्यवहार अध्यासमूलक नहीं हो सकता [किन्तु ऐहलौकिक व्यवहार अध्यासमूलक है] परलोकमें जानेवाले आत्माको आप्तवाक्य द्वारा जानकर ही अर्थात् 'आत्मा परलोकमें भी रहता है' इस प्रकार शिष्ट पुरुषोंका वचन सुनकर ही सर्वसाधारणकी वैदिक यज्ञ-यागादि कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है।

[शिष्ट विद्वानोंके वचन तथा व्यवहारसे 'आत्मा इस देहके मरणके अनन्तर भी विद्यमान रहता है, जिसको इस देह द्वारा किये गये पाप-पुण्योंका फल भोगना होता है' ऐसा जानकर ही विवेकी विद्वानोंकी वैदिक पुण्य कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, ऐसा कहना तब हो सकता जब कि याजकोंकी वैदिककर्ममें प्रवृत्ति आत्माको परलोकसम्बन्धी माने बिना नहीं हो सकती, परन्तु वह तो अन्यथा भी उपपन्न हो सकती है, इस आशयको प्रकट करते हैं—'स्यादेतत्' इत्यादिसे] आपका उक्त कथन अन्यथा भी सम्भावित है। अन्यथा सम्भावना दिखलाते हैं—आप सर्वसाधारणकी वैदिक कर्मोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण आत्माको देहसे भिन्न और परलोकसम्बन्धी कहते हैं—इसमें प्रश्न होता है कि पशुसम्पत्तिकी इच्छावाला पुरुष 'चित्रा' नामका याग करे, स्वर्गकी कामनासे ज्योतिष्टोमनामक याग करे इत्यादि वैदिकवाक्योंसे

यजेत्' इत्यादिफलचोदना देहव्यक्तिरिक्तं पारलौकिमात्मानं कल्पयेत् ? किं वा 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिनित्यचोदना ? अथवा 'गृहदाहवान् यजेत' इत्यादिनैमित्तिकचोदना ? आहोस्वित् प्रायश्चित्तचोदना ? आद्येऽपि किं देहव्यतिरिक्तमात्मानमन्तरेण पश्वादिफलमनुपपन्नम् ? उत स्वर्गादिफलम् ? नाऽऽद्यः, पश्वादीनामस्मिन्नेव जन्मनि लब्धुं शक्यत्वात् । न चैहिकफलत्वे चित्रादीनां समनन्तरनियतफलेभ्यः कारीर्यादिभ्यो भेदो न स्यादिति शङ्कनीयम्, अस्मिन्नेव जन्मनि यौवनवार्द्धकादिकालभेदेनाऽपि चित्रादीनामनियतफलत्वोपपत्तेः । कारीर्यादीनां त्वनावृष्ट्या सस्येषु शुष्यत्सु विधानान्नियतसमनन्तरफलत्वम् । नाऽपि द्वितीयः—

प्रतीयमान फलविषयक प्रेरणा ही क्या आत्मामें देहसे भेद और परलोकके सम्बन्धकी कल्पना करती है ? [अर्थात् काम्यविधिसे उक्त कल्पना होती है ?] या 'जबतक जीवन रहे, तब तक अग्निहोत्र करना चाहिए' इत्यादि नित्यविधि कल्पक है ? अथवा 'गृहदाहवाला यज्ञ करे' इत्यादि निमित्त विधि कल्पक अथवा प्रायश्चित्तविधान उक्तार्थका कल्पक है ? आद्य पक्ष [काम्यविधिको कल्पक मानने] में भी प्रश्न होता है कि क्या देहादिसे भिन्न आत्माके बिना पशुसम्पत्ति आदि फल नहीं बन सकते ? अथवा स्वर्ग आदि अदृष्ट फल नहीं बन सकते ? । पहला कल्प नहीं मान सकते, क्योंकि पशु आदि फल इसी जन्ममें पाये जा सकते हैं। यदि चित्रादि यागका भी इस जन्ममें ही मिल सकनेवाला फल माना जाय, तो नियमतः तुरत ही फल देनेवाले कारीरी आदि यागोंसे चित्रादिका भेद नहीं होगा, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती, क्योंकि इसी जन्ममें जवानी, बुढ़ापा आदि अवस्थाओंके भेदसे भी चित्रादिमें अनियतफलत्वकी उपपत्ति हो सकती है। कारीरी आदिका वृष्टिके अभावसे सूखती हुई कृषिके लिए विधान किया गया है, अतः ये तुरत ही फल देनेवाले सिद्ध होते हैं। [यौवनमें किये गए चित्रादि याग बुढ़ापेमें फल देनेसे भी सफल हो सकते हैं, इसलिए इनको फल न देनेसे समनन्तर निष्फल मानना आवश्यक नहीं है। कारीरी आदि याग यदि विलम्बसे फल दें, तो 'का वर्षा जब कृषी सुखाने' कृषिके नष्ट होनेके अनन्तर फलस्वरूप वर्षा होनेसे भी व्यर्थ ही रहेंगे, अतः उनको समनन्तर फल देनेवाला माना है] दूसरा—स्वर्गादि फलकी अनुपपत्ति—पक्ष भी नहीं हो

अत्रैव नरकस्वर्गाविति मातः प्रचक्षते ।
मनः प्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः ॥

इति न्यायेन पश्वादिजन्यसुखस्यैव स्वर्गशब्दाभिधेयस्य ज्योतिष्टोमादिफलस्याऽप्यत्रैव सम्भवात् । नहि तत्सुखं चित्रादिफलम्, पश्वादिमात्रकामस्य तद्विधानात् । निरतिशयप्रीतेः स्वर्गत्वेऽप्यैहिकत्वमविरुद्धम्, साम्राज्यादिप्राप्त्या तस्या अप्यत्रैव सम्भवात् । शास्त्रेषु मेरुपृष्ठे स्वर्गभोगोऽवगम्यत इति चेत्, सोऽपि मन्त्रौषधादिसिद्धेनाऽनेनैव शरीरेण सुसम्पादः । यदि तथा

सकता [क्योंकि स्वर्ग कोई अतिरिक्त लोक तो है नहीं, केवल एक विलक्षण सुख ही स्वर्ग कहलाता है, वह इस जन्ममें भी मिल सकता है, इसमें पुराणवाक्य भी प्रमाण हैं] हे मातः ! 'इसी लोकमें नरक तथा स्वर्ग हैं' ऐसा विद्वानोंका कहना है। स्वर्ग और नरकका लक्षण करते हैं—मनको प्रसन्न करनेवाला स्वर्ग और इससे विपरीत—मनको दुःख देनेवाला—नरक है। इस न्यायसे पशु आदि सम्पत्तिके द्वारा प्राप्त हुआ सुख, जो स्वर्ग आदि शब्दोंसे कहा जाता है, ज्योतिष्टोम आदि यागका फल है, उसका तुरन्त इसी जन्ममें मिल जाना सम्भव है । वह सुख चित्रादि यागका फल नहीं माना जा सकता, क्योंकि केवल पशु आदि सम्पत्तिको ही चाहनेवालेके लिए उसका विधान है [और जोतिष्टोमादि तो सर्वविध सम्पत्तिजनित सुखकी कामनासे होते हैं] यद्यपि निरतिशय प्रीति–जिस सुखसे बढ़कर कोई भी दूसरा सुख न हो ऐसा ही सुख स्वर्ग कहलाता है तथापि उसका इस लोकमें प्राप्त होना कोई विरुद्ध नहीं है, क्योंकि साम्राज्य आदिकी प्राप्तिसे उक्त प्रकारकी प्रीति भी इस जन्ममें ही हो सकती है। शास्त्र–पुराणोंके द्वारा मेरु—सुमेरुपर्वत—के शिखरपर स्वर्गका भोग मिलता है, ऐसा प्रतीत होता है। यदि यह सिद्धान्त माना जाय, तो वह भी मन्त्र तथा औषधके प्रभावसे सिद्धि पाकर इस शरीरसे ही अच्छी तरह प्राप्त हो सकता है [दिलीप, दशरथ, दुष्यन्त आदिका वर्तमान शरीरसे इन्द्रसभामें जाना शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ही है] यदि ऐसा होना [इस युगमें] दिखाई देगा, तो जैसे [कारीरी यागके अनन्तर भी] वर्षा न होनेसे कारीरी आदि यागमें कुछ उसके अङ्गसम्पादन करनेमें त्रुटिकी कल्पना की जाती है, वैसे ही यहाँ ज्योतिष्टोमादि यागमें कुछ अङ्गहीनताकी ही

न दृश्येत तर्हि वृष्ट्याद्यनुत्पादे कारीर्यादिष्विवात्रापि किंचिदङ्गवैकल्यं कल्पनीयम् ।

नापि द्वितीयतृतीयौ, नित्यनैमित्तिकचोदनयोर्गुरुमते फलशून्यत्वात् । भट्टमतेऽपि तत्फलस्येहैव भोक्तुं शक्यत्वात् । नापि चतुर्थः, प्रायश्चित्तस्य पापापगममात्रफलत्वात् । अकृतप्रायश्चित्तस्य ब्रह्महत्यादेः फलं भोक्तुमात्मा नरकगामीति चेद्, नः स्वर्गवन्नरकस्याप्यनेनैव जन्मना भोगसंभवात् । श्वशूकरादिदेहेषु पापफलोपभोगः शास्त्रे प्रतीयते इति चेत्, नः तत्र शूकरादि समानदुःखप्राप्तिमात्रस्य विवक्षितत्वात् । अतो न

कल्पना करनी चाहिए ।

दूसरे और तीसरे—नित्य या नैमित्तिक विधि कल्पक है—पक्ष भी नहीं हो सकते, क्योंकि गुरु—प्रभाकर—मीमांसकके मतमें इन नित्य और नैमित्तिक दोनों विधियोंमें फल कुछ नहीं रहता । कुमारिलभट्टके[1] मतमें भी वह फल इस जन्ममें ही भोगा जा सकता है । अर्थात् सुख मिलना या दुःखका दूर होना इत्यादि फल इस विद्यमान शरीरसे ही भोगे जा सकते हैं, अतः अदृष्ट वस्तुकी–पारलौकिक शरीरकी—कल्पना क्यों की जाय ? चतुर्थपक्ष—प्रायश्चित विधानको कल्पक मानना–भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रायश्चित्तका केवल पाप दूर होना ही फल है। 'जिन ब्रह्महत्यादि पापोंका प्रायश्चित्त नहीं किया गया है, उनका फल भोगनेके लिए आत्मा नरकगामी होगा'। [इससे आत्माका परलोकसम्बन्ध सिद्ध होता है ।] ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वर्गके तुल्य नरकका भी इस विद्यमान जन्मसे ही भोग हो सकता है । ['जैसे सर्वश्रेष्ठ सुखको स्वर्ग कहते हैं, वैसे ही उत्कट दुःखको ही नरक कह सकते हैं' ।] कुत्ता या सूअर आदि देहोंमें पापका भोग मिलता है, ऐसा शास्त्रोंसे सिद्ध है । [इससे देहान्तरसे पापभोग मिलना सिद्ध होता है ।] ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि कुत्ता, सूअर आदि योनियोंमें प्राप्त होनेवाले दुःखके समान दुःख पाना ही शास्त्रका तात्पर्य है । इसलिए देहसे आत्मा भिन्न है, इसका साधक कोई प्रत्यक्षादि नहीं है । ['स्यादेतत्'से लेकर 'न किञ्चित्कल्पकम्' तकके ग्रन्थसे आत्माके परलोकसम्बन्धका निराकरण किया गया है । इसका खण्डन करते हैं—] यह आपका कहना ठीक नहीं है, [अर्थात् आत्माका परलोकसे सम्बन्ध है उसमें प्रमाण दिखलाते हैं] देवताधिकरणन्यायसे प्रमाण

१ भट्ट नित्य और काम्यविधिको सफल मानते हैं ।

देहव्यतिरिक्तात्मनः किंचित्कल्पकमस्तीति। नैतदेवम्, देवताधिकरणन्यायेन प्रमाणभूतैर्मन्त्रार्थवादादिभिर्विशिष्टदेशकालशरीरादिभोग्यस्वर्गादिफलावगतौ देहव्यतिरिक्तात्मसिद्धेः। इममर्थं वेदान्तदेवताधिकरणन्यायसिद्धमपि जैमिनिर्नाङ्गीचकारेति चेद्, न; देहव्यतिरिक्तात्मतत्त्वस्य विधिभिरनपेक्षितत्वेन जैमिनिना मुखतोऽसूत्रणेऽपि सिद्धसाध्यविषयकृत्स्नवेदस्याऽनपेक्षत्वलक्षणप्रामाण्यसूत्रणेनाऽर्थात् सूत्रितत्वात्।

अन्यथा तदीयेन भाष्यकारेण मन्त्रार्थवादादिप्रामाण्यमाश्रित्य देहव्यतिरिक्त आत्मा कथं विचारितः। न च पूर्वतन्त्रगतदेवताधिकरणे सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां मन्त्रादिप्रामाण्यं निराकृतमिति वाच्यम्। नहि तत्र

माने गये मन्त्र तथा अर्थवाद आदिसे विशिष्ट देश, काल, तथा शरीर आदिसे भोगने लायक स्वर्ग आदि फलोंकी प्रतीति होती है, अतः यही प्रतीति देहसे भिन्न आत्माकी सिद्धि करती है। यदि शङ्का हो कि यद्यपि उक्त निर्णय वेदान्तके देवताधिकरणन्यायसे सिद्ध है तथापि जैमिनिने—पूर्वमीमांसासूत्रकारने—इसको स्वीकार नहीं किया है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि जैमिनिने ऐसा कोई सूत्र नहीं रचा जिसमें 'देहसे अतिरिक्त आत्मा है' इस प्रकारके साक्षात् तादृश अर्थके वाचक शब्द आये हों, क्योंकि देहसे भिन्न आत्मतत्त्वकी वैदिक कर्मोंमें अपेक्षा नहीं है, तथापि सिद्ध ब्रह्म और साध्य कर्मकाण्डको विषय करनेवाले सम्पूर्ण वेदके अनपेक्षत्वरूप (किसीकी अपेक्षा न रखनेवाले) प्रामाण्यका सूत्र द्वारा प्रतिपादन करनेसे देहसे अतिरिक्त आत्माका भी प्रतिपादक सूत्र अर्थात् रचा ही है *।

यदि जैमिनि ऐसा न मानते, तो उनके भाष्यकारने मन्त्र, अर्थवाद आदिका प्रामाण्य मानकर 'देहसे भिन्न आत्मा है' ऐसा विचार कैसे किया? [भाष्यकार सूत्रविरुद्ध अर्थका प्रतिपादन नहीं करते हैं] पूर्वमीमांसाके देवताधिकरणमें सूत्रकार तथा भाष्यकार दोनोंने मन्त्रादिके प्रामाण्यका खण्डन किया है, ऐसा भी कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि उस देवताधिकरणका

* 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तत्प्रमाणं बादरायणस्याऽनपेक्षत्वात्' इस सूत्रके अन्तिम भागसे अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका बोधन किया गया है। और ऐसा ही प्रामाण्य 'तन्मन्त्रादिष्वविशिष्टम्' इस सूत्रसे सम्पूर्ण वेदोंका कहा गया है। यदि सिद्ध ब्रह्मको—देहव्यतिरिक्त आत्माको—जैमिनि न मानते, तो सम्पूर्ण वेदका समानरूपसे प्रामाण्य कैसे स्वीकार करते?

मन्त्रादिमात्रस्य प्रामाण्यनिराकरणे तात्पर्यम्, किन्तु विरुद्धस्यैव 'महान् इन्द्रो वज्रबाहुः' इत्यादिमन्त्रबलाद् देवताया विग्रहवत्त्वे सति ऋत्विगादिवत्संनिधानेनोपकारकत्वं स्यात् तच्चाऽनुभवविरुद्धमिति निराक्रियते। अविरुद्धस्य तु मन्त्रादेः प्रामाण्यमङ्गीकृतमेव अर्थवादगतलिङ्गानामपि तत्र तत्र द्वादशलक्षण्यां प्रमाणत्वेनोदाहियमाणत्वात्।

तदेवं मन्त्रादिबलाद्देहादिव्यतिरिक्तमात्मानमवगत्य विवेकिनः शास्त्रीयकर्मसु प्रवर्तन्ते इति न तद्व्यवहार आध्यासिकः।

नैष दोषः। किं कर्मिणो मन्त्रार्थवादादिबलाद् देहव्यतिरिक्तमखण्डैकरसमात्मानमवगच्छेयुः उत परलोकगामिनम्? नाऽऽद्यः, तस्य वेदान्तैकवेद्य-

---

तात्पर्य सम्पूर्ण मन्त्रादिके प्रामाण्यके खण्डनमें नहीं है, किन्तु विरुद्ध (संगत न होनेवाले) मन्त्रादिके प्रामाण्यके खण्डनमें ही है। जैसे कि 'महानिन्द्रो' (वज्र हाथमें रखनेवाला बड़ा इन्द्र) इत्यादि मन्त्रोंसे इन्द्रादि देवताका शरीरसम्बन्ध प्रतीत होता है, परन्तु ऐसा माननेसे ऋत्विजोंके—याग करानेवाले पुरोहितोंके—सदृश यज्ञमें उपस्थित होकर ही यज्ञका उपकार कर सकते हैं—यह अनुभवसे सङ्गत नहीं है, इसलिए ऐसे अर्थोंके प्रतिपादक मन्त्रादिका ही प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, सबका नहीं। जो विरुद्ध नहीं और अनुभवादिसे संगत अर्थके बोधक हैं, उनका प्रामाण्य तो माना ही गया है। अर्थवादमें आये हुए उपपादक हेतुओंका बारह अध्यायवाली पूर्वमीमांसामें जहाँ तहाँ प्रमाणस्वरूपसे उदाहरण दिया ही गया है।

इस प्रकार मन्त्रादिके आधारपर देहादिसे भिन्न आत्माको जानकर विवेकी विद्वानोंकी शास्त्रीय यज्ञ-यागादि कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, अतः उनका व्यवहार अध्यासमूलक नहीं कहा जा सकता।

समाधान—यह दोष नहीं आता अर्थात् विवेकशील विद्वानोंका शास्त्रीय व्यवहार भी अध्यासमूलक ही है। क्या वैदिक कर्मोंके करनेवाले विद्वान् मन्त्र, अर्थवाद आदिके आधारपर आत्माको देहसे भिन्न अखण्ड एकरस है, ऐसा जानते हैं? या परलोकमें जानेवाला है, ऐसा जानते हैं। [दोनों परस्पर-विरुद्ध धर्म एकमें हो नहीं सकते, क्योंकि अखंड-एकरसमें गमन और अगमनका सम्भव नहीं है]।

त्वात्। द्वितीयेऽपि परलोकगाम्यात्मज्ञाने सति किमध्यासमात्रं निवर्तत इति तवाऽभिप्राय उत स्थूलदेहाध्यासो निवर्तत इति। नाऽऽद्यः, सर्वगतस्य परलोकगमनानुपपत्तेरन्तःकरणाध्यासो न निवर्तत इत्यङ्गीकार्यत्वात्। न द्वितीयः, अपरोक्षाध्यासस्य परोक्षज्ञानमात्रेण निवृत्त्ययोगात्। ततो विवेकिनां शास्त्रीयव्यवहारोऽप्याध्यासिक एव।

यद्ययं सर्वोऽपि व्यवहारोऽध्यासमूलस्तर्ह्यात्मानात्मनोः कस्य कुत्राऽध्यास इति विशेषतो निरूपणीयम् इति चेत्, श्रूयतां तदवधानेन।

प्रथम पक्ष तो नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा आत्मा तो केवल वेदान्त द्वारा ही जाना जा सकता है, [कर्मकाण्डके मन्त्र, अर्थवादसे नहीं] दूसरे पक्षके माननेमें भी आत्मा परलोकमें जाता है, इतना ज्ञान होनेपर अध्यासमात्र निवृत्त हो जाता है [किसी भी प्रकारका अध्यास नहीं रह जाता] क्या ऐसा तुम्हारा अभिप्राय है ? अथवा स्थूल देहसे तादात्म्याध्यास ही निवृत्त होता है ? ऐसा अभिप्राय है ? इनमें पहला कल्प नहीं कह सकते, क्योंकि सब प्रकारके अध्यासकी निवृत्तिसे निष्कलङ्क व्यापक ब्रह्म ही रहेगा, इस प्रकार सर्वत्र समानभावसे व्याप्त आत्माका परलोक-गमन नहीं बन सकता (वह तो इहलोक, परलोकमें एकरस होकर युगपत् विद्यमान ही है) परलोकगमनकी उपपत्तिके लिए अन्तःकारणके साथ तादात्म्याध्यास निवृत्त नहीं होता है, सूक्ष्म शरीरके साथ तादात्म्याध्यास रहता ही है, ऐसा मानना आवश्यक है। दूसरा कल्प भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अध्यास परोक्ष ज्ञानसे निवृत्त नहीं हो सकता, [क्योंकि शुक्ति-रजतके प्रत्यक्ष भ्रमकी शुक्तिके परोक्ष ज्ञानसे निवृत्ति नहीं देखी जाती। मन्त्र, अर्थवाद आदिसे केवल यही परोक्ष ज्ञान होता है कि आत्मा परलोकगामी है। उसका साक्षात्कार नहीं होता। इससे सिद्ध है कि विवेकशील विद्वानोंका यज्ञ-याग आदि शास्त्रीय व्यवहार भी अध्यासके ही कारण है।

यदि सम्पूर्ण व्यवहार अध्यास ही कराता है, तो इसका विशेषरूपसे निरूपण करना चाहिये कि आत्मा (चेतन) और अनात्मा (जड) इन दोनोंमें किसका किसमें अध्यास है ? ऐसा यदि चाहते हो, तो सावधान होकर सुनो। साक्षी चैतन्य नित्यैकरस आत्मामें अंन्तःकरण[1] (आभ्यन्तर इन्द्रिय), इन्द्रिय

---

1 अन्तःकरणाध्याससे अहम् इत्यादि प्रमातृत्वादि व्यवहार होता है।

तत्र तावत्साक्षिचैतन्येऽन्तःकरणेन्द्रियदेहतद्बाह्यविषयास्तद्धर्माश्च क्रमेणाऽऽरोप्यन्ते, तत्रापि पूर्वपूर्वाध्यासविशिष्टं चैतन्यमुत्तरोत्तराध्यासाधिष्ठानमवगन्तव्यम्।

न च आत्मनि बाह्यविषयाध्यासे विवदितव्यम्, पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु च सत्स्वहमेव विकलः सकलो वेति व्यवहारदर्शनात्। ननु नाऽयं मुख्यो व्यवहारः, असार्वत्रिकत्वात्। नहि पुत्रे मृतपत्नीके सत्यहं मृतपत्नीक इति व्यवहारो दृश्यत इति चेद्, मैवम्; क्वचिददर्शनमात्रेण दृष्टस्थलेषु मुख्यत्वस्याऽनिवार्यत्वात्। नहि क्वचिच्छुक्तौ रजतव्यवहारो न दृष्ट इत्य-

---

(बाह्य[2] चक्षुरादि), देह—स्थूल[3] और सूक्ष्म[4], उससे बाहरी पुत्र, कलत्र, हस्ती, अश्व आदि विषयों तथा उनके धर्मोंका क्रमसे आरोप होता है, परन्तु उस क्रममें भी पूर्व-पूर्व आरोपसे युक्त चैतन्य ही उत्तर-उत्तर आरोपका अधिष्ठान होता है, ऐसा जानना चाहिये ?

आत्मामें बाह्य—पुत्रादि—विषयोंके अध्यासके विषयमें विवाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि पुत्र या स्त्रीकी रुग्णावस्थामें या किसी भी प्रकारकी कोई खराबी आनेपर कुटुम्बी (गृहस्वामी—पिता) अपनेको "अहमेव विकलः" मैं ही बीमार हूँ या मुझमें ही खराबी है इत्यादि रूपसे 'मैं तंग हो गया' इत्यादि व्यवहार करता हुआ देखा जाता है।

ऐसा व्यवहार सर्वत्र नहीं देखा गया, इसलिए मुख्य नहीं है, क्योंकि पुत्रकी स्त्रीके मरनेपर उसका पिता 'मेरी स्त्री मर गई', ऐसा नहीं कहता, (इससे बाह्य विषयोंके अध्यासकी पुष्टि नहीं होती) ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है ? कहींपर नहीं देखा जाता, केवल इतनेसे ही जहांपर पुत्र, कलत्रादिके लिए 'मैं' व्यवहार देखा जाता है, वहांपर मुख्य व्यवहारका निवारण कोई नहीं

---

२ बाह्येन्द्रियोंके अध्याससे 'मैं अन्धा हूँ, बहिरा हूँ' इत्यादि व्यवहार होता है।

३ मैं मोटा हूँ, जाता हूँ, खाता हूँ, इत्यादि व्यवहार स्थूल देहाध्यासका फल है।

४ सूक्ष्म देहाध्याससे स्वाप्निक व्यवहार तथा पारलौकिक फलवाले वैदिक यज्ञयागादिमें प्रवृत्ति होती है।

न्यत्रापि रजतरूपेण भातायां शुक्तौ रजतव्यवहार औपचारिको भवति। अस्तु शुक्तिरजतयोस्तादात्म्यप्रतीतेर्मुख्य आरोपः। स्वदेहपुत्रयोस्तु भेदप्रतीतेः 'सिंहो देवदत्तः' इतिवद्गौण एवैकत्वव्यवहार इति चेद्, न; वैषम्यात्। नहि सिंहसुखदुःखाभ्यां देवदत्तः संस्पृश्यत इति तदेकत्वव्यवहारिणो गौणी प्रतीतिः। अत्र तु पुत्रसुखदुःखाभ्यामहमेव संस्पृष्ट इति पिताऽभिमन्यते। अथाऽतिस्नेहवशादभिमानो नाऽध्यासवशादिति मन्येथाः। तन्न, स्नेहस्याऽप्याध्यासिकत्वात्। अन्यथा तस्यैव पितुः पारिव्राज्यं प्राप्तस्य विवेकज्ञाने सति तेष्वेव पुत्रादिषु कथं न यथापूर्वं स्नेहो दृश्येत।

कर सकता। कहीं शुक्तिमें रजतव्यवहार नहीं देखा गया, इससे दूसरे स्थलमें जहांपर शुक्तिका भान रजतरूपसे हुआ है, वहांपर शुक्तिमें रजतव्यवहार गौण है (मुख्य नहीं है) ऐसा नहीं माना जाता है। शुक्ति और रजतमें तादात्म्यका अध्यास होता है, इसलिए रजतव्यवहार मुख्य माना जाता है, और अपने शरीर और पुत्रमें तो भेदज्ञान रहता है, इसलिए 'देवदत्त शेर है' इस प्रतीतिके तुल्य उक्त 'अहं विकलः' इत्यादि प्रतीति गौण ही है, ऐसा पूर्वपक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि यहांपर वैषम्य है अर्थात् दोनों प्रतीतियोंमें समानता नहीं है। वैषम्य दिखलाते हैं—सिंहके सुखदुःखोंसे देवदत्तका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इससे शेर और देवदत्तके तादात्म्यको विनष्ट करनेवाली 'देवदत्त शेर है' ऐसी प्रतीति गौण मानी जाती है। और प्रकृतमें तो पुत्रके सुख-दुःखोंसे मैं ही सुखी और दुःखी हूँ इस तरह पिताका अभिमान होता है, (अतः यह अभिमान ही तादात्म्यका सूचक होता है)। अधिक प्रेमके कारण उक्त अभिमान होता है, अध्यासके कारण नहीं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्नेह भी तो अध्यासके द्वारा ही होता है। [मुख्य प्रेमास्पद तो आत्मा ही है आत्मासे भिन्न वही प्रेमास्पद होगा जिसके साथ आत्माका सम्बन्ध होगा, निरञ्जन आत्माका सम्बन्ध आध्यासिक ही हो सकता है। अतएव सम्बन्धके तारतम्यसे ही स्नेह तथा 'अहम्, ममेदम्' व्यवहारका तारतम्य हो जाता है]। यदि ऐसा—स्नेह अध्यासमूलक है—न मानो, तो उसी पिताके (जिसका पुत्रमें अधिक स्नेह था) संन्यास-वैराग्यकी अवस्थाको प्राप्त होनेसे 'पुत्रादि मैं नहीं हूँ' ऐसा विवेक ज्ञानका उदय होनेपर उन पुत्रादिके ऊपर पहली अवस्थाका जैसा स्नेह क्यों नहीं देखा जाता?

नाऽपि वास्तवस्य स्नेहस्य विवेकज्ञानमात्रादपगमः संभवति। ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति व्याप्तिदर्शनात्।

ननु यदि पुत्रादिषु स्नेहकृतोऽहमिति व्यवहार आध्यासिकः कथं तर्हि भाष्यकारेणेक्षत्यधिकरणे राज्ञः सर्वार्थकारिण्यतिस्निग्धभृत्ये 'ममात्मा भद्रसेनः' इति व्यवहारो गौणत्वेनोदाहृतः। विषम उपन्यासः, नहि तत्र भद्रसेनस्वरूपप्रयुक्तो राज्ञः स्नेहः विपरीतकारिणि तस्मिन्नेव द्वेषदर्शनात्। किं तर्हि तत्कृतेष्वनुकूलेषु राजकार्येष्वेव स्नेहः। पुत्रेषु तु पितुर्निरुपाधिक एव स्नेहः। कार्याक्षमे विपरीतकारिणि वा स्नेहाऽनपायात्। अथापि न स्नेह आध्यासिकः, स्नेहपात्रेषु वस्त्रालङ्कारादिष्वहंबुद्ध्यभावादिति चेद्, न;

वास्तव स्नेहका विवेक ज्ञान होनेसे ही विनाश होना सम्भव नहीं हो सकता। वास्तव—व्यावहारिक—सर्प रज्जुसर्पके भेदभानसे नहीं मर जाता, क्योंकि ज्ञान अज्ञानको ही दूर कर सकता है, ऐसी ही व्याप्ति देखी जाती है।

शङ्का—अगर पुत्रादिमें स्नेह द्वारा उत्पन्न होनेवाला मैं—अहम्—इत्यादि व्यवहार अध्यासमूलक होता, तो भाष्यकारने ईक्षत्यधिकरणमें सब प्रकारके राज-काज करनेवाले और अत्यन्त प्रीतिपात्र अपने अमात्य आदि सेवकके लिए 'भद्रसेन मेरी ही आत्मा है अर्थात् मैं ही हूँ' राजाके इस व्यवहारको जो गौण माना है, वह कैसे बन सकेगा ?

समाधान—इस दृष्टान्तका रखना बेमेल है, वहांपर राजाका उसके ऊपर प्रेम नहीं है, क्योंकि वही भद्रसेन यदि राजाके प्रतिकूल कुछ भी कर दे, तो राजाका उसके साथ द्वेष भी देखा जाता है। तब किस कारणसे स्नेह है ? इसपर यही कहना होगा कि—उस भद्रसेनके किये हुए राजाके अनुकूल राजकाजमें ही स्नेह है और (दार्ष्टान्तिक) पुत्रादिके ऊपर तो पिताका किसी उपाधिसे—पुत्रस्वरूपसे बाह्य पदार्थके कारण—स्नेह नहीं है, क्योंकि कामकाजमें असमर्थ तथा अपने प्रतिकूल कार्य—मूँछें उखाड़ना, गोदीमें मैला कर देना आदि—करनेवाले बालकके ऊपर स्नेह नहीं हटता। इतनेपर भी स्नेह अध्यासके कारण नहीं है, क्योंकि स्नेहपात्र वस्त्र-आभूषण आदिके ऊपर 'अहं—मैं' बुद्धि नहीं होती है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि उनमें भी 'मम' (मेरा है) ऐसी प्रतीतिका

तत्रापि ममबुद्धिलक्षणाध्यासस्य सत्त्वात्। अध्यासस्याऽहमिति ममेति चाऽऽकारद्वयं स्नेहतारतम्यादुपपद्यते। तत्तारतम्यं च 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्' इत्यस्याः श्रुतेर्व्याख्यानावसरे विश्वरूपाचार्यैर्दर्शितम्।

'वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः ॥' इति।

अतः प्रियमात्रे वित्तादौ नियमेन ममेति सम्बन्धाध्यास एव भवति। प्रियतरे पुत्रे कदाचिदैक्यमप्यध्यस्यते। प्रियतमे देहे प्रचुरैक्याध्यासः। ततोऽपि प्रियतमे त्वन्तःकरणे नियत ऐक्याध्यासः।

ननु पुत्रे चेदैक्यबुद्धिराध्यासिकी कथं तर्हि चतुःसूत्र्यवसाने भाष्ये

होना ही अध्यास है। अध्यासके 'मैं-और मेरा' इस प्रकारके दो आकार स्नेहके तारतम्य—न्यूनाधिक्य—से उपपन्न होते हैं। स्नेहका तारतम्य 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्' इस श्रुतिके व्याख्यानके अवसरपर वार्तिककार विश्वरूपाचार्यने दिखलाया है—

धनकी अपेक्षा पुत्र ज्यादा प्यारा होता है, पुत्रसे भी ज्यादा प्यारा अपना शरीर और शरीरसे इन्द्रियां प्रिय, इन्द्रियोंसे प्राण अधिक प्रिय होता है और प्राणसे भी आत्मा अधिक स्नेहपात्र होता है।

इसलिए सामान्यतः प्रिय धन आदिमें नियमतः—'मेरा है' ऐसा सम्बन्धका अध्यास ही होता है और उससे अधिक विशेष प्रीतिपात्र पुत्रादिके विषयमें जब कभी तादात्म्यका अध्यास हो जाता है, इससे उनमें अहं और मम दोनों व्यवहार होते हैं, उनसे भी विशेष प्रीतिपात्र देहमें अधिकतया तादात्म्याध्यास होता है और उससे भी अधिक स्नेहपात्र अन्तःकरणमें नियमतः तादात्म्याध्यास होता ही है, इसमें कभी भी व्यभिचार नहीं है।

यदि पुत्रमें तादात्म्यकी—ऐक्यकी—प्रतीति अध्यासमूलिका मुख्य है, तो चतुःसूत्रीकी समाप्तिमें 'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे' * गौण आत्माके मिथ्या

---

* 'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवंबोधि कार्यं कथं भवेत् ॥'

इस कारिकाको भाष्यकारने 'अहं ब्रह्माऽस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकारके ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए ही सब-कुछ विधान तथा प्रमाण है, इस उपक्रमसे कहा है। इसलिए दोनों आत्माओंका बाध करना अभिप्रेत है, वस्तुतः गौणका बाध नहीं होता। आरोपितका ही बाध होता है।

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनादिति गौणात्मत्वेन पुत्र उदाहृतः। नाऽयं दोषः, देहवदैक्याध्यासस्य प्राचुर्यं नास्तीत्येतावन्मात्रं तत्र विवक्षितम्, न त्वात्मैक्याध्यासः पुत्रे सर्वथा नास्तीति। अन्यथा कथम् 'आत्मा वै पुत्रनामाऽसि' इति श्रुतिरुपपद्येत। इयं हि श्रुतिर्लोकसिद्धं पुत्रतादात्म्याध्यासमनुवदति। तस्मादस्त्येव पुत्रभार्यादिषु विषयेष्वध्यासः।

अथ कथंचित्पुत्रादितादात्म्याध्यासेऽपि विप्रतिपद्येथास्तथापि तद्धर्माध्यासोऽङ्गीकार्य एव। स्तनन्धये पुत्रे वस्त्रालङ्कारादिना पूजिते सत्यहमेव पूजित इति पितुरभिमानदर्शनात्। तथाऽङ्गुल्या स्वदेहं प्रदर्श्य वचनेनाऽयमहमिति व्यवहारो देहतादात्म्याध्यासमात्मनो गमयति। कृशो

होनेपर पुत्रात्माका बाध हो जाता है एवं मिथ्यात्माके असद्भावमें देहात्माका बाध होता है, इस भाष्यसे पुत्रको जो गौण आत्मा कहा है वह कैसे सङ्गत होगा? नहीं, इस प्रकार भाष्यासङ्गति या भाष्यविरोधात्मक दोष नहीं है, क्योंकि देहमें तादात्म्यका—ऐक्यका—अध्यास जैसे प्रचुरतासे होता है वैसे ही पुत्रादिमें नहीं होता, इतना ही तात्पर्य है। इससे विपरीत यह नहीं है कि पुत्रमें आत्माका अध्यास—सर्वथा नहीं है। अन्यथा 'आत्मा वै पुत्रनामाऽसि' (आत्मा ही पुत्र है) यह श्रुति संगत नहीं होगी। यह श्रुति लोकसिद्ध तादात्म्यके अध्यासका ही अनुवाद करती है, इससे पुत्र, स्त्री आदि बाह्य विषयोंमें अध्यास है ही। यदि कथंचित् तुष्यतु दुर्जनन्यायसे पुत्रादि विषयोंमें आत्माका तादात्म्याध्यास माननेमें विवाद करो, तो भी उनके धर्मोंका अध्यास तो मानना ही होगा। दूध पीनेवाले छोटे बच्चेका वस्त्र, आभूषणों द्वारा सत्कार करनेपर मेरा ही सत्कार हुआ, ऐसा पिताका अभिमान देखा जाता है एवं अंगुलीसे अपने देहको दिखाकर कहा जाता है, कि 'यह मैं हूँ' ऐसा व्यवहार—अङ्गुली दिखाकर देहको मैं हूँ कहना—आत्माका देहमें तादात्म्याध्यासका बोधन करता है। 'मैं दुबला

इसमें पुत्रादिको गौण और देहादिको मिथ्या कहना ममकार और अहंकार दोनोंकी निवृत्तिके लिए है। पुत्रादिमें ममकार और अहंकार दोनों होते हैं, इतनेसे केवल ममकारका प्रयोजक पुत्रमें आत्मोपकारकत्वमात्रके आरोपकी विवक्षा करके गौण व्यवहार माना गया है। इससे मुख्यात्मत्वकी निवृत्ति नहीं की जा सकती।

ऽहं कृष्णोऽहमिति व्यवहारे देहधर्माणां कृशत्वादीनामात्मन्यध्यासः प्रसिद्धः । मूकोऽहं वक्ताऽहमन्धोऽहं द्रष्टाऽहमितीन्द्रियधर्मा एवाऽऽत्मन्यध्यस्यन्ते । नह्यत्र धर्मिणामिन्द्रियाणामध्यासो घटते, नित्यानुमेयानां तेषामपरोक्षाध्यासायोग्यत्वात् । अहं कामी कोपीत्यन्तःकरणधर्मा आत्मन्यारोप्यन्ते । न च कामादय आत्मन एव धर्मा नाऽन्तःकरणस्येति वाच्यम् , सत्येवान्तःकरणे तेषां भावात् । आत्मोपादानकत्वेऽपि कामादीनामन्तःकरणं निमित्तमिति तदन्वयव्यतिरेकाविति चेद्, न; निमित्तस्याऽन्तःकरणस्याऽपायमात्रेण सुषुप्तौ कामाद्यपायानुपपत्तेः। अन्तःकरणात्मसंयोगस्याऽसमवायिकारणस्याऽपायात्तदपाय इति चेद्, एवमप्यन्तःकरणस्योपादानत्वमेव कल्पनीयम् , अभ्यर्हितत्वात् । निमित्तत्वमप्यभ्यर्हितमेव,

---

पतला हूँ तथा काला हूँ, इस व्यवहारमें देहके दुर्बलत्व आदि धर्मोंका आत्मामें अध्यास प्रसिद्ध ही है । मैं गूँगा हूँ, वक्ता हूँ, अन्धा हूँ, देखनेवाला हूँ, इस प्रकार इन्द्रियके धर्मोंका ही आत्मामें आरोप किया जाता है । यहांपर धर्मवाली इन्द्रियोंका अध्यास नहीं बन सकता, क्योंकि इन्द्रियां अनुमानसे ही जानी जाती हैं; इसलिए वे प्रत्यक्ष नहीं हैं; अतः परोक्ष इन्द्रियोंका प्रत्यक्ष अध्यास होना योग्य नहीं है । 'मैं कामी हूँ क्रोधी हूँ' इस तरह अन्तःकरणके धर्म आत्मामें आरोपित होते हैं । काम आदि आत्माके ही धर्म हैं, अन्तःकरणके नहीं हैं, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अन्तःकरणके रहते ही कामादि धर्मोंकी स्थिति है । उपादान आत्माके रहते हुए भी अन्तःकरणके साथ अन्वय और व्यतिरेक अन्तःकरणको निमित्तकारण बतलाते हैं, ऐसा भी नहीं हैं, क्योंकि निमित्तकारण अन्तःकरणके विनाशसे ही सुषुप्तिमें काम आदि धर्मोंका विनाश उपपन्न नहीं होगा, [क्योंकि निमित्तकारणका नाश होनेपर कार्यका विनाश नहीं देखा जाता] । अन्तःकरण और आत्माका संयोग कामादिका असमवायिकारण है, सुषुप्तिमें उस असमवायिकारणका नाश होनेसे उन कामादि धर्मोंका नाश होता है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि इससे तो अभ्यर्हित होनेसे यही उचित है कि अन्तःकरणको ही उपादान मान लिया जाय । [क्योंकि कार्य उपादान कारणकी ही नियमतः अपेक्षा रखता

तदभावे कार्यानुत्पादादिति चेद्, नः चक्षुरादौ निमित्तान्तरस्याऽत्र सद्भावेन तस्याऽकल्पनीयत्वात्। न चोपादानान्तरमत्राऽस्ति, येनोपादानत्वमपि न कल्प्येत। आत्मन उपादानत्वे त्वहं काम इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययः स्याद्, न तु दण्डी देवदत्त इतिवदहं कामीति सम्बन्धप्रत्ययः। अन्तःकरणसामानाधिकरण्यं तु कामादीनां 'कामः सङ्कल्पः' इत्यादिश्रुतिसिद्धम्। ततोऽन्तःकरणधर्मा एव कामादय आत्मन्यारोप्यन्ते, अन्तःकरणं च स्वसाक्षिण्यात्मन्यैक्येनाऽध्यस्यते। अन्यथा केवलसाक्षिणोऽहमित्यभिमानविशिष्टत्वेन प्रतीतिर्न स्यात्।

है, निमित्तकरणकी नहीं।] 'निमित्तकारण भी अभ्यर्हित है, क्योंकि उसके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि यहांपर चक्षुरादि दूसरे निमित्त कारणोंके सद्भावसे वैसी कल्पना नहीं बन सकती, [यदि कोई दूसरा निमित्तकारण नहीं होता, तो अन्तःकरणके निमित्तकारणत्वकी कल्पना की जाती, परन्तु प्रकृतमें वैसा है नहीं]। और प्रकृतमें दूसरा उपादान है नहीं, जिससे अन्तःकरणको उपादान भी न माना जाय? आत्माको यदि उपादान माना जाय, तो 'मैं काम हूँ' इस तरह समानाधिकरण होनेकी आपत्ति हो जायगी और दण्डी देवदत्तकी भाँति 'मैं कामी हूँ' इस प्रकार सम्बन्धका ज्ञान नहीं होगा। [जैसे 'घड़ा मिट्टी है' इत्यादि स्थलोंमें उपादान कारणके साथ कार्यका अभेदव्यवहार होता है, वैसे ही 'मैं काम हूँ' यह समानाधिकरण व्यवहार हो जायगा, क्योंकि अभेदबोधको ही समानाधिकरण कहते हैं। ऐसे स्थलोंमें दोनों समानविभक्त्यन्त ही होते हैं। और पुरुषका संयोगसम्बन्ध मालूम होता है; क्योंकि दण्डका पुरुष उपादान कारण नहीं है। उपादानके साथ कार्यका संयोगादि भेदसम्बन्ध नहीं हो सकता]। और अन्तःकरणके साथ कामादि धर्मोंका सामानाधिकरण्य तो 'कामः सङ्कल्पः' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है। इससे कामादि अन्तःकरणके ही धर्म हैं, उनका आत्मामें [सम्बन्धिविधया] आरोप होता है [तादात्म्यसे नहीं]। और अन्तःकरण अपने साक्षी चैतन्यमें ऐक्यसे—तादात्म्यसे—ही आरोपित होता है; ऐसा न माननेसे केवल शुद्ध निरञ्जन साक्षीके 'अहं' (मैं) इस अभिमानसे विशिष्टरूपकी प्रतीति नहीं बनेगी।

ननु न साक्षिवेद्यमन्तःकरणम्, किन्त्वात्मेन्द्रियविषयेषु समवहितेषु दृश्यमानस्य ज्ञानोत्पत्तिक्रमस्याऽन्यथानुपपत्त्या गम्यमिति चेद्, न; अन्यथाऽप्युपपत्तेः। आत्मन एव क्रमेण ज्ञानजननसामर्थ्यकल्पनेऽप्युपपन्नस्तत्क्रमः। न चाऽवश्यं कस्यचिन्नियामकस्य कल्पनीयत्वे मन एव कल्प्यतामिति वाच्यम्, सिद्धस्यैवाऽऽत्मनः सामर्थ्यमात्रकल्पनस्य सामर्थ्योपेतद्रव्यान्तरकल्पनाल्लघीयस्त्वात्।

नन्वु तर्ह्यनुमानेन मनोऽवगम्यताम्—विमतः क्रमः कर्तुः क्रमकारिसाधारणकारणापेक्षः, बहुविषयसंनिधानवतः कर्तुः कार्योत्पादक्रमत्वाद्, बाहुच्छेद्यसंनिधानवतो देवदत्तस्य कुठारसापेक्षच्छिदिक्रिया-

---

यदि शङ्का हो कि अन्तःकरण साक्षीसे प्रकाशित होनेवाला नहीं है, किन्तु आत्मा, इन्द्रिय और विषय--इन सबके इकट्ठे होनेपर घट, पटादि विषयक ज्ञानकी अनुभवसिद्ध उत्पत्तिके क्रमकी अन्यथा अनुपपत्तिसे ही वह जाना जाता है, तो यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि अन्यथा भी उपपत्ति हो सकती है। अर्थात् आत्मामें ही क्रमसे ज्ञानोत्पत्तिकी सामर्थ्य माननेसे ज्ञानकी क्रमोत्पत्ति बन सकती है। यदि ज्ञानकी क्रमसे उत्पत्तिमें किसीको नियामक माननेकी अवश्य कल्पना करनी ही है, तो अन्तःकरणको ही उसका नियामक मान लेंगे' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि निर्विवादसिद्ध आत्मामें केवल सामर्थ्यकी कल्पनाकी अपेक्षा एक नवीन दूसरा द्रव्य मानना और उसमें सामर्थ्यकी कल्पना करनेमें गौरव है। [क्योंकि अन्तःकरणके माननेमें धर्म और धर्मी दोनोंकी कल्पना करनी पड़ती है और आत्माको क्रमिक ज्ञानकी उत्पत्तिका नियामक माननेमें केवल धर्म—सामर्थ्यमात्र—की कल्पना करनी पड़ती है, अतः लाघव है]

अनुमानसे ही मनकी प्रतीति होगी [साक्षी द्वारा नहीं, अनुमानका प्रयोग करते हैं] विमत क्रम [ज्ञानकी उत्पत्तिके क्रमके नियामकमें विवाद है—कोई मानते हैं कि अन्तःकरण इसका नियामक है और कोई इसको नहीं मानते, इसलिए यह ज्ञानोत्पत्तिका क्रम विवादपूर्ण हुआ] कर्ताके क्रमिक कार्य करनेवाले साधारण कारणकी अपेक्षा रखता है; अनेक विषयोंके संनिधानवाले कर्ताके कार्योंकी उत्पत्तिका क्रम होनेसे, [एक कालमें अनेक विषयोंसे सन्निकर्ष होनेपर भी अनुभवादि कार्यकी उत्पत्ति क्रमसे ही होती है, एक साथ नहीं] बाहुओंसे तोड़ने-फाड़ने लायक विषयोंके सन्निधानवाले देवदत्तकी कुठारकी अपेक्षा रखनेवाली तोड़ना-फाड़ना आदि छेदनक्रियाके क्रमके समान। [भाव यह है कि जैसे देवदत्तको अपने बाहुबलसे चार टुकड़ोंको चीरना या फाड़ना है। उसमें उसको कुठारकी

क्रमवदिति । नैतत्सारम्, मनःकर्तृकेषु प्रतीन्द्रियसंयोगेषु वर्त्तमाने क्रमेऽनैकान्त्यात् । नहि मनस इन्द्रियैः क्रमेण संयोगे किंचित्साधारणं कारणमस्ति । अदृष्टमेव तद्भविष्यतीति चेद्, एवमपि वृक्षात्पततः फलस्याऽऽकाशप्रदेशसंयोगक्रमेऽनैकान्त्यम् । तत्रापि गुरुत्वं साधारणं कारणमिति चेद्, एवं तर्हि चक्षुषः प्रतिविषयसंयोगेषु वर्त्तमानक्रमेऽनैकान्त्यात् । न चाऽदृष्टमत्राऽपि सममिति वाच्यम्, अदृष्टव्यतिरिक्तस्यैव साधारणकारणस्य साध्यत्वेन विवक्षितत्वात् । एवं च सति प्रथमत उक्तमनैकान्तिकस्थलमप्यदुष्टम् ।

अपेक्षा है, वह उस कुठारके द्वारा क्रमसे ही छेदन कर सकता है, एक साथ नहीं । वैसे ही आत्माको भी दर्शनके अनेक विषयोंके ज्ञानोंका तथा दर्शन, स्पर्शन आदि अनेक ज्ञानोंका उदय अन्तःकरणकी अपेक्षा रखता हुआ क्रमसे ही होगा] यह अनुमान सारगर्भित नहीं है—व्याप्तिसे शून्य है, क्योंकि [कार्यकी उत्पत्तिके क्रममात्रमें साधारण कारण अपेक्षित नहीं है, ऐसा नियम नहीं है, इसमें व्यभिचार दिखलाते हैं—] मनके प्रत्येक इन्द्रियके साथ होनेवाले संयोगोंके क्रममें उक्त हेतुके न होनेसे व्यभिचार है । अतः किसी दूसरे साधारण कारणकी अपेक्षा नहीं है । अर्थात् मनका इन्द्रियोंके साथ क्रमसे होनेवाले संयोगमें कोई साधारण कारण नहीं है । उसमें इन्द्रियोंसे होनेवाले मनोजन्य संयोगमें अदृष्ट ही साधारण कारण होगा [कार्यमात्रके प्रति अदृष्ट साधारण कारण होता है, इस नियमसे] यदि ऐसा माना जाय, तो भी वृक्षसे गिरते हुए फलके आकाशदेशमें होनेवाले संयोगक्रममें व्यभिचार बना ही है । उसमें गुरुत्व—भारीपन—साधारण कारण माना जाय, तो आँखका एक-एक विषयके साथ होनेवाले संयोगोंके क्रममें व्यभिचार आ जायगा । यहाँपर भी पहलेकी तरह अदृष्टको साधारण कारण माना जायगा' ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विमतः क्रमः—इत्यादि अनुमानके प्रयोगका अदृष्टसे भिन्न साधारण कारणके ही साधन करनेमें तात्पर्य है । [यदि उक्त अनुमानका साध्य अदृष्ट ही माना जाय, तो सिद्धसाधन दोष होनेकी आपत्ति होगी, अतः उससे अतिरिक्त ही साध्य मानना चाहिए] ऐसा माननेपर—अदृष्टसे अतिरिक्त साध्य (साधारण कारण) स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त मनसे उत्पन्न होनेमें प्रत्येक इन्द्रियसंयोगोंमें विद्यमान क्रमस्थलके भी व्यभिचारका दृष्टान्त होनेमें कोई दोष नहीं है ।

अथ मतम्—विमता विज्ञानादिविशेषगुणोत्पत्तिः स्वाश्रये द्रव्यान्तर-संयोगलक्षणासमवायिकारणापेक्षा, नित्यद्रव्यविशेषगुणोत्पत्तित्वाद्, अग्नि-संयोगापेक्षपरमाणुगतलौहित्योत्पत्तिवत् । तथा च द्रव्यान्तरं यत्तन्मन इति । नैतदप्युपपन्नम् , आत्मनः शरीरेन्द्रियसंयोगोऽपि ज्ञानासमवायिकारणमिति तत्र सिद्धसाधनत्वात् । स्वप्नज्ञानपक्षीकारे मनःसिद्धिरिति चेद् , न; शरीरेणैव सिद्धसाधनत्वात् । नहि स्वप्नेऽप्यात्मनः शरीरसंयोगोऽपगच्छति । तर्ह्यस्तु प्रत्यक्षं मन इति चेद् , न; अणुपरिमाणत्वे मनसः परमाणुवदिन्द्रियागम्यत्वात् । अनन्तपरिमाणत्वे युगपत्सर्वजगदवभासप्रसङ्गात् । मध्य-

विपक्षी दूसरा अनुमानप्रयोग करता है—विज्ञानादि विशेषगुणोंकी उत्पत्ति अपने आश्रयमें[1] द्रव्यान्तरके संयोगरूपी असमवायिकारणकी अपेक्षा रखता है, नित्य द्रव्यके आश्रित विशेष गुणोंकी उत्पत्ति होनेसे, अग्निसंयोगकी अपेक्षा रखनेवाले परमाणुमें स्थित लौहित्यकी उत्पत्तिके समान । इस अनुमानसे प्रकृतमें द्रव्यान्तरकी अपेक्षा सिद्ध होती है, वह द्रव्यान्तर कौन है ? इस जिज्ञासाका उत्तर यह है कि जो अपेक्षित द्रव्यान्तर है वह मन ही है । यदि ऐसा मानो तो यह भी युक्तियोंसे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माका शरीर तथा इन्द्रियोंके साथ संयोग भी ज्ञानका असमवायिकारण है, इससे उस आत्म-शरीरेन्द्रियसंयोगमें सिद्धसाधन दोष आता है । स्वप्नज्ञानको पक्ष माननेमें मनकी सिद्धि होगी अर्थात् स्वप्नज्ञानमें आत्ममनःसंयोग ही असमवायिकारण होगा, बाह्येन्द्रिय तथा शरीर तो स्वप्नमें निश्चेष्ट रहता है, इससे मनको मानना ही चाहिए, ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि स्वप्नज्ञानको पक्ष मान कर किये गये अनुमानमें भी शरीरके कारण सिद्धसाधन दोष बना है अर्थात् शरीर और आत्माका संयोग स्वप्नमें भी सिद्ध ही है । कारण कि स्वप्नमें भी आत्माका शरीरके साथ संयोग नष्ट नहीं होता है, किन्तु बना ही रहता है । [इससे स्वप्नज्ञानपक्षक अनुमानसे भी सिद्धका ही साधन हुआ जो अनुमितिका विरोधी है ।] अच्छा तो मनको प्रत्यक्षगम्य ही समझना चाहिए अर्थात् मन प्रत्यक्ष है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि मनको यदि अणुपरिमाण मानो, तो परमाणुकी तरह वह इन्द्रियोंका गोचर नहीं हो सकेगा । और यदि उसे अनन्त—महत्—परिमाण माना

१ न्यायमतमें ज्ञानाश्रय आत्मा है ।

मपरिमाणत्वेऽपि न तस्येन्द्रियगम्यत्वम्, स्वप्नावस्थायामिन्द्रियाभावेऽपि मनोदर्शनात्। न च मनसः प्रतीतिरेव नास्तीति वाच्यम्, मम मनोऽन्यत्र गतमित्यनुभवात्। ततः परिशेषान्मनसः साक्षिवेद्यत्वं सिद्धम्। स च साक्षी प्रत्यगात्माऽनात्मस्वन्तःकरणादिष्वैक्येनाऽध्यस्यते, अहंकारादिषु चैतन्योपलम्भात्।

नन्वात्मानात्मनोरन्योन्याध्यासे द्वयोरप्यध्यस्तत्वेन मिथ्यात्वं स्यात् तथा द्वयोरप्यधिष्ठानत्वेन सामान्यावभास एव स्यान्न कस्यापि विशेषावभास इति चेद्, मैवम्; चिज्जड़रूपेण द्वयोर्विशेषावभासस्तावदितरेतराध्यासं गमयति। अध्यासे विशेषावभासस्याऽध्यस्यमानताप्रयुक्तत्वात्। एक-

---

जाय, तो एक साथ ही सम्पूर्ण जगत्का ज्ञान होने लगेगा। मध्यम परिमाण—शरीरपरिमाण—माननेमें भी वह इन्द्रियोंसे गम्यनहीं है, क्योंकि बाह्य इन्द्रियोंका अभाव होनेपर भी वह देखा जाता है [मन अपना व्यापार करता रहता है]। और मनकी प्रतीति ही नहीं होती है [प्रतीतिके बिना पदार्थका स्वीकार असम्भव है, इससे मन है ही नहीं] यह भी नहीं मान सकते, क्योंकि मेरा मन दूसरी जगह चला गया है, इस प्रकार उसका अनुभव होता है। अतः परिशेषसे—अनुमान तथा प्रत्यक्षका विषय न हो सकनेसे—मन साक्षीके द्वारा ही प्रतीत होनेवाला सिद्ध होता है और वह—मनका अनुभव करानेवाला—साक्षी प्रत्यगात्मा, अनात्मा तथा अन्तःकरण आदिमें तादात्म्यरूपसे आरोपित होता है, क्योंकि अहङ्कारादिमें चैतन्यकी उपलब्धि होती है।

यदि आत्मा और अनात्मा इन दोनोंका परस्पर अध्यास है, तो दोनोंका रूप अध्यास ही हो गया, इसलिए दोनों ही मिथ्या कहलाने चाहिए, और दोनोंके अधिष्ठान होनेसे दोनोंके सामान्य अंशका ही ज्ञान होना चाहिए, एकके भी विशेष अंशका ज्ञान नहीं होना चाहिए, ऐसी शङ्का भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा इन दोनोंके चित् और जड़रूप विशेष अंशका ज्ञान होना ही दोनोंके परस्पर अध्यासका बोधक होता है। कारण कि अध्यासमें विशेष अंशका बोध होना ही आरोपमें विषय होने-का कारण होता है। [शुक्तिरजतादिभ्रम स्थलमें 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इत्यादि प्रतीतिमें विशेषाकारसे भासित होनेवाला

तराध्यासे चैकस्यैव विशेषावभासः स्यात् । न च द्वयोरपि मिथ्यात्वापातः, चेतनस्याऽचेतने स्वरूपाध्यासाभावात्संसृष्टतयैवाऽध्यासात् । न च विशेषावभासादधिष्ठानत्वविरोधः, अधिष्ठानधर्मतया विशेषाप्रतीतेः । देहस्य चेतनत्वमात्मनोऽचेतनत्वमिति वैपरीत्येन प्रतीतेः । न च वाच्यं द्वयोर्विशेषावभासे सति नाध्यासः सम्भवति, सामानाधिकरण्यमस्ति चेद्गौणं तद्भविष्यतीति । नहि लौकिका अन्तःकरणादावात्मनो गौणीं बुद्धिमभिमन्यन्ते, किन्तु मुख्यामेव । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम ।

रजत ही अध्यासका विषय है । इदम्—सामान्य अंश विषय है] यदि 'आत्मा और अनात्मा इन दोनोंमें से, एकको ही अध्यासका विषय मानो, तो एकका ही विशेष रूपसे ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि दोनोंका अध्यास माननेमें दोनोंको मिथ्या होनेका दोष आ जायगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि चेतन—आत्मा—का अचेतन—जड़—में स्वरूपतः अध्यास नहीं हो सकता है किन्तु संसृष्टत्व रूपसे ही अध्यास होता है । [आत्माका वह संसृष्टत्वरूप मिथ्या ही है, स्वरूप ही सत् है । 'अहं स्थूलः, अहं गच्छामि' इत्यादि स्थलोंमें स्थूलत्व और कर्तृत्वादि धर्मोंसे संसृष्ट ही चैतन्यका अध्यास है वह मिथ्या ही है और शुद्ध चैतन्य सत् है] और चेतन और जड़ अर्थात् आत्मा और अनात्माका विशेषरूपसे ज्ञान अधिष्ठानत्व—अध्यासका विषयी होने—का विरोधी है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अधिष्ठानके धर्मरूपसे विशेषकी प्रतीति नहीं होती है। कारण कि देहमें चेतनत्व और आत्मामें अचेतनत्वकी विपरीत प्रतीति होती है । [शङ्का है कि जैसे शुक्ति अधिष्ठान है, उसकी विशेष अंश शुक्तित्वकी प्रतीति नहीं होती है वैसे ही प्रकृतमें आत्मा और अनात्मा दोनों अधिष्ठान हैं, उनके जड़ और चेतन इन दोनों विशेष अंशोंकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए ? समाधान देते हैं कि विशेष अंशके स्फुरणमात्रसे अधिष्ठानत्वका विरोध नहीं है, अन्यथा शुक्ति-रजतस्थलमें भी शुक्तिको अधिष्ठान होनेका अवसर नहीं आता, क्योंकि उस पुरोवर्ती—शुक्तिमें भी रजतत्वरूप विशेष अंशका स्फरण होता ही है । केवल इतना ही अधिष्ठानत्व होनेमें प्रयोजक है, उसका ही यह विशेष अंश है, ऐसी निश्चित प्रतीति नहीं होनी चाहिए । प्रकृतमें 'अहं गच्छामि' इसमें गमनशील शरीरमें कर्तृत्वलक्षण चैतन्यकी प्रतीति होती है, और वस्तुतः चेतन आत्मामें

नन्वादिशब्दोऽनुपपन्नः । अन्तःकरणमात्रे शुद्धस्याऽऽत्मनोऽध्यासात् । इन्द्रियादौ त्वध्यस्तात्मविशिष्टमन्तःकरणमेव सम्बन्ध्यत इति चेत्, सत्यमेवम् तथापि चैतन्यमेवेन्द्रियाद्यवच्छिन्नं प्रकाशते, नान्तःकरणमिति प्रतिभासाभिप्रायेणादिशब्द उक्तः । चैतन्यस्य देहेन्द्रियादावनुस्यूतत्वेन प्रतिभासादेव तत्र लौकायतादीनामात्मभ्रमः । अन्यथा चैतन्याध्यासवत्यन्तःकरणे एव सर्वेषामपि वादिनामात्मत्वभ्रमः स्यान्न तु देहादौ । तदित्थमात्मानात्म-

---

जड़की प्रतीति होती है, इसी भ्रमसे नैयायिक और मीमांसक आदि आत्माको ज्ञानाश्रयत्वेन अनुभवका विषय कहते हैं, स्वप्रकाशरूप चैतन्य नहीं कहते । इस प्रकार विपरीत विशेष अंशकी प्रतीतिमात्रसे अधिष्ठानत्वका विरोध नहीं हो सकता ।] और दोनोंके विशेष अंशकी प्रतीति होनेपर अध्यासका सम्भव नहीं है । यदि कहो कि सामानाधिकरण्यसे अध्यास कहेंगे और वह सामानाधिकरण्य गौण है—यह उचित नहीं है, क्योंकि लोकमें सर्वसाधारण जन अन्तःकरणमें होनेवाली आत्मबुद्धिको गौण नहीं कहते हैं, मुख्य ही कहते हैं । [सामान्य और विशेष, दोनों अंशोकी प्रतीति रहते अध्यास कहना संगत नहीं है, इस अंशका खण्डन करते हैं—] अनुभवमें आनेवाली वस्तुके लिए नहीं कहा जा सकता कि इसकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती । [अनुभवका अपलाप नहीं कर सकते और न अनुभवके बलसे वस्तुका अन्यथाभाव ही हो सकता हैं । आत्मामें 'अहं गच्छामि, जानामि, तिष्ठामि' इत्यादि व्यवहार अनुभवमें आता है, वस्तुतः आत्मा ऐसा नहीं है, अतः उक्त व्यवहारकी उपपत्ति अध्यास द्वारा ही करनी होगी, इससे अनुभवका अपलाप भी नहीं होता और न इससे वस्तुमें ही विपर्यय आता है ।]

अन्तःकरणादि शब्दमें आदि शब्द देना नहीं घटता, क्योंकि अन्तःकरणमात्रमें शुद्ध आत्माका अध्यास होता है । इन्द्रियादिमें तो आत्माके आरोपसे विशिष्ट करणका ही सम्बन्ध—आरोप—होता है, ऐसा कहना यद्यपि सत्य है, [ऐसा ही होता है । जैसा कि 'तत्रापि पूर्वपूर्वाध्यासविशिष्टम्' इत्यादि ग्रन्थसे प्रतिपादन किया गया हैं ।] तथापि इन्द्रियादिसे अवच्छिन्न चैतन्यका ही प्रकाश होता है, अन्तःकरणका नहीं । इस प्रतिभासके अनुसार ही आदिशब्द दिया गया है । [आत्माध्यासविशिष्ट अन्तःकरण ही देहेन्द्रियादिमें अध्यस्त

नोरन्योन्याध्यासे लक्षणसम्भावनासद्भावप्रमाणैरुपपादिते विवदितुं केनाऽपि न शक्यत इति सिद्धम्।

ननु विमतं शास्त्रं सम्भावितविषयप्रयोजनम्, अध्यासात्मकबन्धप्रत्यनीकत्वात्, जाग्रद्बोधवत्, इत्यनुमातुमध्यासो भवता प्रसाधितः। तत्र प्रयोजनं नाम किं कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थनिवृत्तिः किं वाऽनर्थहेतोरविद्यातत्कार्याध्यासस्य निवृत्तिः? नाऽऽद्यः; सति हेतौ निवृत्तस्याऽनर्थस्य पुनरप्युत्पत्तेः।

होता है। और देह, इन्द्रियादिमें आत्मव्यवहार कराता हुआ स्वयं निवृत्त हो जाता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो जैसे 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं काना हूँ' इत्यादि शरीरेन्द्रियमें आत्मसमानाधिकरणसे 'मैं' व्यवहार होता है, वैसे ही अन्तःकरणसमानाधिकरणसे भी अन्तःकरण 'स्थूल या काना है' इत्यादि लौकिक व्यवहार होना चाहिए। 'बुद्धि स्थूल है' यह व्यवहार तो बाह्य इन्द्रियोंके लिए नहीं होता, केवल अन्तःकरणके लिए ही होता है, अतः वह आध्यासिक नहीं है। इससे अन्तःकरणोपाधिक चैतन्यका अध्यास होनेपर भी व्यवहारमें उपाधि निवृत्त हो जाती है, यह तात्पर्य हुआ।] चैतन्यका देहादिमें बराबर सम्बन्ध होनेके कारण ही लौकायतिकोंको उसमें चैतन्यका भ्रम होता है। नहीं तो, चैतन्यके अध्याससे विशिष्ट अन्तःकरणमें ही अन्य सभी वादियोंको भी आत्माका—चैतन्यका—भ्रम होना चाहिए, देह आदिमें नहीं। लक्षण, सम्भावना तथा प्रमाण द्वारा इसप्रकार आत्मा और अनात्माके परस्पर अध्यासके उपपादित होनेपर कोई भी विवाद नहीं कर सकता [कि देहेन्द्रियादि विषयोंमें आत्माका अध्यास नहीं है]। इसप्रकार हमारा ही सिद्धान्त सिद्ध होता है।

शङ्का—विमत शास्त्र [विमत शास्त्रका अर्थात् वेदान्त शास्त्रका विषय—सिद्धब्रह्म—और प्रयोजन—बन्धकी निवृत्ति—माने गये हैं, इसमें दूसरे वादी सम्मति नहीं रखते, इसलिए इसको विमत कहा है] विषय तथा प्रयोजनसे युक्त हो सकता है, अध्यासरूप बन्धका विरोधी होनेसे, जागरणकालके बोधके सदृश, ऐसा अनुमान करनेके लिए ही आपने अध्यासकी सिद्धि की है। उसमें प्रश्न होगा कि क्या कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थोंकी निवृत्ति ही प्रयोजन है? अथवा उक्त अनर्थके कारणभूत अविद्या और उसके कार्य अध्यासकी निवृत्ति? प्रथम प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि निवृत्त हुए अनर्थके कारणकी (अविद्याकी)

न द्वितीयः ; अनादेरध्यासस्य निवृत्त्ययोगात् । शास्त्रप्रामाण्यान्निवृत्तिरिति चेद्, न; प्रत्यक्षविरोधात् । नहि देहादिभ्यो न्यायतो विविक्तेऽप्यात्मनि अध्यासनिवृत्तिं पश्यामः ।

उच्यते—अनादेः प्रागभावस्य भवन्मतसिद्धसंसारहेतोर्निवृत्तिरिवाऽध्यासस्याऽपि निवृत्तिः किं न स्यात् ? अध्यासो न निवर्तते, अनादिभावरूपत्वादात्मवदिति चेद्, नः किं भावरूपत्वं नाम सत्यत्वम् उताऽभाववैलक्षण्यम् ? आद्ये अनिर्वचनीयवादिनां हेत्वसिद्धिः । न द्वितीयः; विमतो ज्ञाननिवर्त्यः, अज्ञानात्मकत्वात्, रजताद्यध्यासवत् । न च पूर्वानुमानेन बाधः, तस्यैवाऽनेन बाध्यत्वात् । यथा सामान्यशास्त्रं विशेषेण बा-

---

उपस्थिति होनेपर पुनः अनर्थकी उत्पत्ति हो सकती है। दूसरा भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनादि अध्यासकी निवृत्ति नहीं हो सकती। शास्त्रोंके प्रमाणसे अनादि अध्यासकी भी निवृत्ति मान लेंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें प्रत्यक्षविरोध है; कारण कि देहादिसे आत्माका युक्तियों द्वारा भेदग्रह कर लेनेपर भी अध्यास निवृत्त हो गया हो, ऐसा नहीं देखते हैं।

समाधान—जैसे आपके (नैयायिक और माध्वादिके) मतमें संसारके कारण अनादि प्रागभावकी निवृत्ति होती है, वैसे ही अनादि अध्यासकी भी निवृत्ति क्यों नहीं होगी ? अध्यासकी निवृत्ति नहीं होती, अनादि होकर भावरूप होनेसे, आत्माके सदृश, [प्रागभाव तो अनादि होते हुए भी अभावरूप है, अतः निवृत्त हो सकता है और अनादि भावरूप तो आत्माके समान नित्य है।] इस अनुमानसे अध्यासकी नित्यता सिद्ध होगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भावरूपत्व सत्यत्व–अबाध्यत्व–रूप है या अभावसे भिन्नत्वरूप है ? प्रथम पक्ष माननेमें हमारे (अनिर्वचनीयवादीके) मतमें हेतुकी असिद्धि है, [हमारे मतमें अध्यास अनिर्वचनीय है, उसमें सत्यत्वरूप भावत्व है ही नहीं।] द्वितीय कल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'विमत–अध्यास–ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है, अज्ञानस्वरूप होनेसे, रजतादि अध्यासके समान' [यह अनुमान अध्यासकी निवृत्तिका बोध कराता है।] पहले अनुमानसे इस अनुमानका बाध भी नहीं होगा, [जिससे वह अनुमानका साधक हेतु सत्प्रतिपक्ष दोषसे दूषित हो] क्योंकि पूर्व अनुमान ही इस अनन्तर कहे गये

ध्यते तथा सामान्यानुमानं विशेषानुमानेन किं न बाध्यते ? ननु निवृत्तिर्नाम स्वोपादानगतोत्तरावस्था, घटस्य मृद्गतकपालरूपत्वप्राप्तेर्निवृत्तित्वाद्; नहि निरुपादानस्याऽविद्याध्यासस्य सा सम्भवतीति चेद्, न; स्वाश्रयगतोत्तरावस्थाया निवृत्तित्वात् । अन्यथा परमाणुगतश्यामत्वादेरनादेरनिवृत्तिप्रसङ्गात् ।

यद्यपि न्यायतो देहादिव्यतिरिक्तात्मनि विज्ञाते तावतैवाऽध्यासनिवृत्तिर्न दृष्टा, तथापि तत्त्वमस्यादिवाक्याद् ब्रह्मरूपत्वावगतावविद्यातत्कार्याध्यासस्य विरोधिनो निवृत्तिर्युज्यते । विरुध्यते हि ब्रह्मविद्यया ब्रह्मावरणाज्ञानं तत्कार्यं च । देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानेन तु देहात्मत्वं विरुध्यत इति तस्यैव

अनुमानसे बाधित होता है। [इसमें विनिगमक दिखलाते हैं—] जैसे सामान्य शास्त्र विशेष शास्त्रसे बाधित होता है, वैसे ही सामान्य अनुमान भी विशेष अनुमानसे क्यों न बाधित हो ? [आपके पूर्व अनुमानमें 'अनादि पदार्थ निवृत्त नहीं होता' यह सामान्य व्याप्ति है, और हमारे अनुमानमें 'अनादि अज्ञान ज्ञानसे निवृत्त होता है' यह विशेष व्याप्ति है। अतः हमारा ही अनुमान बाधक होगा]। अपने उपादानमें—समवायिकारणमें—उसकी अगली अवस्था ही, निवृत्तिपदार्थ है, जैसे घटकी निवृत्ति उसके उपादानभूत मिट्टीमें हुई कपालरूप दूसरी अवस्था ही है, जिसका कोई उपादान नहीं है, ऐसे अविद्याध्यासकी वह उक्त लक्षण निवृत्ति नहीं हो सकती, यह पूर्वपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अपने आश्रयमें होनेवाली दूसरी अवस्था ही निवृत्तिपदार्थ है। यदि ऐसा न मानो, तो परमाणुमें विद्यमान अनादि श्यामत्वादि गुणकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी; क्योंकि श्यामत्वका परमाणु आश्रय है, उपादान नहीं।

यद्यपि युक्तियोंसे आत्मा देहादिसे भिन्न है, यह जान लेनेपर ही अध्यासकी निवृत्ति नहीं देखी जाती, तथापि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे ब्रह्मात्मैक्यका साक्षात्कार होनेसे विरोधीकी—अविद्या और उसके अध्यासस्वरूप कार्यकी—निवृत्ति होना संगत ही है, क्योंकि ब्रह्मविद्यासे—ब्रह्मके ज्ञानसे—ब्रह्मको आवृत करनेवाले अज्ञान तथा अज्ञानके कार्य अध्यासका विरोध सिद्ध ही है। आत्मा और देहमें भेदके ज्ञानसे देहको आत्मरूप मानना ही विरुद्ध है, इसलिए

तेन निवृत्तिः । यद्यप्यहंप्रत्यये भासमानश्चिदात्मा ब्रह्मैव, तथापि ब्रह्माकारेण न भासत इति नाऽहंप्रत्ययो ब्रह्मविद्या । यौक्तिकज्ञानस्य कथंचिद् ब्रह्मगोचरत्वेऽप्यप्रमाणत्वात् परोक्षत्वाद्वा नाऽपरोक्षाध्यासनिवर्त्तकत्वम् । ततो वेदान्तवाक्यजन्यब्रह्मावगमादेवाऽध्यासनिवृत्तिः ।

ननु नाऽध्यासनिवृत्तिमात्रं शास्त्रप्रयोजनम्, किन्त्वानन्दावाप्तिरपीति चेत्, सत्यम्; तथापि जीवब्रह्मणोरेकत्वलक्षणे विषये निर्दिष्टे सति जीवस्याऽऽनन्दावाप्तिरपि विषयान्तःपातितया साक्षाल्लभ्यते । 'आनन्दो ब्रह्म' इति श्रुत्या ब्रह्मण एवाऽऽनन्दरूपत्वात् । प्रयोजनत्वं चाऽऽनन्दावाप्तेः पुरुषाकाङ्क्षाविषयत्वादेव प्रसिद्धम्, अतो नाऽसौ प्रयोजनत्वेन पृथङ् निर्देष्टव्या ।

देहसे भिन्न आत्मा है, इस ज्ञानसे देहात्मवादकी ही निवृत्ति होगी [अध्यासकी नहीं]। यद्यपि अहम् (मैं) इस बुद्धिमें चिदात्मा ब्रह्मका ही प्रकाश होता है, तथापि [उक्त प्रत्ययमें] ब्रह्माकारसे [चिदात्माका] भान नहीं होता, इसलिए 'अहम्' (मैं) बुद्धि ब्रह्मविद्या नहीं कही जा सकती। यद्यपि विचार करनेसे उत्पन्न हुआ (युक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ) 'अहम्' ज्ञान किसी तरह ब्रह्मको विषय करता है, तथापि वेदान्त आदि प्रमाणसे जन्य न होनेसे तथा परोक्ष होनेसे वह अपरोक्ष अध्यासकी निवृत्ति नहीं करा सकता, [क्योंकि यादृश ज्ञान होगा, तादृश ही अज्ञान निवृत्त होगा] इससे वेदान्तवाक्योंके द्वारा मनन और निदिध्यासनके अनन्तर ब्रह्मके साक्षात्कारसे ही अध्यासकी निवृत्ति होती है।

अध्यासकी निवृत्ति ही शास्त्रका प्रयोजन नहीं हो सकता, किन्तु आनन्दप्राप्ति भी है, उसका भी पृथक् निर्देश करना चाहिए, इस शङ्काका उत्तर देते हैं कि ठीक है, यह भी प्रयोजन हो सकता है, तथापि जीवब्रह्मैक्यस्वरूप विषयका निर्देश कर देनेसे जीवको आनन्द प्राप्त होना भी साक्षात् विषयकोटिमें आ ही जाता है, क्योंकि 'आनन्दो ब्रह्म' (आनन्दरूप ब्रह्म है) इस श्रुतिसे ब्रह्म आनन्दरूप ही माना गया है। और आनन्दप्राप्तिको प्रयोजन मानना तो मनुष्यकी आकाङ्क्षाका (उत्कट इच्छाका) विषय होनेसे ही है। इसलिए आनन्दप्राप्तिको प्रयोजनकोटिमें पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

[उपर्युक्त कथनसे विषय प्रयोजन होता ही है, इससे—विषयप्रतिपादनसे—ही प्रयोजनका प्रतिपादन हो जाता है, अतः उसका पृथक् प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता

तर्ह्यध्यासनिवृत्तिरपि न पृथग् निर्देष्टव्या, शास्त्रविषयत्वात्, आनन्दावाप्तिवदिति चेद्, मैवम्; किमियमध्यासनिवृत्तिः शास्त्रस्य स्वातन्त्र्येण विषय उत ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणे विषयेऽन्तर्भविष्यति? नाऽऽद्यः; ब्रह्मात्मैकत्वस्यैव शास्त्रप्रतिपाद्यत्वात्। 'भूयश्चाऽन्ते विश्वमायानिवृत्तिः' 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्येवमादिफलवाक्यैः स्वब्रह्मात्मैकत्वावगतिसामर्थ्यलभ्यैवाऽध्यासनिवृत्तिरनूद्यते। न द्वितीयः; ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादकैस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैरध्यासनिवृत्तेरविषयीकृतत्वात्। ब्रह्मगतसप्रपञ्चत्वस्य जीवगताऽविद्यातत्कार्ययोश्च निवृत्तिमन्तरेण तत्त्वमस्यादिवाक्योक्तमप्यैक्यं नोपपद्यत इति चेद्, आयातं तर्ह्यस्मदुक्तं साम-

---

नहीं होती, इस आपके सिद्धान्तके अनुसार अनर्थनिवृत्ति शास्त्रके विषयसे पृथक् है, यह कहना प्राप्त नहीं होता; इस आशयसे शङ्का करते हैं—] अध्यासकी निवृत्तिको [प्रयोजनकोटिमें] पृथक् नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आनन्दकी प्राप्तिके तुल्य यह दुःखकी निवृत्ति भी शास्त्रका ही विषय है। [समाधान करते हैं—] ऐसा नहीं। क्या अध्यासनिवृत्ति स्वतन्त्ररूपसे शास्त्रकी विषय होगी या ब्रह्मजीवके अभेदस्वरूप विषयमें उसका भी अन्तर्भाव होगा? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म और जीवका ऐक्य ही शास्त्रका प्रतिपादनीय विषय है। 'अन्तमें विश्वमायाकी सर्वथा निवृत्ति होती है' तथा 'हृदयकी गाँठ—चिदचिद्का अविवेकात्मक अहङ्कार—छिन्न-भिन्न हो जाती है' इत्यादि फलके सूचक वेदवाक्योंसे अपने—जीव और ब्रह्मके—एकत्वका (अभेदका) बोध होनेसे प्रतीत होनेवाली अध्यासकी निवृत्तिका अनुवाद किया जाता है। [उसका स्वातन्त्र्येण निर्देश नहीं है]। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म और आत्मा—जीव—के ऐक्यके बोधक 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यका अध्यासकी निवृत्ति विषय नहीं है। ब्रह्ममें सप्रपञ्चत्व—ब्रह्ममें प्रपञ्चका प्रकाश होना—और जीवमें विद्यमान अविद्या तथा उसका कार्य अध्यास, इन दोनोंकी निवत्ति हुए बिना 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे प्रतिपादित ऐक्य—अभेद—भी उपपन्न नहीं हो सकता है [इससे श्रुतिवाक्योंसे निवृत्तिका भी प्रतिपादन हो ही गया], यदि ऐसा मानो, तो हमारा ही सिद्धान्त आ गया कि अविद्यादिकी निवृत्ति सामर्थ्यसे प्रतीत होती है। [साक्षात् स्वातन्त्र्यसे नहीं]। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंमें यद्यपि अध्यासकी निवृत्ति अर्थात् प्रतीत होती है तथापि 'अस्थूलमनणु०' (स्थूल नहीं, अणु नहीं) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें तो

र्थ्यलभ्यत्वमविद्यानिवृत्तेः। तत्त्वमस्यादिमहावाक्येष्वध्यासनिवृत्तेरर्थलभ्यत्वेऽप्यस्थूलमनण्वित्यवान्तरवाक्येषु साक्षात् सा प्रतिपाद्यत इति चेत्? मैवम्, नह्यत्र ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण मोक्षावस्थायां निष्पत्स्यमाना बन्धनिवृत्तिरस्थूलादिशब्दार्थः, किं तर्हि स्वतोऽसङ्गस्य ब्रह्मणः कालत्रयेऽपि स्वाभाविकं यन्निष्प्रपञ्चस्वरूपं तदेवाऽस्थूलादिशब्दैः प्रतिपाद्यते। प्रतिपादिते हि तस्मिन्पश्चान्महावाक्येन ब्रह्मात्मत्वं साक्षात्कर्त्तुं जीवः शक्नुयान्न पुनरन्यथा, ब्रह्मपदार्थस्यालौकिकत्वात्। न च ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चत्वप्रतिपादनेन सप्रपञ्चत्वग्राहकप्रमाणविरोधः, तादृशप्रमाणस्यैवाऽभावात्। प्रत्यक्षादीनां प्रपञ्चगोचरत्वेऽपि ब्रह्माग्राहित्वेन तदुभयसम्बन्धाबोधकत्वात्। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिवाक्यानि च न ब्रह्मणः सर्वप्रपञ्चात्मत्वं प्रतिपादयन्ति, सर्वोपादानतयैव तत्सिद्धेः; किं तर्ह्यन्यतः सिद्धमेव तदनूद्य निष्प्रपञ्चत्वप्रति-

वह साक्षात्—शब्दों द्वारा ही—कही गई है, ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त श्रुतिवाक्योंमें अस्थूलादि शब्दोंसे ब्रह्मसाक्षात्कार होनेसे मोक्षावस्थामें उत्पन्न होनेवाली बन्धनिवृत्तिको नहीं समझना चाहिए; किन्तु स्वतः (उपाधि दोषके बिना) सङ्गवर्जित ब्रह्मका जो स्वभावसिद्ध (निरुपाधिक) प्रपञ्चशून्यत्व-स्वरूप है, उसको ही समझना चाहिए। उस स्वाभाविक स्वरूपका प्रतिपादन करनेके अनन्तर 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंसे जीव अपने ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो सकता है; इसके बिना नहीं, क्योंकि ब्रह्मपदार्थ लौकिक नहीं है। यदि ब्रह्मको प्रपञ्चशून्य मानो, तो उसमें सप्रपञ्चत्वके बोधक प्रमाणोंसे विरोध आ जायगा, ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि इसमें प्रमाणका अभाव है। प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रपञ्चको विषय करते हैं, वे ब्रह्मको विषय नहीं कर सकते, इसलिए उन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे प्रपञ्च तथा ब्रह्म दोनोंके सम्बन्धका बोध नहीं हो सकता। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (जो यह सब कुछ प्रपञ्च है, वह आत्मा ही है) इत्यादि वाक्य भी ब्रह्मको सकलप्रपञ्चस्वरूप नहीं कहते; क्योंकि वह सर्वात्मकता तो सबका [विवर्तात्मक] उपादान होनेसे भी हो सकती है। किन्तु दूसरे शास्त्रसे और प्रत्यक्षादिसे सिद्ध प्रपञ्चका अनुवाद करके [उक्त वाक्य] ब्रह्ममें प्रपञ्चराहित्यके प्रतिपादक वाक्योंसे अपेक्षित निषेध्यके समर्पक होनेके कारण वाक्यैकवाक्यता*को प्राप्त होते हैं,

* 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि निषेधवाक्यका बोध 'नाना' पदार्थके ज्ञानके अधीन है,

पादकवाक्यापेक्षितनिषेध्यसमर्पकतया वाक्यैकवाक्यतां प्रतिपद्यन्ते। अन्यथा पुरुषार्थभूतनिष्प्रपञ्चत्वविरुद्धमपुरुषार्थभूतं सप्रपञ्चत्वं कथं प्रतिपादयेयुः। निष्प्रपञ्चसप्रपञ्चत्वयोः पुरुषार्थत्वापुरुषार्थत्वे सुषुप्तजागरयोर्दृष्टे श्रुतिसिद्धे च। न च सप्रपञ्चत्वानुवादेन निष्प्रपञ्चत्वप्रमितिर्बाध्यते, अनुवादस्याऽनुवादत्वेन निष्प्रपञ्चप्रमित्यर्थतया चाऽत्र दुर्बलत्वात्।

नन्वप्राप्तं प्रपञ्चं ब्रह्मणि सप्रपञ्चवाक्यैः प्रापय्य पुनस्तन्निषेधोऽनर्थक

अन्यथा उक्त वाक्य पुरुषार्थभूत प्रपञ्चराहित्यके विरोधी सप्रपञ्चत्वका कैसे प्रतिपादन करते? निष्प्रपञ्चत्व और सप्रपञ्चत्वका पुरुषार्थत्व और अपुरुषार्थत्व सुषुप्त और जागरणमें देखा गया है, और ये श्रुतिसे भी सिद्ध हैं। [जागरणमें प्रपञ्च देखा गया है, उसको पुरुषार्थ नहीं मान सकते, क्योंकि वह दुःख-मिश्रित है। स्वर्गादि प्रपञ्च भी विनाशी होनेसे पुरुषार्थ नहीं है और सुषुप्तमें प्रपञ्च नहीं है और निरतिशय सुख रहता है, अतएव प्रपञ्चराहित्यरूप पुरुषार्थ उस कालमें है। एवम् 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्........निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' इत्यादि श्रुतियाँ निष्प्रपञ्चताको पुरुषार्थ बतलाती है।]

सप्रपञ्चत्वके अनुवादसे निष्प्रपञ्चत्वकी प्रमा बाधित हो जायगी, यह नहीं कह सकते, क्योंकि [अबाधित ज्ञानको ही प्रमा कहते हैं और जहांपर तद्वत्ताका निश्चय है, वहांपर तदभाववत्ता बुद्धि बाधित होती है, इसलिए तद्वत्ताके निश्चयके अनन्तर तदभाववत्ताकी प्रमा नहीं हो सकती, किन्तु आहार्य ज्ञान ही होगा] अनुवाद होनेसे तथा निष्प्रपञ्चकी प्रमाका अङ्ग—उपकारक—होनेसे अनुवाद दुर्बल है। [अनुवाद विधेयका बाध नहीं कर सकता, अन्यथा उसका अनुवादत्व ही नहीं बनेगा, प्रत्युत विधेय तो अनुवादका बाध कर सकता है, जैसे इक्के अनुवादसे विधीयमान यण्। और यह पहले ही सिद्ध किया गया है कि निषेधप्रमाके लिए निषेध्यका अनुवाद करना आवश्यक होता है और प्रमाणान्तराभासोंसे सिद्धका भी अनुवाद हो सकता है। प्रमाणसिद्धकी ही प्रमिति होगी, इससे भी अनुवाद दुर्बल है।]

शङ्का—ब्रह्ममें प्रपञ्च तो प्राप्त ही नहीं है, अतः प्रपञ्च दिखानेवाले वाक्योंसे

इसलिए इन वाक्योंको 'नाना' पदार्थके बोधक 'इदं सर्वम्' इत्यादि वाक्योंकी अपेक्षा होनेसे दोनोंका उपजीव्य और उपजीवकभाव होता है, इसीको वाक्यैकवाक्यता कहते हैं।

एव, प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति न्यायात् ।

नैष दोषः, अद्वितीयत्वप्रतिपादनपरश्रुत्युक्तसर्वोपादानत्वसामर्थ्यादेव प्राप्तः प्रपञ्चो यद्यनूद्य न निषिध्यते तदा नाऽद्वितीयत्वं ब्रह्मणः सिध्येत् । तच्च श्रुतसामर्थ्यं सप्रपञ्चत्वस्य प्रापकमेव न प्रमापकम्, साक्षान्निषेधश्रुत्या विरोधे श्रुतसामर्थ्यस्य दौर्बल्यात् । दुर्बलस्याऽपि यावद्बाधं शुक्तिरजतादिज्ञानवत् प्रापकत्वमविरुद्धम् । अन्यथा बाधानुपपत्तेः । प्राप्तमेव हि सर्वत्र बलवत्प्रमाणेन बाध्यते नाऽप्राप्तं नाऽपि

ब्रह्ममें प्रपञ्चकी प्राप्ति कराकर फिर उसका निषेध करना व्यर्थ है, क्योंकि न्याय है—'कीचड़में हाथ सानकर उसके धोनेकी अपेक्षा कीचड़का स्पर्श न करना ही अच्छा है'।

समाधान—यह दोष नहीं आता, क्योंकि अद्वितीयत्वके प्रतिपादनमें तात्पर्य-वाली श्रुतिसे कहा गया है कि ब्रह्म सकल प्रपञ्चका उपादान है, इससे ही ब्रह्ममें प्रपञ्च प्राप्त है। [जैसे घटके उपादान मिट्टीमें घट प्राप्त है वैसे ही सर्व-प्रपञ्चोपादान ब्रह्ममें भी सब प्रपञ्च प्राप्त ही है।] यदि इसप्रकार प्राप्त हुए प्रपञ्चका अनुवाद करके निषेध न किया जाय, तो ब्रह्मकी अद्वितीयता सिद्ध न हो सकेगी। [यदि श्रुतिसे सप्रपञ्चत्वरूप अर्थके बलसे ब्रह्ममें प्रपञ्चका सम्बन्ध आता है, तो वह प्रमाणसिद्ध हो गया। प्रमाणसिद्धका बाध नहीं होता, इस आशङ्काका समाधान करते हैं—] वह श्रुतिप्रतिपादित (सप्रपञ्चत्वरूप) अर्थका सामर्थ्य (ब्रह्ममें प्रपञ्चका) प्रापकमात्र है, प्रमाजनक प्रमाण नहीं है, क्योंकि 'नेह नानाऽस्ति' इत्यादि साक्षात् निषेधश्रुतिसे विरोध होनेपर श्रुत अर्थका सामर्थ्य दुर्बल है। [अतएव बाधित होनेसे प्रमाका जनक नहीं हो सकता, बाध्यमान भी प्रापक होता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—] जबतक बाध न हो तबतक दुर्बलको भी शुक्ति-रजतादिज्ञानके तुल्य प्रापक होनेमें कोई विरोध नहीं है, अन्यथा बाधकी ही उपपत्ति न होगी, क्योंकि जो प्राप्त है, उसका ही सर्वत्र बाध होता है। जो प्राप्त नहीं है, या जो प्रमाणसिद्ध है उन दोनोंका बाध नहीं होता। [इसलिए बाधकी उपपत्तिके लिए दुर्बलको भी प्रापक मानना ही पड़ता है। प्रपञ्चप्रापक वाक्योंके निषेध वाक्यके अर्थोंका उपयोगी होनेसे

प्रमितम् । न च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्युपासनाप्रकरणपठितवाक्यानि सप्रपञ्चं ब्रह्म प्रमापयन्ति, अन्यपराणां तेषां तात्पर्योपेतनिष्प्रपञ्चवाक्यबाधितत्वात् । आरोपितरूपेणाऽप्युपासनोपपत्तेः । आरोपोऽपि नाऽत्यन्तमप्राप्तस्य सम्भवतीति चेद्, न; सृष्टिवाक्यैरद्वितीयत्वप्रतिपत्तये निषेध्यसमर्पकैः प्रापितत्वात् । तस्मात् निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रमितौ न कश्चिद्विरोधः ।

तथापि तादृशं ब्रह्म कर्तृत्वादिप्रपञ्चोपेतस्य जीवस्य कथमात्मा स्यात् ?

उच्यते—न तावज्जीवे कर्तृत्वादिप्रपञ्चोऽनुमानादिगम्यः; अपरोक्षत्वात् । नाऽपि चक्षुरादिगम्यः; जीवस्य बाह्येन्द्रियाविषयत्वेन तन्निष्ठ-

---

स्वार्थबोधकत्व नहीं हो सकता, यह मान लिया, परन्तु उपासनावाक्य तो प्रपञ्चमें प्रमाण होंगे, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब कुछ प्रपञ्च ब्रह्म ही है) इत्यादि उपासनाके प्रकरणमें पढ़े गये वाक्य ब्रह्ममें प्रपञ्चके सम्बन्धमें प्रमाण होंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य—स्वार्थसे भिन्न—अर्थ (उपासनादिरूप) में तात्पर्य रखनेवाले 'सर्वं खल्विदम्' इत्यादि वाक्योंका अपने ही स्वार्थमें तात्पर्य रखनेवाले (प्रपञ्चका निषेध करनेवाले) वाक्योंसे बाध हो जाता है। और आरोपितरूपसे भी उपासनाकी उपपत्ति हो सकती है । अत्यन्त अप्राप्त रूपका आरोप भी तो नहीं हो सकता, ऐसी भी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि ब्रह्ममें अद्वितीयत्वका बोधन करनेके लिए निषेधके प्रतियोगीके बोधक सृष्टिवाक्योंसे वह प्राप्त है । इससे प्रपञ्चशून्य ब्रह्मकी प्रमामें कोई भी विरोध नहीं है ।

शङ्का—तथापि अर्थात् ब्रह्मको प्रपञ्चरहित मान भी लिया तो भी ऐसा—प्रपञ्चशून्य—ब्रह्म कर्तृत्व आदि प्रपञ्चसे विशिष्ट जीवका स्वरूपभूत कैसे हो सकता है ?

समाधान—जीवमें कर्तृत्व आदि प्रपञ्च अनुमानसे नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है । चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि जीवके बाहिरी चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषय न होनेसे उसमें विद्यमान कर्तृत्व आदि प्रपञ्च भी बाह्य इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता । अन्तःकरणसे भी नहीं

कर्तृत्वादेरपि तथात्वात् । नाऽपि मनोगम्यः, प्रमाणाभावात् । अन्वय-व्यतिरेकौ तु मनसः कर्तृत्वाद्युपादानतयाऽप्युपपन्नौ, आत्मन एव कर्तृत्वाद्युपादानत्वकल्पनेऽपि मनसः कर्तृत्वादिप्रत्यायकत्वं नाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धम्, व्यतिरेकस्य संदिग्धत्वात् । यत्र मनो नाऽस्ति न तत्र कर्तृत्वादिप्रतिभासो यथा सुषुप्ताविति हि व्यतिरेको वाच्यः, स च संदिग्धः, सुषुप्तौ कर्तृत्वादेरनवभासः किं मनसोऽसत्त्वात् किं वा स्वयमसत्त्वादित्यनिर्णयात् । न चैवं कर्तृत्वादेः प्रत्यायकाभावः शङ्कनीयः, साक्षिणः प्रत्यायकत्वात् ।

यत्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषसुखदुःखादयोऽपि आत्मनि स्वयंप्रकाशा

जाना जा सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । मनके कर्तृत्वादिके अन्वय और व्यतिरेक मनके ही कर्तृत्वादिका उपादान होनेसे सङ्गत हो सकते हैं, [अर्थात् अन्तःकरणके रहते ही कर्तृत्व आदि प्रपञ्च जीवमें भासित होता है, उसके बिना नहीं, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे जीवमें प्रपञ्चका ज्ञान मानसिक होगा, यह वादीका तात्पर्य है । सिद्धान्ती उक्त अन्वय और व्यतिरेकसे कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका मन ही उपादान है, ऐसा सिद्ध करता है—] इससे विपरीत आत्मा—जीव—को ही कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका उपादान मानने की कल्पना करनेपर मन कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका बोध कराता है, यह अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध भी नहीं होता, क्योंकि यहां व्यतिरेकमें संदेह है । [संदेहका उपपादन करते हैं—] 'जिस दशामें मन नहीं है, उस दशामें कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका बोध भी नहीं होता, जैसे सुषुप्ति अवस्थामें' इस प्रकार आप व्यतिरेकव्याप्ति दिखलायेंगे, वह व्यतिरेक संदेहयुक्त है, क्योंकि सुषुप्तिमें कर्तृत्व आदिकी प्रतीति न होना क्या मनके अभावसे है ? या स्वयं कर्तृत्व आदिके ही अभावसे है ? इसका निर्णय नहीं हो सकता । और ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि कर्तृत्व आदिका बोध करानेवाला कोई है ही नहीं, क्योंकि साक्षी उसका बोध करानेवाला विद्यमान है ।

अन्य वादियोंके मतको दिखलाकर उनका खण्डन करते हैं—बौद्धोंका कहना है—कर्तृत्व, भोक्तृत्व, राग, द्वेष, सुख और दुःख आदि प्रपञ्च आत्मा—जीव—में स्वयं प्रकाशित होता है । ऐसी ही कल्पना जरन्मीमांसक (प्रभाकरानुयायी) भी

इति बौद्धा जरत्प्राभाकराश्च कल्पयन्ति, न तद्युक्तम् ; यदि कर्तृत्वादीनां द्रव्यत्वं तदा प्रत्येकं प्रकाशगुणकल्पनादात्मप्रकाशस्यैव तत्प्रत्यायकत्व-कल्पनं लघीयः। यदि च तेषां गुणत्वं तदा तेषु प्रकाशगुण एव न सम्भवति, गुणस्य गुणान्तराभावात्। कर्तृत्वादय एव प्रकाशरूपगुणा इति चेत्, तर्हि तेषामादित्यादिप्रकाशवत्स्वाश्रयोपाधावुत्पत्तिर्न स्यात्। न च कर्तृत्वादेः स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकाभावेन स्वप्रकाशत्वं कल्पयितुं शक्यम्, नित्यात्मप्रकाशसंसर्गादपि तदुपपत्तेः। सन्तु तर्हि साक्षिवेद्या एव कर्तृत्वादयस्तथापि ते सत्या इति चेद्, न; प्रमाणाप्रमाणसाधारणस्य साक्षिणो विषयसत्यत्वमिथ्यात्वयोस्ताटस्थ्यात्। तत्सत्यत्वकल्पने चाऽस-

---

करते हैं। इनकी यह कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व आदि प्रपञ्च यदि द्रव्य माना जाय, तो सबमें ही प्रकाशात्मक गुण मानना होगा [इससे प्रकाश गुणवाले अनेक द्रव्य होंगे] इसकी अपेक्षा एक आत्माको ही प्रकाश गुणवाला मानकर उसके ही प्रकाशसे कर्तृत्व आदि सब प्रपञ्चका प्रकाश माननेमें लाघव है। यदि वे कर्तृत्व आदि गुण माने जायँ, तो उनमें प्रकाशात्मक गुणका सम्भव नहीं है, क्योंकि गुणमें गुण नहीं माना गया है। यदि कर्तृत्व आदि सभी गुण प्रकाशात्मक हैं, ऐसा मानो, तो उनकी सूर्य आदिके प्रकाशके तुल्य अपने आश्रयरूप उपाधिमें उत्पत्ति नहीं होगी। [क्योंकि कर्तृत्वादि तथा सुखादि अपने आश्रयमें उत्पन्न होते हैं और सूर्यादि प्रकाश अपने आश्रयमें उत्पन्न नहीं होते, इससे यही सिद्ध होता है कि कर्तृत्वादि प्रकाशात्मक गुण नहीं हैं]। कर्तृत्व आदि प्रपञ्च अपनी सत्तामें प्रकाशसे रहित नहीं है, इससे उनको स्वप्रकाश माननेकी कल्पना हो सकती है, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माके नित्य प्रकाशके साथ सम्बन्ध होनेसे भी उनके प्रकाशकी उपपत्ति हो सकती है। अच्छा यदि कर्तृत्व आदि प्रपञ्चको साक्षिवेद्य—साक्षीके द्वारा प्रकाशित होनेवाला—मान भी लिया जाय, तो भी उनको सत्य मानना चाहिए (मिथ्या नहीं), ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमाणाप्रमाणसाधारण साक्षी विषयके सत्यत्व तथा मिथ्यात्वमें उदासीन रहता है। [प्रमाणसिद्ध तथा भ्रमात्मक—प्रतिभासमात्रसिद्ध—वस्तु मात्रको साक्षी सर्वथा प्रकाश कर ही देता है, अतः वह विषयमें सत्यत्व तथा

ङ्गत्वश्रुतिव्याकोपात् । इन्द्रो मायाभिरिति सर्वसंसारधर्माणां मिथ्यात्व श्रवणात् ।

तदेवम् 'अस्थूलमनणु' 'न जायते म्रियते' इत्याद्यवान्तरवाक्यानि महावाक्यापेक्षितौ वस्तुतो निष्प्रपञ्चौ चिन्मात्ररूपौ तत्त्वंपदार्थौ समर्पयन्ति, न त्वध्यासनिवृत्तिं प्रतिपादयन्ति ।

ननु तर्ह्यवान्तरवाक्यसमर्पितौ स्वाभाविकप्रपञ्चरहितौ तत्त्वंपदार्थावेवोपजीव्य महावाक्येनैकत्वं प्रतिपाद्यत इत्यध्यासनिवृत्तिमन्तरेणाऽनुपपत्त्यभावादार्थिकत्वमपि तस्या अविद्यानिवृत्तेस्तत्प्रतिभासस्य च कथमिति चेद् ?

मिथ्यात्वका कल्पक नहीं हो सकता]। यदि आग्रहसे कर्तृत्व आदि प्रपञ्च सत्य मान लिया जाय, तो ब्रह्मके असङ्गत्वका बोधन करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध होगा। कारण कि 'इन्द्रो मायाभिः *' इत्यादि श्रुतिसे सब संसारके धर्मोंका मिथ्या होना दिखलाया गया है।

इसी तरह 'स्थूल नहीं अणु नहीं, न उत्पन्न होता है और न मरता ही है' इत्याद्यर्थक अवान्तर वाक्य महावाक्योंसे अपेक्षित वस्तुतः प्रपञ्चशून्य केवल चिद्रूप तत् और त्वं पदार्थका ही बोधन करते हैं, अध्यासकी निवृत्तिका प्रतिपादन नहीं करते।

शङ्का—पूर्वोक्त रीतिसे 'अस्थूलमनणु' इत्यादि अवान्तर वाक्योंसे उपस्थित कराये गये प्रपञ्चशून्य केवल चिन्मात्र तत् और त्वं पदार्थका आश्रयण करके ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंसे एकत्वका प्रतिपादन होता है, ऐसा सिद्धान्त हुआ, इस सिद्धान्तकी अनुपपत्ति अध्यासकी निवृत्तिके बिना भी नहीं है, अर्थात् अध्यासके निवृत्त न होनेपर भी उक्त सिद्धान्तकी उपपत्ति हो सकती है तब ऐक्यकी अन्यथानुपपत्तिसे अध्यासकी निवृत्ति तथा अध्यासनिवृत्तिका प्रतिभास ये दोनों अर्थात् सिद्ध कैसे हो सकते हैं ?

---

* 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (इन्द्र मायाके कारण अनेकरूप होता है) अर्थात् ईश्वर-ब्रह्म आत्मा ही मायाशबलित होकर, शुक्तिको न जाननेसे रजताकार प्रतिभासकी तरह, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अथ च घट-पटादि प्रपञ्चाकारसे परिणत हुआ प्रतिभासित होता है, इससे सकल प्रपञ्च मिथ्या बतलाया गया है।

उच्यते—एकत्वगोचरस्तत्त्वबोधो विरोधिनमविद्यातत्कार्याध्यासं निवर्त्तयन्नेवोदेति, शुक्तितत्त्वावबोधे तथादर्शनात्। नेदं रजतमिति निषेधकज्ञानं तत्राऽध्यासनिवर्त्तकमिति चेद्, मैवम्; निषेधः परमार्थरजतगोचर इत्यख्यातिवादे प्रतिपादितत्वात्। स च रजतनिषेधः परमार्थरजतार्थिनः प्रवृत्त्याकाङ्क्षामुच्छिन्दन्नध्यासबाधकत्वेनोपचर्यते। साक्षादध्यासबाधस्तु शुक्तिज्ञानेनैवेत्यनिर्वचनीयख्यातौ बाधविचारेऽभिहितम्। न च वाच्यं शुक्तिज्ञानं शुक्तितत्त्वप्रत्यायन एव व्याप्रियते नाऽध्यासनिवृत्ताविति, आर्थिकार्थस्य तत्र निरपेक्षत्वात्। तथाहि—लोके तुलया सुवर्णं संमिमानस्य सुवर्णकारस्य हस्तस्तुलाया उन्नमन एव प्रयतते। तत्रैकभागस्याऽवन-

---

समाधान— जैसे शुक्तितत्त्वका साक्षात्कार रजताध्यासका निवर्तक ही होता है, ऐसा देखा गया है, वैसे ही ऐक्यको (अभेदको) विषय करनेवाला ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार भी विरोधी अविद्या तथा उसके कार्य अध्यासको निवृत्त करता हुआ ही उदित होता है। ऐसा नहीं कह सकते कि शुक्तिसाक्षात्कारस्थलमें 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस प्रकार निषध करनेवाला ज्ञान अध्यासकी निवृत्ति करता है; क्योंकि उक्त निषेध परमार्थरजतका निषेध करता है। इसका अख्यातिवादके अवसरपर प्रतिपादन कर आये हैं। वह रजतका निषेध परमार्थ रजतको चाहनेवाले पुरुषकी प्रवृत्ति करानेवाली उत्कृष्ट इच्छाको नष्ट करता है, इतनेसे ही उस निषेधको उपचारतः अध्यासका बाधक माना गया है, साक्षात् नहीं। अध्यासका साक्षात् बाध तो शुक्तितत्त्वके साक्षात्कारसे ही होता है। इसका निरूपण अनिर्वचनीयख्यातिका प्रतिपादन करते हुए बाधके विचारके अवसरपर कह आये हैं। और यह नहीं कहा जा सकता कि शुक्तिका ज्ञान शुक्तितत्त्वके प्रकाशमें ही उपयुक्त हो जाता है, अध्यासकी निवृत्ति करानेमें उसका व्यापार नहीं रहता, क्योंकि अर्थात् सिद्ध हुए विषयको [अपनी सिद्धिमें] अन्य यत्नकी आवश्यकता नहीं होती। इसमें लोकसिद्ध दृष्टान्त देते हैं, क्योंकि तराजूसे सोनेको तौलनेमें प्रवृत्त हुए सुनारका हाथ केवल तुलाके उठानेमें ही अपना व्यापार करता है। उस तुलामें एक भागका नीचे जाना नान्तरीयक (अपने आप ही होनेवाला) है, उसमें

मनं नाऽन्तरीयकं न तु तत्र हस्तः प्रयतते। शास्त्रेषु च नाऽन्तरीयकसिद्धा अर्थाः प्रयत्ननिरपेक्षाः सर्वत्र प्रसिद्धाः।

ननु यत्र वाक्याद्बाधस्तत्र नेदं रजमिति वाक्यस्य परमार्थरजतविषयत्वाच्छुक्तिकेयमिति वाक्यस्य चाऽध्यासनिरासप्रतिपादने सामर्थ्याभावात् तन्निवृत्तिप्रतिभासो नान्तरीयकोऽस्तु, यत्र पुनः प्रत्यक्षं बाधकं तत्र कथं नाऽन्तरीयकतयाऽध्यासनिवृत्तिप्रतिभास इति चेद्, उच्यते--न तावत्तत्रा-

---

हाथ कोई व्यापार नहीं करता। और शास्त्रोंमें भी—अपने आप ही सिद्ध हो जानेवाले पदार्थ प्रयत्नकी—व्यापारविशेषकी—अपेक्षा नहीं रखते हैं, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है।

जहांपर वाक्य द्वारा बाध होता है, वहांपर 'यह रजत नहीं है' इस वाक्यका सत्य रजत विषय है, और 'यह शुक्ति है' इस वाक्यकी अध्यासकी निवृत्तिमें सामर्थ्य नहीं है, इसलिए अध्यासकी निवृत्तिकी प्रतीति नान्तरीयक—अपने आप सिद्ध—हो सकती है, क्योंकि 'नेदं रजतम्' अथवा 'शुक्तिकेयम्'—ये दोनों वाक्य साक्षात् अध्यासकी निवृत्तिका बोधन नहीं करते अर्थात् पूर्व वाक्य सत्य रजतका निषेध करता है और उत्तर वाक्य शुक्तितत्त्वकी प्रतीति कराता है। परन्तु जहांपर प्रत्यक्ष ही बाध करता है, [वाक्य नहीं] उस स्थलमें अध्यासकी निवृत्तिकी प्रतीति नान्तरीयक कैसे हो सकती है? [तात्पर्य यह है कि जहांपर इन्द्रियादिगत दोषके कारण भ्रमात्मक रजतका ज्ञान हुआ, अनन्तर आप्त पुरुषसे 'नेदं रजतम्' इत्यादि वाक्य सुना, उस वाक्यका साक्षात् अध्यासनिवृत्तिके बोधनमें तो तात्पर्य है ही नहीं, वह तो 'यह पुरोवर्ती परमार्थ रजत नहीं है' इस प्रकार परमार्थ रजतका निषेध करता है। वहांपर अध्यासकी निवृत्तिका प्रतिभास नान्तरीयक होनेसे अर्थतः सिद्ध हो सकता है। परन्तु जहांपर भ्रमात्मक रजतके प्रत्यक्षके अनन्तर प्रत्यक्ष सामग्रीके बलसे ही रजतके अभाव तथा शुक्तितत्त्वका प्रत्यक्ष हुआ, वहांपर तो शुक्ति तथा रजतात्मक अध्यासकी निवृत्ति दोनों प्रत्यक्षगम्य ही हैं, इससे निवृत्ति भी प्रत्यक्ष ज्ञानकी साक्षात् ही विषय हो जाती है। उसका प्रतिभास नान्तरीयक नहीं माना जा सकता, क्योंकि योग्य प्रतियोगीके ही अभावका प्रत्यक्ष होता है। प्रातिभासिक रजत इन्द्रियसंप्रयोगके योग्य न होनेसे

रोपितरजताभावोऽनुपलब्धिगम्यः, अपरोक्षत्वात्। आरोपितरजततदभावौ हि न सम्प्रयोगयोग्यौ। नहि प्रतीतिमात्रशरीरमारोपितं रजतं प्रतीतेः पूर्वमस्ति, येनेन्द्रियं संयुज्येत। प्रतियोगिनो रजतस्येन्द्रियसम्प्रयोगाभावादेव तदभावोऽपि नेन्द्रियेण सम्बध्यते। ततो वाक्यबाधवत् प्रत्यक्षबाधेऽपीन्द्रियेण शुक्तितत्त्वे ज्ञायमाने नाऽन्तरीयकतयैवाऽध्यासनिवृत्तिः प्रतीयते। एवञ्च जीवब्रह्मणोरेकत्वे वाक्यादनुभवाद्वा जायमाने सत्यविद्यातत्कार्यनिवृत्तेरार्थिक्याः साक्षाच्छास्त्रप्रतिपाद्येऽनन्तर्भावात् प्रयोजनत्वेन विषयात् पृथग् निर्देशो युक्ततरः। यद्यपि विचारशास्त्रस्य वेदान्तगसन्देहापगम एव साक्षात्प्रयोजनं वेदान्तारम्भस्य च ब्रह्मविद्याप्राप्तिः फलम्, तथाऽप्यध्या-

---

प्रत्यक्षके योग्य ही नहीं है, अतः अध्यासनिवृत्ति प्रत्यक्षविषय हो नहीं सकती, इस आशयसे समाधान देते हैं—] उस प्रत्यक्ष स्थलमें (जहांपर भ्रमके अनन्तर शुक्तितत्त्वका प्रत्यक्ष हुआ) आरोपित रजतका अभाव अनुपलब्धिसे नहीं जाना जाता, कारण कि उसका प्रत्यक्ष होता है। प्रातिभासिक रजत तथा उसका अभाव इन्द्रियसन्निकर्षसे जानने योग्य भी नहीं है, क्योंकि केवलप्रतिभासस्वरूप आरोपित रजत ज्ञानसे पहले रहता ही नहीं, अतः उसका इन्द्रियसे सन्निकर्ष नहीं होता। प्रतियोगी रजतका इन्द्रियसे संप्रयोग नहीं हो सकनेके कारण ही उस (रजत) का अभाव भी इन्द्रियसे सम्प्रयुक्त नहीं हो सकता। इससे वाक्य द्वारा प्राप्त हुए बाधस्थलके तुल्य प्रत्यक्षसे प्राप्त बाधस्थलमें भी नेत्र आदि इन्द्रिय द्वारा शुक्तितत्त्वके ज्ञात होनेपर अध्यासकी निवृत्ति नान्तरीयक होनेसे ही प्रतीत होती है, साक्षात् नहीं। इस प्रकार जीव और ब्रह्मके अभेदका, वाक्य तथा अनुभव द्वारा, ज्ञान होनेपर अविद्या तथा उसके कार्यकी अर्थतः सिद्ध होनेवाली निवृत्तिको शास्त्रके साक्षात् प्रतिपादनीय विषयकोटिमें न आनेसे प्रयोजनरूपसे पृथक् कहना अत्यन्त युक्तिसंगत है। यद्यपि विचारशास्त्रका वेदान्त शास्त्रोंमें प्राप्त हुए सन्देहोंका दूर करना ही मुख्य प्रयोजन है, और वेदान्त शास्त्रके आरम्भका ब्रह्मविद्याकी—ब्रह्मज्ञान—की प्राप्ति ही फल है। तथापि अध्यासकी निवृत्ति विद्याका—ब्रह्मज्ञान—का फल और वह पुरुषकी आकाङ्क्षाका

सनिवृत्तेर्विद्याफलत्वेन पुरुषाकाङ्क्षाविषयत्वेन च परम्परया शास्त्रप्रयोजनत्वमप्युपपन्नम् ।

ननु केयं ब्रह्मविद्यायाः प्राप्तिर्नाम या वेदान्तारम्भफलत्वेनोपवर्ण्यते । सर्वत्र ह्यप्राप्तस्य स्वरूपेण निष्पन्नस्य गवादेः प्राप्तिर्भवति । न तु नित्यप्राप्तस्य स्वरूपस्य, नाऽप्यनिष्पन्नस्य नरविषाणादेः । विद्या तु ज्ञातारमाश्रित्य ज्ञेयं प्रकाशयन्त्येव निष्पद्यते तथैव प्रतीयते चेति स्वरूपतः प्रतीतितश्च नित्यप्राप्ताः तत्कथं तस्याः प्राप्ति ?

विषय है, इसलिए भी परम्परासम्बन्धसे [अध्यासनिवृत्तिको] शास्त्रका प्रयोजन होना अधिक उचित है ।

अब प्रश्न उठता है कि जिसको वेदान्तशास्त्रके आरम्भका प्रयोजन कहा जा रहा है, वह ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति क्या वस्तु है ? लोकमें सर्वत्र ऐसा ही देखनेमें आता है कि स्वरूपतः सिद्ध गो आदि वस्तु जो प्राप्त नहीं है, उसका ही प्राप्त करना सम्भव है । और जो वस्तु नित्य प्राप्त—सदैव ही अपनेको मिली हुई—है तथा जो मनुष्यका सींग स्वरूपसे भी सिद्ध नहीं है (अर्थात् जिसका होना भी सर्वथा सम्भव नहीं है) उसकी प्राप्ति संगत नहीं है । प्रकृतमें विद्या तो ज्ञाताको आश्रय करके ज्ञेय पदार्थका प्रकाश करती हुई ही उत्पन्न होती है तथा उसी तरह प्रतीत भी होती है, इसलिए स्वरूपसे तथा प्रतीतिसे नित्य प्राप्त ही है, अतः उस नित्यप्राप्त विद्याकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

[तात्पर्य यह है कि जैसे गो आदि विषय और प्राप्ति ये दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और एकके बिना भी दूसरेके स्वरूप तथा प्रतीतिकी सिद्धि होती है, इससे स्वरूपतः सिद्ध भी गो आदि पदार्थ प्राप्तिके बिना सम्भव है, अतः ऐसे पदार्थकी प्राप्ति किसी प्रयत्नका फल हो सकती है, परन्तु विद्याकी प्रतीति तथा स्वरूपकी प्राप्ति तो साथ ही होती है, विद्याका स्वभाव या स्वरूप ही है कि अपने आश्रय—ज्ञाता—को विषयका साक्षात्कार कराती ही है और विषयके साक्षात्कारको निश्चित करती ही हुई प्रतीत भी होती है, अतः प्रतीति तथा स्वरूप दोनों तरहसे विद्या नित्य प्राप्त ही है अन्यथा वह विद्या ही नहीं कही जा सकती, इस विद्याकी प्राप्ति किसी भी प्रयत्नका अर्थात् वेदान्तारम्भादिका फल नहीं कहा जा सकता ।]

उच्यते—प्रमाणजनितान्तःकरणवृत्तिर्विद्या तया विषयनिश्चयः प्राप्तिशब्देन विवक्षितः। तत्र घटादिविद्यायाः स्वोत्पत्तिमात्रेण विषयनिश्चायकत्वेऽपि न ब्रह्मविद्यायास्तथा सहसा निश्चायकत्वम्, असम्भावनाविपरीतभावनाभ्यामभिभूतविषयत्वात्। तत्राऽसम्भावना नाम चित्तस्य प्रत्यग्ब्रह्मात्मैक्यपरिभावनाप्रचयनिमित्तैकाग्र्यवृत्त्ययोग्यतोच्यते विपरीतभावनेति च शरीराद्यध्याससंस्कारप्रचयः। न चाऽपरोक्षावभासनिमित्तप्रमाणगृहीते वस्तुन्युभयविधचित्तदोषादपरोक्षावभासनिश्चयाभावो न दृष्टचर इति वाच्यम्, वाराणसीप्रदेशादावार्द्रमरिचमञ्जर्यादिष्वत्यन्तादृष्टपूर्वेषु दूरदेशात् समानीतेषु

समाधान किया जाता है—प्रकृतमें विद्याशब्दसे प्रमाण—इन्द्रियादि—द्वारा उत्पन्न हुई अन्तःकरणकी वृत्ति ली जाती है। उस अन्तःकरणकी वृत्तिसे विषयका निश्चय करना प्राप्तिशब्दका तात्पर्य समझना चाहिए। यद्यपि घटादिविषयक विद्या केवल अपनी उत्पत्तिसे ही घटादि विषयका निश्चय कर देती है, तथापि ब्रह्मविद्या—विचारके पूर्व ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान—अपने विषय ब्रह्मका सहसा (विचारके बिना) निश्चय नहीं करा सकती, कारण कि उसका विषय असम्भावना और विपरीतभावनासे घिरा हुआ है। उनमें असम्भावना है—ब्रह्म तथा आत्माकी—जीवकी—एकताका बार बार चिन्तन करनेसे उत्पन्न होनेवाली चित्तकी एकाग्रवृत्तिकी योग्यताका अभाव और शरीरादिमें आत्म-तादात्म्याध्यासके संस्कारोंका दार्ढ्य विपरीतभावना है। प्रत्यक्ष ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले प्रमाणोंसे ज्ञात हुई वस्तुमें चित्तके पूर्वोक्त असंभावना और विपरीतभावना—इन दो दोषोंके कारण प्रत्यक्ष ज्ञानके अभावका निश्चय नहीं देखा गया है। [एवम् प्रत्यक्ष ज्ञानसे—गृहीत घटादिके तुल्य ब्रह्मविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानरूप विद्यासे—ज्ञात हुए ब्रह्ममें चित्तके उक्त दोषोंसे ब्रह्मप्रत्यक्षके अभावका निश्चय होना संगत नहीं है] ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि [काली या सफेद] गोल मिर्चकी ताजी हरी मञ्जरी काशी आदि [पूर्वोत्तर] प्रदेशोंमें कभी भी नहीं देखी जाती है। दूर देशसे (दक्षिण भारतसे) लाई गई उन मञ्जरियोंको प्रत्यक्ष देख लेनेपर भी चित्तके उक्त दोषोंके कारण 'यह हमारे सामने मिर्चकी ही कोंपल है' ऐसा विश्वास उत्पन्न न होनेसे तुरत देखते ही 'यह मिरिचमञ्जरी ही है' इस निश्चयकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है।

प्रत्यक्षेण दृश्यमानेष्वप्यविश्वासेन झटिति निश्चयोत्पादादर्शनात्। अतः शास्त्रप्रमाणादुत्पन्नाऽपि ब्रह्मविद्या चित्तदोषप्रतिबद्धा तर्कं सहायमपेक्ष्य पश्चाद्विषयं निश्चिनोति।

तर्कस्य प्रमाणत्वे स्वतन्त्रत्वादप्रमाणत्वे चाऽनुपकारित्वान्न प्रमाणं प्रति सहकारित्वं सम्भवतीति चेद्, मैवम्; तर्कस्याऽप्रमाणभूतस्य स्वातन्त्र्येण वस्त्वनिश्चायकत्वेऽपि नाऽत्यन्तमनुपकारित्वम्, प्रमाणतच्छक्तिप्रमेयाणां स्वरूपे सम्भवासम्भवप्रत्ययरूपत्वात्। अत एव प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्क इति तर्कविदः।

[अर्थात् यह कहना कि 'प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुमें संशय नहीं होता' व्यभिचरित है।] इसलिए वेदान्तशास्त्ररूप प्रमाणसे उत्पन्न हुई भी ब्रह्मविद्या चित्तके दोषोंसे प्रतिबद्ध होकर (स्वयं विषयका निश्चय करानेमें असमर्थ होकर) सहायक तर्ककी—विचारकी—अपेक्षाके अनन्तर ही विषयका निश्चय कराती है।

शङ्का—-यदि तर्कको–विचारको–अर्थात् युक्तिवादको प्रमाका जनक मानो, तो वह स्वतन्त्र प्रमाण हो जायगा, सहायक नहीं होगा और यदि उसको प्रमाका जनक न मानो, तो वह प्रमाणका उपकारी नहीं हो सकेगा। [क्योंकि प्रमा-जनकका उपकार जो प्रमाका जनक होगा वही कर सकता है। प्रमाका अजनक नहीं कर सकता] इससे प्रमाणके प्रति तर्कका सहायक होना नहीं बन सकता।

समाधान—-ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यद्यपि तर्क स्वयं प्रमाण नहीं है, अतः स्वतन्त्ररूपसे वस्तुका निश्चय नहीं करा सकता, तथापि वह प्रमाणका अत्यन्त * उपकारी नहीं है, ऐसा नहीं है, किन्तु है ही।

कारण कि प्रमाण और उसकी शक्ति तथा प्रमेय–विषय–इनके स्वरूपोंमें सम्भव या असम्भवविषयक ज्ञानस्वरूप ही तर्क है। [अर्थात् तर्क द्वारा प्रमाणादिमें सम्भव या असम्भवका ही ज्ञान होता है, प्रमाणादिनिश्चयरूप नहीं है।] अतएव तर्क प्रमाणोंका अनुग्राहक–सहकारी–है, ऐसा तर्कवादी—नैयायिक—-स्वीकार करते हैं।

---

* अत्यन्त पद इसलिए देते हैं कि प्रमाणको उपकारी तर्ककी सहायता सर्वत्र अपेक्षित नहीं है। यथा—जहांपर दोषरहित चित्तावस्थामें हुए प्रत्यक्षके विषयका स्वयं ज्ञान ही निश्चय करा देता है या श्रद्धालुको विना कुचोद्य किये ही गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनेसे गुरुके उपदेशमात्रसे निश्चय हो जाता है, ऐसे स्थलोंमें तर्ककी सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती है।

ननु प्रमाणस्य तर्कापेक्षया निश्चायकत्वेऽपसिद्धान्तापत्तिः। तथा-हि--ज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं च स्वत एवेति सांख्याः। उभयमपि परत इति तार्किकाः। अप्रामाण्यमेव स्वत इति बौद्धाः। प्रामाण्यमेव स्वत इति वेदान्तिनः।

न तावत् सांख्यपक्षो युक्तः। तत्र किमेकस्यामेव ज्ञानव्यक्तौ प्रामाण्याप्रामाण्ययोः समावेशोऽभिप्रेत उत व्यक्तिभेदेन तयोर्व्यवस्था। नाऽऽद्यः, विरोधात्। न द्वितीयः, अस्या व्यक्तेः प्रामाण्यमस्याश्चाऽप्रामाण्यमिति

[यदि प्रमाण वस्तुका निश्चय करानेमें तर्ककी अपेक्षा रखते हैं, तो वेदान्त-सम्मत प्रमाणोंमें स्वतःप्रामाण्यकी उपपत्ति नहीं होगी, इस आशयसे शङ्का करते हैं--] यदि तर्ककी सहायतासे प्रमाणोंको वस्तुका निश्चायक मानें, तो अपसिद्धान्तकी--अपने प्रमाणोंके स्वतःप्रामाण्य सिद्धान्तके विरुद्ध सिद्धान्तकी--आपत्ति आ जायगी [जिसको वेदान्ती मान नहीं सकता]। [अपसिद्धान्तके स्पष्टीकरणके लिए भिन्न-भिन्न वादियोंका प्रमाणविषयक मत दिखलाते हैं--] सांख्यसिद्धान्त है कि ज्ञानका प्रामाण्य--वस्तुनिश्चायकत्व--या अप्रामाण्य स्वतः--तर्क आदिकी अपेक्षाके बिना--ही सिद्ध है। नैयायिक मानते हैं कि प्रमाणोंके प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य दोनों ही परतः--दूसरे तर्कादिकी ही सहायतासे--होते हैं। [अर्थात् प्रमाणोंमें प्रामाण्य या अप्रामाण्य कोई भी स्वतः नहीं है।] बौद्ध कहते हैं कि प्रमाणोंमें स्वतः अप्रामाण्य है [और प्रामाण्य दूसरेकी सहायतासे है।] और वेदान्ती प्रमाणमें प्रामाण्यको स्वतः--अन्या-निरक्षेप--ही मानते हैं।

[प्रसङ्गप्राप्त अन्य वादियोंके मतोंका खण्डन करते हैं--] इनमें सांख्यमत युक्तिसङ्गत नहीं है। क्या एक ही ज्ञानव्यक्तिमें प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनोंका समावेश है अथवा भिन्न-भिन्न ज्ञानव्यक्तियोंमें इनकी व्यवस्था करते हो? अर्थात् एक ज्ञानव्यक्तिमें प्रामाण्य दूसरी व्यक्तिमें अप्रामाण्य है, ऐसी व्यवस्था करते हो? पहला पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंका एक साथ रहना विरुद्ध है। दूसरा विकल्प भी उचित नहीं है, क्योंकि इस ज्ञानव्यक्तिमें प्रामाण्य है और इसमें अप्रामाण्य है, इसका कोई व्यवस्थापक नहीं है।

व्यवस्थापकाभावात् । ज्ञानत्वस्योभयत्र समत्वात् । अन्यस्य व्यवस्थापकस्य स्वतस्त्ववादिनाऽनङ्गीकारात् ।

नाऽप्युभयं परतः । तदा ह्युत्पन्नमात्रं ज्ञानं प्रामाण्याप्रामाण्यरहितं किञ्चित्कालं समवतिष्ठेत । न चैतल्लोके प्रसिद्धम् ।

अस्तु तर्हि बौद्धपक्षः--अप्रामाण्यमेव स्वतः प्रामाण्यं परत इति । नाऽयमप्युपपन्नः । तत्र प्रामाण्यस्य परतस्त्वम् उत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा ? नोत्पत्तौ तत्सम्भवति, चक्षुरादिकारणेभ्य उत्पन्नस्य ज्ञानस्य क्षणिकस्य स्वस्मिन् प्रामाण्यधर्मोत्पत्तिपर्यन्तमवस्थानासंभवात् । ननु ज्ञानकारणाद् ज्ञानोत्पत्तौ

कारण कि ज्ञानत्व दोनों व्यक्तियोंमें एक-सा ही है। स्वतस्त्ववादी दूसरेको व्यवस्थापक नहीं मानता । [ज्ञानोंका प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः है, इससे ज्ञानसामान्यमें दोनोंका ही होना स्वतः पाया जाता है और इस भूतलमें अमुक कारणसे अमुक ज्ञानव्यक्तिमें प्रामाण्य और इतरमें अमुक कारण न होनेसे या भिन्न कारण होनेसे अप्रामाण्य है, ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकती ।]

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही दूसरेके कारण हैं, ऐसा भी मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे उत्पन्न हुआ ज्ञान पहले कुछ समय तक प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनोंसे रहित होगा । परन्तु ऐसा लोकमें प्रसिद्ध नहीं है ।

ऐसी दशामें 'अप्रामाण्य तो स्वतः है और प्रामाण्य परतः है, यह बौद्धपक्ष ही मान लिया जाय ।' यह भी युक्तिसंगत नहीं है । [विकल्प करके युक्तिविरोध दिखलाते हैं—] उस मतमें ज्ञानोंका दूसरेकी सहायतासे प्रामाण्य उत्पत्तिमें है अथवा ज्ञप्तिमें है ? [अर्थात् ज्ञानव्यक्तिके उत्पन्न होनेके अनन्तर उससे इतर व्यक्ति उस ज्ञानमें प्रामाण्य उत्पन्न करती है अथवा ज्ञानोंके साथ-साथ ही उत्पन्न होता हुआ भी प्रामाण्य दूसरेकी सहायतासे मालूम हो सकता है, स्वतः नहीं ?] उत्पत्तिमें ऐसा होना—ज्ञानके उत्पन्न होनेके अनन्तर उसमें प्रामाण्यका उत्पन्न होना— सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानके कारण चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ क्षणमात्रस्थायी ज्ञान अपनेमें प्रामाण्यधर्मकी उत्पत्ति होने तक स्थिर ही नहीं रह सकता ।

सत्यां पश्चात्तत्कारणगतगुणात्तस्मिन् ज्ञाने प्रामाण्योत्पत्तिरुत्पत्तिपरतस्त्वम्, तद्यदि न सम्भवेत् कथं तर्हि प्रामाण्यस्य गुणान्वयव्यतिरेकाविति चेद्, न; प्रामाण्यप्रतिबन्धकस्य दोषस्याऽभावं विषयीकृत्याऽवस्थानेऽपि तयोरुपपत्तेः। न च गुणान्वयव्यतिरेकयोर्दोषाभावविषयत्वे वैयधिकरण्यं शङ्कनीयम्, दोषाभावस्यैव गुणत्वात्। नहीन्द्रियादिषु दोषाभावव्यतिरेकेण गुणो दृश्यते।

अथ यः कश्चिद्गुणः स्यात् तदापि दोषनिवृत्तिहेतोस्तस्य गुणस्य दोषाभावेनैव साक्षादन्वयव्यतिरेकौ निवृत्ते तु दोषे प्रामाण्यं निष्प्रतिबन्धं सिध्यतीति प्रामाण्येनाऽपि सह गुणस्य दोषाभावद्वाराऽन्वयव्यतिरेकौ

शङ्का—ज्ञानके कारण चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर उसके कारण चक्षुरादि इन्द्रियोंके गुणोंसे उस ज्ञानमें प्रामाण्यकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारके उत्पत्तिपरतस्त्वका यदि ज्ञानमें होना सम्भव नहीं हो सकता, तो प्रामाण्यके साथ गुणका अन्वय और व्यतिरेक कैसे होगा? अर्थात् कारणगत गुणोंसे ही ज्ञानमें प्रामाण्य हो सकता है, अन्यथा नहीं; इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक नहीं बन सकेगा।

समाधान—प्रामाण्यके प्रतिबन्धक दोषोंके अभावको विषय करके भी अन्वय और व्यतिरेककी उपपत्ति हो सकती है। यदि दोषके अभावको लेकर गुणोंके अन्वय और व्यतिरेककी उपपत्ति की जाय, तो व्यधिकरण दोष हो जायगा, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती है, कारण कि दोषके अभावका ही नाम गुण है। क्योंकि ज्ञानके कारण इन्द्रियादि दोषके अभावसे अतिरिक्त कोई गुण पदार्थ नहीं पाया जाता।

शङ्का—यदि कोई [अतिरिक्त] गुण हो भी, तो दोषकी निवृत्तिके कारणीभूत उस गुणका अन्वय और व्यतिरेक तो साक्षात् दोषके अभावके ही साथ है अर्थात् उस विद्यमान गुणके रहनेसे दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है, अतः गुणोंका अन्वय और व्यतिरेक दोषाभावके ही विषयमें मानना चाहिए, [ज्ञानोंके प्रामाण्यमें नहीं] दोषोंके निवृत्त हो जानेपर ज्ञानोंका प्रामाण्य बिना किसी रुकावटके ही सिद्ध हो जाता है। इससे दोषाभावके द्वारा ही प्रामाण्यके साथ गुणके अन्वय और व्यतिरेककी प्रतीति होती है, प्रामाण्यके विषयमें गुणका

प्रतीयेते, न तु तत्र साक्षात्तौ विद्येते। अस्तु तर्हि प्रतिबन्धकस्य दोषस्याऽभाव एव प्रामाण्यकारणं साक्षादन्वयव्यतिरेकवत्त्वादिति चेद् , न, तथा सति दोषस्य प्रतिबन्धकत्वासंभवात्। सत्येव पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधितया प्राप्तं हि प्रतिबन्धकम्। न हि दोषाभावे सति दोषः प्राप्नोति। अतो नोत्पत्तौ परतस्त्वम्। ज्ञप्तिरपि प्रामाण्यस्य कथं परतः स्यात्? प्रामाण्यं नाम ज्ञानस्यार्थपरिच्छेदसामर्थ्यम्, तत्किं गुणजन्यत्वज्ञानादवगम्यते अर्थक्रियासंवादज्ञानाद्वा? नाऽऽद्यः, घटे ज्ञायमानेऽपि तस्य ज्ञानस्य गुणजन्यत्वं यावन्न ज्ञायते तावद् घटपरिच्छेदसामर्थ्याप्रतीतौ घटव्यवहारानुदयप्रसङ्गात्।

अन्वय और व्यतिरेक साक्षात् नहीं है। तब तो अन्वय और व्यतिरेकके बलसे प्रतिबन्धक दोषका अभाव ही प्रामाण्यका कारण होगा? [अतः प्रामाण्यमें परतस्त्व सिद्ध हो गया]।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं बन सकती, कारण कि ऐसा माननेसे दोष प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, क्योंकि पर्याप्त कारणोंके रहते कार्यकी उत्पत्तिमें बाधा पहुँचानेवाला ही प्रतिबन्धक कहलाता है। दोषका अभाव होनेपर दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती। [यदि गुण है तो, दोषका अभाव होनेसे प्रतिबन्धक दोषकी प्राप्तिका सम्भव ही नहीं है। अथ च गुण नहीं है, तो पुष्कल कारण ही नहीं है। इसलिए दोषके रहते हुए भी यदि वह प्रतिबन्धक नहीं कहा जा सकता, तो प्रतिबन्धक दोषका अभाव ज्ञानोंका प्रामाण्य उत्पन्न करता है, यह कहना कैसे सङ्गत हो सकता है? इस अभिप्रायसे प्रघट्टकका निष्कर्ष लिखते हैं—] इसलिए उत्पत्तिमें परतस्त्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती। [दूसरे पक्षका खण्डन करते हैं—] प्रामाण्यकी ज्ञप्ति—ज्ञात होना—भी दूसरेके द्वारा कैसे सम्भव होगा? कारण कि ज्ञानोंके अर्थपरिच्छेदकी—विषयका निश्चयात्मक ज्ञान करानेकी—सामर्थ्य ही तो प्रामाण्य है, ऐसी दशामें क्या वह प्रामाण्य गुणसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए जाना जाता है? अथवा अर्थक्रियाके व्यवहारके संवादज्ञानसे जाना जाता है? प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि घटका ज्ञान होनेपर भी जबतक उस ज्ञानमें यह ज्ञान गुणसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा ज्ञान न हो, तबतक उसमें घटका निश्चय करनेकी सामर्थ्यकी प्रतीति न होनेसे 'यह घट है'

अस्तु गुणजन्यत्वज्ञाने सति पश्चाद् व्यवहार इति चेद्, न; घटज्ञानवद् गुणजन्यत्वज्ञानस्याऽपि स्वप्रामाण्यनिश्चायकज्ञानान्तरात् प्रागकिञ्चित्करत्वे सत्यनवस्थाप्रसङ्गात् । द्वितीयेऽप्ययं न्यायस्तुल्यः ।

अथ मतम्—साधनभूतभोजनादिज्ञानानां तृप्त्याद्यर्थक्रियासंवादज्ञानात् प्रामाण्यावगमः, फलभूततृप्त्यादिज्ञानानां तु स्वत एव तदवगमः; अर्थक्रियान्तराभावात्, ततो नाऽनवस्थेति । तदसत्, विमतं साधनज्ञानं स्वत एव प्रमाणम्, ज्ञानत्वात्, फलज्ञानवत् । विपक्षे चाऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गो बाधः ।

ऐसा घटव्यवहारका उदय नहीं हो सकता । गुणजन्यत्व ज्ञान होनेके अनन्तर ही व्यवहार होगा, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि घटज्ञानके सदृश गुणजन्यत्व ज्ञानके भी अपनेमें प्रामाण्यका ज्ञान करानेवाले दूसरे ज्ञान होनेके पूर्व अकिञ्चित्कर होनेके कारण [दूसरे ज्ञानोंकी अपेक्षासे] अनवस्थाका प्रसङ्ग होगा * । द्वितीय पक्ष माननेमें भी यह न्याय—अनवस्थादोषप्रसङ्ग—समान ही है ।

[व्यवहारसंवादसे यदि ज्ञानका प्रामाण्य मानो, तो व्यवहारसंवादज्ञानका प्रामाण्य किसी दूसरे ज्ञानसे होगा, उसका तीसरेसे और उसका भी चौथे से, इत्यादि रीतिसे अनवस्था बनी ही है ।]

हेतुभूत भोजनादि ज्ञानोंका प्रामाण्य तृप्तिरूप व्यवहारसे जाना जायगा । और फलस्वरूप तृप्ति आदि ज्ञानोंका प्रामाण्य स्वतः प्रतीत हो जायगा । इससे अनवस्थाका प्रसङ्ग नहीं आता, यह कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि विमत—विवादग्रस्त साधनज्ञान (तृप्तिके कारण भोजनादि-ज्ञान) स्वतः निश्चायक हैं, ज्ञान होनेसे, तृप्ति आदि फलज्ञानके समान । [प्रतिवादी फलज्ञानको स्वतःप्रमाण मानता ही है, उसमें विद्यमान ज्ञानत्व-सामान्यसे कारण ज्ञानको भी स्वतःप्रमाण मानना उचित है । कोई ज्ञान स्वतःप्रमाण और कोई परतःप्रमाण होता है, इसमें विनिगमक नहीं है । उक्तानुमानमें अनुकूल तर्क दिखलाते हैं—] इस उक्तानुमानसे सिद्ध स्वतःप्रामाण्यके विपरीत परतःप्रामाण्य माननेमें अन्योन्याश्रयका प्रसङ्गरूप बाध है । कार्यमें

---

* जैसे घटज्ञान गुणजन्यत्व ज्ञान होनेके पूर्व निश्चायक नहीं हो सकता एवम् गुणजन्यत्व ज्ञान भी स्वयं निश्चायक नहीं हो सकता, कारण कि वह भी तो ज्ञान ही है ।

प्रवृत्तस्याऽर्थक्रियासंवादज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चयः प्रामाण्यनिश्चये च प्रवृत्तिरिति। अनिश्चिते एव प्रामाण्ये तन्निश्चयाय प्रवृत्त्युपपत्तेर्नाऽन्योन्याश्रयतेति चेत्, सति संदेहे तथाऽस्तु। असंदिग्धार्थेष्वभ्यस्तघटादिविषयज्ञानेषु कथं प्रामाण्यनिश्चयाय प्रवृत्तिः स्यात्। ननु सुवर्णपरीक्षायां निरीक्षणनिकर्षणदाहच्छेदरूपात् प्रत्ययचतुष्टयादर्थनिश्चयः, न प्रथमप्रत्ययमात्रात्, ततः परतः प्रामाण्यमनिवार्यमिति चेद्, न; तत्र हि द्वितीयादि ज्ञानानि प्रथमज्ञानप्रामाण्यप्रतिबन्धकसंशयादिनिरासीनि, न तु तत् प्रामाण्यनिश्चायकानि। तस्मात् प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च ज्ञानोत्पादकज्ञापकातिरिक्तानपेक्षत्वलक्षणं स्वतस्त्वम-

---

प्रवृत्त पुरुषको अर्थक्रियाके—व्यवहार वा फलके—संवादज्ञानसे [प्रवृत्तिप्रयोजक ज्ञानके] प्रामाण्यका निश्चय होगा और [उस प्रवृत्तिप्रयोजक ज्ञानके] प्रामाण्यका निश्चय होनेपर ही प्रवृत्ति होगी, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष है। प्रामाण्यका निश्चय न होनेपर ही उसके निश्चयके लिए प्रवृत्तिकी उपपत्ति हो जायगी [इससे अन्योन्याश्रय नहीं आता] ऐसा मानना, तो केवल सन्देहस्थलमें ही हो सकता है। जिनके विषयमें कोई सन्देह नहीं है, ऐसे पूर्ण परिचित घटादिको विषय करनेवाले ज्ञानोंमें प्रामाण्यनिश्चयके लिए प्रवृत्ति क्योंकर होगी? [निश्चित विषयस्थलमें भी प्रामाण्य निश्चयके लिए प्रवृत्तिका दृष्टान्त देकर शङ्का करते हैं—] सोनेकी परीक्षाकालमें निरीक्षण—देखना, कसौटीपर चढ़ाना—घिसना—एवम् आगमें तपाना और टुकड़ा करना—इन चार प्रकारके ज्ञानोंसे विषयका निश्चय होता है, केवल सुवर्णज्ञानमात्रसे नहीं होता, इस दृष्टान्तसे ज्ञानोंका प्रामाण्य दूसरेके अधीन है, इस सिद्धान्तका निवारण नहीं किया जा सकता, यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि ऐसे स्थलोंमें निकर्षणादि—द्वितीयादि ज्ञान-केवल प्रथम ज्ञानके प्रामाण्यमें (दोषवशात् उत्पन्न हुए) प्रतिबन्धक संशयादिका ही दूरीकरण करते हैं, [आदि पदसे असम्भावना या विपरीतभावना ली गई है] प्रामाण्यके निश्चायक नहीं हैं। इस निष्कर्षसे स्वरूपप्रामाण्यकी उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति—प्रतीति—दोनोंमें ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली तथा प्रतीति करानेवाली सामग्रीके अतिरिक्त किसीकी अपेक्षा न रखना लक्षणवाला स्वतस्त्व ही मानना चाहिए।

भ्युपेयम् । अप्रामाण्यस्य तु ज्ञानकारणगतदोषादुत्पत्तिर्बाधाच्च ज्ञप्तिरिति परतस्त्वम् ।

अप्रामाण्यं परतो नोत्पद्यते, प्रामाण्याभावत्वात्, प्रामाण्यप्रागभाववदिति चेद्, न; हेत्वसिद्धेः । अप्रामाण्यं नामाऽज्ञानसंशयविपर्ययाः । तदुक्तं भट्टपादैः—

'अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः ।' इति ।

अज्ञानशब्देन चाऽत्र वस्त्वन्तरज्ञानं विवक्षितम्, 'विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि' इति तैरेवोक्तत्वात् । ततस्तत्र त्रयाणामपि नाऽभावत्वम् । स्वतः प्रामाण्यस्याऽपि

किन्तु अप्रामाण्यकी उत्पत्ति तो ज्ञानके कारणमें—इन्द्रियादिमें—स्थित दोषसे होती है । और उत्तर कालमें बाधज्ञान होनेसे उस अप्रामाण्यकी प्रतीति होती है, इसलिए अप्रामाण्यको अपनी उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति—प्रतीति—दोनोंमें परतस्त्व है ।

शङ्का—ज्ञानोंका अप्रामाण्य परतः [दोषादिसे] उत्पन्न नहीं होता है, कारण कि वह अप्रामाण्य प्रामाण्यका अभावरूप है, जैसे कि प्रामाण्यका प्रागभाव । [अप्रामाण्य भी प्रामाण्यप्रागभाव ही है और वह किसीसे उत्पन्न नहीं होता है, यह भाव है ।]

समाधान—ऐसा अनुमान नहीं बन सकता, क्योंकि उक्त अनुमानका प्रामाण्याभावरूप हेतु सिद्ध नहीं है । [अधर्मकी भाँति अप्रामाण्यकी अभावरूपताका निषेध कर भावरूपताके समर्थनके लिए उसका निर्वचन करते हैं—] क्योंकि *अज्ञान, †संशय और ‡विपर्यय–इन तीन ज्ञानोंको ही अप्रामाण्य कहते हैं।

यही बात कुमारिलभट्टने भी कही है—

मिथ्यात्व—विपर्यय—संशय और अज्ञान—इन भेदोंसे अप्रामाण्य तीन प्रकारका है ।

अज्ञानशब्दसे यहांपर वस्त्वन्तरका ज्ञान विवक्षित है, क्योंकि 'विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि' (भिन्न वस्तुविषयक विज्ञान ही अज्ञान है) ऐसा उन्होंने कहा है । इसलिए अप्रामाण्यके स्वरूपभूत तीनों अभावात्मक नहीं हैं । [स्वतः-प्रमाण ज्ञानोंमें कोई भी अप्रामाण्य नहीं कह सकता, इस आशङ्काका निराकरण

---

* अज्ञानकी भावरूपता अज्ञानवादमें दिखलाई गई है । † विरुद्धकोटिद्वयात्मक ज्ञान ही संशय कहलाता है । ‡ जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी न समझना, विपर्यय कहलाता है । जैसे शुक्तिमें रजतभ्रम ।

दोषबलादप्रामाण्यमविरुद्धम्, स्वत उष्णस्याऽप्यग्नेर्मन्त्रादिना प्रतिबन्धे शैत्यदर्शनात्।

यदि कथंचिदप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमाशङ्केथास्तदानीमप्रमाणज्ञानादपि यावद्दोषाधिगममुत्पद्यमानं व्यवहारं कथं समर्थयेथाः ? तस्मात् प्रामाण्यमेव स्वतः इति स्थितम्। तथा च सति ब्रह्मविद्यायास्तर्कापेक्षत्वे कथं नाऽपसिद्धान्तः ?

नैष दोषः, तर्कस्य प्रतिबन्धनिराकरणमात्रहेतुत्वात्। यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाशं

करते हैं—] स्वतःप्रामाण्यवाले ज्ञानोंमें दोषविशेषसे अप्रामाण्यका होना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि स्वयं उष्णस्वभाव अग्निमें भी मणि, मन्त्र आदि प्रतिबन्धकके सद्भावसे शैत्य—दाहशक्तिका तिरोभाव—देखा गया है।

यदि आप आग्रहवश अप्रामाण्यमें स्वतस्त्व—स्वभावसिद्धत्व—की ही आशङ्का करें, तो अप्रमाणज्ञानसे भी, जबतक दोषका परिज्ञान नहीं हो पाता, तबतक होनेवाले, व्यवहारका समर्थन किस रीतिसे आप करेंगे। [जिसके मतमें ज्ञानोंमें स्वतःअप्रामाण्य है, उसके मतमें सभी ज्ञान प्रथम शुक्ति-रजतज्ञानके समान अप्रमाण ही होंगे और अप्रमाण ज्ञान अर्थ-क्रियाकारी नहीं होते। इस अवस्थामें शुक्तिरजतज्ञानके अनन्तर होनेवाले रजतार्थीके प्रवृत्तिरूप व्यवहार, 'रजतमिदम्' ऐसे ज्ञान तथा शब्दव्यपदेश आदिकी उपपत्ति कैसे होगी ? यद्यपि दोषज्ञानके अनन्तर व्यवहार या व्यपदेश सब बाधित हो जाते हैं तथापि दोषज्ञानके पूर्व तो यथार्थस्थलके समान व्यवहार तथा व्यपदेश होते ही हैं, इनका अपलाप तो कोई नहीं कर सकता, यह तात्पर्य है।] इससे ज्ञानोंमें प्रामाण्य स्वतः ही है, यही सिद्धान्त युक्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मविद्याको ब्रह्मप्राप्तिरूप फलके जननमें तर्ककी यदि अपेक्षा है, तो अपसिद्धान्त—अपने सिद्धान्तका विरोध—क्यों नहीं होता ?

उक्त दोष नहीं आता, कारण कि तर्क केवल प्रतिबन्धका निराकरण ही करता है। [ब्रह्मकी प्राप्तिमें कोई प्रतिबन्ध आ ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो स्वयंप्रकाश है, इससे तर्कका प्रतिबन्धनिराकरणरूप फल भी नहीं हो सकता। इस प्रकार वादीकी शङ्काको मनमें रख कर समाधान करते हैं—]

शब्दश्च तत्राऽपरोक्षज्ञानजनने समर्थस्तथापि दुरितैश्चित्तकृतविपरीतप्रवृत्तेर्विषयासम्भावनया देहेन्द्रियादिविपरीतभावनया च प्रतिबन्धः सम्भवति, ततो निश्चलोऽपरोक्षोऽनुभवो न जायते। तत्राऽऽश्रमधर्मानुष्ठानाद् दुरितापगमः। शमादिसेवनाच्चित्तस्य विपरीतप्रवृत्तयो निरुध्यन्ते। मननात्मकेन तर्केण जीवब्रह्मैक्यलक्षणस्य विषयस्याऽसम्भावना निरस्यते। निदिध्यासनेन विपरीतभावनां तिरस्कुर्वती सूक्ष्मार्थनिर्द्धारणसमर्था चित्तवृत्तेरेकाग्रता सम्पद्यते। ततः शब्दजनितमपरोक्षं ज्ञानं निश्चलं प्रतितिष्ठति। वेदान्तशब्दस्य च ब्रह्मापरोक्षावगतिहेतुत्वं 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति तद्धितप्रत्ययेन दर्शितम्। उपनिषत्स्वेव सम्यगवगतः पुरुष इति तद्धितप्रत्ययार्थः। नह्यपरोक्षे

यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाश है और शब्द (श्रुति) उसका अपरोक्ष ज्ञान करानेमें समर्थ है तथापि पाप कर्मोंके कारण चित्तकी विपरीत वृत्ति—बुद्धिविपर्यय—होनेसे विषय—ब्रह्म—की असम्भावना अथवा देहेन्द्रियादिविपरीतभावनासे उसका प्रतिबन्ध होता है, इससे स्थिर साक्षात्काररूपी अनुभव नहीं हो सकता। इस अवस्थामें आश्रमधर्मके—यज्ञ आदिके—अनुष्ठानसे पापकर्मोंका विनाश होता है और शम आदिके अनुष्ठानसे चित्तकी विपरीत प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं। मननस्वरूप तर्कसे जीव और ब्रह्मके ऐक्यरूप विषयमें प्राप्त हुई असम्भावनाका दूरीकरण होता है। और निदिध्यासनसे—पुनः पुनः जीव और ब्रह्मकी एकताके परिशीलनसे—चित्त-वृत्तिकी निश्चल एकाग्रता हो जाती है, जिससे विपरीतभावना बिलकुल दूर हो जाती है और अत्यन्त सूक्ष्म विषयका निश्चय करनेकी सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाती है। उसके अनन्तर शब्द—उपदेश—द्वारा उत्पन्न हुआ साक्षात्कारात्मक ज्ञान निश्चलरूपसे अवस्थित रहता है।

'तन्त्वौपनिषदं पुरुषम्' इस वाक्यमें आया हुआ ['औपनिषदः'—उपनिषत्सु अवगतः अर्थात् उपनिषदोंमें ही जाना गया है, इस प्रकार अवगतिरूप अर्थ कहनेवाला] तद्धित प्रत्यय ही 'वेदान्तशब्द ब्रह्मविषयक अपरोक्ष ज्ञानका कारण है', इस सिद्धान्तका निर्णय कराता है। यहांपर 'उपनिषदोंमें ही भलीभाँति अवगत है', ऐसा तद्धितप्रत्ययका अर्थ है, कारण कि अपरोक्ष ब्रह्ममें

ब्रह्मणि परोक्षज्ञानं सम्भवति। ततः प्रथमत एव शब्दादुत्पन्नमपरोक्षज्ञानं प्रतिबन्धापाये पश्चान्निश्चलं भवति।

अथवा यथा सम्प्रयोगोऽभिज्ञानमुत्पाद्य पुनः पूर्वानुभवसंस्कारापेक्षया प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयति तथा शब्द एव प्रथमं ब्रह्मणि परोक्षज्ञानमुत्पाद्य पुनर्वर्णितप्रतिबन्धक्षयापेक्षया द्वितीयमपरोक्षज्ञानमुत्पादयति। न च स्वयंप्रकाशे ब्रह्मणि परोक्षज्ञानं विभ्रमः, स्वयंप्रकाशेऽपि पुरुषान्तरसंवेदने परोक्षानुमानदर्शनात्। एवं सति शब्दात् प्रथममपरोक्षं परोक्षं वा ब्रह्मज्ञानं जातमपि तावतैव निश्चलापरोक्षानुभवरूपेण प्रतिष्ठाया अभावादप्राप्तमिव भवति। मनननिदिध्यासनयोः कृतयोः फलरूपेण प्रतिष्ठितत्वाद् ब्रह्मविद्या प्राप्तेति व्यपदिश्यते।

नन्वेवं सति निदिध्यासनानन्तरमेव फलोदयदर्शनात्तस्यैवाऽङ्गित्वं श्रवण-

---

परोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए पहले ही शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होकर प्रतिबन्धके हट जानेपर पीछे निश्चल होता है।

[शब्द परोक्षज्ञानका ही जनक है, इस सिद्धान्तके अनुसार व्याख्या करते हैं—] अथवा जैसे इन्द्रियसंप्रयोग आदि पहले ज्ञानको उत्पन्न कराकर पश्चात् प्राक्तन अनुभवजनित संस्कार द्वारा प्रत्यभिज्ञाको उत्पन्न कराते हैं, वैसे ही शब्द पहले ब्रह्मविषयक परोक्षज्ञानको उत्पन्न करके अनन्तर पूर्वप्रतिपादित-रीतिसे प्रतिबन्धका विनाश होनेपर दूसरे अपरोक्षज्ञानको उत्पन्न कर देता है। स्वयंप्रकाश ब्रह्मके परोक्षज्ञानको भ्रमात्मक मानना उचित नहीं है, कारण कि अन्य पुरुषके ज्ञानके विषयमें, जो कि स्वयंप्रकाश भी है, परोक्ष अनुमान देखा गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार शब्दसे प्रथम अपरोक्ष या परोक्ष रूपसे ब्रह्मज्ञान हो जानेपर भी उतने ही से—शब्द द्वारा ज्ञान होने ही से—निश्चल अपरोक्षरूपसे वह प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, इसलिए वह अप्राप्त-सा ही रह जाता है। मनन तथा निदिध्यासनके अनन्तर फलरूप निश्चल अपरोक्षानुभवसे प्रतिष्ठित हो जाता है, इसलिए 'ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई' ऐसा व्यवहार होता है।

यदि शङ्का हो कि इस सिद्धान्तके अनुसार निदिध्यासनके अनन्तर ही अपरोक्ष-साक्षात्काररूप फलका उदय होनेसे निदिध्यासनमें ही अङ्गित्व—प्रधानत्व—

मननयोस्तु तदुपकारितयाऽङ्गत्वं प्राप्तमिति चेद्, मैवम्; निदिध्यासनस्याऽनुभवोत्पत्तौ करणत्वायोगात्। नहि निदिध्यासनं नाम किंचित्प्रमाणम्, येनाऽनुभवजनने स्वयं कारणं स्यात्। श्रवणं तु शब्दशक्तितात्पर्यविधारणरूपं सत्करणभूतशब्दातिशयहेतुत्वात् करणमिति कृत्वा श्रवणस्यैवाऽङ्गित्वमुचितम्। प्रबलप्रतिबन्धनिवारकयोर्मनननिदिध्यासनयोः सहकारिभूतचित्तातिशयहेतुत्वात् फलोपकार्यङ्गत्वम्। मननं हि विषयगताऽसम्भावनां निराकृत्य चित्ते संशयमपनयति। निदिध्यासनं च विपरीतभावनां निराकृत्य चित्तवृत्तेरैकाग्र्यं जनयति। शमादीनां यज्ञादीनां चाऽऽरादुपकारकत्वादितिकर्त्तव्यतारूपत्वम्, तत्राऽप्यन्तरङ्गाः शमादयः श्रवणाधिकारप्रतिबन्धकस्य चित्ते-

और उसके उपकारी होनेसे श्रवण और मननमें तो अङ्गत्व प्राप्त हुआ ? तो यह भी उचित नहीं है, कारण कि निदिध्यासन अनुभवरूप—साक्षात्काररूप—ज्ञानके प्रति कारण नहीं हो सकता। क्योंकि निदिध्यासन कोई प्रमाण नहीं है जिससे कि वह अनुभवकी उत्पत्ति करानेमें कारण माना जा सके। और श्रवण तो शब्दनिष्ठ शक्तिका तात्पर्य-निर्णायक होकर अनुभवके जनक शब्दमें अतिशयको उत्पन्न करनेवाला होनेसे कारण—अनुभवात्मक प्रमाका जनक—हो सकता है, इसलिए श्रवणको अङ्गी मानना उचित है। प्रबल प्रतिबन्धको दूर करनेवाले मनन और निदिध्यासन तो सहकारीभूत चित्तमें अतिशयके जनक होनेसे फलोपकारी अङ्ग हैं, क्योंकि मनन विषयमें प्राप्त असम्भावनाको हटाकर चित्तमें उत्पन्न हुए संशयको दूर करता है और निदिध्यासन विपरीतभावनाको नष्ट करके चित्तवृत्तिकी एकाग्रता उत्पन्न करता है। एवं शम तथा यज्ञ आदि आरादुपकारक* होनेसे इतिकर्तव्यतारूप हैं। उनमें भी शम आदि अन्तरङ्ग हैं, क्योंकि वे

* आरादुपकारक। आराद् यानी दूरके तत्त्वसाक्षात्काररूप फलमें, उपकारक अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कारकी प्रतिबन्धिका असम्भावनाबुद्धिके मूल कारण पापादिका विनाश करनेसे ब्रह्मज्ञानमें यज्ञादि उपकारी होते हैं। अतः वर्तमान तथा अतीत जन्ममें किये गये यज्ञादि ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें इतिकर्तव्यतारूप हैं। इससे दुरितोंका क्षय होना अत्यन्त आवश्यक है, यह सूचित किया गया है। स्मृतिकारोंने भी कहा है—

'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'।

महायज्ञ तथा यज्ञोंसे शरीर ब्रह्मज्ञानके अनुकूल किया जाता है। इसी प्रकार—

न्द्रियगतविपरीतप्रवृत्त्याख्यस्य दृष्टदोषस्य निवारकत्वात्। यज्ञादयश्चाऽदृष्टदोषस्य निवारकतया बहिरङ्गाः। अत इतिकर्त्तव्यतया फलोपकार्यङ्गाभ्यां चोपकृतमङ्गिभूतं श्रवणमेव निश्चलापरोक्षानुभवजनकम्।

यत्तु श्रवणमापातिकमङ्गानुष्ठानात् प्राक्परोक्षज्ञानमप्रतिष्ठितापरोक्षज्ञानं

श्रवणमें अपेक्षित अधिकारके[1] प्रतिबन्धक चित्तेन्द्रियगत विपरीत[2] प्रवृत्तिरूप दृष्टदोषके निवारक हैं और यज्ञ आदि अदृष्ट[3] दोषके निवारक होनेसे बहिरङ्ग हैं। इस निष्कर्षसे इतिकर्तव्यतास्वरूप होनेसे फलोपकारी अङ्गोंसे—मनन और निदिध्यासन इन दोनोंसे—उपकृत होकर प्रधान श्रवण ही निश्चल अपरोक्षानुभवरूप साक्षात्कारका उत्पादक है।

श्रवण तो आपातिक—प्रथम-प्रथम अङ्गोंके अनुष्ठानसे—मनन और निदिध्या-

---

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्'।

अर्थात् यज्ञादिके द्वारा देव-ऋण, सत्र, दानादिसे मनुष्य ऋण एवं गार्हस्थ्यका विधानकर पुत्रोत्पादनसे पितृ-ऋणको दूर कर मोक्षमें मन लगावे। तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार भी पापका लेश रहनेसे मनकी मोक्षमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। श्रुति भी कहती है—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'।

ब्राह्मण वेदानुवचन द्वारा यज्ञादि करनेसे ही ब्रह्मविविदिषाके अधिकारी होते हैं।

शम तथा दम आदिका भामतीमें इस प्रकार विवेचन किया गया है—रागादिरूप कषायोंके मदसे उन्मत्त होकर मन नानाप्रकारके भले-बुरे कर्मोंमें इन्द्रियोंको प्रवृत्त कराता हुआ पुरुषको अत्यन्त घोर दुःखजनक संसाररूप अग्निमें जलाता है। अनन्तर अतिशय पुण्यराशिके फलोदयस्वरूप गुरु-कृपा या सत्सङ्गसे उदित हुए प्रसङ्ख्यानके पुनः परिशीलनसे प्राप्त वैराग्य द्वारा रागादि कषायोंका मद उतरनेसे मन पुरुषके अधिकारमें हो जाता है। इस प्रकार मनके वशीकारको शम कहते हैं। और इस प्रकार वशमें हुआ शान्त मन तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके उन्मुख होनेकी योग्यताका लाभ करता है। इस योग्यताको दम कहते हैं। आदिपदसे 'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मान्येवात्मानं पश्येत्', 'सर्वमात्मनि पश्यति' इस श्रुतिमें प्रतिपादित तितिक्षा आदि लेने चाहिएँ। इस प्रकार शम, दम आदिको ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें अव्यवधानेन कारण होनेसे भी अन्तरङ्गत्व प्राप्त होता है।

१ 'तस्मात् शान्तो दान्तः' इत्यादि श्रुतिसे शम, दम आदिसे सम्पन्न पुरुषका ही ब्रह्मविद्यामें अधिकार है।

२ इन्द्रियोंकी विषयोन्मुखता विपरीत प्रवृत्ति है।

३ वर्तमान जन्ममें सब तरहके उपाय करनेपर भी मनकी स्थिरता तथा श्रद्धा न होना प्राक्तन पापोंकी सूचना है। उनका निवारण करना यज्ञ-यागादिके अदृष्टका काम है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्मोंका कारणत्व ज्ञानकी इच्छा (विविदिषा) में है, ज्ञानमें नहीं है।

वा जनयति । तस्य निदिध्यासनाङ्गत्वेऽपि न नः किंचिद्धीयते, संसारनिवर्तकब्रह्मतत्त्वापरोक्षज्ञानजनकश्रवणस्यैवाऽङ्गित्वाङ्गीकारात् । ब्रह्मज्ञानं न संसारनिवर्तकम्, सत्यपि तस्मिन् संसारदर्शनादिति चेद्, न; तत्त्वापरोक्षात् समूलाध्यासनिवृत्तेरन्वयव्यतिरेकशास्त्रसिद्धत्वात् । अध्यासविरोधिदेहव्यतिरेकावगमवत्तत्त्वावबोधोऽध्यासविरुद्धोऽपि न तमपनयेदिति चेद्, न; वैषम्यात् । तत्त्वज्ञानं हि मूलाज्ञानविरोधि, न तु तथा देहव्यतिरेकज्ञानम् । तर्हि तत्त्वज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तौ सद्यः शरीरपातः स्यादिति चेद्, न;

सनसे पूर्व केवल अपरोक्षज्ञान अथवा जिसका साक्षात् अनुभव प्रतिष्ठित—निश्चल—नहीं हो पाया है, ऐसे अपरोक्षज्ञानको ही उत्पन्न करता है, ऐसा जो वादी मानता है, उसके सिद्धान्तके अनुसार श्रवणके निदिध्यासनाङ्ग होनेपर भी हमारे मतमें कोई हानि नहीं है; कारण कि संसारकी निवृत्ति करनेवाले ब्रह्मतत्त्वके अपरोक्ष ज्ञानको उत्पन्न करनेमें समर्थ श्रवणको हम भी अङ्गी मानते हैं। ब्रह्मज्ञान संसारका निवर्तक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होनेपर भी संसारकी निवृत्ति नहीं होती, यह शङ्का भी उचित नहीं है, कारण कि ब्रह्मतत्त्वके अपरोक्ष ज्ञानसे समूल अध्यासकी निवृत्ति अन्वय और व्यतिरेक तथा शास्त्रसे सिद्ध है। अध्यासके विरोधी देहादिके साथ आत्माके भेदज्ञानके समान ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान भी अध्यासका विरोधी होता हुआ उस अध्यासको निवृत्त नहीं कर सकता। [अर्थात् यद्यपि प्रायः सर्वसाधारणकी प्रतीतिसे सिद्ध है कि आत्मा देहादिसे भिन्न है, तथापि उससे उनकी संसारनिवृत्ति नहीं देखी जाती, अतः तादृश भेदज्ञान जैसे अध्यासविरोधी होता हुआ भी अध्यासकी निवृत्ति नहीं कर सकता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानको भी समझना चाहिए।] यदि ऐसी शङ्का की जाय, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान तथा देहात्मभेदज्ञानमें वैषम्य है—समानता नहीं है। [वैषम्य दिखलाते हैं—] तत्त्वज्ञान ही मूल अज्ञानका विरोधी है, और देहात्मभेदज्ञान तो उसके समान मूल अज्ञानका विरोधी नहीं है। इसलिए देहात्मभेदज्ञानके रहते भी संसारनिवृत्ति—अध्यासनिवृत्ति—नहीं होती, इस तरह दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी विषमता स्पष्ट है ऐसी दशामें तत्त्वज्ञानसे मूल अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर उसी क्षणमें तुरत शरीरपात—देहका छूट जाना—हो जाना चाहिए, ऐसा दोष भी

अज्ञानतत्कार्यसंस्कारादपि शरीराद्यनुवृत्तिसम्भवात्। चक्रभ्रमणादिक्रियायां ज्ञाने च संस्कारः प्रसिद्धो नान्यत्रेति चेद्, न; गन्धादौ संस्कारदर्शनात्। निःसारितपुष्पे पुष्पपात्रे स्थिताः सूक्ष्माः पुष्पावयवा एव गन्धबुद्धिम् उत्पादयन्ति न संस्कार इति चेत्, तथापि प्रलयावस्थायां सर्वकार्यसंस्कारोऽभ्युपगम्य एव। ये तु नाऽभ्युपगच्छन्ति, तान् प्रत्यनुमातव्यम्—विमतः कार्यविनाशः संस्कारव्याप्तः, संस्कारविनाशादन्यत्वे सति विनाशत्वाद्, ज्ञानविनाशवदिति। क्रियाज्ञानयोरेव संस्कार इति प्रसिद्ध्या बाध इति चेत्, तर्ह्यविद्यातत्कार्ययोरपि भ्रान्तिज्ञानरूपत्वात् संस्कारहेतुत्वमस्तु। अविद्यादि-

---

नहीं आता। कारण कि अज्ञान या अज्ञानजनित संस्कारसे भी शरीरकी अनुवृत्ति हो सकती है। संस्कार चक्रभ्रमण—चाकमें भ्रमि—आदि क्रिया तथा ज्ञानादिस्थलोंमें ही होता है, अन्यत्र नहीं होता, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि गन्धादिस्थलमें भी संस्कार देखा गया है। फूलोंकी डलियोंमें से फूलोंको बाहर कर देनेपर भी उस फूलोंके पात्रमें फूलोंके सूक्ष्म अवयव रह जाते हैं, वे ही अवशिष्ट सूक्ष्म अवयव गन्धका ज्ञान कराते हैं, संस्कार नहीं, ऐसा माननेपर भी प्रलयदशामें सम्पूर्ण कार्योंका अर्थात् सकल संसारका जनक संस्कार मानना ही होगा। जो वादी [प्रलय] नहीं मानते हैं, उनके प्रति अनुमान द्वारा उसे सिद्ध करना होगा। [अनुमानका प्रयोग दिखलाते हैं—] विमत—विवादग्रस्त—कार्यका विनाश संस्कारसे व्याप्त है अर्थात् जहाँ जहाँ कार्यका विनाश होता है, वहां सर्वत्र उसका संस्कार शेष रह ही जाता है, [इस तरह कार्यके विनाशके साथ संस्कारकी व्याप्ति सिद्ध होती है।] संस्कारविनाशसे भिन्न होकर विनाश होनेसे, [यदि कार्यविनाश भी संस्कारविनाशरूप होता, तो कार्यविनाशके अनन्तर संस्कार नहीं रह सकता, अतएव निरुक्त विशिष्ट हेतु उक्त अनुमितिमें उपयुक्त ही है।] ज्ञानविनाशके तुल्य।

ज्ञान और भ्रमि-सी क्रियामें ही संस्कारजनकत्व होता है, इस लोकप्रसिद्धिसे [कार्यमात्रके विनाशस्थलमें संस्कार माननेका] बाध होगा, ऐसा यदि माना जाय, तो अविद्या तथा अविद्याके कार्य भी भ्रमात्मक ज्ञान ही हैं, इस कारण वे भी संस्कारजनक होंगे। [संस्कार तो केवल स्मरणके ही प्रति

साक्षिचैतन्यस्य नित्यत्वेऽपि तदवच्छेदकज्ञानाभासरूपवृत्तेरनित्यत्वात् संस्कारः सिध्येत्, तथापि स्मृतिमात्रकारणात् संस्कारात् कथमपरोक्षद्वैतावभास इति चेत्, प्रपञ्चापरोक्षकारणचैतन्याश्रितदोषत्वात् संस्कारस्येति वदामः। अपरोक्षकारणनेत्रादिगतकाचादिदोषाणामपरोक्षभ्रमहेतुत्वात्। न च केवलस्य चैतन्यस्य न संस्काराश्रयत्वसम्भव इति वाच्यम्, अविद्याश्रयत्ववदुपपत्तेः। संस्कारस्य कार्यत्वेऽपि प्रध्वंसवन्नोपादानापेक्षा, अविद्यासंस्कारव्यतिरिक्तभावरूपकार्याणामेवोपादानजन्यत्वात्। अत एवाऽन्यत्र संस्कारस्य स्वोपा-

---

कारण है, प्रत्यक्ष अनुभवका जनक तो है ही नहीं, इसलिए संस्कारका होना प्रकृत अर्थका साधक नहीं हो सकता, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] यदि शङ्का हो कि अविद्या आदिके साक्षी चैतन्यके नित्य होनेपर भी उसकी अवच्छेदक ज्ञानाभासरूप वृत्तिके अनित्य होनेसे यद्यपि संस्कारकी सिद्धि हो सकती है, तथापि केवल स्मृतिके ही कारण संस्कारसे द्वैत प्रपञ्चका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कैसे हो सकता है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञानके कारण चैतन्यमें स्थित दोषरूप होनेसे संस्कार प्रत्यक्षज्ञानका जनक हो जाता है, ऐसा हम कहते हैं। [अपरोक्षज्ञानके कारणमें आए हुए दोषसे अपरोक्ष भ्रम होता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—] कारण कि प्रत्यक्षज्ञानके कारण चक्षु आदिमें काचादि दोष—रोग—शुक्तिरजत, द्विचन्द्र आदि प्रत्यक्ष भ्रमके जनक होते ही हैं। और केवल शुद्ध चैतन्य संस्कारका आश्रय नहीं हो सकता, ऐसी भी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे शुद्ध चैतन्य अविद्याका आश्रय होता है, वैसे ही संस्कारका भी आश्रय हो जायगा। [अर्थात् अविद्याश्रय होनेपर भी जैसे चैतन्यका असङ्गित्व बना रहता है, वैसे ही संस्कारका आश्रय होनेपर भी उसका बाध न होगा।] संस्कार यद्यपि कार्य है, तथापि वह प्रध्वंसके तुल्य उपादानकी अपेक्षा नहीं रखता, कारण कि अविद्या तथा संस्कारसे भिन्न भावरूप कार्योंकी ही उपादानसे उत्पत्ति मानी जाती है। [इससे संस्कारका कोई उपादान न होनेसे उसे नहीं मानना चाहिए, यह भी शङ्का नहीं हो सकती।] अतएव अन्य स्थलमें संस्कारके अपने उपादानमें आश्रित रहनेका नियम होनेपर भी प्रकृतमें संस्कारका अपने अनुपादन चैतन्यमें रहना सङ्गत ही है। संस्कारके

दानाश्रयत्वनियमेऽप्यत्राऽनुपादानचैतन्याश्रितत्वमुपपद्यते। न च संस्काराङ्गीकारे विदेहमुक्त्यभावः, प्रारब्धकर्मणोऽन्ते तत्त्वज्ञानानुसन्धानादेव संस्कारनिवृत्तौ तत्सिद्धेः।

अथ मन्यसे—अविद्याया निवृत्तत्वात् संस्कारस्य चाऽनुपादानत्वान्निरुपादानो देहेन्द्रियादिः कथं सिद्ध्येदिति ? तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरस्तु। प्रतिबन्धकस्य प्रारब्धकर्मणः क्षये तत्त्वज्ञानादविद्यालेशोऽपि निवर्तते, अतः सर्वसंसारनिवर्तकब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्राप्तये सर्ववेदान्तारम्भः। यद्यपि केषुचिद्वेदान्तेषु सगुणोपासनानि विधीयन्ते, तथापि तेषां गोदोहनादिवत् प्रासङ्गिकत्वादुपा-

---

माननेमें विदेहमुक्तिका अभाव होगा, ऐसा दोष भी नहीं देना चाहिए, कारण कि प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेपर तत्त्वज्ञानके अनुसन्धानसे—दृढ़ निश्चल अपरोक्षानुभूतिसे—ही संस्कारकी निवृत्ति हो जानेपर विदेहमुक्तिका होना सम्भव है।

यदि शङ्का हो कि अविद्या तो नष्ट ही हो गई है, और संस्कार उसका उपादान कारण है नहीं, इस अवस्थामें उपादानके—समवायिकारणके—बिना देहेन्द्रियादिकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? [वेदान्तमतमें इस वर्तमान देहेन्द्रियादिसङ्घातका उपादानकारण अविद्या है, तत्त्वज्ञानसे उसकी निवृत्ति हो जानेपर देहेन्द्रियादिसङ्घातकी स्थिति नहीं रहती, क्योंकि कार्यकी स्थिति उपादानके साथ ही रह सकती है और जो शेष संस्कार रह जाता है, वह उसका उपादान नहीं है, इस दशामें जीवनमुक्तिका होना सम्भव नहीं हो सकता, यह शङ्काका अभिप्राय है।] तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कार होनेपर भी प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेतक [पुष्पपात्रसे पुष्पोंके बाहर निकाल देनेपर भी पुष्पोंके सूक्ष्म अवयवोंके शेष रहनेके सदृश] अविद्याके लेशकी अनुवृत्तिसे जीवन्मुक्तिकी सिद्धि होगी। प्रतिबन्धक—अविद्याकी पूर्णतया निवृत्तिको रोकनेवाले प्रारब्ध कर्मका [भोगसे] नाश होनेपर तत्त्वज्ञानसे अविद्याका लेश—सूक्ष्मावस्थासे जरा-सा शेष रहा हुआ सम्बन्ध—भी निवृत्त हो जाता है। इसलिए सम्पूर्ण संसारकी निवृत्ति करा देनेवाले जीव और ब्रह्मके ऐक्यज्ञानकी प्राप्तिके लिए सकल वेदान्तशास्त्रोंका प्रारम्भ है। यद्यपि किसी-किसी स्थलमें वेदान्तशास्त्रोंमें भी सगुण उपासनाओंका विधान है, तथापि उन सगुण उपासनाओंके गोदोहनके तुल्य प्रासङ्गिक होनेसे कर्मभूत—प्राप्य—

सनकर्मभूतं निर्विशेषं ब्रह्मैव तत्राऽपि प्रतिपाद्यम् । उपास्यत्वेन विधीयमाना गुणा अप्यध्यारोपापवादन्यायेन निर्विशेषब्रह्मप्रतिपत्तावुपयुज्यन्ते । अपवादात् प्रागवस्थायामारोपितैस्तैस्तैर्गुणैर्विशिष्टं ब्रह्म तस्मै तस्मै फलायोपास्यत्वेन विधातुं शक्यम् ।

ननु यदि मुमुक्षुणाऽवगन्तव्यं ब्रह्मस्वरूपं बोधयितुमारोपितगुणप्रपञ्चमाश्रित्योपासनाविधिस्तदा मोक्षेऽधिकृतस्यैवोपासनाधिकारः स्यात् । यथा दर्शपूर्णमासयोः 'चमसेनाऽपः प्रणयेत्' इति वाक्यात् प्राप्तमपाम्प्रणयनमाश्रित्य 'गोदोहनेन पशुकामस्य' इति विधीयमाने गोदोहने दर्शपूर्णमासाधिकारिण

निर्विशेष (निर्गुण) ब्रह्म ही उन वेदान्तवाक्योंसे प्रतिपादनीय विषय है । उपासनाके योग्यरूपसे विधान किये जानेवाले गुण भी अध्यारोपापवादन्यायसे * निर्विशेष—गुणरहित—ब्रह्मज्ञानको करानेके ही उपयोगमें आते हैं । अपवाद—निषेध—करनेसे पूर्व अवस्थामें आरोपित उन-उन गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्मका ही उस-उस फलके लिए उपास्यत्वरूपसे विधान किया जा सकता है ।

शङ्का—यदि मुमुक्षु द्वारा जानने योग्य ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आरोप किये गये गुण-प्रपञ्चको लेकर उपासनाविधि है, तो मोक्षके अधिकारीका ही उपासनाओंमें अधिकार मानना चाहिए। जैसे 'दर्शपूर्णमास यागमें 'चमसपात्रविशेषसे जलका प्रणयन करे' इस वाक्यसे प्राप्त जलप्रणयनका आश्रयण करके 'पशुकी इच्छा करनेवाला ['गावो दुह्यन्तेऽस्मिन्' इस अधिकरणव्युत्पत्तिसे] जिस पात्रमें दूध दुहा जाता है उससे जल प्रणयन करे' इस वाक्यसे विधीयमान गोदोहनमें दर्श-पूर्णमासके अधिकारवाले दीक्षित पुरुषका ही अधिकार प्राप्त होता है, वैसे ही मुमुक्षुका ही सगुण उपासनाओंमें भी अधिकार होगा ।

---

* अध्यारोपापवादन्याय—अन्तरधिकरणमें प्रतिपादन किया गया है कि सर्वसाधारण मनुष्योंकी बुद्धिमें निर्गुण ब्रह्मका आना दुःसाध्य है, उनकी ब्रह्मोन्मुख प्रवृत्तिके लिए सगुण ब्रह्मकी उपासना कही गई है । जैसे खेल-कूदमें ही मन लगानेवाले बालकोंको अक्षरोंका परिचय करानेके लिए इस युगमें अक्षरोंके आकारमें मिठाईके खिलौने दिये जाते हैं । और वर्णपरिचय होनेपर वे खिलौने फिर छोड़ दिये जाते हैं वैसे ही मन्दबुद्धि पुरुषोंको भी सगुण उपासनासे ब्रह्मपरिचय कराकर ब्रह्मज्ञानका दृढ़ अभ्यास होनेपर स्वयं गुणोंका त्याग हो जाता है और निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है ।

एवाऽधिकारस्तद्वत् ।

नैष दोषः, तत्र हि दर्शपूर्णमासाधिकारिण एवाऽप्प्रणयनप्राप्तिः, तत्प्राप्तिमत एव पशुकामनायां गोदोहनविधिरित्यधिकृताधिकारता स्यात् । इह तु शब्दादारोपितप्रपञ्चप्रतिपत्तिरमुमुक्षुणामप्यस्तीत्याश्रित्य विधानेऽपि नाऽधिकृताधिकारता । ननु सगुणब्रह्मोपासनाविधायकानां वेदान्तानां ब्रह्मप्रतिपत्तिपरत्वेऽपि न प्राणाद्युपासनविधायकानां तदस्तीति चेत्, न; तेषामपि अन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्रैव पर्य्यवसानाद् । तस्मात् सर्वेषामपि वेदान्तानां ब्रह्मैव विषयस्तद्विद्याप्राप्त्याऽनर्थनिवृत्तिः प्रयोजनम्, ततस्तद्विचारशास्त्रस्याऽपि ते एव विषयप्रयोजने इत्यवगन्तव्यम् ।

समाधान—ऐसा दोष नहीं आता, कारण कि आपके दृष्टान्तस्थलमें दर्श-पूर्णमासोंके अधिकारीको ही जलके प्रणयनकी प्राप्ति है और उसकी प्राप्तिवालेको ही पशुओंकी कामना—इच्छा—होनेपर गोदोहनकी विधि है, इसलिए अधिकृताधिकारताका * अर्थात् दर्शपूर्णमासोंके अधिकारीका ही अधिकार होना सम्भव है । प्रकृत दार्ष्टान्तिकमें शब्द द्वारा आरोप किये गये प्रपञ्चका ज्ञान मुमुक्षुके अतिरिक्त पुरुषोंको भी हो सकता है, अतः इसका अवलम्बन करके विधान करनेपर भी अधिकृतकी अधिकारता सिद्ध नहीं होती । यद्यपि सगुण ब्रह्मकी उपासनाके विधायक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य ब्रह्मज्ञान करानेमें [अध्यारोपापवादन्यायसे] हो सकता है, तथापि प्राणादिकी उपासनाके विधायक वेदान्तवाक्योंका तो तात्पर्य ब्रह्मज्ञानमें नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का भी उचित नहीं है, क्योंकि उन प्राणादि उपासनाओंका भी अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा उस निर्गुण ब्रह्मके ज्ञानमें ही तात्पर्य मानना होगा । इस निष्कर्षसे सभी वेदान्तवाक्योंका विषय ब्रह्म ही है । उसका ज्ञान प्राप्त करनेसे अनर्थकी—दुःखोंकी—निवृत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होता है । इसलिए उस ब्रह्मका विचार करनेवाले उत्तरमीमांसाशास्त्रके भी वे ही दोनों विषय और प्रयोजन होंगे, ऐसा समझना चाहिए ।

* 'अपः प्रणयन्ति' इस वाक्यमें गार्हपत्यस्थलमें आहवनीयके प्रति जलोंका ले जाना ही प्रकृष्ट नयनरूप जलोंका प्रणयन है । वह प्रणयन पशुकामनावालेको दोहनपात्रसे करना चाहिए, इस वाक्यके अर्थसम्पादनमें अधिकार स्वरसतः यज्ञाधिकृत पुरुषका ही प्रतीत होता है । अतएव गोदोहनका पूर्वमीमांसामें क्रमयुक्त पुरुषार्थत्व सिद्ध किया गया है ।

ननु विचारकर्तव्यतामात्रं प्रथमसूत्रस्याऽर्थः, तत्राऽसूत्रिते विषयप्रयोजने वेदान्तविचारसम्बन्धितया किमिति उपपाद्येते इति चेत्? उच्येते एवाऽर्थतो विषय-प्रयोजने। तथाहि—इष्टसाधनतैव विधायकानां लिङ्-लोट्-तव्य-प्रत्ययानामर्थ इति तावदुत्तरत्राऽभिधास्यते। मोक्षकामेन ब्रह्मज्ञानाय वेदान्ता विचारयितव्या इत्यस्मिन् सूत्रवाक्ये तव्यप्रत्ययेन धात्वर्थस्य विचारस्य सामान्येनेष्टसाधनता बोध्यते। तत्र किं तदिष्टमिति विशेषाकारेण फलजिज्ञासायां स्वर्गादिवदधिकारिविशेषणतया मोक्ष एव विचारफलत्वेनाऽवगम्यते। ब्रह्मज्ञानं तु धात्वर्थविचारसाध्यत्वात् फलीभूतमोक्षसाधनत्वाच्च अपूर्ववदवान्तर-

---

यदि ऐसी शङ्का हो कि प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का तात्पर्य तो विचार-कर्तव्यतामात्र अर्थात् ब्रह्मविषयक विचार करना चाहिए—इसमें ही है। उस सूत्रमें जिनका प्रतिपादन नहीं किया गया है, ऐसे विषय और प्रयोजन वेदान्त-विचारके सम्बन्धी हैं, ऐसा क्यों कहा जा रहा है? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रसे अर्थ द्वारा विषय और प्रयोजन कहे ही गये हैं। [सूत्रसे ही विषय तथा प्रयोजनकी अर्थतः सिद्धि दिखलाते हैं—] क्योंकि आगे जाकर कहा जायगा कि विधिका प्रतिपादन करनेवाले लिङ्, लोट्, तव्य आदि प्रत्ययोंका अर्थ इष्टसाधनता ही है। 'मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए वेदान्तशास्त्रोंका विचार करना चाहिए, इस प्रकारके सूत्रार्थको प्रकाशित करनेवाले वाक्यमें तव्यप्रत्ययसे धातुके विचाररूप अर्थमें इष्टसाधनताका बोधन होता है। वह इष्टसाधन वस्तु क्या है? इस प्रकार विशेष जिज्ञासाका उदय होनेपर स्वर्गादिके तुल्य अधिकारीके विशेषण होनेसे मोक्ष ही विचारके फलरूपसे प्रतीत होता है। ब्रह्मज्ञान तो धातुके अर्थके विचारसे साध्य होनेके कारण और मोक्षरूप फलका कारण होनेसे अपूर्व—अदृष्ट—के तुल्य अवान्तर व्यापार होगा। [जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिसे स्वर्गकाम—स्वर्गकी कामना रखनेवाला—अश्वमेध आदिका अधिकारी कहा गया है, इसमें स्वर्ग विशेषण है, अतः अधिकारीके विशेषणरूपसे स्वर्ग ही अश्वमेधादि यज्ञोंका प्रधान फल माना गया है, परन्तु कारणका कार्यके अव्यवहित पूर्वमें रहना, यह नियम है। कालान्तरमें भावी स्वर्गके प्रति उक्त यागोंकी कारणताकी रक्षाके लिए तबतक स्थायी यज्ञजन्य अपूर्व—पुण्य—ही

व्यापाररूपं भविष्यति ।

ननु नेष्टसाधनता लिङादिप्रत्ययार्थः, किन्तु नियोगो मानान्तरागम्यः, स च धात्वर्थेषु नियोज्यं नियुञ्जानः सामर्थ्याद्धात्वर्थेऽस्य फलसाधनत्वं कल्पयतीति ।

मध्यमें अवान्तर व्यापार माना गया है। वैसे ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि श्रुतियोंसे वेदान्तविचारमें मोक्षकामनावालेका अधिकार होनेसे मोक्ष ही विचारशास्त्रोंका मुख्य फल है, परन्तु वह आत्मज्ञानके बिना अनुपपन्न है, अतः ब्रह्मज्ञानमध्यवर्ती अवान्तर व्यापार मानना चाहिए, यह तात्पर्य है।]

शङ्का—लिङादिप्रत्ययका अर्थ इष्टसाधनता नहीं है, किन्तु नियोग (कार्य) ही है, जो कि किसी दूसरे प्रमाणसे नहीं जाना जा सकता। और वह—लिङादिका अर्थ—नियोग (अपूर्व) रूपी धातुके अर्थ यागादिमें अधिकारीको नियुक्त करता हुआ सामर्थ्यसे धात्वर्थमें फलसाधनताकी कल्पना करता है। [तात्पर्य यह है कि जैसे लोकमें लिङादिसे कार्यका ही बोध होता है, वैसे ही वेदमें भी कार्य ही लिङादिका अर्थ होगा। 'घटं कुरु' इत्यादि वाक्यके बिना कार्यकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए 'अनन्यलभ्य' ही शब्दार्थ मानना चाहिए। इष्टसाधनत्व तो प्रत्यक्षदर्शनादिसे उत्पन्न व्याप्तिग्रहादि या आवापोद्वापसे भी गृहीत हो सकता है। परन्तु यज्ञ-यागादि कार्य क्षणभङ्गुर होनेसे कालान्तरभावी स्वर्गादिके कारण नहीं हो सकते, अतः 'यजेत' इत्यादि वैदिक लिङादिका अर्थ अपूर्वात्मक नियोग मानना चाहिए, जो स्वर्गादिकी प्राप्ति तक बना रहता है। इस प्रभाकरसिद्धान्तके अनुसार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिवाक्योंका 'स्वर्गकी इच्छा रखनेवाले पुरुषकी कृतिका लक्ष्य और यागको विषय करनेवाला नियोग' इस रीतिसे अर्थबोध होता है। इसमें स्वर्गकामी नियोज्य अधिकारी और याग विषय सिद्ध होता है। यदि याग अभीष्ट स्वर्गका हेतु न हो, तो स्वर्गकामीके प्रति याग निर्दिष्ट नियोगका विषय नहीं हो सकता। इसलिए 'यजेत' इत्यादि लिङ्से नियोग अनुपपन्न होता हुआ याग और स्वर्गमें कार्यकारणभावकी कल्पना करता है। इस प्रकार प्रभाकर इष्टसाधनत्वको लिङ्का अर्थ नहीं मानता।]

नैतत्सारम्, अनुपपत्त्यभावात्। किं धात्वर्थस्य फलसाधनत्वमन्तरेण योगस्य स्वरूपमनुपपन्नमुत तत्प्रवर्तकत्वमनुपपन्नम् ? नाऽऽद्यः, असत्यपि फले नित्य-नैमित्तिक-नियोगस्वरूपस्य सत्त्वात्। द्वितीयेऽपि किं नियोगः फलकामनामपेक्ष्य प्रवर्तकः उत स्वयमेव प्रवर्तकः ? आद्ये फलकामनैव प्रवर्तयतु किं नियोगेन ? प्रत्यक्षादिषु फल-कामनायाः प्रवर्तने स्वातन्त्र्यदर्शनात्। द्वितीये नदीवेगादिवन्नियोगः फल-कामनारहितमपि पुरुषं बलात् प्रवर्तयेत्। तथा च तत्प्रवर्तकत्वं धात्वर्थस्य

समाधान—यह मत युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि यहांपर अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् नियोगकी अन्यथा भी उपपत्ति हो सकती है। [अनुपपत्तिके निरासके लिए विकल्प करते हैं—] क्या यजादि धातुओंके अर्थ यागादिके फल—स्वर्गादि—के कारणके बिना लिङर्थ नियोगका स्वरूप ही नहीं बन सकता ? या उस नियोगमें धात्वर्थ यागादिमें प्रवर्तकत्व नहीं बन सकता ? अर्थात् यागमें स्वर्गकारणत्वग्रहके बिना नियोग यागादिमें प्रवृत्ति नहीं करा सकता ? प्रथम कल्प युक्त नहीं है, क्योंकि फल न रहते हुए भी नित्य, नैमित्तिक विधिस्थलोंमें नियोगका स्वरूप बना ही रहता है। ['राहूपरागे स्नायात्, अहरहः सन्ध्या-मुपासीत' (सूर्य-चन्द्रग्रहणमें स्नान करना चाहिए, इत्यादि अथवा प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिए) इत्यादि नित्य विधियोंमें किसी फलविशेषका श्रवण नहीं है और लिङर्थ नियोगका स्वरूप विद्यमान है, इससे धात्वर्थका फलविशेषसे सम्बन्ध होनेपर ही नियोगका स्वरूप बनेगा, ऐसा नहीं माना जा सकता।] दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस कल्पमें क्या नियोग फलकी इच्छासे ही प्रवृत्ति कराता है ? अथवा स्वयं [कामनाकी अपेक्षा न रखकर ही] प्रवर्तक है ? प्रथम पक्षके माननेमें तो फलकामना ही प्रवृत्ति करा देगी, अतिरिक्त नियोगसे क्या प्रयोजन ? [प्रत्यक्ष आदि स्थलमें फलकामनाको स्वतन्त्ररूपसे प्रवर्तकत्व देखा गया है। घटादिके प्रत्यक्ष दर्शनसे जलाहरणादि कामनासे 'कुरु कार्यम्' इत्यादि नियोगके बिना भी जलाहरणादिमें प्रवृत्ति हो जाती है।] यदि स्वयं प्रवर्तक है, ऐसा दूसरा पक्ष मानो, तो नदीवेगके तुल्य फलकी इच्छा न रखनेवाले पुरुषको भी जबर्दस्ती यज्ञ-यागादिमें प्रवृत्त करेगा। [जैसे नदीका वेग बह जानेकी इच्छा न रखनेवालेको भी बहा ले जाता है, वैसे ही नियोग हठात् सबको कार्यमें प्रवृत्त कर देगा।] इससे निष्कर्ष यह निकला कि धात्वर्थ यागादिमें स्वर्गादि

फलसाधनत्वाभावेऽपि उपपन्नम्। अन्यथा नदीवेगोऽपि फलसाधने प्रवर्तयेत्। नियोगमात्रस्य धात्वर्थफलसम्बन्धाकल्पकत्वेऽपि फलकामिना प्रमीयमाणो नियोगस्तत्कल्पकः इति चेत्,

नः अत्राऽपि तयोः सम्बन्धमन्तरेणाऽनुपपत्त्यभावात्। न तावत् काम्यफलस्य धात्वर्थसाध्यत्वमन्तरेणाऽधिकारिविशेषणत्वमनुपपन्नम्? जीवनादीनामसाध्यानामपि 'यावज्जीवं जुहुयात्' इत्यादिष्वधिकारिविशेषणत्वदर्शनात्। असाध्यस्वभावानां तथात्वेऽपि साध्यस्वभावस्य फलस्याऽधिकारिविशेषणत्वं धात्वर्थसाध्यतया विनाऽनुपपन्नमिति चेत्, नः किं साध्यस्वभावस्येत्यत्र साध्यशब्देन धात्वर्थसाध्यत्वं विवक्षितम् उत साध्यत्वमात्रम्? आद्ये कल्प्य-

---

फलके प्रति कारणताकी प्रतीति न होनेपर भी नियोग पुरुषकी प्रवृत्ति करा सकता है। अन्यथा—यदि ऐसा न मानो, तो—नदीका वेग भी किसी अभीष्ट फलके होनेपर ही प्रवृत्ति करावेगा। [परन्तु ऐसा है नहीं, अतः प्रभाकर-सिद्धान्त सङ्गत नहीं है।]

शङ्का—यद्यपि सामान्यतः नियोग (साधारण धात्वर्थ) तथा अभीष्ट फल दोनोंके परस्पर कार्यकारणभावरूप सम्बन्धकी कल्पना करनेवाला नहीं बन सकता, तथापि स्वर्गादि फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषसे जाना गया नियोग [अर्थात् पुरुषके प्रति 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि श्रुतिवाक्यमें आए हुए लिङ् द्वारा उपस्थित कराया गया नियोग तो धात्वर्थ यागादिका स्वर्गादि फलके साथ कार्यकारणभाव सम्बन्धमें नियामक अवश्य ही होगा।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलमें भी उनका सम्बन्ध न होनेपर अनुपपत्ति नहीं है, कारण कि कामनाके विषय स्वर्गादि फलोंको धात्वर्थ यागादिसे सिद्ध न मानकर अधिकारीके विशेषण होनेमें कोई अनुपपत्ति—बाधा—नहीं है, क्योंकि 'जबतक जीवन है तबतक हवन—अग्निहोत्र—करे' इस वाक्यमें किसी भी धातुके अर्थसे सिद्ध न होनेवाले जीवन आदि भी अधिकारीके विशेषण होते हुए देखे गये हैं। जीवनादि जो साध्य फल नहीं हैं, उनके विषयमें ऐसा माननेपर भी साध्यस्वभाव—सिद्ध होनेवाले—स्वर्गादि फलोंका तो धात्वर्थसे उत्पन्न होनेवाले माने बिना अधिकारीका विशेषण होना सङ्गत नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्या साध्यस्वभाव यहांपर साध्यपदसे धात्वर्थ द्वारा साध्य—सिद्ध होने लायक—अर्थ लेना है या केवल साध्यत्व ही? प्रथमपक्ष माननेमें कल्प्य और कल्पकके

कल्पकयोरभेदात् आत्माश्रयापत्तिः। द्वितीयेऽपि किं स्वर्गस्य साध्यत्वं शब्दात् प्रतीयते उत अर्थात् ? नाऽऽद्यः, वाचकपदाभावात्। न द्वितीयः, कल्पकाभावात्। नहि स्वर्गस्य साध्यत्वमन्तरेण किञ्चिदनुपपन्नं पश्यामः। स्वर्गस्य साध्यत्वाभावे कामियोगोऽनुपपन्न इति चेत्, एवमपि नाऽस्याऽधिकारिविशेषणत्वम्, यद्बलात् धात्वर्थस्य साध्यता कल्प्येत। यथा 'शुष्कदण्डी देवदत्तः' इत्यत्र दण्ड एव देवदत्तविशेषणम्, शुष्कत्वं दण्डविशेषणम्, तथा

अभेद होनेसे आत्माश्रय दोष हो जायगा। [अर्थात् जिस धात्वर्थसे फलका कार्यकारणभाव सम्बन्ध सिद्ध करना अभीष्ट है, उसी धात्वर्थसे फलमें तुम साध्यत्व मानते हो, इस परिस्थितिमें धात्वर्थसाध्यत्व ही कल्प्य-कल्पक कोटिमें आ जाता है। अथ च स्वर्गादि यागसाध्य है, इस प्रकार स्वर्गादिमें यागसाध्यत्वकी सिद्धि यागमें स्वर्गादिजनकताकी सिद्धिके अनन्तर ही होगी और यागमें स्वर्गजनकत्वकी सिद्धि स्वर्गमें यागसाध्यत्वकी सिद्धिके अनन्तर ही हो सकती है।] साध्यत्वसामान्यपक्षमें भी क्या स्वर्गमें साध्यत्वकी प्रतीति उसके वाचक किसी शब्दके द्वारा होती है ? अथवा अर्थात् होती है ? प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि कोई वाचक पद यहांपर नहीं है। दूसरा भी ठीक नहीं है, कारण कि उस अर्थका कोई कल्पक नहीं है। [वाचक पदके बिना उसके अर्थकी प्रतीति अध्याहार या अनुपपत्तिमूलक आक्षेपसे ही हो सकती है। जैसे—'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि स्थलमें पीनत्वकी अनुपपत्ति रात्रिभोजनकी अर्थात् प्रतीति करा देती है। वैसे ही 'प्रविश' या 'पिण्डीम्' इत्यादि स्थलोंमें क्रियाकारकभावकी अनुपपत्तिसे ही शब्दाध्याहार अथवा अर्थाध्याहार द्वारा 'गृहम्' या 'भुङ्क्ष्व' इत्यादि अर्थोंकी कल्पना होती है। इस प्रकार प्रकृतमें अनुपपत्ति आदिका अभाव दिखलाते हैं—] यदि स्वर्ग साध्य न भी माना जाय, तो भी हम कोई अनुपपत्ति यहांपर नहीं पाते। स्वर्गको साध्य न माननेपर स्वर्गादिकी कामना रखनेवाले पुरुषके प्रति नियोग नहीं हो सकता, इससे उसे साध्य मानेंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि ऐसा माननेपर भी स्वर्गादिका अधिकारीका विशेषण होना सिद्ध नहीं है, जिसके बलपर स्वर्गादिमें धात्वर्थ यागादिके साध्यभावकी कल्पना की जा सके। जैसे 'देवदत्त शुष्क—सूखे हुए—दण्डको धारण करनेवाला है' इस वाक्यमें दण्ड देवदत्तका विशेषण है और शुष्क दण्डका विशेषण है, वैसे ही ['स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे]

'स्वर्गकामोऽधिकारी' इत्यत्राऽपि कामनैवाऽधिकारिविशेषणम्, स्वर्गः कामनायाः विशेषणम्, कामनाद्वारा स्वर्गस्याऽधिकारिविशेषणत्वं स्यादिति चेत्, तथापि न तस्य धात्वर्थसाध्यता सिद्ध्यति, 'अध्येतुकामो भैक्ष्यं चरेत्' इत्यत्र साध्यस्वभावस्याऽधिकारिविशेषणस्याऽप्यध्ययनस्य धात्वर्थभूतभैक्ष्यचरणसाध्यत्वादर्शनात्। 'द्रव्यकामो राजानं धर्मकामो यज्ञान् उपसेवेत' इत्यादौ वैपरीत्यमपि दृष्टमेवेति चेत्, तर्हि स्वर्गतत्कामनयोरधिकारिविशेषणत्वमेव दुर्निरूपम्। तथाहि—न तावत् स्वर्गकामपदं दर्शपूर्णमासनियोगस्य पुरुषेणाऽयोगं व्यवच्छिनत्ति, नित्यविधिबलादेवायोगव्यवच्छेदस्य सिद्धेः। नाऽपि तदन्ययोगव्यवच्छेदकम्, अस्वर्गकामस्य दर्शपूर्णमासव्यवच्छेदे नित्यविधिविरोधात्। नित्यनियोगाद् भिन्नो हि काम्य-

---

'स्वर्गकी कामनावाला अधिकारी है' यहांपर कामना—इच्छा—ही अधिकारीका विशेषण है और स्वर्ग इच्छाका विशेषण है। यदि कामनाके द्वारा स्वर्ग अधिकारीका विशेषण मान लिया जाय, तो भी वह धात्वर्थके द्वारा साध्य नहीं हो सकता। [अधिकारीके विशेषणके साध्य होनेमें व्यभिचार दिखलाते हैं—] 'अध्येतुकामो भैक्ष्यं चरेत्' (अध्ययनकी इच्छा रखनेवाला भिक्षाचरण करे) इस वाक्यमें यद्यपि साध्यस्वभाव अध्ययन अधिकारीका [उक्त रीतिसे] विशेषण है, तो भी भिक्षाचरणरूपी (भीख मांगनारूप) प्रकृत धात्वर्थका वह साध्य नहीं पाया जाता है। 'द्रव्यकी इच्छासे राजाका और धर्मकी इच्छासे यज्ञोंका सेवन करे' इत्यादि वाक्योंमें पूर्वोक्त दृष्टान्तसे वैपरीत्य [अर्थात् परम्परारूपसे अधिकारीके विशेषणभूत द्रव्य, धर्म आदि प्रकृत धात्वर्थ सेवनादिके साध्य] भी देखा ही गया है, यदि यह कहा जाय, तो स्वर्ग तथा स्वर्गकी इच्छा ये दोनों अधिकारीके विशेषण सिद्ध नहीं किये जा सकते, क्योंकि प्रथम तो 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यमें आया हुआ स्वर्गकामपद दर्शपूर्णमास-नियोगके अधिकारी पुरुषके साथ सम्बन्धाभावकी व्यावृत्ति नहीं करता, क्योंकि उक्त स्थलमें नित्यविधिकी सामर्थ्यसे ही सम्बन्धाभावकी व्यावृत्ति सिद्ध है। और उससे अन्यके साथ सम्बन्धाभाव [अर्थात् स्वर्गकाम अधिकारीका ही दर्शपूर्णमाससे सम्बन्ध है, दूसरेका नहीं] का भी बोधक नहीं है, क्योंकि स्वर्गकी कामना न रखनेवाले अधिकारी पुरुषका दर्शपूर्णमाससे सम्बन्धाभाव बोधन करनेसे तो नित्यविधिका विरोध होगा। नित्य नियोगसे काम्य नियोग भिन्न है।

नियोगः । तत्राऽयोगान्ययोगव्यवच्छेदे नाऽस्त्युक्तदोष इति चेद्, मैवम्; यद्यपि यावज्जीववाक्येन बोध्यो नित्यनियोगः, काम्यनियोगश्च स्वर्गकामवाक्यबोध्यः, तथापि साङ्गदर्शपूर्णमासनियोगस्योभयत्रैकत्वेन प्रत्यभिज्ञानान्नाऽस्ति भेदः । नित्यकाम्यविभागस्त्वधिकारमात्रभेदादुपपद्यते । न च अधिकारिविशेषणत्वाभावे स्वर्गकामपदवैयर्थ्यं शङ्कनीयम्, यथा 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इत्यादौ ऋत्विजः प्रैषानुवक्तुः प्राप्तत्वात् दण्डिविशेषणपरं वाक्यं यत्प्रैषानन्वाह तद्दण्डी सन्निति, तथा स्वर्गकामपदमपि विशेषणस्वर्गपरम् । तदुक्तं पार्थसारथिना—

उस काम्य नियोगमें अयोगकी—सम्बन्धाभावकी—और अन्ययोगकी—दूसरेके साथ सम्बन्धकी—व्यावृत्ति माननेमें कहा गया (नित्यविधिविरोध) दोष नहीं आता, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि नित्य नियोग—नित्य विधि—'यावज्जीवं जुहुयात्' इत्यादि वाक्यगत यावज्जीव—जीवनपर्यन्त—पदसे सूचित होता है और काम्यविधान 'स्वर्गकाम' पदसे ज्ञात होता है तथापि अपने अङ्गोंके सहित दर्शपूर्णमास नियोगविधिका काम्य तथा नित्य दोनों स्थलोंमें ['स्वर्गकामो यजेत' इस प्रकरणमें भी और 'यावज्जीवं जुहुयात्' इस नित्यविधिमें] भी एक-सा ही प्रत्यभिज्ञान होनेसे [नित्य और काम्य दोनों स्थलोंमें] कोई भेद नहीं है। ऐसे स्थलोंमें नित्य तथा काम्य, इस प्रकारका विभाग तो केवल अधिकारभेदसे ही है। और यह भी कहना उचित नहीं है कि स्वर्ग या उसकी इच्छाको अधिकारीका विशेषण न माननेसे स्वर्गकामपद व्यर्थ हो जायगा, कारण कि जैसे 'दण्डधारण करता हुआ प्रैषोंका अनुवदन करे' इत्यादि वाक्योंमें प्रैषोंका अनुवदन करनेवाले ऋत्विक्के प्राप्त होनेसे वह वाक्य दण्डिविशेषणपरक माना जाता है अर्थात् 'प्रैषका अनुवदन दण्डी होता हुआ ही करे'। [तात्पर्य यह है कि प्रैषानुवचन तो 'मैत्रावरुणः प्रेष्यति चान्वाह' इस वाक्यसे सिद्ध ही है। 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इस वाक्यका प्रैषानुवचनकर्ताके दण्डविशेषणमात्रमें तात्पर्य है, इससे दण्डमें अधिकारिविशेषणत्व नहीं आता।] वैसे ही प्रकृतमें स्वर्गकामपद भी केवल विशेषणीभूत स्वर्गतात्पर्यक ही है। [इसका विशिष्ट पुरुषके अधिकारके बोधनमें तात्पर्य नहीं है।] इस विषयमें पार्थसारथिने कहा है—

'अपेक्षितत्वाद्भाव्यस्य कामशब्दो हि तत्परः ।
विशेषणप्रधानत्वं दण्डीत्यादिषु दर्शितम् ॥' इति ।

स्वर्गकामपदस्य फलमात्रपरत्वेऽप्यर्थादधिकारी लभ्यते । धात्वर्थस्य यागस्य स्वर्गसाधनत्वे लिङादिप्रत्ययैर्बोधिते सति मदपेक्षितफलसाधनमिदं कर्मेति कर्मण्यधिकारं पुरुषः स्वयमेव प्रतिपद्यते । एवं च फलपरं स्वर्गकामपदं साधनवचनेनाऽन्विताभिधानमर्हति, तच्चेष्टसाधनतायास्तव्याद्यर्थत्वे

भाव्यकी—यागादिसे जिसकी भावना–उत्पादना–करनी हो उसकी—अपेक्षा होती है, इस अपेक्षासे कामशब्द अर्थात् स्वर्गकामपद दिया गया है, जो कि भाव्य–स्वर्गादिरूप—अर्थका बोधन करता है, क्योंकि [इसमें शङ्का होती है कि स्वर्गकामपद तो धर्मी पुरुषविशेषका वाची है, उसका तात्पर्य धर्ममें—स्वर्गादिमें—कैसे होगा ? दृष्टान्त द्वारा उक्त शङ्काका उत्तरार्द्धसे वारण करते हैं—] 'दण्डी' इत्यादि पदोंमें विशेषणकी–धर्मकी–प्रधानता देखी गयी है । [यहांपर दण्डीपदसे 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इत्यादि वाक्यगत 'दण्डी' पद लेना चाहिए, उसका तात्पर्य दण्डरूप विशेषणमें ही है । यह पहले ही कह आये हैं ।]

[ऐसा माननेसे तो अधिकारीका लाभ नहीं होगा, इस आशङ्काके अभिप्रायसे समाधान करते हैं—] यद्यपि स्वर्गकामपदका विशेषणान्वित फलमात्रका बोधन करनेमें तात्पर्य है, तथापि अधिकारी अर्थतः प्राप्त हो जाता है । लिङादिप्रत्ययोंके द्वारा धात्वर्थ यागमें स्वर्गकी कारणताका बोध होनेपर मेरे अभीष्ट फलको उत्पन्न करनेवाला यह ['यजेत' इत्यादि श्रुतिबोधित यागादि] कर्म है, इतना ज्ञान होनेपर ही पुरुष उस कर्ममें अपना अधिकार स्वयं जान जाता है । इस निर्णयके अनुसार फलबोधनके तात्पर्यसे प्रयुक्त स्वर्गकामपद साधनवचनके साथ अन्वित होकर ही अपने अर्थको कहता है । [तात्पर्य यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें पहले लिङादि प्रत्यय द्वारा यागमें इष्टसाधनत्वकी प्रतीतिके अनन्तर याग किसका इष्टसाधन है, इस जिज्ञासाका निराकरण स्वर्गकामपद करता है । इस स्वर्गकामपदका स्वर्गबोधनमें तात्पर्य होनेसे उसको अपने साधक हेतुकी अपेक्षा होती है । इस आकाङ्क्षाकी ही 'यजेत' आदि लिङन्तपदसे पूर्ति होती है ।

सिध्यति, न नियोगस्य तदर्थत्वे । तस्मात् न नियोगो लिङादिप्रत्ययार्थः ।

अन्ये पुनर्धात्वर्थस्वर्गयोः साध्यसाधनसम्बन्धावगममेवमाहुः—विषय-नियोज्याभ्यां विशिष्टो नियोगस्तावद्विधिवाक्यादवगम्यते । विषयो यागः, नियोज्यः स्वर्गकामः, तयोश्च कर्मकर्तृरूपेण परस्परान्वयो नियोगनिष्पत्त्य-न्यथानुपपत्त्याऽवगम्यते । अन्वयाभावे नियोज्येन विषयेऽननुष्ठीयमाने तदनुष्ठानसाध्यो नियोगो न निष्पद्यते । तत्र यथा दण्डिनाऽन्वीयमानस्य दण्डेनाऽप्यन्वयस्तथा स्वर्गकामविशिष्टनियोज्येनाऽन्वीयमानस्य यागस्य

अतः विशेषणीभूत स्वर्गादिपरक पद भी इष्टसाधनताके बोधक 'यजेत' आदि पदोंके अर्थसे अन्वित अर्थका ही बोध कराते हैं । अतः 'यजेत' आदि लिङ्का वाच्य अर्थ नियोगरूप नहीं हो सकता ।] और स्वर्गकामादि पदोंकी साधन-वचनके साथ अन्वित अर्थका बोध करानेकी योग्यता तभी सिद्ध हो सकती है, जब इष्टसाधनत्व ही 'तव्य' आदि प्रत्ययोंका अर्थ मान लिया जाय । नियोगको उन प्रत्ययोंका अर्थ माननेमें उक्त योग्यता सिद्ध नहीं होगी । इस निर्णयसे नियोग लिङादिका अर्थ नहीं हो सकता ।

दूसरे वादी धात्वर्थ यागादि और स्वर्गादिका कार्यकारणसम्बन्ध निम्न प्रकारसे सिद्ध करते हैं—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्योंसे विषय और नियोज्य—अधिकारी—इन दोनोंसे विशिष्ट ही नियोग प्रतीत होता है । विषय है—याग, और स्वर्गकी इच्छा करनेवाला है—नियोज्य, इन दोनोंका कर्म और कर्ता रूपसे परस्पर अन्वय, नियोगनिष्पत्तिकी अन्यथा उपपत्ति न हो सकनेसे, प्रतीत होता है । [अतः विशिष्ट ही नियोग माना जायगा, एवं नियोज्य और विषयका परस्पर क्रियाकारकभाव सम्बन्ध अवश्य होगा ।] यदि उनका परस्पर अन्वय नहीं माना जाय, तो नियोज्य पुरुषके द्वारा विषय यागादिका अनुष्ठान न किये जानेपर उसके–नियोज्य पुरुषके–यागादिका अनुष्ठान करनेपर सिद्ध होनेवाला नियोग सिद्ध ही नहीं हो सकेगा अर्थात् अनुष्ठाताके बिना यागकी असिद्धि और याग न होनेसे नियोगकी निष्पत्ति होना असम्भव है । 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इस वाक्यमें जैसे विशिष्ट दण्डीके साथ अन्वयको प्राप्त होनेवाले प्रैषानुवचनका दण्डके साथ भी अन्वय होता है, वैसे ही स्वर्गकामरूपी विशिष्ट नियोज्यके साथ अन्वयको प्राप्त होनेवाले यागके विशेषण स्वर्गका भी अन्वय होता है । [अर्थात्

विशेषणीभूतस्वर्गेणाऽप्यन्वयो भवति। स चाऽन्वयो गुणप्रधानभावादृते न सम्भवति। ततः स्वर्गस्य प्राधान्येन यागस्य गुणभावेनाऽन्वये सति तयोः साध्यसाधनसम्बन्धः स्यादिति।

नैतत्सारम्, उक्तरीत्या कर्तृविशेषणभूतजीवनगृहदाहादिनाऽपि यागस्याऽन्वयप्रसङ्गात्। अस्तु को दोष इति चेद्, उच्यते—तत्र किं जीवनादेर्धात्वर्थं प्रत्यङ्गत्वेनाऽन्वयः किं वा प्राधान्येन? आद्ये नित्यदर्शपूर्णमासाधिकारिविशेषणस्य जीवनस्य दर्शपूर्णमासाङ्गत्वेन तद्विकृतौ सौर्यादावप्यन्वयः प्रसज्येत। तथाहि—'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इत्यनेन विहितस्य कर्मणो दर्शपूर्णमासविकृतित्वं निर्वपतिचोदनासामर्थ्यात् सिद्धम्। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' इति अतिदेशेन प्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासाङ्गानां

विशेषणके साथ अन्वय विशिष्ट अन्वयके बिना नहीं हो सकेगा] और वह अन्वय गुणप्रधानभावके अतिरिक्त [समप्राधान्य] सम्बन्धसे नहीं हो सकता। इससे स्वर्गका प्राधान्यसे और यागका गुणभावसे अन्वय माननेमें इन दोनोंका साध्यसाधन अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध ही होगा। [स्वर्ग अभीष्ट है, अतः उद्देश्य होनेसे कर्म होगा और याग क्रियास्वरूप होनेसे कारण होगा, इस प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यसे याग द्वारा अपने अभीष्ट स्वर्गकी साधना करे, ऐसा नियोग बोधित होता है।]

आपका यह मत युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि [विशेषणान्वयके बिना विशिष्टान्वय नहीं हो सकता, यह माननेमें अतिप्रसङ्ग दोष दिखलाते हैं—] आपकी उक्त रीतिसे विशेषणान्वयको विशिष्टान्वयके प्रति प्रयोजक माननेसे कर्ताके प्रति विशेषणीभूत जीवन, गृह तथा दाह आदिसे भी यागका अन्वय प्राप्त हो जायगा। यदि अन्वय हो जाय, तो भी क्या दोष है? यदि ऐसा कहो, तो दोष कहते हैं—जीवन आदिका धात्वर्थके साथ गुणभावसे अन्वय है? या प्राधान्यसे है? यदि प्रथम कल्प मानो, तो दर्शपूर्णमासका अङ्ग होनेसे उसकी विकृति सौर्यादिमें नित्य दर्शपूर्णमासके अधिकारीके प्रति विशेषणीभूत जीवनका भी अन्वय प्राप्त हो जायगा, क्योंकि ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाला 'सौर्य चरुका निर्वाप करे' इस वाक्यसे विहित कर्म निर्वपनरूप चोदनाके बलसे दर्शपूर्णमासका विकृति याग है, यह सिद्ध है। उस स्थलमें 'प्रकृतिके तुल्य विकृति करनी चाहिए' इस अतिदेशसे प्रकृतिस्वरूप

विकृतौ प्राप्तिदर्शनात्, तदविशेषाज्जीवनमपि प्राप्नुयात्ततो यावज्जीवं सौर्यं चरुं निर्वपेदिति स्यात्। न च कामाधिकारेण नित्याधिकारस्य बाधाद-दोष इति वाच्यम्; यथा प्रकृतौ नित्यकाम्याधिकारस्तथा विकृतावपि प्रसङ्गात्। द्वितीये जीवनादेः प्राधान्येन स्वर्गादिवत्साध्यत्वं स्यात्। तस्मात् फलविशेषपरं स्वर्गकामपदं सामान्येन श्रेयःसाधनत्वविध्यभिधायिना लिङादिपदेनाऽन्विताभिधानं करोति।

ननु यदि लिङादिप्रत्ययैरिष्टसाधनता विधीयते, तदा 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र तृतीया न सिद्ध्येत्, तिङ्-कृत्-तद्धित-समासैरनभिहिते करणे कारके तृतीयाविधानात्।

नाऽयं दोषः, धात्वर्थस्य यागसामान्यस्य कारणत्वेऽभिहितेऽपि याग-

---

दर्शपूर्णमासके अङ्गोंकी विकृतिमें प्राप्ति देखी गई है। इसमें कोई विशेष न होनेसे जीवन भी [विकृतिमें] प्राप्त होगा। इससे 'जीवनपर्यन्त सौर्य चरुका निर्वाप करे' ऐसा प्रसङ्ग आ जायगा। और काम्यविधानसे नित्याधिकारका बाध हो जायगा। [यदि 'सौर्यं चरुम्' इत्यादि विधिमें भी यावज्जीवनका सम्बन्ध हो, तो इसमें भी नित्यविधित्व प्राप्त हो जायगा। अतः यहांपर यावज्जीवनका सम्बन्ध नहीं होगा।] इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि जैसे प्रकृति याग (दर्शपूर्णमास) में नित्य और काम्य दोनोंका अधिकार है, वैसे ही विकृति यागमें भी दोनोंका अधिकार प्राप्त हो जायगा। [जीवनादिका प्रधानरूपसे धात्वर्थके साथ अन्वय है,] इस द्वितीय पक्षमें जीव-नादिके प्रधान होनेसे स्वर्गादिके तुल्य उनमें साध्यत्व प्राप्त हो जायगा। [अर्थात् जैसे स्वर्गादि यागसाध्य माने जाते हैं, वैसे ही जीवनादिको भी यागसाध्य मानना पड़ेगा।] इससे अर्थात् धात्वर्थके फलस्वरूप स्वर्गादिके सम्बन्धकी सिद्धि न होनेसे स्वर्गात्मक फलविशेषके तात्पर्यसे प्रयुक्त स्वर्गकामपद सामान्यतः इष्टसाधनत्वविधिके अभिधायक लिङादिपदसे अन्वित अर्थका अभिधान करता है।

शङ्का—यदि लिङादिप्रत्ययोंसे इष्टसाधनताका अभिधान होता है, तो 'ज्योतिष्टोमनामक यागसे यज्ञ करना चाहिए' इस वाक्यमें ज्योतिष्टोमपदसे तृतीया विभक्तिकी सिद्धि नहीं होगी, कारण कि तिङ्, कृत्, तद्धित और समाससे अभिहित न होनेवाले करणकारकमें तृतीयाका विधान होता है।

समाधान—उक्त दोष नहीं आता, क्योंकि सामान्य यागस्वरूप धात्वर्थकी

विशेषज्योतिष्टोमकरणत्वस्याऽनभिहितत्वात् । तत इष्टसाधनताया विधायकप्रत्ययार्थतायां न कोऽपि दोषः, तथा च 'मोक्षकामेन वेदान्ता विचारयितव्याः' इत्यनेन सूत्रवाक्येनाऽपि श्रेयोमात्रसाधनत्वे विचारस्याऽभिहिते सति अर्थात् श्रेयोविशेषो मोक्षो विचारशास्त्रप्रयोजनमिति लभ्यते । ब्रह्मजिज्ञासेति शब्देन विषयोऽपि सूचितः । यद्यपि समन्वयाध्यायेनैव विषयोऽवगम्यते चतुर्थाध्यायेन च प्रयोजनम्, तथापि प्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रथमसूत्रेऽपि ते सूचनीये । तदेवं विषयप्रयोजनसद्भावात् शास्त्रमारम्भणीयमित्येतद्वर्णकतात्पर्यमिति सिद्धम् ।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणोपन्यासे प्रथमं वर्णकं समाप्तम् ।

कारणताका [लिङ्के स्थानमें आए तिङ्प्रत्ययसे] बोध होनेपर भी यागविशेष ज्योतिष्टोमगत करणकारकत्वका अभिधान [उस लिङ्से] नहीं हुआ है । [अतः अनभिहित करणमें तृतीयाविभक्तिकी सिद्धि हो गई ।] इससे 'यजेत' आदि पदघटक विधायक लिङादि प्रत्ययोंका इष्टसाधनतारूप अर्थ माननेमें कोई भी दोष नहीं आता । इस प्रकार प्रकृतमें 'मोक्षकी इच्छावालेको वेदान्तशास्त्रोंका विचार करना चाहिए' इस सूत्रवाक्यसे भी विचार करना अभ्युदयमात्रका कारण है, ऐसा सूचित हो जानेपर अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि श्रेयोविशेष मोक्ष विचारशास्त्रका प्रयोजन है । और ब्रह्मजिज्ञासापदसे विषय भी सूचित कर दिया गया है । यद्यपि समन्वयाध्यायसे ही विषयकी प्रतीति होती है । और चतुर्थ अध्यायसे प्रयोजनकी प्रतीति होती है, तथापि विचारप्रवृत्तिके हेतुभूत इन दोनोंकी सूचना प्रथम सूत्रमें भी आवश्यक है । [यहांपर सूत्रमें स्पष्ट क्यों नहीं कहा गया ? अथवा सूत्रके अनेकार्थक होनेका दोष होगा, इत्यादि शङ्काओंका अवकाश नहीं है, क्योंकि ये दोनों बातें सूत्रके लिए भूषण ही हैं । सूत्रोंका अर्थकी सूचना करना या बह्वर्थक होना ही लक्षण है, जैसा कि अभियुक्तोंने कहा है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥']

इस प्रकार विषय तथा प्रयोजनके होनेसे विचारशास्त्रका आरम्भ अवश्य करना चाहिए, यही इस वर्णकका तात्पर्य है, यह सिद्ध हुआ ।

इति श्री पं० ललिताप्रसाद डबरालविरचित विवरणोपन्यास-
भाषानुवादका प्रथमवर्णक समाप्त ।

अथ द्वितीयं वर्णकम्

आत्मा श्रोतव्य इत्यस्य विधेर्वेदान्तवाक्यगः ।
विचारो विषयः साक्षात् स निरूप्योऽत्र वर्णके ॥
वेदान्तव्यवधानेन ब्रह्मैक्यं विषयो विधेः ।
निरूपितः स पूर्वस्मिन् वर्णके सप्रयोजनः ॥
वेदान्ता यदि शून्याः स्युर्विषयेण फलेन च ।
तदा दूरे तद्विचारोऽतस्तयोः पूर्वमीरणम् ॥
सम्भाविते विचारेऽद्य पूर्वमीमांसया स किम् ।
गतो न वेति सन्देहे निर्णयोऽत्राऽभिधीयते ॥

ननु वेदान्तानामर्थनिर्णयाय न्यायकलापोऽपेक्षितः । स च 'अथातो धर्म-

---

द्वितीय वर्णक

[प्रथम श्लोकसे द्वितीय वर्णकके प्रमेयका संग्रह करते हैं—]

'आत्मा श्रोतव्यः' (आत्माका श्रवण—विचार—करना चाहिए) इस विधि-वाक्यका साक्षात् विषय वेदान्तवाक्योंसे किया जानेवाला विचार है, उसका ही इस (द्वितीय) वर्णकमें निरूपण किया जायगा ।

[द्वितीय श्लोकसे प्रथम वर्णकके प्रमेयका उपसंहार करते हैं—]

वेदान्तशास्त्रोंके द्वारा ब्रह्मके ऐक्य—जीव और ब्रह्मके ऐक्य—(अथवा सर्व-तादात्म्य) रूप विषयका प्रथम वर्णकमें प्रयोजनके सहित निरूपण किया गया है ।

[तृतीय श्लोकसे सर्वप्रथम विषय तथा प्रयोजनके निरूपणकी आवश्यकता दिखलाते हैं—]

यदि वेदान्तशास्त्र विषय तथा प्रयोजनसे रहित हों अर्थात् इन शास्त्रोंका न तो कोई विषय हो और न कोई प्रयोजन हो, तो इनका विचार करना प्राप्त ही नहीं होता, इसलिए सर्वप्रथम इन दोनोंका (विषय और प्रयोजनका) वर्णन करना उचित है ।

वेदान्तोंके विषय तथा प्रयोजनके सिद्ध होनेपर उन वेदान्तोंका विचार करना अवश्य सम्भावित होता है, परन्तु अपेक्षित विचार पूर्वमीमांसशास्त्रसे गतार्थ है या नहीं, इस सन्देहका यहाँ निर्णय किया जाता है ।

वेदान्तवाक्योंका अर्थनिर्णय करनेके लिए न्यायवाक्योंकी अपेक्षा होती

जिज्ञासा' इत्यादिसूत्रैः सूत्रितः। न च विधिवाक्यार्थस्य तत्र निर्णयः प्रवृत्त इति वाच्यम्, कृत्स्नवेदस्य विधिमात्रपरत्वात्। वेदान्ताः सिद्धपरा इति चेत्, न; तेषामप्यात्मा द्रष्टव्य इत्यादिज्ञानविधिपरत्वात्। तर्हि क्रियाविधिकलापः पूर्वमीमांसायां निरूपितः ज्ञानविधिनिरूपणायोत्तरमीमांसाऽऽरभ्यतामिति चेद्, न; उत्पत्तिविनियोगप्रयोगाधिकाराणां चतुर्णां विध्यपेक्षितरूपाणां क्रियायां निरूपितानां ज्ञानेऽपि न्यायसाम्येन बोद्धुं शक्यत्वात्।

है। ऐसे न्यायवाक्योंका 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादि सूत्रोंसे प्रतिपादन किया गया है। उनमें केवल विधिवाक्योंके (कर्मकाण्डोंके) अर्थका ही निर्णय किया जाता है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण वेदवाक्योंका तात्पर्य विधिमें—क्रियाकलापात्मक कर्मकाण्डमें— ही है [अर्थात् कोई भी ऐसा वेदवाक्य नहीं है, जिसका विचार विधिवाक्योंके विचारसे प्रवृत्त पूर्वमीमांसामें न किया गया हो]। वेदान्तवाक्योंका सिद्ध वस्तुके प्रतिपादनमें तात्पर्य है [साध्यस्वरूप कर्मकाण्डमें नहीं] यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि उनका (वेदान्तवाक्योंका) भी 'आत्मा द्रष्टव्यः' (आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) इत्यादि ज्ञानविधिमें तात्पर्य है। तब तो क्रियाकलापात्मक कर्मकाण्डविधिका निरूपण पूर्णमीमांसामें हो ही गया, सिद्ध वस्तुके विवेकात्मक ज्ञानविधिके निरूपणके लिए उत्तरमीमांसाशास्त्रका आरम्भ किया जाय ? ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि विधिवाक्योंसे अपेक्षित उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग तथा अधिकार इन चारोंका क्रिया—कर्मकाण्ड—में निरूपण किया गया है; इन्हें न्यायसाम्यसे ज्ञानमें भी जान सकते हैं, [क्योंकि वाक्यार्थ तो सर्वत्र समान रीतिसे ही होता है]।

[अर्थात् क्रियाकलापकी सिद्धि इन चारोंके बिना नहीं हो सकती, अतः इनके ही कारण विधिवाक्योंमें विधिवाक्यत्व बनता है, अन्यथा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जिसको इन चारोंकी अपेक्षा हो, वही विधिवाक्य है। एवं ज्ञानको भी इन चारोंकी अपेक्षा होती है, इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानविधि भी क्रियाकलापके तुल्य विधि ही है। इस तरह ज्ञान तथा क्रिया इन दोनों विधियोंमें कोई वैषम्य नहीं है, यह तात्पर्य है।]

तत्रोत्पत्तिविधिर्नाम कर्मस्वरूपमात्रबोधकः 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिः। तथाऽङ्गाङ्गिसम्बन्धबोधकः 'दध्ना जुहोति' इत्यादिर्विनियोगविधिः। साङ्गप्रधानकर्मण्यनुष्ठानबोधकः प्रयोगविधिः। स च श्रौत इति भाट्टाः। विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणेन कल्पनीय इति प्राभाकराः। फलकामिनो जीवनादिनिमित्तवतो वा कर्मण्यधिकारप्रतिपादकोऽधिकारविधिः। त एते विधयः क्रियायां निरूपिता ज्ञानेऽपि यथायोगमुत्प्रेक्षितुं शक्याः। अन्यथा क्रियामेकामुदाहृत्य निरूपिताः क्रियान्तरे पुनः प्रतिपादनीयाः स्युः।

नन्वभ्यधिकाशङ्काभिर्निराकरणायाध्यायान्तरवच्छास्त्रान्तरमारम्भणी-

---

[उत्पत्ति आदि चारों विधियोंका विवेक दिखलाते हैं—] उनमें कर्मके स्वरूपमात्रका बोध करानेवाली विधि उत्पत्तिविधि है, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' (अग्निहोत्र करना) इत्यादि। अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्धका प्रतिपादन करनेवाली विधि विनियोगविधि है, जैसे 'दधि–दही––से हवन करना' इत्यादि। अङ्ग सहित प्रधान कर्ममें अनुष्ठानका बोध करानेवाली विधि प्रयोगविधि है। वह प्रयोगविधि श्रौत—साक्षात् श्रुतिके तात्पर्यकी विषय—है, ऐसा भट्टमतानुयायी कहते हैं। विधिके आक्षेपात्मक उपादानप्रमाणसे उस प्रयोगविधिकी कल्पना की जाती है, ऐसा प्रभाकारानुयायी मीमांसक कहते हैं। स्वर्गादि फलकी इच्छा रखनेवाले तथा यावज्जीवन शुचिकालकी रक्षाके निमित्त राहूपरागमें स्नान आदिके लिए उपस्थित होनेवाले पुरुषके अश्वमेध आदि यागात्मक स्नान, संध्या आदि क्रियाकलापमें अधिकारका प्रतिपादन करनेवाली विधि अधिकारविधि है। इस प्रकार उक्त चारों विधियाँ, जिनका क्रियामें निरूपण किया गया है, ज्ञानकाण्डमें भी यथायोग––जहांपर जिस प्रकार जिस विधिका समावेश हो सके–– लगाई जा सकती हैं। अन्यथा इन चारों विधियोंका जिस एक क्रियाका उदाहरण देकर निरूपण किया गया हो उसी क्रियामें समझी जायँगी, दूसरी क्रियामें पुनः इनका निरूपण करना होगा।

अधिक आशङ्काओंसे (एकके निरूपणके अनन्तर प्रसङ्गसे क्रमशः प्राप्त हुई शङ्काओंसे) [उत्पन्न हुए सन्देहको] दूर करनेके लिए दूसरे-दूसरे अध्यायोंके आरम्भके तुल्य एक शास्त्रके अनन्तर दूसरे शास्त्रका आरम्भ करना

यम् । तथा हि—वेदाप्रामाण्यशङ्कायां प्रथमेऽध्याये तत्प्रामाण्यं निरूपितम् । सर्वकर्मैक्यशङ्कायां द्वितीये 'यजति', 'जुहोति' इत्यादिशब्दान्तरादिहेतुभिरुत्पत्ति-विधिभेदपूर्वकः कर्मभेदो निरूपितः । सर्वत्र समप्राधान्यशङ्कायां तृतीये श्रुतिलि-लिङ्गादिप्रमाणैरङ्गाङ्गिभाव उक्तः । चतुर्थे क्रत्वर्थत्वेनैतावतामनुष्ठानं पुरुषार्थ-

चाहिए । जैसे—वेदोंमें प्रामाण्यकी आशङ्काका उदय होनेसे [बारह अध्यायवाली पूर्वमीमांसाके] प्रथम अध्यायमें उनके प्रामाण्यका निरूपण किया गया है । सब प्रकारके कर्मोंमें एक ही प्रकारकी विधि प्राप्त होनेकी आशङ्कासे द्वितीय अध्यायमें 'यजति' (याग करना), 'जुहोति' (हवन करना) इत्यादि दूसरे-दूसरे (भिन्न-भिन्न) शब्द आदि हेतुओंसे उत्पत्ति, विधि आदि भेदपूर्वक कर्मोंका भेद दिखलाया गया है । सभी विधिवाक्योंमें समानभावसे प्रधानता प्राप्त होनेकी शङ्कासे तृतीय अध्यायमें श्रुति[2], लिङ्ग[3] आदि प्रमाणोंसे अङ्गाङ्गिभावका—गुणगुणिभावका अर्थात् किसीमें प्रधानत्व और किसीमें उसके उपकारकत्वका निर्णय किया गया है । चौथे अध्यायमें

(१) उत्पत्ति, प्रयोग, विनियोग और अधिकार—इस प्रकार चार भेद पहले दिखलाये गये हैं । चारोंका स्वरूपवर्णन आगे चलकर मूलमें ही होगा ।

(२) श्रुत्यादि-न्याय इस प्रकार दिखलाया गया है—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' यह जै० सूत्र है । इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रमें पठित श्रुति आदि जहांपर सब प्राप्त हों वहांपर परको बाध कर पूर्व-पूर्वको मानना चाहिए । [इसमें सूत्रकार अर्थविप्रकर्ष हेतु देते हैं ।] अर्थात् श्रुत्यादिमें लिङ्ग आदि पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा पर-पर विलम्बसे अर्थका बोध कराते हैं, अतः पूर्वकी अपेक्षा पर दुर्बल हैं ।

जैसे—'व्रीहीन् अवहन्ति' यह श्रुति दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा न रखती हुई स्वतः प्रमाणभूत है । यहांपर अवघातक्रियासे उत्पन्न अतिशयका भागी होना रूप कर्मपदार्थको द्वितीया विभक्तिकी श्रुति ही अपनी प्रकृतिके अर्थभूत व्रीहिको क्रियाके प्रति शेषी—प्रधान—बतला रही है । इसमें दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है ।

(३) अर्थविशेषका प्रकाश करनेकी सामर्थ्य लिङ्गमें है, जैसे 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इस मन्त्रमें उपलादिलवनमें भी अङ्गत्व प्राप्त हो सकता है, परन्तु शब्दसामर्थ्यसे पुरोडाशके सदनस्वरूप कुश, काश आदि स्वरूप मुख्य बर्हिका ही लवन लिया जाता है । कहा भी है—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' अर्थात् शब्दसामर्थ्यका नाम लिङ्ग है ।

(४) परस्पर आकाङ्क्षादि द्वारा एक ही अर्थमें तात्पर्यका पर्यवसायक पदसमूह वाक्य

त्वेन चैतावतामिति निर्धारितम्। पञ्चमे 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इत्यादौ क्रमो दर्शितः। षष्ठे कामिन इहाधिकारो जीवनादिनिमित्तवतश्चेहेति विचारितम्। इति पूर्वषट्केन प्रकृतिविध्यपेक्षितो विचारः कृतः। समग्राङ्गसंयुक्तो विधिः प्रकृतिः। विकलाङ्गसंयुक्तो विधिर्विकृतिः। विकृतिविध्यपेक्षितो विचारः सप्तममारभ्योत्तरषट्केन कृतस्तत्रापि सप्तमेन प्रकृत्युपदिष्टानामङ्गानां सामान्येन विकृतावतिदेशो निर्णीतः। इत्थं कुर्यादित्युपदेशस्तद्वत्कुर्यादित्यतिदेशः। अष्टमे तु प्रकृतिभूतायां दर्शपूर्णमासाख्यायामिष्टावाग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यत्र पुरोडाशप्रकृतिद्रव्यभूतानां व्रीहीणां ये निर्वापावघातप्रोक्षणादयो धर्मा अभिहितास्ते विकृतिभूतसौर्यचरौ व्रीहि-

---

इतनी विधियोंका अनुष्ठान यज्ञका और इतनी विधियोंका अनुष्ठान पुरुषका उपकार करते हैं, यह निर्णय किया गया है। [किसके अनन्तर किसका विधान हो, इस संशयकी निवृत्तिके लिए] पाँचवें अध्यायमें 'वाजपेयनामक यागके अनन्तर 'बृहस्पतियज्ञसे याग करे' इत्यादि वाक्योंमें विधियोंका क्रम दिखलाया गया है। [अधिकारीकी जिज्ञासासे] छठे अध्यायमें कामनावाले पुरुषके [काम्यविधिमें] तथा जीवन आदि निमित्तवाले पुरुषके [नित्य-नैमित्तिकविधिमें] अधिकारका प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार पूर्वमीमांसाशास्त्रके प्रथम छः अध्यायोंसे प्रकृतिविधिमें अपेक्षित विचार किया गया है। सम्पूर्ण अङ्गोंके सहित विधिको प्रकृति कहते हैं और अङ्गोंकी कमी रखनेवाली विधिको विकृति कहते हैं। इस विकृतिविधिका उपयोगी विचार, सातवें अध्यायमें आरम्भ कर, उत्तरार्द्धके छः अध्यायोंमें किया गया है। उनमें भी सातवें अध्यायसे प्रकृतिमें उपदेशरूपसे कहे गये अङ्गोंका विकृतिमें अतिदेश होता है, ऐसा सामान्य नियम बतलाया गया है। 'ऐसा करे' इस प्रकारके कथनको उपदेश कहते हैं। और 'वैसा करे' इसको अतिदेश कहते हैं। आठवें अध्यायमें प्रकृतिस्वरूप दर्शपूर्णमासनामक इष्टिमें—यागमें—'आग्नेयोऽष्टाकपालः, (अग्निदेवतासम्बन्धी पुरोडाश आठ कपालोंमें पकाया जाता है) इस विधिमें पुरोडाशकी प्रकृतिरूप [जिन द्रव्योंसे पुरोडाश बनाया जाता है]

कहलाता है। जैसे–'यस्य पर्णमयी जुहूः' (जिसकी पर्णमयी जुहू है।) इत्यादि वाक्यमें परस्पर समभिव्याहारसे पर्णता और जुहूमें अङ्गाङ्गिभाव प्राप्त होता है।

द्रव्यसारूप्यद्वारेण चरुप्रकृतिभूतव्रीहिष्वप्यतिदिश्यन्त इत्यादिविशेषातिदेशो निरूपितः। तदुक्तम्—

'सप्तमेनातिदेशेन धर्माः सन्तीति साधिते।
ततोऽष्टमेन यो यस्य यतश्चेति निरूपणा ॥' इति।

नवमे तु प्रकृत्युपदिष्टमन्त्रसामसंस्कारकर्मणां विकृतावतिदिष्टानां प्रकृति-

---

द्रव्य धानोंके निर्वाप[1], अवघात[2], प्रोक्षण[3] आदि जो धर्म बतलाये गये हैं, उन धर्मोंका विकृतिभूत सूर्यदेवतासम्बन्धी चरु—हवनद्रव्य—में व्रीहिरूप द्रव्यके सादृश्यसे चरुके प्रकृतिभूत द्रव्यमें भी अतिदेश किया जाता है, इस रीतिसे विशेष अतिदेशका निरूपण किया गया है। ऐसा कहा भी है—

सप्तम अध्यायमें प्रतिपादित अतिदेशसामान्यसे धर्मोंकी सत्तामात्रका साधन किया गया है, और जिस धर्मका जिससे अतिदेश किया जाता है, इस प्रकारका विशेष अतिदेश आठवें अध्यायमें कहा गया है।

नवें अध्यायमें तो प्रकृतिमें उपदिष्ट और विकृतिमें अतिदेशसे

---

(१) कार्यान्तरकी अपेक्षाके बलसे दो वाक्योंकी परस्पर आकाङ्क्षासे एकवाक्यताको प्रकरण कहते हैं। जैसे प्रयाजादिमें 'समिधो यजति' (समिधका याग) इत्यादि वाक्यमें फलविशेषका निर्देश न होनेसे इतना ही बोध होता है कि समिद्यागसे भावना करे, परन्तु क्या भावना करे, ऐसी आकाङ्क्षा बनी ही रह गयी। एवं दर्शपूर्णमासवाक्यमें 'दर्शपूर्णमाससे स्वर्गकी भावना करे।' इतना ही बोध होता है। 'कैसे करे' इति कर्तव्यताकी आकाङ्क्षा बनी ही रहती है, इसलिए प्रयाजवाक्य और दर्शपूर्णमासवाक्योंमें, परस्पर साकाङ्क्ष होनेसे, अङ्गाङ्गिभाव उपपन्न होता है।

(२) क्रम अर्थात् देशसामान्य, वह पाठसादेश्यसे हो अथवा अनुष्ठानसादेश्यसे हो, स्थान कहलाता है। जैसे 'इन्द्राग्निदेवताक एकादश कपालमें संस्कृत पुरोडाशका निर्वाप करे, और विश्वानरदेवताक द्वादश कपालमें संस्कृत पुरोडाशका, इस प्रकार क्रमसे विहित कर्मोंमें 'इन्द्राग्नी रोचनादिव' इत्यादि मन्त्रोंका यथासंख्य प्रथम मन्त्रका प्रथम कर्ममें, द्वितीयका द्वितीयमें क्रमात्मक स्थानबलसे विनियोग होता है।

(३) योगशब्दोंका योगार्थ समाख्या कही जाती है। जैसे 'होतुरिदं हौत्रम्' यहांपर शैषिक अण्के बलसे हौत्रपदसे विधीयमान कर्म होतासे ही किये जानेवाले होते हैं, इसी समाख्याके बलसे 'औपनिषद' पदसे भी ब्रह्मज्ञानका साधन वेदान्तवाक्य माना गया है। इनके परस्पर विरोधका उदाहरण विस्तारभयसे नहीं दिया गया है।

विकृत्योर्द्रव्यदेवताभेदे सति प्रकृतिगतद्रव्यादिशब्दं विहाय विकृतिस्थितद्रव्यादिशब्दाध्याहारादिलक्षण ऊहो दर्शितः। तद्यथा 'अग्नये जुष्टम्' इति मन्त्रस्य विकृतौ सूर्याय जुष्टमिति पदप्रक्षेपः। दशमे तु विकृतावतिदिष्टानामङ्गानां प्रकृतौ सावकाशानां विकृतिगतविशेषाङ्गोपदेशादिना बाधो दर्शितः। तद्यथा विकृतावतिदेशप्राप्तानां प्रकृतिसम्बन्धिबर्हिषां शरमयं बर्हिरिति विकृतिगतविशेषोपदेशेन बाधः। तथा 'कृष्णलान् श्रपयेत्' इति विहिते विकृतिभूते कृष्णलपाके प्राकृता अवघातादयः प्राप्ताः, तत्र कृष्णलाख्येषु सुवर्णशकलेषु रूपविमोकासम्भवादवघातस्य बाधः। तथा 'तौ न पशौ करो' इति निषेधात् पशावाज्यभागयोर्बाधः। एकादशे त्वनेकशेषिविधि-

---

प्राप्त मन्त्र, साम, संस्कार और कर्मोंका प्रकृति और विकृतिमें द्रव्य-सम्बन्धी देवताओंका भेद होनेपर प्रकृतिमें आये हुए शब्दोंका त्याग कर विकृतिमें आये हुए द्रव्यादि शब्दोंका अध्याहार आदिरूप ऊह दर्शाया गया है। जैसे कि 'अग्नये जुष्टम्' इस मन्त्रका विकृतिमें 'सूर्याय जुष्टम्' ऐसा पदप्रक्षेप किया गया है। दसवें अध्यायमें तो विकृतिमें अतिदिष्ट (अतिदेश द्वारा प्राप्त किये गये) जिन्होंने प्रकृतिमें अवकाश प्राप्त किया है अर्थात् जो चरितार्थ हैं—ऐसे अङ्गोंका विकृतिमें दर्शाये गये विशेष अङ्गोंके उपदेश आदिसे बाध दिखलाया गया है। जैसे विकृतिमें सामान्य अतिदेशवाक्यसे प्राप्त हुए प्रकृतिसम्बन्धी (प्रकृतिमें चरितार्थ हुए) कुशोंका 'शरमयं बर्हिः' (शरकण्डा कुश होना चाहिए) विकृतिमें किये गये विशेष उपदेशसे बाध होता है। एवम् 'कृष्णलोंका पाक करे' इस वाक्यसे प्रतिपादित विकृतिरूप कृष्णलपाकमें प्रकृतिमें होनेवाले अवघात आदि प्राप्त होते हैं। परन्तु वहांपर कृष्णलनामसे कहे जानेवाले सुवर्णके टुकड़ोंमें रूपका विमोक असम्भव है, इसलिए अवघातका बाध होता है। [जैसे व्रीहि आदि द्रव्योमें अवघात द्वारा उनके तुषादिको पृथक् कर देनेसे प्रथमरूपका परित्याग सम्भव है वैसे सुवर्णके खण्डोंमें सम्भव नहीं है]। तथा 'तौ पशौ न करोति' (उन दोनोंको पशुमें न करे) इस निषेधसे पशुमें आज्य भागोंका बाध होता है। ग्यारहवें अध्यायमें अनेक शेषी—प्रधान—विधिमें प्रयुक्त शेष—उपकारक—विधिका एक बार अनुष्ठान कर देनेसे ही सम्पूर्ण शेषी विधियोंकी उपकारसमानता तन्त्रनामसे कही

प्रयुक्तस्य शेषस्य सकृदनुष्ठानादेव सर्वशेषिणामुपकारसाम्यरूपं तन्त्रनामकमुक्तम्। तद्यथा––आग्नेयोऽष्टाकपालः, उपांशुयागमन्तरा यजति, अग्नीषोमीय एकादशकपाल इत्युक्तपौर्णमासकर्मप्रयुक्तस्य प्रयाजादेः सकृदनुष्ठानादेव शेषित्रयोपकार इति। द्वादशे त्वेकशेषिप्रयुक्तशेषानुष्ठानस्यप्रयोजकसामर्थ्यप्रयुक्तशेष्यन्तरेऽप्युपकारः प्रसङ्गाख्यो दर्शितः। तद्यथा पशुविधियुक्ताङ्गानां पशुपुरोडाशेऽप्युपकारः। तदेवं प्रत्यध्यायमाशङ्कान्तरनिराकरणेन विध्यसम्भेदो यथा निरूपितस्तथा प्रतिपत्तव्यस्य ब्रह्मणः प्रत्यक्षादिभिरसिद्धत्वात् प्रतिपत्तिविध्ययोगाशङ्कायां तन्निराकरणायोत्तरमीमांसाऽऽरभ्यत इति।

तदेतदयुक्तम्, प्रत्यक्षाद्यसिद्धानामपि यूपाहवनीयादीनां यथा सिद्धिस्तथा ब्रह्मणोऽपि सिद्धौ पृथग् मीमांसानर्थक्यात्।

गई है। जैसे 'अग्नि देवताके निमित्त आठ कपालोंमें संस्कृत पुरोडाश, उपांशुयाग, अग्नीषोमीय एकादश कपालमें संस्कृत पुरोडाश, इस प्रकार उक्त पौर्णमास कर्ममें प्रयुक्त प्रयाज आदि अङ्गका एक बार अनुष्ठान करनेसे ही शेषी तीनोंका उपकार हो जाता है। बारहवें अध्यायमें एक शेषीसे प्रयुक्त शेषके अनुष्ठानसे पुनः अनुष्ठान न करानेवाले और अनुष्ठान करानेकी सामर्थ्य रखनेवाले दूसरे शेषीकी उपकारसिद्धिका प्रसङ्गनामसे निरूपण किया गया है। जैसे—पशुविधिके अङ्गोंका पशुपरोडाशमें भी उपकार हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अध्यायमें दूसरी दूसरी आशङ्काओंको दूर करनेसे जैसे विधिके अंशोंका भेद निरूपित है वैसे ही ज्ञेय ब्रह्मकी प्रत्यक्षादि शब्देतर प्रमाणोंसे सिद्धि न होनेसे प्रतिपत्ति—ज्ञानविधि—का सम्बन्ध प्राप्त न होनेकी * आशङ्काके उदय होनेसे उत्तरमीमांसा—वेदान्तविचारात्मक शास्त्र—का आरम्भ किया गया है।

इस पूर्वोक्त प्रकारसे उत्तरमीमांसाके आरम्भकी आवश्यकताको सिद्ध करना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध न होनेवाले यूप—स्तम्भ—आहवनीय—अग्नि—आदि पदार्थविशेषोंकी जैसे सिद्धि होती है, वैसे ही ब्रह्मके भी सिद्ध हो सकनेसे अलग उत्तरमीमांसाशास्त्रका आरम्भ करना सार्थक नहीं हो सकता।

---

* जब कोई प्रतिपत्तव्य सिद्ध हो तब उसकी प्रतिपत्तिके लिए विधि करना सम्भव है, परन्तु जब ज्ञेय ही नहीं है, तो उसके लिए विधि कैसे सम्भव है ?

अथ मतम्—'यूपं तक्षति' इत्यादौ न यूपमुद्दिश्य तक्षणादि विधीयते, येन यूपाकारस्य लोकप्रसिद्धिरुपेक्ष्येत, किं तर्हि 'खादिरो यूपो भवति' इत्यादिनाऽवगतं खदिरादिप्रकृतिद्रव्यं तक्षति यूपं कर्तुमित्यलौकिकयूपाकारस्य साध्यत्वं प्रतीयते। स चाऽऽकारो 'यूपे पशुं बध्नाति' इति विनियोगदर्शनाद्विशेषतोऽवगम्यते—तक्षणादिपरिनिष्पन्नः पशुबन्धाधारः काष्ठविशेषो यूप इति। एवमाहवनीयादयोऽपि। न त्वत्र तथा ब्रह्मणः किञ्चित्साधकमस्ति। तत आरब्धव्या

['यूपं तक्षति' इस वाक्यसे लोकसिद्ध यूपका विधान नहीं है। जिसका विधान है वह यूप केवल शास्त्रीय है, एवम् आहवनीय अग्निसे महानस आदिमें स्थित साधारण लौकिक अग्नि नहीं ली जाती, किन्तु मन्त्रादि द्वारा विधिपूर्वक संस्कृत अलौकिक अग्नि ली जाती है। जैसे यूप और तादृश अग्नि प्रत्यक्षादिसिद्ध नहीं है। तथापि 'यूपमष्टास्त्री करोति', 'अग्नीनादधीत' इत्यादि वाक्योंसे इनके विधानकी सिद्धि होती है। इसके लिए पृथक् मीमांसा नहीं की गई है। वैसे ही ब्रह्मके प्रत्यक्षादि सिद्ध न होनेपर भी उसकी 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि दर्शन—ज्ञान—विधि उपपन्न हो सकती है, यह तात्पर्य है।]

यदि कहो कि 'यूपं तक्षति' (यूपको छीलता है) इत्यादि वाक्यमें यूपको उद्देश्य करके तक्षण—छीलने—का विधान नहीं है, जिससे कि यूपके स्वरूपकी लोकप्रसिद्धि न मानी जाय, किन्तु 'खादिरो यूपो भवति' (खैरका बना यूप होता है) इत्यादि वाक्यसे प्रतीत हुआ खदिर—खैरका पेड़—आदि यूपकी प्रकृतिभूत द्रव्य यूप बनानेके लिए छीला जाता है, इस प्रकार अलौकिक (प्रत्यक्षादिसे असिद्ध) यूपके आकारका [अष्टास्त्रीकृत] साध्यत्व प्रतीत होता है। और वह आकार 'यूपमें पशु बाँधा जाता है' इत्यादि विनियोगके दिखाई देनेसे विशेषरूपसे प्रतीत हो जाता है—छिल कर बनाया गया, पशुके बन्धन—रस्सी, शृङ्खला आदि—का आधार एकविशेषप्रकारका काष्ठ यूप—स्तभ—कहलाता है। यही रीति आहवनीय आदि अग्निस्थलमें भी है। इस प्रकार प्रकृतमें ब्रह्मका साधक कोई नहीं है। अर्थात् अन्यत्र उसका विनियोग नहीं देखा गया है, इसलिए ब्रह्मविषयक प्रतिपत्तिविधिमें सम्भावित उक्त आशङ्काओंके निराकरणके लिए उत्तरमीमांसाशास्त्रके आरम्भकी आवश्यकता आ जाती है। तो यह कहना

उत्तरमीमांसेति । नैतदप्युपपन्नम् , ब्रह्मसिद्धिमन्तरेणापि 'योषा वा व गौतमाग्निः' इत्यादाविवाऽऽरोपितरूपेणोपासने प्रतिपत्तिविध्युपपत्तेः। ततोऽभ्यधिकाशङ्काया अभावान्नोत्तरमीमांसाऽऽरब्धव्या ।

अत्र केचित् सिद्धान्तैकदेशिनोऽभ्यधिकाशङ्कामेवमाहुः—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति ब्रुवता विधेः प्रामाण्यं दर्शितम्। न च 'सदेव सोम्य' इत्यादिवेदानां विधिरहितानां तत्सम्भवति । न च तेषां 'सोऽन्वेष्टव्यः' इत्यादिविधिभिरेकवाक्यतेति वाच्यम् , भावकर्मार्थवाचिनस्तव्यप्रत्ययस्य तत्र विधायकत्वाभावात् । विधावपि तव्यप्रत्यययोऽस्तीति चेत्, तथापि नेह विधिः सम्भवति, तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायित्वात् । 'गन्तव्यम्' इत्यादौ

या मानना भी युक्त नहीं है, कारण कि ब्रह्मकी सिद्धिके बिना भी अर्थात् ब्रह्म असिद्ध भी हो, तो भी आरोपितरूपसे भी उपासनामें प्रतिपत्तिविधिका सम्भव है। जैसे—'हे गौतम, योषा—स्त्री—ही अग्निरूप है' इस वाक्यमें आरोपसे योषा अग्नि मानी जाती है। इसलिए किसी भी अधिक—अतिरिक्त—आशंकाके न होनेसे उत्तरमीमांसा—वेदान्तविचारशास्त्र—के पृथक् आरम्भ करनेकी आवश्यकता नहीं है। [यह शङ्का स्थिर होती है ।]

समाधान—इस लम्बे प्रघट्टकसे की गई शङ्काका समाधान कोई सिद्धान्तैकदेशी अतिरिक्त शङ्काको ही इस प्रकार कहते हैं--[अतिरिक्त शङ्का यहांपर हो सकती है जिसके निराकरणके लिए पृथक् मीमांसा आवश्यक है ।] 'प्रेरणात्मक अर्थ ही धर्म है' इस पू० मी० प्रथमसूत्रसे ही जैमिनिमुनिने विधिका प्रामाण्य दर्शाया है। 'हे सौम्य, सद्रूप ब्रह्म ही सत्य है' इत्यादि वेद [वेदान्त] वाक्योंका विधिरहित होनेसे प्रामाण्य सम्भव नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते, और 'उस ब्रह्मकी खोज करनी चाहिए' इत्यादि विधिवाक्योंके साथ उनकी एकवाक्यता होगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि भाव या कर्म*रूप अर्थका वाचक होनेवाला तव्यप्रत्यय विधिरूप अर्थका बोधक नहीं हो सकता । यदि कहो कि विधिरूप† अर्थमें भी तव्यका विधान है, तो भी प्रकृतमें विधि नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रकृतमें तव्यप्रत्यय

---

* 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' पा० सूत्र ही तव्य आदि कृत्यप्रत्ययका भावकर्म अर्थ बोधन करता है ।

† 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इस पाणिनिसूत्रसे प्रैष-विधि-में भी कृत्यप्रत्ययोंका विधान होता है ।

तु तव्यप्रत्ययस्य भावार्थस्य प्राधान्येन स्वतन्त्रफलाय विधानं युक्तम्। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्र कर्माभिधायितव्यप्रत्ययादपि धात्वर्थविषयो विधिर्दृष्ट इति चेद्, अस्त्वप्राप्तस्वाध्यायगतप्राप्तिफलाय तत्र विधिः। प्रकृते तु किं स्वतन्त्रफलाय कर्मीभूतब्रह्मणो दृष्टिर्विधीयते किं वा कर्मकारकगतफलाय। नाऽऽद्यः, अवघातादिवत् कर्मकारकद्रव्ये गुणभूताया दर्शनक्रियायाः स्वतन्त्रफलाय विधातुमशक्यत्वात्। न द्वितीयः, चतुर्विधं हि कर्मकारके क्रियाजन्यफलम्––उत्पत्तिराप्तिर्विकारः संस्कारश्च। तत्राऽऽदौ नित्यप्राप्ते निर्विकारे ब्रह्मणि न त्रिविधं फलं सम्भवति। नाऽप्यज्ञानाधर्मादिमलापकर्षणलक्षणः संस्कारः शङ्कनीयः, अवेक्षिताज्यस्येव संस्कृतस्य ब्रह्मणोऽन्यत्र विनियोगाभावात्।

कर्मरूप अर्थका बोधक है। 'गन्तव्यम्' इत्यादि पदस्थलमें तो भावार्थक तव्यप्रत्ययका प्रधानतया स्वतन्त्र फलके लिए विधान उचित है। [अर्थात् 'गन्तव्यम्' यहांपर किसी कर्मके न होनेसे क्रियाका प्राधान्य प्रतीत होता है। अतः भावार्थक तव्यप्रत्ययके बलसे गमनक्रियामें विधानकी प्रतीति संगत है, लेकिन 'सोऽन्वेष्टव्यः' इत्यादि स्थलमें तत्पदार्थरूप कर्मके रहते क्रिया प्रधान नहीं हो सकती, जिससे कि कर्मार्थक तव्यप्रत्यय भी विधिका बोध करा सके।] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (स्वाध्याय––वेद––पढ़ना चाहिए) इस वाक्यमें कर्मार्थक तव्यप्रत्ययसे भी धातुके पठनरूप अर्थमें विधि देखी गई है, यदि ऐसा कहो, तो वहांपर अन्य प्रमाणसे प्राप्त न होनेवाले स्वाध्याय प्राप्तिरूप फलके लिए विधि मानी जा सकती है। प्रकृतमें तो क्या स्वतन्त्र फलके लिए कर्मकारक ब्रह्मदर्शनका विधान है अथवा कर्मकारकमें होनेवाले फलके लिए ? इनमें पहला कल्प नहीं हो सकता, क्योंकि अवघात आदिके तुल्य कर्मकारकरूप द्रव्यमें विशेषणीभूत दर्शनक्रियाका स्वतन्त्र फलके लिए विधान नहीं बन सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि कर्मकारकमें क्रियाके द्वारा चार प्रकारका ही फल हो सकता है—उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार। इनमें से प्रथम तीन फल तो उत्पत्तिरहित एवं नित्यप्राप्त तथा विकारशून्य ब्रह्ममें नहीं हो सकते। अज्ञान तथा अधर्मादि रूप मलको दूर करनेसे संस्कारात्मक फलकी भी आशङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि अवेक्षण संस्कारसे संस्कृत घृतके तुल्य संस्कृत ब्रह्मका कहीं दूसरी विधिमें विनियोग नहीं है।

अथाऽऽत्मनि सक्तुन्यायेन विधिः सम्भविष्यति। तथा हि—'सक्तून् जुहोति' इति क्रतुप्रकरणे श्रवणात् क्रत्वङ्गता सक्तुहोमस्याऽवगता। तत्राऽङ्गानि द्विविधानि—अर्थकर्माणि संस्कारकर्माणि च। तत्र कारकाण्यनाश्रित्य स्वातन्त्र्येण गृहीतानि प्रयाजादीन्यर्थकर्माणि। व्रीह्यादिकारकगुणभूतानि संस्कारकर्माणि। तत्र न तावत् सक्तुहोमस्याऽर्थकर्मता, व्रीहिगुणप्रोक्षणवत् सक्तुद्रव्यगुणभूतत्वात्। नाऽपि संस्कारकर्मता। द्विविधो हि संस्कारः—विनियुक्तसंस्कारो विनियोक्ष्यमाणसंस्कारश्च। तद्यथा 'व्रीहिभिर्यजेत' इति विनियुक्तान् व्रीहीनुद्दिश्य विहितः प्रोक्षणादिर्विनियुक्तसंस्कारः। 'आहवनीये जुहोति' इति विनियोक्तुमग्नेराहवनीयत्वसिद्धये विहित आधानादिर्विनियोक्ष्यमाणसंस्कारः। तत्र होमेन भस्मीकृतानां सक्तूनां क्रतुं प्रत्यनुपकारिणां क्रतौ

सक्तुन्यायसे आत्मविषयक विधिका होना सम्भव होगा। सक्तुन्यायका दिग्दर्शन कराते हैं—'सक्तून् जुहोति' (सत्तुओंका हवन करता है) इस वाक्यका यज्ञप्रकरणमें श्रवण होनेसे सक्तुहोमकी यज्ञार्थता—यज्ञका उपकारक होना—प्रतीत होती है। ऐसे स्थलमें अङ्ग—उपकारक—दो प्रकारके होते हैं—एक अर्थकर्म और दूसरे संस्कारकर्म। उन दोनोंमें क्रतुके उपकारकोंका आश्रयण न करके स्वतन्त्ररूपसे उपात्त प्रयाज आदि अर्थकर्म कहलाते हैं और व्रीहि आदि कारकोंके विशेषण हुए संस्कारकर्म कहलाते हैं। इनमें सक्तुहोमको अर्थकर्म—स्वतन्त्रकर्म—नहीं मान सकते, कारण कि व्रीहिका विशेषण जैसे प्रोक्षण होता है वैसे प्रकृतमें होम भी सक्तुरूप द्रव्यका विशेषण है [जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' यहांपर प्रोक्षण स्वतन्त्र अर्थकर्म नहीं है वैसे ही 'सक्तून् जुहोति' इस वाक्यमें उपात्त होम भी स्वतन्त्र अर्थकर्म नहीं है, किन्तु सक्तुरूप द्रव्यका विशेषण है]। सक्तुहोम संस्कारकर्म भी नहीं हो सकता। संस्कार दो प्रकारका होता है—एक विनियुक्तका संस्कार और दूसरा विनियोक्ष्यमाणका संस्कार, जैसे 'व्रीहिसे याग करे' इस वाक्यसे यागमें विनियुक्त व्रीहिको उद्देश्य करके कहा गया [व्रीहीन् प्रोक्षति] प्रोक्षण आदि संस्कार विनियुक्तका संस्कार कहा जाता है। 'आहवनीये जुहोति' (आहवनीय—अग्नि—में हवन होता है) इस विनियोगकी सिद्धिके लिए अग्निको आहवनीय बनानेके निमित्त ['अग्नीनादधीत' इत्यादि] विहित आधानादि संस्कार विनियोक्ष्यमाणके संस्कार कहलाते हैं। इन दोनोंमें से सक्तुहोम कोई भी संस्कार

विनियोगासम्भवान्नोभयविधसंस्कारोऽप्यत्र घटते। न च सक्तुहोमवाक्यस्य वैयर्थ्यं युक्तम्, अध्ययनविधिपरिगृहीतत्वात्। तस्मात् 'सक्तून्' इति द्वितीययाऽवगतं प्राधान्यं विहाय सक्तुभिरिति तृतीयया परिणामेन सक्तूनां गुणभावं होमक्रियायाः प्राधान्यं चोपादायाऽर्थकर्मता निरूपिता। तद्वत् 'आत्मानमुपासीत' इत्यत्राऽप्यात्मनो विभक्तिविपरिणामेनाऽऽत्मगुणकमुपासनाकर्मैव स्वतन्त्रफलाय प्राधान्येन विधीयते।

विषम उपन्यासः। दृष्टान्ते हि शब्दतः करणभूता अपि सक्तवोऽर्थतः कर्मभूताः, होमक्रियाकृतातिशयस्य भस्मीभावलक्षणस्य विकारस्य सक्तुषु सद्भावात्। ततो 'जुहोति' इति सकर्मकधातुप्रयोगो युक्तः। दार्ष्टान्तिके तु यद्यात्मनोऽर्थतः कर्मत्वं तदोत्पत्त्यादीनां चतुर्णां क्रियाफलानामेकं वक्तव्यम्, तच्च निराकृतम्। अकर्मकत्वे चोपासीतेति

नहीं हो सकता, क्योंकि हवनसे भस्म किए गए सक्तुओंका क्रतुके प्रति कोई भी उपकार न होनेसे क्रतुमें विनियोग नहीं हो सकता। सक्तुहोमप्रापक वाक्यको व्यर्थ कहना उचित नहीं है, क्योंकि अध्ययनविधिसे उसका परिग्रह होता है। [अन्यथा स्थालीपुलाकन्यायसे अध्ययनविधिसे परिगृहीत स्वाध्यायमात्रके वैयर्थ्यका प्रसङ्ग हो जायगा।] इसलिए—सक्तुहोमकी सार्थकताके लिए—'सक्तून्' इस द्वितीयासे प्राप्त हुए प्राधान्यका त्यागकर उस पदको 'सक्तुभिः' इस प्रकार तृतीयाविभक्तिमें बदल देनेसे सक्तुओंके विशेषण होने और होमक्रियाके प्रधान होनेसे सक्तुहोममें अर्थकर्मताका निरूपण किया गया है। इस सक्तुहोमके तुल्य 'आत्माकी उपासना करे' इस वाक्यमें भी 'आत्मानम्' इस द्वितीयान्तपदको 'आत्मना' तृतीयान्त परिणाम करके आत्माको विशेषण मानकर प्रधानतया उपासनारूप कर्मका ही स्वतन्त्र फलके निमित्त विधान किया जायगा।

विषम उपन्यास है (अर्थात् दृष्टान्त सक्तुहोम तथा दार्ष्टान्तिक आत्मोपासनामें समानता नहीं है)। कारण कि दृष्टान्तमें 'सक्तुभिः' इस तृतीयान्तपद द्वारा शब्दतः करण होते हुए भी सक्तु अर्थतः कर्म ही हैं, कारण कि होमक्रियासे उत्पन्न किया गया अतिशयरूप भस्म हो जाना विकार सक्तुओंमें विद्यमान ही है। इसीलिए 'जुहोति' यह सकर्मक धातुका प्रयोग किया जाना उचित ही है। दार्ष्टान्तिक ब्रह्ममें यदि अर्थतः—वस्तुतः—कर्मकारक होना माना जाय, तो [क्रियाकृत अतिशय] उत्पत्ति आदि क्रियाके चार फलोंमें कोई एक ब्रह्ममें अवश्य

सकर्मकधातुप्रयोगोऽनुपपन्नः । नन्वात्मन्याप्तिः क्रियाफलं भविष्यति, स्वरूपतो नित्यप्राप्तस्याऽप्युपासनायाः पूर्वं प्रतीतितोऽप्राप्तत्वात् ।

नैतद्युक्तम्, स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन प्रतीतितोऽपि नित्यप्राप्तत्वात् । अतो विध्यभावादविवक्षितार्था वेदान्ता इति धर्मजिज्ञासानन्तरं स्नानं प्राप्तमिति तामेतामभ्यधिकाशङ्कां निराकर्तुं ब्रह्मजिज्ञासां त एव सिद्धान्तैकदेशिन एवमवतारयन्ति—अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति ।

अयमभिप्रायः—धर्मजिज्ञासानन्तरं ब्रह्म जिज्ञासितव्यं न स्नातव्यमिति। न च वेदान्तेषु विध्यभावः, 'कटः कर्त्तव्यः' इत्यादिवत् 'आत्मा द्रष्टव्यः' इत्यादौ

रहना चाहिए, इसका हम पहले ही खण्डन कर आए हैं [अर्थात् इन चारोंमें एक भी फल नहीं हो सकता ।] और यदि ब्रह्म कर्मकारक नहीं है, तो 'उपासीत' ऐसा सकर्मक धातुका प्रयोग सङ्गत नहीं होगा । आत्मामें प्राप्तिरूप क्रियाफल सम्भव होगा, क्योंकि यद्यपि ब्रह्म—आत्मा—नित्य प्राप्त है तथापि उपासनासे पहले प्रतीतिसे अप्राप्त ही है [जैसे वर्तमान भी सूक्ष्म दृश्य पदार्थ अणुवीक्षण यन्त्रसे देखनेके पूर्व अदृष्ट रहते हैं और यन्त्रव्यापारानन्तर दर्शनमें आते हैं, वैसे ही नित्य प्राप्त भी ब्रह्म उपासनाके बिना प्रतीतिमें नहीं आता और उपासनाके माहात्म्यसे आ जाता है । एतावता ब्रह्म प्राप्य कर्म हो सकता है] ।

यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि आत्माके स्वप्रकाश चैतन्यरूप होनेसे प्रतीतिसे भी नित्यप्राप्त है । इसलिए 'द्रष्टव्य' दर्शनको विधि कहना संगत न हो सकनेसे वेदान्तवाक्य [ब्रह्म नित्य सिद्ध वस्तु है ऐसे] विवक्षित अर्थका बोध नहीं करा सकते, इसलिए धर्मजिज्ञासा—कर्मकाण्डप्रतिपादक पूर्वमीमांसा—के अनन्तर स्नान—गार्हस्थ्यदीक्षाके निमित्त स्नान—प्राप्त होता है, इस प्रकार इस बढ़ी हुई आशङ्काको दूर करनेके लिए ब्रह्मजिज्ञासा— वेदान्तवाक्योंका विचारात्मक उत्तरमीमांसा—आवश्यक है । वे ही सिद्धान्तके एकदेशी इस प्रकार अवतरण देते हैं—अब ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ होता है ।

तात्पर्य यह है—धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए, स्नान नहीं । [ब्रह्मजिज्ञासाके अनन्तर ही स्नान—समावर्तन—होना चाहिए] वेदान्तोंमें विधिका अभाव है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'चटाई बनानी चाहिए' इस विधिके

कर्मकारकगतफलाय विध्युपपत्तेः। सम्भवति ह्यात्मन्यज्ञानादिमलापकर्षणलक्षणः संस्कारः। न च संस्कृतस्याऽऽत्मन आज्यादिवदन्यत्र विनियोगोऽपेक्ष्यते, स्वयमेव पुरुषार्थत्वात्। अपुरुषार्थसंस्कारस्यैव विनियोगापेक्षत्वात्। तदेवं वेदान्तेषु विध्यभावलक्षणामभ्यधिकाशङ्कां निराकृत्य प्रतिपत्तिविधिं च समर्थयितुमुत्तरमीमांसारम्भ इति। तदेतत् सिद्धान्तैकदेशिमतं पूर्वपक्षिणो नाभिमतम्। तथाहि--सिद्धान्तैकदेशिना विध्यभावलक्षणाभ्यधिकाशङ्काकाले परमा युक्तिरन्तेऽभिहिता—स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन प्रतीतितोऽपि प्राप्तत्वान्नोपासनाविधिरिति। सा न युक्ता, यथा 'हिरण्यं भार्यम्'इत्यत्र भूषणार्थत्वेन प्राप्तं हिरण्यधारणमभ्युदयार्थत्वेन नियम्यते तद्वत् प्राप्तस्याऽप्यात्मज्ञानस्य कर्तृसमवायिमोक्षफलाय नियमविधिसम्भवात्।

सदृश 'आत्मदर्शन करना चाहिए' इत्यादि वाक्यमें आत्मरूप कर्मकारकमें फलकी उपपत्तिके लिए दर्शनविधि उपपन्न है। और आत्मामें अज्ञानादि मलका हटाना आदि संस्काररूप क्रियाफलका सम्भव है। दर्शनविधिसे सहमत ब्रह्मका [अवेक्षणसे संस्कृत घृतकी तरह] 'आज्याहुतीर्जुहोति' इत्यादिके समान दूसरी विधिमें कहीं भी विनियोग अपेक्षित नहीं है, क्योंकि ब्रह्मदर्शन स्वयं पुरुषार्थ है। जो संस्कार पुरुषार्थ नहीं हैं, उनके ही अन्यत्र विधिमें विनियोगकी अपेक्षा होती है। [अन्यथा संस्कार व्यर्थ होगा, पुरुषार्थ संस्कार तो स्वयं सफल है।] इस प्रकार वेदान्तोंमें विधिके प्राप्त न होने की बढ़ी हुई आशङ्काका खण्डन करके प्रतिपत्तिविधिका समर्थन करनेके लिए उत्तरमीमांसाका आरम्भ करना आवश्यक है। इस प्रकारके सिद्धान्तके एकदेशियोंका मत पूर्वपक्षीको सम्मत नहीं है। पूर्वपक्षीकी असम्मतिका वर्णन करते हैं—उक्त सिद्धान्तैकदेशीने वेदान्तोंमें विधिके प्राप्त न होने की बढ़ी हुई आशङ्का दिखानेके अवसरपर अन्तमें सबसे बढ़ी-चढ़ी यही युक्ति दिखलाई है कि स्वप्रकाश चैतन्यरूप होनेसे ब्रह्म प्रतीतिसे भी प्राप्त ही है, इसलिए उसे पानेके लिए उपासनाका विधान नहीं बन सकता, वह युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे 'सुवर्णका धारण करना चाहिए' इस विधानमें भूषणके निमित्त प्राप्त हुआ सुवर्णका धारण करना अभ्युदय फलके लिए है ऐसा नियम माना जाता है वैसे ही नित्य प्राप्त भी आत्मज्ञान उपासनाकर्ताके मोक्षरूपी फलको देनेवाला है, ऐसा नियमविधान सम्भव हो सकता है।

हिरण्यधारणस्याऽप्राप्तिरपि पक्षेऽस्तीति नियमविधिस्तत्राऽस्तु । इह तु स्वरूपचैतन्यत्वेनाऽऽत्मप्रतीतेर्नित्यप्राप्तत्वान्न नियमविधिरिति चेत्, तर्ह्यनात्मप्रतिभासनिवृत्तये परिसंख्याविधिरदृष्टार्थः स्यात् । अतो नाऽभ्यधिकाशङ्का सम्भवति ।

यच्चाभ्यधिकाशङ्कानिराकरणे तेनैव सिद्धान्तैकदेशिना फलमविद्यादिमलापनयनमुक्तम् । तदप्यसत्; किं लौकिकात्मज्ञानमविद्यामपनयति उताऽलौकिकात्मज्ञानम् । आद्येऽपि न तावत् स्वरूपमेव तामपनयति, अहमिति सर्वदाऽऽत्मप्रतीतावप्यविद्यानिवृत्त्यदर्शनात् । नाऽपि विधिबलात् । तर्ह्यसम्भावितपाकेषु कृष्णलेषु विधिबलादपि मुख्यः पाको

पक्षमें हिरण्यधारण करनेकी अप्राप्ति भी है [ऐसी कोई राजाज्ञा या स्वभाव नहीं है कि सब ही सुवर्णधारण करें । अतः सुवर्णधारण पाक्षिक प्राप्त है], इससे वहांपर नियमविधि हो सकती है। लेकिन ['नियमः पाक्षिके सति'] प्रकृतमें स्वरूपचैतन्य होनेसे आत्मप्रतीति नित्य प्राप्त है, [क्योंकि उसका सबको ही और सर्वत्र प्रकाश होना स्वरूपप्राप्ति सार्वदेशिक है, पाक्षिक नहीं है ।] इससे नियमविधिका होना सम्भव नहीं है। यदि ऐसी शङ्का करो, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि अनात्माकी निवृत्तिके लिए परिसंख्याविधि ही अदृष्टफल मान ली जायगी। इसलिए आपकी बढ़ी हुई [वेदान्तोंमें विधिका अभावरूप] आशङ्का सम्भव नहीं है।

और जो उक्त अभ्यधिक शङ्काका निवारण करते हुए उस सिद्धान्तैकदेशीने ही अविद्यादि मलका दूर करना फल कहा है वह भी असंगत है, क्या लौकिक आत्मज्ञान अज्ञानको दूर करता है ? अथवा अलौकिक आत्मज्ञान ? प्रथम पक्ष माननेमें [लौकिक आत्मज्ञानका] स्वरूप ही अविद्याकी निवृत्ति नहीं करा सकता, कारण कि 'अहम्' (मैं) इस प्रकार सदैव आत्माकी प्रतीति होनेपर भी अविद्याकी निवृत्ति नहीं देखी जाती। 'विधान किया गया' इस विधानकी सामर्थ्यसे निवृत्ति मानी जाय, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि जिनका पाक होना सम्भव नहीं है [अर्थात् जिनमें पाकसे कोई विलक्षण आकार, रूप, रस आदि नहीं हो सकते] ऐसे कृष्णल सुवर्णके टुकड़ोंमें पाकका विधान करनेकी सामर्थ्यसे

दर्शयितुं शक्यः । द्वितीयेऽपि किं तादृशात्मज्ञानमत्यन्तमप्रसिद्धमुत सामान्यतः प्रसिद्धम् अथवा विशेषतः ? नाऽऽद्यः, अत्यन्ताप्रसिद्धस्य विध्ययोगात् । यागादावपि हि कश्चिद्यागं दृष्टवतः पुरुषस्य यागत्वसामान्योपाधिना प्रसिद्धौ सत्यां दृष्टयागव्यक्तिसदृशं यागव्यक्त्यन्तरं प्रतिपत्तृबुद्धिस्थमेव विधीयते । अन्यथा 'ममेदं कर्त्तव्यम्' इति प्रतिपत्त्यसम्भवात् । न द्वितीयः, अलौकिकात्मज्ञानत्वसामान्याक्रान्तस्य व्यक्तिविशेषस्य कस्यचिदपि पूर्वमननुभूतत्वात् । तृतीयेऽपि किं तादृगात्मज्ञानं पुरुषान्तरे विशेषतः प्रसिद्धम् उत विधेः प्रतिपत्तर्यधिकारिण्येव ? नाऽऽद्यः, पुरुषान्तरप्रसिद्धेरधिकारिणं प्रत्यनुपयोगात् । न द्वितीयः, अधिकारिणि विशेषतः प्रसिद्धस्याऽर्थस्य विधिवैयर्थ्यात् । तदेवं सिद्धान्तैकदेशिनाऽभिहितयोरभ्यधिकाशङ्कातन्निराकरणप्रकारयोरसंगतत्वान्न तेनोत्तरमीमांसाया अगतार्थत्वं प्रतिपादयितुं शक्यम् ।

भी मुख्य पाक दिखलाया जा सकता है। [कृष्णलोंमें मुख्य पाक माना नहीं गया है] दूसरा—अलौकिक आत्मज्ञानसे निवृत्ति—पक्ष माननेमें क्या वैसा—अलौकिक—आत्मज्ञान अत्यन्त अप्रसिद्ध है ? अथवा सामान्यतः प्रसिद्ध है ? या विशेषरूपसे प्रसिद्ध है ? प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि अत्यन्त अप्रसिद्धका विधान नहीं हो सकता । यागादिस्थलमें भी किसी यागको देख चुके पुरुषका यागत्वसामान्यरूपसे प्रसिद्धिके सिद्ध होनेपर दृष्ट यागविशेषके सदृश ज्ञाताकी बुद्धिमें स्थित ही दूसरे यागका विधान किया जाता है। अन्यथा 'मेरा यह कर्तव्य है' ऐसा ज्ञान सम्भव न होगा । दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि अलौकिक आत्मज्ञानत्वसामान्यसे अवच्छिन्न किसी भी ज्ञानव्यक्तिविशेषका पहले अनुभव ही नहीं हुआ है । तृतीय पक्ष माननेमें भी क्या वैसा आत्म-ज्ञान दूसरे पुरुषमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध है ? अथवा विधिके जाननेवाले अधिकारीमें ही विशेषरूपसे प्रसिद्ध है ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे पुरुषकी प्रसिद्धिका अधिकारीके प्रति कोई उपयोग नहीं है । दूसरा पक्ष भी कोई कार्यसाधक नहीं है कारण कि अधिकारीमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध अर्थका विधान करना व्यर्थ है । तब तो इस प्रकार सिद्धान्तके एकदेशीसे प्रतिपादित अधिक आशङ्का और उसका निराकरणप्रकार दोनों संगत नहीं हैं, इससे उत्तरमीमांसा गतार्थ नहीं है, ऐसा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है ।

अपरे पुनः सिद्धान्तैकदेशिन एवमगतार्थत्वमाहुः—न वयं तद्वद् वेदान्तेषु विध्यभावलक्षणामभ्यधिकाशङ्कां ब्रूमः, येनोक्तदोषः स्यात्, किन्तु विधिमभ्युपेत्यैव ब्रह्मासिद्धिलक्षणाम् । तथा हि—प्रतिपत्तिविध्यपेक्षितानामुत्पत्त्यादीनां चतुर्णां रूपाणां क्रियाविध्युक्तन्यायेन यद्यपि निर्णयः सिद्धः तथापि प्रतिपत्तव्यस्य ब्रह्मणः सिद्धवस्तुप्रतिबोधनसमर्थैरपि प्रत्यक्षादिभिरदर्शनाद् वेदस्य च कार्यमात्रपरस्य सिद्धब्रह्मतत्त्वाप्रतिपादकत्वादारोपितरूपस्य च ब्रह्मण उपासनायां मोक्षलक्षणात्यन्तिकफलासम्भवादनुपास्यमेव ब्रह्मेत्येतामभ्यधिकाशङ्कां निराकर्तुमुत्तरमीमांसाऽऽरब्धव्या ।

तत्र चैवं निर्णीयते—न कार्यमात्रपरो वेदः, उपासनाविधिपरैर्वेदान्तैर्ब्रह्मणोऽप्यवगम्यमानत्वात् । यथा रूपप्रत्यायनाय प्रवृत्तं चक्षुर्द्रव्यमपि प्रख्यापयति तद्वत् ।

दूसरे सिद्धान्तके एकदेशी उत्तरमीमांसाकी इस प्रकार अगतार्थता कहते हैं—हम (दूसरे सिद्धान्तैकदेशी) उन सिद्धान्तैकदेशियोंके समान वेदान्तोंमें विधिके अभावरूप अभ्यधिक आशङ्काको नहीं कहते हैं, जिससे कि पूर्वपक्षीका दिया हुआ दोष आ सके। किन्तु विधिको मानकर ही ब्रह्मकी असिद्धिको कहते हैं। कथित ब्रह्मासिद्धिका प्रतिपादन करते हैं,—क्योंकि प्रतिपत्तिविधिसे अपेक्षित उत्पत्ति आदि चारों प्रकारोंका क्रियाविधिस्थलमें कहे गये न्यायसे यद्यपि निर्णय सिद्ध है तथापि प्रतिपत्तिके कर्म ब्रह्मका सिद्ध [घट पट आदिरूप] वस्तुके बोध करानेमें समर्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे दर्शन नहीं हो सकता, तथा वेदका कार्यमात्रमें तात्पर्य है, अतः वह सिद्ध—अकार्य—ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादक नहीं हो सकता। और ब्रह्मकी आरोपितरूपसे उपासना करनेसे मोक्षस्वरूप अव्यभिचरित फलका सम्भव न होनेसे ब्रह्म उपासनायोग्य नहीं होगा, इन दोनों बढ़ी हुई आशङ्काओंके निवारणके लिए उत्तरमीमांसाका आरम्भ करना आवश्यक है।

इस एकदेशीके मतमें सिद्धान्तका निम्न प्रकारसे निर्णय किया जाता है—वेदोंका तात्पर्य केवल कार्य—विधि—में ही नहीं है क्योंकि उपासनाविधिमें तात्पर्यवाले वेदान्तवाक्योंसे [कार्यसे भिन्न सिद्ध] ब्रह्मकी भी प्रतीति कराई जाती है। जैसे रूपका ज्ञान करानेके लिए प्रवृत्त हुआ चक्षु द्रव्यका भी बोध कराता है वैसे ही उपासनापरक वेदान्तवाक्य भी सिद्ध ब्रह्मकी प्रतीति कराते हैं।

ननु कथं वेदानामुपासनाविधिपरत्वम्? न तावदुपासनं नाम ब्रह्मापरोक्षज्ञानम्, तस्य परमानन्दसाक्षात्काररूपत्वेन फलभूतस्य स्वर्गवदविधेयत्वात्। नाऽपि दृष्टिज्ञानं, तत्र विधेरश्रवणात्। नहि शाब्दज्ञानं कर्तव्यमित्येतादृशो विधिः क्वचिच्छ्रूयते। मैवम्, 'इदं सर्वं यदयमात्मेत्मा' इत्यादिवाक्यानां विधिपराणां शाब्दज्ञानविधौ पर्यवसानात्। न च वाच्यं यदयमात्मेत्यात्मस्वरूपमुद्दिश्य तदिदं सर्वमिति प्रपञ्चरूपत्वविधाने सति आत्मनोऽचेतनत्वप्रसङ्गेन विधेर्बोद्धुरभावादात्मनः प्रपञ्चरूपत्वस्याऽपुरुषार्थत्वात् कथमेतद्वाक्यं विधिपरमिति? यदिदं सर्वमिति प्रतिपन्नं प्रपञ्चमुद्दिश्य

शङ्का—वेदोंका उपासनाविधिमें तात्पर्य ही कैसे हो सकता है? [उपासना विधिकी अनुपपत्ति दिखानेकेलिए विकल्प करते हैं] ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानको—साक्षात्कारको—उपासना नहीं कह सकते, कारण कि यह तो परम आनन्द साक्षात्काररूप होनेसे उपासनाका फलस्वरूप माना गया है। अतएव स्वर्गके सदृश विधेय नहीं हो सकता।

[यहांपर वैधर्म्यसे दृष्टान्त है जैसे—स्वर्ग आदि फल याग द्वारा उत्पाद्य होनेसे विधेय हो सकते हैं अतः ऐसे फलोंकी उत्पादक विधिका अनुशासन सम्भव है, परन्तु सुख आदिका साक्षात्कारात्मक अनुभव-ऐसे, जो फल उत्पाद्य नहीं हो सकते, उनका विधेय होना या इनके लिए विधिका प्रतिपादन करना संगत नहीं है।] और दृष्टिज्ञानको—शब्दोंके द्वारा दर्शनको—भी उपासना नहीं कह सकते, कारण कि इस शाब्द ज्ञानके विधानका श्रवण नहीं है। 'शाब्द ज्ञान करना चाहिए' ऐसे विधिवाक्यका कहीं श्रवण नहीं है।

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि 'यह सब जो कुछ है वह सब आत्मा ही है' इत्यादि विधिपरक वाक्योंका शाब्द ज्ञानके विधानमें ही पर्यवसान है।

ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए कि 'जो यह आत्मा' इत्यादि प्रकारसे आत्माके स्वरूपको उद्देश्य करके उसमें 'वह यह सब' इस प्रकार प्रपञ्चरूपत्वका विधान होनेपर आत्माके अचेतन होनेका प्रसङ्ग होनेसे विधिका ज्ञाता कोई (चेतन) रहेगा ही नहीं। इसलिए आत्माका प्रपञ्चरूप होना पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। इस अवस्थामें 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वाक्यका

तदयमात्मेत्यप्रतिपन्नात्मरूपस्यैव विधानात्। 'नेति नेति' इत्यादिवाक्यपर्यालोचनया प्रपञ्चं प्रविलाप्याऽऽत्मैव विधेय इति विशेषनिश्चयात्। यद्यपि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यत्र विधिर्न श्रूयते तथापि 'पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यादाविव विधिः कल्प्यतामिति।

तमेतमप्येकदेशिशास्त्रारम्भप्रकारं पूर्वपक्षी नाऽङ्गीकुरुते। तथा हि—'पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यत्र प्रपिष्टो भागो यस्येति समासे यथा प्रमीयमाणो द्रव्यदेवतासम्बन्धः स्वाविनाभूतं यागं गमयति। यागश्च स्वाविनाभूतं

[शाब्द ज्ञानरूप] विधिमें कैसे तात्पर्य हो सकता है? कारण कि 'यदिदं सर्वम्' जो यह सब माना हुआ (दृश्यमान संसार) है, उसको उद्देश्य करके 'तदयमात्मा' (वह यह आत्मा ही है) इस प्रकार अप्रतिपन्न (जो सर्ववादियोंका सम्मत नहीं है) आत्माके स्वरूपका ही विधान है। [दृश्यमान जगत्को नैयायिक 'यथार्थ', वेदान्ती 'प्रातिभासिक' इत्यादि जिस किसी रूपसे सभी वादी मानते ही हैं। परन्तु उस प्रपञ्चको वेदान्तीसे अतिरिक्त कोई भी वादी ब्रह्मरूप नहीं मानता। इससे अप्रतिपन्नका विधान सङ्गत है] क्योंकि 'नेति नेति' (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) इत्यादि वाक्यका विचार करनेसे 'अध्यारोपापवादन्यायसे' प्रपञ्चका—दृश्य जगत्का—निराकरण [यहाँपर अपने-अपने कारणमें लयरूप निराकरण है] करके आत्मा ही विधेय है, ऐसा विशेष निश्चय होता है। यद्यपि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इस वाक्यमें विधिका श्रवण [विधिके बोधक तव्य या लिङादि प्रत्यय] नहीं है, तथापि 'सूर्य प्रपिष्टभागवाला है' * इत्यादिके समान विधिकी कल्पना करनी चाहिए।

इस प्रकार एकदेशी द्वारा प्रतिपादित शास्त्रारम्भप्रकारका भी पूर्वपक्षी स्वीकार नहीं करता। खण्डनप्रकार कहते हैं—'पूषा प्रपिष्टभागः' यहांपर प्रपिष्ट है भाग जिसका, इस समासमें जैसे निश्चितरूपसे ज्ञात होनेवाले द्रव्यका देवताके साथ सम्बन्ध अपने अविनाभूत † यागका बोध कराता है।

---

* जैसे 'प्रपिष्टभाग' इस पदमें 'प्रपिष्टरूपो भागो यस्य' इस प्रकार षष्ठ्यर्थमें बहुव्रीहि समास है, जिसके द्वारा देवताके साथ प्रपिष्टरूप द्रव्यके सम्बन्धका बोध होता है और वह सम्बन्ध अन्य किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, अतः अपूर्व होनेसे पूषा—सूर्यरूप देवता—के उद्देश्यसे प्रपिष्टरूप द्रव्यका वैध त्याग करना प्राप्त होता है, इसलिए वहांपर विधिबोधक पदकी कल्पना करनी पड़ती है वैसे ही ब्रह्ममें भी समझना चाहिए।

† द्रव्य—पिष्टादि—इस भूलोकमें हैं और पूषा आदि देवता तत्तत् लोकमें अथवा मन्त्रात्मक

विध्यर्थं नियोगमिति। श्रुतसामर्थ्याद्विध्यर्थे प्रतिपन्ने व्यवहारमात्राय पूषोद्देशेन पिष्टपरित्यागः कर्त्तव्य इत्युपसंह्रियते। तद्वदत्र न द्रव्यदेवतासम्बन्धः प्रमीयते, यद्बलाद् विधिः कल्प्येत।

अथ मन्येत---यथा 'विश्वजिता यजेत' इत्यादिषु प्रमीयमाणौ यागनियोगावन्यथानुपपत्त्या चेतनं स्वर्गकामं नियोज्यं कल्पयतः, तथेहापि श्रूयमाणश्चेतन आत्मा यागनियोगौ कल्पयतीति। तदसत्, अनुपपत्तेर-

---

और याग अपने अविनाभूत † विध्यर्थ नियोगका बोधन कराता है। इस प्रकार 'पूषा प्रविष्टभागः' इत्यादि श्रवणकी सामर्थ्यसे विध्यर्थ नियोगकी सिद्धि होनेपर केवल व्यवहारके लिए 'सूर्यके उद्देश्यसे पिष्टका परित्याग करना चाहिए' ऐसा उपसंहार किया जाता है। [अर्थात् 'पूषा प्रपिष्टभागः' यहांपर उक्त रीतिसे प्रपिष्टभागपदके श्रवणसामर्थ्यसे ही विधिकी प्रतीति हो जाती है केवल स्पष्ट प्रतीतिके लिए विध्यर्थक 'कर्तव्य' आदि पदकी कल्पना करनी पड़ती है। कर्तव्य आदि पदोंकी कल्पनाके अनन्तर विधिकी प्रतीति होती है, ऐसा नहीं है।] वैसे ही 'सर्वं यदयं मात्मा' इस प्रकृत वेदान्तवाक्यमें किसी देवता और द्रव्यके सम्बन्धकी प्रतीति नहीं होती, जिसकी सामर्थ्यसे विधिकी कल्पना की जाय।

शङ्का---जैसे 'विश्वजित् यागके द्वारा इष्टकी भावना करनी चाहिए' इत्यादि स्थलोंमें प्रतीत होनेवाले याग और विध्यर्थ (नियोग) अपनी अन्यथा अनुपत्तिसे स्वर्गकी इच्छा रखनेवाले चेतन नियोज्य (अधिकारी) की कल्पना करते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी श्रुतिसे प्रतीयमान चेतन आत्मा भी याग और नियोगकी कल्पना कर लेगा।

समाधान---ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। [जैसा याग या नियोग---प्रेरणा---चेतन अधिकारीके बिना उपपन्न नहीं है वैसा

हैं, उनके साथ द्रव्यका साक्षात् सम्बन्ध अनुपपन्न है। विधिविहित आधारमें त्यागका प्रतिपादक शब्दप्रमाणगम्य याग ही तादृश सम्बन्धका उपपादक होगा अर्थात् तत्-तद् देवताके उद्देश्यसे विशेषमन्त्रोंसे किये गये द्रव्यका त्याग ही द्रव्य और देवताके सम्बन्धका उपपादक है। ऐसे सम्बन्धके विना यागकी उपपत्ति ही नहीं होती, अतः याग देवताद्रव्यसम्बन्धसे अविनाभूत है।

† 'यजेत' इत्यादि लिङादि प्रत्यय ही यागादिविधिके प्रतिपादनमें समर्थ हैं और लिङादि विधिकी यागादि क्रियाकलापके बिना सम्भव ही नहीं है, अतः विध्यर्थ यागके अविनाभावसे ग्रस्त है।

भावात्। अन्तरेणाऽपि यागनियोगौ, लोकव्यवहारे चेतनस्य दृष्टत्वात्।
नियोगाभावे कृत्स्नवेदस्य कार्यपरत्वनियमोऽनुपपन्न इति चेद्, एवमपि न नियोगः कल्पयितुं शक्यः, तत्साधनस्य धात्वर्थस्य कस्यचिदप्यभावात्। सोऽपि कल्प्यत इति चेत्, तत्र किं पाकं गमनं करोतीत्येकपाकगमनादिसर्वधात्वर्थानुगतः कृत्यर्थः कल्प्यते, उत ज्ञप्त्यर्थः कल्प्यते, अथ वोभयम्? आद्ये 'यदिदं सर्वं तदयमात्मा कर्त्तव्यः' इति वचनव्यक्तिः स्यात्। तथा च सति अशक्यविधानमापद्येत। नहि निपुणतरेणाऽपि घटः पटीकर्तुं शक्यते। अथाऽमी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्तामित्यत्राऽन्यदन्याकारेण क्रियमाणं दृष्टमिति चेद्, एवमप्यत्रेतिकर्त्तव्यताया अभावादसंपूर्णो विधिः।

प्रकृतमें नहीं कह सकते।] कारण कि याग और नियोगके बिना भी लोकव्यवहारमें चेतनकी उपपत्ति देखी गई है। [यदि लोकमें चेतनकी उपपत्ति याग और नियोगसे ही होती, तो चेतनसे अपने उपपादक याग और और नियोगकी कल्पना की जा सकती, परन्तु चेतन यागादिके बिना भी देखा गया है, अतः उक्त कल्पना नहीं मानी जा सकती।]

यदि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वेदवाक्योंमें नियोगकी प्रतीति नहीं होती, तो सम्पूर्ण वेदोंका कार्यमें ही तात्पर्य है, यह नियम नहीं बन सकेगा। ऐसा माननेपर भी प्रकृत नियोगकी कल्पना नहीं की जा सकती, कारण कि उस नियोगका उपपादक कोई भी धात्वर्थ—क्रिया—नहीं है। यदि कहो कि धात्वर्थकी भी कल्पना की जाती है, तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि 'इदं सर्वम्' इत्यादि वाक्योंमें क्या 'पाक गमन करता है' इस प्रकार एक पाक गमनादिसे सम्पूर्ण धात्वर्थके साथ अन्वित होनेवाले कृति—करना—रूप धात्वर्थकी कल्पना की जाती है? अथवा 'पाक गमनको जानता है' इस प्रकार सकल धात्वर्थानुगत ज्ञप्ति—जानना—रूप धात्वर्थकी कल्पना की जाती है या दोनोंकी? प्रथम कृतिरूप धात्वर्थकी कल्पना माननेमें 'जो यह सम्पूर्ण है उसे आत्मा करना चाहिए' इस प्रकारका वाक्य होगा। ऐसा वाक्यार्थ माननेमें विधान करना सम्भव नहीं होगा, कारण कि चतुरसे चतुर भी कारीगर घटको कपड़ा नहीं बना सकता। 'पिष्टपिण्डों—सने हुए आटेके गोले—का सिंह बनाना चाहिए' इन वाक्योंसे भिन्न वस्तुका भिन्न आकारसे बनाना देखा गया है, ऐसा यदि कहा जाय, तो भी इतिकर्तव्यता—बनानेका

नहि शमादयः प्रपञ्चविलयनेतिकर्त्तव्यता रूपाः, तेषां ज्ञानेतिकर्तव्यता-रूपत्वात् । न द्वितीयः, प्रपञ्चे सर्वस्मिन् विधिबलादात्माकारेण ज्ञायमानेऽपि प्रपञ्चभावस्याऽनिवृत्तेः । नहि योषिदादिष्वग्न्यादिरूपेण ज्ञायमानेषु योषिदादिभावोऽपि निवृत्तः । न तृतीयः, पक्षद्वयदोषप्रसङ्गात् ।

ननु योषिदग्न्यादिषु मानसी क्रिया, न ज्ञानम् । इह त्वात्मतत्त्वज्ञानेन विधीयमानेन प्रपञ्चः प्रविलीनः स्यात्, स्थाणुतत्त्वज्ञानेन पुरुषभावप्रविलय-दर्शनादिति चेत्, तर्हि स्थाणुतत्त्वज्ञानस्येवाऽऽत्मतत्त्वज्ञानस्याऽपि विधि-व्यतिरिक्तं किञ्चित्प्रापकं वक्तव्यम्, तत्त्वज्ञानस्य वस्तुतन्त्रस्याऽविधेयत्वात् ।

प्रकार—न होनेसे विधानकी पूर्णता नहीं होगी । प्रपञ्चके विलयन–निराकरण—स्वरूप शमादि ही इतिकर्तव्यता—विधिके सम्पादन प्रकार—होंगे, यह भी नहीं मान सकते, कारण कि शम, दम आदि ज्ञानकी इतिकर्तव्यतारूप हैं । द्वितीय—ज्ञानक्रियारूप मानना—पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि सम्पूर्ण प्रपञ्च विधानके बलसे आत्माका स्वरूप माना जाय, तो भी प्रपञ्चकी सत्ता नहीं मिट सकती । स्त्री आदिको अग्निरूप माननेसे उनका स्त्रीत्व नहीं चला जाता । दोनों—ज्ञप्ति और कृति—का मानना तीसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, कारण कि इसमें ऊपर कहे गए दोनों पक्षोंके दोष प्राप्त होते हैं ।

शङ्का—स्त्रीको अग्नि समझनेमें मानसव्यापार है, ज्ञान नहीं । [प्रकृतमें ज्ञानपद जिससे अर्थका ज्ञान हो 'ज्ञायतेऽनेन' ऐसा करणल्युडन्त है । जहां-पर दूसरी वस्तु दूसरे रूपमें जानी जाय वहांपर उसका सम्भव नहीं है, अतः योषिदग्नि स्थलोंमें ज्ञान न मानकर मानसव्यापार–आहार्यारोप–मानना चाहिए जो कि पुरुष व्यापाराधीन है ।] प्रकृतमें विहित आत्मतत्त्वज्ञानसे प्रपञ्चका विलय होगा, जैसे कि स्थाणु–सूखे शाखाहीन काष्ठ—के तत्त्वज्ञानसे पुरुषभावका विलीन—नष्ट—हो जाना देखा गया है ।

समाधान—तब तो जैसे स्थाणुतत्त्वके ज्ञानका प्रापक विधिसे भिन्न ही वस्तु है, वैसे ही विधिसे अतिरिक्त ही किसी दूसरी ज्ञानसामग्रीको ही ब्रह्मतत्त्व-ज्ञानका भी प्रापक मानना चाहिए । तत्त्वका ज्ञान वस्तु—पदार्थ—के अधीन है उसका विधान नहीं हो सकता । [विधान उसका ही हो सकता है जिसमें

विधायकशब्दव्यतिरिक्ता वेदान्तगताः शब्दास्तत्प्रापका इति चेत्, तर्हि तेभ्य एव ज्ञानसिद्धेः कृतं विधिना ? ननु उत्पन्नेऽपि ज्ञाने पुनस्तादृशं ज्ञानव्यक्त्यन्तरं विधीयते। न च विधिवैयर्थ्यम्, मन्त्रेष्विव प्राप्तस्यापि पुनर्विध्युपपत्तेः। तथा हि—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्र स्वशाखा स्वाध्यायशब्देनोच्यते। अतस्तन्मध्यपातिनो मन्त्रा अपि स्वाध्यायविधिना पठितव्यतया स्वीकृतास्ते च गृहीतपदपदार्थसम्बन्धस्य स्वार्थे प्रत्ययमुत्पाद्य प्रयोजनशून्या व्यवतिष्ठन्ते। न च स्वार्थानुष्ठापकत्वं प्रयोजनम्, स्वार्थस्य द्रव्यदेवतास्वरूपस्याऽननुष्ठेयत्वात्। नाऽपि तत्प्रमापकत्वम्, ब्राह्मणवाक्यैरेव मन्त्रार्थस्य द्रव्यादेः प्रमितत्वात्। ततो निष्प्रयोजनत्वे प्राप्ते

पुरुष—कर्ता—के व्यापारकी सामर्थ्य करने न करने या अन्यथा करनेमें हो। ज्ञान तो अपनी सामग्रीके बलसे अवश्य ही हो जायगा। वह पुरुष प्रमाताके व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखता। अतः ज्ञानका विधान करना संगत और सम्भव नहीं है।] वेदान्तशास्त्रमें आए हुए विधिप्रतिपादक शब्दोंसे भिन्न—तव्य आदि प्रत्ययरहित—शब्द ही ब्रह्मतत्त्वज्ञानके प्रापक हैं यदि ऐसा कहो, तो उन शब्दोंके द्वारा ही ज्ञानकी सिद्धि हो जायगी, फिर विधि माननेकी आवश्यकता ही क्या है ? ज्ञानके उन शब्दोंसे उत्पन्न हो जानेपर भी पुनः उसी प्रकारके दूसरे ज्ञानका विधान किया जाता है, इस प्रकार सिद्धका विधान करना व्यर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन्त्रोंमें जैसे प्राप्तका भी पुनर्विधान हो सकता है। [मन्त्रोंमें पुनर्विधानका साफल्यप्रकार दिखलाते हैं—] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्यमें स्वाध्यायपदसे अपनी शाखाके वेदका ग्रहण किया जाता है। इससे उस शाखामें पढ़े हुए मन्त्र भी स्वाध्यायविधिके द्वारा पाठ्यरूपसे लिए जाते हैं, ऐसे ही मन्त्र अध्ययन * से ज्ञात पद तथा पदार्थके सम्बन्धका अपने स्वार्थमें बोध कराकर प्रयोजनसे रहित हो जाते हैं। स्वार्थका ही अनुष्ठान करना प्रयोजन नहीं माना जाता, कारण कि द्रव्य-देवतारूप स्वार्थका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। स्वार्थभूत द्रव्यदेवताकी प्रमिति करना प्रयोजन भी नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्रोंके अर्थ द्रव्यदेवताकी प्रमिति तो ब्राह्मणवाक्योंसे ही हो जाती है। इससे मन्त्रोंमें निष्प्रयोजनत्व

* अर्थज्ञानपर्यन्त ही अध्ययन कहलाता है, केवल पाठमात्रको अध्ययन नहीं कहते हैं।

श्रुतिलिङ्गादिभिर्व्रीह्यादिवन्मन्त्राः सप्रयोजनस्य कर्मणोऽङ्गभावेऽपि न विनियुज्यन्ते। तत्र 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यस्मिन् ब्राह्मणे 'गार्हपत्यम्' इति द्वितीयाश्रुतिः 'कदाचन स्तरीरसि' इत्येतन्मन्त्रस्येन्द्रप्रकाशनसमर्थस्याऽपि गार्हपत्योपस्थाने विनियोगं बोधयति, श्रुतसामर्थ्यलक्षणाल्लिङ्गाच्छ्रुतेर्बलीयस्त्वात्। 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्ययं मन्त्रस्तु मन्त्रलिङ्गाद् बर्हिर्लवने विनियुज्यते। एवं वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिरपि तत्र तत्र मन्त्रा विनियुक्ताः। ते च मन्त्राः केनोपकारेण प्रधानापूर्वसिद्धेरुपकुर्वन्तीति वीक्षायामनुष्ठानापेक्षितद्रव्यदेवतादिस्मारणेनेति कल्पनीयम्; दृष्टोपकारे सत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेः। सम्भवति हि हुंफडादिव्यतिरिक्तमन्त्रैरर्थस्मृतिः। तदध्ययनस्याऽर्थाऽवबोधपर्यन्तत्वात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यैर्द्रव्यदेवतादिस्मृतिः सम्भवति तथापि मन्त्रैरेव

प्राप्त होनेपर उनके सार्थक्यके लिए व्रीहि आदिके तुल्य श्रुति, लिङ्ग आदि प्रमाणोंसे मन्त्रोंका प्रयोजनविशिष्ट (यज्ञ-यागादि) कर्मोंके—अङ्ग—उपकारक होनेमें भी विनियोग नहीं किया जाता है। इनमें 'ऐन्द्री ऋचासे गार्हपत्य अग्निका उपस्थान करना चाहिए' इस ब्राह्मणवाक्यमें 'गार्हपत्यम्' इस प्रकार द्वितीयान्त पदकी श्रुति 'कदाचन स्तरीरसि' इस मन्त्रकी इन्द्रदेवताके प्रकाशनमें सामर्थ्य होते हुए भी इसका गार्हपत्यके उपस्थानमें विनियोग बोधन करती है, क्योंकि श्रुतसामर्थ्यरूप लिङ्गकी अपेक्षा श्रुति बलवान् मानी गई है। 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इस मन्त्रका तो मन्त्रलिङ्गसे बर्हि—कुशा—के लवन—छेदन—में विनियोग होता है। इस प्रकार वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्याओंसे मन्त्रोंका तत्-तत् विधियोंमें विनियोग किया गया है। ऐसे विनियोगमें लाये गए मन्त्र किसका उपकार करनेसे प्रधान अपूर्वकी सिद्धिका उपकार करते हैं, इस जिज्ञासाके होनेपर उत्तरमें यही कल्पना की जानी चाहिए कि द्रव्य देवताका स्मरण—उपस्थान—करानेसे प्रधानकी सिद्धिमें उपकार करते हैं, क्योंकि दृष्ट—प्रत्यक्ष—उपकारका सम्भव रहते अदृष्ट—अप्रत्यक्ष—की कल्पना उपयुक्त नहीं है। हुं, फट् आदिसे भिन्न मन्त्रोंके द्वारा अर्थस्मरण हो सकता है। [इससे हुं, फट् आदिके दृष्टान्तसे मन्त्रोंका अर्थबोध करानेमें सामर्थ्य नहीं है, इस कथनका खण्डन हुआ।] [स्वाध्यायके अध्ययनविधिमात्रसे अर्थस्मरण नहीं होगा, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—]स्वाध्याय—मन्त्रोंके पढ़ने—का अर्थज्ञानपर्यन्तमें तात्पर्य है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्योंसे द्रव्य, देवता आदिका स्मरण हो सकता है,

स्मृतावदृष्टविशेषः कल्पनीयः । अन्यथा मन्त्राणामानर्थक्यप्रसङ्गात् । अध्ययनविध्युपात्तानां तदयोगात् । एवं च सति प्रयोगविधिः सर्वैरङ्गैर-पूर्वोपकारं कारयन् मन्त्रैरर्थज्ञानलक्षणमुपकारं कारयति । तत्र यथा प्रयोगवचनो मन्त्रैरध्ययनकालोत्पन्नज्ञानातिरिक्तमपूर्वोपकारिज्ञानान्तरमनुष्ठापयति तथाऽ-त्रापि मोक्षोपकारिब्रह्मज्ञानव्यत्तयन्तरमनुष्ठापयतु । न चाऽत्र दार्ष्टान्तिके तद्वत् प्रयोगविधिर्नास्तीति शङ्कनीयम्, तस्य सम्पादयितुं शक्यत्वात् ।

ननु सर्वत्रोत्पन्ने कर्मणि विनियोगोत्तरकालमधिकारसम्बन्धे सति पश्चात् प्रयोगविधिरन्विष्यते । इह तूत्पत्त्यादिविधित्रयाभावे कथं प्रथमत एव प्रयोगविधिसम्पादनमिति चेद्, नः उत्पत्त्यादिविधित्रयस्याऽप्यत्र सुसम्पाद-

---

तथापि मन्त्रोंसे ही स्मरण होनेमें अदृष्टविशेष—पुण्य—की कल्पना मानी जाती है । अन्यथा मन्त्र अनर्थक हो जायँगे । [मन्त्रोंको अनर्थक मानना इष्ट नहीं है] कारण कि अध्ययनविधिसे प्राप्त हुए मन्त्रोंका आनर्थक्य नहीं बन सकता । इस सिद्धान्तके अनुसार प्रयोगोंका विधान सम्पूर्ण अङ्गोंके द्वारा प्रधान, अपूर्वका उपकार कराता हुआ मन्त्रोंसे [द्रव्यदेवतारूप] अर्थज्ञान-लक्षण उपकार कराता है । [निष्कर्ष कहते हैं—] जैसे प्रयोगविधानका कथन मन्त्रस्थलमें मन्त्रोंके द्वारा अध्ययनकालमें उत्पन्न हुए अर्थज्ञानके अतिरिक्त अपूर्वके उपकारी दूसरे ज्ञानका अनुष्ठान कराता है, वैसे ही प्रकृतमें भी मोक्षके उपकारी ब्रह्मज्ञानसे भिन्न दूसरे ज्ञानका अनुष्ठान कराना सम्भव होगा । प्रकृत दार्ष्टान्तिकमें—ब्रह्मज्ञानमें—दृष्टान्त मन्त्रोंमें जैसी प्रयोगविधि है वैसी प्रयोग-विधि नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रकृतमें भी प्रयोगविधिका सम्पादन हो सकता है ।

शङ्का—कर्मके उत्पन्न—उत्पत्तिविधिसे सिद्ध—होनेपर विनियोग होता है अनन्तर अधिकारीका सम्बन्ध होनेपर प्रयोगविधिकी अपेक्षा होती है । अर्थात् प्रयोगविधिके पूर्व उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि तथा अधिकारविधिका होना आव-श्यक है । प्रकृत ब्रह्मज्ञानमें उत्पत्ति आदि तीनों विधियोंके न होनेसे सर्वप्रथम ही प्रयोगविधिका सम्पादन कैसे हो सकेगा ?

समाधान—उत्पत्ति आदि तीनों विधियोंका भी सम्पादन किया जा सकता

त्वात्। तथाहि—'वेदान्तवाक्येनाऽऽत्मज्ञानं कुर्यात्' इत्येवं वेदान्तशब्दलक्षणकरणेन विशिष्टस्याऽऽत्मज्ञानस्य स्वरूपबोध उत्पत्तिविधिस्तावदध्याह्रियते। न च वाच्यं विशिष्टप्रतीतौ नोत्पत्तिविधित्वं सम्भवति, स्वरूपमात्रबोधकत्वादुत्पत्तिविधेरिति, 'सोमेन यजेत' इत्यत्र विशिष्टोत्पत्तिविधेरङ्गीकृतत्वात्। तत्र हि सोमशब्दो यागविशेषनामधेयं गुणवाची वेति विचार्य वल्लीविशेषे रूढस्य यागनामत्वासम्भवाद्गुणवाचित्वं निर्धारितम्। तत्र यद्यपि 'दध्ना जुहोति' इतिवत् 'सोमेन यजेत' इत्युक्ते गुणसम्बन्धः प्रतीयते, तथापि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इतिवत् पृथगुत्पत्त्यश्रवणात् सोमगुणविशिष्टयागोत्पत्तिविधिरिति अङ्गीकर्त्तव्यम्। तद्वत् प्रकृतेऽपि विशिष्टोत्पत्तिविधिः किं न स्यात्?

है। क्योंकि 'वेदान्तवाक्यसे आत्मज्ञान करना चाहिए' इस प्रकार वेदान्तशब्दरूप करणसे विशिष्ट आत्मज्ञानकी स्वरूपबोधात्मक उत्पत्तिविधिका अध्याहार किया जाता है। विशिष्टप्रतीतिके विषयमें उत्पत्तिविधिका सम्भव नहीं है, कारण कि उत्पत्तिविधि स्वरूपमात्रका बोध करानेवाली है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'सोमयागसे इष्टका सम्पादन करे' इस वाक्यमें विशिष्टकी उत्पत्तिविधि मानी गई है। यहांपर सोमशब्द यागविशेषका नाम है अथवा गुणवाची है? इसका विचार करके एक लताविशेषमें रूढ़ सोमशब्द यागका नाम नहीं हो सकता, इसलिए सोमशब्द गुणवाची है, ऐसा निश्चित किया है। यद्यपि 'दहीसे हवन करना चाहिए' इस विधिके समान 'सोमसे याग करना चाहिए' ऐसा कहनेसे गुणका सम्बन्ध ही प्रतीत होता है, [उत्पत्तिविधि प्रतीत नहीं होती] तथापि 'अग्निहोत्र करता है' इस विधिके तुल्य प्रकृतमें पृथक् उत्पत्तिविधिका श्रवण नहीं है। इसलिए सोमगुणविशिष्ट यागकी ही उत्पत्तिविधि माननी चाहिए। [जैसे 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य केवल 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस उत्पत्तिविधिको उद्देश्य करके दधिरूप गुणमात्रका बोध कराता है वैसे प्रकृतमें कोई अन्य उत्पत्तिविधि नहीं है, जिसके द्वारा ज्ञातका अनुवाद करके सोमगुणका विधान किया जाय। दूसरी बात यह है कि प्रसिद्धिरूप रूढिके बलवान् होनेसे यागका नाम भी वल्लीविशेष सोम नहीं माना जा सकता, अतः उसके विशिष्टविधि होनेमें कोई क्षति नहीं है।] ठीक इसीके तुल्य प्रकृत—ब्रह्मज्ञानविधि—में भी उत्पत्तिविधि क्यों नहीं होगी?

स एवोत्पत्तिविधिः पर्यालोचितो विनियोगाधिकारप्रयोगाख्यविधित्रयाकारेण सम्पद्यते। प्रथमं तावदुत्पत्तिविधिबोधितमात्मज्ञानं कथमिति जिज्ञासायाम् 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायेन फलवदात्मज्ञानप्रकरणपठितशमादीनि निष्फलानि इतिकर्त्तव्यत्वेन विनियोजयन्नङ्गाङ्गिसम्बन्धबोधकत्वादुत्पत्तिविधिरेव विनियोगविधिः सम्पद्यते। ततः शमादीतिकर्त्तव्यतानुगृहीतैर्वेदान्तवाक्यकरणैरात्मज्ञानं कुर्यादित्येवंरूपेण निष्पन्नः स एव विनियोगविधिः साङ्गे कर्मणि 'ममेदं कर्त्तव्यम्' इति प्रतिपत्तारमधिकारिणमाकाङ्क्षन्नर्थवादगतं मोक्षं फलत्वेन रात्रिसत्रन्यायेनोपसंहृत्य 'मोक्षकामः कुर्यात्' इत्येवमधिकारविधिः सम्पद्यते। 'रात्रिसत्रे' ह्येवमर्थवादः श्रूयते—'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति' इति। तत्राऽश्रुतत्वादधिकारी कल्पनीयः। स किं

इस प्रकारकी कल्पनासे सिद्ध वही उत्पत्तिविधि विचार करनेसे नियोग, अधिकार तथा प्रयोग नामक तीनों विधियोंके रूपमें परिणत हो जाती है। [विधित्रयकी स्वरूपसम्पत्ति दिखलाते हैं—] सर्वप्रथम उत्पत्तिविधिसे बोधित आत्मज्ञान कैसे सम्पन्न हो, ऐसी जिज्ञासा होनेपर 'फलवान्‌की सन्निधिमें निष्फल उसका अङ्ग होता है' इस न्यायसे फलयुक्त आत्मज्ञानके प्रकरणमें पढ़े हुए स्वयं निष्फल शमादि (विधि) का इतिकर्तव्यताके रूपमें विनियोग करती हुई उत्पत्तिविधि ही अङ्गाङ्गिसम्बन्धबोधक होनेसे विनियोगविधि हो जाती है। [आत्मज्ञान करना चाहिए, यह तो उत्पत्तिविधि हुई और इसको अपने करणकी आकाङ्क्षासे उसका सम्बन्धबोधन करना ही विनियोगविधि है। इस कार्यको उक्त उत्पत्तिविधिने शमादिविधिको अपना अङ्ग बनाकर सम्पन्न किया है, यह भाव है।] इसके अनन्तर शमादिरूप इतिकर्तव्यतासे उपकार पाकर करणत्वको प्राप्त हुए वेदान्तवाक्योंसे 'आत्मज्ञान करना चाहिए' इस प्रकारके स्वरूपको प्राप्त वही विनियोगविधि साङ्ग—अङ्गोंके सहित—अनुष्ठानमें 'मुझे यह करना चाहिए' इस प्रकारके प्रमाता अधिकारीकी आकाङ्क्षा करती हुई अर्थवादगत मोक्षको रात्रिसत्रन्यायसे फल बनाकर 'मोक्षकी इच्छा रखनेवाला आत्मज्ञान करे' इस प्रकार अधिकारविधिके आकारको पा जाती है। 'रात्रिसत्र' (याग) में अर्थवादका इस प्रकार श्रुतिमें वर्णन आया है कि 'जो पुरुष इन रात्रिविशेषोंका उपयान करते हैं, वे प्रतिष्ठाको प्राप्त होते हैं' इसमें अधिकारीका श्रवण नहीं है, इसलिए अधिकारीकी कल्पना करनी

स्वर्गकामो भवेत् किं वाऽऽर्थवादिकप्रतिष्ठाकाम इति सन्देहः। तत्र विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकामः प्राप्तः। 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र फलस्याऽश्रुतस्याऽपेक्षायां 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति सूत्रेण क्वचिन्नियोज्यविशेषणत्वेन श्रुतः स्वर्ग इतरत्राऽपि फलत्वेन कल्पनीयः, सर्वेषां स्वर्गार्थित्वाविशेषादिति निर्णीतम्। तथा रात्रिसत्रेऽपि स्वर्गः फलं तत्कामोऽधिकारीति पूर्वपक्षे प्राप्ते 'फलमात्रेयो निर्देशात्' इति सूत्रेणेत्थं राद्धान्तितम्— विश्वजिदादौ फलस्योत्पत्तौ अश्रवणात् स्वर्गः कल्प्यतां नाम, रात्रिसत्रे त्वर्थवादनिर्दिष्टा प्रतिष्ठैव फलम्; सार्थवादेनैव वाक्येन नियोगप्रतीतेः। अर्थवादानां विध्येकवाक्यताया

चाहिए। वह अधिकारी स्वर्गकी इच्छा करनेवाला होगा? अथवा अर्थवादसे सिद्ध प्रतिष्ठाकी कामनावाला होगा? ऐसा सन्देह होता है। इस अवसरपर [पूर्वमीमांसामें] विश्वजिन्न्यायसे स्वर्गकी कामनावाला प्राप्त होता है, कारण कि 'विश्वजित् याग करना चाहिए' इस विधिमें फलका श्रवण न होनेसे किस फलके लिए उक्त याग किया जाय? ऐसी अपेक्षा होनेमें 'जहां कोई फलश्रुति न हो वहां सभी विधियोंके अविशेष होनेसे स्वर्गको ही फल मानना चाहिए' इस सूत्रसे किसी एक विधिमें स्वर्ग नियोज्य—अधिकारी—के विशेषणरूपसे श्रुत है, इसलिए जहांपर फलश्रुति नहीं है ऐसी दूसरी विधिमें भी स्वर्गरूप ही फलकी कल्पना करनी चाहिए, क्योंकि सभी समानरूपसे स्वर्गके प्रार्थी हैं, ऐसा निर्णय किया गया है। एवं रात्रिसत्रमें भी स्वर्गको ही फल मानना चाहिए और उसकी इच्छा रखनेवाला अधिकारी होगा, इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त होनेपर 'फलमात्रेयः*' इत्यादि सूत्र द्वारा यह सिद्धान्त किया गया है कि विश्वजित् आदि यागकी उत्पत्तिविधिमें फलका श्रवण नहीं है। इससे वहांपर स्वर्गरूप फलकी कल्पना करना संगत है, परन्तु रात्रिसत्रस्थलमें तो अर्थवादमें दिखलाया गया प्रतिष्ठारूप ही फल मानना चाहिए। कारण कि अर्थवादसे युक्त वाक्यसे ही नियोगकी प्रतीति होती है। [और स्वर्गरूप फल तो भिन्न वाक्यसे प्रतीत होता है। रात्रिसत्रका विधान तो अर्थवादके साथ एकवाक्यता प्राप्त होकर ही होता

---

* 'फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्' (जै० सू० ४।३।१८) अर्थात् जहांपर फलनिर्देशका श्रवण नहीं हो वहींपर अनुमानसे स्वर्गरूप फलकी कल्पना करनी चाहिए।

अर्थवादाधिकरणे निर्णीतत्वात्। तत आर्थवादिकप्रतिष्ठाकामो यथा रात्रिसत्रेऽधिकारी तथा 'तरति शोकमात्मवित्' इत्याद्यर्थवादावगतमोक्षकाममधिकारिणं संपादयन्नधिकारविधिः स्यात्। ततः स एव साङ्गतत्त्वज्ञानमधिकारिणाऽनुष्ठापयन् प्रयोगविधिः संपद्यते। ततः प्रयोगविधिबलाद् मन्त्रवद् वेदान्तशब्दाः प्रथमतः स्वार्थमात्मानमवबोध्याऽपि पश्चादपूर्वोपकारिविधेयज्ञानव्यक्त्यन्तरे पर्यवस्थास्यन्ति। न च वाच्यं मन्त्राणामपूर्वोपकारिप्रत्ययमात्रे तात्पर्यम्, स्वार्थस्य ब्राह्मणवाक्यैः प्रतिपादितत्वात्। वेदान्तानां तु स्वार्थेऽपि तात्पर्यं वक्तव्यम्। अन्यतोऽप्राप्तत्वात्। अतो न विधेय-

---

है] अर्थवादवाक्योंकी विधिवाक्योंके साथ एकवाक्यता होती है। ऐसा (पूर्वमीमांसाके) अर्थवाद अधिकरणमें निर्णय किया गया है। जैसे अर्थवादसे सिद्ध प्रतिष्ठाकी इच्छावाला पुरुष रात्रिसत्रमें अधिकारी माना जाता है, वैसे ही 'आत्मज्ञानी पुरुष शोक—दुःखजालस्वरूप प्रपञ्च—को पार करता है' इस अर्थवादसे प्राप्त मोक्षस्वरूप फलकी कामनावालेको अधिकारी बनाती हुई अधिकारविधि हो जायगी। तदनन्तर वही साङ्ग तत्त्वज्ञानका—शम, दम आदि इतिकर्तव्यताविशिष्ट ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारका—अधिकारीके द्वारा अनुष्ठान कराती हुई प्रयोगविधि हो जाती है। तदनन्तर प्रयोगविधिकी सामर्थ्यसे मन्त्रोंके तुल्य वेदान्तशब्द अपने अर्थभूत आत्माका बोध करानेके अनन्तर अपूर्वोपकारक दूसरी विधेय ज्ञानव्यक्तिमें पर्यवसन्न हो जायंगे। [अर्थात् जैसे मन्त्र स्वाध्यायविधिसे अपने स्वार्थका बोधन करनेके अनन्तर भी प्रयोगविधिके बलसे अपूर्वोपकारक विधेयभूत अन्य यागादि व्यक्तिमें पर्यवसित होते हैं] वैसे ही 'यदिदम्' इत्यादि वेदान्तवाक्य भी अपने स्वार्थभूत आत्माका बोध कराकर 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि अर्थवादसे कल्पित प्रयोगविधिकी सामर्थ्यसे अपूर्वोपकारक दूसरी विधेय ज्ञान व्यक्तिमें पर्यवसित होंगे, यह भाव है। यदि शङ्का हो कि मन्त्रोंका तो तात्पर्य अपूर्वके उपकारक बोधनमें ही है, क्योंकि उनके स्वार्थ—द्रव्यदेवतासम्बन्ध या स्वरूप—का तो ब्राह्मणवाक्योंसे भी निर्णय किया गया है और वेदान्त वाक्योंका तो स्वार्थमें—ब्रह्मके अर्थबोधमें—भी तात्पर्य है, यह कहना होगा, कारण

प्रत्यये तात्पर्यमिति, कुल्याप्रणयनन्यायेनोभयार्थत्वाविधेयत्वात् । यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते ताभ्य एव पानीयं च पीयते तद्वत् ।

ननु स्थायिनां कुल्यादीनां युगपत्क्रमेण वाऽनेककार्यकारित्वमस्तु, उपलभ्यमानत्वात् । शब्दस्य तु न तावत्क्रमकारित्वं क्वचिदपि, विरम्य व्यापारानुपलम्भात् । नाऽपि युगपदर्थद्वये तात्पर्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते । न्यायतस्तत्कल्पने च न युगपद् न्यायद्वयप्रवृत्तिः संभवतीति चेद्, न; प्रयाजवाक्येष्वर्थद्वये तात्पर्यस्याऽङ्गीकृतत्वात् । 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति', 'इडो यजति', 'बर्हिर्यजति', 'स्वाहाकारं यजतीति' पञ्चवाक्यानि पञ्च प्रयाजान्

कि वह (आत्मज्ञान) दूसरे किसीसे प्राप्त नहीं है, इस लिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य होनेसे वेदान्तवाक्योंका उक्त प्रकारके विधेयमें तात्पर्य नहीं हो सकता, तो यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि कुल्याप्रणयनन्यायके अनुसार वेदान्तवाक्योंका दोनोंमें अर्थात् स्वार्थ और विधेय ज्ञानव्यक्त्यन्तरमें तात्पर्य हो सकता है। जैसे—खेतीको सीचनेके लिए गूलें—पानहरे—बनाई जाती हैं और उनसे ही जल भी पिया जाता है वैसे ही वेदान्तवाक्योंमें भी समझना चाहिए । [अर्थात् अपूर्व अर्थका बोधन करानेसे वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य स्वार्थके—ब्रह्मस्वरूपके—बोधमें भी होगा, इस परिस्थितिमें प्रयोग-विधिके बलसे ज्ञानव्यक्त्यन्तरमें तात्पर्य होनेसे वेदान्त विधिपरक भी होंगे ।]

शङ्का—कुल्यादि स्थायी पदार्थ हैं, अतः उनसे तो एक साथ या क्रमसे अनेक कार्योंका सम्पादन हो सकता है, कारण कि वैसा प्रत्यक्ष देखा जाता है । शब्दमें तो क्रमसे कार्यकारित्व कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दका विराम होनेके अनन्तर व्यापार नहीं देखा जाता । और एक साथ दो अर्थोंमें शब्दका तात्पर्य भी कहीं नहीं देखा गया है । यदि न्याय द्वारा दो अर्थोंमें तात्पर्यकी कल्पना करो, तो भी एक साथ दो न्यायोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ।

समाधान—प्रयाजवाक्योंमें शब्दोंका दो अर्थोंमें तात्पर्य माना गया है ।

[प्रयाजवाक्योंमें उभयार्थता दिखलाते हैं—] 'समित् याग करता है', 'तनूनपात याग करता है', 'इडा याग करता है', 'बर्हि याग करता है' । 'स्वाहाकार याग करता है' इस प्रकार पांच वाक्य पांच प्रयाजोंका तथा

क्रमं च तदनुष्ठानस्य बोधयन्तीति ह्यङ्गीकृतम्। अतः प्रयाजवाक्यवदुभयार्था वेदान्तशब्दा मन्त्रवदपूर्वोपकारिणि ज्ञानव्यक्त्यन्तरे विधेये पर्यवस्थास्यन्तीति।

अत्रोच्यते—वेदान्तानां विधेयसमर्पकतायां न स्वार्थपरता संभवति। विधायकस्य योषिदग्न्यादिवाक्यस्य स्वार्थपरत्वादर्शनात्। योषिदादिपदार्थस्य लोकसिद्धतया न तत्र स्वार्थपरता इह तु विधिब्रह्मणोरलौकिकत्वादुभयपरत्वं वेदान्तजन्यज्ञानस्य स्यादिति चेत्, किमत्र वेदान्तेषु या ज्ञानव्यक्तिर्विधीयते सैव वेदान्तार्थभूतं ब्रह्मस्वरूपं प्रमापयति उत ज्ञानव्यक्त्यन्तरम्? आद्ये विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिलक्षणं वैरूप्यं ब्रह्मणः प्रसज्येत। प्राधान्यमुपादेयत्वं विधेयत्वं चेत्येकं त्रिकम्।

उनके अनुष्ठानके क्रमका भी बोधन कराते हैं, ऐसा माना ही गया है। इसलिए प्रयाजवाक्योंके दृष्टान्तसे वेदान्तवाक्य दोनों अर्थमें तात्पर्य रखते हुए मन्त्रोंके समान अपूर्वका उपकार करनेवाली दूसरी ज्ञानव्यक्तिके विधानमें पर्यवसित होते हैं अर्थात् परम तात्पर्य रखते हैं। [इस प्रकार एकदेशीने ज्ञानविधिका समर्थन कर वेदान्तवाक्य भी कार्यपरक हैं, ऐसा सिद्धान्त किया है।]

[सिद्धान्तमतका प्रदर्शन करते हैं—] इस एकदेशीके मतकी आलोचनामें कहा जाता है कि वेदान्तोंका विधेयमें तात्पर्य माननेसे स्वार्थबोधनमें तात्पर्य नहीं हो सकता, कारण कि विधानमें तात्पर्य होनेसे 'योषिदग्नि' आदि वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं देखा जाता। यदि कहो कि योषित् आदि पदार्थ तो लोकप्रसिद्ध हैं, इसलिए उन वाक्योंका स्वार्थके बोधनमें तात्पर्य नहीं है; प्रकृतमें तो विधि और ब्रह्म दोनों लोकसिद्ध नहीं हैं, इसलिए वेदान्तशब्दों द्वारा उत्पन्न ज्ञानका दोनोंमें तात्पर्य माना जायगा, तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें जिस ज्ञानका विधान किया जाता है, वही ज्ञानव्यक्ति वेदान्तवाक्योंके अर्थभूत ब्रह्मस्वरूपका निश्चय करा देती है? अथवा उससे दूसरी ज्ञानव्यक्ति ब्रह्मस्वरूपका बोध कराती है। प्रथम पक्षके माननेसे परस्पर विरुद्ध दो त्रिकोंकी आपत्तिस्वरूप ब्रह्ममें वैरूप्य प्रसक्त हो जायगा। [उनमें प्रथम त्रिक दिखलाते हैं] प्राधान्य, उपादेयत्व और विधेयत्व यह एक त्रिक है और गुणभाव—गुणत्व—

गुणभावमुद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं चेत्यपरं त्रिकम्। तत्र प्रमापकस्य ज्ञानस्य प्रमेयार्थतया प्रमेयस्य ब्रह्मणः प्राधान्यम्। तथा कस्य ज्ञानमित्यपेक्षायां ब्रह्मणो ज्ञानमित्येवं विधेयज्ञानं प्रति व्यावर्त्तकतया तदर्थस्य ब्रह्मणो गुणभावः तथा प्रमाणविषयस्य ब्रह्मणः प्रमाणजन्यातिशययोगित्वाकारेण साध्यत्वादुपादेयत्वं तथा स्वभावतः सिद्धत्वाद् ब्रह्मण उद्देश्यत्वम्। तथेदानीं प्रमाणविषयस्य ब्रह्मणः पूर्वमज्ञाततयाऽङ्गीकार्यत्वाद् विधेयत्वम्। तथेदानीमुद्देश्यस्य ब्रह्मणः पूर्वं ज्ञातत्वादनुवाद्यत्वम्। तदेवं विधेयज्ञानमेव ब्रह्मप्रमापकमित्यस्मिन्नाद्यपक्षे वैरूप्यं दुर्वारम्। अस्तु तर्हि द्वितीयः पक्षः—वेदान्तेभ्य उत्पन्नं प्रथमज्ञानं ब्रह्मपरं द्वितीयज्ञानं विधेयतया

उद्देश्यत्व तथा अनुवाद्यत्व दूसरा त्रिक है। इनमें प्रथम त्रिकका प्रथम प्राधान्य ब्रह्ममें आता है, क्योंकि प्रमाजनक ज्ञान प्रमेयके लिए ही होता है, [और वह प्रमेय ज्ञानक्रियासे जन्य फलका आश्रय होनेसे ब्रह्म ही है।] अतः ब्रह्ममें प्राधान्य प्राप्त होता है।

इसके विरुद्ध द्वितीय त्रिकका प्रथम गुणत्व भी ब्रह्ममें दिखलाते हैं—'किसका ज्ञान' इस प्रकारकी अपेक्षा होनेपर 'ब्रह्मका ज्ञान' इस प्रकारके उत्तरवाक्यमें विधेयभूत ज्ञानके प्रति विशेषण होनेसे वेदान्तशब्दार्थ ब्रह्ममें गुणभाव प्राप्त होता है। एवं प्रमाणके विषय ब्रह्ममें प्रमाणजन्य अतिशयका सम्बन्ध होनेके कारण साध्यत्व होनेसे ब्रह्ममें उपादेयत्व भी आता है। और स्वभावतः सिद्ध होनेसे ब्रह्ममें उद्देश्यत्व आता है। एवं इस समय प्रमाणविषय ब्रह्ममें पहले (वेदान्तवाक्यके श्रवणसे पूर्व) अज्ञातस्वरूप माननेसे विधेयत्व सिद्ध होता है। [अपूर्व ही विधेय होता है और पूर्वसिद्ध उद्देश्य होता है, इस प्रकार उद्देश्यत्व और विधेयत्व ब्रह्ममें विरूपत्वके प्रतिपादक हैं] एवं उद्देश्यस्वरूप ब्रह्मके प्रथम ज्ञात होनेसे उसका अनुवाद भी प्राप्त होता है [जो विधेयके विरुद्ध है] इस परिस्थितिमें विधेयज्ञान ही ब्रह्मका निश्चायक है, इस प्रकारके प्रथम पक्षके माननेमें उक्त रीतिसे ब्रह्ममें वैरूप्य नहीं हटाया जा सकता। यदि कहो कि दूसरा पक्ष—विधेय ज्ञानसे अन्य ज्ञान ही ब्रह्म प्रमापक है—ही मान लिया जाय! क्या हानि है? क्योंकि वेदान्तवाक्योंसे उत्पन्न प्रथम ब्रह्मज्ञान ब्रह्मपरक होगा और द्वितीय ज्ञान विधिका

विधिपरमिति। नाऽयमपि पक्षः समीचीनः, शब्दस्योभयपरत्वाभावे तज्जन्यज्ञानस्याऽसकृज्जातस्याऽप्युभयपरत्वानुपपत्तेः। न च शब्दस्योभयपरत्वम्, प्रयाजवाक्यदृष्टान्तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्।

ननु वैरूप्यप्रसङ्गो न दोषमावहति। अन्यथा गुणकर्मविधानानुपपत्तेः। तथाहि—क्रत्वङ्गभूतव्रीह्यादिकारकसंस्कारार्थानि कर्माणि गुणकर्माणि। तत्र व्रीहीणामन्यार्थत्वसिद्धत्वज्ञातत्वलक्षणानि गुणत्वोद्देश्यत्वानुवाद्यत्वानि तावद् विद्यन्ते। यागक्रियां प्रति कारकत्वादन्या-

---

विषय होनेसे विधिपरक होगा [इससे कोई विरोध नहीं है] तो, यह दूसरा पक्ष भी दोषरहित नहीं है, क्योंकि शब्दका दो अर्थोंमें तात्पर्य न होनेसे उस शब्दसे उत्पन्न ज्ञानके बार बार उत्पन्न होनेपर भी उसका दो अर्थोंमें तात्पर्य हो नहीं सकता, [जैसे घट-पटसे उत्पन्न घटज्ञान पुनः पुनः उत्पन्न होनेपर भी दो अर्थोंमें तात्पर्य नहीं रखता]।

शब्दका दो अर्थोंमें तात्पर्य होता है, इसमें दिये हुए प्रयाजवाक्योंके दृष्टान्तका आगे खण्डन किया जायगा। [इससे शब्दोंका दो अर्थोंमें तात्पर्य नहीं माना जा सकता, अतः अभियुक्तोंका 'सकृदुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' (एक बार उच्चारण किया गया शब्द एक ही अर्थका बोधन कर सकता है,) यह सिद्धान्त ही स्वीकरणीय है।]

शङ्का—वैरूप्यका प्रसङ्ग दोषाधायक नहीं है। यदि वैरूप्यप्रसङ्ग दोषकारक हो, तो गुणकर्मके विधानकी उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि यज्ञके अङ्गभूत व्रीहि आदि साधनोंके संस्कारके लिए किये जानेवाले (अवघातादि) कर्म गुणकर्म कहलाते हैं। ऐसे स्थलमें व्रीहि आदि साधनद्रव्योंमें अन्यार्थत्व, सिद्धत्व तथा ज्ञानत्वस्वरूप गुणत्व, उद्देश्यत्व तथा अनुवाद्यत्व प्राप्त होता है, [अन्यार्थत्व अर्थात् स्वार्थके लोकतः सिद्ध होनेसे उसमें तात्पर्य न होनेके कारण व्रीह्यादिमें यज्ञोपकारकत्व सिद्ध होता है, अतः व्रीह्यादि गुण—विशेषण—होते हैं एवं लोकसिद्ध होनेसे अपूर्वस्वरूप विधेय नहीं हो सकते, अतः उद्देश्य ही होंगे, तथा प्रथम ज्ञान ही उद्देश्य होता है, अतः उद्देश्यका अनुवाद ही उचित है। इस आशयका स्वयं ग्रन्थकार ही प्रकाश करते हैं]—व्रीहि आदि यागक्रियाके प्रति कारक—साधन—होनेसे अन्यार्थत्व होता है। और

र्थत्वम् । मानान्तरगम्यत्वात् सिद्धत्वज्ञातत्वे । तथा शेषित्वसाध्यत्वाज्ञातत्वलक्षणानि प्राधान्योपादेयत्वविधेयत्वानि प्रोक्षणक्रियावशाद् व्रीहीणामत्र संभविष्यन्ति । प्रोक्षणस्य व्रीह्यर्थत्वाद् व्रीहीणां शेषित्वम् । प्रोक्षणजन्यातिशयवदाकारेण पूर्वमसिद्धत्वात् साध्यत्वाज्ञातत्वे । तत्र गुणत्वोद्देश्यत्वानुवाद्यत्वाख्यं त्रिकं व्रीहिशब्दात् प्रतीयते । प्राधान्योपादेयत्वविधेयत्वाख्यं त्रिकं प्रोक्षणक्रियाजन्यातिशयवाचिद्वितीयाविभक्त्या प्रतीयते । ततो व्रीहिप्रोक्षणादिषु गुणकर्मस्वेकस्यां प्रमितौ विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिर्दुर्वारेति नेयं दोषावहेति चेद्, मैवम्; न तत्र क्रियाजन्यातिशयो विभक्तिगम्यः,

---

प्रत्यक्ष आदि अन्य लौकिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध होनेसे—सिद्धत्व और ज्ञातत्व माना जाता है ।

इस पूर्वोक्त त्रिकसे भिन्न दूसरा त्रिक भी व्रीहि आदिमें दिखलाते हैं—शेषित्व, साध्यत्व तथा अज्ञातत्व स्वरूप प्राधान्य, उपादेयत्व तथा विधेयत्व लक्षण अन्य त्रिक भी प्रोक्षण आदि क्रियाकी सामर्थ्यसे व्रीहि आदि द्रव्योंमें सम्भव होगा । प्रोक्षणक्रिया व्रीहिके संस्कारके लिए है, अतः व्रीहिको शेषित्वलक्षण प्राधान्य प्राप्त है—[जिसके लिए जिसका विधान है, वह प्रधान होता है; जैसे सेवकोंका सब कार्य स्वामीके निमित्त होता है । वहांपर स्वामी प्रधान होता है] प्रोक्षणक्रियासे उत्पन्न अतिशययुक्त आकारसे व्रीहि प्रोक्षणसे पूर्व सिद्ध नहीं है । इसलिए उस आकारसे व्रीहियोंमें साध्यत्व और अज्ञातत्व भी प्राप्त है । इनमें गुणत्व, उद्देश्यत्व तथा अनुवाद्यत्व रूप त्रिक व्रीहिशब्दसे प्रतीत होता है और प्राधान्य, उपादेयत्व तथा विधेयत्व रूप दूसरा त्रिक प्रोक्षणक्रियासे जनित अतिशयको कहनेवाली द्वितीया विभक्तिसे मालूम होता है । [द्वितीया विभक्ति 'कर्मणि द्वितीया' (पा० सू०) से कर्मरूप अर्थमें होती है और कर्म पदार्थ क्रियाजन्यफलाश्रयत्वस्वरूप है] । इस रीतिसे गुणकर्मभूत व्रीहिप्रोक्षणादिस्थलमें एक ही ज्ञानमें विरुद्ध दो त्रिकोंकी आपत्ति दूर नहीं की जा सकती, इसलिए उक्त वैरूप्यकी आपत्ति दोषजनक नहीं मानी जा सकती ।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि उक्त गुणकर्ममें क्रियासे उत्पन्न अतिशय विभक्ति द्वारा प्रतीत नहीं होता है, किन्तु व्रीहिके लिए विहित प्रोक्षणादि क्रियाविधिकी अनुपपत्तिसे प्रतीत होता है । [अर्थात् व्रीहिमें प्राधान्यादि त्रिक

किन्तु व्रीह्यर्थक्रियाविध्यनुपपत्तिगम्यः। अतः शाब्दे ज्ञाने गुणत्वोद्देश्यत्वानुवाद्यत्वान्येव प्रमीयन्ते। प्राधान्योपादेयत्वविधेयत्वानि त्वर्थापत्त्येति ज्ञानभेदान्न तत्र वैरूप्यप्रसङ्गः। प्रकृतेऽपि तर्हि ब्रह्मज्ञानविधेयज्ञानयोर्भेदादविरोधोऽस्त्विति चेद्, न; व्रीह्यादाविव ब्रह्मणि मानान्तरस्याऽसंभवात्। नहि सामग्रीभेदमन्तरेण कार्यभेदः संभवति। अथोच्येत—विधायकपदव्यतिरिक्तपदसमुदायो ब्रह्मस्वरूपं प्रथमतः प्रतिपाद्य पुनस्तदनुवादज्ञानं जनयित्वा तस्य ज्ञानस्य विधिविषयत्वसमर्पणेन पुनर्विधायकपदेन पदैकवाक्यतां गच्छति, ततः प्रमाणभेदसिद्धिरिति। नैतद्युक्तम्, पदैकवाक्यतायाः प्राग् वाक्यरूपस्य पदसमुदायस्य प्रमाणत्वायोगात्। अथाऽत्र

अर्थापत्तिगम्य है, साक्षात् शब्द द्वारा नहीं, यह भाव है] अतएव शब्दजनित ज्ञानमें गुणत्व, उद्देश्यत्व तथा अनुवाद्यत्वरूप त्रिककी ही प्रतीति होती है। प्राधान्य, उपादेयत्व तथा विधेयत्व रूप त्रिक तो अर्थापत्तिसे प्रतीत होता है। इस प्रकार ज्ञानभेद होनेसे वैरूप्यका प्रसङ्ग नहीं है। तब तो प्रकृतमें भी ब्रह्मज्ञान और विधेयज्ञानमें भेद होनेसे कोई विरोध नहीं होगा, ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि व्रीहि आदि (लौकिक द्रव्यों) की भाँति ब्रह्ममें किसी दूसरे प्रमाणका सम्भव नहीं है। सामग्रीके भेदके बिना कार्यभेदका सम्भव नहीं है। यदि विधायक पदोंके अतिरिक्त शब्दोंका समुदाय—वेदान्तवाक्य—पहले ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन कर, पश्चात् उसके अनुवादज्ञानको उत्पन्न करके उस ज्ञानको विधिका विषय बनानेके अनन्तर बिधायक पदोंसे पदैकवाक्यताको प्राप्त होता है, इस कारण प्रमाणभेदकी सिद्धि हो जायगी, [इस आशङ्काके द्वारा करणभेदसे ज्ञानभेद दिखलाया। ब्रह्मस्वरूपका बोधक स्वतन्त्र वेदान्तवाक्य करण—प्रमाण—है। और ज्ञानबिधिकी बोधक पदैकवाक्यताकी रीतिसे विधायक वाक्योंके साथ एकवाक्यतापन्न वेदान्तवाक्य करण हैं, इससे करणभेद सिद्ध हुआ। इस पूर्व शङ्काके समाधानसे तो एक शब्दज्ञानका दोनोंमें तात्पर्य होनेका निराकरण किया गया था], ऐसा कहो तो यह कथन भी युक्त नहीं है, कारण कि पदैकवाक्यसे पहले वाक्यरूप पदसमुदाय प्रमाण नहीं माना जा सकता।

ब्रह्मवाक्यं ज्ञानविधिवाक्यं चेति द्वेधा विभज्य पश्चादर्थवादविधिवाक्ययोरिव वाक्यैकवाक्यता कल्प्येत, तदसत्; अर्थवादानामफलानां विध्येकवाक्यत्वेऽपि ब्रह्मवाक्यस्य स्वत एव पुरुषार्थपर्यवसायिनस्तदयोगात्। अथ प्राथमिकशाब्दज्ञानस्य परोक्षत्वेनाऽफलत्वात् फलभूतापरोक्षानुभवहेतुत्वाभावात् तद्धेतुज्ञानं विधेयम्। ततो ब्रह्मवाक्यस्य तद्विध्येकवाक्यत्वं युक्तमिति चेद्, तर्हि यागस्य व्रीह्यादिवद्विधीयमानज्ञानस्य किञ्चित्करणकारकं वक्तव्यम्। तच्च न संभवति, त्वन्मते शब्दस्य परोक्षज्ञानोपक्षयात्। इन्द्रियादीनां च ब्रह्मगोचरत्वाभावात्।

अथ मतं शाब्दज्ञानस्याऽपरोक्षानुभवहेतुता यद्यपि स्वतो न दृश्यते तथापि विधिबलाद् भविष्यति, ततः शब्द एव विधेयज्ञानकरणमिति। तदयु-

---

[इससे एकवाक्यताको प्राप्त नहीं हुआ, वेदान्तवाक्य पृथक् प्रमाण न होनेसे प्रमाणभेद नहीं पाता।]

यदि कहो कि ब्रह्मवाक्य और ज्ञानविधिवाक्य इस प्रकार दो वाक्योंका विभाग करके पीछे अर्थवादवाक्य और विधिवाक्योंके तुल्य वाक्यैकवाक्यताकी कल्पना करेंगे, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र फल न रखनेवाले अर्थवादवाक्योंकी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता होनेपर भी ब्रह्मवाक्यकी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता नहीं हो सकती, कारण कि ब्रह्मवाक्य स्वयं—दूसरे विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता हुए बिना—भी पुरुषार्थका बोधन करनेमें समर्थ हैं। यदि प्रथमोत्पन्न शब्दज्ञान परोक्ष होनेसे निष्फल है, अतः फलस्वरूप अपरोक्ष अनुभवका कारण नहीं हो सकता, इसलिए उक्त फलके कारणीभूत ज्ञानको विधेय मानना होगा। इससे ब्रह्मवाक्यकी उस विधेयज्ञानविधिके साथ एकवाक्यता संगत ही है, ऐसा यदि कहो, तो जैसे यागके व्रीहि आदि कारकोंका विधान किया जाता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानका भी कोई करण कारक कहना होगा, वह करण कोई नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे—विधिवादी सिद्धान्तैकदेशीके—मतमें शब्द परोक्ष ज्ञानको उत्पन्न करके व्यापारहीन हो जाता है। और इन्द्रिय आदि करण ब्रह्मको विषय ही नहीं कर सकते।

यद्यपि शब्दज्ञान अपरोक्ष अनुभव—साक्षात्कार—का कारण स्वतः नहीं देखा गया है, तथापि विधान सामर्थ्यसे हो जायगा,

क्तम् । किमत्र शब्दजन्यं प्राथमिकं ब्रह्मज्ञानं विधेयमुत तेन ज्ञानेनाऽवगतं ब्रह्मोद्दिश्य प्रत्ययसंतानः । नाऽऽद्यः, विधेयज्ञानस्यैव ब्रह्मप्रमापकत्वे वैरूप्यस्य दर्शितत्वात् । न द्वितीयः, प्रत्ययसंतानस्याऽश्रुतत्वात् । 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादौ प्रत्ययसंतानरूपस्योपासनस्य विधिः श्रूयत इति चेद्, न; स्वभावसिद्धप्रत्ययमुद्दिश्य तस्याऽलौकिकात्मलक्षणविषयप्रतिपादने वाक्यतात्पर्यात् । एवकारयोगादात्मनः प्रतिपाद्यत्वनिर्णयात् । तदुक्तम्—

'यच्छब्दयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम् ।
तच्छब्द एवकारश्च स्यादुपादेयलक्षणम् ॥' इति ॥

[अन्यथा अपरोक्षानुभवके लिए शब्द ज्ञानका विधान व्यर्थ हो जाता है ।] इसलिए शब्द ही विधेयभूत ज्ञानमें करण—साधन—कारक होगा, यदि ऐसा मानो तो वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें शब्दसे प्रथम उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान विधेय है ? अथवा उस प्रथम ज्ञानसे प्राप्त ब्रह्मको उद्देश्य करके ज्ञानसन्तान—ज्ञानधारा—विधेय है ? । इनमें प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि विधेय ज्ञानको ही ब्रह्मस्वरूपका निश्चायक माननेमें वैरूप्यप्रसङ्गकी आपत्ति दिखला आये हैं । दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानसन्तान—ज्ञानधारा—श्रुतिमें नहीं दिखलाई गई है । 'आत्मा है, इस प्रकार ही उपासना (पुनः पुनः परिशीलन) करे' इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानधारारूप उपासनाका विधान श्रुतिमें आया है, ऐसा कहना भी साधक नहीं है, कारण कि स्वभावसिद्ध ज्ञानको उद्देश्य करके उसके अलौकिक आत्मस्वरूपविषयका प्रतिपादन करनेमें उपासनावाक्यका तात्पर्य है । [अर्थात् 'अहम्' इत्यादि प्रत्ययसिद्ध लौकिक आत्माको उद्देश्य करके दूसरे प्रमाणोंसे न जाना हुआ प्रपञ्चशून्य अलौकिक आत्मा ही उपासनाका विषय है, इसमें ही उपासनावाक्यका तात्पर्य है] । यह 'आत्मेत्येव' इस वाक्यमें 'एव' पदके सम्बन्धसे आत्मा प्रतिपाद्य है, ऐसा ही निर्णय होता है ।

ऐसा ही अभियुक्तोंने कहा भी है—यत् शब्दका सम्बन्ध अथवा प्रथम कहना, इत्यादि उद्देश्यका लक्षण है । और तत् शब्दका सम्बन्ध तथा 'एव' पद देना उपादेयका लक्षण है ।

न चैतद्वाक्यमात्मानं तदुपासनं च प्रतिपादयितुं शक्नोति, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । न च 'निदिध्यासितव्यः' इति वाक्यमुपासनां विदध्यात् , आत्मप्रतिपादकवाक्यमध्ये पठितस्य तस्य स्तुतिपरत्वात् । अन्यथा वाक्यभेदापत्तेः । नन्वात्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येदिति ज्ञानविधानेन संतानविधिरुपलभ्यते, ज्ञानस्य सर्वत्र प्रवाहेणाऽविनाभावादिति चेद्, न; अविनाभावासिद्धेः । क्वचित्पुरोवर्त्ति वस्तु सकृद् दृष्टवतो झटिति प्रत्यङ्मुखत्वादिदर्शनात् । अथाऽपि दर्शपूर्णमासप्रकरणे मलवद्वाससो व्रतकलापविधानवदात्मप्रकरणे सन्तानरूपं निदिध्यासनं विधातुं शक्यत इति चेद्, एवमपि संतानस्याऽप्रमाण-

---

'आत्मेत्येव' इत्यादि वाक्य आत्मा तथा उसकी उपासना दोनोंका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं हैं, कारण कि दोनोंमें तात्पर्य माननेसे वाक्यभेद हो जायगा । 'निदिध्यासन करना चाहिए' यह वाक्य भी उपासनाका विधान नहीं कर सकता, क्योंकि आत्माके प्रतिपादक वाक्योंके मध्यमें पढ़े हुए उक्त वाक्यका स्तुतिमात्रमें तात्पर्य है । नहीं तो वाक्यभेदकी आपत्ति हो जायगी । अपने ही में अपनेको देखे (आत्मामें ही आत्मबुद्धि करे, अनात्मामें आत्मबुद्धि न करे) इस प्रकार ज्ञानके विधानसे ज्ञानधाराका विधान पाया जाता है, क्योंकि ज्ञानका सर्वत्र प्रवाहके साथ अविनाभाव है । [जैसे घट, पट आदि अनात्म पदार्थका ज्ञान घट, पटादि अनात्मप्रवाहके साथ ही है एवं आत्मज्ञान भी प्रवाहका सहचारी ही है । इस प्रकार प्रवाहका और ज्ञानका सर्वत्र साहचर्यरूप अविनाभाव है, अतः 'ज्ञान' पदकी ज्ञानसत्तामें लक्षणा करेंगे] इस प्रकार कहना संगत नहीं, कारण कि अविनाभावकी सिद्धि नहीं है । [प्रवाह तथा ज्ञानधाराके साहचर्यके अभावका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं]—कभी कभी सामनेकी वस्तुको एक बार ही देखनेवाले पुरुषका तुरन्त ही प्रत्यङ्मुख हो जाना देखा गया है । [जैसे किसी सभ्य पुरुषके सामने बीभत्स या लज्जाजनक वस्तु अचानक आ भी जाय, तो भी वह तुरन्त प्रत्यङ्मुख हो जाता है, वहांपर ज्ञानधारा और प्रवाहका साहचर्य नहीं है और ज्ञान है] यदि दर्शपूर्णमासप्रकरणमें मलयुक्त वस्त्रवालेके व्रतके समूहोंके विधानके तुल्य आत्मप्रकरणमें सन्तान—धारा—रूप निदिध्यासनका विधान किया जा सकता है, ऐसा कहो, तो ऐसा माननेपर भी अप्रमाणरूप सन्तान अपरोक्ष अनुभवका कारण नहीं हो सकता । इसलिए

स्याऽपरोक्षानुभवहेतुत्वासंभवान्न शाब्दज्ञानाद्विशेषः सिध्येत्। न च मृतपुत्रादेर्भावनाधिक्यादापरोक्ष्यं दृष्टमिति वाच्यम्, तत्र विषयस्याऽसंप्रयुक्तत्वेन तदापरोक्ष्यस्य भ्रान्तत्वात्। 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रुत्या ध्यानस्याऽपरोक्षानुभवहेतुत्वमुक्तमिति चेद्, मैवम्; नाऽत्र 'ध्यायमानः पश्यति' इत्येवमन्वयो येन ध्यानं दर्शनहेतुः स्याद्, अपि तु ध्यायमानो ज्ञानप्रसादेन पश्यतीति। ज्ञानशब्देऽनात्राऽन्तःकरणमुच्यते, ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः। तस्य प्रसाद ऐकाग्र्यम्। तच्च सहकारिकारणम्। लोके दुर्ज्ञेयवस्तुदर्शने चित्तैकाग्र्यसहायापेक्षाया दृष्टत्वात्।

शाब्दज्ञानकी अपेक्षा कोई विशेष नहीं सिद्ध हो सकता। भावनाके आधिक्यसे—पुनः पुनः भावना करनेसे—मरे हुए पुत्र आदिका साक्षात्कार देखा गया है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि मरे पुत्रके साक्षात्कारस्थलमें विषय—मृत पुत्रादि—का इन्द्रियसे सम्प्रयोग न होनेसे उसका साक्षात्कार भ्रम है।

शङ्का—* ज्ञानके प्रसादसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, इसके अनन्तर ध्यान करता हुआ, उपासक उस निष्कल—निरवयव—आत्माका साक्षात्कार करता है, इस श्रुतिसे ध्यान अपरोक्ष अनुभवका कारण कहा गया है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि इस वाक्यमें 'ध्यायमानः पश्यति'—ध्यान करता हुआ देखता है' ऐसा अन्वय नहीं है (ध्यान और दर्शनमें कार्यकारणभावका बोधक नहीं है) जिससे ध्यान दर्शनका हेतु हो सके, किन्तु 'ध्यान करता हुआ ज्ञानप्रसादसे साक्षात्कार करता है, ऐसा अन्वय है। यहांपर ज्ञानशब्दसे अन्तःकरण लेना चाहिए, क्योंकि यह ज्ञानपद 'जिससे जाना जाता है' इस प्रकार करणव्युत्पत्तिसे करणार्थक है। उस ज्ञान (अन्तःकरण) का प्रसाद—एकाग्रता है। और वह सहकारी कारण है। लोकमें दुर्ज्ञेय—समझनेमें कठिन—वस्तुके अपरोक्ष अनुभवात्मक दर्शन करनेमें चित्तैकाग्रताकी सहायताकी अपेक्षा देखी जाती है। इस प्रकार (विचारनिष्कर्षमें) सहकारी कारणको प्राप्त हुई चित्तैकाग्रताका ज्ञानधारारूप ध्यान साधन है, ऐसा श्रुतिका तात्पर्यार्थ कहना होता है। इस प्रकार जो श्रुतिसे सिद्ध नहीं होता, ऐसा अश्रुत अर्थकी कल्पना करना (श्रुति तो 'ध्यायमानः पश्यति'—इस प्रकार दर्शनमें ध्यानका अन्वय

---

* ज्ञानसे चित्तके प्रसादसे एकाग्रता, ऐसा अर्थ आगे करना है।

एवं च सहकारिभूतचित्तैकाग्र्यस्य प्रत्ययसन्तानरूपं ध्यानं साधनमित्युक्तं भवति। न चैवमश्रुतान्वयकल्पनमयुक्तमिति वाच्यम्, अदृष्टानुपपन्नार्थकल्पनादन्वयमात्रवैपरीत्यकल्पनस्य लघीयस्त्वात्। नह्यन्यत्र ध्यानस्याऽपरोक्षप्रमितिहेतुत्वं दृष्टम्, नाऽप्युपपन्नम्, ध्यानस्य प्रमाणरूपत्वाभावात्। साक्षात्कारस्य तु प्रमाणभूतः शब्द एव कारणमिति पूर्ववर्णके विद्याप्राप्तिवादे 'तं त्वौपनिषदम्' इति तद्धितप्रत्ययमुपजीव्य सिद्धान्तिना समर्थितम्। अतः शब्दज्ञानस्य तत्सन्तानस्य वा नाऽपरोक्षानुभवकरणतया विधेयत्वसम्भवः।

यदुक्तं प्रयाजवाक्यवद्वेदान्तानामुभयार्थत्वे सति ब्रह्मप्रतिपादनं विधेयज्ञानव्यक्त्यन्तरपर्यवसानं च भविष्यतीति। तदपेशलम्, दृष्टान्तासिद्धेः।

दिखा रही है) युक्तिसंगत नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, कारण कि जो लोकमें कहीं देखा ही नहीं गया है तथा जिसकी युक्तियोंसे भी उपपत्ति नहीं हो सकती, ऐसे अदृष्ट और अनुपपन्न अर्थकी कल्पना करनेकी अपेक्षा तो अन्वयके वैपरीत्यकी (अश्रुत ध्यानका मनःप्रसादके साथ अन्वयकी) कल्पना करनेमें ही लाघव है। दूसरे स्थलमें कहीं भी ध्यान अपरोक्ष अनुभव—साक्षात्कार—का हेतु नहीं देखा गया है और ध्यानमें साक्षात्कारकी कारणता युक्तिसे भी उपपन्न नहीं है, कारण कि ध्यान प्रमाणरूप नहीं है। [ब्रह्म] साक्षात्कारका तो प्रमाणस्वरूप शब्द ही कारण है, ऐसा पूर्ववर्णकमें विद्याप्राप्तिवादके अवसरपर 'तन्त्वौपनिषदम्' इस वाक्यमें तद्धितप्रत्ययका आश्रयण कर सिद्धान्तीने समर्थन किया है।

इससे शब्दजन्यज्ञानका अथवा उसके सन्तान (धारा) का अपरोक्ष अनुभवके करणरूपसे विधान नहीं हो सकता है।

और जो कहा गया है कि 'समिधो यजति' इत्यादि प्रयाजवाक्यके तुल्य अर्थात् जैसे 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' इत्यादि वाक्योंका समिधादि याग और उनके अनुष्ठानका क्रम इन दोनोंमें तात्पर्य है वैसे ही—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यके उभयार्थक होनेसे उनका ब्रह्मके प्रतिपादनमें और ब्रह्मज्ञानके विधानमें भी पर्यवसान होगा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तकी असिद्धि है; प्रयाजादि याग ही 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यका अर्थ

प्रयाजा एव हि तत्र शब्दगम्यास्तदनुष्ठानक्रमस्त्वर्थापत्तिगम्यः। ननु न तावत्प्रयाजा एव क्रमः, तेषां क्रमशब्दानभिधेयत्वात्। नापि तदतिरिक्तः क्रमः सुनिरूपः, एकैकस्मिन्प्रयाजे क्रमादर्शनात्। संयोगवदनेकाश्रितः क्रम इति चेद्, न; तथा सति संयोगिनोरिव प्रयाजानां यौगपद्यप्रसङ्गात्। यौगपद्ये च कालकृते क्रमव्याघातात्। मैवम्, लोकप्रसिद्धस्य क्रमस्याऽपह्नवायोगात्। कालकृतक्रमत्वादेवाऽऽश्रययौगपद्यानपेक्षत्वात्। यदि देशकालवस्तूपाधिपरामर्शमन्तरेण स्वतन्त्रः क्रमो न दृश्येत, तर्ह्येकदेशोपाधिकेषु वृक्षेषु वनव्यवहारवत् संनिहितानेकक्षणोपाधिकेषु प्रयाजेषु क्रमव्यवहारोऽ-

---

है, उनका अनुष्ठानक्रम तो वाक्यका अर्थ नहीं है वह अर्थापत्तिसे गम्य है। [जब प्रयाजस्थलमें दोनों वाक्यार्थ नहीं हैं तब प्रकृतमें वे दृष्टान्त कैसे हो सकते ?]

शङ्का—[यदि क्रम कोई वस्तु सिद्ध हो, तो वह शाब्द है अथवा अर्थापत्तिगम्य है यह विचार हो सकता है लेकिन क्रम तो कोई वस्तु ही नहीं है इससे यह विचार निराधार है—] प्रयाज ही क्रम हैं यह नहीं कह सकते, क्योंकि क्रमशब्दसे प्रयाज की और प्रयाजशब्दसे क्रमकी प्रतीति नहीं होती है। और प्रयाजसे अतिरिक्त भी क्रम नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्रयाजनमें क्रम नहीं दिखाई देता। यदि कहो कि संयोगके तुल्य क्रम अनेकमें रहता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो संयोगी दो पदार्थोंके तुल्य क्रमयुक्त वस्तुओंमें एककालिकत्वका प्रसङ्ग हो जायगा, और यदि प्रयाजोंको एककालिक मान लिया जाय, तो उनमें कालकृत क्रमका—पौर्वापर्यका—व्याघात हो जायगा।

समाधान—अनेक वस्तुओंमें कालकृत क्रम प्रसिद्ध है, उसका अस्वीकार नहीं हो सकता है। और क्रम कालकृत ही होता है, इससे क्रमिक वस्तुओंमें यौगपद्य—एककालिकत्व—नहीं होगा। यदि कहें कि देश, काल और वस्तुरूप उपाधिसे अतिरिक्त क्रम कोई वस्तु नहीं है, तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि एक देश जिनका उपाधि—अधिकरण—है ऐसे वृक्षोंमें जैसे 'वन' व्यवहार होता है वैसे ही सन्निहित अनेक क्षण जिनकी उपाधि—अधिकरण—हैं ऐसे प्रयाजोंमें क्रमव्यवहार होनेमें हानि क्या है ? [अभिप्राय यह है कि क्रमव्यवहारमें देश, काल आदि उपाधि—निमित्त—हैं क्रमशब्दके अर्थ नहीं हैं। क्रमशब्दका अर्थ पदार्थान्तर है, इससे यह विचार हो सकता है कि वह शाब्द नहीं है, अर्थापत्ति-

स्तु। अथाऽनुष्ठेयपदार्थानामनिष्पन्नस्वभावत्वाद्देशकालवस्तुकृतः क्रमो न सम्भवेत्, तर्हि वाक्यपाठक्रम एव स्मर्यमाणोऽनुष्ठेयपदार्थेऽप्युपकल्पताम्। ननु कथमयं क्रमोऽनुष्ठेयविशेषणतया प्रमीयते, विधायकाभावात्; प्रयोगवचनस्य तद्विधायकत्वे परस्पराश्रयत्वप्रसङ्गात्। विहिते प्रयोगविधिः, प्रयोगविधौ च तद्विधिकल्पनेति। नैष दोषः, एकस्य कर्तुर्युगपदनेकपदार्थप्रयोगानुपपत्त्या क्रमस्य प्रमीयमाणत्वात्। ततः प्रयाजवाक्यानामेकार्थपरत्वान्न तद्दृष्टान्तेन वेदान्तानामर्थद्वयपरत्वं सम्भवति।

यदप्युक्तम्—उपासनाविधिपरैर्वेदान्तैर्ब्रह्माप्यवगम्यते, रूपप्रत्यायकेन चक्षुषा द्रव्यस्याऽपि प्रतीतिदर्शनादिति, तदप्यसत्। यथा प्रतिवस्तु

गम्य है।] यदि कहें कि अनुष्ठेय यागरूप पदार्थ असिद्ध हैं उनमें कालकृत क्रमका व्यवहार नहीं होगा, तो प्रयाजवाक्योंके पाठमें जो क्रम है, उसीका स्मरण कर यागोमें भी क्रमकी कल्पना कर व्यवहार कीजिए, कोई हानि नहीं है।

शङ्का—अनुष्ठेय यागमें विशेषणरूपसे यह क्रम कैसे भासेगा, क्योंकि क्रमका विधायक कोई वाक्य नहीं है। यदि कहें कि 'समिधो यजति' इत्यादि विधिवाक्य ही क्रमविशिष्ट यागका विधान करेंगे, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेमें अन्योन्याश्रयका प्रसङ्ग होगा, कारण कि क्रमका विधान होनेपर क्रमविशेषित यागका विधान होगा और यागका विधान होनेपर उनमें क्रमकी कल्पना होगी।

समाधान—'समिधो यजति' इत्यादि वाक्योंसे बोध्य क्रमविशिष्ट याग नहीं है, किन्तु एक कर्त्ता अनेक यागोंको एक कालमें कर नहीं सकता है, इससे—एककर्तृक अनेक यागोंकी एक कालमें अनुपपत्तिसे—क्रमकी कल्पना होती है, अतः अन्योन्याश्रय नहीं होता। इससे यह सिद्ध हो गया कि प्रयाजवाक्य केवल यागका ही विधायक है, क्रमका विधायक नहीं है अर्थात् एकार्थ है; अतः प्रयाजवाक्यके दृष्टान्तसे वेदान्तवाक्य दो अर्थका बोध नहीं करा सकेंगे। अर्थात् यदि उनको ज्ञानविधिपरक मानें, तो वे ब्रह्ममें पर्यवसित नहीं होंगे।

पीछे जो यह कहा गया है कि 'आत्मेत्येवमुपासीत' इत्यादि वाक्य उपासनाका विधान करते हैं, उन वाक्योंसे ही ब्रह्मका बोध भी होगा। जैसे कि रूपकी प्रतीतिके लिए प्रवृत्त चक्षुसे द्रव्यका भी ग्रहण होता है, वह कहना भी

सम्प्रयोगनिरपेक्षमेव प्रमाणं चक्षुर्न तथा प्रतिपदार्थं प्रमाणं शब्दः किन्तु यत्र तात्पर्यं तत्र सम्भूयैव प्रमाणम्। तथा च विधिपरा वेदान्ताः कथं ब्रह्मावगमयेयुः। नन्वेवं तर्हि वेदान्तशब्दा ब्रह्मस्वरूपं मा प्रमापयन्तु किन्तु विधायकपदजन्यविधिप्रमितिविषयत्वेनैव ब्रह्मज्ञानं समर्पयन्तु ब्रह्मस्वरूपं त्वर्थापत्त्या सेत्स्यति, विधेयज्ञानस्य ज्ञेयभूतब्रह्मस्वरूपमन्तरेणाऽनुपपत्तेरिति चेद्, महदिदं न्यायविचारकौशलमायुष्मतः, यदेकस्मिन् विषये ब्रह्मस्वरूपाख्ये प्रथमप्रतिपत्तिः प्रमाणं तस्मिन्नेव द्वितीयज्ञानं न प्रमाणमिति। तथा श्रुतिर्न प्रमाणम्, श्रुत्यर्थापत्तिश्च प्रमाणमिति। अथ श्रुतिर्विधिशेषत्वान्न स्वार्थे प्रमाणं श्रुत्यर्थापत्तिस्त्वनन्यशेषत्वात् प्रमाणम्, इत्युच्येत, एवमपि नाऽत्र ब्रह्म सिध्येत्, 'वाचं धेनुमुपासीत' इत्यादाविव

ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु एक वस्तुके ग्रहणमें दूसरी वस्तुके सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं रखता और शब्द एक अर्थके बोधमें अन्य शब्दके सम्बन्धकी अपेक्षा रखता है, क्योंकि परस्परसमभिव्याहाररूप आकांक्षा शाब्दबोधमें कारण है, ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्मज्ञानविधायक वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मका अवगमन कैसे होगा ?

शङ्का—जब ऐसी बात है, तब वेदान्तवाक्य ब्रह्मस्वरूपका प्रतीपादन न करें, विधायक पदोंसे उत्पन्न विधिकी प्रमितिके विषय होकर ही ब्रह्मज्ञानका विधान करें, परन्तु ब्रह्मके अवगमके बिना ब्रह्मज्ञानका विधान नहीं हो सकता, इससे ब्रह्मज्ञानके विधानकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाणसे ही ब्रह्म प्रमित होगा, नुकसान क्या है ?

समाधान—ठीक है, यह आपकी महती न्यायकुशलता है, जो एक ही ब्रह्मस्वरूपके विषयमें प्रथम ज्ञान प्रमाण है और द्वितीय ज्ञान प्रमाण नहीं है एवं ब्रह्ममें श्रुति प्रमाण नहीं है, बल्कि श्रुतिमूलक अर्थापत्ति प्रमाण है। यदि आप कहें कि श्रुति विधि-शेष होनेसे अपने अर्थमें प्रमाण नहीं है, श्रुतिमूलक अर्थापत्ति अन्यशेष न होनेके कारण प्रमाण है, तो आपका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मकी उपासनाका विधान ब्रह्मके स्वरूपके बिना भी हो सकता है। जैसे 'वाचं धेनुमुपासीत' (वाणीकी धेनुरूपसे उपासना करे) यहांपर वस्तुतः वाणी धेनु नहीं है, पर धेनुरूपसे उसकी उपासना होती है, वैसे ही ब्रह्मके वस्तुतः न होनेपर भी आरोपसे ब्रह्मोपासना होगी। यदि कहें

विधेयज्ञानस्य वास्तवज्ञेयमन्तरेणाप्युपपत्तेः । स्वतःप्रामाण्यमाश्रित्य विधेयज्ञानाद् ब्रह्मसाधने तथैव सिद्धार्थपदजन्यप्राथमिकज्ञानाद् ब्रह्म किं न सिध्येत् ? तत्सिद्धौ च तावतैव मुक्त्युपपत्तौ विधिवैयर्थ्यम् । अथ विधेयज्ञानस्यारोपितविषयतायामदृष्टफलकल्पनात् ततो विषयप्रमितिलक्षणं दृष्टफलं कल्प्यत इति चेद्, नः सकलप्रमाणविरोधप्रसङ्गात् । तदेवमत्यन्तदुष्टस्य प्रतिपत्तिविधेरध्याहर्तुमशक्यत्वात् 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिवेदान्तैर्मन्त्रैरिव प्रयोगवचनो न ज्ञानव्यक्त्यन्तरमनुष्ठापयति, ततो नानेनापि सिद्धान्तैकदेशिना वेदान्तविचारस्याऽगतार्थत्वं सुसम्पादम् । नन्वध्ययनविध्युपात्तानां वेदान्तानां धर्मब्रह्मविषयत्वाभावे सत्यानर्थक्यं स्यादिति चेद्, मैवम्; यद्यपि वेदान्तानां सिद्धब्रह्मस्वरूपाबोधकत्वान्नास्ति ब्रह्म, तथापि न वेदान्तवैयर्थ्यं, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्याहंप्रत्ययगम्यस्य

कि विधेयज्ञान स्वतः प्रमाण है, इससे उसीसे ब्रह्म सिद्ध होगा, तो सिद्धार्थक सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि पदसे जन्य प्रथम ज्ञानसे ही ब्रह्मकी सिद्धि क्यों नहीं होगी ? और जब ब्रह्मज्ञान हो गया तब उसीसे मुक्तिकी उपपत्ति हो गई फिर विधि व्यर्थ है । विधेयज्ञानरूप उपासनाको यदि आरोपितविषयक मानें, तो उसके अदृष्ट (पुण्य) फलकी कल्पना करनी पड़ेगी । इससे विषयप्रमितिलक्षण दृष्ट फलकी ही कल्पना क्यों न करें ? क्योंकि अदृष्ट फलकी कल्पनाकी अपेक्षा दृष्ट फलकी कल्पना करना उचित है, तो आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस कल्पनामें सभी प्रमाणोंका विरोध हो जायगा । इसलिए अत्यन्त दुष्ट—दोषसे युक्त—प्रतिपत्तिविधिका अध्याहार नहीं किया जा सकता है । इससे 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (जो यह सब है वह आत्मा ही है) इत्यादि वेदान्तवाक्योंसे मन्त्रोंके समान प्रयोगवचन ज्ञानव्यक्त्यन्तरका अनुष्ठान नहीं करा सकेगा । अतः यह सिद्धान्तैकदेशी भी वेदान्तविचारको अगतार्थ नहीं कर सकता ।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (स्वाध्यायका—अपनी शाखाका—अध्ययन करे) इस अध्ययनविधिसे गृहीत वेदान्त यदि ब्रह्मविषयक न हों, तो वे वेदान्तवाक्य अनर्थक हो जायँगे, यदि यह कहें, तो यह कहना भी उचित नहीं है । यद्यपि वेदान्तवाक्योंके सिद्ध ब्रह्मस्वरूपके बोधक न होनेसे ब्रह्म नहीं है, तथापि वेदान्तोंमें वैयर्थ्य नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदिसे विशिष्ट और 'अहं'

जीवात्मनो विद्यमानः कर्तृत्वादिभिरविद्यमानैश्चाऽन्तर्यामित्वब्रह्मत्वादिभिर्वेदान्तोक्तसमस्तगुणैर्विशिष्टतयोपासनोत्पत्तिविधौ शमदमादीतिकर्त्तव्यतोपसंहारेण विनियोगविधौ मोक्षकामिनियोज्यसम्बन्धितयाऽधिकारविधौ साङ्गे कर्मण्यधिकारिण्यनुष्ठापकतया प्रयोगविधौ च वेदान्तानां पर्यवसानाङ्गीकारात्। तत्र विध्यपेक्षितन्यायस्य सर्वस्य पूर्वतन्त्र एव गतत्वादभ्यधिकाशङ्काया अदर्शनान्नैवारब्धव्योत्तरमीमांसेत्येवं पूर्वः पक्षः।

अत्राऽभिदध्मे—किं सिद्धे व्युत्पत्त्यभावाद्वेदान्तानामुपासनाक्रियापरत्वमुच्यते किंवा जैमिन्यादिवचनसामर्थ्यात्? तत्राऽऽद्यः समन्वयसूत्रे निराकरिष्यते। न द्वितीयः, वेदान्तानां जैमिन्यादिभिरविचारितत्वात्। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यत्र हि सूत्रे भाष्यकारादिभिर्धर्ममात्रविचारप्रतिज्ञापरत्वेनाऽधिकरणमाचितं न तु कृत्स्नवेदार्थविचारप्रतिज्ञापरत्वेन। तथाहि—धर्ममीमांसाशास्त्रं विषयः, ततः किमारम्भणीयं न वेति संदेहः।

प्रत्ययके विषय जीवात्माके विद्यमान कर्तृत्वादि धर्मसे तथा अविद्यमान अन्तर्यामित्व, ब्रह्मत्व आदि वेदान्तोक्त समस्त गुणोंसे विशिष्टरूपसे उपासनाकी उत्पत्तिविधिमें, शम, दम, आदि इतिकर्तव्यताके उपसंहारसे विनियोगविधिमें, मोक्षकामी पुरुषरूप जो नियोज्य हैं, उनके सम्बन्धीरूपसे अधिकारविधिमें तथा अङ्गसहित कर्मोंमें अधिकारीके अनुष्ठापक—प्रवर्तक—होनेसे प्रयोगविधिमें वेदान्तोंका पर्यवसान है। उन विधियोंमें अपेक्षित सम्पूर्ण न्यायोंका पूर्वतन्त्रमें ही कथन हो चुका है, इससे अधिक शङ्काके न होनेसे उत्तरमीमांसाका आरम्भ नहीं करना चाहिए, यह पूर्वपक्ष है।

इसपर उत्तर कहते हैं—क्या सिद्ध पदार्थमें शब्दोंका सङ्केतग्रह न न होनेसे वेदान्तोंको उपासनाक्रियापरक मानते हैं अथवा जैमिनि आदिके वचनकी सामर्थ्यसे? इनमें प्रथम विकल्पका 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रमें निराकरण किया जायगा। रहा द्वितीय विकल्प, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि महर्षि जैमिनि आदिने वेदान्तवाक्योंका विचार ही नहीं किया है। देखिए—'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस पूर्वमीमांसाके प्रथम सूत्रमें भाष्यकार शबरस्वामी प्रभृति आचार्योंने धर्ममात्रविचारकी प्रतिज्ञाके तात्पर्यसे अधिकरणकी रचना की है। सम्पूर्ण वेदार्थके विचारकी प्रतिज्ञाके तात्पर्यसे अधिकरणकी रचना नहीं की है। उस अधिकरणका धर्ममीमांसाशास्त्र विषय है, उसका आरम्भ करना

तदर्थमर्थान्तरं चिन्त्यते—अध्ययनविधिरदृष्टार्थो दृष्टार्थो वेति ? तत्राऽदृष्टार्थ इति तावत् प्राप्तम्, दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनात्। अध्ययनक्रियाकर्मणि स्वाध्याये संस्कारप्राप्तिलक्षणं दृष्टफलं सम्भवेत्। कथमदृष्टार्थतेति चेद्, मैवम्। न तावत् संस्कारः सम्भवति; संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य कुत्रचित्क्रतौ विनियोगादर्शनात्। नाऽपि प्राप्तिः, अक्षरग्रहणमात्ररूपायाः प्राप्तेः स्वयमफलत्वात्फलान्तरासाधनत्वाच्च। अर्थावबोधसाधनं तदिति चेत्, तर्ह्यर्थावबोधाक्षरग्रहणयोः साध्यसाधनभावस्य लोकसिद्धत्वाद्विधिवैयर्थ्यम्। यदि कर्मकारकगतफलाभावे कर्माभिधायितव्यप्रत्ययेन कर्मप्रधानो विधिर्न सम्भवेत्, तर्हि सक्तुन्यायेन 'अधीयीत' इति वैपरीत्यं कल्प्यताम् ? न च फलाश्रवणादध्ययनस्य कथमदृष्टार्थतेति वाच्यम्, 'यदृचो-

---

चाहिए या नहीं ? ऐसा सन्देह होता है। इस अर्थकी सिद्धिके लिए अर्थान्तरकी चिन्ता करते हैं—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिका दृष्ट फल है या अदृष्ट ? पहले अदृष्ट फल है यह प्राप्त हुआ, क्योंकि जिनका दृष्ट ही फल है ऐसे भोजन आदिमें शास्त्रीय विधि दिखाई नहीं देती। अध्ययनक्रियाका कर्म जो स्वाध्याय उसमें संस्कार और प्राप्ति ये ही दो दृष्ट फल हो सकते हैं, फिर वे अदृष्टार्थक हैं यह कैसे कहते हैं ? यदि यह कहें, तो ठीक नहीं है, क्योंकि संस्कार स्वाध्यायका फल नहीं हो सकता है, कारण कि संस्कृत स्वाध्यायका कहींपर विनियोग नहीं दीखता और प्राप्ति भी दृष्ट फल नहीं हो सकती, क्योंकि अक्षरग्रहणरूप प्राप्ति स्वयं फल नहीं है। सुख और दुःखकी निवृत्ति—ये ही दो फल कहलाते हैं। इन दोनोंकी वह साधिका भी नहीं है, जिससे कि वह परम्परया फल कहलावे। यदि कहें कि अर्थावबोधकी साधन होनेसे अक्षरप्राप्ति फल है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि अक्षरप्राप्ति और अर्थावबोध—इन दोनोंमें कार्यकारणभाव लोकसिद्ध है, अपूर्व नहीं है, अतः उनका विधान नहीं हो सकता, कारण कि 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इसके अनुसार अत्यन्त अप्राप्तिमें ही विधि होती है। यदि कर्मकारक गत फलका अभाव होनेपर कर्मका अभिधान करनेवाले तव्यप्रत्ययसे कर्मप्रधान विधिकी सम्भावना नहीं है, तो सक्तुन्यायसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की जगह 'स्वाध्यायमधीयीत' ऐसे वाक्यकी कल्पना कर लीजिए।

ऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिसम्भवति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या' इत्यादिना ब्रह्मयज्ञरूपजपाध्ययनफलत्वेन श्रूयमाणस्य घृतकुल्यादेरध्ययनत्वसाम्येन प्रथमाध्ययनेऽप्यतिदेष्टुं शक्यत्वात्; ततो रात्रिसत्रन्यायेन घृतकुल्यादिकामः 'स्वाध्यायेनाधीयीत' इत्येवं विधिः सम्पद्यते। यदि केचिदर्थवादफलातिदेशं नेच्छन्ति, तर्हि तन्मते विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः कल्पनीयः। तदुक्तम्—

'विनाऽपि विधिनाऽदृष्टलाभान्नहि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत्॥' इति।

[कर्मकारकमें क्रियाजन्य अतिशय न होनेसे कर्मका प्राधान्य नहीं प्राप्त होता। 'अतः सक्तून् जुहोति' इसमें जैसे सक्तुका प्राधान्य प्राप्त न होनेपर शक्तु साधन माने जाते हैं वैसे ही प्रकृत 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिमें भी स्वाध्यायको अध्ययनका साधन मानकर 'सक्तुभिः' के 'तुल्य स्वाध्यायेन' इस प्रकार तृतीयान्तविपरिणाम कर लिया जायगा, यह तात्पर्य है।]

[अर्थवादमें भी] फलका श्रवण नहीं है, इसलिए अध्ययनका अदृष्ट फल कैसे माना जाय, यह कहना भी उचित नहीं; कारण कि 'यदृचोऽधीते' (ऋचाओंका जो अध्ययन करता है, उसके पितरोंको दूधकी धाराएँ तृप्त करती हैं और जो यजुर्वेदमन्त्रोंका अध्ययन करता है, उसके पितरोंको घीकी धाराएँ) इत्यादि अर्थवादमें ब्रह्मयज्ञरूप जप तथा अध्ययनका फल घृतकुल्या आदि श्रुत है। उस फलके सम्बन्धका, अध्ययनसामान्य होनेसे, प्रथम अध्ययनमें भी अतिदेश किया जा सकता है। इससे रात्रिसत्रन्यायके बलपर 'घृतकुल्यादिकी इच्छावालेको स्वाध्यायका अध्ययन करना चाहिए' ऐसी विधि सम्पन्न होगी। यदि कोई वादी अर्थवादमें सुने गये फलका अतिदेश प्रथम अध्ययनमें नहीं करना चाहे, तो उसके मतमें विश्वजिन्न्यायसे स्वर्गरूप फलकी ही कल्पना करनी चाहिए। कहा भी है—

'अदृष्ट फलका लाभ तो विधिके बिना भी हो सकता है, इसलिए विधिका अदृष्ट फल नहीं मानना चाहिए। अतएव विधिकी सामर्थ्यसे विधिको सफल बनानेके लिए 'विश्वजित्' आदि यागोंकी भाँति स्वर्गरूप फलकी कल्पना करनी चाहिए।'

न चाऽदृष्टार्थत्वेऽपि स्वाभाविकस्वार्थावबोधसामर्थ्यस्य का हानिरिति वाच्यम्, अन्यार्थस्याऽपि स्वार्थपरतायां मन्त्रार्थवादयोरतिप्रसङ्गात्। तस्मादाम्नायस्याऽविवक्षितार्थत्वाद्धर्मस्य च प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् प्रमाणानुग्राहकतर्करूपस्य विचारस्याऽनुग्राह्यप्रमाणाभावे निरालम्बनत्वान्न शास्त्रमारम्भणीयमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते राद्धान्तं ब्रूमः—

'लभ्यमाने फले दृष्टे नाऽदृष्टफलकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नाऽऽनर्थक्यं भविष्यति॥'

लभ्यते हि कर्मकारके स्वाध्याये द्विविधं दृष्टफलम्—अध्ययनक्रियाजनितं फलवदर्थावबोधहेतुभूतप्राप्तिः संस्कारश्च। अर्थावबोधार्थाक्षरग्रहणयोः साध्यसाधनभावस्य लोकसिद्धत्वेऽपि न विधिवैयर्थ्यम्, नियमार्थत्वात्। न

अदृष्टरूप फलमें तात्पर्य माननेसे भी अपने स्वाभाविक अर्थबोध करानेकी सामर्थ्यकी क्या हानि होगी? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य अर्थमें तात्पर्य रखनेवाले वाक्यका स्वार्थमें भी तात्पर्य माननेसे मन्त्र तथा अर्थवादमें भी अतिप्रसक्ति हो जायगी अर्थात् मन्त्र और अर्थवादोंकी भी स्वार्थबोधनमें सामर्थ्य हो जायगी, जो कि इष्ट नहीं है। इस पूर्वोक्त निष्कर्षके अनुसार आम्नाय—वेद—स्वरूप स्वाध्यायके अविवक्षितार्थ होनेसे [अर्थात् किसी भी अर्थका बोध करानेमें उसका तात्पर्य निर्द्धारित न होनेसे] धर्मके प्रत्यक्ष आदिका विषय न होनेसे तथा प्रमाणकी पुष्टि करनेवाले तर्कस्वरूप विचारके, जिसकी तर्क द्वारा पुष्टि करना अभीष्ट है ऐसे, अनुग्राह्य प्रमाणके बिना अवसर न पानेसे विचारशास्त्रका प्रारम्भ करना नहीं प्राप्त होता। इस प्रकारका पूर्वपक्ष—शङ्का—होनेपर हम इस प्रकार सिद्धान्त—समाधान—करते हैं—

दृष्ट फलका मिलना सम्भव हो, तो अदृष्ट फलकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। विधिको नियमार्थ माननेसे तो उसके व्यर्थ होनेकी सम्भावना नहीं होगी।

प्रकृतमें दृष्ट फलकी सम्भावना दिखलाते हैं—कर्मकारकभूत स्वाध्यायमें—वेदमें—अध्ययनक्रियासे उत्पन्न हुए समस्त अर्थज्ञानकी कारणस्वरूपप्राप्ति और संस्कार ये दो दृष्ट फल पाये जाते हैं। यद्यपि अर्थज्ञान और अक्षरज्ञानमें कार्यकारणभाव लोकसिद्ध है तथापि नियमार्थ होनेसे विधि व्यर्थ नहीं मानी जा सकती। [सिद्धका विधान प्राप्त होनेपर ही नियमकी उपपत्ति

च संस्कृतस्य विनियोगाभावः, क्रतुविध्युपादानप्रमाणादेव विनियोगसिद्धेः। क्रतुविधिर्हि स्वविषयावबोधमपेक्षमाणस्तस्य जनकतया संस्कृतं स्वाध्याय-मुपादत्ते। ननूपादानप्रमाणं ज्ञानस्य जनकतया स्वाध्यायमात्रमादत्ते न संस्कारमिति चेत्, सत्यम्, तथापि कर्मप्रधानाध्ययनविधिसामर्थ्यादेव संस्कृतस्वाध्यायजन्यविशिष्टज्ञानवतैवाऽनुष्ठितो यागोऽपूर्वं जनयतीति कल्प्यते। प्रधानवदनङ्गस्याऽप्यध्ययनस्य क्रतूपकारित्वमविरुद्धम्, तत उभयविधिसामर्थ्याद्विवक्षितार्थो लभ्यते। एवं च यथाश्रुतकर्मकारकगत-

---

होती है। संस्कृत स्वाध्यायका कहीं दूसरे विधानमें विनियोग नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, कारण कि क्रतुविधिके उपादान प्रमाणसे ही विनि-योगकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि क्रतुका विधान अपने विषयके ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। वह अपने विषयके ज्ञानका जनक होनेसे स्वाध्यायका संस्कृत उपादान करता है। [अतः स्वाध्याय क्रतुका उपादानप्रमाण होता है।] उपादानप्रमाण तो विषयज्ञानका जनक होनेसे केवल स्वाध्यायका ही ग्रहण करेगा, संस्कारका नहीं, ऐसा कहना यद्यपि ठीक है; तथापि कर्मप्रधान [अध्येतव्यः इसमें तव्यप्रत्यय कर्मकारकरूप अर्थमें हुआ है और कृदन्त स्थलमें प्रत्ययार्थ प्रधान होता है] अध्ययनविधिकी सामर्थ्यसे ही संस्कारयुक्त स्वाध्यायसे उत्पन्न हुए विशिष्ट ज्ञानवान् अधिकारी द्वारा ही किया गया याग अपूर्व—पुण्य—को उत्पन्न करता है, ऐसी कल्पना की जाती है। [अध्ययन क्रतुका उपकार तो तब कर सकता है जब कि अध्ययन क्रतुका अङ्ग हो, इस आशङ्काका दृष्टान्त द्वारा समाधान करते हैं—] आधान—अग्निका संस्कार विशेष—क्रतुका अङ्ग न होता हुआ भी संस्कृत अग्निमें ही हवन करनेसे अपूर्व होना माना गया है एवं प्रकृतमें भी अध्ययन यद्यपि क्रतुका अङ्ग नहीं है तो भी उसे क्रतुके उपकारक माननेमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार दोनोंके विधानोंकी सामर्थ्यसे विवक्षित अर्थका लाभ हो जायगा। [अर्थात् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' विधिसे स्वाध्यायका संस्कार तथा संस्कृत स्वाध्यायसे ही याग करनेसे अदृष्टकी सिद्धि होती है। इस प्रकार दोनोंका विधान होनेसे वेदमें विवक्षितार्थत्व सिद्ध होता है] इस प्रकार यथाश्रुत कर्मकारक (तव्यप्रत्ययसे प्रधानतया गृहीत स्वाध्यायरूप कर्मकारक) में दृष्ट फल—

दृष्टफलसम्भवे सक्तुन्यायेनाऽश्रुतकरणत्वकल्पनमदृष्टफलकल्पनं चाऽन्याय्यम्। ननु तव्यप्रत्ययेन प्रकृत्यर्थभूताध्ययनोपरक्तमपूर्वमभिधीयते, न तु कल्प्यत इति चेद्, मैवम्; अपूर्वाभिधायितव्यप्रत्ययः स्वाध्यायगतत्वेनैवाऽपूर्वमभिदध्यान्नाऽध्ययनगतत्वेन, तव्यप्रत्ययस्य कर्मभूतस्वाध्यायपरत्वात्। अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वानियमेन स्वाध्यायगतत्वमविरुद्धम्। नन्वदृष्टार्थत्वे स्वाध्यायस्य विवक्षितार्थता न स्यात्, विषनिर्हरणादिकार्यान्तरविनियुक्तमन्त्रादिवदिति चेद्, न; तथा सत्यध्ययनविधिवाक्यस्याऽप्यविवक्षितार्थत्वाददृष्टार्थतयाऽध्ययनविधानमित्येतादृशं त्वन्मतमपि न सिध्येत्। अथोच्येत अध्ययनवाक्य-

---

संस्कारादि—का सम्भव होनेपर सक्तुन्यायसे अश्रुत फलकी कल्पना न्यायसंगत नहीं है।

शङ्का—तव्यप्रत्ययसे प्रकृति (इङ्धातु जिससे तव्यप्रत्ययका विधान किया गया है) के अर्थभूत अध्ययनसे उपरक्त—सम्बद्ध—अपूर्वका—पुण्यका—अभिधान होता है, तव्यका वाच्य अर्थ ही अध्ययनसम्बन्धी पुण्यरूप है, उस अर्थकी कल्पना नहीं होती है [वाच्यवृत्तिसे लब्ध अर्थ कल्पित नहीं कहा जाता]।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि अपूर्वका वाचक तव्यप्रत्यय स्वाध्यायसम्बन्धी अपूर्वका ही अभिधान कर सकता है, अध्ययनसे सम्बद्धका नहीं, क्योंकि कर्मवाचक तव्यप्रत्ययका कर्मकारकभूत स्वाध्यायके बोधनमें ही तात्पर्य है। अपूर्व धात्वर्थफल क्रियासे ही उत्पन्न होता है। इस नियमके रहते भी उसका (अपूर्वका) धात्वर्थसे उपरक्त रहनेका नियम नहीं है, इसलिए अपूर्वका स्वाध्यायगत होना विरुद्ध नहीं हो सकता। विषका दूरीकरण आदि दूसरे कार्योंमें विनियुक्त मन्त्रोंकी तरह स्वाध्यायको यदि अदृष्टपरक मानें, तो उसमें विवक्षितार्थत्व नहीं होगा [स्वार्थमें तात्पर्य नहीं होगा] ऐसी शङ्का भी नहीं कर सकते, कारण कि ऐसा माननेसे अध्ययनविधिके बोधक "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वाक्यमें भी अविवक्षितार्थत्व होनेसे 'अदृष्ट अर्थमें तात्पर्य रखकर अध्ययनका विधान है' ऐसा आपका मत भी सिद्ध नहीं हो सकता।

स्याऽदृष्टत्वार्थत्वं तस्याऽर्थविवक्षाप्रतिबन्धकं न भवति, स्ववाक्यार्थमध्ययनावच्छिन्नफलभावनारूपं प्रत्येवाऽध्ययनविधिनाऽध्ययनवाक्यस्य विनियुक्तत्वात् । नहि मन्त्रेष्वपि विनियुक्तत्वमात्रमविवक्षितार्थत्वप्रयोजकम्, किन्तु स्वार्थादन्यत्र विनियुक्तत्वम्। न चाऽध्ययनवाक्यं स्वार्थादन्यत्र विनियुज्यते तेन स्वार्थपरस्य तस्य कस्मादविवक्षितार्थता स्यात्। ज्योतिष्टोमादिवाक्यानि तु यागाद्यवच्छिन्नफलभावनारूपात् स्वार्थादन्यत्राऽध्ययनावच्छिन्नफलभावनायामध्ययनविधिना विनियुज्यन्ते, ततो मन्त्राणामिवाऽन्यत्र विनियुक्तस्याऽदृष्टार्थस्य स्वाध्यायस्याऽर्थविवक्षाप्रतिबन्धो दुर्वार इति । नैतद्युक्तम्, न तावददृष्टार्थत्वेनाऽर्थविवक्षा प्रतिबध्यते,

---

शङ्का—अध्ययनवाक्यका अदृष्टार्थत्व उसकी अर्थविवक्षाका प्रतिबन्ध नहीं कर सकता, कारण कि स्ववाक्यका अर्थ अध्ययनावच्छिन्नफलभावनारूपके प्रति ही अध्ययनविधिसे अध्ययनवाक्यका विनियोग है । [अध्ययनविधिका प्रतिपादक वाक्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' है, उसका अर्थ है—'स्वाध्यायके अध्ययनसे इष्टकी भावना करनी चाहिए' इस प्रकार अध्ययनका विधान है, इस विधानसे अध्ययनावच्छिन्न फलभावनामें ही अध्ययनविधिका विनियोग है, अन्य फलमें नहीं, इसलिए अध्ययनविधि स्वार्थका प्रतिबन्ध नहीं कर सकती] मन्त्रोंमें भी केवल विनियुक्त होनेसे ही स्वार्थपरताका प्रतिबन्ध नहीं होता, किन्तु स्वार्थसे अन्यत्र विनियोग होनेसे ही स्वार्थका प्रतिबन्ध होता है । और अध्ययनवाक्यमें स्वार्थसे अन्यत्र विनियोग नहीं होता है। इस कारण उस अध्ययनवाक्यमें अविवक्षितार्थत्व होनेका प्रसङ्ग कैसे आ सकता है? [स्वाध्यायको अदृष्टार्थ माननेमें स्वार्थविवक्षाका अभाव दिखलाते हैं—] ज्योतिष्टोम आदि यागोंके प्रतिपादक वाक्यस्वरूप 'स्वाध्यायका' तो अध्ययनविधिके बलसे यागादिसे युक्त फलभावनारूप स्वार्थसे अन्यत्र अध्ययनावच्छिन्नफलभावनारूप (अध्ययन विधिके) स्वार्थमें अध्ययनविधिसे विनियोग किया जाता है। इसलिए मन्त्रोंके सदृश अन्य फलमें विनियुक्त अदृष्टार्थक स्वाध्यायमें अर्थविवक्षाप्रतिबन्धत्व नहीं हटाया जा सकता। [इस प्रकार अदृष्टार्थ माननेपर भी अध्ययनविधिकी स्वार्थविवक्षा उचित ही है और स्वाध्यायको अदृष्टार्थ माननेसे स्वार्थपरता नहीं बन सकती।]

स्वतन्त्राऽदृष्टस्य निरपेक्षस्वर्गादिफलजनकस्य कथंचित्प्रतिबन्धकत्वशङ्कायामप्यत्र तदभावात् । अत्र हि स्वाध्यायगतकर्मत्वप्रतीतिनिर्वाहाय कर्मगतमदृष्टमवश्यं कल्पनीयम्, तस्य च कर्मद्वारेणैव फलमपेक्षितमित्यक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थावबोध एव तत्फलं स्यात् । तथा चाऽत्राऽदृष्टं नाऽर्थविवक्षाया बाधकं प्रत्युत साधकमेव । कर्मगतादृष्टस्याऽवर्जनीयत्वे तस्याऽदृष्टार्थावबोधलक्षणफलोत्पादनेन चरितार्थतायां च ततोऽतिरिक्तस्वतन्त्रादृष्टं तत्फलं वा कल्पयितुमशक्यम्, गौरवप्रसङ्गात् । नाऽप्यन्यत्र विनियोगोऽ-

---

समाधान—ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, कारण कि अदृष्टार्थत्व होनेसे स्वार्थविवक्षाका प्रतिबन्ध नहीं होता। निरपेक्ष स्वर्गादिफलके जनक अदृष्टमें कथंचित् स्वार्थप्रतिबन्धकत्वकी आशङ्का हो भी सकती है। परन्तु प्रकृतमें ऐसा नहीं है। [अर्थात् जिन वाक्योंकी केवल स्वतन्त्र अदृष्टकी कल्पनासे ही संगति है। उनके स्वार्थकी विवक्षा कथंचित् प्रतिबद्ध हो सकती है, जैसे ज्योतिष्टोमादि यागवाक्य कालान्तरमें होनेवाले निरपेक्ष स्वर्गादिकी जनकता क्रियाकलापात्मक ज्योतिष्टोमादिमें नहीं बन सकती, अतः श्रुतिप्रतिपादित कारणताकी रक्षाके लिए स्वतन्त्र अदृष्टकी कल्पना होती है, परन्तु प्रकृतमें 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि' इस न्यायसे स्वतन्त्र अदृष्टकी कल्पना नहीं हो सकती, कर्मकारकगत दृष्टफलसमवायी अदृष्टकी ही कल्पना हो सकती है। इस आशयसे समाधान करते हैं—] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्यमें कर्मकारकभूत स्वाध्यायमें प्राप्त कर्मत्वकी प्रतीतिके निर्वाहके लिए कर्मकारकगत अदृष्टकी अवश्य कल्पना करनी होगी। और उसका कर्म द्वारा ही फल अपेक्षित है। इसलिए अक्षरोंकी सामर्थ्यसे सिद्ध अर्थज्ञान ही उसका फल होगा। इस प्रकार अदृष्ट अर्थविवक्षाका प्रतिबन्धक नहीं है। प्रत्युत—इसके विपरीत—अर्थविवक्षाका साधक ही है। [स्वाध्यायोऽध्येतव्यः] इस वाक्यसे स्वाध्यायका अध्ययन प्राप्त है, अध्ययनव्यापार अर्थावबोधपर्यन्त कहलाता है। इसलिए अर्थावबोध न होनेसे अध्ययन ही नहीं कहा जा सकता। अतः कर्मकारकभूत स्वाध्यायका अर्थावबोधरूप फल समवायी स्वाध्यायगत अदृष्ट माना जायगा। कर्मकारकगत अदृष्टका त्याग नहीं करना है। कर्मकारकगत अदृष्ट मानना ही है। उसकी अदृष्ट अर्थके ज्ञानरूप फल उत्पन्न करानेसे चरिता-

र्थविवक्षां प्रतिबध्नाति, अन्यत्र विनियुक्तानामपि मन्त्राणां स्वसामर्थ्यसिद्धार्थावबोधकत्वदर्शनात् । अन्यथा ब्राह्मणादिवाक्यैरपि स्मर्तुं शक्यस्य द्रव्यदेवतादेर्मन्त्रैरेव स्मरणाय नियमफलो विनियोगः कथं सङ्गच्छेत । तदुक्तम्—

'विधिशक्तिर्न मन्त्रस्य नियोगेनाऽपनीयते ।
स्वतो विधास्यति ह्येषां नियोगात्स्मारयिष्यति ॥' इति ।

तस्माद्विवक्षितार्थमाम्नायमवलम्ब्य प्रवृत्तं तदनुग्राहकं धर्मविचारशास्त्रमारम्भणीयमिति । तदेवं पूर्वमीमांसारम्भाधिकरणपर्यालोचनया कृत्स्नवेदस्याऽर्थविवक्षां धर्ममात्रस्य विचारावसरं च प्रदर्शयितुमादिसूत्रं प्रववृते, न तु सर्ववेदार्थविचारप्रतिज्ञानायेत्यवगम्यते । ननु वेदवाक्यानि विचार-

---

र्थता हो जाती है, इसलिए गौरवग्रस्त होनेसे स्वतन्त्र अदृष्ट या उसके फल की अतिरिक्त कल्पना नहीं हो सकती। अन्यत्र विनियोग होना भी अर्थविवक्षाका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। अन्यत्र विनियुक्त हुए मन्त्रोंका भी अपनी सामर्थ्यसे सिद्ध अर्थका बोध कराना देखा गया है। ऐसा न माननेपर ब्राह्मणादिवाक्योंसे भी स्मरणमें आ सकने योग्य द्रव्य, देवता आदिका मन्त्रोंके द्वारा ही स्मरण करनेके लिए नियमार्थ विनियोग कैसे संगत होगा ? [अन्यत्र विनियुक्त भी मन्त्रोंका द्रव्य, देवता आदिके स्मरणरूप स्वार्थमें तात्पर्य होनेसे ही नियमकी उपपत्ति हो सकती है] ऐसा कहा भी है—मन्त्रकी विधिशक्ति नियोगसे नहीं हटाई जा सकती। इनकी विधिशक्ति ही स्वतः विधान करेगी। और नियोग द्वारा स्वयं द्रव्य, देवता आदि स्वार्थका स्मरण भी करा लेगी।

इसलिए स्वार्थविवक्षायुक्त आम्नाय—वेद—को विषय करके प्रवृत्त हुए उसके अनुग्राहक धर्मविचारशास्त्र पूर्वमीमांसाका आरम्भ करना चाहिए। इस प्रकार पूर्वमीमांसाके आरम्भाधिकरणकी पर्यालोचना—विचार—करनेसे सम्पूर्ण वेदकी अर्थविवक्षा और धर्ममात्रके विचारका अवसर दिखानेके लिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रका प्रणयन किया गया है, सम्पूर्ण वेदके अर्थविचारकी प्रतिज्ञाके लिए नहीं किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

शङ्का—'वेदवाक्योंका विचार करना चाहिए' इत्यादि भाष्यप्रमाणसे 'पूर्वमीमांसासे' सम्पूर्ण वेदके अर्थमात्रके विचारकी प्रतीति होती है ?

येदित्यादिभाष्यलिङ्गाद् वेदार्थमात्रविचारोऽवगम्यते। मैवम्, त्वया तदभिप्रायानवबोधात्। भाष्यकारो हि धर्मे सामान्यतः प्रसिद्धिं विशेषतो विप्रतिपत्तिं चोपन्यस्य चैत्यवन्दनादीनामेव धर्मत्वाद् बुद्धादिवाक्यान्येव विचार्याणीति पूर्वपक्षीकृत्य सिद्धान्तसूत्रमर्थकथनपुरःसरमेवमवतारयति स्म—धर्माय वेदवाक्यानि विचारयिष्यन् वेदस्याऽर्थविवक्षां विचारावसरं च प्रदर्शयितुम् 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति सूत्रयामास जैमिनिरिति। ततः पूर्वापरपर्यालोचनया धर्मविचार एव भाष्यकाराभिप्रेत इति निश्चीयते। सूत्रस्य चाऽयमर्थः—वेदमधीत्याऽनन्तरमधीतवेदस्य विवक्षितार्थस्य विचारहेतुत्वाद्धर्मविचारः कर्त्तव्य इति। तत्राऽथशब्देन कृत्स्नवेदाध्ययनस्य पूर्ववृत्तत्वमभिधायाऽतःशब्देन च कृत्स्नवेदस्य विवक्षितार्थत्वे हेतूकृते सति सर्ववेदार्थविचारः कर्त्तव्य इत्येव प्रतिज्ञा यद्यपि प्राप्ता, अन्यथा

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि आपको—शङ्का करनेवालेको—उक्त भाष्यके अभिप्रायका ज्ञान नहीं हुआ है। [उक्त भाष्यका तात्पर्य स्वयं दिखाते हैं—] भाष्यकारने धर्मके विषयमें सामान्यतः प्रसिद्धि और विशेषरूपसे विप्रतिपत्तिका उपन्यास करके चैत्यवन्दन आदि ही धर्म है और बुद्ध आदि नास्तिकोंके ही वाक्य विचार करने योग्य हैं, ऐसा पूर्वपक्ष करके अर्थ करते हुए सिद्धान्तसूत्रका निम्न प्रकारसे अवतरण दिया है—धर्मके निमित्त वेदवाक्योंका विचार करनेवाले सूत्रकार जैमिनि मुनिने वेदकी अर्थविवक्षाको और विचारके अवसरको दिखानेके लिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रका प्रणयन किया है। तदनन्तर पूर्वापर-विचार करनेसे धर्मविचारमें ही भाष्यकारका अभिप्राय है, ऐसा निश्चय होता है। और सूत्रका भी यह अर्थ है कि वेद पढ़नेके अनन्तर विवक्षितार्थ—सार्थक—अधीत वेदके विचारका कारण होनेसे धर्म विचार करना चाहिए। उस वाक्यमें अथशब्दसे सम्पूर्ण वेदका अध्ययन पहले ही सम्पन्न हुआ यह कहकर अतः शब्दसे सम्पूर्ण वेदमें विवक्षितार्थत्व-रूप हेतुकी सिद्धि करके यद्यपि 'सम्पूर्ण वेदार्थका विचार करना चाहिए' ऐसी ही प्रतिज्ञा प्राप्त होती है। अन्यथा प्रतिज्ञा तथा हेतुका वैयधिकरण्य प्राप्त होता है। (सम्पूर्ण वेदार्थका विवक्षितार्थत्व होना हेतु है। और विचारकी प्रतिज्ञा केवल कुछ ही भागके विषयमें की जाय, तो

प्रतिज्ञाहेत्वोर्वैयधिकरण्यात्। तथापि वेदशब्दं परित्यज्य धर्मशब्दमुच्चार्य प्रतिजानतः सूत्रकारस्य वेदैकदेशार्थविचार एवाऽभिप्रेत इति गम्यते। युक्तं च धर्मस्यैव विचार्यत्वम्। लोके हि यत्सन्दिग्धं सप्रयोजनं च तद् विचार्यम्, धर्मश्च सामान्याकारेण लोकप्रवादसिद्धत्वादग्निहोत्रचैत्यवन्दनादिविशेषाकारेण वादिभिर्विप्रतिपन्नत्वाच्च सन्दिग्धः, पुरुषैरर्थ्यमानस्य सुखस्य साधनतया सप्रयोजनश्चेति विचारयोग्यः। वेदार्थस्तु वेदप्रामाण्यप्रतिपादनात्प्राङ् न सामान्यतः प्रसिद्धः। अत एव न विशेषतोऽपि प्रतिपद्यते। नापि पुरुषार्थसाधनतयाऽवगम्यते। तत्कथं तस्य विचारयोग्यता? न च वाच्यं वेदार्थस्यैवाऽग्निहोत्रादेर्विचारसाध्यता

हेतुप्रतिज्ञामें वैयधिकरण्य होगा। अतः सम्पूर्ण वेदार्थके विचारकी प्रतिज्ञा ही प्राप्त होती है) तथापि वेदशब्दको छोड़कर धर्मशब्दका उच्चारण करके प्रतिज्ञा करनेवाले सूत्रकारका वेदके कुछ भाग—कर्मकाण्डभाग—मात्रके अर्थका विचार करनेमें ही अभिप्राय जाना जाता है। (नहीं तो सूत्रकार 'अथातो वेदजिज्ञासा' ऐसा ही सूत्र बनाते वेदकी जगह धर्मशब्द न रखते। और धर्मका ही विचारका विषय होना उचित भी है। कारण कि लोकमें जो सन्दिग्ध तथा प्रयोजनशाली होता है, उसीका विचार किया जाता है, और धर्म सामान्यतः लोकप्रसिद्धिसे सिद्ध है। और अग्निहोत्र या चैत्यवन्दन आदि विशेष आकारके विषयमें वादियों द्वारा विवाद होनेसे [अर्थात् कोई वादी चैत्यवन्दन को धर्म मानते हैं और कोई अग्निहोत्रादि यागोंको धर्म मानते हैं] सन्देहका अवसर आता है। पुरुषोंके अभीष्ट सुखका हेतु होनेसे प्रयोजनसहित भी है, इससे धर्मविचारके योग्य है। और सम्पूर्ण वेदार्थमात्र तो वेदके प्रामाण्यके प्रतिपादनसे पहले सामान्यतः प्रसिद्ध नहीं है। अतएव विशेषरूपसे भी नहीं जाना जा सकता। और न वह किसी पुरुषार्थका साधन है, ऐसा ही प्रतीत होता है। इसलिए कैसे विचार करने योग्य हो सकता है। 'अर्थात् वेदार्थकी सामान्यतः सिद्धि न होनेसे, विशेषतः विप्रतिपत्ति न होनेसे एवम् सप्रयोजन न होनेसे वह विचारका विषय नहीं हो सकता'। वेदार्थस्वरूप अग्निहोत्रादिको तो आपने भी विचारसाध्य माना है, ऐसा

भवताऽप्यङ्गीकृतेति, धर्मत्वप्रयुक्त्यैवाऽङ्गीकृतत्वात्। न चोक्तवैयधिकरण्यदोषः, विचार्यस्याग्निऽहोत्रादेर्धर्मस्य दैवगत्या वेदार्थत्वेन वैयधिकरण्यपरिहारात्। तस्माद्धर्ममात्रविचारपरं प्रथमसूत्रम्। तथा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति द्वितीयसूत्रमपि वेदैकदेशार्थविचारमेव गमयति। 'तत्र यश्चोदनालक्षणः स धर्मः' इति वचनव्यक्त्या धर्मलक्षणपरं सूत्रम्। अर्थात्प्रमाणप्रतिज्ञेति प्राभाकराः। 'यो धर्मः स चोदनालक्षणः' इत्यन्वयात् प्रमाणप्रतिज्ञा मुखतः अर्थाद्धर्मलक्षणमिति वार्त्तिककारीयाः। तत्र मतद्वयेऽपि यदि कृत्स्नो वेदो धर्ममेवाऽवबोधयेत् तदा वेदप्रमाणको धर्म इति वक्तव्यं स्यात्। चोदनालक्षण इति तु वदन् सूत्रकारो वेदैकदेशमेव धर्मपरं मन्यत इति

भी नहीं कह सकते, कारण कि धर्मत्वप्रयुक्तिसे ही अग्निष्टोमादिरूप वेदार्थ विचारसाध्य माना गया है*। और पहले कहे गये वैयधिकरण्य दोषका भी प्रसङ्ग नहीं है, कारण कि विचारके विषय अग्निहोत्र आदि धर्मके [अभ्युदयके साधनके] अकस्मात् वेदार्थस्वरूप हो जानेसे वैयधिकरण्य दोषका परिहार हो सकता है; इसलिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस पूर्वमीमांसाशास्त्रके प्रथम सूत्रका धर्मके विचारमें ही तात्पर्य है। एवम् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस दूसरे सूत्रसे भी वेदके एक भागका—कर्मकाण्डमात्रके ही अर्थका—बोध होता है। उसमें 'जो प्रेरणात्मक अर्थ है वह धर्म है' इस प्रकार वचनकी प्रतीतिसे दूसरे सूत्रका तात्पर्य धर्मके लक्षण करनेमें ही है और प्रमाणकी प्रतिज्ञा अर्थात् सूचित होती है, ऐसा प्रभाकरानुयायीमीमांसकोंका मत है। [चोदनाको उद्देश्य मानकर धर्मका विधान किया गया है, इसलिए धर्मके लक्षणमें मुख्य तात्पर्य है और चोदनात्मक प्रमाणका ज्ञापन करना अर्थात् सिद्ध होता है।] 'जो धर्म है वह चोदना—प्रेरणा—स्वरूप है' ऐसा अन्वय करनेसे प्रमाणकी प्रतिज्ञा शब्दतः प्रतीत होती है और धर्मका लक्षण अर्थात् प्रतीत होता है, ऐसा वार्तिककारका मत है। [धर्म उद्देश्य होनेसे तात्पर्यका मुख्य विषय नहीं होगा, चोदनाके विधेय होनेसे प्रमाण ज्ञापन ही मुख्य है।] इन दोनों मतोंमें भी यदि सम्पूर्ण वेद धर्मका ही बोध करावे, तो धर्ममें वेद ही प्रमाण है, ऐसा ही कहना होगा। चोदना—प्रवर्तना—ही

* वेदार्थस्वरूप ज्योतिष्टोम आदि श्रेयःसाधन हैं, अतएव उनका विचार किया गया है। स्वातन्त्र्यसे नहीं।

गम्यते। स्यादेतत्, चोदनाग्रहणं वेदैकदेशस्य धर्मपरत्वमिति ज्ञापनाय न भवति किन्तु अर्थभावनारूपायाः पुरुषप्रवृत्तेः पुरुषार्थपर्यवसायित्वद्योतनाय। तथाहि—अस्ति तावद्भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतालक्षणेनांऽशत्रयेणोपेता भावना नाम, 'किं केन कथमित्यंशत्रयपूर्णा हि भावना' इति भट्टाचार्यैरुक्तत्वात्। सा च द्वेधा—अर्थभावना शब्दभावना चेति। तत्र पुरुषप्रवृत्तिरर्थभावना। लिङादिशब्द एवांऽशत्रयविशिष्टः शब्दभावनेति केचित्। तदुक्तम्—

'किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ।
तेन प्रवर्त्तनावाक्यं शास्त्रेऽस्मिंश्चोदनोच्यते॥' इति।

धर्मका लक्षण है, ऐसा कहते हुए सूत्रकार वेदके एक भागका ही धर्ममें तात्पर्य मानते हैं। उक्त तात्पर्यमें शङ्का करते हैं—स्यादेतत्—अर्थात् आपका कहना तब माना जा सकता है जब कि कही जानेवाली शङ्काका समाधान हो जाय—चोदनाशब्दका ग्रहण वेदके एक किसी भागका ही तात्पर्य धर्ममें है, ऐसा ज्ञापन करनेके लिए नहीं है, किन्तु अर्थभावनारूप पुरुषप्रवृत्तिका पुरुषार्थमें तात्पर्यबोधन करनेके लिए है [अर्थात् अर्थभावनारूप पुरुषप्रवृत्ति पुरुषार्थ है, ऐसा अर्थ चोदनापदसे प्रतीत होता है]। कारण कि भावना तीन अंशोंसे युक्त होती है—एक अंश भाव्य—जिसको भावनासे पुरुष सिद्ध करता है, दूसरा अंश करण—जिसके द्वारा भावना करता है और तीसरा अंश इतिकर्तव्यता—भावनाप्रकार, कौन, किसके द्वारा तथा कैसे ? इन तीन अंशोंसे पूर्ण ही भावना कहलाती है, ऐसा भट्टाचार्यने कहा है। वह तीन अंशवाली भावना अर्थभावना और शब्दभावनाके भेदसे दो प्रकारकी है। उनमें पुरुषकी प्रवृत्ति अर्थभावना है और तीन अंशोंसे युक्त लिङ् आदि शब्द ही शब्दभावना है, ऐसा कोई कहते हैं।

जैसा कि कहा है—

किमादि अपेक्षित अंशोंसे पूर्ण तथा विधिमें समर्थ प्रतीति होती है [अर्थात् कौन ? किस प्रकार तथा किससे—इस प्रकार तीन अंशोंसे युक्त ही प्रतीति होती है।] इसलिए प्रवर्तनाबोधक वाक्य ही इस शास्त्रमें चोदनाशब्दसे कहा जाता है।

लिङादिशब्दस्य व्यापारः पुरुषप्रवर्त्तनालक्षणः शब्दभावनेत्यन्ये । लिङादिशब्दस्य गुणः प्रवर्त्तनासामर्थ्यलक्षणः शब्दभावनेत्यपरे । त्रिविधाया अप्यस्याः शब्दभावनायाः पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावनैव भाव्यत्वेनाऽवगन्तव्या । शब्दभावनाप्रत्यायकं ज्ञानमेव करणं स्तुतिनिन्दाऽर्थवादादिज्ञानमितिकर्त्तव्यता । न च शब्दभावनाया वाचकपदाभावः, लिङादिप्रत्ययान्तस्याऽऽख्यातत्वसामान्याकारेणाऽर्थभावनाभिधायित्वेऽपि लिङादिरूपविशेषाकारेण शब्दभावनाभिधायित्वस्याऽप्यङ्गीकारात् । तदुक्तम्—

'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥' इति ।

अभिधाभावनामप्याहुरेवेत्यन्वयः । ननु 'सम्बन्धबोधः करणं तदीयम्' इति मण्डनाचार्यैः स्वर्गयागयोः साध्यसाधनसम्बन्धावबोधस्य

पुरुषका—अधिकारीका—प्रवर्तनरूप लिङादिशब्दका व्यापार ही शब्दभावना कहलाती है, ऐसा दूसरे वादी मानते हैं । प्रवर्तनासामर्थ्यस्वरूप लिङादिशब्दका गुण ही शब्दभावना कहलाती है, ऐसा दूसरे वादी मानते हैं । इस प्रकार तीन प्रकारकी भी इस शब्दभावनाकी पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावनाको ही भाव्यके स्वरूपमें मानना चाहिए । शब्दभावनाका बोधक ज्ञान ही साधन है । स्तुतिनिन्दास्वरूप अर्थवादादिज्ञान ही इतिकर्तव्यता है । शब्दभावनाका कोई वाचक पद नहीं है, ऐसा भी नहीं है, कारण कि लिङादि प्रत्ययान्तके आख्यातत्वसामान्याकारसे अर्थभावनाका वाचक होनेपर भी लिङादिरूपविशेषाकारसे शब्दभावनाका वाचक होना भी माना गया है । [यद्यपि मीमांसकोंके मतमें आख्यातकी भावनामें शक्ति है और वह भावना पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावना ही है, तथापि उसका अधिष्ठान आख्यातत्वरूपसे ही माना गया है । अर्थात् लिङ आदि विशेषरूपसे शब्दभावनाका ही अभिधान होता है, ऐसा माना गया है] । कहा है—

'लिङादि प्रत्यय अन्य ही अभिधाभावना—शब्दभावना—को कहते हैं । और इससे भिन्न अर्थस्वरूप भावना ही सब आख्यात स्थलोंमें प्रतीत होती है ।'

लिङादि अभिधाभावनाको भी कहते ही हैं, ऐसा अन्वय है ।

शङ्का—सम्बन्धका ज्ञान ही विधिका करण—साधन—है, इस प्रकार मण्डन-

करणत्वमुक्तं ततो न शब्दभावनाप्रत्यायकस्य ज्ञानस्य करणत्वमिति चेद् , द्वयोरपि करणत्वात्। हस्तेन शरेण विद्ध इत्यादौ करणद्वयदर्शनात् । शब्दभावनाज्ञानस्य च करणलक्षणोपेतत्वात् । इतिकर्त्तव्यतानुगृहीतो भाव्यहेतुः करणमिति हि तल्लक्षणं शब्दभावनाज्ञानं च स्तुत्यादिज्ञानानुगृहीतं सत्प्रवर्त्तकज्ञानत्वात्पुरुषप्रवृत्तिलक्षणभाव्यहेतुरिति कुतो न करणं स्यात् ? सेयमंशत्रयवती शब्दभावना स्वभाव्यरूपायां पुरुषप्रवृत्तिलक्षणायामर्थभावनायां पुरुषं प्रेरयन्ती चोदनेत्युच्यते । 'चुद् प्रेरणे' इत्यस्माद्धातोश्चोदनाशब्दनिष्पत्तेः । तच्च चोदनाप्रेरकत्वमर्थभावनायाः पुरुषार्थविषयत्वमन्तरेण न सिध्यति, अपुरुषार्थे पुरुषस्याऽप्रवृत्तेः। ननु 'यजेत' इत्यत्र लिङ्प्रत्ययगम्याया अर्थभावनाया धात्वर्थो भाव्य इति वाच्यम् , एकपदो-

---

मिश्रने स्वर्ग और यागके साध्यसाधनसम्बन्धके ज्ञानको कहा है। इससे शब्दभावनाका बोध करानेवाला ज्ञान करण नहीं हो सकता।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों ही करण माने गये हैं। जैसे हाथके द्वारा बाणसे शत्रु घायल किया गया, इस प्रतीतिमें हाथ और बाण—दो करण देखे गये हैं। और शब्दभावनाका ज्ञान करणके लक्षणसे युक्त भी है। इतिकर्तव्यतासे अनुगृहीत भाव्य विषयका जनक करण कहलाता है, यह करणका लक्षण है, और शब्दभावनाका ज्ञान स्तुत्यादि अर्थवादके ज्ञानसे अनुगृहीत होता हुआ प्रवर्तकज्ञानस्वरूप होनेसे पुरुषप्रवृत्तिस्वरूप भाव्यका कारण है, इससे शब्दभावना करण क्यों नहीं होगी ? वह यह इस प्रकार तीन अंशवाली शब्दभावना अपने भाव्यात्मक पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावनामें पुरुषको प्रवृत्त कराती हुई चोदना—प्रेरणा—कहलाती है। 'चुद् प्रेरणे' इस धातुसे चोदनाशब्दकी सिद्धि हुई है। और अर्थभावनामें चोदनाप्रेरकत्व पुरुषार्थविषयक हुए बिना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जो पुरुषार्थ नहीं है, उसमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती।

शङ्का—'यजेत' इस पदमें लिङ्प्रत्ययसे ज्ञात होनेवाली अर्थभावनाका धात्वर्थ—याग—ही भाव्य माना जायगा, क्योंकि दोनों—धात्वर्थ—याग—और लिङर्थ—अर्थभावना—के 'यजेत' इस एक पदसे ही बोधित होनेसे वे दोनों ही

पात्तत्वेनाऽत्यन्तसंनिहितत्वात्। स च क्लेशात्मकस्तत्कथमर्थभावनायाः पुरुषार्थविषयत्वमिति चेद्, उच्यते—अनयैवाऽनुपपत्त्या धात्वर्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमप्यधिकारिविशेषणं स्वर्गभाव्यं कल्पयामः। ततश्च स्वर्गादिकं भाव्यं धात्वर्थः करणं प्रयाजादय इतिकर्त्तव्यतेत्येवमंशत्रयमर्थभावनायाः सम्पद्यते। तदेवमर्थभावनायाः पुरुषार्थपर्यवसायित्वं द्योतयितुं प्रेरणार्थवाचकस्य चोदनापदस्य ग्रहणं सूत्रकारेण कृतम्, न तु वेदैकदेशस्यैव धर्मपरत्वं द्योतयितुमिति। तदेतदसारम्, सूत्रे वेदग्रहणेऽप्यर्थभावनानां पुरुषार्थपर्यवसायित्वसिद्धेः। तथाहि—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति तव्यप्रत्ययस्य व्यापारः शब्दभावना। सा चाऽध्ययनविषयपुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनारूपभाव्यनिष्ठा स्वगोचरज्ञानकरणिका घृतकुल्याद्यध्ययनफलार्थवादादिज्ञानेतिकर्त्तव्यताका सती पुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनामध्ययनकरणिकां स्वाध्यायरूपभाव्यनिष्ठां प्राङ्मुखत्वादीतिकर्त्तव्यतामुत्पादयति। तत्र

अत्यन्त सन्निहित हैं। और वह यागस्वरूप धात्वर्थ क्लेशरूप है, तो अर्थभावना पुरुषार्थविषयक कैसे हो सकती है?

समाधान—इस अनुपपत्तिसे ही धात्वर्थको छोड़कर भिन्नपदसे गृहीत अधिकारीका विशेषण स्वर्गरूप भाव्यकी ही कल्पना की जाती है। इसलिए स्वर्गादि भाव्य है, धात्वर्थ करण है और प्रयाज आदि इतिकर्तव्यता है—इस प्रकार अर्थभावनाके तीन अंश उपपन्न होते हैं। इस प्रकार अर्थभावनाका पुरुषार्थमें तात्पर्य है, इसका द्योतन करनेके लिए प्रेरणारूप अर्थके वाचक चोदनापदका ग्रहण सूत्रकारने किया है, 'केवल वेदके एकदेशका ही धर्ममें तात्पर्य है' ऐसा बोधन करनेके लिए चोदनापदका उपादान नहीं किया है। यह सब पक्ष सारयुक्त नहीं है, क्योंकि सूत्रमें [धर्मपदके स्थानमें) वेदपदके रहते भी अर्थभावनाओंका पुरुषार्थमें तात्पर्य सिद्ध हो सकता है। [सिद्धि दिखलाते हैं—तथाहि] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (स्वाध्यायका अध्ययन करना चाहिए) इस वाक्यमें तव्यप्रत्ययका व्यापार शब्दभावना है, यह शब्दभावना अध्ययनविषयक पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावनात्मक भाव्यमें अपने स्वरूपज्ञानरूप करणसे और घृतकुल्यादिरूप अध्ययनफल अर्थवादादिज्ञानरूप इतिकर्तव्यतासे युक्त होती हुई अध्ययनात्मक साधनवाली पुरुषप्रवृत्तिस्वरूप अर्थभावनाको स्वाध्यायरूप भाव्यमें प्राप्त प्राङ्मुखत्व आदि इतिकर्तव्यताको उत्पन्न करती है।

भाव्यस्य स्वाध्यायस्य फलवद्विज्ञानजननिमित्तत्वमन्तरेण तामर्थभावनामुत्पादयितुमसमर्था शब्दभावना स्वाध्यायगतलिङादिशब्दाभिधेयक्रतुभावनानां स्वर्गादिविषयत्वं परंपरया कल्पयति । ततोऽध्ययनविधिसामर्थ्यादेव वेदस्य विशिष्टफलविषयभावनाप्रतिपादकत्वं सिद्धमिति वेदग्रहणेनापि विवक्षितार्थसिद्धेर्न तदर्थं सूत्रे चोदनाग्रहणमपेक्षितं प्रत्युत कृत्स्नवेदस्य धर्मपरत्वं वदतस्तव तत्प्रतिकूलमेव । चोदनाग्रहणे हि सति विधिवाक्यानामेव धर्मपरत्वं नेतरेषां वेदान्तानां किन्तु अर्थान्तरपरत्वं तेषामित्याशङ्का स्यात् तथा लौकिकविधिवाक्यानामपि धर्मपरत्वमाशङ्क्येत । तदुभयव्यावृत्तये त्वन्मते वेदपदमेव सूत्रे वक्तव्यमापद्येत ।

वेदाध्ययनान्तरं धर्मविचारं प्रतिज्ञाय चोदनालक्षण इति ब्रुवता वैदिक्येव

उसमें भाव्यस्वरूप स्वाध्यायका सफल विज्ञानके उत्पन्न करनेमें निमित्त हुए बिना उस अर्थभावनाको उत्पन्न करानेमें असमर्थ होती हुई शब्दभावना स्वाध्यायगत लिङादि शब्दोंके वाच्य अर्थभूत यज्ञ भावनाओंमें स्वर्गादिविषयत्वकी परम्परासे कल्पना करती है । इस हेतुसे अध्ययनविधिकी सामर्थ्यसे ही वेदको विशिष्टफलविषयक भावनाका प्रतिपादन करना सिद्ध हो जाता है, इससे वेदग्रहणसे भी विवक्षित अर्थकी सिद्धि होनेसे, इसके लिए सूत्रमें चोदनाग्रहण करनेकी अपेक्षा नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण वेद धर्मपरक ही है, ऐसा माननेवाले तुम्हारे ही प्रतिकूल होता है । और चोदनापदका ग्रहण करनेपर विधिवाक्य ही धर्मपरक होता है, अन्य वेदान्त नहीं, किन्तु उन अन्य वेदान्तोंको अर्थान्तरपरक होना ही प्राप्त होता है, ऐसी आशङ्का होगी । एवम् लौकिक विधिवाक्योंको भी धर्मपरक होनेकी आशङ्का होगी, इन दोनों आशङ्काओंकी व्यावृत्तिके लिए तुम्हारे मतके अनुसार वेदपदका ही सूत्रमें कहना आवश्यक हो जायगा। [यदि सूत्रमें वेदपद होगा, तो वेदवाक्यबोधित प्रेरक धर्म कहलायेगा और सम्पूर्ण वेदान्तका तात्पर्य धर्ममें ही सिद्ध होगा, अन्यथा लौकिक विधिको धर्म होनेकी और वेदान्तवाक्योंको अर्थान्तरपरक होनेकी आशङ्का बनी ही रहेगी ।]

वेदाध्ययनके अनन्तर धर्मविचारकी प्रतिज्ञा करके 'चोदनालक्षणो धर्मः' (चोदना—प्रेरणा—स्वरूप धर्म है) ऐसा सूत्र बनानेसे वेदप्रतिपादित प्रेरणाका विवक्षित होना

चोदना विवक्षितेति गम्यत इति चेद्, नः प्रथमसूत्रे 'वेदाध्ययनानन्तरम्' इति विशेषाभावात्। एतत्सूत्रानुसारेण तत्रापि सर्वचोदनानन्तर्यकल्पनाप्रसङ्गात्। न च वेदाधिकरणे 'वेदांश्चैके संनिकर्षम्' इति सूत्रगतवेदपदादतिप्रसङ्गपरिहारः। वेदाधिकरणस्याऽतिदूरस्थत्वात्। अतो वेदान्तानां धर्मपरत्वपर्युदासाय चोदनाग्रहणमिति सूत्रभाष्यवार्तिककाराभिप्रायेण वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वमेव सिध्यति।

न च 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इति भाष्यवचनात् कृत्स्नवेदस्य धर्मपरत्वसिद्धिः, सामान्यस्य भाष्यस्य प्रथमद्वितीयसूत्रगतविशेषवचना-

---

प्रतीत हो ही जाता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रमें 'वेदाध्ययनानन्तरम्' (वेदाध्ययनके अनन्तर) ऐसा विशेषरूपसे नहीं कहा गया है। इस सूत्रके अनुसार उसमें भी सम्पूर्ण चोदनाके आनन्तर्यकी कल्पनाका अतिप्रसङ्ग हो जायगा। वेदाधिकरणमें 'वेदांश्चैके संनिकर्षम्' (गौतम आदि आचार्य वेदोंको संनिकर्ष मानते* हैं) इस सूत्रमें वेदपदसे अतिप्रसङ्गका वारण हो जायगा। (अर्थात् सकल वेदाध्ययनका ही आनन्तर्य लिया जायगा, सकल चोदना—प्रेरणाओं—का नहीं।) यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वेदाधिकरण अत्यन्त दूर है, (अर्थात् अत्यन्त दूरके अधिकरणगत सूत्रमें स्थित वेदपदका सम्बन्ध प्रथम सूत्रमें नहीं आ सकता,) इसलिए वेदान्तोंमें धर्मपरकताके निषेधके लिए चोदनापदका ग्रहण किया गया है, इसलिए सूत्र, भाष्य तथा वार्तिककारके अभिप्रायसे वेदान्तोंका ब्रह्ममें ही तात्पर्य सिद्ध होता है।

'दृष्टो हि तस्या०' ('उसका अर्थ कर्मका बोध कराना ही देखा गया है) इस भाष्यवचनसे सम्पूर्ण वेदका धर्ममें ही तात्पर्य सिद्ध होता है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, कारण कि उक्त सामान्यभाष्यवचनके तात्पर्यका प्रथम तथा द्वितीय सूत्रोंमें कहे गये भाष्यके विशेषवचनोंसे ही निर्णय करना होगा। [प्रथम सूत्रमें धर्मपद है और दूसरे सूत्रमें 'चोदनालक्षणो धर्मः' इस प्रकार धर्मका लक्षण—चोदनारूप—कहा गया है। इन दोनों सूत्रोंमें दोनों पदोंके व्याख्यानभूत भाष्यसे विधायक वेदवाक्य ही धर्मपरक है, वेदान्तवाक्य नहीं। इसलिए सामान्य भाष्यके भी इसके ही अनुसार तात्पर्यविशेषकी कल्पना दिखलाते हैं।]

---

* नैयायिक वेदोंको पुरुषप्रणीत मानते हैं, यदि वेद पुरुषप्रणीत न होते, तो काठक—कठ मुनिसे प्रोक्त—सूक्त इत्यादि नामोंसे नहीं पुकारे जा सकते, इससे कठ, आपिशल आदि मनुष्यके नामोंका सम्बन्ध होनेसे वेद पौरुषेय हैं।

नुसारेण निर्णतव्यत्वात् । तद्धि भाष्यं पूर्वापरपर्यालोचनायां वेदस्याऽर्थसद्भावमात्रे पर्यवसितं ततः कर्मानवबोधकत्वलक्षणमयोगं व्यवच्छिनत्ति न तु ब्रह्मबोधकत्वलक्षणमन्ययोगम् ।

ननु 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इति सूत्रादानर्थक्यं क्रियारहितानामिति चेद्, मैवम् । न तावदानर्थक्यमभिधेयाभावः । एवमेव भूतमर्थमनुवदन्तीति भाष्येऽभिधेयप्रदर्शनात् । नाऽपि प्रयोजनाभावः, सोऽरोदीदित्याद्यर्थवादानां विध्येकवाक्यतामन्तरेण प्रयोजनाभावेऽपि वेदा-

---

वह भाष्य तो पूर्वापरग्रन्थके प्रसङ्गका विचार करनेसे सम्पूर्ण वेदकी सार्थकता के समर्थनमें ही पर्यवसित होता है, इससे कर्मका बोध न करना, इस प्रकार अयोग—सम्बन्धाभाव—की ही निवृत्ति करता है 'ब्रह्मका बोध करना' इत्यादि प्रकारसे अन्य योगका विच्छेद नहीं करता । [अर्थात् 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इस भाष्यवचनमें 'हि' पद है, जो एवके अर्थके लिए आया है । एवकारकी दो अर्थोंमें खण्डशः शक्ति है, इससे कहींपर अयोगव्यवच्छेद—सम्बन्धाभाव—की निवृत्तिरूप अर्थ है । जैसे—'नीलमुत्पलं भवत्येव' (नील कमल होता ही है) अर्थात् कमलके साथ नीलगुणके सम्बन्धके अभावका व्यवच्छेद होता है । और कहींपर अन्ययोगव्यवच्छेद—सन्निहित पदार्थसे इतरके साथ सम्बन्धके अभाव—में एवकारकी शक्ति है । जैसे—'पार्थ एव धनुर्धरः' (अर्जुन ही धनुर्धारी हैं) अर्थात् अर्जुनमें जैसा धनुर्धारित्वका सम्बन्ध है, वैसा दूसरोंमें नहीं है । एवम् प्रकृतमें 'हि' पदका अयोगव्यवच्छेद अर्थ है, जिससे वेदोंसे 'कर्मसम्बन्ध नहीं है' इस प्रकार सम्बन्धाभावकी ही निवृत्ति होती है । अन्य अर्थोंसे वेदोंका सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार अन्ययोगव्यवच्छेद नहीं होता ।]

शङ्का—वेदमात्रका क्रियाकलापमें ही तात्पर्य है, जो वेदवाक्य क्रियापरक नहीं हैं, उनको अनर्थक होना प्राप्त होता है, इस सूत्रके बलसे क्रियामें तात्पर्य न रखनेवाले वाक्योंके अनर्थक होनेका दोष आता है ।

समाधान—ऐसा दोष नहीं आता, कारण कि अनर्थक पदका अर्थ अभिधेय अर्थका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि 'भूतमर्थ०' (भूत–सिद्ध—अर्थका अनुवाद करते हैं) इस भाष्यमें अभिधेयका प्रदर्शन किया गया है । और प्रयोजनका अभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) इत्यादि अर्थवाद वाक्योंकी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता किए बिना प्रयोजनका अभाव होनेपर

न्तेषु श्रूयमाणस्य फलस्याऽनिवार्यत्वात् । अतएव भाष्यकारेण तस्मिन्नधिकरणे क्रियाप्रकरणपठिता अर्थवादा एवोदाहृता न तु वेदान्तवाक्यं किञ्चिदप्युदाहृतम् । तदेवं भट्टमते वेदान्तानामगतार्थत्वं सिद्धम् ।

ननु प्राभाकरास्तु शास्त्रारम्भमेवमाहुः—अध्ययनविधिर्हि विचारं विदधाति, स च स्वाध्यायस्य फलपर्यन्ततामाकाङ्क्षन् वेदार्थविचारमेव विदध्यान्न धर्मविचारम् । न च वेदार्थे सामान्यप्रतिपत्त्यभावः, साङ्गं वेदमधीतवत आपाततस्तदर्थप्रतिपत्तिसत्त्वात् । नाऽपि विशेषप्रतिपत्त्यभावः, 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यादौ पशुकाममुद्दिश्य यागो विधीयते, यागविधानं चोद्दिश्य पशुकामाधिकार इत्यादिवचनव्यक्तिसन्देहात् । तस्मात्

भी वेदान्तवाक्योंमें सुनाई देनेवाले फलका निवारण नहीं किया जा सकता । इसलिए ही भाष्यकारने उस अधिकरणमें क्रियाप्रकरणमें— कर्मकाण्डमें—पढ़े हुए अर्थवादोंका ही उदाहरणरूपसे ग्रहण किया है, किसी भी वेदान्तवाक्यका उदाहरणरूपसे ग्रहण नहीं किया है । इस पूर्वोक्त विवेचनसे भट्टमतमें वेदान्तवाक्योंकी अगतार्थता सिद्ध होती है। [अतः वेदान्तवाक्योंका विचार करनेके लिए पृथक् मीमांसा करना आवश्यक है, क्योंकि पूर्वमीमांसासे वेदान्तवाक्योंका विचार नहीं किया जा सकता।]

प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक शास्त्रके आरम्भका निरूपण निम्न प्रकारसे करते हैं—अध्ययनविधि ही विचारका विधान करती है। और वह विधि स्वाध्यायके—वेदके—फलकी आकाङ्क्षा करती हुई वेदार्थके विचारका ही विधान करेगी, धर्मके विचारका नहीं। वेदार्थका सामान्यतः ज्ञान नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, कारण कि अङ्गोंके सहित वेद पढ़नेवाले पुरुषको आपाततः—विचारके पूर्व भी सामान्यतः—[तात्पर्यका निश्चय न होते हुए भी] वेदार्थका ज्ञान हो जाता है। और ऐसा भी नहीं है कि विशेषरूपसे ज्ञान न हो, क्योंकि 'पशुओंकी प्राप्तिकी इच्छासे उद्भिद्याग करना चाहिए' इत्यादि विधिमें पशुकाम पुरुषको उद्देश्य करके यागका विधान किया जाता है या यागविधिको उद्देश्य करके पशुकाम पुरुषका अधिकार विहित है ? अथवा दोनोंका विधान है ? इस प्रकार वचनव्यक्तिका सन्देह होता ही है। ['उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्यमें याग को उद्देश्य कर पशुकाम पुरुषके अधिकारका और पशुकामको उद्देश्य करके यागका विधान है, इस प्रकार पृथक्-पृथक्को उद्देश्य करके

'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यस्याऽधिकरणस्य वेदार्थविचारो विषयः, स कर्त्तव्यो न वेति संशयः। न कर्त्तव्य इति तावत्प्राप्तम् , आलम्बनप्रमाणाभावात्। आम्नायालम्बनो विचार इति चेद्, नः अध्ययनविधिशेषतयाऽऽम्नायस्य स्वार्थविवक्षायोगात्। अध्ययनाङ्गत्वमाम्नायस्य न सम्भवति, विनियोजकाभावादिति चेद्, नः प्रयुक्तिशेषत्वस्याऽनिवार्यत्वात्। अध्ययनं तावदध्यापनविधिप्रयुक्तानुष्ठानत्वात्तच्छेषतामश्नुते, तच्चाऽध्ययनमुच्चारणरूपमुच्चार्यमाणस्वाध्यायनिष्पाद्यम्। अतोऽध्ययनस्य प्रयोजकोऽध्यापनविधिस्तदुप-

---

पृथक्-पृथक्का विधान है? अथवा दोनोंको उद्देश्य करके एकका विधान अथवा एक को ही उद्देश्य करके दोका विधान है? इस प्रकार सामान्य दृष्टिसे वचनकी कल्पना द्वारा एक ही अर्थमें विरुद्ध नाना अर्थान्तरोंकी आपाततः प्रतीति होनेसे वेदार्थके विषयमें भी विप्रतिपत्तिका सम्भव होनेसे वेदार्थका सामान्य ज्ञान होनेपर भी विशेषरूपसे वेदार्थ सन्देहका विषय होता ही है। अतः वेदार्थके विचारका अवसर प्राप्त होना असंगत नहीं है।] इसलिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस धर्मजिज्ञासा-अधिकरणका वेदार्थ-विचार ही विषय है। उक्त विचार करना चाहिए या नहीं करना चाहिए? ऐसा संशय प्राप्त होता है। इसमें प्रथम 'नहीं करना चाहिए' ऐसा प्राप्त होता है, कारण कि आलम्बनप्रमाणका अभाव है। [विचार किसी विवक्षितार्थ विषयको लेकर ही हो सकता है। वेदार्थके विचारप्रसङ्गमें ऐसा कोई विवक्षितार्थ आलम्बन नहीं है] आम्नायका—वेदका—ही आलम्बन करके विचारका प्रसङ्ग होगा, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि अध्ययनविधिका अङ्ग होनेसे आम्नायमें—वेदमें—स्वार्थविवक्षाका अवसर नहीं है। आम्नाय—वेद—अध्ययनविधिका अङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई विनियोजक नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि प्रयुक्ति—अध्ययनरूप प्रयोग—द्वारा आम्नायको अध्ययनविधिके अङ्ग होनेका निवारण नहीं किया जा सकता। उपपादन करते हैं—अध्यापनविधिसे प्रयुक्त अनुष्ठानात्मक होनेसे अध्ययन उसका अङ्ग होता है, और उच्चारणस्वरूप वह अध्ययन उच्चारण किये जानेवाले स्वाध्याय—आम्नाय—द्वारा ही निष्पन्न हो सकता है। [अध्ययन—पढ़ना—'आचार्यमुखतः प्रियात्' इत्यादि वचनोंके अनुसार अध्यापन—पढ़ाना—रूप गुरुव्यापारके

कारिणमाम्नायमपि प्रयुङ्क्ते प्रयुक्तौ चाऽङ्गत्वान्न विवक्षितार्थत्वम्। अथ मन्यसे—न प्रयुक्तिमात्रादङ्गत्वम्, अनङ्गस्याऽप्युपकारस्य प्रयुक्तिसम्भवाद्; अतो विषनिर्हरणादिमन्त्रवाक्यवदविवक्षितार्थत्वं नास्तीति, तर्हि प्रकारा-

बिना नहीं बनता। इसलिए अध्ययन अध्यापनका अङ्ग है। और अध्ययनका उपकारी आम्नाय है। विषयके बिना अध्ययनका होना असंभव है। इसलिए आम्नायमें उच्चारणरूप-अध्ययनत्व निश्चित है।] इसलिए अध्ययनका प्रयोजक अध्यापन—पढ़ाना—विधि है। वह अध्यापनविधि उसके उपकारी आम्नायको भी अनुष्ठानमें प्रयुक्त करती है। इस प्रकार प्रयुक्तिमें अङ्ग होनेसे स्वाध्यायकी अपनी स्वार्थविवक्षा सिद्ध नहीं हो सकती। प्रयुक्तिमात्रसे अङ्ग होनेका नियम नहीं है, क्योंकि जो अङ्ग नहीं है, उससे भी उपकारकी प्रयुक्ति हो सकती है। (अर्थात् जैसे आधानकी उत्तर क्रतुमें प्रयुक्ति है। परन्तु आधान उत्तर क्रतुका अङ्ग नहीं माना गया है) इसलिए बिषनिवारणमें प्रयुक्त मन्त्रवाक्योंके दृष्टान्तसे स्वाध्यायमें अविवक्षितार्थत्व सिद्ध नहीं होता।

[पृ० ४२७ पं० ७ में विषनिर्हरणादिमन्त्रवाक्योंके दृष्टान्तसे स्वाध्यायमें अविवक्षितार्थत्व सिद्ध कर आए हैं। इसलिए यहांपर उक्त दृष्टान्त प्रयुक्तिमात्रसे अविवक्षितार्थत्वका साधक नहीं है यह कहनेमें तात्पर्य है। वस्तुतः विवरणके पाठके अनुसार 'प्रयुक्तौ चाङ्गत्वान्न विवक्षितार्थत्वम्' इस ग्रन्थके आगे 'अतो विषनिर्हरणादिमन्त्रवाक्यवत् विवक्षितार्थत्वं नास्ति' यह पाठ होना चाहिए, और 'अथ मन्यसे न प्रयुक्तिमात्रादङ्गत्वम्' इसके आगे 'अनङ्गस्याऽप्याधानस्य प्रयुक्तिसम्भवात्' ऐसा उपकारके स्थानमें आधान पाठ रखना सङ्गत मालूम होता है। यथाश्रुत पाठ रखने के आग्रहसे ऊपर कथित अनुवाद किया गया है और यथाश्रुत उपकारको उपकारकपरक माननेसे तो सङ्गति नहीं बन सकती, क्योंकि अङ्ग और उपकारक पर्याय ही हैं अथवा 'विधिशक्तिर्न मन्त्रस्य' इत्यादि पृ० ४३० पं० ५ में प्रतिपादित न्यायसे विषनिर्हरणादि मन्त्रवाक्योंकी भी स्वार्थविवक्षा मानकर उक्त वाक्योंका दृष्टान्त विवक्षितार्थत्वमें दिया गया है।]

यदि ऐसा सिद्धान्त मानते हैं, तो दूसरी रीतिसे आम्नायके अविवक्षितार्थत्वका सम्पादन करेंगे। [कोई आचार्य आम्नायकी अध्ययनमें प्रयुक्ति मानकर अङ्गत्वसिद्धि द्वारा अर्थविवक्षाका अभाव कहते हैं और कोई-कोई प्रयुक्तिमात्रको अङ्गत्वका

न्तरेण विवक्षितार्थत्वं सम्पादयामः। स्वाध्यायविधिवाक्ये तव्यप्रत्ययेनाऽपूर्वस्य प्रतिपादनात् तदङ्गता तावत् स्वाध्यायस्याऽधिगता। यद्यप्यध्यापनविधिप्रयोज्यमध्ययनस्याऽध्यापनाङ्गत्वमपि प्राप्तं क्रतुप्रयुक्तस्य प्रयाजादेः क्रत्वङ्गत्वदर्शनात् तथापि प्रथमावगतमपूर्वाङ्गत्वं नाऽपाकर्त्तुं शक्यम्, ततश्चाऽपूर्वाङ्गस्य स्वाध्यायस्याऽविवक्षितार्थत्वात् 'न वेदार्थविचारः कर्त्तव्यः' इति पूर्वपक्षे प्राप्ते राद्धान्तं ब्रूमः—

न तावत् प्रयुक्तिबलादध्यापनाङ्गत्वमध्ययनस्य युज्यते, उत्तरनु-

---

प्रयोजक न मानकर प्रयुक्तिसे ही अर्थविवक्षाका अभाव नहीं मानते हुए स्वाध्यायकी अविवक्षितार्थताका अन्य प्रकारसे साधन करते हैं] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनके कर्मकारक स्वाध्यायघटित विधिवाक्यमें [कर्मार्थक] तव्यप्रत्ययसे अपूर्वका प्रतिपादन करनेसे स्वाध्यायको अपूर्वका अङ्ग होना प्राप्त ही होता है। [नियम है 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' सिद्ध वस्तुका उपदेश साध्यके निमित्त होता है, इसके अनुसार सिद्धस्वरूप स्वाध्यायका कर्मकारकत्व असिद्धभूत अपूर्वके ही निमित्त होनेसे वह अपूर्वका अङ्ग है और अङ्गका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं होता, इसलिए स्वाध्यायको—वेदको—अविवक्षितार्थ ही मानना होगा।] यद्यपि अध्यापनविधिके द्वारा प्रयुक्त अध्ययनको अध्यापनका अङ्ग होना भी प्राप्त होता है, क्योंकि क्रतुप्रयुक्त प्रयाजादिको क्रतुका अङ्ग होना देखा गया है, तथापि पहले ही से ज्ञात हुए अपूर्वका अङ्ग होना नहीं छोड़ा जा सकता। [अर्थात् अध्यापनविधिसे सामान्यतः अध्ययनमात्रका अनुष्ठान नहीं होता, किन्तु 'उपनीय तु यो विप्रम्' इत्यादिसे विहित अध्ययनका ही अनुष्ठान प्राप्त होता है। अन्यथा अनुपनीतादि अनधिकारीको भी अध्ययन प्राप्त हो जायगा। एवम् गुरुके—आचार्यके—मुखसे नियमपूर्वक अध्ययनमें ही पुण्य है, इस प्रकार अध्यापनको प्रथमतः अपूर्वका—पुण्यका—अङ्ग होना प्राप्त है, उसका निष्प्रमाण त्याग नहीं किया जा सकता]। इस हेतु अपूर्वके अङ्गभूत स्वाध्यायके अविवक्षितार्थ होनेसे वेदार्थका विचार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त पक्ष कहते हैं।

[उक्त पूर्वपक्षमें दो आचार्योंका मत है एक प्रयुक्तिके कारण अङ्ग मानते हैं दूसरे अपूर्वका अङ्ग मानते हैं। दोनोंका क्रमशः समाधान करते हैं—] प्रयुक्तिके

प्रयुक्तस्याऽऽधानस्य तदङ्गत्वादर्शनात् । प्रयाजादीनां विनियोजकप्रकरणादिप्रमाणबलादङ्गत्वसिद्धेः । इह च तादृशप्रमाणाभावात् । अपूर्वार्थत्वं त्वध्ययनस्य नाऽर्थविवक्षाप्रतिबन्धकम् , अपूर्वस्य स्वाध्यायगततव्यप्रत्ययाभिहितत्वेन प्रयोजनाकाङ्क्षायां दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनाऽनुपपत्त्या स्वाध्यायसामर्थ्यजन्यं प्रयोजनवद्विज्ञानं फलमिति कल्पयितुं शक्यत्वात् । तस्माद्विवक्षितार्थस्य वेदस्याऽर्थविचारः कर्त्तव्य इति स्थितम् । एवं च वेदार्थविचारं प्रतिजानतां प्राभाकराणां मते वेदान्तानामगतार्थत्वं दुःसम्पादमिति ।

कारण अध्ययनको अध्यापनका अङ्ग होना, यही पहले सङ्गत नहीं है, कारण कि उत्तर क्रतुमें प्रयुक्ति होनेसे भी आधानको उत्तर क्रतुका अङ्ग होना नहीं देखा गया है । क्रतुमें प्रयुक्तिके आधारपर प्रयाजादिका क्रतुके अङ्ग होनेमें दिए गए दृष्टान्तका खण्डन करते हैं—] प्रयाजादिको विनियोजक प्रकरण आदि प्रमाणके आधारपर क्रतुका अङ्ग होना सिद्ध होता है । प्रकृतमें तादृश प्रकरण आदि कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए प्रयुक्तिमात्रसे अङ्गभावकी सिद्धि नहीं हो सकती । [दूसरे आचार्योंके मतका खण्डन करते हैं—] अध्ययनको अपूर्वका निमित्त माननेसे भी उसकी विवक्षितार्थताका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, कारण कि स्वाध्यायगत अपूर्वका तव्यप्रत्ययसे अभिधान होता है । [मीमांसकमतमें अपूर्व लिङादिप्रत्ययका अर्थ है ।] उसके प्रयोजनकी आकाङ्क्षा होनेपर दृष्टफलके सम्भव होनेपर अदृष्ट फलकी कल्पना करना उपपन्न न होनेसे स्वाध्यायकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ प्रयोजनशाली विज्ञान ही फल है, ऐसी कल्पना की जा सकती है । [तात्पर्य यह कि जैसे 'सोमेन यजेत' इत्यादि विधिवाक्यघटक लिङादिप्रत्ययसे अभिहित अपूर्व स्वर्गादिरूप फलकी प्राप्तिके द्वारा सप्रयोजन होता है, वैसे ही प्रकृतमें 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्यमें आये हुए तव्यप्रत्ययसे स्वाध्यायगत अपूर्वका अभिधान होता है, उसका प्रयोजन सफल वेदार्थविज्ञान ही मानना उचित है । इस विवेचनसे विवक्षितार्थ वेदके अर्थका विचार करना चाहिए, यह सिद्धान्त निश्चित होता है । इस प्रकार वेदार्थके विचारकी प्रतिज्ञाका समर्थन करनेवाले प्रभाकरानुयायी मीमांसकोंके मतमें वेदान्तोंकी अगतार्थताका सम्पादन नहीं किया जा सकता । [प्रभाकरानुयायी मीमांसकोंका कहना है कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रसे

अत्रोच्यते—यद्यपि कृत्स्नवेदाध्ययनविधिप्रयुक्तो विचारो वेदार्थमेव विषयीकुर्यात् तथाप्यनन्यथासिद्धेन सूत्रकृतधर्मग्रहणेन वेदार्थैकदेश-विषयः संपद्यते । न चैवमध्ययनविधिविरोधः, सामान्यरूपस्य विधेः प्रतिवाक्याध्ययनं प्रतिवाक्यविचारं च व्यापारभेदेन वेदार्थैकदेशविचारेऽ-

---

धर्मपदको वेदार्थका उपलक्षण मानकर वेदार्थमात्रके विचारकी प्रतिज्ञा सूत्रकारने की है। इससे वेदान्तवाक्योंके अर्थका विचार भी प्रतिज्ञात हो जानेसे उसके लिए पृथक् मीमांसाका आरम्भ करना प्राप्त नहीं होता, अर्थात् पूर्वमीमांसासे ही वेदान्तवाक्योंका भी विचार हो जायगा।]

इस प्राभाकरमतके ऊपर विचार किया जाता है—यद्यपि सम्पूर्ण वेदोंके अध्ययनकी विधिसे प्रयुक्त हुआ विचार वेदार्थको ही विषय करेगा तथापि अनन्यथासिद्ध सूत्रघटक धर्मग्रहणसे वेदार्थके एक भागको विषय करनेवाला ही सिद्ध होता है। [अर्थात् धर्मकी सिद्धि वेदसे ही हो सकती है, धर्म वेदार्थस्वरूप ही है। धर्मकी सिद्धि वेदसे अन्य प्रमाण द्वारा होती ही नहीं है, अतः धर्म अनन्यथासिद्ध है। उसका ग्रहण सूत्रमें 'अथातो वेदार्थ-जिज्ञासा' इस प्रकार वेदार्थपदसे हो ही जाता है, पुनः धर्मग्रहण व्यर्थ होकर विचारके विषयका नियम कर देगा कि इस प्रथम सूत्रसे केवल वेदार्थके एकदेशका विचार करनेकी ही प्रतिज्ञा की गई है।] इस प्रकार वेदार्थैक-देशको ही विषय माननेसे अध्ययनविधिका विरोध भी नहीं आता। [पूर्व-पक्षीका तात्पर्य है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिवाक्यसे सकल वेदका अध्ययन प्राप्त होता है और 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें सकल वेद पढ़नेके अनन्तर विचारका प्रारम्भ किया गया है, इस प्रकार उपक्रमके बलसे सम्पूर्ण वेदार्थका विचार प्राप्त होता है, एकदेशमें ही तात्पर्यका निर्णय करनेसे विरोध आता है।] [यदि सम्पूर्ण वेदके अध्ययनप्रयुक्त सम्पूर्ण वेदार्थको विचारका विषय माना जाय, तो धर्मपदके स्थानमें वेदार्थपद देना ही उचित था और वेदार्थके एकदेशको विषय माननेसे सम्पूर्ण वेदके अध्ययनविधिमें प्रयुक्तिकी उपपत्ति भी प्रतिवाक्य विचार प्राप्त होनेसे प्रयोजन तथा व्यापारभेदसे हो सकती है इस आशयसे समाधान करते हैं—] क्योंकि सामान्यविधिके प्रति-वाक्यके अध्ययन एवम् प्रतिवाक्यके विचारमें व्यापारभेदसे वेदार्थके एकदेशके

पि चरितार्थत्वात् । यथा 'चक्षुषा रूपं पश्येत्' इति विधेर्नीलरूपदर्शनमात्रेणाऽपि चरितार्थता तद्वत्। अथ तत्र सर्वरूपदर्शनस्याऽशक्यत्वात् संकोचस्तर्हि अत्रापि अविरक्तेनानधिकारिणा वेदान्तानां विचारयितुमशक्यत्वादेव संकोचोऽस्तु । न चैवमध्ययनेऽपि संकोचप्रसङ्गः, तत्र विरक्तेरधिकारं प्रत्यप्रयोजकत्वात्; विचारस्य चाऽसंकोचे धर्मग्रहणमनुपपन्नं स्यात् । वेदार्थविचार इत्येव वक्तव्यत्वात् । पुरुषार्थद्योतनाय वेदार्थ एव धर्मशब्देन निर्दिश्यत

विचार करनेपर भी चारितार्थ्य हो सकता है। [यद्यपि स्वाध्यायाध्ययन सामान्यतः सम्पूर्ण वेदका प्राप्त होता है एवम् विचार भी सम्पूर्ण वेदार्थका ही प्राप्त होता है तथापि प्रतिवाक्यके अध्ययन तथा विचारमें व्यापारभेद होनेसे सामान्यविधिको विशेषपरक माननेमें कोई बाधा नहीं है, अतएव प्रथम सूत्रको वेदार्थविशेषके विचारपरक माननेपर भी अध्ययनविधिमें प्रयुक्तिकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती । इस आशयको दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—] जैसे 'चक्षुरिन्द्रियसे रूप देखना—रूपका प्रत्यक्ष करना—चाहिए, इस (सामान्य) विधानका (विशेष) नीलरूपमात्रके दर्शनसे भी चारितार्थ्य हो सकता है, वैसे ही प्रकृतमें भी सामान्यवेदार्थका विचार विशेषपरक हो सकता है। दृष्टान्त स्थलमें सम्पूर्ण रूपका दर्शन हो नहीं सकता, इसलिए सामान्यविधिका विशेषपरक माननेमें संकोच करना पड़ता है, यदि यह कहा जाय, तो प्रकृतमें भी जिसको वैराग्य नहीं हुआ है, ऐसे अनधिकारी पुरुषसे वेदान्तोंका विचार करना भी नहीं हो सकता, इसलिए संकोच करना प्राप्त होता है। इस प्रकार अध्ययनविधिमें संकोच नहीं हो सकता, कारण कि अध्ययनमें वैराग्य अधिकारका प्रयोजक नहीं है। ['ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयः' इत्यादि नित्यविधिके बलसे वैराग्य हो अथवा न हो, उपनीत-द्विज होनामात्र अध्ययनमें अधिकारका प्रयोजक है। और वेदान्तविचारमें 'शान्तो दान्तः' इत्यादिके अनुसार शमदमादिसाधनचतुष्टयसम्प्राप्तिके अनन्तर ही अधिकार प्राप्त हो सकता है। इसलिए अध्ययनविधिका संकोच नहीं हो सकता] और विचारका संकोच न किया जाय, तो धर्मग्रहणकी उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वेदार्थविचार—वेदार्थका विचार—किया जाना—ऐसा सामान्यरूपसे ही कहना पड़ेगा। वेदार्थको पुरुषार्थबोधन करनेके लिए धर्मशब्दसे निर्देश किया गया

इति चेद् न; धर्मशब्दस्य वेदार्थवाचकत्वाभावात्। अवेदार्थे चैत्यवन्दनादावपि केश्चिद्धर्मशब्दप्रयोगात्। अथाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धश्रेयःसाधनाभिधायी धर्मशब्दो वेदार्थश्च श्रेयःसाधनमिति तत्र धर्मशब्दो वर्त्तत इति मन्यसे, तर्हि श्रेयोरूपं ब्रह्म न धर्मशब्देनाऽभिधीयते, साधनत्वाभावात्; तत एकदेशविचारोऽङ्गीकार्यः। नो चेद् ब्रह्मणोऽपि संग्रहाय सूत्रे वेदार्थपदं वक्तव्यम्। न च सामान्यतोऽप्यप्रतिपन्नस्य ब्रह्मणः कथं संग्रह इति वाच्यम्, साङ्गवेदाध्यायिनो विचारात् प्राग् धर्मवद् ब्रह्मणोऽप्यापाततः प्रतिपत्तेः सत्त्वात्। ततश्च वेदार्थपदाभावादादिसूत्रं धर्ममात्रविचारविषयम्।

तथा लक्षणपरं द्वितीयसूत्रमपि धर्मविषयम्, न वेदार्थविषयम्। लक्षणं

है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि धर्मशब्द वेदार्थका वाचक नहीं है। जो वेदार्थ नहीं है, ऐसे चैत्यवन्दन आदिमें भी कई-एक वादी धर्मशब्दका प्रयोग करते हैं। अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध श्रेय—अभ्युदय—के साधनका वाची धर्मशब्द है और वेदार्थ भी अभ्युदयका साधन—कारण—है। इससे धर्मशब्दकी वेदार्थमें वृत्ति हो सकती है। [अर्थात् श्रेयःसाधनमें विशेष न होनेसे धर्मशब्दका प्रयोग वेदार्थके लिए आ सकता है। और श्रेयःसाधन न होनेसे चैत्यवन्दनादिकी व्यावृत्ति हो सकती है।] यदि ऐसा मानते हो, तो श्रेय—अभ्युदय—स्वरूप ब्रह्म तो धर्मशब्दसे नहीं लिया जा सकता, कारण कि ब्रह्म साधनरूप नहीं है, किन्तु ब्रह्म स्वयं अभ्युदयस्वरूप है। इससे 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे वेदार्थके एकदेशका ही विचार करके प्रतिज्ञा माननी होगी, नहीं तो ब्रह्मका भी संग्रह करनेके लिए वेदार्थपद ही सूत्रमें देना चाहिए। जिसकी सामान्य रीतिसे भी प्रतीति नहीं है, [विशेषरूपसे नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या ?] ऐसे ब्रह्मका [वेदार्थपदसे भी] कैसे संग्रह हो सकेगा ? [सामान्यतः प्रतीत और विशेषतः विप्रतिपन्न ही विचारका विषय हो सकता है, ब्रह्ममें ऐसा नहीं है।] ऐसी शङ्का भी नहीं कर सकते, कारण कि अङ्गोंके सहित वेदोंको पढ़ लेनेपर विचार करने के पूर्व ही धर्मकी भाँति ब्रह्मकी भी आपाततः प्रतीति होती ही है। इसलिए वेदार्थपदके न रहनेसे प्रथम सूत्रका विषय धर्ममात्रका ही विचार है।

एवं धर्मके लक्षणमें तात्पर्यवाला दूसरा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' सूत्र भी धर्मविषयक ही है। वह वेदार्थमात्रको विषय नहीं करता। लक्षण लक्ष्यका

हि लक्ष्यस्याऽन्यत्र प्रसङ्गभ्रमनिरासपरम्। तत्र धर्मस्य लक्ष्यत्वे चैत्यवन्दनादौ प्रसङ्गभ्रमो निरस्यते, कैश्चित् चैत्यवन्दनादिषु धर्मत्वभ्रमं प्राप्य विप्रतिपद्यमानत्वात्। ननु वेदार्थेऽपि विप्रतिपत्तयः सन्ति--किमर्थवादादिलक्षणो वेदार्थः किं वा चोदनालक्षण इति, ततस्तन्निरासाय लक्षणमुच्यतामिति चेत्, तर्हि 'चोदनालक्षणो वेदार्थः' इति सूत्रे लक्षणं वक्तव्यम्, धर्मग्रहणे हि वेदार्थविप्रतिपत्तिनिरासोऽशाब्दः स्यात्। वेदार्थमेव विवक्षित्वा धर्मशब्दः प्रयुक्त इति चेद् न; तस्य तदवाचकत्वात्। न च धर्मशब्दो वेदार्थं लक्षयति, जहल्लक्षणायां वेदार्थस्याऽधर्मत्वप्रसङ्गात्। अभिधेयादन्यस्य तीरादेर्लक्ष्यस्याऽ-

---

भ्रमसे अन्यत्र प्राप्त प्रसङ्गका निवारण करना ही अपना प्रयोजन रखता है। उस सूत्रमें धर्मके लक्ष्य होनेसे चैत्यवन्दनादिको धर्म समझनेका भ्रम दूर किया जाता है, क्योंकि कोई-कोई चैत्यवन्दन आदिको धर्म समझ कर विरुद्ध प्रतीति करते हैं अर्थात् भ्रममें पड़कर चैत्यवन्दनादिको भी धर्म मान बैठते हैं।

शङ्का—वेदार्थके विषयमें भी विप्रतिपत्तियाँ—संशयात्मक विरुद्ध प्रतीतियां—होती हैं, जैसे क्या अर्थवादादिरूप धर्म है? अथवा प्रेरणात्मक धर्म है? इसलिए उक्त संशय—विप्रतिपत्ति—को दूर करनेके लिए ही लक्षण किया जाता है अर्थात् दूसरे सूत्रमें भी लक्षणका विषय लक्ष्य वेदार्थ ही है।

समाधान—इस शङ्काके अनुसार तो 'चोदनात्मक वेदार्थ है' इस प्रकार ही सूत्रमें लक्षण करना चाहिए था, धर्मका ग्रहण करनेपर, तो वेदार्थविषयक विप्रतिपत्तिका समाधान शब्द द्वारा नहीं हो सकता।

शङ्का—वेदार्थकी विवक्षासे ही धर्मशब्दका प्रयोग किया गया है।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मपद वेदार्थका वाचक नहीं है। [शब्दप्रयोगका नियम है कि जिस अर्थकी विवक्षा हो उसके वाचक शब्दका ही प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा और आलङ्कारिकोंका अवाचकत्व दोष विराजमान हो जायगा।] धर्मशब्दकी वेदार्थमें लक्षणा भी नहीं कर सकते, क्योंकि जहल्लक्षणामें वेदार्थके अधर्म होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। जैसे अभिधेय–वाच्य–अर्थसे इतर तीर आदि लक्ष्यभूत अर्थ गङ्गारूप नहीं हैं। ['जहति स्वानि—स्वीयानि—पदानि यः स जहत्स्वः एवंभूतोऽर्थो यस्यां लक्षणायाम् सा जहल्लक्षणा' इस जहत्स्वार्था लक्षणामें लक्षकपद अपने स्वार्थका—वाच्यार्थका—

गङ्गात्वदर्शनात्। अजहल्लक्षणायामपि कीदृशी वचनव्यक्तिः ? यश्चोदनालक्षणः स धर्म इति यो धर्मः स चोदनालक्षण इति वा। द्वेधाऽपि न वेदार्थविवक्षा सिद्ध्यति, चोदनाधर्मशब्दयोर्वेदतदर्थैकदेशवाचिनोः कृत्स्नवेदतदर्थलक्षकत्वे कारणाभावात्। नहि यच्चाक्षुषं तद्रूपं यद्रूपं तच्चाक्षुषमित्यत्र सर्वप्रत्यक्षतद्विषयलक्षणा दृष्टा। मुख्यार्थेऽनुपपत्त्यभाव उभयत्राऽपि समानः।

त्याग कर देता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' यहांपर गङ्गापदसे अपने प्रवाहरूप वाच्य अर्थका त्याग करके लक्षणाके द्वारा गङ्गासे भिन्न केवल तीररूप अर्थका बोध होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी धर्मपदसे जहत्स्वार्था लक्षणाके द्वारा धर्मभिन्न अधर्मस्वरूप वेदार्थका बोध होगा, जो कि यहाँ इष्ट नहीं है।] अजहल्लक्षणाके [जिस लक्षणामें स्वार्थका त्याग नहीं होता है, उसको अजहल्लक्षणा कहते हैं, जैसे 'श्वेतो धावति' 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादि] माननेमें वचनका स्वरूप कैसे होगा ? क्या जो प्रेरणात्मक अर्थ है वह धर्म है ? अथवा जो धर्म है वह प्रेरणात्मक अर्थ है ? अर्थात् चोदनात्मक धर्मका लक्षण है। दोनों प्रकारकी वचनव्यक्तिसे भी वेदार्थमात्रकी विवक्षा सिद्ध नहीं हो सकती, कारण कि चोदना तथा धर्म—ये दोनों शब्द वेद तथा वेदार्थके एक देश—किसी एक भाग—के ही वाचक * हैं, अतः उन दोनों पदोंसे लक्षणा द्वारा भी सम्पूर्ण वेद तथा सम्पूर्ण वेदार्थका बोध किसी कारणवश नहीं हो सकता।

जो चाक्षुष प्रत्यक्ष है वह रूप है या जो रूप है—वह चाक्षुष प्रत्यक्ष है, इस प्रकारके वाक्योंमें सम्पूर्ण प्रत्यक्षों तथा प्रत्यक्षके सम्पूर्ण विषयोंकी प्रतीति लक्षणाके द्वारा नहीं देखी गई है। मुख्य अर्थमें अनुपपत्तिका अभाव दोनों स्थलोंमें समान ही है। [जो चाक्षुष है वह रूप है, इत्यादि स्थलमें मुख्य अर्थका बाध आदि लक्षणाके बीजके न होनेसे लक्षणा नहीं होती, यदि यह कहो, तो जो चोदनात्मक अर्थ है वह धर्म है, इस स्थलमें भी मुख्यार्थका बाध नहीं है, इस प्रकार मुख्यार्थके बाध आदि लक्षणाके कारणका अभाव दोनों स्थलोंमें समान ही है।]

---

* लिङादिप्रत्ययघटित विधिवाक्यस्वरूप होनेसे वेदका विधायक वाक्यसमूहात्मक भाग चोदना है और चोदनाविहित अभ्युदयका साधनभूत विधायक वाक्यात्मक वेदका अर्थ है—धर्म। अतः धर्म भी वेदार्थैकदेश ही हुआ।

अथोच्येत—

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥'

इत्यादिवत् संज्ञाविधिपरमिदं सूत्रम् , ततो धर्मशब्दस्य पूर्वमभिधानलक्षणावृत्त्योरभावेऽपि वेदार्थविवक्षा भवतीति, तन्न; प्रयोजनाभावात् । यथा 'आचार्याय गां दद्यात्' इत्यादिकार्यान्तरे नियोगार्थमाचार्यसंज्ञा विधीयते न तथेह कार्यान्तरमस्ति यदर्थं वेदार्थस्य धर्मसंज्ञा विधीयते । धर्मशब्दस्य वेदार्थवाचकत्वाङ्गीकारेऽपि सूत्रगतार्थशब्दवैयर्थ्यं चोदनाशब्दस्य कृत्स्नवेदलक्षणापरत्वमधिकरणरचनानुपपत्तिश्च त्वन्मते वारयितुं न शक्यते । न च 'श्येनेनाभिचरन्यजेत'इत्यादयोऽर्थशब्दव्यावर्त्याः, तेषामपि वेदार्थत्वव्यावृत्त्य-

---

शङ्का—यदि कहा जाय कि 'जो द्विज (ब्राह्मण) शिष्यका उपनयन संस्कार करके रहस्य और कल्पके सहित वेदको पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं' इत्यादिसे जैसे आचार्यसंज्ञाका विधान होता है, वैसे ही इस सूत्रका भी संज्ञाके विधानमें तात्पर्य है, इसलिए धर्मशब्दका इस संज्ञासूत्रसे पहले अभिधाशक्ति तथा लक्षणा—इन दोनों वृत्तियोंके न होनेपर भी [संज्ञासूत्रके बलसे] वेदार्थकी विवक्षा होती है ।

समाधान—तो यह भी नहीं कह सकते, कारण कि ऐसा कहनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

[आचार्यसंज्ञाके विधानमें प्रयोजन दिखलाते हैं—] जैसे 'आचार्यको गाय देनी चाहिए' इत्यादि गोदानरूप प्रभृति दूसरे कार्योंमें नियोगकी सिद्धिके लिए आचार्यसंज्ञाका विधान किया जाता है, वैसे प्रकृतमें कोई अन्य कार्य नहीं है, जिससे कि वेदार्थकी धर्मसंज्ञा विहित हो ।

[अभ्युपगमवादमें भी दूषण देते हैं]—कथञ्चित् धर्मशब्दको वेदार्थका वाचक मान भी लिया जाय, तो भी सूत्रमें दिये गये अर्थशब्दका वैयर्थ्य, चोदनाशब्दकी सम्पूर्ण वेदमें लक्षणा तथा अधिकरणरचनाकी अनुपपत्ति—ये सब दोष तुम्हारे मतमें [संज्ञासूत्र मानकर धर्मको वेदार्थकी संज्ञा माननेवालेके मतमें] हटाये नहीं जा सकते । 'श्येन यागसे अभिचार करते हैं' इत्यादि अर्थशब्दके व्यावर्त्य होंगे [अर्थात् वेदार्थ श्रेय.साधन होता है और श्येनयागादि आभिचारिक (मारण-उच्चाटनके साधन) कृत्य

योगात् ; अवेदार्थत्वे च धर्मशब्देनैव व्यावृत्तिसिद्धेः । सिद्धामेव व्यावृत्तिमर्थशब्दोऽनुवदतीति चेद्, न; तथा सति वैयर्थ्यतादवस्थ्यात् । वेदार्थैकदेशभूतधर्मविचारपक्षे तु श्येनादेः प्रतिषेधचोदनालक्षणस्याऽनर्थत्वेनाऽधर्मत्वसिद्धिरर्थशब्दप्रयोजनं भविष्यति । अर्थशब्दवैयर्थ्येऽपि चोदनाशब्दस्य लक्षणापरत्वं कथमिति चेद्, उच्यते--किं चोदनातिरिक्तोऽपि कश्चिद्वेदभागोऽस्ति उत न ? यदि नाऽस्ति तदा चोदनालक्षणोऽर्थश्चोदनार्थ इति

हैं, श्रेयःसाधन नहीं हैं], ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उन श्येनयाग आदिमें वेदार्थत्वकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती । तात्पर्य यह है कि श्येनयागादि भी वेदप्रतिपादित होनेसे वेदार्थ ही माने जायँगे । [यदि वे वेदार्थ नहीं हैं, तो धर्म भी नहीं होंगे, क्योंकि आपके मतमें धर्म और वेदार्थ एक ही वस्तु है । इस आशयसे लिखते हैं—] श्येनयागादि यदि वेदार्थ नहीं हैं, तो धर्मशब्दसे ही उनकी व्यावृत्ति सिद्ध हो जायगी । [इससे भी अर्थशब्द व्यर्थ ही है] धर्मशब्दसे सिद्ध हुई व्यावृत्तिका ही अर्थशब्द अनुवाद करता है, यह मानना भी उचित नहीं है, कारण कि उसको अनुवादक माननेसे भी वैयर्थ्यदोष तो बना ही है । [यदि अर्थशब्द उसका अनुवादक न हो तो भी धर्मज्ञानसे ही अभीष्ट व्यावृत्ति उपलब्ध ही हो जाती है । इससे अर्थपदका सार्थक्य नहीं आ सकता ।] [सिद्धान्त पक्षमें अर्थशब्दका सार्थक्य दिखलाते हैं—वेदार्थके एकभागमात्र धर्मके ही विचारविषयक प्रथम सूत्रको माननेवालेके पक्षमें तो प्रतिषेधात्मक प्रेरणास्वरूप श्येन आदि यागके अनर्थक होनेसे उनमें अधर्मत्वकी सिद्धि ही अर्थशब्दका प्रयोजन होगा । [पूर्व मूलमें दिखाए गए प्रभाकरमतमें तीन दोषोंमें से प्रथम दोष—अर्थशब्दका वैयर्थ्य—बतलाया गया है । अब चोदनाशब्दकी सम्पूर्ण वेदमें लक्षणाका असम्भवरूप द्वितीय दोष दिखलाते हैं—] अर्थशब्दके व्यर्थ होनेपर भी सम्पूर्ण वेदमें चोदनाशब्दकी लक्षणा कैसे सिद्ध हो सकती है ? [अर्थशब्दका व्यर्थ होना ही दोष नहीं है । दूसरा दोष भी प्रभाकरमतमें आता है, मीमांसक पूछता है—कैसे ? वेदान्ती उत्तर देता है—] कहा जाता है, क्या चोदनासे अतिरिक्त कोई वेदका भाग है ? या नहीं ? यदि नहीं है, तो 'प्रेरणात्मक अर्थ प्रेरणात्मक है' ऐसा

सूत्रार्थः स्यात्, ततो लक्ष्यलक्षणयोरैक्यमापद्येत। अस्ति चेत् सोऽपि वेदभागोऽर्थवान्न वा ? अर्थवांश्चेत् कथं चोदनाप्रमेयोऽचोदनाभागस्याऽर्थः स्यात् ? अर्थशून्यत्वेऽपि चोदनार्थः कथं सार्थकनिरर्थकभागद्वयसमुदायवेदार्थः स्यात्। तस्मात् चोदनाशब्दस्य कृत्स्नवेदलक्षकत्वं त्वया दुर्वारम्। अधिकरणं चैवं त्वया रचनीयम्—किं वेदार्थश्चोदनालक्षणः किं वाऽर्थवादादिलक्षण इति। विशये सति नाऽर्थवादादिलक्षणः किन्तु चोदनालक्षण इति। सेयं रचनाऽनुपपन्ना, वेदस्य प्रामाण्यप्रतिपादनात् प्रागर्थवत्त्वस्यैवाऽनिश्चयात्। प्रथम-

---

सूत्रका अर्थ होगा। [क्योंकि धर्म और चोदना—दोनों पद आपके मतमें सम्पूर्ण वेदके लक्षक होनेसे पर्याय ही हो गए]। ऐसा अर्थ होनेपर लक्ष्य और लक्षणमें ऐक्य हो जायगा। [लक्ष्य और लक्षणका ऐक्य होनेसे लक्षण करना ही व्यर्थ होता है। घटका लक्षण कम्बुग्रीवादिरूप ही होता है न कि घट ही।] यदि चोदनासे अतिरिक्त वेदभागकी सत्ता मानते हो, तो हम पूछते हैं कि वह अतिरिक्त वेदभाग अर्थवान् है ? या निरर्थक है ? यदि सार्थक है, तो चोदना—लिङाद्यर्थ—का प्रमेय अर्थ चोदनासे भिन्न भागका अर्थ-प्रमेय-कैसे हो सकता है ? [वेदके दो भाग हैं—एक चोदनात्मक और दूसरा उससे भिन्न। इस दशामें चोदनाभागका जो अर्थ है, उसे इतरभागके अर्थसे भिन्न ही होना चाहिए, एक नहीं, अन्यथा भेद नहीं बन सकेगा।] उस इतरभागके निरर्थक माननेमें भी चोदनात्मक अर्थ सार्थक और निरर्थक दोनों वेदभागोंका अर्थ कैसे हो सकता है ? [अर्थशून्य भागका चोदनारूप अर्थ कैसे हो सकता हैं ? उसका चोदनारूप अर्थ कहना व्याघातदोषसे ग्रस्त है।] इसलिए तुमको—प्रभाकरमतानुयायीको—चोदनापदकी सम्पूर्ण वेदमें लक्षणा मानना दुर्वार हो जायगा। [इस सम्पूर्ण वेदरूप अर्थमें चोदनापदकी लक्षणा करनेसे चोदना और अर्थ—इन दोनों पदोंका सार्थक्य नहीं हो सकता।] इनके अतिरिक्त तीसरा दोष भी दिखलाते हैं—तुमको—गुरुमतानुयायीको—अधिकरणकी रचना इस प्रकार करनी होगी—क्या वेदार्थ चोदनास्वरूप है अथवा अर्थवादादिस्वरूप है ? इस प्रकार संशय उत्पन्न होनेपर वेदार्थ अर्थवादादिस्वरूप नहीं है, किन्तु चोदना-प्रेरणा-स्वरूप है। [इस प्रकारके निर्णयमें सूत्रका तात्पर्य होगा।] परन्तु उक्त तात्पर्यवाली आपकी कल्पित रचना उपपन्न नहीं हो

सूत्रेऽध्ययनविधिप्रयुक्ताप्रामाण्यनिराकरणेऽपि पौरुषेयत्वादिप्रयुक्ताप्रामाण्यमनिराकृतम्। अन्यथोत्तरसूत्रसन्दर्भस्य प्रामाण्यप्रतिपादकस्य वैयर्थ्यापातात्। न च दृढीकरणाय पुनः प्रतिपादनमिति वाच्यम्, अदार्ढ्यशङ्काया अभावात्। वेदप्रामाण्यस्याऽपि वेदार्थान्तःपातित्वात् सूत्रसन्दर्भेण प्रतिपादनमिति चेद्, न; तथा सति प्रामाण्यस्य सिद्धरूपतया वेदस्य कार्यैकनिष्ठत्वहानिप्रसङ्गात्। तर्हि प्रथमसूत्रमेव प्रामाण्यं साधयति, नाऽन्यः सूत्रसन्दर्भ इति चेद्, न; भाष्यविरोधात्। भाष्यकारो हि द्वितीयाध्यायमारभमाणो वृत्तं प्रमाणलक्षणमित्यनुवदन् प्रथमाध्यायेन वेदस्य प्रामाण्यमेव साधितं दर्शयति— किं चोदनालक्षणो वेदार्थो नाऽर्थवादादिलक्षण इति। अयमेव यद्यस्य सूत्र-

---

सकती, क्योंकि वेदके प्रामाण्यसमर्थनके पूर्व उसके समर्थक होनेका निश्चय नहीं हो सकता। यद्यपि प्रथम सूत्रमें अध्ययनविधिसे वेदके अप्रामाण्यका निराकरण हो जाता है [यदि वेद विवक्षितार्थ नहीं है, तो उसका अध्ययनविधान निष्प्रयोजन हो जाता है, इत्यादि अनेक युक्तियोंसे वेदके सार्थक्यका पहले ही प्रतिपादन कर आए हैं।] तथापि पुरुषप्रणीत होनेसे प्राप्त हुआ अप्रामाण्य तो निराकृत नहीं हुआ। अन्यथा—यदि सर्वविध अप्रामाण्यका निराकरण हो गया होता—वेदोंके प्रामाण्यका प्रतिपादक द्वितीय सूत्रका सन्दर्भ व्यर्थ हो जायगा। [वेदोंकी अध्ययनविधि द्वारा प्राप्त प्रामाण्यको] दृढ करनेके लिए ही पुनः प्रतिपादन किया गया है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि अदृढ़ होनेकी आशङ्का ही नहीं है।

शङ्का—वेदोंका प्रामाण्य भी वेदोंकी अर्थकोटिमें ही आ जाता है, इसलिए सूत्रसन्दर्भसे उसका प्रतिपादन किया गया है।

समाधान—ऐसा नहीं मान सकते, कारण कि इस प्रकार माननेसे प्रामाण्य सिद्धरूप हो जायगा, अतः वेदोंका तात्पर्य केवल कार्यमें ही है, इस प्रकारके आपके सम्मत नियमकी हानिका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि कहो कि तब तो प्रथम सूत्र ही प्रामाण्यकी सिद्धि करता है, दूसरा सूत्रसन्दर्भ नहीं, तो ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा माननेमें भाष्यसे विरोध आता है। भाष्यकारने द्वितीयाध्यायको प्रारम्भ करते हुए प्रथम अध्यायसे वेदका प्रामाण्य ही सिद्ध किया है, उसे दिखाते हैं—क्या चोदनास्वरूप ही वेदार्थ है ? अर्थवादादिस्वरूप नहीं

स्याऽर्थस्तदाऽर्थवादमन्त्राधिकरणानारम्भः प्रसज्येत। अस्मिन्नेव सूत्रे मन्त्रार्थवादयोर्धर्मप्रमापकत्वनिराकरणात्। स्तावकत्वादिनाऽन्यप्रकारप्रतिपादनार्थस्तदधिकरणारम्भ इति चेद्, न; अत्रैव धर्मप्रमापकत्वनिराकरणे तत्र धर्मप्रतिपादकत्वलक्षणपूर्वपक्षस्याऽनुदयात्। तदेवं प्रथमद्वितीयसूत्रपर्यालोचनया कार्यनिष्ठो वेदभागो विचार्यतया प्रक्रान्तो विचारितश्च न वस्तुतत्त्वनिष्ठः। तस्मादगतार्थत्वाद्वस्तुतत्त्वनिष्ठं वेदभागं विचारयितुमुत्तरमीमांसाऽऽरब्धव्येति सिद्धम्।

* इति विवरणप्रमेयसंग्रहे प्रथमसूत्रे द्वितीयवर्णकं समाप्तम् *

है ? यदि यही इस सूत्रका अर्थ होगा, तो अर्थवादमन्त्राधिकरणका प्रारम्भ ही न होगा, क्योंकि इसी सूत्रमें मन्त्र और अर्थवादके धर्मनिश्चायक होनेका खण्डन हो जाता है। स्तावकत्व—स्तुति करनेवाले—आदि अन्य प्रकारसे प्रतिपादन करनेके लिए उस अधिकरणका प्रयोजन है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहीं—इसी प्रथम सूत्रमें ही—धर्मके प्रमापक—निश्चायक—होनेका निराकरण हो जानेसे पुनः उस अधिकरणमें अर्थवाद आदिके धर्मप्रमापक हो जानेकी आशङ्कासे युक्त पूर्वपक्षके उदयका सम्भव ही नहीं हो सकता। इन युक्तियोंसे 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रतथा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस द्वितीय सूत्रकी पर्यालोचनासे—सन्दर्भपूर्वक विचार करनेसे कर्ममें तात्पर्य रखनेवाले वेदभागमें ही विचारविषयत्व प्रक्रमप्राप्त है और उसीका विचार भी किया गया है, वस्तुतत्त्व—सिद्धान्त—का विचार करना पूर्वमीमांसामें प्रक्रमप्राप्त भी नहीं है और उसका उसमें विचार भी नहीं किया गया है। इसलिए पूर्वमीमांसा द्वारा अगतार्थ होनेसे सिद्धवस्तुपरक वेदान्तवाक्योंका विचार करनेके लिए उत्तरमीमांसाका आरम्भ किया जाना चाहिए, यह सिद्ध होता है।

श्री पं० ललिताप्रसादडवरालविरचित विवरणप्रमेयसंग्रह-
भाषानुवादमें प्रथमसूत्रका द्वितीयवर्णक समाप्त।

अथ तृतीयं वर्णकम्

एवं सूत्रस्य तात्पर्याच्छास्त्रारम्भो निरूपितः ।
वर्णकद्वितयेनाऽथ पदव्याख्या निरूप्यते ॥
तात्पर्ये निश्चिते पूर्वं तत्र योजयितुं पदम् ।
सुशकं तेन तात्पर्यं कथितं वर्णकद्वये ॥
तृतीये वर्णके सूत्रपदव्याख्यामुखेन तम् ।
शास्त्रारम्भं दृढीकर्त्तुं पदार्थोऽत्र विचार्यते ॥

अथशब्दस्य चत्वारोऽर्था वृद्धव्यवहारे प्रयोगसामर्थ्यात्प्रसिद्धाः आनन्तर्यमधिकारो मङ्गलाचरणं प्रकृतादर्थादर्थान्तरत्वं च । तत्रेतरपर्युदासेनाऽऽनन्तर्यमथशब्देनोपादीयते । तच्च जिज्ञासापदस्याऽवयवार्थस्वीकारे लभ्यते । तत्राऽधिकारो नाम प्रारम्भः । नहि ब्रह्मज्ञानेच्छा कर्त्तव्यतया प्रतिपाद्यतया वा प्रारब्धुं शक्या, इच्छाया विषयसौन्दर्यमात्रजन्यत्वात्प्रत्य-

---

तृतीय वर्णक

उक्त रीतिसे सूत्रके तात्पर्यका निश्चय कर द्वितीय वर्णकमें वेदान्तशास्त्रारम्भका विस्तारपूर्वक उपपादन किया गया, अब 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रके प्रत्येक पदकी व्याख्या करेंगे। पहले सूत्रके तात्पर्यका परिज्ञान होनेपर ही उसके पदोंकी ठीक-ठीक योजना हो सकती है, इसीलिए प्रथम दो वर्णकोंसे हमने सूत्रके तात्पर्यका सविशेष निरूपण किया है। अब तृतीय वर्णकमें जिज्ञासासूत्रमें कहे गये पदोंकी व्याख्या द्वारा वेदान्तशास्त्रके प्रारम्भको पुनः दृढ़ करनेके लिए पदोंके अर्थोंका विचार करते हैं।

व्यवहारमें वृद्धोंके प्रयोगकी सामर्थ्यसे अथशब्दके चार अर्थ प्रसिद्ध हैं— आनन्तर्य, अधिकार, मङ्गलाचरण और प्रकृत अर्थसे अर्थान्तर। उक्त चार अर्थोंमें से अन्य सब अर्थोंको छोड़ कर प्रकृतमें केवल आनन्तर्य ही अथशब्दका अर्थ लेना चाहिए। और यह जिज्ञासाशब्दके अवयवार्थका अङ्गीकार करनेसे अनायास ही लब्ध होता है। [जब जिज्ञासाशब्दको अवयवार्थक अर्थात् 'ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानेच्छावाचक मानेंगे, तब अथशब्दका अधिकार अर्थ हो नहीं सकता, क्योंकि] अधिकारशब्दका अर्थ है—प्रारम्भ। इच्छाका उत्पाद्यत्वरूपसे या प्रतिपाद्यत्वरूपसे हम लोग प्रारम्भ नहीं कर सकते, क्योंकि

धिकरणमप्रतिपाद्यमानत्वाच्च ।

ननु जिज्ञासाशब्दो विचारे रूढः । भाष्यकारादिभिस्तत्र विचार-विवक्षया प्रयुक्तत्वात् । अतो 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायेनाऽवयवार्थस्वीकारो न युक्तस्ततोऽथशब्दोऽप्यधिकारार्थो भविष्यतीति विचारस्य प्रारब्धुं शक्यत्वादिति चेद्, मैवम् ; रूढिर्योगमपहरतीति न्यायस्याऽत्राऽप्रसरात् । तथाहि—द्विविधा तावच्छब्दवृत्तिर्मुख्यामुख्यभेदात् । तत्र रूढिर्योगश्चेति द्वयं मुख्यम्, लक्षणा गौणवृत्तिश्चेति द्वयममुख्यम् । अवयवार्थमनपेक्ष्य वृद्धप्रयोगमात्रेण व्युत्पाद्यमाना अश्वगजादिशब्दा रूढाः । अवयवार्थद्वारा

वह केवल विषयके सौन्दर्यसे अपने-आप उत्पन्न हो जाती है एवं इस वेदान्त-शास्त्रके प्रत्येक अधिकरणमें उसका प्रतिपादन भी नहीं मिलता ।

शङ्का—जिज्ञासाशब्द विचाररूप अर्थमें रूढ़ है, इसीसे भगवान् भाष्यकार आदिने तत्-तत् स्थलोंमें विचाररूप अर्थकी विवक्षासे उक्त शब्दका प्रयोग किया है, अतः 'रूढिर्योगमपहरति' इस न्यायसे जिज्ञासाशब्दको अवयवार्थ-परक मानना युक्त नहीं है । इस परिस्थितिमें अथशब्द अधिकारार्थक भी हो सकता है, क्योंकि विचारका प्रत्येक अधिकरणमें प्रारम्भ है ही ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि 'रूढि योगार्थका अपहार करती है' इस न्यायका यहांपर प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि मुख्य और अमुख्य इस प्रकार शब्दकी दो वृत्तियां होती हैं । इनमें रूढि और योग—ये दोनों मुख्य वृत्तियाँ हैं और लक्षणा तथा गौणी—ये दोनों अमुख्य वृत्तियाँ हैं । अवयवोंके अर्थकी अपेक्षा न रखकर केवल वृद्धोंके व्यवहारमात्रसे व्युत्पाद्यमान[1] अश्व—घोड़ा, गज—हाथी आदि शब्द रूढ़ कहे जाते हैं । और अवयवार्थ द्वारा विशिष्ट अर्थका अभिधान करनेवाले

---

(१) जिज्ञासुको तत्-तत् पदोंका अर्थबोध करानेके लिए जिसका आश्रय लिया जाता है, उसको व्युत्पत्ति कहते हैं । और वे सब पद व्युत्पत्तिके विषय होनेसे व्युत्पाद्यमान होते हैं । अश्व तथा गज आदि पदोंका अर्थबोध करानेके लिए 'पचतीति पाचकः' या 'रसोई करनेवाला रसोइया' इस भाँति प्रकृति प्रत्ययार्थरूप अवयवार्थके दिखानेका सहारा नहीं लिया जाता, केवल अंगुलीका निर्देश करके दिखा दिया जाता है कि इस वस्तुको वृद्ध लोग घोड़ा और इसको हाथी कहते हैं । इस प्रकार वृद्धव्यवहारका ही सहारा लिया जाता हैं । इस भाँति अश्व, गज आदि शब्द वृद्धव्यवहारसे ही व्युत्पाद्यमान होते हैं ।

विशिष्टार्थाभिधायिनश्चतुराननकमलासनादिशब्दा यौगिकाः ।

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥'

इत्युक्तत्वादभिधेयाविनाभूततीरप्रत्यायको गङ्गाशब्दो लाक्षणिकः। शौर्यादिगुणयोगाद्देवदत्ते प्रयुज्यमानः सिंहशब्दो गौणः ।

न च पङ्कजादिशब्देषु योगरूढ्याख्या पञ्चमी शब्दवृत्तिरस्तीति शङ्कनीयम्, तत्र रूढिकल्पने प्रयोजनाभावात् । तामरसे व्यवहारबाहुल्या-

---

चतुरानन[1], कमलासन आदि शब्द यौगिक कहलाते हैं । 'मुख्य अर्थके सम्बन्ध[2]की प्रतीतिको लक्षणा कहते हैं । और गुणोंके सम्बन्धसे जहां अर्थकी प्रतीति होती है, ऐसे स्थलोंमें गौणी वृत्ति मानी जाती है' । इस अभियुक्तोंके बचनके अनुसार मुख्य—प्रवाहरूप—अर्थसे नित्य सम्बन्ध रखनेवाले तीरकी प्रतीति करानेवाले 'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोगमें गङ्गाशब्द लाक्षणिक है और ['सिंहो देवदत्तः' इस प्रयोगमें] शौर्य आदि गुणोंके सम्बन्धसे देवदत्त नामक पुरुषरूप अर्थमें प्रयोग किया गया सिंहशब्द गौण है ।

पङ्कजादिशब्दोंमें योगरूढि[3]नामक पांचवीं शब्दवृत्ति माननेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, कारण कि पङ्कजादि स्थलमें रूढि माननेका कोई प्रयोजन नहीं है । तामरस[4] अर्थात् सूर्यविकासी कमलसामान्यमें ही पङ्कजपदका अधिक प्रयोग होता है, इससे उत्पल[5] आदि—कमलविशेषकी व्यावृत्ति सिद्ध हो जायगी । और

---

(१) चत्वारि आननानि यस्य, अर्थात् चार मुख जिसके हैं, इस बहुव्रीहि समासके बलसे 'चतुर्' और 'आनन' दोनों अवयवोंका 'चार' और 'मुख' अर्थको लेते हुए विशिष्ट ब्रह्माका बोध हुआ, एवं कमल और आसन इन अवयवोंसे बने हुए कमलासन पदमें भी समझना चाहिए ।

(२) यहांपर अविनाभाव पदका व्याप्तिरूप विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है, किन्तु सम्बन्धमात्र अर्थ है ।

(३) पङ्कजका अवयवार्थ है, जो कीचड़में पैदा हो । कीचड़में तो सेवाल आदि भी होते हैं । परन्तु पङ्कज केवल कमलको ही कहते हैं । यह नियन्त्रण रूढ़िने किया और स्थलकमल भी पङ्कज नहीं कहा जा सकता, यह नियम योगार्थने किया । इस प्रकार पङ्कजादि शब्दोंमें योग और रूढि दोनोंसे मिश्रित पांचवीं वृत्ति मानी जाती है ।

(४) 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यादि अमरकोशमें पङ्कजका पर्याय पङ्केरुह सूर्यविकासी कमल-सामान्यके नामोंमें आया है ।

(५) 'स्यादुत्पलं कुवलयम्' इस अमरकोशसे चन्द्रविकासी कमलको उत्पल कहते हैं । और कभी कभी नीलादि विशेषण देनेसे या प्रसिद्धिसे नीलकमलको उत्पल कहते हैं ।

दप्युत्पलादिव्यावृत्तिसिद्धेः। दृश्यते ह्यनेकार्थस्याऽपि गोशब्दस्य प्रयोगबाहुल्यात् सास्नादिमद्व्यक्तौ प्रथमप्रतिपत्तिः। ततश्चतस्र एव शब्दवृत्तयः। तत्र यः शब्द एकत्राऽर्थे रूढोऽपरत्र यौगिको यथा छागे रूढोऽजशब्द आत्मनि यौगिकस्तत्राऽजं पश्येत्युक्ते रूढिर्योगमपहरतीति न्यायः प्रसरति। इह तु जिज्ञासाशब्दो न विचारे रूढः। ज्ञानेच्छालक्षणाद्यौगिकार्थाद्विचारस्याऽत्यन्तपार्थक्याभावात्। नहि ज्ञानेच्छामात्रं जिज्ञासाशब्दार्थः, किन्तु विचारसाध्यज्ञानविषयेच्छा। ज्ञानं खल्विष्यमाणं विषयेण सहाऽवगतमिष्यते, अनवगते विषये इच्छायोगात्।

देखा भी जाता है कि गोशब्दके अनेक[1] अर्थ हैं, परन्तु गोशब्दसे श्रवण करते ही [प्रकरण आदि अर्थनिश्चायकोंकी अपेक्षाके बिना ही] गलकम्बल और लम्बी पूँछ आदिसे युक्त चतुष्पाद पशु 'गौ' रूप ही अर्थका बोध होता है। कारण कि उक्त पशु गाय या बैलके बोध करानेमें ही गौ शब्दका अधिक प्रयोग होता है। [अतः पङ्कजपद भी अधिक प्रयोग होनेसे कुवलय आदिकी व्यावृत्ति करा देगा, इसके लिए पांचवीं वृत्ति मानना व्यर्थ है] इस कारण शब्दकी चार ही वृत्तियाँ हैं। ऐसी दशामें जो शब्द एक अर्थमें रूढ है और दूसरे अर्थमें यौगिक है, जैसे अजशब्द बकरारूप अर्थमें रूढ है और वही अज शब्द आत्मामें ('न जायते' जिसका जन्म नहीं होता, योग द्वारा) यौगिक है, ऐसे स्थलमें 'अजको देखो' ऐसा वाक्य कहनेसे 'रूढि योगका अपहार करती है' इस न्यायका अवसर आता है। प्रकृतमें जिज्ञासापद विचाररूप अर्थमें रूढ [केवल वृद्धव्यवहारव्युत्पाद्य] नहीं है। ज्ञानकी इच्छारूप यौगिक अर्थकी अपेक्षा विचाररूप अर्थ अत्यन्त भिन्न नहीं है [अर्थात् ज्ञानकी इच्छा और विचार—ये दोनों रात-दिनकी भाँति परस्पर भिन्नार्थ नहीं हैं] कारण कि ज्ञानकी केवल इच्छा यहांपर जिज्ञासापदका अर्थ नहीं है, किन्तु विचारसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके विषयकी इच्छा है, क्योंकि इच्छाके विषय—अभीष्ट—ज्ञानको उसके विषयके साथ ही जानना इष्ट है। ज्ञानके विषयके ज्ञात न होनेपर इच्छाका होना सम्भव नहीं है।

(१) "गौः स्वर्गे च बलीवर्दे रश्मौ च कुलिशे पुमान्।
स्त्री सौरभेयी दृग्बाणदिग्वाग्भूष्वप्सु भूम्नि च॥"

ततश्च प्रतिपन्ने वस्तुनि ज्ञानमिष्यमाणं संदिग्धे निश्चयफलं परोक्षेऽपरोक्षफलं वेष्यते । तच्चोभयं प्रमाणादिविचारप्रयत्नसाध्यमिति प्रतिपन्ने वस्तुनि विशिष्टज्ञानमिष्यमाणमविनाभावेन प्रमाणादिविचारं गमयति । ततो भाष्यकारादिभिर्जिज्ञासाशब्दो लक्षणया विचारे प्रयुक्तो न तु रूढ्या, येनाऽत्रोक्तन्यायः प्रसरेत् ।

ननु शब्दत इच्छायाः प्राधान्येऽपि नेच्छामात्रं सूत्रेण प्रतिपाद्यते, प्रयोजनाभावात् किन्तु इष्यमाणज्ञानप्रदर्शनमुखेन तत्साधनं विचारमन्तर्णीतश्रुतिमुपलक्ष्य स एव तात्पर्येण प्रतिपाद्यते । अतोऽर्थतः प्रधानानां

ज्ञात वस्तुके ज्ञानकी इच्छाका प्रयोजन दिखलाते हैं—ज्ञात हुई वस्तुमें ज्ञानकी इच्छा होना सन्देहस्थलमें निश्चयात्मक ज्ञानरूप फलके लिए है और परोक्षस्थलमें साक्षात्काररूप फलके लिए है । ये दोनों फल प्रमाण आदि विचारविषयक प्रयत्नसे ही सिद्ध हो सकते हैं, इस रीतिसे ज्ञात वस्तुमें इच्छाका विषय हुआ विशिष्ट ज्ञान अविनाभाव द्वारा प्रमाण आदिके विचारका बोध कराता है । इसलिए भाष्यकारादिने जिज्ञासा शब्दका लक्षणाके द्वारा विचाररूप अर्थमें प्रयोग किया है, रूढिके द्वारा नहीं, जिससे उक्त 'रूढि योगार्थका अपहार करती है' न्यायका अवसर आ सके ।

शङ्का—शब्द द्वारा इच्छाका प्राधान्य[1] होनेपर भी इच्छाका ही सूत्रसे प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि इसमें कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु इच्छाके विषयभूत ज्ञानके द्वारा उस ज्ञानके साधनीभूत अन्तर्णीत[2] विचारको उपलक्ष्य करके उसीका तात्पर्य द्वारा प्रतिपादन किया जाता है । इसलिए अर्थसे प्राप्त प्रधानीभूत विचार, ज्ञान और ब्रह्म इनमें से किसी भी एकके प्रतिपादनमें

इस मेदनी कोशके अनुसार गो शब्दके अर्थ स्वर्ग, बैल, किरण, वज्र, गाय, दृष्टि, बाण, दिशा, वाणी, पृथ्वी, जल ग्यारह है । इनमें प्रथम अर्थोंमें पुल्लिङ्ग हैं और शेषमें स्त्रीलिङ्ग ।

(१) प्रकृति और प्रत्ययार्थमें प्रत्ययार्थका ही प्राधान्य होता है, इस व्युत्पत्तिके बलसे जिज्ञासापदमें इच्छाको ही शब्दप्राधान्य है ।

(२) आपाततः ज्ञात ब्रह्मके ज्ञानकी इच्छा निश्चयरूप या साक्षात्काररूप फलके लिए होती हुई प्रमाणादि विचारमें पर्यवसित होती है, अतः जिज्ञासापदसे शब्दतः विचारका बोध न होते हुए भी अर्थतः विचारका बोध होता है । अतः विचाररूप अर्थ जिज्ञासापदसे अन्तर्णीत गृहीत है ।

विचारज्ञानब्रह्मणामन्यतमस्य तात्पर्येण प्रतिपाद्यस्याऽऽरम्भायाऽथशब्द इति चेद्; मैवम्। तथा सत्यथशब्देनाऽऽनन्तर्याभिधानमुखेन शास्त्रीयसाधनचतुष्टयसंपन्नस्याऽधिकारिविशेषस्य न्यायतः समर्पणाभावात् कर्त्तव्यतया विधीयमानो विचारो निरधिकारोऽननुष्ठेयः स्यात्। न च विचारविधिरेव विश्व-

(सूत्रका) तात्पर्य मानकर [सूत्रमें] आरम्भवाची अथशब्द है। [यद्यपि जिज्ञासापदसे शब्दतः इच्छाका प्राधान्य है, उसका अधिकारप्रारम्भ सम्भव नहीं, तथापि अर्थतः विचारादिका ही प्राधान्य है, इसलिए अर्थतः प्रधान विचारका प्रारम्भ करना सम्भव है और विचारादिका प्रतिपादन प्रत्येक अधिकरणमें किया भी गया है, यह तात्पर्य है]।

समाधान—ऐसा मानना उचित नहीं है, कारण कि अथशब्दका आपका सम्मत अधिकाररूप अर्थ माना जाय, तो अथशब्द द्वारा आनन्तर्यरूप अर्थका बोधन करनेसे शास्त्रप्रतिपादित साधनचतुष्टयकी सम्पत्ति—उत्कर्ष—युक्त अधिकारिविशेषका न्यायसे [शब्दार्थ द्वारा] बोध नहीं हो सकता। इसलिए कर्तव्य मानकर विहित विचार अधिकारके बिना अनुष्ठानके योग्य नहीं हो सकता।

[हमारे मतमें अथशब्दसे आनन्तर्यरूप अर्थमें तात्पर्यका प्रतिपादन करनेसे शम, दम आदि साधनचतुष्टयसम्पन्न ही विचारका अधिकारी है, यह प्रतिपादित होता है। अतः अधिकारयुक्तके लिए ही विहितका अनुष्ठान संगत होता है।] यह भी

(१) 'नित्याऽनित्यविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च' नित्य—आत्मा—अनित्य देहेन्द्रियादि विषय अर्थात् दृश्य, इनका तथा इनके धर्मोंका विवेकज्ञान। इस लोकमें तथा परलोकमें भी प्राप्य विषयभोगसे विरक्ति। शम—विरक्तिका मूल साधन मनका विजय है, जिससे पाप-पुण्योंकी उत्पन्न करनेवाली फलभावनासे होनेवाली प्रवृत्तियां शान्त हो जाती हैं। इसके कारण ही पुरुष जितेन्द्रिय तथा वशी कहलाता है। और वशमें आये हुए मनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मतत्त्वके साक्षात्कार करनेमें योग्यता प्राप्त करना दम है। आदि पदसे विषयोंसे जनित सुख, दुःख, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे उद्वेग न होना तितिक्षा है, जैसे कि भगवान्ने गीतामें कहा है 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥' तथा वैराग्य, भोगेच्छासे विमुखता एवम् ब्रह्मतत्त्वमें श्रद्धा रखना, श्रुति कहती है 'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्, 'सर्वमात्मनि पश्यति' और मोक्षकी इच्छा करना। इन चारोंके उत्कर्षवालेको ही शास्त्र अधिकारी कहता है।

जिन्न्यायेनाऽधिकारिविशेषं कल्पयित्वा प्रवृत्तिपर्यन्तो भविष्यति किमानन्तर्यार्थेनाऽथशब्देनेति वाच्यम्, कर्त्तव्यतयाऽवगतो विचारः प्रारम्भमर्थाद्गमयति किं विचारप्रारम्भार्थेनाऽथशब्देनेत्यपि सुवचत्वात्। तर्हि विधिसामर्थ्यादुभयप्राप्तौ कस्तत्र निर्णय इति चेद्; विध्यपेक्षितोपाधित्वादानन्तर्याभिधानमुखेनाऽधिकारिसमर्पणमेव युक्तमिति ब्रूमः। यद्यथशब्देन विशिष्टाधिकारिणं मुखतोऽसमर्प्य विश्वजिन्न्यायेन तं कल्पयसि तदा विचारविध्यन्यथानुपपत्त्या सामान्यतस्त्रैवर्णिकाधिकारं प्रसक्तं कृत्वा पुनस्तन्निषेधेन मोक्षकामाधिकारः कल्पनीय इति गौरवं स्यात्। ततो वरमथशब्देनैव विशिष्टाधिकारिसमर्पणम्।

कहना संगत नहीं होता कि विचारका विधान करना ही विश्वजिन्न्यायसे अधिकारिविशेषकी कल्पना करके स्वयं प्रवृत्तिपरक हो जायगा। इसके लिए अथ शब्दको आनन्तर्यार्थक माननेकी आवश्यकता ही क्या है? कारण कि कर्तव्यरूपसे समझा गया विचार—विवेक—प्रारम्भरूप अर्थका अर्थात् बोध करा देता है। प्रारम्भार्थक अथशब्द रखनेकी आवश्यकता ही क्या है? प्रतिवादीका ऐसा भी कहना सरल और सम्भव है। यदि विधिसामर्थ्यसे प्रवृत्ति—अनुष्ठान—और विचारविधिसामर्थ्यसे ही प्रारम्भरूप अर्थ दोनों सम्भव हैं, तो इनमें से किस अर्थका निर्णय किया जाय, ऐसी शङ्का होती है। उत्तरमें कहेंगे कि विधिसे अपेक्षित उपाधि—हेतु—बलसे आनन्तर्यरूप अर्थका बोध करा कर अधिकारीका उपस्थान करना ही युक्तिसङ्गत है।

विपक्षमें बाधक दिखलाते हैं—यदि अथशब्द द्वारा साक्षात् विशिष्ट—साधनचतुष्टयसम्पन्न—अधिकारीका समर्पण न करके विश्वजिन्न्यायसे अधिकारीकी कल्पना करो, तो विचारविधिकी अन्यथा अनुपपत्तिसे सामान्यतः तीन—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—वर्णोंके अधिकारकी प्रसक्ति करनेके अनन्तर [अतिप्रसङ्गका वारण करनेके लिए] निषेध वचन करना होगा, मोक्षकी इच्छा रखनेवालेको ही वेदान्तविचारमें अधिकारकी कल्पना करनी होगी, इस प्रकार गौरव होगा। इसलिए—उक्त गौरवसे छुटकारा पानेके लिए—अथशब्दसे ही विशिष्ट अधिकारीका समर्पण करना उचित है।

ननु विधिप्रतिपत्तिविशिष्टाधिकारिप्रतिपत्त्योः कालभेदे सत्युक्तदोषो भवति। नेह कालभेदः। किन्तु रात्रिसत्रन्यायेनाऽर्थवादगतं मोक्षं ब्रह्मज्ञानं वा फलत्वेन परिणमय्य मोक्षकामो ब्रह्मज्ञानकामो वा विचारयेदिति विधिप्रतिपत्तिसमयेऽधिकारिविशिष्टविधिः प्रतीयते; ततो न प्रसज्य-प्रतिषेधरूपं गौरवमिति चेत्, तत्रेदं वक्तव्यम्—किं विशिष्टाधिकारं विचार-शास्त्रम् उत त्रैवर्णिकमात्राधिकारमिति? आद्ये प्रतीतो विधिरुत्सर्ग-तस्त्रैवर्णिकसम्बन्धी पश्चादर्थवादबलात् त्रैवर्णिकविशेषमोक्षकामसम्बन्धीति

शङ्का—विधिके बोध और विशिष्ट अधिकारीके बोधमें जहां कालभेद होता है [अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न कालमें होते हैं] वहींपर उक्त गौरवरूप दोष आता है। प्रकृतमें कोई कालभेद नहीं है, किन्तु रात्रिसत्रन्यायसे अर्थवादसे अवगत मोक्ष या ब्रह्मज्ञानका फलरूपसे परिणाम करके (अर्थात् फल मानकर) मोक्षकी कामनावाले अथवा ब्रह्मज्ञानार्थीको विचार करना चाहिए, ऐसा विधि-ज्ञानकालमें ही अधिकारिविशिष्ट विधिका ही बोध होता है [निरधिकार विधिका बोध नहीं होता।] इससे (त्रैवर्णिकके अधिकारकी प्रसक्तिका निषेधात्मक) प्रसज्य प्रतिषेधरूप गौरव आनेका अवसर नहीं आता।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि इसमें हमको कहना है कि विचार-शास्त्रमें विशिष्टका ही अधिकार है? अथवा तीनों वर्णमात्रका ही अधिकार है? यदि दोनों विकल्पोंमें प्रथम विकल्प माना जाय, तो सूत्र द्वारा प्रतीत हुआ विधान सामान्यतः (वेदाधिकारी होनेसे) तीनों वर्णोंके लिए है, ऐसा प्रतीत होनेके अनन्तर अर्थवादकी सामर्थ्यसे तीनों वर्णोंमें विशिष्ट व्यक्ति जो

---

(१) रात्रिसत्रन्याय 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एतेयएता रात्रीरुपयन्ति' इस रात्रिसत्र—'आयु-र्ज्योतिः' इत्यादि वाक्योंसे प्रतिपादित सोमयागविशेषके प्रतिपादक वाक्यमें 'अमुक इच्छासे करे' ऐसा अधिकारका श्रवण नहीं है, इसलिए अविशेषरूपसे स्वर्ग सबका ही अभीष्ट होनेसे स्वर्गकामीका अधिकार निःसन्देह प्राप्त होता है, अन्यथा विधिवैयर्थ्य होता है। वाक्यशेष द्वारा फलकल्पना सन्देहस्थलमें मानी जाती है, 'प्रतिष्ठन्ति' पदश्रुति भी लक्षणाके द्वारा स्वर्ग-परक ही हैं, इस पूर्वपक्षके उत्तरमें जैमनि अधिकरणमालाके चतुर्थ अध्यायके 'फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्' १८वें सूत्रसे निर्णय किया गया कि 'प्रतितिष्ठन्ति' पदश्रुतिसे प्रतिष्ठा-कामका ही अधिकार श्रुतिसिद्ध है। श्रुतिसिद्ध न होनेसे ही अश्रुतका अनुमान होता है। एवम् श्रौत प्रतिष्ठारूप फलसे ही विधि चरितार्थ हो जाती है। वैसे ही प्रकृतमें अर्थवाद गत श्रौत फल मानना उचित है।

कालभेदेन प्रतिपत्तेरुक्तदोषो दुर्वारः। ननु त्वत्पक्षेऽपि विधिबलात् सर्वाधिकारप्रसक्तावथशब्देन विशिष्टाधिकारिसमर्पणात् प्रसज्यप्रतिषेधो दुर्वार इति चेद्, न; श्रवणविधिप्रकरणपठितस्यैव साधनचतुष्टयसंपन्नाधिकारिणोऽथशब्देन न्यायतः समर्पणात्। द्वितीयेऽपि किं फलतः सर्वाधिकारं शास्त्रं किं वा विधितः? नाऽऽद्यः, सर्वेषां ब्रह्मज्ञानलक्षणफलार्थित्वाभावात्। न च वस्तुसुखसाक्षात्काररूपे ब्रह्मज्ञाने किमित्यर्थित्वाभाव इति वाच्यम्,

---

मोक्षार्थी है, उसके ही लिए हैं, ऐसा माननेसे प्रतिपत्तिमें कालभेद आ जाता है अतः उक्त दोष नहीं हटाया जा सकता।

शङ्का—अथशब्दको आनन्तर्यर्थक माननेवाले के मतमें भी विधानकी सामर्थ्यसे सबका ही (अधिकारिमात्रका) अधिकार प्रसक्त होनेपर अथशब्द द्वारा विशिष्ट (मोक्षार्थी) अधिकारीका समर्पण होता है।

समाधान—मेरे मतमें यह दोष नहीं आता, कारण कि श्रवणविधिमें पढ़े गये साधनचतुष्टयसे युक्त अधिकारीका ही अथशब्द द्वारा न्यायत समर्पण किया जाता है।

संकुचिताधिकारयुक्तका ही विधान अथशब्द प्रतीत कराता है, प्रसक्तका निषेध नहीं कराता। द्वितीय कल्प माननेमें भी विकल्पोंका उदय होगा कि क्या फलके द्वारा शास्त्रमें सबका ही अधिकार कहते हो? विचारशास्त्रका ब्रह्मज्ञान या मोक्षरूप फल है, इसके लिए सभी विचारशास्त्रके अधिकारी होंगे? अथवा विधिसामर्थ्यसे? (विधान ही स्वयं सबका अधिकार कहता है?) इनमें प्रथम कल्प नहीं हो सकता, कारण कि सभी ब्रह्मज्ञानरूप फलकी चाह नहीं रखते हैं। वस्तुभूतमें वस्तु पदका देना विशेष अर्थका साधक नहीं, अथवा वस्तुतः पाठ उचित मालूम होता है। (वास्तविक) सुखके साक्षात्कारस्वरूप ब्रह्मज्ञानकी इच्छा नहीं होती, ऐसा क्या असंगत कहा जाता है? अर्थात् सुखको कौन नहीं चाहता? ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि साधारण लोगोंकी दृष्टिमें ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए उसकी इच्छा सर्वसाधारणको नहीं हो सकती। (ब्रह्मज्ञानको पुरुषार्थ न माननेका उपपादन करते हैं—यह निश्चित है कि ब्रह्मज्ञानसे मनका (मनोवृत्तियोंका) विलय हो जाता है, जिसके कारण सम्पूर्ण विषयोंके सम्पर्क (इच्छामें

ब्रह्मज्ञानाद्धि मनसोऽपि वियोगान्निखिलविषयानुषङ्गनिवृत्तिः श्रूयते। सा च सार्वभौमोपक्रमं ब्रह्मलोकावसानमुत्कृष्टोत्कृष्टसुखं श्रूयमाणं सोपायं निवर्तयति; अतो ब्रह्मज्ञानमपुमर्थः, उत्कृष्टसुखनिवर्तकत्वाद्, व्याध्यादिवत्, इति मन्वानो लोको न ब्रह्मज्ञानमर्थयते, प्रत्युत तस्मादुद्विजते। ब्रह्मज्ञानं पुमर्थः, निरतिशयानन्दहेत्वात्, धर्मवत्। तद्धेतुत्वं च श्रुतिसिद्धमिति चेद्, एवमपि दृष्टानन्दोपायान् विषयान् परित्यज्य श्रुतानन्दसाधने ब्रह्मज्ञाने प्रेक्षा न युक्ता। तदुक्तम्—

'अथाऽऽनन्दः श्रुतः साक्षान्मानेनाऽविषयीकृतः।
दृष्टानन्दाभिलाषं स न मन्दीकर्तुमप्यलम् ॥' इति ॥

आना) की निवृत्ति हो जाती है। और वह विषयाभिलाषाकी निवृत्ति अतिशय सुखवाले सार्वभौमसे—भूलोकके साम्राज्यसे—लेकर ब्रह्मलोक तककी इच्छाकी उपायसहित निवृत्ति करा देती है। [अर्थात् जब मनका विलय होनेसे सम्पूर्ण विषयोंका अनुषङ्ग ही निवृत्त हो जाता है तब किसी सुखमात्रा तक पहुँचानेवाले विषयकी प्राप्तिके उपायका अन्वेषण करना नहीं बनता।] इसलिए 'ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ नहीं है, उत्कृष्ट सुखका निवर्तक होनेसे, व्याधि—रोग—आदिके समान। [जैसे रोग सब प्रकारके सुखोंका निवर्तक होनेसे पुरुषार्थ नहीं है वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता।] इस प्रकार सिद्धान्त मानकर सर्वसाधारण लोग ब्रह्मज्ञानको नहीं चाहते, प्रत्युत—उसके विपरीत—उससे भय खाते हैं। उक्त अनुमानके प्रतिकूल ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ है, सबसे उत्कृष्ट आनन्दका कारण होनेसे, धर्मके समान, ऐसा अनुमान करेंगे, ब्रह्मज्ञान उत्कृष्ट सुखका कारण है, यह 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है) इस श्रुतिसे ही सिद्ध है; यदि ऐसा कहो तो, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले आनन्ददायक विषयोंको छोड़कर शब्द द्वारा जाने हुए—सुने हुए—आनन्ददायक ब्रह्मज्ञानमें निश्चयात्मिका बुद्धिका होना युक्तिसङ्गत नहीं है। कहा भी गया है—

'किसी अन्य प्रमाणका विषय न होनेवाला श्रुत आनन्द प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले आनन्दका बाध करनेमें तो क्या न्यून करनेमें भी समर्थ नहीं है।'

शङ्का—सम्पूर्ण विषयोंके सम्पर्कसे होनेवाला आनन्द भी ब्रह्मज्ञानसे ही

ननु निखिलविषयानुषङ्गसाध्य आनन्दो ब्रह्मज्ञानादेव सिध्यतीति नित्यतृप्तये विषयपरित्यागेन ब्रह्मज्ञानमपेक्ष्यतामिति चेत्, न पामराणां विषयविच्छेदिकायां तृप्तावप्युद्वेगदर्शनात्। तथा च मूर्खा वदन्ति—अहो कष्टं किमिति सृष्टिरेवं न बभूव यत्सर्वदैव भोक्तुं सामर्थ्यमतृप्तिर्भोग्यानां चाऽक्षय इति। मोक्षस्तु विषयसुखलेशमपि नाऽर्हतीति तेषामभिमानः। तथा च रागिगीतमुदाहरन्ति—

सिद्ध होता है, [पहले मङ्गलाचरणमें ग्रन्थकार कह आये हैं कि 'स्वमात्रयानन्दयदत्र जन्तून्' अर्थात् विषयानन्दमें मी ब्रह्मानन्दकी ही मात्रा है। श्रुति भी कहती है—उसकी ही आनन्दमात्राके सहारे अन्यत्र भी आनन्द है। अतः मूल आनन्दके ज्ञानसे नित्य आनन्द अर्थात् पूर्ण तृप्ति होती है] अतः नित्य तृप्तिके लिए विषयका परित्याग कर ब्रह्मज्ञानकी ही अपेक्षा करो।

समाधान—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि सर्वसाधारण अविवेकी पुरुषोंको तृप्ति होनेपर विषयका विनाश होनेसे, उद्वेग—विकलता—अर्थात् अरुचि देखी जाती है। [विवेकशून्योंका व्यवहार दिखलाते हैं—] मूर्ख—विचाररहित—पुरुष कहा करते हैं कि अहो ? बड़ा दुःख है कि सृष्टि ऐसी क्यों नहीं हुई कि भोग करनेकी सामर्थ्य सदैव बनी रहती और अतृप्ति तथा भोग करनेकी सामग्रीका विनाश न होता। [विषयाभिलाषी लोगोंको स्रक्, वनिता आदि विषय रहते हुए भी वार्द्धक्य अथवा रोगादिके कारण सामर्थ्यके क्षीण होनेपर पश्चात्ताप होता है कि विधाताने यह क्या किया कि हमारी भोगशक्ति पूर्ववत् न रही, अब हमारे ये विषय किस कामके हैं ? एवं भोगसामर्थ्य भी है और भोग भी है, परन्तु भोगके अनन्तर ही क्षणिक तृप्ति हो जानेके कारण तुरत अरुचि हो जानेसे खेद होता है कि अतृप्ति ही बनी रहती, तो ऐसा सुन्दर विषय क्यों छोड़ा जाता ? बराबर ही भोग किया करते तथा क्षणान्तरमें पुनः अतृप्ति हो जानेसे भोगाभिलाषमें प्रवृत्त हुए प्राणीने देखा तो विषय ही समाप्त। बस, सृष्टिके इन तीनों गुणोंसे भिन्न होनेके लिए विषयियोंका पूर्वोक्त आक्रोश है।] मोक्ष तो विषयसुखके अंशको भी नहीं पा सकता, इस प्रकार उनका अभिमान है। इस अभिप्रायसे रागियोंके गीतका उदाहरण देते हैं—

'अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ! ।।' इति ।

नन्वस्तु तर्हि विधितः सर्वाधिकारं शास्त्रमिति द्वितीयः पक्षः । दृष्टफलो ह्ययमध्ययनविधिर्यावदर्थावबोधं व्याप्रियमाणः फलनिष्पत्तये विचारमप्यनुष्ठापयति । तथा चाऽध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकाधिकारत्वात् तत्प्रयोजनस्य विचारस्याऽपि तथात्वं युक्तम् । यद्यपि न विचारोऽध्ययनविधेर्विषयः, पाठमात्रस्यैव धात्वर्थत्वाद् । नाऽपि तदुपकारी, विचारमन्तरेणाऽपि पाठनिष्पत्तेः; तथाऽपि अध्ययनविधेः फलपर्यन्तत्वसिद्धये विचारस्य तद्विधिप्रयोज्यत्वं भविष्यति । यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यत्र सकृदवघातमात्रेण

हे गौतम ! वह विषयरागी पुरुष शून्य वृन्दावनके जंगलोंमें सियार होना चाहता है, परन्तु विषयहीन मोक्षको कभी भी नहीं चाहता ।

शङ्का—यदि प्रथम पक्ष—मोक्ष या ब्रह्मज्ञानरूप फलके कारण विचारशास्त्रमें सबका अधिकार मानना—युक्तिसङ्गत न हो, तो द्वितीय पक्ष—विधिसामर्थ्यसे ही सबका अधिकार प्राप्त होना—मानो, क्योंकि अर्थज्ञानरूप फलवाला अध्ययनविधान अर्थज्ञान कराने तक अपना व्यापार करता हुआ 'ब्रह्मज्ञान या मोक्षरूप' फलकी सिद्धिके लिए विचारका भी अनुष्ठान करा देता है । इसलिए अध्ययनविधिमें तीनों वर्णोंका अधिकार होनेसे विचारशास्त्रमें भी सभी अधिकारियोंका अधिकार प्राप्त होना युक्तिसंगत होता है । यद्यपि विचार न अध्ययनका विषय है, क्योंकि पढ़ना—पाठमात्र करना—ही 'इङ् अध्ययने' धातुका अर्थ है, और न उसका—पढ़नेका—उपकारी ही है, क्योंकि विचार किए बिना भी पाठ हो सकता है; तथापि अध्ययनविधानकी फलपर्यन्त सिद्धिके लिए विचार अध्ययनविधिका प्रयोज्य माना ही जायगा । [तात्पर्य यह है कि यदि अध्ययनसे ब्रह्मज्ञान या मोक्ष न होगा, तो अध्ययन व्यर्थ हो जायगा और ब्रह्मज्ञान तभी हो सकता है, जब विचार किया जाय, इसलिए अध्ययनको सफल करनेके लिए अध्ययनविधान ही विचारकी भी सिद्धि करेगा ।] जैसे 'व्रीहियोंका—धानोंका—अवघात करना चाहिए' इस विधानमें केवल एकबार ही मूसलका आघात कर देनेसे विधिके चरितार्थ होनेपर भी चावलोंकी सिद्धिरूप फल पानेके लिए अवि-

विध्युपपत्तावपि तन्दुलनिष्पत्तिलक्षणफलसिद्ध्यर्थमविहितस्य विहितानुपकारस्याऽप्यवघातपौनःपुन्यस्य विधिप्रयोज्यत्वं तद्वत्। तस्मात् विचारसाध्यार्थनिश्चयफलादध्ययनविधेः शास्त्रं सर्वाधिकारं प्राप्तमिति। नैतत्सारम्, किमर्थज्ञानमध्ययनस्य दृष्टफलमन्वयव्यतिरेकसिद्धम्, उत तदुद्देशेन विधानात् शास्त्रीयम्, किं वा विधेः प्रयोजनपर्यन्ततासामर्थ्येन लभ्यम्? आद्येऽपि न तावदर्थनिश्चयोऽध्ययनफलम्, केवलादध्ययनादावृत्तिसहिताद्वा निश्चयानुदयात्। विचारेण तदुदये विचारस्यैव फलं स्याद् नाऽध्ययनस्य। यद्यर्थस्याऽऽपातदर्शनमध्ययनफलं न तदा विचारस्य तत्प्रयोज्यत्वम्, साङ्गवेदाध्ययनादेव तत्सिद्धेः।

नन्वस्तु तर्हि विधिबलाच्छास्त्रीयमिति द्वितीयः पक्षः। तथाहि—

हित तथा अनुपकारी भी मुसलाघातोंका बराबर करते रहना अवघातविधिसे ही सिद्ध होता है वैसे ही प्रकृतमें भी विचार अध्ययनविधिसे प्रयोज्य होता है, इसलिए विचारसाध्य अर्थनिश्चय—ब्रह्मज्ञान—रूप फलके कारण विचारशास्त्रमें तीनों वर्णोंका अधिकार प्राप्त होता है।

समाधान—उक्त कथनमें कोई सार—तत्त्व—नहीं है। क्या अध्ययनका अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल अन्वय—व्यतिरेकसे सिद्ध है? अथवा अर्थज्ञानके उद्देश्यसे अध्ययनका विधान होनेसे शास्त्रसे सिद्ध है? या विधानकी प्रयोजनपर्यन्त सामर्थ्य होनेसे वह [अर्थज्ञानका दृष्ट फल] सिद्ध होता है? प्रथम पक्ष मानने में भी अध्ययनका अर्थनिश्चयरूप फल नहीं हो सकता, कारण कि केवल पढ़नेसे या बार—बार आवृत्ति करनेसे ही अर्थके निश्चयका उदय नहीं हो पाता। विचारके द्वारा उसका [अर्थनिश्चयका] उदय होता है, इसलिए विचारका ही वह फल होगा, अध्ययनका नहीं। अर्थका—ब्रह्मका—आपातदर्शन [पढ़ते ही साक्षात्कार हो जाना] अध्ययनका फल है, यदि ऐसा कहो, तो विचारको अध्ययनका प्रयोज्य मानना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अङ्गोंके सहित वेदके पढ़नेसे ही वह—ब्रह्मनिश्चयरूप फल—सिद्ध हो जायगा। [इस अवस्थामें अध्ययनविधिका विचारपर्यन्त तात्पर्य क्यों कर मानना होगा?]

शङ्का—दृष्ट फल अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध नहीं है, तो विधिकी सामर्थ्यसे

---

(१) 'व्रीहिनवहन्ति' यह विधिवाक्य केवल अवघातका विधान करता है, अवघातकी बराबर आवृत्तिरूप पौनःपुन्यका विधान नहीं करता। इससे पौनःपुन्य—आवृत्ति—अविहित है।

अध्येतव्य इति तव्यप्रत्ययेन स्वव्यापारः शब्दभावना विधिरूपतयाऽभिधीयते। सा च शब्दभावनाऽर्थभावनां निष्पादयन्ती फलवदर्थावबोधं पुरुषार्थं भाव्यत्वेन कल्पयति। तत्र भाव्यान्तरत्वात् समानपदोपात्तमध्ययनं करणतामापद्यते। यद्यध्ययनमेव भाव्यं स्यात् तदाऽक्षरावाप्तिः फलमिति मतं त्वदीयमपि न सिध्येत्। ततः करणस्याऽध्ययनस्य भाव्योऽर्थावबोधो विधिबलात् फलं भविष्यतीति। नैतदप्युपपन्नम्, कर्माभिधायिना तव्यप्रत्ययेन कर्मभूतस्वाध्यायगतप्राप्तिलक्षणभाव्याभिधाने संभवति भाव्या-

---

उसको शास्त्रीय फल मान लेंगे, ऐसा दूसरा विकल्प रहेगा, क्योंकि 'अध्येतव्यः' इस पदमें तव्यप्रत्ययसे व्यापाररूप शब्दभावना ही विधिस्वरूपमें अभिहित होती है। [तव्यप्रत्ययका अर्थ शाब्दी भावना ही अप्रवृत्तको प्रवृत्त करानेवाली विधि है।] वह शब्दभावना अर्थभावनाको उत्पन्न करती हुई अर्थनिश्चयात्मक पुरुषार्थकी साध्यत्वरूपसे कल्पना करती है। वहांपर भाव्यान्तर होनेसे समानपदसे बोधित हुआ अध्ययन करण हो जाता है। ['भावयेत्' इत्यादि पदात्मिका शाब्दी भावनामें भाव्य और किस प्रकार तथा किस साधनसे ? इन अशोंकी अपेक्षा होनेपर अर्थभावना शाब्दी भावनासे साध्य होगी और अर्थभावनाको भी करणकी अपेक्षा होनेपर अध्ययन करण माना जायगा, कारण कि स्वाध्यायका अध्ययन तो स्वयं पुरुषार्थ हो नहीं सकता और अर्थनिश्चयात्मक साध्य दूसरा विद्यमान ही है। इसलिए प्रत्ययार्थभावनासे गृहीत अध्ययनको करणभावना ही मानना उचित है।] यदि अध्ययन ही भावनासे साध्य माना जाय, तो इस दशामें 'अक्षरोंका ज्ञान होना फल है' ऐसा तुम्हारा भी मत सिद्ध नहीं होगा। [यदि संनिहित अध्ययन द्वारा प्रत्ययार्थभावना अपने भाव्यांशमें निराकाङ्क्ष हो जाय, तो अध्ययनक्रियाका अक्षरग्रहणान्त स्वाध्यायकी प्राप्तिरूप फलकी सिद्धि नहीं हो सकती, जैसा कि अध्ययनके बारेमें पद्मपादाचार्य कहते हैं—'सा ह्यधीयमानावाप्तिफलत्वादक्षरग्रहणमात्रा' इति। इसलिए करणभूत अध्ययनक्रियाका साध्य—अर्थनिश्चयात्मक फल ही—अध्ययनविधिकी सामर्थ्यसे होगा।

समाधान—ऐसा कहना भी नहीं बन सकता, कारण कि कर्मरूप अर्थको कहनेवाले तव्यप्रत्ययसे कर्मभूत अपने स्वाध्यायकी प्राप्तिरूप भाव्य—

न्तरकल्पनायोगात् । समानपदोपात्तमध्ययनं परित्यज्य भिन्नपदोपात्तस्य बहिरङ्गस्य स्वाध्यायस्य प्राप्तेः कथं भाव्यत्वमिति चेद्, नः स्वाध्यायस्य कर्माभिधायितव्यप्रत्ययार्थत्वेन प्रत्ययार्थभूतभावनां प्रति प्रकृत्यर्थाद-ध्ययनादप्यन्तरङ्गत्वात् ।

नाऽपि तृतीयः, अक्षरग्रहणस्यैवाऽध्ययनविधिप्रयोजनत्वात् । नन्वक्षर-ग्रहणस्य स्वयमपुरुषार्थत्वात् न फलत्वं तदर्थावबोधस्य त्वया विधिप्रयोजनत्वा-नङ्गीकारादन्यस्य च कर्मकारकगतफलस्याऽभावात् सक्तुन्यायेन कर्मप्राधान्यं परित्यज्य स्वाध्यायाध्ययनेन स्वर्गं भावयेदिति कल्पना प्रसज्येत, ततो वरमर्थावबोधस्य विधिप्रयोजनत्वम्, दृष्टे सत्यदृष्टं न कल्प्यमिति न्यायात् । संभवति हि साङ्गवेदाध्ययनमात्रादर्थनिश्चयः । अर्थावबोधहेतोर्व्याक-

---

साध्य—की प्रतीतिका सम्भव होनेसे दूसरे साध्यकी कल्पना करनेका अवसर नहीं आ सकता । 'अध्येतव्यः' इस समानपदसे गृहीत अध्ययनको छोड़ कर 'स्वाध्यायः' इस भिन्नपदसे ज्ञात बहिरङ्ग स्वाध्यायकी प्राप्ति साध्य कैसे हो सकती है ? ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, कारण कि स्वाध्याय कर्मवाचक तव्यप्रत्ययका अर्थ है, इसलिए स्वाध्याय प्रत्ययार्थ भावनाके प्रति प्रकृतिके अर्थ अध्ययनकी अपेक्षासे भी अन्तरङ्ग है ।

तीसरा विकल्प—विधिका अर्थनिश्चयरूप प्रयोजनपर्यन्त तात्पर्य होनेसे शास्त्रमें सबका अधिकार भी नहीं माना जा सकता, कारण कि अक्षरग्रहण ही अध्ययनविधिका प्रयोजन माना गया है ।

शङ्का—अक्षरका ग्रहण स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए वह फल नहीं हो सकता, उसके अर्थज्ञानको तुम—वेदान्ती—अध्ययनविधिका प्रयोजन मानते नहीं । इन दोनोंसे अतिरिक्त कोई कर्मकारकगत फल है नहीं, इसलिए सक्तुन्यायसे [प्रत्ययार्थ होते हुए भी] कर्मके प्राधान्यका त्याग कर 'स्वाध्यायके अध्ययनसे स्वर्गकी भावना करनी चाहिए' यह कल्पना करनी होगी । [अर्थात् विश्वजिन्न्यायसे अध्ययनविधिका भी स्वर्ग ही भाव्य होगा ।] इससे यही उत्तम है कि अध्ययनविधिका अर्थ निश्चयरूप ही प्रयोजन माना जाय । न्याय भी है कि दृष्ट फलके सम्भव रहते अदृष्ट फलकी कल्पना नहीं करनी चाहिए । अङ्गोंके सहित वेदाध्ययनसे ही अर्थका निश्चय होता है, क्योंकि अर्थावबोधका कारण व्याकरण भी तो अङ्ग है, ऐसा माननेसे विचार-

रणस्याऽभ्यङ्गत्वात् । न चैवं विचारशास्त्रवैयर्थ्यम्, अवबुद्धार्थावगतविरोध-परिहाराय तदपेक्षणात् । अतः पुरुषार्थभूतफलवदर्थावबोधो विधिप्रयोजनम्, नाऽक्षरग्रहणमिति चेद्, मैवम्; अर्थावबोधहेतुत्वेनाऽक्षरग्रहणस्याऽपि पुरुषार्थत्वात् । फलभूतक्षीरादिहेतूनां गवादीनामपि पुरुषैरर्थ्यमानतादर्शनात् । विधेरक्षरग्रहणमात्रोपक्षयेऽर्थज्ञानमाकस्मिकं स्यादिति चेद्, न; अर्थावबोधस्य फलप्रयुक्तत्वात् । नहि विधिप्रयुक्तोऽर्थावबोधः, लौकिकाप्तवाक्यानां विधिमन्तरेण फलवदर्थावबोधकत्वदर्शनात् । न चाऽध्ययनादक्षरग्रहणस्य विशेषाभावात् कथं तयोर्हेतुफलभाव इति वाच्यम्; अक्षरावाप्तिर्नाम स्वाधीनोच्चारणयोग्यत्वाख्योऽक्षरधर्मः । अध्ययनं तु तदर्थो वाङ्मनसव्यापार इति विशेषसद्भावात् । एवं च तर्ह्यध्ययनस्याऽक्षरग्रह-

---

शास्त्र व्यर्थ भी नहीं हो सकता, कारण कि ज्ञात अर्थमें प्रतीत विरोधके परिहारके लिए विचार-शास्त्रकी अपेक्षा है। इससे पुरुषार्थस्वरूप फलवान् अर्थ-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) ही अध्ययनविधिका प्रयोजन है, अक्षरग्रहण नहीं ।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्थज्ञानका कारण होनेसे अक्षरग्रहण भी पुरुषार्थ हो सकता है । [पुरुषार्थका उपकारी भी पुरुषोंका अभीष्ट प्रयोजन होता है । इसमें दृष्टान्त देते हैं—] फलस्वरूप दूध आदिके कारणभूत गाय आदि भी पुरुषोंके अर्थ—प्रयोजन—होते दिखलाई देते हैं । [यद्यपि अभीष्ट दुग्धादि है तथापि उनके साधन गौ आदि भी पुरुषार्थ माने जाते ही हैं] अक्षरका ग्रहण-मात्र करा देनेसे विधिकी सामर्थ्य क्षीण हो जाती है, इसलिए अर्थज्ञान आकस्मिक हो जायगा । ऐसा दोष भी नहीं आ सकता, क्योंकि अर्थज्ञान (अक्षर ग्रहणरूप) फलसे उत्पन्न होता है। विधिसे ही अर्थनिश्चय नहीं माना जा सकता, कारण कि लौकिक आप्त वाक्योंमें विधिके बिना भी सकल अर्थबोधकत्व देखा गया है। अध्ययन और अक्षरपरिचय—इनमें कोई विशेष नहीं है । [अर्थात् अक्षरग्रहण और अध्ययन एक ही वस्तु हैं] इससे इनमें कार्यकारणभाव कैसे हो सकता है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अक्षरोंका ज्ञान—परिचयात्मक ग्रहण करना—अक्षरोंके अधीन है (अन्यकी—गुरु आदिकी—सहायताके बिना, उच्चारणके योग्य हो जाना अक्षरोंका एक धर्म है) और अध्ययन तो अक्षरपरिचयके निमित्त बाणी और मनका व्यापार कहलाता

णहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धमिति व्यर्थो विधिरिति चेद्, न; अवघातादिवददृष्टोत्पत्तये नियमार्थत्वात्। न चैवं दृष्टफलत्वहानिः, दृष्टफलभूताक्षरप्राप्तिसमवेतस्यैव नियमादृष्टस्याऽङ्गीकारात्। दृष्टे सत्यदृष्टं न कल्प्यमिति न्यायस्य स्वतन्त्रादृष्टविषयत्वात्। अर्थावबोध एव फलमिति वदताऽपि नियमविधित्वाङ्गीकारात्। न चोपपत्तिसाम्ये सत्यक्षरग्रहणे एव किमिति पक्षपात इति वाच्यम्, अध्ययनविधेः फलवदर्थावबोधः प्रयोजनमिति पक्षे यस्य यस्मिन्कर्मण्यधिकारस्तस्य तद्वाक्याध्ययनमेव स्याद्, न तु वाक्यान्तराध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात्। ततो न कृत्स्नवेदाध्ययनसिद्धिः। अस्मत्पक्षे तु कृत्स्नवेदावाप्तिः प्रायश्चित्तजपादावुपयुज्यते।

है, इसलिए दोनोंमें विशेष विद्यमान है। इस प्रकार अध्ययनको तो अक्षरग्रहणका कारण होना अन्वय और व्यतिरेकसे ही सिद्ध हो गया, फिर उसके लिए विधान करना व्यर्थ है ? नहीं, कारण कि अवघात आदिके तुल्य अदृष्टकी उत्पत्तिके लिए नियमार्थ है। [तुषसे रहित धान तण्डुल कहलाते हैं। धानोंका तुष छुड़ानेके लिए अन्वयव्यतिरेकसे अवधानके सिद्ध होनेपर जैसे अदृष्ट अपूर्व तपकी उत्पत्तिके लिए 'व्रीहीनवहन्ति' यह विधान है वैसे ही 'अध्येतव्यः' यह विधान भी नियमार्थ है, जैसा कि ग्रन्थारम्भमें ही प्रतिपादन कर आये हैं।] ऐसा नियमार्थ माननेमें उसे दृष्ट फलके प्रति कारण होनेकी बाधा नहीं हो सकती, कारण कि नियमसे उत्पन्न अदृष्ट फल भी दृष्ट फलभूत अक्षरग्रहणसमवायी ही माना गया है। 'दृष्ट फलके सम्भवमें अदृष्ट फलकी कल्पना करना अनुचित है, यह न्याय केवल स्वतन्त्र अदृष्ट फलको ही विषय करता है [दृष्ट फलगत अदृष्ट फलका निवारण नहीं करता]। अर्थज्ञानको ही (अध्ययनविधिका) फल माननेवाले आपको भी यह नियम मानना ही है। दोनों—(अर्थ ज्ञान—और अक्षरज्ञान) में समान युक्ति होनेसे अक्षर ग्रहणमें ही आग्रह क्यों किया जाय ? ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि अध्ययनविधिका फल सफल अर्थज्ञान माननेके पक्षमें जिसका जिस कर्ममें अधिकार है, उसको उन्हीं वाक्योंका अध्ययन प्राप्त होगा। दूसरे वाक्योंका नहीं, क्योंकि उनमें प्रवृत्ति आदि फल नहीं है। इससे [अध्ययनविधिके द्वारा] सम्पूर्ण वेदके अध्ययनकी सिद्धि नहीं हो सकती। हमारे [अक्षरग्रहण फल माननेवालेके] मतमें तो सम्पूर्ण वेदका ज्ञान प्रायश्चित्त, जप आदिमें उपयुक्त होता है।

नन्वर्थावबोधमधिकारिविशेषणमुद्दिश्याऽध्ययनं विधातव्यम्, निरधिकारविधानायोगात्। अक्षरावाप्तिमुद्दिश्य विधानेऽपि तदवाप्तिकाम एवाऽधिकारी स्यादिति चेद्, नः अर्थाऽवबोधोद्देशनपूर्वकशब्दोच्चारणाभावे वाक्यस्य तात्पर्यासिद्धेः। लोकेऽर्थावबोधमुद्दिश्योच्चारितशब्दे तात्पर्यदर्शनात्। न च लोकवदेव विधिर्मा भूदिति वाच्यम्, तद्वदत्र शब्दोच्चारणप्रयोजकस्य रागस्याऽ-

---

'जैसे राजसूय आदि यज्ञोंमें ब्राह्मण और वैश्य आदिका अधिकार न होनेसे उनमें उक्त वर्णोंकी प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उक्त वर्ण उक्त अर्थका प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंको नहीं पढ़ेंगे, वैसे ही सफल सोम आदि यागके प्रतिपादक वाक्योंको क्षत्रिय आदि नहीं पढ़ेंगे। इस परिस्थितिमें केवल अपने-अपने उपयोगमें आनेवाले यज्ञयागादिके प्रतिपादक वेदभागका ही तत्-तत् अधिकारी द्वारा पढ़ना प्राप्त होगा। और अक्षरग्रहणरूप फलपक्षमें तो अधिकारी–मात्रकी सम्पूर्ण वेदाध्ययनमें प्रवृत्ति होगी, क्योंकि अक्षरग्रहणकी फलवत्ता अर्थज्ञानसे ही होती है, प्रवृत्तिसे नहीं। अर्थज्ञान सभी अध्ययन करनेवालोंको होगा। अन्यथा स्वाध्यायका जपयज्ञ नहीं बनेगा। एवं प्रायश्चित्तभागी होगा। अतः सम्पूर्ण वेदका अध्ययन प्राप्त होता है, इसीलिए अक्षरग्रहणरूप फल माननेमें हमारा आग्रह है, यह तात्पर्य है]।

शङ्का—अधिकारीके अर्थज्ञानरूप विशेषणको उद्देश्य करके अध्ययनका विधान करना होगा [अर्थात् 'अध्येतव्यः' इस विधिसे 'अर्थावबोधकामः स्वाध्यायेनेष्टं भावयेत्' इस प्रकार अर्थज्ञानार्थीको अधिकारी माननेमें अर्थज्ञानको ही फल मानना उचित है], क्योंकि अधिकाररहितका विधान नहीं होता। अक्षरज्ञानको उद्देश्य करके स्वाध्यायका विधान करनेपर भी उसकी प्राप्तिकी इच्छावाला ही अधिकारी माना जायगा।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्थज्ञानको उद्देश्य करके यदि शब्दात्मक वाक्यका उच्चारण न किया जाय, तो उस वाक्यका तात्पर्य ही सिद्ध न होगा, क्योंकि अर्थज्ञानको उद्देश्य करके उच्चारण किये गये शब्दोंमें ही तात्पर्य देखा जाता है। लोकमें जैसे विधि नहीं होती, वैसे ही स्वाध्यायके अध्ययनका विधान भी नहीं होगा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लौकिक शब्दोंके समान वैदिक शब्दोंके उच्चारणमें रागरूप हेतु नहीं है। [स्वाध्यायात्मक वेदवाक्योंके ईश्वरोक्त होनेसे उनमें रागादिहेतुकत्वका सम्भव ही नहीं है।]

भावात् । अथोच्येत विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकामोऽधिकारी कल्प्यताम् । अथवा वाजसनेयिनां ब्रह्मचर्यमागामित्यादिनोपनयनस्य प्रकृतत्वादुपनीतोऽधिकारीति प्रकरणप्रमाणेन कल्प्यतामिति । तदसत्, अर्थाऽवबोधलक्षणदृष्टफलकामेऽधिकारिणि सत्यन्यकल्पनायोगात् । एवं चाऽर्थावबोधकामोऽध्ययनेनाऽर्थावबोधं भावयेदिति विधिः संपद्यते । विचारेणाऽर्थावबोधं भावयेदिति विधिस्त्वार्थिकः । विचारेणाऽपरिहृते विरोधेऽर्थनिश्चयानुदयादर्थावबोध एव फलमिति । नैतत्सारम्, तत्र किं विधिबलादक्षरग्रहणमात्रे निष्पन्ने सति श्रुतव्याकरणस्य पुरुषस्य लौकिकवाक्यार्थ इव वेदार्थोऽपि स्वतो बुध्यत इति कृत्वा तद्बोधस्य फलत्वमुच्यते किं वाऽर्थावबोधकाम-

---

शङ्का—विश्वजिन्न्यायसे स्वर्गार्थीको ही अधिकारी माननेकी कल्पना की जाय अथवा 'वाजसनेयी माध्यन्दिनीय शाखावाले ब्रह्मचर्यको पावें' इत्यादि वाक्योंसे जिसका उपनयन हो गया हो उस अधिकारीकी ही कल्पना की जाय, कारण कि उपनयन प्रकरणप्राप्त है । और प्रकरणरूप प्रमाणसे वैसी कल्पना युक्तियुक्त है । [अर्थात् विश्वजिन्न्यायसे स्वर्गार्थी या प्रकरणप्रमाणसे उपनीत अधिकारी माना जाय] ।

समाधान—ऐसा उचित नहीं है, कारण कि अर्थज्ञानरूप दृष्ट फलका अधिकारी जब मिल सकता है तब दूसरी कल्पना करनेका अवसर ही नहीं आता । अतः 'अर्थज्ञानका अर्थी अध्ययन द्वारा अर्थज्ञानरूप भाव्यकी—साध्यकी—भावना करे' इस प्रकार विधान सम्पन्न होता है । 'विचार द्वारा अर्थनिश्चयकी भावना करे' यह तो अर्थतः ही आ जाता है, क्योंकि विचार द्वारा विरोधका परिहार न होनेपर अर्थका निश्चय ही नहीं हो सकता, इसलिए अर्थज्ञानको ही फल मानना चाहिए ।

समाधान—उक्त कथन सारभूत नहीं है, कारण कि वह विकल्पसे नहीं बनता, [विकल्प दिखलाते हैं—] आपके पक्षमें विधानकी सामर्थ्यसे केवल अक्षरका ज्ञान होनेपर व्याकरणकी व्युत्पत्तिसे युक्त पुरुषको लौकिक वाक्यकी तरह वेदार्थज्ञान भी स्वयं ही हो जाता है, इसलिए क्या अध्ययनविधिका अर्थज्ञान फल कहा जा रहा है ? या अर्थज्ञानार्थीको उद्देश्य करके विधान किया है, इसलिए कहा जा रहा है ? इनमें प्रथम कल्पको हम

मुद्दिश्य विधानतः । तत्राऽऽद्यमङ्गीकुर्मः । द्वितीयोऽनुपपन्नः, अध्ययनात् प्राग्वेदार्थस्याऽप्रतिपन्नत्वेन तद्विशिष्टस्याऽवबोधस्याऽप्यप्रतिपन्नस्य कामनायोगात् । वेदोऽर्थवान् वाक्यप्रमाणत्वादाप्तवाक्यवदित्यनुमानेन प्रतिपन्नो वेदार्थ इति चेत्, तर्ह्यनुमानसिद्धत्वादेव न वेदार्थज्ञानं काम्येत । सामान्यतोऽनुमितोऽपि वेदार्थो नाऽग्निहोत्रादिविशेषाकारेण प्रतिपन्न इति चेत्, तर्ह्यग्निहोत्रादिगोचरबोधोऽप्यप्रतिपन्नः कथं काम्येत । पित्राद्युपदेशत एवाऽग्निहोत्राद्यवगमे कामनावैयर्थ्यं तदवस्थम् । अथौपदेशिकज्ञानस्याऽप्रमाणत्वात्तत्र निर्णयज्ञानं काम्यत इति चेत्, तत्र न तावदप्रामाण्ये निश्चिते निर्णयज्ञानकामना संभवति, अर्थस्य विभ्रममात्रत्वात् । अप्रामाण्यसंदेहे तु तद्विचारस्यैवाऽवसरो नाऽध्ययनस्य । अथ मन्यसे औपदेशिक-

---

मानते हैं। पर दूसरा पक्ष नहीं बनता, कारण कि अध्ययनसे पहले वेदका अर्थ तो ज्ञात हुआ ही नहीं है, इसलिए तद्विशिष्टका ज्ञान—वेदार्थका ज्ञान—भी नहीं बन सकता, अतः असिद्धकी कामना—इच्छा—ही नहीं होगी। 'वेद अर्थवाला है, वाक्यरूप प्रमाण होनेसे, आप्तवाक्यके तुल्य' इस अनुमानसे वेदार्थ सिद्ध ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि तब तो अनुमानसे ही सिद्ध हो गया, अतः वेदार्थज्ञानकी इच्छा ही नहीं हो सकती। यद्यपि अनुमान द्वारा सामान्यतः वेदका कुछ अर्थ अवश्य है, इतना ही ज्ञात होता है, तथापि वह वेदार्थ अग्निहोत्र आदि विशेष आकारसे नहीं जाना गया है, इसलिए [विशेषतः ज्ञान प्राप्त करनेके लिए] वेदार्थज्ञानकी कामना की जायगी, यदि ऐसा मानो, तो अग्निहोत्रादिका भी ज्ञान नहीं है अतः उसकी भी इच्छा कैसे हो सकती है? यदि पिता आदि [आदिपदसे गुरु आदिका ग्रहण है] के उपदेशसे अग्निहोत्र आदिका ज्ञान हो गया, तो पुनः उसकी इच्छा ही व्यर्थ है। उपदेश द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानके प्रमाण न होनेसे उसमें निश्चयात्मक ज्ञानकी अभिलाषा हो सकती है, यह भी नहीं कह सकते, कारण कि अप्रामाण्यके निश्चित होनेपर निर्णयात्मक ज्ञानकी इच्छा हो ही नहीं सकती है, [जैसे शुक्तिरजतज्ञानमें अप्रामाण्यका निश्चय होनेसे शुक्तिरजतमें निश्चय करनेकी इच्छा नहीं होती], क्योंकि वह अर्थ——विषय—विभ्रममात्र है। और अप्रामाण्यके सन्देहमें तो विचारका ही अवसर

ज्ञानं प्रामाण्यविचारायैव वेदाध्ययनं तदर्थविचारश्च वेदस्य तन्मूलप्रमाणत्वादिति । एवं तर्ह्यस्तु कथंचिदर्थावबोधोऽधिकारिविशेषणम्, तथापि तदुद्देशेन विधानमयुक्तम् । तत्र किं वेदार्थविशेषज्ञानानां विशेषाकारेणाऽध्ययनविधावुद्देश्यत्वमुत सामान्याकारेण । नाऽऽद्यः; युगपच्चादसम्भवात् । द्वितीयेऽर्थमात्रज्ञानमुद्दिश्योच्चरितस्य शब्दस्य तत्रैव तात्पर्यं स्यान्नाऽग्निहोत्रादिविशेषज्ञाने । अथ विधिसामर्थ्यादर्थमात्रे तात्पर्येऽपि वाक्यशक्त्यनुसारेण विशिष्टार्थे तात्पर्यं कल्प्येत तर्हि विधेस्तत्र तात्पर्यनिमित्तत्वं न स्यात् । किञ्च, कथञ्चिदुद्दिश्य विधानेऽपि नाऽध्ययनमात्राद् दृष्टफलतयाऽर्थावबोधसिद्धिः, अदर्शनात् । ननु वेदस्याऽर्थावबोधमुद्दिश्योच्चारणाभावे स्वार्थे तात्पर्यं न स्यात्, तात्पर्यहेतोरभावादिति चेद्, मैवम्; न

होता है, अध्ययनका नहीं । उपदेश द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानमें प्रामाण्यके विचारके लिए ही वेदका पढ़ना और वेदार्थका विचार करना आवश्यक है, क्योंकि औपदेशिक ज्ञानका मूल प्रमाण वेद ही है, यदि यह माना जाय, तो इस प्रकार यद्यपि कथञ्चित् अर्थनिर्णय अधिकारीका विशेषण हो सकता है, तथापि अर्थावबोधको—अर्थनिश्चयको—उद्देश्य करके उसका विधान करना युक्तिसंगत नहीं है । [युक्तियोंका अभाव दिखलाते हैं—] इस मतमें क्या वेदार्थके विशेष ज्ञानोंके विशेषरूपसे अध्ययनविधिमें उद्देश्यत्व मानते हो अथवा सामान्यरूपसे ? इनमें प्रथम विकल्प नहीं बन सकता, क्योंकि एक साथ सम्पूर्ण वेदोंका विशेष ज्ञान होना सम्भव नहीं है । दूसरे विकल्पके माननेमें सामान्यतः अर्थज्ञानको उद्देश्य करके उच्चारण किए गए शब्दका उस सामान्य अर्थमें ही तात्पर्य निश्चित होगा, अग्निहोत्रादि विशेषज्ञानमें नहीं । यदि विधानकी सामर्थ्यसे अर्थमात्रमें सामान्यतः तात्पर्य रहनेपर भी वाक्यशक्तिके अनुसार विशिष्ट अर्थमें तात्पर्यकी कल्पना की जायगी, यह माना जाय, तो विशिष्ट अर्थमें तात्पर्यकी प्रतीति करानेमें विधिका निमित्त होना नहीं बन सकता । और भी सुनिए कि कथञ्चित् [अर्थावबोधको] उद्देश्य करके विधान माननेपर भी अध्ययनमात्रसे दृष्टफलके रूपमें अर्थावबोधकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया है ।

शङ्का—यदि वेदका उच्चारण अर्थज्ञानको उद्देश्य करके नहीं होगा, तो वेदका स्वार्थ ही नहीं बन सकेगा, कारण कि [अर्थज्ञानको उद्देश्य करके उच्चारण

तावच्छ्रोतुरुच्चारणं तात्पर्यनिमित्तम्, लोके तदभावात्। नाऽपि वक्तुरुच्चारणम्, अपौरुषेये वेदे तात्पर्याभावप्रसङ्गात्। नन्वेवमपि वेदस्याऽर्थप्रतिपादकत्वं न स्याद् उद्दिश्योच्चारणस्य प्रतिपादनहेतोरभावादिति चेद्, नः शब्दस्य प्रतिपादकत्वस्वाभाव्यात्। तर्ह्यर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्यादिति चेद्, नः पुरुषसम्बन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वात्। ननु वेदस्याऽर्थप्रतिपादनसामर्थ्येऽपि न बोधकत्वं सम्भवति, बोधस्य तात्पर्याधीनत्वात् तात्पर्यस्य पुरुषधर्मस्याऽत्राऽसम्भवादिति चेद्, मैवम्; तात्पर्यं हि षड्विधलिङ्गगम्यतया शब्दधर्मो न पुरुषधर्म इति समन्वयसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात्। तदेवमध्ययनविधेर्यावदर्थावबोधफलमव्यापारान्न विधितो विचार-

---

करनारूप] तात्पर्यका हेतु वहांपर नहीं है।

समाधान——ऐसा नहीं माना जाता, कारण कि श्रोताका उच्चारण तो तात्पर्यका निमित्त नहीं होता, क्योंकि लोकमें ऐसा नहीं देखा जाता है। वक्ताका उच्चारण भी [तात्पर्यनिमित्त नहीं है।] क्योंकि अपौरुषेय—जिसका कोई पुरुष वक्ता नहीं है, ऐसा वेद भी तात्पर्यरहित हो जायगा। यदि कहो कि उच्चारणको उद्देश्य न माना जाय, तो वेद अर्थका प्रतिपादक नहीं हो सकेगा, कारण कि अर्थप्रतिपादनका उद्देश्य उच्चारणरूप कारण वेदमें नहीं है, तो ऐसा कहना उचित नहीं हैं, क्योंकि अर्थप्रतिपादन करना शब्दका स्वभाव है। तब तो [यदि शब्दका अर्थ प्रतिपादन करना स्वभाव ही है तो] लोकमें अर्थज्ञानके उद्देश्यसे शब्दोंका उच्चारण करना ही व्यर्थ होगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि पुरुषके सम्बन्धसे प्राप्त दोषरूप प्रतिबन्धकका परिहार करनेके लिए शब्दोच्चारण सार्थक होगा।

शङ्का——वेदोंकी [शब्दात्मक वाक्य होनेके कारण] अर्थप्रतिपादन करनेमें सामर्थ्य रहते हुए भी वे बोधक नहीं होंगे, क्योंकि बोधका होना तात्पर्यज्ञानके अधीन है। तात्पर्य पुरुषका धर्म है, अतः वह अपौरुषेय वेदमें नहीं रह सकता।

तात्पर्य * छः प्रकारके कारणोंसे निश्चित होता है, और वह शब्दधर्म है, पुरुषधर्म नहीं, इसका प्रतीपादन समन्वयसूत्रमें करेंगे। तब तो इस प्रकार

---

* १ उपक्रम-उपसंहार, २ अभ्यास, ३ अपूर्वता, ४ फल, ५ अर्थवाद और—६ उपपत्ति। इनका विशेष विवरण समन्वयसूत्रके प्रथम वर्णकमें किया जायगा।

शास्त्रस्य सर्वाधिकारिता सिध्यति। नन्वध्ययनविधेरर्थावबोधकामाधिकारं नाऽङ्गीकरोषि अधिकारान्तरं च न श्रुतं ततोऽनध्ययनमेव प्रसज्येत।

अत्र प्राभाकरा आहुः—नाऽध्ययनविधिः स्वतन्त्रमधिकारिणमपेक्षते, अध्ययनविधिप्रयुक्त्या तद्विषयानुष्ठानसिद्धेः। न च वाच्यं विधिर्हि सर्वत्र स्वविषयं तदङ्गं वाऽनुष्ठापयति, न चाऽध्ययनमध्यापनविधेर्विषयोऽङ्गं वा तत्कथं तेनाऽनुष्ठाप्यत इति, अविषयस्याऽतदङ्गस्याऽप्याधानस्योत्तरकाम्यक्रतुविधिभिरनुष्ठापितत्वादिति। सोऽयं प्राभाकरोक्तः परिहारोऽनुपपन्नः।

अध्ययनविधानका अर्थज्ञानपर्यन्त व्यापार नहीं हो सकता। इसलिए विधिके बलसे विचारशास्त्रमें [शमदमादिसम्पन्न मुमुक्षुके अतिरिक्त] सबका अधिकार सिद्ध नहीं होता।

शङ्का—अध्ययनविधिमें अर्थज्ञानके अभिलाषीका अधिकार आप नहीं मानते और इससे अतिरिक्तका अधिकार श्रुतिमें कहा नहीं गया है, इसलिए अध्ययनके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा [अर्थात् अधिकारशून्यविधिमें सबकी उपेक्षा होनेसे किसीकी भी प्रवृत्ति न होगी एवं अध्ययनका सर्वथा अभाव होगा] इस शङ्काका समाधान करनेके लिए प्रथम प्रभाकरानुयायी भीमांसक प्रवृत्त होते हैं—वे कहते हैं—अध्ययन स्वतन्त्र अधिकारीकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि अध्ययनविधिके प्रयोगसे अध्ययनका अनुष्ठान सिद्ध हो जायगा। [पहले ही मूलमें प्रतिपादित आचार्यकरण तथा 'अध्यापयेत्' इससे अध्यापनके विधानसे ही अध्ययनका प्रयोग प्राप्त होगा। अन्यथा—शिष्यके अध्यापनके बिना—आचार्यका स्वरूप एवं अध्यापन दोनों अनुपपन्न होंगे, इसलिए अध्ययनका अनुष्ठान अधिकारीकी कल्पनाके बिना भी सम्भव है]। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि विधान सर्वत्र अपने विषय तथा अङ्गका ही अनुष्ठान कराता है और अध्यापनका अध्ययन न तो विषय है और न अङ्ग ही है, इसलिए पाठन कर्म कैसे अध्ययनका अनुष्ठान करा सकता है? कारण कि उत्तरकालिक काम्य क्रतुओंके विधानसे आधान [आग्न्याधान] का अनुष्ठान कराया जाता है जो आधान उन काम्य यज्ञोंका न तो विषय है और न अङ्ग ही है। [इसलिए अविषय तथा अनङ्गका भी विधि द्वारा अनुष्ठान सिद्ध होता है] इतना प्रभाकरका सिद्धान्त है।

परन्तु यह प्रभाकरानुयायियोंका कहा हुआ समाधान युक्तिसङ्गत नहीं है।

तथाहि—अध्यापनविधिरप्यश्रूयमाणाधिकार एव। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' 'तमध्यापयीत' इत्यत्राऽऽचार्यकरणकाम इत्यश्रवणात्। तत्कथमध्ययनं तत्प्रयुक्तं यत् तत्राऽधिकारिणं परिकल्प्य तत्प्रयुक्तिरध्ययनस्योच्येत। तर्ह्यध्ययने स्वतन्त्रोऽधिकारी कल्प्यताम्, लाघवाद्। लघीयसी हि स्वविधिप्रयुक्तिरन्यविधिप्रयुक्तेः। अथैकत्राऽधिकारिकल्पनमात्रेणेतरस्य तत्प्रयुक्तानुष्ठाने सम्भवत्युभयत्र तत्कल्पने गौरवमिति मन्यसे तर्ह्यध्ययन एवाऽधिकारिणं परिकल्प्य तत्प्रयुक्तिमन्यस्य किं न ब्रूषे? यदि लिखितपाठादप्यध्ययनसिद्धेर्नाऽध्ययनविधिरध्यापनं प्रयोजयति, तर्ह्यविहिताऽध्ययनेन प्राङ्मुखत्वादिरहितेनाऽप्यध्यापनसिद्धेर्न वि-

---

[असङ्गति दिखलाते हैं—अध्ययनविधिमें भी अधिकारीका श्रवण ही नहीं है। कारण कि 'आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन [यज्ञोपवीत संस्कार] करना चाहिए और उसको पढ़ाना चाहिए' इस विधिवाक्यमें 'आचार्यकरणकी इच्छासे' ऐसा श्रवण नहीं है, इसलिए अध्यापनसे अध्ययन कैसे प्रयुक्त होगा, जिससे उस अध्यापनमें अधिकारीकी कल्पना करके अध्ययनकी अध्यापनसे प्रयुक्ति कही जा सके। तब तो अध्ययनमें स्वतन्त्र अधिकारीकी कल्पना करनी चाहिए, क्योंकि उसमें ही लाघव है, कारण कि (अध्यापनरूप) अन्य विधिकी प्रयुक्ति माननेकी अपेक्षा (अध्ययनमें अधिकारीकी कल्पना करके) स्वयं अध्ययनविधिके बलसे ही अध्ययनमें प्रयुक्ति माननेमें लाघव है। यदि एक विधिमें अधिकारीकी कल्पना कर देनेसे ही दूसरे विधानके अनुष्ठानका सम्भव हो जानेके कारण दोनों विधियोंमें अधिकारी तथा प्रयुक्तिकी कल्पना करनेमें गौरव मानते हो, तो अध्ययनमें ही अधिकारीकी कल्पना करके उसीसे अध्यापनमें प्रयुक्ति होती है, ऐसा क्यों नहीं कहते? [ऐसा ही क्यों कहते हैं कि अध्यापनसे अध्ययनमें प्रयुक्ति हो अध्ययनसे अध्यापनमें नहीं]।

यदि लिखे हुए ग्रन्थके पढ़नेसे अध्ययनकी भी सिद्धि होती है, अतः अध्ययन अध्यापनकी प्रयुक्ति नहीं कर सकता, यह माना जाय, तो प्राङ्मुखत्वादि रहित अविहित अध्ययनसे अध्यापनकी सिद्धि होनेके कारण विहित अध्ययनकी भी प्रयुक्ति अध्यापनविधि नहीं कर सकेगी। [तात्पर्य है कि जिसका कोई वैदिक विधिके समान विधायक वाक्य नहीं है, ऐसे नाटक, उपन्यास या समाचार पत्रादिका अध्ययन अध्यापनके बिना हो सकता है, अतः अध्यापन अध्ययनका

हितमध्ययनमध्यापनविधिः प्रयोजयेत् । अथोच्येत प्रयतः प्राङ्मुखः पवित्रपाणिरधीयीतेति माणवकस्य प्राङ्मुखत्वाद्यध्ययनाङ्गं श्रुतं तथाऽध्यापनेऽपि प्राङ्मुखं पवित्रपाणिमध्यापयीतेति माणवकस्य प्राङ्मुखत्वादिविशेषणश्रवणाद्विहितमेवाऽध्ययनं प्रयुज्यत इति । तर्हि

'गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥'

इति लिखितपाठस्य निन्दासद्भावादाचार्याधीनो वेदमधीष्वेत्यध्ययनस्याऽऽचार्यपूर्वकत्वनियमविधानादध्ययनविधिरध्यापनं किं न प्रयोजयेत् ।

प्रयोजक नहीं हो सकता । और अध्यापनका तो अध्ययनके बिना सम्भव नहीं है अतः अध्ययन अध्यापनका प्रयोजक है । इससे वेदान्तीकी 'अध्यायन ही अध्यापनका प्रयोजक है, अध्यापन अध्ययनका क्यों नहीं' शङ्काका समाधान हो गया । परन्तु साथ-साथ शङ्का उत्पन्न होती है—हमने मान लिया कि अध्यपन अध्ययनका प्रयोजक है, परन्तु यह नियम कैसे होगा कि अध्यापन 'प्राङ्मुख होकर पढ़ना' इत्यादि विधिविहित ही अध्ययनकी प्रयुक्ति करेगा जब कि अध्यापन अविहित उक्त लौकिक रीतिके अनुसार अध्ययनसे भी चरितार्थ हो सकता है] यदि संयत होकर अर्थात् मनकी चञ्चल वृत्तियोंको रोककर 'पूर्वकी ओर मुख किये और पवित्रीधारण किये—शिष्यको पढ़ावें' इत्यादि वाक्योंमें माणवक—शिष्य—के पूर्वाभिमुख होकर बैठना आदि विशेषणोंका श्रवण होनेसे विहित ही अध्ययनका प्रयोग होगा, ऐसा मानो तो—'गीत गाकर तथा बहुत जल्दी एवं शिरको कँपाता हुआ अथवा गुरुके उपदेशके बिना केवल लिखे हुए ग्रन्थके आधारपर पढ़नेवाला और बिना अर्थ जाने पढ़ने एवं बहुत नीचे स्वर [अर्थात् जिसमें तत्तस्थानानुप्रदानादि परिचय न हो सके) से पढ़नेवाला—ये सब निकम्मे पढ़नेवाले माने गये हैं । इस प्रकार लिखितके बलपर पढ़नेवालेकी निन्दाके श्रवणसे तथा 'आचार्यत्वविशिष्ट गुरुके अधीन होकर पढ़ो' इस प्रकार आचार्य द्वारा पढ़नेके नियमके विधानसे अध्ययनविधि अध्यापनकी प्रयुक्ति क्यों न करे ? [यदि अध्यापनके बिना भी लौकिक अध्ययनके तुल्य ही 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अध्ययनका विधान होता, तो लिखितके ही बलपर पढ़नेकी निन्दा और अध्ययनमें आचार्यपूर्वकत्व आदि नियम न होता । इस

अथ मतम्—'आचार्याधीनोऽधीष्व' इत्यत्राऽऽचार्यकरणविधिप्रयुक्तोऽधीष्वेतिवाक्यार्थ आचार्यत्वस्याऽध्यापनादुत्तरकालभावित्वादिति, तदसत्; तद् द्वितीयं जन्म। तद् यस्मात्स आचार्य इत्युपनयनाख्यद्वितीयजन्महेतुत्वमात्रेणाऽऽचार्यश्रवणात्।

'आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः स उदाहृतः॥'

इति स्मृतावाचारे शिष्यान् स्थापयतीति व्युत्पत्तिः प्रतीयत इति चेद्, एवमप्यध्यापनात् पूर्वमाचार्यत्वमविरुद्धम्। अध्यापनादाचार्यत्वस्योत्तरकाल-

---

प्रकार उक्त निन्दा तथा नियमसे मानना होगा कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इससे विहित अध्ययन अध्यापनकी प्रयुक्ति करता ही है]। यदि 'आचार्यके अधीन होकर पढ़ो, इसमें आचार्यकरणविधिके प्रमाणसे ही 'पढ़ो' ऐसा वाक्यार्थ है, कारण कि अध्यापनके ही अनन्तर आचार्य होना उपपन्न हो सकता है' ऐसा सिद्धान्त हो, तो वह भी उचित नहीं है, कारण कि 'उपनयन * संस्कार (द्विजातिका) दूसरा जन्म है। वह दूसरा जन्म जिसके द्वारा होता है, वह आचार्य कहलाता है। इस वचनसे उपनयननामक द्वितीय जन्मका कारण होनेसे आचार्य जाना श्रुतिसे सिद्ध हैं।

'जो शास्त्रार्थका आचयन—ज्ञानवृद्धि—कराता है तथा आचारमें स्थापित भी करता है [अर्थात् श्रुति तथा स्मृतिमें कहे गये नियमोंके अनुसार शिष्योंके व्यवहारकी व्यवस्था भी बांधता है] और स्वयं तदनुसार आचरण करता है, इससे वह आचार्य कहलाता है। इस स्मृतिमें 'शिष्योंको आचारमें लगाए रखना' ऐसी व्युत्पत्ति प्रतीत होती है। [उपनयन करानेसे आचार्य कहलाता है, ऐसा नहीं है।] ऐसा कहो तो भी अध्यापनसे पूर्व ही आचार्य होनेमें कोई विरोध नहीं। यदि आचार्यपदवीकी सिद्धि अध्यापनके अनन्तर मानी जाय, तो आचार्यकरणविधिप्रयुक्त—'पढ़ो' ऐसा अध्याहार सहित योजनाका प्रसङ्ग होगा। 'आचार्याधीनोऽधीष्व'

---

* यहांपर तत्पदसे उपनयन लिया जाता है। [अर्थात् आचार्य होना उपनयन संस्कारसे ही हो सकता है। अध्यापनके उत्तर कालमें ही नहीं]।

भावित्वे चाचार्यकरणविधिप्रयुक्तोऽधीष्वेति साध्याहारयोजना प्रसज्येत । तस्मादधिकारिकल्पनासाम्यादितरेतरप्रयुक्तिसाम्याच्च काम्यविधिप्रयुक्तिसम्भवेऽध्ययनस्य कथमध्यापनविधिप्रयुक्तिरिति । अत्रोच्यते— नाऽध्यापनविधेरधिकारी कल्पनीयः, श्रुतिस्मृत्योः प्रतीयमानत्वात् । तथाहि-- 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इति श्रुतावात्मनेपदेनाऽऽचार्यकरणसाध्यता प्रतीयते, संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणेत्यादिना व्याकरसूत्रेणाऽऽचार्यकरणे साध्ये तद्विधानात् । न चाऽऽचार्यत्वम्, किञ्चिल्लोके प्रसिद्धमस्ति ततो यथाऽऽहवनीये जुहोतीत्यत्राऽऽहवनीये होमाधारत्वेन विनियुक्ते सत्यसंस्कृतस्य होमाधारत्वायोगात् संस्कृतस्य सम्भवाच्चाऽऽधानसंस्कृतोऽग्निराहवनीयत्वेन निश्चितः तथा

इस वाक्यमें अध्याहार करके 'आचार्याधीन' 'आचार्यकरणविधिप्रयुक्तोऽधीष्व' ऐसा करना होगा। इसकी अपेक्षा 'ओदनं पचति'—या 'गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयात्' इत्यादि वाक्योंमें जैसे पाचक या गृहस्थ शब्दोंका प्रयोग भावी संज्ञाके आश्रयणसे होता है, वैसे ही आचार्यशब्दके प्रयोगको भावी संज्ञाके आश्रयणसे उपपन्न कर अध्यापनसे अध्ययनकी प्रयुक्ति मानना ही उचित है, इस आशयसे सिद्धान्ती प्राभाकरमतके दूषक प्रघट्टकका निर्णय करते हैं—इसलिए पूर्वोक्त युक्तियोंके बलसे अधिकारीकी कल्पना तथा एक दूसरेकी प्रयुक्ति करनेमें समानता होनेसे काम्यविधिकी प्रयुक्तिका सम्भव होनेमें अध्यापनविधिसे अध्ययनकी प्रयुक्ति कैसे होगी ? प्रभाकरानुयायी द्वारा सिद्धान्तीकी उक्त शङ्कामें कहा जाता है । अध्यापनविधिके अधिकारीकी कल्पना नहीं करना है, कारण कि श्रुति तथा स्मृतिमें ही उसकी प्रतीति सिद्ध है। जैसे कि श्रुति है—'आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन संस्कार करना चाहिए' इस श्रुतिमें आत्मनेपदसे आचार्यकरणमें भाव्यता—साध्य होना—प्रतीत होती है, कारण कि 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' इत्यादि व्याकरणसूत्रसे आचार्यकरणके साध्य होनेमें आत्मनेपदका विधान किया जाता है। घट, पट आदिके तुल्य आचार्यपदार्थ लोकमें कोई प्रसिद्ध है ही नहीं, इसलिए जैसे—'आहवनीयमें हवन किया जाता है' यहांपर आहवनीयका होमाधारके रूपमें विनियोग किये जानेपर संस्काररहित अग्निमें होमाधारताका सम्भव नहीं है, अतएव आधाननामक संस्कारसे संस्कृत अग्नि ही आहवनीय

'आचार्याय गां दद्यात्' इत्यत्राऽऽचार्ये दक्षिणां प्रति सम्प्रदानत्वेनाऽवगते सत्यनुपकारिणः सम्प्रदानत्वायोगादुपकारिणोऽत्र सम्भवाच्चोपनयननिष्पादनाख्येनोपकारेण माणवकं प्रत्युपकुर्वत आचार्यत्वं निश्चीयते। नन्वेवमप्युपनयनसाध्यमाचार्यत्वं भवेन्नाऽध्यापनसाध्यमिति चेद्, नः उपनयनस्याऽध्यापनाङ्गत्वात्। 'उपनयीत तमध्यापयीत' इत्यैकप्रयोगतावगमात्, न च निरपेक्षविधिभेदान्न प्रयोगैक्यमिति वाच्यम्, उपनीयाऽध्यापयेदित्येवंप्रयोगैक्यकल्पनात्। तमिति प्रकृतपरामर्शिना तच्छब्देन कर्मैक्यप्रतीतेः। न चोपनयनस्याऽध्यापनाङ्गत्वेऽप्यध्ययनस्य न तत्प्रयुक्तिरिति वाच्यम्, माणवकविषयाध्यापनेनाऽऽचार्यत्वं भावयेदिति वाक्यार्थस्वीकरणेनाऽऽध्यापनक्रियानिर्वर्तकतया माणवकस्य क्रियां प्रति गुणभूतत्वाद् उपकारकत्वे वक्तव्ये दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाद् उपगमनाध्ययनाभ्यामुपकरोतीति कल्प्यत्वात्।

रूपसे निश्चित माना गया, ऐसे ही आचार्यके लिए दक्षिणामें गाय देनी चाहिए 'यहांपर आचार्यको दक्षिणाके प्रति सम्प्रदानत्व—उद्देश्यत्व—प्रतीत हुआ, परन्तु अनुपकारी सम्प्रदान—उद्देश्य नहीं हो सकता, और यहांपर उपकारीका होना सम्भव है, इसलिए उपनयनसंस्कारके सम्पादनरूप उपकारके द्वारा माणवकका उपकार करनेवालेमें ही आचार्यत्व निश्चित होता है, ऐसा माननेपर भी उपनयनके द्वारा आचार्यत्वकी सिद्धि होगी, अध्यापन द्वारा नहीं; ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उपनयन अध्यापनका ही अङ्ग है। 'उपनयन करे' और 'उस उपनीतको पढ़ावे' इन दोनों विधियोंमें एकप्रयोगत्व प्रतीत होता है। निरपेक्ष विधिके भेदसे एकप्रयोग होनेका निषेध नहीं कर सकते, कारण कि 'उपनयन संस्कार कराके अध्यापन करावे' इस प्रकार एक ही प्रयोगकी कल्पना होती है, क्योंकि तत्शब्दके प्रकृत परामर्शी होनेसे तत्शब्दसे दोनोंमें एककर्मत्वकी प्रतीति होती है। 'माणवकके अध्यापनसे आचार्यत्वकी भावना करे' इस प्रकार वाक्यार्थका स्वीकार करनेसे अध्यापनक्रियाके सम्पादक होनेसे गुणभूत माणवकमें अध्यापनक्रियाके प्रति उपकारकत्व कहना होगा, कारण कि दृष्ट फलके रहते अदृष्ट फलकी कल्पना करना अन्याययुक्त होता है। [माणवकका उपकारकत्व दिखलाते हैं—] माणवक उपगमन—गुरुके समीपमें नियमपूर्वक बैठने और अध्ययनसे [अध्यापन] क्रियामें उपकार करता है, ऐसी ही कल्पना करनी चाहिए।

ननूपनयनाध्ययनाभ्यां निष्पाद्यस्याऽध्यापनस्य यद्यप्याचार्यत्वं फलं तथापि श्रुतावधिकारी कल्पनीयः, एतत्काम इत्यश्रवणादिति चेद्, नः कामोपबन्धमात्रस्य कल्प्यत्वात्। ततश्च श्रुतावुपनीयाऽध्यापयेदाचार्यकरणकाम इत्येवमध्यापनविधिः साधिकारः सम्पद्यते, तथा स्मृतावपि।

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥'

इत्युपनयनाध्यापनयोः प्रयोगैक्यादध्यापने विधिश्रवणादाचार्यत्वफलश्रवणाच्चाऽऽचार्यत्वकामो माणवकमुपनीयाध्यापयेदिति निष्पाद्यते। अध्ययने तु नाऽधिकारनिमित्तम्, किञ्चिच्छ्रुतमस्तीति विशेषः। न चाऽध्ययनस्य स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितस्य कथं स्वतन्त्रविध्यन्तरप्रयुक्तानुष्ठानमिति शङ्कनीयम्, आधानदृष्टान्तेन प्रयुक्तत्वात्। आधाने हि ब्राह्मणोऽग्निमादधीतेति

शङ्का—उपनयन और अध्ययनसे सिद्ध होनेवाले अध्यापनका यद्यपि आचार्यपद पाना फल है, तथापि श्रुतिमें अधिकारीकी कल्पना करनी ही होगी, क्योंकि अमुक कामनावाला पुरुष [अध्यापन करे] ऐसा अधिकारीका श्रवण नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि केवल कामनाके सम्बन्धमात्रकी कल्पना होती है। इससे ही श्रुतिमें आचार्यकरणकी इच्छावाला शिष्यका उपनयन करके अध्यापन करे, इस प्रकार अध्यापनविधि साधिकार हो जाती है, ऐसा स्मृतिमें भी कहा है। जो ब्राह्मण शिष्यका उपनयनसंस्कार करके रहस्य तथा कल्पके सहित वेदका अध्यापन करे, उसको आचार्य कहते हैं। इस तरह श्रुति तथा स्मृतिसे उपनयन तथा अध्यापन दोनोंका एकप्रयोगत्व होता है। तथा अध्यापनमें श्रौतविधि है और आचार्यत्वरूप फल भी श्रुतिसिद्ध है, इसलिए आचार्यत्वकी इच्छासे 'माणवकका उपनयनसंस्कार करके अध्यापन करावे' इस प्रकार अधिकारकी निष्पत्ति की जाती है। अध्ययनमें तो अधिकारका निमित्त कोई सुननेमें नहीं आया है, इतना विशेष है। स्वतन्त्र दूसरी विधिसे विहित अध्ययनके अनुष्ठानकी प्रयुक्ति स्वतन्त्र दूसरी विधिके द्वारा न हो सकनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, कारण कि आधानके दृष्टान्तसे ऐसी प्रयुक्ति देखी गई है। क्योंकि आधान—अग्न्याधान—

श्रूयते। तत्र किमाधानं स्वातन्त्र्येणाऽनुष्ठेयम् उताऽन्यप्रयुक्त्या। आद्येऽपि न तावत् पुरुषमुद्दिश्य नित्यतया स्वतन्त्रमाधानं विधातुं शक्यम्, प्रोक्षणादिवत्कर्मकारकसंस्काररूपस्याऽऽधानस्य द्रव्यपरतयाऽग्नेरुद्देश्यत्वात्। नाऽपि स्वतन्त्रकाम्यतया तद्विधेयं फलाश्रवणात्। न च सक्तुन्यायेन गुणप्रधानवैपरीत्यकल्पनया नित्याधिकारता कामाधिकारता वा शङ्कनीया। भस्मीभूतसक्तुना उपयोगासम्भवेन तत्र वैपरीत्यकल्पनेऽपि प्रकृते संस्कृताग्नेः क्रत्वन्तरे विनियोगयोग्यतया तदसम्भवात्। द्वितीयेऽपि किमाधानस्योत्तरनित्यक्रतुविधिप्रयुक्तिरुतोत्तरकाम्यक्रतुविधिप्रयुक्तिः? नाऽऽद्यः, उद्देश्यस्याऽनुपादेयस्याऽऽहवनीयस्य क्रतुविधिप्रयुक्तानुष्ठेयत्वायोगात्। उपादेयमेव हि

संस्कारमें 'ब्राह्मण अग्निका आधान करे' यही श्रुतिका अर्थ है। उसमें विकल्प होता है कि क्या आधानका स्वतन्त्र अनुष्ठान होता है? अथवा दूसरे विधानकी प्रयुक्तिके बलसे होता है? प्रथम पक्ष माननेपर भी पुरुषको उद्देश्य करके नित्यत्वरूपसे आधानका स्वतन्त्र अनुष्ठान नहीं हो सकता, कारण कि प्रोक्षण आदि संस्कारके सदृश कर्मकारकके संस्काररूप आधानका कर्मभूत द्रव्यके संस्कारमें तात्पर्य होनेसे अग्नि ही उद्देश्य है, काम्यरूपसे भी उसका विधान नहीं हो सकता, क्योंकि फलका श्रवण नहीं है। सक्तुन्यायसे गुण-प्रधानभावकी विपरीत कल्पना करके नित्य अधिकारका काम्य अधिकारमें परिवर्तन करनेकी आशङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि भस्म किये गये सक्तुसे किसी कार्यका होना सम्भव नहीं है, इसलिए 'सक्तून् जुहोति' इस स्थलमें गुण-प्रधानभावमें विपरीत कल्पना करनेपर भी प्रकृतमें संस्कारसे युक्त अग्निकी दूसरे यज्ञमें उपयोगयोग्यता होती है, इसलिए सक्तुन्यायसे विपरीत कल्पनाका सम्भव नहीं है। दूसरे पक्षमें—दूसरे द्वारा प्रयुक्तिसे अनुष्ठेय माननेमें—भी क्या आधानकी अग्रिम नित्य यज्ञके विधान द्वारा प्रयुक्ति होती है? अथवा-अग्रिम-काम्यविधि द्वारा? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, कारण कि उपादेयसे भिन्न उद्देश्यभूत आहवनीयका—होमाधारभूत अग्निका—नित्य अथवा काम्य दोमें से किसीके भी विधान द्वारा प्राप्त हुई प्रयुक्तिसे अनुष्ठान करनेका विषय होना सम्भव है नहीं, [उपादेय ही अनुष्ठेय होता है, और वह क्रियासे पूर्व असिद्ध होता है। अग्नि आधानसे पूर्व सिद्ध है और आधान उद्देश्य है, इसलिए वह अनुष्ठेय नहीं हो सकता।] इस तात्पर्यको स्पष्ट करते

विधिरनुष्ठापयति । अन्यथा स्वर्गकामादीनामप्यनुष्ठेयत्वप्रसङ्गात् । तस्मादुत्तरकाम्यक्रतुविधिप्रयुक्तिः परिशिष्यते । नहि विधिरिव कामोऽप्युपादेयमेवाऽनुष्ठापयति येनोक्तदोषः स्यात् । किन्तु यद्यदुद्देश्यमुपादेयं वा विना काम्यमानस्य न सिद्धिस्तत्सर्वं विधिसहकारितयाऽनुष्ठापयति । दृश्यते हि लोके विधिरागयोर्वैषम्यम् । 'सौवर्णपीठे समुपविशेत्' इति विधिस्तथाविधपीठाभावे पुरुषं न तत्रोपवेशयति रागस्तु तथाविधं पीठमुत्पाद्याऽपि तत्र निवेशयति । एवं च सति प्रकृतेऽप्याचार्यकरणकामनैवाऽऽचार्यप्रेरणद्वारेणाऽध्यापनसिद्ध्यर्थं माणवकेनाऽऽध्ययनं निर्वर्तयतीति स्थितम् ।

तदेतत्प्राभाकरमतं वेदान्तिनो न बहु मन्यन्ते । तथा हि—किं 'तमध्यध्यापयीत' इत्यत्राऽऽचार्यत्वं विधेयम् उत विधिरूपमथवा नैयोगिकं फलम् ?

हैं—विधि उपादेयका ही अनुष्ठान कराती है । इसके विपरीत—यदि उद्देश्य भी अनुष्ठेय माना जाय, तो स्वर्गार्थी आदि अधिकारी भी अनुष्ठेय होने लगेंगे। इससे अगले काम्य क्रतुओंके कारण प्राप्त हुई प्रयुक्तिसे अनुष्ठेय मानना, यह दूसरा पक्ष ही अवशिष्ट रहता है । विधिवाक्यके सदृश कामना भी उपादेयका ही अनुष्ठान कराती है, ऐसा कोई नियम नहीं है, जिससे कि अनुपादेयका अनुष्ठेय होनेका असम्भवरूप उक्त दोषका प्रसङ्ग हो, किन्तु नियम यह है कि जिस-जिस उद्देश्य अथवा उपादेय—साध्य—के बिना कामनाविषयकी सिद्धि नहीं हो सकती है, उन सबका ही कामना प्रधानविधिके सहकारीरूपसे अनुष्ठान कराती है। लोकमें विधि और कामनामें वैषम्य—भेद—देखा गया है । जैसे विधि है 'सोनेके पीठ—आसन—पर बैठे' । परन्तु उक्त विधान सुवर्णनिर्मित आसनके न होनेपर पुरुषको ऐसे पीठपर नहीं बैठा सकता—[इसके विपरीत, राग—कामना—तो ऐसे सुवर्णपीठको बनवाकर भी उसमें पुरुषको बैठा सकता है, इस प्रकार दोनोंमें वैषम्य हो जानेसे आचार्यकरणकी कामना ही आचार्यकी प्रेरणा करके अध्यापनकी सिद्धिके लिए माणवक द्वारा अध्ययनका अनुष्ठान कराती है, ऐसा सिद्धान्त स्थिर हुआ अर्थात् अध्यापन द्वारा उत्पन्न हुई प्रयुक्ति अध्ययनका अनुष्ठान करा देगी, इसमें अधिकारके श्रवणकी आवश्यकता नहीं है ।

इस पूर्वोक्त प्रभाकरके अनुयायियोंके मतको वेदान्ती अच्छा नहीं मानते हैं, क्योंकि 'उसको अध्ययन करावें' इस वाक्यमें क्या आचार्यत्व विधेय है ? अथवा विधिका स्वरूप है ? या लिङर्थ-नियोगका फल है ? इनमें प्रथम विकल्प नहीं

नाऽऽद्यः, उपनयनाऽध्यपनभावार्थविषयत्वाद्विधेः। न द्वितीयः, आत्मनेपदमात्रभिधेयस्याऽऽचार्यत्वस्य विधिपदानभिधेयतया विधिरूपत्वायोगात्। न तृतीयः, 'अचारान् ग्राहयति' इति व्युत्पत्त्या हेतुकर्तृत्वनिबन्धनस्याऽऽचार्यत्वस्य लौकिकत्वात्, अलौकिकस्यैव नैयोगिकत्वात्। न चोपनयनसाध्यत्वादलौकिकमाचार्यत्वं स्यादिति वाच्यम्, द्वितीयं जन्म तद्यस्मात् स आचार्य इति स्मृतावुपनयनं प्रति हेतुकर्तृत्वस्यैव लौकिकस्याऽऽचार्यशब्दनिमित्तत्वावगमात्। यद्याचार्यत्वमलौकिकं स्यात् तदा व्याकरणसूत्रे संमाननादिभिर्लौकिकार्थैः सह कथं पठ्येत? ननु विधायकप्रत्ययश्रवणाद् नियोगः प्रतीयते, तस्य नियोज्यविशेषणाकाङ्क्षायां स्वर्गवन्नियोगसाध्यत्वेनैव नियोज्यविशेषणत्वमाचार्यस्याऽभ्युपेतव्यम्, कारकफलस्य तदनुपपत्तेः। न चाऽऽचार-

---

माना जा सकता, कारण कि विधिका उपनयन तथा अध्यापनरूप अर्थ विषय है, [आचार्यत्व विषय नहीं है] दूसरा पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि केवल आत्मनेपदका ही अर्थ आचार्यत्व है, इसलिए आचार्यत्व विधिपद (लिङादि) का अर्थ न होनेसे विधिका स्वरूप नहीं हो सकता। तीसरा पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि आचार्यपदकी 'आचारोंका ग्रहण करानेवाला' ऐसी व्युत्पत्ति होनेसे हेतु और कर्ता होनेके कारण उत्पन्न हुआ आचार्यत्व लोकसिद्ध पदार्थ है। [अतः उसे नियोगफल नहीं मान सकते, कारण कि अलौकिक पदार्थ ही नियोगका फल माना गया है। उपनयनविधिका साध्य—विषय—होनेसे आचार्यत्व अलौकिक होगा, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि जिसके कारण द्वितीय जन्म होता है अर्थात् जो द्विजन्मा-व्यपदेशका हेतु है, वह आचार्य कहलाता है, इस स्मृतिमें लोकसिद्ध हेतुकर्तृत्वरूप ही आचार्यशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त प्रतीत होता है। यदि आचार्यत्व अलौकिक होता, तो व्याकरणसूत्रमें संमानन आदि लौकिक अर्थोंके साथ आचार्यकरणका पाठ कैसे होता है?

शङ्का—'अध्यापयीत' इत्यादि विधिबोधक प्रत्ययके श्रवणसे नियोगकी प्रतीति होती है। उस नियोगको नियोज्य-विशेषणकी आकाङ्क्षा होनेपर स्वर्गके तुल्य नियोगसाध्य होनेसे आचार्यको ही नियोज्यविशेषण मानना चाहिए, कारण कि फल नियोज्यका विशेषण नहीं हो सकता। उपनयनविधिमें आचारग्राहकत्वरूप हेतुकर्तृत्व आचार्यशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त नहीं

ग्राहकत्वमुपनयने हेतुकर्तृत्वं चाऽऽचार्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, विकल्पापत्तेः। अतो मन्त्राद्यलौकिकसाधनान्तरविधानादलौकिकमाचार्यत्वम् । सम्माननादीनां तु तदभावाद्भवतु लौकिकत्वम् । अतस्तैः सह पाठेऽप्यलौकिकमेवाऽऽचार्यत्वमिति चेद्, एवमप्युपनयननियोगफलं भविष्यति, तेनाऽध्यापनविधेः कुतः साधिकारता ?

अथ मतमुपनयने श्रुतमप्याचार्यत्वमध्यापनफलं भविष्यति, उपनयनस्य तदङ्गत्वादिति; तन्न, तथा सत्यङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवाद इति न्यायेनाऽऽचार्यत्वस्य नियोज्यविशेषणत्वासंभवप्रसङ्गात् । नन्वेवं सत्यनधिकारमध्ययनं सर्वथा नाऽनुष्ठीयेतेति चेद्, न; उपनीतस्याऽध्ययनाधिकार-

---

हो सकता, कारण कि ऐसा माननेमें विकल्पकी आपत्ति होगी । इसलिए मन्त्रादि अलौकिक साधनोंसे भिन्न साधनों द्वारा सिद्ध किया गया आचार्यत्व लौकिक ही है । [यद्यपि आचारग्राहकत्वरूप आचार्यत्व लौकिक है, तथापि उपनयन संस्कार तथा साङ्गोपाङ्ग अध्यापनविशिष्ट आचारग्राहकत्वरूप आचार्यत्वके लोकसिद्ध न होनेसे उसे अलौकिक ही मानना चाहिए] सम्मानन आदि अलौकिक मन्त्रादि साधनोंसे सम्पन्न नहीं है, इसलिए वे लौकिक कहे जाते हैं, इस कारण उन लौकिक सम्मानन आदिके साथ पाठ होनेपर भी आचार्यत्व अलौकिक ही है ।

समाधान—यद्यपि ऐसा मान भी लिया जाय अर्थात् उक्त प्रकारका विशिष्ट आचार्यत्व अलौकिक मान भी लिया जाय, तो भी वह उपनयनरूप नियोगका ही फल होगा, इससे अध्यापनविधिका अधिकारयुक्त होना कैसे हो सकता है ?

शङ्का—यद्यपि उपनयनविधिमें आचार्यत्वका श्रवण है, तथापि वह अध्यापनका फल माना जायगा, कारण कि उपनयन अध्यापनका अङ्ग—उपकारक—है ।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि अध्यापनके अङ्गभूत उपनयनके फलरूपसे आचार्यत्वको अध्यापनका फल माननेमें 'अङ्गोंमें फलका श्रवण अर्थवाद है' इस न्यायसे आचार्यत्व नियोज्यका विशेषण नहीं हो सकेगा ।

शङ्का—इस प्रकार तो अधिकाररहित अध्ययनका किसी भी दशामें अनुष्ठान प्राप्त नहीं होगा

त्वात्; वाजसनेयिशाखायामुपनयनं प्रक्रम्याऽध्ययनस्य विहितत्वात्। सर्वस्मृतिषु चोपनीतोऽधीयीतेत्यवगमात्। अतोऽध्ययनस्य स्वविधिप्रयुक्तानुष्ठानोपपत्तौ तदनुष्ठानसिद्ध्येऽध्यापनेऽधिकारिणं परिकल्प्य न मनः खेदनीयम्। ननु न तं कल्पयामि किन्त्वस्त्येव सः, श्रुतौ दुःसंपादत्वेऽपि 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इत्यादिमनुवाक्येन तदवगमादिति चेद्, न; तद्वाक्यस्योपनयनाध्यापनानुवादेन कर्तुराचार्यसंज्ञाविधायकत्वाद्, वाक्यगतयत्तच्छब्दाभ्यामनुवादविध्योर्निश्चयात्। आचार्यसंज्ञायाश्च नमस्कारादिविधानेषूपयोगात्। नन्वेवमप्यप्रबुद्धस्य माणवकस्योपनीतस्य स्वाधिकारं प्रतिपद्याऽनुष्ठातुमशक्यत्वादध्यापनविधिरेव कथञ्चित्साधिकारोऽध्ययनमपि

समाधान—उपनयनसंस्कारसे संस्कृतका ही अधिकार प्राप्त है, कारण कि वाजसनेयिशाखामें उपनयनका उपक्रम करके अध्ययनका विधान किया गया है, तथा सब स्मृतियोंमें 'उपनीतको ही पढ़ाना चाहिये' ऐसा ही मिलता है। इस कारण अध्ययनके अनुष्ठानकी अपने ही विधानसे उपपत्ति हो जानेसे उसके अनुष्ठानकी सिद्धिके लिए अध्यापनविधिमें अधिकारीकी कल्पना करके मनको परिश्रम नहीं देना चाहिए।

शङ्का—हम अध्यापनविधिमें अधिकारीकी कल्पना नहीं करते हैं, किन्तु वह तो है ही। यद्यपि श्रुतिमें सुगमतासे अधिकारीका सम्पादन नहीं हो सकता, तथापि 'जो शिष्यका उपनयन संस्कार करके' इत्यादि मनुवचनसे उसकी प्रतीति होती है, [इसलिए उसकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है।]

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, मनु आदिका वह वचन उपनयन और अध्यापनका अनुवाद करके कर्ताकी आचार्यसंज्ञाका विधायक है, क्योंकि वाक्यमें आये हुए 'यत्' और 'तत्' शब्दसे अनुवाद और विधिका निश्चय होता है। नमस्कार आदिके विधानमें आचार्यसंज्ञाका उपयोग होता है [इससे आचार्यसंज्ञाको व्यर्थ होनेका प्रसङ्ग नहीं आता।]

शङ्का—अप्रबुद्ध तथा उपनीत शिष्य अपना अधिकार प्राप्त कर अध्ययनका अनुष्ठान नहीं कर सकता, इसलिए अध्यापनका विधान ही कथञ्चित् अधिकारयुक्त हो अध्ययनकी भी प्रयुक्ति करा ही देता है।

प्रयुङ्क्त एवेति वाच्यमिति चेत्, तत्र किमध्यापनविधिरविहितमध्ययनं प्रयुङ्क्ते उत विहितम्? नाऽऽद्यः, अध्ययनविध्यप्रेरितानां तत्र प्रयोजनशून्यानां पुरुषाणामाचार्यं प्रति गुणभावेन प्रवृत्त्ययोगात्। द्वितीये विधिस्वरूपसिद्ध्येऽध्ययनेऽधिकार्यपि स्वीकार्यः। विषय एव विधिस्वरूपसाधको नाऽधिकारीति चेत्, तर्हि विहितस्याऽध्ययनस्याऽधिकारिविशेषाभावाद्यं कंचिदध्यापयेदिति प्राप्नुयात्। तस्मात् प्रकरणसमर्पितेनोपनीतेनाऽधिकारिणा साधिकारोऽध्ययनविधिः स्वयमेव स्वविषये पुरुषं प्रवर्त्तयति। अन्यथा स्वाधिकारविधिनैवाऽप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यसम्भवात्। न च बालकस्य स्वाधिकारप्रतिपत्त्य-

---

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं करते, कारण कि ऐसा माननेमें विकल्प हो सकते हैं कि क्या अध्यापन अविहित अध्ययनकी प्रयुक्ति करता है अथवा विहितकी? प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि अध्ययन विधिसे अप्रेरित और उसमें प्रयोजन शून्य पुरुषोंकी आचार्यके प्रति गुणभावसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। [जिनका वेदके अध्ययनमें अधिकार नहीं है, ऐसे द्विजेतर वर्णी और अनुपनीतके लिए 'अध्येतव्यः' इस पदमें आये तव्यप्रत्ययके लिए नियोग प्रेरणा ही नहीं करता, अतएव उनको आचार्यका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, इससे सिद्ध हुआ कि आचार्यकरणका विधान अविहित लौकिक अध्ययनकी प्रयुक्ति नहीं कर सकता।] विहित अध्ययनका अध्यापन प्रयोजक है, इस दूसरे विकल्पमें विधिके स्वरूपकी सिद्धिके लिए अध्ययनमें अधिकारी भी मानना ही होगा [अधिकारीके बिना विधिका स्वरूप ही नहीं बन सकता।] विषय ही विधिके स्वरूपका प्रतिपादक होता है, अधिकारी नहीं, ऐसा यदि कहो, तो विहित अध्ययनका अधिकारीविशेष निर्दिष्ट न होनेसे 'जिस किसी [अनधिकारी] को भी पढ़ावे, ऐसा 'अतिसङ्ग' प्राप्त हो जायगा। इसलिए प्रकरणप्राप्त उपनीत अधिकारीके द्वारा अधिकारयुक्त अध्ययनका विधान स्वयं अपनेमें पुरुषकी प्रवृत्ति करा लेगा [अध्ययनके अनुष्ठानकी प्रयुक्ति अध्ययन द्वारा माननेकी आवश्यकता नहीं है, अन्यथा स्वाधिकारविधिके द्वारा प्रवृत्त न किये गये पुरुषकी प्रवृत्तिका सम्भव नहीं है। [जिस विधानमें पुरुष अपना अधिकार नहीं समझता, उसे करनेके लिए उसकी प्रवृत्ति नहीं देखी गई है, इसलिए अपने अधिकारकी विधिसे प्रेरित होकर ही पुरुष प्रवृत्त होता है] बोधरहित बालकको

सम्भवः, विध्यर्थापरिज्ञानेऽपि संध्योपासनसमिदाहरणादिकर्त्तव्यताप्रतिपत्तिव-त्पित्राद्युपदेशसामर्थ्याद्ध्ययनकर्त्तव्यताप्रतिपत्तेः । नन्वध्ययनस्याऽध्यापन-विधिप्रयुक्तौ नाऽयं क्लेशः, आचार्यस्य प्रबुद्धस्य स्वाधिकारं प्रतिपत्तुंशक्यत्वात् । यद्यपि कश्चित् प्रेक्षावान् माणवको न स्वाधिकारमबुद्ध्वा प्रवर्त्तेत तथाप्यन्योऽप्र-बुद्ध आचार्यप्रेरितः प्रवर्त्तिष्यत एव । ततः प्रवाहरूपेणाऽध्यापनं न विच्छि-द्यत इति चेद्, एवमप्याचार्यः किमन्येनोपनीतान्माणवकानध्यापयेद् उत स्वेनैवोपनीतान्, नाऽऽद्यः, उपनयनस्याऽपि त्वन्मतेऽध्यापनाङ्गतया तद्वैकल्ये नियोगानिष्पत्तावाचार्यत्वफलासिद्धेः । तर्ह्यस्तु द्वितीयः, उक्तदोषाभावादिति

अपने अधिकारका ज्ञान होना सम्भव नहीं है, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि विधिका अर्थपरिज्ञान न होनेपर भी 'सन्ध्योपासन', 'समिधाओंका लाना' इत्यादि ब्रह्मचारीके कर्तव्योंका जैसे पिता आदिके उपदेशके बलसे ज्ञान हो जाता है, वैसे ही उपदेशकी सामर्थ्यसे अध्ययनमें कर्तव्यताका ज्ञान होगा ।

शङ्का—अध्ययनकी अध्यापन द्वारा प्रयुक्ति माननेमें यह क्लेश (उपदेश-सामर्थ्यका आश्रयण) नहीं करना होता, क्योंकि प्रबुद्ध—विद्वान्—आचार्यको अपने अधिकारका परिज्ञान होना सरल है । यद्यपि कभी-कभी चतुर बालक अपने अधिकारको जाने बिना अध्ययन आदि कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते, तथापि दूसरा मन्दबुद्धि बालक आचार्यकी प्रेरणासे प्रवृत्त होगा ही । इस कारण प्रवाह-रूपसे प्राप्त अध्ययनका लोप नहीं होने पाता । अध्ययनविधिको स्वयं अधिकारशून्य माननेमें उसका अनुष्ठान सम्भव न होनेसे अध्यापनका उच्छेद होना सम्भव हो जाता है, इस आशङ्काका समाधान करते हैं कि यद्यपि चतुर बालक अधिकारके परिज्ञानके बिना अध्ययन नहीं करेंगे, तथापि भोले बालक गुरुकी प्रेरणा मानकर अधिकारकी जिज्ञासाके बिना प्रवृत्त हो ही जायँगे, और आचार्य तो प्रबुद्ध ही है, उसको अपने आचार्यत्वकी रक्षाके लिए बालकोंकी अध्य-यनमें प्रेरणा करना अभीष्ट ही है, अतः अध्यापनका लोप नहीं हो सकता ।]

समाधान—ऐसी आशङ्का करनेपर भी विकल्प होंगे कि क्या आचार्य दूसरेके द्वारा उपनयनसंस्कृत बालकोंको पढ़ावे ? अथवा अपने ही द्वारा उपनीत बालकोंको ? प्रथम कल्प माननेमें तुम्हारे मतमें उपनयन भी अध्यापनका अङ्ग होगा, अतः उसके अभावमें नियोगकी पूर्ति नहीं होगी इसलिए आचार्यत्वरूप फल भी सिद्ध नहीं हो सकेगा । अच्छा तो—स्वयं

चेद्, नः एवमपि नित्यानित्यसंयोगविरोधस्य दुरपवादत्वात् । तथा हि—अध्यापनं तावदनित्यम्, द्रव्यार्जनार्थत्वात् । नह्याचार्यत्वमध्यापनफलं भवितुमर्हति, सुखप्राप्तिदुःखपरिहारसाधनरूपत्वाभावेनाऽपुमर्थत्वात् । न चाऽदृष्टं तत्फलत्वेन कल्प्यम्, दृष्टे सति तदयोगात् । अस्ति दृष्टम्—

'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥'

इत्यध्यापनस्य द्रव्यार्जनोपायत्वेन स्मरणात् । ननु याजनस्य जीविकार्थत्वं युक्तं ऋत्विग्भ्यो दक्षिणादिविधौ सति सर्वाङ्गानुष्ठापकस्य दक्षिणाद्यनुष्ठापकतया द्रव्यार्जनं निश्चित्य तदर्थिना याजने प्रवृत्तिसम्भवात् । अत्र

उपनयन कराकर अध्यापन करे—यह दूसरा पक्ष मानिये, क्योंकि इसमें प्रथम कल्पमें दिया गया दोष नहीं आता, ऐसा भी नहीं है, कारण कि ऐसा माननेपर भी नित्य तथा अनित्य पदार्थके संयोगका विरोध नहीं हटाया जा सकता। (विरोध दिखलाते हैं—) अध्यापन तो अनित्य है, कारण कि उसका प्रयोजन द्रव्य कामना है। [काम्यविधि सब अनित्य हैं, कामनारहितको उनका विधान प्राप्त नहीं होता है] अध्यापनका फल (प्रयोजन) आचार्यत्व नहीं हो सकता है, कारण कि (आचार्यत्व) सुख पाने एवं दुःखनिवारण करनेका उपाय न होनेसे पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। अध्यापनकी अदृष्ट फलकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, कारण कि दृष्ट फलके रहते अदृष्टकी कल्पना नहीं की जाती। अध्यापनका दृष्ट फल है—ब्राह्मणके छः कर्मोंमेंसे तीन कर्म उसकी जीविका है (अर्थात् धन कमानेके साधन हैं)। इन तीन कर्मोंको दिखलाते हैं—पहला यज्ञ करना, दूसरा अध्यापन—पढ़ाना—और तीसरा शुद्ध परिग्रह—दान—लेना। इस प्रकार स्मृतियोंमें पढ़ाना द्रव्यु कमानेका उपाय कहा गया है।

शङ्का—यज्ञ कराना तो जीविकाके लिए ही मानना उचित है, कारण कि याजकोंके लिए दक्षिणादानका विधान है, अतः सर्वाङ्गपूर्ण यज्ञका अनुष्ठान करानेवाला ही दक्षिणा आदिका भाजन होता है, इसलिए द्रव्यार्जनका निश्चय करके द्रव्यकी इच्छासे यज्ञ करानेमें प्रवृत्तिका होना सम्भव है।

तु भृतकाध्यापननिषेधात्। प्रकारान्तरेण द्रव्यार्जनाभावाद् न तादर्थ्यमध्यापनस्येति चेद्, मैवम्; माणवकस्याऽध्ययनाङ्गत्वेन गुरुदक्षिणादिविधानादङ्गिन्यध्ययनेऽनुष्ठापकस्याऽध्यापनविधेर्दक्षिणाशुश्रूषाद्यङ्गेष्वनुष्ठापकत्वात्। तस्माद् द्रव्यार्जनकामेनाऽनुष्ठेयत्वादध्यापनमनित्यम्। उपनयनाख्यस्तु संस्कारो नित्यः, अकरणे दोषश्रवणात्।

'आषोड़शात्तु द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात्।'

इति त्रैवर्णिकानामुपनयनस्याऽमुख्यं कालमभ्यनुज्ञाय पश्चात्स्मर्यते।

'अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥'
'नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि च कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः क्वचित्॥' इति।

अध्यापनमें तो भृतकाध्यापनका (वेतन आदि लेकर अध्यापन करनेका) निषेध है और अध्यापनमें वेतन लेनेके अतिरिक्त दूसरे प्रकारसे द्रव्यार्जन होता नहीं, इसलिए अध्यापनको द्रव्यार्जनका निमित्त नहीं माना जाता।

समाधान—माणवक शिष्यके लिए अध्ययनके अङ्गभूत (उपकारक) दक्षिणादानका विधान होनेसे अङ्गी—प्रधानभूत—अध्ययनमें प्रवर्तक—अनुष्ठान करानेवाली—अध्यापनविधि ही दक्षिणा और शुश्रूषा—सेवा—आदि अङ्गोंमें भी अनुष्ठापक होती है। इस निष्कर्षसे द्रव्यार्जनकी इच्छासे किया जानेवाला अध्यापन अनित्य है। और उपनयनरूप संस्कार नित्य है, क्योंकि उपनयनसंस्कार न करनेसे दोषका श्रवण है—

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका यथाक्रम सोलह, बाईस तथा चौबीस वर्ष तक उपनयनका गौण काल है। इस प्रकार तीन वर्णोंके लिए उपनयनके गौण कालकी प्रतिज्ञा करनेके अन्तर स्मृतिमें कहा गया है कि इस निर्दिष्ट अवधिके अनन्तर इन तीनों वर्णोंका यदि उचित समयपर संस्कार नहीं किया गया, तो ये सावित्री—गायत्री—व्रतसे पतित होते हुए व्रात्य दोषसे दूषित होते हैं और इनकी आर्यजन निन्दा करते हैं। तथा ब्राह्मणको इन अपवित्र पतित ब्राह्मणोंके साथ आपत्ति आ पड़नेपर भी ब्राह्म या यौन सम्बन्ध—विवाह आदि सम्बन्ध—नहीं करना चाहिए।

नन्वकरणे दोषश्रवणमात्रेणोपनयनस्य नित्यतायां प्रायश्चित्तस्याऽपि नित्यता प्रसज्येत ।

'अतीते चिरकाले तु द्विगुणं व्रतमर्हति ।'

इति प्रायश्चित्ताकरणनिमित्तदोषस्य निरासाय प्रायश्चित्तान्तरविधानात् । नहि प्रायश्चित्तं नित्यं दोषापनयकामिनाऽनुष्ठेयत्वात् । उच्यते, न प्रायश्चित्ताकरणनिमित्तदोषनिरासाय द्विगुणं व्रतमुच्यते किन्तु प्रायश्चित्तेन निराकर्त्तव्यस्य पूर्वदोषस्यैवाऽतीते चिरकाले द्विगुणव्रतापेक्षयैव निरास इत्युच्यते। अन्यथा प्रायश्चित्तानवस्थाप्रसङ्गात् । ततो नोपनयनस्य नित्यतायामतिप्रसङ्गः । तच्चोपनयनं नित्यभूतमध्ययनाङ्गत्वादङ्गिनोऽध्ययनस्याऽपि नित्यतां कल्पयति ।

ननूपनयनस्याऽध्ययनाङ्गत्वमयुक्तम् , अध्ययनमनारभ्याऽधीतत्वात् ।

शङ्का—उपनयनके न करनेमें दोषका श्रवण होनेसे ही उपनयन संस्कार यदि नित्य माना जाय, तो इसके प्रायश्चित्तको भी नित्य मानना होगा। 'अधिक समय बीतनेपर द्विगुण व्रत करना चाहिए।' इस प्रकार प्रायश्चित्त न करनेसे उत्पन्न हुए दोषका निवारण करनेके लिए 'द्विगुण व्रतरूप' दूसरे प्रायश्चित्तका विधान किया गया है। इससे प्रायश्चित्त नित्य नहीं हो सकता, कारण कि दोष दूर करनेकी इच्छासे उसका अनुष्ठान किया जाता है। [इससे काम्य-विधान नित्य नहीं हो सकता]।

समाधान—प्रायश्चित्त न करनेसे उत्पन्न हुए दोषको दूर करनेके लिए द्विगुण व्रतका अनुष्ठान नहीं है; किन्तु प्रायश्चित्तसे हटाये जानेवाले पूर्व दोषका अधिक समय बीतनेपर द्विगुणित व्रतकी अपेक्षासे निरास स्मृतिमें कहा गया है, प्रायश्चित्त न करनेसे उत्पन्न हुए नवीन दोषके निराकरणके लिए नहीं है। अन्यथा प्रायश्चित्तकी अनवस्थाका प्रसङ्ग हो जायगा। इससे उपनयन संस्कारको नित्य माननेपर भी अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता। और वह उपनयन नित्यविधिभूत अध्ययनका अङ्ग होनेसे अङ्गीभूत अध्ययनमें भी नित्यताकी कल्पना करता है।

शङ्का—उपनयनको अध्ययनका अङ्ग मानना उचित नहीं है, कारण कि अध्ययनका आरम्भ—उपक्रम—न करके ही उपनयनका विधान किया गया है।

यद्यनङ्गत्वे संस्कारकर्मत्वं नोपपद्यते, तर्हि हिरण्यधारणवद् गत्यन्तरं कल्पनीयम्। 'हिरण्यं भार्यम्' इत्यत्र हि न तावद्धिरण्यधारणस्य प्रयाजादिवदर्थकर्मता घटते, कर्मकारकप्राधान्येन विधानात्। यदि संस्कारकर्मत्वं तदाऽपि संस्कार्यहिरण्यद्वारा क्रतुविशेषेण संबध्येत उत क्रतुमात्रेण। नाऽऽद्यः, विशेषसंबन्धबोधकश्रुत्यादीनामभावात्। न द्वितीयः, एकस्य संस्कारस्य सर्वक्रतूपकारित्वानुपपत्तेः। अतः संस्कारकर्मत्वं परित्यज्याऽभ्युदयफलः स्वतन्त्रो विधिरभ्युपगतः। एवमुपनयनविधिरपि स्वतन्त्र एवाऽभ्युदयफलः स्यात्। अत्रोच्यते, अनारभ्याऽधीतस्योपनयनस्याऽध्ययनाङ्गत्वबोधकानां पूर्वतन्त्रतृतीयाध्यायोक्तश्रुत्यादिप्रमाणानामभावेऽपि तत्रस्थचतुर्थाध्यायोक्तविध्याक्षेपरूपोपादानप्रमाणेनोपनयनस्याऽध्ययनाङ्गत्वं सिध्यति। अनुपपन्नं

यदि अङ्ग न माननेमें उपनयन संस्कारकर्म नहीं बन सकता, तो हिरण्यधारणके दृष्टान्तसे दूसरी गतिकी कल्पना करनी चाहिए। [हिरण्यधारणदृष्टान्तमें गतिकल्पना दिखलाते हैं]—'हिरण्य–सुवर्ण–धारण करना चाहिए' इस विधानमें सुवर्णका धारण प्रयाज आदिके समान अर्थकर्म नहीं बन सकता, कारण कि कर्मकारककी प्रधानतासे उसका विधान किया गया है। ('भार्यम्' इस पदमें प्रत्ययार्थ कर्मरूप अर्थ प्रधान है) यदि वह संस्कारकर्म माना जाय, तो प्रश्न यह होगा कि क्या संस्कार्य हिरण्य द्वारा यज्ञविशेषसे वह सम्बद्ध होगा? या यज्ञसामान्यसे? प्रथम कल्प नहीं बन सकता; क्योंकि विशेष क्रतुके साथ सम्बन्धका बोध करनेवाले श्रुति आदि कोई प्रमाण नहीं हैं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि एक संस्कार सब क्रतुओंका उपकारक नहीं बन सकता। इसलिए संस्कारकर्म माननेका परित्याग करके उसे अभ्युदय देनेवाला स्वतन्त्र ही विधान माना गया है। इसी प्रकार उपनयनको भी अभ्युदय देनेवाली स्वतन्त्र विधि ही मानना चाहिए, अध्ययनका अङ्ग नहीं मानना चाहिए।

समाधान—इस आशङ्कामें कहा जाता है—किसीका उपक्रम न करके पढ़े गये उपनयनविधानमें अध्ययनकी अङ्गताके बोधक पूर्वमीमांसाके तीसरे अध्यायमें कहे गये श्रुति आदि प्रमाण न होते हुए भी उसी शास्त्रके चौथे अध्यायमें कहे गये विधिके आक्षेपरूप उपादान प्रमाणसे उपनयन अध्ययनका अङ्ग सिद्ध होता है और आचार्यके समीप गये बिना अध्ययन बन नहीं

स्वाचार्योपसत्तिमन्तरेणाऽध्ययनम् , लिखितपाठादिप्रतिषेधेनाऽऽचार्याधीनश्चे-दमधीष्वेत्युपसत्तौ नियमविधानात् । ततोऽध्ययनविधिरुपसत्तिं स्वाङ्गत्वेनाऽऽक्षिपति । तथोपनयनाख्यसंस्कारविधिश्च प्रयोजनमपेक्षमाण उपसत्तिसमवेतमेवाऽदृष्टं कल्पयति, दृष्टसमवाय्यदृष्टसंभवे स्वतन्त्रादृष्टायोगात् । ततश्चोपनयनाध्ययनविधिद्वयोपादानसामर्थ्याद्ध्ययनाङ्गत्वमुपनयनस्याऽवगम्यते । न च वाच्यमङ्गत्वेऽपि न प्रोक्षणादिवत्संस्कारकर्मतयाऽङ्गता प्रयाजादिवत्फलोपकार्यङ्गतैव किं न स्यादिति । अङ्गिस्वरूपनिष्पादकतया संनिपत्योपकारिणः संस्कारस्याऽभ्यर्हितत्वात् । फलोपकार्यङ्गन्तु नाभ्यर्हितम् , अपूर्वद्वारेणाऽऽरादुपकारकत्वात् । अतो माणवकसंस्कारकर्मतयैवोपनयनमध्ययनस्वरूपोपकार्यङ्गम् । किंचोपादानप्रमाणवच्छ्रुतिप्रकरणे अप्यध्ययनाङ्गत्वमुपनयनस्य गमयतः, अष्टवर्षो

सकता और लिखे हुये वेदको स्वयं पढ़ लेनेका निषेध होनेसे आचार्यके अधीन ही अध्ययन है, कारण कि आचार्यके पास जाकर 'यह पढ़ो' ऐसा पढ़नेके नियमका विधान है । इससे अध्ययनविधान उपसत्तिका (अर्थात् नियमपूर्वक आचार्यके पास जाकर आचार्यके उपदेशानन्तर पढ़नेका) अपने अङ्गत्वरूपसे आक्षेप करता है । इस प्रकार उपनयननामक संस्कारविधान प्रयोजनकी अपेक्षा करता हुआ उपसत्तिगत ही अदृष्ट फलकी कल्पना करता है, कारण कि दृष्टगत अदृष्ट फलकी सम्भावना रहनेपर स्वतन्त्र अदृष्टकी कल्पना नहीं होती, इस कारण उपनयन और अध्ययन दोनों विधियोंके उपादानके बलसे उपनयन ही अध्ययनका अङ्ग प्रतीत होता है ।

शङ्का—अध्ययनका अङ्ग होनेपर भी उपनयनको प्रोक्षण आदिके समान संस्कारकर्मके रूपमें अङ्ग क्यों मानते हैं, अध्ययनका फलोपकारी ही अङ्ग क्यों न माना जाय ?

समाधान—अङ्गी—प्रधानभूत—अध्ययनके स्वरूपका निष्पादक होनेसे उपनयन संनिपत्य उपकारी संस्कार ही अभ्यर्हित—उचित—है, फलका उपकारी अङ्ग तो अभ्यर्हित नहीं है, कारण कि अपूर्वके द्वारा आरात् उपकारक है, इसलिए माणवक—बालक—का संस्कार कर्म होनेसे ही उपनयन अध्ययनका स्वरूपोपकारी ही अङ्ग है । और भी हेतु है कि उपादान प्रमाणके तुल्य श्रुति तथा प्रकरण ये दो प्रमाण भी उपनयन अध्ययनका अङ्ग है, ऐसा बोधन करते हैं ।

ब्राह्मण उपगच्छेत्सोऽधीयीतेति वाक्यविपरिणामस्य विवक्षितत्वात्। तच्छ्रुतिरेवोपनयनसंस्कृतं माणवकमादायाऽध्ययने विनियुङ्क्ते। न च तच्छब्देनैव माणवकस्यैव परामर्शो न संस्कारस्येति वक्तुं युक्तम्, संस्कारस्याऽनन्तरप्रकृतत्वात्। न च श्रुतेरनाकाङ्क्षितस्य समर्पणप्रसङ्गः, उपनयनाध्ययनयोरुपसत्तिद्वारा परस्परसाकाङ्क्षत्वस्य दर्शितत्वात्। ननु सोऽधीयीतेत्यत्र संस्कृतो माणवकः प्रातिपदकार्थ एव न तु विभक्त्यर्थः। न च प्रातिपदिकमात्रमङ्गाङ्गिभावसंबन्धं बोधयितुमलम्, द्वितीयाश्रुत्यादेरेव तद्बोधकत्वादिति चेद्, मैवम्; प्रातिपदिकस्याऽप्यन्वितताभिधायितया संबन्धप्रतिपादकत्वात्। अन्वि-

---

'आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिए' इस श्रुतिवाक्यका आठ वर्षका ब्राह्मण आचार्यके समीप जाय और वह पढ़े, इस प्रकारका वाक्यके विपरिणाममें—परिवर्तनमें—तात्पर्य है। इसलिए श्रुति ही उपनयनसंस्कारसे संस्कृत बालकको लेकर अध्ययनमें प्रेरित करती है। 'सोऽधीयीत' इस वाक्यमें 'तद्' शब्दसे केवल बालकका ही परामर्श—बोध—होता है, संस्कारका परामर्श नहीं होता। [यदि संस्कारका भी परामर्श होता तो संस्कृत बालक लिया जाता और उससे उपनयनरूप संस्कार अध्ययनके स्वरूपका उपपादक हो सकता, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि तत् शब्द केवल माणवकका परामर्श करता है] ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि संस्कार ही समीपमें प्रकरणप्राप्त है (और 'तत्' शब्द स्वभावतः समीपवर्तीका परामर्श करता है)। श्रुतिमें अनपेक्षित अर्थका बोध कराना दोष इससे नहीं आता, कारण कि उपनयन और अध्ययनकी उपसत्तिके—नियमपूर्वक आचार्यके पास बैठनेके—द्वारा परस्पर अपेक्षा पूर्वमें ही दिखला चुके हैं।

शङ्का—'सोऽधीयीत—वह पढे' इस वाक्यमें संस्कारयुक्त बालक तो प्रातिपदिकका ही अर्थ है, विभक्तिका अर्थ नहीं है (विभक्त्यर्थ होनेसे ही उपनयन और अध्ययनमें अङ्गाङ्गिभावका बोध हो सकता है) केवल प्रातिपदिक अङ्गाङ्गिभावका बोध करनेमें समर्थ नहीं है, कारण कि द्वितीया विभक्तिका श्रवण आदि ही उक्त सम्बन्धका बोधक है।

समाधान—अन्वित—सम्बद्ध—अर्थका वाचक होनेसे प्रातिपदिक भी सम्बन्धका बोधक हो सकता है। यदि अन्वित अर्थका वाचक न

ताभिधायित्वाभावे तत्प्रयोग एव न स्यात्। तस्मात्तच्छब्दश्रुतिरङ्गत्वं गमयति। तथा प्रकरणमपि तद्गमकं वाजसनेयिशाखायां सर्वस्मृत्यनुमितश्रुतिषु चोपनयनं प्रकृत्याऽध्ययनविधानात्। न चैवमुपनयनप्रकरणे पठितमध्ययनमेवाऽङ्गं प्रसज्येतेति वाच्यम्, अध्ययनस्य फलत्वात्। फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायेनोपनयनस्यैवाऽङ्गत्वप्राप्तेः। अत उपादानश्रुतिप्रकरणैरुपनयनस्याऽङ्गत्वं सिद्धम्। तच्चोपनयनं स्वयं नित्यभूतमङ्गिनोऽध्ययनस्य कथं न नित्यतामापादयेत्। नह्यङ्ग्यभावे कदाचित्कुत्रचिदङ्गं संभवति। अस्ति ह्यध्ययनस्याऽप्युपनयनवदकरणे प्रत्यवायः।

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥'

माना जाय, तो उसका प्रयोग ही न होगा। ('सोऽधीयीत' यहांपर प्रधानविधिभूत अध्ययनसे अन्वित ही तच्छब्दका अर्थ है, अन्यथा उक्त प्रयोग न होगा) इस कारण 'तत्' शब्दका श्रवण ही उपनयनकी अङ्गता कहता है। एवं प्रकरण भी उसकी (अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्धकी) प्रतीति कराता है, कारण कि बाजसनेयिशाखामें और सम्पूर्ण स्मृतियोंमें एवं अनुमित श्रुतियोंमें भी उपनयनका प्रक्रम (उपक्रम) करके अध्ययनका विधान किया गया है। इस दशामें तो उपनयनके प्रकरणमें पढ़े गये अध्ययनके अङ्गत्वके प्रसङ्गकी आशङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कारण कि अध्ययन फल है। फल अङ्ग नहीं हो सकता, [वह तो (प्रधान) अङ्गी होगा] और 'फलवान्‌के सन्निधानमें उसका अङ्ग फलशून्य होता है' इस न्यायसे उपनयनको ही अङ्ग होनेका अवसर है। इसलिए उपादान, श्रुति तथा प्रकरण—इन तीनों प्रमाणोंसे उपनयन अङ्ग ही सिद्ध होता है, और वह अङ्गस्वरूप उपनयन नित्य होता हुआ अपने अङ्गी अध्ययनकी नित्यताका प्रतिपादन कैसे नहीं करेगा ? (अर्थात् नित्यभूत अङ्ग अपने अङ्गीकी नित्यताको भी सिद्ध करेगा) । यह निश्चित है कि अङ्गीके अभावमें अङ्गका रहना सम्भव नहीं हो सकता और उपनयनके न करनेमें जैसे प्रायश्चित्तका श्रवण है, वैसे ही अध्ययनके न करनेपर भी प्रायश्चित्तका श्रवण है—'जो ब्राह्मण वेदको न पढ़कर दूसरे शास्त्रोंमें परिश्रम करता है, वह इसी जीवनमें अपने वंशके सहित शूद्रतुल्य हो जाता है।' जो श्रोत्रिय नहीं तथा

अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयः शूद्रसधर्माणो भवन्तीति स्मरणात्। तथा च नित्यमध्ययनं द्रव्यकामानुष्ठेयेनाऽनित्येनाऽध्यापननेन कथं प्रयुज्येत। न च वाच्यं काम्यमप्यध्यापनं नित्यसमीहितजीवनफलहेतुत्वान्नित्यमिति। तावताऽध्यापनस्य नित्यवदनुष्ठानासिद्धेः। शब्दप्रमाणाद्धि नित्यकर्त्तव्यताप्रमितौ संध्यावन्दनादाविवाऽकरणे प्रत्यवायभयान्नियमेन पुरुषः प्रवर्त्तते। अध्यापनस्य तु न शब्दान्नित्यकर्त्तव्यता प्रमीयते, किन्तु नित्यसमीहितस्य जीवनाख्यफलस्य हेतुत्वेन कल्प्यते। नहि तथा कल्पयितुं शक्यम्, अध्यापनमन्तरेण याजनप्रतिग्रहादिनाऽपि जीवननिष्पत्तेः।

अथ मन्यसे उपनयनाध्यापनयोर्नित्यपुत्रोत्पादनविधिशेषतया नित्यत्वं भविष्यति। नित्यश्च पुत्रोत्पादनविधिः, नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्तीत्य-

---

अनुवाक नहीं जानते एवं अग्निधारण नहीं करते वे ब्राह्मण शूद्र जैसे होते हैं, ऐसा स्मृतिकारोंने कहा है। इसलिए द्रव्यकी कामनासे किये जानेवाले अनित्य (काम्य) अध्यापनसे नित्य अध्ययनकी प्रयुक्ति कैसे हो सकती है ?। अध्यापन काम्य होता हुआ भी नित्य हो सकता है, कारण कि अध्यापन नित्य तथा अभीष्ट जीवनरूप फलका कारण है, [जीवनकालको सुखमय बनानेवाला द्रव्योपार्जन सर्वदा अभीष्ट होनेसे जीविका नित्य है और उसका कारण अध्यापन है, अतः वह भी नित्य हो सकता है] ऐसा भी कहना नहीं बन सकता, कारण कि ऐसा माननेपर भी अध्यापनके, नित्य विधिके तुल्य, अनुष्ठानकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द प्रमाणसे नित्यविधिका निश्चय होनेपर सन्ध्यावन्दन आदिमें जैसे न करनेसे प्रायश्चित्तके डरसे नियमपूर्वक पुरुष प्रवृत्त होता है, इसलिए नित्य सन्ध्यावन्दन आदि विधिका अनुष्ठान शब्दतः नित्य प्राप्त होता है। अध्यापनकी नित्यता तो शब्द द्वारा निश्चित नहीं होती, किन्तु नित्य तथा अभीष्ट जीवन—जीविकारूप—फलका कारण होनेसे उसकी नित्यताकी कल्पना की जाती है, परन्तु ऐसी कल्पना करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अध्यापनके बिना भी यज्ञ करने तथा शुद्ध परिग्रहसे भी जीवनकी सिद्धि हो सकती है।

शङ्का—वादी मानता है कि उपनयन और अध्यापन दोनोंकी नित्यता नित्यभूत पुत्रोत्पादन विधिके अङ्ग होनेसे सिद्ध होगी और पुत्रोत्पादन विधि नित्य

करणे प्रत्यवायश्रवणात्। तथा 'त्रिभिरृणैर्वा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति ऋणत्रयमुपन्यस्य पश्चात् 'एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी चाऽस्ति' इति पुत्रिणः पितॄन्प्रत्यानृण्यं दर्शयति। तच्चाऽऽनृण्यं पुत्रस्य पिण्डपितृयज्ञाद्यनुष्ठानद्वारेण पितृतृप्तिहेतुत्वादुपपद्यते। तदनुष्ठानं चाऽनुपनीतस्याऽनधीतस्य वेदार्थमजानतो न संभवति। अतो नित्यस्य पुत्रोत्पादनविधेः फलपर्यन्ततापेक्षितमनुशासनं तच्छेषतया विधीयते। तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः तस्मादेनमनुशासतीति। ततश्च पितुरेव नित्यपुत्रोत्पादनविधिसामर्थ्यादुपनयनाध्यापनविधीनां नित्यत्वं प्राप्तमिति।

है, कारण कि 'पुत्रहीनको कोई लोक (सद्गति) प्राप्त नहीं होता' इस प्रकार पुत्रोत्पादन न करनेमें प्रायश्चित्तका श्रवण है, और 'तीनों ऋणोंके साथ पुरुष उत्पन्न होता है' ऋषियोंके लिए ब्रह्मचर्य, देवताओंके लिए यज्ञ एवं पितरोंके लिए पुत्र-सन्तान, इस प्रकार तीन ऋणोंका उल्लेख करनेके अनन्तर—यह ऋण मुक्त हो जाता है, जो पुत्रवान् हो जाय और जो यज्ञ करे तथा जो ब्रह्मचारी हो, इस प्रकार पुत्रवान् पुरुष पितरोंके प्रति ऋणसे मुक्त होता है, यह दिखलाया गया है। वह ऋणमुक्तता पितरोंकी तृप्तिके कारणभूत पिण्डपितृयज्ञ आदिके अनुष्ठान द्वारा उपपन्न होती है। और उन पिण्डपितृ आदि यज्ञोंका अनुष्ठान ऐसे पुत्रसे नहीं हो सकता—जिसका उपनयन संस्कार न हुआ हो तथा जिसने वेद न पढ़ा हो एवं जो वेदके अर्थको न जानता हो। इसलिए नित्यभूत पुत्रकी उत्पादनविधिकी सफलताके लिए अपेक्षित अनुशासनका पुत्रोत्पादनविधिके अङ्गके रूपमें ही विधान किया जाता है, इस कारण 'शिक्षित पुत्र ही लोकोंकी प्राप्तिका साधन कहा गया है, इसलिए ही उसको आचार्य वेदादिका उपदेश देते हैं' (अर्थात् पुत्रके बिना पुण्यलोक नहीं मिल सकते और पुत्र होनेपर भी उसके उपनयन संस्कार और वेदाध्ययन कराये बिना फलकी प्राप्तिका सम्भव नहीं है, इसलिए उत्तम लोककी प्राप्तिरूप फलकी सिद्धिके लिए उपनयन तथा अध्यापन आवश्यक है एवं पुत्रोत्पादन विधिको सफल करनेवाले दोनों उसके अङ्ग हैं। इस निष्कर्षसे पिताको ही नित्य पुत्रोत्पादन विधिकी सामर्थ्यसे उपनयन तथा अध्यापनविधिका नित्य होना प्राप्त होता है। (इस प्रघट्टकसे वादीका आशय यह है कि दिया गया

नैतत्सारम्, संप्रतिपत्तिकर्मविधिशेषार्थवादरूपस्य 'तस्मात्पुत्रम्' इति वाक्यस्याऽनुशासनविधायकत्वायोगात्। यदा हि पिताऽरिष्टादिना स्वस्य मरणं निश्चिनुते तदा स्वानुष्ठेयानि वेदतदर्थतत्फलानि पुत्रे समर्पयेत् स च पुत्रस्तान्यनुष्ठेयतया स्वीकुर्यात् तदेतत्संप्रतिपत्तिकर्म। तथा च श्रूयते 'अथातः संप्रतिपत्तिर्यदा प्रष्यन्मन्यते तदा पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति।' तत्र च संप्रतिपत्तिकर्मणि पूर्वानुशासनमन्तरेणाऽकस्मादेव सकलकर्तव्यसंग्रहानुपपत्तेः फलपर्यन्तपुत्रोत्पादनविधिनाऽऽक्षिप्तमनुशासनं पूर्वनिर्वृत्तमेवाऽर्थवादतयाऽनेन वाक्येनाऽनूद्यते। ननु मा भूदेतद्वाक्येऽनुशासनविधानं तथाऽपि नित्य-

---

नित्यानित्यसंयोगविरोधरूप दोष अध्यापनके नित्य माननेपर भी नहीं आ सकता है)।

समाधान—अध्यापनमें उक्त प्रकारसे नित्यत्वका साधन करना सारभूत नहीं है, कारण कि अपना ही अनुष्ठेय समझकर पिताके द्वारा समर्पित कर्मोंका स्वीकार करना संप्रतिपत्तिकर्म करना कहलाता है। कर्मविधिका अङ्ग तथा अर्थवादस्वरूप 'तस्मात्पुत्रम्—' यह पूर्वकथित वाक्य उपदेशका विधायक हो नहीं सकता है। जब कि पिता अरिष्ट आदिसे अपना (आसन्न ही) मरण निश्चित कर ले तब अपने किये हुए वेदके अध्ययन तथा अर्थविचार एवं उसके फल सबको ही पुत्रके अधीन कर दे और वह पुत्र उन सबका अनुष्ठान अपना कर्तव्य समझ कर उन्हें स्वीकार करे' इसको संप्रतिपत्तिकर्म कहते हैं, ऐसा ही श्रुतिमें कहा गया है—जब पिता अपनेको मरणासन्न समझता है तब पुत्रसे कहता है कि तुम ब्रह्म हो, तुम यज्ञ हो, तुम लोक हो, तब वह पुत्र कहता है—मैं ब्रह्म, मैं यज्ञ, मैं लोक हूँ। उस सम्प्रतिपत्ति कर्ममें पहले दिये हुए उपदेशके बिना अकस्मात् ही सम्पूर्ण कर्तव्योंका सङ्ग्रह—स्वीकार कर अनुष्ठान करना—उपपन्न नहीं हो सकता, इसलिए पहले ही (मरणासन्न अवस्थाके उपदेशसे पूर्व ही) किये गये अनुशासनका (कर्तव्यके उपदेशका) ही फलपर्यन्त पुत्रकी उत्पादनविधिसे आक्षेप होता है, जिसका कि अर्थवादके रूपमें इस वाक्यसे अनुवाद किया जाता है, अतः 'तस्मात्पुत्रम्—' इत्यादि वाक्य विधायक नहीं है।

पुत्रोत्पादनविधिसामर्थ्यादेव पितुरुपनयनाद्यनुशासनविधिर्नित्य एव प्राप्त इति चेद्, मैवम्; पितुः पुत्रं प्रत्यनुष्ठापकत्वात्। अन्यथा स्तनन्धयस्येतरस्य वा मृतपितृकस्योपनयनाद्यभावप्रसङ्गात्। अनुशासनं तु कर्त्तव्यार्थोपदेशनमात्रमिति श्रौतलिङ्गादवगम्यते। तथा च श्रुतिः 'श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति'। न च वाच्य पितरि कथञ्चिन्मृते माणवक एवाऽऽचार्यान्तरमाहूय नित्यमुपनयनादिकं सम्पादयिष्यति ततोऽनुष्ठापनमेवाऽ-

---

शङ्का—यद्यपि 'तस्मात् पुत्रम्'—इस वाक्यमें अनुशासनका विधान मान भी लिया जाय, तथापि नित्यभूत पुत्रोत्पादनविधिकी ही सामर्थ्यसे पिताके लिए उपनयन आदि अनुशासनका विधान नित्य ही प्राप्त होता है। [तात्पर्य यह है कि जबतक उपनयन आदि अनुशासन पिता न करे तबतक उस पुत्रका पिण्डपितृयज्ञादिमें अधिकार न होनेसे नित्यभूत पुत्रोत्पादनका विधान सफल न होगा, अतः पिताको अनुशासनविधान भी नित्य ही प्राप्त होता है।]

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि पुत्रके प्रति अनुष्ठानका प्रयोजक पिता नहीं है। नहीं तो (यदि पिताके ही कारण अनुशासनका सम्भव होता तो) जिस दुधमुँहे या कुछ वयस्क (उपनयनयोग्य) बालकका पिता मर गया होगा उसके उपनयन आदि अनुशासनका अभाव हो जायगा, [क्योंकि अनुष्ठानके कारण पिता तो उसके रहे ही नहीं] किन्तु अनुशासन तो कर्तव्यके पालनके लिए उपदेशमात्र है, इस प्रकार श्रुतिसिद्ध लिङ्गसे प्रतीत होता है। जैसे कि श्रुति है—'अरुणिके पुत्र श्वेतकेतुसे उसका पिता उपदेश करता है'—आरुणेय श्वेतकेतु कोई एक (ब्राह्मण) था, उससे उसके पिता कहते हैं कि 'हे श्वेतकेतु! ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययनव्रत) धारण करो, हे सौम्य! अर्थात् हे सुशील उत्तम मतिवाले पुत्र! हमारे कुलका बालक कोई भी वेदका अध्ययन तथा मनन किये बिना ब्राह्मण जैसा नहीं हुआ है'। (अर्थात् संस्कार तथा वेदाध्ययनादि कर्महीन जातिमात्रसे ब्राह्मणब्रुव नहीं हुआ है)।

शङ्का—दुरदृष्टवश पिताके मर जानेपर भी बालक (माणवक) ही किसी अन्य आचार्यको बुलाकर उपनयन आदि संस्कारोंका सम्पादन कर लेगा, इससे उसके लिए अनुष्ठान ही अनुशासन होगा 'अर्थात् अनुशासनका विधान तो नित्य ही हुआ'।

नुशासनमस्त्विति । तत्र किं माणवकः स्वाधिकारसिद्ध्यर्थमाचार्यान्तरं करोति किं वाऽऽचार्यनियोगसिद्ध्यर्थम् ? नाऽऽद्यः, अध्यापनप्रयुक्तिमध्ययनस्य वदता भवता माणवकस्य पृथगधिकारानङ्गीकारात् । न द्वितीयः, न ह्यन्यनियोगोऽन्यस्य कर्त्तव्यबुद्धिमुत्पादयति । न चाऽकर्त्तव्यानुष्ठानाय साधनसम्पादनं युक्तम् । अथ साधनान्तरप्रतिनिध्युपादानवदधिकारिणोऽपि प्रतिनिध्युपादानेन कर्त्तव्यं माणवकः संपादयेत्, तन्न, वैषम्यात् । सर्वत्र ह्यधिकारिणः कर्त्तव्यमनुष्ठातुं साधनान्तरप्रतिनिधिरादीयते । अधिकारिप्रतिनिधिस्तु कर्त्तव्यनुष्ठातुमादीयेत । न तावन्मृतस्याऽऽऽचार्यस्य कर्त्तव्यं

समाधान—उक्त शङ्कामें प्रष्टव्य यह होता है कि क्या 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिसे प्राप्त अपने अधिकारकी सिद्धिके लिए माणवक मृत पितासे अतिरिक्तको आचार्य बनाता है ? अथवा 'तमध्यापयीत' इस विधिसे प्राप्त आचार्यके नियोगकी सिद्धिके लिए ? इनमें प्रथम कल्प नहीं कह सकते, कारण कि 'अध्ययनकी प्रयुक्ति—अनुष्ठान—अध्यापनके द्वारा होती है, इस प्रकारके आपके मतमें माणवकका—बालकका—अलग कोई अधिकार ही नहीं माना गया है । दूसरा कल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरेका नियोग—अधिकार—दूसरेकी कर्तव्य बुद्धिको उत्पन्न नहीं कर सकता और जो कर्तव्य नहीं है उसके अनुष्ठानके लिए (आचार्यकरण आदि) उपायोंका सम्पादन करना युक्तिसङ्गत नहीं होता, इससे कर्तव्य समझे बिना ही आचार्यकरणका सम्पादन करेगा, इस शङ्काका अवकाश नहीं रह जाता ।

शङ्का—जैसे साधनान्तर प्रतिनिधिरूपसे लिए जाते हैं, वैसे ही अधिकारीके—आचार्यके—कर्तव्यका भी प्रतिनिधिके उपादानसे माणवक सम्पादन करेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि दृष्टान्तमें यहांपर विषमता है । [दृष्टान्तका स्वरूप दिखलाते हैं]—सर्वत्र ही अधिकारीके कर्तव्यका अनुष्ठान करनेके लिए दूसरे साधनभूत प्रतिनिधिका उपादान होता है । और अधिकारीका प्रतिनिधि तो कर्तव्यके अनुष्ठानके लिए लिया जाता है । [अधिकारीको अपना कर्तव्य करना है; परन्तु निरुक्त साधन नहीं मिलता है, ऐसी दशामें दूसरा साधन प्रतिनिधि लिया जाता है, एवं कर्तव्य करना आवश्यक है, परन्तु कारणवशात् अधिकारी समर्थ नहीं हुआ तब वह अन्य प्रतिनिधि करेगा, क्योंकि कर्तव्य करना आवश्यक है, अतः अधिकारि-

संभवति, विधिसंबन्धनिमित्तस्य निवृत्तत्वात् । नाऽपि प्रतिनिधित्वेनोपादेयस्याऽऽचार्यस्य तत्संभवः। तस्याऽऽचार्यस्य कर्त्तव्यत्वसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात् । अतो न माणवक आचार्यन्तरमादायाऽध्येतुमर्हति । अथ मृताचार्यशिक्षितं माणवकमन्य आचार्यः स्वीकृत्य स्वाधिकारं निर्वर्तयितुमध्यापयेत्, तदप्ययुक्तम्; पूर्वोपनीतस्य माणवकस्याऽऽचार्यान्तरेण पुनरुपनयनासंभवे सत्युपनेतृत्वलक्षणस्याऽङ्गस्य वैकल्येऽङ्गिनोऽध्यापनस्य निष्पत्त्ययोगात् । न

वैकल्य या साधनवैकल्यमें प्रतिनिधिका ग्रहण होता है; परन्तु जहांपर कर्तव्य प्राप्त ही नहीं है, ऐसे स्थलमें प्रतिनिधिका ग्रहण प्राप्त नहीं होता, इस आशयसे दार्ष्टान्तिक–आचार्यकरण––में वैषम्य दिखलाकर प्रतिनिधिग्रहणका असम्भव दिखलाते हैं] मरे हुए आचार्यके कर्तव्यका तो सम्भव नहीं है, क्योंकि विधिके सम्बन्धका निमित्त तो वहांपर निवृत्त हो गया है, ['अध्यापयीत' इस विधिके अधिकारी आचार्यके मर जानेपर उक्त विधि किस नियोगका बोधन करेगी' इसलिए मरनेपर 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इसके अधिकारके तुल्य किसी भी विधिका अधिकार नहीं रह जाता, अतः मृतका कुछ कर्तव्य ही नहीं है] और 'मृत पिताके' प्रतिनिधिस्वरूपसे लिये गये उस दूसरे आचार्यका ही वह कर्तव्य हो सकता है, कारण कि वह (प्रतिनिधिभूत) आचार्य तो कर्तव्यकी सिद्धिके अनन्तर कालमें ही किया गया है। [तात्पर्य यह है कि उपनयन, अध्यापन आदिको माणवकने कर्तव्य समझकर निर्द्धारित कर लिया, अब पिताके अभावमें उस कर्तव्यका पालन कैसे हो, तब उसने आचार्यकरण किया जिससे प्रतिनिधिभूत आचार्य उपनयन आदिको अपना कर्तव्य समझे।] इस कारण माणवक (जिसका पिता मर गया हो) दूसरेको आचार्य बनाकर अध्ययन नहीं कर सकता।

शङ्का—आचार्य–पिता–ने माणवकको शिक्षा अर्थात् उपनयन संस्कार आदि उपदेश दे दिये, परन्तु पढ़ाये विना मर गया, ऐसे मरे हुए आचार्य द्वारा शिक्षित माणवकको दूसरा आचार्य शिष्य बनाकर अपने अधिकारकी सिद्धिके लिए पढ़ा लेगा।

समाधान—यह भी कथन युक्त नहीं है, कारण कि पहले (मृत) आचार्य द्वारा उपनीत शिष्यका दूसरे आचार्य द्वारा दुबारे उपनयन संस्कारका सम्भव न होनेसे उपनयनरूप अङ्गके अभावमें अङ्गीभूत अध्यापनकी

चाऽनेनाऽऽचार्येणाऽङ्गभूतमुपनयनं माणवकान्तरेऽनुष्ठितमिति वाच्यम्, तथा सत्यङ्गिनोऽध्यापनस्याऽपि तत्राऽनुष्ठितत्वेन पुनरनुष्ठानायोगात्। अन्यथा स्वोपनीतस्याऽध्यापनात् प्रागेव मृतावङ्गिमात्रानुष्ठानाय माणवकान्तरस्वीकारः तर्ह्यनुपनीतमप्यध्यापयेत्। यदि स्वोपनीतानध्याप्य द्रव्यबाहुल्यायाऽन्यानप्यध्यापयतीत्युच्येत, तदा दरिद्रं नाऽध्यापयेत्। शुश्रूषायै दरिद्रमप्यध्यापयिष्यतीति चेद्, एवमपि त्वन्मते लौकिकवैदिकव्यवहारो दुर्वारः। लोके हि माणवककर्त्तव्यनिष्पत्तये एवाऽऽचार्योऽन्विष्यते नाऽऽचार्यकर्त्तव्यनिष्पत्तये माणवकः। वेदेऽपि सत्यकामो ह जाबालो ब्रह्मचर्यायाचार्यस्वयमेवाऽन्विष्योपसन्नवानिति गम्यते। तथा च श्रुतिः 'स ह हारिद्रुमन्तं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति' तदेवमध्यापनस्य नित्यत्वे बहुदोषसद्भावादनित्येन च तेन नित्यस्याऽध्ययनस्य प्रयुक्तौ

सिद्धि नहीं हो सकती। इससे विपरीत [अङ्गवैकल्यसे भी अङ्गीकी सिद्धि हो सकती है तो] अपने द्वारा उपनीत शिष्यके पढ़ानेसे पूर्व ही मरण हो जानेपर केवल अङ्गीभूत अध्यापनकी (पढ़ानेकी) सिद्धिके लिए दूसरे माणवकका लेना स्वीकार हो तो, जिसका उपनयन न किया गया हो, उसको भी पढ़ा दिया जा सकता है। यदि अपने द्वारा उपनीत शिष्योंको पढ़ाकर अधिक द्रव्यकी अभिलाषासे दूसरोंको भी पढ़ा लिया जायगा, ऐसा कहो तो धनहीन बालकको पढ़ाना प्राप्त न होगा। यदि शुश्रूषा—सेवा—के लिए धनहीनका भी पढ़ाना प्राप्त होगा, तो ऐसा माननेपर लौकिक वैदिकव्यवहार तुम्हारे मतमें दुर्वार हो जायगा।

लोकमें बालकके कर्तव्यकी निष्पत्तिके लिए ही आचार्यकी अन्वेषणा होती है, आचार्यके कर्तव्यकी सिद्धिके लिए माणवककी खोज नहीं की जाती। एवं वेदमें भी सत्यकाम जाबाल ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययन) के लिए स्वयं आचार्यकी खोजके लिए गुरुकुलमें पहुँचा था। जैसे कि श्रुति है—'स ह' इत्यादि। अर्थात् वह गौतमके पास जाकर कहने लगा भगवन्! मैं नियमपूर्वक वेद पढ़ना चाहता हूँ, इसलिए आपका शिष्य बनूं। इस प्रकार अध्यापनविधिको नित्य माननेमें बहुत दोषोंके आ जानेसे उसे अनित्य ही मानना चाहिए, तब उस अनित्य अध्यापनसे

नित्यानित्यसंयोगविरोधात् स्वविधिप्रयुक्तमेवाऽध्ययनमङ्गीकार्यम् ।

ननूपनयनाध्ययनयोः स्वविधिप्रयुक्तत्वे सति तत्प्रयुक्ततयैवोपनयनाध्यापनसिद्धेरुपनयीत तमध्यापयीतेति तद्विधानमनर्थकमिति चेद्, मैवम्, नाऽत्राऽऽचार्यव्यापारयोरुपनयनाध्यापनयोर्विधिः, किन्तु माणवकव्यापारयोरुपगमनाध्ययनयोः। ननु वाक्ये प्रयोजककर्तुराचार्यस्य व्यापारौ प्रतीयेते, तत्र साक्षात्कर्तुर्माणवकस्य व्यापारयोः स्वीकारे विरोधाज्जीवनार्थतया प्राप्तावाचार्यव्यापारावनूद्याऽप्राप्तयोर्माणवकव्यापारयोर्विधानस्य न्याय्यत्वात्। नाऽपि शब्दविरोधः, 'एतया ग्रामकामं याजयेत्' इत्यत्र प्रयोजकव्यापारमन्तरेण स्वार्थेऽपि णिच्प्रत्ययप्रयोगदर्शनात्। याजनस्य वृत्त्यर्थतया प्राप्तस्याऽनुवादेनाऽप्राप्तं यजनमेव विधीयते। एवम् 'अध्यापयीत' इत्यत्र किं न स्यात्।

नित्यभूत अध्ययनकी प्रयुक्ति माननेमें नित्यानित्य संयोगका विरोध होनेसे अध्ययनको अपनी विधि द्वारा ही प्रयुक्त हुआ मानना चाहिए।

शङ्का—यदि उपनयन और अध्ययन स्वविधिप्रयुक्त माने जायँ, तो उसीसे उपनयन और अध्यापनकी सिद्धि हो जायगी, फिर 'उपनयीत' 'अध्यापयीत' इन वाक्योंसे उनका विधान करना व्यर्थ ही है।

समाधान—नहीं, वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहां आचार्यके व्यापारभूत उपनयन और अध्यापनकी विधि नहीं है, किन्तु माणवकके व्यापारभूत उपगमन और अध्ययनकी विधि है। यदि शङ्का हो कि वाक्यमें प्रयोजकभूत कर्ता आचार्यके उक्त दो व्यापार प्रतीत होते हैं, माणवकके नहीं होते, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, कारण कि वहाँ प्रयोजक कर्ताको छोड़कर साक्षात् कर्ताके व्यारका अङ्गीकार करने पर विरोध होता है, इससे जीवनके लिए प्राप्त आचार्यके व्यापारोंका अनुवाद करके अप्राप्त माणवकके व्यापारका विधान करना ही उचित प्रतीत होता है। शब्दके साथ भी विरोध नहीं है, क्योंकि 'एतया' इस वाक्यमें प्रयोजक व्यापारके बिना स्वार्थमें भी 'णिच्' प्रत्ययका प्रयोग देखा जाता है। वृत्तिके लिए प्राप्त याजनके अनुवादसे जैसे अप्राप्त यजनका विधान किया जाता है, वैसे ही 'अध्यापयीत' इत्यदि स्थलमें भी क्यों नहीं होगा?

ननु याजयेदध्यापयेदित्यत्र कर्तृव्यापारस्य णिच्प्रत्ययार्थतयाऽवगमादेकतरस्य प्रसिद्धस्याऽनुवादेनेतरस्य विधिरस्तु। 'उपनयीत' इत्यत्र तु धात्वर्थस्यैव प्रयोजकव्यापारत्वादनभिधीयमानः कर्तृव्यापारः कथं विधीयते। न च वाच्यमुपनयने मा भून्माणवकव्यापारविधिः, अध्यापने तु भविष्यतीति, वाक्ययोः सारूप्यात्, उच्यते; प्रयोजकव्यापाराभिधायिनाऽपि नयतिधातुना माणवकव्यापारस्याऽनभिधीयमानस्याऽपि गम्यमानताया वक्ष्यमाणत्वात् स एव धातुना लक्षणयोपादाय विधीयते, न प्रयोजकव्यापारः। तस्य स्वयमेव प्राप्तत्वात्। ननु तत्प्राप्तिर्दुःसंपादा, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्। दक्षिणाशुश्रूषाद्यङ्गसहिते ह्यध्ययने माणवकस्य विहिते तस्य च स्वविधिप्रयुक्तौ सत्यां वृत्त्यर्थतयाऽऽचार्यप्रवृत्तिः प्राप्नोति।

शङ्का—'यज्ञ करावे' 'अध्ययन करावे' इन वाक्योंमें प्रेरकरूप कर्ताके व्यापारकी 'णिच्' प्रत्ययके अर्थके रूपमें प्रतीति होती है (वह धात्वर्थ याजन, तथा अध्ययनकी प्रयुक्ति करा सकता है) इनमेंसे एक अर्थ जो प्रसिद्ध है उसका अनुवाद करके दूसरेका विधान मानना चाहिए। 'उपनयीत' (उपनयन संस्कार करावे) इस वाक्यमें धातुका अर्थ ही प्रेरणारूप प्रयोजक—प्रेरक—व्यापार है, इसलिए अभिधा द्वारा प्रतीत न होनेवाले कर्त्ताके व्यापारका विधान कैसे किया जा सकता है ? ऐसा भी नहीं कह सकते कि उपनयनमें माणवकके व्यापारका विधान न हो, परन्तु अध्यापनमें तो होगा, कारण कि दोनों वाक्योंमें समानता है।

समाधान—उत्तर कहा जाता है, प्रयोजक व्यापारका बोधन करनेवाले 'नी' धातुसे भी अभिधावृत्ति द्वारा बोधित न होनेवाला माणवकका व्यापार प्रतीत हो जाता है, ऐसा हमको आगे प्रतिपादन करना है। और उसी 'नी' धातुसे लक्षणा वृत्ति द्वारा प्राप्त हुए उस माणवकके व्यापारका ही विधान किया जाता है 'प्रयोजक व्यापारका विधान नहीं किया जाता, कारण कि प्रयोजक व्यापार तो स्वयं प्राप्त है।

शङ्का—उस माणवकके व्यापारके विधानकी प्राप्ति नहीं सिद्ध की जा सकती, कारण कि इसमें इतरेतराश्रय दोषका प्रसङ्ग आ जाता है। [इतरेतराश्रय दोष दिखलाते हैं]—दक्षिणा या सेवा आदि अङ्ग सहित अध्ययनका माणवकके लिए विधान करनेपर उस साङ्ग अध्ययनकी अपनी ही विधिसे प्रयुक्ति

वृत्त्यर्थप्रवृत्तौ प्राप्तायां तदनुवादेन माणवकव्यापारोऽध्ययनादिर्विधातुं शक्यत इति, मैवम्; ग्रामकामं याजयेदित्यत्र याजनप्राप्तेरपि दुःसंपादत्वप्रसङ्गात्। दक्षिणाद्यङ्गसहिते कर्तृव्यापारे विहिते सति वृत्त्यर्थत्वेन प्रयोजकव्यापारप्राप्तिस्तत्प्राप्तौ च तदनुवादेन कर्तृव्यापारविधिरिति परस्पराश्रयत्वात्। अथ स्वविधिप्रयुक्तेषु यागान्तरेषु सामान्येन वृत्त्यर्थतया प्राप्तं प्रयोजकव्यापारमनूद्य ग्रामकामस्य यागविशेषो विधीयेत तर्हीहाऽपि विध्यन्तरेषु सामान्यप्राप्तप्रयोजकव्यापारानुवादेनोपगमनाध्ययनादिमाणवकव्यापारो विधीयताम्। ननु याजनात्मक एव प्रयोजकव्यापारो यागान्तरेषु प्राप्तोऽस्ति। उपनयनाध्यापनात्मकस्तु तथा न विध्यन्तरेषु प्राप्त इति चेत्, तर्हि भाविनी प्राप्तिरस्तु। माणवकव्यापारविधिसामर्थ्यादेव

होनेपर जीविकाके निमित्त आचार्यकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है, और आचार्यकी आजीविकाके लिए प्रवृत्ति प्राप्त होनेपर उसका अनुवाद करके माणवकके अध्ययन आदि व्यापारका विधान किया जा सकता है, [इसलिए प्रयोजकव्यापारको प्राप्त नहीं कह सकते]।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि उक्त प्रकारसे प्राप्तिके दोष देनेसे तो 'ग्रामकी इच्छावालेको यज्ञ कराना चाहिए' इस वाक्यमें यज्ञ करानेकी प्राप्तिका भी सम्पादन नहीं कर सकते। दक्षिणा आदि अङ्गके सहित कर्त्ताके व्यापारका विधान होनेपर आजीविकाके लिए प्रयोजक व्यापारकी प्राप्ति होती है, और प्रयोजक व्यापारकी प्राप्ति होनेपर उसका अनुवाद करके कर्ताके व्यापारका विधान होगा, इस रीतिसे इतरेतराश्रय हो जाता है। यदि कहो कि अपने ही विधानसे प्रयुक्त दूसरे दूसरे यागोंमें सामान्यरूपसे प्राप्त हुए प्रयोजक व्यापारका अनुवाद करके ग्रामकी कामनावालेके लिए यागविशेषका विधान किया जाता है। (इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता), तो प्रकृतमें भी दूसरे दूसरे विधानोंके स्थलमें सामान्यतः प्राप्त प्रयोजक व्यापारके अनुवादसे समीपगमन तथा अध्ययन आदि माणवक व्यापारका विधान किया जाना चाहिए।

शङ्का—यज्ञ कराना, ऐसा प्रयोजक व्यापार अन्य यागोंमें प्राप्त है। उपनयन, (समीपप्रापण) तथा अध्यापनरूप व्यापार, तो वैसा दूसरे विधानोंमें प्राप्त नहीं है।

प्रयोजकव्यापारः प्राप्स्यते, तत्पूर्वकत्वात् माणवकव्यापारस्य। न च वैपरीत्येन प्राप्तिः शङ्क्या; नह्यनित्येन नित्यप्राप्तिः संभवतीत्युक्तत्वात्। ननु प्राप्तस्योत्पत्तिविध्यसंभवेऽपि तदनुवादेनाऽधिकारविधिः स्यादिति चेद्, नः वाक्ये जीवनादिनित्यकाम्याधिकारयोरश्रवणात्।

तर्ह्यरुणया पिङ्गाक्ष्या क्रीणातीतिवद् गुणविशेषविधिरस्तु, स च गुणोऽष्टवर्षब्राह्मणाख्य इति चेद्, नः ब्राह्मणत्वाष्टवर्षत्वाख्ययोर्गुणयोरुभयोरपि विशेषतया परस्परसम्बन्धरहितयोर्विशिष्टविध्ययोगात्, पृथग् विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अरुणवाक्ये तु विशेष्यस्य यागसाधनक्रयणस्याऽप्य-

---

समाधान—तो भाविनी—होने वाली—प्राप्तिको ले लीजिये। माणवकके (उपगमन या अध्ययनरूप) व्यापारके विधानकी सामर्थ्यसे ही प्रेरणारूप प्रयोजक व्यापार प्राप्त हो जायगा, कारण कि प्रयोजकव्यापारपूर्वक ही माणवकका व्यापार होता है अर्थात् आचार्यकी प्रेरणाके अनन्तर ही माणवकका उपगमन या अध्ययन होता है। इससे विपरीत अन्य किसी प्रकारसे प्राप्तिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए अर्थात् अध्यापनरूप प्रयोजकव्यापारसे अध्ययनकी प्राप्ति नहीं कहनी चाहिए, कारण कि अनित्य अध्यापनसे नित्य अध्ययनकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह पूर्वमें ही कह आये हैं।

शङ्का—यद्यपि प्राप्तकी उत्पत्तिविधि नहीं हो सकती है, तथापि उसके 'प्राप्तके' अनुवादसे अधिकार विधि तो हो सकती है ?

समाधान—नहीं, नहीं हो सकती, कारण कि वाक्यमें जीवन आदि नित्य और काम्य अधिकारोंका श्रवण नहीं है। वाक्य तो 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' केवल इतना ही है। [इसमें 'जीविकाकामः' इत्यादि नित्य या काम्य किसी प्रकारके अधिकारका श्रवण नहीं है।]

शङ्का—अच्छा तो 'लाल पिङ्गाक्षीसे क्रयण करता है' इस वाक्यके समान गुणविशेषका विधान मानो ? वह विधीयमान गुण अष्टवर्षात्मक ब्राह्मणरूप होगा।

समाधान—नहीं, गुणविधान भी नहीं हो सकता है, कारण कि ब्राह्मणत्व और अष्टवर्षत्व दोनों गुण, विशेष होनेसे, परस्पर सम्बन्धरहित हैं, इससे विशिष्ट विधिका सम्बन्ध नहीं हो सकता, अलग अलग विधान करनेमें वाक्यभेदका

न्यतोऽप्राप्तस्य विधेयतयाऽरुणादीनामनेकेषामपि विशेषणानां तदन्वये सति विशिष्टविधानं युक्तम्, न तथेह प्रयोजकव्यापारो विधेयः; प्राप्तत्वात्। अतो नाऽनेकेषु गुणविधिः, तदुक्तम्—

'प्राप्ते कर्मणि नाऽनेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ॥' इति।

ननु प्रयोजकव्यापारस्य प्राप्तत्वाद्यथा विधिर्निराक्रियते तथा माणवकव्यापारस्याऽपि स निराकर्तुं शक्यः, 'माणवकमुपनयीत' इत्यत्र कर्मभूतस्य माणवकस्य व्यापाराप्रतीतेः। नहि 'ग्रामं गच्छेत्' इत्यत्र ग्रामस्य व्यापारः प्रतीयते, मैवम्; शब्दतो न्यायतश्चाऽत्र माणवकस्य गमनव्यापारप्रतीतेः।

प्रसङ्ग होगा। उक्त अरुण वाक्यमें तो विशेष्यभूत यागके साधनभूत क्रयणकी अन्य प्रकारसे प्राप्ति न होनेसे वह विधेय है, इसलिए अनेक विशेषणोंका भी उसके साथ अन्वय होनेसे विशिष्टका विधान युक्तिसङ्गत है। प्रकृतमें वैसा प्रयोजक व्यापार विधेय नहीं है, क्योंकि वह तो प्राप्त ही है, (इससे विशेष्यभूत प्रेरणात्मक व्यापारके विधेय न होनेसे अष्टवर्षत्व तथा ब्राह्मणत्व आदि विशेषणविशिष्टका विधान भी सम्भव नहीं हो सकता] इसलिए अनेक विशेषणोंमें गुणविधि नहीं हो सकती। कहा भी है—

अन्य प्रमाणसे प्राप्त कर्ममें अनेक गुणका विधान नहीं किया जा सकता। अप्राप्त कर्ममें तो एक ही यत्नसे बहुत गुणोंका भी विधान हो सकता है। अर्थात् अनेक गुणोंका भी विधेयविशेषणरूप एक यत्नसे विधान हो सकता है।

शङ्का—प्रयोजक व्यापारके प्राप्त होनेसे उसके विधानका जैसे निषेध किया जाता है, वैसे ही माणवकव्यापारके विधानका भी निषेध किया जा सकता है, कारण कि 'माणवकका उपनयन करे' इस वाक्यमें कर्मकारक माणवकके व्यापारकी प्रतीति नहीं होती है, जैसे 'ग्रामको जाना चाहिए' इस वाक्यमें ग्रामके व्यापारकी प्रतीति नहीं होती। [अर्थात् इससे जिस व्यापारकी प्रतीति ही नहीं होती उसका विधान कैसे हो सकता है, यह भाव है ?]

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि शब्द द्वारा और न्यायसे भी मावणकका गमनरूप व्यापार प्रतीत होता है। [शब्द द्वारा गमनकी प्रतीत्ति दिखलाते हैं—]

लोके हि नयत्यर्थवाचिशब्दप्रयोगेषु नीयमानस्य गमनं दृष्टमिति शब्दतस्तत्प्रतीतिः तथा बालानामक्षरशिक्षायै शिक्षकगृहं प्रति गमनं दृष्टं ततो न्यायोऽपि माणवकव्यापारं प्रत्याययति। नहि प्रेक्षावान् माणवको विधिमन्तरेणाऽध्ययनादौ प्रवर्त्तते। अर्थावबोधादिदृष्टफलार्थत्वनिराकरणे रागतः प्रवृत्त्ययोगात्। ततो वाक्यविपरिणामेन माणवकव्यापारोऽत्र विधातव्यः। यथा 'ग्रामकामं याजयेत्' इत्यत्र 'ग्रामकामो यजेत्' इति विपरिणामस्तथा 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यत्रापि 'अष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत् सोऽधीयीत' इति विपरिणामः स्यात्।

नन्वेवमपि नाऽत्र विधिः सङ्गच्छते, निरधिकारत्वात्। न तावदत्राऽष्टवर्षत्वमात्रमधिकारनिमित्तम्, शूद्रस्याऽप्युपनयनादिप्रसङ्गात्। नाऽपि ब्राह्मण्यमात्रम्, जातमात्रस्य तत्प्रसङ्गात्। नाऽप्युभयम्, तयोः परस्परान्वयाभावात्,

---

क्योंकि लोकमें नीधातुके अर्थके वाचक शब्दोंके प्रयोगोंमें नीयमानका गमन देखा गया है, इसलिए शब्दसे उसकी प्रतीति सिद्ध ही है। [न्यायसे भी उसकी प्रतीति दिखलाते हैं]—अक्षर सीखनेके लिए अध्यापकके घर बालकोंका जाना देखा गया है, इससे न्याय भी माणवकके व्यापारकी प्रतीति कराता है। विधानके बिना कोई भी बुद्धिमान् माणवक अध्ययनादिमें प्रवृत्त नहीं होता। अध्ययनका अर्थावबोध—अर्थनिश्चय—आदि दृष्ट फल न माननेपर रागसे अध्ययनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। [कार्यमें दृष्ट फलके लिए ही राग द्वारा प्रवृत्ति देखी जाती है] इसलिए वाक्यका विपरिणाम करके माणवकके अध्ययन आदि व्यापारको ही प्रकृतमें विधेय मानना चाहिए जैसे 'ग्रामकी कामनावाले याजक यज्ञ करावें' इस वाक्यमें 'ग्रामकी इच्छावाला यज्ञ करे' ऐसा वाक्य बदला जाता है, वैसे ही 'आठ वर्षके ब्राह्मणबालकका उपनयन करे' इस प्रकृत वाक्यमें भी 'आठ वर्षका ब्राह्मण बालक गुरुके समीपमें जावे और वह पढ़े' इस प्रकार वाक्य बदलना होगा।

शङ्का—इस प्रकार माननेपर भी प्रकृतमें विधिका मानना सङ्गत नहीं है, कारण कि अधिकारकी सम्पत्ति ही नहीं है, क्योंकि केवल आठ वर्षकी अवस्था अधिकारकी हेतु नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी अवस्थामें आठ वर्षके शूद्रको भी उपनयन संस्कारका प्रसङ्ग हो जायगा, एवं ब्राह्मण जाति ही अधिकारकी कारण

गुणानां च परार्थत्वादिति न्यायात्। अथ मन्यसे तयोरपि पार्ष्णिकः परस्परान्वयो भविष्यति। यथाऽरुणावाक्ये 'अरुणया क्रीणाति' इति प्रत्येकं शाब्दे क्रियान्वये पश्चादेकप्रयोजनत्वसामर्थ्यात् परस्परान्वयस्तद्वदिति, तन्न; तथा सत्यधिकारहेतोरशाब्दत्वप्रसङ्गात्। अतो निरधिकारो विधिरयुक्तः; नैष दोषः; शाब्दमेव सर्वत्राऽधिकारनिमित्तमिति नियमाभावात्। साङ्गकर्मानुष्ठानसामर्थ्यस्याऽशाब्दस्याऽप्यधिकारहेतुत्वात् कथंचिच्छाब्दत्वनियमेऽपि क्रियासंबन्धाभिधानमुखेन विशिष्टसमर्पणे शब्दद्वयस्य तात्पर्यकल्पनात् तत्सिद्धिः।

नन्वेवमपि विशिष्टस्य नाऽधिकारनिमित्तत्वमुपादेयविशेषणत्वात्। तथा

नहीं हो सकती, क्योंकि ब्राह्मण बालकके उत्पन्न होते ही उसका उपनयन प्राप्त होगा। दोनोंको भी नहीं मान सकते, क्योंकि दोनोंका परस्पर अन्वय ही नहीं है, कारण कि 'गुणपदार्थ दूसरेके उपकारक होते हैं' (परस्पर अन्वित नहीं होते) ऐसा न्याय है। यदि मानो कि उनका भी पीछे (दोनोंका पृथक् पृथक् विधिके साथ अन्वय होनेके अनन्तर) परस्पर अन्वय हो जायगा। जैसे अरुणाशब्दघटित वाक्यमें 'अरुणा—लाल–वर्णवाली–से क्रयण करता है' इस प्रकार प्रत्येकके साथ शाब्द क्रियान्वय करनेके अनन्तर सबका एक प्रयोजन होनेके कारण परस्पर अन्वय होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी होगा, तो ऐसा भी नहीं मान सकते, कारण कि ऐसा माननेसे अधिकारके कारणमें शाब्दप्रतीतिविषयताका अभाव हो जायगा। अधिकार-कारण तो विशिष्ट है, परन्तु दोनोंका परस्पर शाब्द अन्वय हुआ ही नहीं है, वह तो एकप्रयोजनगम्य होनेसे पार्ष्णिक है, इसलिए अधिकारशून्य विधि युक्त नहीं है।

समाधान—उक्त दोष नहीं आता, कारण कि सर्वत्र अधिकारका कारण शाब्द—शब्द द्वारा अभिधासे प्रतीयमान—ही होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है। प्रकृतमें अङ्गविशिष्ट कर्मका अनुष्ठानसामर्थ्य शाब्द न होता हुआ भी अधिकारका हेतु होता है, इसलिए यदि आग्रहसे कथंचित् यही मानो कि अधिकारका निमित्त शाब्द ही होना चाहिए, तो क्रियासम्बन्धके बोधन द्वारा विशिष्टकी प्रतीति करानेमें दोनोंका 'अष्टवर्ष और ब्राह्मण' शब्दोंका—तात्पर्य कल्पन करनेसे विशिष्टको शाब्द मानना सिद्ध हो सकता है।

शङ्का—विशिष्टके शाब्द होनेपर भी वह अधिकारका निमित्त

हि—'तमध्यापयीत' इत्यत्र प्रयोजकव्यापारं प्रति माणवकस्य कर्मताभिधायिनी द्वितीयाविभक्तिः स्वव्यापारं प्रति माणवकस्य कर्तृत्वं गमयति, 'कुर्वन्तं प्रयुङ्क्ते' इति न्यायेन प्रयोजकव्यापारस्य कर्तृविषयत्वात्। न च वाच्यम् 'अध्यापयीत' इति वाक्ये विपरिणामस्योक्तत्वान्माणवकस्याऽधिकारित्वम्, न तु कर्तृत्वमिति। तत्र हि प्राप्तप्रयोजकव्यापारानुवादेन कर्तृव्यापारे विधिसम्बन्धमात्रं परिणम्यते, न तु शब्दप्राप्तं माणवकस्य कर्तृत्वं पराक्रियते। अत उपादेयो माणवकः, तल्लक्षणवत्त्वात्। साक्षाद्वा परम्परया वा विधिविषयतयाऽनुष्ठेयमिति तल्लक्षणम्, कर्त्रादयश्चाऽनुष्ठेयं प्रति कारकत्वात् परम्परयाऽनुष्ठेयाः। अतः कर्त्तुरुपादेयस्य माणवकस्य यद्विशेषणं जातिविशिष्टं वयः न तदधिकारनिमित्तम्। 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः

नहीं हो सकता, क्योंकि वह उपादेयका (कर्मकारकभूत माणवकका) विशेषण है, क्योंकि 'उसको अध्यापन करे' इस वाक्यमें प्रयोजकके—आचार्यके—व्यापारके—प्रेरणाके—प्रति माणवकको कर्म कहनेवाली द्वितीया विभक्ति अपने व्यापारके प्रति माणवकके कर्तृत्वकी प्रतीति कराती है, कारण कि 'करते हुये पुरुषको प्रेरित करता है' इस न्यायसे प्रयोजकका व्यापार (प्रेरणा) कर्ताको ही विषय करता है। यह कहना उचित नहीं कि 'अध्यापन करे' इस वाक्यमें पूर्व कहे हुए 'माणवक पढ़े' ऐसे वाक्यपरिणामसे माणवकका अधिकारी होना प्रतीत होता है, प्रेरणाविषयीभूत कर्ता होना प्रतीत नहीं होता।' कारण कि उस पूर्वकथित वाक्यविपरिणाममें (णिच् प्रत्ययसे) प्राप्त हुए प्रयोजकव्यापारके अनुवादसे कर्ताके व्यापारमें विधिका संबन्धमात्र परिणत किया जाता है, शब्दप्राप्त माणवकके कर्तृत्वका निषेध नहीं किया जाता है। इस कारण माणवक उपादेय है, क्योंकि उसमें उपादेयका लक्षण विद्यमान है। [उपादेयका लक्षण दिखलाते हैं]—'साक्षात् अथवा परम्परासे विधिका विषय होकर अनुष्ठानके योग्य होना उपादेयका लक्षण है और कर्ता आदि अनुष्ठेयविधिके प्रति कारक होनेसे परम्परासे अनुष्ठेय होते हैं, इसलिए कर्तृभूत उपादेय माणवकका जो जातिविशिष्ट अवस्थारूप विशेषण है, वह

प्रचरन्ति' इत्यादौ कर्तृविशेषणस्य लोहितोष्णीषत्वादेरधिकारनिमित्तत्वादर्शनात्। न च कर्त्तैवाऽधिकारी, कर्त्तुरनुष्ठेयकारकतया विधिं प्रति गुणभूतत्वाद् अधिकारिणश्च विधिं प्रति स्वामितया प्राधान्येनाऽन्वयात्। न चैवमधिकारहेतोरेवाऽसम्भवः, अनुपादेयविशेषणस्य तद्धेतुत्वात्। विधिप्रयुक्तानुष्ठेयतद्विशेषणव्यतिरेकेण विधिसंबन्ध्यनुपादेयं तादृशविशेषणं च जीवनगृहदाहस्वर्गकामनादि। अत्र त्वष्टवर्षत्वाद्युपादेयविशेषणं तत्कथमधिकारहेतुः स्यात्। अत्रोच्यते; किं भावनाया वाक्यार्थत्वमाश्रित्येदं ब्रवीषि उत नियोगस्य अथवा इष्टसाधनस्य? नाऽऽद्यः; तत्राऽधिकारान्वयस्य कर्त्रन्वयपूर्वकतया कर्तृविशेषणस्यैवाऽधिकारहेतुत्वात्। पुरुषप्रवृत्तिर्हि भावना, सा च क्रियात्मिका सती स्वरूपनिष्पादकानि कारकाणि प्रथममपेक्षते।

अधिकारका निमित्त नहीं हो सकता। [उपादेयविशेषण अधिकारका निमित्त नहीं हो सकता, उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—'लाल पगड़ी बांधे याज्ञिक लोग प्रचरण करते हैं' इस वाक्यमें कर्ताके विशेषणीभूत लाल पगड़ी अधिकारकी निमित्त नहीं देखी गयी है। कर्ताको ही अधिकारी नहीं मान सकते, कारण कि कर्ता अनुष्ठेय–विधि–का कारक होनेसे विधिके प्रति गौण (अप्रधान) हो जाता है। और विधिके प्रति अधिकारीका तो प्रभुत्व होनेसे प्रधानरूपसे अन्वय होना चाहिए। इस युक्तिसे अधिकार हेतुके अभावकी शङ्का नहीं हो सकती, कारण कि अनुपादेयके विशेषणोंमें अधिकारकी हेतुताका होना सम्भव है। जैसे विधिप्रयुक्त अनुष्ठेय तथा उसके विशेषणसे अतिरिक्त विधिका सम्बन्धी अनुपादेय था वैसे जीवनगृहदाह स्वर्गकामना आदि विशेषण हैं। प्रकृतमें तो 'आठ वर्षका होना' इत्यादि उपादेयके विशेषण अधिकारके कारण कैसे हो सकते हैं?

समाधान—इस आशङ्काके उत्तरमें कहा जाता है—क्या भावनाको वाक्यका अर्थ मान कर उक्त आशङ्का करते हो? अथवा नियोगको? या इष्टसाधनको? इनमें प्रथम कल्प नहीं बन सकता, कारण कि उसमें (भावनामें) अधिकारका अन्वय कर्ताके साथ अन्वय होकर ही होता है, इसलिए कर्ताका विशेषण ही अधिकारका कारण हो सकता है, कारण कि पुरुषकी प्रवृत्ति ही तो भावना कहलाती है। वह भावना क्रियाकलापरूप होती हुई अपने सारूप्यको

तत्र पुरुषार्थधात्वर्थयोर्भाव्यत्वेन तत्करणत्वेन चाऽन्वये सति परिशेषात् स्वर्गकामादयः कर्तृत्वेनाऽन्वीयन्ते । तस्य च कर्तुर्व्यावर्त्तकानि जीवनगृहदाहकामनादीनि । ततः कर्तुरेव फलनियमात् स एव कर्त्ता फलभोक्तृत्वोपाधिना स्वामित्वादधिकारं प्रतिपद्यते । अतश्चोपादेयकर्तृविशेषणान्येवाऽधिकारिणोऽपि व्यावर्त्तकानि सम्पद्यन्ते ।

नन्वस्तु तर्हि द्वितीयः, नियोगो हि स्वरूपोपाधित्वेनैव नियोज्यविषयावपेक्षते, विना ताभ्यां कस्य कस्मिन्नियोग इत्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः । ततो वाक्यगतस्वर्गकामादिर्नियोज्यत्वेन धात्वर्थश्च विषयत्वेनाऽन्वेति । न चाऽत्राऽधिकारान्वयः पृथगपेक्ष्यते । 'ममाऽयं नियोगः' इति प्रतिपत्तुर्नियोज्यस्यैव तत्स्वामितयाऽधिकारित्वात् । स चाऽधिकारी विषयानुष्ठानमन्तरेण

बनानेवाले कारकोंकी सर्व प्रथम अपेक्षा करती है, कर्तृ, कर्म आदि कारकोंके बिना क्रियास्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती, उसमें से पुरुषार्थका भाव्य—साध्य—रूपसे और धात्वर्थका उस पुरुषार्थके कारणरूपसे अन्वय होनेपर स्वर्ग कामादि पद परिशेषन्याय द्वारा कर्तारूपसे अन्वित होते हैं। और जीवन, गृहदाह (स्वर्ग) कामना आदि उक्त कर्ताके विशेषण हैं । इस कारणसे कर्तामें फलसम्बन्धका नियम होनेसे वही कर्ता, फलका भोग पानेवाला होनेसे, स्वामी है, अतः वह अधिकार प्राप्त करता है, इससे उपादेयभूत कर्ताके विशेषण ही अधिकारीके भी विशेषण हो जाते हैं ।

[उस प्रकारसे भावनाको वाक्यार्थ माननेवाले भाट्ट सिद्धान्तसे भी उक्त आशङ्काका निराकरण किया गया । अब नियोगको वाक्यार्थ माननेवाले प्रभाकरके मतसे भी उक्त आशङ्काका निराकरण करनेके लिए प्राभाकर मतका अनुवाद करते हैं]—अच्छा तो द्वितीय पक्ष (नियोगको वाक्यार्थ मानना) ही रहे, कारण कि नियोग अपनी स्वरूपभूत उपाधिसे ही नियोज्य और विषयकी अपेक्षा करता है, क्योंकि नियोज्य तथा विषयके बिना 'किसका और किस कार्यमें नियोग है ?' इस आशङ्काकी निवृत्ति नहीं होती, इसलिए (स्वर्गकामो यजेत) इत्यादि वाक्यमें पढ़े गये स्वर्गकाम आदिका नियोज्यरूपसे और धात्वर्थका विषयरूपसे अन्वय होता है । यहाँपर अधिकारका अन्वय पृथक् अपेक्षित नहीं है, कारण कि 'यह मेरा नियोग है' इस प्रकारकी धारणावाला नियोज्य ही, स्वामी होनेसे, अधिकारी है, और वह अधिकारी विषयके

नियोगनिष्पत्तिमपश्यंस्तदनुष्ठाने कर्तृतयाऽन्वयं गच्छति। तथा चाऽस्मिन्पक्षेऽधिकारान्वयदशायां स्वर्गादीनामनुपादेयविशेषगत्वं व्यवस्थितमिति, तदेतदसारम्; प्रकृताप्रतिपक्षत्वात्। नियोगवादिनो ह्यनुपादेयविशेषणमेवाऽधिकारहेतुरिति वदन्तोऽपि क्वचित्कर्तृविशेषणेनाऽधिकारिणं व्यावर्त्तयन्ति। 'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' इत्यत्र कर्तृविशेषणेन राजत्वेन स्वाराज्यकामस्याऽधिकारिणो विशेषणीयत्वात्। अन्यथा स्वाराज्यकामस्य वैश्यादेरपि तदधिकारप्रसङ्गात्। न चैवमनुपादेयमेवाऽधिकारहेतुरिति नियमस्य भङ्गः, राजत्वस्य वैश्यादिभिरनुष्ठानेनाऽनिष्पाद्यस्याऽनुपादेयत्वात्। एवं च प्रकृतेऽप्यन्येनाऽनुष्ठानादसम्पाद्यस्याऽष्टवर्षोपेतब्राह्मणस्य कर्तृविशेषणत्वेऽप्यधिकारहेतुता किं न स्यात्?

(यज्ञ आदिके) अनुष्ठानके बिना नियोगकी सिद्धिको न देखकर उसका अनुष्ठान करनेमें कर्तारूपसे अन्वित होता है, इसलिए इस पक्षमें अधिकारके अन्वयके अवसरमें स्वर्ग आदिमें अनुपादेयविशेषणत्व व्यवस्थित ही होता है। इससे उपादेय विशेषण अधिकार हेतु नहीं हो सकता, इत्यादि आपत्ति नहीं हो सकती।]

इस प्रकार द्वितीय पक्ष सारभूत नहीं है, अर्थात् तुच्छ है। कारण कि उक्त समर्थन प्रकृतके—कर्ताके विशेषणको अधिकारनिमित्त होनेके—प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि अनुपादेय विशेषण ही अधिकारका कारण होता है, ऐसा माननेवाले नियोगवादी (प्राभाकर) भी किसी स्थलमें कर्ताके विशेषणसे भी अधिकारीकी व्यावृत्ति करते हैं। जैसे 'राजा स्वराज्यकी—स्वर्गके आधिपत्यकी—इच्छा करता हुआ राजसूय यज्ञ करे, इस वाक्यमें कर्ताके विशेषणीभूत राजत्वसे स्वराज्यकाम अधिकारीको विशिष्ट करना ही है, नहीं तो स्वराज्य चाहनेवाले वैश्य आदिका भी राजसूय यज्ञमें अधिकार प्रसक्त हो जायगा। 'इस प्रकार अनुपादेय ही अधिकारका हेतु है' इस नियमके भङ्ग होनेका भय भी नहीं है, कारण कि राजत्वकी वैश्य आदि क्षत्रियेतर वर्णोंसे अनुष्ठान द्वारा उत्पत्ति न होनेके कारण वह अनुपादेय है। इस प्रकार 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इस प्रकृत वाक्यमें भी ब्राह्मणेतरसे अनुष्ठानद्वारा निष्पादनके अयोग्य आठ वर्षकी अवस्थासे युक्त ब्राह्मणत्व, कर्ताका विशेषण होनेपर भी, अधिकारका हेतु क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा।

नन्वेवं तर्हि तृतीयः पक्षोऽस्तु। तत्र श्रेयःसाधनरूपे वाक्यार्थे श्रेयसो भोक्तव्यरूपस्य भोक्त्राकाङ्क्षायाः प्राथम्यात्तत्साधनस्याऽपि भोक्त्रन्वयः प्रथमभावी। न च साधनस्य कृतियोग्यतया कर्त्राकाङ्क्षस्य कर्त्रन्वय एव प्राथमिक इति शङ्कनीयम्; कृतियोग्यताया अनियमात्। श्रेयःसाधनेऽपि चन्द्रोदयादौ तददर्शनात्। यत्राऽपि तद्योग्यताऽस्ति तत्राऽपि श्रेयसः प्रधानत्वात्तदनुसारेणाऽन्वयो वाच्यः। अथ साधनस्य वाक्यार्थत्वात् तत्प्राधान्यम्, तथापि तत्स्वरूपोपाधिभूतं हि श्रेयः कस्य साधनमित्येवं तन्निरूपकत्वात्। साधकापेक्षा तु विशिष्टसाधनप्रतीत्युत्तरकालीना। ततः प्रथमप्रतीतश्रेयोऽनुसारेण भोक्त्रन्वये सति पश्चादभिलषितसाधनत्वस्याऽत्र कृतियोग्येष्टसाधनत्वार्थनिष्ठतया विधिना चोदितत्वात् कृतेश्च कर्त्रपेक्षत्वात् स एव भोक्ताऽ-

---

[इस प्रकार गुरुमतमें उपादेय विशेषणको भी उनके मतके ही अनुसार अनुपादेय बनाकर अधिकारका निमित्त सिद्ध करके इष्टसाधनत्ववादी एकदेशीके मतसे भी उसे सिद्ध करनेके लिए उनके मतका अनुवाद करते हैं—] तब तो तीसरा (इष्टसाधनत्वको वाक्यका तात्पार्यार्थ मानना) पक्ष ही मानो, उस मतके अनुसार श्रेयःसाधनरूप वाक्यार्थमें भोक्तव्यरूप इष्टको भोक्ताकी आकाङ्क्षा ही सर्व प्रथम होती है, इसलिए उसके साधन—उपायभूत—यज्ञादिका भी पहले ही भोक्ताके साथ अन्वय होगा। और यह भी शङ्का नहीं हो सकती कि साधनके कृतियोग्य होनेसे उसे कर्ताकी आकांक्षा है, इससे सर्व प्रथम उसका ही अन्वय कर्ताके साथ करना चाहिये, कारण कि साधनमें कृतियोग्यताका नियम नहीं है, क्योंकि अपने इष्टके साधन चन्द्रोदयादिमें कृतियोग्यता नहीं देखी जाती। जिस साधनमें क्रियायोग्यता है, उसमें भी इष्टके ही प्रधान होनेसे उसके ही अनुसार अन्वय करना उचित है। यद्यपि वाक्यार्थ होनेसे साधनमें प्राधान्य प्राप्त है तथापि साधनका स्वरूपोपाधि—(जिसके कारण उसमें साधनता है, ऐसी वस्तु) भूत इष्ट ही है, क्योंकि 'किसका साधन है', इस प्रकार इष्ट साधनका निरूपक है। क्योंकि साधककी अपेक्षा तो विशिष्ट साधनकी प्रतीति होनेके अनन्तर ही होती है। इसलिए प्रथम प्रतीत हुए इष्टके अनुसार भोक्ताके साथ अन्वय हो जाता है, पीछे इष्टसाधनत्वके साथ अन्वय होगा। प्रकृतमें कृतियोग्य इष्टसाधनत्व अर्थगत है, अतः विधिके द्वारा प्रेरणाका विषय होनेसे और कृतिको कर्ताकी

धिकारी कर्तृतां प्रतिपद्यते। ततोऽस्मिन् पक्षेऽनुपादेयस्यैवाऽधिकारिविशेषणेतेति। एवमपि प्रकृते नाऽस्ति विरोधः; उपगमनरूपेऽभिलषितसाधने प्रथमं भोक्तृतयाऽधिकारान्वयं प्राप्तस्य माणवकस्य पश्चात् कर्त्रन्वयं प्राप्स्यतोऽपि यद्विशेषणं ब्राह्मण्यादि तस्याऽनुपादेयविशेषणत्वात्। अतोऽङ्गभूतस्योपगमनस्य साधिकारित्वे सति अङ्गिनोऽध्ययनस्याऽपि तत्सिध्यति। अङ्गाङ्गिनोः सर्वत्रैकाधिकारित्वात्।

नन्वेवं तर्हि ब्राह्मण्यवदष्टवर्षत्वस्याऽप्युगमनाधिकारहेतोरध्ययनेऽप्यन्वयान्नवमवर्षादर्वागेवाऽध्ययनसमाप्तिः प्राप्ता सा च दुःशकेति चेद्, न; अङ्गाङ्गिनोः कालैक्यानियमात्। अन्यथाऽङ्गमन्वाधानं पर्वण्यनुष्ठायाऽङ्गिभूताया इष्टेः प्रतिपद्यनुष्ठानं न सम्भवेत्। अतो नाऽङ्गाधिकारहेतुः कालोऽ-

---

अपेक्षा होनेसे वही भोक्ता अधिकारी कर्ता भी हो जाता है। इस प्रकार इस पक्षमें अनुपादेय ही अधिकारीका विशेषण होता है। [अर्थात् उपादेय माणवकका विशेषण अष्टवर्षत्वविशिष्ट ब्राह्मणत्व अधिकारका हेतु नहीं हो सकता। खण्डन करते हैं]—इस मतके अनुसार भी प्रकृतमें कोई विरोध नहीं आता, कारण कि उपगमनरूप इष्टसाधनमें पहले भोक्तारूपसे अधिकारके अन्वयको प्राप्त और पीछे कर्ताके साथ अन्वय पानेवाले माणवकका भी जो ब्राह्मणत्व आदि विशेषण है, वह अनुपादेय विशेषण ही है। इसलिए अङ्गभूत उपगमनकी साधिकारिता सिद्ध होनेसे अङ्गीभूत अध्ययनकी भी साधकारिता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि यह नियम है कि अङ्ग तथा अङ्गीका सर्वत्र एक ही अधिकारी होता है।

शङ्का—वैसा माननेसे ब्राह्मणत्वके समान उपगमनाधिकारकी हेतु आठ वर्षकी अवस्थाका भी है अङ्गीभूत अध्ययनमें अन्वय होगा; इससे नवम वर्षके प्रारम्भके पूर्व ही अध्ययनकी समाप्ति होनी चाहिए परन्तु ऐसा होना अत्यन्त कठिन है।

समाधान—अङ्ग और अङ्गी दोनों एक ही कालमें होते हैं यह कोई नियम नहीं है। यदि यह नियम माना जाय, तो अङ्गभूत अन्वाधानके पर्व (पूर्णिमा या अमा) में अनुष्ठान करके अङ्गीभूत इष्टिका प्रतिपद्में अनुष्ठान करना सम्भव न होगा, इससे अङ्गके अधिकारका कारणीभूत समय अङ्गीके अधिकारका कारण नहीं है, यह प्राप्त होता है, अतः पूर्वोक्त प्रतिपादनके

ङ्क्ष्यधिकारहेतुः । तदेवं नित्याधिकारसम्भवादध्ययनविधौ न काऽप्यनुपपत्तिः ।

ननु 'सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः' इति न्यायेन सकृदध्ययनादेव नित्याध्ययनविधिसिद्धेरावृत्तिर्न लभ्येतेति चेद्, न; अक्षरावाप्तिलक्षणदृष्टफलानुपपत्त्या तल्लाभात्, त्वयाऽप्यर्थावबोधफलानुपपत्त्यैव तत्कल्पनात्। तर्ह्यक्षरावाप्तिपूर्वकार्थावबोध एवाऽऽवृत्तिहेतुरिति चेद्, न; शाखान्तरीयेभ्यः पौरुषेयेभ्यो वा वाक्येभ्योऽस्वीकृतेभ्योऽनावृत्तेभ्योऽप्यर्थावबोधदर्शनात्। न च तर्हि मा भूतामक्षरावाप्त्यावृत्ती इति वाच्यम्; जपस्वाध्यायविध्यध्ययनविध्योरसम्भवप्रसङ्गात्। नह्यनवाप्तेष्वक्षरेषु ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायो जपितुं शक्यः। नाऽप्यावृत्तिमन्तरेणाऽध्ययनं घटते। अक्षरावाप्तिपर्यन्तव्यापारस्याऽध्ययनशब्दवाच्यत्वात्। तस्मादक्षरग्रहणान्तो अध्ययनविधिः। यदि विधेरदृष्टं फलम-

---

अनुसार अध्ययनविधिमें नित्याधिकारका सम्भव होनेके कारण किसी भी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती है।

शङ्का—एकबार विधिका अनुष्ठान कर देनेसे शास्त्रार्थ चरितार्थ हो जाता है, इस न्यायके अनुसार एकबार अध्ययनसे ही नित्य अध्ययनका विधान चरितार्थ हो जायगा, इस परिस्थितिमें उसकी आवृत्ति प्राप्त न होगी।

समाधान—अक्षरग्रहणरूप इष्ट फलकी अनुपपत्तिसे अध्ययनकी आवृत्तिका लाभ हो जायगा। तुमको भी तो अर्थावबोधरूप फलकी अनुपपत्तिसे ही अध्ययनकी आवृत्तिकी कल्पना करनी पड़ती है। तब तो अक्षरग्रहणपूर्वक अर्थनिश्चयको ही आवृत्तिका कारण मानना होगा? नहीं, क्योंकि नियमपूर्वक स्वीकृत नहीं किये गये अथवा बार बार आवृत्ति कर अभ्यस्त नहीं किये गये दूसरी शाखाओंके तथा लौकिक वाक्योंसे भी अर्थका निश्चय देखा गया है। और यह भी नहीं कह सकते कि अक्षरग्रहण और आवृत्ति दोनों न हों तो मत हों, कारण कि जप-स्वाध्यायविधि और अध्ययनबिधि दोनोंका सम्भव न होनेका प्रसङ्ग आ जायगा, कारण कि अक्षरग्रहण किये बिना ब्रह्मरूप स्वाध्यायका जप करना नहीं बन सकता और आवृत्तिके बिना अध्ययन भी नहीं बन सकता, क्योंकि अक्षरग्रहणपर्यन्त व्यापार ही अध्ययन शब्दका अर्थ है, इसलिए अक्षरग्रहणपर्यन्त अध्ययनका विधान है। यदि विधिका अदृष्ट फल

पेक्षितम्, तर्ह्यक्षरप्राप्तिसमवेतमेव तत्कल्पनीयं दृष्टसमवेतादृष्टे सति स्वतन्त्रादृष्टायोगात्। एवं चाऽध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपर्यवसानाद्विचारः क्रतुविधिप्रयुक्तो भविष्यति।

यत्तु शाबरभाष्ये वेदस्याऽन्यनिरपेक्षतया विचारहेतुत्वं वदन् भाष्यकारोऽध्ययनविधेर्विचारहेतुतामङ्गीचकार, तत्र परम्परया हेतुत्वमवगन्तव्यम्। विधीयमानाध्ययनप्राप्तो हि स्वाध्यायः क्रतुविधीनुपस्थापयति। ते च विधयः स्वाध्यायादापातप्रतिपन्ना अनुष्ठेयनिर्णयज्ञानमन्तरेणाऽनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय विचारं प्रयोजयन्ति। न चाऽनुष्ठानमेव मा भूदिति वाच्यम्, नित्यविधिष्वकरणे प्रत्यवायस्याऽप्यापाततः प्रतिपन्नत्वात्। काम्यविधिषु तु फलकामनैवाऽऽधानमिव विचारं प्रयुङ्क्ते। नन्वनेकविधिप्रयुक्तिकल्पनाद्वरमध्ययनविधिप्रयुक्तिकल्पनं विचा-

---

मानना ही जरूरी हो, तो अक्षरप्राप्तिमें नित्य रहनेवाला ही अदृष्ट मानना चाहिए, क्योंकि दृष्टगत अदृष्टका सम्भव होनेपर स्वतन्त्र (दृष्टनिरपेक्ष) अदृष्टकी कल्पना करना उचित नहीं है। इस प्रकार अध्ययनविधिका केवल अक्षरग्रहणमें तात्पर्य होनेसे यज्ञविधिके द्वारा ही विचार होगा।

शाबरभाष्यमें विचारके प्रति वेदको स्वतन्त्र कारण कहते हुए भाष्यकारने अध्ययनविधिको भी जो विचारका कारण माना है, उसका परम्परया कारण माननेमें तात्पर्य समझना चाहिए। विहित अध्ययनसे प्राप्त स्वाध्याय-स्वशाखीय वेद यज्ञविधियोंकी उपस्थिति कराता है। और स्वाध्यायसे आपाततः ज्ञात वे उपस्थित विधियां साध्यके निर्णयात्मक ज्ञानके बिना अपने अनुष्ठानमें अधिकारीको प्रवृत्त करानेके लिए समर्थ न होकर अनुष्ठेयके निर्णयके लिए विचारकी प्रयुक्ति करती हैं। यदि कहा जाय कि अनुष्ठान ही मत हो, क्या हानि है ? नहीं, हानि है, क्योंकि नित्यविधिका अनुष्ठान न करनेसे प्रायश्चित्त होता है, यह आपाततः (विचारसे पूर्व ही) निश्चित हो जाता है। और काम्यविधिस्थलोंमें तो फलकी अभिलाषा ही आधानके समान विचारकी भी प्रयुक्ति करा देती है।

[उक्त प्रकारसे प्रत्येक क्रतुविधान विचारकी प्रयुक्ति करेंगे, इससे विचारके अनेक प्रयोजकोंकी कल्पनामें गौरव हैं, इस आशयसे आशङ्का करते हैं—] अनेक

रस्येति चेद्, न; विधिर्हि सर्वत्र स्वविधेयस्य वा तदुपकारिणो वा प्रयोजको नाऽन्यस्य। विचारस्तु नाऽध्ययनविधेयो नाऽपि तदुपकारी। न चैवमुत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तिर्विचारस्य निराकर्तुं शक्या, तद्विधिविधेयं प्रत्युपकारित्वात्। न चैकस्य विचारस्याऽनेकविधिप्रयोज्यत्वानुपपत्तिः, प्रतिवाक्यं विचारसाध्यनिर्णयज्ञानभेदेन तदुपपत्तेः। आधानस्य चैकस्याऽनेकविधिप्रयोज्यत्वदर्शनात्। यद्यनेकविधिप्रयोज्यत्वे गौरवाद्भीतोऽध्ययनविधिप्रयोज्यत्वमेव विचारस्य ब्रूषे, तदा यागाद्यनुष्ठानस्याऽपि तत्प्रयोज्यत्वं वक्तव्यं स्याद्, लाघवात्। त्वत्पक्षे चाऽध्ययनविधिफलस्य स्वर्गादिसिद्धिपर्यन्ततया यागानुष्ठानस्य विधेयोपकारित्वात्। ततः क्रतुविधिवैयर्थ्यमा-

---

विधियोंके कारण (विचारकी) प्रयुक्तिकल्पनाकी अपेक्षा एक अध्ययनविधिसे ही विचारकी प्रयुक्ति मानना औचित्यपूर्ण है।

खण्डन करते हैं—ऐसा नहीं, कारण कि विधि केवल अपने विधेय तथा उसके उपकारीकी ही प्रयोजक हो सकती है, दूसरेकी नहीं और विचार तो अध्ययनविधिका न साध्य है और न उसका 'विचारका' अध्ययन उपकारी ही है। इस रीतिसे उत्तर—अध्ययनविधिके अनन्तर विहित—यज्ञविधिके द्वारा विचारकी प्रयुक्तिका निषेध नहीं किया जा सकता; कारण कि उन यज्ञविधियोंके विधेयके प्रति विचार उपकारी है। [जैसे अभी कह आये हैं कि विधेयके निर्णयके बिना अनुष्ठानमें प्रवृत्तिका सम्भव नहीं है, अतः निर्णायक होनेसे विधेयके प्रति विचार उपकारी है]। विचाररूप फलकी अनेक विधियोंसे प्रयुक्ति करना युक्तियुक्त नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, कारण कि प्रत्येक वाक्यके विचारसे उत्पन्न होनेवाले निर्णयात्मक ज्ञानके भेदसे उसका होना युक्तियुक्त है। एक ही आधातकी अनेक विधि द्वारा प्रयुक्ति देखी गई है। यदि अनेकविधियोंकी प्रयुक्ति माननेमें गौरव दोषसे डर कर एक अध्ययनविधि द्वारा ही विचारकी प्रयुक्ति मानते हो, तो लाघवका स्वीकार करके यागादिके अनुष्ठानकी प्रयुक्ति भी अध्ययनविधिके द्वारा ही क्यों नहीं कहते? तुम्हारे मतमें अध्ययनविधिका फल स्वर्गादिकी सिद्धि तक है, अतः यागका अनुष्ठान [अध्ययनविधिसे तुम्हारे अभिमत स्वर्गादि] विधेयका ही उपकारी है, इससे पृथक् यज्ञका विधान

पद्येत । ननु सिद्धान्तेऽप्यतिप्रसङ्गः समानः, विमतमध्ययनं क्रतुविधिप्रयुक्तम्, क्रत्वनुष्ठापकत्वात्, अर्थविचारनिर्णयवत्, अध्ययनात् प्रागप्रतिपन्नानां क्रतुविधीनामध्ययनप्रयोजकत्वायोगात् । अध्ययनविधिरप्यध्ययनात् प्रागप्रतिपन्न इति चेत्, सत्यम्, तथापि संध्योपासनादिविधिवत् पित्रादिभ्यः श्रूयमाणोऽध्ययनविधिरध्ययनं प्रयोजयति । न च क्रतुविधयोऽध्ययनात्प्राक्पित्रादिभ्यः श्रोतुं शक्याः, येन तत्प्रयोज्यत्वमध्ययनस्याऽऽपाद्येत । अतोऽध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनं क्रतुविधिप्रयुक्तश्च धर्मविचार इत्यङ्गीकर्त्तव्यम् ।

अस्तु तर्हि ब्रह्मविचारस्याऽपि धर्मविचारवत् सकलत्रैवर्णिकाधिकृतोत्तरनित्यविधिप्रयुक्तिरिति चेत्, तत्र किं श्रवणविधिप्रयुक्तिर्ब्रह्मविचारस्य किं वा क्रतुविधिप्रयुक्तिः ? नाऽऽद्यः; सर्वत्रैवर्णिकानां श्रवणाद्यननुष्ठाने प्रत्यवायाभा-

करना व्यर्थ हो जायगा । उक्त अतिप्रसङ्ग दोष, तो तुम्हारे सिद्धान्तमें भी समानरूपसे बना है, क्योंकि अनुमान करेंगे—विमत विवादग्रस्त अध्ययनकी यज्ञविधिके द्वारा प्रयुक्ति होती है, कारण कि अध्ययन क्रतुका अनुष्ठान करानेवाला है, जैसे अर्थका विचार द्वारा निर्णय करना। [उक्त अनुमानमें अनुकूल तर्क दिखलाते हैं] अध्ययनसे पूर्व ज्ञात नहीं हुई क्रतुविधियां अध्ययनकी प्रयोजक नहीं हो सकतीं । यद्यपि अध्ययनविधि भी अध्ययनसे पूर्व ज्ञात नहीं है यह सच है तथापि सन्ध्योपासन आदि विधिके सदृश अपने पिता आदिके उपदेश द्वारा ज्ञात अध्ययनविधि अध्ययनकी प्रयुक्ति करा सकती है और उस प्रकारकी क्रतुविधियां तो अध्ययनसे पूर्व पिता आदिके उपदेश द्वारा ज्ञात नहीं हो सकती हैं । जिससे उन क्रतुविधियों द्वारा अध्ययनकी प्रयुक्तिकी आपत्ति दी जा सके; इसलिए ऐसा ही मानना उचित है कि अध्ययनविधिके द्वारा ही अध्ययन है और क्रतुविधि द्वारा धर्मविचारकी प्रयुक्ति है ।

शङ्का—जैसे धर्मविचारकी प्रयुक्ति तीनों वर्णोंके अधिकारसे प्राप्त अध्ययनके अनन्तर विहित यज्ञविधि द्वारा होती है, वैसे ही ब्रह्मविचारकी प्रयुक्ति भी उक्त नित्य विधियोंसे ही क्यों न मान ली जाय ? [अतः ब्रह्मविचारके लिए पृथक् शास्त्रके आरम्भकी आवश्यकता नहीं है ।]

समाधान—इस आशङ्काका उत्तर देते हुए यह प्रश्न होता है कि 'श्रोतव्यः' क्या इस श्रवणविधिसे ब्रह्मविचारकी प्रयुक्ति प्राप्त है ? अथवा 'सोमेन यजेत' इत्यादि क्रतुविधिसे ? इनमें प्रथम कल्प नहीं बनता, कारण

वात् तान् प्रति नित्यविधित्वानुपपत्तेः। परमहंसस्यैव श्रवणाद्यकरणे प्रत्यवायात्। नाऽपि द्वितीयः, ब्रह्मविचारस्य क्रत्वनुपकारित्वात्। नन्वग्निहोत्रादिकमनुतिष्ठद्भिरनुष्ठेयमङ्गजातादिकं वेदान्तेषु नाऽस्तीत्येवं निश्चेतुं वेदान्ता विचारयितव्या इति चेद्, न; अध्ययनजन्यापातदर्शनेनैव तावन्मात्र-

---

कि श्रवणका अनुष्ठान न करनेसे सम्पूर्ण त्रैवर्णिक पापभागी होते हैं, श्रवण नहीं है, इसलिए सकल त्रैवर्णिकोंके प्रति श्रवण आदिको नित्यविधि नहीं कह सकते, क्योंकि परमहंसोंके लिए ही श्रवण आदिका अनुष्ठान न करनेसे प्रायश्चित्त शास्त्रसिद्ध है। दूसरा विकल्प भी नहीं टिकता, क्योंकि ब्रह्मविचार सोमादि यागका उपकारी नहीं है।

शङ्का—अग्निहोत्रका अनुष्ठान करनेवाले अधिकारी पुरुषोंको निश्चय करना है कि वेदान्तवाक्योंमें अनुष्ठेय अग्निहोत्र आदि तथा उसके अङ्ग नहीं है, इसलिए वेदान्तोंका विचार करना प्राप्त है।

समाधान—नहीं, उसके लिए पृथक् शास्त्रारम्भकी आवश्यकता नहीं है, कारण कि अध्ययनसे ही आपाततः ज्ञान हो जानेसे इतने ही प्रयोजनके लिए

---

(१) परमहंस यतिभेदोंमें—

'कुटीचको बहूदको हंसश्चैव तृतीयकः।
चतुर्थः परमो हंसो यो यः पश्चात् स उत्तमः।'

इस प्रकार चार तरहका संन्यास दिखलाया गया है। कुटी बनवा कर उसमें ही सांसारिक विषयोंसे विरक्त होकर काषाय वस्त्र एवं शिखा, उपवीत, त्रिदण्ड धारण करता हुआ ब्रह्मज्ञानका अभ्यास करनेवाला कुटीचक कहलाता है। और घर छोड़कर केवल सात घरोंमें भिक्षा करनेवाला बहूदक कहा जाता है। एवं वही बहूदक एक ही दण्ड धारण करता है, तो हंस कहलाता है। तथा सर्वपरिग्रहत्यागी परमहंस होता है, जैसे पुराणोंमें कहा है—

'कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्थां शीतनिवारिणीम्।
अक्षमालां च गृह्णीयाद्वैणवं दण्डमव्रणम्।
माधूकरमथैकान्तं परमहंसः समाचरेत्।'

उक्त लक्षणोंसे युक्त यति यदि ब्रह्मचिन्तन या ब्रह्मज्ञानसे रहित हो जाय, तो

'काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान् घोरान्महारौरवसञ्ज्ञितान्॥'

स्मृतिके अनुसार प्रायश्चित्त भागी होता है। तथा 'न दण्डं न शिखां नाच्छादनं चरति परमहंसः' इस प्रकार श्रुतिने परमहंसका लक्षण करके कहा कि 'ज्ञानमेवाऽस्य दण्डः' ज्ञान ही उसका दण्ड है। यदि ज्ञान नहीं तो सुतरां प्रायश्चित्ती होगा।

निश्चयात् । तदेवं ब्रह्मविचारे धर्मविचारवदधीतस्वाध्यायस्य त्रैवर्णिकमात्रस्याऽनधिकाराच्छ्रवणादिविधिप्रकरणपठितसाधनचतुष्टयसम्पन्नत्वलक्षणमधिकारिविशेषणं न्यायतः प्रापयितुमानन्तर्यवाचकोऽथशब्दः सूत्रकारेण प्रयुक्तो नाऽऽरम्भार्थविवक्षयेति स्थितम् ।

ननु शास्त्रारम्भे शिष्टाचारपरिपालनाय विघ्नोपशान्तये च मङ्गलाचरणं कर्त्तव्यम् , ततोऽथशब्दो मङ्गलार्थोऽस्तु, सम्भवति हि तस्य मङ्गलार्थत्वम् ।

'ॐकारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणो मुखात् ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥'

इति स्मृतेरिति चेत्? तत्र किं माङ्गल्यं वैयधिकरण्येन ब्रह्मजिज्ञासां प्रति

उसकी आवश्यकता नहीं है । [जैसे घट, पट आदि शब्दोंके पढ़नेमात्रसे विचार करनेके पूर्व सामान्य घट, पटका बोध हो जाता, इसके लिए विशेष उपायका अवलम्बन नहीं किया जाता, वैसे ही वेदान्तवाक्योंके पढ़नेमें अग्निहोत्रादि शब्दोंके न आनेसे ही ज्ञात हो जायगा कि यहांपर अग्निहोत्र आदि नहीं हैं] ।

इस प्रकार मींमांसा करनेपर धर्मविचारमें जैसे वेद पढ़े हुए त्रैवर्णिकमात्रका अधिकार है, वैसे ब्रह्मविचारमें न होनेसे श्रवण आदिकी विधिके प्रकरणमें पढ़े गये शम, दम आदि साधनचतुष्टयसम्पन्नत्व अधिकारीका विशेषण है, इस सिद्धान्तका न्यायतः बोध करानेके लिए आनन्तर्यस्वरूप अर्थके वाचक 'अथ' शब्दका सूत्रकारने प्रयोग किया है। अधिकाररूप अर्थकी विवक्षासे नहीं किया, ऐसा निर्णय होता है ।

शङ्का—'शिष्टाचारकी रक्षा करने तथा विघ्नोंकी शान्तिके लिए मङ्गलाचरण करना चाहिए' इस नियमके अनुसार मङ्गलका वाचक 'अथ' शब्द यहांपर माना जाय, क्योंकि 'अथ' शब्दका मङ्गलरूप अर्थ होना सम्भव है, स्मृतिमें कहा भी है—

ॐकार और अथ शब्द दोनों ब्रह्माजीके मुखसे कण्ठको भेदन करके बाहर प्रकट हुए हैं, इसलिए दोनों मङ्गलके वाचक हैं ।

समाधान—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें पढ़े गये मङ्गलार्थक अथशब्दकी वाक्यार्थके साथ सङ्गति नहीं है, यह विकल्प द्वारा दिखाते हैं—क्या (अथ शब्दार्थ) मङ्गल ब्रह्मजिज्ञासाके प्रति वैयधिकरण्यसे (कर्ता या

कारकत्वमापद्याऽन्वेति किं वा सामानाधिकरण्येन विशेषणत्वमापद्य ? नाऽऽद्यः, माङ्गल्यस्य कर्त्राद्यन्यतमकारकतायां प्रमाणाभावात् । न च जिज्ञासानुपपत्तिर्मानम्, कारकान्तैरेव तदुपपत्तेः । जीवः कर्त्ता, चित्तैकाग्र्यसहकृतं वेदान्तवाक्यं करणम् इत्यादीनि कारकान्तराणि । नाऽपि द्वितीयः, 'जिज्ञासा मङ्गलम्' इत्युक्ते प्रशंसापरतयाऽर्थवादत्वप्रसङ्गात् । शिष्टाचाराद्यर्थं तु मङ्गलाचरणमानन्तर्यवाचिनाऽप्यथशब्देन सम्पादयितुं शक्यम्, अथकारपरोङ्कारादिध्वनेर्मृदङ्गादिध्वनिवत् मङ्गलात्मकत्वात् ।

एवमपि 'अथैवं मन्यसे' इत्यादाविवाऽथशब्दः प्रकृतादर्थादर्थान्तरमभिद-

---

कर्म आदिरूप) कारकत्वका आपादन कर अन्वित होता है ? [अर्थात् मङ्गलके द्वारा या मङ्गलकी ही तथा स्वयं मङ्गलभूत जिज्ञासा करनी चाहिए, ऐसा वाक्यार्थ होता है क्या ?] अथवा सामानाधिकरण्यसे विशेषण होकर अन्वित होता है ? [अर्थात् जिज्ञासा ही मङ्गल है, ऐसा वाक्यार्थ होता है] । प्रथम विकल्प नहीं माना जा सकता, कारण कि कर्ता आदिमें से मङ्गल कोई भी कारक है, ऐसा माननेमें प्रमाण नहीं है । कारकके बिना इस जिज्ञासाकी अनुपपत्ति भी प्रमाण नहीं मानी जा सकती, कारण कि मङ्गलसे अतिरिक्त दूसरे कारकोंसे भी उसकी उपपत्ति हो सकती है । [कारकान्तरोंको दिखलाते हैं]—जीव कर्ता है और चित्तकी एकाग्रतासे युक्त वेदान्तवाक्य करण हैं, इत्यादि दूसरे कारक विद्यमान हैं, [जिनसे कि जिज्ञासाकी उपपत्ति हो सकती है] । दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, कारण कि जिज्ञासा मङ्गलरूप है, ऐसा सामानाधिकरण्य माननेसे 'अथ जिज्ञासा' इस वाक्यका स्तुतिमें ही तात्पर्य हो जानेके कारण अर्थवादका प्रसङ्ग हो जायगा [इसका स्वार्थमें तात्पर्य न होगा] । शिष्टाचारका पालन करनेके लिए मङ्गल करना तो आनन्तर्यवाची अथशब्दके प्रयोगसे भी हो सकता है । अथशब्द और ओंकार आदिकी ध्वनि मृदङ्ग आदि ध्वनिके समान मङ्गलस्वरूप ही है । [अथकार शब्दका प्रयोग एवकारके समान 'कार' शब्दके साथ समस्त समझना चाहिए, या अकार थकारपरक अथकारशब्दको समझना चाहिए अथवा 'ॐकारश्चाऽथशब्दश्च' इस श्लोकसे इन दोनोंको आदि शब्द माननेसे ॐकारके सहचार्य्यसे अथ शब्दमें भी वर्णसमष्टिव्यपदेश माना गया है] ।

शङ्का—इस प्रकार अथशब्दको आनन्तर्यार्थक माननेपर भी 'अथैवम्' अर्थात् 'अब तुम ऐसा मानते हो' इस वाक्यमें जैसे अथशब्द प्रकृत अर्थसे

धात्विति चेद्, नः हेतुफलभावेनाऽऽनन्तर्याभिधाने प्रकृतादर्थादर्थान्तरत्वस्याऽन्तर्णीततया सिद्धेः। न च वैपरीत्येनाऽऽनन्तर्यमेवाऽन्तर्णीततया सिध्यत्विति वाच्यम्, तत्र किं नियमेन पूर्ववृत्ततया हेतुभूतो वस्तुविशेषो द्योत्यते किं वा यत्किञ्चिद्वस्तु पूर्ववृत्तमपेक्ष्यते ? नाऽऽद्यः; आनन्तर्याभिधानमन्तरेण हेतुतया पूर्ववृत्तवस्तुविशेषनियमासिद्धेः। न द्वितीयः, लोके सर्वव्यापारेष्वपि यत्किञ्चित्पूर्ववृत्तादर्थान्तरस्य सिद्धत्वादथशब्दप्रयोगस्याऽनुवादादृष्टार्थत्वयोरन्यतरत्वप्रसङ्गात्। अतो नियतपूर्ववृत्तपुष्कलकारणद्योतनायाऽऽनन्तर्यमेवाऽथशब्देनाऽभिधातव्यम्। यद्यप्यानन्तर्यमात्राभिधाने तन्न सिध्यति, तथापि मुख्यानन्तर्यस्वीकारे सिद्ध्येदेव पुष्कल-

---

अन्य अर्थका अभिधान करता है, वैसे ही जिज्ञासासूत्रमें प्रयुक्त अथशब्द भी उसी अर्थका वाचक माना जाय ? क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि हेतु और फल भावसे आनन्तर्यका अभिधान करनेसे ही अथशब्दार्थमें प्रकृत अर्थसे भिन्न अर्थके अन्तर्गत हो जानेसे वह सिद्ध ही हो जाता है [अर्थात् आनन्तर्य कहनेसे यह नियमतः प्रतीत होता है अब दूसरा विषय चलता है, इसलिए उक्त अर्थान्तरका पृथक् अभिधान करनेकी आवश्यकता नहीं है] यदि शङ्का हो कि वैपरीत्यसे याने अथशब्दका प्रकृत अर्थसे अर्थान्तर माननेसे ही आनन्तर्यका ही अन्तर्णीतरूपसे अभिधान हो जायगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि क्या उसमें नियमतः पूर्ववृत्त होनेसे कारणस्वरूप वस्तुविशेषका द्योतन—ज्ञापन—होता है ? या पूर्ववृत्त यत्किञ्चित् वस्तुकी अपेक्षा होती है ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आनन्तर्यके अभिधानके बिना कारणरूपसे पूर्वसम्पन्न वस्तुविशेषके रहनेका नियम सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरा विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें सभी व्यापारोंमें कुछ-न-कुछ पूर्व वस्तुसे अन्य अर्थ सिद्ध ही है, इससे अथशब्दका प्रयोग अनुवाद या अदृष्ट—इनमें से किसी एक प्रकारके ही अर्थका बोधक हो जायगा। इसलिए नियमतः (व्यभिचारके बिना) पहलेके पर्याप्त कारणोंका बोधन करनेके लिए आनन्तर्यरूप ही अथशब्दका अर्थ मानना चाहिए। यद्यपि आनन्तर्यमात्रके अभिधानसे उक्त अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, तथापि मुख्य आनन्तर्य अर्थका स्वीकार करनेसे तो सिद्धि हो ही जाती है [मुख्य आनन्तर्य दिखलाते हैं]—पुष्कल—

कारणात् फलस्य यदानन्तर्यं तदेव मुख्यम्, अव्यवधानादव्यभिचाराच्च । यत्तु हेतुफलयोरानन्तर्यं तत्कदाचिद्व्यभिचरति कदाचिद्व्यवधीयते चेति गौणमेव स्यात् । न च वाच्यं कार्यं चेद्, दृश्यते किं पुष्कलकारणावगमेनेति ? पुष्कलकारणस्याऽधिकारिविशेषणत्वेन फलपर्यन्तेच्छाविचारादिप्रवृत्तौ प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात् ।

ननूक्तमेवाऽधिकारिविशेषणम् 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इत्यत्रत्येनाऽथशब्देनेति चेद्, न; तत्र ह्यध्ययनानन्तर्यमथशब्देनोक्तम्' न च तस्याऽत्राऽधिकारिविशेषणत्वं सम्भवति, केवलव्यतिरेकाभावेनाऽहेतुत्वात् । नहि शमदमादिकारण-

---

पर्याप्त—कारणोंसे जो फलका आनन्तर्य है, वही मुख्य आनन्तर्य है; क्योंकि पुष्कल कारण और फलके बीचमें कोई व्यवधान या व्यभिचार होता नहीं है [अर्थात् पुष्कल कारणके अनन्तर ही फलकी उत्पत्ति अवश्य होती ही है] और साधारण कारण और फलका जो आनन्तर्य है, वह तो कदाचित् व्यभिचरित भी होता है और कदाचित् व्यवहित भी हो जाता है, इसलिए वह आनन्तर्य गौण ही होगा । यदि कहो कि कार्य ही जब दृष्टिगोचर हो रहा है, तब कारणज्ञान करनेकी आवश्यकता ही क्या है ? तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि पुष्कल कारण अधिकारीका विशेषण है, अतः फलपर्यन्त इच्छासे विचारादिकी प्रवृत्तिमें ज्ञानकी अवश्य अपेक्षा है । [मोक्षकी इच्छासे विचार किया जाता है और विचारका अधिकारी शम, दम आदिसे सम्पन्न ही है, इसलिए विचारप्रवृत्ति शम, दम आदि पुष्कल कारणोंके ज्ञानकी अपेक्षा रखती है, यह भाव है] ।

शङ्का—'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें कहे गये अथशब्दसे अधिकारीका विशेषण स्पष्ट कहा ही गया है [फिर उसकी प्रतीति करानेकी आवश्यकता क्या है ?]

समाधान—उस सूत्रमें अथशब्दसे जो अध्ययनका आनन्तर्य कहा गया है, वह यहांपर (ब्रह्मजिज्ञासामें) अधिकारीका विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि केवलव्यतिरेकव्याप्तिका अभाव होनेसे वह हेतु ही नहीं है, [जिस तरह वेदाध्ययन धर्मजिज्ञासामें कारण है, उस तरह ब्रह्मजिज्ञासामें वह कारण नहीं है । ब्रह्मजिज्ञासामें तो शम, दम आदि साधनचतुष्टय सम्पत्ति ही पुष्कल कारण है, अतः वेदाध्ययनका होना न होना समान ही है, इसलिए वह पुष्कल

पौष्कल्ये अध्ययनाभावापराधे ब्रह्मजिज्ञासाया अप्रवृत्तिर्दृष्टा। यद्यपि वेदान्तानामनध्ययने तद्विचाराभावादध्ययनमपि पुष्कलकारणेऽन्तर्भवेत्, एवमपि धर्मब्रह्मविचारयोः साधारणहेतोरध्ययनस्य ब्रह्मविचारं प्रत्यपुष्कलकारणतया तद्विचाराविचारयोः साधारणत्वाद्यदनन्तरं नियमेन ब्रह्मविचारप्रवृत्तिस्तादृशं पुष्कलकारणमन्वेष्टव्यम्। धर्मब्रह्मविचारयोरन्योन्योपकार्योपकारकभावेनैकफलशेषत्वादुपकारकधर्मविचारानन्तर्यमुपकार्यब्रह्मविचारस्य पुष्कलकारणेऽन्तर्भवतीत्यथशब्दार्थः स्यादिति चेद्, न; तयोरुपकार्योपकारकभावासिद्धेः। उपकारकत्वे हि वेदान्ताध्ययनवद्धर्मविचारस्याऽपि व्यतिरेको वक्तव्यः, न च वक्तुं शक्यः, धर्मजिज्ञासाया अभावेऽप्यधीतवे-

---

कारण नहीं हो सकता, इस अभिप्रायसे कहते हैं]—शम, दम आदि पुष्कल कारणके रहते यदि वेदाध्ययन न किया हो, तो भी ब्रह्मजिज्ञासामें प्रवृत्तिका अभाव नहीं देखा जाता। यद्यपि वेदान्त वाक्योंके पढ़े बिना उनका विचार करना सम्भव नहीं है, इसलिए अध्ययन भी पुष्कल कारणोंके ही अन्तर्गत हो जाता है, तथापि इस प्रकार अध्ययन धर्म तथा ब्रह्म दोनोंके विचारके प्रति साधारण कारण है, इसलिए ब्रह्मविचारमें वह पुष्कल कारण (असाधारण कारण) नहीं हो सकता, कारण कि धर्मविचार अथवा ब्रह्मविचारके करने या न करनेमें अध्ययन साधारण है, [अध्ययनके अनन्तर विचारमें प्रवृत्ति अवश्य होती है, ऐसा नियम नहीं है] अतः जिसके अनन्तर नियमसे (व्यभिचारके बिना) ब्रह्मविचारमें प्रवृत्ति हो, ऐसे ही पुष्कल कारणका अन्वेषण करना चाहिये। धर्मविचार और ब्रह्मविचारका परस्पर उपकार्योपकारभाव है, अतः एक ही फलका अङ्ग होनेसे उपकारक धर्मविचारका आनन्तर्य ब्रह्मविचारके पुष्कल कारणमें आ जाता है; इसलिए अथशब्दका अर्थ मान लिया जायगा, ऐसा भी सम्भव नहीं है, कारण कि उनमें परस्पर उपकार्योपकारकभावकी सिद्धि ही नहीं है, यदि ब्रह्मविचारका धर्मविचार उपकारक होता, तो वेदान्तवाक्योंके अध्ययनके समान धर्मविचारका भी व्यतिरेक कहना होगा [जैसे अध्ययनके न होनेपर विचारका अभाव प्राप्त होता है, वैसे ही धर्मविचारके अभावमें ब्रह्मविचारका भी अभाव होगा, इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति माननी होगी] परन्तु उक्त व्यतिरेक कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि धर्मविचारके अभावमें भी वेदान्त-

दान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपलम्भात् ।

अथ व्युत्पत्त्यादिसिद्धये पूर्वतन्त्रापेक्षा, तदाऽपि वक्तव्यम्—किं तत्रत्यो न्यायोऽपेक्ष्यते किं वाक्यार्थनिर्णय उताऽग्निहोत्रादिकर्म ? आद्ये किं प्रथमपादोक्तवेदप्रामाण्यापेक्षितसाधकन्यायस्याऽपेक्षा उत न्यायान्तरस्य ? नाऽऽद्यः; उत्तरतन्त्रेऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्', 'अत एव च नित्यत्वम्' इत्यादिसूत्रेषु वेदान्तापेक्षितन्यायस्योक्तत्वात् , अस्तु वा दार्ढ्याय प्रथमपादापेक्षा, नैतावता धर्मजिज्ञासानन्तर्यप्रसङ्गः। प्रथमपादस्य धर्मब्रह्म-

---

वाक्योंको पढ़े हुए पुरुषकी ब्रह्मविचारमें प्रवृत्ति होती है ।

शङ्का—व्युत्पत्ति आदिकी सिद्धिके लिए पूर्वमीमांसाकी—धर्मविचारशास्त्रकी—अपेक्षा रहती है [कारण कि व्युत्पत्तिमें पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ तथा शाब्दबोधके कारणभूत प्रकृतिप्रत्यार्थ-प्राधान्य आदि अनेकों न्याय अपेक्षित होते हैं, उनका विस्तृत विवेचन पूर्वमीमांसामें किया गया है, इसलिए उसकी अपेक्षा सर्वथा उचित है ।]

समाधान—नहीं, उसकी आवश्यकता नहीं है, कारण कि हम प्रश्न करते हैं कि व्युत्पत्ति आदिके लिए क्या पूर्वमीमांसामें वर्णित न्याय अपेक्षित हैं ? अथवा वाक्यार्थका निर्णय अपेक्षित है ? अथवा अग्निहोत्रादि कर्म अपेक्षित हैं ? प्रथम विकल्पमें प्रश्न होता है कि क्या प्रथम पादमें कहे गये वेदप्रामाण्यमें अपेक्षित साधक—प्रामाण्यके पोषक—न्यायकी अपेक्षा है ? अथवा उससे भिन्न अन्य न्यायोंकी ? इसमें साधक न्यायोंकी अपेक्षा नहीं है, कारण कि उत्तरमीमांसामें भी 'शास्त्रयोनित्वात्' (शास्त्र-मूलक होनेसे अथवा शास्त्रका मूल होनेसे) तथा 'अत एव च नित्यत्वम् (इसीलिए तो नित्य है) इत्यादि सूत्रोंसे वेदान्तमें अपेक्षित वेदान्तके प्रामाण्यके साधक न्यायोंका विवेचन आया ही है । उन वाक्योंको दृढ़ करनेके लिए पूर्वमीमांसाके प्रथमपाद—तर्कपाद—मात्रकी अपेक्षा मानो, तो उतनेसे ही ब्रह्ममीमांसामें धर्ममीमांसाका

---

(१) वेद यदि मनुष्य द्वारा प्रणीत होता, तो उसमें मनुष्यकी अनवधानतासे अप्रामाण्य आता, किन्तु मनुष्य उसका प्रणेता नहीं है एवं वेदके ऋषि भी प्रणेता नहीं हैं, किन्तु द्रष्टा हैं, श्रुति भी कहती है—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' । महाभारतमें भी व्यासजी कहते हैं कि युगान्तमें छिपे हुए वेदोंको ही अपने तपोबलसे ऋषियोंने प्राप्त किया, जैसे—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥'

जिज्ञासयोः साधारणत्वात् । प्रथमपादगतवेदान्तप्रामाण्यविचारानन्तर्यमथशब्दार्थोऽस्त्विति चेद्, न; तस्याऽप्यध्ययनवदपुष्कलकारणत्वात् । द्वितीयेऽपि तन्न्यायान्तरं ब्रह्मप्रतिपादनेऽपेक्ष्यते उत गुणोपसंहारे ? नाऽऽद्यः; उत्पत्त्यादिविधिचतुष्टयनिर्णायकस्य न्यायान्तरस्याऽननुष्ठेयभूतवस्तुप्रतिपादनेऽनुपयोगात् । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादिसूत्रैः श्रुतिलिङ्गादय उप-

आनन्तर्य नहीं माना जा सकता, कारण कि तर्कपाद धर्म तथा ब्रह्म दोनोंकी जिज्ञासामें सामान्यरूपसे उपयोगी है । यदि कहो कि तर्क-पादमें प्रतिपादित वेदान्तप्रामाण्यका आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ मान लिया जायगा, यह कहना भी संगत नहीं है, कारण कि इस आनन्तर्यको भी, अध्ययनके समान (उभयसाधारण होनेसे), पुष्कल कारण नहीं मान सकते । द्वितीय कल्पमें भी यह प्रश्न होता है कि क्या अतिरिक्त न्यायोंकी अपेक्षा ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें है ? या गुणोपसंहारमें[1] ? प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि उत्पत्ति आदि चार प्रकारकी विधियोंका निर्णय करनेमें समर्थ अन्य न्यायोंका अनुष्ठानके अविषय तथा सिद्धभूत पदार्थके प्रतिपादनमें कोई उपयोग नहीं हो सकता। यदि कहो कि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्'[2] इत्यादि सूत्रोंसे श्रुति,

(१) निर्गुणब्रह्ममें ही सगुण ब्रह्मके गुणोंका उपसंहार करना चाहिए, जैसा कि अभियुक्तोंका वचन है—

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दा तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥'

अर्थात् जो मन्द पुरुष निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर सकते, उनके लिए दयालु महर्षियोंने सगुण ब्रह्मका निरूपण किया है । इससे महर्षियोंने बेचारे मन्दबुद्धियोंके साथ वञ्चना की, ऐसा भी आरोप नहीं हो सकता; क्योंकि कहा है—

'वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाऽविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥'

सगुण ब्रह्मकी उपासनासे मनके निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके योग्य हो जानेपर पहले सगुणरूपसे उपासित ब्रह्मका निर्गुणरूपसे साक्षात्कार होता है ।

(२) छान्दोग्यमें लोकगतिके प्रश्नके अवसरपर कहा गया है—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' अर्थात् ये सब भूतजात आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशको ही प्राप्त होते हैं । और 'आकाशो ह्येवैतेभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' सबसे उत्कृष्ट आकाश ही है और आकाश ही अन्तिम गति है । इस वाक्यमें आकाशपदसे भूताकाशका ग्रहण प्राप्त होनेके सन्देहमें 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इस श्रुतिमें आकाशके द्वारा सबकी उत्पत्ति दिखला कर आकाशपदसे परब्रह्मका बोध श्रुतिके बलसे दिखलाते हुए ज्यायस्त्वरूप

जीव्यन्त इति चेद्; न; तत्र लोकसिद्धश्रुत्यादीनामेवोपजीवनात् । न द्वितीयः; सगुणविद्यानां मानसक्रियारूपाणां धर्मान्तःपातितया गुणोपसंहारे तदपेक्षायामप्यविरोधात् । ब्रह्मजिज्ञासायां तूपासनानां प्रासङ्गिकी सङ्गतिः ।

लिङ्ग आदि (तर्कपादमें प्रतिपादित न्यायान्तरों) का आश्रयण किया ही गया है, तो यह मानना भी उचित नहीं है, कारण कि उक्त सूत्रोंमें लोकसिद्ध श्रुति आदि न्यायोंका आश्रयण है [अर्थात् पूर्वमीमांसामें जैसे अनादि वृद्धव्यवहारसे सिद्ध श्रुति, लिङ्ग आदिका ग्रहण है, वैसे ही उत्तरमीमांसामें उनका ही ग्रहण है, इसलिए तर्कपादकी अपेक्षा नहीं है, यह भाव है]। दूसरा कल्प गुणोपसंहारमें उपयोग मानना भी, नहीं बन सकता, कारण कि मानसिक क्रियाओंके—उपासनारूप—होनेसे धर्मके ही अन्तर्गत सगुण विद्याएँ मानी जाती हैं, इसलिए गुणोपसंहारमें—सगुणोपासनाबोधक वाक्योंमें—उन न्यायोंकी अपेक्षा रहनेपर भी (प्रथमतः निर्गुण ब्रह्मविचारमें) कोई विरोध नहीं आ सकता, कारण कि ब्रह्मविचारके प्रकरणमें उपासनाओंकी प्रासङ्गिक सङ्गति है। दूसरे विकल्पमें (वाक्यार्थनिर्णयकी

तथा परायणत्वरूप लिङ्गकी सिद्धि भी परब्रह्मका बोध करानेवाली श्रुति द्वारा दिखलाई गई है—'आकाशो ह्येवैतेभ्यो ज्यायान्, इत्यादि और 'ज्यायान् पृथिव्या—' इत्यादि, तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' रातेर्दातुः परायणम् ।' इत्यादि ।

(१) सगुण विद्या और निर्गुण विद्या—इन दोनोंमें यद्यपि विद्याके नाते कोई विशेष नहीं है, तथापि सगुणविद्या मानसिक क्रियारूप है, यह स्पष्ट ही है। गुलाबको गुलाब समझना मनके अधीन नहीं है, किन्तु इन्द्रियविकलता न हो, तो गुलाब वस्तु ही स्वयं अपना प्रकाश करायेगी, इसमें मनोव्यापारकी अपेक्षा नहीं है। यदि इन्द्रियवैकल्य है, तो मनके हजार व्यापार करनेपर भी गुलाबका अनुभव नहीं हो सकता; किन्तु सगुण उपासनारूप सगुण विद्या सर्वथा मनोव्यापाररूप है। भगवान् भी कहते हैं—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' अर्थात् उपासनाके लिए मनकी स्थिरता, देशशुद्धि तथा आसन, ध्यान आदिकी आवश्यकता है एवम् मूलाधारसे कुण्डलिनी, सुषुम्ना आदि नाड़ियों द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक चढ़ना और वहाँपर स्थिर होकर अपने इष्टका निरन्तर एक-सा ध्यान करना चाहिए। भाष्यकार कहते हैं—'उपासनं नाम समानप्रत्ययकरणम्, न च तद्गच्छतो धावतो वा संभवति'। अथ च उद्गीथमें ब्रह्मदृष्टि इत्यादि सब मनोव्यापार ही हैं और शुद्ध ज्ञान उसके ही अधीन है, इसके विपरीत चलने फिरनेसे चित्तके विक्षिप्त हो जानेके कारण वह नहीं होता है।

(२) किसके अनन्तर किसका अभिधान करना चाहिए, इस जिज्ञासाको उत्पन्न करनेवाली सङ्गति छः प्रकारकी होती है, जैसे कि कहा भी है—

द्वितीयेऽपि न तावत् पूर्वतन्त्रवाक्यार्थनिर्णयो ब्रह्मविचारप्रवृत्तावुपयुज्यते, क्वाऽप्यन्यविषयज्ञानस्याऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतुत्वादर्शनात्। नाऽपि ब्रह्मप्रमितौ तदुपयोगः, धर्मज्ञानस्य ब्रह्मप्रमापकत्वायोगात्। यदि धर्मज्ञानस्य ब्रह्मकार्यत्वात् कार्येण कारणानुमानमित्युच्यते, तदा प्रपञ्चेनाऽपि कार्येण ब्रह्मणोऽनुमातुं शक्यत्वात् किं धर्मज्ञानेन। तृतीयपक्षेऽपि ब्रह्मविचारे कथमग्निहोत्रादिकर्म-

---

अपेक्षा मानने में) भी पूर्वमीमांसामें किये गये वाक्यार्थनिर्णयका ब्रह्मविचारकी प्रवृत्तिमें कोई उपयोग नहीं है, कारण कि ऐसा कहीं भी नहीं देखा गया है कि दूसरे विषयका ज्ञान दूसरे विषयमें प्रवृत्ति करानेका कारण हो (घटविषयक ज्ञान घटमें ही प्रवृत्ति करा सकता है, पटमें नहीं) और ब्रह्मकी प्रमितिमें याने अबाधित निश्चयात्मक ज्ञानमें भी उसका (धर्ममीमांसाशास्त्रके वाक्यार्थ निर्णयका) उपयोग नहीं है, कारण कि धर्मका निश्चयात्मक ज्ञान ब्रह्मका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकता। यदि धर्मज्ञान ब्रह्मका कार्य होनेसे कार्यसे कारणका अनुमान करानेवाला होगा (इससे धर्मज्ञान ब्रह्मप्रमापक है) ऐसा मानो, तो प्रपञ्चरूप कार्यसे भी ब्रह्मका अनुमान किया जा सकता है, इसमें धर्मज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? ['ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिकी सामर्थ्यसे ब्रह्ममें सबके प्रति कारणत्व सिद्ध ही है, इसलिए आपामरप्रसिद्ध घट, पटादि प्रपञ्चज्ञान ही प्रेक्षावान्‌के प्रति अपने कारणका अनुमानप्रमापक हो जायगा। इस साधारण बातके लिए इतने बड़े आडम्बरके साथ बारह अध्यायके पूर्व मीमांसाशास्त्रसे धर्मज्ञान करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, इससे मुमुक्षुको पूर्वमीमांसाशास्त्र पढ़नेका आनन्तर्य सिद्ध नहीं हो सकता]। तृतीय

'सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा।
निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा सङ्गतिरिष्यते॥'

अर्थात् प्रसङ्ग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहक और एककार्यता ये छः सङ्गतियाँ हैं। सादृश्यादिरूप अथवा कारणान्तरसे स्मरणमें आये हुए विषयकी उपेक्षा न करना प्रसङ्ग सङ्गति है। प्रकृत विषयके वर्णनकी चिन्ताके कालमें प्रकृतके अनुकूल विषयका उपस्थित करना उपोद्घात सङ्गति कहलाती है। प्रकृतके कारणका प्रतिपादन करना हेतुरूप सङ्गति होती है। प्रकृतके विपरीत शिष्यजिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए कुछ कहनेकी आवश्यकता—अवसर सङ्गति है। प्रकृत एक ही कार्यका साक्षात् या परम्परया जनक (प्रयोजकमात्र) का कहना निर्वाहक कहलाता है। एककार्यत्व सङ्गति एक ही कार्य होना है। इस प्रकार प्रसङ्गसङ्गतिमें वर्णन किये हुए विषयका पूर्वापरके साथ सम्बन्ध ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं होती।

णामुपयोगः। किं यथा सोपानपरम्परया प्रासादमारोहति तथा संध्योपासनमारभ्य पूर्वपूर्वाल्पतरकर्मप्रहाणेनोत्तरोत्तरमहत्तरकर्मोपादानात् सहस्रसंवत्सरे निरतिशये कर्मण्यवस्थितः परिशेषाद् ब्रह्मज्ञानेऽवतरतीत्युच्यते किं वा क्रमेण कृत्स्नकर्मफलावाप्तौ ब्रह्मलोकान्तगोचराणां सर्वेषां कामानामनुभवेन प्रविलये तत्र निवृत्तकामः परमानन्दकामनया ब्रह्मविचारेऽवतरतीति ? नाऽऽद्यः, प्रमाणाभावात्। द्वितीये ब्रह्मविचारो मनुष्याधिकारो न स्यात्, ब्रह्मलोकप्राप्त्यनन्तरभावित्वात्। अथापि सकामस्य ब्रह्मविचारानधिकारात् कामः प्रविलापनीय एव। तत्र यथा वह्निरुपस्थितं दाह्यमखिलं दग्ध्वा प्रशाम्यति तथा कामोऽपि सर्वभोगेन प्रविलीयत इति चेद्, नः हैरण्यगर्भा-

---

विकल्पके—अग्निहोत्र आदिकी अपेक्षाके—माननेमें भी यह प्रश्न होता है कि ब्रह्मविचारमें अग्निहोत्र आदि कर्मोंका उपयोग कैसे होगा ? क्या जैसे सीढ़ियोंसे महलकी छतपर चढ़ा जाता है, वैसे सन्ध्योपासनसे लेकर पूर्व-पूर्वके छोटे-छोटे कर्मोंके त्यागसे आगे-आगेके बड़े-बड़े कर्मोंके उपादानसे हजार वर्ष तक चलनेवाले निरतिशय कर्ममें अवस्थित पुरुष परिशेषसे ब्रह्मज्ञानमें पहुँचता है, इस प्रकार कर्मोंका उपयोग कहते हो ? अथवा सम्पूर्ण कर्मोंके क्रमशः फल पानेके अनन्तर ब्रह्मलोक तककी सब कामनाओंका उनके अनुभवसे नाश हो जायगा, फिर उन सब कामनाओंसे रहित पुरुष परम आनन्दकी कामनासे ब्रह्मविचारमें लगता है ? (इस प्रकार क्या कर्मोंका उपयोग है ?)। इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि सोपानपरम्पराके समान ब्रह्मविचारमें पहुँचानेके लिए कर्म साधन है, ऐसा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मका विचार करना मनुष्यके अधिकारसे बाहर हो जायगा, कारण कि वह तो ब्रह्मलोककी प्राप्तिके अनन्तर होनेवाला है। [और ब्रह्मलोककी प्राप्तिके समय वह मनुष्यव्यपदेशभागी रहता ही नहीं, क्योंकि मनुष्यव्यवहार तो भूलोकमें ही है, अन्य भिन्न भिन्न लोकोंमें तो देव आदि भिन्न संज्ञाएँ प्राप्त हो जाती हैं, यह भाव है।]

शङ्का—कामनाविशिष्ट पुरुषका ब्रह्मविचारमें अधिकार न होनेसे कामनाका विलय करना ही चाहिए। जैसे अग्नि इन्धन आदि सम्पूर्ण दाह्य वस्तुओंको जलाकर स्वयं शान्त हो जाती है, वैसे ही सब भोगोंके भोगनेपर कामना भी स्वयं विलीन हो जाती है।

दिभोगानां प्रतिक्षणं क्षीयमाणत्वादनागतभोगविषयकामनोपपत्तेः। अग्नेरपि दाह्यान्तरोपस्थाने पुनः प्रज्वलनदर्शनात्। अत एवोक्तम्—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥' इति।

ननु कामावाप्त्या स्वच्छहृदयः पुमान् कार्यान्तरक्षमो दृष्ट इति चेत्, सत्यम्; तत्रौत्सुक्यनिवृत्तिर्हृदयस्वास्थ्ये हेतुर्न कामप्राप्तिः, अनुपभुक्तविषयस्यौत्सुक्यरहितस्य पुरुषस्य चित्तस्वास्थ्यदर्शनात्। औत्सुक्यं च न भोगादेकान्ततो निवर्त्तते, किन्तु विषयदोषदर्शनात्। न च भोगात् कामोपशम इत्येवंविध आगमोऽस्ति।

समाधान—हिरण्यगर्भ आदि अवस्थाओंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंका प्रतिक्षण विनाश होनेसे आगे आनेवाले अर्थात् जो अबतक प्राप्त नहीं हुए हैं, ऐसे भोगोंकी कामना बनी ही रहती है, अतः कामनाका क्षय नहीं हो सकता। दूसरी जलने योग्य सामग्रीके आ जानेपर दृष्टान्तभूत अग्निका भी पुनः प्रज्वलन दिखलाई देता है, इसीलिए तो कहा गया है—

विषयोंका उपभोग करनेसे अभिलाषाएँ कभी शान्त नहीं होतीं, किन्तु घृत आदि हविस् पदार्थके छोड़नेसे जैसे अग्नि अधिक बढ़ती ही जाती है, वैसे ही विषयभोगसे अभिलाएँ बढ़ती ही जातीं हैं।

शङ्का—अभिलाषाओंकी पूर्ति हो जानेसे पुरुष प्रसन्नचित्त होकर दूसरे कार्यको करनेमें समर्थ देखा जाता है [यदि अभिलाषाओंके पूर्ण हो जानेपर भी अभिलाषा बनी ही रहती, तो पुरुषको प्रसन्नचित्त नहीं होना चाहिए, अतः इस प्रसन्नतासे मालूम पड़ता है कि अभिलाषाओंकी समाप्ति होती है, यह शङ्काका तात्पर्य है।]

समाधान—यद्यपि आपकी शङ्का ठीक है, तथापि उत्सुकताकी निवृत्ति ही हृदय-प्रसन्नताकी कारण है, अभिलाषाकी पूर्ति कारण नहीं है, कारण कि जिसने विषयोंका भोग नहीं किया है और विषयभोगकी इच्छा भी नहीं है, ऐसे पुरुषका चित्त प्रसन्न देखा जाता है। और विषयभोगसे तो उत्सुकताकी सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, किन्तु विषयमें दोषके परिज्ञानसे होती है, क्योंकि 'भोगसे इच्छाकी शान्ति हो जाती है', इस प्रकार बतलानेवाला कोई आगम प्रमाण नहीं है।

यस्तु मन्यते वैदिकशब्दा सर्वे संहत्य प्रपञ्चविलयप्रमितिपराः, ज्योतिष्टोमादिवाक्यानामपि देहातिरिक्तात्मानमुपजीव्य प्रवृत्तानां देहात्मत्वप्रविलापकत्वादिति; तं प्रतीतिविरोध एव निराकरिष्यति। तस्मान्न केनापि प्रकारेण पूर्वतन्त्रापेक्षा सुलभा।

ननु कर्मद्वारा तदपेक्षा स्याद् ब्रह्मविचारस्य। तथा हि--नित्यकर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुरुषे धर्माख्यं गुणमादधति, स च धर्मः पापाख्यं मलमपकर्षति ततो गुणाधानमलापकर्षणसंस्काराभ्यां संस्कृतः पुमान् ब्रह्मविचारेऽधिक्रियते। तदाह गौतमः--यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः स

सभी वेदवाक्य आपसमें मिलकर प्रपञ्चके विलयका निश्चय कराते हैं, क्योंकि ज्योतिष्टोमादिके प्रतिपादक वाक्य भी देहसे अतिरिक्त आत्माका आश्रयण करके ही प्रवृत्त होते हैं, इसलिए उन वाक्योंका तात्पर्य भी देहात्मवादका विलय करनेमें ही है, ऐसा जो वादी मानता है, उसका खण्डन तो प्रतीतिविरोध ही कर देगा। ['स्वर्गकी कामनासे याग करे' इत्यादि वाक्योंसे स्वर्ग और यागोंका साध्य-साधनभाव ही शब्दतः प्रतीत होता है, प्रपञ्चका विलय प्रतीत नहीं होता। अन्यथा स्वर्गादि प्रपञ्चके विलयका बोध करनेसे यागमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी, यह भाव है] इसलिए किसी भी कारणसे (ब्रह्मविचारमें) पूर्वमीमांसाकी अपेक्षा नहीं हो सकती।

ब्रह्मविचारको कर्म द्वारा पूर्वमीमांसाकी अपेक्षा होगी; क्योंकि अनुष्ठीयमान अग्निहोत्रादि नित्य कर्म पुरुषमें धर्मनामक गुणकी उत्पत्ति करते हैं, [जिससे कर्म करनेवाले धर्मात्मा कहलाते हैं] और वह धर्म पापरूपी मलका निराकरण करता है, उसके अनन्तर गुणाधान और मलापकर्षरूप दोनों संस्कारोंसे संस्कृत पुरुष ब्रह्मविचारमें अधिकार प्राप्त करता है, यही सिद्धान्त गौतम मुनिने भी कहा है—'जिस पुरुषके ये अड़तालीस संस्कार[1] हो जाते हैं, वह

---

(१) अड़तालीस संस्कार इस प्रकार गिनाये गये हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडा (मुण्डन), उपनयन, चार वेदव्रत, समावर्तन, विवाह, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, (इस प्रकार पांच महायज्ञ) अष्टका श्राद्ध, पार्वण श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, प्रौष्ठपदी, चैत्री, आश्वयुजी (इस प्रकार सात पाकयज्ञ) अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध,

ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छतीति । अत्रैतच्छब्देन गर्भाधानादीनि सप्तसोमसंस्थान्तानि कर्माणि परामृश्यन्ते । न च वाच्यं कर्मणां संस्कारकत्वे स्वतन्त्रफलता न स्याद्, व्रीहिप्रोक्षणादौ स्वतन्त्रफलाभावात् ; तत आश्रमकर्मानुष्ठायिनां स्वतन्त्रफलाभिधायिनी सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति श्रुतिः पीड्येतेति । प्रोक्षणादिवत् कर्मणामन्याङ्गतानङ्गीकारेण स्वतन्त्रफलताऽविरोधात् । यथा द्रव्यार्जनस्य स्वतन्त्रपुरुषार्थतया निर्णीतस्य क्रत्वनङ्गस्याऽपि क्रतूपकारिता तथाऽनङ्गानामपि कर्मणां ब्रह्मविचारोपकारिता

ब्रह्मके सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है' इस गौतम मुनिके वचनमें 'एतत्' शब्दसे गर्भाधानादिसे लेकर सात सोमसंस्थानान्त कर्मोंका परामर्श होता है । यदि कहो कि कर्मोंको संस्कारजनक माननेमें उनका कोई स्वतन्त्र ही फल नहीं होगा, क्योंकि संस्कारजनक प्रोक्षणादि कर्मोंका कोई स्वतन्त्र फल नहीं देखा जाता है। इस परिस्थितिमें अपने-अपने आश्रमविहित कर्मोंके अनुष्ठापक पुरुषोंके लिए स्वतन्त्र फलका अभिधान करनेवाली 'आश्रम कर्मोंको करनेवाले पुरुष पुण्य लोकोंकी प्राप्ति करते हैं' इत्यादि अर्थवाली 'सर्व एते' इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे प्रोक्षणादिके समान अन्य किसी भी विधानके अङ्ग नहीं हैं, अतः उनका स्वतन्त्र फल होनेमें कोई विरोध नहीं है । [यदि कर्म किसीके अङ्ग नहीं हैं, तो ब्रह्मविचारके भी उपकारी कैसे होंगे ? इस आशङ्काका दृष्टान्त द्वारा समाधान करते हैं]—जैसे स्वतन्त्र पुरुषार्थस्वरूप द्रव्यार्जन स्वयं क्रतुका अङ्ग नहीं है, तो भी क्रतुका उपकारी होता है, वैसे ही अङ्ग न होते हुए भी कर्म ब्रह्मविचारके उपकारी हो सकते हैं, अन्यथा कर्मोंको संस्कारजनक कहनेवाली उक्त

और सौत्रामणी उक्त सात हविर्यज्ञ संस्कार अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम, (इस प्रकार सात सोमसाध्य यज्ञ) इन चालीस संस्कारोंके अतिरिक्त दया, तितिक्षा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, कृपणताका अभाव एवम् लोलुपताका अभाव ये आत्माके आठ गुण । इनका विशद वर्णन ग्रन्थगौरवसे यहांपर नहीं किया गया है, धर्मशास्त्रोंसे जानना चाहिये ।

(२) सायुज्य—सयुजो भावः—अर्थात् विद्याके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होनेसे ब्रह्मके साथ एकताकी प्राप्ति ।

(३) सालोक्यम्—समानलोकस्य भावः प्राप्तिः—अर्थात् श्रवण, मनन आदिके बिना केवल उपासना द्वारा समान लोककी प्राप्ति ।

स्यात् । अन्यथा कर्मणां संस्कारत्वस्मृत्यनुपपत्तेः । एवं च कर्माणि केवलान्यभ्युदयफलानि, श्रवणमननादिसहकृतानि तु ब्रह्मज्ञानजनकानीति श्रुतिस्मृत्योरविरोधः । न च गौतमस्मृतौ सालोक्यलिङ्गाद्धिरण्यगर्भप्राप्तिरेव संस्कारकर्मणां फलमिति वाच्यम्, तत्र सायुज्यशब्देन मोक्षस्याऽभिहितत्वात् । 'ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादिस्मृतिषु स्पष्टमेव पापक्षयलक्षणसंस्कारद्वारा ज्ञानोत्पत्तौ कर्मणां विनियोगात् । यथा प्रोक्षणा-

---

गौतमस्मृतिकी उपपत्ति नहीं होगी, केवल कर्म स्वर्गादि अभ्युदयको देनेवाले हैं और वे ही कर्म श्रवण, मननादिसे युक्त होकर ब्रह्मज्ञानके उत्पादक होते हैं, इस प्रकार निष्कर्ष करनेसे श्रुति तथा स्मृतिमें कोई विरोध नहीं रह जाता। 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' यह श्रुति केवल कर्मोंके फलका बोधन करती है और 'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः' इत्यादि गौतमस्मृति श्रवण, मननके सहकारसे कर्मोंका ब्रह्मज्ञानमें उपयोग कह रही है, इस प्रकार विषयका भेद होनेसे विरोध नहीं आता] । यदि शङ्का हो कि गौतमस्मृतिमें सालोक्यरूप हेतुसे संस्कार कर्मोंका हिरण्यगर्भप्राप्तिरूप फल मानना चाहिये, ब्रह्मज्ञान नहीं। तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि उसी स्मृतिमें सायुज्यशब्दसे मोक्षका अभिधान * है । 'पाप कर्मोंका नाश होनेसे पुरुषोंको ज्ञान होता है ।' इत्यादि स्मृतियोंमें पापक्षयरूप संस्कार द्वारा ज्ञानकी उत्पत्तिमें कर्मोंका† विनियोग स्पष्ट ही है जैसे प्रोक्षण आदि संस्कार

---

* ब्रह्मके साथ एक-अभेद-को ही सायुज्य कहते हैं, और ब्रह्मैक्य ही मोक्ष माना गया है ।

† कर्मोंका संस्कार द्वारा ज्ञानसिद्धिका अङ्ग होना भगवान्ने भी श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" अपने अपने कर्मोंमें तत्पर पुरुष सिद्धि पाता है। यहाँपर स्वपदसे अड़तालीस संस्कारोंमें से नित्य कर्म लिए जाते हैं। और सिद्धिपदसे अन्तःकरणकी शुद्धि अभीष्ट है। आगे चलकर भगवान् कहते हैं—"सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे" सिद्धि-चित्तशुद्धि-को पाकर ब्रह्म पानेका प्रकार मुझसे सुनो" कहकर कहते हैं—

"बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥"

विशुद्ध बुद्धि—अन्तःकरण—से युक्त हो और धृतिसे अपना नियमन करके ध्यानयोगमें

दीनि संस्कारकर्माणि दर्शपूर्णमासस्वरूपोत्पत्तिहेतुतया स्वर्गे समुच्चीयन्ते तथा नित्यनैमित्तिककर्माणि ज्ञानोत्पत्तिहेतुतया मोक्षे समुच्चीयन्ते। ननु तर्हि प्रोक्षणादिवदेव गुणकर्मत्वं प्राप्तं ततो न कदाचिदपि स्वतन्त्रफलत्वसिद्धिरिति चेद् , न; व्रीहिवदत्र संस्क्रियमाणस्याऽऽत्मनो विधेयगुणत्वाभावेन तत्प्राप्तेः। नहि प्रमाणतन्त्रं ब्रह्मज्ञानं विधातुं शक्यम् , येनाऽऽत्मनो विधेयगुणता स्यात्। नन्वेवं सति संस्कारकर्मता नित्यनैमित्तिकयोर्न स्याद् , विहिताङ्गद्रव्यसंस्कारकर्मण्येव तत्प्रसिद्धेरिति चेद् , मैवम् ; अविहितभोजनाङ्गदधिसंस्कारेऽपि प्रसिद्धेः।

कर्म दर्शपूर्णमास यागकी स्वरूपोत्पत्तिमें कारण होते हुए स्वर्गरूप साध्यकी कारणसामग्रीमें जुट जाते हैं, वैसे ही नित्य, नैमित्तिक—सन्ध्योपासना, राहुपरागादिमें (ग्रहणमें) स्नान, दानादि—कर्म ज्ञानोत्पत्तिके कारण होकर मोक्षरूप पुरुषार्थकी कारणसामग्रीमें भी सम्मिलित हो जाते हैं। यदि शङ्का हो कि तब तो प्रोक्षणादिके समान वे कर्म भी गुण कर्म ही हुए और गुणकर्मोंसे स्वतन्त्र फलकी सिद्धि कभी भी नहीं हो सकती, तो ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती, कारण कि व्रीहिके समान संस्कारको प्राप्त होनेवाला आत्मा विधेयका गुण नहीं है, अतः उसमें स्वतन्त्र फलकी प्राप्ति हो सकती है, कारण कि ब्रह्मज्ञान प्रमाणाधीन है, अतः उसका विधान नहीं किया जा सकता, जिससे कि आत्मा 'व्रीहिके समान' विधेयका गुण हो। यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेपर नित्य नैमित्तिक कर्मोंका संस्कार कर्म होना सिद्ध नहीं होगा, कारण कि विहित—प्रधानभूत विधेय—के अङ्गभूत (व्रीह्यादि) द्रव्यके संस्कारक कर्ममें संस्कारकर्मता प्रसिद्ध है, तो वैसी शङ्का करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसका किसी 'भोक्तव्यम्' इत्यादि विधायक वाक्यसे विधान नहीं किया जाता, ऐसे अविधेयभूत भोजनके अङ्ग दधि आदि द्रव्यके संस्कारमें भी वैसा (संस्कारका कर्म होना) प्रसिद्ध है।

तत्पर हो वैराग्यको प्राप्त "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्"—'यथार्थतः मुझको जानकर अनन्तर मेरे साथ ऐक्यको प्राप्त हो जाता है' इस प्रकार श्रीभगवान्‌की दिखलाई हुई प्रक्रियासे नित्य कर्मोंके द्वारा चित्तकी शुद्धिको पाकर ध्यान योग आदि सहकारीकी सम्पत्ति मिलनेसे तत्त्वज्ञानका उदय होनेसे मोक्षप्राप्तिमें कर्मोंका उपयोग स्पष्ट ही है।

ननु यदि नित्यकर्मणां ब्रह्मज्ञानेतिकर्त्तव्यता, तथा सति विधिवाक्यनिर्दिष्टं करणत्वं न सिध्येत्, प्रधानोपसर्जनरूपयोः करणेतिकर्त्तव्यतयोरेकत्राऽसंभवात्। यदि च नेतिकर्त्तव्यता तदा दध्यादिसंस्कारवदन्यार्थद्रव्यसंस्काररूपता न सिध्येदिति चेद्, नैष दोषः; उभयथाऽप्यविरोधात्। न तावदेकस्य करणत्वमितिकर्त्तव्यत्वं च न संभवति, 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत', 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इत्यत्र सौत्रामणीबृहस्पतिसवयोरन्यत्र करणतया स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितयोरप्यग्निचयनवाजपेयेतिकर्त्तव्यतादर्शनात्। तत्र करणेतिकर्त्तव्यविधिवाक्यप्रमाणभेदाद्युक्तं सौत्रामण्यादेरुभयार्थत्वमिति चेत्, तर्ह्यत्राऽपि नित्यविधिसामर्थ्यात् संस्कारस्मृत्यनुमितश्रुतिसामर्थ्याच्चोभयार्थत्वं कल्प्यताम्। नाऽप्यनितिकर्त्तव्यस्य

यदि शङ्का हो कि नित्य कर्मोंमें ब्रह्मज्ञानकी इतिकर्तव्यता मानी जायगी, तो विधिवाक्यसे दिखलाई गई करणता सिद्ध न हो सकेगी, क्योंकि प्रधान और उपसर्जन स्वरूप करण और इतिकर्तव्यता इन दोनोंका एकमें रहना सम्भव नहीं है। यदि उनमें इतिकर्तव्यता न मानी जाय, तो दधि आदिके संस्कारकी भाँति अन्यार्थद्रव्य (भोजनादि निमित्त दध्यादि द्रव्य) की संस्काररूपता सिद्ध न होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त दोष नहीं आता। दोनों प्रकारोंमें (इति कर्तव्यता मानने या न माननेमें) भी कोई विरोध नहीं है, कारण कि एकमें करणत्व और इतिकर्तव्यत्व दोनों सम्भव नहीं हैं, ऐसा तो है नहीं, [अर्थात् दोनोंका होना सम्भव है—इसमें दृष्टान्त देते हैं]—अत्यन्त स्वतन्त्र दूसरे विधिवाक्योंमें करणरूपसे विधान किये गये सौत्रामणी और बृहस्पतिसव यागोंमें भी 'अग्निचयन करके सौत्रामणी याग करे' और 'वाजपेय याग करके बृहस्पतिसव यज्ञसे याग करे' ऐसे स्थलोंमें अग्निचयन और वाजपेयके अङ्ग होनेसे इतिकर्तव्यता देखी जाती है। उक्त स्थलोंमें करण तथा इतिकर्तव्यविधिके वाक्यरूप प्रमाणके भेदसे सौत्रामणी आदिमें करण तथा इतिकर्तव्यतारूप यदि उभयार्थत्व सम्भव है, तो प्रकृतमें भी नित्यविधिकी सामर्थ्यसे और उक्त संस्कारबोधक स्मृति और अनुमित श्रुतिकी सामर्थ्यसे उभयार्थकी कल्पना कीजिये। [इससे इतिकर्तव्य माननेमें कोई दोष नहीं आ सकता]। इतिकर्तव्य न माननेसे भी संस्कार-

संस्काररूपत्वासिद्धिः । आधानस्याऽनितिकर्त्तव्यस्यैव संस्कारत्वात् ।

ननु कर्मणां ज्ञानसाधनत्वे यावज्ज्ञानोदयं तदनुष्ठानाद्विविदिषासंन्यासो न सिध्येदिति चेद्, न; चित्तस्य शुद्धिद्वारा प्रत्यक्प्रवणतायां सम्पन्नायां तदनुष्ठानोपरमाङ्गीकाराविरोधात् । तदुक्तम्—

'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः ।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥' इति ।

तदेवं संस्कारपक्षे कर्मणां ब्रह्मज्ञानोपयोगः सिद्धः ।

अथ विविदिषापक्षेऽपि सोऽभिधीयते । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रूयते । तत्राऽऽत्मतत्त्वापरोक्षा-

---

रूप होनेकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इतिकर्तव्य न होता हुआ ही आधान संस्कार कर्म होता है ।

शङ्का—कर्मोंको ज्ञानके प्रति साधन माननेमें जबतक ज्ञानका उदय होगा, तब तक उनका अनुष्ठान करना पड़ेगा, इससे विवदिषासंन्यासकी सिद्धि नहीं होगी । [ज्ञानेच्छासे कर्मोंका त्याग नहीं बन सकता, कारण कि 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति यज्ञ आदि कर्मोंको ज्ञानसाधन कहती है] ।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि चित्तकी विशुद्धिके द्वारा परमात्माकी ओर तत्परता सम्पन्न होनेके अन्तर कर्मोंके अनुष्ठानसे विराम माना जाता है, इससे कोई विरोध नहीं आता । कहा भी गया है—

वर्षाकालकी समाप्तिमें जैसे मेघ विलीन हो जाते हैं, वैसे ही यज्ञ आदि कर्म बुद्धिकी—अन्तःकरणकी—शुद्धि—विषयाभिलाषा निवृत्ति—के द्वारा परमात्माकी लगन उत्पन्न कराकर कृतार्थ होकर अस्त हो जाते हैं—इस प्रकार 'कर्मोंको' संस्कारक माननेके पक्षमें कर्मोंका ब्रह्मज्ञानमें उपयोग सिद्ध हुआ ।

कर्मोंको संस्कारार्थ माननेसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इत्यादि शास्त्र रागी पुरुषोंको उद्देश्य करके प्रवृत्त होते हैं । विविदिषासंन्यासादि विधि विरक्तके लिए है (इससे शास्त्रोंमें परस्पर विरोध नहीं आता) । 'तमेतं वेदानुवचनेन—' इत्यादि आगे प्रदर्शित किये जानेवाले श्रुतिवाक्योंसे नित्य कर्मोंका संस्कारार्थ होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु विविदिषा—ब्रह्मतत्त्वज्ञानकी इच्छा—के लिए होना प्रतीत होता है, इस आशयसे पक्षान्तर कहते हैं—

नुभवस्तावदिष्यमाणतया स्वर्गादिवद्भावनासाध्योऽवगम्यते, पुरुषार्थत्वात् । न च शाब्दज्ञानस्येष्यमाणत्वं शङ्कनीयम् , संजाते शाब्दज्ञाने तत्र कामनानुदयात् । असंजाते तु विषयानवगमादेव तत्र सुतरां कामनाऽसम्भवात् । अपरोक्षानुभवे तु संभवत्येव कामना । शाब्दज्ञानोत्पत्तौ विषयस्य सामान्यतः प्रसिद्धत्वात् । यदा तु शब्द एवाऽपरोक्षज्ञानस्य जनकस्तदाऽपि तस्य चञ्चलत्वान्निश्चलं ज्ञानं कामयितव्यमेव । तत्र यज्ञादीनामाख्याताभिहितभावनाकरणतयाऽवगतानामिष्यमाणेन साध्येनैवाऽन्वयाद्यज्ञादीनि ब्रह्मानुभवसाधनतयाऽवगतानि । न चेच्छामात्रेणाऽन्वयः, तस्या असा-

अथवा (कर्मोंका फल) विविदिषा मानना चाहिए, क्योंकि 'हमें ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान हो, ऐसी इच्छा होना भी उत्कृष्ट पुण्योंका फल है' वह विविदिषा पक्ष इस प्रकार कहा जा सकता है—उस परमात्माको ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और हित, परिमित तथा पथ्य भोजनसे जानना चाहते हैं, इत्यादि अर्थवाली श्रुति है, उस श्रुतिमें आत्मतत्त्वका अपरोक्षानुभव ही इच्छाविषय (अभीष्ट) होता हुआ स्वर्गादिके तुल्य भावनासाध्य प्रतीत होता है, क्योंकि वह पुरुषार्थरूप है । शब्दज्ञान अभीष्ट है, ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती, [अर्थात् उक्त श्रुतिमें शब्दज्ञानका भावनाके साध्यत्वरूपसे बोध नहीं किया गया हैं ।] कारण कि शब्दज्ञानके उत्पन्न होनेपर उसकी कामना नहीं हो सकती, [अतः शब्दज्ञानको अभीष्ट नहीं माना जा सकता] और शाब्द ज्ञान यदि नहीं हो पाया तो विषयज्ञान न होनेसे उसमें कामनाका होना बिलकुल ही सम्भव नहीं है, इससे भी वही दोष आता है । अपरोक्षानुभव—साक्षात्कार—की कामनाका तो सम्भव है ही । [इसलिए तत्त्वसाक्षात्कार अभीष्ट पुरुषार्थ माना जा सकता है] कारण कि शब्दजनित ज्ञान होनेपर विषयकी सामान्यतः प्रसिद्धि—प्रतीति—हो जाती है [अतः ज्ञानं पदार्थ इच्छाविषय हो सकता है] जिस पक्षमें शब्दको ही अपरोक्ष ज्ञान—साक्षात्कार—का कारण माना जाता है, उस पक्षमें भी उस—शब्दज्ञानके चञ्चल होनेसे निश्चल—स्थिर—ज्ञानको अभीष्ट—कामनाविषय—होना ही चाहिए । उस स्थलमें अख्यातार्थ भावनाके करणरूपसे प्रतीयमान यज्ञादिका इच्छाविषय—अभीष्ट—साध्य (ब्रह्मज्ञान) के ही साथ अन्वय होनेसे यज्ञादि ब्रह्मज्ञानके उपायस्वरूप प्रतीत होते हैं । केवल इच्छासे अन्वय

ध्यत्वात् । ततश्चाऽऽत्मानुभवकामो यज्ञादीन्यनुतिष्ठेदिति विधिः परिणम्यते । न च 'विविदषन्ति' इति वर्तमानताविरोधः, लेट्परिग्रहेण विध्यधिगमात् । न च नित्यस्य यज्ञादेर्ब्रह्मानुभवकामेन कथं संबन्ध इति वाच्यम् , स्वर्गकामसंबन्धादुपपत्तेः । ननु विमता ज्ञानहेतवो यज्ञादिभ्यो भिन्नाः, प्रकरणान्तरविहितत्वाद्, यथा कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रम् ; कुण्डपायिनामयनं नाम संवत्सरसत्रम् । तत्र हि 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इति विहितस्य प्रकरणान्तरविहितात् प्रसिद्धाग्निहोत्राद्भेदो निर्णीतस्तथाऽ-

---

नहीं किया जा सकता, कारण कि इच्छा साध्य नहीं है, [इच्छाविषय ब्रह्मज्ञान साध्य है, करणका अन्वय साध्यमें ही करना चाहिए, यह न्यायप्राप्त है]। इससे 'आत्मानुभव—ब्रह्मसाक्षात्कार—की इच्छा रखनेवालेको यज्ञादिका अनुष्ठान करना चाहिए' ऐसा विधिका परिणाम हो जाता है अर्थात् यज्ञादि स्वर्गादिकामके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञानके अधिकारसे परिणत हुए विधिवाक्यका विधेय माना जायगा । 'विविदिषन्ति' इस वर्तमानार्थक लट् लकारके प्रयोगका विरोध नहीं आता, कारण कि यहांपर (लिङर्थमें) लेट् लकार होनेसे विधिरूप अर्थ लिया जाता है । नित्यभूत यज्ञादिका ब्रह्मानुभवकाम अधिकारीसे सम्बन्ध कैसे होगा ? ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि स्वर्गकाम अधिकारीसे सम्बन्ध होनेके कारण उपपत्ति हो सकती है । [जैसे नित्य अग्निहोत्र संयोगभेदसे काम्य भी हो सकता है, वैसे ही नित्य यज्ञ भी संयोगभेदसे काम्य हो सकता है अर्थात् एक कर्मका अनेकाधिकारविधिसे सम्बन्ध हो सकता है । [प्रकरणमें पठित अधिकारान्तरविधिके साथ अधिकारान्तरविधिका संयोगभेदसे सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु प्रकरणान्तरस्थसे सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है, इस आशयसे शङ्का करते हैं--]

विमत ज्ञानके कारण ('यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यमें प्रतिपादित यज्ञादि) 'प्रसिद्ध अग्निहोत्रादिरूप' यज्ञादिसे भिन्न—अतिरिक्त—हैं, कारण कि (ब्रह्मज्ञानसे) भिन्न प्रकरणमें पढ़े गये हैं । जैसे 'कुण्डपायियोंके अयनमें एक मास तक अग्निहोत्र' कुण्डपायियोंका अयन नाम संवत्सरसाध्य—एकवर्षसाध्य—यज्ञका है । उसमें 'मासभर अग्निहोत्र करें' इस वाक्यसे विहित अग्निहोत्रका दूसरे प्रकरणमें विहित प्रसिद्ध अग्निहोत्रसे भेदका निर्णय

त्रापि । नैतद्युक्तम्, वैषम्यात् । दृष्टान्ते हि न तावदग्निहोत्रशब्दः प्रसिद्धाग्निहोत्रपरामर्शसमर्थस्तस्याऽलौकिकाभिधानस्याऽऽख्यातपरतन्त्रतयाऽऽख्यातोक्तार्थभिधायित्वात् । नाऽप्याख्यातशब्दस्तत्र समर्थः, स्वप्रकरणपठितोपसद्भिर्मासगुणेन च विशिष्टे कर्मविशेषे सति तं विहाय प्रकरणान्तरस्य परामर्शायोगात् । दार्ष्टान्तिके त्वध्ययनयज्ञदानतपोनाशकशब्दानां लौकिकाभिधानतया स्वातन्त्र्यात् प्रदेशान्तरविहिताग्निहोत्रादिपरामर्शोपपत्तौ तान्येव कर्माणि संयोगभेदेन विधीयन्त इत्युपपद्यते । नन्वेवमपि ब्रह्मज्ञानस्य दृष्टप्रमाणसामग्रीजन्यस्य नाऽदृष्टापेक्षा, सति प्रमाकरणे यज्ञादिजन्यादृष्टाभा-

---

किया गया है । इसी तरह प्रकृतमें भी भेद समझना उचित है ।

समाधान—दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य होनेसे उक्त शङ्काके कहनेमें तत्त्व नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त 'कुण्डयायिनामयने मासमग्निहोत्रम्' इस वाक्यमें आया हुआ अग्निहोत्रशब्द प्रसिद्ध अग्निहोत्रका परामर्श करनेमें समर्थ नहीं है, कारण कि वह अलौकिक अभिधान आख्यातपरतन्त्र है, अतः आख्यात ही उक्त अर्थका अभिधायी हो सकता है । [प्रमाणान्तरसे अग्निहोत्रकी सिद्धि नहीं है, इससे यह अग्निहोत्र-पदार्थ अलौकिक है और जुहोतिका अर्थ है इसलिए आख्यातपरतन्त्र कहा गया] आख्यातशब्द भी प्रसिद्ध अग्निहोत्रके कहनेमें समर्थ नहीं है, अपने प्रकरणमें पढ़े हुए उपसद्—कारक आदिसे तथा मासरूप गुणसे विशिष्ट कर्मविशेषकी प्रतीति होनेपर उसका त्यागकर दूसरे प्रकरणस्थके परामर्श करनेका योग नहीं हो सकता, दार्ष्टान्तिक ('तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति—' इत्यादि वाक्य) में तो अध्ययन, यज्ञ, दान, तप, तथा अनाशक शब्दोंका लौकिक अर्थ होनेसे स्वातन्त्र्य है, अतः उनसे प्रकरणान्तरमें भी विहित अग्निहोत्र आदि प्रसिद्ध यज्ञोंके परामर्शकी उपपत्ति हो सकती है, इसलिए उनका प्रसिद्ध ही अग्निहोत्र आदि कर्मोंका—संयोग भेदसे विधान किया जाता हैं । इस प्रकार नित्य अग्निहोत्र आदि काम्य कर्मोंका ब्रह्मज्ञानके साथ सम्बन्ध उपपन्न हो सकता है ।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी दृष्ट प्रमाणसामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मज्ञानको अदृष्ट (प्रमाण) की आवश्यकता नहीं है । प्रमा—निश्चयात्मक ज्ञान—के करणके उपस्थित रहते यज्ञ आदिसे उत्पन्न अदृष्टके

वापराधेन ज्ञानानुदयादर्शनादिति चेद्, नः शास्त्रैकसमधिगम्येऽर्थे केवलव्यतिरेकाभावस्याऽदोषत्वात्।

यत्त्वात्र समुच्चयवादिनो मन्यन्ते—न कर्माणि ज्ञानसाधनानि, प्रमाणरूपत्वाभावात्, किन्तु मोक्षसाधनानीति, तदसत्; 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इति श्रुतज्ञानकरणत्वविरोधात्। यदि साक्षात् करणत्वं न संभवेत्, तदाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा तत्कल्पनीयम्। लोके 'काष्ठैः पचति' इत्यादौ परम्परया साधनेऽपि

न होनेपर भी ज्ञानका उदय देखा जाता है। [विषयेन्द्रिय सन्निधान होते ही ज्ञान हो ही जाता है, इसमें पुण्य पापरूप अदृष्टकी अपेक्षा नहीं होती, इसलिए पुण्योत्पादक नित्य कर्मोंमें ज्ञानकारणता सिद्ध नहीं हो सकती]।

समाधान—केवल शास्त्र द्वारा ही ज्ञात होनेवाले विषयमें केवल व्यतिरेकका अभाव दोष नहीं होता। [जैसे कपालोंको अग्निमें तपानेके लिए मन्त्र पढ़े जाते हैं, यहांपर शङ्का हो सकती है कि अग्नि तो बिना मन्त्र पढ़े भी तपा देगा, फिर मन्त्रपाठ क्यों? परन्तु मन्त्रपाठपूर्वक तपानेमें ही अभ्युदय होता है, इसलिए ताप देनेमें यद्यपि मन्त्रपाठके व्यतिरेकका अभाव होते हुए भी मन्त्रपाठ करना शास्त्र होनेसे छोड़ा नहीं जाता, एवं ज्ञानोदयमें भी यज्ञादिका केवलव्यतिरेकाभाव रहते भी 'तमेतम्—' इत्यादि श्रुतिके बलसे यज्ञ आदिको ज्ञानसाधन मानना दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शास्त्र कहता है और जो शास्त्र कहे वही अभ्युदयकारी होता है]। [ज्ञानकर्मसमुच्चयसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि माननेवाले वादीका खण्डन करते हैं—] जो कि इस विषयमें समुच्चयवादी मानते हैं कि कर्म ज्ञानके साधन नहीं हो सकते, कारण कि कर्म प्रमाणस्वरूप नहीं है। (ज्ञानके साधन इन्द्रिय आदि प्रमाण ही होते हैं)। किन्तु मोक्षरूप पुरुषार्थके साधन हैं, यह कहना उचित नहीं है, 'यज्ञेन विविदिषन्ति—' इत्यादि श्रुतिसिद्ध ज्ञानकरणत्वसे विरोध होगा। (अर्थात् यज्ञ आदिको करण कहनेवाली श्रुतिका विरोध उनके मतमें आ जायगा)। यदि कर्मोंमें (ज्ञानके प्रति) साक्षात्करण सम्भव न हो, तो अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा उसकी (करणत्व) की कल्पना करनी चाहिए (अर्थात् परम्परया करण मानिये), क्योंकि लोकमें

करणविभक्तिदर्शनात् । वेदेऽपि स्वर्गं प्रति करणत्वेन श्रुतस्य यागादेरपूर्वद्वारा करणत्वकल्पनात् । न त्वेवमत्र वाक्ये मोक्षसाधनता प्रतीयते, प्रत्युत 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिवाक्यान्तरे कर्मणां मोक्षसाधनता प्रतिषिध्यते । अतस्तेषां ज्ञानहेतुतैव ।

ननु विशुद्धिद्वारेण ज्ञानहेतुत्वे संस्कारविविदिषापक्षयोः को भेदः ? उच्यते—श्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासादिसहकारिकारणसंपत्तावेव संस्कारो विज्ञानं साधयति, तदभावे सत्यभ्युदयमेव । विविदिषायां तु विज्ञानस्य कर्मफलत्वात् फलपर्यन्तसाधनानि संपाद्याऽपि विज्ञानं जनयतीति विशेषः ।

'इन्धनसे पाक करता है' इस वाक्यमें परम्परासे कारणभूत इन्धनके आगे भी करणकारक विभक्तिका ('काष्ठैः' तृतीयाका) चिन्ह 'से' आता हुआ देखा गया है । वेदमें भी श्रुति द्वारा करणकारकरूपसे प्रतिपादित याग आदिमें अपूर्व द्वारा ही करणकारकत्वकी कल्पना की गई है । इस प्रकार प्रकृत वाक्यमें (यज्ञादिका परम्परया भी) मोक्षका साधन—करणकारक—होना प्रतीत नहीं होता, इसके विपरीत 'कर्मसे नहीं, सन्ततिसे नहीं—' इत्यादि दूसरे श्रुतिवाक्योंमें कर्मोंकी मोक्षसाधनताका निषेध किया गया है, इसलिए कर्मोंको ज्ञानका कारण ही मानना उचित है ।

शङ्का—यदि विशुद्धि—चित्तकी विषयविमुखता—द्वारा कर्मोंको ज्ञान-साधन मानते हो, तो संस्कार और विविदिषा पक्षोंमें परस्पर क्या भेद होगा ? [संस्कारपक्षमें भी 'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः' इत्यादि प्रतिपादित रीतिके अनुसार चित्तविशुद्धि ही अपेक्षित है । और विविदिषापक्षमें भी इसीका प्रतिपादन किया गया है] ।

समाधान—संस्कार पक्षमें—श्रवण, मनन, निदिध्यासन, अभ्यास, (पुनः पुनः परिशीलन) आदि सहकारी कारणोंके जुटनेपर ही संस्कार विज्ञानकी—ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कारकी—सिद्धि कर सकता है और सहकारियोंके न जुटनेपर संस्कार केवल स्वर्गादि अभ्युदयकी ही सिद्धि करता है । और विविदिषापक्षमें तो विज्ञान कर्मफल है, अतः विविदिषा फलपर्यन्त साधनोंका सम्पादन करके भी विज्ञानको उत्पन्न करती है, इतना विशेष है । [संस्कारमें सामर्थ्य नहीं है कि श्रवणादि सह-कारियोंकी सम्पत्ति कर सके, केवल सहकारीकी सम्पत्ति पानेपर ही वह ज्ञानोत्पादक

तदेवं पक्षद्वयेऽपि कर्मद्वारा पूर्वतन्त्रस्याऽपेक्षितत्वात्तदानन्तर्यमथशब्दार्थ इति, नैतत् सारम्, जन्मान्तरानुष्ठितैरपि कर्मभिरन्तःकरणशुद्धौ ज्ञानोदयसंभवात् ।

अथ मतम्—ऋणापाकरणायेह जन्मनि कर्माऽनुष्ठातव्यम् ।

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥'

इति स्मृतेरिति, तदसत्; 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति प्रत्यक्षश्रुत्या बाधितत्वात् । तदुक्तम्—

'प्रत्यक्षवेदवचनप्रामाण्यापाश्रयादतः ।
आदौ संन्याससंसिद्धेर्ऋणानीति ह्यपस्मृतिः ॥' इति ।

होता है और विविदिषा सकल अपेक्षित श्रवणादि सहकारियोंको सम्पन्न करनेमें समर्थ होती हुई ज्ञानरूपी फलको भी उत्पन्न करती है, इस प्रकार दोनोंमें भेद है, यह भाव है । 'ननु कर्मद्वारा तदपेक्षा स्यात्'–इत्यादिसे लेकर यहांतकके प्रघट्टकसे वर्णित युक्तियोंके आधार पर) संस्कार या विविदिषा दोनों पक्षोंमें कर्म द्वारा पूर्वतन्त्रके अपेक्षित होनेसे पूर्वमीमांसाका या कर्मोंका आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ मानना चाहिए, इस लम्बी शङ्काका समाधान करते हैं]—ऐसा कहना सारभूत नहीं है, क्योंकि दूसरे-दूसरे पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके द्वारा चित्त शुद्ध होनेसे भी ज्ञानका उदय हो सकता है । [श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है कि 'अनेकजन्मसंसिद्धः' अनेक जन्मोंके सुकृतोंसे सिद्धि प्राप्त होती है ।]

यदि माना जाय कि ऋणके शोधनके लिए इस जन्ममें कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए, जैसा कि स्मृतियोंमें कहा गया है—'तीन ऋणोंका शोधन कर-मनको मोक्षमें लगाना चाहिए । ऋण चुकाए बिना मोक्षमें मन लगानेवाला अधोगामी अर्थात् नरकमें जाता है ।' तो यह मानना भी अच्छा नहीं है, कारण कि 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'—अथवा वैराग्यका उदय होनेपर ब्रह्मचर्याश्रमसे ही गृहस्थाश्रमधर्मका पालन किये बिना भी संन्यास ले ले (मोक्षसाधनमें लग जाय), इस प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरोध आता है । कहा भी है—संन्याससिद्धिसे पूर्व ऋणोंके दूर करनेके लिए कही गई 'ऋणानि' इत्यादि स्मृति प्रत्यक्ष प्रमाणभूत वेदवचनोंके आधारसे अपस्मृति है अर्थात् सिद्धान्तभूत स्मृति नहीं है ।

'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति श्रुतिरप्यस्तीति चेद्, न; तस्या हृदयाद्यवदानशेषार्थवादत्वात् । न चाऽसौ भूतार्थवादः, न्यायविरोधात् । ऋणशब्देनाऽत्र किं पुत्रयज्ञब्रह्मचर्याण्येवोच्यन्ते किं वा तद्विधयः ? तत्र न तावज्जायमानस्य पुत्रादिसंबन्धो युज्यते, योग्यानुपलब्धिविरोधात् । नाऽपि तद्विधिसंबन्धः, विधिप्रतिपत्तिसामर्थ्यविकलस्याऽधिकाराभावात् । सामर्थ्यस्य चाऽधिकारिविशेषणत्वात् । अथ 'गृहस्थो जायमानस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति व्याख्यायेत, एवमपि 'गृहात्प्रव्रजेत्' इति विधिविरोधः पूर्वोक्तन्यायविरोधश्च दुर्वारः । नहि विवाहदिने एव पुत्रसंबन्धस्तदुत्पादनसामर्थ्यं वोपलभ्यते । न च जन्मारभ्य पुत्राद्यधिकारसंपत्तेः प्राग्वि-

---

'उत्पन्न होनेवाला ब्राह्मण उक्त तीन ऋणोंके ही साथ उत्पन्न होता है' इस प्रकार प्रत्यक्ष श्रुति मिलती है, ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि वह श्रुति हृदयादि अवदानका अङ्गभूत अर्थवाद है। [हृदयावदानमें हृदय, जिह्वा और वक्षःस्थल इन तीनका अवदान कहा गया है; इन तीनोंके अवदानके विधानका शेष होनेसे अर्थवाद श्रुति उक्त प्रव्रजनविधायक श्रुतिकी अपेक्षा दुर्बल है] उस श्रुतिको भूतार्थवाद नहीं कह सकते; कारण कि इसमें न्यायविरोध आता है। क्या उक्त श्रुतिमें ऋणशब्दसे पुत्र, यज्ञ, या ब्रह्मचर्य ही लिये जाते हैं ? या उनका विधान लिया जाता है ? उत्पन्न होनेवालेका पुत्रादिके साथ सम्बन्ध होना युक्ति-सङ्गत नहीं है, क्योंकि योग्यानुपलब्धिसे विरोध आता है। [सम्बन्धयोग्य गृहस्थकी जन्मकालमें उपलब्धि ही नहीं है और न सम्बन्ध होनेवाले पुत्रकी ही उपलब्धि है] और उनका विधान भी ऋणशब्दसे नहीं लिया जाता, कारण कि ऋणविमोचन विधिसे प्राप्त नियोगके अनुष्ठानमें सामर्थ्यहीनका अधिकार नहीं है; कारण कि सामर्थ्य अधिकारीका विशेषण माना गया है। यदि गृहस्थ होता हुआ (अर्थात् सामर्थ्यसम्पन्न होता हुआ विवाहसमयमें ही) तीन ऋणोंसे युक्त होता है, ऐसा व्याख्यान किया जाय, तो ऐसा माननेपर भी 'गृहस्थाश्रमसे ही संन्यास ले ले' इस श्रुतिप्रतिपादित अर्थसे विरोध आता है और पूर्वोक्त न्यायविरोध, तो हटाया नहीं जा सकता। विवाहके ही दिन पुत्रके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता और न उसके उत्पादनका सामर्थ्य ही उपलब्ध होती है। ऐसा भी नहीं

रोधिविध्यन्तरसंबन्धपरिहारार्थमिदं वचनमिति वक्तुं शक्यम् , पूर्वोक्त-संन्यासविरोधात् । 'तस्मादेष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचर्यवासी यदवदानैरेवावदयते तदवदानानामवदानत्वम्' इत्येतदन्तमिदं वचन-मभूतार्थवादमात्रम् ।

ननु 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' इति विधिना विरोधे कथं ब्रह्म-चर्यादेव संन्यासो विधीयते । मैवम् , संन्यासगार्हस्थ्ययोर्विरक्ताऽविरक्त-विषयभेदेन व्यवस्थितत्वात् ।

यस्तु संन्यासस्य कर्मानधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषयतया व्यवस्थां मन्यते, स वक्तव्यः किं विधिपर्यालोचनया इदमवगम्यते उत कल्प्यते ? नाद्यः, 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति वचनस्य कर्माधिकृतानधिकृतसाधारण्येन

कहा जा सकता है कि जन्मसे लेकर पुत्रादि अधिकार-सम्पत्ति पानेके पूर्व (मध्य-कालिक जीवनमें) विरोधी दूसरी विधियोंके सम्बन्धका परिहार करनेके लिए उक्त वचन है; कारण कि पूर्वोक्त संन्यासविधिसे विरोध आता है, अथवा वह ऋण मुक्त हो जाता है—जो पुत्रवान्, यज्ञादिका अनुष्ठाता, नियमपूर्वक वेदाध्ययन करनेवाला और पूर्वोक्त तीन अवदानोंके द्वारा पुण्य कर्मशाली होता है, वही अवदानकी अवदानता—पुण्यकर्मता—है।' यहां तक उक्त वचन अभूत अर्थवादस्वरूप है, भूतार्थवाद नहीं, जिससे कि स्वतन्त्र प्रमाण हो और 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' संन्यासविधानका विरोध कर सके।

शङ्का—ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर नियमपूर्वक वेदाध्ययनके अनन्तर गार्हस्थ्यव्रत धारण करे। इस विधिके साथ विरोध आनेसे ब्रह्मचर्यके अनन्तर ही संन्यासका विधान कैसे संगत हो सकता है ?

समाधान—संन्यास और गार्हस्थ्यकी विरक्त रागीके लिए पृथक् पृथक् व्यवस्था की गई है। [रागीके लिए गार्हस्थ्य और विरक्तके लिए ब्रह्मचर्यान्तर ही संन्यास—इस व्यवस्थासे कोई विरोध नहीं रह जाता।]

संन्यास कर्माधिकारसे बहिष्कृत अन्धे, लंगड़े आदिके लिए है (और सम्पन्नेन्द्रियसमर्थके—लिए गार्हस्थ्य है) इस प्रकार जो व्यवस्था मानता है, उससे पूछना चाहिए कि विधिवाक्योंका विचार करनेसे ऐसा ज्ञान हुआ ? या ऐसी कल्पना ही की जाती है ? प्रथम पक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि ब्रह्मचर्यके

प्रतीतेः । अधिकृतानां गार्हस्थ्यविधानादनधिकृतेष्वेव तद्वचनं पर्यवस्यतीति चेद् न, 'अथ पुनर्व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्युत्तरवाक्ये कर्मस्वधिकृतानामनधिकृतानां च मुखत एव संन्यासाधिकारित्वेनोपादानात् । न चैवं संन्यासस्य सर्वाधिकारप्रसङ्गः, विरक्तेर्नियामकत्वात् । अविरक्तस्य त्वन्धादेरपि संन्यासे पातित्यपर्यवसानात् । 'यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा' इत्यादिना विषयसेवाया निषेधात् । नाऽपि द्वितीयः, कल्पकाभावात् ।

अथ मन्यसे--इन्द्रियाणि विद्यमानान्यपि संन्यासिना निरोद्धव्यानि, ततो वरमिन्द्रियविकलस्यैव तदधिकार इति, तत्र किमङ्गभूते संन्यासेऽनुपयोगादिन्द्रियाणां निरोधः किं वाऽङ्गिन्यात्मज्ञानेऽनुपयोगाद् उत

अनन्तर ही संन्यास ले लेना चाहिए, इस वचनकी प्रतीति कर्माधिकारी (समर्थ) और अनधिकारी (असमर्थ) दोनोंके लिए साधारणरूपसे होती है । अधिकारप्राप्त पुरुषोंके लिए गृहस्थ जीवनका विधान होनेसे 'परिशेषात्' अनधिकारियोंके ही लिए उक्त वचनोंका संन्यासके विधानमें तात्पर्य माना जाय' यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि 'अथ—व्रती हो या व्रती न हो, स्नातक—विद्या समाप्तिके अनन्तर दीक्षाप्राप्त हो, अथवा अस्नातक, निरग्नि हो अथवा साग्निक, जैसा भी हो जिस दिन ही उसको वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन संन्यास ग्रहण कर ले—इस अर्थवाले अगले वाक्यमें कर्मोंमें अधिकृत अथवा अधिकारशून्य दोनोंका ही संन्यासविधिमें अधिकारी होना मुखसे—साक्षात् वाचक शब्दोंसे—ही कहा गया है । इस प्रकार अधिकारी, अनधिकारी दोनोंका संन्यासमें अधिकार होनेसे सभीका संन्यासमें अधिकार प्राप्त हो जायगा, ऐसी शङ्का करना उचित नहीं, कारण कि वैराग्य इसका नियमन करेगा । वैराग्य न होनेसे तो अन्धादिका भी संन्यासग्रहण करनेमें पतित होना ही निश्चित रहता है । 'जो पुरुष संन्यासी होकर भी'—इत्यादि वचनोंसे विषयसेवाका निषेध किया गया है । 'अन्यार्थकी कल्पना करना' दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता; कारण कि उसका कोई कल्पक नहीं है ।

यदि कहो कि संन्यासीको विद्यमान इन्द्रियोंका निरोध भी करना होता है, इससे तो यही अच्छा है कि इन्द्रियसामर्थ्यहीनका ही संन्यासमें अधिकार माना जाय, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वैसा माननेपर प्रश्न यह होता है कि क्या वहाँ अङ्गभूत संन्यासमें इन्द्रियोंका उपयोग न होनेसे उनका निरोध है? या प्रधानभूत

विपरीतप्रवृत्तीनामपि जनकत्वात्? नाऽऽद्यः, 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्' 'पर्यटेत्कीटवद् भूमौ' इत्यादिसंन्यासधर्मनिर्वाहायेन्द्रियाणामुपयुक्तत्वात्। न द्वितीयः; 'शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे' इत्यादिनाऽऽत्मज्ञानाय शरीरेन्द्रियादिपाटवस्य प्रार्थ्यमानत्वात्। तृतीये तु विपरीतप्रवृत्तिमात्रं परित्याज्यम्, नेन्द्रियस्वरूपम्। का तर्ह्यविरक्तानामन्धपङ्ग्वादीनामाज्यावेक्षणविष्णुक्रमाद्युपेतकर्मस्वनधिकृतानां गतिरिति चेत्, पुत्रोत्पादनब्रह्मयज्ञादिकर्मान्तराधिकार इति ब्रूमः; अत आत्मज्ञानप्रकरणपठिते तदङ्गभूते संन्यासे शरीरादिपाटवेऽपि तस्य

आत्मज्ञानमें उपयोग न होनेसे ? या इन्द्रियां आत्मज्ञानके विपरीत—घातक—प्रवृत्तियोंको उत्पन्न करती हैं, इसलिए उनका निरोध करना है ? प्रथम विकल्पको नहीं मान सकते, कारण कि 'भूमिपर पैर खूब देख भाल कर रखना चाहिए, कीड़ोंकी भांति जमीन पर चले अर्थात् धीरे-धीरे रेंगता जाय' इत्यादि संन्यासधर्मोंका निर्वाह करनेके लिए इन्द्रियोंका उपयोग (अङ्गभूत संन्यासमें) है ही। दूसरा पक्ष मानना नहीं बनता, क्योंकि 'मेरा शरीर विचर्षण—समर्थ, एवं मेरी जिह्वा—इत्याद्यर्थक श्रुतिवाक्य * द्वारा आत्मज्ञानके उपयोगी शरीर तथा इन्द्रियोंकी पटुता पानेकी प्रार्थना करना संन्यासीको भी प्राप्त है। तीसरे पक्षमें, तो विपरीत प्रवृत्तिका त्याग ही प्राप्त होता है, इन्द्रियोंके स्वरूपका नहीं।

[वेदान्तीका सिद्धान्त है कि वैराग्यहीन अन्ध, पङ्गु आदिका ब्रह्मज्ञानमें भी अधिकार नहीं है और कर्मोंकी उनमें योग्यता नहीं है, इसलिए, उनमें उनका अधिकार नहीं है, इससे ये बेचारे वैदिक मार्गसे—ज्ञानकाण्ड अथवा कर्मकाण्ड दोनोंसे—वञ्चित रह जायँगे, इस आशयसे शङ्का-समाधान करते हैं]—

शङ्का—तब तो घृतका अवलोकन तथा विष्णुकी परिक्रमा आदि कर्मोंसे युक्त यज्ञोंके अनधिकारी (वैराग्यरहित) अन्धों या लँगड़ोंकी क्या गति होगी ? 'अर्थात् वे कैसे वैदिक मार्गका अनुसरण कर सकेंगे ?

समाधान—पुत्रोत्पादन, वेदाध्ययन इत्यादि दूसरे, जिनमें अवेक्षण, परिक्रमण आदि नहीं करना होता है, कर्मोंमें उनका अधिकार है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए आत्मज्ञान प्रकरणमें पढ़े हुए उसके अङ्गभूत संन्यासमें शरीरादिके

* अर्थात् 'शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् अन्नं प्राणः चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचम्' इत्यादि श्रुति द्वारा।

विरक्तस्यैव मुख्याधिकारः ।

ननु पूर्वं संस्कारविविदिषापक्षावुक्तौ, तत्र नित्यकर्मणामात्मज्ञानाङ्गत्वमुक्तमिदानीं तत्त्यागस्याऽङ्गत्वमिति पूर्वापरविरोध इति चेद्, न; उभयोरप्यङ्गत्वात् । न चोभयोर्विरुद्धयोरेकेनाऽनुष्ठानासंभवः, कालभेदेन तदुपपत्तेः । आ चित्तशुद्धि कर्माण्यनुष्ठेयानि तत उपरि तानि संन्यसितव्यानि । एकफलत्वं च कर्मतत्संन्यासयोर्द्वारभेदादुपपद्यते । कर्माणि हि चित्तशुद्धिद्वाराऽऽत्मज्ञानं प्रत्यारादुपकारकाणि । संन्यासस्त्वनन्यव्यापारतया श्रवणादिनिष्पादनद्वारेण संनिपत्योपकरोति ।

यस्तु भास्करः संध्यावन्दनादिनित्यकर्मणस्तदङ्गभूतोपवीतस्य च त्यागं

पाटव—क्षमता—के होनेपर भी पाटवशाली विरक्तका—वैराग्य सम्पन्नका—ही मुख्य अधिकार है ।

शङ्का—इससे पूर्व कर्मोंके लिए संस्कार और विविदिषा—ब्रह्मज्ञानकामना—दो पक्ष कहे गये हैं, उनमें निर्णय किया गया है कि नित्यकर्म आत्मज्ञानके अङ्ग हैं। अब कहा जा रहा है कि वे त्यागके—संन्यासके—अङ्ग हैं, इस प्रकार अगले पिछले ग्रन्थोंमें परस्पर विरोध आता है ।

समाधान—संन्यास तथा कर्म दोनों भी (ब्रह्मज्ञानके) अङ्ग ही हैं। यदि शङ्का हो कि परस्पर विरुद्धका (कर्म करने तथा त्याग करनेका) एक ही पुरुषसे अनुष्ठान नहीं हो सकता है' तो यह शङ्का भी उचित नहीं है, कारण कि समयके भेद—हेर फेर—से दोनोंकी उपपत्ति हो सकती है। [समयका भेद दिखलाते हैं]—चित्तशुद्धि—वैराग्योदय—पर्यन्त नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करना आवश्यक है, और वैराग्योदयके अनन्तर उनका त्याग—संन्यास लेना—उचित है। कर्म और उनका संन्यास दोनोंका एक ही (ब्रह्मज्ञानरूप फल) होना द्वारभेदसे सम्भव है। [द्वारभेद दिखलाते हैं]—नित्यकर्म तो चित्तशुद्धिके द्वारा ब्रह्मज्ञानके प्रति आरात् उपकारक (व्यवधानसे परम्परया उपकारक) हैं और उनका संन्यास (सकल विरोधिवृत्तियोंका नाश होनेके कारण) केवल आत्मचिन्तन व्यापारके अवशिष्ट रहनेसे श्रवण आदिकी सम्पत्तिके द्वारा—सन्निपत्य—साक्षात् (व्यवधानके बिना) उपकारक है ।

जो कि भास्कर सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मका तथा उसके अङ्गभूत यज्ञो-

नेच्छति, सोऽपरिचितशास्त्रवृत्तान्तत्वादुपेक्षणीयः। 'यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः' इति यज्ञोपवीतादित्यागस्य साक्षाद्विहितत्वात्। न च पूर्वोपवीतत्यागेऽप्यन्यस्वीकारः शङ्कनीयः ; जाबालश्रुतावपि 'अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः' इति प्रश्नपूर्वकम् 'इदमेवाऽस्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा' इत्येवकारेण बाह्ययज्ञोपवीतं व्यावर्त्त्याऽऽत्मन एव यज्ञोपवीतत्वसंपादनात्। तदेवमात्मज्ञानाधिकारिणः संन्यासस्य विहितत्वात्तद्विरोधिन्याः ऋणत्रयश्रुतेरभूतार्थवादत्वात् कर्मद्वाराऽपि पूर्वतन्त्रापेक्षाया असिद्धौ न धर्मविचारानन्तर्यमप्यथशब्दार्थतामर्हति।

पवीतका त्याग नहीं होना चाहिए, ऐसा मानता है, वह शास्त्रीय सिद्धान्तसे अभिज्ञ न होनेके कारण उपेक्षणीय है [अर्थात् उसके सिद्धान्तका आदर नहीं करना चाहिए] कारण कि स्मृतिकारोंने 'यज्ञका (नित्य, काम्य और नैमित्तिक सब प्रकारके कर्मका) और यज्ञोपवीतका त्यागकर निर्जनमें छिपकर (एकान्त वाससे) अपनी दिनचर्या बितावे' इत्यादि वचनोंसे यज्ञोपवीत आदिका त्याग साक्षात् कहा है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि पूर्वाश्रममें धारण किये गये यज्ञोपवीतका त्याग करके दूसरे नूतन यज्ञोपवीतका धारण करना चाहिए, कारण कि जाबाल श्रुतिमें भी 'यज्ञोपवीत धारण किये बिना ब्राह्मण कैसे' ? इस प्रकार प्रश्न उठानेके अनन्तर कहा कि 'यही उसका यज्ञोपवीत है, जो आत्मा है' इस वाक्यमें 'इदमेवास्य' यहाँ 'एव' पद दिया है [जो अन्यके सम्बन्धका अभावबोधन करता है] इस एवकारसे बाहरी सूत्रनिर्मित यज्ञोपवीतका निषेध करके आत्मा ही यज्ञोपवीत कहा गया है। इस प्रकार आत्मज्ञानके अधिकारीके लिए संन्यासका विधान किया गया है, इसलिए उसके विरोधमें उपस्थित तीन ऋणोंकी प्रतिपादिका श्रुति अभूतार्थवाद हो जाती है, जिसके कारण कर्म द्वारा भी पूर्वमीमांसाकी (ब्रह्मज्ञानमें) अपेक्षा सिद्ध नहीं होती, इसलिए धर्मविचारका आनन्तर्यरूप 'अथ' शब्दका अर्थ नहीं माना जा सकता। ['नैतत्सारम्' ग्रन्थसे धर्मविचारानन्तर्यका खण्डन कर सिद्ध किया कि ब्रह्मज्ञानके अधिकारीका विशेषण धर्मविचारानन्तर्य नहीं हो सकता, अर्थात् कोई नियम न रहा कि धर्मविचार करनेवाला ही ब्रह्मविचार कर सकता है।

अब धर्मविचार और ब्रह्मविचारमें कार्यकारणभाव न होनेपर भी

ननु यदि धर्मब्रह्मविचारयोर्हेतुहेतुमद्भावेनाऽऽनन्तर्यं न सम्भवति, तर्हि तयोरानन्तर्यमात्रोपलक्षितक्रममथशब्दः प्रतिपादयतु। 'हृदयस्याऽग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः' इत्यत्राऽथशब्दस्य क्रमप्रतिपादकत्वदर्शनादिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किमथशब्दः स्वयमेव क्रमं प्रतिपादयति आहोस्वित् प्रमाणान्तरप्रतिपन्नक्रमापेक्षितन्यायं सूचयति? नाऽऽद्यः; स्वयं न्यायसूत्रान्तःपातित्वात्। न द्वितीयः; क्रमबोधकप्रमाणासम्भवात्। क्रमो ह्येककर्तृकाणां बहूनां युगपदनुष्ठानासम्भवेऽपेक्ष्यते। एककर्तृकत्वं चाऽङ्गाङ्गिनोर्वा बहूनामङ्गानामेकाङ्गिसम्बन्धिनां वाऽधिकारान्तरप्रयुक्त्युपजीविनां वा भवति।

पौर्वापर्यरूप क्रमका बोध आनन्तर्यार्थक 'अथ'से करना चाहिए, इस प्रकार कहनेवाले वादीका खण्डन करनेके लिए शङ्का करते हैं]—यदि धर्म और ब्रह्मके विचारोंमें परस्पर कार्यकारणभावसे आनन्तर्यका सम्भव नहीं है, तो उन दोनोंके आनन्तर्यमात्रसे उपलक्षित क्रमका प्रतिपादन 'अथ' शब्दसे ही होगा। [हेतुहेतुमद्भावके अभावमें क्रमबोधक 'अथ' शब्दका प्रयोग दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं], क्योंकि 'पहले हृदयका अवदान—खण्डन—करे, अनन्तर जिह्वाका, अनन्तर वक्षःस्थलका, इत्याद्यर्थक वाक्यमें 'अथ' शब्द क्रमका प्रतिपादन करता है, यह देखा गया है।

समाधान—क्या 'अथ' शब्द स्वतः ही क्रमका प्रतिपादन करता है? अर्थात् क्या अथशब्द क्रमका वाचक है? अथवा दूसरे प्रमाण द्वारा सिद्ध क्रमसे अपेक्षित न्यायका सूचन करता है? इसमें प्रथम विकल्प नहीं हो सकता, कारण कि स्वयं 'अथ' शब्द न्यायसूत्रमें आया है। [यदि 'अथ' शब्द ही स्वयं क्रमका बोधक होता, तो न्यायसूत्रमें अपेक्षित क्रमनियमका अभिधान 'अथ' शब्दसे होना चाहिए, परन्तु वहांपर क्रमरूप अर्थ नहीं लिया गया है।] द्वितीय विकल्प नहीं हो सकता, कारण कि क्रमका बोधक कोई प्रमाण नहीं है। एक ही कर्ताको अनेक कार्य[1] प्राप्त होनेपर एक साथ सबका अनुष्ठान सम्भव न होनेसे क्रमकी अपेक्षा होती है। या अङ्ग और अङ्गियोंमें तथा एक ही अङ्गीके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक[2] अङ्गोंमें अथवा अधिकारान्तरसे प्राप्त हुई प्रयुक्ति द्वारा अनुभवको प्राप्त हुए[3]

---

(१) जैसे प्रयाज और दर्शपूर्णमास एक ही कर्ताके कर्तव्य हैं।

(२) परम अपूर्वके साधक आग्नेयादि छः यागोंमें।

(३) दर्शपूर्णमासके अधिकार प्राप्त प्रयुक्तिका आश्रयण करनेवाले गोदोहन आदि।

न चाऽत्र तेषामन्यतमत्वे श्रुत्यादि प्रमाणमस्ति । यद्यपि ज्योतिष्टोमादावधिकृतस्यैवाऽङ्गावबद्धोपासनेष्वधिकारस्तथापि न नः काचिद्धानिः, उपासनानां धर्मविशेषाणामेवाऽस्मिन् शास्त्रे प्रासङ्गिकी सङ्गतिरित्युक्तत्वात् शास्त्रतात्पर्यविषयब्रह्मज्ञानस्याऽधिकारत्वाभावात् ।

ननु यथाऽऽग्नेयादीनां षण्णां यागानामङ्गाङ्गित्वादिपूर्वोक्तत्रैविध्याभावेऽपि फलैक्यात् कर्त्रैक्यं क्रमश्च तथा धर्मब्रह्मविचारयोः स्यादिति चेद्, न; तयोः फलैक्ये मानाभावात् । 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' इति समुच्चयविधिरेव मानमिति चेद्, न; 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽ-

---

अङ्गोंमें ही एककर्तृकत्व प्राप्त होता है ।

प्रकृत (धर्म-ब्रह्मविचारका) क्रम माननेमें पूर्वोक्त अङ्गाङ्गिभाव आदिमें से एकके भी होनेमें श्रुति आदि प्रमाण नहीं हैं । यद्यपि ज्योतिष्टोमादिके अधिकारीका ही (उद्गीथ आदि) अङ्गभूत उपासनाओंमें अधिकार है; [श्रुति भी कहती है—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' अर्थात् ज्ञान, श्रद्धा तथा उपासनासे किया हुआ कर्म ही सफल होता है, अतः इस श्रुतिके वाक्यसे कर्माधिकृतका ज्ञानमें भी अधिकार प्रतीत होता है,] तथापि इसमें हमारी कोई हानि नहीं है, कारण कि उपासनास्वरूप धर्मविशेषोंकी ही [ज्योतिष्टोमादिका नहीं] इस वेदान्तशास्त्रमें प्रासङ्गिकी सङ्गति है, ऐसा पहले ही कह आये हैं; इससे शास्त्रके तात्पर्यविषयीभूत ब्रह्मज्ञानमें कर्ममें अधिकृतका अधिकार नहीं है, अतः एक विधिके द्वारा अनुष्ठान होनेसे क्रमापेक्षित न्यायका अनुसन्धान नहीं किया जा सकता ।

शङ्का—जैसे आग्नेय आदि छः यागोंमें पूर्वोक्त अङ्गाङ्गिभावादि प्रकारोंके न होनेपर भी सबका एक ही फल होनेसे एककर्तृकत्व (एक ही कर्ताका होना) तथा क्रम माना गया है, वैसे ही धर्म तथा ब्रह्म के विचारमें भी क्रम माना जायगा ।

समाधान—ऐसा नहीं मान सकते; कारण कि इन दोनोंका (धर्म और ब्रह्मविचारका) एक ही फल होता है, इसमें प्रमाण नहीं है । 'विद्या और अविद्या—इन दोनोंको जो साथ-साथ जानता है' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे समुच्चयविधानको भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'अविद्यासे मृत्युको पारकर विद्यासे अमृत प्राप्त करता है।'

मृतमश्नुते' इत्यविद्याख्यस्य कर्मणो विद्यायाश्च वाक्यशेषे फलभेदावगमात् । 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' इति वचनं समुच्चयविधायकमिति चेद् , मैवम् ; नाऽत्र ज्ञानकर्मणोरेकस्मिन् पुरुषे समुच्चयविधिः, किन्तु ब्रह्मवित्पुण्यकृतोरुभयोः पुरुषयोर्योगे (मार्गे) समुच्चयविधिः । अन्वाचयार्थेन चकारेण प्रत्येकं निरपेक्षमार्गान्वयोपपत्तेः । ब्रह्मविच्छब्देनाऽत्र सगुण-

---

इत्याद्यर्थक श्रुतिसे अविद्यारूप कर्मोंका और विद्याका वाक्यशेषमें फलभेद प्रतीत होता है। 'उसी (देवयान) मार्गसे ब्रह्मज्ञानी और पुण्यकर्मा दोनों जाते हैं' इत्यादि अर्थवाले श्रुतिवचनको भी समुच्चयविधायक मानना नहीं बनता, कारण कि इस वाक्यमें ज्ञान और कर्मका एक ही पुरुषमें समुच्चयका विधान नहीं है, किन्तु ब्रह्मज्ञानी और पुण्यकर्मा पुरुषोंका दोनों मार्गोंमें योग होनेमें समुच्चयका विधान है। [ज्ञान और कर्म एक ही पुरुषमें आश्रित होकर एक फलके साधन हैं।' इस अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है, किन्तु जो ब्रह्मज्ञानी तथा जो पुरुष उद्गीथोपासना आदि पुण्यकर्म करनेवाले हैं, वे दोनों भी इसी देवमार्गसे जाते हैं अर्थात् मार्गमें दोनोंका साथ हो जाता है, इस प्रकार मार्गमें साथ हो जानेमें तात्पर्य है]। कारण कि अन्वाचयार्थक चकारसे निरपेक्ष एक मार्गके साथ प्रत्येकके अन्वयकी उपपत्ति हो सकती है। [अन्वाचयार्थक चकारसे परामृष्ट अर्थोंका परस्पर अपेक्षित होना आवश्यक नहीं है, जैसे 'भिक्षामट गां चानय' इस वाक्यमें यद्यपि—'भिक्षाटन' तथा 'गवानयन' दोनोंका एक ही देवदत्तादिमें कर्तृत्वका सम्बन्ध है, तथापि दोनों कार्य परस्पर निरपेक्ष हैं, वैसे ही प्रकृत 'तेनैति' इत्यादि श्रुतिमें परस्परनिरपेक्ष दोनोंका एकमार्गगामित्व होना उपपन्न है। [निर्गुण-ब्रह्मज्ञानीके गतागतका निषेध होनेसे तथा कर्मकाण्डप्रधान पुरुषोंका धूम्रयानसे जाना प्रतिपादित होनेसे प्रकृत श्रुतिमें श्रुत्यन्तरसे विरोध-परिहारके ब्रह्मवित् और पुण्यकृत् शब्दोंका अर्थ दिखलाते हैं—] 'तेनैति' इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मवित् पदसे सगुण

---

१. यह भारतमें कहा है—'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यक् भूतानि पश्यतः । देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः' 'पदवीकी गवेषणा करनेवाले देवता भी पदवीहीन सर्वात्मभावको प्राप्त हुए ब्रह्मज्ञानीके मार्गमें मोहित होते हैं अर्थात् उसको देख नहीं पाते—इससे ब्रह्मज्ञानीका देवमार्गसे भी जाना निषिद्ध है।

ब्रह्मोपासकोऽभिधीयते, निर्गुणब्रह्मविद उत्तरमार्गेण गमनाभावात्। पुण्यकृच्छब्देन च प्रतीकोपासकोऽभिप्रेतः; केवलकर्मिणां धूमादिमार्गश्रवणात्। ततो ब्रह्मवित्पुण्यकृतोराविद्युल्लोकमुत्तरमार्गे गमनसमुच्चयपरं वचनम्। न च 'तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः' इत्यत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयविधिः सुसम्पादः, केवलकर्मणामेव श्रवणात्। न च सत्यशब्दो ब्रह्मपरः, 'एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः' इति वाक्यशेषे सत्यलोकाभिधानात्। न च 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन' इत्ययं समुच्चयविधिः। नह्यत्र तपःशब्दोऽग्निहोत्रादिकमाचष्टे, किन्तु ध्यानम्; 'मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः' इति इति स्मृतेः। तस्मान्न ज्ञानकर्मसमुच्चये मानमस्ति।

ब्रह्मका उपासक लिया जाता है, कारण कि निर्गुण-ब्रह्म-ज्ञानीका उत्तर मार्ग याने देवयानसे गमन नहीं होता है। और पुण्यकृत् शब्दसे प्रतीकोपासक लेनेमें तात्पर्य है, क्योंकि केवल कर्म करनेवालोंके लिए धूममार्गसे जानेका श्रुतिमें विधान है। इससे ब्रह्मज्ञानी और पुण्यकर्मा दोनोंका विद्युल्लोककी प्राप्ति तक उत्तरमार्गमें साथ-साथ गमनमें तात्पर्य रखनेवाला उक्त वचन है।

शङ्का—'सत्यकाम पुरुष उन कर्मोंका अवश्य आचरण करे' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे ज्ञान और कर्मके समुच्चयका विधान किया जा सकता है। [अर्थात् सत्यशब्दका अर्थ परब्रह्मरूप प्रसिद्ध ही है, उसकी कामनासे कर्मोंका अनुष्ठान कहा गया है, इससे समुच्चयकी प्रतीति होती है]।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि श्रुति केवल कर्मवालोंके लिए कहती है। सत्यशब्दका ब्रह्मरूप अर्थ नहीं लेना चाहिए, कारण कि 'यह पुण्य ब्रह्मलोक सुकृतशाली तुम पुण्यकर्माओंके लिए है,] इत्याद्यर्थक वाक्यशेषमें सत्यलोक कहा गया है, ['एष' यह सर्वनाम पूर्व कथित सत्यका परामर्श करता है। इसलिए ब्रह्मका वाचक भी सत्यपद वाक्यशेषके बलसे प्रकृतमें ब्रह्मलोकका 'ही वाचक है]। 'यह सत्यसे लभ्य है तथा तपसे लभ्य है और सम्यक् ज्ञानसे लभ्य है' इत्याद्यर्थक श्रुति (कर्मवाचक तपके बलसे) समुच्चयविधायक होगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उक्त श्रुतिमें तपःशब्द अग्निहोत्रादि कर्मका अभिधान नहीं करता, किन्तु ध्यानको कहता है। 'मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता उत्कृष्ट तप है', ऐसा स्मृतियोंमें कहा गया है। इसलिए ज्ञान और कर्मोंका समुच्चय माननेमें कोई

प्रत्युत 'नास्त्यकृतः कृतेन' 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिना कर्मणः साक्षान्मोक्षसाधनता निषिध्यते । न च केवलकर्मण एव प्रतिषेध इति वाच्यम्, समुच्चयविधायिप्रमाणाभावे सर्वकर्मणां प्रतिषेधोपपत्तेः; अन्यथा ज्ञानाङ्गतया सर्वकर्मसंन्यासविधानं नोपपद्येत । संन्यासाश्रमधर्मैः समुच्चयोऽस्त्विति चेद्, न; तद्धर्माणां ध्यानादीनां ज्ञानस्वरूपोपकारित्वात् फलसमुच्चयानुपपत्तेः । नित्यकर्मविधानानुपपत्तिरेव ज्ञानसहकारितया नित्यकर्मणां मोक्षफलत्वं कल्पयतीति चेद्, न; प्राभाकरमते तेषां फलनिरपेक्षत्वात् । भाट्टपक्षे विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकल्पनात् । वेदान्तिपक्षे संस्कारविविदिषयोरुक्तत्वात् । ब्रह्मज्ञानमेवेतिकर्त्तव्यतया कर्मणां मोक्षसाधनत्वं कल्प-

---

प्रमाण नहीं है। बल्कि इसके विपरीत 'अकृत—मोक्ष— कृत द्वारा—कर्म द्वारा—प्राप्य नहीं है। (क्योंकि वह तो अकृत है) और 'न प्रजया' (अर्थात् पुत्रोत्पादन आदिसे भी लभ्य नहीं है) इत्यादि वचनोंसे कर्म साक्षात् मोक्षका उपाय नहीं है, इस प्रकार निषेध किया जाता है। केवल (उपासनासे रहित) कर्मका ही निषेध है, यह भी कहना उचित नहीं है, कारण कि समुच्चयका विधायक प्रमाण न होनेसे (अविशेषसे) सभी कर्मोंका निषेध उपपन्न होता है। अन्यथा ज्ञानके अङ्गभूत सकल कर्मोंके संन्यासका (त्यागका) विधान उपपन्न न होगा ।

यदि कहो कि संन्यासाश्रमके धर्मोंके साथ समुच्चय मानो, तो वह भी नहीं बनता, कारण कि संन्यासाश्रमके धर्म्मरूप ध्यान आदि ज्ञानके स्वरूपके साधक हैं, अतः फलके साथ समुच्चयकी उपपत्ति नहीं हो सकती ।

शङ्का—नित्य कर्मोंके विधानकी अनुपपत्ति ही ज्ञानकी सहकारिता द्वारा नित्य कर्मोंसे मोक्षरूप फल होता है, यह कल्पना करती है ।

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि प्रभाकरके मतमें नित्य कर्मोंको फलकी अपेक्षा नहीं रहती और भट्टके मतमें विश्वजिन्न्यायसे उनके स्वर्गरूप फलकी कल्पना की जाती है। और वेदान्तियोंके मतमें नित्य कर्मोंका फल संस्कार और विविदिषा है, यह कह ही आये हैं ।

शङ्का—ब्रह्मज्ञान ही इतिकर्तव्यस्वरूप होनेके कारण कर्मोंमें मोक्षसाधनताकी कल्पना करेगा ।

यतीति चेद्, नः शमादिरूपेतिकर्त्तव्यतान्तरस्य सद्भावाद्। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इति विध्युद्देशे करणतया प्रसिद्धानां कर्मणामितिकर्त्तव्यतायां विधिविरोधाच्च। कथञ्चित्तेषां मोक्षसाधनत्वकल्पनेऽप्युदितानुदितहोमवद् ज्ञानकर्मणोर्विकल्प एव किं न स्यात्? तथा च न समुच्चयसिद्धिः।

न च समुच्चयवादिना मोक्षे कर्मणोऽध्यासः सुनिरूपः, न तावद् ब्रह्मात्मैकत्वं तत्साध्यम्, तस्य सिद्धस्वभावत्वात्। नाऽप्यविद्यातत्कार्यनिवृत्तिस्तत्साध्या, 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादौ तन्निवृत्तेर्ज्ञानसाध्यत्वश्रवणात्। किं च समुच्चयवादिमते विज्ञानसाध्यमपि फलं न भवति। किं कर्मोपाधिनिवृत्तिर्ज्ञानफलम्, किं वा मिथ्याध्यासनिवृत्तिः, उत तत्प्रवाहनिवृत्तिः, अथवा मिथ्याज्ञानसंस्कारनिवृत्तिः, आहोस्विद् ब्रह्मस्वरूपप्रकाशनम्? नाऽऽद्यः; कर्मोपाधीनां सत्यवस्तुतया ज्ञानानिवर्त्यत्वात्। न द्वितीयः; मिथ्याध्यासस्य

समाधान—नहीं, कल्पना नहीं करेगा, कारण कि कर्मोंसे अतिरिक्त शम, दम आदिरूप इतिकर्तव्यता विद्यमान है। 'यज्ञ द्वारा ज्ञानेच्छा करनी चाहिए' इत्यादि विधिके उद्देशमें करणकारकरूपसे प्रसिद्ध कर्मोंको इतिकर्तव्य माननेसे विधिके साथ विरोध भी आता है। उनको किसी प्रकार मोक्षका साधन माननेपर भी उदितानुदित होमके समान ज्ञान और कर्मोंका विकल्प—पाक्षिकप्राप्ति—क्यों न मानी जाय? इससे समुच्चयकी सिद्धि नहीं हो सकती। और समुच्चयवादीके लिए मोक्षमें कर्मोंके अध्यासका—सम्बन्धका—निरूपण करना सरल नहीं है, क्योंकि उन कर्मोंका फल ब्रह्म और जीवका ऐक्य भी नहीं हो सकता, कारण कि वह तो स्वभावसे ही सिद्ध है। अविद्या या उसके कार्योंकी निवृत्ति भी उनका फल नहीं माना जा सकता, कारण कि 'आत्मज्ञानी शोकसे पार हो जाता है—' इत्यादि अर्थवाले श्रुतिवाक्यमें अविद्या या उसके कार्यकी निवृत्ति ज्ञानका फल कहा गया है। और भी दोष आता है कि समुच्चयवादीके मतमें विज्ञानसे साध्य फल भी नहीं हो सकता। क्या कर्मरूप उपाधिकी निवृत्ति ज्ञानका फल है? अथवा मिथ्या अध्यासकी निवृत्ति? या उसके प्रवाहकी निवृत्ति? अथवा मिथ्या अज्ञानके संस्कारकी निवृत्ति? किं वा ब्रह्मस्वरूपका प्रकाश? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सत्यवस्तु होनेसे ज्ञान द्वारा कर्मरूप उपाधिकी निवृत्तिका सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि मिथ्या अध्यास क्षणिक होता है,

क्षणिकत्वात्स्वयमेव निवृत्तेः। न तृतीयः, प्रवाहस्य प्रवाहिनिवृत्तिमन्तरेण पृथगुच्छेदाभावात्। न चतुर्थः, रजतादिसंस्कारस्य शुक्त्यादिज्ञाननिवर्त्त्यत्वादर्शनात्। ज्ञानाभ्याससंस्काराद् निवृत्तौ संस्कार एव मुक्तिहेतुः स्यात्। ततो 'ज्ञानादेव कैवल्यम्' इति शास्त्रं विरुध्येत। न पञ्चमः, ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वात्।

यत्तु भास्करेण प्रलपितं समुच्चयसामर्थ्यादेव धर्मावबोधानन्तरं ब्रह्मावबोध इति, तत्समुच्चयनिराकरणादेव निराकृतम्। सत्यपि वा समुच्चये तत्कथं सिध्येत्, वैपरीत्यप्रसङ्गस्य तव दुर्वारत्वात्। तथा हि—ज्ञानवतैवाऽनुष्ठितानि कर्माणि मोक्षं साधयन्तीति प्रथमं ब्रह्मावबोधमुत्पाद्य तद्बोधवतैव ब्रह्मचारिणा धर्मविचारिणा धर्मविचारादि सर्वं कर्त्तुं युक्तमिति विपरीत एव क्रमः स्यात्। कर्मानुष्ठानस्य ब्रह्मावबोधोत्तरकालभावित्वेऽपि धर्मविचारः पूर्वमेव क्रियतामिति चेद्, न; तथा-

---

इसलिए स्वयं निवृत्त हो जाता है। तीसरा पक्ष भी युक्त है नहीं, क्योंकि प्रवाहका प्रवाहीकी निवृत्तिके अतिरिक्त पृथक् कोई उच्छेद—विनाश—नहीं है। चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि रजतादिका संस्कार शुक्ति आदिके ज्ञानसे निवृत्त होते नहीं देखा गया है। ज्ञानके अभ्यास द्वारा उत्पन्न संस्कारसे निवृत्ति माननेमें संस्कारको ही मुक्तिका कारण मानना होगा। इससे 'ज्ञानके द्वारा ही मुक्ति होती है' इस शास्त्रसे विरोध आ जायगा। पांचवां पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है।

'समुच्चयकी सामर्थ्यसे ही धर्मनिर्णयके अनन्तर ब्रह्मज्ञान होता है' यह भास्करका प्रलाप समुच्चयका निराकरण करनेसे ही खण्डित हो गया, अथवा समुच्चय सिद्ध होनेपर भी वह—क्रम—कैसे सिद्ध हो सकता है? कारण कि विपरीत क्रमका (ब्रह्मज्ञानके अनन्तर धर्मज्ञानका) वारण तुमसे (भास्करसे) करते नहीं बनेगा। क्योंकि ज्ञानी पुरुष द्वारा ही किये गये कर्म मोक्षके उपायभूत हैं, यह समझ कर पहले ब्रह्मज्ञान उत्पन्न कर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मचारीको ही (धर्मविचारकी कामनासे) धर्मविचार आदि सब कुछ करना उचित है, इस प्रकार उलटा ही क्रम प्राप्त हो जायगा।

शङ्का—यदि कहो कि यद्यपि कर्मोंका अनुष्ठान ब्रह्मज्ञानके उत्तरकालमें होता है, तथापि धर्मका विचार तो (ब्रह्मज्ञानसे) पूर्व ही करना चाहिए। [इससे विचारमें विपरीत क्रमकी आशङ्का नहीं हो सकती]।

सत्यादावेव मुमुक्षोराधर्मविचारपरिसमाप्तेरनुष्ठीयमानाश्रमकर्मणामानर्थक्यप्रसङ्गात्। न तावत् तेषां भोगः फलम्, पुरुषस्य भोगाद्विरक्तत्वात्। नाऽपि मुक्तिः, ज्ञानाभावेन तस्यामवस्थायां समुच्चयाभावात्। अपूर्वद्वारेणोपकारकत्वे जन्मान्तरानुष्ठितकर्मभिरेव तत्सिद्धौ कृतमिह जन्मनि कर्मानुष्ठानेन। न च धर्मविचारात् पूर्वं मुमुक्षुत्वमेव नाऽस्ति, दृश्यन्ते हि बाल्यमारभ्य मुमुक्षवः। न च मुमुक्ष्वमुमुक्षुसाधारणत्वाद्धर्मविचार एव प्रथमं कर्त्तव्य इति वाच्यम्, त्वन्मते काम्यमानमोक्षहेतुत्वेन साधारणत्वासिद्धेः। अथ नित्याध्ययनविधिप्रयोज्यत्वाद्धर्मविचारः साधारणः, तदापि न तस्य प्राथम्यनियमः; काम्यमानब्रह्मविचारानन्तरमपि नित्यकर्मविचारोपपत्तेः। यद्यध्ययनानन्तरमेव कर्मविचाराननुष्ठाने प्रत्यवायस्तदाऽपि

समाधान—ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उपर्युक्त सिद्धान्त (ब्रह्मज्ञानीका धर्मानुष्ठानमें अधिकार) माननेसे मुमुक्षु यतिके धर्मविचारकी परिसमाप्ति तक (ब्रह्मज्ञानके पूर्व तक) किये गये आश्रम कर्म सब व्यर्थ हो जायँगे, क्योंकि उनका भोगरूप फल तो हो नहीं सकता, क्योंकि मुमुक्षु पुरुषको भोगसे विरक्ति रहती है। मुक्ति भी फल नहीं है, कारण कि उस दशामें ज्ञान न होनेसे समुच्चय नहीं है [और आपके मतमें समुच्चय ही मुक्तिका साधन है]। यदि अपूर्व द्वारा उपकारक माने जायँ, तो जन्मान्तरमें किये गये कर्मोंके द्वारा ही अपूर्वकी सिद्धि हो जानेसे इस जन्ममें कर्मोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं रह जाती। धर्मविचारसे पूर्व मुमुक्षत्व नहीं बन सकता, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि बहुत लोग बाल्यावस्थासे ही मुमुक्षु होते देखे गये हैं। यह भी कहना उचित नहीं कि 'मुमुक्षु—विरागी— तथा अमुमुक्षु—रागी— दोनोंके लिए साधारण होनेसे धर्मविचार करना ही प्रथम प्राप्त होता है, कारण कि तुम्हारे मतमें धर्मविचार कामनाविषयीभूत मोक्षका साधन है, अतः उसे साधारण नहीं कह सकते, [अतः कामनारहित पुरुषके लिए उक्त साधन नहीं हुआ]।

यदि यह कहो कि नित्यभूत अध्ययनविधिसे प्रयोज्य होनेके कारण धर्मविचार साधारण हो सकता है, तो भी धर्मविचारके प्राथम्यका नियम नहीं बन सकता; कारण कि कामनाविषयीभूत ब्रह्मविचारके अनन्तर भी नित्यभूत कर्मविचारकी उपपत्ति हो सकती है। यदि कहो कि अध्ययनके अनन्तर ही कर्मोंका

तत्परिहारायैकं कर्मवाक्यं ब्रह्मबोधात् प्राग्विचारयितव्यम्, अन्यत्तु पश्चात्। तथा सति विदुषाऽनुष्ठीयमानानां ब्रह्मचारिधर्माणामपि मोक्षसाधनत्वलाभात्। अग्निहोत्रादिधर्माणामेव मोक्षसाधनत्वं न ब्रह्मचारिधर्माणामिति चेद्, वेदानुवचनादिषु प्रत्येकं निरपेक्षकरणविभक्तिश्रवणाद् ब्रह्मचारिणोऽध्ययनस्याऽपि मोक्षसाधनत्वोपपत्तेः। अत एव श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादेव संन्यासं विधत्ते। तेन ब्रह्मचारिधर्माणां संन्यासधर्माणां वा ज्ञाने समुच्चयोपपत्तौ त्वन्मतेऽग्निहोत्रादीनामननुष्ठानमेव प्रसज्येत। किं च क्रतुविधय एव धर्मविचारप्रयोजकाः, न त्वध्ययनविधिः। अन्यथा ब्रह्मविचारस्याऽप्यध्ययनविधिप्रयोज्यत्वप्रसङ्गात्। 'श्रोतव्यः' इति विध्यन्तरं तत्प्रयोजकमस्तीति चेद्, न; धर्मविचारे क्लृप्तप्रवर्त्तकभावेनाऽध्ययनविधिनैव ब्रह्मविचारस्याऽपि प्रयोगसम्भवे 'श्रोतव्यः' इति विधेरपि प्रवर्त्तकत्वकल्पने

(धर्मका) विचार न करनेसे प्रायश्चित्त होता है, तो भी उस प्रत्यवायके परिहारके लिए किसी भी एक कर्मबोधक वाक्यका ब्रह्मज्ञानसे पूर्व विचार कर लेना चाहिए और दूसरे वाक्योंका (ब्रह्मज्ञानके) पश्चात् विचार करना चाहिए। ऐसा माननेसे तो विद्वान्के द्वारा किये जानेवाले ब्रह्मचारीके भैक्षचर्यादि धर्म मोक्षके साधन हो सकते हैं। यदि मानो कि अग्निहोत्र आदि धर्म ही मोक्षके साधन हो सकते हैं, ब्रह्मचारीके धर्म मोक्षके साधन नहीं हो सकते, तो वेदानुवचन आदि प्रत्येकमें परस्पर निरपेक्ष करणकारकार्थ तृतीयाविभक्तिके श्रवणसे ब्रह्मचारीके (वेदानुवचनरूप) वेदाध्ययनमें भी मोक्षसाधनत्वकी उपपत्ति हो सकती है। इसीलिए श्रुति ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासका विधान करती है। इससे ब्रह्मचारीके धर्म और संन्यास-धर्म दोनोंके ज्ञानमें समुच्चयकी उपपत्ति हो जानेसे तुम्हारे मतमें अग्निहोत्रादिका अनुष्ठान न करना ही प्राप्त हो जायगा। और यज्ञविधान ही धर्मविचारके प्रयोजक हैं, अध्ययनका विधान प्रयोजक नहीं है। नहीं तो ब्रह्मविचारकी भी प्रयुक्ति अध्ययनविधिसे प्राप्त होगी।

शङ्का—ब्रह्मविचारका प्रयोजक 'श्रोतव्यः' यह दूसरा विधान है [इसलिए अध्ययनविधिसे उसकी प्रयुक्ति नहीं मानते]।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि धर्मविचारमें माने गये प्रयोजकरूप अध्ययनविधिसे ही ब्रह्मविचारकी भी प्रयुक्तिका सम्भव है, अतः 'श्रोतव्यः' इसको

गौरवात्। ब्रह्मविचारस्य काम्यत्वान्न नित्याध्ययनविधिप्रयोज्यतेति चेद्, नः काम्यक्रतुविचारस्य तत्प्रयोज्यताङ्गीकारात्। न च वाच्यं धर्मविचारादपि ब्रह्मविचारे शमदमोपसदनाद्यङ्गाधिक्याद्विध्यन्तरप्रयोज्यतेति, एकस्यैवाऽध्ययनविधेर्न्यूनाधिकाङ्गौ धर्मब्रह्मविचारौ प्रति प्रयोजकत्वसंभवात्। एक एव हि दर्शपूर्णमासविधिः पुरोडाशहविष्कावाग्नेयाग्नीषोमीययागाववघाताद्यङ्गसहितं [तौ ?] तद्रहितं चाऽऽज्यहविष्कमुपांशुयाजं प्रवर्त्तयति। ननु विधिर्हि सर्वत्रोपादेयस्यैवाऽनुष्ठापकः, शमदमादयस्त्वनुपादेयाः, ब्रह्मविचाराधिकारिविशेषणत्वात्, ततो नाऽध्ययनविधिस्तदनुष्ठापक इति चेद्, नः अध्ययनविध्यधिकारिण उपनीतस्यैव तत्प्रयुक्ते ब्रह्मविचारेऽप्यधिकारितया

पृथक् प्रयोजक माननेमें गौरव है। यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्मविचारके काम्य होनेसे नित्यभूत अध्ययनविधिसे उसकी प्रयुक्ति नहीं हो सकती है, कारण कि काम्य यज्ञोंके विचारकी प्रयुक्ति नित्यभूत अध्ययन विधि द्वारा मानी गयी है।

शङ्का—धर्मविचारकी अपेक्षा ब्रह्मविचारमें शम, दम, उपसदन आदि अङ्गोंके अधिक होनेसे अध्ययनसे अतिरिक्त दूसरी विधिसे प्रयुक्ति मानी जानी चाहिए।

समाधान—उक्त कल्पना नहीं हो सकती, कारण कि एक ही अध्ययनविधान अल्प और अधिक अङ्गवाले धर्मविचार तथा ब्रह्मविचारके प्रति प्रयोजक हो सकता है। दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—एक ही दर्शपूर्णमासका विधान अवघात आदि अङ्गोंके सहित पुरोडाशहविस्वाले आग्नेय और आग्नीषोमीय याग तथा उक्त अङ्गोंसे रहित घृतहविष्क उपांशुयागकी प्रयुक्ति करता है।

शङ्का—विधान सर्वत्र उपादेयका ही अनुष्ठान कराता है। शम, दम आदि तो अनुपादेय हैं, क्योंकि वे ब्रह्मविचारके अधिकारीके विशेषण हैं। इससे अध्ययनविधिको उसका (शमदमादि अङ्गोंका) अनुष्ठापक नहीं मान सकते।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि अध्ययनविधिका अधिकारी उपनीत पुरुष है, उसी उपनीत पुरुषका ही अध्ययनविधिसे प्रयुक्त ब्रह्मविचारमें भी

शमादीनामतद्विशेषणत्वात् । अन्यथा श्रवणविधेरपि तदनुष्ठापकता न स्यात् । तदेवं भास्करादिसमुच्चयवादिमतानामनेकधा दुष्टत्वाद् धर्मब्रह्मविचारयोः फलैक्यायोगान्न कर्त्रैक्यमिति न तत्प्रयुक्तक्रमार्थोऽथशब्दः ।

नन्वेवमपि पूर्वतन्त्रे द्वादशभिरपि लक्षणैर्धर्म एको जिज्ञास्यस्तत्र यथा लक्षणानां क्रमनियमस्तथा पूर्वोत्तरतन्त्रयोरपि जिज्ञास्यैक्ये क्रमनियमार्थोऽथशब्दः स्यादिति चेद्, न; फलवज्जिज्ञास्यस्याऽपि भिन्नत्वात् । यथा पूर्वतन्त्रेऽनुष्ठानापेक्षोऽभ्युदयः फलम्, तथोत्तरतन्त्रे चाऽनुष्ठानानपेक्षं निःश्रेयसमिति फलभेदः । तथा पूर्वतन्त्रे पुरुषव्यापारतन्त्रो ज्ञानदशायामविद्यमानो धर्मो जिज्ञास्यः, उत्तरतन्त्रे पुरुषव्यापारानपेक्षं ज्ञानकालेऽपि विद्यमानं ब्रह्म जिज्ञास्यम्, अतो वेदार्थत्वाकारेणैक्येऽपि जिज्ञास्यभेदो न वारयितुं शक्यः । प्रमाणैक्ये प्रमेयभेदो न युक्त इति चेद्, न; प्रमा-

---

अधिकार होनेसे शम आदि ब्रह्मविचारके अधिकारीके विशेषण नहीं हैं। इसके विपरीत माननेसे तो श्रवणादि विधिमें भी उसकी अनुष्ठापकता नहीं प्राप्त होगी। इस प्रकार भास्कर आदि समुच्चयवादियोंके मत अनेक प्रकारके दोषोंसे पूर्ण हैं, और धर्म तथा ब्रह्म दोनोंके विचारोंका एक फलसे सम्बन्ध नहीं है, अतः दोनोंका एक ही कर्ता नहीं हो सकता, इसलिए उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले क्रमरूप अर्थका वाचक अथशब्द नहीं हो सकता।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी पूर्वमीमांसा शास्त्रमें बारहों लक्षणोंसे एक ही धर्म जिज्ञास्य है, उसमें जैसे लक्षणोंका क्रमनियम है, उसी प्रकार पूर्वोत्तरमीमांसा शास्त्रोंमें भी जिज्ञास्य एक होनेसे क्रमनियमार्थक 'अथ' शब्द लिया जायगा।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि फलके समान जिज्ञास्य भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे पूर्वमीमांसामें अनुष्ठानकी अपेक्षा रखनेवाला अभ्युदय फल है, वैसे ही उत्तरमीमांसामें अनुष्ठानकी अपेक्षा न रखनेवाला निःश्रेयस फल है, इस प्रकार फलभेद है। एवं पूर्वमीमांसामें पुरुषव्यापारके अधीन ज्ञानावस्थामें अविद्यमान धर्म जिज्ञास्य है और उत्तरमीमांसामें पुरुषव्यापारकी अपेक्षा न रखता हुआ ज्ञानावस्थामें भी विद्यमान ब्रह्म जिज्ञास्य है। इसलिए वेदार्थ होनेके कारण ऐक्य होनेपर भी जिज्ञास्यभेदका वारण नहीं किया जा सकता। और यह भी नहीं कह सकते कि प्रमाणके एक होनेपर प्रमेयका भेद मानना उचित नहीं है, कारण कि प्रमाणका

णैक्यासिद्धेः। नहि धर्मे ब्रह्मणि वा वेदो वेदाकारेणैव प्रमाणम्, किन्तु चोदनाकारेण धर्मं बोधयति वेदान्तवाक्यरूपेण च ब्रह्मस्वरूपम्। तत्र चोदनेति शब्दभावनां कुर्वाणः शब्दोऽभिधीयते। सा च चोदना अंशत्रय-विशिष्टामर्थभावनां कुर्वती तदनवबोधे पुरुषप्रवृत्त्ययोगात् पुरुषप्रेरणार्थमेवाऽर्थ-भावनां प्रतिपादयति। वेदान्तवाक्यं पुनर्बोधयत्येव, न तु ब्रह्मणि तद्बोधे वा पुरुषं प्रेरयति, ब्रह्मणोऽकार्यस्याऽपुरुषतन्त्रत्वाद् बोधस्य च प्रमाण-प्रमेयतन्त्रस्य पुरुषेच्छाप्रयत्नानधीनत्वात्। अनिच्छतोऽप्रयतमानस्यापि दुर्गन्धादिज्ञानदर्शनात्। तदेवं धर्मब्रह्मणोस्तत्प्रमाणयोश्चाऽत्यन्तविलक्षण-त्वान्नाऽत्र जिज्ञास्यैक्यप्रयुक्तमपि क्रममथशब्दो वक्तुमर्हति। तस्मादान-न्तर्याभिधानमुखेन पुष्कलकारणरूपस्य शास्त्रीयस्याऽधिकारिविशेषणस्य सूचनायैवाऽथशब्दः।

तच्चाऽधिकारिविशेषणं चतुर्धा शास्त्रे प्रसिद्धं नित्याऽनित्यवस्तुविवेक

एक होना सिद्ध ही नहीं है। धर्म और ब्रह्म दोनोंमें वेद वेदरूपसे ही प्रमाण नहीं है, चोदनाके आकारसे वेद धर्मका बोध कराता है और वेदान्तवाक्य-रूपसे ब्रह्मस्वरूपका बोध कराता है। उसमें 'चोदना' शब्दसे भावनाको करनेवाला शब्द कहलाता है और वह चोदना अंशत्रयविशिष्ट अर्थभावनाको करती हुई उसका बोध न होनेमें पुरुषकी प्रवृत्तिका सम्बन्ध न होनेसे पुरुषकी प्रेरणाके ही लिए अर्थभावनाका प्रतिपादन करती है। और वेदान्तवाक्य तो बोध ही कराता है। ब्रह्म तथा उसके बोधमें पुरुषकी प्रेरणा नहीं करता, कारण कि ब्रह्म कार्यरूप न होनेसे पुरुषव्यापारके अधीन नहीं हैं, क्योंकि प्रमाण और प्रमेयके द्वारा उत्पन्न होनेवाला बोध पुरुषकी इच्छा तथा उसके प्रयत्नके अधीन नहीं है। इच्छा न रखने तथा प्रयत्न न करते हुए भी पुरुषको दुर्गन्धादिका ज्ञान होते देखा गया है। इस प्रकार धर्म तथा ब्रह्मका एवं उनके प्रमाणोंका परस्पर अत्यन्त भेद होनेसे प्रकृतमें एक जिज्ञास्य होनेके कारण प्राप्त हुए क्रमरूप अर्थको अथशब्द नहीं कह सकता। इससे आनन्तर्यरूप अर्थका अभिधान करता हुआ पुष्कल कारणरूप (साधनचतुष्टय) अधिकारीके शास्त्रीय विशेषणको सूचन करनेके लिए ही अथशब्दका प्रयोग किया गया है।

और वह अधिकारीका विशेषण शास्त्रमें चार प्रकारका प्रसिद्ध है १ नित्यानित्यवस्तुविवेक, २ ऐहिक या पारलौकिक विषय भोगोंसे विरक्ति,

इहाऽमुत्रार्थफलभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपद्, मुमुक्षुत्वं चेति । तत्र 'सोऽन्वेष्टव्यः' इति विधिप्रकरणे 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' इत्यादिना नित्यानित्यवस्तुविवेको दर्शितः । श्रवणविधिप्रकरणे च 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इतीहामुत्रार्थफलभोगविरागो दर्शितः । 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति दर्शनविधिप्रकरणे 'शान्तो दान्तः' इत्यादिना शमादयो दर्शिताः। 'तद्विजिज्ञासस्व' इति विचारविधिप्रकरणे 'वरुणं पितरमुपससार' इति गुरूपसदनं दर्शितम् । न च मुमुक्षुत्वप्रापकप्रमाणाभावः, सर्वत्र हि फलश्रुतयः कामनोत्पादनद्वारेण मुमुक्षोरधिकारप्रदर्शनार्थाः; अन्यथा साधनानुष्ठानादेव फलसिद्धेस्तत्संकीर्त्तनवैफल्यात् । यद्यपि शमादयो ज्ञानविधिप्रकरणे पठितास्तथापि तेषां विचाराधिकारिविशेषणत्वमविरुद्धम् । ज्ञानस्य विधातुमशक्यतया तत्साधनस्य विचारस्यैव तत्र विधेयत्वात् । एवमपि प्रतिशाखं विचारविधेर्भिन्नत्वात्तत्र च तान्यधिकारिविशेषणान्यपि व्यवतिष्ठन्ते,

---

३ शम, दम आदि साधनोंकी सम्पत्ति और ४ मुमुक्षुता । उनमें से 'उस ब्रह्मका अन्वेषण करना चाहिए' इस विधिके प्रकरणमें पढ़े गये—'जैसे कर्मोंपार्जित स्वर्गादिलोक क्षीण हो जाते हैं'—इत्यादि वाक्य द्वारा नित्यानित्य वस्तुका विवेक दिखलाया गया है । और श्रवणविधिके पकरणमें—'आत्माकी कामनासे सब कुछ प्रिय लगता है' इस वाक्यसे ऐहिक और पारलौकिक विषयोंसे वैराग्य दिखलाया गया है, 'आत्मा ही में आत्माका दर्शन करे' (अर्थात् अनात्मामें आत्मदृष्टि न करें) इस दर्शनविधिके प्रकरणमें 'शमयुक्त तथा दमयुक्त हो' इत्यादि वाक्यसे शम, दम आदि दिखलाये गये हैं । 'उसका विचार करो' इस विचारविधिके प्रकरणमें 'अपने पिता वरुणके पास गया' इस वाक्यसे गुरुके समीपमें गमनरूप उपसदन दिखालाया गया है । मुमुक्षुताके प्रापक प्रमाणका अभाव भी नहीं है, कारण कि सर्वत्र कामनाके उत्पादन द्वारा फलश्रुतियां मुमुक्षुका अधिकार दिखलाती हैं । अन्यथा साधनके अनुष्ठानसे ही फलकी सिद्धि हो जायगी, फिर उसका सङ्कीर्तन करना व्यर्थ हो जायगा । यद्यपि ज्ञानविधि-प्रकरणमें शम आदि पढ़े गये हैं, तथापि उनको विचारके अधिकारीके विशेषण माननेमें कोई विरोध नहीं है, कारण कि ज्ञानका विधान करना सम्भव नहीं है, इसलिए उसका साधनभूत विचार ही उस ज्ञानविधिमें विधेय है, ऐसा मानना उचित है ।

शङ्का—इस प्रकार माननेपर भी प्रत्येक शाखामें विचार-विधियाँ भिन्न-

न तु समुच्चीयन्त इति चेद्, नः सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन विचारविधेरेकत्वात् । नानाशाखासु श्रूयमाणस्य ज्योतिष्टोमादिकर्मणः शाखाभेदेन भेदावाप्तौ 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' इति सूत्रेण सिद्धान्तितम् । तत्र यथा फलसंयोगस्य द्रव्यदेवतालक्षणरूपस्य 'यजेत' इत्यादिचोदनाया ज्योतिष्टोमादिसंज्ञायाश्च सर्वत्राऽविशेषेण कर्मैक्यं तथा विचारोऽपि सर्वत्रैक एव । स चैको विचारविधिरधिकारमीक्षमाणः प्रकरणसामर्थ्यात् फलसङ्कीर्त्तनवैफल्यपरिहाराच्च वर्णितधर्मकलापमधिकारनिमित्तत्वेन स्वीकरोति । निरधिकारस्य विधेः प्रवृत्तिपर्यन्तत्वायोगात् । नन्वेषु वाक्येषु विचारपदाभावाद्विचारोऽभिधीयत इति कथमवगम्यते ? उच्यते—'स विजिज्ञा-

---

भिन्न हैं, अतः उनमें वे सभी अधिकारीके विशेषण व्यवस्थित हैं, उनका समुच्चय नहीं है।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि सर्वशाखाप्रत्ययन्यायसे विचारविधि एक ही है। अनेक शाखाओंमें पढ़े गये ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंका शाखाओंके भेदसे भेद प्राप्त होनेपर 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' (जै० सू० २ अ० ४ पा० १९) (संयोगरूप चोदनामें कोई विशेष न होनेसे) इस सूत्रसे एक होना ही सिद्धान्त किया गया है। उसमें जैसे द्रव्य-देवता-सम्बन्धस्वरूप फलसंयोगका 'यजेत' इत्यादि लिङर्थभूत चोदनासे और ज्योतिष्टोम आदि संज्ञामें सर्वत्र विशेष न होनेसे एक कर्म माना जाता है, वैसे ही विचार भी सब शाखाओंमें एक ही है। वह एक ही विचारविधि अधिकारकी अपेक्षा करती हुई प्रकरणकी सामर्थ्यसे और फलके वर्णनका वैफल्यपरिहार करनेसे वर्णित धर्मसमूहको अधिकारके निमित्तत्वरूपसे स्वीकार करती है। अधिकारशून्य विधानका प्रवृत्तिपर्यन्त सम्बन्ध नहीं हो सकता [अर्थात् निरधिकार विधि केवल पुस्तकोंमें लिखी ही रह जाती है, इससे अधिकारी न होनेसे कोई उसका अनुष्ठान करना अपना कर्तव्य ही नहीं समझता।]

शङ्का—उक्त वाक्योंमें विचार-पदके न होनेसे विचारका अभिधान होता है, यह कैसे समझा जा सकता है ?

समाधान—सुनिये, कहते हैं—'स विजिज्ञासितव्यः', 'तद् विजिज्ञासस्व' अर्थात् उसकी जिज्ञासा करो इस अर्थवाले उक्त दोनों वाक्योंके अन्तर्गत

सितव्यः' 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यत्राऽन्तर्णीतो विचारो विधीयते, इष्यमाणज्ञानस्येच्छायाश्च विधेयत्वायोगात्। 'श्रोतव्यः' इत्यत्र स्वयमेव विचारो विहितः। 'पश्येत्' इत्यत्र तु पूर्वमेवोक्तम्। तस्मात् सर्वत्र मनननिदिध्यासनाभ्यामङ्गाभ्यां श्रवणं नामाऽङ्गि विधीयते इति सिद्धम्।

ननु सर्वत्र फलसाधनविधौ फलकामनैव पुष्कलाधिकारनिमित्तमित्यत्राऽपि मुमुक्षुत्वमेवाऽधिकारिविशेषणं शमदमादिकं त्वनुष्ठेयतया प्रयाजादिवत् फलोपकार्य्यङ्गं भविष्यतीति चेत्, सत्यम्; अङ्गस्याऽप्यधिकारिविशेषणत्वं

विचाररूप अर्थका ही विधान किया जाता है, कारण कि इच्छाके विषयभूत ज्ञान तथा इच्छा दोनों विधेय नहीं हो सकते। 'श्रोतव्यः' इस पदसे स्वयं विचारका विधान किया गया है और 'पश्येत्' इस पदमें तो पहले ही कह आये हैं। ['जिज्ञासितव्यः' या 'विजिज्ञासस्व' इन पदोंमें सन्-प्रकृतिभूत धातुका अर्थ ज्ञान है और सन्‌का अर्थ इच्छा है, 'तव्य' या 'लोट्' प्रत्यय विधिके बोधक हैं। यद्यपि समभिव्याहृत प्रकृतिके अर्थका भी विधान करना न्यायप्राप्त है, परन्तु दोनोंके विधानका सम्भव न होनेसे उसके उपायभूत विचारमें विधिका संक्रमण किया जाता है, इस प्रकार 'विजिज्ञासस्व' आदि पद विचारके अर्थतः वाचक हुए, परन्तु श्रवण तो विचाररूप अर्थमें रूढ़ है, अतः वह स्वतः वाचक पद होनेसे मुख्यतः विचाररूप अर्थको कहता है] इस उक्त निर्णयके बलसे मनन, निदिध्यासन रूप अङ्गोंके द्वारा श्रवण—विचार—रूप अङ्गीका विधान किया जाना सिद्ध होता है।

शङ्का—अन्यत्र सभी स्थलोंमें फलकामना ही पुष्कल—पर्याप्त—अधिकारकी निमित्त—उत्पादक—मानी जाती हैं एवं प्रकृतमें मुमुक्षुता ही अधिकारीकी विशेषण रहे और शम, दम आदि तो अनुष्ठानके विषय-योग्य होनेसे प्रयाजादि यागोंके सदृश फलके उपकारी अङ्ग होंगे, [पुष्कल कारण नहीं होंगे]।

समाधान—यह सच है[1] कि अङ्गको भी अधिकारीका विशेषण मानना विरुद्ध

---

१ 'पूर्वपक्षे दृढीभूते सत्यमित्युच्यते बुधैः' अर्थात् जहां पूर्वपक्ष कुछ युक्त-सा जंचता है वहां पर समाधान देनेके पूर्व अभियुक्त 'सत्य है' ऐसा कहते हैं, परन्तु इस सत्यपदका यथार्थरूप या अबाधित रूप अर्थ नहीं है'।

न विरुध्यते, शमादिगुणको भूत्वा पश्येदित्यादिलिङ्गात्। शास्त्रैकगम्यस्य युक्त्याऽपलापायोगात्। अङ्गभूताया अपि दीक्षाया उत्तरक्रत्वधिकारनिमित्ततादर्शनात्। यद्यपि मुमुक्षुत्वे सत्यन्यधर्माभावापराधेन प्रवृत्त्यभावो न दृष्टचरस्तथापि मुमुक्षुत्वस्वरूपोपाधित्वादन्येषामधिकारनिमित्तत्वमनिवार्यम्। नहि नित्यानित्यवस्तुविवेकाभावे सतीहाऽमुत्रार्थफलभोगविराग उपपद्यते। नाऽपि तस्मिन्नसति शमादियुक्तत्वेन मुमुक्षुत्वं संभवति। अतः पूर्वपूर्व उत्तरोत्तरस्य स्वरूपोपाधिः।

नन्वेवं सति न कस्याऽपि स्वरूपं सिध्येद्, मूलकारणस्य नित्यानित्यवस्तुविवेकस्याऽसंभवात्। नहि नित्यं नाम किंचिदस्ति यस्याऽ-

---

नहीं है; कारण कि इस अर्थके परिचायक 'शमादि गुणोंसे युक्त होता हुआ दर्शन—विचार—करे' इत्याद्यर्थक वाक्य मिलते हैं, अतः केवल शास्त्रसे ही प्रतीत होनेवाले अर्थका युक्तियोंसे खण्डन नहीं किया जा सकता। [जैसे आंखके सामने छोटी अंगुलीकी आड़ आनेसे ही चन्द्रमाके शास्त्रगम्य परिमाणका निषेध नहीं किया जा सकता]। दृष्टान्त द्वारा उक्तार्थका समर्थन करते हैं—अङ्गभूत दीक्षा भी उत्तर क्रतुओंमें अधिकारकी निमित्त देखी गई है। यद्यपि मुमुक्षुताके प्राप्त हो जानेपर दूसरे 'नित्याऽनित्य वस्तुके विवेक' आदि धर्मोंके न होनेके कारण 'ब्रह्मविचारमें' प्रवृत्ति—अनुष्ठान—का अभाव कभी नहीं देखा जाता तथापि मुमुक्षुत्वस्वरूप उपाधिके—विशेषण—होनेसे अर्थात् अन्य अधिकारि निमित्त आ ही जाते हैं, क्योंकि नित्याऽनित्य-वस्तु-विवेकादि अन्य धर्मोंके अभावसे मुमुक्षुता ही नहीं हो सकती, अतः अन्य उक्त तीनों धर्मोंमें अधिकार-निमित्तत्व नहीं हटाया जा सकता। नित्याऽनित्यवस्तुविवेकके अभावके रहते इस लोक और परलोकके विषयोंके भोगसे विरक्ति नहीं हो सकती और उसके न होनेसे शम, दम आदिसे सम्पन्न होकर मोक्षकी इच्छारूप मुमुक्षुता भी नहीं हो सकती। इसलिए पूर्व पूर्व उत्तर उत्तरकी स्वरूपोत्पादकरूप उपाधि है। [अर्थात् नित्याऽनित्यवस्तुविवेकसे सर्वथा विषयविरक्ति और विषयविरक्तिसे शम, दमादि सम्पत्ति और शम, दमादि सम्पत्तिके अनन्तर मुमुक्षुता होती है, यह भाव है]।

शङ्का—अब तो किसीका भी स्वरूप नहीं बन सकेगा, कारण कि सबके मूलकारणभूत नित्याऽनित्यवस्तुविवेकका सम्भव नहीं है, क्योंकि नित्य

नित्याद्विवेकः स्यात् । न च सर्वानित्यत्वे मानाभावः, विमतं सर्वमनित्यम् , सत्त्वाद् , घटादिवत् , इति चेद् , मैवम् ; कार्यजातस्योत्पत्तिविनाशाभ्यामेवोपादानस्यैकस्याऽनादेः कूटस्थस्याऽवधिभूतस्य नित्यत्वसिद्धेः । तथाहि न तावत् कार्यं निरुपादानमुपपद्यते, अनुभवविरोधात् । अत उपादानमङ्गीकार्यम् । उपादानत्वं च कार्यान्तरस्य न संभवति । तथा सति कार्यानुगतस्यैवोपादानत्वनियमात् पूर्वपूर्वकार्यानुवेधस्योत्तरोत्तरकार्येऽभ्युपगन्तव्यत्वाच्चरमे कार्येऽनन्तपूर्वकार्याणामनुगतिः प्रसज्येत । न चैवमुपलभ्यते, अतोऽनाद्येव तदुपादानम् । तस्य चैकस्यैव सर्वकार्योत्पादकत्वसंभवेऽनेकत्वकल्पने गौरवादेकत्वमभ्युपेयम् , कूटस्थत्वं चाऽविकारित्वाद्,

पदार्थ कोई है ही नहीं, जिसका अनित्यसे विवेक—पार्थक्यज्ञान—किया जाय और सबको ही अनित्य माननेमें प्रमाणका अभाव भी नहीं है, कारण कि 'विमत सब-कुछ (ब्रह्म आदि) अनित्य है, सत् होनेसे, घट, पट आदिके समान, यह अनुमान प्रमाण है । [घट, पट आदि सभी पदार्थ 'सन् घटः', 'सन् पटः' इत्यादि प्रतीतिके बलसे सत् हैं और विनाशी होनेसे अनित्य हैं, इस व्याप्तिसे सत्-पदार्थभूत ब्रह्म भी अनित्य होगा, यह भाव है ।]

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति और विनाशसे ही कूटस्थ (अविकारी और अपरिणामी) तथा अवधिभूत एक उपादान कारणका नित्य होना सिद्ध होता है । [उपादान कारणकी नित्यता सिद्ध करते हैं]—उपादानरहित कार्यकी तो उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि (कार्यको उपादान-रहित माननेमें) अनुभव विरोध आता है; इसलिए उपादानका अङ्गीकार अवश्य करना चाहिए । कार्यान्तर भी उपादान नहीं माना जा सकता 'अर्थात् एक कार्यका दूसरा कार्य उपादान नहीं हो सकता । यदि कार्यान्तर ही कारण माना जाय, तो कार्यानुगत—कार्यमें विद्यमान—को ही उपादान माननेका [जैसे घटमें मिट्टीकी अनुवृत्तिसे मिट्टी उसकी उपादान है] नियम होनेसे पूर्व-पूर्व कार्यका अनुवेध (अनुवृत्तिरूप सम्बन्ध) अग्रिम-अग्रिम कार्यमें मानना ही चाहिए, इस परम्परासे अन्तिम कार्यमें अनन्त पूर्व कार्योंकी अनुवृत्ति आनेका प्रसङ्ग हो जायगा । पर ऐसा अनुभवमें आता नहीं, इस हेतुसे अनादि ही वह उपादान है । अकेले एक उसमें ही सब कार्योंकी उपादानताका सम्भव होनेपर उसकी (उपादानकी) अनेकताकी कल्पना करनेमें गौरव होनेसे एकत्वकी ही

विकारित्वे च कार्यत्वप्रसङ्गात्। तच्च कूटस्थवस्तु विनश्यतो विकारजातस्याऽवधिः। अन्यथा निरवधिकविनाशे सत्युपादानासंभवाद्वर्त्तमानसृष्टिरेव न सिध्येत्। अतः कूटस्थं वस्तु नित्यमिति नित्यानित्यवस्तुविवेकसिद्धौ तत्कार्यो मुमुक्षुत्वान्तो धर्मकलापोऽपि सिध्यन्नाऽधिकारिणं ब्रह्मविचारे प्रवर्त्तयति। यस्तूक्तसाधनसम्पद्विरहेऽपि दैववशात् कुतूहलाद्वा बहुश्रुतत्वबुद्ध्या वा तत्र प्रवर्त्तते, स प्रवृत्तोऽप्यनन्तर्मुखचेता बहिरेवाऽभिनिविशमानो निर्विचिकित्सं ब्रह्मात्मत्वेनाऽवगन्तुं न शक्नोति। तस्माद्वर्णितवस्तुकलापानन्तर्यमथशब्दार्थः।

अत्र भास्करः प्रललाप, विचारकर्त्तव्यतां प्रतिपद्यमानस्य किल सूत्रकारस्य शमादयो न बुद्धिसमारूढाः। न चाऽबुद्धिसमारूढमर्थमधिकारिविशेषणतयोपादातुमर्हति; धर्मविचारस्तु बुद्ध्यारूढोऽधिकारिविशेषण-

---

कल्पना करना युक्तिसङ्गत है और विकारी न होनेसे ब्रह्म कूटस्थ माना जाता है विकारी होनेसे, तो वह भी कार्य ही हो जायगा। और वही कूटस्थ वस्तु विनाशित्वस्वभाववाले कार्यमात्रकी अवधि है, अन्यथा ध्रुव—केन्द्र—भूत वस्तु न माननेसे निरवधिक विनाशकी प्राप्ति होनेसे (अर्थात् सब-कुछ-का नाश हो जानेसे, उपादानका रहना भी सम्भव नहीं हो सकता, इससे (उपादानके न रहनेसे) वर्तमान सृष्टिका होना ही सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए कूटस्थ वस्तु नित्य है, इससे नित्य वस्तुका सम्भव होनेसे उसका कार्य (नित्यानित्यवस्तुविवेकसे उत्पन्न होनेवाला) मुमुक्षुतापर्यन्त धर्मसमूह (ऐहिक पारलौकिक विषयभोगविराग, शम, दमादिसम्पत्ति तथा मुमुक्षुता) सिद्ध होता हुआ अधिकारीको ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त कराता है। जो कोई पुरुष उक्त साधन-सम्पत्तिके बिना भी दैववश अथवा उत्सुकतासे या बहुत शास्त्र जाननेकी बुद्धि होनेसे ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त होता है, वह बहिर्मुखचित्तप्रवृत्तिवाला होनेसे बाहर ही बाहरका ज्ञान प्राप्त करता है और अन्तःप्रवेश न पाता हुआ ब्रह्मको निर्विचिकित्स—सन्देहशून्य—होकर आत्मरूपसे नहीं जान सकता। इसलिए पूर्वमें जिसका वर्णन किया गया है, ऐसे वस्तुसमूहका आनन्तर्य ही अथशब्दका अर्थ है।

इस विषयमें भास्करने प्रलाप किया है कि विचारका कर्तव्यरूपसे प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकारकी बुद्धिमें शम, दम आदि नहीं आये थे और बुद्धिमें न आया हुआ अर्थ अधिकारीका विशेषण होनेकी योग्यता नहीं रख सकता। और

तयोपादीयत इति। नैतद्युक्तम्; शमादीनां विचारविधिप्रकरणपठिततया संनिहिततराणामबुद्ध्यारोहायोगात्। न च तेषामत्राऽनुपयोगः; विधिप्रयुक्ताधिकार्यनुबन्धान्तःपातित्वात्। दर्शितश्चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषां विचारोपयोगः। न च तथा धर्मविचारः संनिहिततरः। भिन्नप्रकरणोपात्तधर्मविषयत्वात्। नाऽप्यसावत्रोपयुज्यत इति पूर्वमेव समर्थितम्। तस्मादस्मदुक्त एवाऽथशब्दार्थ इति सिद्धम्।

अतःशब्दो हेत्वर्थः। नन्वथशब्द एवाऽऽनन्तर्याभिधानमुखेन हेतुतया पूर्ववृत्तमर्थं गमयतीत्युक्तं तेन पुनरुक्तिः। न च वाच्यं हेतुत्वं नाऽथशब्देनाऽभिधीयते किन्त्वर्थात् प्रतीयते। अत्र त्वतःशब्देनाऽभिधीयते तेन न पुन-

---

धर्मका विचार तो 'सूत्रकारकी' बुद्धिमें विद्यमान था उसको अधिकारीके विशेषणके रूपमें ले सकते हैं। परन्तु भास्करका उक्त प्रलाप युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि विचारविधिके प्रकरणमें पठित होनेसे अत्यन्त संनिहित शम आदि सूत्रकारकी बुद्धिमें नहीं हैं, ऐसा कहनेका अवसर नहीं आ सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनका प्रकृतमें उपयोग नहीं है; कारण कि विधिके कारण प्राप्त हुए अधिकारीके अनुबन्धके अन्तःपाती ही शमादि हैं, 'शमादिके बिना अधिकारसम्पत्ति ही नहीं मिल सकती और अधिकारीके बिना विधि व्यर्थ होती है, इसलिए अधिकारीकी सम्पत्तिमें शम, दम आदि आ जाते हैं, और अन्वय-व्यतिरेक द्वारा शम, दम आदिका विचारमें उपयोग दिखा आये हैं। इस प्रकार (शमादिके तुल्य) धर्मविचार अत्यन्त सन्निहित है भी नहीं। कारण कि वह भिन्न-प्रकरणमें पठित धर्मको विषय करता है और धर्मका प्रकृतमें—ब्रह्मज्ञानमें—उपयोग नहीं है, इसका सर्थन कर आये हैं। इसलिए अथशब्दका हमारा अभिमत अर्थ मानना ही उचित है, यह सिद्ध हुआ।

अतःशब्द हेतुका वाची है,

शङ्का—'आनन्तर्य अर्थका अभिधान करनेसे अथशब्द ही कारणभूत पूर्ववर्त्ती पदार्थका बोध करा ही देता है' ऐसा कहा है, इससे पुनः अतःशब्दके प्रयोगसे पुनरुक्ति दोष होगा। अथ शब्दसे हेतुस्वरूपका अभिधान नहीं होता, किन्तु अर्थात् प्रतीत होता है और सूत्रमें अतःशब्दके देनेसे हेतुका अभिधान होता है, इससे पुनरुक्ति नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, कारण कि

रुक्तिरिति । अर्थात्प्रतीतस्याऽपि तात्पर्यविषयतयाऽथशब्दार्थत्वाद् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात् । न चाऽथशब्दस्याऽऽनन्तर्यमात्रे विधेये तात्पर्यं सम्भवति, वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्मादार्थिकेऽपि हेतुत्वेऽथशब्दस्य तात्पर्ये सत्यथातःशब्दयोः पुनरुक्तिर्दुष्परिहरा। नैष दोषः; अथशब्देन साधनचतुष्टयस्य विचारहेतुत्वे परिगृहीते तस्याऽनिर्वाहाशङ्कायां तन्निराकरणेन हेतुत्वनिर्वाहायाऽतः शब्दोपादानात् । तथाहि- स्वर्गादीनां कृतकत्वपरिच्छिन्नत्वादिहेतुभिरनित्यत्वमनुमाय तस्माद-

---

अर्थात् प्रतीत होनेवाला अर्थ भी तात्पर्यका विषय माना जाता है, इससे (हेतुरूप अर्थ) अथशब्दका अर्थ ही हो गया, क्योंकि न्याय है कि 'जिस अर्थमें जिस शब्दका तात्पर्य होता है, उस शब्दका वही अर्थ माना जाता है। और केवल आनन्तर्यरूप अर्थके विधानमें अथशब्दका तात्पर्य मानना सम्भव भी नहीं, कारण कि ऐसा माननेसे अथशब्दका देना ही व्यर्थ हो जायगा। इसलिए अर्थात् प्रतीयमान भी हेतुरूप अर्थमें अथशब्दका तात्पर्य सिद्ध होनेसे 'अथ' और 'अतः' इन दोनों शब्दोंके प्रयोगसे प्राप्त हुई पुनरुक्ति नहीं हटाई जा सकती।

समाधान—उक्त (पुनरुक्त) दोष नहीं आ सकता, कारण कि अथशब्दसे साधनचतुष्टयमें विचारके प्रति कारणता प्रतीत हुई। अनन्तर शङ्का हो सकती है कि साधनचतुष्टयमें अथशब्द द्वारा प्रतीत हुई कारणताका निर्वाह नहीं हो सकता (अर्थात् साधनचतुष्टय विचारके कारण नहीं हो सकते) इस आशङ्काके निराकरण द्वारा कारणताका निर्वाह करनेके लिए अतःशब्दका ग्रहण किया गया है। (अतःशब्दके साधन प्रयोगचतुष्टयमें कारणताका निर्वाहप्रकार दिखलाते हैं)—स्वर्गादिमें कृतकत्व[1] और परिच्छिन्नत्व[2] रूप हेतुओंके द्वारा (कार्य और परिच्छिन्न होनेसे) अनित्यताका अनुमान करके उस स्वर्गादिरूप अनित्य पदार्थसे नित्य पदार्थका विवेक

---

१ जो उत्पाद्य अर्थात् क्रियाकलापसे साध्य है, वह कृतक-कार्य है। जैसे घट, पट आदि।

२ परिच्छेद—किसी भी वस्तुके साथ देश, काल या परिमाण, संख्या आदि विशेषण लगाकर उसके देश-काल आदि या इयत्ताका परिचय देना परिच्छेद कहाता है। और जिसका उक्त प्रकारोंमें से किसी भी प्रकारसे परिचय दिया जाता है वह परिच्छिन्न कहाता है। जैसे इस

नित्यान्नित्यं विवेक्तव्यम्। न चाऽयं विवेकः सुलभः, उक्तहेतूनां प्रध्वंसपरमाण्वादावनैकान्तिकत्वात्। नित्यत्वं च कर्मफलस्य श्रूयते—'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्यादौ। अतः कथं पुरुषार्थात् कर्मफलात् विरज्याऽपुरुषार्थे ब्रह्मज्ञाने पुरुषाः प्रवर्त्तेरन्। यद्यपि ब्रह्मण्यानन्दोऽस्ति तथापि नाऽसौ जीवेनोपभोक्तुं शक्यः, स्वाश्रयसुखोपलब्धेरेवोपभोगत्वात्। न च ब्रह्मधर्मस्य सुखस्य जीवाश्रयतयोपलब्धिः संभवति, लोकेऽन्यसुखस्याऽन्याश्रयत्वादर्शनात्।

अथ सुखापरोक्ष्यमात्रस्योपभोगत्वे व्यभिचाराभावात् स्वाश्रयविशेषणं व्यर्थमिति मन्यसे, एवमपि जीवब्रह्मणोर्भेदे ब्रह्मानन्दापरोक्ष्यमनुपपन्नम्, पुरुषा-

---

(पार्थक्यज्ञान) करना चाहिए। और यह विवेक सुलभ—सुगम—नहीं है। कारण कि उक्त हेतु (कार्यत्व और परिच्छिन्नत्व आदि) प्रध्वंस तथा परमाणु आदिमें व्यभिचरित हैं [न्यायपक्षमें प्रध्वंस कार्य होता हुआ भी नित्य है और परमाणु परिच्छिन्न होता हुआ भी नित्य है]। और कर्म द्वारा प्राप्त फलोंकी नित्यता भी 'चातुर्मास्य याग करनेवालेको अक्षय पुण्य होता है' इत्याद्यर्थक श्रुतिमें सुनी जाती है। इसलिए पुरुषार्थभूत स्वर्गादिस्वरूप कर्मोंके फलोंसे विरक्त होकर पुरुषार्थसे बहिष्कृत ब्रह्मज्ञानमें पुरुष कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे ? यद्यपि ब्रह्ममें आनन्द है, परन्तु जीव उसका (ब्रह्मानन्दका) भोग नहीं कर सकता, कारण कि अपनेमें सुखकी उपलब्धि होना ही उपभोगपदार्थ है। और ब्रह्ममें विद्यमान सुखरूप धर्मकी जीवाश्रित होकर उपलब्धि नहीं हो सकती है अर्थात् जीव ब्रह्मके सुखका अपनेमें अनुभव नहीं कर सकता है, कारण कि लोकमें दूसरेका सुख दूसरेमें नहीं देखा जाता।

यदि सुखके आपरोक्ष्य—साक्षात्कार—को ही उपभोग माननेमें व्यभिचार न होनेसे स्वाश्रय (अपनेमें) विशेषण देना व्यर्थ मानते हो, तो भी जीव और ब्रह्ममें भेद होनेसे ब्रह्मानन्दका साक्षात्कार नहीं हो सकता, कारण कि दूसरे पुरुषके सुखका साक्षात्कार दूसरेको होते नहीं

देशमें विद्यमान दस सेर वजनी एक घड़ा इत्यादि। (स्वर्गादि एकदेशविशेष माने जाते हैं, इसलिए उनमें देशपरिच्छेद है और 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इस प्रकार अभियुक्त वचनोंके तथा 'तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादि श्रुतिके बलसे पुण्यतारतम्यके अनुसार उनमें कालपरिमाणादिपरिच्छेद भी विद्यमान है और 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचनोंसे वह कार्य भी है)।

न्तरानन्दस्याऽऽपरोक्ष्यादर्शनात् । जीवब्रह्मणोरभेदस्त्वनुभवविरुद्धः, अतो मोक्षान्निरानन्दाद्विरज्याऽल्पदुःखमिश्रितेऽपि विषयानन्दे पुरुषः प्रवर्त्तते, 'नह्यजीर्णभयादाहारपरित्यागः, किन्तु प्रतिविधातव्यम्' इति न्यायादित्यथशब्दपरिगृहीतोऽर्थो न निर्वहतीत्याशङ्क्येत; सेयमाशङ्का न कर्त्तव्या, यस्माद्वेद एव ब्रह्मव्यतिरिक्तपुरुषार्थजातस्याऽनित्यतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' इत्यादिः। न चेयं सामान्यश्रुतिश्चातुर्मास्यादिविशेषश्रुतिविषयादन्यत्रैव व्यवतिष्ठतामिति वाच्यम्, तत्र तावच्चातुर्मास्यश्रुतिः सुकृतस्यैवाऽक्षयत्वं ब्रूते न तत्फलस्य। न च सुकृताक्षयकथनमुखेन तत्फलाक्षयत्वे वाक्यतात्पर्यमिति कल्पयितुं

देखा जाता। और भी जीव तथा ब्रह्मका अभेद तो अनुभवसे विरुद्ध है, इसलिए आनन्द—सुख—शून्य मोक्षसे विरक्त होकर पुरुष थोड़ेसे दुःखसे मिश्रित विषयानन्दमें भी प्रवृत्त होता है। [अल्प दुःखके सम्बन्धसे विषयानन्दसे भी विरक्ति हो जानेकी आशङ्काके निवारणके लिए लोकन्याय दिखलाते हैं—] 'अजीर्ण रोगके भयसे भोजन करना नहीं छोड़ा जाता, किन्तु रोगसे बचे रहनेके उपाय किये जाते हैं' इस न्यायसे अथशब्द द्वारा प्रतीत हुए (साधनचतुष्टयमें विचारहेतुतारूप) अर्थका निर्वाह (शङ्का रहित समर्थन) नहीं हो सकता, ऐसी आशङ्का हो सकती है, पर वह नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् वेद ही ब्रह्मसे अतिरिक्त सकल पुरुषार्थकी अनित्यता दिखला रहे हैं—'जैसे इस लोकमें कर्मोंके द्वारा उपार्जित लोक (ग्रामादि धनसम्पत्ति) क्षीण हो जाते हैं वैसे ही परलोकमें पुण्योंके द्वारा प्राप्त किये स्वर्गादि लोक नष्ट हो जाते हैं, इत्यादि। ऐसी व्यवस्था भी नहीं की जा सकती कि उक्त (अनित्यताप्रदर्शक) सामान्य श्रुति चातुर्मास्यादिविषयक विशेष श्रुतिके विषयकी अपेक्षा दूसरे कर्मों द्वारा प्राप्त फलोंकी अनित्यता दिखलाती है (सामान्यतः कर्मफलमात्रकी नहीं), कारण कि वह चातुर्मास्यविषयक विशेष श्रुति सुकृत—पुण्य—को ही अक्षय—नित्य—कहती है, उसके फलको नहीं। सुकृत—पुण्य—के नित्य कथनके द्वारा उसके फलको नित्य कहनेमें तात्पर्य माननेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, कारण कि इस कल्पनामें प्रमाणसे

शक्यम्, प्रमाणविरोधात्। परिच्छिन्नत्वादिहेतुभिः फलानित्यत्वानुमानात्। न च तेषामनैकान्तिकत्वम्, परमाण्वादावपि नित्यत्वासंप्रतिपत्तेः। न चाऽक्षये सुकृते सति तत्फलस्य क्षयानुपपत्तिः, अनुपभोगवदुपपत्तेः। सत्येव हि सुकृते क्वचित् फलं नोपभुज्यते, 'कदाचित् सुकृतं कर्म कूटस्थमिव तिष्ठति' इति स्मृतेः। तथा फलस्य क्षयोऽपि किं न स्यात्? नापि 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' इत्यादिश्रुत्यन्तरेषु फलनित्यत्वं सुसंपादम्। अत्राऽप्यनुमानानुगृहीतया सामान्यश्रुत्या विरोधस्य तादवस्थ्यात्। तस्मान्नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वमनित्येभ्यो ब्रह्मव्यतिरिक्तपुरुषार्थेभ्यो वैराग्यमुपपन्नम्।

न च ब्रह्मज्ञानं न पुरुषार्थः; आनन्दसाक्षात्कारत्वात्। जीवब्रह्मणोरभेदस्य प्रथमवर्णके प्रतिबिम्बदृष्टान्तेन साधितत्वात् संभवत्येव

विरोध आता है। [अनुमानरूप प्रमाणसे विरोध दिखलाते हैं—] परिच्छिन्नत्व आदि 'पूर्वोक्त' हेतुओंसे फलमात्रकी अनित्यताका अनुमान किया गया है। यह कहना भी नहीं बनता कि उन हेतुओंमें व्यभिचार आता है, कारण कि परमाणु आदिमें (न्यायमतसिद्ध) नित्यता सर्ववादिसम्मत नहीं है। सुकृत—पुण्य—के अक्षय रहते उसके फलका क्षय होना उपपत्तिशून्य भी नहीं है, कारण कि अनुपभोगके समान क्षय हो सकता है। [जैसे पुण्य रहते भी उसका उपभोग नहीं होता अर्थात् उपभोगका विनाश हो जाता है, वैसे ही सुकृत रहते भी उसके फलका विनाश होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं आ सकती। [सुकृत रहते भी उपभोगके विनाशका शास्त्र द्वारा समर्थन करते हैं]—स्मृति कहती है कि कर्म कूटस्थ—विकारशून्य नित्य—की भाँति (उदासीन) स्थित रहता है—अर्थात् उपभोगात्मक विकारको प्राप्त नहीं होता ऐसे (उपभोगाभावके तुल्य) फलका विनाश भी क्यों न हो जाय? 'हिरण्य—सुवर्ण—देनेवाले अमर (विनाशरहित फलको प्राप्त) हो जाते हैं' इत्यर्थक दूसरी श्रुतियोंमें फलके नित्यत्वका समर्थन करना भी सरल नहीं है, कारण कि इन श्रुतियोंमें भी अनुमान द्वारा अनुगृहीत सामान्यश्रुतिसे विरोध, ज्यों-का-त्यों बना है, इसलिए नित्याऽनित्य-वस्तु-विवेकपूर्वक ब्रह्मसे अतिरिक्त अनित्यभूत पुरुषार्थोंसे विरक्ति होना युक्तियुक्त है।

ब्रह्मज्ञानमें पुरुषार्थत्वका अभाव भी नहीं मान सकते, कारण कि ब्रह्मज्ञान आनन्दका साक्षात्काररूप है। प्रथम वर्णकमें जीव और ब्रह्मके अभेदका प्रतिबिम्ब-दृष्टान्तसे समर्थन कर चुके हैं, अतः उसका साक्षात्कार होना सम्भव ही

तत्साक्षात्कारः। न च नित्ये जीवस्वरूपभूते ब्रह्मानन्दे विवदितव्यम्, जीवे परप्रेमास्पदत्वस्य कदाचिदप्यनपायात्। सुखसाधनानां तदभिव्यक्तिमात्रोपक्षयात्। अन्यथा साधनानां सुखं प्रति जनकत्वमभिव्यञ्जकत्वं चेति गौरवात्। एवं च सकलविषयसुखानां ब्रह्मानन्दलेशतया परमानन्दरूपे ब्रह्मणि दुःखसागरात् संसारे उद्विग्नाः प्रवर्त्तन्ते। तदेवमुक्तशङ्कानिराकरणेनाऽथशब्दार्थनिर्वाहायाऽतःशब्द इत्यनवद्यम्।

ब्रह्मजिज्ञासेति पदेन 'ब्रह्मणो जिज्ञासा' इति षष्ठीसमासोऽवगन्तव्यो न तु धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासेतिवच्चतुर्थीसमासः। तत्र ह्यन्तर्णीतविचारार्थप्राधान्यमाश्रित्य प्रयोजनविवक्षया धर्मायेति चतुर्थीसमास आश्रितः। नहि विचारस्य यत्प्रयोजनं तदेव कर्म, येन धर्मस्येति कर्मणि षष्ठी

है। [इससे पुरुषान्तरके सुखका साक्षात्कार पुरुषान्तर द्वारा न हो सकनेकी आशङ्काका खण्डन हो गया] और नित्य जीव-स्वरूपभूत ब्रह्मानन्दमें विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि जीवका परम प्रेमास्पदत्व कभी भी विनष्ट नहीं होता। सुखके उपायभूत ऐहिक या पारलौकिक विषय तो सुखकी अभिव्यक्तिमात्र करा देनेमें उपरत होते हैं। [अर्थात् साधनोंकी नित्यता या अनित्यता सुखकी नित्यता या अनित्यतासे सम्बन्ध नहीं रखती, उनका तो सुखकी अभिव्यक्तिमात्रसे उपक्षय होता है।] यदि सुखाभिव्यक्तिके अनन्तर साधनभूत विषय बने रहें, तो साधनोंका सुखके प्रति जनकत्व और अभिव्यञ्जकत्व दोनोंका प्रसङ्गरूप गौरव होगा। इस निर्णयके अनुसार सम्पूर्ण विषयसुख ब्रह्मानन्दके ही लेश हैं, अतः संसारमें दुःखरूपी समुद्रसे घबड़ाये हुए पुरुष परमानन्दरूप ब्रह्ममें प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार उक्त शङ्काका निराकरण करनेसे अथशब्दसे प्राप्त (साधनचतुष्टयकी विचारहेतुतारूप) अर्थका निर्वाह करनेके लिए अतःशब्द दिया गया है। इससे कोई दोष नहीं आता।

अब ब्रह्मजिज्ञासा इस समस्त पदका व्याख्यान करते हैं—'ब्रह्मजिज्ञासा' पदमें ब्रह्मकी जिज्ञासा, ऐसा षष्ठीसमास करना चाहिए। धर्मके लिए जिज्ञासा इस प्रकार धर्मजिज्ञासापदमें जैसा चतुर्थी समास है, वैसा यहां नहीं है। धर्मजिज्ञासापदमें तो अन्तर्भूत विचाररूप अर्थका प्राधान्य लेकर प्रयोजनकी विवक्षासे धर्मके लिए ऐसा चतुर्थी समासका आश्रयण किया गया है, कारण कि जो विचारका प्रयोजन है, वही कर्म नहीं हो सकता, जिससे 'धर्मका'

प्राप्नुयात् । अत्र तु शब्दोपात्तं ज्ञानेच्छाप्राधान्यमाश्रीयते, इच्छायाश्च यदेव कर्म तदेव प्रयोजनम्, तेन कर्मणि षष्ठी तादर्थ्ये चतुर्थी च प्राप्ता। तत्र स्वरूपसिद्धहेतुतया प्राधान्यात् कर्मणि षष्ठीमेवाऽऽश्रित्य समासो दर्शितः ।

अत्र वृत्तिकाराः—ब्रह्मशब्देन जातिजीवकमलासनशब्दराशीनामभिधेयतामाशङ्क्येत्थं निराकुर्वन्ति । न खलु जात्यादीनामत्र कर्त्तव्यतया कर्तृतया वाऽन्वयः संभवति । न तावद् ब्राह्मणजातेः कर्मत्वम्, प्रत्यक्षसिद्धतया जिज्ञास्यत्वायोगात् । नाऽपि कर्तृत्वम्, जिज्ञासायास्त्रैवर्णिकाधिकारत्वात् । नाऽपि जीवो जिज्ञास्यः, अहंप्रत्ययसिद्धत्वात् । यद्यपि तस्य कर्तृत्वमस्ति तथापि तदुपादानं व्यर्थम्, अन्यस्य कर्तृत्वप्रसङ्गाभावात् । न च शब्दराशेर्वेदस्याऽचेतनस्य कर्तृत्वं संभवति, नाऽपि तस्य कर्मत्वम्, धर्मजिज्ञासौत्पत्तिकसूत्राभ्यां तस्याऽर्थवत्त्वप्रमाणत्वयोर्निरूपितत्वात् । हिरण्य-

---

इस प्रकार कर्ममें षष्ठी प्राप्त हो सके । और धर्मजिज्ञासापदमें तो शब्दसे कही गई ज्ञानकी इच्छाके प्राधान्यका आश्रयण किया जाता है । और इच्छाका जो कर्म है, वही विचारका प्रयोजन भी है, इसलिए कर्म होनेसे कर्ममें षष्ठी और प्रयोजन होनेसे तादर्थ्यमें चतुर्थी प्राप्त हुई । उनमें स्वरूपसिद्धिका कारण होनेसे प्राधनतया कर्ममें षष्ठीका ही आश्रयण करके समास दिखाया गया है ।

इस सूत्रमें ब्रह्मपदसे ब्राह्मणजाति, जीव, कमलासन, चतुर्मुख, ब्रह्मा, या शब्दराशिस्वरूप वेदके बोधकी आशङ्का करके वृत्तिकारने समाधान किया है कि इस शास्त्रमें जाति आदिका कर्तव्य कर्म या कर्तृरूपसे अन्वय होना सम्भव नहीं है, कारण कि ब्राह्मणजातिका कर्म होना सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है; इसलिए जिज्ञास्य (कर्म) नहीं हो सकती और न ब्राह्मणजातिका कर्ता होना ही सम्भव है, क्योंकि जिज्ञासामें तीनों वर्णोंका अधिकार है । जीव भी जिज्ञासाका कर्म नहीं है, क्योंकि जीव भी अहंप्रतीतिसे सिद्ध ही है । यद्यपि जीवमें कर्तृत्वका सम्भव है, तथापि उसका उपादान व्यर्थ है, कारण कि दूसरेके कर्तृत्वका प्रसङ्ग नहीं है । और शब्दसमूहात्मक वेद अचेतन होनेसे, कर्ता नहीं हो सकता है और उसके (वेदके) कर्मत्वका भी सम्भव नहीं है, कारण कि धर्मजिज्ञासा और औत्पत्तिक सूत्रोंसे वेदके अर्थवत्त्व और प्रमाणत्व-

गर्भस्याऽपि न जिज्ञास्यत्वं तत्पदादपि विरक्तस्य जिज्ञासोपदेशात्। न च तस्य कर्तृत्वम् , ज्ञानवैराग्ययोः सहसिद्धत्वादिति । सोऽयं वृत्तिकारप्रयासो व्यर्थः, 'जन्माद्यस्य यतः' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य ब्रह्मणो जात्यादिशङ्काया अनुदयात् ।

नन्वेवमपि ब्रह्मण इति नेयं कर्मणि षष्ठी भवितुमर्हति, तथात्वे ब्रह्मस्वरूपमात्रस्य विचार्यत्वेन प्रतिज्ञासिद्धावप्यन्यस्य तदसिद्धेः । यदा तु सम्बन्धसामान्ये षष्ठी परिगृह्यते तदा ब्रह्मसंबन्धिनां स्वरूपप्रमाणयुक्तिसाधनफलानां सर्वेषां विचारप्रतिज्ञा सिध्यति ।

अथ मतम्—कर्मणि षष्ठ्यां सत्यां जिज्ञासापेक्षितं जिज्ञास्यं निर्दिष्टं भवति नाऽन्यथा, न च तदन्तरेण जिज्ञासा सुनिरूपेति, तन्न; संबन्धसामान्य-

---

का निरूपण किया गया है । हिरण्यगर्भ भी जिज्ञास्य नहीं हो सकता, हिरण्यगर्भपदसे भी विरक्त हुए ब्रह्माके लिए जिज्ञासाका उपदेश है [अर्थात् हिरण्यगर्भको भी ब्रह्मविचार करनेका अधिकार है। ऐसी अवस्थामें वह स्वयं कैसे जिज्ञासाका कर्म होगा ?] उसका कर्ता होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान और वैराग्य उसको हिरण्यगर्भपदप्राप्तिके साथ-साथ ही प्राप्त हो जाते हैं । [इसलिए 'ब्राह्मणजाति आदि ब्रह्मपदसे नहीं लिये जा सकते' इस वृत्तिकारके मतका खण्डन करते हैं—] इस प्रकारका वृत्तिकारका प्रयास व्यर्थ ही है, कारण कि 'जन्माद्यस्य यतः'—(जिससे इस प्रपञ्चजातका प्रादुर्भाव हुआ है) इस प्रकार वक्ष्यमाण लक्षणवाले ब्रह्मके जात्यादि होनेकी शङ्काका उदय ही नहीं हो सकता ।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी नहीं हो सकती, कारण कि कर्ममें षष्ठी माननेसे ब्रह्मस्वरूपमात्रके विचारविषय होनेकी प्रतिज्ञा तो सिद्ध हो भी सकती है, परन्तु दूसरेके विचारविषय होनेकी प्रतिज्ञाकी सिद्धि नहीं हो सकती। और जब कि सम्बन्धसामान्यमें षष्ठी मानते हैं, तब ब्रह्मके सम्बन्धी—स्वरूप, प्रमाण, युक्ति (कर्म), साधन (उपाय), फल (परमानन्द) सबके ही विचार करनेकी प्रतिज्ञा सिद्ध होती है ।

यदि कहो कि कर्ममें षष्ठी माननेमें जिज्ञासासे अपेक्षित जिज्ञास्यका (कर्मका) निर्देश हो जाता है । अन्यथा (सम्बन्धसामान्यमें षष्ठी माननेसे) नहीं होता। कारण कि कर्मका निर्देश किये बिना जिज्ञासाका निरूपण नहीं किया जा सकता ।

षष्ठीपक्षेऽपि ब्रह्मणः कर्मत्वलाभात् । नहि सामान्यं विशेषपर्यवसानमन्तरेण व्यवहारमालम्बते । तत्र कोऽसौ विशेष इति वीक्षायां सकर्मिकायां जिज्ञासाक्रियायां कर्मकारकस्याऽभ्यर्हिततया कर्मत्वं पर्यवस्यति । तस्मात्सर्वसंग्रहाय संबन्धसामान्ये षष्ठी ग्राह्या न कर्मणीति चेद्, नाऽयं दोषः; कर्मणि षष्ठ्या प्रधाने जिज्ञासाकर्मभूते ब्रह्मणि निर्दिष्टे तदपेक्षितानां प्रमाणादीनामर्थसिद्धतया पृथगवक्तव्यत्वात् । नहि राजा गच्छतीत्युक्ते तदपेक्षितपरिवारस्य गमनं पृथग्वक्तव्यं भवति । एवं चाऽस्मत्पक्षे मुखतः प्रधानविचारः प्रतिज्ञायतेऽर्थतोऽन्यः । त्वत्पक्षे तु वैपरीत्येन । ततोऽ-

तो यह भी उचित नहीं है, सम्बन्धसामान्यपक्षमें भी ब्रह्ममें (ब्रह्मस्वरूपमें) कर्मत्व हो सकता है, कारण कि विशेषमें तात्पर्यबोधन किये बिना सामान्यसे व्यवहार ही नहीं हो सकता। उसमें वह विशेष कौन है ? यह विचार करनेपर सकर्मक जिज्ञासाक्रियामें कर्मकारकके अभ्यर्हित होनेसे कर्मत्वमें तात्पर्य माना जाता है । [ब्रह्मणः इस पदमें सम्बन्धसामान्यार्थक षष्ठी माननेमें भी सकर्मक जिज्ञासापदको कर्मकी अपेक्षा होनेके कारण सम्बन्धसामान्यार्थक षष्ठीमें भी व्यवहार प्राप्त करनेके लिए सर्वप्रथम कर्मकारकरूप सम्बन्ध ही उपस्थित होगा । अभियुक्तोंका वचन है 'निर्विशेषं न सामान्यम्' ।] इसलिए सबका ही संग्रह करनेके लिए सम्बन्धमें षष्ठी माननी चाहिए, कर्ममें नहीं ।

समाधान—यह दोष (अन्यका असंग्रहरूप) नहीं आता, कर्ममें षष्ठी माननेसे जिज्ञासाके कर्मभूत प्रधान ब्रह्मका निर्देश हो जानेसे उससे अपेक्षित प्रमाणादिका निर्देश भी अर्थात् हो जायगा, अतः पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं है । 'राजा जाता है' कहनेसे उसके अपेक्षित अङ्गरक्षक आदि परिवारका गमन पृथक् नहीं कहा जाता । इस प्रकार हमारे मतमें साक्षात् शब्द द्वारा प्रधानभूत ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा की जाती है । और प्रमाणादि अन्यकी प्रतिज्ञा अर्थात् हो जाती है । तुम्हारे पक्षमें तो इसके विपरीत प्रकारसे होती है 'अर्थात् शब्द द्वारा सम्बन्धसामान्यका बोध करानेसे प्रमाणादि विचारकी प्रतिज्ञा शब्दतः सिद्ध हुई और [निर्विशेषं न सामान्यम्' न्याय द्वारा और सकर्मक धातु द्वारा अपेक्षित होनेसे कर्मभूतब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा अर्थात् सिद्ध होती है' इससे हमारा पक्ष ही उत्तम है । 'प्रधानका ही शब्दतः परामर्श करना उचित है ।] और भी हेतु है (कर्ममें ही षष्ठी

समत्पक्ष एव श्रेयान्। किं च साधिकारस्य विचारविधेः प्रतिपादके 'तद्विजिज्ञासस्व' इति श्रुतिवाक्ये ब्रह्मणः कर्मकारकत्वनिर्देशात् सूत्रस्य च तदेकार्थतया सूत्रेऽपि ब्रह्मणः कर्मत्वमेव ग्राह्यम्, जिज्ञासापदेन ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेत्यवयवार्थ उपादेयः। तथा चेच्छायाः फलविषयत्वान्निश्चलापरोक्षावगतिफलपर्यन्तता सूत्रिता भवति। न च वाच्यं ब्रह्मण्यवगतेऽनवगते वा न ज्ञानेच्छा प्रसज्यत इति, परोक्षत्वेनाऽप्रतिष्ठितापरोक्षत्वेन वाऽवगते निश्चलापरोक्षावगतये तदिच्छोपपत्तेः।

ननु ज्ञानं नाम प्रमाणफलं संवेदनमिति सुगतप्राभाकरवैशेषिकनैयायिकाः। संविज्जनकप्रमातृव्यापार इति वार्त्तिककारीयाः। आत्मचैतन्यमेवेति क्षपणकलौकायतिकाः। ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या बुद्धिवृत्तिर्ज्ञानम्,

---

माननी चाहिए) कि अधिकारविशिष्ट विचारविधिके प्रतिपादक 'उसके विज्ञानकी इच्छा करनी चाहिए' इत्याद्यर्थक श्रुतिवाक्यमें ब्रह्मका कर्मकारकरूपसे निर्देश किया गया है, इसलिए 'ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रका भी उक्त श्रुतिवाक्यके ही समान अर्थ होनेसे ब्रह्मको कर्मकारक ही मानना उचित है। और जिज्ञासापदसे 'जाननेकी इच्छा' ऐसा यौगिक अर्थ लेना चाहिए। इस प्रकार इच्छाके फलविषयिणी होनेसे स्थिर साक्षात्काररूप फलपर्यन्त इच्छाका सूत्रमें उपन्यास हो जाता है। ऐसी शङ्का करना भी ठीक नहीं है कि ब्रह्मके ज्ञात होनेपर या न होनेपर भी ब्रह्मज्ञानकी इच्छाका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। (ज्ञात होनेपर इच्छा करना व्यर्थ होता है और अज्ञातकी इच्छा हो नहीं सकती) कारण कि 'ब्रह्म है' ऐसा शब्द द्वारा परोक्षज्ञान अथवा अस्थिर प्रत्यक्ष ज्ञान होनेपर भी स्थिर प्रत्यक्ष ज्ञान (साक्षात्कार) होनेके लिए ब्रह्मज्ञानकी उपपत्ति हो सकती है।

शङ्का—सुगत—बौद्धोंके एकदेशी—, प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक, वैशेषिक—कणादमत माननेवाले--तथा गौतमानुयायी नैयायिक प्रमाणके—इन्द्रियादिके फलभूत संवेदनको—ज्ञान कहते हैं। और वार्तिककारका मत है कि संवित्—ज्ञान—जनक प्रमाताका व्यापार ज्ञान कहलाता है। आत्मचैतन्य ही ज्ञान है ऐसा क्षणिक—विज्ञानवादी बौद्ध और चार्वाक आदि कहते हैं। 'जिसके द्वारा जाना जाय' इस करणव्युत्पत्तिसे ज्ञानपद बुद्धिकी वृत्तिको कहता है तथा

भावव्युत्पत्त्या तु संवेदनमेवेति सांख्यवेदान्तिनः। तत्र कीदृशं ज्ञानमिष्यत इति चेद्, उच्यते—

न तावत्सुगतादिचतुष्टयस्य लोकायतस्य च पक्ष उपपन्नः, तैर्जन्यस्याऽपि फलभूतसंवेदनस्य कर्तृव्यापारपूर्वकत्वानभ्युपगमात्; विमतं कर्तृव्यापारपूर्वकम्, फलत्वाद्, ग्रामप्राप्तिवदित्यनुमानविरोधात्। एतेन क्षपणकपक्षोऽप्यपास्तः। यद्यपि तत्पक्षे संवेदनं स्वरूपेणाऽजन्यं तथापि विषयावभासित्वोपाधिना तज्जन्माभ्युपेयम्। अन्यथा सर्वदा सर्वविषयावभासप्रसङ्गात्। ननु सर्वगतस्य निरवयवस्याऽऽत्मनो न परिस्पन्दपरिणामौ व्यापारौ युक्तौ। सत्यम्, अत एव वार्तिककारीयं मतमुपेक्षणीयम्। अस्मन्मते त्वध्यासपरिनिष्पन्नान्तःकरणसम्पिण्डितस्याऽऽत्मनो ज्ञानाकारपरिणामो

जाना जाना' इस भावव्युत्पत्तिसे तो संवेदन ही ज्ञान है, ऐसा सांख्य तथा वेदान्तका मत है, इनमें से कैसा ज्ञान इष्ट है ?

समाधान—उक्त विप्रतिपत्तियोंमें प्रथम सुगत आदि चारोंका तथा लौकायतिकका—नास्तिकका—मत युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि उन वादियोंने उत्पन्न होनेवाले फलभूत (जन्य) ज्ञानको भी कर्तृव्यापार-पूर्वक नहीं माना है; इससे 'विमत याने जन्य कर्ताके व्यापारपूर्वक होता है, फलस्वरूप होनेसे, ग्रामकी प्राप्तिके तुल्य' इस अनुमानसे विरोध होगा । [जैसे किसी गांवमें पहुँचनेके पूर्व जानेवालेका व्यापार अवश्य रहता है, वैसे जन्य घट, पट आदिके ज्ञानमें भी प्रमाताका व्यापार ज्ञान होनेसे पूर्वतक अवश्य रहता है]। इस अनुमानविरोधसे विज्ञानवादीके मतका भी खण्डन हो गया। यद्यपि उसके मतमें ज्ञान स्वरूपतः जन्य नहीं है, तथापि विषयावभासकत्वरूप उपाधिसे तो उसका जन्म मानना ही होगा, [घट, पट आदि विषयका बोध कराना तो उसका जन्मरूप ही है, उस घट, पट आदि आकारवाले जन्य ज्ञानमें विरोध स्पष्ट ही है]। यदि इसको भी जन्य न मानें, तो सदा ही सम्पूर्ण विषयोंके ज्ञानका प्रसङ्ग आ जायगा।

शङ्का—सर्वत्र व्याप्त और अवयवशून्य आत्मामें परिस्पन्द (क्रिया) और परिणाम होना युक्तिविरुद्ध है।

समाधान—ठीक है, इसी कारण तो वार्तिककारका मत उपेक्षणीय है। हमारे मतमें तो अध्यास द्वारा सिद्ध हुए अन्तःकरणके

युज्यते। न च तादृगात्मनः संवेदनाकारेणैव परिणामोऽस्त्विति वाच्यम्, संवेदनस्य स्वरूपतो नित्यसिद्धत्वात्। न चैवं संवेदनस्याऽजन्यस्य फलत्वासंभवः, विषयोपाधिकस्य तस्य जन्माङ्गीकारात्। यद्यप्यन्तःकरणपरिणामाः सर्वेऽपि साक्षिवेद्यत्वादपरोक्षास्तथापि विषयेण सहाऽपरोक्षहेतुरन्तःकरणपरिणामोऽपरोक्षज्ञानमितरत्परोक्षमिति तद्विवेकः। तत्रैतादृशमन्तःकरणपरिणामरूपमपरोक्षज्ञानं सूत्रेऽस्मिन्निष्यमाणतया निर्दिष्टम्।

नन्वेतत्प्रथमसूत्रं यदि शास्त्रेऽन्तर्भूतं तदानीमस्य स्वेनैवाऽऽरम्भसिद्धावात्माश्रयतापत्तिः। अन्येन चेदनवस्था। अथाऽनन्तर्भूतं तह्यस्याऽनारम्भप्रसङ्ग इति चेद्, नैष दोषः; स्वाध्यायाध्ययनादापातप्रतिपन्नः श्रवणविधिरेव स्वापेक्षितानुबन्धत्रयविचाराय प्रथमसूत्रमारम्भयति। तथा च वक्ष्य-

---

सम्पर्कको पाकर आत्माका ज्ञानरूपसे परिणाम होना युक्ति-सङ्गत है। यदि कहो कि वैसे ही अन्तःकरणके सम्पर्कको प्राप्त हुए आत्माका संवेदनके रूपमें ही परिणाम मान लिया जाय, तो ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि संवेदन स्वरूपतः नित्यसिद्ध है। यदि कहो कि उत्पन्न न होनेवाला 'स्वतः सिद्ध' संवेदन फल नहीं हो सकता है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि विषयरूप उपाधिसे युक्त संवेदनका जन्म माना गया है। यद्यपि सम्पूर्ण अन्तःकरणके परिणाम साक्षिवेद्य होनेसे प्रत्यक्ष ही हैं; तथापि विषयके साथ साक्षात्कारका कारणभूत अन्तःकरणपरिणाम ही प्रत्यक्ष कहलाता है और उससे भिन्न परोक्ष कहलाते हैं, इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्षका विवेकग्रह होता है। इनमें उक्त प्रकारका (ब्रह्मरूप विषयके साथ साक्षात्कारका जनक) अन्तःकरणपरिणामरूप अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात्कारात्मक अनुभव) इस सूत्रमें अभीष्ट माना गया है।

शङ्का—यदि यह प्रथम सूत्र शास्त्रके अन्तर्गत माना जाय, तो उसका अपने ही द्वारा आरम्भ माननेमें आत्माश्रय दोषकी आपत्ति होती है। और यदि दूसरेसे आरम्भ मानें, तो अनवस्था होती है। यदि शास्त्रके अन्तर्गत न माना जाय, तो इस सूत्रका आरम्भ करनेका प्रसङ्ग ही नहीं आ सकता है।

समाधान—यह दोष नहीं आता, कारण कि स्वाध्यायके अध्ययनसे आपततः ज्ञात हुई श्रवणविधि ही अपने लिए अपेक्षित (विषय, सम्बन्ध,

माणकृत्स्नशास्त्रप्रयोजकविधिनैव प्रयोज्यत्वादस्य शास्त्रान्तर्भावः। अपौरुषेयविधिप्रयुक्तत्वान्नाऽनवस्था। श्रवणविधिर्यदि स्वनिर्णयाय प्रथमसूत्रमेवारम्भयेत् तर्ह्युत्तरसूत्रसन्दर्भस्याऽऽरम्भकं किं स्यादिति न शङ्कनीयम्, प्रथमसूत्रनिर्णीतेन तेनैव विधिना तदारम्भोपपत्तेः। अत एव तद्विधिनिर्णयस्य सूत्रस्य शास्त्रादित्वं समन्वयाद्यध्यायसङ्गतिश्चाऽस्य सुलभा, श्रोतव्यादिवाक्यानां स्वार्थे समन्वयद्वारेण विचार्यमाणवेदान्तवाक्यानामपि ब्रह्मणि समन्वयनिमित्तत्वात्। अत्र च सूत्रेऽनुवादपरिहाराय कर्तव्यपदमध्याहृत्येष्यमाणज्ञानस्य फलभूतस्य स्वत एव सम्पाद्यतयाऽवगतस्य विधेयत्वायोगात्। तदुपायमन्तर्णीतविचारमुपलक्ष्य ब्रह्मज्ञानं प्रत्यदृष्टस्याऽपि साधनत्वाद्विधिमुपपाद्येष्टसाधनताविधिपक्षं स्वीकृत्य मुमुक्षुणा ब्रह्मानुभवाय विचारः कर्त्तव्य इति श्रौतो वाक्यार्थः

प्रयोजन या फल रूप) तीन अनुबन्धोंके विचारके लिए प्रथम सूत्रका आरम्भ कराती है, इससे आगे वर्णित सम्पूर्ण शास्त्रकी प्रयोजक श्रवणविधिसे ही इसकी प्रयुक्ति होती है, अतः यह शास्त्रके अन्तर्गत आ जाता है। और अपौरुषेय विधिसे प्रयुक्त होनेके कारण अनवस्था दोष भी नहीं आ सकता। श्रवण-विधान अपना निर्णय करानेके लिए यदि प्रथम सूत्रके प्रारम्भकी ही प्रयुक्ति करा सके, तो उत्तर सूत्रके सन्दर्भका आरम्भ करानेवाला कौन होगा ? ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कारण कि प्रथम सूत्रसे निर्णीत श्रवणविधिसे ही उसका आरम्भ हो सकेगा। अतएव उस विधिके निर्णायक सूत्रमें वेदान्तशास्त्रकी आदिता और समन्वयादि अध्यायोंकी सङ्गति भी सुलभ है; कारण कि यह सूत्र 'श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्योंके स्वार्थमें (विचारविधिमें) समन्वय-सङ्गतिके द्वारा विचारके विषय वेदान्त-वाक्योंका भी ब्रह्ममें समन्वय करनेमें निमित्त होता है। और इस प्रथम सूत्रमें अनुवाद दोषका परिहार करनेके लिए कर्तव्यपदका अध्याहार कर फल-स्वरूप अपने-आप सम्पादनयोग्यत्वरूपसे अवगत इष्यमाण ज्ञान विधेय नहीं हो सकता, उस ज्ञानके उपायभूत अन्तर्भावित विचारको उपलक्ष्य कर ब्रह्मज्ञानके प्रति अदृष्टके भी कारण होनेसे विधिका उपपादन कर इष्ट-साधनतारूप विधिपक्षको स्वीकार करते हुए मुमुक्षु अधिकारीका ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए (वेदान्तवाक्योंका) विचार करना चाहिए, इस प्रकार 'श्रोतव्यः'

कथनीयः । कथिते च तस्मिन् संबन्धविषयप्रयोजनान्यर्थादवगम्यन्त इति स्थितम् ॥

इति विवरणप्रमेयसंग्रहे प्रथमसूत्रे तृतीयवर्णकं समाप्तम् ॥

इत्यादि श्रुतिवाक्यका अर्थ करना चाहिए। इस अर्थका प्रतिपादन करनेके अनन्तर सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन अर्थात् जाने जाते हैं, ऐसा सिद्धान्त है।

इति श्री पं० ललिताप्रसाद-डबराल-विरचित विवरणोपन्यास-भाषानुवादका तृतीय वर्णक समाप्त।

अथ चतुर्थं वर्णकम्

तृतीयवर्णके सूत्रपदवाक्यार्थ ईरितः ।
अधिकार्यथशब्देन तत्र साक्षात्प्रसाधितः ॥१॥
सूत्रितं त्रितयं त्वेतत्संबन्धो विषयः फलम् ।
चतुर्थे वर्णके सर्वं तदाक्षिप्य निरूप्यते ॥२॥
प्रथमे वर्णकेऽध्यासमाश्रित्यैतत्प्रसाधितम् ।
अस्मिंस्तु वर्णके साक्षात्तदेवाक्षिप्य साध्यते ॥३॥

ननु ब्रह्मस्वरूपं यदि मानान्तरेण प्रतिपन्नं तदा नाऽस्य शास्त्रस्य

चतुर्थ वर्णक

तृतीय वर्णकमें सूत्रस्थ पदोंका तथा वाक्यका अर्थ कहा गया है। (पद तथा वाक्यार्थका अगले उत्तरार्द्ध तथा दूसरे श्लोकके पूर्वार्द्धसे संकलन करते हैं—) अथशब्द द्वारा अधिकारीकी साक्षात् सिद्धि की गई है ॥ १ ॥

विषय, फल तथा सम्बन्ध—ये तीन अनुबन्ध सम्पूर्ण सूत्रसे कहे गये हैं। [साधनचतुष्टयके आनन्तर्यको कहनेवाले अथशब्दका तात्पर्यार्थ प्रसिद्ध है कि साधनचतुष्टयसम्पन्न ही ब्रह्मविचारका अधिकारी है, और जिज्ञासामें सन्-प्रकृत्यर्थ ज्ञान ही फल है, उसका प्रधान कर्मकारक ब्रह्म विषय है, विषय और फलका सम्बन्ध 'श्रोतव्यः' इत्यादि विधिसे सिद्ध ही है—इस प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रने तीनोंको अपनेमें गूँथ लिया।]

चतुर्थवर्णककी आवश्यकता दिखलाते हैं—अब चतुर्थवर्णकमें ऊपर कहे अनुबन्धोंका आक्षेप द्वारा निरूपण किया जाता है ॥ २ ॥

प्रथम वर्णकमें निरूपण कर आनेके कारण पुनरुक्ति दोषको हटाते हैं—प्रथम वर्णकमें तो अध्यासका आश्रयण करके इनकी सिद्धि की गई है और अब—इस चौथे वर्णकमें—अनुबन्धोंकी ही स्वतन्त्ररूपसे आक्षेप द्वारा सिद्धि की जाती है ॥ ३ ॥

शङ्का—यदि अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ब्रह्मस्वरूप अवगत है तो वह इस

विषयो भवितुमर्हति, अनधिगतार्थत्वाभावात् । नापि तदवगमोऽस्य प्रयोजनम्, एतच्छास्त्रात्प्रागेव सिद्धत्वात् । अथाऽप्रतिपन्नं तदाऽत्यन्तमबुद्ध्यारूढेनाऽर्थेन कथमिदं शास्त्रं संबध्येत । यद्यपि प्रत्यक्षादिकमत्यन्तादृष्टचरेणाऽप्यर्थेन संबध्यमानं दृष्टं तथापि विचारात्मकस्य शास्त्रस्य न तत्संभवति । सर्वत्राऽऽपाततः प्रतिपन्नस्यैव विचारसंबन्धदर्शनादिति चेद्, एवं तर्हि ब्रह्मणोऽप्यध्ययनादापातप्रतिपन्नस्याऽनिर्णीतस्य विषयस्य विचारशास्त्रसंबन्धे सति तदवगमः फलमिति न कोऽपि दोषः ।

ननु विषयप्रयोजनसंबन्धा नाऽत्र प्रतिपादनीया वक्ष्यमाणसमन्वयाध्यायादिभिरेव तत्सिद्धेः । न च तदप्रतिपादने श्रोतृणामप्रवृत्तिः, शास्त्रप्रणेतृगौरवादेव विषयादिसद्भावनिश्चयेन प्रवृत्तिसंभवात् । मैवम्, सामान्यतो

शास्त्रका विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि वह अज्ञानविषय नहीं है, अज्ञात—अपूर्व—ही विषय हो सकता है। और उसका परिज्ञान भी इस शास्त्रका प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि उसका तो इस शास्त्रके पहले ही ज्ञान हो चुका है। यदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, तो कभी भी बुद्धिमें न आये हुए अर्थसे इस शास्त्रका सम्बन्ध कैसे होगा? यद्यपि प्रत्यक्ष आदि ज्ञान पहले कभी भी बुद्धिमें न आये हुए अर्थसे भी सम्बन्ध करते देखे गये हैं, तथापि विचारस्वरूप शास्त्रमें तो ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। अन्य स्थलोंमें सर्वत्र आपाततः (किसी न किसी प्रकार) ज्ञात (बुद्धिमें आरूढ़) पदार्थका ही विचार—निर्णय—से सम्बन्ध होते देखा गया है।

समाधान—ऐसा मानो, तो अध्ययन द्वारा आपाततः (शाब्दिक) ज्ञात अनिर्णीत ब्रह्मरूप विषयका भी विचारशास्त्रसे सम्बन्धका सम्भव होनेपर उस (ब्रह्मका) ज्ञान—साक्षात्कार—फल हो सकता है, इसमें कोई दोष नहीं आता।

शङ्का—विषय, प्रयोजन और सम्बन्धका इस सूत्रमें प्रतिपादन नहीं करना चाहिए, कारण कि समन्वयादि अध्यायों द्वारा ही इनका प्रतिपादन सिद्ध हो जाता है। इन तीनोंका प्रतिपादन किये बिना श्रोताओंकी प्रवृत्तिका अभाव भी नहीं कह सकते, कारण कि शास्त्रको बनानेवालेके गौरवसे (आदरसे) ही विषयादिका निश्चय कर प्रवृत्ति हो सकती है।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि सामान्यतः विषयादिके सद्भावका

विषयादिसत्त्वनिश्चयेऽपि स्वाभिप्रेतप्रयोजनविशेषानवगमे प्रवृत्त्ययोगात्।

ननु तर्हि प्रवृत्त्यङ्गतया प्रयोजनविशेष एव वक्तव्यो न विषयसंबन्धौ। अथ विषयोऽपि प्रयोजनसाधनतया प्रवृत्त्यङ्गं तथापि प्रयोजनावगमादेव सोऽवगम्यते, तत्संबन्धिन एव विषयत्वनियमात्। लोके द्वैधीभावाख्यप्रयोजनसमवायिन एव काष्ठस्य च्छिदिक्रियाविषयत्वात्। विषयविषयिप्रतीतौ तत्संबन्धोऽपि प्रतीयत एवेति न सोऽपि पृथग्वक्तव्य इति चेत्, मैवम्; तत्र किं प्रयोजनविषयसंबन्धानां स्वरूपतोऽत्यन्तभेदाभावात् पृथग्वक्तव्यत्वाभावः, किं वाऽन्यतराभिधानेनेतरयोरर्थसिद्धत्वाद्, उत प्रत्येकमेव स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिसमर्थतया संभूय प्रवृत्त्यङ्गत्वाभावात्? नाऽऽद्यः, पुरुषार्थरूपं प्रयोजनम्, अनन्यथासिद्धो विषयः, एतत्प्रतिपाद्यत्वं

निश्चय होनेपर भी अपने अभीष्ट प्रयोजनविशेषकी प्रतीति न होनेसे प्रवृत्तिका होना संभव नहीं है।

शङ्का—तब तो प्रवृत्तिका उपकारी होनेसे प्रयोजनविशेषका ही कथन उचित है, विषय और सम्बन्ध नहीं कहने चाहिए। यद्यपि विषय भी प्रयोजनका साधक होनेसे प्रवृत्तिमें उपकारक है, तथापि प्रयोजनके ज्ञात हो जानेसे ही विषयकी प्रतीति हो जाती है, कारण कि प्रयोजनसे सम्बद्ध ही विषय होता है, ऐसा नियम है। लोकमें द्वैधीभाव—दो टुकड़ा होना—रूप प्रयोजनका सम्बन्धी काष्ठ ही छेदन-क्रियाका विषय है। विषय और विषयी—प्रयोजन—की प्रतीति होनेसे उनका सम्बन्ध भी प्रतीत हो ही जाता है; इसलिए उसके भी पृथक् अभिधानकी आवश्यकता नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हम विकल्प करेंगे कि क्या विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध—इनमें स्वरूपतः अत्यन्त भेदका अभाव है, अतः इनको पृथक् नहीं कहना चाहिए? या इनमें एकका भी अभिधान हो जानेसे दूसरेकी अर्थात् सिद्धि हो जाती है, अथवा प्रत्येक ही स्वतन्त्ररूपसे [दूसरेकी अपेक्षा न रखकर] प्रवृत्त करानेमें समर्थ हैं, अतः मिलकर सब प्रवृत्तिके अङ्ग नहीं हैं, इसलिए [पृथक्-पृथक् सबका कहना आवश्यक नहीं हैं] प्रथम विकल्प नहीं बन सकता, कारण कि पुरुषार्थरूप तो प्रयोजन—फल—माना गया है, दूसरेसे सिद्ध (निर्णीत) न होनेवाला विषय

संबन्धः इत्येवमेषां भिन्नत्वात् । तत्र विषयत्वमन्ययोगव्यावृत्तिरूपमयोगव्यावृत्तिरूपश्च संबन्ध इति तयोर्विवेकः । न द्वितीयः, सत्यप्येकस्मिन्नितराभावदर्शनेनाऽर्थसिद्ध्ययोगात् । दृश्यते हि काकदन्तानां ग्रन्थान्तरेणाऽसिद्धतया विषयत्वे प्रतिपादयितुं शक्यतया संबन्धे च सत्यपि तद्विचारणायां प्रयोजनाभावः । तथा परिपक्वकदलीफलत्वगुत्पाटनादिषु कुठारदात्रादिना साधयितुं शक्यतया संबन्धे पुरुषैरपेक्ष्यतया प्रयोजने सत्यपि न कुठारादिव्यापारविषयत्वमस्ति, अङ्गुल्यादिभिरेव तदुत्पाटनसिद्धेः । एवं मेर्वादेरन्यैरनानीततया विषयभूतस्य सप्रयोजनस्याऽप्यस्मदादिकर्तृकानयनव्यापारेण न संबन्धं पश्यामः, अयोग्यत्वात् । तदेवं परस्परव्यभि-

---

है तथा इससे प्रतिपादित होनेवाला सम्बन्ध कहलाता है; इस प्रकार इन तीनोंमें परस्पर भेद विद्यमान है। इनमें विषय तो अन्ययोगकी व्यावृत्तिरूप है अर्थात् इस शास्त्रके विषयसे दूसरेका सम्बन्ध नहीं है और सम्बन्ध अयोगकी व्यावृत्तिरूप है अर्थात् फलसे विषयका सम्बन्ध अवश्य है, उसका अभाव नहीं, ऐसा सम्बन्ध और विषयका विवेक-भेद ग्रह है। दूसरा कल्प नहीं माना जा सकता, कारण कि एकके रहते हुए भी दूसरेका अभाव देखा जाता है, इसलिए दूसरेकी अर्थ द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती। प्रयोजनाभावमें दृष्टान्त देते हैं—कौएके दाँत किसी दूसरे ग्रन्थसे सिद्ध नहीं हैं, इसलिए (अनन्यथासिद्धरूप) विषयत्वका प्रतिपादन किया जा सकता, अतः सम्बन्ध होना भी सम्भव है, परन्तु उस काकदन्तरूप विषयका विचार करनेसे प्रयोजन कुछ नहीं निकलता। [विषयाभावका दृष्टान्त दिखलाते हैं]—एवं पकी हुई केलेकी फलियोंका छिलका उतारनेमें कुठार, हँसुआ आदि साधनोंका सम्बन्ध हो सकता है और उससे पुरुषोंका प्रयोजन भी निकलता फिर भी वे कुठार आदिके व्यापारके विषय नहीं होते; कारण कि अङ्गुली आदिसे ही छिलकेका उच्चटन हो सकता है। [सम्बन्धाभावका दृष्टान्त दिखलाते हैं—] वैसे ही दूसरोंके द्वारा लाने लायक न होनेसे विषयभूत और (सुवर्णमय होनेसे) प्रयोजनविशिष्ट भी सुमेरु पर्वतके हमारे ऐसे मनुष्यों द्वारा किये गये व्यापारसे सम्बन्ध होते नहीं देखते हैं, कारण कि उसमें योग्यता नहीं है। इस प्रकार परस्पर व्यभिचारवाले इन तीनोंमें (एक दूसरेके

चारिषु नाऽस्त्यर्थसिद्धिशङ्काऽपि । न तृतीयः, उक्तत्रयमेलनमन्तरेण प्रवृ-त्त्यभावात् । नहि काकदन्तविचारे कदलीफलाद्युत्पाटनाय कुठारादौ मेर्वाद्यानयने वा पुरुषप्रवृत्तिरुपलभ्यते ।

स्यादेतत्, ब्रह्मस्वरूपं वेदान्तानामेव विषयो न विचारशास्त्रस्य, प्रमाणप्रमेयादिसंभावनाहेतुभूतन्यायानां तद्विषयत्वाद् ।

अत्र सिद्धान्ताभिज्ञंमन्यः परिजहार—विमतं विचारशास्त्रं वेदान्तैरभिन्नार्थम्, तदितिकर्तव्यत्वाद्, यथा दर्शपूर्णमासाभ्यामेकविषयं तदितिकर्तव्यं प्रयाजादि यथा वा बीजेन सहैककार्यजनकं तत्सहकारिभूतं जलभूम्यादि । यद्यपि विचारशास्त्रेण न्याया एव साक्षात्प्रतिपाद्यमाना उपलभ्यन्ते तथापि ब्रह्मणः परम्परया विषयत्वं भविष्यति; यथा छेत्तुर्हस्तव्यापारः साक्षात् कुठारमेव विषयीकुर्वाणोऽपि परम्परया काष्ठमपि विषयीकरोति तद्वदिति ।

रहनेसे एक दूसरेकी) अर्थात् सिद्धि होनेकी शङ्का भी नहीं हो सकती, तीसरा विकल्प भी नहीं हो सकता । तीनोंके मेलके बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती; अर्थात् तीनों मिलकर प्रवृत्तिके अङ्ग हैं, अतएव काकदन्तका विचार करनेमें अथवा केलेकी फली आदिके छीलनेके लिए कुठारादिमें या सुमेरुपर्वतके आनयनमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है ।

शङ्का—अस्तु, यह (उक्त कथन) सम्भव भी कैसे होगा; कारण कि ब्रह्मस्वरूप तो वेदान्तवाक्योंका ही विषय हो सकता है; विचारशास्त्रका नहीं, क्योंकि विचारशास्त्रके विषय तो प्रमाण, प्रमेय आदिकी सम्भावनाके कारणभूत न्याय ही हैं ।

समाधान—इस आशङ्कामें अपनेको सिद्धान्तज्ञानी समझनेवालेने समाधान किया है कि विमत विचारशास्त्र, वेदान्तवाक्योंके साथ अभिन्न अर्थके प्रतिपादक हैं, कारण कि वही (वेदान्त ही) इतिकर्तव्यता इसमें भी है, दर्शपूर्णमासयागोंके साथ समानविषयवाले उसी इतिकर्तव्यतासे विशिष्ट प्रयाजादि यागके समान या बीजके साथ एक कार्यके जनक उस बीजके सहकारी पृथ्वी, जल आदिके समान । यद्यपि विचारशास्त्रसे न्यायोंका ही साक्षात् प्रतिपादन किया हुआ देखा जाता है तथापि ब्रह्म परम्परासे विषय हो जायगा; जैसे छेदनकर्ताका हस्तव्यापार साक्षात् कुठारको ही विषय करता हुआ भी परम्परासे काठको

नाऽयं पण्डितंमन्यस्य परिहारः समीचीनः, विचारस्य वेदान्तेतिकर्तव्यत्वासिद्धेः। यथा प्रयाजादेरितिकर्त्तव्यतायामागमो मानं यथा वा जलभूम्यादेः सहकारित्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धं न तथा विचारस्येतिकर्तव्यत्वे किञ्चिन्मानस्ति। न चेतिकर्तव्यत्वशून्यस्य वेदान्तशब्दस्य ब्रह्मावगमं प्रति कथं करणतेति शङ्कनीयम्, शब्दोपलब्धेः शक्तिज्ञानसंस्कारस्य च तदितिकर्तव्यत्वात्। विचारोऽपि दोषनिराकरणेन ब्रह्मप्रमितिहेतुतया शब्दं प्रति इतिकर्त्तव्यतां भजत्विति चेद्, न; वैदिकशब्दे दोषाभावात्। न चैवं विचारवैयर्थ्यम्, पुरुषदोषनिरासहेतुत्वात्। पुरुषदोषश्च द्विविधः—शब्दशक्तितात्पर्यान्यथावधारणं प्रत्यक्षादिविरोधबुद्धिश्च। तत्र लौकिकप्रयोगेषु ग्रामेऽस्मिन्नयमेक एवाऽद्वितीयः प्रभुरित्यादिषु सजातीयमात्र-

---

भी विषय करता है; वैसे ही प्रकृतमें भी विचारशास्त्रका ब्रह्म विषय हो सकता है।

परन्तु अपनेको स्वयं पण्डितमाननेवालेका इस प्रकार समाधान उचित नहीं है; क्योंकि विचारशास्त्रमें वेदान्तरूप इतिकर्तव्यताकी सिद्धि नहीं है। जैसे प्रयाजादिको इतिकर्तव्यता माननेमें शास्त्र प्रमाण है; अथवा जैसे जल और भूमि आदिमें अन्वयव्यतिरेकसे सिद्ध 'बीजकी' सहकारिता है वैसे विचारकी इतिकर्तव्यतामें कोई प्रमाण नहीं है। इतिकर्तव्यतासे शून्य (इतिकर्तव्य न माना जानेवाला) वेदान्तवाक्य ब्रह्मज्ञानके प्रति करण कैसे हो सकता है? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कारण कि शब्दकी उपलब्धि (शब्दका श्रावण प्रत्यक्ष) और शक्तिज्ञानजनित संस्कारमें ही उसकी इतिकर्तव्यता है।

शङ्का—विचार भी दोषोंके दूर कर देनेसे ब्रह्मनिर्णयका कारण होता है इसलिए उसको शब्दके प्रति इतिकर्तव्यता प्राप्त हो जायगी।

समाधान—नहीं, वैदिक शब्दोंमें दोष नहीं होता है। [जिससे दोषनिराकरणरूप द्वार पा सके]। और विचार व्यर्थ भी नहीं हो सकता, कारण कि पुरुषदोषके निराकरणमें विचार हेतु है। पुरुषका दोष दो प्रकारका होता है—एक तो शब्दशक्तितात्पर्यका विपरीत निश्चय और दूसरा प्रत्यक्ष आदिसे विरोधज्ञान। इनमें से 'इस गांवमें यह एक ही अद्वितीय स्वामी है' इत्यादि लौकिक प्रयोगोंमें सजातीयमात्रके निवारणमें शक्तिका तात्पर्य

निवारणे शक्तितात्पर्यमवलोक्य वैदिकप्रयोगेऽपि तथैवाऽवधारयति। तदेतदन्यथाऽवधारणं समन्वयविचारेण निरसिष्यते विरोधबुद्धिश्चाऽविरोधविचारेण। एवं च प्रतिबन्धनिवारण एवोपक्षीणस्य विचारस्य कथं ब्रह्मप्रमितिहेतुता? तस्माद् न विचारशास्त्रविषयो ब्रह्मेति।

अत्रोच्यते—शब्दादेवोत्पन्नमपि ब्रह्मज्ञानं प्रतिबन्धनिवृत्तौ सत्यामेव प्रतितिष्ठति, न तु ततः पूर्वम्। तथा च प्रतिबन्धनिरासिनो विचारस्य ब्रह्मनिर्णयहेतुत्वाद् ब्रह्मविषयत्वमुपपद्यते।

अत्र केचिदाहुः—विचारावगम्यतात्पर्यस्याऽर्थप्रमितिहेतुत्वाद्विचारोऽप्यर्थप्रमितेरेव हेतुर्न प्रतिबन्धनिरासस्येति। तदसत्, किं तात्पर्यमविज्ञातमेवाऽर्थप्रमितिहेतुरुत विज्ञातम्? नाऽऽद्यः, सर्वत्र लौकिकवाक्येषु तात्पर्यावगमफलकविचारवैयर्थ्यापातात्। अनवगतेऽपि तात्पर्येऽन्यथाप्रति-

---

देखकर 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वैदिक प्रयोगमें भी वैसे ही (सजातीय द्वितीयके निवारणमें ही) शक्तितात्पर्यका निश्चय करता है। इस प्रकारका विपरीत निश्चयरूप प्रथम दोष समन्वयविचारसे दूर किया जायगा और बिरोधबुद्धिरूप 'दूसरा दोष' विरोधाभावके विचारसे दूर किया जायगा। इस परिस्थितिमें प्रतिबन्धके दूर करनेमें क्षीणशक्ति हुआ विचार ब्रह्मनिश्चयका कारण कैसे हो सकता है? इसलिए विचारशास्त्रका विषय ब्रह्म नहीं हो सकता।

इस विषयमें कहा जाता है—शब्दसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान भी प्रतिबन्धकी निवृत्ति होनेपर ही प्रतिष्ठित (स्थिर) होता है, इससे पहिले प्रतिष्ठित नहीं होता। इस दशामें ब्रह्मका निर्णायक होनेसे प्रतिबन्धके निवारणमें समर्थ विचारशास्त्रका ब्रह्म विषय हो सकता है।

इसपर कोई कहते हैं कि विचार करनेसे प्रतीत होनेवाला तात्पर्य अर्थनिर्णयका कारण है, इसलिए विचार भी अर्थनिश्चयका ही कारण होता है; प्रतिबन्धके दूर करनेका कारण नहीं होता है। उनका यह कथन उचित नहीं है, कारण कि क्या अज्ञात ही तात्पर्य अर्थनिश्चयका कारण है? अथवा ज्ञात? प्रथम कल्पयुक्त नहीं है, क्योंकि लौकिक वाक्योंमें तात्पर्यके बोधके लिए किया गया विचार सर्वत्र व्यर्थ हो जायगा। कारण कि तात्पर्यके अज्ञात रहनेपर भी प्रथम कल्पके अनुसार विपरीत निश्चयका

पत्ययभावात्। द्वितीयेऽपि न तावत् तात्पर्यं पदार्थविषयम्, तस्य वाक्यार्थप्रतीतावनुपयोगात्। वाक्यार्थविषयत्वे चाऽन्योन्याश्रयत्वम्—विषयभूतवाक्यार्थस्य विशेषणस्याऽवगतौ तद्विशिष्टतात्पर्यावगतिस्तात्पर्यावगतौ च वाक्यार्थप्रमितिरिति।

अथ मन्यसे—पदेभ्यः पदार्थानवगम्याऽनन्तरं नूनमेषां संसर्गोऽस्ति, सह प्रयुज्यमानत्वात्, इत्युत्प्रेक्षया वाक्यार्थावगतौ नोक्तदोष इति। तदयुक्तम्, तत्र न तावदुत्प्रेक्षा स्मृतिः; अनवगतार्थगन्तृत्वात्। नाऽपि संशयः, कोटिद्वयाभावात्। नाऽपि विपर्ययः, बाधाभावात्। परिशेषाच्छब्दजन्यो वाक्यार्थबोधः प्रमाणमित्येवाऽभ्युपेयम्। एवं च शब्दस्य तात्पर्यावगममनपेक्ष्य प्रमापकत्वं पूर्वोक्तपरस्पराश्रयत्वं वा दुर्वारम्।

ननु गवादिपदानां गोत्वादिसामान्ये व्युत्पत्तिवद्वाक्यानामपि वाक्यार्थत्वसामान्ये तात्पर्यम्, ततश्च सामान्यस्य पूर्वमेव ज्ञाततया तात्पर्य-

---

अभाव हो जायगा। दूसरे कल्पमें भी प्रथम तो तात्पर्यका विषय पदार्थ है नहीं, क्योंकि उसका वाक्यार्थप्रतीतिमें उपयोग नहीं होता है। वाक्यार्थको विषय माननेमें अन्योन्याश्रय आता है। [अन्योन्याश्रय दिखलाते हैं—] विषयभूत वाक्यार्थस्वरूप विशेषणकी प्रतीतिके अनन्तर वाक्यार्थविशिष्ट तात्पर्यकी प्रतीति होती है और तात्पर्यकी प्रतीतिके अनन्तर वाक्यार्थका निश्चय होता है।

यदि मानो कि पदोंके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान करनेके अनन्तर उन पदार्थोंका अवश्य कोई सम्बन्ध है, क्योंकि इनका साथमें प्रयोग किया गया है, इस प्रकार उत्प्रेक्षासे वाक्यार्थकी प्रतीति हो जानेके कारण उक्त (अन्योन्याश्रय) दोष नहीं आता, तो यह भी कथन युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि उत्प्रेक्षाको स्मृति तो मान नहीं सकते, क्योंकि वह (उत्प्रेक्षा) अप्रतीत अर्थकी प्रतीति कराती है। संशय भी नहीं है, क्योंकि दो विरुद्ध कोटि उसमें नहीं हैं। विपर्यय भी नहीं कह सकते, कारण कि बाध नहीं है। इस अवस्थामें परिशेषसे (अन्तमें) 'शब्दजन्य वाक्यार्थ बोध प्रमाण है' ऐसा ही मानना होगा। ऐसा माननेसे तात्पर्यप्रतीतिकी अपेक्षाके बिना ही शब्दमें प्रमाजनकत्व या पूर्वोक्त अन्योन्यश्रयत्व दोष नहीं हटाया जा सकता।

शङ्का—जैसे गो आदि पदोंकी गोत्वसामान्यमें व्युत्पत्ति—शक्ति—मानी जाती है, वैसे ही वाक्योंका भी वाक्यार्थत्वसामान्यमें तात्पर्य माना जाता है।

विशेषणत्वसंभवात् तद्विशिष्टं तात्पर्यमवगम्यते। तथा च न तात्पर्येण वाक्यार्थविशेषप्रमितौ पूर्वोक्तदोष इति चेद्, न; वाक्यार्थविशेषतात्पर्याभावप्रसङ्गात्। अथ गोत्ववाचिनो गोशब्दस्य गोव्यक्तौ पर्यवसानवत् सामान्यगोचरमेव तात्पर्यं विशेषे पर्यवस्येद्, एवमपि न तात्पर्यमर्थप्रमितिहेतुः। विमतो वाक्यार्थावगमः शब्दशक्तिमात्रनिबन्धनः, शाब्दज्ञानत्वात्, पदार्थज्ञानवत्। यदि च तात्पर्यं वाक्यार्थप्रमितिहेतुः स्यात् तदा वाक्यार्थोऽशाब्दः स्यात्, तात्पर्यमात्रात् तत्प्रमितिसिद्धेः। शब्दान्वयव्यतिरेकौ च शब्दस्य पदार्थप्रदर्शनमुखेन तात्पर्योपाध्युपयोगितयाऽप्युपपद्येयाताम्। तस्मात्

अतः पहले ही ज्ञात होनेसे सामान्य तात्पर्यका विशेषण होता है, और उससे विशिष्ट तात्पर्यकी प्रतीति हो सकती है। इस प्रक्रियासे तात्पर्य द्वारा वाक्यार्थ-विशेषका निश्चय माननेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता।

समाधान—उक्त कथन नहीं बन सकता, कारण कि वाक्यार्थविशेषमें तात्पर्यका अभाव हो जायगा। [ऐसा इष्ट नहीं कह सकते, क्योंकि वृद्धव्यवहारमें अर्थ-विशेषके बोधके तात्पर्यसे ही शब्द और वाक्यका प्रयोग किया जाता है।] यदि कहो कि जैसे गोत्वसामान्यका वाची गोशब्द गोव्यक्तिविशेषका बोध करानेमें पर्यवसित होता है, वैसे ही सामान्यविषयक तात्पर्य भी विशेष अर्थमें पर्यवसित हो जायगा; तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर भी तात्पर्य अर्थ-निश्चयका कारण नहीं हो सकता। [कारण कि अनुमानसे पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थनिश्चय भी शक्तिके द्वारा ही हो सकता है, इसके लिए तात्पर्यकी अपेक्षा नहीं है। उक्तार्थ साधक अनुमान दिखलाते हैं—] विमत याने विवादास्पद [वाक्यार्थ बोधको कोई शक्त्यधीन और कोई तात्पर्याधीन मानते हैं, इससे वह विमत हुआ] वाक्यार्थकी प्रतीति शब्दशक्तिमात्रके अधीन है, शाब्द (शब्दजनित) ज्ञान होनेसे, पदार्थज्ञानके सदृश। [इस अनुमानके विपरीत] यदि तात्पर्य वाक्यार्थज्ञानका कारण माना जायगा, तो वाक्यका अर्थ शाब्द (शब्दजनित) ज्ञान नहीं कहा जायगा; कारण कि तात्पर्यमात्रसे वाक्यार्थके निश्चयकी सिद्धि हो जायगी। [शाब्दबोध वही कहलाता है, जो शब्दनिष्ठशक्तिके द्वारा उपस्थित होता है] शब्दके अन्वय-व्यतिरेक तो पदार्थका बोध करा कर शब्दकी तात्पर्योपाधिमें—विशेषणभूत पदार्थमें—उपयोगिता बतलाकर भी उपपन्न

शाब्दत्वसिद्धये शब्द एवाऽर्थप्रमितिहेतुः, तात्पर्यबोधस्तु प्रतिबन्धनिरासीत्येवाऽभ्युपेयम् । एवं च तात्पर्यहेतोर्विचारस्याऽपि प्रतिबन्धनिरासित्वादुपचारेणैव ब्रह्मविषयत्वम् ।

ननूपचारेणाऽपि न ब्रह्मणो विचारविषयत्वं संभवति, आपातप्रसिद्धेरपि दुस्संपादत्वात् । न तावल्लोके प्रसिद्धम्, मानान्तरागोचरत्वात् । नाऽपि वेदे तत्प्रसिद्धिः, तत्र ब्रह्मशब्दस्याऽनवधृतार्थत्वात् । 'लोकावधृतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः' इति न्यायेनाऽव्युत्पन्नशब्दस्य वेदेऽप्यबोधकत्वात् ।

हो सकते हैं । [शब्दके अन्वय-व्यतिरेकसे शाब्द कहलानेकी भी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि केवल पदार्थकी उपस्थिति करा देनेसे वे चरितार्थ हो जायँगे] । इसलिए [पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थमें] शाब्दत्व (शाब्दबोधत्व) की सिद्धिके लिए शब्द ही अर्थनिश्चयका कारण है और तात्पर्यज्ञान तो प्रतिबन्ध दूर करनेमें ही कारण है, ऐसा ही मानना उचित है । इस प्रकार तात्पर्यका कारणभूत विचार भी प्रतिबन्धके निराकरणमें ही हेतु है, अतः उपचार द्वारा ही उसका ब्रह्म विषय होता है । [अर्थात् तात्पर्यप्रतीतिके बिना भी शक्ति या लक्षणा द्वारा शब्दसे ही अर्थनिश्चय हो जाता है, परन्तु उक्त विपरीत प्रतीति या विरोधबुद्धिरूप पुरुषदोषके द्वारा उत्पन्न हुए संशयादि प्रतिबन्धकोंकी निवृत्तिके लिए तात्पर्यज्ञान अपेक्षित होता है और तात्पर्यनिर्णयके लिए विचारेतिकर्तव्यता अपेक्षित है और यह सर्वविध ब्रह्मनिश्चय शब्द द्वारा हुए ब्रह्मनिश्चयकी प्रतिष्ठाके ही लिए है—इसलिए करणभूत शब्दका तथा विचारादि इतिकर्तव्यताका भी लक्षणाके द्वारा एक ही ब्रह्म विषय हुआ ।]

शङ्का—उपचार—लक्षणा—से भी ब्रह्म विचारका विषय नहीं हो सकता, कारण कि ब्रह्मकी आपातप्रसिद्धि—सामान्यज्ञान—का भी सम्पादन नहीं बन सकता । क्योंकि लोकमें तो ब्रह्म प्रसिद्ध है ही नहीं, क्योंकि वह शब्द प्रमाणके अतिरिक्त प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाणका विषय नहीं है । और वेदमें भी ब्रह्मकी प्रसिद्धि नहीं है, क्योंकि वेदमें आये हुए ब्रह्मशब्दके अर्थका निर्णय ही नहीं हो सका है । कारण कि 'लोकमें प्रतीतार्थक शब्द ही वेदमें भी अर्थबोध करा सकता है' इस न्यायसे अव्युत्पन्न शब्द (जिसका व्युत्पत्ति-ग्रह नहीं हुआ है, ऐसा शब्द) वेदमें भी बोधक नहीं होता ।

मैवम्, वैदिकप्रयोगान्यथानुपपत्त्या ब्रह्मशब्दार्थस्य कस्यचित्स्वर्गादिवत् कल्प्यत्वात्। प्रसिद्धपदसमभिव्याहारस्य स्वर्गब्रह्मवाक्ययोः समानत्वात्। एवमपि ब्रह्मशब्दस्याऽर्थमात्रं सिध्यति न त्वर्थविशेष इति चेद्, नः प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेण तदन्वययोग्यस्यैवाऽर्थविशेषस्य कल्प्यत्वात्। न च तस्मिन्निवक्षितेऽर्थविशेषे शब्दस्य वृत्त्यसंभवः। रूढ्या तत्रावर्त्तमानमपि शब्दमवयवार्थव्युत्पादनेन वर्तयितुं शक्यत्वात्। एतदर्थमेव

समाधान—ऐसा नहीं, वैदिक प्रयोगोंकी अन्यथा अनुपपत्तिसे ब्रह्मशब्दके किसी-न-किसी अर्थकी स्वर्गादिके तुल्य कल्पना करनी चाहिए [जैसे लोकमें स्वर्गकी प्रसिद्धि न होनेपर भी वैदिक प्रयोगके बलसे एक पदार्थविशेषरूप स्वर्गकी कल्पना की जाती है, वैसे ही ब्रह्मशब्दार्थकी भी कल्पना हो जायगी]। प्रसिद्ध पदका समभिव्याहार स्वर्ग तथा ब्रह्म दोनों वाक्योंमें समान है।

शङ्का—इस निर्णयसे भी तो केवल ब्रह्मशब्दका सामान्य ही अर्थ सिद्ध हुआ [अर्थात् ब्रह्मशब्द अर्थका वाचक है, इतना ही सिद्ध होता है] अर्थविशेषकी तो सिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रसिद्ध पदके समभिव्याहारसे उसके साथ अन्वययोग्य अर्थविशेषकी ही कल्पना करनी चाहिये। ['तद् ब्रह्म, तद् विजिज्ञासस्व' इत्यादि पदोंमें विचारविधायक 'विजिज्ञासस्व' आदि पदोंके साथ अन्वयसिद्धिके लिए लोकप्रसिद्ध जात्यादिसे भिन्न पदार्थविशेषका ही वाचक ब्रह्मपद है, ऐसा मानना होगा। इन वेदान्तवाक्योंके विचारके लिए प्रवृत्त विचारशास्त्रमें पठित भी ब्रह्मपद उसी अर्थका वाचक लिया जायगा, इसलिए ब्रह्मपदार्थके अप्रसिद्ध होनेका दोष नहीं आता।] और उस कल्पित अर्थविशेषकी विवक्षा माननेमें शब्दकी वृत्तिका असम्भव दोष भी नहीं आता। रूढिसे उस अर्थमें ब्रह्मशब्दकी वृत्ति (शक्त्यादि) न होनेपर भी अवयव-(प्रकृति-प्रत्यय) के अर्थको लेकर अर्थविशेषमें ब्रह्मशब्दकी वृत्ति हो सकती है, इसीलिए (प्रकृति-प्रत्ययके अर्थका व्युत्पादन कर शब्दकी वृत्ति दिखानेके निमित्त ही) सर्वत्र निगम[१], निरुक्त[२], तथा

(१) प्रकृतिप्रत्ययनिष्पन्न शब्दमें प्रकृतिरूप एक देशके अर्थको लेकर विशिष्ट शब्दकी अर्थान्तरमें वृत्ति होना निगम कहलाता है; जैसे देहशब्द 'दिह उपचये' धातुसे बना हुआ उपचित वस्तुभूत शरीरादिका वाचक होता है।

(२) निरुक्त नाम है—सम्पूर्ण अवयवके अर्थोंका आश्रय करके अर्थान्तरका अभिधान

सर्वत्र निगमनिरुक्तव्याकरणानां प्रवृत्तत्वात्। तथा चाऽत्र 'सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म' 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति श्रुतिसूत्रप्रयोगान्यथानुपपत्त्या बाधरहितं चिद्रूपमन्तशून्यं पुरुषार्थपर्यवसायितया जिज्ञास्यं वस्तु ब्रह्मशब्दार्थ इति कल्प्यते। ब्रह्मशब्दश्च बृह बृहि वृद्धावित्यस्माद्धातोर्निष्पन्नो महत्त्वमाचष्टे। तच्च महत्त्वं संकोचकप्रकरणोपपदयोरभावान्निरतिशयमेव संपद्यते। ततो देशतः कालतो वस्तुतश्चाऽन्तशून्यमित्युक्तं भवति। तथा बाध्यत्वजडत्वापुरुषार्थत्वादिदोषराहित्यमपि महत्त्वमेव। लोके दोषरहितेषु गुणवत्सु पुरुषेषु महापुरुषा इति व्यवहारदर्शनात्। ततो व्युत्पत्तिवशाद् यथोक्तेऽर्थे ब्रह्मशब्दो वर्त्तते। जातिजीवकमलासनादिषु यथोक्तार्थाभावेऽपि रूढिवशाद् ब्रह्मशब्दवृत्तिरुपपद्यते।

व्याकरणँ शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है। इस सिद्धान्तके अनुसार प्रकृतमें 'सत्य ज्ञान और अविनाशी रूप ब्रह्म है' 'इसलिए साधन चतुष्टयके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि अर्थवाले श्रुति तथा सूत्र प्रयोगोंकी अन्यथा अनुपपत्तिसे बाधरहित, चिद्रूप, विनाश रहित, परम पुरुषार्थ होनेसे जिज्ञासायोग्य वस्तु ब्रह्मशब्दका अर्थ है ऐसी कल्पना की जाती है। और ब्रह्म-शब्द वृद्ध्यर्थक बृह या बृहि धातुसे बना हुआ है, अतः महत्त्वका अभिधान करता है। और वह महत्त्व सङ्कोचके कारणभूत प्रकरण तथा समभिव्याहृत उपपदके न होनेसे निरतिशयरूप ही सम्पन्न होता है। इससे देश, काल तथा वस्तुसे भी परिच्छेदशून्य वह वस्तु है ऐसा निश्चित होता है। एवं बाध्यत्व, जडत्व और अपुरुषार्थत्व इत्यादि दोषोंसे मुक्त रहना भी महत्त्व ही है। लोकमें दोष रहित और गुणी पुरुषोंके लिए महापुरुष ऐसा व्यवहार देखा जाता है। इस प्रकार व्युत्पत्तिके बलसे उक्त अर्थमें ब्रह्मशब्दकी वृत्ति है। और जाति, जीव, कमलासन आदि अर्थोंमें व्युत्पत्तिलभ्य उक्त महत्त्वरूप अर्थके अभावमें भी रूढिके कारण ब्रह्मशब्दकी वृत्ति उपपन्न होती है। [अर्थात् रूढिके कारण ब्रह्मशब्द जात्यादिका वाचक है और योगबलसे महत्त्वविशिष्ट ब्रह्मका वाचक है।

करना, जैसे—सोमशब्द। इसमें सह-उमा दो अवयव हैं, जिनका अर्थ है—पार्वती और सहित। इनके द्वारा उक्त पद महादेवजीका वाचक हुआ।

(३) प्रत्ययकी विधानसामर्थ्यसे अर्थका निश्चय कराना व्याकरणका कार्य है।

ननु बृंहतिधात्वर्थानुगमनेन किं सौत्रस्य ब्रह्मशब्दस्याऽर्थो वर्ण्यते किंवा श्रौतस्य ? नाऽऽद्यः; पौरुषेयप्रयोगस्य मूलप्रमाणापेक्षस्य तदभावे निर्णयानुपयोगात्। अथ श्रुतिर्मूलप्रमाणं तथाऽप्युत्तरसूत्रे जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मेति निर्णेष्यमाणत्वादस्मिन् सूत्रे प्रयासो न कर्तव्यः। न द्वितीयः; 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'तद्विजिज्ञासस्व', 'तद् ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतौ स्वयमेवाऽर्थनिर्णयात्; नैष दोषः, प्रथमसूत्रप्रवृत्तिदशायामनिष्पन्नस्य द्वितीयसूत्रस्य तदर्थनिर्णयहेतुत्वासंभवात्। श्रुतावपि पदार्थस्याऽन्यतः प्रसिद्धिमन्तरेण वाक्यार्थप्रमित्ययोगादुभयत्राऽपि धात्वर्थानुगमेनाऽर्थस्य वर्णनीयत्वात्। धात्वर्थानुगमः संभावनामात्रबुद्धिहेतुर्न निर्णायक इति चेद्, मा भून्निर्णयः; संभावितस्याऽनिर्णीतस्यैवाऽर्थस्याऽत्र

शङ्का—क्या वृद्ध्यर्थक बृहि धातुके अर्थका अनुगम करके सूत्रमें पठित ब्रह्मशब्दके अर्थका निरूपण करते हो ? या श्रुतिमें आये हुए ब्रह्मशब्दके अर्थका ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि मूल प्रमाणकी अपेक्षा रखनेवाले पुरुषके प्रयोगका उस मूल प्रमाणके अभावमें निर्णय करना उपयोगशून्य है अर्थात् जिस पौरुषेय प्रयोगका मूल ही नहीं है, उस प्रयोगके अर्थका निर्णय करना व्यर्थ है। यदि श्रुतिको प्रमाण मानें, तो भी उत्तर सूत्रमें 'जगत्के जन्मादिका कारण ब्रह्म है' ऐसा निर्णय करना है, इसलिए इस सूत्रमें उसके निर्वचनका प्रयास नहीं करना चाहिए। द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता, कारण कि 'जिससे सकल भूत उत्पन्न होते हैं', 'उस ब्रह्मका विचार करो' 'वह ब्रह्म है', 'सत्यरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अपरिच्छिन्न ब्रह्म है' इत्याद्यर्थक श्रुतिमें स्वयं ही ब्रह्मशब्दके अर्थका निर्णय किया गया है।

समाधान—उक्त दोष नहीं आ सकता, कारण कि प्रथम सूत्रकी प्रवृत्तिके अवसरमें द्वितीय सूत्र बना ही नहीं था, इसलिए वह (द्वितीय सूत्र) प्रथम सूत्रके अर्थनिर्णयका कारण नहीं हो सकता। श्रुतिमें भी पदार्थकी दूसरे प्रमाणोंसे प्रसिद्धि हुए बिना वाक्यार्थका निश्चय नहीं हो सकता, अतः दोनोंमें (वेद तथा लोकमें) धात्वर्थका अनुगम करके ही वर्णन करना उचित है। धात्वर्थका अनुगम तो केवल सम्भावनाबुद्धिका हेतु है, निर्णयका हेतु नहीं है, ऐसी शङ्का करो, तो अच्छी बात है, निर्णय मत हो, केवल सम्भावनासे सिद्ध हुए

जिज्ञासाविषयत्वेनाऽपेक्षितत्वात् ।

अथ विवक्षितस्य ब्रह्मशब्दार्थस्य निश्चिता प्रसिद्धिरपेक्ष्येत, तर्हि साऽपि संपाद्यते । आत्मा तावद् 'अहमस्मि' इति सर्वलोकप्रत्यक्षः प्रतीयते, स एव हि ब्रह्म; 'स वा अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुतेः । ततश्च प्रतिपन्नमुद्दिश्य विचारसंभवाच्छक्यप्रतिपाद्यत्वलक्षणः संबन्धः सिध्यति । तथा चाऽत्यन्ताप्रसिद्ध्यभावाद्विषयत्वसिद्धिः । नन्वेवं तर्हि प्रत्यक्षस्याऽपि गोचरत्वेनाऽसाधारणत्वाभावाद्विषयत्वं न सिध्यतीति चेद्, अहमित्यात्मत्वसामान्याकारेण सर्वप्रत्यक्षसिद्धावपि तद्विशेषस्य विप्रतिपद्यमानस्य प्रत्यक्षसिद्ध्ययोगात् । यद्यप्यात्मनि वस्तुतो नाऽस्ति सामान्यविशेषभावस्तथापि यथा रज्जुद्रव्यस्य दण्डसर्पधारादावनुस्यूतरूपेण प्रतीयमानत्वमेव सामान्यं तथाऽऽ-

अनिर्णीत अर्थकी ही इस प्रथम सूत्रमें जिज्ञासाके विषयत्वरूपसे अपेक्षा है ।

यदि ब्रह्मशब्दके विवक्षित अर्थकी निश्चित ही प्रसिद्धि अपेक्षित हो, तो उस निश्चित प्रसिद्धिका भी सम्पादन किया जाता है । आत्मा तो 'मैं हूँ' इस प्रकार सम्पूर्ण लोगोंको प्रत्यक्षरूपसे प्रतीत है । वही ब्रह्म है, कारण कि 'वह यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसे अर्थवाली श्रुति विद्यमान है । इससे प्रतीतिसिद्ध ब्रह्मको उद्देश्य कर (विषय बनाकर) विचारका सम्भव है, इसलिए प्रतिपाद्यत्वरूप सम्बन्धका प्रतिपादन हो सकता है । इससे अत्यन्त अप्रसिद्धिके अभावसे ब्रह्मका विषय होना सिद्ध होता है ।

शङ्का—इस रीतिसे तो ब्रह्म प्रत्यक्षका भी विषय हो गया । आप कह आये हैं कि लोकसिद्ध अहं प्रतीतिसे ब्रह्म प्रत्यक्ष है, इससे अनन्यसाधारण न होनेसे ब्रह्मका विषय होना सिद्ध नहीं हो सकता । अनन्यसाधारण ही विषय हो सकता है, ऐसा नियम है ।

समाधान—यह शङ्का उचित नहीं है, कारण कि 'अहम्' (मैं) इस प्रकार आत्मसामान्यरूपसे प्रसिद्धि रहनेपर भी अनन्त (अपरिच्छिन्न), अद्वय इत्यादि विशेषरूपसे विप्रतिपत्तिग्रस्त होनेसे (इस विषयमें वादियोंका मतैक्य न होनेसे) उक्त विशेषरूपकी प्रत्यक्ष द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती, [इसलिए ब्रह्मका स्वरूपविशेष अनन्यसाधारण हो गया] । यद्यपि (सकलविशेषशून्य) आत्मामें सामान्यविशेषभाव वास्तविक नहीं है, तथापि जैसे रज्जुरूप द्रव्यका दण्ड, सर्प या (जल) धारा आदिमें अनुवर्तमानरूपसे प्रतीयमानत्व

त्मनोऽपि शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिशून्यकर्तृभोक्तृसर्वज्ञब्रह्माख्यपदार्थेषु विप्रतिपत्तिस्कन्धेष्वनुस्यूतत्वेन प्रतीयमानत्वं सामान्यं भविष्यति, प्रत्यक्षसिद्धेऽपि शरीराद्यर्थे प्रयुज्यमानस्याऽऽत्मवाचिनोऽहंशब्दस्य गोशब्दवदर्थविप्रतिपत्तिरुपपद्यते।

गोशब्दस्य हि प्रत्यक्षसिद्धव्यक्त्याकृतिक्रियागुणाद्यर्थेषु प्रयुज्यमानस्य जातिरर्थत्वेन वैदिकैः प्रतिपन्ना, व्यक्तिः सांख्यादिभिः, उभयं वैयाकरणैः, अवयवसंस्थानाख्याऽऽकृतिरार्हतादिभिः, त्रितयमपि नैयायिकैः। अथ गोशब्दस्य प्रयोगे जात्यादीनामन्वयव्यतिरेकनियमात् तदर्थत्वशङ्का, तर्ह्यहंशब्दप्रयोगेऽपि शरीरादीनामन्वयव्यतिरेकनियमादेव तदर्थत्वशङ्काऽस्तु।

तत्र विचारविरहितं प्रत्यक्षमेव प्रमाणमाश्रित्य चेतयमानो देह

ही सामान्य है। [अर्थात् दण्डादिमें इदन्त्व या पुरोवर्तित्वरूपसे सर्वत्र एक-सी प्रतीति होती है] इसी प्रकार आत्माका भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शून्य, कर्ता, भोक्ता, सर्वज्ञ, तथा ब्रह्म नामक विप्रतिपत्तिके विषय पदार्थोंमें अनुगम होनेसे प्रतीयमानत्व ही सामान्य होगा, प्रत्यक्षसिद्ध भी शरीर आदिरूप अर्थमें प्रयुज्यमान अहंशब्दमें गोशब्दकी तरह अर्थविप्रतिपत्ति हो सकती है।

[प्रत्यक्षसिद्धमें विप्रतिपत्ति नहीं होती, इसका निराकरण किया गया, अब गोशब्दार्थमें विप्रतिपत्ति दिखलाते हैं—] प्रत्यक्षसिद्ध व्यक्ति, आकृति, क्रिया, गुण आदि अर्थोंमें प्रयुज्यमान गोशब्दका मीमांसक जातिरूप अर्थ मानते हैं, एवं सांख्य आदि व्यक्तिरूप अर्थको, वैयाकरण जाति और व्यक्ति दोनोंको, आर्हत (जैन) आदि अवयवसंस्थानरूप आकृतिको और नैयायिक तीनोंको गोशब्दका अर्थ मानते हैं। [इस प्रकार प्रत्यक्षसिद्धमें भी विप्रतिपत्ति देखी जाती है।] यदि गोशब्दके प्रयोगमें जात्यादि पदार्थोंका नियमतः अन्वय-व्यतिरेक होनेसे जात्यादिमें गोशब्दार्थत्वकी आशङ्का मानी जाय, तो प्रकृत 'अहम्' शब्दके प्रयोगमें शरीरादिरूप अर्थोंका भी अन्वय-व्यतिरेकनियम होनेसे उन्हें 'अहम्' शब्दका अर्थ माननेकी आशङ्का होगी। ('अहम्' शब्दार्थकी विप्रतिपत्ति दिखलाते हैं—]

उनमें विचारशून्य प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानकर 'चेष्टा करता हुआ देह आत्मा

आत्मेति शास्त्रसंस्कारवर्जिता जनाः प्रतिपन्नाः। तथा भूतचतुष्टयमात्रतत्त्ववादिनो लौकायतिकाश्च 'मनुष्योऽहं, जानामि' इति शरीरस्याऽहंप्रत्ययालम्बनत्वेन ज्ञानाश्रयत्वेन चाऽवगम्यमानत्वात् तदेवाऽऽत्मेति मन्यन्ते।

अन्ये पुनरेवमाहुः—सत्यपि शरीरे चक्षुरादिभिर्विना रूपादिज्ञानाभावादिन्द्रियाण्येव चेतनानि। न चेन्द्रियाणां करणतया ज्ञानान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिः, करणत्वकल्पनादुपादानकल्पनस्याऽभ्यर्हितत्वात्। अतः काणोऽहं मूकोऽहमित्यहंप्रत्ययालम्बनानि चेतनानीन्द्रियाणि प्रत्येकमात्मत्वेनाऽभ्युपेयानि। शरीरे त्वहंप्रत्ययालम्बनत्वं चेतनत्वं चाऽऽत्मभूतेन्द्रियाश्रयत्वादन्यथासिद्धम्। नन्वेकस्मिन् शरीरे बहूनामिन्द्रियाणां चेतनत्वे 'य एवाऽहं पूर्वं रूपमद्राक्षं स एवेदानीं शब्दं शृणोमि' इति प्रत्यभिज्ञा

है', ऐसा शास्त्रसंस्कारहीन मनुष्य मानते हैं। एवं चार (पृथ्वी, जल, तेज और वायुको) ही तत्त्व माननेवाले लौकायतिक—नास्तिक—'मैं मनुष्य हूँ और जानता हूँ' (ज्ञानवान् हूँ) इस प्रतीतिके अनुसार 'अहम्' प्रतीतिका विषय तथा ज्ञानका आश्रय होनेसे शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानते हैं।

और दूसरोंकी इस प्रकार विप्रतिपत्ति है—शरीरके विद्यमान रहते भी चक्षुरादि इन्द्रियोंके बिना रूपादिका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए इन्द्रियाँ ही चेतनस्वरूप (आत्मा) हैं। इन्द्रियोंका ज्ञानके साथ अन्वयव्यतिरेक अन्यथासिद्ध है, क्योंकि इन्द्रियां करण हैं [चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा रूपादिज्ञानदर्शनसे इन्द्रियोंका चेतन होना नहीं माना जा सकता, कारण कि इन्द्रियाँ तो ज्ञानकी साधन हैं, आश्रय नहीं हैं, जैसे कुठार आदि छेदनके साधन हैं, आश्रय या कर्ता नहीं हैं], ऐसा मानना उचित नहीं है; कारण कि करणकारककी कल्पना करनेकी अपेक्षा उपादान—आश्रय—की कल्पना करना श्रेष्ठ है। इसलिए 'मैं काना हूँ, मैं मूक (गूंगा) हूँ' इत्यादि अहंप्रत्ययके आलम्बन—आश्रय—चेतनस्वरूप इन्द्रियोंमें प्रत्येक चक्षुरादिको आत्मा समझना चाहिए। और शरीरका अहंप्रतीतिमें विषय होना या चेतन होना, तो आत्मभूत इन्द्रियोंका आश्रय होनेसे अन्यथासिद्ध है।

शङ्का—एक ही शरीरमें अनेक इन्द्रियोंके चेतन होनेपर 'जिस मैंने पहले रूप देखा था, वहीं मैं इस समय शब्दको सुन रहा हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं

न स्यात् । तथा भोक्तृत्वं च रूपरसादिषु युगपदेव स्यान्न क्रमेणेति चेद्, मैवम्; नहि चेतनैकत्वं प्रत्यभिज्ञाक्रमभोगयोर्निमित्तम्, किन्त्वेकशरीराश्रयत्वमेव। ततो यथैकस्मिन् गेहे बहूनां पुरुषाणामेकैकस्य विवाहेऽन्येषामुपसर्जनत्वं तथा इन्द्रियात्मनामप्येकैकस्योपभोगकालेऽन्येषामुपसर्जनत्वमिति।

अन्ये तु मन्यन्ते—स्वप्ने चक्षुराद्यभावेऽपि केवले मनसि विज्ञानाश्रयत्वमहंप्रत्ययालम्बनत्वं चोपलभ्यते। न च रूपादिज्ञानानां चक्षुराद्याश्रयत्वम्, तथा सति केवले मनसि रूपादिस्मृत्यनुपपत्तेः। ततः करणान्येव चक्षुरादीनि। अहंप्रत्ययस्तु तत्र कर्तृत्वोपचारात् सिध्यति। न चाऽनेकात्मस्वेकशरीराश्रयत्वमात्रेण प्रत्यभिज्ञा युज्यते, एकप्रासादमा-

---

हो सकती। और रूप, रस आदि विषयका भोग करना भी एक साथ ही प्राप्त हो जायगा, क्रमसे न होगा।

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि चेतनका एक होना प्रत्यभिज्ञा और क्रमसे भोगका निमित्त नहीं है, किन्तु एक शरीरमें रहना ही निमित्त है। जैसे एक घरमें बहुत पुरुषोंमें से एक एकके विवाहमें दूसरोंका उपसर्जनत्व—गौणता—माना जाता है (अर्थात् जिसका विवाह रहता है उसका प्राधान्य और अन्योंकी अप्रधानता रहती है) एवं इन्द्रियरूप आत्माओंमें भी एक एकके उपभोगके समय दूसरोंकी अप्रधानता रहती है, [इसलिए प्रत्यभिज्ञाकी और क्रमिक भोगकी उपपत्ति हो जाती है]।

कुछ वादियोंका मत है कि—स्वप्नमें चक्षुरादिके अभावमें भी केवल मनमें विज्ञानका आश्रयत्व और अहंप्रत्ययका आलम्बनत्व पाया जाता है। और रूपादिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियोंके आश्रित नहीं हो सकते, कारण कि ऐसा माननेसे केवल मनमें रूपादिकी स्मृति नहीं हो सकेगी। [स्मरण और अनुभवमें सामानाधिकरण्यका नियम है], इसलिए इन्द्रियोंको करण ही मानना चाहिए। इन्द्रियोंमें अहंप्रतीति होना तो करणमें कर्तृत्वकी लक्षणा करनेसे उपपन्न होता है। भिन्न-भिन्न अनेक आत्माओंमें एक ही शरीरमें आश्रित होनेसे प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि एक मकानमें रहनेवालोंको भी समान प्रत्यभिज्ञा होनेका प्रसङ्ग

श्रितानामपि तत्प्रसङ्गात् । तस्मात् चक्षुरादि करणं शरीराद्याधारं मन एवाऽऽत्मेति ।

विज्ञानवादिनस्तु क्षणिकविज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनः सद्भावमनुभवविरुद्धं मन्वानास्तस्यैव विज्ञानस्याऽऽत्मत्वमाहुः । प्रत्यभिज्ञा तु ज्वालायामिव संततविज्ञानोदयसादृश्यादुपपद्यते । विज्ञानानां हेतुफलसंतानमात्रादेव कर्मज्ञानबन्धमोक्षादिसिद्धिः ।

माध्यमिकस्तु सुषुप्ते विज्ञानस्याऽप्यदर्शनाच्छून्यमेवाऽऽत्मतत्त्वमित्याह । यदि सुषुप्ते विज्ञानप्रवाहः स्यात्तदा विषयावभासोऽपि प्रसज्येत, निरालम्बनज्ञानायोगात् । जागरणस्वाप्नज्ञानानामेव सालम्बनत्वम् , न सौषुप्तिकज्ञानानामिति चेद्, न; विशेषाभावात् । विमतं सालम्बनम्, प्रत्ययत्वात्, संमतवत् । उत्थितस्य सौषुप्तविषयस्मृत्यभावनियमान्न तत्र

आ जायगा । इसलिए चक्षुरादि इन्द्रिय करण हैं और शरीरादिका आधार मन ही आत्मा है ।

विज्ञानवादी तो क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त वस्तुके सद्भावको अनुभवविरुद्ध मानकर उसी क्षणिक विज्ञानको आत्मा कहते हैं । प्रत्यभिज्ञा तो ज्वाला—दीपशिखादि अग्निकी लपक—में जैसे निरन्तर एकसे विज्ञानका उदय होनेके कारण सादृश्यसे उपपन्न होती है । और विज्ञानोंके हेतु तथा फल सन्तानमात्रसे ही कर्म-ज्ञान, बन्ध-मोक्ष आदिकी सिद्धि होती है ।

माध्यमिक—शून्यवादी बौद्ध—तो सुषुप्ति अवस्थामें विज्ञानके भी न रहनेसे शून्य ही आत्मतत्त्व है, ऐसा कहता है । यदि सुषुप्तिदशामें भी विज्ञानका प्रवाह माना जाय, तो विषयका ज्ञान भी उस समय होना चाहिए, कारण कि विषयके बिना ज्ञानका होना सम्भव नहीं है ।

शङ्का—जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाके ज्ञानमें सालम्बनत्वका—सविषयत्वका—नियम है, सुषुप्तिकालके ज्ञानोंमें ऐसा—सविषयत्वका—नियम नहीं है ।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें कोई विशेष नहीं है । [अर्थात् जागरादि ज्ञानमें और सौषुप्त ज्ञानमें ज्ञानसामान्यके कारण कोई विशेष नहीं है] । कारण कि विमत सौषुप्तज्ञान—आलम्बन—विषय—विशिष्ट है, ज्ञान सामान्य होनेसे, सम्मत—जागर स्वप्नके—ज्ञानके तुल्य । जागर अवस्था प्राप्त होनेपर सुषुप्तिकालके विषयका स्मरण न होनेका नियम होनेसे उस

विषय इति चेत्, तर्हि नियमेनाऽस्मर्यमाणत्वादेव तत्र ज्ञानमपि मा भूत्। न च शून्ये विवदितव्यम्, यथा सविकल्पकः स्वविषयविपरीतनिर्विकल्पकजन्यस्तथा सत्प्रत्ययोऽपि स्वविपरीतप्रत्ययजन्य इत्यभ्युपेयत्वात्। एवं चोत्थाने सति जायमानस्याऽहमस्मीति सत्प्रत्ययस्य समनन्तरपूर्वप्रत्ययलक्षणकारणरहितस्य वास्तवत्वायोगाच्छून्यमेव तत्त्वमिति।

अपरे पुनः शरीरेन्द्रियमनोविज्ञानशून्यव्यतिरिक्तं स्थायिनं संसारिणं कर्त्तारं भोक्तारमात्मानमाहुः। न च शून्येऽहंप्रत्यय उपपद्यते, वन्ध्यापुत्रादावपि तत्प्रसङ्गात्। नाऽपि क्षणिकविज्ञाने क्रमभावी व्यवहारो युज्यते, सर्वो हि लोकोऽनुकूलं वस्तु प्रथमतो जानाति, तत इच्छति, ततः प्रयतते, ततस्तत्प्राप्नोति, ततः सुखं लभते। यद्येतादृशमेककर्तृकतया

सुषुप्तिकालमें विषय नहीं रहता (केवल ज्ञानमात्र रहता है), ऐसा मानो, तो स्मरण न होनेके नियमसे ही सुषुप्तिमें ज्ञान भी न माना जाना चाहिए। और शून्यके माननेमें विवाद नहीं करना चाहिए, कारण कि जैसे सविकल्पक ज्ञान अपने (सविकल्प) विषयके विपरीत निर्विकल्पकसे उत्पन्न होता है, वैसे ही सत्को विषय करनेवाला ज्ञान भी अपनेसे विपरीत असत् (शून्य) के ज्ञानसे उत्पन्न होता है, ऐसा मानना आवश्यक है। एवं सुषुप्तिसे जाग जानेपर होनेवाली समनन्तर पूर्वप्रत्ययरूप कारणसे हीन 'मैं हूँ' इस प्रकार सत्-विषयक प्रतीतिको वास्तविकत्वका सम्भव नहीं है, अतः शून्य ही तत्त्वभूत पदार्थ है।

इससे भी दूसरे वादी शरीर, इन्द्रिय, मन, विज्ञान तथा शून्यसे भी अतिरिक्त स्थायी रहनेवाले कर्ता और भोक्ता रूप संसारीको आत्मा कहते हैं। शून्यके लिए अहंव्यवहार नहीं हो सकता, अन्यथा वन्ध्यापुत्रादिमें भी 'अहं' प्रत्यय होनेका प्रसङ्ग आ जायगा, (वन्ध्या पुत्र भी शून्यसे अविशेष है)। और क्षणिकविज्ञानवादमें भी क्रमभावी व्यवहार युक्त नहीं है, कारण कि सारा संसार प्रवृत्तिके पूर्व उपादेय वस्तुको अनुकूल जानता है, अनन्तर उसकी इच्छा करता है, तब उसके पानेके लिए प्रयत्न करता है, इसके अनन्तर उसको पाता है, तदन्तर सुखप्राप्ति होती है। यदि एक ही कर्ताका उक्त प्रकारके व्यव-

भासमानं व्यवहारमेकसंतानवर्त्तिनो बहव आत्मानः परस्परवार्त्तानभिज्ञा अपि निष्पादयन्ति, तदा भिन्नसंतानवर्तिनः किं न निष्पादयेयुः। तस्मात् 'य एवाऽहमिदं वस्त्वज्ञासिषं स एवेदानीमिच्छामि' इत्याद्यबाधितप्रत्यभिज्ञा-निर्वाहाय स्थाय्यात्माऽऽभ्युपेयः। न चाऽसौ विज्ञानरूपः, अहं विज्ञान-मित्यैकत्वानुभवाभावात्। 'ममेदं विज्ञानम्' इति हि संबन्धोऽनुभूयते। न चाऽयमनुभवो ममात्मेतिवदौपचारिकः, बाधाभावात्। एतेन शरीरेन्द्रिय-मनसामात्मत्वं प्रत्युक्तम्। तत्राऽपि संबन्धप्रत्ययस्याऽनिवार्यत्वात्, अह-मुल्लेखस्य तत्राऽध्यासिकत्वात्।

न चाऽयमात्मा सादिः, शरीरोत्पत्तिसमनन्तरमेव सुखदुःखप्राप्तिमव-लोक्य तद्धेतुभूतयोः पुण्यपापयोः कर्त्ता पूर्वमप्यस्तीत्यवगमात्। न चाऽयम-

---

हारका एक सन्तानमें होनेवाले बहुतसे आत्मा एक दूसरेके व्यवहारसे परिचित न होते हुए भी सम्पादन करते हैं, तो भिन्न सन्तान—प्रवाह—में आनेवाले आत्मा भी उक्त व्यवहारका सम्पादन क्यों न कर सकें। [अर्थात् देवदत्तादिके ज्ञान, इच्छा आदिसे यज्ञदत्तकी प्रवृत्ति तथा देवदत्तके व्यवहारका ज्ञान यज्ञ दत्तको भी होना चाहिए] इसलिए 'जिस ही मैंने इस वस्तुको जाना था वही मैं इस समय चाह रहा हूँ' इत्यादि बाधरहित प्रत्यभिज्ञाके निर्वाहके लिए स्थायी आत्मा मानना चाहिए। वह आत्मा विज्ञानस्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके विपरीत 'मैं विज्ञान हूँ' ऐसा अभेदरूपसे अनुभव नहीं होता है; किन्तु 'मेरा यह विज्ञान है' इस प्रकार भेदसम्बन्धका अनुभव होता है। उक्त (मेरा विज्ञान, ऐसे) अनुभवको 'मेरी आत्मा' इस व्यवहारके तुल्य लाक्षणिक मानना उचित नहीं है, कारण कि इसमें (मेरा विज्ञान इस व्यवहारमें) बाध नहीं देखा जाता। 'बाधके बिना लक्षणाका सम्भव नहीं है' इस सिद्धान्तसे शरीर, इन्द्रिय तथा मनको आत्मा माननेका भी खण्डन हो गया। उनमें भी भेद-सम्बन्धके ज्ञानका निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि उन (शरीरादि) में 'अहम्' व्यवहार अध्यासमूलक होता है। [मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ इत्यादि प्रतीति बाधित होनेसे वस्तुभूत नहीं है।]

और आत्माको सादि (कार्य) नहीं मान सकते, कारण कि शरीरकी उत्पत्तिके अनन्तर ही सुख तथा दुःखकी प्राप्तिको देखकर उसके कारणभूत पुण्य तथा पाप (सुखका कारण पुण्य और दुःखका पाप)

नित्यः, विनाशानिरूपणात्। न तावत् स्वतो विनाशः, निर्हेतुकविनाशस्याऽतिप्रसङ्गिनः सुगतव्यतिरिक्तैरनङ्गीकारात्। नाऽपि परतः, निरवयवस्य विनाशहेतुसंसर्गासंभवात्। संभवेऽपि वा न विनाशः सिध्येत्। कर्मनिमित्तो ह्यन्यसंसर्गः, स च तत्कर्मफलोपभोगायाऽऽत्मनोऽवस्थितिमेव साधयेद्, न विनाशम्। तस्मादनादेरविनाशिनोऽनन्तशरीरेषु यातायातरूपः संसारः सिद्धः। निर्विकारस्य भोगासंभवाद्विकारस्य क्रियाफलरूपस्याऽभ्युपगमे क्रियावेशात्मकं कर्तृत्वमनिवार्यम्। भोक्तृत्वमप्यनुभूयमानं शरीरादिषु विज्ञानपर्यन्तेष्वनुपपन्नत्वादुक्तात्मन्येव पर्यवस्यति। तथा हि—शरीरं तावत् पञ्चभूतसंघातरूपम्, 'पञ्चभूतात्मके तात ! शरीरे पञ्चतां गते' इत्यादिशास्त्रात्।

यत्तु नैयायिको मन्यते—भूलोकवासिनां शरीरं पार्थिवमेव, तत्र

का कर्त्ता इससे भी पहले है, ऐसा माना जाता है। और यह आत्मा अनित्य भी नहीं है, कारण कि विनाशका निरूपण नहीं किया जा सकता; क्योंकि आत्माका स्वतः विनाश तो होता नहीं है, क्योंकि कारणके बिना होनेवाले अतिप्रसङ्गग्रस्त विनाशको बौद्धोंसे अतिरिक्त और कोई नहीं मानता। अन्य कारणसे भी (आत्माका) विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि निरवयव आत्माका विनाशके कारणके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। और उसका सम्भव होनेपर भी विनाश सिद्ध नहीं हो सकता, कारण कि दूसरेका सम्बन्ध कर्म (क्रिया) द्वारा ही होता है और वह कर्मजनित सम्बन्ध उस कर्मके फलका उपभोग करनेके लिए आत्माकी स्थितिको ही सिद्ध करेगा, विनाशको नहीं। इससे अनादि और अविनाशी आत्माका अनन्त शरीरोंमें गतागतरूप (जन्म-मरणरूप) संसार सिद्ध होगा। विकारशून्यके भोगका सम्भव न होनेसे क्रिया-फलरूप विकारके माननेमें क्रियावेशात्मक कर्तृत्वका निवारण नहीं किया जा सकता और अनुभूयमान (अनुभवमें आनेवाला) भोक्तृत्व भी विज्ञानपर्यन्त शरीरादिमें नहीं बन सकता, इससे वह पूर्वकथित आत्मामें ही मानना पड़ता है, क्योंकि शरीर तो आकाशादि पांच भूतोंका संघातरूप है, क्योंकि 'हे तात ! पञ्चभूतात्मक शरीरके पञ्चत्वको प्राप्त होनेपर' अर्थात् अपने कारणभूत पाचों भूतोंमें मिल जानेपर, ऐसा शास्त्र कहता है।

और नैयायिकोंका जो यह मत है कि भूलोकमें रहनेवाले मनुष्योंका शरीर

क्लेदनाद्युपलब्धिर्वस्त्रादाविव भूतान्तरोपष्टम्भादिति, तदसत्; शोषादिना जलाद्यपगमेऽपि यथा वस्त्रादिस्वरूपस्य नाऽपचयस्तथा क्लेदनपाचनव्यूहनावकाशानामपगमेऽपि शरीरस्याऽपचयाभावप्रसङ्गात् ।

यच्च वैशेषिकैरुच्यते—पञ्चभूतात्मकत्वे शरीरस्याऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, वाय्वाकाशयोरप्रत्यक्षतया प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तित्वादिति; तदप्ययुक्तम्, तथा

पृथ्वीसे ही बना है, पाँच भूतोंसे नहीं । उसमें पसीने आदिकी उपलब्धि तो अन्य भूतोंके सम्बन्धसे होती है। जैसे कि दूसरे भूतोंके सम्बन्धसे वस्त्रमें जलादिकी उपलब्धि होती है, [आदि पदसे बढ़ना, फैलना, सिकुड़ना, गरम होना तथा अन्दरसे पोलापन आदि लेने चाहिएँ । तात्पर्य यह है कि क्लेदनादि यद्यपि जलादिके असाधारण गुण हैं तथापि जैसे वस्त्रादिमें जलादिके संयोगसे क्लेदन, पाचन, व्यूहन आदि देखे जाते हैं, पर वे पाञ्चभौतिक नहीं कहलाते, किन्तु पार्थिव ही कहलाते हैं, वैसे ही मनुष्यशरीर भी पार्थिव ही है ऐसा मानना चाहिए]। यह मत उचित नहीं है, कारण कि जैसे सुखा देने आदिसे जलादिका सम्बन्ध दूर हो जानेपर भी वस्त्रके स्वरूपकी कोई हानि नहीं होती, वैसे क्लेदन (गीलापन), पाचन, व्यूहन (बढ़ना) तथा (आकाश) पोलापन आदि गुणोंका नाश होनेपर भी शरीरके स्वरूपकी किसी प्रकारसे हानि नहीं होनी चाहिए । [वस्त्रका जलादि उपादान नहीं है, अतः क्लेदनादिके नष्ट होनेपर भी जैसे वस्त्रके स्वरूपका कुछ नहीं बिगड़ता, वैसे क्लेदनादि गुणोंके नष्ट होनेपर भी शरीरको वस्त्रके समान अपने स्वरूपमें रहना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है, बल्कि क्लेदनादिका विनाश होनेपर शरीर-स्वरूपका ह्रास देखा जाता है, अतः नैयायिकोंका मत असङ्गत है]।

और वैशेषिकोंका जो यह कहना है कि 'शरीर पाँच भूतोंसे बना है' ऐसा माननेमें उसका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता, कारण कि वायु और आकाशका प्रत्यक्ष न होनेसे शरीर प्रत्यक्ष (पृथ्वी आदि तीन) और अप्रत्यक्ष (आकाश, वायु) भूतोंमें रहता है । [इसलिए सम्पूर्ण उपादानोंका प्रत्यक्ष न होनेसे प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष उपादानमें रहनेवाले शरीरका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यह भाव है]।

वैशेषिकोंका यह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि उक्त हेतुके मान लेनेसे तो सभी अवयवी पदार्थोंका कभी प्रत्यक्ष ही न हो सकेगा, क्योंकि

सति सर्वावयविनामप्रत्यक्षत्वापातात्, प्रत्यक्षाप्रत्यक्षावयववृत्तित्वात्। नहि सूक्ष्माः परभागस्थिताश्चाऽवयविनोऽवयवाः प्रत्यक्षीकर्तुं शक्यन्ते। तस्माद्भूतसंघातः शरीरम्। न च गन्धादिमतां तद्रहितानां च भूतानामेककार्यजनकत्वं न स्यात्, परस्परविरोधादिति वाच्यम्, तथा सति नीलादीनामेकावयविजनकत्वस्यैकचित्ररूपारम्भकत्वस्य चाऽसम्भवप्रसङ्गात्। अनुभवबलादेव तत्र तथा स्वीकारे प्रकृतेऽपि तन्न दण्डवारितम्।

तत्र शरीरस्य भोक्तृतां वदन्तो लोकायताः प्रष्टव्याः—किं व्यस्तानां भूतानां प्रत्येकं भोक्तृत्वम् उत समस्तानाम्? आद्येऽपि न तावद्युगपत् सर्वेषां भोक्तृता, तदा स्वार्थप्रवृत्तानां तेषामन्योन्यमङ्गाङ्गिभावानुपपत्तौ

सभी अवयवी पदार्थ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारके अवयवोंमें ही रहते हैं। अवयवीके अन्तिम अत्यन्त सूक्ष्म अवयवोंका (जहांपर पुनः अन्य अवयवकी कल्पना नहीं हो सकती, ऐसे अवयवोंका) प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता इसलिए पाँचों भूतोंका समूह (मिला हुआ पिण्डविशेष) ही मनुष्यशरीर है। यदि कहो कि गन्धादि गुणवाले और उन गुणोंसे रहित भूतोंका परस्पर विरोध होनेसे उनसे एक कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, कारण कि (परस्पर विरोधियोंको एक कार्यके प्रति जनक न माननेसे) नीलादि परस्पर विरोधी गुण भी एक अवयवीके (द्रव्यके) प्रति तथा एक चित्ररूपके प्रति जनक नहीं हो सकेंगे। [अर्थात् परस्पर विरुद्ध नीलादि गुण भी चित्रपट आदिके आरम्भक नहीं हो सकेंगे।] यदि कहो कि अनुभव-सामर्थ्यसे परस्पर विरोधी होते हुए भी नीलादि गुण चित्रपटके आरम्भक माने जाते हैं, तो प्रकृतमें भी उनको (अनुभवके बलसे परस्पर विरुद्ध पृथ्वी आदिको) एक शरीरके प्रति आरम्भक मानना डंडा मारकर भी नहीं हटाया जा सकता।

इन विरुद्ध परिस्थितियोंके उपस्थित होनेपर पहले शरीरको भोक्ता माननेवाले लोकायतसे—नास्तिकसे—पूछना चाहिए कि क्या अलग-अलग (प्रत्येक) भूत भोग करते हैं? अथवा सब मिले हुए भूत भोग करते हैं? प्रथम पक्षमें सबका एक साथ भोग करना तो नहीं बन सकता, कारण कि एक साथ (क्रमके बिना) भोगके लिए अपने-अपने अभीष्टके साधनमें प्रवृत्त हुए भूतोंका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव न होनेके कारण उनका संघात ही नहीं हो सकता। [जुदे-जुदे

संघातापत्त्यभावप्रसङ्गात् । [न चाऽन्तरेणाऽङ्गाङ्गिभावं संघातस्योपपत्तिः ।] अन्तरेण च संघातं भोक्तृत्वे देहाद्बहिरप्येकैकस्य भूतस्य भोक्तृतोपलभ्येत । नाऽपि क्रमेण तेषां भोक्तृत्वम्, संघातानुपपत्तितादवस्थ्यात् । न च वरविवाहादिन्यायेन गुणप्रधानभावेन तदुपपत्तिः, वैषम्यात् । यथा एकैकस्य वरस्याऽसाधारणत्वेनैकैका कन्या भोग्या, न तथा चतुर्णां पृथिव्यप्तेजोवायूनां भोक्तॄणां रूपरसगन्धस्पर्शा भोग्या व्यवस्थिताः तत्र कथं क्रमभोगः ? अथ कथंचिद्व्यवतिष्ठेरन्, तदाऽपि युगपत् सर्वविषयसंनिधाने सति क्रमानु-

---

अपने-अपने कामोंमें लगे रहनेकी दशामें मिलकर एक कार्यका करना सम्भव नहीं होता, यह भाव है]। [अङ्गाङ्गिभावके बिना संघातका सम्भव नहीं हो सकता], [क्योंकि अङ्गाङ्गिभावको प्राप्त हुए तिनके ही संघातरूप रज्जुभावको प्राप्त होते हैं]। यदि संघातके बिना भी एक-एक भूत भोक्ता मान लिया जाय, तो शरीरके बाहर भी एक-एक भूतमें भोक्तृत्वकी प्रसक्ति होगी। और क्रमसे भी प्रत्येक भूतोंको भोक्ता नहीं मान सकते, कारण कि ऐसा माननेपर भी संघातकी अनुपपत्ति तो वैसी ही बनी रह जाती है। [क्योंकि एक साथ अथवा जुदे-जुदे अपने-अपने कार्यके साधनमें प्रवृत्त हुए पदार्थोंका अङ्गाङ्गिभाव न होनेसे संघात कैसे हो सकेगा]। वर-विवाह आदि न्यायका अनुसरण करके गुण-प्रधानभाव (अङ्गाङ्गिभाव) से भी संघातकी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें विषमता है। [दृष्टान्तभूत वरविवाहन्यायका विवेचन करते हैं—] जैसे एक-एक वरके लिए असाधारणरूपसे (जिसमें दूसरेके सम्बन्धका लेश भी प्राप्त न हो, इस रूपसे) एक-एक कन्या भोग्यभूत वस्तु है, वैसे ही भोग करनेवाले पृथिवी, जल, तेज और वायुके लिए एक-एक रूप, रस, गन्ध और स्पर्श व्यवस्थित—नियत—भोग्यवस्तु नहीं है अर्थात् भूतोंके विषय नियत नहीं हैं। [अतएव पृथ्वीमें रूप, रस आदिकी भी उपलब्धि होती है। आकाश केवल शब्दगुणक है, इसलिए आकाशका तो शब्द असाधारण गुण हो सकता है, परन्तु अन्य वायु आदि चार भूतोंमें उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि होनेसे स्पर्शादि भोग्य वस्तु असाधारण नहीं मानी जा सकती, इसलिए असाधारण-विषयमें वर-कन्याके समान नियत व्यवस्था नहीं हो सकती]। यदि कथंचिद् रूप आदि विषयोंमें व्यवस्था

पपत्तिः। यथैकस्मिन् मुहूर्ते प्रत्येकं भोग्यकन्यावस्तुनि संनिहिते वराणां क्रमविवाहो गुणप्रधानतया संघातो वा नाऽस्ति, तद्वत्। नाऽपि समस्तानां भोक्तृत्वसंभवः, प्रत्येकमविद्यमानस्य चैतन्यस्य संघातेऽप्यभावाद्भोगानुपपत्तेः। अथ मन्यसे—अग्नौ प्रक्षिप्तेषु तिलेष्वेकैकस्य ज्वालाजनकत्वाभावेऽपि तिलसमूहस्य यथा तज्जनकत्वं तथा संघातस्य चैतन्यं स्यादिति, तदाऽपि संघातापत्तौ हेतुर्वक्तव्यः। आगामिभोगादिति चेद्, न; यदि तावद्भोगस्य गुणभावस्तदा प्रधानानां भूतानामन्योन्यं गुणप्रधानभाव-

---

मानी भी जाय, [यद्यपि रूपादि साधारण हैं, तथापि व्यवस्था हो सकती है कि तेजका रूप ही भोग्य है तथा वायुका स्पर्श ही, पृथ्वीका गन्ध ही और जलका रस ही भोग्य है] तो भी एक साथ सब विषयोंकी उपस्थिति होनेपर क्रमकी उपपत्ति नहीं हो सकती, [अर्थात् एक ही क्षणमें सभी भोक्ता अपने-अपने भोग्यका भोग करेंगे; क्रमकी अपेक्षा क्यों होगी ?] जैसे एक ही मुहूर्तमें प्रत्येक कन्यारूप भोग्यवस्तुका सन्निधान होनेपर वरोंका क्रमसे विवाह अथवा गुणप्रधानभाव—अङ्गाङ्गिभाव—से संघात नहीं होता वैसे प्रकृतमें भी [भूतोंका क्रमसे भोग अथवा गुणप्रधानरूपसे संघात नहीं हो सकता। और प्रकृतमें गुणप्रधानभाव मानकर संघातकी सिद्धि करना आवश्यक है, इससे दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिकमें समानता नहीं आ सकती]। और दूसरे पक्षका (मिले हुए भूत भोग करते हैं, इसका) भी सम्भव नहीं है, कारण कि प्रत्येकमें न रहनेवाले चैतन्यका (भोगकर्तृत्वका) संघातमें भी अभाव होनेसे भोगकी उपपत्ति नहीं हो सकती। यदि माना जाय कि आगमें डाले गये तिलोंमें से एक-एक तिल द्वारा ज्वालाकी उत्पत्ति न होनेपर भी तिलसमूहमें जैसे ज्वालाका जनकत्व है अर्थात् तिलसमूहसे जैसे ज्वालाकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी प्रत्येक भूतमें भोक्तृत्वके न होनेपर भी उसके संघातमें भोक्तृत्वरूप चैतन्यका सम्भव होगा, तब भी संघातके होनेमें हेतु कहना होगा। [संघातात्मक शरीरके अतिरिक्त चेतन पदार्थ लोकायतके मतमें है ही नहीं, जो प्रत्येक अचेतनभूतका चेतनात्मक संघात उत्पन्न कर दे, इसलिए उसका कोई कारण कहना होगा यह तात्पर्य है]। आगे प्राप्त होनेवाले भोगके द्वारा भी संघात नहीं माना जा सकता [अर्थात् आगामी भोगको भी संघातका कारण नहीं मान सकते] कारण कि यदि भोगको गुण (अप्रधान) मानो, तो प्रधानरूपसे माने

रहितानां कथं संघातापत्तिः ? प्राधान्यं तु भोगस्याऽनुपपन्नम् , भोक्तृशेषत्वात् । न च वाच्यं शेषिणं भोगं प्रति शेषभूतयोः स्त्रीपुंशरीरयोर्भोक्त्रोः संघातापत्तिर्दृष्टेति, तत्राऽपि शरीरयोर्भोक्तृत्वासंप्रतिपत्तेः । ज्वालां प्रति तिलानां संघातापत्तिरिति योऽयं दृष्टान्तः, सोऽपि तवाऽसिद्धः; संघातानिरूपणात् ।

गये परस्पर गुणप्रधानभावसे शून्य पृथ्वी आदि भूतोंका संघात कैसे हो सकेगा ? [अर्थात् भोग्यस्वरूप गन्धादि गुणके प्रति प्रधानभूत पृथ्वी आदि, परस्पर निरपेक्ष होनेसे, संघातभावको प्राप्त नहीं हो सकते याने स्वतन्त्र होनेसे अपने अधीन भोग्यका भोग स्वयं आप ही कर लेंगे] और भोग्यवस्तुस्वरूप रूपादिका प्राधान होना तो माना ही नहीं जा सकता, कारण कि भोग्य तो भोक्ताका उपकारक अङ्ग है ।

[भोक्ताओं तथा भोगमें गुणप्रधानभाव न होनेके कारण ही संघातकी उपपत्तिका अभाव नहीं कह सकते, क्योंकि तादर्थ्यसे शेषशेषिभावको लेकर संघातकी उपपत्ति हो सकेगी; इस प्रकारके वादीके आशयका खण्डन करनेके लिए शङ्काका अनुवाद करते हैं—]

शङ्का—शेषीरूप भोगके प्रति भोग करनेवाले शेषभूत स्त्री तथा पुरुषके शरीरोंका संघात होते हुए देखा जाता है, [शरीरके बिना भोग अनुपपन्न है, क्योंकि शरीरका लक्षण है कि 'भोगायतनं शरीरम्', इसलिए शरीरको भोगके प्रति शेष (उपकारक) मानना ही पड़ेगा । इसलिए जैसे एकके प्रति शेष होनेसे छः प्रयाजोंका संघात होता है, वैसे ही एक ही भोगके प्रति पांचों भूतोंका भी संघात उपपन्न हो सकता है, यह भाव है ।]

समाधान—स्त्री तथा पुरुषके शरीरोंको भोक्ता मानना सभी प्रकारके सिद्धान्तोंसे सिद्ध नहीं है, [क्योंकि हमारे ही मतमें स्त्री-पुरुषोंके शरीरोंमें आत्मा ही भोक्ता है और शरीर केवल भोगार्थ होनेसे आत्माका ही शेष है, इससे आपके समान भोक्तास्वरूप शरीरोंका संघात नहीं माना जा सकता] और तुम्हारे (लोकायतके) द्वारा दिखलाया हुआ जो ज्वालाके प्रति तिलोंका संघातरूपी दृष्टान्त है, वह भी सिद्ध नहीं है, कारण कि संघातका निर्वचन ही नहीं हो सकता ।

न तावत् संघातो नाम भोगभोगिनोर्वनवदेकदेशतामात्रम्, तथा सति तेन न्यायेन व्यापिनां भूतानां सर्वत्र तत्सत्त्वाच्चैतन्यभोगयोः सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात्। नाऽपि तदारब्धोऽवयवी संघातः, तस्य भूतेभ्यो भेदे पञ्चमतत्त्वाभ्युपगमप्रसङ्गात्। अभेदे भूतमात्रतया संघातासंभवात्। भेदाभेदयोश्चाऽनङ्गीकरणात्। अथाऽवयविनः पारतन्त्र्यान्न पञ्चमतत्त्वापत्तिः, तर्हि जलादेः पृथिव्यादितन्त्रत्वान्न तत्त्वचतुष्टयमपि सिध्येत्। न चैक-

---

[जैसे अनेक वृक्षोंका एक देशमें उगना ही उनका संघातभूत वन कहलाता है, वैसे भोग और भोक्ताका समानाधिकरणत्व ही संघात है, इस प्रकारके वादीके आशयसे कहते हैं कि] वनके समान भोग और भोगीका एक देशमें होना ही तो सङ्घात है ? नहीं, वह भी संघात नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मान लेनेसे तो इस न्यायसे (अर्थात् एकदेशस्थताको ही संघात माननेकी नीतिसे) व्यापकस्वरूप पृथ्वी आदि भूतोंकी (शरीरके बाहर भी) एकदेशस्थता सर्वत्र विद्यमान ही है, इसलिए चैतन्य और भोगका सभी जगह प्रसङ्ग आ जायगा। और उन अवयवोंसे (भूतोंसे) एक अवयवीका होना भी संघात नहीं कहा जा सकता, कारण कि उस अवयवीका यदि (अवयवरूप) भूतोंसे भेद माना जाय तो 'अवयवीरूप' पांचवां तत्त्व माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। [लौकायतिक केवल पृथ्वी, जल, तेज और वायु, इस प्रकार चार ही तत्त्व मानता है। उनसे बने हुए शरीररूपी अवयवीको उनसे भिन्न माननेपर उसे पांचवां तत्त्व मानना पड़ेगा, इससे स्वयं अपसिद्धान्त दोषका भागी होगा, यह सारांश है]। और यदि भेद नहीं मानते, तो शरीर चार प्रकारके भूत ही रहे, अतः अतिरिक्त संघातकी सिद्धि ही नहीं हुई। और भेद तथा अभेद दोनोंको तो तुम मानते नहीं हो ['सुवर्णका कुण्डल है तथा कुण्डल सुवर्ण है'—इन दोनों प्रतीतियोंसे सुवर्ण तथा कुण्डल दोनोंमें भेदाऽभेदस्वरूप तादात्म्य माना जाता है, इसमें भेद काल्पनिक और अभेद परमार्थ है, ऐसा तादात्म्य नास्तिक नहीं मानता]। यदि कहो कि अवयवी अवयवोंके पराधीन है, इसलिए अवयवसे अतिरिक्त पांचवाँ तत्त्व माननेकी आपत्ति नहीं आ सकती, तो जलादिके भी पृथ्वी तत्त्वके पराधीन होनेसे आपके सम्मत चार तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे, [क्योंकि यदि अवयवीमें अवयव-भेद प्रतीतिरूप पराधीनता मानी जाय, तो जलादिमें भी पृथ्वी-भेद-प्रतीतिरूप

द्रव्यबुद्ध्यालम्बनयोग्यतापत्तिः संघातः, वस्तुतोऽनेकेष्वेकत्वबुद्धेर्विभ्रममात्रत्वात्। न चैकार्थक्रियायां युगपदन्वयः संघातः, तदानीं काष्ठाश्रयेण वह्निना वायुसमुद्धतेन जले ताप्यमाने सति तत्र भूतचतुष्टयसंघाताद्भोगप्रसङ्गात् । न चाऽन्ययःपिण्डवत् संश्लेषः संघातः, शरीरे वायोस्तथा संश्लेषाभावात्। वह्निव्याप्ते चाऽयःपिण्डे सन्तापितजले वायुसंयुक्ते भोगप्रसङ्गात् । न चोक्तदोषपरिहारायैकस्यैव भूतस्य भोक्तृत्वनियतिः शङ्कनीया, सर्वसंनिधानेऽस्यैव भोग इत्यनिर्द्धारणात् ।

पराधीनता विद्यमान ही है। और दूसरे अवयवोंसे बननारूप पराधीनता मानो, तो पृथ्वी भी जलसे बनी है। इसलिए पृथ्वीमें भी उक्त पराधीनता चली गई, इस परिस्थितिमें तुम्हारे अभिमत चार तत्त्व दिवंगत ही हो चुके, यह भाव है।] तथा 'यह एक द्रव्य है' इस बुद्धिमें विषय होनेकी योग्यता ही संघात पदार्थ है, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि परमार्थतः अनेक पदार्थोंमें एक बुद्धिका होना केवल भ्रम है [भ्रमात्मक बुद्धिमें कार्यकारित्व नहीं रहता, इसलिए भ्रमविषय संघातमें भी भोक्तृत्व नहीं हो सकता, यह तात्पर्य है] और एक ही अर्थक्रियामें (प्रमातृत्व आदि व्यवहारमें) सबका एक साथ अन्वय होनेको भी संघात नहीं कह सकते हैं, कारण कि ऐसा माननेसे वायुसे सुलगी हुई लकड़ीकी आगसे गरम किये गये जलमें चारों भूतोंका संघात होनेसे उसमें भी भोगका प्रसङ्ग हो जायगा। वैसे अग्नि और लोहेके गोलेके सम्बन्धके समान सम्बन्धको (सर्वावयवसे एकरस-व्याप्तिको) भी संघात नहीं मान सकते, कारण कि शरीरमें वायुका आग और लोहेके समान सम्बन्ध (एक-एक अवयवमें समानरूपसे व्याप्ति) नहीं है। [दूसरा दोष भी देते हैं—] जिसने जलको तपाकर अपनेमें ही सुखा लिया हो और वायु भी उसपर लगता हो, ऐसे गरम लोहपिण्डमें (चारों भूतोंका संघात होनेसे) भोगप्राप्तिका प्रसङ्ग होगा [परन्तु तप्तायःपिण्डमें भोग देखा नहीं जाता है, इसलिए भोगका समवायी कारण संघातरूप शरीर नहीं हो सकता] उक्त दोषके परिहारके लिए कहो कि एक ही भूत भोक्ता है, तो यह भी नहीं कह सकते, कारण कि सबके संनिधानमें, यह इसका भोग है, इस प्रकार निश्चय नहीं किया जा सकता [रूप, रस, गन्ध और स्पर्श-रूप भोग्य वस्तु और भोगान्वयी चारों

यत्तु लौकायतैकदेशिनां मतद्वयम्—इन्द्रियाणां भोक्तृत्वं देहेन्द्रियसंघातस्य च भोक्तृत्वमिति, तदुक्तन्यायेन निराकरणीयम्।

ननु कानि पुनरिन्द्रियाणि येषां भोक्तृत्वं निराक्रियते। तत्र गोलकमात्राणीति सुगताः, तच्छक्तय इति मीमांसकाः, तद्व्यतिरिक्तानि द्रव्यान्तराणीत्यन्ये सर्वे वादिनः।

न तावद्गोलकमात्रत्वं युक्तम्, कर्णशष्कुल्यादिविरहिणामपि सर्पादीनां शब्दाद्युपलब्धिसद्भावात्। वृक्षाणां च सर्वगोलकरहितानां विषयोपलम्भसत्त्वात्, 'तस्मात् पश्यन्ति पादपाः' इत्यादिशास्त्रात्। न च वृक्षाणामचेतनत्वम्, हिंसाप्रतिषेधेन प्राणित्वावगमात्। अत एव न गो-

---

भूतोंके भी उपस्थित रहनेमें कौन किसका भोग है, इसका नियामक कोई नहीं है, इसलिए अविशेषसे चारोंको भोक्ता मानना होगा और उनका संघात बन नहीं सकता, इसलिए संघातभूत शरीरात्मक भूतोंको भोक्ता मानना युक्तिसंगत नहीं है, यह तात्पर्य है।]

और भी लोकायत-मतके एकदेशियोंके जो ये दो मत हैं कि इन्द्रियां भोक्ता हैं अथवा देहेन्द्रियका संघात भोक्ता है। इन दोनों मतोंका दिखलाये गये न्यायके अनुसार खण्डन करना चाहिए।

[इन्द्रियोंमें भोक्तृत्वका खण्डन करनेके पहले इन्द्रियविषयक विप्रतिपत्ति दिखलानेके लिए प्रश्न करते हैं—] इन्द्रियां कौन पदार्थ हैं? जिनमें भोक्तृत्वका खण्डन किया जा रहा है। इस विषयमें बौद्ध कहते हैं कि गोलकमात्र [अर्थात् शरीरमें दीख पड़नेवाले आंख, नाक, कान आदिके तत्-तत् आकार] ही इन्द्रियाँ हैं। मीमांसक आकारोंमें देखने, सुनने आदिकी शक्तियोंको ही इन्द्रिय मानते हैं और इतर सभी लोग इन दोनोंसे अतिरिक्त द्रव्यान्तर ही इन्द्रिय है, ऐसा मानते हैं।

[बौद्धका खण्डन करते हैं—] गोलकको ही इन्द्रिय मानना उचित नहीं है, कारण कि कर्णशष्कुली (कानके भीतर एक विशेष प्रकारके छेद) आदिसे शून्य सर्प आदिको भी शब्दादि विषयोंका प्रत्यक्ष होता है और किसी भी इन्द्रियका गोलक न होनेपर भी वृक्षादिको सम्पूर्ण विषयोंकी उपलब्धि होती है, क्योंकि 'इससे वृक्ष भी देखते हैं' ऐसा शास्त्र कहता है। वृक्षोंको चेतनारहित नहीं मान सकते, क्योंकि शास्त्रोंमें उनकी हिंसाका निषेध है,

लकशक्तित्वमिन्द्रियाणाम् । अथ शक्तिमद्द्रव्यान्तरकल्पनात् प्रतिपन्नस्थानेषु शक्तिमात्रकल्पने लाघवं मन्यते, तर्ह्यत्यन्तलाघवादात्मन एव क्रमकारिसर्वविज्ञानसामर्थ्यं कल्पय्यताम्, किमेभिरिन्द्रियैः ? न च सर्वगतस्याऽऽत्मनो गोलकप्रदेशेष्वेव ज्ञानपरिणामोऽनुपपन्नः, त्वया तस्यैव शरीरप्रदेशमात्रे ज्ञानपरिणामाङ्गीकारात् । एवं चाऽनिन्द्रियेष्वपि गोलकप्रदेशेषु ज्ञानान्वयव्यतिरेकौ शरीरद्रव्यान्यथासिद्धौ, ततो न मीमांसकमतमुपपन्नम् । सन्तु तर्हि द्रव्यान्यराणीन्द्रियाणि, तानि च गोलकविशेषसंबन्धाचक्षुरादि-

---

अतः 'वृक्षोंमें प्राण है' ऐसा प्रतीत होता है । इसी कारण गोलककी शक्तियोंको भी इन्द्रिय नहीं मान सकते [क्योंकि उससे भी सर्प अथवा वृक्षादिमें व्यभिचार बना ही रह जायगा] यदि कहो कि शक्तिशाली द्रव्यान्तरकी कल्पनाकी अपेक्षा सर्वसम्मत नाक, कान आदि आकारविशेषवाले स्थानोंमें केवल शक्तिकी कल्पना करनेमें लाघव है, तो इसपर यह कहा जा सकता है कि शक्तिकी अपेक्षा अधिक लाघव होनेसे आत्मामें ही क्रमके उत्पादक सर्वविज्ञानके सामर्थ्यकी ही कल्पना करो, इन (विप्रत्तिपत्तिग्रस्त) इन्द्रियोंकी कल्पना करनेसे क्या फायदा है ?

शङ्का—सर्वत्र व्याप्त आत्माका केवल गोलक-प्रदेशमें ज्ञानरूप परिणाम मानना युक्त नहीं है ।

समाधान—तुम भी उस सर्वगत आत्माका शरीरप्रदेशमें ही ज्ञानरूप परिणाम मानते हो । [अर्थात् 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः' इत्यादि न्यायसे जैसे तुम्हारे मतमें सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी आत्माका शरीरसे बाहर ज्ञानाकार परिणाम नहीं हो सकता, केवल शरीरमें ही हो सकता है, वैसे ही मेरे मतमें भी गोलकमात्रमें ज्ञानाकार परिणामकी प्राप्ति असङ्गत नहीं हैं] इस रीतिसे इन्द्रियसे भिन्न होनेपर भी गोलकोंमें ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक तो शरीररूप द्रव्यके कारण अन्यथासिद्ध है । [अर्थात् सर्वव्यापी आत्माका जैसे इन्द्रियभिन्न शरीरके साथ ज्ञानान्वय-व्यतिरेक है, वैसे ही गोलकोंके साथ भी है, इन अन्वय-व्यतिरेकोंसे गोलकोंका या इनकी शक्तियोंका चेतनात्मक इन्द्रिय होना सिद्ध नहीं हो सकता] इससे मीमांसक मत सङ्गत नहीं है, यह स्पष्ट है । तब तो अन्य वादियोंका सिद्धान्त—'द्रव्यान्तर ही इन्द्रियाँ हैं और वे उस गोलकके

शब्दवाच्यानीति; तदप्ययुक्तम्, तेषु प्रमाणाभावात्। विमता रूपाद्युपलब्धयः, करणपूर्विकाः, कर्तृव्यापारत्वाद्, छिदिक्रियावत्, इति चेद्, न; अनैकान्तिकत्वात् । करणप्रेरणलक्षणे कर्तृव्यापारे करणान्तराभावात्, अन्यथाऽनवस्थानात्। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यागमगम्यानीन्द्रियाणीति चेद्, न; आगमसंस्कारविरहिणामपीन्द्रियप्रतिप-

---

(आकार-विशेषके) सम्बन्धसे आंख आदि शब्दोंसे कही जाती हैं—मान लें, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि उस प्रकारके अतिरिक्त द्रव्योंके माननेमें कोई प्रमाण नहीं है ।

शङ्का—विमत (विवादग्रस्त) रूपादिका प्रत्यक्ष, करणपूर्वक होता है, कर्ताके व्यापाररूप होनेसे, छेदन क्रियाके सदृश; [जैसे छेदन-क्रिया करण (साधन) द्वारा हो सकती है, वैसे ही व्यापारत्वसामान्यसे सभी व्यापार साधनसे ही सिद्ध होते हैं और वे साधन जिनका नाम आंख, कान आदि है, ऐसे द्रव्यान्तर ही हैं, क्योंकि उपलब्ध द्रव्य तो दर्शनादिके साधन हो नहीं सकते] यह अनुमान उन इन्द्रियात्मक अतिरिक्त द्रव्योंके माननेमें प्रमाण है ।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि उक्त अनुमान व्यभिचारदोषसे दूषित है । [छेदनक्रियाके साधनभूत कुठार आदि भी तो अपने व्यापारके कर्ता हैं, लेकिन उस करणरूप कुठारादि कर्ताका व्यापार करणपूर्वक नहीं है, इसलिए ऐसे कर्तृव्यापारमें व्यभिचार आया, अतः उक्त अनुमान नहीं हो सकता । यदि प्रधानीभूत कर्तृव्यापारमें ही उक्त नियम माना जाय; सामान्य कर्तृव्यापारमात्रमें नहीं, तो भी दोष देते हैं—] करण और प्रेरणात्मक कर्ताके व्यापारमें कोई दूसरा करण नहीं है । [यद्यपि देवदत्तादिसे की जानेवाली छेदनक्रियाके पहले कुठारादि करण हैं, तथापि करणभूत कुठारको प्रेरणा करते हुए देवदत्तादिके व्यापारमें तो दूसरा करण नहीं है । यदि उसमें देवदत्तादिका प्रयत्न और उसमें मन, बुद्धि इत्यादि करणपरम्परा लगाते चलो, तो दोष देते हैं—] अन्यथा करणपरम्परा माननेसे तो अनवस्था दोष आ जायगा, अर्थात् करणपरम्पराके कहीं भी न रुकनेसे मूलकरणकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

शङ्का—'इस ब्रह्मसे ही प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं ।' इत्याद्यर्थक आगमसे इन्द्रियोंकी प्रामाणिक प्रतीति होती है ।

त्तेः । न च मनोवत्साक्षिवेद्यानीन्द्रियाणि, रूपादिज्ञानाख्यं लिङ्गमनपेक्ष्य साक्षिमात्रेण चक्षुरादीनां प्रतिपत्तेरभावात् । तस्मान्न सन्त्येवेन्द्रियाणीति ।

अत्रोच्यते—गोलकव्यतिरिक्तानीन्द्रियाण्यागमादेवाऽवगम्यन्ते । नहि तत्संस्काररहितास्तानि जानन्ति किन्तु गोलकान्येव ।

यत्तु तेषामिन्द्रियाणामहङ्कारकार्यत्वं सांख्यैरुच्यते तत्र किमध्यात्माऽहङ्कारः कारणं किं वा कृत्स्नकार्यव्यापिनी काचिदहङ्काराख्या प्रकृतिः ? उभयत्राऽपि नाऽस्ति किमपि मानम् । अथ द्वितीयपक्षे नानापुराणवचनानि मानम्, तन्न, श्रुतिविरोधात् । 'अन्नमयं हि सोम्य मन

समाधान—यह शङ्का उचित नहीं है; कारण कि शास्त्रजनित संस्कारसे सर्वथा विहीन पामरोंको भी इन्द्रियोंकी प्रतीति होती है ।

इन्द्रियोंको मनकी भाँति साक्षिवेद्य भी नहीं मान सकते, कारण कि रूपादिकी प्रतीतिरूप हेतुकी अपेक्षाके बिना केवल साक्षीसे ही आंख आदि इन्द्रियोंकी प्रतीति नहीं होती है । [अर्थात् रूपादिज्ञान द्वारा ही साक्षी चक्षुरादि इन्द्रियोंकी प्रतीति करता है । मनकी भाँति उपलब्धिसामान्यसे नहीं] । इसलिए इन्द्रियाँ हैं ही नहीं ।

नहीं, इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा शास्त्र द्वारा ही जाना जाता है कि गोलकसे अतिरिक्त ही इन्द्रियां हैं । शास्त्रीय संस्कारसे शून्य पामर उनको नहीं जान सकते, वे तो केवल गोलकोंको ही इन्द्रियाँ जानते हैं, [इससे सूचित किया कि बौद्ध तथा मीमांसक शास्त्रीय वासनासे विहीन पामर हैं] ।

इन्द्रियाँ अहङ्कारकी कार्य हैं, ऐसा सांख्यमतावलम्बियोंका जो कहना है, उसपर प्रश्न होता है कि क्या अध्यात्म अहंकार इनका कारण है ? या सम्पूर्ण कार्यमात्रको व्याप्त करनेवाली अहङ्कार नामकी कोई प्रकृति है ? । [अर्थात् आध्यामिक अहङ्कारसे इन्द्रियोंका जन्म है अथवा आधिदैविक अहङ्कारसे ?] दोनों प्रकारोंमें कोई भी प्रमाण नहीं है, दूसरे पक्षमें अनेक पुराण-वचन प्रमाण हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि ऐसा माननेमें श्रुतिसे विरोध आता है । [श्रुति-विरोध

---

(१) 'त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत । इन्द्रियाणां ततः सृष्टिर्गुणद्वारा महामुने ! ॥' हे महामुनिजी, यह आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीन प्रकारका अहङ्कार महत्तत्त्वसे उत्पन्न हुआ है । और इस अहङ्कारसे गुणोंके द्वारा इन्द्रियोंकी सृष्टि हुई है । इत्यादि पुराण-वचन समझने चाहिएँ ।

आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' इत्यादिश्रुतौ भूतविकारत्वावगमात् । अतः पुराणवचनानीन्द्रियाणामहङ्काराधीनतामात्रं प्रतिपादयन्ति ।

यच्च शुष्कतार्किकैर्भौतिकत्वमिन्द्रियाणामुक्तम्, तदप्ययुक्तम्; तैर्मानस्य वक्तुमशक्यत्वात् । इन्द्रियाणि भौतिकानि, सावयवत्वात्; सावयवत्वं च मध्यमपरिमाणत्वादिति चेद्, न; इन्द्रियाणामणुपरिमाणत्वेऽपि बाधाभावेन हेत्वसिद्धेः । विषयावभासस्याऽप्यणुत्वप्रसङ्गो बाध इति चेद्, न; त्वन्मतेऽणुपरिमाणेनाऽपि मनसा विस्तृतात्मादि-

---

दिखलाते हैं—] 'हे सौम्य ! मन अन्नमय अर्थात् अन्नका विकार है तथा प्राण जलका और वाणी तेजका विकार है' इत्यर्थक श्रुतिसे इन्द्रियाँ भूतकी विकार हैं, ऐसा प्रतीत होता है, अतः उक्त श्रुतिसे विरोधका परिहार करनेके लिए पुराणके वचनोंसे इन्द्रियोंका अहङ्कारके अधीन रहना केवल प्रतिपादित होता है ।

और भी जो शुष्क तर्कवादी वैशेषिक-मतानुयायियोंका कहना है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं [वैशिषिक केवल तर्क द्वारा इन्द्रियोंको भूतविकार मानते हैं, शास्त्रसे नहीं, इसलिए शास्त्रीयवासनासे शून्योंको भी तर्क द्वारा जान लेना प्राप्त हो जाता है कि इन्द्रिय भूतविकार हैं, इससे उक्त कथनका खण्डन हो जाता है कि शास्त्र द्वारा ही इन्द्रियोंको गोलकसे अतिरिक्त जाना जा सकता है] वह भी युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि वे इसमें प्रमाण नहीं दे सकते ।

शङ्का—इन्द्रियाँ भूतविकार हैं, क्योंकि वे अवयवयुक्त हैं, और उनका अवयवयुक्त होना मध्यमपरिमाणसे सिद्ध होता है । [मध्यमपरिमाणवाले घटादि सब जैसे सावयव हैं, वैसे इन्द्रियाँ भी सावयव होंगी] यह अनुमान इन्द्रियोंके भौतिकत्वमें प्रमाण है ।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि इन्द्रियोंको अणुपरिमाण मान लेनेमें भी बाध नहीं आता है, अतः मध्यमपरिमाणत्वरूप हेतु असिद्ध है ।

शङ्का—इन्द्रियोंको अणुपरिमाण माननेपर उनके कार्यस्वरूप विषय-प्रत्यक्षको भी अणुपरिमाण मानना होगा, इसलिए इन्द्रियोंको अणुपरिमाण नहीं मान सकते ।

समाधान—उक्त तर्क उचित नहीं है, कारण कि तुम्हारे मतके अनुसार अणुपरिमाणवाले मनसे भी महत्परिमाणवाले आत्मा आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष

वस्तुदर्शनसद्भावात् । चक्षुः रूपगुणवत्प्रकृतिकम्, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वाद्, यद्यस्य नियमेनाऽभिव्यञ्जकं तत् तद्गुणवत्प्रकृतिकम्, यथा रूपाभिव्यञ्जको रूपप्रकृतिको दीपः, एवमन्यत्राऽप्यूहनीयमिति चेद्, न; शब्दस्यैवाऽभिव्यञ्जके श्रोत्रे शब्दगुणवदाकाशानारब्धेऽनैकान्तिकत्वात् । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशमात्रस्य त्वया

होते देखा जाता है। [अतः इन्द्रियोंके अणु माननेपर भी उक्त दोष नहीं आता ।] पुनः दूसरे तर्क द्वारा इन्द्रियोंका भौतिकत्व सिद्ध करते हुए शङ्का करते हैं—] चक्षु इन्द्रिय रूपवत्-प्रकृतिक है अर्थात् चक्षुरिन्द्रियकी प्रकृति रूपवान् द्रव्य है, क्योंकि वह रूपादि पांच गुणोंमें से केवल रूपकी अभिव्यक्ति करती है। नियम है कि जो जिसकी व्यभिचारके बिना अभिव्यक्ति करता है, वह उस गुणवाली प्रकृतिका ही विकार होता है, जैसा कि रूपको अभिव्यक्त करनेवाला रूपवत्-प्रकृतिक (तैजस) दीप है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियविषयक भी अनुभव करना चाहिए। [अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय रस गुणवाले जलका विकार है, क्योंकि रूपादिमें से केवल रसका ग्रहण करती है, जैसे मुखसे उत्पन्न होनेवाली लार, नासिका गन्ध गुणवाली पृथ्वीका विकार है, अतएव रूपादिमें से गन्धका ही ग्रहण करती है, जैसे हींग आदि द्रव्य एवं त्वगिन्द्रिय स्पर्शगुणक वायुका विकार है, क्योंकि रूपादिमें से स्पर्शका ही ग्रहण करती है, जैसे पंखेकी हवा, इस प्रकार अन्य अनुमान समझने चाहिएँ। उक्त अनुमानमें अनुकूल तर्कका अभाव दिखला कर समाधान करते हैं—] ऐसा नहीं, कारण कि केवल शब्दकी अभिव्यक्ति करनेवाले कानमें व्यभिचार है, क्योंकि शब्दगुणवाले आकाशका कर्णेन्द्रिय विकार नहीं है, कर्णेन्द्रियको तो तुम कानके भीतर विद्यमान एक प्रकारका छिद्ररूप आकाश ही मानते हो*। [इसलिए श्रोत्रग्राह्य विशेषगुणवाले द्रव्यसे उत्पन्न न होनेपर भी जैसे कर्णेन्द्रिय शब्दमात्रका ग्रहण करती है, वैसे दूसरी इन्द्रियाँ भी तत्-तद्-विशेष गुणवाले द्रव्यकी विकार न होनेपर भी तत्तद्-विशेष गुणकी अभिव्यञ्जिका होतीं हैं, ऐसा माननेमें कोई हानि नहीं है।

---

* आकाश एक ही है, उसका कोई सजातीय भेद तो है ही नहीं, अतः वह किसीका आरम्भक नहीं है।

श्रोत्रत्वाभ्युपगमात् । विशेषव्याप्तौ नाऽनैकान्तिकतेति चेद्, एवमप्यतिप्रसङ्गो दुर्वारः । रूपादिचतुष्टयाभिव्यञ्जकस्य मनसो भूतचतुष्टयारभ्यत्वस्य सुसाधत्वात् । अभूतस्याऽप्यात्मादेर्ग्राहकतया मनो न भूतारभ्यमिति चेत्, तर्हि संख्यापरिमाणादेरपि ग्राहकतया चक्षुरादीनां भूतारभ्यत्वं न स्यात् । असाधारणविषयारभ्यत्वाङ्गीकारे सति भौतिकत्वसिद्धिरिति चेत्, तर्हि मनोऽप्यसाधारणविषयेणाऽऽत्मनाऽऽरभ्येत । एकद्रव्यस्याऽऽत्मनः

शङ्का—विशेष व्याप्ति माननेमें व्यभिचार नहीं आता है [अर्थात् 'जो जिसके विशेष गुणका अभिव्यञ्जक है' इत्यादि नियमको इन्द्रियसामान्य-विषयक न मानकर रूपादिचतुष्टयके ग्राहक चक्षुरादि-इन्द्रिय-विशेष-विषयक ही मानेंगे, इससे श्रोत्रेन्द्रियमें व्यभिचार नहीं आ सकता है, यह भाव है]

समाधान—उक्त प्रकारसे विशेषविषयक नियम माननेमें भी अति-प्रसङ्ग नहीं हटाया जा सकता है, कारण कि उक्त व्याप्तिसे रूपादि चारोंकी (रूप, रस, गन्ध और स्पर्शकी) अभिव्यक्ति करनेवाला मन भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु—इन चारों भूतोंका विकार हो जायगा, जो तुमको भी इष्ट नहीं है । यदि कहो कि भूतोंसे अतिरिक्त आत्मादिकी भी मन अभिव्यक्ति करता है, इसलिए मन भूतोंका विकार नहीं हो सकता; तो भूतके विशेष गुणोंसे अन्य संख्या तथा परिणाम आदिकी अभिव्यञ्जक होनेसे चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी भूतकी विकार नहीं हो सकतीं ।

शङ्का—असाधारण विषयसे उत्पन्न होती हैं, ऐसे नियमका अङ्गीकार कर लेनेपर इन्द्रियाँ भौतिक सिद्ध हो सकती हैं, [अर्थात् जो जिसका असाधारण—अनन्यग्राह्य—विषय है, वह उस विषयवालेसे उत्पन्न होता है, इस व्याप्तिसे चक्षुका रूप असाधारण विषय है, इसलिए चक्षु रूपवाले तेजोरूप द्रव्यसे उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिए, यह सारांश है] ।

समाधान—इस निर्णयके अनुसार तो मन भी उसके असाधारण विषय आत्मासे बना हुआ माना जाना चाहिए, [क्योंकि आत्मा भी मनसे इतर इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है, अतः वह मनका ही असाधारण विषय है] । आत्मरूप एक द्रव्यसे सावयव द्रव्यका आरम्भ भले ही न हो, परन्तु मनोरूप

सावयवद्रव्यानारम्भकत्वेऽपि निरवयवं मनोद्रव्यं प्रत्यारम्भकत्वं किं न स्यात् । तस्मान्न शुष्कतर्कादिन्द्रियाणां भौतिकत्वसिद्धिः, किन्त्वागमादेव ।

तानि पुनरिन्द्रियाणि सर्वगतानीति योगाः प्रतिपेदिरे । तदपि मानहीनम् । आत्मेन्द्रियमनांसि सर्वगतानि सर्वत्र-दृष्टकार्यत्वादाकाशवत् ; दृश्यते हि ज्ञानं तत्कार्यं सर्वत्रेति चेद्, न; सर्वत्रेत्यनेन कृत्स्नजगद्विवक्षायामसिद्धिप्रसङ्गात् । यत्र शरीरं तत्र सर्वत्रेति विवक्षायां शरीरे

निरवयव द्रव्यका उससे आरम्भ क्यों नहीं होगा ? [अर्थात् अकेले द्रव्यसे सावयव द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि सावयवका आरम्भक सङ्घात ही होता है, परन्तु अवयवशून्य मनका आरम्भक अकेले आत्मरूप द्रव्यके होनेमें कोई बाधा नहीं है, यह तात्पर्य है ।] इसलिए शुष्क याने शास्त्राऽननुगृहीत तर्कसे इन्द्रियोंका भौतिक होना सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु शास्त्र द्वारा ही इन्द्रियोंका भौतिकत्व सिद्ध हो सकता है ।

वे * इन्द्रियां सर्वगत—चारों ओर प्रसरणमें समर्थ व्यापक परिमाणवाली—हैं, ऐसा पातञ्जल योगदर्शनकार मानते हैं । परन्तु उनका ऐसा भी मानना प्रमाणशून्य है । यदि कहो कि आत्मा, इन्द्रिय तथा मन सर्वगत (विभु) हैं, सभी जगह इनके कार्यकी उपलब्धि होनेसे, आकाशके समान । [अर्थात् जैसे आकाशका सर्वत्र ही शब्दरूप कार्य देखा जाता है, अतः वह विभु है, वैसे ही आत्मादिके ज्ञान आदि कार्योंकी भी सर्वत्र उपलब्धि होती है, अतः वे विभु हैं] क्योंकि उनका कार्यभूत ज्ञान सर्वत्र ही देखा जाता है, इस अनुमानसे उनकी व्यापकता सिद्ध होगी, तो ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि उक्त हेतुके अन्तर्गत 'सर्वत्र' पदसे यदि सम्पूर्ण संसारकी विवक्षा करोगे तो हेतुकी असिद्धि है, [क्योंकि शरीरके बाहर कहीं भी संसारमें इन्द्रियादिकार्य-ज्ञान नहीं होता] । यदि जहां शरीर है, वहां सर्वत्र (शरीरमें) ऐसी विवक्षा करो अर्थात् 'सर्वत्र' पदसे सारा संसार न लेकर सम्पूर्ण शरीर

---

* 'कानि पुनः' इत्यादिसे लेकर 'किन्त्वागमादेव' तकके ग्रन्थसे इन्द्रियोंके स्वरूप तथा कारणविषयक विप्रतिपत्तिका निराकरण करके सिद्धान्त किया कि गोलकसे अतिरिक्त ही इन्द्रियां हैं और उनके कारण आकाशादि भूत हैं । अब 'तानि पुनः' से लेकर—'मन इति सिद्धम्' पर्यन्त प्रघट्टकसे इन्द्रियाँ तथा मनमें प्रमाणविषयक विप्रतिपत्ति दिखलाकर सिद्धान्त मतका प्रदर्शन करते हैं ।

एवाऽनैकान्तिकत्वम् , दृश्यते हि यत्र शरीरं तत्र सर्वत्र शरीरकार्यम् । न च शरीरस्य सर्वगतत्वमस्ति । अथेन्द्रियाणि सर्वगतानि, परोपाधिकगमनत्वात्, आकाशवत्; यथाऽऽकाशस्य गमनं घटाद्युपाधिकं तथेन्द्रियाणां शरीरोपाधिकं गमनमिति चेद्, न; शरीरावयवेष्वनैकान्तिकत्वात् । प्राणोपाधिकं हि तेषां गमनम् । किञ्चेन्द्रियाणां सर्वगतत्वे युगपत् सर्वविषयोपलब्धिः स्यात् । शरीर एव वृत्तिलाभान्नाऽयं दोष इति चेत्, तर्हि बहिरिन्द्रियसद्भावकल्पना न प्रमाणप्रयोजनवती । तस्मादसर्वगतानीन्द्रियाणि ।

यत्तु तान्यप्राप्यकारीणीति सुगताः कल्पयन्ति, यदयुक्तम्; तत्र

केवल लेना हो, तो शरीरमें ही व्यभिचार होगा, कारण कि देखा जाता है कि जहाँ जहाँ शरीर है, वहाँ सर्वत्र शरीरका कार्य—चलन, स्थिति, आसनादि—कुछ-न-कुछ अवश्य रहता है, परन्तु इस सर्वत्रदृष्टकार्यत्वरूप हेतुसे शरीरका सर्वगतत्व नहीं देखा जाता है। यदि कहो कि इन्द्रियाँ सर्वगत हैं; दूसरेके कारण गमनशील होनेसे, आकाशके समान अर्थात् जैसे आकाशका गमन घटादिरूप उपाधिके द्वारा होता है, वैसे ही इन्द्रियोंमें गमन शरीररूप उपाधिके द्वारा होता है, इस अनुमानसे इन्द्रियोंका सर्वगतत्व सिद्ध होगा, तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि शरीरके अवयवोंमें ही व्यभिचार बना हुआ है, क्योंकि उनका प्राणरूप उपाधिसे ही गमन होता है। [परन्तु शरीरके अवयव सर्वगत नहीं हैं। दूसरा भी दोष देते हैं—] इन्द्रियोंको सर्वगत माननेमें एक साथ सभी विषयोंका ज्ञान होना चाहिए। यदि कहा जाय कि शरीरमें ही इन्द्रियोंको अपने वृत्तिरूप कार्यका उत्पादन करनेकी योग्यता प्राप्त होती है, अतः उक्त दोष नहीं आता [अर्थात् सर्वगत होते हुए भी कार्यजननयोग्यता सर्वत्र नहीं है, किन्तु परिच्छिन्न शरीरमें ही है, अतः उक्त दोषका प्रसङ्ग नहीं है] तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि (इन्द्रियोंको सर्वगत मानकर शरीरके) बाहर इन्द्रियोंकी सत्ताकी कल्पना करना प्रमाण तथा प्रयोजन दोनोंसे शून्य है, इसलिए इन्द्रियोंको सर्वगत नहीं मान सकते।

बौद्धोंकी जो यह कल्पना है कि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं [अर्थात् परिच्छिन्न इन्द्रियाँ शरीरके एक देशमें ही स्थित हैं और विषय देशमें न जाकर ही ज्ञान प्राप्त करती हैं], वह युक्त नहीं है, क्योंकि यहाँपर प्रश्न होता है कि उन इन्द्रियोंमें

किं चक्षुःश्रोत्रयोरेवाऽप्राप्यकारित्वम् उतेतरेषामपि ? न तावदितरेषाम्; दूरत एव स्पर्शरसगन्धोपलब्धिप्रसङ्गात्। नाऽपि प्रथमः, विमते चक्षुः-श्रोत्रे प्राप्यकारिणी, बाह्येन्द्रियत्वाद्, घ्राणादिवत्, तेजसस्त्वतिदूरशीघ्र-गमनदर्शनादुन्मीलनमात्रेण चक्षुषो ध्रुवादिप्राप्तिरविरुद्धा। शब्दस्य च वीचिसन्तानवत् परम्परया श्रोत्रसमवायः प्राप्तिरिति यत्तार्किकैरुच्यते तदसत्, तथा सति 'इह श्रोत्रे शब्दः' इति प्रतीयेत; प्रतीयते तु 'तत्र शब्दः'

क्या आँख और कान ही अप्राप्यकारी (शरीर देशमें ही रहकर ज्ञानके जनक) हैं ? या और इन्द्रियाँ भी। इनमें आंख, कानसे अतिरिक्त इन्द्रियोंको तो ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि दूरसे ही स्पर्श, रस तथा गन्धका ज्ञान मानना पड़ेगा। प्रथम पक्ष (आंख तथा कानमें ही अप्राप्यकारित्व मानना) भी नहीं हो सकता, कारण कि विमत (विवादग्रस्त) आंख और कान प्राप्यकारी हैं (विषय देशमें जाकर ज्ञानके जनक हैं), बाह्येन्द्रिय होनेसे, नाक आदि इन्द्रियोंके समान। [घ्राणादि इन्द्रियोंमें उक्त अतिप्रसङ्गका वारण करनेके लिए प्राप्यकारित्व मानना आवश्यक है, अतः इन्हींका दृष्टान्त करके बाह्येन्द्रियमात्रमें प्राप्यकारिता मानना उचित है। आंखको प्राप्यकारी माननेमें उसके खुलते ही विलम्बके बिना कोशों दूर न जा सकनेकी आशङ्काका समाधान करते हैं—] बड़ी शीघ्रतासे अत्यन्त दूर तक तेज चला जाता है, यह प्रत्यक्ष है, इसलिए खुलते-खुलते ही आंखोंका ध्रुवादि देश तक जाना भी कोई विरुद्ध नहीं है। [इन्द्रियोंमें अप्राप्यकारित्व मानकर नैयायिकसम्मत शब्दकी कान तक प्राप्तिका खण्डन करनेके लिए उनके मतका अनुवाद करते हैं—] तरङ्गोंके सन्तानके समान परम्परासे कानके साथ शब्दका समवाय—सम्बन्ध—कर्णेन्द्रियप्राप्ति है [अर्थात् जैसे जलमें उत्पन्न हुई प्रथम तरङ्ग क्रमशः दूसरी-दूसरी तरङ्गोंको उत्पन्न करती हुई परम्परासे तटतक पहुँच जाती है, वैसे ही प्रथम उत्पन्न हुआ आकाशसमवायी शब्द क्रमशः दूसरे-दूसरे शब्दोंको उत्पन्न करता हुआ कर्णेन्द्रिय तक अपना सम्बन्ध प्राप्त करता है], ऐसा जो तर्कवादियोंका कहना है—वह भी युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि उक्त रीतिसे 'इस कानमें शब्द है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु प्रतीति तो यह होती है कि वहां—उस अमुक प्रदेशमें—शब्द हो रहा

इति। तस्माद्यथानुभवं श्रोत्रस्यैव तत्र गमनं कल्पनीयम्। तदेवं भौतिकानि परिच्छिन्नानि प्राप्यकारीणीन्द्रियाणि सन्तीति सिद्धम्।

किं तर्हि मनो नाम यस्मिन्नाऽऽत्मत्वमपरे लोकायतैकदेशिनो मन्यन्ते। नित्यं निरवयवमणुपरिमाणं मन इति तार्किकाः। तत्र न तावन्नित्यम्, परिच्छिन्नत्वाद्, घटवत्। विमतं नित्यम्, निरवयवद्रव्यत्वादात्मवत्, इति चेद्, न; हेत्वसिद्धेः। विमतं सावयवम्, करणत्वात्, चक्षुरादिवत्। अन्यथा मनसोऽन्नमयत्वं श्रुत्युक्तं बाध्येत। कथं तर्हि मूर्तद्रव्यानभिघात इति चेद्, जीवनदशायां देहाद्बहिर्निर्गमनाभावादिति ब्रूमः। मरणदशायां तु

है। इसलिए अनुभवके अनुसार उस देशमें कानके ही जानेकी कल्पना करना उचित है। इस प्रकार निर्णयके अनुसार सिद्ध हुआ कि इन्द्रियाँ भौतिक, परिच्छिन्न (शरीरके एक देशमें रहनेवाली) तथा प्राप्यकारी हैं।

[प्रसङ्गसे मनोविषयक विप्रतिपत्तिको दिखलाते हैं—] तो मन क्या वस्तु है, जिसको कि कुछ नास्तिक लोग आत्मा मानते हैं। इस विषयमें तार्किक लोग (न्याय-वैशेषिक) मनको नित्य, अवयवशून्य तथा अणु-परिमाण मानते हैं। इसमें प्रथम तो मन नित्य हो नहीं सकता, क्योंकि घटके समान वह परिच्छिन्न है।

शङ्का—'विमत मन नित्य है, अवयवशून्य द्रव्य होनेसे, आत्माके समान', इस अनुमानसे मन नित्य माना जा सकता है।

समाधान—नहीं, नित्य नहीं माना जा सकता, कारण कि अवयवशून्यद्रव्यत्व-रूप हेतु मनमें स्वरूपतः असिद्ध है, क्योंकि 'मन सावयव है, करण (ज्ञानसाधन) इन्द्रिय होनेसे, आंख आदिके तुल्य', इस अनुमानसे मन सावयव सिद्ध होता है। [अनुकूल तर्कके अभावकी आशङ्काका समाधान करते हैं—] अन्यथा—मनको सावयव न माननेसे—श्रुतिमें प्रतिपादित मनका अन्नविकार होना बाधित हो जायगा।

शङ्का—यदि मन अन्नविकार है, तो मूर्त द्रव्यसे उसका प्रतिघात—प्रतिबन्ध—होना कैसे वारण किया जा सकता है?

समाधान—जीवनदशामें—मनुष्यादिके जीते जी—वह (मन) देहसे बाहर नहीं जाता है। [अतः मूर्त द्रव्य द्वारा उसका प्रतिबन्ध नहीं होता, इससे मूर्तद्रव्यानभिघात भी मनको निरवयव सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।]

सावयवत्वेनाऽभिमतानां चक्षुरादीनामप्यप्रतिघातो विद्यत एव। अत एव सावयवत्वात् संयोगविभागवत्त्वाच्च घटादिवन्नाऽणुपरिमाणत्वम्। सर्वगतत्वे च युगपत् सर्वेन्द्रियसंयोगात् सर्वज्ञानप्रसङ्गः। मध्यमपरिमाणत्वे तु न कोऽपि दोषः। तदाऽपि स्थूलसूक्ष्मेषु हस्तिपुत्तिकादिदेहेषु क्रमेण प्राप्यमाणेषु कथं तत्तद्देहसमानत्वेन वृत्तिरिति चेद्, अवयवोपचयापचयाभ्यामिति ब्रूमः।

और मरनेपर तो सावयव माने हुए चक्षुरादि इन्द्रियोंका भी मूर्त द्रव्यसे प्रतिघाताभाव रहता ही है। [शङ्का करनेवाले वादीका तात्पर्य यह है कि जैसे सावयव चक्षुरादि इन्द्रियोंका मूर्त द्रव्य—दिवाल आदि—से प्रतिबन्ध होता है, वैसे ही मनका किसीसे भी प्रतिबन्ध नहीं देखा जाता है, इसलिए मनको निरवयव मानना चाहिए। समाधाताका तात्पर्य है कि जीवनदशामें इन्द्रियोंके प्राप्यकारित्व-पक्षमें चक्षुरादि इन्द्रियोंके समान मनका देहके बाहर निर्गमन न होनेसे मूर्त द्रव्य उसका प्रतिबन्ध नहीं कर सकता और मरणदशामें अवश्य मनका बहिर्निर्गमन होता है; परन्तु उस समय चक्षुरादिके समान मनका भी प्रतिबन्ध मूर्त द्वारा नहीं हो सकता।] इसलिए सावयव तथा संयोग-विभाग-शाली होनेपर भी मनको घटादिके समान अणुपरिमाण नहीं मान सकते अर्थात् जैसे घटादि अणुपरिमाण नहीं, वैसे मन भी अणु नहीं है। और सर्वगत—व्यापकीभूत महत्परिमाणवाला—माननेसे एक साथ ही सब इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे सब विषयोंका ज्ञान होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। मध्यमपरिमाण माननेमें तो कोई भी दोष नहीं आता।

शङ्का—मध्यमपरिमाण माननेपर भी बड़े और छोटे हाथी तथा फतिंगाके—पतंगाके—क्रमशः प्राप्त होनेवाले शरीरोंमें तत्तत् देहके समानरूपसे रहना कैसे हो सकेगा [अर्थात् हाथीके शरीरका परिवर्तन होनेपर कदाचित् चींटीकी देहकी प्राप्ति होती है और चींटीकी देहका परिवर्तन होनेपर हाथीके शरीरकी प्राप्ति होती है, इस क्रमसे मिलनेवाले स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंमें स्थूल-सूक्ष्म मनका समावेश कैसे हो सकेगा? हाथीके शरीरका निर्वाह अतिसूक्ष्म चींटीके मनसे कैसे होगा और अतिसूक्ष्म चींटीके शरीरमें इतने बड़े हाथीका मन कैसे आ सकेगा?]

समाधान—अवयवोंके उपचय तथा अपचयसे होगा ऐसा हम

शाक्यास्तु समनन्तरप्रत्यय एवोत्तरज्ञानकरणतया मन इति प्रतिपेदिरे, तदसङ्गतम् ; व्याप्तिमनपेक्ष्य केवलस्य पूर्वज्ञानस्योत्तरज्ञानजनकत्वायोगात् । लिङ्गज्ञानस्य व्याप्तिसापेक्षस्यैव लिङ्गिज्ञानजनकत्वदर्शनात् । शब्दज्ञानं व्याप्त्यनपेक्षमेवाऽर्थज्ञानजनकमिति चेद् , न; त्वन्मते शब्दस्याऽनुमानान्तःपातितया तत्राऽपि व्याप्त्यपेक्षत्वात् । विशेषणज्ञानं व्याप्त्यनपेक्षमेव विशिष्टज्ञानजनकमिति चेद्, न; विशिष्टज्ञानस्य संप्रयोगजन्यत्वात् । अथ समनन्तरातीतप्रत्यय उत्तरज्ञानं न जनयति किन्तु

कहते हैं। [अर्थात् चींटीके मनके अययव हाथीका शरीर पानेपर बढ़ जाते हैं और चींटीके शरीरमें आनेवाले हाथीके मनके अवयव घट जाते हैं]।

बौद्धोंका कहना है कि आगे होनेवाले ज्ञानके प्रति समनन्तरप्रत्यय कारण है, अतः वही (समनन्तरप्रत्यय ही) मन है, परन्तु यह मत मानने योग्य नहीं है; कारण कि व्याप्तिकी अपेक्षा न करके केवल पूर्व ज्ञानको उत्तर ज्ञानका जनक मानना युक्तियुक्त नहीं हो सकता; कारण कि व्याप्तिकी अपेक्षा करके ही हेतुका ज्ञान साध्यके ज्ञानका जनक होता है, यही अनुभव है।

शङ्का—शब्दसे उत्पन्न हुआ ज्ञान व्याप्तिकी अपेक्षा न करके ही अर्थज्ञानका (शाब्दबोधका) जनक होता है।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि तुम्हारे मतमें शब्द प्रमाण अनुमानके ही अन्तर्गत माना गया है, अतः उसमें (शब्दज्ञानमें) व्याप्तिकी अपेक्षा है ही।

शङ्का—विशेषणज्ञान व्याप्तिज्ञानके बिना ही विशिष्टज्ञानका जनक हो जाता है [अतएव विशेषणीभूत पूर्वज्ञान स्वतन्त्ररूपसे ही उत्तर ज्ञानका जनक हो जायगा]।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि संप्रयोगसे विशिष्ट ज्ञान होता है। [जैसे 'नीलोऽयं घटः' (यह नीला घड़ा है) इस आकारका विशिष्ट ज्ञान विशेषणीभूत नीलादि पदार्थके ज्ञानके संस्कारसे सहकृत इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वैसे ही सभी विशिष्ट ज्ञान संप्रयोगसे ही उत्पन्न होंगें, समनन्तरप्रत्ययरूप मनसे नहीं, यह भाव है।] यदि मानो कि समनन्तर पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञानका

तस्याऽऽकारमात्रं समर्पयतीति चेद्, नः आकाराकारिणोरभेदात् । आकारस्य स्वाभाविकतयाऽन्यापेक्षाभावात् । तस्मादन्यदेव सावयवं मन इति सिद्धम् ।

ननु कश्चाऽयं वास्तव आत्मा यो देहादिषु विज्ञानान्तेषु भ्रान्तैर्वादिभिरारोप्यते । तत्र सर्वगतोऽयं जीव आत्मेति केचित्, तदसत्; शुष्कतार्किकाणां साधकाभावात् ।

अथ मतम्—देहाद्बहिरन्तश्च सर्वाणि भोगसाधनान्यात्मभोगायैव व्याप्रियन्ते । तद्व्यापारश्चाऽदृष्टवदात्मसंयोगापेक्षस्ततोऽसौ सर्वगत इति । तत्र किं यस्मिन्नाऽऽत्मप्रदेशेऽदृष्टं तत्प्रदेशे संयोगोऽपेक्ष्यते उताऽदृष्टो-

जनक नहीं है । किन्तु उसको (उत्तर ज्ञानको) आकारमात्र देता है, * तो यह भी सिद्धान्त उचित नहीं है, कारण कि आकार और जिसका वह आकार है, ऐसे आकारीमें किसी प्रकारका भेद नहीं है और आकार स्वाभाविक होनेसे उसमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए समनन्तर प्रत्ययसे भिन्न ही कोई दूसरा सावयव मन सिद्ध होता है ।

[अब मुख्य उपादेय आत्माके विषयमें विप्रतिपत्ति दिखलाते हैं—] यह वस्तुभूत आत्मा ऐसा कौन-सा पदार्थ है ? जिसका कि भ्रममें डूबे हुए नास्तिकादिवादी देहसे लेकर विज्ञान पर्यन्त अनात्मपदार्थोंमें आरोप करते हैं । इनमें से कुछ वादियोंका कहना है कि सर्वत्र व्यापक यह जीव ही आत्मा है, परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, कारण कि शुष्क तर्कवादियोंके लिए उक्त मतकी सिद्धि करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है ।

यदि यह माना जाय कि देहसे बाहर और भीतर सभी प्रकारके भोगोंके साधन आत्माके भोगके लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं । और उन भोगके साधनोंका व्यापार अदृष्टाश्रय आत्माके साथ संयोगकी अपेक्षा रखता है, इसलिए यह आत्मा (सर्वगत) व्यापक है, ऐसा मानना चाहिए । इस मतमें प्रश्न उठता है कि क्या जिस प्रदेशमें अदृष्ट है, उसी प्रदेशमें आत्माके संयोगकी अपेक्षा होती है, या अदृष्टसे उपलक्षित आत्माका संयोग अपेक्षित है अर्थात्

* बौद्धमतमें अधिपति—चक्षुरादि, सहकारी आलोक, समनन्तर तथा आलम्बन ये चार प्रत्यय ज्ञानके जनक हैं । इनमें पूर्व प्रत्ययसे ज्ञानस्वरूप, दूसरे प्रत्ययसे ज्ञानकी प्रकटता (स्पष्टता), तीसरेसे बोधका आकार तथा चौथेसे घटादिका आकार होता है ।

पलक्षितात्मसंयोगः ? नाऽऽद्यः, देहावच्छिन्नात्मसमवेतादृष्टस्य स्वर्गभोगहेतुत्वात्। न द्वितीयः, मोक्षेऽपि भोगप्रसङ्गात्। तस्मादागमादेव सर्वगतत्वसिद्धिः।

न चाऽयमात्मा जड़ः, प्रत्यक्षानुमानागमैः स्वप्रकाशत्वावगमात्। तत्र प्रत्यक्षं सौषुप्तमवगन्तव्यम्। अनुमानान्यपि आत्मा स्वप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकरहितत्वात्, प्रदीपवत् संवेदनवच्च। तथा विषय-

---

केवल आत्माका संयोग ? इनमें प्रथम कल्प नहीं बन सकता, कारण कि देहावच्छिन्न आत्मामें रहनेवाले अदृष्ट स्वर्गरूप भोगके कारण हैं [अर्थात् इस भूलोकके देहमें रहनेवाले आत्मसमवेत अदृष्टसे स्वर्गमें भोग मिलता है, इससे अदृष्टवान् भूलोक या भूलोकस्थ शरीरके प्रदेशसे भिन्न स्वर्गरूप प्रदेशमें भोगके मिलनेसे अदृष्टवत् प्रदेशसे संयोगका होना सिद्ध नहीं हो सका] दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्षदशामें भी भोगके प्राप्त होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। आत्मसंयोग सर्वत्र ही है, इसलिए केवल आत्मसंयोग फलका (भोगका) जनक नहीं होता। [अन्यथा सबको सब कालमें सुखदुःखादि सब भोग हो जायँगे] इसलिए आगम द्वारा ही आत्माका सर्वगत होना सिद्ध हो सकता है। (केवल शुष्क तर्कसे नहीं)।

आत्मा जड़ है, ऐसी आशङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कारण कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्रोंके द्वारा आत्मा स्वप्रकाश है, ऐसा ज्ञात होता है। इन प्रमाणोंमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे सुषुप्ति कालका प्रत्यक्ष लेना चाहिए। [सुषुप्तिसे उठनेके अनन्तर 'मैं आनन्दपूर्वक सोया' इस प्रकार सुषुप्तिकालमें अनुभूत सुखका स्मरण होता हैं, इससे सुषुप्तिकालमें सुखानुभवकी प्रयोजक किसी चक्षुरादिकी वृत्तिके न होनेके कारण वहां स्वयंप्रकाशात्मक आत्माका ही सद्भाव मानना होगा। वह आनन्द दुःखाभावरूप नहीं है, इस विषयमें प्रथम वर्णकमें ही विशदरूपसे वर्णन किया गया है।] अनुमान प्रमाण भी अनेक हैं—जैसे 'आत्मा स्वप्रकाश है, अपने सद्भावमें प्रकाशके अभावसे रहित होनेसे, प्रदीप या संवेदन (ज्ञान) के समान। [यदि प्रदीप या ज्ञान विद्यमान हैं; तो सम्भव नहीं कि उनका प्रकाश न हो, उनका प्रकाश अवश्य होता है। घटादिके रहते हुए भी यदि आलोकादि सहकारी कारण न हों, तो उनका

प्रकाशकर्तृत्वात्, प्रदीपवत्। विषयप्रकाशाश्रयत्वात्, आलोकवत्। अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात् संवेदनवत्। आत्मा सति धर्मिण्यजन्यप्रकाशगुणः, प्रकाशगुणत्वात्, आदित्यवत्। आगमश्च—'अत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्यादिः। स चाऽयमात्मा सर्वशरीरेष्वेक एव, सर्वत्राऽहमित्येकाकारप्रत्ययवेदनीयत्वाद्, गोत्ववत्। शरीराणां भिन्नत्वादेवाऽतीतशरीरादाविव न भोगानुसंधानप्रसङ्गः। ननु तर्ह्यस्याऽपि मनुष्य-

---

प्रकाश नहीं हो सकता। और आत्मा तो प्रदीपादिके समान स्वप्रकाश है]। तथा (आत्माके स्वप्रकाशके साधनेमें अन्य भी हेतु हैं, जैसे) विषयप्रकाशका कर्ता होनेसे, दीपकके समान विषयप्रकाशका आश्रय होनेसे, आलोकके समान, इन्द्रियोंका विषय न होते हुए अपरोक्षरूप होनेसे, संवेदनके तुल्य (आत्मा स्वप्रकाश है)। एवं धर्मी होते हुए भी आत्मा अजन्य (किसीसे उत्पन्न न होनेवाले) प्रकाशरूप गुणवाला है, सूर्यके सदृश। शास्त्र भी कहता है 'यहां सुषुप्तिमें यह पुरुष (आत्मा) स्वयंज्योति—स्वयंप्रकाश—है' इस प्रकार प्रमाणसिद्ध यह आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंमें एक ही है, कारण कि सर्वत्र 'अहम्' (मैं) इस प्रकार गोत्वके समान एक ही प्रकारकी प्रतीतिसे जाना जाता है। [जैसे सकल गोव्यक्तियोंमें गोत्वकी समानाकार प्रतीति होनेसे गोत्व एक ही अनुगत है, वैसे ही सकल मनुष्य-शरीरोंमें 'मैं—अहम्—' इत्याकारक अनुगत प्रतीतिसे अहम्-प्रतीतिवेद्य भी एक ही है।] और शरीरोंका परस्पर भेद होनेसे ही अतीत शरीरोंमें जैसा भोगका स्मरण होता है, वैसा भोगके अनुसन्धानका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। [यदि सभी शरीरोंमें आत्मा एक ही है, तो सबको सभीके भोगके परिज्ञानकी प्रसक्ति होनी चाहिए, इस प्रकार पूर्वपक्षी आशङ्का करता है, इसपर समाधाताका कहना है कि जैसे एक ही देवदत्त आदिको अपने जन्म-जन्मान्तरोंमें अनुभूत भोगोंका अनुसंधान जन्मान्तरोंके शरीरोंके अलग अलग होनेके कारण नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी देवदत्त और यज्ञदत्त आदिके शरीरका परस्पर भेद होनेसे एकको दूसरेके भोगका अनुसंधान नहीं होता अर्थात् भोगानुसंधान एक ही शरीरमें होता है, भिन्न-भिन्न शरीरोंमें नहीं होता, यह भाव है।]

शरीरस्य प्रतिक्षणं परिणामभेदाद्भेदे सत्यत्राऽप्यात्मनो भोगाननुसंधानं प्रसज्येतेति चेद्, न; 'तदेवेदं शरीरम्' इति प्रत्यभिज्ञया तदेकत्वावगमात्। न च ज्वालाप्रत्यभिज्ञावद् भ्रान्तत्वम्, तत्र सूक्ष्मदर्शने प्रत्यक्षत एव ज्वालानां भेददर्शनात्; अत्र तदभावाद्। तदेवमेकः स्वप्रकाश आत्मेति सिद्धान्तः।

तमेतमात्मानमवैदिका देहादिबुद्ध्यन्तपदार्थरूपत्वेन प्रतिपन्नाः। मीमांसकादयस्तु तस्य देहादिव्यतिरेकं प्रतिपद्याऽपि कर्त्तारं भोक्तारं तमिच्छन्ति।

तदेतत्सांख्या न सहन्ते; न तावदात्मनः कर्तृत्वं स्वाभाविकम्, सर्वगतस्य निरवयवस्याऽऽत्मनः परिस्पन्दपरिणामलक्षणक्रियावेशा-

---

शङ्का—तब तो इस मनुष्य शरीरमें भी प्रतिक्षण होनेवाले परिणामके भेदसे भेद होनेपर भोगका अनुसन्धान नहीं होना चाहिए।

समाधान—यह दोष नहीं आता, कारण कि 'यह वही शरीर है', इस प्रकार होनेवाली प्रत्यभिज्ञाके आधारपर उस शरीरमें एकत्वका ही ज्ञान होता है। इस एकत्व प्रतीतिकी जनक प्रत्यभिज्ञाको दीपज्वालाविषयक प्रत्यभिज्ञाके समान भ्रम नहीं मान सकते, कारण कि दीपज्वालामें सूक्ष्म विचार करनेपर प्रत्यक्षसे ज्वालाओंका भेद देखा जाता है और शरीरमें प्रत्यक्षसे भेद नहीं ज्ञात होता है, इसलिए आत्मा एक और स्वप्रकाश है, ऐसा सिद्धान्त है।

इस स्वप्रकाश आत्माको वेदबाह्य प्रतिवादी देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त पदार्थके रूपमें जानते हैं। (और वैदिकोंमें भी) मीमांसक आदि तो आत्मा देहादिसे भिन्न है, ऐसा जानकर भी उसको कर्ता और भोक्ता मानते हैं।

इस मीमांसकमतको सांख्यवादी सहन नहीं करते। [उनका कहना है कि] आत्मामें कर्तृत्व स्वभावसिद्ध तो हो ही नहीं सकता, कारण कि सर्वत्र व्यापकस्वरूप और अवयवशून्य—अखण्ड—आत्मा परिस्पन्द या परिणाम-स्वरूप क्रियाका आश्रय नहीं बन सकता। [अर्थात् व्यापक होनेसे उसमें परिस्पन्द—चलनात्मक—क्रिया और अखण्ड होनेसे परिणाम नहीं हो सकता, जो कि परिच्छिन्न और सखण्डमें ही सदा रहते हैं और उक्त क्रियाका

योगात् । स्वाभाविकत्वे चैतन्यवत्क्रियावेशो न कदाचिदपि व्यभिचरेत् । नाऽपि कर्तृत्वमागन्तुकम्, निरवयवे कर्तृत्वहेतूपरागायोगात् । नाऽपि बुद्धेः कर्तृत्वमात्मन्यारोपयितुं शक्यम्, अख्यातिवादे भ्रान्त्यभावात् । तस्मान्नाऽस्ति कर्तृत्वम् । न चैवं भोक्तृत्वमपाकर्तुं शक्यम्, नहि सुखदुःखान्वयो भोगः, येन कर्तृत्ववद्व्यभिचरेत्, किन्तु चिद्रूपत्वेन दृश्यसाक्षित्वं भोक्तृत्वम् । तस्माद्भोक्तैवाऽऽत्मेति सांख्यानां पक्षः ।

वैशेषिकयोगनैयायिका उक्ताद्भोक्तुर्जीवादतिरिक्तः सर्वज्ञः सर्वशक्ति-

---

आश्रय ही कर्ता होता है ।] यदि कर्तृत्वको स्वाभाविक मानो, तो चैतन्यके समान वह कभी भी व्यभिचरित नहीं होगा [अर्थात् जैसे आत्माका स्वाभाविक चैतन्य नित्यसिद्ध (सदैव विद्यमान) रहता है, वैसे ही क्रियाश्रयत्वरूप कर्तृत्व भी सदा ही विद्यमान रहना चाहिए] और कर्तृत्वको आगन्तुक भी नहीं मान सकते, क्योंकि अवयवरहित पदार्थमें कर्तृत्वके उत्पादक हेतुओंका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता । बुद्धिमें विद्यमान कर्तृत्वका आत्मामें आरोप भी नहीं किया जा सकता, [सांख्य बुद्धिमें ही कर्तृत्वका स्वीकार करते हैं और पुरुषको निर्लेप मानते हैं । उस बुद्धिके कर्तृत्वका आत्मामें आरोप मीमांसक आदिकी ओरसे कहा जाता है, यह शङ्काका तात्पर्य है ।] कारण कि अख्यातिवादमें भ्रम ज्ञानका अभाव है । [अख्यातिवादी मीमांसक ज्ञानमात्रको यथार्थ मानते हैं । शुक्तिमें 'यह रजत है' इस ज्ञानमें 'यह' अंश प्रत्यक्ष और 'रजत' अंश स्मरणरूप है, इसलिए दोनों अंश यथार्थ ही हैं । और आरोपमें तो यथार्थता रहती ही नहीं है, दूसरेके धर्मका दूसरेमें प्रतीत होना ही भ्रम है । परन्तु मीमांसक ऐसा मानते नहीं हैं, अतः उनके मतमें बुद्धिधर्मका आरोप आत्मामें नहीं हो सकता, यह भाव है] । इसलिए आत्मामें कर्तृत्व नहीं है । इस रीतिसे आत्मामें भोक्तृत्वका खण्डन नहीं किया जा सकता, कारण कि सुख या दुःखकी अनुवृत्ति—सम्बन्ध—तो भोग कहलाता नहीं है, किन्तु चिद्रूप होकर दृश्यका (जड़का) साक्षी—प्रकाशक—होना ही भोक्तृत्व है, इसका आत्मामें कभी भी व्यभिचार नहीं है, इसलिए आत्मा भोक्ता ही है, ऐसा सांख्यशास्त्रकारोंका पक्ष है ।

वैशेषिक, योग तथा नैयायिक पूर्वोक्त साङ्ख्यसम्मत भोक्तारूप जीवसे

रीश्वरोऽपि कश्चिदस्तीत्यनुमिमते । विमतं जगत् स्वरूपोपादानाद्यभिज्ञकर्तृकम्, विविधकार्यत्वात्, प्रासादादिवत्। तत्र कल्पनालाघवेनैककर्तृकत्वोपादानात् सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति वैशेषिकादयः। विमता ज्ञानैश्वर्यशक्तयः कांचित्परां काष्ठां प्राप्ताः, सातिशयत्वात्, परिमाणवत् इति योगाः। विमतं धर्माधर्मफलं कर्मतत्फलतद्भोक्त्राद्यभिज्ञेन दीयते, व्यवहितकर्मफलत्वात्, सेवाफलवत्, इति नैयायिकाः।

भिन्न दूसरा कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर भी पदार्थ है, ऐसा अनुमान करते हैं। [अनुमानका स्वरूप दिखलाते हैं—] विमत—विवादग्रस्त प्रपञ्च—जगत्के स्वरूप तथा उपादान कारण दोनोंको जाननेवाले कर्ता द्वारा बना है, नाना प्रकारका कार्य होनेसे, प्रासादके—महल या कोठीके—समान। इसमें कल्पनालाघवके बलसे प्रपञ्चको एककर्तृक माननेसे सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होती है, यह वैशेषिक आदि मानते हैं। [नाना प्रकारकी रचनाओंसे पूर्ण विश्वको वही बना सकता है, जो इतनी वैचित्र्यपूर्ण रचनाओंकी जानकारी रखता हो तथा इन रचनाओंके उपादान कारण परमाणु आदिका भी पूर्ण परिचय रखता हो, ऐसा सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है। अल्पज्ञको कर्ता माननेमें तो अनेक कर्ताओंके माननेसे गौरव हो जायगा]। पातञ्जल—योगदर्शनकार—कहते हैं कि विमत ज्ञान तथा ऐश्वर्यकी शक्तियां किसी अन्तिम काष्ठाको प्राप्त हैं, सातिशय होनेसे, परिमाणके सदृश, [जैसे सेर-छटांक, गिरह-गज आदि छोटे बड़े परिमाण सातिशय होनेसे अन्तिम सीमावाले होते हैं, छोटेमें परमाणु और बड़ेमें महत्परिमाण; वैसे ही ज्ञान तथा ऐश्वर्यकी शक्तियां भी सातिशय होनेसे चरमगति वाली होती हैं, वह चरम गति ईश्वर ही है। उससे अधिक ज्ञान तथा ऐश्वर्यशाली कोई नहीं है।] इस अनुमानसे ईश्वर सिद्ध होता है। नैयायिकोंका अनुमान है कि विमत धर्म तथा अधर्मका फल (सुख-दुःखादि), कर्म, उनके फल तथा उनके भोक्ताको जाननेवाला ही देता है, व्यवहित कर्मोंका फल होनेसे, सेवाके फलके सदृश, [कर्म क्रियाकलापरूप होनेसे विनाशी हैं, इन विनाशी कर्मोंसे कालान्तरमें होनेवाला फल कैसे हो सकता है? क्योंकि कारणको कार्यके अव्यवहित पूर्व क्षणमें रहना आवश्यक है, इसलिए व्यवहित कर्मोंका फल देनेवाला कोई ऐसा पुरुष होना चाहिए जो कर्मोंके

नन्वीश्वरपक्षोपन्यासो न युक्तः, यतोऽत्र जिज्ञास्ये प्रत्यगात्मरूपे ब्रह्मणि विप्रतिपत्तिर्दर्शयितुं प्रक्रान्ता। नैष दोषः; प्रत्यगात्मा तस्मादीश्वरादन्योऽनन्यो वेति प्रत्यगात्मविप्रतिपत्तावेव पर्यवसानात्।

अत्र भास्कर आह—नेह प्रत्यगात्मा जिज्ञास्यते, येन तद्विप्रतिपत्तिरुपन्यस्येत; किन्त्वीश्वर एव ब्रह्मशब्देनोद्दिश्य विचार्यते, जन्मादिसूत्रे जगत्कारणत्वलक्षणाभिधानात्। तस्य च लक्षणस्य प्रत्यगात्मन्यसंभवादनुभवविरोधादिति। तत्र वक्तव्यमीश्वरो जगत्कारणादन्योऽ-

---

फल और भोक्ता दोनोंको जानता हो, वह सर्वज्ञ ईश्वर[1] ही हो सकता है।]

शङ्का—[आत्मविषयक विप्रतिपत्तिके प्रसङ्गमें] ईश्वरका वर्णन करना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें जिज्ञासाके विषय प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्मकी विप्रतिपत्ति दिखलानेके लिए ही प्रकरण चल रहा है।

समाधान—यह दोष नहीं है, कारण कि प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म उस ईश्वरसे भिन्न है या अभिन्न है? इस रीतिसे ईश्वरका उपन्यास भी प्रत्यगात्मविषयक विप्रतिपत्तिके ही अन्तर्गत आ जाता है।

इस विषयपर भास्करका कहना है—इस प्रथम सूत्रमें प्रत्यगात्माकी (ब्रह्मकी) जिज्ञासा नहीं की जा रही है। जिससे ब्रह्मविषयक विप्रतिपत्तिका उपन्यास किया जाय, किन्तु ब्रह्मशब्दसे ईश्वरका ही उद्देश करके विचार किया जाता है, कारण कि जन्मादि सूत्रमें उसीका जगत्कारणत्वरूप लक्षण किया गया है। यह जगत्कारणत्वरूप लक्षण अनुभवसे विरोध होनेसे ब्रह्ममें नहीं घट सकता है, [क्योंकि वह तो निर्धर्म तथा निर्लेप है]। भास्करके उक्त मतके विषयमें यह कहना चाहिए कि क्या ईश्वर जगत्के कारणसे भिन्न है? या अभिन्न है?

---

१. इसी आशयसे महिम्नस्तोत्रमें कहा गया है—

'क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः॥'

अर्थात् हे महेश्वर! आपकी आराधनाके बिना क्षणविनाशी क्रियाकलापात्मक यज्ञ फल देनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं, इसलिए आपके ऊपर भरोसा रखकर ही याज्ञिक पुरुष श्रुतिमें श्रद्धा करके यज्ञोंमें प्रवृत्त होते हैं।

नन्यो वेति । अन्यत्वे 'प्रधानमेके परमाणूनपरे' इत्यादिना त्वच्छास्त्रे जगत्कारणविप्रतिपत्तिप्रदर्शनमसमञ्जसं स्यात्, ईश्वरविप्रतिपत्तेरेव त्वया दर्शनीयत्वात् । अनन्यत्वे च त्वदीयः प्रधानपरमाण्वादिपक्षोपन्यास ईश्वराभिप्रायः स्याद्, न च तद्युक्तम् ; नहि वादिनः प्रधानमीश्वरः परमाणुर्वेश्वर इति विप्रतिपद्यन्ते । यद्यपि प्रत्यगात्मनि जगत्कारणत्वं पामरा नाऽनुभवन्ति, तथापि श्रुतिस्मृतिन्यायकुशला अनुभवन्त्येव । एवं च श्रुत्यादिप्रसिद्धजगत्कारणत्वलक्षणेन विप्रतिपद्यमानप्रत्यगात्मविशेषस्वरूपे ब्रह्मणि बोध्यमाने यज्जगत्कारणं तद् ब्रह्मेत्येतादृशी वचनव्यक्तिर्द्वितीयसूत्रे युज्यतेतराम् । तथा पुरुषाणां क्लेशकरदेहादिबुद्ध्यन्तबन्धनिवर्त्तनेन सत्य-ज्ञानानन्तानन्दप्रत्यगात्मब्रह्मस्वरूपपरिशेषः फलिष्यति । त्वत्पक्षे तु

यदि ईश्वर भिन्न है, तो 'कोई लोग प्रधानको—प्रकृतिको—और दूसरे परमाणुओंको' इत्यादि ग्रन्थसे तुम्हारे शास्त्रमें जगत्‌के कारणके विषयमें विप्रतिपत्तिका दिखलाना अयुक्त होगा, क्योंकि तुमको तो ईश्वरके विषयमें ही विप्रतिपत्ति दिखलानी चाहिए थी । यदि जगत्‌के कारणसे ईश्वर भिन्न नहीं है तो तुम्हारा दर्शाया हुआ प्रधान तथा परमाणु आदि पक्षोंका उपन्यास भी ईश्वरके ही अभिप्रायवाला होगा, अर्थात् उक्त पक्षोंसे ईश्वरका वर्णन समझा जायगा, जो कि युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि वादी और प्रतिवादियोंका ऐसा विवाद नहीं है कि प्रधान ईश्वर है ? या परमाणु ईश्वर है ? यद्यपि पामर (मूर्ख) प्रत्यगात्मा ब्रह्ममें जगत्कारणत्वका अनुभव नहीं करते हैं, [अर्थात् मूर्ख ब्रह्म ही संसारका कारण है, ऐसा नहीं समझते हैं] तथापि श्रुति, स्मृति तथा न्याय शास्त्रमें प्रवीण विद्वान् तो ऐसा अनुभव करते ही हैं । इस परिस्थितिमें श्रुति आदिसे प्रसिद्ध संसारकारणत्वरूप लक्षणके बलसे विप्रतिपत्तिविषयक प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्मके बोधित होनेपर 'जो संसारका कारण है, वह ब्रह्म है' इस प्रकार वचनका स्वरूप होना दूसरे (जन्माद्यस्य यतः) सूत्रमें अत्यन्त युक्तिपूर्ण है । एवं पुरुषोंको क्लेश देनेवाले देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त बन्धकी निवृत्ति करनेसे सत्य (त्रिकालाबाधित), ज्ञान (साक्षात्कारात्मक बोधस्वरूप), अनन्त (परिच्छेदसे रहित), आनन्द (नित्यनिरतिशय सुखरूप) प्रत्यगात्मा ब्रह्मस्वरूप परिशेषात् फलित हो जायगा ।

जगत्कारणस्य विप्रतिपद्यमानत्वात्तद्विशेष एव ब्रह्मानुवादेन बोधनीयः। तथा च यद् ब्रह्म तज्जगत्कारणमित्येवं वचनव्यक्तिः सूत्रस्याऽऽपद्येत, पुरुषाणां च न किंचित् प्रयोजनं तद्बोधे स्यात्। न चोपासनं प्रयोजनम्, अरोपितरूपेणाऽप्युपासनसंभवे तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात्। तस्मादसङ्गतोऽयं भास्करपक्षः।

परमार्थदर्शिनस्तु य ईश्वरः स एव प्रत्यगात्मेति मन्यन्ते। विमतौ जीवेश्वरौ वस्तुतो न भिन्नो, उपाधिपरामर्शमन्तरेणाऽविभाव्यमानभेदत्वाद्, बिम्बप्रतिबिम्बवत्। अन्यथा ब्रह्मणि निरतिशयबृहत्यर्थान्वयो न सिध्येत्। तस्य कृत्स्नदेशकालव्यापित्वेऽपि जीवेभ्यो भिन्नत्वाद्वस्तुतः सर्वगतत्वाभावात्।

तुम्हारे (भास्करके) मतमें तो जगत्के कारणकी विप्रतिपत्ति होनेसे ब्रह्मका अनुवाद करके उसके (जगत्कारणके) विशेषको ही दिखलाना होगा। इस परिस्थितिमें जो ब्रह्म है वही जगत्कारण है, इस प्रकारका वाक्यस्वरूप दूसरे सूत्रका प्राप्त होगा और उस (जगत्कारणके) बोधसे पुरुषोंका कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होगा। उपासनाको भी उसका प्रयोजन नहीं मान सकते, कारण कि आरोपितरूपसे भी उपासनाका सम्भव है, इसलिए उसके लिए उसका प्रतिपादन करना व्यर्थ ही है। इसलिए उक्त भास्करका मत असङ्गत है अर्थात् प्रधानतया ईश्वरविषयक विप्रतिपत्ति दिखलानेका कथमपि अवसर नहीं है।

परमार्थदर्शी अर्थात् ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार किये हुए वेदान्तदर्शनकार तो 'जो ईश्वर है वही प्रत्यगात्मा है' ऐसा मानते हैं। [अपने मतका साधक अनुमान करते हैं—] विमत जीव और ईश्वर, परमार्थतः भिन्न नहीं हैं (एक ही हैं), उपाधिके सम्बन्धज्ञानके बिना भेदका बोध न होनेसे; बिम्ब और प्रतिबिम्बके समान। अन्यथा ब्रह्मपदार्थमें 'बृह्' धातुके निरतिशयरूप अर्थका सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा, कारण कि उसके (ब्रह्मके) सम्पूर्ण देश और कालमें व्याप्त होनेपर भी जीवोंसे भिन्न होनेके कारण वस्तुतः सर्वगतत्व सिद्ध नहीं हो सकता। [वह वस्तुतः सर्वगत तभी माना जायगा, जब सकल वस्तुओंमें उपादानरूपसे अनुस्यूत होगा, जीवको ब्रह्मसे भिन्न माननेमें ब्रह्मके जीवपदार्थमें

ननु बृहत्यर्थानुगमाय ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वाङ्गीकारे दुःखात्मकताया अप्यङ्गीकार्यत्वादपुरुषार्थता स्यात् । आनन्दरूपत्वमप्यस्तीति पुरुषार्थतेति चेद्, मैवम्; नहि तृप्तिहेतुरित्येतावता विषमिश्रितान्नं पुरुषैरर्थ्यते । 'न लिप्यते लोकदुःखेन' इत्यादिशास्त्रान्न दुःखात्मकतेति चेद्, न; 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति सर्वतादात्म्यश्रुत्या सर्वोपादानत्वलक्षणयुक्त्या च तस्य बाधितत्वात् । अथैकदेशिमतमाश्रित्य सर्वज्ञस्याऽज्ञानमिथ्याज्ञानाभावा-न्नाऽनर्थसंबन्ध इति चेद्, न; तन्मते सर्वप्रपञ्चतादात्म्यस्य वास्तवस्य जननायाऽविद्याद्यनपेक्षणात् । अत एव तत्त्वज्ञाने सत्यप्यपायस्य दुःसम्पाद-

---

अनुस्यूत न होनेसे उक्त सर्वगतत्व नहीं हो सकता, इसलिए जीव और ईश्वर वस्तुतः अभिन्न हैं, भिन्न नहीं हैं, यह तात्पर्य है]।

शङ्का—'बृह्' धातुके अर्थके अनुगमके लिए ब्रह्मको सर्वात्मा (सकलवस्तु-स्वरूप) माननेपर उसमें दुःखस्वरूपता भी माननी होगी, इससे वह पुरुषार्थ ही न होगा । यदि कहो कि आनन्दस्वरूप भी तो ब्रह्म है, इसलिए उसमें पुरुषार्थत्व है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इतनेसे वह पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता, कारण कि विष मिला हुआ अन्न भूख अवश्य मिटा सकता है, पर पुरुष उसको चाहते नहीं हैं [अर्थात् वह विषमिश्रित अन्न पुरुषार्थ नहीं होता, वैसे ही आनन्दरूप ब्रह्म भी दुःखमय होनेसे पुरुषार्थ नहीं हो सकता] 'वह ईश्वर मनुष्योंके दुःखसे दुःखी नहीं होता' इत्याद्यर्थक शास्त्रोंके आधारपर ब्रह्म दुःखात्मक नहीं है, ऐसा मानना भी उचित नहीं है, कारण कि 'यह सब कुछ आत्मा ही है' इत्याद्यर्थक सकल प्रपञ्चके साथ तादात्म्यका बोधन करनेवाली श्रुतिसे और सर्वोपादानत्वरूप ब्रह्मके लक्षणकी युक्तिसे भी उक्त शास्त्रका बाध हो जाता है । यदि किसी एकदेशीके मतका आश्रयण करके यह माना जाय कि सर्वज्ञमें अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान नहीं हैं, अतः अनर्थका (पुरुषार्थभिन्न दुःखका) उसमें सम्बन्ध नहीं है, तो वह भी नहीं मान सकते, कारण कि उस एकदेशीके मतमें सम्पूर्ण प्रपञ्चके वस्तुभूत तादात्म्यकी उत्पत्तिके लिए अविद्या आदिकी अपेक्षा नहीं होती है । [यदि प्रपञ्चतादात्म्यकी उत्पत्तिके लिए अविद्यादिकी अपेक्षा होती, तो कह सकते थे कि सर्वज्ञमें अविद्याका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए

त्वात् । अथाऽपि ब्रह्मणो धर्माधर्मरहितत्वान्न दुःखादिसंबन्धस्तदनुभवो वा संभवतीति चेद्, न; दुःखादिसर्वप्रपञ्चोपादानतया तत्संबन्धस्य सर्वज्ञतया तदनुभवस्य चाऽवारणीयत्वात् । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया कार्यप्रपञ्चाद् ब्रह्मणो भिन्नत्वं वा कारणाकारणरूपेण ब्रह्मद्वयं वाऽभ्युपगम्येत; तदा बृहत्यर्थो नाऽनुगच्छेत् । तस्मात् सर्वात्मकं सर्वज्ञं ब्रह्माऽपुरुषार्थतया न जिज्ञास्यमिति ।

अत्रोच्यते—भवेदयं दोषः पारमार्थिकप्रपञ्चवादे, मायावादे तु न कोऽपि दोषः; वस्तुतो ब्रह्मणो निर्लेपत्वात् । तदेवं देहादिनिर्लेपब्रह्मान्ताः पदार्था युक्तिं वाक्यं च समाश्रयद्भिर्वादिभिः प्रत्यगात्मतया विप्रति-

---

अनर्थका तादात्म्य नहीं हो सकता] । इसीलिए तत्त्वज्ञान होनेपर भी उसके (तादाम्यके] विनाशका सम्पादन करना कठिन होता है [क्योंकि तत्त्वज्ञानसे तो अविद्याका ही नाश होता है और तादात्म्यमें अविद्या है ही नहीं, जिससे कि अविद्याका नाश होनेपर उसका कार्यभूत तादात्म्य भी नष्ट हो जाय, वह तो उस मतमें बना ही रह जायगा] । यदि कहो कि धर्म तथा अधर्मसे ब्रह्ममें दुःखादिका सम्बन्ध तथा उसका अनुभव नहीं हो सकता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि दुःख आदि सम्पूर्ण प्रपञ्चके प्रति उपादान होनेसे दुःखादिके सम्बन्धका तथा सर्वज्ञ होनेसे दुःखादिके अनुभवका ब्रह्ममें वारण नहीं किया जा सकता । यदि उक्त दोषके समाधानके लिए कार्यस्वरूप प्रपञ्चसे ब्रह्मका भेद अथवा कारण और अकारण (कार्य) रूपसे दो ब्रह्मके भेद माने जायँ, तो 'बृहि' धात्वर्थका अनुगमन नहीं हो सकेगा, इसलिए पुरुषार्थस्वरूप न होनेसे सर्वात्मक और सर्वज्ञ ब्रह्म जिज्ञासाका विषय नहीं हो सकता ।

[इस लम्बी शङ्काका समाधान करते हैं —] इस शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है—यह दोष तो प्रपञ्चको पारमार्थिक माननेमें आ सकता है। मायावादमें (प्रपञ्चको मिथ्या माननेवालोंके मतमें) तो कोई भी दोष नहीं आता, क्योंकि ब्रह्म वस्तुतः निर्लेप—सर्वप्रकारके सम्बन्धसे रहित—है । अपनी-अपनी युक्ति तथा प्रमाणभूत वचनका आश्रयण करके प्रतिवादी इस प्रकार देहसे लेकर निर्लेप ब्रह्म पर्यन्त पदार्थोंके विषयमें प्रत्यगात्मरूपसे

पद्यन्ते। तत्र तत्र तन्मतसिद्धा युक्तिः पूर्वमेव दर्शिता। वाक्यं च 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः', 'स वा अयमात्मा ब्रह्म', 'पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्यादिकं शरीरात्मवादेऽवगन्तव्यम्। 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्' इत्यादीन्द्रियात्मवादे, 'मन उदगायत्' इति मनआत्मवादे, 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि विज्ञानात्मवादे, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति शून्यात्मवादे, 'मन्ता बोद्धा कर्त्ता स्वप्ने जीवः सुखदुःखभोक्ता' इत्यादि कर्तृभोक्त्रात्मवादे, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यादि साक्षित्वलक्षणकेवलभोक्त्रात्मवादे, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति तटस्थात्मवादे, निर्लेपब्रह्मात्मवादे तु सर्वाणि वेदान्तवाक्यान्यवगन्तव्यानि। तत्र

विवाद करते हैं। तत्-तत् स्थानमें उनके मतका अनुसरण करनेवाली युक्तियोंका पहले ही दिग्दर्शन कराया गया है। और 'वह यह पुरुष अन्न-रसमय है, वह यह आत्मा ब्रह्म है और पृथ्वीरूप, जलरूप, वायुरूप, आकाशरूप, तेजःस्वरूप है' इत्याद्यर्थक वाक्य भी देहात्मवादके पक्षमें आपाततः प्रमाण हैं, यह समझना चाहिए। 'वे वाणीसे कहने लगे कि तुम हमारे लिए उद्गान करो, उसको स्वीकार करके वाणीने उनके लिए उद्गान किया' इत्याद्यर्थक वाक्य इन्द्रियोंको आत्मा माननेके पक्षमें हैं। 'मनने उद्गान किया' इत्यर्थक वाक्य मनको आत्मा माननेमें, 'कौन आत्मा है' इस प्रश्नके उत्तरमें 'जो यह विज्ञानस्वरूप है' इत्यर्थक वाक्य विज्ञानको आत्मा माननेमें, 'इस सृष्टिसे पूर्व सब असत् था' इत्यर्थक वाक्य शून्यको आत्मा माननेमें, 'मनन कर्ता बोद्धा, कर्ता स्वप्नमें जीव सुख-दुःखका भोक्ता है' इत्यादि वाक्य आत्माको कर्ता, भोक्ता माननेमें, 'इन दोनोंमें एक स्वादु कर्मफलका भोग करता है और दूसरा भोग न करता हुआ प्रकाशमान रहता है' इत्यादि वाक्य आत्माको साक्षीरूप केवल भोक्ता माननेमें तथा 'जो अपनेमें स्थित होता हुआ भीतर आत्माका नियमन करता है' इत्यादि वाक्य तटस्थ आत्माके माननेमें प्रवृत्त होते हैं। और 'आत्मा निर्लेप ब्रह्मरूप है' इस मतमें तो सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंका ही समन्वय है, ऐसा समझना चाहिए। इनमें निर्लेप

निर्लेपब्रह्मात्मवादिनाऽभिहितयोर्युक्तिवाक्ययोः समीचीनत्वमन्योक्तयोस्त्वाभासत्वमित्येतत्सूत्रकार एव तत्र तत्र स्पष्टीकरिष्यति। एवं च सत्येतद्विचारशास्त्रमश्रुत्वा पण्डितंमन्यतया देहादितटस्थेश्वरान्तेष्वन्यतमं यं कञ्चिदात्मानमवलम्बमानो मुमुक्षुर्न मोक्षं प्राप्नुयात्, तत्त्वज्ञानलभ्यस्य मोक्षस्य विपरीतज्ञानेन सम्पादयितुमशक्यत्वात्। न च तस्य पापिष्ठस्य कदाचिन्निष्कृतिरस्ति। 'अतस्तस्य अन्यथाप्रतिपत्तिर्हि महत्तरं पापम्,

'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥'

इति न्यायात्। अतः सत्यज्ञानानन्दादिरूपस्याऽऽत्मनोऽसत्कल्पनामापादयतस्तस्याऽऽत्मघातिनः कष्टलोकप्राप्तिः श्रूयते—

ब्रह्मस्वरूप आत्मा है, इस प्रकार माननेवाले अद्वैतवादी द्वारा प्रदर्शित युक्ति और प्रमाणभूत वाक्योंमें समीचीनता (प्रमाणता) है और दूसरे वादियोंके द्वारा दिखलाई गई युक्तियों तथा प्रमाणरूपसे दिये वाक्योंमें आभासता (अप्रमाणता) है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन तत्-तत् स्थलोंमें सूत्रकार स्वयं करेंगे। इस परिस्थितिमें इस विचारशास्त्रका (उत्तरब्रह्ममीमांसाका) श्रवण न करके अपनेको पण्डित समझ कर कहे गये देहसे लेकर तटस्थ ईश्वर पर्यन्त पदार्थोंमें से किसी एक पदार्थको आत्मा मानकर उसके सहारे मोक्षकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य मोक्षको नहीं पा सकता, कारण कि तत्त्वज्ञानको न पाकर विपरीत ज्ञानसे मोक्षका सम्पादन नहीं किया जा सकता। और विपरीत ज्ञानको रखनेवाले उस पापीका कभी भी संसारसे छुटकारा नहीं हो सकता। इसलिए उसका विपरीत ज्ञान बड़ा भारी पाप है, क्योंकि—

'जो सद्रूप आत्माको असत्रूप समझता है, उसने क्या पाप नहीं किया ? अर्थात् पाप किया ही, क्योंकि वह तो आत्माको ही चुरा लेनेवाला महान् चोर है', ऐसा शास्त्रीय न्याय है।

इसलिए सत्य, ज्ञान, आनन्दादि स्वरूप आत्माके विषयमें असत्—विपरीत—कल्पनाका आपादन करनेवाले आत्मघातियोंको दुःखप्रद लोकोंकी प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥' इति ।

ननु ब्रह्मविचारेण तत्त्वज्ञाने निष्पन्नेऽपि न मोक्ष उपपद्यते, पृथिव्यादिप्रपञ्चनिवृत्तेरभावात्, नैष दोषः; सर्वजीवसाधारणेषु पृथिव्यादिषु सत्स्वप्यन्तःकरणाध्यासनिवृत्तौ प्रमातृत्वाभावादात्मचैन्यस्य स्वतो विषयोपरागाभावाद्वा एतद्दर्शनं न प्राप्नोति, निरिन्द्रियस्येव रूपादिदर्शन-

---

वे अशुभ लोक हैं, जो सदैव अन्ध (दृष्टिका उपघात करनेवाले) अन्धकारसे व्याप्त रहते हैं । मरनेके बाद उन लोकोंकी उन्हें प्राप्ति होती है; जो आत्मघाती मनुष्य हैं ।' [अज्ञान तथा अन्यथाग्रहण दोनों हिंसामें ही सम्मिलित हैं । वस्तुका यथार्थरूप न रखना या न समझना हिंसा ही है, अतः अनात्माको आत्मा समझ कर और आत्माका शुद्ध निर्लेप सत्, चित् और आनन्द रूप न समझ कर कर्ता, भोक्ता आदि धर्मसहित समझना भी आत्मघात ही कहलाता है, अतः ऐसे आत्मघाती पुरुष दुःखद असुर्य नामक (देवादिस्थावरान्त) लोकको प्राप्त होते हैं, यह भाव है ।]

शङ्का—ब्रह्मका विचार करनेसे तत्त्वज्ञानके होनेपर भी मोक्षकी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि पृथ्वी आदि प्रपञ्चकी निवृत्ति ही नहीं होती [सर्वप्रपञ्चनिवृत्तिको ही मोक्ष कहते हैं और ब्रह्मविचारसे प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं देख पड़ती, अतः तत्त्वज्ञानसे भी मोक्ष नहीं हो सकता, यह भाव है] ।

समाधान—उक्त दोष नहीं आता, कारण कि यद्यपि पृथ्वी आदि प्रपञ्च सकल-जीव-साधारण रहता है, तथापि अन्तःकरणके अध्यासकी निवृत्ति हो जानेके कारण प्रमातृत्व आदि धर्मोंके न रहनेसे अथवा आत्मस्वरूप चैतन्य के साथ स्वतः विषयका सम्पर्क न होनेसे पृथ्वी आदि प्रपञ्चका दर्शन ही प्राप्त नहीं होता । [जब शुद्ध चैतन्य सर्वविध लेपसे शून्य है और अन्तःकरणाध्यासरूप उपाधि ब्रह्मविचारसे छूट ही गई, तब सर्वसाधारणकी दृष्टिमें पृथ्वी आदि प्रपञ्चके रहनेसे भी अध्यासरूप उपाधिशून्य पुरुष उस प्रपञ्चात्मक द्वैतका दर्शन नहीं कर सकता, यह भाव है ।] [सर्वसाधारणकी दृष्टिमें विषय 'द्वैत' के विद्यमान रहते भी उसका दर्शन नहीं होता है, इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—] जैसे कि इन्द्रियहीन पुरुषको रूपादिका दर्शन

मित्येकः पक्षः। इतरस्तु सर्वद्वैतनिवृत्तिपक्षः समन्वयसूत्रे वक्ष्यते। तदेवमहमित्यात्मत्वसामान्याकारेण सर्वप्रत्यक्षसिद्धस्याऽत्यन्ताप्रसिद्ध्यभावाद्विशेषतो वादिविप्रतिपत्तिविषयस्याऽपि निष्प्रपञ्चब्रह्मरूपेण विशेषेण शास्त्रान्तरेष्वसिद्धत्वाच्च विषयत्वसिद्धिः। तस्य च ब्रह्मणोऽनेन शास्त्रेण प्रतिपादयितुं शक्यतया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः संबन्धोऽपि सिद्ध इत्युभयस्याऽपि सिद्धे प्रयोजनस्य च मोक्षस्याऽभिहितत्वान्निष्प्रत्यूहो ब्रह्मविचारः कर्तव्य इत्यशेषमतिमङ्गलम्।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणप्रमेयसंग्रहे प्रथमसूत्रे चतुर्थवर्णकम्।

समाप्तं चेदं सूत्रम्।

नहीं होता, इस प्रकार एक पक्ष है। और सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है, इस प्रकारका दूसरा पक्ष समन्वय सूत्रमें कहा जायगा। अन्तमें तात्त्विक बात यह हुई कि 'अहम्' इस प्रकार आत्मत्वरूप सामान्य आकारसे सबके प्रत्यक्षसे सिद्ध ब्रह्मभूत आत्माकी अत्यन्त अप्रसिद्धि नहीं हो सकती और विशेष प्रकारसे वादियोंकी विप्रतिपत्तिका विषय होनेपर भी प्रपञ्चशून्य ब्रह्मात्मक विशेषरूपसे दूसरे शास्त्रोंके द्वारा वह सिद्ध नहीं है, इसलिए इस विचारशास्त्रकी विषयता ब्रह्ममें सिद्ध हो सकती है। और उस ब्रह्मका इस शास्त्रसे प्रतिपादन हो सकता है, अतः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी सिद्ध है, इसलिए (विषय तथा सम्बन्ध) दोनोंकी भी सिद्धि है और मोक्षरूप प्रयोजनका पहले ही अभिधान हो चुका है अतः ब्रह्मका विचार निर्विवादरूपसे करना चाहिए, इस प्रकार (प्रथम सूत्रका व्याख्यानतात्पर्य) सम्पूर्ण ही अत्यन्त मङ्गलमय है।

इति श्रीविवरणप्रमेयसंग्रहके पं० ललिताप्रसाद डबरालविरचित
भाषानुवादमें चौथा वर्णक समाप्त हुआ

प्रथम सूत्र समाप्त

अथ द्वितीयं सूत्रम्

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र ब्रह्म ज्ञातुकामेन ज्ञानोपायभूतमिदं विचारशास्त्रं श्रोतव्यमिति प्रतिज्ञातम् , जिज्ञासापदस्य ज्ञानेच्छालक्षण-स्वार्थापरित्यागेनाऽन्तर्णीतविचारलक्षकत्वात् । प्रतिज्ञाते च ब्रह्मविचारे तदङ्गानि लक्षणप्रमाणयुक्तिसाधनफलान्यप्यर्थात्प्रतिज्ञातान्येवेति लक्षणादि-प्रतिपादको वक्ष्यमाणः सूत्रसन्दर्भः सङ्गच्छतेतराम् । अन्यथा ज्ञानेच्छा-मपुरुषतन्त्रां कर्त्तव्यत्वेन प्रतिज्ञायेच्छानुपयुक्तानि लक्षणादीनि प्रतिपा-दयतः सूत्रकृतो महदकौशलमापद्येत । यद्यपि साध्यसिद्धेः साधनाद्य-धीनत्वात् साधनादीन्येव प्रथमं विचार्याणि, तथापि तानि ब्रह्मप्रमाणं ब्रह्मयुक्तिर्ब्रह्मसाधनं ब्रह्मप्रमितिरिति ब्रह्मविशिष्टत्वेन ब्रह्मस्वरूपनिर्णय-

---

द्वितीय सूत्र

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रमें 'ब्रह्मज्ञानकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ज्ञानके उपायभूत (साधनभूत) इस विचारशास्त्रका (वेदान्तशास्त्रका) श्रवण करना चाहिए, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, कारण कि 'जिज्ञासा' पद ज्ञानविषयक इच्छारूप अपने अर्थका परित्याग नहीं करता है, इससे वह अन्तर्णीत (अन्तर्गत) विचारका लक्षक (बोधक) है । ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा करनेपर उसके अङ्गभूत लक्षण, प्रमाण, युक्ति, साधन और फल—इन सभीकी प्रतिज्ञा अर्थतः सिद्ध हो ही जाती है; इसलिए लक्षण आदिका प्रतिपादन करनेवाले अग्रिम द्वितीय सूत्रके सन्दर्भकी प्रथम सूत्रके साथ सङ्गति है ही । अन्यथा जिसकी उत्पत्ति पुरुषाधीन नहीं है, ऐसी ज्ञानेच्छाकी कर्तव्यरूपसे प्रतिज्ञा कर यदि सूत्रकार इच्छाके लिए अनुपयुक्त लक्षण आदिका प्रतिपादन करें, तो उनका बड़ा भारी अकौशल (मौर्ख्य) प्रकट होगा । यद्यपि साधन आदिके अधीन साध्यकी सिद्धि होती है, इसलिए साधन आदिका ही पहले विचार करना चाहिए, तथापि वे साधन आदि ब्रह्ममें प्रमाण, ब्रह्ममें युक्तियाँ; ब्रह्मप्रापिका साधन तथा ब्रह्मका निश्चयात्मक ज्ञान, इस प्रकार ब्रह्मसे विशिष्ट हैं [अतः ब्रह्मस्वरूपके निर्णयकी अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि सर्वत्र साधनादिमें ब्रह्म विशेषण लगा है और विशेषणज्ञानके बिना

सापेक्षाण्युपसर्जनानि च। अतो निरपेक्षं प्रधानं च ब्रह्मस्वरूपं भगवान् सूत्रकारः प्रथमं लक्षयति—'जन्माद्यस्य यतः' इति।

नन्वज्ञाते स्वरूपे लक्षणं ज्ञाते वा? नाऽज्ञाते, किमस्य लक्ष्यस्य लक्षणमिति जिज्ञासानुदयात्। अस्येदं लक्षणमिति लक्ष्यलक्षणसंबन्धापरिज्ञानाच्च। नाऽपि ज्ञाते, वैयर्थ्यात्। किञ्च स्वरूपलक्षणमुच्यते तटस्थलक्षणं वा? नाऽऽद्यः, जन्मादिकारणत्वस्य सप्रतियोगिकस्य स्वरूपत्वायोगात्। स्वरूपत्वे च सविशेषत्वप्रसङ्गात्। नाऽपि द्वितीयः, स्वरूपलक्षणेन विना तटस्थलक्षणमात्रेण स्वरूपप्रतीत्ययोगात्। अन्यत्र च स्वरूपलक्षणस्याऽप्रसिद्धेः। कथंचित्तत्प्रसिद्धावप्यस्य तटस्थलक्षण-

---

विशिष्टज्ञानका संभव नहीं है] और उपसर्जन—गौण—हैं। इसलिए निरपेक्ष और प्रधानभूत ब्रह्मस्वरूपका भगवान् सूत्रकार सर्वप्रथम लक्षण करते हैं—'जन्माद्यस्य यतः' से।

शङ्का—स्वरूपका ज्ञान न होनेपर लक्षण किया जाता है? या स्वरूपका ज्ञान होनेपर? इनमें स्वरूपके अज्ञात रहनेपर लक्षण करना नहीं बन सकता, कारण कि इस लक्ष्यका लक्षण क्या है? ऐसी जिज्ञासाका उदय नहीं होता है। और इसका यह लक्षण है, ऐसा लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता है। स्वरूपके ज्ञात रहते भी नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञात होनेपर लक्षण करना व्यर्थ है। [लक्षणनिर्माणका स्वरूपज्ञान कराना ही फल है। यदि वह फल सिद्ध ही है तो उसके लिए प्रयास करना पिष्टपेषणके सदृश व्यर्थ है।] [और भी विकल्प करते हैं—] क्या स्वरूपलक्षण[1] करते हो या तटस्थलक्षण[2]? इनमें प्रथम कल्प नहीं बन सकता, कारण कि सप्रतियोगिक जन्मादिकारणत्वरूप ब्रह्मका स्वरूप नहीं हो सकता। यदि इसको ब्रह्मका स्वरूप मानो, तो ब्रह्म सविशेष हो जायगा। दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता, कारण कि स्वरूपलक्षण किये बिना केवल तटस्थलक्षणसे स्वरूपकी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि कहीं दूसरी जगह स्वरूपलक्षणकी प्रसिद्धि नहीं है। कथंचित् प्रसिद्धि मान भी ली जाय, तो भी इस तटस्थलक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि

---

(१) अन्यकी व्यावृत्ति करता हुआ स्वरूपका परिचय देनेवाला असाधारण धर्म।

(२) केवल इतर व्यावर्तक असाधारण धर्म।

स्याऽतिव्याप्तिः, प्रधानादावपि जगत्कारणत्वसंभवात् । अतोऽनेन सूत्रेण किं प्रतिपाद्यत इति ? अत्र ब्रूमः—

जगज्जन्मस्थितिध्वंसा यतः सिध्यन्ति कारणात् ।
तत् स्वरूपतटस्थाभ्यां लक्षणाभ्यां प्रदर्श्यते ॥

अधीतवेदान्तस्य विदितपदपदार्थसंबन्धस्याऽऽपाततो ब्रह्मस्वरूपं ज्ञात्वा विशेषतो ज्ञातुमाकाङ्क्षतः क्लृप्तलक्ष्यलक्षणसंबन्धत्वेन सार्थकमेवेदं लक्षणाभिधानम् । तत्र तावज्जन्मादिकारणत्वं मायाविशिष्टब्रह्मणः स्वरूपलक्षणत्वेऽप्यविरुद्धम् । शुद्धब्रह्मणस्तु तत् तटस्थलक्षणम् । स्वरूपलक्षणं तु तस्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम् । न चोक्तलक्षणस्याऽतिव्याप्तिः, प्रधानादेर्जगत्कारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । अतिव्याप्त्यादिदोषपरिहारेण लक्षणनिर्णयायाऽत्रैवाऽर्थात्सूत्रिते प्रमाणयुक्ती इत्यवगन्तव्यम् ।

प्रधान (प्रकृति) आदिमें [आदिपदसे परमाणु आदि लेने चाहिए] जगत्-कारणत्वका सम्भव है । इसलिए प्रश्न होता है कि इस दूसरे सूत्रसे किस वस्तुका प्रतिपादन किया जा रहा है ?

समाधान—इस आशङ्काके उत्तरमें कहा जाता है—'जिस कारणसे संसारके जन्म, स्थिति तथा विनाश—ये तीनों सिद्ध होते हैं, उसका स्वरूप और तटस्थ लक्षणोंके द्वारा प्रदर्शन (विवेक) किया जाता है ।' वेदान्तवाक्योंके पढ़नेसे पदपदार्थसम्बन्ध-ज्ञान द्वारा पहले सामान्यरूपसे ब्रह्मस्वरूपको जानकर विशेषरूपसे जाननेकी आकाङ्क्षावाले जिज्ञासुके लिए माने गये लक्ष्यलक्षण-भावसम्बन्ध होनेसे यह लक्षण करना सप्रयोजन ही है [व्यर्थ नहीं है] । इस दशामें संसारके जन्मादिका कारण होना मायामिश्रित ब्रह्मका स्वरूपलक्षण होनेपर भी विरोध नहीं आ सकता । शुद्ध ब्रह्मका तो वह तटस्थलक्षण ही है । उसका स्वरूपलक्षण तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंमें सत्य-ज्ञानादिरूप प्रसिद्ध है [इससे अन्यत्र अप्रसिद्धि दोष भी नहीं आता] । और उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है [अर्थात् प्रधानादिमें जगत्कारणत्वरूप तटस्थलक्षण अतिप्रसक्त भी नहीं है], कारण कि प्रधानादिमें संसारकी कारणताका आगे खण्डन किया जायगा । अतिव्याप्ति आदि दोषोंका परिहार करनेसे यहींपर अर्थात् इसी सूत्रमें लक्षणोंका निर्णय करनेके लिए

अध्यायद्वये तयोरेव प्रमाणयुक्त्योः सूत्रकारेण प्रपञ्चयिष्यमाणत्वात् । ननु जन्मादीत्यस्मिन् बहुव्रीहौ स्थितिप्रलययोरन्यपदार्थत्वात् पुँल्लिङ्ग-द्विवचनेन भवितव्यम् ? न भवितव्यम्, जन्मनोऽप्यन्यपदार्थत्वेन विवक्षितत्वात् । न चैवं सत्येकस्यैव जन्मनो विशेष्यत्वविशेषणत्वप्रसङ्गः, जन्मादित्रयस्य विशेष्यत्वेन विवक्षित्वात् । अत एव न पुँल्लिङ्गबहुवचनप्राप्तिरपि । यद्यप्यनादौ संसारे न जन्मनो वस्तुत आदित्वम्, तथापि जनित्वा स्थित्वा प्रलीयते इति व्यावहारिकीं लोकप्रसिद्धिमुपजीव्य 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतौ जन्मन आदित्वनिर्देशस्तमुपजीव्याऽयं सौत्रोऽपि निर्देश उपपन्नः ।

अर्थतः प्रमाण और युक्तियोंका सूचन किया गया है, ऐसा समझ लेना चाहिए, क्योंकि दो अध्यायोंमें उन्हीं प्रमाण और युक्तियोंका सूत्रकार बड़े विस्तारसे वर्णन करेंगे ।

शङ्का—'जन्मादि' इस पदमें जन्म आदि ययोः स्थितिप्रलययोस्तौ जिनके आदिमें जन्म हैं' ऐसे स्थिति और प्रलय [अर्थात् तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसे जन्मादि पदसे जन्म, स्थिति और प्रलय तीनों लिए जाते हैं], इस प्रकार बहुव्रीहि समासमें स्थिति और प्रलयके अन्य पदार्थ होनेसे जन्मादि पदको पुंलिङ्ग और द्विवचन होना चाहिए ।

समाधान—वह पुंलिङ्ग और द्विवचन नहीं हो सकता, कारण कि जन्मकी भी अन्यपदार्थरूपसे विवक्षा कर सकते हैं । ऐसा माननेसे एक ही जन्ममें विशेष्यत्व और विशेषणत्व दोनोंका प्रसङ्ग नहीं आ सकता, कारण कि जन्मादि तीनोंमें विशेष्यत्वकी विवक्षा की गई है । इसीलिए पुंलिङ्ग और बहुवचन आनेकी प्रसक्ति भी नहीं होती । यद्यपि अनादि संसारमें जन्मका ही वस्तुतः सर्वप्रथमत्व नहीं है, तथापि 'उत्पन्न होकर, कुछ दिन रहकर लीन हो जाता है' इस लोकप्रसिद्ध रीतिको लेकर 'जिससे ये सब भूतसमूह उत्पन्न होते हैं, इस श्रुतिमें जन्ममें ही प्रथमत्वका निर्देश किया गया है, उक्त श्रुतिको ही मूल मानकर सूत्रमें भी जन्मका आदिपदसे निर्देश करना उचित है ।

अस्येति सूत्रप्रतीकेन प्रत्यक्षादिप्रतीतं कृत्स्नं जगदभिधीयते, इदमः सर्वनामत्वात् । अन्यत्रेवाऽत्र सङ्कोचकस्य प्रकरणादेरभावात् । अत एव षष्ठीविभक्त्या जन्मादीनां जगतश्च सर्व एवेह संबन्धो विवक्ष्यते। न च जगदाश्रितानां जन्मादीनां गृहाश्रितकाकवल्लक्ष्यसंबन्धरहितत्वादलक्षणत्वमिति वाच्यम्, शुद्धब्रह्मसंबन्धाभावेऽपि मायाविशिष्टकारणब्रह्मसंबन्धित्वात् । यत इत्यनेन हि सूत्रपदेन कारणमेव निर्दिश्यते, न तु शुद्धम् ।

ननु कारणत्वमपि न लक्ष्यान्तर्गतम् । कारणत्वं हि नानाविधकार्यगोचर-

---

सूत्रमें प्रतीकरूपसे आये हुए 'अस्य' इस षष्ठ्यन्त 'इदम्' शब्दसे प्रत्यक्ष आदिसे प्रतीत सम्पूर्ण प्रपञ्चका अभिधान किया जाता है, कारण कि 'इदम्' सर्वनाम है [सर्वेषां नाम—वाचकम्—अर्थात् सबका जो वाचक हो वह सर्वनाम कहलाता है, अतः प्रकृतमें 'इदम्' सर्वनाम भी दृश्यमान सकल विश्वका वाचक है], क्योंकि और स्थलोंकी नाईं प्रकृतमें संकोचकारक कोई प्रकरण आदि प्रमाण नहीं है। [इदम् आदि सर्वनाम कहीं-कहींपर पूर्वकथित या सन्निहित मात्रका तथा कहींपर बुद्धिस्थ यत्किञ्चित्का ही परामर्श करता है। संकोचमें तो प्रकरणादि ही नियामक होता है। प्रकरणादिके अभावमें तो सकलका ही वाचक होता है] इस कारणसे ही षष्ठी विभक्ति द्वारा जन्मादि और जगत्का यहाँ सभी तरहका सम्बन्ध विवक्षित होता है।

शङ्का—जगत्का आश्रय करनेवाले जन्म आदि घरमें बैठे हुए काकके सदृश लक्ष्यके साथ सम्बन्ध न होनेसे लक्षण नहीं हो सकते। [जैसे गृहाश्रित काकादिका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध न होनेसे वह (काकादि) ब्रह्मका लक्षण नहीं माना जा सकता, वैसे ही सकल प्रपञ्चाश्रित जन्मादि भी ब्रह्मके लक्षण नहीं हो सकते]।

समाधान—शुद्ध ब्रह्मके साथ सम्बन्ध न होते हुए भी मायाशबलित कारण ब्रह्मके साथ सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि सूत्रमें आये हुए 'यतः' पदसे कारण ब्रह्मका ही निर्देश है, शुद्धका नहीं।

शङ्का—कारणत्व भी लक्ष्यके अन्तर्गत नहीं आता, कारण कि नाना प्रकारके कार्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली (उत्पादिका) क्रियाओंका आश्रय

क्रियावेशात्मत्वं तत्प्रसवशक्त्यात्मकत्वं वा। न च तदुभयं जिज्ञास्ये विशुद्धे ब्रह्मण्यन्तर्भवितुमर्हति, ततः कारणसंबन्धिनो जन्मादेरलक्षणत्वमिति चेद्, मैवम्; काकाधिकरणत्ववदुपपत्तेः। काकाधिकरणत्वं हि न गृहेऽन्तर्भवति। तथा च सति काकविगमे गृहैकदेशभङ्गबुद्धिप्रसङ्गात्। अतो गृहस्याऽधिकरणत्वं नामौपाधिको धर्मः, स च परिशेषाल्लक्षणे एवाऽन्तर्भवति। तन्निरूपकस्य काकस्य यथा लक्षणत्वं तथा ब्रह्मणोऽपि कारणत्वमौपाधिको धर्मो लक्षणान्तःपाती। तन्निरूपकस्य जन्मादेर्लक्षणत्वे का तव हानिः ?

अथवा तादृश क्रियाका उत्पादन करनेकी सामर्थ्य ही कारण है। और उक्त दोनों प्रकारके कारणत्वका जिज्ञासाविषयीभूत शुद्ध ब्रह्ममें अन्तर्गत होना नहीं बन सकता, इससे कारणसम्बन्धी जन्मादि (जिज्ञास्य ब्रह्मके) लक्षण नहीं हो सकते। [जैसे आकाशके अन्तर्गत न होनेसे गन्धवत्त्व आकाशका लक्षण नहीं माना जाता, वैसे ही प्रकृतमें सर्वविधधर्मशून्य जिज्ञास्यभूत शुद्ध ब्रह्ममें उक्त कारणत्वके न होनेसे वह उसका लक्षण नहीं हो सकता]।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि काकाधिकरणत्वकी भाँति (कारणत्वका लक्षण होना) उपपन्न हो सकता है। [वादीकी शङ्का है कि लक्ष्यान्तर्गत ही लक्षण हो सकता है। उसका समाधाता उत्तर देता है कि काकाधिकरणत्वकी तरह लक्ष्यान्तर्गत न होनेपर भी लक्षण हो सकता है। इसीका आगे स्पष्टीकरण कर रहे हैं—] काकाधिकरणत्व मकानके अन्तर्गत नहीं है। यदि वह (काकाधिकरणत्व) मकानके ही अन्तर्गत मान लिया जाय, तो काकके उड़ जानेपर (काकाधिकरणताका नाश होनेसे) 'घरका एक भाग नष्ट हुआ' ऐसी बुद्धिका प्रसंग आ जायगा। इससे मकानमें विद्यमान काककी अधिकरणता एक प्रकारका औपाधिक धर्म है और वह धर्म परिशेषसे [पूर्वोक्त-गृहैकदेशके नाशकी बुद्धिका प्रसङ्गरूप दोष होनेसे लक्ष्यभूत घरका अङ्ग तो हो नहीं सकता, अतः] लक्षणके ही अन्तर्गत होता है। उस अधिकरणत्वका निरूपक काक जैसे उपलक्षणविधया मकानका लक्षण होता है, वैसे ही ब्रह्ममें भी कारणत्व उपाधिप्रयुक्त धर्म है और वह लक्षणके ही अन्तर्भूत है, इसलिए उस कारणत्वके निरूपक जन्मादिको (पूर्वोक्त रीतिसे) लक्षण

ननु लक्षणान्तःपातित्वेन ब्रह्मण्यङ्गीक्रियमाणं कारणत्वं कीदृशम्? किं निमित्तत्वमेव उतोपादानत्वमेव अथोभयम्? न तावत् प्रथमद्वितीयौ, उपादानस्य निमित्तस्य वाऽन्यस्याऽवश्याङ्गीकर्तव्यत्वेन ब्रह्मणि बृहत्यर्थान्वयाभावात् श्रुत्युक्तानन्त्यभङ्गप्रसङ्गात्। नाऽपि तृतीयः, एकस्योभयकारणत्वे प्रमाणाभावात्। नह्यत्राऽनुमानं संभवति। तथाहि—भूतभौतिकं जगत् पक्षीक्रियते भूतमात्रं वा? आद्ये भागे बाधः,

माननेमें तुम्हारी क्या हानि है? अर्थात् कुछ नहीं है। [जैसे काकके उड़ जानेपर भी काकाधिकरणत्व मकानका उपलक्षण होता है, वैसे ही जगत्कारणत्व भी ब्रह्मका उपलक्षण हो सकता है, इस प्रकार समान प्रतिबन्दी उत्तर है, यह भाव है।]

शङ्का—लक्षणके अन्तर्गतत्वरूपसे ब्रह्ममें (उपलक्षणविधया) माना गया कारणत्व किस प्रकारका है? क्या वह केवल निमित्त कारण है? या केवल उपादान कारण है? अथवा निमित्त उपादान दोनों है? इनमें प्रथम और द्वितीय पक्ष नहीं मान सकते, कारण कि ऐसा माननेसे उपादान या निमित्त कारणको ब्रह्मसे अतिरिक्त अवश्य मानना होगा, इस परिस्थितिमें ब्रह्ममें 'बृहि' धातुके अर्थका समन्वय नहीं हो सकेगा [ब्रह्मको दोमें से एक कारण माननेपर जब समवायी कारण मानेंगे तब निमित्तमें और निमित्त कारण मानेंगे तब समवायीमें ब्रह्मका भेद हो जानेके कारण ब्रह्मकी व्यापकताका अभाव स्पष्ट ही होगा, यह भाव है] और श्रुतिसे प्रतिपादित आनन्त्यका भङ्ग हो जायगा। तीसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि एकको ही उपादान और निमित्त यों दो प्रकारका कारण माननेमें प्रमाण नहीं है। इस विषयमें अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त अनुमानमें क्या भूत और भौतिक दो प्रकारके प्रपञ्चको पक्ष करेंगे अथवा केवल भूतमात्रको पक्ष करेंगे? प्रथम पक्षके माननेमें एक भागमें बाध होगा, कारण कि भौतिक जगत्में अभिन्ननिमित्तोपादानवत्त्वरूप[1] साध्यका अभाव (बाध) देखा जाता है [अर्थात् भौतिक घट, पट आदिके प्रति भिन्न-भिन्न कुलाल, तन्तुवाय आदि निमित्त और मृत्तिका तथा तन्तु आदि उपादान कारण देखे जाते हैं, पर दोनोंकी अभिन्नता देखी नहीं जाती, इसलिए पक्षके एक

१. निमित्तं च उपादानं च निमित्तोपादाने, ते अभिन्ने यस्य तस्य भावः तद्वत्त्वम्—एक ही है निमित्त और उपादान कारण जिसका, ऐसा कार्य होना।

भौतिकेष्वभिन्ननिमित्तोपादानवत्त्वसाध्यवैपरीत्यदर्शनात् । न द्वितीयः, घटादिष्वेव कार्यत्वहेतोरनैकान्तिकत्वात् । अतो न कारणत्वं लक्षणमिति चेद्, मैवम्; सूत्रगतया 'यतः' इति पञ्चम्या द्विविधकारणत्वस्य विवक्षितत्वात् । जायमानवस्तुप्रकृतौ हेतौ च पञ्चमीविधानात् । न च तन्तुष्वनेकेषु प्रकृतित्वदर्शनादेकस्य ब्रह्मणः प्रकृतित्वासंभव इति वाच्यम्, तत्र किं महाभूतप्रकृतित्वं न संभवति भौतिकप्रकृतित्वं वा ? नाऽऽद्यः, महाभूतानि सत्ताप्रकृतिकानि, तदनुरक्तत्वाद्, यो यदनुरक्तः स

भौतिकरूप भागमें उक्त साध्यका अभाव है, यह तात्पर्य है ।] दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि घटादि-पदार्थोंमें ही कार्यत्वरूप हेतु व्यभिचरित है । [उक्त अभिन्नोपादाननिमित्तकत्वरूप साध्यकी सिद्धि आप कार्यत्वरूप हेतुके द्वारा ही करेंगे, परन्तु वह हेतु उक्त साध्यसे व्याप्त नहीं है, क्योंकि प्रदर्शित-रीतिके अनुसार घटादि कार्योंमें हेतु तो विद्यमान है, परन्तु तथोक्त साध्य नहीं है ।] इसलिए ब्रह्मका लक्षण कारणत्व नहीं माना जा सकता ।

समाधान—ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि सूत्रमें आई हुई 'यतः' इस पञ्चमी विभक्तिसे दो प्रकारका (निमित्त और उपादान) कारण विवक्षित है, क्योंकि उत्पन्न होनेवाले पदार्थकी प्रकृतिमें और हेतुमें पञ्चमी विभक्तिका ['जनिकर्तुः प्रकृतिः' इस सूत्रसे] विधान किया जाता है । यदि कहो कि अनेक तन्तुओंमें (पटकी) उपादानकारणता देखी जाती है, अतः अकेले ब्रह्ममें प्रकृतित्वका (उपादानत्वका) होना सम्भव नहीं हो सकता, तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि उसपर प्रश्न यह होता है कि क्या ब्रह्म महाभूतोंका उपादान नहीं हो सकता ? या भौतिक घट, पटादि कार्योंका उपादान नहीं हो सकता ? प्रथम विकल्प नहीं बन सकता, कारण कि [अनुमान द्वारा उसका सम्भव होगा, अनुमान दिखलाते हैं] महाभूत एकसत्तामात्र प्रकृतिक हैं, अर्थात् महाभूतोंका उपादान (प्रकृति) एक ही सद् वस्तु है, सत्तासे अनुरक्त (अनुगत) होनेसे [आकाशादि महाभूतोंमें सत्तानुरागके द्वारा आकाश सत् है, वायु सत् है, तेज सत् है इत्यादि अनुगत-रूपसे 'सन्' प्रतीति होती है ।] क्योंकि व्याप्ति है कि जो जिससे अनुरक्त रहता है, उसकी वह अनुगत पदार्थ प्रकृति (उपादान) है, जैसे तन्तुसे अनुरक्त कपड़ा । जैसे तन्तुओंकी अनुरक्ति होनेसे कपड़ेकी प्रकृति तन्तु होता

तत्प्रकृतिकः, यथा तन्त्वनुरक्तस्तन्तुप्रकृतिकः पटः । सत्तायाश्चैकत्वं लोकवद्वेदाऽसत प्रसिद्धम् , दिक्कालादिषु द्रव्यत्वजात्यनुगमेऽप्यतत्प्रकृतिकत्वादनैकान्तिकतेति चेद् , नः वेदान्तिभिर्द्रव्यत्वादीनामपि प्रकृतित्वाङ्गीकारात् । सत्ताया एव ह्यौपाधिका भेदा द्रव्यत्वादयो न स्वतन्त्राः । अतो न पृथिव्यादौ सत्ताद्रव्यत्वोभयप्रकृतित्वप्रसङ्गः । नाऽपि द्वितीयः; भौतिकेष्वपि सत्तानुरक्तेषु भूतद्वारा भूतानुगतसत्ताया एव लाघवन्यायेन मूलप्रकृतित्वाङ्गीकारात् । न च प्रकृतेरेव निमित्तत्वे मानासम्भवः, विमतं

है, वैसे ही महाभूतोंकी भी सत् प्रकृति है । और सत्ताका एकत्व तो लोक और वेदमें प्रसिद्ध ही है । [लोकवत् पाठ माननेमें लोकके तुल्य अर्थात् जैसे लोकप्रसिद्धिके लिए कोई अनुमानादि प्रमाण अपेक्षित नहीं है, वैसे ही सत्ताके एक होनेमें प्रमाणोंको देनेकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह तो प्रसिद्ध ही है । 'जैसे आकाशादिमें सत्ताकी अनुगत प्रतीति होती है, वैसे द्रव्यत्वादि भी अनुगतरूपसे भासते हैं, परन्तु द्रव्यत्व तो न्यायमतमें उपादान नहीं माना जाता और यदि प्रकृति माना जाय तो अनेकोंका उपादान होना प्राप्त होता है; इन आशङ्काओंका अनुवाद करके समाधान करते हैं] दिक् काल आदि पदार्थोंमें द्रव्यत्व जातिका अनुराग होनेपर भी द्रव्यत्वप्रकृति न होनेसे व्यभिचार दिखलाना उचित नहीं, कारण कि वेदान्तसिद्धान्तवाले द्रव्यत्व आदिको भी प्रकृति मानते हैं । द्रव्यत्व आदि सत्ताके ही औपाधिक भेद हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं [अर्थात् वे सत्तासे सब अभिन्न हैं], इसलिए पृथ्वी आदि भूतोंमें सत्ता और द्रव्यत्वरूप भेदोंके प्रकृतित्वका प्रसङ्ग नहीं आ सकता । दूसरा विकल्प भी नहीं मान सकते, कारण कि सत्तासे अनुगत घट, पटादि भौतिक पदार्थोंमें भी भूतोंके द्वारा भूतोंमें अनुगतरूपसे विद्यमान सत्ता ही लाघवन्यायसे मूल प्रकृति मानी गई है । [तात्पर्य यह है कि जैसे दधिमन्थनसे उत्पन्न हुए नवनीतकी मूल प्रकृति दूध ही है, क्योंकि दधि दूधका ही परिणाम है) वैसे ही प्रकृतमें पृथ्वी आदिके कार्यभूत घटादिकी मूल प्रकृति भी सत्तामात्र है, क्योंकि वे सत्ताके परिणामभूत पृथ्वी आदिके विकार हैं । यदि कहो कि प्रकृति (उपादान कारण) को निमित्त कारण माननेमें प्रमाणका सम्भव नहीं है, तो यह कहना उचित नहीं

जगद् अभिन्ननिमित्तोपादानकम्, प्रेक्षापूर्वजनितत्वाद् आत्मगतसुखदुःखराग-द्वेषादिवत्। अज्ञानोपादानकदोषनिमित्तकशुक्तिरजतव्यावृत्तये प्रेक्षापूर्वेत्युक्तम्। घटादीनामपि पक्षत्वान्नाऽनैकान्तिकता। कुलालाद्याकारेण ब्रह्मण एव निमित्तत्वाद् न भागे बाधोऽपि। अदृष्टादिनिमित्तभेददर्शनात्साध्यवैकल्यमिति चेद्, न; उपादानाधिष्ठात्रोरेकत्वानुमानात्। तथा च सति जगत्यपि ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याऽदृष्टस्य निमित्तत्वं प्रसज्येतेति चेद्,

---

है, कारण कि इसमें अनुमान प्रमाण विद्यमान है। [अनुमान दिखलाते हैं—] विवादग्रस्त संसार अभिन्ननिमित्तोपादानक है [अर्थात् इस प्रपञ्चरूप कार्यका जो निमित्त कारण है, वही उपादान कारण भी होता है] क्योंकि बुद्धिपूर्वक इसकी उत्पत्ति की गई है, जैसे आत्मामें होनेवाले सुख, दुःख तथा राग और द्वेष। शुक्तिरजतमें अज्ञान उपादान है और दोष निमित्त है। इस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञानरूप कार्यकी व्यावृत्तिके लिए बुद्धिपूर्वक विशेषण दिया गया है [भ्रमात्मक ज्ञान बुद्धिपूर्वक—सोच समझकर—नहीं होते हैं। 'घटादिके निमित्त कुलालादि और उपादान मृदादि होनेसे घटादिमें व्यभिचार नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे भी हमारे पक्षमें ही आ जाते हैं [घटादिरूप पक्षैकदेशमें उक्त रीतिसे आनेवाले बाधका वारण करते हैं—] कुलालादिके आकारसे ब्रह्म निमित्त कारण है, अतः पक्षैकदेश घटादिमें बाध भी नहीं है। [अर्थात् मृदवच्छिन्न चैतन्य उपादान और कुलालावच्छिन्न चैतन्य निमित्त कारण है, औपाधिक भेद होनेपर भी वास्तव अभेद होनेसे कोई दोष नहीं आता]।

शङ्का—कार्यमात्रमें अदृष्ट निमित्त कारण है, इस नियमके अनुसार अथवा सुखादिभोगमें तो अदृष्टके ही निमित्त होनेसे अदृष्टादि निमित्त कारणके भेद देखे जानेसे (एककारणत्वरूप) साध्यका अभाव दोष होगा।

समाधान—नहीं, कारण कि उपादान और अधिष्ठाताके एक होनेका अनुमान करते हैं। [सुखादिरूप कार्यके प्रति भी अदृष्ट अधिष्ठान नहीं है, अतः निमित्तका भेद होनेसे भी दोष नहीं आ सकता] ऐसा माननेपर भी तो (सुखादिकी भाँति) जगत्में ब्रह्मसे अतिरिक्त अदृष्टको निमित्तकारणत्वका प्रसङ्ग आ ही जायगा [इससे अदृष्ट और ब्रह्म दो

एवं तर्ह्यदृष्टोपहितस्याऽऽत्मन एव सुखादिनिमित्तत्वं द्रष्टव्यम् ।

अथ कुतर्कोपहतमतिः सन्नस्मिन्ननुमानेऽत्यन्तं न प्रीयसे, तर्हि सृष्टिवाक्यप्रसिद्धमेकस्योभयकारणत्वं लक्षणत्वेन निर्दिश्यते। सृष्टिवाक्यं च 'तदैक्षत' इति निमित्तत्वम् 'बहु स्याम्' इत्युपादानत्वं च प्रतिपादयतीति सन्तोष्टव्यम् ।

अत्र केचित् । श्रुतेः स्वतःप्रामाण्यात्तथाभूतैव ब्रह्मणः प्रपञ्चापत्तिरिति परिणामवादमवतारयन्ति। तत्र तथाभूतत्वं नाम किं सत्य-

---

निमित्त कारण होनेसे साध्यवैकल्य बना ही रह गया] ऐसा दोष दिया जाय, तो इस अदृष्टोपहित आत्माको ही सुखादिका निमित्त समझना चाहिए। [तात्पर्य यह है कि सुखादिस्थलमें भी जब अदृष्ट स्वतन्त्र निमित्त नहीं है, तब उस दृष्टान्तसे अन्यत्र भी अदृष्टमें स्वतन्त्र निमित्तकारणत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस सिद्धान्तके अनुसार प्रपञ्चमात्रको अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व या अभिन्नोपादानाधिष्ठानकत्व सुतरां सिद्ध हो जाता है]। यदि कुतर्कके कारण बुद्धि मारी जानेपर इस उक्त अनुमानसे अधिक प्रसन्नता न हो सके, तो सृष्टिवाक्यमें प्रसिद्ध एकमें ही दोनों कारणताका लक्षणरूपसे निर्देश किया गया है। [अनुमान समझमें न आ सकनेके कारण यदि ब्रह्मका कारणत्वरूप लक्षणमें विवाद करते हो, तो श्रुतिप्रतिपादित सृष्टिवाक्यपर श्रद्धा रख कर कारणत्व लक्षण मानिए सृष्टि वाक्य दिखाते हैं—] और सृष्टि वाक्य है कि 'तदैक्षत'—'उस ब्रह्मने ईक्षण—मायाके उन्मुख होनेकी कामना—किया' इससे ब्रह्मका निमित्त या अधिष्ठान होना दिखलाया गया, और 'बहु स्याम्'—'बहुत हो जाऊँ' इसके द्वारा ब्रह्मका उपादान कारण होना प्रतिपादन किया गया, इस प्रकार सृष्टिवाक्योंसे सन्तोष करना चाहिए।

इस विषयपर कोई वादी श्रुतिके स्वतःप्रमाण होनेसे ब्रह्मका तथाभूत प्रपञ्चरूपसे परिणाम होता है इस तरह परिणामवादका अवतरण करते हैं, ['बहु स्यां प्रजायेय' यह स्वतःप्रमाण श्रुतिका सृष्टिवाक्य ब्रह्मका प्रपञ्चरूप परिणामको कहता है, अतः इसे प्रमाण मानना चाहिए।] इन परिणामवादियोंसे प्रश्न करना चाहिये कि आपका तथाभूतत्व पदार्थ क्या है ? क्या सत्यशब्दसे

शब्दाभिधेयत्वं किं वा स्वोपाधावभावव्यावृत्तत्वम् उत स्वाश्रयोपाधावबाध्यत्वम् अथवा स्वरूपेणाऽबाध्यत्वम् ? नाद्यः, स्वप्नसृष्टेः सत्यशब्दाभिधेयताप्रसङ्गात्। तद्बुद्धेरपि स्वतः प्रामाण्यप्राप्तेर्दुर्वारित्वात्। अथ तत्र दोषादप्रामाण्यं श्रुतेस्तु नैवमिति मन्यसे एवमपीदं रजतं मिथ्या, बाध्यत्वादित्यनुमानप्रमाणगम्ये रजते सत्यत्वं प्रसज्येत। न द्वितीयः, मायावादिभिरपि श्रुत्यादिप्रतिपन्नसृष्टेः स्वाधिष्ठाने ब्रह्मण्यभावव्यावृत्तत्वाङ्गीकारात्। न तृतीयः, कल्पितानां प्रतिबिम्बश्यामत्व-

---

कहे जाने योग्य होना है ? अथवा अपनी उपाधिमें अपने अभावसे रहित होना है ? या अपने आश्रयकी उपाधिमें बाध्य न होना है ? अथवा स्वरूपसे बाधित न होना है ? इनमें से प्रथम विकल्प नहीं मान सकते, कारण कि स्वप्नसृष्टि भी सत्यशब्दसे कही जाने लगेगी। स्वप्नबुद्धिमें भी स्वतःप्रमाणत्व नहीं हटाया जा सकता । ['अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादि श्रुतिवाक्य ही स्वप्नसृष्टिमें प्रमाण है और स्वप्नमें रथादिबुद्धि भी होती है। बुद्धि तथा श्रुति दोनों स्वतः प्रमाण हैं, इसलिए तुम्हारे मतसे स्वप्नसृष्टि सत्य कही जानी चाहिए।] यदि स्वप्नसृष्टिमें (निद्रारूप) दोष है (अथवा श्रुतिसे ही वहांपर 'न रथा' इत्यादि बाध है) इसलिए प्रामाण्य नहीं माना जाता और सृष्टिश्रुतिमें तो ऐसा (बाध या दोष) नहीं है, ऐसा मानते हो, तो तो भी 'यह रजत मिथ्या है, बाध्य होनेसे' इस अनुमानप्रमाणसे जाने गये 'पक्षभूत' रजतमें भी सत्यत्वका प्रसङ्ग आ जायगा। [परन्तु ऐसा नहीं है, इस अनुमानसे केवल इतना ही दिखाया जाता है, रजतभिन्नको रजत समझना प्रमाण नहीं है, रजतको सिद्ध करनेमें इसका तात्पर्य नहीं, अतः प्रमाणगम्यत्व होना-मात्र सत्यत्वका प्रयोजक नहीं है।] दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, कारण कि मायावादी भी श्रुत्यादिसे सिद्ध सृष्टिको अपने अधिष्ठान ब्रह्ममें अभावव्यावृत्त—अभावरहित—मानते हैं। [भासमान सृष्टिका अपने अधिष्ठान ब्रह्ममें अभाव नहीं है, एतावता सृष्टिको प्रमाणभूत या सत्य नहीं कह सकते, अर्थात् दूसरा विकल्प परिमाणकी प्रमाणता सिद्ध नहीं कर सकता] तीसरा विकल्प भी साधक नहीं है, क्योंकि कल्पनाके विकल्पभूत प्रतिबिम्बगत श्यामता और घटाकाशादिरूपसे परिच्छिन्न होना आदि

घटाकाशपरिच्छिन्नत्वादीनामौपाधिकधर्माणामपि स्वाश्रयोपाधावबाध्यत्वात्। न चतुर्थः, सृष्टेरपि परमार्थसत्यत्वांशेनैव बाध्यत्वं न स्वरूपेणेत्यङ्गीकारात्। सृष्टेः सत्यत्वाभावे सृष्टिश्रुतेरप्रामाण्यं स्याद् इति चेद्, न; सृष्टिस्वरूपमात्रप्रमापणे प्रवृत्तायाः श्रुतेः सृष्टिस्वरूपसद्भावमात्रेण प्रामाण्योपपत्तौ तत्सत्यताया अप्रयोजकत्वात्। नहि रूपप्रमापकस्य चक्षुषः शब्दाभावादप्रामाण्यं भवति, प्रमाणत्वापराधमात्रेण सत्यतायां तात्पर्यकल्पने स्वप्नविषयसृष्टिश्रुतेरपि तथात्वं स्यात्। प्रयोजनशून्यता तूभयत्र समाना दुःखतत्साधनांशेऽनर्थहेतुत्वं च समम्। सृष्टिसत्यता-

---

[आदि पदसे जपाकुसुमके संसर्गसे प्रतीयमान स्फटिकगत लौहित्यादिका ग्रहण है] औपाधिक धर्मोंका भी अपने आश्रयभूत प्रतिबिम्ब या घटाकाशादिके रहते उसके उपाधिरूप दर्पण या घटादिमें बाध नहीं होता है। [दर्पणमें श्यामत्व, घटमें परिच्छिन्नत्व तथा जपामें लौहित्य आदि अबाधित ही हैं, इससे भी प्रतिबिम्ब-श्यामत्व आदि प्रमाण नहीं माने जाते]। चतुर्थ विकल्प भी नहीं बनता, कारण कि सृष्टिमें भी परमार्थरूपसे ही बाध्यत्व है, स्वरूपसे नहीं, ऐसा माना गया है, [अतः स्वरूपसे अबाध्य होना भी प्रामाण्यका साधक नहीं है]।

शङ्का—सृष्टिको सत्य न माननेसे सृष्टिप्रतिपादक श्रुति अप्रमाण हो जायगी।

समाधान—सृष्टिप्रतिपादक श्रुतिमें अप्रामाण्य नहीं आ सकता, कारण कि सृष्टिके स्वरूपमात्रका निश्चय कराने लिए प्रवृत्त हुई श्रुतिका सृष्टिके स्वरूपसद्भाव-मात्रसे प्रामाण्य उपपन्न हो सकता है, अतः वह सृष्टिकी सत्यतामें प्रयोजक नहीं है, [श्रुतिके स्वतःप्रामाण्यसे सृष्टिकी सत्यता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उसका प्रामाण्य तो सृष्टिके स्वरूपमात्रके बोधनसे ही बना है]। कारण कि रूपका निश्चय करनेवाला चक्षु शब्दका निश्चय न करानेसे अप्रमाण नहीं हो सकता। प्रामाण्यमात्रके अपराधसे सृष्टिकी सत्यतामें श्रुतिका तात्पर्य माननेसे तो स्वप्नकालिक सृष्टिबोधक श्रुतिमें भी ऐसा होना—स्वप्नसृष्टिकी सत्यताका बोधकत्व—प्राप्त हो जायगा। प्रयोजनसे रहित होना तो दोनोंमें समान है। [यदि स्वप्न-सृष्टिको सत्य माननेमें प्रयोजन नहीं है, तो इस जागर-सृष्टिको भी सत्य माननेमें कोई प्रयोजन नहीं है, व्यवहार तो दोनोंमें समान ही है एवं स्थायित्व और अस्थायित्व भी

प्रतिपादने कर्मकाण्डस्य प्रत्यक्षादेर्वा प्रामाण्यसिद्धिः प्रयोजनमिति चेद्, नः तत्प्रामाण्यस्य जगन्नित्यत्ववादिमीमांसकमतेऽप्युपपत्तौ परिणामवादाऽनवतारात्। मतान्तरेष्वपि सृष्टिश्रुत्यवगमात् प्रागेव लोकव्यवहारात्तत्प्रामाण्यं सिद्धम्। ततो निष्प्रयोजनैव सृष्टिश्रुतिः स्यात्। अस्मन्मते तु मानान्तराऽनवगताखण्डैकरसब्रह्मावगमाय महावाक्यप्रवृत्तिः। सृष्टिश्रुतिस्तु—

दोनों सृष्टियोंमें समान ही है]। दुःख और उसके साधनरूप परिणामांशमें अनर्थका कारण होना भी समान ही है। [यदि स्वप्न-सृष्टिको दुःख या दुःख-साधन माननेपर उसके अनर्थकारी होनेसे उसकी सत्यतामें श्रुतिका तात्पर्य न माना जाय, तो जागर-प्रपञ्च-सृष्टिमें भी उक्त अनर्थ-हेतुता समान ही है, अर्थात् वह भी दुःखमय और दुःखसाधन ही है, यह भाव है।]

शङ्का—प्रपञ्च-सृष्टिमें सत्यताका प्रतिपादन करनेसे कर्मकाण्ड तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके प्रामाण्यकी सिद्धि ही प्रयोजन माना जायगा। [यदि प्रपञ्च सत्य न हो, तो स्वर्ग, पुत्र, धन, धान्य आदिकी कामनाकी पूर्तिके लिए कर्मकाण्ड-वाक्य द्वारा तत्तत् यागका विधान करना अप्रमाण होगा और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका भी प्रामाण्य नहीं रह जायगा।]

समाधान—नहीं, कर्मकाण्ड-भाग या प्रत्यक्ष आदिका प्रामाण्य तो संसारको नित्य माननेवाले मीमांसकके मतसे भी उपपन्न हो सकता है, उससे परिणामवादका अवतरण नहीं बन सकता। [जो वादी जगत्को सत्य नहीं मानते, उनके मतमें सृष्टिके प्रामाण्यके बोधनमें श्रुतिका तात्पर्य माना जायगा, इस आशङ्काका समाधान करते हैं—] दूसरे मतोंमें भी सृष्टि-विषयक श्रुतिका ज्ञान होनेसे पूर्व ही लोकव्यवहारसे सृष्टिका प्रामाण्य सिद्ध है, [इसलिए श्रुति-वाक्यरूप शब्दके प्रामाण्यकी आवश्यकता—अपेक्षा—नहीं है, एवं 'सन् घटः' इत्यादि लोकव्यवहारसे ही सिद्ध सत्त्वके अभेदका प्रतिपादन करनेके लिए भी शास्त्र सप्रयोजन नहीं है]। अतः सृष्टिविषयक श्रुति प्रयोजनशून्य ही हो जायगी। हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें तो दूसरे प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा नहीं जाने गये अखण्डैकरस ब्रह्मकी प्रतीति करानेके लिए महावाक्योंकी प्रवृत्ति है। और सृष्टिके प्रतिपादक वाक्य तो—

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।
नाऽन्यत्र कारणात्कार्यं न चेत्तत्र क्व तद्भवेत् ॥'

इति न्यायेनाऽखण्डैकरसत्वप्रतिपादनायेति न वैयर्थ्यं किञ्चित् ।

ननु यथा 'इदं रजतम्' इति ज्ञानस्य प्रतीतितो रजतस्वरूपमात्रगोचरत्वेऽपि वस्तुतो रजताभासगोचरत्वेनाऽप्रामाण्यं तथा श्रौतसृष्टिज्ञानस्याऽपीति चेद्, न; तत्र यथा रजताभासादन्यन्मुख्यरजतं लोके प्रसिद्धं तद्वदत्र सृष्ट्यन्तरस्य मुख्यस्याऽभावात्तस्या एव मुख्यसृष्टित्वेन तद्गोचरज्ञानस्य मुख्यरजतज्ञानवत् प्रामाण्योपपत्तेः । न च पारमार्थिकब्रह्मणो मिथ्याभूतप्रपञ्चभावापत्तिविरोध इति वाच्यम्, देवदत्तस्य मायया मिथ्याव्याघ्रादिभावापत्तिदर्शनात् । न च मिथ्याकार्ये सृष्टिशब्दप्रयोगानु-

---

'अध्यारोप और अपवाद—इन दोनोंके द्वारा निष्प्रपञ्च—प्रपञ्चशून्य—शुद्ध ब्रह्मका विस्तारसे वर्णन किया जाता है । कारणसे अन्यत्र कार्यकी स्थिति नहीं हो सकती । यदि कारणमें कार्यकी स्थिति न मानो, तो वह कार्य फिर कहां रह सकता है ? अर्थात् कहीं भी नहीं रह सकता ।'

—इस न्यायसे उस ब्रह्मकी अखण्डता तथा एक-रसताका प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त हैं, इसलिए कुछ भी व्यर्थ नहीं है ।

शङ्का—जैसे 'यह रजत है' इस ज्ञानमें यद्यपि रजतका स्वरूपमात्र विषय है, तथापि उसके वस्तुतः—परमार्थतः—रजताभासविषयक होनेसे वह प्रमाण नहीं माना जाता, वैसे ही श्रुतिसे उत्पन्न सृष्टि-ज्ञान भी प्रमाण नहीं होता [विषयके स्वरूपसे सिद्ध होनेपर भी परमार्थतः असिद्ध होनेसे ज्ञानका प्रामाण्य नहीं हो सकता] ।

समाधान—उक्त दृष्टान्त उचित नहीं है, कारण कि जैसे शुक्ति-रजतसे भिन्न (दूसरा) मुख्य—व्यावहारिक—रजत लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे प्रकृतमें श्रुति-सिद्ध सृष्टिसे अतिरिक्त दूसरी मुख्य सृष्टि कहीं प्रतीत नहीं है, इसलिए उसीको मुख्य सृष्टि मान कर मुख्य रजतके ज्ञानकी भांति उसमें प्रामाण्य मानना उपपत्तियुक्त है । परमार्थभूत ब्रह्मकी मिथ्यात्मक प्रपञ्च-भावापत्ति माननेमें विरोध नहीं दिखाना चाहिए, कारण कि माया द्वारा देवदत्तका मिथ्याभूत व्याघ्र आदि होना देखा गया है । मिथ्यास्वरूप प्रपञ्चात्मक

पपत्तिः, 'माया ह्येषा मया सृष्टा' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । न च सृष्टिमिथ्यात्वे मानाभावः, श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षानुमानार्थापत्तीनां सत्त्वात् । 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्', 'मम माया दुरत्यया' इति श्रुतिस्मृती अनिर्वचनीयमायात्मकत्वं सृष्टेर्दर्शयतः । घटाद्यभावग्राहिप्रत्यक्षमपि सृष्टेर्मिथ्यात्वं दर्शयति । यथा 'इदं रजतम्' इत्यत्रेदन्तोपाधौ प्रतिपन्नस्य सत्येव तदुपाधौ 'नेदं रजतम्' इति बाधः तथा 'अस्ति घटः' इत्यत्राऽस्त्यर्थोपाधौ प्रतिपन्नस्य घटस्य तदुपाधावेव नाऽस्तीति प्रत्यक्षेणैव बाधो दृश्यते । ननु देशकालविशेषे तदुपाधिकास्त्यर्थे वा घटस्य निषेधो नाऽस्त्यर्थमात्रे, ततो देशान्तरे कालान्तरे च घटस्य सद्भाव इति चेद्, न; यदा देशकालौ निषिध्येते तदा देशकालान्तराभावे न केवलाऽस्त्यर्थस्यैवोपाधित्वं वाच्यम्, निरुपा-

---

कार्यके लिए सृष्टिशब्दके प्रयोगकी अनुपपत्ति भी नहीं कह सकते, कारण कि 'इस मायाकी मैंने सृष्टि की है' इत्यादि प्रयोग देखे गये हैं, [अतः मिथ्याभूत मायाके लिए सृष्टिशब्दका प्रयोग शास्त्रोंमें आया है]। सृष्टिको मिथ्या—अपारमार्थिक—माननेमें प्रमाणका अभाव भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस सृष्टिमिथ्यात्वमें श्रुति, स्मृति, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति रूप प्रमाण विद्यमान हैं। 'मायाको प्रकृति समझना' और 'मेरी माया सहसा नहीं हटाई जा सकती' इत्यादि श्रुति तथा स्मृतिमें सृष्टि अनिर्वचनीय-मायामयता दिखलातीं हैं। और घट आदिके अभावका बोध करानेवाले प्रत्यक्षसे भी सृष्टिका मिथ्या होना सिद्ध है। जैसे कि 'यह रजत है' इस प्रतीतिमें इदन्तारूप उपाधिमें ज्ञात रजतका उसी उपाधिमें (इदन्तामें ही) 'यह रजत नहीं है' ऐसा बाध होता है, (इस बाधके कारण उसे रजतरूप समझना मिथ्या है) एवं 'घट है' इस ज्ञानमें अस्तिके अर्थभूत सत्ता-रूप उपाधिमें ज्ञात घटका उसी उपाधिमें 'नहीं है' इस प्रकार प्रत्यक्षसे ही बाधज्ञान होता है।

शङ्का—देशकालविशेषमें या देशकालोपाधिविशिष्ट अस्त्यर्थ सत्तामें 'नास्ति घटः' इस प्रकार घटका निषेध किया जाता है, केवल अस्त्यर्थ सत्तामें ही नहीं, इससे 'इस देश या कालमें उसका निषेध होनेपर भी' दूसरे देश या दूसरे कालमें घटका सद्भाव बना ही रहता है।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि जब (देश नहीं, काल नहीं, इस प्रकार) देश तथा कालका निषेध किया जाता है, तब दूसरे देश

धिकनिषेधायोगात्। ततस्तत्र क्लृप्तोपाधेर्घटादिनिषेधसम्भवे सत्य न्योपाधिकल्पने गौरवप्रसङ्गः। न चैवमेवाऽस्त्यर्थनिषेधेऽस्त्यर्थान्तराभावान्निषेध्यस्याऽनुपाधित्वान्निरुपाधिकनिषेधोऽङ्गीक्रियते इति वाच्यम्, अस्त्यर्थस्याऽनुयायिनो निषेधाभावात्। तस्मादस्त्यर्थे ब्रह्मणि घटाद्यभावबोधकं प्रत्यक्षं मिथ्यात्वे मानम्।

यस्त्वभावस्य षष्ठमानगम्यत्वमाह तं प्रत्येकैकाभावविशिष्टवस्त्वन्तरप्रत्यक्षं वा षष्ठमानमेव वा मिथ्यात्वं बोधयतु।

अनुमानान्यपि तद्बोधकान्युच्यन्ते—विमता विकाराः स्वानुस्यूतैकवस्तुनि कल्पिताः, प्रत्येकमेकस्वभावानुविद्धत्वाद् विभक्तत्वाच्च, चन्द्र-

---

या कालका अभाव होनेसे केवल अस्त्यर्थ सत्ताको ही उपाधि मानना होगा, कारण कि उपाधिशून्य निषेध हो नहीं सकता, अन्यथा निषेधका भासना ही असम्भव होगा। इसलिए देशकालनिषेधमें मानी हुई अस्त्यर्थरूप उपाधिमें घटादिके निषेधका सम्भव होनेसे दूसरी उपाधिकी कल्पना करनेसे गौरवका प्रसङ्ग आता है।

शङ्का—उक्त रीतिके अनुसार 'अस्त्यर्थो न' इत्याकारक अस्त्यर्थके निषेधमें दूसरा अस्त्यर्थ न होनेके कारण निषेध्य अस्त्यर्थके उपाधिशून्य होनेसे निरुपाधिक निषेध माना ही जाता है, [अर्थात् उपाधिकी कल्पनासे अनवस्था या गौरव नहीं आ सकता]।

समाधान—ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि अनुयायी अस्त्यर्थका निषेध नहीं हो सकता। [अस्त्यर्थ सर्वत्र अनुवर्तमान रहता है, अन्ततः 'अभाव है, निषेध है, अस्त्यर्थ नहीं है' इत्यादि प्रकारसे नास्तिमें भी अस्त्यर्थ रहता है, अतः उसका निषेध नहीं हो सकता और अस्त्यर्थके सद्रूप होनेसे ब्रह्माद्वैतवादमें भी हानि नहीं आ सकती।] इसलिए अस्त्यर्थ सद्रूप ब्रह्ममें घटादिके अभावका बोधन करनेके लिए प्रवृत्त प्रत्यक्ष प्रमाण प्रपञ्चमें मिथ्यात्व-बोधन करता है।

और जो वादी अभावको छठे अनुपलब्धिरूप प्रमाणसे जानने योग्य कहता है, उसके प्रति एक-एकके अभावसे विशिष्ट अन्य वस्तुका प्रत्यक्ष अथवा छठा प्रमाण अनुपलब्धि ही प्रपञ्चके मिथ्यात्वका बोधन करेगा।

अब प्रपञ्चमिथ्यात्वके बोधक अनुमान भी कहे जाते हैं—विमत—भूतभौतिक आकाशादि तथा घट, पटादि रूप प्रपञ्च—अपनेमें अनुवर्तमान एक ही वस्तुमें

स्वभावानुविद्धचन्द्रकल्पितजलचन्द्रभेदवत् । शून्यवादिनं प्रति सिद्धसाधनतापरिहाराय वस्तुनीति पदम् । अनेकेषु विषयेषु विज्ञानाकारः कल्पित इति वादिनं प्रत्येकेति । क्षणिकैकज्ञाने सर्वं कल्पितमिति वादिनं प्रति स्वानुस्यूतेति । वनाकारानुविद्धेषु तत्राऽकल्पितेषु तरुष्वनैकान्तिकत्वव्यावृत्तये प्रत्येकमिति । भेदः कल्पितो जडत्वात्, कार्यत्वात्, रजतवत्; भेद-

कल्पित हैं, [हेतु देते हैं—] प्रत्येक एक ही स्वभावसे सम्बद्ध होनेसे अथवा परस्पर विभक्त[१] होनेसे, [दृष्टान्त देते हैं—] चन्द्रस्वभावसे अनुविद्ध चन्द्रकल्पित जलचन्द्रोंके भेदके समान। शून्यवादीके मतमें सिद्ध-साधन दोषके परिहारके लिए 'वस्तुनि' यह पद दिया गया है। [शून्यवादी सभी पदार्थोंको कल्पित ही मानता है, और इस अनुमानसे भी यही सिद्ध किया गया, कोई नवीनता नहीं आई; इससे वस्तु पद दिया गया है। शून्यवादी एक भी वस्तु ऐसी नहीं मानता, जो कल्पित न हो, और इस मतमें अनुस्यूत सत् पदार्थ कल्पित नहीं है। प्रत्युत—सारा प्रपञ्च इसमें ही कल्पित है, इतनी नवीनता आनेसे सिद्धसाधन दोष नहीं आता]

[प्रत्येक पदका प्रयोजन दिखलाते हैं—] अनेक विषयोंमें विज्ञानका आकार कल्पित होता है, इस प्रकार माननेवाले वादीके मतके अनुसार अर्थान्तर दोषका वारण करनेके लिए 'प्रत्येक' पद दिया गया है। क्षणिक एक ज्ञानमें सम्पूर्ण जगत्को कल्पित माननेवालेके प्रति 'स्वानुस्यूत' पद दिया है [क्षणिकवादी अनुस्यूत एक स्थायी पदार्थ नहीं मान सकता, इससे उसके मतको लेकर सिद्धसाधनादि दोष नहीं दिया जा सकता। हेतुगत प्रत्येक पदका फल कहते हैं—] एक ही वनरूपमें अनुवृत्त और उस वनमें कल्पित न माने जानेवाले वृक्षोंमें व्यभिचारका वारण करनेके लिए (हेतुमें) प्रत्येक पद दिया है। [प्रत्येक वृक्ष वन नहीं कहा जाता, किन्तु वृक्षोंके समूहको वन कहते हैं, अतः वृक्षमें हेतु तथा साध्य दोनोंके न होनेसे व्यभिचार दोष नहीं आता। विभक्तत्व—कल्पितभेदवत्ता—रूप हेतुसे भेदाश्रय प्रपञ्चमें मिथ्यात्वकी सिद्धि पहले कर आये हैं, अब भेदमें कल्पितत्वका साधन करते हैं—] भेद कल्पित—मिथ्या—है, जड़ या कार्य होनेसे, रजतके समान; या

१—यह दूसरा हेतु है। विभक्तत्व धर्मिसत्तासमसत्ताक भेदवत्त्वको कहते हैं—घट, पटादिकी सत्ताके समान इनके भेदकी सत्ता भी कल्पित ही है, अतः इस हेतुका अर्थ कल्पित भेद हुआ।

त्वात् चन्द्रभेदवत्; प्रतिपन्नोपाधावस्थूलादिवाक्यैः प्रतिषिध्यमानत्वात्, देहात्मभाववत्; विरोधिकारणस्वभावाऽनुपमर्देन विरोधिकार्यापत्तिलक्षणत्वाद्, मायाविव्याघ्रवत्; प्रलयावस्थायां सह कालेन स्वोपाधौ शून्यत्वाद्, देहात्मभाववत्। प्रलयकाले एव शून्यत्वं न स्वोपाधावित्याशङ्काव्युदासाय सह कालेनेत्युक्तम्। अर्थापत्तिरपि—प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमन्तरेणाऽनुपपन्नौ जन्मविनाशौ, अमिथ्याभूतयोर्ब्रह्मशून्ययोर्जन्मविनाशादर्शनात्। न चैवं प्रपञ्चमिथ्यात्वाङ्गीकारे ब्रह्मज्ञानस्याऽपि प्रपञ्चज्ञानवन्मिथ्यात्वमनुमीयते

भेदरूप होनेसे चन्द्रभेद (चन्द्रविशेष) के तुल्य। अथवा सद्रूप ब्रह्मात्मक उपाधिमें 'स्थूल नहीं' इत्याद्यर्थक 'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्योंके द्वारा निषेधका विषय होनेसे, देहात्मभावके समान; [अर्थात् जैसे देहमें आत्मबुद्धि 'मैं मनुष्य नहीं हूँ' इस प्रत्यक्ष बाधसे मिथ्या है, वैसे ही सद्रूप ब्रह्ममें 'सन् घटः' इत्याकारक प्रपञ्चबुद्धिके 'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा बाधित होनेसे प्रपञ्चमें मिथ्यात्व सिद्ध होता है]। अथवा विरोधी कारणके स्वभावका उपमर्दन करके (अर्थात् अनुवर्तन करके) विरोधी कार्यरूपकी प्राप्ति होनेसे, मायावी नटके व्याघ्र होनेके समान। [मायावी मनुष्य विरोधी व्याघ्ररूप कार्यकी प्राप्ति करता हुआ भी अपना चैतन्य या लोकानुरञ्जन आदि स्वभाव नहीं छोड़ता, मायावी सिंहका विकरालरूप भी अनुरञ्जनका ही साधक है, इससे विवर्तवाद सिद्ध हुआ।] अथवा प्रलयदशामें कालके साथ अपनी उक्त उपाधिमें शून्यरूप होनेसे, देहात्मभावके समान। [मरनेपर 'मैं मनुष्य हूँ' इत्याद्याकारक देहात्मभावसे शून्य हो जाता है, एवम् प्रलयमें सब प्रपञ्च शून्य हो जाता है।] प्रलयकालमें ही शून्यत्व होता है (अर्थात् काल ही सब प्रपञ्चका लय करता है) अपनी उपाधिमें नहीं होता, इस आशङ्काकी व्यावृत्तिके लिए 'कालके साथ' ऐसा कहा। अर्थात् अविद्याके प्रलयसे कालकी भी निवृत्ति हो जाती है।

अर्थापत्ति भी इसमें प्रमाण है—प्रपञ्चको मिथ्या माने बिना उसके जन्म और विनाश दोनों नहीं बन सकते; कारण कि मिथ्या नहीं माने जानेवाले ब्रह्म तथा शून्य—तुच्छ—का जन्म और विनाश दोनों नहीं देखे जाते।

शङ्का—इस प्रकार श्रुतिसिद्ध प्रपञ्चको अनुमानादिसे मिथ्या माननेपर ब्रह्मज्ञान भी प्रपञ्चज्ञानके समान मिथ्या होगा।

इति वाच्यम्, स्वरूपतो मिथ्यात्वाङ्गीकाराद्। विषयतो मिथ्यात्वं तु 'तत्सत्यं स आत्मा' इति वचनविरुद्धम्। नन्वस्थूलादिवाक्यैः स्थूलादिव्यतिरिक्तरूपमप्यस्तीति प्रतिपाद्यते, न तु स्थूलादिरूपं निषिध्यते, ततः प्रतिषिध्यमानत्वमिति हेतुरसिद्ध इति चेत्, स्थूलप्रपञ्चतादात्म्यवति ब्रह्मण्यन्यरूपविवक्षयाऽप्येवं प्रतिषेधानुपपत्तेः; नहि शुक्लायां गवि क्षीरसंपत्तिं विवक्षन्न शुक्ला गौरिति प्रयुङ्क्ते, किं तर्हि क्षीरसंपन्ना गौरिति। ततः स्थूलादिप्रपञ्चं निषिध्यैव रूपान्तरं प्रतिपाद्यते इत्यङ्गीकर्त्तव्यम्। तर्काप्रतिष्ठानान्न मिथ्यात्वानुमानमिति चेद्, न; विचारशास्त्रानारम्भप्रसङ्गात्।

समाधान—ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि [विषयविषयिभावापन्न ब्रह्मज्ञानमें] स्वरूपतः मिथ्यात्वका अङ्गीकार किया ही गया है। (ब्रह्मज्ञानको) 'ब्रह्मरूप' विषयसे मिथ्या मानना तो जो 'सत्य—अबाधित—है वह आत्मा है', इत्यादि श्रुतिवचनोंसे विरुद्ध है। [इसलिए ब्रह्मज्ञानका विषय ब्रह्म मिथ्या नहीं माना जा सकता और सृष्टिका (प्रपञ्चका) ज्ञान तो 'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्योंसे बाधित होनेसे मिथ्या माना गया है]।

शङ्का—'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्योंसे (स्थूल ही नहीं बल्कि) स्थूलादिसे अतिरिक्तरूप भी इसका है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। स्थूलादि रूपका निषेध नहीं किया जाता है; इससे प्रतिषिध्यमानत्व—निषेधका विषय होनारूप—हेतु सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि स्थूल प्रपञ्चके तादात्म्यको प्राप्त हुए ब्रह्ममें स्थूलभिन्न अतिरिक्त रूपकी विवक्षासे भी 'अस्थूलम्' (स्थूल नहीं) इस प्रकार निषेध करना उपपन्न नहीं होता, क्योंकि लोकमें भी शुक्लवर्णवाली गायमें दूधकी अधिकता प्रकट करनेकी विवक्षासे—'यह गाय शुक्ल नहीं है' इस प्रकार (निषेध वाक्यका) प्रयोग नहीं किया जाता, किन्तु 'यह गाय दूधकी सम्पत्तिवाली है' ऐसा प्रयोग किया जाता है। इससे स्थूलादि प्रपञ्चका निषेध करके ही ('अस्थूलम्' इत्यादि वाक्योंसे) रूपान्तरका प्रतिपादन किया जाता है, यही मानना होगा।

शङ्का—तर्कके प्रतिष्ठित न होनेसे मिथ्यात्वसाधक अनुमान कैसे प्रतिष्ठित (सङ्गत) होगा?

नहि श्रुत्यर्थनिर्णायकतर्कप्रदर्शनाय विचारशास्त्रारम्भः, किन्तु परकीय-तर्कनिराकरणायैव। ब्रह्म तु श्रुतिमात्रसिद्धमिति चेत्, तर्हि 'असद्वा इदम्' 'सदेव सोम्येदम्' इत्यादिश्रुतिद्वयसामर्थ्यात् कारणस्य सदसत्त्वे स्याताम्। सर्वशक्तित्वाद् ब्रह्मणः सर्वमुपपन्नमिति चेद्, न; तथा सति कदाचिच्छून्यत्वस्याऽपि प्रसङ्गात्। सर्वशक्तित्वं तु श्रुत्यनुसारेणैवाऽवगन्तव्यम्। श्रुत्यर्थश्च तदनुसारितर्कान्निश्चेतव्यः। अतोऽनुमानमपि श्रुत्यविरोधि प्रपञ्चमिथ्यात्वं साधयिष्यत्येव। न च 'सन् घटः' इत्यादिसद्बुद्ध्यनुगमविरोधः, अनुगतसत्ताया अधिष्ठानत्वाद् घटादिविशेषाणामेव मिथ्यात्वात्। तस्मादश्रौतः परिणामवाद इति सिद्धम्।

एवं च सति विवर्त्तवादाभिप्रायेणैव ब्रह्मणः श्रुतौ द्विविधकारणत्व-

---

समाधान—[ऐसा नहीं, इससे तो विचारशास्त्रका आरम्भ ही नहीं हो सकता। श्रुतिके अर्थके निर्णायक तर्कोंको दिखलानेके लिए विचारशास्त्रका आरम्भ नहीं है; किन्तु दूसरे विरोधियों द्वारा उपस्थित किये गये तर्कोंका निराकरण करनेके लिए ही शास्त्रका आरम्भ है। ब्रह्म केवल श्रुतिसे सिद्ध है, ऐसा मानना भी नहीं बन सकता, कारण कि 'अथवा यह सब असत् था', 'हे सौम्य ! यह सत् ही था' इत्यादि परस्पर विरुद्ध दो श्रुतियोंकी सामर्थ्यसे कारणमें सत्त्व और असत्त्व दोनों प्राप्त हो जायँगे। यदि कहो कि ब्रह्ममें सब प्रकारकी शक्तियाँ हैं, अतः ब्रह्म दोनों प्रकारका याने सत् और असत् है, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है; कारण कि ऐसा कहनेसे तो कदाचित् ब्रह्ममें शून्यत्वका भी प्रसङ्ग आ जायगा। ब्रह्ममें सब शक्तियोंका होना तो श्रुतिके अनुसार ही समझना चाहिए और श्रुतिके अर्थका तो श्रुतिके अनुकूल तर्कके द्वारा निश्चय करना चाहिए, इसलिए श्रुतिके साथ विरोध न रखनेवाला अनुमान भी प्रपञ्चके मिथ्याभावको सिद्ध करेगा ही। 'सन् घटः' (घट सत् है) इत्यादि प्रतीतिके साथ विरोध (घटके मिथ्या माननेमें भी) नहीं आता, कारण कि अनुगत सत्ताके ही अधिष्ठान होनेसे घटादिविशेष ही मिथ्या हैं, अर्थात् घटादिका 'सत्' इत्याकारक विशेषण अधिष्ठानभूत सत्ताके द्वारा प्राप्त है, विशेष्य स्वयं स्वरूपतः मिथ्या है, इसलिए परिणामवाद किसी तरह भी श्रुति-सम्मत नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

ऊपर किये गये निर्णयके अनुसार विवर्तवादके अभिप्रायसे ही ब्रह्ममें

मुक्तम् । तच्च कारणत्वं तटस्थलक्षणत्वेन यद्यपि लक्ष्याद् ब्रह्मणः पृथग्भूतं तथापि तस्य मिथ्यात्वान्न लक्ष्यस्याऽद्वितीयत्वविरोधः । न च सत्यस्यैव लक्षणत्वं न मिथ्याभूतस्येति वाच्यम्, असाधारणसंबन्धो हि लक्षणत्वप्रयोजको न लक्षणसत्यत्वम् । सत्यानामप्यसंबद्धानां काकादीनां गृहोपलक्षणत्वादर्शनात् । असत्यानामपि संबद्धानां रजतादीनां 'यद्रजतमित्यभात् सा शुक्तिः' इत्यादौ शुक्त्यादिलक्षकत्वात् । अस्ति चाऽत्र प्रपञ्चब्रह्मणोर्वास्तवसंबन्धाभावेऽप्याध्यासिकस्तादात्म्यसंबन्धः । अतः प्रपञ्चजन्मादिकारणत्वेन तटस्थेन जिज्ञास्यविशुद्धब्रह्मस्वरूपं निर्विघ्नमुपलक्ष्यते ।

न चोक्तलक्षणेन प्रधानादीनि लक्षयितुं शक्यन्ते, तेषां सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वाभावात्; सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वयोश्च सूत्रस्थयच्छब्देन विवक्षित-

---

दो प्रकारकी [निमित्त और उपादान] कारणता श्रुतिमें कही गई है । यद्यपि तटस्थ लक्षण होनेसे उक्त कारणता लक्ष्यस्वरूप ब्रह्मसे पृथक् है, तथापि उसके (कारणत्वलक्षणके) मिथ्या होनेसे लक्ष्यभूत ब्रह्मके अद्वितीय होनेमें विरोध नहीं आता । और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्य ही लक्षण होता है, मिथ्या नहीं, क्योंकि असाधारण सम्बन्ध [अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भवरूप तीन दोषोंसे रहित होना] ही लक्षणत्वका प्रयोजक है, लक्षणका सत्यत्व प्रयोजक नहीं है । इसलिए सत्य होनेपर भी उक्त सम्बन्धसे शून्य काकादि मकानके लक्षण नहीं देखे जाते और 'जो रजतके समान भासित हुआ था, वह शुक्ति है, इत्यादि स्थलमें उक्त सम्बन्धसे सम्बन्धी होनेके कारण असत्यभूत रजत आदि भी शुक्ति आदिके लक्षण देखे जाते हैं । प्रकृतमें प्रपञ्च और ब्रह्मका वास्तव सम्बन्ध न होनेपर भी अध्यास द्वारा तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध है ही । इसलिए प्रपञ्चजन्मादिकारणत्वरूप तटस्थ लक्षणके द्वारा जिज्ञासाविषय विशुद्ध ब्रह्मका स्वरूप निर्विघ्न उपलक्षित (सूचित) होता है ।

उक्त कारणत्वरूप लक्षणसे प्रधान (सांख्यसम्मत प्रकृति) आदि लक्षित नहीं हो सकते, कारण कि प्रधान आदि सर्वज्ञ या सर्वशक्तिशाली नहीं हैं । और सूत्रमें आये हुए 'यतः' इस (पञ्चमीकी प्रकृति) यत्-शब्दसे सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्वकी ही विवक्षा है । इस प्रकारकी विवक्षा

त्वात् । सा च विवक्षा सूत्रगतेदंशब्दार्थभूतकार्यप्रपञ्चपर्यालोचनया लभ्यते ।

तं च प्रपञ्चं वादिनः स्वप्रक्रियानुसारेण विभजन्ति । तथाहि— द्रव्यगुणकर्मसामान्यानीति वार्त्तिककारीयाः । कार्यकारणयोगविधिदुःखान्तशब्दवाच्या जगदीश्वरसमाधित्रिषवणस्नानाद्यनुष्ठानमोक्षाः पञ्चेति शैवाः । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षडिति वैशेषिकाः । जीवाजीवाऽऽस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाः सप्तेति क्षपणकाः । तत्र बद्धो मुक्तो नित्यसिद्धश्चेति त्रिविधो जीवपदार्थः । पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेत्यजीवपदार्थश्चतुर्विधः । आस्रावयति पुरुषं

सूत्रमें पढ़े गये 'अस्य'के प्रकृतिभूत 'इदम्' शब्दके अर्थभूत कार्य-प्रपञ्चकी पर्यालोचनासे पाई जाती है ।

उस कार्य प्रपञ्चका वादी लोग अपनी अपनी प्रक्रियाके अनुसार इस प्रकार विभाग करते हैं—वार्तिककारका कहना है—द्रव्य[1], गुण, कर्म, और सामान्य इस तरह चार प्रकारके पदार्थ हैं। शैवागमकारका मत है—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त शब्दोंसे क्रमशः कहे जानेवाले संसार, ईश्वर, समाधि, त्रिषवण स्नानादिका [सायं, प्रातः तथा मध्याह्न तीनों कालोंमें स्नान करना त्रिषवण स्नान कहलाता है और आदि पदसे अग्निहोत्रादिका ग्रहण है] अनुष्ठान तथा मोक्ष इस प्रकार पाँच पदार्थ हैं । वैशिषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष[2] और समवाय—इन छः पदार्थोंको मानते हैं । क्षपणक (जैन) जीव[3], अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष—यों सात पदार्थ मानते हैं । इनमें तीन प्रकारका जीव पदार्थ है—बद्ध, मुक्त, और नित्य-सिद्ध । अजीव पदार्थ पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इस तरहसे चार प्रकारका है। पुरुषको ज्ञान उत्पन्न

१—द्रव्य आदिकी परिभाषा इस प्रकारकी की गई है—गुणवाला तथा कार्यका समवायी कारण द्रव्य, गुणक्रियाशून्य सत्तावान् तथा समवायीसे भिन्न गुण, चलनात्मक या संयोग-विभागका निरपेक्ष कारण कर्म तथा नित्य और अनकोंमें अनुगतरूपसे रहनेवाला सामान्य कहलाता है ।

२—नित्य द्रव्योंमें ही रहनेवाला तथा अपने आप भिन्न होनेवाला विशेष पदार्थ है, और समवाय नित्य सम्बन्धको कहते हैं ।

३—जीवपदसे चेतनसृष्टि और अजीवसे जड़ परमाणु आदि विवक्षित हैं ।

ज्ञानजननेन विषयेष्वितीन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः, स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति शमदमरूपा प्रवृत्तिः संवरः, निश्शेषेण पुण्यापुण्ये सुखदुःखोपभोगेन जरयतीति तप्तशिलारोहणादिर्निर्जरः, अष्टविधं कर्म बन्धः, अलोकाकाशे सततोर्ध्वगमनं मोक्षः। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषपारतन्त्र्यशक्तिनियोगा अष्टाविति चिरन्तनाः प्राभाकराः; द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायशक्तिसंख्यासादृश्यान्यष्टावित्याधुनिकाः। प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धा-

कराकर विषयोंमें प्रवृत्त करानेवाली इन्द्रियप्रवृत्ति आस्रव कहलाती है, इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोक देनेवाली शम, दम आदिरूप प्रवृत्ति संवर है, पुण्य तथा पाप दोनोंको सुख, दुःखके भोग द्वारा निश्शेष जला देनेवाला तक्षशिलारोहणादि निर्जर कहलाता है, आठ प्रकारके कर्म बन्धपदसे लिए जाते हैं, अलोकाकाशमें निरन्तर ऊर्ध्वगतिको मोक्ष कहते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, पारतन्त्र्य[1], शक्ति[2] और नियोग[3] इस प्रकार आठ पदार्थोंको प्राचीन प्रभाकरानुयायी मीमांसक मानते हैं, और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, संख्या और सादृश्य इस प्रकार आठ पदार्थोंको नवीन मीमांसक मानते हैं। प्रमाण[4], प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क,

१—पारतन्त्र्य-समवाय सम्बन्ध।

२—शक्ति वह पदार्थ है, जिसके कारण अग्नि आदि दाहादिके जननमें समर्थ होते हैं।

३—लिङादि प्रत्ययका अर्थ नियोग है, जिसके कारण पुरुष अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है और जो अनुष्ठान पुण्यजनक है, यह सूचित करता है।

४—(१) प्रमाण—प्रमाका (निश्चयात्मक ज्ञानका) साधन, (२) प्रमेय—प्रमाके विषय घट, पटादि, (३) संशय—निश्चय न कर सकना अर्थात् एक ही धर्मीमें समानकोटिसे नाना प्रकारका ज्ञान होना, (४) प्रयोजन—उद्देश्य, (५) दृष्टान्त—व्याप्तिका समन्वय करनेके लिए स्थल, जो सर्ववादिसम्मत हो, (६) सिद्धान्त—प्रमाणरूपसे माना गया निश्चय, (७) अवयव—न्यायवाक्यका प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमनरूप भाग, (८) व्याप्तिके बलसे हठात् अनिष्टकी प्रसक्ति दिखा देना तर्क है, (९) निर्णय—प्रथम तर्क द्वारा उपस्थित की गई अनिष्ट प्रसक्तिका निराकरण करके निश्चय करना, (१०) वाद—रागादि दोषोंसे शून्य होकर तत्त्वजिज्ञासुके लिए की गई कथा, गुरुका उपदेश आदि। यह कथा प्रश्नपूर्वक भी होती है, परन्तु इसमें रागादि या अभिनिवेश नहीं होता है। (११) जल्प—अपने-अपने मतके साधनमें प्रवृत्त हुई कथा, (१२) वितण्डा—उपर्युक्त जल्प कथा, परन्तु इसमें अपने पक्षका साधन नहीं किया जाता, केवल परपक्षका खण्डन ही किया जाता है, (१३) हेत्वाभास—हेतु न हो, परन्तु

न्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानि षोडशेति नैयायिकाः । एकादशेन्द्रियपञ्चप्राणपञ्चभूताहङ्कारमहदव्यक्तपुरुषाः पञ्चविंशतिरिति सांख्याः । वेदान्तिनस्तु 'त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म', 'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतिद्वयमाश्रित्य त्रैविध्यं द्वैविध्यं वाऽङ्गीकुर्वन्ति ।

युक्तश्चाऽन्त्यः पक्षः, स्रष्टुः सृज्यगोचरनामरूपयोः प्रथमं बुद्धयारोहात् । लोके घटं चिकीर्षौ कुलाले तद्दर्शनात् । मूलकारणमपि नामरूपा-

---

निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान— इन सोलह पदार्थोंको नैयायिक मानते हैं। सांख्यवादी ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच महाभूत, अहङ्कार, महत्, प्रकृति और पुरुष—इन पचीस तत्त्वोंको मानते हैं। वेदान्ती तो 'तीन प्रकारका यह प्रपञ्च है—नाम[2], रूप, और कर्म' तथा 'नाम और रूपका व्याकरण करते हैं' ऐसे अर्थवाली दो श्रुतियोंके आधार पर प्रपञ्चको तीन या दो प्रकारका मानते हैं।

इसमें अन्तिम पक्ष (नामरूपात्मक प्रपञ्चका त्रैविध्य मानना) ही युक्त है। सर्जनकर्त्ताकी बुद्धिमें सर्वप्रथम जानेवाली वस्तुके नाम और रूप ही आते हैं। क्योंकि लोकमें घड़ा बनानेवाले कुम्हारमें ऐसा ही देखा जाता है [अर्थात् घट बनानेकी इच्छा करनेवाले कुम्हारको सबसे पहले

पञ्चम्यन्त पद आदिसे हेतुके समान जो मालूम होता हो, (१४) छल—विपरीत अर्थकी कल्पना करके वादीके वचनोंको काट देना, (१५) जाति—अपने वक्तव्यमें ही विरोध दिखा देनेवाला उत्तर, (१६) निग्रहस्थान—व्याख्याताकी सामर्थ्यहीनताकी सूचना।

(१) ग्यारह इन्द्रिय—आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वक् इस तरह पांच ज्ञानेन्द्रिय और छः कर्मेन्द्रिय–मुख, हाथ, पांव, गुदा, जननेन्द्रिय और एक मन। (१) पांच प्राण—प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान। पांच महाभूत—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी। (२) सांख्यमतमें पांच प्राणोंके स्थानमें प्रायः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पञ्च तन्मात्राओंकी संख्या पाई जाती है—ग्रन्थकारने प्राणोंकी संख्या गिनाई है, ये तो वायुके भेदोंमें हैं। तत्त्वभेदोंमें नहीं। अहङ्कार—महत्तत्त्वका विकार, अन्तःकरणमें कार्यक्षमताका अभिमानरूप वृत्तिविशेष। महत्—प्रकृतिका प्रथम विकार, जिससे साम्यावस्थामें वैषम्य उत्पन्न हुआ और जो शुद्ध चैतन्यमें सर्वप्रथम ईक्षणस्थानीय बुद्धयादिविशेषवृत्तिविशेष है, इनके मतमें वह पृथक् तत्त्व समझा गया है। प्रकृति—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था और स्वयं किसीका भी विकार नहीं। पुरुष—चेतनतत्त्व तथा निर्लेप परन्तु भोक्ता।

२—नाम—वाचक शब्द—आद्य सृष्टि। रूप—रूप्यते बोध्यते-यः—अर्थ। कर्म—उक्त नाम और रूपका सम्बन्ध।

भ्यां स्वबुद्ध्यारूढं सृजति, स्रष्टृत्वात् , कुलालवत् । एतावता जगद् बुद्धिमच्चेतनकार्यमिति लभ्यते । न च जीवकार्यत्वं शङ्कनीयम् , कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टानां नामरूपात्मकानां सर्वजीवानां कार्यान्तःपातित्वात् । न च जगत्कारणस्य सर्वज्ञत्वे विवदितव्यम् , जगतः प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयत्वात् । प्रतिनियतदेशोत्पादाः कृष्णमृगादयः । प्रतिनियतकालोत्पादाः कोकिलादयः । प्रतिनियतनिमित्ता नवाम्बुदनादसंभवा बलाकागर्भादयः । प्रतिनियतक्रिया ब्राह्मणानां याजनादयः । प्रतिनियतफलं ब्रह्मलोके सुखं नरके दुःखमित्युदाहार्यम् । तामीदृशीं नियतिम-

---

'घट' यह नाम अर्थात् जिसको बनाना चाहता है उस वस्तुका वाचक शब्द और तदुपरान्त घटरूप अर्थ जिसको बना रहा है, उसका स्वरूप—इन दोनोंका ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है]। इस कुलालदृष्टान्तसे मूल कारण भी नाम (शब्द) और रूप (अर्थ)—इन दोनोंसे अपनी बुद्धिमें प्राप्त वस्तुकी ही रचना करता है, सृष्टिकर्ता होनेसे, कुलालके समान । [ऐसा अनुमान भी नामरूपात्मक—शब्दार्थमय—] द्विविध प्रपञ्चकी सिद्धि करता है । इतने शास्त्रार्थसे संसार किसी बुद्धिशाली चेतनका रचा हुआ कार्य है, यह सिद्ध होता है । संसार जीव द्वारा रचित है, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट नाम-रूपात्मक जीवोंका भी कार्यकोटिमें ही समावेश है [अर्थात् कार्यरूप प्रपञ्च ही जीव हैं, अतः इनका भी कोई अन्य कर्ता होगा] एवं जीव सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता और सर्वज्ञसे अतिरिक्त इस महान् कार्य प्रपञ्चकी रचना कर भी नहीं सकता । जगत्के कारणको सर्वज्ञ माननेमें विवाद नहीं किया जा सकता, कारण कि संसार नियमित देश, काल, निमित्त, क्रिया और फलका आश्रय है । कृष्ण मृग (काले हिरण) आदि कुछ पदार्थ किन्हीं खास ही देशोंमें होते हैं, सर्वत्र नहीं होते; अर्थात् ब्रह्मावर्तमें ही कृष्णसार और हिमवान्में कस्तूरी मृग होते हैं । कोकिल आदि वसन्तादि नियमित समयमें ही होते हैं और बगुला, बलाकाके गर्भधारण आदि नियमित निमित्तवाले हैं, क्योंकि ये नवीन मेघोंकी गर्जनासे ही होते हैं । ब्राह्मणोंके याजनादि नियमित कर्म हैं । ब्रह्मलोकमें सुख और नरकमें दुःख, ऐसा फलविषयक भी नियम है, इत्यादि

साङ्कर्येण कथमसर्वज्ञः सम्पादयेत्। नाऽपि सर्वशक्तित्वे विवदितव्यम्, जगतो मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपत्वात्। नह्येकस्या अपि शरीररचनाया विविधनाड़ीजालादिसंनिवेशविशिष्टाया रूपं मनसाऽपि शक्यं चिन्तयितुं दूरे जगद्रचनायाः। तदीदृशं जगत् कथमसर्वशक्तिर्निरचयेत् ? तदेवं सूत्रगतयच्छब्देनैव सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च विवक्षितम्।

सूत्रं चोपलक्षणप्रतिपादकमेवं योजनीयम्—अस्योक्तविधस्य जगतो जन्मादि यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तत्कारणं ब्रह्मेति।

नन्वत्र सूत्रे ब्रह्मस्वरूपलक्षणं नोक्तम्, न च तदन्तरेण स्वरूपमवगम्यते प्रकृष्टप्रकाशात्मत्वमनुक्त्वा 'शाखाग्रे चन्द्रः' इत्येवोक्ते चन्द्रस्वरूपानवगमात्। यच्छब्देन तदुक्तमिति चेत्, तत् किं सर्वशक्तित्वम् उत

रूपसे उदाहरण समझना चाहिए, इस प्रकारकी नियत शैलीको असर्वज्ञ तथा अल्पज्ञ पुरुष ठीक-ठीक कैसे सम्पादन कर सकता है ? एवं 'जगत्कारणके' सम्पूर्ण शक्तिशाली होनेमें विवाद करना उचित नहीं है; कारण कि संसारकी रचना हम जैसे अल्पशक्ति मनुष्योंके लिए मनसे भी चिन्तन करने योग्य नहीं है, निर्माण करना तो दूर रहा। नाना प्रकारकी नाड़ियोंके समूह आदिके सन्निवेशसे युक्त एक शरीरकी ही रचनाके जब स्वरूपका हम मनसे भी विचार करनेमें समर्थ नहीं हैं तब सम्पूर्ण संसारकी रचनाका चित्रण तो दूर ही रहा। अतः अल्पशक्तिशाली जीव इस प्रकारके विलक्षण संसारकी रचना कैसे कर सकता है ?

इस सिद्धान्तके अनुसार सूत्र पठित 'यत्' शब्दसे सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता विवक्षित है। [पदार्थोंका अन्वय दिखलाते हैं—उपलक्षण—तटस्थ लक्षण—का प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकी इस प्रकार पदार्थयोजना (अन्वय) करनी चाहिए। इस प्रकार प्रदर्शित स्वरूपवाले संसारका जन्मादि (जन्म, स्थिति और लय) जिस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कारणसे होता है, वह कारण ब्रह्म है।

शङ्का—इस दूसरे सूत्रमें ब्रह्मका स्वरूप लक्षण तो कहा ही नहीं गया और स्वरूप लक्षणके बिना स्वरूप जाना नहीं जाता, जैसे प्रकृष्टप्रकाश—सबसे अधिक प्रकाशवाला—चन्द्रमा है, ऐसा स्वरूप लक्षण न कह करके वटकी शाखाके अग्रभागमें 'दिखलाई देनेवाला' चन्द्रमा है; इतनामात्र कह देनेसे चन्द्रमाके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कहो कि 'यत्' शब्द द्वारा

सर्वज्ञत्वम् ? नाऽऽद्यः; प्रधानादावपि तत्संभवात् । न द्वितीयः, सर्वोपाधिकस्य तस्य शुद्धब्रह्मस्वरूपत्वायोगात् । सर्वज्ञत्वं च दुर्भणम् । किं षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञत्वम् उत प्रत्यक्षेणैव ? आद्येऽपि न तावद् युगपत् सर्वज्ञत्वम्, प्रत्यक्षादीनामयुगपत् प्रवृत्तेः । क्रमेण सर्वज्ञत्वेऽपि तत्किं सर्वापरोक्ष्यम् उत सर्वज्ञानमात्रम् ? नाऽऽद्यः, नित्यानुमेयानामापरोक्ष्यानुपपत्तेः । न द्वितीयः; अस्माकमपि षड्भिः प्रमाणैः क्रमेण सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षेणैव सर्वज्ञत्वमपि किं बाह्येन उत मानसेन अथवा साक्षिप्रत्यक्षेण ? नाऽऽद्यः; बाह्येन्द्रियाणां देशकालविप्रकृष्टार्थेषु साक्षात्संबन्धाभावात् । परम्परया संबन्धेऽस्माकमपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । द्वितीयेऽपि किं केवलेन

उसका स्वरूप कहा गया है; तो प्रश्न होगा कि क्या वह स्वरूप सर्वशक्तित्व है? या सर्वज्ञत्व है? प्रथम पक्षको तो नहीं मान सकते, कारण कि प्रधान—प्रकृति—आदिमें भी सर्वशक्तिशालित्व का सम्भव है । दूसरा कल्प भी नहीं बनता, कारण कि सम्पूर्ण उपाधियोंसे भूषित वह कारण ब्रह्म शुद्ध ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता । और उसका सर्वज्ञ होना सिद्ध भी नहीं किया जा सकता; कारण कि उसका सर्वज्ञ होना प्रत्यक्षादि छः प्रमाणोंके द्वारा सकल ज्ञान प्राप्त करना है क्या ? अथवा केवल एक ही प्रत्यक्षके द्वारा सब जान जाना है ? प्रथम कल्पमें भी एक साथ सर्वज्ञ होना संगत नहीं हो सकता, कारण कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी युगपत्—एक साथ ही प्रवृत्ति नहीं होती है । क्रमशः सर्वज्ञ होना माननेमें भी क्या वह सर्वज्ञ होना सबका साक्षात्कार करना है ? या सबका साधारण ज्ञानमात्र है ? इसमें प्रथम पक्ष उचित नहीं है, कारण कि नित्य अनुमेय (आकाशादि) पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना संगत नहीं है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि हम मनुष्योंमें भी छः प्रमाणोंके द्वारा क्रमशः सर्वज्ञत्वका प्रसङ्ग आ जायगा । एक प्रत्यक्ष द्वारा ही सर्वज्ञ होना माननेमें भी विकल्प होते हैं कि क्या बाह्य प्रत्यक्षसे ? अथवा मानससे ? या साक्षिप्रत्यक्ष द्वारा ? इनमें प्रथम पक्ष साधक नहीं है, कारण कि चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंका देश तथा कालसे व्यवहित घट, पट, आदि विषयोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता । परम्परा सम्बन्ध माननेमें तो हम साधारण जीव भी सर्वज्ञ कहलायेंगे । दूसरे विकल्पमें भी क्या केवल मनके द्वारा ? अथवा योगाभ्यास प्राप्त किये

मनसा उत योगाभ्यासजन्यातिशययुक्तेन अथवा सर्वविषयसंस्कारयुक्तेन ? नाऽऽद्यः, केवलमनसो बहिरस्वातन्त्र्यात् । न द्वितीयः, अतिशयस्य स्वविषय एव प्रभवात् । मार्जारादिदृष्टीनामपि योग्यरूपेष्वेवाऽतिशयवत्त्व-दर्शनात् । न तृतीयः, प्रथमतः सर्वग्रहणाभावे तत्र संस्कारायोगात् । क्रमेण सर्वग्रहणे सति तत्संस्कारकल्पनेऽप्यतीतानागतवर्त्तमानार्था-

---

अतिशय सहित मनसे ? या सम्पूर्ण विषयोंके संस्कारसे विशिष्ट मनसे ? प्रथम कल्प उचित नहीं है, कारण कि अकेला मन बाहरी घट, पट आदि विषयोंका प्रत्यक्ष करनेमें स्वतन्त्र नहीं है अर्थात् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंके अधीन होकर ही मन बाह्य पदार्थोंको विषय कर सकता है। दूसरा कल्प भी नहीं बनता, कारण कि अतिशय अपने ही विषयमें होता है। बिल्ली आदिकी दृष्टियोंका भी अपने योग्य रूपोंमें ही अतिशय देखा जाता है [अर्थात् बिल्ली आदिकी दृष्टिमें इतना ही विशेष है कि आलोकके संनिधानके बिना अन्धकारमें भी वे दूरसे रूपका दर्शन कर लेते हैं, परन्तु व्यवहित रूपका तथा शब्दादि विषयोंका चक्षुसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकते एवं उत्कट योगाभ्याससे उत्पन्न अतिशय भी रूपादि विषयोंमें देश, कालके व्यवधानरूप प्रतिबन्धका ही दूरीकरण करता है, जिससे तत्-तत् इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंको देश-कालका व्यवधान रहनेपर भी जान जातीं हैं, अतः उससे ऐसा विशेष उत्पन्न नहीं होता कि आंख गन्धका भी प्रत्यक्ष कर सके; अभियुक्तोंका भी वचन है—

'यत्राऽप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरात् सूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥'

अर्थात् योगादिके अभ्याससे अपने विषयको छोड़कर अन्य विषयका ग्रहण करनेके लिए कोई विशेष उत्पन्न नहीं होता है। हां, दूरके (व्यवहित) तथा परमाणु जैसे सूक्ष्मभूत पदार्थोंको देखनेमें चक्षुका अतिशय हो सकता है, परन्तु श्रोत्रका रूप विषय नहीं हो सकता।] तीसरा कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि पहले सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान न होनेसे उनमें तद्विषयक संस्कार होनेका सम्भव ही नहीं है, [क्योंकि पूर्वानुभव ही संस्कारका जनक है।] क्रमशः सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान होनेके पश्चात् उनके उत्कट संस्कारकी कल्पना करनेपर भी बीते हुए, आगे आनेवाले [याने जो अभी उपस्थित नहीं हैं, ऐसे विषय] तथा वर्तमान

नामनन्तानामियत्तानवधारणात् सर्वग्रहणानुपपत्तिः। न च साक्षिप्रत्यक्षेण सर्वज्ञता, प्रदीपप्रभावत्तस्याऽतीतानागतार्थग्राहित्वाभावात्। तस्मान्नाऽस्ति सर्वज्ञ इति।

अत्रोच्यते—सर्वविषयाकारधारिषु मायापरिणामेषु प्रतिविम्बितं चैतन्यं सर्वानुभव इत्युच्यते। तस्य च विषयैराध्यासिकसंबन्धाद्वर्त्तमानकाले तावत् सर्वज्ञत्वं सिद्धम्। अतीतविषयाणां तदवच्छिन्नमायावृत्तीनां तदवच्छिन्नानुभवानां च निवृत्तौ तत्संस्कारादस्मदादिष्विवाऽतीतविषयाः स्मृतिरूपा मायापरिणामा भवन्ति। तत्प्रतिविम्बितानुभवेनाऽतीतविषयज्ञत्वमपि सिध्यति। तथा सृष्टेः प्रागपि स्रक्ष्यमाणपदार्थावधारणस्य कुलालादिषु दृष्टत्वादागामिसर्वविषयज्ञानमपि स्वमायापरिणामवशाद्

समयमें उपस्थित अनन्त—असङ्ख्य—विषयोंकी इयत्ताका (इतने ही हैं, ऐसा) निर्णय नहीं हो सकता है, अतः सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान होना उपपत्तिसे युक्त नहीं है। साक्षिप्रत्यक्ष द्वारा भी सर्वज्ञत्व नहीं हो सकता, कारण कि प्रदीपके आलोकके समान साक्षिप्रकाश भी अतीत तथा अनागत विषयोंका ग्रहण नहीं करता है। [जैसे दीपकका प्रकाश वर्तमान विषयका ही ग्रहण करा सकता है, वैसे ही साक्षीका प्रकाश भी वर्तमान विषयका ही ग्रहण करता है।] इसलिए सर्वज्ञत्वकी उपपत्ति हो ही नहीं सकती।

इस लम्बी शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है कि सम्पूर्ण विषयोंके आकारको धारण करनेवाले मायाके परिणामोंमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही सर्वानुभव (सब कुछ जानना) कहा जाता है; उस अनुभवका विषयोंके साथ अध्यासमूलक सम्बन्ध होनेसे वर्तमान कालमें तो सर्वज्ञ होना सिद्ध ही है। बीते हुए विषयोंकी और उन अतीत विषयावच्छिन्न मायावृत्तियोंकी तथा उनसे अवच्छिन्न अनुभवोंकी—उन मायाके परिणामोंमें प्रतिबिम्बित चैतन्योंकी—निवृत्ति होनेपर उनके संस्कारसे हम लोगोंके समान बीते हुए विषय स्मृतिरूपमें परिणत होते हैं। उन स्मृतिरूप मायाके परिणामोंमें प्रतिबिम्बित अनुभवके (चैतन्यके) द्वारा अतीत विषयोंका परिज्ञान भी सिद्ध हो जाता है। एवं उत्पत्तिसे पहले भी बनाये जानेवाले पदार्थका ज्ञान कुलालादिमें दिखलाई देता है, अतः आगे होनेवाले सब विषयोंका ज्ञान भी अपनी मायाके परिणामकी सामर्थ्यसे होगा, इस प्रक्रियाके

भविष्यतीति युक्ता सर्वज्ञता। न चाऽत्र मानाभावः; 'यः सर्वज्ञः' इति श्रुतेः। न च स्वरूपलक्षणत्वासंभवः, लक्षणाभिधानावसरे सर्वज्ञशब्देन सर्वप्रकाशकत्वोपलक्षितशुद्धचैतन्यमात्रस्य विवक्षितत्वात्। तदेवं जन्मस्थितिनाशाख्यविकारत्रयकारणस्य ब्रह्मणः सूत्र एव स्वरूपलक्षणमपि सिद्धम्।

यद्यपि वृद्धिपरिणामापक्षयास्त्रयो भावविकारा जन्मस्थितिनाशव्यतिरेकेण प्रसिद्धास्तथापि वृद्धिर्जायते वृद्धिस्तिष्ठति वृद्धिर्नश्यतीत्येवमेव वृद्ध्यादयो निरूप्यन्ते नाऽन्यथा। ततो वृद्ध्यादीनां जन्माद्यन्तर्भावान्न सूत्रगतादिशब्देन पृथग् ग्रहणम्। न च निरुक्तकारपठितषड्भाव-

---

अनुसार सर्वज्ञता युक्त ही है। सर्वज्ञ होनेमें प्रमाणका अभाव भी नहीं है, कारण कि 'जो सर्वज्ञ है' ऐसे अर्थवाली श्रुति ही उसमें प्रमाण है। स्वरूपलक्षणका भी असम्भव नहीं है, कारण कि लक्षणके कथनके अवसरपर सर्वज्ञशब्दसे सर्वप्रकाशकत्वरूपसे उपलक्षित शुद्ध चैतन्य ही विवक्षित है। इस रीतिसे जन्म, स्थिति और नाश रूप तीन विकारोंके कारणभूत ब्रह्मका स्वरूपलक्षण भी सूत्रमें ही सिद्ध है। [सर्वज्ञताके बिना संसारके जन्मादिका कारण हो नहीं सकता और 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको स्पष्ट ही जगत्के जन्मादिके प्रति कारण कह रही है, अतः इस प्रमाणभूत श्रुतिके अनुवादक 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रसे ही सर्वप्रकाशकत्वरूप सर्वज्ञतात्मक स्वरूपलक्षण भी उपपन्न हो गया।]

[यास्क आदि मुनिके वचनोंसे प्रतीत अतिरिक्त वृद्धि आदि तीन विकार भी आदिपदसे गृहीत होते हैं, इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—] यद्यपि वृद्धि, परिणाम और अपक्षय—ह्रास—ये तीन भाव-प्रपञ्चके विकार जन्म, स्थिति और नाश—इन तीनोंसे पृथक् प्रसिद्ध हैं, तथापि उनका निरूपण 'वृद्धि होती है, वृद्धि रुक गई, वृद्धि नष्ट हो गई', इत्यादि प्रकारसे ही किया जाता है, किसी दूसरे प्रकारसे उनका निरूपण नहीं किया जाता। इससे वृद्धि आदि विकारोंका भी जन्मादिमें अन्तर्भाव हो जाता है, अतः सूत्रपठित आदि शब्दसे उनका पृथक् ग्रहण नहीं किया जाता है।

शङ्का—निरुक्तकार 'यास्क मुनि' द्वारा प्रदर्शित छः भावविकारोंका ही

विकारग्रहणे सति नाऽस्त्यन्तर्भावप्रयास इति वाच्यम् , तदा ह्यार्षेयवाक्यस्य न तावदनुमानादि मूलम् , अस्माकमपि तत्संभवेन तद्वाक्यवैयर्थ्यात् । नाऽपि प्रत्यक्षम् , ब्रह्मजन्यमहाभूतविकाराणां श्रुतिमन्तरेणाऽप्रत्यक्षत्वात् । भौतिकविकारा एव मुनिना प्रोक्ता इति चेत् , तर्हि तेषामिह ग्रहणे भौतिककारणभूतपञ्चकमेव ब्रह्मत्वेन सूत्रे लक्षितमिति बुद्धिः स्यात् । अतः श्रुत्युक्ता जन्मादयस्त्रय एवाऽत्र ग्राह्याः। नहि श्रुतिर्मूलप्रमाणमपेक्षते, येनोक्तदोषः

ग्रहण करना उचित है, क्योंकि ऐसा होनेपर जन्मादि तीनोंमें उन सबका अन्तर्भाव करनेके लिए पृथक् प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं होगी ।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि ऋषिके वाक्योंमें अनुमान आदि तो मूल-प्रमाण माने नहीं जा सकते, क्योंकि ऐसा तो हमारे वाक्योंमें भी संभव होनेसे ऋषिवाक्योंका उपन्यास ही व्यर्थ हो जायगा [हम भी अपने अभीष्ट अर्थका बोध करानेके लिए वाक्यकी रचना करेंगे और उसकी पुष्टिमें मूलभूत अनुमान-प्रयोग दिखला देंगे । इस प्रकार अनुमानमूलक वाक्योंके प्रमाण माने जानेपर ऋषिवाक्योंके उद्धरणकी अपेक्षा ही नहीं रह जायगी]। उनमें प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसे उत्पन्न पांच महाभूतरूप विकारोंका श्रुतिसे अतिरिक्त साधन द्वारा ज्ञान ही नहीं हो सकता । [यद्यपि ऋषिवाक्यमें प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है, तथापि प्रकृतमें महाभूतात्मक विकार तो केवल 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुतिसे ही सिद्ध हैं, प्रत्यक्षसे नहीं । और जो भौतिक विकार प्रत्यक्ष हैं, उनको ही श्रुति और सूत्रमें लेना नहीं है, इस आशयसे शङ्का-समाधान करते हैं—] यदि कहा जाय कि मुनि व्यासजीने भौतिक घट, पट आदि विकारोंको ही अपने सूत्रमें जन्मादिपदसे कहा है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि उन भौतिक विकारोंका इस सूत्रमें ग्रहण करनेसे भौतिक घट, पट आदिके कारण पांच महाभूत ही ब्रह्मस्वरूपसे सूत्रमें लक्षित किये गये हैं, ऐसा समझा जायगा । [भाव यह है कि घट-पटादिजन्मादिकारणत्वरूप लक्षणसे तो महाभूत ही ब्रह्म समझे जायँगे, क्योंकि घटके जन्म, स्थिति तथा लय या वृद्ध्यादि छः विकार पृथ्वीरूप भूतमें ही हैं, एवं अन्यत्र भी समझना चाहिए ।] इसलिए श्रुतिमें दिखलाये गये जन्मादि तीन ही विकार लेने चाहिएँ जो प्रत्यक्ष नहीं हैं । और श्रुति तो स्वयं प्रतिपादित अर्थकी पुष्टिमें अपनेसे अतिरिक्त मूल प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखती, जिससे कि मूल प्रमाणकी अपेक्षा

स्याद्, अतो यत्किञ्चिज्जन्मवद्भूतभौतिकं तस्य सर्वस्य मूलकारणत्वेन श्रुत्युक्तं ब्रह्मैवाऽत्र लक्षितमित्यवगम्यते। नन्वेवमपि सूत्रे श्रुत्युक्तं जन्मैव सूत्र्यतां तावतैवोक्तार्थसिद्धेरिति चेद्, नः केवलनिमित्तकारणत्वशङ्काव्युदासार्थत्वात् स्थितिप्रलययोः। नह्यनुपादाने केवलनिमित्ते स्थितिप्रलयौ संभवतः। यद्यपि जन्मस्थितिप्रलया निरुक्तकारेणाऽप्युक्तास्तथापि न तद्वचनद्वारा श्रुतिमूलत्वं सूत्रस्य कल्पनीयम्। सूत्राणां साक्षाच्छ्रुत्यर्थनिर्णयपरत्वात्। अन्यथा ऋषिवाक्यान्येव वक्ष्यमाणसूत्रैरुदाहृत्य निर्णीयेरन्। तस्मात् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्येतच्छ्रुत्युक्तानेव जन्मस्थितिनाशान् साक्षात् सूत्रे निर्दिश्य तत्कारणं ब्रह्मेति लक्ष्यते।

ननु कथं ब्रह्मणः कारणत्वम्, किं ब्रह्म पूर्वरूपं परित्यज्य रूपान्तरेण

होनेसे उक्त दोष आ सके, इसलिए जो भी कुछ जन्मादिशाली भूत या भौतिक प्रपञ्चजात है, उस सबके मूल कारणरूपसे श्रुतिमें कहे गये ब्रह्मका ही इस सूत्रमें लक्षण किया गया है, ऐसा जाना जाता है।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी श्रुतिमें कहा गया केवल जन्म ही सूत्रमें देना चाहिए अर्थात् 'आदि' पद देना व्यर्थ है, क्योंकि जन्म इतना कहनेसे ही उक्त कारणत्वरूप अर्थकी सिद्धि हो जायगी।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि ब्रह्म केवल निमित्त कारण ही है, इस आशङ्काका वारण करनेके लिए 'आदि' पद दिया गया है। उपादानसे अतिरिक्त केवल निमित्त कारणमें स्थिति और प्रलयका सम्भव नहीं हो सकता। यद्यपि जन्म, स्थिति और प्रलय—इन तीनोंको निरुक्तकारने भी कहा ही है, तथापि निरुक्तकारके वचन द्वारा सूत्रमें श्रुतिमूलकत्वकी कल्पना करना उचित नहीं है, कारण कि साक्षात् श्रुतिके अर्थके निर्णयमें सूत्रोंका तात्पर्य है, [ऋषिवाक्योंको द्वार मानकर नहीं] यदि इसके विपरीत माना जाय, तो आगे कहे जानेवाले सूत्रोंसे ऋषिवाक्योंका ही उद्धरण करके निर्णय किया जाता। इसलिए 'जिस कारणभूत ब्रह्मसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं' इत्यर्थक श्रुतिमें कहे गये जन्म, स्थिति और प्रलय—इन तीनोंका ही सूत्रमें साक्षात् निर्देश करके उनका कारण ब्रह्म है; ऐसा लक्षण किया जाता है।

शङ्का—ब्रह्मको कारण किस रीतिसे मानते हो? क्या ब्रह्म अपने पूर्व रूपका

परिणमते उताऽपरित्यज्य विवर्तते ? आद्ये सृष्टेरुपरि ज्ञानानन्दरूपस्य ब्रह्मण उच्छेदः स्यात् । अथ जगद्रूपेण परिणतं तद् ब्रह्म पुनरपि प्रलयावस्थायां ज्ञानानन्दब्रह्मरूपेण परिणमेत तथापि तस्य ब्रह्मणः पुनर्जगदाकारपरिणामस्वभावित्वादनिर्मोक्षप्रसङ्गः । न च सृष्टिश्रुतिः परिणामे प्रमाणम्, तस्याः सृष्टिमात्रोपक्षीणायाः पूर्वरूपपरित्यागापरित्यागयोस्ताटस्थ्यात् । न च श्रुत्यन्तरं परिणामे संभवति, 'अज आत्मा महान् ध्रुवः' इति ध्रुवशब्देन परिणामविरुद्धकौटस्थ्याभिधानात् । कूटस्थत्वं च ब्रह्मणो निरवयवत्वादुपपन्नम् ।

ननु निरवयवमपि परिणमत एव । तथाहि — हेमगतरुचकादिपरिणामः

त्याग करके दूसरे रूपमें बदल जाता है ? या पूर्व रूपका त्याग न करके दूसरे रूपमें बदल जाता है ? [अर्थात् ब्रह्मका दधि-दुग्धवत् तात्त्विक परिणाम होता है या रज्जुसर्पवत् अतात्त्विक अन्यथाभाव ?] प्रथम कल्प नहीं बनता, कारण कि सृष्टि हो जानेपर ज्ञान और आनन्द रूप ब्रह्मका विनाश हो जायगा । [सद्रूपका नहीं, क्योंकि सद्रूप तो तात्त्विक अन्यथाभावके साथ भी अनुवर्तमान रहता है,] यद्यपि संसारके रूपमें परिणामको प्राप्त हुआ ब्रह्म प्रलयावस्थामें फिर भी ज्ञान और आनन्द रूपमें बदल जायगा; तथापि उस ब्रह्मका बार-बार संसारके आकारमें बदलनेका स्वभाव होनेसे मोक्षका अभाव हो जायगा । [अर्थात् ज्ञानान्दाकारको बदल कर जगदाकार और जगदाकारको छोड़ कर ज्ञानानन्दाकार इत्यादि परम्परा ब्रह्मकी चलती ही रहेगी, ऐसी दशामें मोक्षका प्रसङ्ग ही नहीं आ सकता ।] सृष्टिविषयक श्रुतिको ब्रह्म-परिणाममें प्रमाण भी नहीं मान सकते, कारण कि उस सृष्टिश्रुतिका केवल सृष्टिका बोधन करनेमें तात्पर्य है, इसलिए ब्रह्मके पूर्व रूपका परित्याग होता है या नहीं होता, इस विषयमें वह श्रुति तटस्थ—उदासीन—है । [अर्थात् श्रुतिवाक्योंमें ऐसा कोई वाचक पद नहीं है; जिससे कि उक्त अर्थकी स्पष्टरूपसे प्रतीति हो] और कोई दूसरी श्रुति भी परिणामरूप अर्थका बोधन करनेवाली नहीं है । 'अज (जन्म-रहित) आत्मा महान् और ध्रुव है' इत्यर्थक श्रुतिमें तो ध्रुवपदसे परिणामके विरुद्ध ब्रह्मकी कूटस्थताका (अपरिणामिताका) बोध होता है, और अवयवशून्य होनेसे ब्रह्मका कूटस्थ होना उचित है ।

शङ्का—अवयवशून्यका भी परिणाम होता ही है । इस विषयमें अनुमानका

परम्परया परमाणुपर्यवसायी, अवयववृत्तित्वात्, संयोगवत्। संयोगो ह्यवयव्येकदेशसमवेतः परम्परया निरवयवपरमाणुसंयोगपुरःसरः प्रसिद्ध इति। तत्र वक्तव्यं कोऽयं परिणाम इति। मृत्पिण्डस्य घटरूपापत्ताविव स्वावयवानां पूर्वसंयोगात्संयोगान्तरापत्त्या संमूर्छितावयवत्वं परिणामः, तक्राद्यातञ्चनावयवसंयोगेन क्षीरस्य दधिभाववदवयवान्तरसंयोगेन संमूर्छितावयवत्वं वा, यूनो वृद्धत्ववदवस्थान्तरं वा, काष्ठस्य स्तम्भाद्यापत्तिवदन्यथाभावो वा, अणोरण्वन्तरसंयोगेन द्व्यणुकापत्तिवद्वस्त्वन्तरसंयोगो वा, उदकस्य नदीभाववत्परिस्पन्दो वा। पक्वफलस्य वर्णान्तरवद् गुणान्तरोदयो वा, उपादानानुरक्तद्रव्यान्तरोत्पत्तिर्वा? न तावत्

प्रतिपादन करता है—सुवर्णमें होनेवाले रुचक (कड़ा) आदि स्वरूप परिणामको परम्परासे परमाणुओंमें होनेवाला ही मानना चाहिए, अवयवमें वृत्ति होनेसे, संयोगके समान। [समन्वय करते हैं—] संयोग अवयवीके (धर्मीके) एकदेशमें (अवयवमें) समवायसम्बन्धसे रहता हुआ परम्परासे अवयवशून्य परमाणुके संयोगको लेकरके ही होता है, यह प्रसिद्ध है। [इसी प्रकार अवयवीका परिणाम भी निरवयवका परिमाण होनेपर ही होता है।]

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि यहांपर कहना होगा कि यह परिणाम क्या वस्तु है? [जो निरवयवमें भी हो जाता है।] मिट्टीके पिण्डसे घटाकारकी प्राप्तिमें जैसे अपने अवयवोंका पहलेके संयोगसे दूसरा संयोग होनेके कारण संमूर्छितावयवत्व [अवयवोंका पृथक् ग्रहण न होकर सब एक समूहरूपसे अवयवीका बोध होना] परिणाम होता है, वैसे क्या प्रकृतमें संमूर्च्छितावयवत्व ही परिणाम है? अथवा तक्र आदि जोड़नके अवयवके संयोगसे दूधकी दधिरूप प्राप्तिके समान दूसरे अवयवके संयोगसे होनेवाला संमूर्छितावयवत्व परिणाम है? या जैसे युवा पुरुषको दूसरी वृद्धा अवस्था प्राप्त होती है, वैसे ही दूसरी अवस्थाका पाना परिणाम है? किंवा जैसे लकड़ीका स्तम्भ आदिके रूपमें परिवर्तन होता है, वैसे ही दूसरे रूपमें बदल जाना परिणाम है? अथवा जैसे परमाणुके साथ संयोग होनेसे द्व्यणुकादि होते हैं, वैसे ही दूसरी वस्तुका संयोग परिणाम है या जैसे जल नदीके रूपको पा जाता है, वैसे ही परिस्पन्द परिणाम है? अथवा पके हुए फलके रूपके बदलनेके समान दूसरा गुण हो जाना परिणाम है? या उपादान कारणसे

प्रथमद्वितीयौ, निरवयवस्य तादृशपरिणामानुपपत्तेः। नाऽपि तृतीयचतुर्थौ, तथा सति जगदाकारपरिणामे पुनर्ब्रह्मभावानुपपत्तावनिर्मोक्षप्रसङ्गः। नहि वृद्धः कदाचिदपि युवा भवति। नाऽपि स्तम्भा वृक्षरूपेण प्ररोहेयुः। क्वचित्पुनः प्ररोहोऽपि दृश्यत इति चेत्, तर्हि मोक्षस्यापि तथा पुनः परिणामरूपत्वे सत्यनित्यत्वं दुर्वारं स्यात्। नाऽपि पञ्चमषष्ठसप्तमाः, परिणामलक्षणस्याऽतिव्याप्तेः। वस्त्वन्तरसंयोगिन्याकाशे परिस्पन्दमाने भ्रमरे लौहित्योदयवति च पटे द्रव्यपरिणामबुद्ध्यभावात्। नाऽप्यष्टमः, अवयविनस्तथा परिणामेऽप्यवयवपरिणामस्य दुर्भणत्वात्। किं हेमावयवानां रुचकरूपेण परिणामः किं वा रुचकोपयुक्तद्रव्यान्तररूपेण उत रुचकोप-

---

अनुरक्त अतिरिक्त द्रव्यकी उत्पत्ति परिणाम है ? इनमें प्रथम और द्वितीय कल्प नहीं माने जा सकते, कारण कि अवयवशून्य पदार्थका उक्त प्रकारसे परिणाम नहीं हो सकता। तीसरे और चौथे विकल्पको भी नहीं मान सकते, कारण कि ऐसा माननेसे प्रपंचके आकारमें परिणाम होनेके अनन्तर पुनः ब्रह्मभावकी उपपत्ति न हो सकनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग हो जायगा, क्योंकि वृद्धावस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष फिर युवावस्थाको नहीं पा सकता और स्तम्भ भी फिर वृक्षरूपसे उग नहीं सकते। यदि कहा जाय, कि कहीं कहीं 'स्तम्भभावके अनन्तर' फिर उगना भी देखा जाता है, तो मोक्षका भी पुनः परिणाम होनेसे उसमें अनित्यत्वका वारण नहीं किया जा सकेगा। पांचवाँ, छठा और सातवाँ विकल्प भी साधक नहीं हो सकता, कारण कि परिणामके लक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी। दूसरी वस्तुके साथ संयोगको प्राप्त हुए आकाशमें और उड़ते हुए भ्रमरमें तथा रंगनेसे लाल रंगको पाये हुए पटरूप द्रव्यमें परिणामबुद्धिका अभाव है। [और आपका पाचवां परिणामका लक्षण उक्त आकाशमें, छठा उक्त भ्रमरमें और सातवां उक्त पटमें (जो कि लक्ष्य नहीं है) चला जाता है, अतः अतिव्याप्त हो जाता है।] आठवां लक्षण भी नहीं बनता, कारण कि अवयवीका उक्त प्रकारसे [उपादानकारणानुगत दूसरा अवयवी हो जानारूप] परिणामका सम्भव होनेपर भी अवयवोंका वैसा परिणाम होता है, यह कहना नहीं बन सकता। [दिये गये हेम-रुचक दृष्टान्तका विघटन करते हैं—] क्या सुवर्णके अवयवोंका रुचकरूपमें परिणाम होता है ? अथवा रुचकके उपयोगी द्रव्यान्तरके रूपमें ?

युक्तावस्थान्तररूपेण । न तावद् द्वितीयतृतीयौ, रुचकव्यतिरेकेण तदुपयुक्तद्रव्यान्तरावस्थान्तरयोरदर्शनात् । नाऽपि प्रथमः, रुचकस्याऽवयविकार्यत्वात् । अवयवकार्यत्वे चाऽऽरम्भवादप्रसङ्गात् । न चाऽवयवानां रुचकानुगमानुपपत्तिः, अवयविद्वारा तदुपपत्तेः । न चाऽऽश्रयावयवेषु विकारमन्तरेणाऽऽश्रितावयविनि विकारानुपपत्तिः, परमाणौ असतोरेव जन्मविनाशयोर्द्व्यणुके दर्शनात् । जन्मविनाशव्यतिरिक्तधर्मस्य तथात्वमिति चेद्, न; कपालेष्वसत्या एव घटत्वजातेर्घटसमवेतत्वात् । व्यापकानामवयवानामवस्थान्तरमन्तरेण व्याप्यस्याऽवयविनोऽवस्थान्तरं नोपपन्न-

या रुचकके योग्य अन्य अवस्थाके रूपमें ? दूसरे और तीसरे विकल्प तो बन नहीं सकते, कारण कि रुचकसे अतिरिक्त रुचकके उपयोगमें आनेवाले द्रव्यान्तर और अवस्थान्तर तो कोई देखनेमें नहीं आते हैं । प्रथम विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि रुचक अवयवीका कार्य (परिणाम) है, [अवयवका नहीं ।] यदि अवयवका कार्य माना जाय, तो आरम्भवाद प्राप्त होगा । [अर्थात् परिणामवादको तो तुम सिद्ध करना चाहते हो और सिद्ध कर गये अवयवोंसे रुचकका आरम्भ याने नैयायिकसम्मत आरम्भवाद, इससे अर्थान्तर, सिद्धसाधन, अपसिद्धान्त आदि दोष होंगे ।] रुचकमें अवयवोंके अनुगमकी अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती, कारण कि अवयवीके द्वारा अवयवोंके अनुगमकी उपपत्ति हो सकती है ।

शङ्का—आश्रयभूत अवयवोंमें विकारके उत्पन्न हुए बिना अवयवीमें विकार नहीं हो सकता, [इससे आश्रयरूप अवयवभूत ब्रह्ममें परिणाम उपपन्न होगा] ।

समाधान—उक्त अनुपपत्ति नहीं है, कारण कि [आश्रयभूत अवयवात्मक] परमाणुमें न रहनेवाले जन्म और विनाश द्व्यणुकमें देखे गये हैं; [इस दृष्टान्तसे अवयविगत विशेषण अवयवमें अवश्य रहता है, ऐसा कोई नियम नहीं है] । जन्म और विनाशसे अतिरिक्त धर्मोंमें उक्त नियमका माना जाना भी उचित नहीं है, कारण कि कपालमें न रहनेवाली घटत्व जाति घटमें रहती है, [घटत्व आदि जातियाँ भी जन्म और विनाशसे अतिरिक्त हैं; तथा अवयवमें विशेषण न होकर अवयवीमें विशेषण होती हैं] । यदि कहो कि व्यापकीभूत अवयवोंकी अवस्थाका परिवर्तन हुए बिना व्याप्यस्वरूप अवयवीकी अवस्था नहीं

मिति चेद् , न; व्यापकयोर्जातिगुणयोरवस्थान्तराभावेऽपि व्याप्यद्रव्ये तद्दर्शनात् । अस्तु वाऽवयवानां परिणामस्तथाप्यवयविपरिणामप्रयुक्तत्वान्नाऽऽसौ ब्रह्मपरिणामस्य दृष्टान्तः । नहि ब्रह्मावयवकं परिणामि किञ्चिदस्ति, यत्प्रयुक्तो ब्रह्मपरिणामः स्यात् । निरवयवत्वादवयविदृष्टान्तेनाऽपि न ब्रह्मणः परिणामसिद्धिः ।

यत्तु निरवयवसंयोगवत् परिणाम इति, तत्राऽपि किं दृश्यमानावयविसंयोगस्य परमाणुसमवेतत्वमुच्यते उत परमाणुसंयोगपूर्वकत्वं कल्प्यते ? नाऽऽद्यः, परमाणुगतरूपादिवदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः; अवयविन्येव घटत्वजातिसमवायवत् संयोगोपपत्तेः । अवयवानां संयोगेऽनुग-

---

बदल सकती; तो ऐसा भी कहना उचित नहीं है; कारण कि व्यापकीभूत जाति तथा गुणोंमें अवस्थाके परिवर्तनके बिना भी व्याप्य द्रव्योंमें अवस्थाका परिवर्तन देखा जाता है । अथवा भले ही अवयवोंका परिणाम हो, तो भी यह (अवयव-परिणाम) अवयवीके परिणामका कारण है, अतः वह ब्रह्मपरिणामका दृष्टान्त नहीं बन सकता । कारण कि जिसका ब्रह्म अवयव हो; ऐसा कोई परिणामी द्रव्य नहीं दीखता, जिससे कि (अवयवभूत) ब्रह्मका परिणाम हो सके । और अवयव-शून्य होनेसे अवयवीके दृष्टान्तसे भी ब्रह्ममें परिणामित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

और 'अवयवरहित पदार्थका जिस प्रकार संयोग होता है, उस प्रकार उनका परिणाम भी हो सकता है' ऐसा जो कहा जाता है, उसमें प्रष्टव्य यह है कि दिखलाई पड़नेवाला (त्र्यणुकादिरूप) अवयवीके संयोगको क्या परमाणुमें समवेत [समवायसम्बन्धसे रहनेवाला] मानते हो ? या उसमें परमाणुसंयोगपूर्वकत्वकी कल्पना करते हो ? इनमें प्रथम कल्प नहीं मान सकते, कारण कि परमाणुमें विद्यमान रूपके समान संयोगका भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा । दूसरा कल्प भी नहीं हो सकता, कारण कि जैसे घटत्व (आदि) जातिका समवाय अवयवीमें रहता है; वैसे ही संयोगकी भी अवयवीमें ही उपपत्ति होती है । अवयवोंका संयोगमें अनुगम [अर्थात् अवयवोंकी संयोगमें प्रतीति होना]

मस्त्ववयविद्वाराऽन्यथासिद्धः। संयोगस्याऽवयविवृत्तित्वे कृत्स्नव्यापित्व-प्रसङ्गेनाऽवयवेष्वेव वृत्तिरिति चेत्, तर्ह्यवयविनां तन्तूनां संयोगासंभवेन पटानारम्भप्रसङ्गः। कृत्स्नव्यापित्वं तु तार्किकं प्रत्यवयवावृत्तिपरमाणु-संयोगोदाहरणेन परिहर्त्तव्यम्। अन्यान्प्रत्याकाशवर्त्ती शब्द उदाहार्यः। तस्मान्न संयोगदृष्टान्तेन निरवयवपरिणामोऽनुमातुं शक्यः।

ननु कथं ब्रह्मणो निरवयवत्वम्, येन परिणामो निराक्रियेत? सावयव-

---

तो अवयवीके द्वारा अन्यथासिद्ध है। [क्योंकि अवयवीके संयोगसे ही अवयव-संयोगकी प्रतीति होती है; अतः निरवयव परमाणु आदिमें संयोग भी नहीं है]।

शङ्का—संयोग अवयवीमें रहता है, ऐसा माननेसे सम्पूर्ण अवयवीको व्याप्त करनेका प्रसङ्ग आता है; अतः अवयवोंमें ही संयोग मानना उचित है।

समाधान—उक्त रीतिसे अवयवी तन्तुओंमें संयोगका असम्भव है, अतः उनसे पटका (वस्त्रका) आरम्भ नहीं हो सकेगा। सर्वांशव्यापी होना-रूप दोषका तो तर्कशील नैयायिकके प्रति अवयवमें न रहनेवाले परमाणु-संयोगके उदाहरणसे परिहार करना चाहिए और दूसरे वादियोंके प्रति आकाशवर्ती शब्दका उदाहरण देना चाहिए। [अर्थात् यदि अवयवीका संयोग ही कार्यका आरम्भक माना जाय और उसमें उसके आरम्भक अवयव न माने जायँ, तो अवयवीके संयोगमें सर्वांशव्यापित्व दोष देना अवयवसंयोगमें भी समान है, जैसे तार्किक परमाणुसंयोग मानता है; परन्तु उसका आरम्भक अवयवान्तर नहीं मानता, इस दशामें भी परमाणुसंयोगको कृत्स्नव्यापी नहीं मानता, अन्यथा उक्त रीतिसे उसके भी कृत्स्नव्यापी होनेका प्रसङ्ग है ही। एवं अन्य मतमें निरवयव आकाशसंयुक्त शब्द भी कृत्स्नव्यापी नहीं है। उक्त रीतिसे तो उसे भी कृत्स्नव्यापी होना चाहिए] इस प्रघट्टकके अनुसार निरवयवका परिणाम होना असम्भव होनेसे उसका अनुमान नहीं कर सकते। अग्रिम ग्रन्थसे ब्रह्मको सावयव मानकर परिणामकी आशङ्का करते हैं—

शङ्का—ब्रह्मका अवयवशून्य होना कैसे सिद्ध है, जिससे कि उसके परिणामका खण्डन किया जा सके।

समाधान—'ब्रह्म निरवयव ही है' कारण कि उसका अवयवोंसे युक्त होना नहीं कहा जा सकता और श्रुतिसे भी निरवयव होना ही सिद्ध

त्वस्य दुर्भणत्वाच्छ्रुतेश्चेति वदामः। सावयवत्वे किमवयवावयविनोरुभयोरपि स्वप्रकाशत्वम् उताऽन्यतरस्यैव ? आद्ये तयोरितरेतराविषयत्वान्न केनचिदपि सावयवत्वं प्रतीयात्। द्वितीये घटात्मनोरिव तयोर्नांशांशिभावसिद्धिः। श्रुतिश्च 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति क्रियावयवशून्यतामाह। नियन्तृत्वादिक्रियापि श्रूयत इति चेत्, तर्हि तत्त्वतो निष्क्रियत्वं मायया सक्रियत्वमिति व्यवस्थाऽस्तु; 'मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति विनिगमश्रुतेः। निर्व्यापारस्य चेतनस्य सुषुप्ते पुरुषार्थत्वानुभवेन निष्क्रिय-

---

है, ऐसा हम कहते हैं। [सावयवत्वकी असिद्धि दिखलाते हैं—] यदि ब्रह्म सावयव माना जाय; तो प्रश्न यह होगा कि क्या अवयव और अवयवी दोनों स्वप्रकाश हैं ? अथवा इनमें से कोई एक ही (अवयव या अवयवी) स्वप्रकाश है ? इनमें से यदि प्रथम कल्प (दोनोंको स्वप्रकाश) माना जाय, तो ये दोनों किसी एक दूसरेके विषय नहीं हैं, अतः कोई भी अपनेको सावयव नहीं समझ सकेगा। [ब्रह्म सावयव होनेसे अवयव और अवयवीरूप होगा, इन दोनों रूपोंमें यदि स्वप्रकाशता है, तो ब्रह्म कैसे अपनेमें सावयवत्वका अनुभव कर सकता है ? वह तो तब हो सकता जब कि एक दूसरेका विषय होता अर्थात् अवयवका प्रकाश अवयवीके द्वारा या अवयवीका अवयव द्वारा ऐसा विषय-विषयिभाव होता]। और दूसरे कल्पमें (दोनोंमें से एकको ही स्वप्रकाश माननेमें) घट और आत्मामें जैसे अवयव और अवयवी भाव नहीं है, वैसे इन दोनोंमें भी अवयवावयविभाव सिद्ध नहीं हो सकता। [दूसरे कल्पमें एकको प्रकाशरूप माना है, इस दशामें उन पदार्थोंमें परस्पर अवयवावयविभाव उस तरह नहीं होता जिस तरह जड़स्वरूप घट और प्रकाशस्वरूप आत्मामें अवयवावयविभाव नहीं है] 'निष्कल, निष्क्रिय तथा शान्त ब्रह्म है' इत्याद्यर्थक श्रुति भी ब्रह्मको क्रियारूप अवयवसे रहित कहती है। यदि शङ्का करो कि नियन्तृत्व—नियमन करना—आदि क्रिया भी ब्रह्ममें श्रुतिसे सिद्ध है, तो उसपर हमारा समाधान यह होगा कि वास्तवमें ब्रह्म क्रियारहित ही है और मायाके द्वारा क्रियाविशिष्ट है, ऐसी व्यवस्था मानिये। [वैपरीत्यके वारणके लिए श्रुतिरूप प्रमाण देते हैं—] 'मायाओंके कारण बहुरूपताको प्राप्त करता है' इत्याद्यर्थक सिद्धान्त श्रुतिसे ऐसी ही व्यवस्था होती है। सुषुप्त पुरुषमें व्यापार—क्रिया—हीन चेतनके पुरुषार्थरूपसे अनुभवगोचर होनेसे उस ब्रह्मका क्रिया-

त्वस्य तात्त्विकत्वोपपत्तेः । न च ब्रह्मप्रवृत्तेर्मायिकत्वे युक्त्यभावः, स्वप्रवृत्तिवन्निष्प्रयोजनत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः। तदेवं निरवयवं ब्रह्म न परिणमते, किन्तु विवर्त्तते इति द्वितीयपक्षोऽङ्गीकार्यः। तस्मिन्नपि पक्षे पूर्वरूपमपरित्यजतो ब्रह्मणो निर्विकारत्वाज्जगद्रूपेण विकरिष्यमाणं वस्त्वन्तरं किञ्चिदङ्गीकार्यम्। तत्किं माया उताऽन्यत् ? नाऽन्यत्, ब्रह्ममायाभ्यां व्यतिरिक्तस्य कार्यत्वेन मूलकारणत्वायोगात्।

मायापक्षेऽपि किं 'माया प्रज्ञा तथा मेधा' इत्यभिधानमनुसृत्य मायाशब्देन प्रज्ञोच्यते उत पामरप्रसिद्ध्या मन्त्रौषधादिः अथवा स्वकीय-

---

रहित होना वस्तुतः युक्तिसिद्ध होता है । नियमन आदि ब्रह्मकी प्रवृत्तिको मायाजनित माननेमें युक्तियोंका अभाव नहीं कह सकते, कारण कि प्रयोजनशून्य होनेसे अपनी प्रवृत्तिके समान उसमें मिथ्यात्व उपपन्न है। [जैसे मनुष्यकी प्रयोजनशून्य प्रवृत्ति मिथ्या है, वैसे ही ब्रह्मकी प्रवृत्तिमें कोई प्रयोजन न होनेसे वह मिथ्या अर्थात् इन्द्रजालके सदृश मायाजनित है] इस उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार अवयवहीन ब्रह्मका परिणाम नहीं हो सकता, किन्तु विवर्त होता है। [अर्थात् दूधका दधिके सदृश तात्त्विक अन्यथाभावरूप परिणाम नहीं होता है, किन्तु शुक्तिरजतके समान अवास्तव अन्यथाभावरूप विवर्त होता है, जो कि बुद्धिविपरिणाममात्र है, अतः निरवयवका भी विवर्त होना सम्भव है]। इस रीतिसे विवर्तात्मक परिणामरूप दूसरे पक्षका ही अङ्गीकार करना होगा, उस दूसरे पक्षमें भी ब्रह्मके निर्विकार होनेसे पूर्वरूपका त्याग नहीं हो सकता, इसलिए संसारके रूपमें बदलनेवाली ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु माननी होगी। वह वस्तु क्या है ? माया है अथवा उससे कोई अतिरिक्त है ? मायासे अतिरिक्तको तो मान नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्म और माया—इन दोनोंसे अतिरिक्त सकल पदार्थ कार्य ही हैं, इसलिए उन्हें मूल कारण मानना नहीं बन सकता। [प्रथम कल्प मानकर माया ही उस जगत्के रूपमें बदलनेवाली है, ऐसा मानना होगा।]

माया माननेके पक्षमें भी विकल्प हो सकता है कि 'माया प्रज्ञा और मेधा पर्याय हैं' इस कोशके अनुसार क्या मायाशब्दसे प्रज्ञा कही जाती है ? अथवा पामर-साधारण अज्ञानी पुरुषोंकी प्रसिद्धिके अनुसार मन्त्र, औषध आदि लिये जाते हैं ? या अपनेको पण्डित माननेके

पण्डितंमन्यत्वेन जड़ात्मिका काचित्पारमार्थिकशक्तिः किं वा 'नाऽसदासीत्' इत्यादिशास्त्रानुसारतोऽनिर्वचनीयशक्तिः ? आद्येऽपि न तावत् 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' इति श्रुत्युक्तब्रह्मचैतन्यरूपप्रज्ञाया मायात्वं संभवति, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'दैवी ह्येषा गुणमयी', 'मायया ऽपहृतज्ञाना' इति शास्त्रेण मायाया निवर्त्यत्वगुणमयत्वप्रज्ञानावरणत्वाभिधानात्, चैतन्यस्य तदसंभवात् । नाऽपि 'धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यभिधानोक्ताया बुद्धिरूपप्रज्ञाया मायात्वम्, बुद्धेरुपादानत्वायोगात् । न द्वितीयः, नहि लोके मन्त्रौषधादौ मायाशब्दः प्रयुज्यते, किं तर्हि तत्कार्ये गन्धर्वनगरादौ बाधिते । न तृतीयः, पारमार्थिकशक्तौ प्रमाणाभावात् । चतुर्थेऽ-

---

अभिप्रायसे जडस्वरूप कोई (अज्ञात) पारमार्थिक—सद्रूप—शक्तिको लेते हो ? अथवा 'असत् नहीं था' इत्यादि शास्त्रके अनुसार मायासे कोई अनिर्वचनीय—मिथ्याभूत—शक्ति ली जाती है ? [अनिर्वचनीय इसलिए कहते हैं कि निर्दिष्ट शास्त्रमें असत्का निषेध जैसे किया वैसे 'नो सदासीत्' ऐसा सत्का भी निषेध किया है, अतः सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय ही होता है ।] प्रथम पक्ष माननेमें भी तो 'प्रज्ञा, प्रतिष्ठा, विज्ञान, ब्रह्म' इस श्रुतिमें (ब्रह्मके साथ प्रज्ञाका सामानाधिकरण्य होनेसे) ब्रह्मका पर्याय प्रज्ञा है, इसलिए कहे गये ब्रह्म-चैतन्यरूप प्रज्ञाका माया होना सम्भव नहीं है, कारण कि 'अन्तमें सम्पूर्ण मायाकी निवृत्ति हो जाती है', 'यह गुणमयी दैवी माया है', 'मायाके कारण ज्ञानहीन हुए' इन शास्त्रोंने मायाको विनाशी गुणमय तथा ज्ञानका आवरण कहा है, यह सब चैतन्यमें सम्भव नहीं है । अर्थात् प्रज्ञा विनाशशील, गुणमयी तथा ज्ञानविरोधिनी नहीं है, इसलिए मायापदसे नित्य चैतन्यात्मक प्रज्ञा नहीं ली जा सकती, और 'प्रज्ञा धीः शेमुषी मतिः' इस प्रकार बुद्धिके पर्यायप्रदर्शक कोशके आधारपर बुद्धिरूप प्रज्ञा भी माया नहीं हो सकती, कारण कि बुद्धि मूल कारण नहीं हो सकती । दूसरा पक्ष (मन्त्र, औषध आदिको माया मानना) नहीं बनता, कारण कि लोकमें मन्त्र, औषध आदिके लिए मायाशब्दका प्रयोग नहीं होता, किन्तु उन मन्त्र, औषध आदिके कार्यस्वरूप गन्धर्वनगर आदिमें ही मायाशब्दका प्रयोग होता है, जो कि बाधके विषय हैं, (अर्थात् मिथ्या हैं) । तीसरा पक्ष (मायाको

प्यनिर्वचनीया सा माया किं जगत उपादानं किंवा जगदुत्पत्तौ कारणमिति विवेक्तव्यम्? तत्र 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेरुपादानत्वं युक्तम्। न च 'प्रक्रियते अनया' इति प्रकृतिशब्दः करणे व्युत्पादनीयः, उपादाने रूढत्वात्, रूढेश्च प्राबल्यात्। 'इन्द्रो मायाभिः' इति तृतीया-श्रुत्या करणत्वमिति चेद्, न; तत्राऽऽत्मनो बहुत्वापत्तावेव करणत्वश्रवणात्। तावता च प्रपञ्चोपादानत्वे का हानिः? 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति पञ्चम्या प्रकृतित्वमात्मनः श्रूयते, ततो न मायोपादानमिति चेद्, न; निमित्तेऽपि पञ्चमीसंभवात्। न च मायैव निमित्तमस्त्विति वाच्यम्,

---

परमार्थभूत शक्ति मानना) उचित नहीं है, कारण कि मायाको पारमार्थिक शक्ति माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। चतुर्थ कल्प (अनिर्वचनीय) माननेमें भी वह (आपकी मानी हुई) माया क्या संसार-समवायी कारण है? या संसारकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण है? इसका विवेचन करना आवश्यक है। इस विवेचनके अवसरपर 'मायाको प्रकृति—उपादान—समझना चाहिए' इस श्रुतिसे मायाको उपादान मानना उचित होता है। 'जिसके द्वारा प्रक्रिया—सृष्टि—की जाय वह प्रकृति है' इस व्युत्पत्तिसे प्रकृतिशब्द कारणवाची नहीं माना जा सकता, कारण कि प्रकृतिशब्द उपादान कारणमें रूढ़ है, [और रूढ़िर्योगा-पहारिणी' इस न्यायसे] रूढ़ि प्रबल मानी जाती है।

शङ्का—'इन्द्र मायाओंके द्वारा' इत्यादि तृतीया विभक्तिके श्रवणसे प्रकृतिको करण कहेंगे।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते; कारण कि उस श्रुतिमें एक आत्माके नाना होनेमें ही मायाको करण माना गया है; इससे भी प्रपञ्चके प्रति उपादान होनेमें कोई बाधा नहीं आ सकती।

शङ्का—'आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ' इत्याद्यर्थक श्रुतिमें 'आत्मनः' इस पञ्चमी विभक्तिके आनेसे आत्मा ही प्रकृति है, यह सिद्ध होता है, इससे संसारकी उपादान माया नहीं हो सकती।

समाधान—पञ्चमी विभक्ति निमित्त कारणके लिए भी आ सकती है, 'आत्मनः' इसमें पञ्चमी आनेसे ब्रह्मको उपादान नहीं कह सकते; किन्तु निमित्तमें पञ्चमी है। मायाको ही निमित्त कारण मानना उचित नहीं है; कारण कि

जाड्यरूपेण मायायाः प्रपञ्चेऽनुगतत्वात् । आत्माऽपि सत्तारूपेण स्फूर्त्तिरूपेण वाऽनुगत इति चेद्, एवं तर्ह्यात्मा माया चेत्युभयम् उपादानमस्तु । तथा च मायायामतिव्याप्तेन जगज्जन्मादिकारणत्वलक्षणेन विशुद्धं ब्रह्म न सिध्यति ।

अत्रोच्यते—एकस्य कार्यस्य परस्परनिरपेक्षोपादानद्वयाऽसंभवान्माया ब्रह्म च मिलित्वैकमेवोपादानमिति वाच्यम् । तत्र त्रैविध्यं संभवति—रज्ज्वा संयुक्तसूत्रद्वयवत् समप्रधानभावेनोभयमपि जगत उपादानम् । तत्र सत्तास्फूर्त्यंशयोर्ब्रह्मण उपयोगः । जाड्यविकारांशयोस्तु मायाया इति केचिदाहुः ।

'देवात्मशक्तिम्' इति श्रुतिबलान्मायाख्या शक्तिरेव साक्षादुपादानम् ।

जड़ताके रूपमें माया प्रपञ्चमात्रमें अनुगत है । यदि कहा जाय कि आत्मा भी तो सद्रूपसे या स्फुरणरूपसे प्रपञ्चमात्रमें अनुगत है, तो आत्मा और माया दोनोंको उपादान मानिये । इससे जगत्के जन्मादिकाकारणत्वरूप लक्षणके द्वारा उसका मायामें भी समन्वय हो जानेसे विशुद्ध ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

समाधान—इस लम्बे पर्यनुयोगके उत्तरमें कहा जाता है—एक कार्यके एक दूसरेसे अपेक्षा न रखनेवाले दो उपादान कारण नहीं हो सकते, इसलिए माया और ब्रह्म दोनों मिलकर एक ही उपादान है; ऐसा कहना होगा; इस कथनमें तीन प्रकारकी रीतियां हो सकती हैं—

रस्सीके संयुक्त दो सूत्रोंके समान समप्रधानभावसे (माया और ब्रह्म) दोनों जगत्के उपादान हैं [अर्थात् जैसे वेष्टित—बटे हुए—दो सूत्र रस्सीके प्रति समानरूपसे उपादान हैं, उनमें एक दूसरेमें न्यूनाधिक प्राधान्य नहीं है; वैसे ही ब्रह्म और माया दोनोंमें जगत्की स्थिति होनी चाहिए] । इनमें सत्ता और स्फुरण (प्रकाश) अंशमें ब्रह्मका उपयोग है तथा जड़ता और विकाररूपी अंशोंमें मायाका उपयोग है, ऐसा एक प्रकारका कहींपर वादीका मत है ।

'देवात्मशक्तिम्' इत्यादि श्रुतिके आधारपर मायानामक शक्ति ही साक्षात् उपादान है और शक्तिको शक्तिमान्के अधीन रहना नियमतः प्राप्त

शक्तेश्च नियमेन शक्तिमत्पारतन्त्र्यात् शक्तिमति ब्रह्मण्यप्यर्थाद् उपादानत्वं पर्यवस्यतीत्यन्ये ।

आरोपिताया मायाया अधिष्ठानब्रह्मस्वरूपमन्तरेण वस्तुतः स्वरूपान्तराभावाद् मायाया एव साक्षादुपादानत्वेऽपि तदधिष्ठानत्वेन ब्रह्मणोऽप्युपादानत्वमवर्जनीयमित्यपरे ।

आद्ये पक्षे मायाविशिष्टब्रह्मणो मुख्योपादानत्वं द्वितीयतृतीययोस्तु मायाया एव । पक्षत्रयेऽपि विशुद्धब्रह्मण औपचारिकमेवोपादानत्वम् । तत्र मुख्योपादानस्य जगत्कारणत्वं स्वरूपलक्षणम् । औपचारिकोपादानस्य तु तत्तटस्थलक्षणम् । तथा सति किं स्वरूपलक्षणत्वेनाऽभिप्रेतं जगत्कारणत्वं मायायामतिव्याप्तं किं वा तटस्थलक्षणत्वेन ? नाऽऽद्यः, मायाया

है, इसलिए ब्रह्ममें भी उपादानत्व अर्थात् सिद्ध होता है—इस प्रकार दूसरे वादियोंका मत है ।

यद्यपि अधिष्ठानभूत ब्रह्मके स्वरूपके बिना आरोपित (मिथ्याभूत) मायाका वस्तुतः अतिरिक्त स्वरूप न होनेसे माया ही साक्षात् उपादान है, तथापि (मायाका) अधिष्ठान ब्रह्म है, अतः हठात् ब्रह्ममें भी उपादानत्व प्राप्त होता है, [रजतबुद्धिसे ग्रहण करनेपर भी हाथमें शुक्ति ही आती है, कारण कि अध्यस्त पदार्थ अधिष्ठानके अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता, एवं अध्यस्त मायाको उपादान माननेसे ब्रह्मको उपादान मानना अर्थात् सिद्ध हो जाता है] ऐसा कुछ वादी मानते हैं ।

प्रथम पक्षमें मायाविशिष्ट ब्रह्ममें मुख्य उपादानत्व प्राप्त होता है तथा दूसरे और तीसरे पक्षमें केवल मायामें मुख्य उपादानत्व प्राप्त होता है । तीनों पक्षोंमें शुद्ध ब्रह्ममें गौण ही उपादानकारणत्व प्राप्त है । इनमें मुख्य उपादानका जगत्कारणत्व स्वरूप लक्षण है और औपचारिक उपादानका तो वही जगत्कारणत्व तटस्थ लक्षण होता है । इस दशामें प्रश्न होता है कि क्या स्वरूपलक्षणके रूपमें माने गये जगत्कारणत्वकी मायामें अतिव्याप्ति होती है ? या तटस्थ लक्षणके रूपसे अभिप्रेत जगत्कारणत्वकी मायामें अतिव्याप्ति होती है ? इनमें प्रथम कल्पोक्त अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, कारण कि माया लक्ष्यकोटिमें ही

लक्ष्यान्तःपातित्वात् । न द्वितीयः, जगत्कारणत्वस्य तटस्थलक्षणरूपेण मायायामप्रवृत्तेः । तस्माज्जगत्कारणत्वरूपतटस्थलक्षणेन ज्ञानानन्दादिरूप-स्वरूपलक्षणेन च विशुद्धब्रह्मसिद्धिः ।

ननु न तावत् पृथिव्याद्युपादानत्वं ब्रह्मलक्षणम् , पृथिव्यादीनामुत्पत्त्यदर्शनात् । नाऽपि घटाद्युपादानत्वम् , घटादीनां पृथिव्यादिकार्यत्वादिति चेद् , नैवम् ; विमताः पृथिव्यप्तेजोवायवः जायन्ते, पृथिव्यप्तेजोवायुबुद्धि-गोचरत्वात् , संप्रतिपन्नपृथिव्यप्तेजोवायुभागवत् । आकाशकालदिगादयो

आ जाती है । दूसरे कल्पसे उक्त अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती, कारण कि जगत्कारणत्वरूप लक्षणका तटस्थ लक्षणके रूपसे मायामें समन्वय नहीं हो सकता । [जगत्कारणत्वरूप तटस्थ लक्षण औपचारिक उपादानका ही हो सकता है; माया तो उक्त तीनों प्रकारोंमें से किसी भी प्रकारसे औपचारिक उपादान नहीं है ।] इसलिए जगत्कारणत्वरूप तटस्थ लक्षणके द्वारा और ज्ञान, आनन्द आदि स्वरूप लक्षणके द्वारा विशुद्ध ब्रह्मकी सिद्धि हो सकती है ।

शङ्का—ब्रह्मका पृथिवी आदि भूतोंके प्रति उपादानकारणत्वरूप लक्षण नहीं हो सकता, कारण कि पृथिवी आदि भूतोंकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है । और उसका घट आदि भौतिक द्रव्योंके प्रति उपादानत्वरूप लक्षण भी नहीं बन सकता, कारण कि घट आदि भौतिक द्रव्य तो पृथ्वी आदि भूतोंके कार्य हैं, [इसलिए भौतिक द्रव्योंके उपादान पृथ्वी आदि भूत ही होंगे, ब्रह्म नहीं होगा] ।

समाधान—उक्त आशङ्का युक्त नहीं है, कारण कि पृथ्वी आदि भूतोंकी उत्पत्ति प्रथम तो अनुमानसे सिद्ध है—[साधक अनुमान प्रयोग दिखलाते हैं—] 'विमत पृथ्वी, जल, तेज और वायु उत्पन्न होते हैं; पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इस बुद्धिके विषय होनेसे; उभयवादिसम्मत पृथ्वी, जल, तेज, और वायु—इन भूतोंके एकदेश—अवयव—के सदृश । [वादी और प्रतिवादी अवयवभूत वृक्ष, पाषाण आदिकी उत्पत्ति मानते हैं; अतः इसको दृष्टान्त मानकर पृथ्वी आदि अवयवी भूतोंकी भी उत्पत्ति माननी चाहिए । निरवयव आकाश आदि पदार्थ-साधारण उत्पत्तिका साधक अनुमान दिखलाते हैं—] आकाश, काल और दिग् आदि भी उत्पन्न होते हैं, विभक्त—एक दूसरेसे भिन्न-भिन्न—होनेसे,

जायन्ते, विभक्तत्वाद्, घटादिवत्। ननु प्रत्यनुमानमस्ति—पृथिव्यादयो न जायन्ते, महाभूतत्वात्, आकाशवत्। आकाशश्च न जायते, निरवयवद्रव्यत्वात्, आत्मवत्, इति चेद्, मैवम्; सामान्यविषयान्महाभूतत्वहेतोरपि विशेषविषयस्य पृथिवीबुद्धिगोचरत्वस्य बलीयस्त्वात्। तदुक्तं भट्टाचार्यैः—

'बाधः सामान्यशास्त्रस्य विशेषविषयाद्यथा।
अनुमानान्तरैरेवमनुमानस्य बाधनम् ॥' इति।

घटादिके समान [जैसे घट, पट आदि यावत् विभक्त पदार्थ उत्पन्न होते देखे जाते हैं, वैसे ही आकाशादिमें भी विभक्तत्व होनेसे उनकी उत्पत्ति माननी होगी, इस अनुमानसे अवयवरहित अथवा सावयव सभी भूतोंकी उत्पत्ति सिद्ध की गई]।

शङ्का—उक्त अनुमानका विरोधी अनुमान है—'पृथ्वी आदि उत्पन्न नहीं होते हैं, कारण कि आकाशके समान वे सब महाभूत हैं *। [निरवयव भूतोंकी अनुत्पत्ति सिद्ध करते हैं—] आकाश उत्पन्न नहीं होता, अवयवशून्य द्रव्य होनेसे, आत्माके समान।

समाधान—सामान्यविषयक महाभूतत्वरूप हेतुकी अपेक्षा विशेषविषयक पृथ्वीबुद्धिगोचरत्वरूप हेतु बलवान् है। इस विषयमें भट्टाचार्य महाशयने कहा है—

'जैसे विशेषविषयक शास्त्रसे सामान्यविषयक शास्त्रका बाध होता है, वैसे ही दूसरे (विशेषविषयक) अनुमानोंसे सामान्यविषयक अनुमानका बाध हो जाता है।'

---

* आकाशके दृष्टान्तसे पृथ्वी आदिकी अनुत्पत्ति सिद्ध की गई है और इससे अव्यवहित पूर्व पङ्क्तिमें विभक्तत्वरूप हेतुसे आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध की गई है, अतः विरोध-सा प्रतीत होता है, परन्तु यह अग्रिम अनुमान पूर्व अनुमानका विरोधी है—पूर्वमें विभक्तत्व हेतुसे वादीने उत्पत्ति दिखलाई है और प्रतिवादी महाभूतत्वरूप हेतुसे आकाशके दृष्टान्त द्वारा अनुत्पत्ति सिद्ध करता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रतिवादी वादीके तर्कको सहसा स्वीकार कर ले, अथवा यह अगला आकाशादिकी उत्पत्ति सिद्ध करनेवाला अनुमान मूलभूत विवरणमें न होते हुए भी प्रमेयकार द्वारा सावयव-निरवयव-भूतसाधारणकी उत्पत्ति सिद्ध करनेके लिए उट्टङ्कित किया गया है, अतः आगे दिये जानेवाले समाधानमें विभक्तत्वरूप हेतुका उल्लेख न करते हुए केवल पृथ्वीबुद्धिगोचरत्वका ही उल्लेख किया गया है। अन्यथा विभक्तत्व हेतुसे आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध होनेके अनन्तर प्रत्यनुमानमें अनुत्पत्तिरूप साध्यमें आकाश कैसे दृष्टान्त हो सकता ?

आकाशजन्माभावानुमाने श्रुतिविरोधः साधनविकलश्च दृष्टान्तः, निर्गुणात्मनि गुणवत्त्वलक्षणस्य द्रव्यत्वस्याऽभावात् । तस्मात् जायमानपृथिव्यादिकृत्स्नजगदुपादानत्वं ब्रह्मलक्षणम् ।

ननु वादिनो जगदुपादाने विप्रतिपद्यन्ते । तथाहि—विमताः सर्वे विकाराः, सुखदुःखमोहसामान्यप्रकृतिकाः, तदन्वितस्वभावत्वाद्, ये यदन्वितस्वभावास्ते तत्प्रकृतिकाः, यथा मृदन्विता मृत्प्रकृतिकाः शरावादयः । तथा विमताः सर्वविकारा अविभक्तैकप्रकृतिकाः, परिमितत्वात् अनेकत्वात् विकारत्वाच्च, शरावादिवत्, इति सांख्याः प्रधानं जगदुपादानमनुमिमते ।

विमतं कार्यद्रव्यं स्वपरिमाणादणुतरपरिमाणारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात्,

---

और आकाशकी उत्पत्तिके अभावको सिद्ध करनेवाले अनुमानमें श्रुतिका विरोध और साधन-शून्य दृष्टान्त हो जाता है, कारण कि निर्गुण आत्मामें गुणवत्त्वरूप द्रव्यत्वका अभाव है। इन दोनों बातोंके कारण अनुमान दुर्बल हो जाता है। [अनुमानकी पुष्टि आगमसे होनी आवश्यक है और दृष्टान्तको हेतुशून्य भी नहीं होना चाहिए]। इसलिए उत्पन्न होनेवाले पृथ्वी आदि सम्पूर्ण जगत्का उपादान होनारूप ब्रह्मका लक्षण सिद्ध होता है।

शङ्का—जगत्के उपादानके विषयमें वादियोंका विवाद (विरुद्ध मत) है कि विमत सकल विकार (भूत, भौतिक) सुख, दुःख और मोह साधारण प्रकृतिवाले हैं [अर्थात् सब विकारोंकी प्रकृति—उपादान—सामान्यतः सुख-दुःख-मोहात्मक है], कारण कि वे उससे—सुख-दुःख-मोहसामान्यसे—युक्त स्वभाववाले हैं। जो जिन गुणोंसे युक्त स्वभाववाले होते हैं, उन सबकी उन्हीं गुणोंसे युक्त प्रकृति (उपादान) होती है। जैसे कि मिट्टीरूप सामान्यसे युक्त मिट्टीसे बने हुए घड़े और सकोरे आदि। तथा विमत सम्पूर्ण विकारोंकी मिली हुई एक ही प्रकृति—उपादान—है, कारण कि वे परिमित—नाप-तोल वाले—अनेक तथा विकार कहलाते हैं, सकोरे आदिके समान' इस प्रकार अनुमान द्वारा सांख्यवादी प्रधान—त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति—को ही विश्वका उपादान (मूल प्रकृति) मानते हैं।

परमाणुवादी नैयायिक—'विमत कार्य द्रव्य (घट, पट आदि भौतिक कार्य) अपने

पटवत् इति परमाणूंस्तद्वादिनः कल्पयन्ति ।

सर्वं कार्यमभावपुरःसरम् , योग्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानपूर्वावस्थत्वात् , व्यतिरेके परपरिकल्पितात्मवत् , इति शून्यं शून्यवादिनो वदन्ति ।

योगाः शैवाश्च स्वकीयागमसामर्थ्याद्धिरण्यगर्भं पशुपतिं चाऽऽहुरिति ।

तदयुक्तम्—आन्तराणां सुखादीनां बाह्यानां घटादीनां च प्रत्यक्षतो भेदप्रतीतौ सुखदुःखमोहसामान्यान्वितत्वहेतोरसिद्धत्वात् । घटादिविकाराः सुखदुःखमोहात्मकाः, स्वाभिव्यञ्जकचित्तोपाधौ सुखाद्याकारप्रतिभासहेतुत्वाद् , यथा दर्पणोपाधौ मुखाकारप्रतिभासहेतुर्मुखात्मको

परिमाणकी अपेक्षा छोटे परिमाणवालेसे उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह कार्यद्रव्य है, जैसे कि पट,—इस प्रकारके अनुमानसे परमाणुको विश्वके प्रति उपादान मानते हैं ।

शून्यवादी बौद्ध कहते हैं कि सकल कार्यजात अभावपुरस्सर है अर्थात् अभावसे ही उत्पन्न हुआ है, कारण कि योग्यता होनेपर भी पूर्वावस्थाकी उपलब्धि नहीं होती [यदि उसकी पूर्वावस्था—कारणावस्था—भावरूप होती, तो उसकी उपलब्धि होती, अतः उसकी पूर्वावस्थाको अभावरूप ही मानना चाहिए, इसमें व्यतिरेक दृष्टान्त है—दूसरे वादियोंके द्वारा कल्पित आत्मा, इस प्रकार अनुमानसे शून्य ही जगत्का उपादान सिद्ध होता है ।

योगशास्त्रवेत्ता तथा शैवागमके अनुयायी अपने-अपने शास्त्रोंके बलपर हिरण्यगर्भ या पशुपतिको उपादान मानते हैं ।

समाधान—वादियोंका उक्त मत युक्त नहीं है, कारण कि आन्तर—भीतरी—सुखादि और बाह्य—बाहरी—घट आदि पदार्थोंके भेदका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे सुख, दुःख तथा मोह सामान्यसे अन्वित होनारूप हेतु सिद्ध नहीं होता है । [यदि सभी विकार सुख-दुःख-मोहसामान्यवाले समान ही होते और आभ्यन्तर सुख, दुःख आदि विकारोंमें और बाह्य घट, पट आदि विकारोंमें भेदका प्रत्यक्ष नहीं होता] ।

शङ्का—'घट आदि विकार सुख-दुःख-मोह-सामान्यात्मक हैं, कारण कि ये अपने—सुख, दुःख आदिके—अभिव्यञ्जक—अनुभव करानेवाले—चित्तरूप उपाधिमें सुखादि आकारके प्रतिभासके कारण हैं । [यदि बाह्य घटादि

बिम्ब इति हेतुसिद्धिरिति चेद् , न; तथा सत्येकमेव पदार्थमुपलभमानस्य युगपत्सुखादित्रितयोपलम्भप्रसङ्गात् । अदृष्टवशादेकोपलम्भ इति चेद् , न; अदृष्टेन वस्तुसामर्थ्यनियमायोगात् । नह्यदृष्टवशात् पाषाणो मृदुर्भवति । अदृष्टस्य वस्तुसामर्थ्यानियामकत्वेऽप्युपलम्भनियामकत्वमस्त्येवेति चेद् , एवमपि सुखादिसामान्यान्वितत्वहेतुरनैकान्तिकः । शुक्लादिगुणैर्घटत्वादिसामान्यैश्चाऽन्वितानां द्रव्याणां तत्प्रकृतित्वादर्शनात् । परिमितत्वमपि वस्तुकृतं चेत् , प्रधानपुरुषयोर्नित्ययोरनैकान्तिकता ।

न हों, तो उनके उपभोगसे उत्पन्न हुए सुखादिका प्रतिभास अन्तःकरणमें हो ही नहीं सकता अर्थात् अन्तःकरणकी सुखादिरूप वृत्ति ही नहीं होगी, जैसे दर्पणरूप उपाधिमें मुखाकार प्रतिभासका कारण बिम्बभूत मुखस्वरूप होता है' इस अनुमानसे उक्त हेतुकी सिद्धि हो जायगी।

समाधान—उक्त हेतुसाधक अनुमानको प्रमाण मानकर यदि सभी पदार्थ सुख-दुःख-मोहसामान्यसे युक्त माने जायँ, तो किसी भी एक पदार्थकी उपलब्धि करनेवाले पुरुषको एक ही कालमें सुख, दुःख तथा मोह तीनोंके अनुभवका प्रसङ्ग आ जायगा। अदृष्ट—प्रारब्धविशेष—के कारण सुखादिमें से एकका ही अनुभव होता है, ऐसी व्यवस्था भी नहीं की जा सकती, कारण कि अदृष्टके द्वारा वस्तुस्वभावकी सामर्थ्यका नियमन नहीं हो सकता। [वस्तुका स्वभाव यदि सुखादिस्वरूप है, तो उनमें से दो की निवृत्ति अदृष्ट कैसे कर सकेगा] । अदृष्टके बलसे पत्थर कोमल नहीं हो सकता। अदृष्ट वस्तुसामर्थ्यका नियामक न होनेपर भी अनुभवका नियामक तो है, ऐसा यदि मान भी लिया जाय, तो भी सुखादिसामान्यसे अन्वित होनारूप हेतुमें व्यभिचार आ ही जाता है; [कारण कि सुखादिकी सत्ता उपलम्भसे अतिरिक्त नहीं होती है। यदि उपलम्भ नहीं है, तो सुखादिकी स्थिति भी नहीं है] और शुक्ल आदि गुणोंसे अथवा घटत्व आदि सामान्यसे अन्वित घटादि द्रव्योंकी प्रकृति शुक्लादि गुण और घटत्व आदि सामान्य नहीं हैं।

परिमितत्व हेतुका खण्डन करते हैं—यदि परिमितत्व भी वस्तुके कारण होता हो, तो नित्यस्वरूप प्रधान—सांख्यसम्मत त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति—और पुरुष—आत्मा चेतन—इन दोनोंमें ही व्यभिचार है। [अर्थात् उक्त दोनों

देशकालकृतं चेद्, घटहिमकरकादिषु प्रत्यक्षदृष्टभिन्नप्रकृतिकेष्वनेकान्तम् । एतेनाऽनेकत्वविकारत्वहेतू व्याख्यातौ । कार्यद्रव्यत्वं च दीर्घविस्तीर्णदुकूलद्वयारब्धे सङ्कुचिते रज्जुद्रव्येऽनैकान्तिकम् । अथ दुकूलद्वयसंयोगमन्तरेण रज्जुद्रव्यं नामाऽन्यन्नाऽस्ति तथापि तत्प्रत्यनुमानग्रस्तम् । विमतं द्व्यणुकं सावयवारब्धम्, सावयवत्वाद्, घटवत् इति हि प्रतिप्रयोगः । शून्यवादिनोऽपि घटस्य पूर्वावस्थारूपा मृत् प्रत्यक्षोपलब्धेत्यसिद्धो हेतुः । योगशैवागमास्तु वेदविरोधादप्रमाणम् ।

वस्तुएँ तो हैं ही, परन्तु इनमें परिमितत्व नहीं है]। देश या कालके कारण परिमितत्व माना जाय, तो भी जिनकी प्रकृति प्रत्यक्ष भिन्न भिन्न दीखती है, ऐसे घट, हिम (बरफ), करक (ओले पत्थर) आदिमें साध्यका (एकप्रकृतिकत्वका) व्यभिचार है । [वस्तुकृत परिमितत्व न मान कर काल या देशकृत माननेसे पुरुष और प्रकृतिमें से व्यभिचारका वारण होनेपर भी घट हिमादिमें देशकालकृत परिमितत्व रहता है और उनमें साध्य नहीं है, अतः साध्यवदवृत्ति होनेसे व्यभिचरित हेतु हो गया, क्योंकि घटकी प्रकृति मिट्टी है और हिमकी प्रकृति जल है, ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध है ।] इसीसे अनेकत्व और विकारत्वरूप हेतुका भी व्याख्यान हो गया [अर्थात् घट, हिमादिमें अनेकत्व और विकारत्वके रहनेपर भी साध्य—अविभक्तैकप्रकृतिकत्व—नहीं है] और परमाणुवादियोंका कार्यद्रव्यत्वरूप हेतु भी लम्बी और चौड़ी दो धोतियोंके समेटनेसे बने हुए रस्सीरूप द्रव्यमें व्यभिचरित है । [अर्थात् उक्त रज्जुरूप कार्यद्रव्यका उपादान दो लम्बी और चौड़ी धोतियां है, परमाणु नहीं है] यदि कहा जाय कि रज्जुनामक द्रव्य दो रज्जुओंके संयोगसे अतिरिक्त कोई कार्य द्रव्य नहीं है, तो भी उक्त कार्यद्रव्यत्वहेतुक अनुमान प्रत्यनुमानग्रस्त है । [अर्थात् कार्यद्रव्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षरूप हेत्वाभाससे आक्रान्त है] उस प्रतिपक्षी अनुमानका इस प्रकार प्रयोग है—'विमत द्व्यणुक (कार्यद्रव्य) अवयवसहित पदार्थसे बना है, कारण कि वह द्व्यणुक अवयवविशिष्ट है, घटके समान । शून्यवादीका भी 'योग्यत्वे सति अनुपलभ्यमानपूर्वावस्थत्वरूप' हेतु असिद्ध है कारण कि घटकी पूर्वावस्थारूप मिट्टीका प्रत्यक्ष दर्शन होता है । योग अथवा शैव शास्त्र तो वेदके साथ विरोध आनेसे प्रमाणभूत ही नहीं हैं ।

ननु वादिनां प्रमाणानुपपत्तावपि न प्रमेयानुपपत्तिः, नहि चक्षुरुपद्रवमात्रेण दृश्यरूपादिहानिर्दृष्टेति चेद्, न; प्रमेयस्याऽप्यन्यदीयस्य दुर्निरूपत्वात्। किं केवलं प्रधानादि जगत्कारणम् उतेश्वराधिष्ठितम् ? नाऽऽद्यः; अचेतनस्य प्रतिनियतरचनानुपपत्तेः। द्वितीयेऽपि तस्येश्वरस्य श्रुतिसिद्धत्वे ब्रह्मवादप्रसङ्गः। अनुमानगम्यत्वे कुलालादिदृष्टान्तेनैव परिच्छिन्नज्ञानशक्तित्वं स्यात्। अथ कुलालादिवदनेकत्वाभावादेकस्य सर्वजगत्स्रष्टुस्तस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वे अर्थात् भविष्यतः। एवमपि विमतं जगज्जीवेश्वरा-

---

शङ्का—वादियोंको प्रमाणकी उपपत्ति न होनेपर भी प्रमेयकी उपपत्तिका अभाव नहीं हो सकता। [यदि वादी अपने अपने सिद्धान्तसम्मत जगत्के उपादानभूत परमाणु आदिमें प्रमाण नहीं दे सकते, तो इसका यह तात्पर्य नहीं मानना चाहिए कि प्रमेय ही नहीं है, क्योंकि प्रमाणके अभावमें भी प्रमेय रहता है, इसको दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—] आँखमें खराबी आ जानेसे ही दृश्यरूप आदिकी हानि नहीं देखी गई है।

समाधान—दूसरे वादियोंके सम्मत प्रमेयका निरूपण भी नहीं हो सकता, [प्रमाणके अभावमात्रसे प्रमेयका अभाव नहीं कहा जा रहा है, परन्तु प्रमेय ही नहीं है, इस प्रकार प्रमेयकी दुर्निरूपता भी दिखलाते हैं—] क्या प्रधानादि केवल (अन्यनिरपेक्ष होकर) विश्वके कारण होते हैं ? अथवा ईश्वरके अधीन होकर कारण होते हैं ?। इनमें प्रथम कल्प नहीं मान सकते, कारण कि अचेतनसे व्यवस्थित रचना नहीं बन सकती। दूसरे पक्षके माननेमें भी यदि वह अधिष्ठानभूत ईश्वर श्रुतिसे सिद्ध है, तो ब्रह्मवादका प्रसङ्ग आ जाता है। [अर्थात् श्रुतिमें मायाधिष्ठान सृष्टिकर्ता ईश्वर ब्रह्म ही कहा गया है, अतः ब्रह्मोपादानक जगत् सिद्ध होता है]। यदि उसको अनुमानगम्य माना जाय, तो कुलाल आदि दृष्टान्तसे ही वह परिच्छिन्न-ज्ञानशक्तिवाला हो जायगा। [अर्थात् जैसे घट आदिका कर्ता कुलाल आदि परिमित शक्ति और ज्ञानवाले हैं, वैसे ही सृष्टिकर्ता ईश्वर भी है]। यदि कहा जाय कि जैसे कुलाल आदि घटादिके कर्ता अनेक हैं, वैसे ईश्वर अनेक नहीं हैं, प्रत्युत एक है और जगत्भरका रचयिता है, इसलिए उसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता अर्थात् सिद्ध हो जायगी, तो ऐसा कहनेपर भी विमत संसारको जीव

र्थ्याम्रुत्पद्यते, कार्यत्वाद्, घटादिवत्, इत्यतिप्रसङ्गो दुर्वारः। अदृष्टद्वारा जीवस्याऽपि जगत्कर्तृत्वादिष्टापत्तिरिति चेत्, तर्हि घटादिवैलक्षण्याय पृथिव्यादौ कर्तृत्रयं प्रसज्येत। शून्यस्य तु निरुपाख्यत्वान्न जगदुपादनत्वसंभावनाऽप्यस्ति, जगतः सदन्वयात्। सदन्वयः संवृत्तिकल्पित इति चेद्, एवमपि त्वन्मते निरन्वयविनाशवतः पूर्वकल्पस्य संस्कारासंभवेन तत्सदृशो वर्त्तमानकल्प इति नियमो न स्यात्। ततश्च कर्मतत्फलतत्प्रमाणव्यवहारोच्छेदः। विशिष्टसंनिवेशयुक्तदेवादिभावकासनयाऽनुष्ठितकर्मणां कल्पान्तरे तथाविधदेवादिरूपानुत्पत्तेः कर्मोच्छेदः। अत्यन्तपुण्यकारिण आकल्पं स्वर्गमनुभूय कल्पान्तरे पूर्वजातिस्मरणपूर्वकं जन्म श्रुतौ फलत्वेन श्रुतं तच्च फलं निरन्वयविनाशे संस्काराभावान्न

और ईश्वर दोनोंने बनाया है, कार्य होनेसे, घट आदिके तुल्य' इस प्रत्यनुमानसे जीव भी संसारका कर्ता है, ऐसा अतिप्रसङ्ग नहीं हटाया जा सकता। जीव भी अदृष्ट द्वारा संसारका कर्ता है, इस प्रकार यदि इष्ट ही माना जाय, तो घटादिसे वैलक्षण्य—भेद—दिखलानेके लिए पृथ्वी आदि कार्यके प्रति तीन कर्ताओंका प्रसङ्ग होगा। निरुपाख्य होनेसे शून्यमें तो संसारके उपादानत्वकी सम्भावना भी नहीं हो सकती, कारण कि संसार सत्से अन्वित है। [निरुपाख्यमें सत्की अनुवृत्ति बाधित है और जगत्के साथ 'सन् घटः, सन् पटः' इत्यादिरूपसे सत्की अनुवृत्ति होती है]। यदि सत्का अन्वय संवृत्तिके द्वारा माना जाय, तो भी तुम्हारे (शून्यवादीके) मतमें अन्वयशून्य विनाशशाली पूर्व कल्पके संसारका सम्भव न होनेसे उसीके सदृश वर्तमान कल्प है, ऐसा नियम नहीं बन सकता। इससे कर्म, कर्मफल तथा उसके प्रमाण आदिका सब व्यवहार नष्ट हो जायगा। [प्रत्येक व्यवहारके विनाशका प्रकार दिखलाते हैं—] विशिष्ट आकृतिसे युक्त देवादिभावकी इच्छासे किये गये कर्मोंका दूसरे कल्पमें उसी प्रकार देवादिरूपकी उत्पत्ति न होनेसे कर्मोंका विनाश हो जायगा। अत्यन्त (अधिक) पुण्य करनेवाले पुरुषके लिए श्रुतिमें ऐसा पुण्यफल कहा गया है कि कल्पपर्यन्त स्वर्गका उपभोग करनेके अनन्तर दूसरे कल्पमें अपनी पूर्व जातिका स्मरण रख कर वह जन्मग्रहण करता है। उस श्रुति द्वारा कथित फलका अनुवृत्ति रहित विनाश होनेपर संस्कारके न हो सकनेसे सम्भव

संभवेत् । तथा पूर्ववेदस्य निरन्वयविनाशे सति धर्मस्य मानान्तराग-म्यत्वेन तद्गोचरनूतनपदरचनायाः पुरुषैः कर्तुमशक्यतया धर्मप्रमाणमप्युच्छिद्येत । तदङ्गीकारे च तथैव तदभिमतकर्मतत्फलतत्प्रमाणानामप्युच्छेदः स्यात् ।

सर्वं कार्यं स्वभावादेवोत्पद्यत इति बार्हस्पत्यो मन्यते । स प्रतिवक्तव्यः—किं स्वयमेव स्वस्य निमित्तमित्यर्थः, किं वा निर्निमित्तमुत्पद्यत इति ? नाऽऽद्यः, आत्माश्रयत्वात् । द्वितीये घटस्य भावाभावौ युगपत्स्याताम् , क्रमकारिनिमित्तनिरपेक्षत्वात् । अथ मन्यसे त्वन्मतेऽपि तस्य निमि-

---

नहीं है । एवं पूर्व कल्पके वेदका अन्वयशून्य विनाश हो जानेपर धर्ममें प्रमाणका भी उच्छेद हो जायगा, कारण कि वेदमें आई हुई तादृश नूतन पदोंकी रचना पुरुषोंके द्वारा नहीं की जा सकती । और धर्मको वेदसे अतिरिक्त दूसरे किसी प्रमाणसे जान भी नहीं सकते, इसलिए निरन्वय विनाश नहीं मान सकते । यदि निरन्वय विनाशका अङ्गीकार करोगे, तो उनके—निरन्वय विनाश माननेवाले बौद्धके—अभिमत कर्म, उनका फल तथा उनमें प्रमाणभूत धर्मग्रन्थोंके व्यवहारका भी विनाश हो जायगा । [तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व प्रघट्टकमें कहा है कि वेदोक्त कर्म, फल आदि तथा वेदप्रमाणके उच्छिन्न होनेसे बौद्धका कोई अपसिद्धान्त आदि दोष नहीं आ सकता, वह तो प्रसन्नतासे इष्टापत्ति कह देगा, परन्तु वेदान्तीका कहना है कि बौद्ध भी कर्म, कर्मफल तथा उनमें प्रमाणभूत धर्मग्रन्थ तो अपने मतमें मानता ही है, अतः उनके भी अभिमतका उच्छेद होगा, इसलिए इसमें इष्टापत्ति भी नहीं मान सकते ।

बृहस्पतिका—चार्वाकका—मत है कि सम्पूर्ण कार्य स्वभावसे ही उत्पन्न होता है, [पृथ्वी आदि भूतोंका अपना रूप ही ऐसा है जैसा कि दीख रहा है, उसको किसीने बुद्धिपूर्वक रचा नहीं है ।] परन्तु उससे प्रश्न करना चाहिए कि स्वभावसे उत्पन्न होता है, इसका यह अभिप्राय है कि स्वयं अपना निमित्त है ? अथवा निमित्तके बिना ही उत्पन्न हो जाता है ? इनमें प्रथम कल्प तो माना नहीं जा सकता, कारण कि ऐसा माननेसे आत्माश्रय दोष होगा । दूसरे पक्षके माननेमें घटके भाव—उत्पत्ति—और अभाव—विनाश—दोनों एक ही कालमें होने चाहिएँ, कारण कि क्रमशः कार्य करनेवाले निमित्तकी उसमें अपेक्षा ही नहीं है । [नास्तिक स्वभाववादी

तस्य क्रमकारित्वं स्वाभाविकं चेत्स्वभाववादः। निमित्तान्तरसापेक्षत्वेऽनवस्थापातः। कालभेदेन तस्यैव क्रमकार्यवस्थाङ्गीकारेऽपि स कालक्रमः स्वाभाविकश्चेत् स्वभाववादः। निमित्तान्तरापेक्षश्चेदनवस्थेति। तदसत्; किमनेनाऽवस्थापादनेन वस्तूनां सामर्थ्यस्य निमित्तान्तरनिरपेक्षत्वमुच्यते किं वा सति वस्तूनां सामर्थ्ये निमित्तान्तरानुसरणं व्यर्थमिति? आद्योऽङ्गीकृत एव। द्वितीयेऽपि किं निमित्तान्तरापेक्षत्वं न प्रतीयत इत्युच्यते

जब निमित्तकी अपेक्षा न रखकर ही कार्यकी उत्पत्ति मानता है, तब उत्पत्ति और विनाश एक साथ ही क्यों न हो जायँ]।

शङ्का—यदि माना जाय कि तुम्हारे वेदान्तीके मतमें भी यदि उस निमित्तका क्रमशः कार्य करना स्वभाव है, तो स्वभाववाद सिद्ध हुआ [इससे अन्तर्गडु निमित्तान्तर मानना अधिक हुआ]। यदि उसमें दूसरे निमित्तकी अपेक्षा है, तो अनवस्था दोष आ जाता है। [क्योंकि नियामक निमित्तान्तरोंकी अन्वेषणपरम्परा लगी ही रहेगी]। और यदि कालभेदसे उस निमित्तकी क्रमसे कार्य उत्पन्न करनेकी अवस्था मान भी ली जाय, तो भी वह कालक्रम यदि स्वभावसिद्ध है, तो पुनः वही स्वभाववाद आ जाता है। यदि दूसरे निमित्तकी अपेक्षा मानी जाय, तो अनवस्था दोष बना ही है।

समाधान—नास्तिकका उक्त आरोप उचित नहीं है, कारण कि इस अवस्थाका प्रतिपादन करनेसे क्या प्रयोजन? [अर्थात् हमारे ऊपर आरोप करना कि निमित्तकी क्रमशः कार्य करनेवाली अवस्थाका निरूपण नहीं किया जा सकता, यह उचित नहीं है] हमें तो पूछना है कि वस्तुओंकी—पदार्थोंकी—सामर्थ्य दूसरे निमित्तकी अपेक्षा नहीं रखती है, ऐसा कहा जा रहा है? [अर्थात् वस्तु अपने कार्यकरस्वरूप सामर्थ्यके लिए दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि वस्तुसामर्थ्य स्वतः-सिद्ध है] अथवा कार्य करनेके लिए वस्तुसामर्थ्यके रहते दूसरे निमित्तका अनुसरण करना व्यर्थ है? [इन दोनों प्रकारोंमें कौनसा स्वभाववादी तुम्हारा मत है?] प्रथम कल्प तो माना ही गया है। [क्योंकि वस्तुसामर्थ्य दूसरे हजार निमित्तोंसे भी नहीं उत्पन्न हो सकती, सहस्र प्रयत्न करनेपर भी सिकतासे तैल नहीं पा सकते] दूसरे पक्षमें भी प्रश्न होता है कि क्या कार्यको अपनेसे दूसरे निमित्तकी अपेक्षा रखना प्रतीत नहीं होता? अथवा प्रतीत होता हुआ भी उसका निरूपण

किं वा प्रतीतमपि दुर्निरूपमिति ? नाऽऽद्यः, प्रत्यक्षविरोधात् । घटमारभमाणस्य कुम्भकारस्य दण्डचक्राद्यपेक्षायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न द्वितीयः, सर्वानिर्वाच्यत्ववादिनो दुर्निरूपत्वस्याऽलंकारत्वात् । भूतचतुष्टयमेव तत्त्वं प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं स्वभाववाद एव पारमार्थिक इति मन्यमानस्य तत्र प्रतिज्ञातार्थे हेतूपन्यासे सनिमित्तत्वप्रसङ्गः । अनुपन्यासे च प्रतिज्ञातार्थासिद्धिः । प्रतीतिमात्रशरणत्वे चाऽनिर्वचनीयवादापातः । तदेवं वस्त्वन्तरस्य कारणत्वसम्भावनानिराकरणे पारिशेष्यादस्मदुक्तः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वर एव कारणमित्येतादृशी युक्तिरपि ब्रह्मस्वरूपनिर्णयायाऽनेनैव सूत्रेण तन्त्रेणाऽऽवृत्त्या वा सूत्रितेति द्रष्टव्यम् । अनया च युक्त्या यथोक्तब्रह्मसंभावनायां पश्चादागमेन तत्साधयितुं शक्यम् । यथाऽऽहुः—

नहीं किया जा सकता ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि इसके माननेमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है, क्योंकि घटको रचनेवाले कुलाल—कुम्हार—को दण्ड, चक्र आदिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष दीखती है । दूसरा पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि विश्व भरके सभी पदार्थोंको अनिर्वचनीय कहनेवाले वेदान्तीके मतमें उसका निरूपण न हो सकना तो अलङ्कार ही है । [कार्यको निमित्तानपेक्ष माननेमें और भी दोष देते हैं—] चार भूत—पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ही पदार्थ हैं, एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, स्वभाववाद पारमार्थिक—सत्य सिद्धान्त—है, इस प्रकार सिद्धान्त माननेवाले तुम यदि अपने प्रतिज्ञात विषयकी पुष्टिमें हेतु दिखलाते हो, तो वस्तुकी सिद्धिमें निमित्तसहित होनेका प्रसङ्ग होगा । यदि हेतु नहीं दिखलाया जाता, तो अपने प्रतिज्ञात अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती । यदि केवल प्रतीतिके बलका आधार लिया जाय, तो अनिर्वचनीयवादका मानना ही हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्मसे दूसरी वस्तुके कारण होनेकी सम्भावनाका निराकरण—खण्डन—हो जानेसे अन्तमें हमारे सिद्धान्तके अनुसार सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही संसारका कारण हैं, इस प्रकारकी युक्ति भी ब्रह्मस्वरूपका निर्णय करनेके लिए इसी सूत्रसे तन्त्र अथवा आवृत्तिके द्वारा दिखलाई गई है, यह समझना चाहिए । इस युक्तिके द्वारा कथितके अनुसार ब्रह्मकी सम्भावना सिद्ध होनेके अनन्तर शास्त्र द्वारा उसकी सिद्धि हो सकती है । जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है—

'सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना ।
न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः ॥' इति ।

नन्वनुमानादेव यथोक्तेश्वरसिद्धौ किमाभ्यां युक्त्यागमाभ्याम् । न च सत्यागमेऽनुमानप्रयासवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, 'यतो वा' इत्याद्यागमस्याऽनुमानसिद्धार्थानुवादकत्वात् । अनुमानं चैवं प्रयोज्यम्—विमतं जगद् उपादानोपकरणाद्यखिलाभिज्ञकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, गृहवत्, इति वैशेषिकैरुच्यत इति चेद्, नः विमतं जगद्बहुकर्तृकमसर्वज्ञकर्तृकं वेत्यतिप्रसङ्गस्याऽपि तद्वत्सुसाधत्वात् ।

ज्ञानैश्वर्यशक्तय उत्कृष्यमाणाः क्वचित्पर्यवसिताः, उत्कृष्यमाणधर्मत्वात्, परिमाणवत्, इति सांख्या योगाश्च वदन्तीति चेद्, नः निरीश्व-

---

प्रतिज्ञावाक्यमें सम्भावनासे माने गये पक्षका हेतुबलसे साध्ययुक्त होना समर्थित किया जाता है। उस पक्षकी रक्षा अनेक हेतुओंके द्वारा भी नहीं हो सकती जो प्रतिज्ञामें आते आते न ठहर सके [अर्थात् जिसकी सम्भावना ही नहीं है, ऐसे प्रतिज्ञात अर्थकी पुष्टिके लिए हेतुका उपन्यास करना व्यर्थ ही होता है]।

शङ्का—अनुमान द्वारा ही कथित ईश्वरकी सिद्धि हो सकती है, इसके लिए इन युक्ति और शास्त्रोंके उपन्यासकी क्या आवश्यकता है? आगमके रहते हुए अनुमान करनेका प्रयत्न विफल नहीं माना जा सकता, कारण कि 'यतो वा—जिससे कि—' इत्यादि आगम अनुमानसे निर्णीत वस्तुका ही अनुवाद करते हैं। और अनुमानप्रयोग इस प्रकार करना चाहिए—'विमत सभी प्रपञ्च उपादान—समवायी—तथा अन्य निमित्त कारण आदि सब सामग्रीके जाननेवाले कर्तासे रचा गया है, कार्य होनेसे, गृहकी भाँति, ऐसा वैशेषिक कहते हैं।

समाधान—'विमत प्रपञ्च अनेक कर्ताओंसे बनाया गया है, या असर्वज्ञ कर्तासे बनाया गया है, इत्यादि अतिप्रसङ्ग पूर्व अनुमानकी भाँति भली प्रकारसे सिद्ध किया जा सकता है।

'उत्कर्षको प्राप्त होनेवाले ज्ञान, ऐश्वर्य तथा शक्तियां कहींपर चरम-वृद्धिको प्राप्त होकर स्थित होती हैं, उत्कर्ष पानेवाले धर्मयुक्त होनेसे, परिमाणके तुल्य' इस प्रकार कहनेवाले योग तथा सांख्यवादियोंका मत

रवादिनां देवादिभिः सिद्धसाधनत्वात् । सर्वविषयज्ञानैश्वर्यशक्तिमति पर्यवसितत्वसाधनेऽपि गुरुत्वरागद्वेषदुःखादिष्वनैकान्तिकता ।

पुण्यपापफलं कर्म तत्फलाद्यभिज्ञेन प्रदीयते, कर्मफलत्वात्, सेवाफलवत्, इति नैयायिका अनुमिमत इति चेद्, न; देवादिभिरेव सिद्धसाधनत्वात्। अतः संभावनाबुद्धिहेतुत्वेनाऽऽगमोपकारिणीमस्मदुक्तां युक्तिमेवाऽज्ञानाद् वैशेषिकादयोऽनुमानं मन्यन्ते। नहि युक्तिरेवाऽनुमानम्। व्याप्त्याभासोऽनुपपत्त्याभास उदाहरणमात्रदर्शनं चेत्येतत्त्रयं संभावनाबुद्धिजनकत्वेन युक्तिरित्युच्यते, अव्यभिचरितव्याप्तिकमर्थनिश्चायकमनुमानम् । अतो

उचित नहीं है' कारण कि निरीश्वरवादीके मतमें देवादिके कारण सिद्धसाधन आ जाता है। [ईश्वरको न माननेवाले तो देवादिको ही परमैश्वर्यादिशाली मानते हैं, इसलिए ज्ञानादिकी उत्कर्षसीमा ईश्वर ही है, ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता] सकल-पदार्थ-विषयक ज्ञान तथा ऐश्वर्य एवं शक्तिशालीमें पर्यवसितत्वका—चरम सीमा होनेका—साधन करनेपर भी गुरुत्व (वजन), राग (प्रेम या आसक्ति), द्वेष (अप्रेम) और दुःख आदिमें व्यभिचार आता है। [उक्त गुण ज्ञानादिके तुल्य उत्कर्षशाली होते हुए भी ईश्वरमें पर्यवसित नहीं हैं]। नैयायिकोंका जो यह अनुमान है कि 'पुण्य और पापके फलोंको कर्म तथा उसके फलको जाननेवाला ही देता है, कर्मफल होनेसे, सेवाके फलोंके सदृश', वह भी साधु नहीं है, क्योंकि देव आदिके द्वारा ही इसमें भी सिद्धसाधन आता है, [क्योंकि देवादि भी कर्म तथा फल दोनोंको जानते हैं और कर्मफल देते हैं]। इसलिए सम्भावनाबुद्धिको उत्पादन करनेसे आगमका उपकार करनेवाली [असम्भावनाके निराकरणसे आगममें प्रामाण्यग्रह करानारूप उपकार है।] हमारी कही हुई युक्तिको ही वैशिषिक आदि अन्य वादी अज्ञानसे—भ्रमसे—अनुमान समझ बैठे हैं। केवल युक्तिको अनुमान नहीं कहा जाता। [दोनोंका भेद दिखलानेके लिए प्रथम युक्तिके स्वरूपका उल्लेख करते हैं—] व्याप्ति-सा मालूम पड़ना और अनुपपत्ति-सा प्रतीत होना और उदाहरणमात्र दिखा देना, इन तीनोंको, सम्भावनाबुद्धिके उत्पादक होनेसे, युक्ति कहते हैं। [अनुमानका स्वरूप कहते हैं—] व्यभिचारशून्य, व्याप्तियुक्त और अर्थका निश्चय करनेवाला अनुमान होता है। इस कारण

वैशेषिकादिप्रयोगाणां सत्यप्यनुमानदोषे श्रुतिसिद्धब्रह्मणि संभावनाबुद्धिहेतुत्वेनाऽस्मदुक्तयुक्तित्वमविरुद्धम् ।

एवं तर्हि युक्तिव्याजेन वैशेषिकाद्यभिमतमनुमानमेव जन्मादिसूत्रे ब्रह्मनिश्चायकत्वेनोपन्यस्तमिति चेद् , अनुमानमात्रात्कारणसद्भावमात्रसिद्धावपि सत्यज्ञानादिरूपस्य ब्रह्मण आगममन्तरेणाऽसिद्धेरागमग्रथन एव सूत्रतात्पर्यात् । आगमवाक्यानि हि वक्ष्यमाणसूत्रैः उदाहृत्य तात्पर्यतो निर्णीयन्ते , ब्रह्मसाक्षात्कारस्य शब्दानुसारिभिन्यायैर्ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यतात्पर्यनिर्णयाधीनत्वात् । नह्यनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्णेतॄणां वैशेषिकादीनां

वैशेषिक आदि वादियों द्वारा प्रदर्शित अनुमानप्रयोगोंके अनुमानके हेत्वाभासादि दोषोंसे दूषित रहनेपर भी श्रुतिके द्वारा समर्थित ब्रह्मविषयक सम्भावना-बुद्धिके उत्पादनमें हेतु होनेके कारण हम वेदान्तियों द्वारा दर्शाई गई युक्तिको मानना कोई विरुद्ध नहीं है ।

शङ्का—ऐसा माननेसे तो युक्तिके बहाने वैशेषिक आदि वादियोंके सम्मत अनुमान ही जन्मादि सूत्रमें ब्रह्मके निश्चायक प्रमाणरूपसे कहे गये हैं, यह मान लेना चाहिए ।

समाधान—केवल अनुमानोंके द्वारा कारणकी सत्ता ही सिद्ध हो सकती है [अर्थात् अनुमान इतना ही सिद्ध कर सकता है कि इस दृश्यमान कार्य-जात प्रपञ्चका कोई उत्पादक कारण अवश्य है] परन्तु सत्य-ज्ञानादिस्वरूप ब्रह्मकी तो आगम—श्रुति—के बिना सिद्धि नहीं हो सकती । इसलिए जन्मादिसूत्रका तात्पर्य आगमको ही दर्शानेमें हैं [आगमसे ही स्वरूप-निश्चय हो सकता है, अतः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि शास्त्रको ही सूत्रमें जन्मादिपदसे लिया जाना उचित है, अनुमानमात्र नहीं] आगे कहे जानेवाले सूत्रोंमें आगम वाक्योंका उदाहरण देकर तात्पर्यनिर्णय किया गया है, [इसलिए अगले सूत्रोंमें आगम-वाक्योंका उदाहरण देना पुनरुक्त या व्यर्थ नहीं है;] कारण कि ब्रह्मका साक्षात्कार शब्दबोधके अनुकूल (उपक्रमादि) न्यायोंके द्वारा ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका तात्पर्यनिर्णय करनेसे हो सकता है । केवल अनुमान आदि दूसरे प्रमाणोंसे ब्रह्मनिर्णय करनेवाले वैशेषिक आदि वादियोंको ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं देखा गया है । और

ब्रह्मावगतिर्दृश्यते । न चाऽपौरुषेयस्य पौरुषेयमनुमानं मूलमिति युक्तम् । न चैवमनुमानस्याऽत्यन्तानपेक्षा स्यादिति वाच्यम् , श्रुत्यर्थदार्ढ्याय श्रुत्यविरोधिन्यायस्याऽपेक्षितत्वात् । 'पण्डितो मेधावी' इत्यादिश्रुत्यैवाऽऽगमस्य पुरुषबुद्धिसाहाय्यमङ्गीक्रियते, अन्यथाऽध्ययनादेव ब्रह्मावगतौ 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्युक्तो गुरूपदेशनियमो व्यर्थः स्यात् । आचार्यो हि श्रुत्यनुसारिभिर्दृष्टान्तैः शिष्येभ्यः प्रत्ययदार्ढ्यमुत्पादयति । तच्च प्रत्ययदार्ढ्यं मननरूपत्वादवगतिहेतुः । एतदेव हि मननं यदाचार्ययुक्त्या स्वयुक्त्या च श्रौतप्रत्ययस्य दार्ढ्यापादनम् । मननस्य चाऽवगतिहेतुत्वं 'मन्तव्यः' इति श्रुत्या सिद्धम् ।

ननु धर्मजिज्ञासायां वेदस्मृतीतिहासपुराणान्येव प्रमाणं नाऽनुमानादि । तत्राऽपि श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्या निर्णयहेतवः । पदान्तनिर-

अपौरुषेय (श्रुति) का पुरुषप्रणीत अनुमानको मूल मानना युक्त भी नहीं है । [पुरुषप्रणीत वाक्योंमें पुरुषके रागादि दोषसे दोष आना सम्भव है, अतः पौरुषेय अनुमान सर्वथा दोषशून्य अपौरुषेयमें प्रमाण नहीं हो सकता] । इससे अनुमानकी बिलकुल अपेक्षा नहीं रह जाती, यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि श्रुतिसे प्रतिपादित अर्थकी पुष्टिके लिए श्रुतिसे विरोध न रखनेवाले न्यायवाक्य—अनुमान—की अपेक्षा रहती है । 'पण्डितो मेधावी' इत्यादि श्रुतिसे ही श्रुतिको पुरुषबुद्धिकी सहायता अपेक्षित है, ऐसा स्वीकार किया गया है । यदि ऐसा न माना गया होता, तो पठनमात्रसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो ही जाता, फिर 'अचार्ययुक्त पुरुष ही जान सकता है' इत्यादिसे कहा गया गुरुके द्वारा उपदेश पानेका नियम निष्फल हो जायगा । आचार्य—गुरु महाराज—श्रुतिके अनुकूल दृष्टान्तोंके द्वारा शिष्योंके ज्ञानकी दृढ़ता उत्पन्न करा देता है । मननरूप होनेसे वह ज्ञानकी दृढ़ता साक्षात्कारका कारण बनती है । यही तो मनन है कि आचार्य द्वारा दिखलाई गई अथवा अपनी ही मेधासे आहित की गई युक्तिसे श्रुतिसे प्राप्त ज्ञानकी दृढ़ता प्राप्त की जाय । और मननमें साक्षात्कारकारणत्व तो 'मन्तव्य' (मनन करना चाहिए) इस श्रुतिवाक्यसे सिद्ध है ।

शङ्का—धर्मजिज्ञासामें वेद, स्मृति, महाभारत आदि इतिहास तथा पुराण ही प्रमाण हैं, अनुमान आदि दूसरे प्रमाण नहीं हैं । उन श्रुति आदि प्रमाणोंमें भी श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या रूप न्याय ही तात्पर्यनिर्णयके

पेक्षः शब्दः श्रुतिः। श्रौतस्याऽर्थस्याऽर्थान्तरेणाऽविनाभावो लिङ्गम्। अन्योन्याकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यम् । वाक्यद्वयसामर्थ्यमारभ्याधीतविषयं प्रकरणम्। क्रमवर्त्तिनां पदार्थानां क्रमवर्त्तिभिः पदार्थैर्यथाक्रमं सम्बन्धः स्थानम्। संज्ञासाम्यं समाख्या। तैरेव ब्रह्मनिर्णयोऽप्यस्त्विवति चेद्, नः युक्त्यनुभवयोरपि ब्रह्मजिज्ञासायामपेक्षितत्वात्। युक्त्यपेक्षा पूर्वमेव प्रसाधिता । अनुभवो नाम ब्रह्मसाक्षात्कारफलकोऽन्तःकरणवृत्तिभेदः। न च तमन्तरेण ज्ञानाकाङ्क्षा निवर्त्तते। न च ब्रह्मस्वरूपमनुभवितुमयोग्यमिति शङ्कनीयम्, घटादिवत्सिद्धवस्तुत्वात्। विमतं ब्रह्मवाक्यमनुभवनिरपेक्षफलपर्यन्तज्ञानजनकम्, प्रमाणभूतवेदवाक्यत्वाद्,

---

कारण हैं। इनमें—दूसरे पदकी अपेक्षा न रखनेवाला शब्द ही 'श्रुति' पदका अर्थ है। श्रुतिप्रतिपादित अर्थका दूसरे अर्थके साथ सम्बन्ध लिङ्ग है। परस्पर आकांक्षा (एक-दूसरेके बिना अन्वयाननुभावकता) सन्निधि (विलम्बराहित्य या व्यवधानशून्यत्व) एवं योग्यता (बाधका न होना) वाले पद ही वाक्य कहलाते हैं। दो वाक्योंकी सामर्थ्यको लेकर पढ़ा गया विषय प्रकरण है। क्रमशः आये हुए पदार्थोंका क्रमशः आये हुए पदार्थोंके साथ क्रमके अनुसार होनेवाला सम्बन्ध स्थान पदार्थ है। संज्ञाकी समता समाख्या है। [इन सबका वर्णन विशेष-विशेष उदाहरणोंके साथ प्रथम वर्णकमें किया गया है] इनसे ही ब्रह्मका निर्णय हो जायगा।

समाधान—युक्ति और अनुभव—इन दोनोंकी भी ब्रह्मजिज्ञासामें अपेक्षा रहती है। युक्तिकी अपेक्षा प्रथम ही सिद्ध कर आये हैं। [अनुभवको दिखलाते हैं—] ब्रह्मसाक्षात्कारको उत्पन्न करनेवाली एक प्रकारकी अन्तःकरणकी वृत्ति ही अनुभव है। और इस प्रकारके अनुभवके बिना ज्ञानकी इच्छा निवृत्त नहीं होती [अर्थात् अनुभव—साक्षात्कार—जब तक नहीं होगा, तब तक ब्रह्म-जिज्ञासा बनी ही रहेगी]। और यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कारके योग्य नहीं है, कारण कि वह घट आदिके सदृश सिद्ध वस्तु है।

शङ्का—'विमत ब्रह्मवाक्य (ब्रह्मतात्पर्यक वेदान्तवाक्य) अनुभवकी अपेक्षासे शून्य फलपर्यन्त ज्ञानका उत्पादक है, प्रमाणभूत वेदवाक्य होनेसे, धर्म-

धर्मवाक्यवदिति चेद् , न; अनुभवायोग्यविषयत्वोपाधिहतत्वात् । नह्यनुष्ठानसाध्यो धर्मोऽनुष्ठानात्पूर्वं वाक्यबोधावसरेऽनुभवितुं योग्यः । अनुष्ठानं तु विनाऽप्यनुभवं शाब्दज्ञानमात्रादेव सिध्यतीत्यनपेक्षित एव धर्मानुभवः ।

नन्वनुभवयोग्यत्वानुभवसापेक्षत्वाभ्यां विना ब्रह्मणो धर्मेण सह वैषम्यान्तरं नाऽस्ति प्रत्युत वेदप्रमेयत्वं सममेव । ततोऽनुभवकृतवैषम्यमपि मा भूदिति चेद् , न; धर्मब्रह्मणोः कर्तव्यसिद्धयोः पुरुषाधीनत्वानधीनत्वादिभूयोवैषम्यसंभवात् । लोके तावद्देवदत्तोऽश्वेन गच्छति न च गच्छति पद्भ्यां वा गच्छतीति कर्त्तव्यस्य गमनस्य करणाकरणान्यथाकरणेषु पुरुषाधीनत्वं दृश्यते । तथा वेदेऽपि 'अतिरात्रे

प्रतिपादक वेदवाक्योंके समान' । [इस अनुमानसे अनुभवकी अपेक्षाका निराकरण हो जाता है] ।

समाधान—उक्त अनुमान अनुभवायोग्यविषयत्वरूप उपाधिसे दूषित है, [उपाधिमें साधनाव्यापकत्वका समन्वय करते हैं—] अनुष्ठानसे होनेवाला धर्म अनुष्ठानसे पहले वाक्यार्थके बोधकालमें अनुभवके लिए योग्य नहीं है। और अनुष्ठान तो अनुभवके बिना केवल शाब्दबोधसे भी सिद्ध हो सकता है, इसलिए धर्मका अनुभव (धर्मजिज्ञासामें) अपेक्षित ही नहीं है ।

शङ्का—अनुभवके योग्य होना और अनुभवकी अपेक्षा रखना—इन दोनोंसे अतिरिक्त ब्रह्म तथा धर्ममें कोई वैषम्य नहीं है, बल्कि वेदप्रमेयत्व—वेदका तात्पर्यार्थ होना—दोनोंमें समान ही है । अतः उनमें अनुभव द्वारा की गई विषमता भी नहीं होनी चाहिए ।

समाधान—कर्तव्य (क्रियासे उत्पाद्य) तथा सिद्ध (अनुत्पाद्य) स्वरूप धर्म तथा ब्रह्ममें क्रमशः पुरुषके अधीन और पुरुषके अधीन न होना रूप बड़ी विषमता विद्यमान है । [पुरुषाधीनत्वादिका स्पष्टीकरण करते हैं—] लोकमें देखा जाता है कि देवदत्त घोड़ेकी सवारीसे जाता है या नहीं जाता है अथवा पैदल ही यात्रा करता है, इस प्रकार कर्तव्यरूप गमनका करना, न करना या दूसरे ही प्रकारसे करना आदिमें पुरुष स्वाधीन देखा जाता है एवं वेदमें 'अतिरात्रमें

षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति करणाकरणे श्रूयेते। 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति' इति करणान्यथाकरणे। 'ज्योतिष्टोमेन यजेत', 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इति विधिप्रतिषेधौ। 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इतीच्छाविकल्पः। षड्यागानां समुच्चयः। 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि', 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्युत्सर्गापवादौ। प्रकृतेरतिदिष्टानां कुशमयबर्हिषां विकृतावुपदिष्टशरमयबर्हिर्भिर्बाधः। प्रकृतानां नारिष्टहोमानां वैकृतैः उपहोमैः समुच्चित्याऽनुष्ठानमभ्युच्चयः। 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति' इति शाखाभेदेन व्यवस्थितविकल्पः। न चैवं सिद्धे ब्रह्मणि पुरुषाधीनत्व-विधिप्रतिषेधेच्छाविकल्पसमुच्चयोत्सर्गापवादबाधाभ्युच्चयव्यवस्थितविकल्पादयः संभवेयुः। सिद्धवस्तुन्यपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विकल्पोऽस्तीति चेत्, नः पुरुषेच्छाधीनत्वेनाऽवस्तुतन्त्रस्य तस्याऽसम्यक्त्वात्। 'योषा

षोडशीका ग्रहण करे अथवा अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण न करे' इस प्रकार करने या न करनेका प्रतिपादन किया गया है। और 'उदय होनेपर हवन करे अथवा उदय होनेसे पूर्व ही हवन करे' इस प्रकार करना तथा अन्यथा करना कहा गया है। 'ज्योतिष्टोम याग करे', 'कलञ्जका भक्षण न करे' ऐसा विधान और निषेध है। 'व्रीहिसे याग करे अथवा यवसे' इस प्रकार इच्छाका विकल्प कहा है। छः यागोंका समुच्चय दिखलाया हैं। 'किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे', 'अग्नि और सोम देवताके उद्देश्यसे पशुका बलिदान करे' इस प्रकार उत्सर्ग—सामान्यशास्त्र—तथा अपवाद—बाधशास्त्र—दिखलाये गये हैं। प्रकृति यागमें अतिदेशसे प्राप्त कुशमय बर्हियोंका विकृति यागमें उपदेशसे प्राप्त शरमय बर्हियोंसे बाध होता है। प्रकृत नारिष्टोम होमोंका वैकृत उपहोमोंसे समुच्चय करके अनुष्ठान करना अभ्युच्चय है। 'उदय होनेपर हवन करे अथवा उदय होनेसे पूर्व ही हवन करे' ऐसा शाखाभेदसे व्यवस्थित—नियत—विकल्प कहा गया है। परन्तु उक्त रीतिसे सिद्धवस्तुभूत ब्रह्ममें पुरुषकी स्वाधीनता, विधि या निषेध, इच्छाविकल्प, समुच्चय, उत्सर्ग, अपवाद, बाध, अभ्युच्चय, व्यवस्थितविकल्प आदिका किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

शङ्का—सिद्धस्वरूप वस्तुमें भी 'स्थाणु है या पुरुष है' इस प्रकार विकल्प होता ही है।

समाधान—पुरुषकी इच्छाके अधीन होनेसे अवस्तुके द्वारा उत्पन्न हुआ

वाव गोतमाग्निः' इत्यादौ पुरुषेच्छाधीनमवस्तुतन्त्रमेव ध्यानमागमिकं सम्यगुपलभ्यत इति चेद् , नः तस्य कर्त्तव्यगोचरत्वात् । अथाऽपि सिद्धवस्तुनः सम्यग्ज्ञानाधीनत्वात् सम्यग्ज्ञानस्य च प्रमातृपुरुषेच्छाधीनत्वाद्वस्त्वपि पुरुषाधीनं भविष्यतीति चेत् , नः सत्यामपि पुरुषेच्छायामिदं रजतमित्यत्र वस्त्वभावे सम्यग्ज्ञानादर्शनात् । तस्मात्सिद्धगोचरसम्यग्ज्ञानस्य वस्त्वेव प्रधानं प्रयोजकम् । तत्रैवं सति सिद्धगोचरं ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेवेति न ज्ञानद्वाराऽपि ब्रह्मणः पुरुषाधीनत्वम् । अतो धर्मादत्यन्तं विलक्षणस्य सिद्धस्य ब्रह्मणो युक्ता युक्त्यनुभवापेक्षा ।

ननु ब्रह्मणः सिद्धवस्तुत्वेन घटादिवन्मानान्तरगोचरत्वाज्जन्मा-

---

वह विकल्प उचित ज्ञान नहीं है अर्थात् भ्रम है । यदि शङ्का हो कि 'हे गोतम ! स्त्रीको अग्नि समझो' इत्यादि पुरुषेच्छाधीन अवस्तुतन्त्र ध्यानका ही आगमसे प्रतिपादन किया गया है और वह उचित—प्रमाण—भी माना गया है' तो, यह शङ्का भी उचित नहीं है, कारण कि वह आगमप्रतिपादित ध्यान कर्तव्यका विषय है ।

शङ्का—सिद्धस्वरूप वस्तु भी प्रमाणभूत ज्ञानके अधीन है और प्रामाणिक ज्ञान प्रमाता पुरुषकी इच्छाके अधीन है, इसलिए सिद्ध वस्तुको भी पुरुषके अधीन मान लिया जायगा ।

समाधान—पुरुषकी इच्छाके रहनेपर भी 'यह रजत है' इस स्थलमें रजतरूप वस्तुके न होनेसे सम्यक्—प्रमाणभूत—ज्ञान नहीं देखा जाता है । [अर्थात् शुक्तिमें 'यह रजत है' इस ज्ञानको प्रामाणिक ज्ञान नहीं कहते, बल्कि भ्रम कहते हैं ।] इसलिए सिद्धवस्तुविषयक प्रामाणिक ज्ञानमें प्रधान प्रयोजक वस्तु ही है । इस सिद्धान्तके स्थिर होनेपर सिद्धवस्तुविषयक ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके ही अधीन है । [अर्थात् वस्तु उसका भी प्रधान प्रयोजक है,] इसलिए ज्ञानके द्वारा भी ब्रह्मरूप वस्तु पुरुषके अधीन नहीं है । इससे धर्मकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न सिद्धभूत ब्रह्ममें [ब्रह्मसाक्षात्कारमें] युक्ति और अनुभवकी अपेक्षा कहना उचित ही है ।

शङ्का—यदि ब्रह्म सिद्ध वस्तु है; तो घट आदि सिद्ध वस्तुके समान वह

दिसूत्रमनुमानोपन्यासार्थमेवाऽस्त्विति चेद्, मैवम्; न तावद् ब्रह्म वेदान्तानभिज्ञप्रत्यक्षगम्यम्, रूपादिहीनत्वात्। अनुमानमपि किं यत्कार्यं तत्सकारणमिति सामान्यव्याप्तिकम् उत यत्कार्यं तद् ब्रह्मकारणकमिति विशेषव्याप्तिकम्? नाऽऽद्यः, तावता ब्रह्मासिद्धेः। द्वितीयेऽपि ब्रह्मण इन्द्रियविषयत्वेऽनुमानवैयर्थ्यं तदविषयत्वे व्याप्तिग्रहासिद्धिः।

नन्वेवं सत्यनुमानच्छायोपजीवियुक्तीनामपि ब्रह्म गोचरो न स्यात्, सत्यमेवं तथापि शब्दावगम्ये ब्रह्मणि संभावनाबुद्धिहेतवो युक्तयः। तथाहि—मृदादिदृष्टान्तैरुपादानव्यतिरेकेण कार्यस्याऽनिरूपणादद्वितीयता संभाव्यते। स्फटिकलौहित्यदृष्टान्तेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वादेरारो-

---

अन्यान्य प्रमाणोंका भी विषय होगा, इस परिस्थितिमें 'जन्मादि' सूत्र अनुमानका उल्लेख करनेके लिए ही है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय?

समाधान—सबसे प्रथम तो यही है कि ब्रह्म वेदान्तवाक्योंसे अनभिज्ञ पुरुषके प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता; कारण कि उस ब्रह्ममें प्रत्यक्षके प्रयोजक रूप आदि नहीं हैं। दूसरा अनुमान रहा, उसे भी क्या 'जो कार्य है उसका कारण अवश्य होता है' इत्याकारक सामान्य-व्याप्ति-घटित मानते हो? अथवा 'जो कार्य है, उसका कारण ब्रह्म है' इस प्रकार विशेष-व्याप्तिघटित मानते हो? प्रथम कल्प साधक नहीं हो सकता, कारण कि उक्त सामान्य-व्याप्तिसे विशेष ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरा कल्प माननेमें यदि ब्रह्मको (घटादिके तुल्य) इन्द्रियोंका विषय मानोगे, तो अनुमान करना ही निष्प्रयोजन होगा; यदि इन्द्रियोंका विषय न मानोगे, तो विशेष-व्याप्तिका ज्ञान ही नहीं बन सकता।

शङ्का—उक्त रीतिके अनुसार तो अनुमानकी छायाका (व्याप्त्याभासका) आश्रयण करनेवाली युक्तियोंका भी विषय ब्रह्म नहीं हो सकता।

समाधान—ठीक है, तथापि शब्द—वेदान्तवाक्यों—द्वारा जानने योग्य ब्रह्मके विषयमें युक्तियाँ सम्भावनाबुद्धिको उत्पन्न करती हैं। जैसे कि मिट्टी आदि दृष्टान्तों द्वारा उपादान कारणसे अतिरिक्त कार्यको माननेका खण्डन किया जाता है, इसलिए (कार्य-कारणमें) अद्वितीयता—दूसरेका न होना—अर्थात् अभेदकी ही सम्भावना हो जाती है। और स्फटिक-

पितत्वम् , प्रतिविम्बदृष्टान्तेन जीवब्रह्मैक्यम् , रज्जुसर्पदृष्टान्तेन ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चस्य स्वातन्त्र्याभावः, घटाकाशदृष्टान्तेनाऽसङ्गताद्वारेण विशुद्धाद्वितीयप्रत्यगात्मता, तप्तपरशुदृष्टान्तेन जीवब्रह्मैक्यसत्यता। तथा च विधिप्रतिषेधवाक्ययोः प्रवर्त्तकत्वनिवर्त्तकत्वाकाङ्क्षितस्तुतिनिन्दार्थवादवत् स्वरूपवाक्यस्य फलपर्यन्ततापेक्षितसंभावनार्थवादतां श्रुतियुक्तयः प्रतिपद्यन्ते। अन्यथा निरर्थकास्ताः स्युः। तस्मादुपकारकयुक्तिसूचनापूर्वकं वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थमेव सूत्रम् ।

ननु सर्वत्र वेदवाक्ये ब्रह्मपदस्याऽप्रसिद्धार्थत्वान्न तत्पदं स्वार्थं

गत लौहित्यके दृष्टान्तसे आत्मामें कर्तृत्व आदि आरोपित प्रतीत होते हैं, प्रतिविम्बदृष्टान्तसे जीव और ब्रह्मकी एकता दिखलाई जाती है, रज्जुसर्पको दृष्टान्त बनाकर अधिष्ठानभूत ब्रह्मसे अतिरिक्त प्रपञ्चकी स्वतन्त्रताका निराकरण किया जाता है, घटाकाशके दृष्टान्तसे सङ्गराहित्य दिखलाकर विशुद्ध और अद्वितीय प्रत्यगात्माका प्रतिपादन किया जाता है एवं तप्त कुठारके दृष्टान्तसे जीव और ब्रह्मकी एकताका सत्यत्व दिखलाया जाता है। इस प्रकार विधि तथा निषेध वाक्योंमें प्रवृत्त कराने तथा निवृत्त कराने में अपेक्षित स्तुति तथा निन्दारूप अर्थवादके समान स्वरूपवाक्य—सिद्धवस्तुके स्वरूपके प्रतिपादक वेदान्तवाक्य—की फलपर्यन्ततामें अपेक्षित सम्भावनारूप अर्थवादताको श्रुतिमें युक्त युक्तियां प्राप्त हो जाती हैं [विधिवाक्यके श्रवणके बाद अधिकारीको आशङ्का होती है कि इस विधानका फल क्या है ? उस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए तथा अधिकारीकी प्रवृत्तिके लिए जैसे विधिवाक्यका प्रशंसात्मक अर्थवाद है, वैसे ही निषेध्यके पालनमें उत्सुकताको उत्पन्न करनेके लिए निषेध्यका निन्दास्वरूप अर्थवाद है। ठीक इसी प्रकार सिद्ध वस्तुके प्रतिपादक वेदान्तवाक्योंकी सार्थकताके लिए तथा सिद्ध वस्तुमें सम्भावनाबुद्धिको उत्पन्न करानेके लिए श्रुतिकथित युक्तियां भी सम्भावनारूप अर्थवाद हैं]। यदि ऐसा न माना जाय, तो वे श्रुति-युक्तियां व्यर्थ हो जायँगी। इसलिए [सम्भावनाबुद्धिको उत्पन्न करानेके लिए] उपकारक युक्तिकी सूचना करता हुआ उक्त सूत्र वेदान्तवाक्योंको दिखलानेके लिए ही है।

शङ्का—सर्वत्र वेदवाक्यमें ब्रह्मशब्दका अप्रसिद्ध अर्थ होनेसे वह

विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा वाक्यार्थे समर्पयितुमलम् । ततः किं तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रे लिलक्षयिषितमिति । उच्यते—सत्यज्ञानानन्तानन्दप्रत्यगात्मस्वरूपस्य ब्रह्मपदार्थस्याऽप्रसिद्धावपि ब्रह्मत्वमात्रस्य बृहत्यर्थरूपस्य प्रसिद्धत्वात्तदनुवादेन सत्यादिपदार्थपरस्परान्वयसामर्थ्याद्विशिष्टं ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यत इति लक्षणरूपेण ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरं सत्यादिवाक्यम् । न च प्रमाणान्तरसिद्धस्य लक्षणत्वात्सत्यादीनामपि लक्षणत्वे तद्वाक्यस्य प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थानुवादकत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, अर्थाल्लक्षणत्वेऽपि मानान्तरानवगतब्रह्मबोधकत्वेन साक्षात्प्रमाणरूपत्वात् । वाक्यं तु 'यस्मादाकाशः संभूतः स आत्मा' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्येवं स्वाध्यायपाठक्रममुल्लङ्घ्य योजनीयम्, प्रसिद्धस्य कारणत्वस्याऽ-

---

(ब्रह्मपद) अपने अर्थको प्रधान या अप्रधानरूपसे वाक्यार्थमें नहीं उपस्थित करा सकता । ऐसी परिस्थितिमें कहिए कि वह कौन वेदान्तवाक्य है ? जिसका सूत्रमें उल्लेख कराना अभीष्ट है ।

समाधान—यद्यपि ब्रह्मपदका सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द तथा प्रत्यगात्मा रूप अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, तथापि 'बृह' धातुका केवल ब्रह्मत्वमात्र अर्थ प्रसिद्ध है, अतः उस प्रसिद्ध अर्थका अनुवाद करके सत्य आदि पदार्थोंके परस्पर अन्वयकी सामर्थ्यसे विशिष्ट ब्रह्म जाना जा सकता है, इसलिए लक्षणके रूपसे ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला सत्यादि वाक्य है ।

शङ्का—प्रमाणान्तरसे सिद्ध पदार्थ ही लक्षण होता है, इसलिए यदि सत्य आदिको लक्षण मानेंगे, तो उनका बोधक सत्यादिवाक्य ('सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य) प्रमाणान्तरसे प्रसिद्ध अर्थका अनुवादक हो जायगा ।

समाधान—सत्यादिमें अर्थतः लक्षणत्वके सिद्ध होनेपर भी उसका वाक्य प्रमाणान्तरसे न जाने गये ब्रह्मका बोधक होनेसे साक्षात् प्रमाण माना जाता है, [अनुवादक नहीं । सत्यादि ब्रह्मलक्षण है, यह तो अर्थात् सिद्ध होता है ।] वाक्यका स्वरूप तो 'यस्मात्' इत्यादि अर्थात् जिससे आकाश उत्पन्न हुआ, वह आत्मा सत्य, ज्ञान और अनन्त—परिच्छेदरहित—ब्रह्म है' इस प्रकार स्वाध्यायपाठके क्रमको बदलकर पूरा करना चाहिए, कारण कि प्रसिद्ध कारणका ही अनुवाद होता है । न्याय है कि 'प्रसिद्धका अनुवाद

नुवाद्यत्वात् ; प्रसिद्धमनूद्याऽप्रसिद्धं प्रतिपाद्यत इति न्यायात्। अन्यान्यप्युपनिषद्वाक्यान्येवं ब्रह्मप्रतिपाकत्वेन योजनीयानि । तत्रैवं सति 'भृगुर्वै वारुणिः' इत्यारभ्य 'तद् ब्रह्म' इत्येतदन्तं वाक्यं सूत्रद्वयस्योदाहरणम् । तत्राऽपि 'भृगुः' इत्यादि 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्येतच्च प्रथमसूत्रस्य। तत्सूत्रप्रतिपाद्ययोरधिकारनिर्णयज्ञानकर्त्तव्यतयोस्तस्मिन्नुदाहरणेऽनुगमात् । 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्येतद्विहाय 'यतो वा' इत्यादि 'तद् ब्रह्म' इत्यन्तं वाक्यं द्वितीयसूत्रोदाहरणम् , तयोः सूत्रवाक्ययोरर्थैक्यानुगमात् ।

ननु जगत्कारणे नानात्वस्याऽपि प्रतीतिरस्ति, यत इति तसिल्प्रत्ययस्य बहुत्वैकत्वयोः स्मरणात्। तथा च तदनुवादेन कथमद्वितीयं ब्रह्माऽत्र प्रतिपादनीयमिति। उच्यते—'येन जातानि' इति वाक्यशेषादेकत्वविषय एव तसिल्प्रत्ययो निर्द्धार्यते। स च प्रत्ययः कारणैकत्वं प्रमापयति।

करके अप्रसिद्धका प्रतिपादन किया जाता है।' दूसरे उपनिषद्वाक्योंकी भी इसी रीतिसे योजना करनी चाहिए [क्योंकि वे भी ब्रह्मके प्रतिपादक हैं।] इस निर्णयके आधारपर 'वरुणका अपत्य भृगु—' इत्याद्यर्थक वाक्यसे आरम्भ कर 'वह ब्रह्म है' यहांतकके उपनिषद्वाक्य दो सूत्रोंके उदाहरण हैं। उनमें भी 'भृगु—' इत्यादि और 'उसका विचार करो' यह वाक्य प्रथम सूत्रका उदाहरण है, कारण कि उस सूत्रके प्रतिपादनीय विषयोंका—अधिकारका निर्णय तथा ज्ञानकी कर्तव्यता, इन दोनोंका—उस उदाहरणमें अनुगम होता है। 'उस ब्रह्मका विचार करना चाहिए' इसको छोड़कर 'यतो वा—' जिससे—इत्यादि वाक्यसे प्रारम्भ कर 'वह ब्रह्म है' इस वाक्य तक दूसरे जन्मादि सूत्रका उदाहरण है, कारण कि उन वाक्योंमें और सूत्रके अर्थमें एकता—समानता—का अनुगम है।

शङ्का—जगत्के कारणभूत पदार्थका नाना होना भी प्रतीत होता है, क्योंकि 'यतः' इस पदमें 'तसिल्' प्रत्ययका बहुत्व और एकत्व दोनों अर्थोंमें समानरूपसे व्याकरण द्वारा विधान होता है, इसलिए उसके (बहुत्वके) अनुवादसे 'यतः' पदसे अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करना कैसे कहा जायगा ?

समाधान—आपके पर्यनुयोगका उत्तर कहा जाता है—'जिससे उत्पन्न हुए—' इस वाक्यशेषसे एकत्वरूप अर्थमें ही 'यतः' पदके 'तसिल्' प्रत्ययका

यद्यपि यत इत्यत्र प्रातिपदिकार्थस्य जगत्कारणमात्रस्याऽनुमानतोऽपि सिद्धेरनुवाद्यत्वं तथापि प्रत्ययार्थस्यैकत्वस्य मानान्तरासिद्धेः प्रत्ययस्य प्रमापकत्वमविरुद्धम् ।

ननु किमेकत्वमत्र लक्षणं किं वा लक्ष्यम् उताऽन्यत् किंचित् ? आद्ये कारणत्वमेकत्वं चेति लक्षणद्वयं ब्रह्मणो व्यर्थं स्यात् । द्वितीयतृतीययोस्तु वाक्यभेदप्रसङ्गः, एकत्वब्रह्माख्ययोर्द्वयोः प्रतिपाद्यत्वादिति चेद्, मैवम्; आद्ये कारणत्वं तटस्थलक्षणमेकत्वं स्वरूपलक्षणं चेत्युभयोः सार्थकत्वम् । द्वितीये कारणमनूद्यैकत्वविशिष्टं ब्रह्म विधीयत इति न वाक्यभेदः । तृतीये तु यत्कारणं तदेकमिति प्रथमं कारणमनूद्यैकत्वं विधाय

तात्पर्य निर्णीत होता है । [यद्यपि 'तसिल्' प्रत्ययका एकत्व और बहुत्व दोनों अर्थोंमें सामान्यरूपसे प्रयोग होता है; तथापि प्रकृतमें अग्रिम 'येन' इस एक-वचनसे 'तसिल्'को एकत्व अर्थमें ही मानना उचित है] । वह एकत्व अर्थमें आया हुआ 'तसिल्' प्रत्यय कारणकी एकताका निश्चय कराता है । यद्यपि 'यतः' इस पदके 'यत्' प्रातिपदिकका केवल जगत्कारणरूप जो अर्थ है, वह अनुमानसे भी सिद्ध हो सकता है; इसलिए उसका 'यत्' प्रातिपदिकसे अनुवाद ही प्राप्त होता है; तथापि प्रत्ययका एकत्वरूप अर्थ दूसरे प्रमाणसे सिद्ध नहीं है; अतः प्रत्ययको उस अर्थकी प्रमाका जनक मानना विरुद्ध नहीं है ।

शङ्का—एकत्व यहाँ लक्षण है ? या लक्ष्य है ? अथवा लक्ष्य और लक्षणसे भिन्न और कुछ है ? प्रथम कल्पमें कारणत्व और एकत्व इस प्रकार ब्रह्मके दो लक्षण व्यर्थ होंगे । दूसरे और तीसरे कल्पमें तो वाक्यभेदका प्रसङ्ग होगा, कारण कि एकत्व तथा ब्रह्म—इन दो लक्ष्योंका उसमें प्रतिपादन करना होगा ।

समाधान—उक्त दोष नहीं है, कारण कि प्रथम पक्ष माननेमें कारणत्व तटस्थ लक्षण होगा और एकत्व स्वरूप लक्षण होगा, इसलिए दोनों लक्षणोंकी सार्थकता सिद्ध होती है । दूसरे पक्षमें कारणका अनुवाद करके एकत्वविशिष्ट ब्रह्मका विधान किया जाता है, अतः उसमें वाक्यभेद होनेका प्रसङ्ग नहीं आ सकता । तीसरे पक्षमें तो जो कारण है, वह एक है, इस प्रकार पहले कारणका अनुवाद करके एकत्वका विधान करनेके अनन्तर जो एक कारण है; वह ब्रह्म है,

पश्चाद्यदेकं कारणं तद् ब्रह्मेति कारणमेकत्वसहितमनूद्य ब्रह्मत्वं बोध्यत इति वाक्यैकवाक्यत्वान्न वाक्यभेदः। तथा च सर्वजगत्कारणस्यैकत्वे सृज्यगोचरज्ञानशक्ती विहाय स्रष्टृत्वासंभवात्सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वे अप्यस्मिन्नेव वाक्ये कारणस्याऽर्थात्सिद्ध्यतः ।

ननु 'यो गोसदृशः स गवयशब्दवाच्यः' इतिवद्यदेकं कारणं तद् ब्रह्मशब्दवाच्यमिति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धपरं वाक्यं प्रतिभाति। तथा सति बृहत्यर्थरूपवस्तु प्रतिपादकं न स्यादिति चेद्, नः 'तद्विजिज्ञासस्व' इति जिज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञाय कीदृशं तदित्याकाङ्क्षायां तद् बृहत्यर्थरूपमिति स्वरूपप्रतिपादनात्। संज्ञासंज्ञिसंबन्धस्त्वार्थिको भविष्यति। एवं च सत्येकं सर्वज्ञं सर्वशक्तिकं सर्वतोऽनवच्छिन्नं च जगत्कारणं तच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति वाक्यार्थः संपद्यते ।

इस रीतिसे एकत्वविशिष्ट कारणका अनुवाद करके ब्रह्मत्वका प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए वाक्यैकवाक्यतान्यायसे वाक्यभेद नहीं आता । इस रीतिसे जगत्के कारणमें एकत्वके सिद्ध होनेपर सृज्यमान जगत्के ज्ञान और शक्तिके बिना कर्ता द्वारा उसकी रचना असम्भव है, इसलिए कारणकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता भी इसी वाक्यमें सिद्ध होती हैं ।

शङ्का—'जो गऊके सदृश आकारवाला है, वह गवयपदका अर्थ है' इसके समान जो एक कारण है, वह ब्रह्मशब्दका वाच्य (अर्थ) है; ऐसा संज्ञासंज्ञिसम्बन्धमें वाक्यका तात्पर्य प्रतीत होता है। परन्तु संज्ञासंज्ञिभावमें उसका तात्पर्य माना जाय, तो 'बृह' धातुके अर्थभूत वस्तुका प्रतिपादक वह वाक्य नहीं होगा ।

समाधान—'उसका विचार करना चाहिए' इस वाक्यसे ब्रह्म जिज्ञासाका विषय है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, अनन्तर 'वह कैसा है' ऐसी आकांक्षा होनेपर वह 'बृह' धात्वर्थरूप है, इस प्रकार स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है। संज्ञासंज्ञिभावरूप सम्बन्ध तो अर्थात् सिद्ध हो जायगा। इस निर्णयके अनुसार जो एक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् और किसी प्रकारसे भी अवच्छिन्न न होकर संसारका कारण है; वह ब्रह्मशब्दका वाच्य अर्थ है, ऐसा वाक्यार्थ सम्पन्न होता है ।

ननु निरुपाधिकस्वरूपकथनमन्तरेण सोपाधिकतासर्वज्ञत्वादयो धर्मा न प्रतीयन्ते, यतो यत्सुषिरं तदाकाशं प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इतिवत् स्वरूपलक्षणमेव श्रुत्या किंचिद्वक्तव्यम्। ब्रह्मशब्दाभिधेयमेव स्वरूपलक्षणमिति चेद्, नः बृहत्त्वधर्ममात्राभिधानात्। यथा महान् घट इत्युक्ते महत्त्वस्य निरुपाधिः घटो धर्मितया प्रतीयते तथेहाऽपि वक्तव्यम्। सच्छब्दाभिधेयं लक्षणमिति चेद्, नः महासामान्यमात्राभिधानात्। यथा सन्नित्युक्ते घट इत्यवान्तरसामान्यव्यक्तिरपर्यवसानत्वेन महासामान्येनाऽपेक्ष्यते तथेहाप्यवान्तरसामान्यव्यक्तिर्वक्तव्या। ज्ञानमेव बृहत्त्वसर्वज्ञत्वादिधर्मवत्तया निरुपाधिब्रह्मस्वरूपलक्षणमिति चेद्, नः वेदान्तिमते विज्ञानत्वस्य सुखदुःखरागद्वेषापेक्षया महासामान्यरूपत्वेन तत्राऽप्यवान्तरसामान्याधारव्य-

---

शङ्का—उपाधिशून्य स्वरूपके कथनके बिना उपाधिविशिष्टत्व तथा सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंकी प्रतीति नहीं हो सकती, कारण कि जो छिद्ररूप है, वह आकाश है, अधिक प्रकाशवाला चन्द्रमा है, इत्यादि वाक्योंके सदृश किसी स्वरूप लक्षणका ही श्रुतिके द्वारा प्रतिपादन होना चाहिए। केवल ब्रह्मशब्दके वाच्य अर्थको स्वरूप लक्षण नहीं मान सकते; क्योंकि ब्रह्मशब्दसे तो केवल बृहत्त्वधर्म वाच्यवृत्तिसे कहा जाता है। जैसे 'बड़ा घड़ा' ऐसा कहनेसे महत्त्वधर्मका उपाधिशून्य घड़ा ही धर्मीरूपसे प्रतीत होता है; वैसे ही प्रकृतमें भी बृहत्त्वधर्मशाली किसी निरुपाधि विशेष्यकी प्रतीति होती है, ऐसा कहना होगा। 'सत्' पदार्थको भी स्वरूप लक्षण नहीं मान सकते, कारण कि सत्शब्द भी महासामान्य—सत्ता जाति—मात्रका अभिधान करता है। [निरुपाधि धर्मीका नहीं।] जैसे 'सत्' इतना ही कहनेपर महासामान्यका (धर्मीके बिना) पर्यवसान नहीं हो सकता, इसलिए घट आदि महासामान्यके अवान्तर सामान्यवाली व्यक्ति अपेक्षित होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी अवान्तर सामान्य व्यक्ति अपेक्षित होती है, ऐसा कहना होगा। बृहत्त्व, सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण ज्ञान ही निरुपाधि ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है, ऐसा नहीं मान सकते, कारण कि वेदान्तीके मतमें सुख, दुःख, राग और द्वेषकी अपेक्षा ज्ञानत्व महासामान्य माना जाता है, इसलिए ज्ञानत्वमें भी अवान्तर सामान्यके आश्रयभूत धर्मीकी आकाङ्क्षा निवृत्त नहीं होती है। [इसलिए किसी निरुपाधिको स्वरूप लक्षण कहना आवश्यक ही है]।

त्त्यपेक्षाया अनिर्वचनादिति। अत्रोच्यते—'आनन्दाद्ध्येव खलु' इति श्रुत्याऽऽनन्द एव निरुपाधिब्रह्मरूपमिति निर्णीयते। श्रुत्यन्तरं च 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति सुखस्यैव ब्रह्मधर्मत्वमाह। एवं तर्हि 'विज्ञानमानन्दम्' इति सामानाधिकरण्याद्विज्ञानं निरुपाधिकं ब्रह्मगुणः स्यादिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किं विज्ञानानन्दयोः सामानाधिकरण्यं नीलोत्पलवद् गुणगुणिभावविवक्षया किं वा द्रव्यं घट इतिवत्परापरसामान्यभावविवक्षया ? नाऽऽद्यः, 'केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतेः। गुणस्य गुणिना भेदाभेदयोरनिरूपणादुपपन्नं निर्गुणत्वम्।

अत्र भेदाभेदवादी न निर्गुणं द्रव्यमस्तीति जल्पति। मा भून्निर्गुणं द्रव्यम्, ब्रह्म तु न द्रव्यम्, प्रमाणाभावात्। समवायिकारणत्वाद्

समाधान—इस आक्षेपके उत्तरमें कहा जाता है—'आनन्दसे ही निश्चय' इत्याद्यर्थक श्रुतिके बलसे 'आनन्द ही ब्रह्मका निरुपाधि स्वरूप है' ऐसा निर्णय किया जाता है। दूसरी श्रुति भी 'जो महान्—बृहत्—है, वह सुख—आनन्द—स्वरूप है, इस प्रकार सुख—आनन्द—को ही ब्रह्मका धर्म कहती है।

शङ्का—ऐसा माननेसे तो 'विज्ञान, आनन्द' इस प्रकार एक विभक्त्यन्त होनेसे विज्ञान ही ब्रह्मका निरुपाधिक गुण माना जायगा।

समाधान—तब इस आशङ्काका उत्तर देते हुए हम प्रश्न करेंगे कि विज्ञान और आनन्दमें सामानाधिकरण्य—एक विभक्तिका होना—क्या 'नीला कमल' इस वाक्यके समान गुणगुणिभावकी विवक्षासे है ? अथवा 'द्रव्य घट है' इस वाक्यके समान परापरसामान्यभावकी—सामान्यविशेषभावकी—[द्रव्य यह द्रव्यत्वरूप परसामान्यका बोध कराता है, वह सामान्य हुआ और 'घट' यह घटत्वरूप अवान्तर सामान्यका बोध कराता है, अतः वह विशेष सामान्य हुआ] विवक्षासे है ? इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि श्रुति कहती है कि वह 'केवल और गुणशून्य है'। गुणका गुणीके साथ भेद और अभेदका निरूपण न हो सकनेसे गुण और गुणीमें न तो भेदका और न अभेदका ही निरूपण किया जा सकता है, अतः ब्रह्मका निर्गुण होना युक्तियुक्त है।

इस विषयपर भेदाभेदवादी भास्कर कहता है कि गुणशून्य द्रव्य होता ही नहीं है। इसपर हमारा यह कहना है कि द्रव्य गुणशून्य न होता हो, तो मत हो,

द्रव्यमिति चेद्, न; आरम्भवादानभ्युपगमात् । उपादानकारणत्वात् द्रव्यमिति चेद्, न; गुणादीनामपि स्वगतज्ञेयत्ववाच्यत्वादिधर्मोपादानत्वात् । गुणो नाम धर्मः, तथा च न निर्धर्मकः पदार्थोऽस्तीति चेद्, न; कस्यचिद्धर्मस्यैव निर्धर्मकताया अङ्गीकार्यत्वात् । अन्यथाऽनवस्थापत्तेः । तस्मान्न निर्गुणं ब्रह्मेति वचनं दर्शनप्रद्वेषमात्रम् । द्वितीयपक्षोऽङ्गीकृत एव । विज्ञानं सामान्यपरं तद्विशेष आनन्दः, स एव हि ब्रह्म । न च सर्वज्ञत्वाद्वितीयत्वादिधर्मैः सद्वितीयत्वम्, प्रपञ्चोपाधिकतया तेषामनिर्वचनीयत्वात् । विज्ञानसामान्यमपि दुःखरागाद्युपाधिकत्वादनिर्वचनीयमेव । तादृशसामान्याधारे विज्ञानप्रयुक्तार्थक्रियाकारिण्यानन्दे विज्ञानव्यवहारोऽप्युपपन्न एव ।

परन्तु ब्रह्म तो द्रव्य नहीं है, कारण कि उसके (ब्रह्मके) द्रव्य माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि ब्रह्म समवायिकारण है, इसलिए द्रव्य है, [क्योंकि द्रव्यसे इतर समवायिकारण कोई हो ही नहीं सकता] तो ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि हम आरम्भवादका स्वीकार नहीं करते हैं। [यह नैयायिक मत है कि परमाणुद्वयसंयोग द्व्यणुकके आरम्भ द्वारा परम्परासे जगत्का आरम्भक है]। उपादान कारण होनेसे भी ब्रह्मको द्रव्य नहीं मान सकते, क्योंकि गुणादि भी अपने ज्ञेयत्व, वाच्यत्व आदि धर्मोंके प्रति उपादान कारण माने ही जाते हैं, [पर वे द्रव्य नहीं कहलाते]। गुण धर्मको कहते हैं, इसलिए धर्मशून्य कोई पदार्थ ही नहीं है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, कारण कि किसी धर्मको निर्धर्मक अङ्गीकार करना ही होगा, अन्यथा अनवस्था होगी। इसलिए निर्गुण ब्रह्म नहीं है, यह कहना एक दर्शनके ऊपर द्वेषका ही प्रदर्शन करना है। उपादानकारण होनेसे द्रव्य है, ऐसा दूसरा पक्ष तो हम मानते ही हैं। विज्ञान सामान्यपरक है, उसका विशेष है—आनन्द, वही ब्रह्म है। सर्वज्ञत्व, अद्वितीयत्व आदि धर्मोंके द्वारा द्वितीयसहित होना भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रपञ्चोपाधिक—प्रपञ्चरूप उपाधि द्वारा प्राप्त—सर्वज्ञत्व आदि सब अनिर्वचनीय (मिथ्या) हैं। विज्ञानसामान्य भी दुःख, राग आदि उपाधिसे युक्त होनेके कारण अनिर्वचनीय ही है। इससे अनिर्वचनीय विज्ञानत्वसामान्यके आधारभूत और विज्ञानप्रयुक्त

ननु यथा कल्पितरजतत्वाधारभूतायां शुक्तावमुख्यो रजतव्यवहारस्तथाऽऽनन्दे विज्ञानव्यवहारः स्यादिति चेद्, न; तद्वदत्र पारमार्थिकसामान्यान्तराभावेन वैषम्यात् । तदेवं विज्ञानस्वभाव आनन्दो ब्रह्मेति स्वरूपलक्षणस्य श्रौतत्वादशेषमतिमङ्गलम् ।

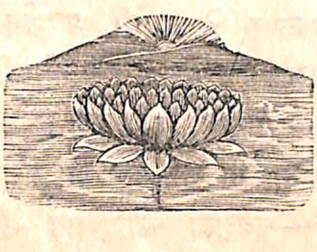
इति विवरणप्रमेयसंग्रहे द्वितीयसूत्रं समाप्तम् ।

व्यवहारके सम्पादक आनन्दके लिए विज्ञानशब्दका व्यवहार भी सङ्गत होता है ।

शङ्का—जैसे कल्पित रजतत्वके आधारभूत शुक्तिमें अमुख्य (गौण, अवास्तव) रजतव्यवहार होता है, वैसे ही आनन्दमें विज्ञानव्यवहार भी गौण (अवास्तव) ही होगा ।

समाधान—शुक्ति रजतके तुल्य प्रकृतमें दूसरा पारमार्थिक सामान्य न होनेसे विषमता है । [जैसे शुक्तिमें केवल अवास्तव रजत ही नहीं है, किन्तु व्यवहारदृष्टिसे पारमार्थिक शुक्तित्व भी है, वैसे ब्रह्ममें कोई दूसरा पारमार्थिक सामान्य नहीं है] । इस प्रकारके निर्णयसे 'विज्ञानस्वभाव आनन्द ब्रह्म है' ऐसा स्वरूप लक्षण श्रुतिसिद्ध होनेसे सम्पूर्ण अत्यन्त मङ्गलमय है ।

इति श्री पं० ललिताप्रसादडबरालविरचितविवरणोपन्यास-
भाषानुवादमें द्वितीयसूत्र समाप्त ।



अथ तृतीयं सूत्रम्

द्वितीयसूत्रे ब्रह्मणो लक्षणद्वयमभिहितम्। इदानीं सूत्रकारेण ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वे हेतुरुच्यते—'शास्त्रयोनित्वात्' इति। पूर्वसूत्र एव श्रुतियुक्तिभ्यां सर्वज्ञत्वसाधनाद्व्यर्थमेतदिति चेद्, मैवम्;

शब्दोपादानभावाद् ध्वनिगतविषयद्योतनाशक्तयोन्त-
र्ब्रह्मण्येव स्युरग्नेर्विषयविषयिणी दीपशक्तिः खलूच्चैः।
द्रष्टुश्च ज्ञानशक्तिर्ननु न करणता किन्तु दीपप्रभाव-
त्संयुक्तद्योतनैवेत्यपरमिह पुनः साध्यते सर्ववित्त्वम्॥

तृतीय सूत्र

'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्रमें ब्रह्मके तटस्थ और स्वरूप (जगत्-कारणत्व तथा सत्यज्ञानानन्द) इस प्रकार दो लक्षण कहे गये हैं। अब सूत्रकार ब्रह्मके सर्वज्ञ होनेमें हेतु दिखलाते हैं—'शास्त्रयोनित्वात्'।

शङ्का—पूर्व सूत्रमें ही श्रुति तथा युक्तिके द्वारा सर्वज्ञत्वका साधन कर ही लिया गया है, इसलिए पुनः उसमें हेतु देना व्यर्थ है।

समाधान—उक्त आक्षेप उचित नहीं है, कारण कि ध्वनिमें—शब्दमें—विषय—घट, पट आदि अर्थ—का प्रकाश करनेकी जो शक्तियां हैं, वे सब ब्रह्ममें ही हैं, क्योंकि ब्रह्म ही शब्दरूप वेदका उपादान है। [नियम है—कार्यमें कारणसे ही गुण प्राप्त होता है] जैसे विषयको प्रकाशित करनेवाली दीपकी शक्ति अग्निकी ही शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। [इस दृष्टान्तसे सिद्ध हुआ कि शब्दोंमें विषय-प्रकाश-शक्ति अपने उपादानभूत ब्रह्मसे ही प्राप्त है, इसलिए उस शक्तिको ब्रह्मशक्ति ही मानना चाहिए। यदि शङ्का हो कि शब्दोंमें विषयप्रकाश करनेकी कारणता है, अतः ब्रह्ममें भी कारणताका ही अनुमान होगा, इसलिए शास्त्रयोनित्वरूप हेतुसे भी सर्ववित्त्व सिद्ध नहीं हो सकता, तो इस आशङ्काका समाधान उत्तरार्द्धसे करते हैं—] द्रष्टामें—चेतनमें—ज्ञान-शक्तिका ही साधन करना उचित है, केवल कारणताका साधन करना उचित नहीं है। [दृष्टान्तमें समता दिखलाते हैं—] क्योंकि जैसे दीपकी प्रभा अपनेसे संयुक्त सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाश करती है, वैसे ही ब्रह्म भी अपनेसे संयुक्त सम्पूर्ण

अयमर्थः—साधितमपि पुनर्हेत्वन्तरेण दृढीक्रियते। न च पुनरुक्तिप्रसङ्गः, जगत्कर्तृत्वशङ्कयाऽऽक्षिप्ते सर्वज्ञत्वे समाधीयमानत्वात्। विमतं ब्रह्म वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः, वेदोपादानत्वाद्, यथा दीपगतप्रकाशनशक्त्याधारो दीपोपादानभूतोऽग्निरिति हि प्रयोगः। यद्यपि वेदे करणशक्तिरप्यस्ति, तथापि चेतनत्वाद् ब्रह्मणो ज्ञानशक्तिरेवाऽनुमेया। नहि चेतनस्य कर्तुः करणशक्तिः संभाव्यते। न चोपादानोपादेययोः

प्रपञ्चका प्रकाश करता है। ब्रह्म सबके प्रति उपादान होनेसे सबके साथ संयुक्त है, इसलिए इस सूत्रमें पूर्व सूत्रकी अपेक्षा विलक्षण ही सर्ववित्त्वका साधन किया जाता है। [अर्थात् पूर्व सूत्रमें जगत्कारणत्वसे सर्ववित्त्व सिद्ध किया गया है और इस सूत्रमें वेदोपादानत्व द्वारा विलक्षण सर्वज्ञत्व सिद्ध किया जायगा, इससे पुनरुक्त या सिद्धसाधनादि दोष नहीं आते। अतएव ब्रह्मके प्रपञ्चकारणत्वसे गृहीत होनेपर भी शास्त्रकारणत्वरूप हेतु दिया गया है। इसका स्वयं व्याख्यान करके स्पष्टीकरण करते हैं—]

तात्पर्य यह है कि सिद्ध किया गया भी 'सर्वज्ञत्व' दूसरे हेतुके द्वारा दृढ़ किया जा रहा है, इससे पुनरुक्ति दोषका प्रसङ्ग नहीं आता, कारण कि दूसरेमें जगत्कारणत्वकी आशङ्कासे सर्वज्ञत्व होनेमें आक्षेप हो सकता है, [अर्थात् ब्रह्म जगत्का कर्ता है, परन्तु वेद तो नित्य पदार्थ है, इसलिए उसका कर्ता तो ब्रह्म नहीं होगा, इसलिए वेदका अकर्ता होनेसे उसका ज्ञान भी उसको नहीं होगा, अतः केवल जगत्कर्तृत्वसे सर्वज्ञत्वमें आक्षेप हो सकता है। इसलिए उसका समाधान करना प्राप्त हो जाता है। [समाधानस्वरूप अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—] 'विमत ब्रह्म वेदमें विद्यमान सम्पूर्ण अर्थजातका प्रकाश करनेमें समर्थ शक्तिका मूल आधार है, कारण कि वह वेदका उपादान है। जैसे दीपकी प्रकाश देनेवाली शक्तिका मूल आधार दीपका उपादानभूत अग्नि है। यद्यपि वेदमें करणशक्ति (साधकत्व-सहायकत्व) भी है, उससे करणशक्तिको ही अनुमान द्वारा उसके उपादानभूत ब्रह्ममें भी मानना होगा। इससे सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं हो सकता, तथापि चेतन होनेके कारण ब्रह्मकी ज्ञानशक्तिका ही अनुमान द्वारा साधन करना उचित है। चेतनरूप कर्त्ताका करण होना सम्भव नहीं है। [वह तो स्वयं रचयिता ही है, साधनभूत कारक

सर्वशक्त्यनुगत्या भाव्यमिति नियमोऽस्ति, अग्निकार्यभूतायां प्रभायां प्रकाशशक्तेरेवाऽनुगमाद् दाहशक्तेरननुगमात्। एवं वेदोपादानेऽपि ब्रह्मणि बोधशक्तिरेवाऽनुगच्छतु को विरोध इति। न च वेदस्य सर्वप्रकाशकत्वे विवदितव्यम्, पुराणाद्यनेकविद्योपबृंहितेन वेदेनाऽविषयीकृतस्य वस्तुनः सत्त्वे मानाभावात्। न च वेदोपादानत्वमसिद्धम्, वेदस्य नामरूपप्रपञ्चान्तःपातित्वान्नामरूपप्रपञ्चोपादानत्वस्य च ब्रह्मणि सर्वोपनिषत्सिद्धत्वात्। ननु ब्रह्म न वेदोपादानम्, वेदोक्ताखिलाभिज्ञत्वात्, ऋष्यादिवत्, इति चेद्, न; वेदोक्तमात्राभिज्ञत्वस्योपाधित्वात्। ब्रह्म तु वेदोक्तादप्यधिकं जानाति। तथाहि—वेदः स्वविषयविज्ञाना-

---

नहीं हो सकता'। उपादान और उपादेय दोनोंमें सब प्रकारकी शक्तियोंका अनुगम होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। [इससे शङ्का नहीं कर सकते हैं कि उपादानमें उपादेय वेदगत करणशक्ति भी आनी चाहिए। दृष्टान्त द्वारा नियमका न होना सिद्ध करते हैं—] कारण कि अग्निके कार्यस्वरूप दीपकी प्रभामें (प्रकाशमें) प्रकाशशक्तिका ही अनुवर्तन है, दाहशक्तिका अनुवर्तन नहीं है। इसी प्रकार वेदके उपादानभूत ब्रह्ममें भी बोधशक्ति—ज्ञानशक्ति—का ही अनुगम होता है, यदि ऐसा माना जाय, तो क्या विरोध होगा? वेद सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाश करता है, इसमें कोई विवाद ही नहीं करना चाहिए, कारण कि पुराण आदि अनेक विद्याओंसे परिपुष्ट किये गये वेदका जो विषय नहीं है, ऐसे पदार्थकी सत्तामें कोई प्रमाण ही नहीं है [अर्थात् वेदमें न आया हुआ पदार्थ आकाशपुष्पके समान है]। ब्रह्ममें वेदोपादानत्व असिद्ध भी नहीं है, कारण कि वेद भी नामरूपात्मक प्रपञ्चके ही अन्तर्गत है और सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्चका उपादान ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन सभी उपनिषत् करती हैं।

शङ्का—ब्रह्म वेदका उपादान नहीं माना जा सकता, वेदमें प्रतिपादित सम्पूर्ण विषयोंका अभिज्ञ होनेसे, ऋषि आदिके समान।

समाधान—वेदोक्तमात्राभिज्ञत्वरूप उपाधिसे उक्त अनुमान दूषित है। [ऋषि आदि तो केवल वेदप्रतिपादित ही अर्थ जानते हैं] और ब्रह्म तो वेदप्रतिपादित अर्थसे भी अधिक जानता है। यथा—वेदको अपने विषयके विज्ञानकी अपेक्षा अधिक विषयको जाननेवालेने बनाया है, क्योंकि

दप्यधिकविषयवित्प्रणीतः, वाक्यप्रमाणत्वात्, पाणिनिप्रणीतशास्त्रवत्। संभाव्यते ह्येतत्साध्यम्, लोके वागविषयस्यापि क्षीरगुडादिमाधुर्यविशेषस्याऽनुभवगम्यत्वात्। तथा च वेदस्य व्यवहार्यसर्ववस्तुप्रकाशकत्वात्सर्वज्ञत्वम्। वेदोपादानं ब्रह्म तु व्यवहारातीतं निजस्वरूपमपि स्वचैतन्येनाऽभिव्यनक्तीति निरतिशयसर्वज्ञम्। अथ वेदोऽपि ब्रह्मस्वरूपं लक्षणया प्रकाशयेत् तथापि वेदः किंचिन्मुख्ययैव वृत्त्या प्रकाशयति किंचिल्लक्षणया किंचित्सामान्येन किंचिद्विशेषेण। ब्रह्म

वेद वाक्यस्वरूप प्रमाण है, पाणिनि द्वारा रचे गये व्याकरणशास्त्रके तुल्य। इस साध्यका सम्भव भी है, क्योंकि लोकमें वाणीके विषय न होनेवाली दूध और गुड़ आदिकी मधुरता (मिठास) का विशेष अन्तर केवल अनुभवसे ही जाना जाता है। [इस दृष्टान्तसे वाणीरूप वेदके विषय ऐसे भी कुछ पदार्थ हैं जिनका अनुभव ब्रह्मको है, यह सिद्ध किया गया। शङ्का उत्पन्न होती है कि अभी कहा गया है कि वेदबाह्य वस्तुके होनेमें कोई प्रमाण ही नहीं है और अब कहा जाता है कि वेदबाह्य भी वस्तु है, जिसका ज्ञान ब्रह्म करता है, इससे आपके कथनमें परस्पर विरोध होता है, इसके समाधानमें उत्तर है कि उक्त विरोध तात्पर्यको न समझनेसे प्रतीत होता है। वेदबाह्य वस्तु न माननेका तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी वागिन्द्रियगोचर पदार्थ है, वह सब वेदका विषय है, ऐसा कोई वाग्विषय पदार्थ नहीं है कि जो वेदबाह्य माना जा सके, परन्तु वागविषय पदार्थ ही नहीं है, ऐसा इसका तात्पर्य नहीं है। इसी वागविषय पदार्थका भी ज्ञाता ब्रह्म है, ऐसा कहा गया है, इससे कोई विरोध नहीं आता।] इससे वेद भी व्यवहारके विषय सकल पदार्थोंका प्रकाशक है, इसलिए वह सर्वज्ञ माना जाता है। परन्तु वेदका उपादानभूत ब्रह्म तो वागादिके सम्पूर्ण व्यवहारके अविषय अपने स्वरूपको भी अपने चैतन्य द्वारा प्रकाशित करता है, इसलिए निरतिशय सर्वज्ञ है। [इससे अधिक सर्वज्ञ हो नहीं सकता, यह सर्वज्ञताकी सीमा है]। यद्यपि वेद भी ब्रह्मस्वरूपको लक्षणाके द्वारा ('तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें भागत्यागलक्षणा अथवा शुद्ध लक्षणाके द्वारा प्रातिपदिकार्थमात्र शुद्ध चैतन्यरूप अर्थमें तात्पर्यका निश्चय किया गया है) ब्रह्मके स्वरूपको प्रकाशित कर ही सकता है, तथापि वेद तो कुछ विषयको मुख्यवृत्ति (अभिधानशक्ति) के द्वारा और कुछ विषयको लक्षणावृत्तिके द्वारा प्रकाशित

तु सर्वं सर्वात्मना प्रकाशयतीति वेदादप्यधिकाभिज्ञमेव।

ननु वेदस्य ब्रह्मणा प्रणयनं नामोच्चारणमात्रं चेदुपाध्यायवद् ब्रह्माऽसर्वज्ञं स्यात्। अर्थं बुद्ध्वा रचितत्वे व्याकरणादिवद्वेदः पौरुषेयः स्यात्। अथ मन्यसे प्रमाणान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य विवक्षित्वा रचिता व्याकरणादयो मानान्तरसापेक्षतया पौरुषेया भवन्तु नाम वेदस्य तु नित्यज्ञानजन्यनित्येच्छावता ईश्वरेण रचितस्य मानान्तरनिरपेक्षस्य कथं पौरुषेयत्वमिति। नैतत्सारम्, तादृगीश्वरे प्रमाणाभावात्। अनुमानानामीश्वरासाधकत्वस्य पूर्वसूत्रे दर्शितत्वात्। आगमस्तत्साधक इति चेद्, न; उक्तेश्वरसिद्धौ तत्प्रोक्तागमप्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ चोक्तेश्वरसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयत्वात्।

कर सकता है, एवं कुछ विषयोंको सामान्यरूपसे और कुछको विशेषरूपसे प्रकाशित करता है, परन्तु ब्रह्म तो सबको ही सर्वस्वरूपसे (सामान्य विशेष सभी प्रकारसे) प्रकाशित करता है, इसलिए वेदकी अपेक्षा उसको अधिक सर्वज्ञ ही मानना उचित है।

यदि केवल ब्रह्म द्वारा शब्दोंका उच्चारणमात्र वेदकी रचना मानी जाय, तो उपाध्यायके—वेदशिक्षकके—समान ब्रह्म भी असर्वज्ञ होगा। अर्थज्ञानपूर्वक यदि वेदकी रचना मानी जाय, तो व्याकरण आदि शास्त्रोंकी भाँति वेद पौरुषेय—पुरुषप्रणीत—माने जायँगे। यदि कहो कि दूसरे प्रमाणोंके द्वारा प्राप्त अर्थकी विवक्षासे रचे गये व्याकरण आदि शास्त्र दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा रखनेसे पौरुषेय भले ही माने जायँ, परन्तु वेद तो नित्यज्ञानसे उत्पन्न हुई नित्य इच्छावाले ईश्वरसे रचे गये हैं, इसलिए दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा न रखनेसे पौरुषेय कैसे माने जा सकते हैं, तो यह भी कथन मूल्यवान् नहीं है, कारण कि नित्यज्ञानजन्य नित्य इच्छावाले ईश्वरके माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। कथित अनुमान ईश्वरके साधक नहीं हैं, ऐसा पूर्व सूत्रमें ही प्रतिपादन किया गया है। आगम—शास्त्र—को ईश्वरके साधनमें प्रमाण कहा जाय, तो यह भी नहीं बनता, कारण कि कथित ईश्वरकी सिद्धि होनेके अनन्तर ही उससे कहे गये शास्त्रमें प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है और आगममें प्रामाण्यसिद्धिके अनन्तर ही आगम-

वेदस्याऽनपेक्षत्वादेव प्रामाण्यं नेश्वरप्रोक्तत्वाद् अतो नेतरेतराश्रय इति चेद्, एवमपीश्वरेच्छा नित्या ज्ञानजन्या चेति व्याहतिर्दुष्परिहरा। अथाऽर्थं बुद्ध्वा रचितत्वे समेऽपि व्याकरणादीनां वक्त्रभिप्रायप्रयुक्तत्वात्पौरुषेयत्वं वेदानां त्वध्ययनविधिप्रयुक्तत्वादपौरुषेयतेति चेद्, न; विमता वेदा वक्त्रभिप्रायप्रयुक्ता नाऽध्ययनविधिप्रयुक्ता वा, अर्थं बुद्ध्वा रचितत्वाद्, व्याकरणादिवदिति पौरुषेयताया दुर्वारत्वात्। न च वेदानां चैतन्याख्यनिर्विकल्पकज्ञानपूर्वकत्वं व्याकरणादिवैषम्यमिति वाच्यम्, चैतन्यस्याप्यभिलषितसाधनोपरागे सविकल्पकत्वात्।

नन्वपौरुषेया वेदाः प्रवाहाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मव-

---

प्रतिपादित ईश्वरकी सिद्धि हो सकती है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है।

यदि कहा जाय कि वेद दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा न रखनेसे ही प्रमाण है, ईश्वररचित होनेके कारण नहीं, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं आ सकता, तो भी ईश्वरकी इच्छा नित्य है और वह ज्ञानसे उत्पन्न होती है, इस प्रकारका व्याघात तो नहीं हटाया जा सकता [अर्थात् नित्यको जन्य मानना विरुद्ध है]।

शङ्का—अर्थज्ञानपूर्वक रचा जाना यद्यपि समान ही है, तथापि व्याकरण आदि शास्त्रोंका वक्ताके अभिप्रायके अनुसार प्रयोग होनेके कारण वे पौरुषेय माने जाते हैं, परन्तु वेदोंका प्रयोग अध्ययनविधिके द्वारा होता है, अतः वे पौरुषेय नहीं माने जा सकते।

समाधान—विमत वेद वक्ताके अभिप्रायसे प्रयुक्त हैं अथवा अध्ययनविधिसे प्रयुक्त नहीं हैं, कारण कि व्याकरणादि शास्त्रोंके सदृश वे अर्थज्ञानपूर्वक रचे गये हैं, इस प्रकार अनुमानके प्रयोगसे वेदोंका पौरुषेय होना नहीं हटाया जा सकता। व्याकरण आदि शास्त्रोंकी अपेक्षा वेदोंमें चैतन्यनामक निर्विकल्पज्ञानपूर्वकत्वरूप विषमता भी नहीं कही जा सकती, कारण कि चैतन्यका अभीष्ट उपायके साथ संसर्ग होनेपर उसे सविकल्पक ही मानना होगा। [क्योंकि निर्विकल्पसे कोई भी संसर्ग नहीं हो सकता।]

शङ्का—वेद पौरुषेय नहीं है, प्रवाहके विच्छेद न होते हुए इनके कर्ताका स्मरण न होनेसे, आत्माके तुल्य। [जैसे आत्माका प्रवाह बराबर

दिति चेत्, किमत्र स्मरणागोचरकर्तृकत्वं हेतुः उताऽप्रमीयमाणकर्तृकत्वम्? आद्यो जीर्णकूपादावनैकान्तिकः । द्वितीयोऽसिद्धः, वेदो विशिष्टबहुज्ञपुरुषप्रणीतः, बह्वर्थविषयवाक्यप्रमाणत्वाद्, भारतवत्; 'स इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानि' इत्यनुमानागमाभ्यां वेदे कर्तुः प्रमीयमाणत्वात् । एवं तर्हि वेदस्य पौरुषेयत्वप्रसङ्ग इष्ट इति चेद्, न; प्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात् । न तावन्नित्येच्छादिमदीश्वररचितत्वात् प्रामाण्यम्, दूषितत्वात् । नापि महाजनपरिग्रहाद् देहात्मभावचन्द्रप्रादेशमात्रत्वादीनां महाजनपरिगृहीतानामेवाऽप्रामाण्यदर्शनात् । स्मृतिपुराणपित्रादिवाक्यवदर्थस्य

चला आ रहा है और उसके कर्ताका ज्ञान नहीं होता, अतः वह किसी पुरुष द्वारा प्रणीत नहीं है, वैसे ही वेदोंका भी प्रवाह बराबर चला आ रहा है, और कर्ताका पता नहीं है, अतः वे पुरुषप्रणीत नहीं माने जा सकते ।]

समाधान—इस अपौरुषेत्वके साधक अनुमानमें क्या कर्ताका स्मरण-विषय न होनारूप हेतु है? या कर्ताका निश्चय न हो सकनारूप हेतु है? इनमें प्रथम कल्प तो पुराने कूप आदिमें व्यभिचरित है । [बहुत पुराने कूपादि कार्योंके कर्ताका भी स्मरण नहीं रहता है ।] दूसरा कल्प असिद्धि दोषसे दूषित है, कारण कि 'वेद विशिष्ट और अधिक ज्ञानशाली पुरुष द्वारा रचा गया है, क्योंकि वह भारत ग्रन्थके समान अनेक अर्थोंको विषय करनेवाला वाक्यरूप प्रमाण है', इस अनुमान तथा 'उसने इस दृश्यमान सम्पूर्णको रचा, तथा ऋक्, यजु और साम वेदोंको' इस प्रकारके अर्थवाले आगमसे वेदकी रचनाके विषयमें कर्ताका निश्चय होता ही है ।

शङ्का—तब तो उक्त तर्कके अनुसार वेदमें पुरुषप्रणीतत्वका प्रसङ्ग ही हो जायगा ।

समाधान—नहीं, नहीं होगा, कारण कि ऐसा माननेसे वेदके प्रामाण्यका भङ्ग हो जायगा । नित्य इच्छा आदिवाले ईश्वरके द्वारा रचित होनेसे भी वेदका प्रामाण्य नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें पहले ही दोष दे आये हैं । [अर्थात् इस प्रकारका ईश्वर प्रमाणसिद्ध ही नहीं है ।] महाजन—अधिक जनसमुदाय—के सम्मत होनेसे भी प्रामाण्य नहीं आ सकता, कारण कि चन्द्रमाके प्रादेश—वित्ता—मात्र परिमाण आदिका, जो कि महाजनके द्वारा परिगृहीत ही है, अप्रामाण्य देखा गया है ।

मानान्तरसिद्धतया प्रामाण्यं स्यादिति चेद्, मैवम्; किं वेदार्थभूतौ धर्माधर्मौ प्रत्यक्षेणाऽनुभूतौ उताऽऽगमान्तरेण। न चरमः, अनवस्थानात्। प्रथमेऽपि नहि तावदस्मदादिप्रत्यक्षेण धर्माधर्मावुपलभामहे। नापि योगिप्रत्यक्षं तद्ग्राहकम्, तस्य स्वविषयरूपादिष्वेवाऽतिशयकरत्वात्। न चाऽऽत्मसमवेततया धर्माधर्मौ मानसप्रत्यक्षाविति वाच्यम्, वेदसृष्टिकाले धर्माधर्मयोर्भाविनोरवर्तमानत्वात्। पूर्वकल्पानुष्ठितौ धर्माधर्मौ तदा वर्तेते एवेति

शङ्का—स्मृति, पुराण तथा पिता आदिके वाक्योंके सदृश अर्थके दूसरे प्रमाणसे सिद्ध होनेके कारण वेदोंका प्रामाण्य मान लिया जायगा [जैसे प्रमाणान्तरसे सिद्ध अर्थके प्रतिपादक स्मृति आदिके वाक्य प्रमाण होते हैं, वैसे ही वेदवाक्य भी प्रमाण मान लिए जायँगे]।

समाधान—वेदके तात्पर्यार्थस्वरूप धर्म और अधर्म [विधिवाक्यका तात्पर्य धर्ममें है और निषेधका अधर्ममें] क्या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जाने गये हैं? या दूसरे (वेदसे इतर) शास्त्र द्वारा?। दूसरा कल्प नहीं बन सकता, कारण कि इसमें अनवस्था दोष आ जाता है। [दूसरेसे आगमके तात्पर्यार्थका ज्ञान तीसरेसे, तीसरेका चौथेसे इत्यादि परम्परा न रुकेगी] प्रथम कल्पमें भी हम ऐसे साधारण मनुष्य प्रत्यक्षसे धर्म और अधर्मका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। योगियोंका प्रत्यक्ष भी धर्म और अधर्मका ज्ञान प्राप्त करानेवाला नहीं हो सकता, कारण कि योगीका प्रत्यक्ष अपने विषय रूप आदिमें ही अतिशय प्राप्त कर सकता है [चक्षुरादिके अगोचर धर्म और अधर्मका दर्शन नहीं कर सकता। 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः—' इस भगवद्वाक्यमें दिव्यपदका भी इतना ही तात्पर्य है—सम्पूर्ण विराट्रूपके दर्शनकी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाय। अविषयकी दर्शनसामर्थ्य नहीं हो सकती, अतएव अभियुक्तोंका वचन है—'न रूपे श्रोत्रवृत्तिता']। आत्मसमवेत होनेसे धर्म और अधर्म मानस प्रत्यक्षके विषय भी नहीं हो सकते, कारण कि वेदकी रचनाके अवसरपर आगे होनेवाले धर्म और अधर्म अनुवर्तमान ही नहीं थे। [धर्माधर्म तो वैदिक-प्रमाणगम्य हैं, वेदकी रचनाके पूर्व तो वे सिद्ध ही नहीं थे, अतः वेद-रचनाकालमें उनकी अनुवृत्ति कैसे होगी? अनुवृत्ति तो पूर्वसिद्ध पदार्थकी ही हो सकती है। अतः मानस प्रत्यक्षके विषय भी नहीं हो सकते।] पूर्व कल्पमें किये गये

चेद्, न; पूर्ववेदसृष्टावपि तथेत्यनवस्थायामन्धपरम्पराप्रसङ्गात्। तस्मात्पौरुषेयत्वे वेदस्य प्रामाण्यं दुःसम्पादम्। अत एव सुगता आर्हताश्चाऽप्रमाणं वेदमाहुरिति चेद्, न; तेषां स्वागमेष्वप्रामाण्यप्रसङ्गात्। अत एव लोकायत आगममात्रं नेच्छतीति चेद्, न; तस्य वाक्यमात्राप्रामाण्ये वादानधिकारः, लौकिकवाक्यप्रामाण्ये किमपराद्धं वेदवाक्यैः। तदेवं पौरुषेयत्वे वेदस्येष्टं प्रामाण्यं प्रभज्येत ? अपौरुषेत्वे ब्रह्मण उपाध्यायवदसर्वज्ञत्वं प्रसज्येतेति।

धर्म और अधर्म उस कालमें विद्यमान ही हैं, यह मानना भी उचित नहीं है, कारण कि उस पूर्व कल्पके वेदोंकी रचनाकालमें भी पूर्वोक्त प्रकारका [उससे भी पूर्व कल्पमें अनुष्ठित धर्माधर्मोंकी अनुवृत्ति मानना] समाधान देनेसे अनवस्था दोष आ जानेपर अन्धपरम्पराका प्रसङ्ग आ जाता है। इसलिए वेदको पुरुषप्रणीत माननेसे उसके प्रामाण्यका समर्थन नहीं हो सकता। इसी कारणसे बौद्ध तथा जैनमतावलम्बियोंने वेदको प्रमाण नहीं माना, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि उनको (वेदको अप्रमाण माननेमें पौरुषेयत्व-रूप हेतुसे) अपने (बौद्ध और जैन) शास्त्रोंमें अप्रामाण्य माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। [उनके शास्त्र भी तो पौरुषेय हैं, अतः उनको भी अप्रमाण मानना होगा]। यही कारण है कि लोकायत—नास्तिक—आगममात्रको नहीं चाहता। [आगममात्र पुरुषप्रणीत है, अतः वह किसीको भी प्रमाण मानना नहीं चाहता], परन्तु उसका कथन भी उचित नहीं है, कारण कि, वाक्यमात्रको अप्रमाण माननेसे नास्तिकका वादमें—तत्त्वजिज्ञासारूप परस्पर शास्त्रार्थकथामें—अधिकार ही नहीं हो सकता। [वाक्योंको सर्वथा अप्रमाण माननेवाला अपना अभिप्राय किस साधनसे प्रकट कर सकेगा ? और प्रतिवादीका अभिप्राय कैसे समझेगा ? अतः उस प्रलापीके कथनपर कोई भी ध्यान देना उचित न समझेगा।] यदि वह नास्तिक [वादमें अपना अधिकार पानेके लिए] लौकिक वाक्योंमें प्रामाण्य मान ले, तो हम पूछ सकते हैं कि तब वैदिक वाक्योंने क्या अपराध किया है कि वे प्रमाण न माने जायँ ? इस प्रकार वेदको पुरुषप्रणीत माननेमें उसका प्रामाण्य नष्ट होता है। और वेदको पुरुषप्रणीत न माननेसे ब्रह्ममें उपाध्यायके—गुरुके—तुल्य असर्वज्ञत्वका प्रसङ्ग हो जायगा है।

अत्रोच्यते—पौरुषेयत्वं तावन्न सहामहे । तथाहि—किं शब्दार्थतत्संबन्धानां पौरुषेयत्वमुत क्रमावस्थितवाक्यानाम् । आद्येऽपि न तावज्जीवाः कर्तारः। तथा सति कश्चित्सागरं विवक्षित्वा मेरुशब्दमपि वाचकत्वेन प्रयुञ्जीत, स्वतन्त्रत्वात्। नापीश्वरः कर्ता, कल्पादिषु शब्दार्थसंबन्धव्यवहारः पूर्वपूर्वव्यवहारपरम्पराधीनः, अभिधानाभिधेयव्यवहारत्वाद्, इदानीन्तनव्यवहारवत्, इत्यनादित्वानुमानात्। न च डित्थादिसाङ्केतिकशब्देष्वनेकान्तः, तेषां गाव्यादिशब्दवदभिधानाभासत्वात्। न द्वितीयः,

समाधान—इस शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है कि वेदकी पुरुष द्वारा रचना हम नहीं सह सकते, क्योंकि प्रश्न हो सकता है कि क्या शब्द, अर्थ, तथा उनके सम्बन्धकी रचना पुरुष द्वारा हुई है, ऐसा मानते हो ? या क्रमसे रखे गये (पौर्वापर्ययुक्त) वाक्योंकी रचना पुरुष द्वारा हुई, ऐसा मानते हो ? [वेद शब्दार्थ तथा उनका सम्बन्ध और पौर्वापर्यविशिष्ट वाक्य दोनों रूपवाला है, इनमें किस रूपकी रचना पुरुष द्वारा मानते हो ?' प्रथम पक्ष माननेमें भी जीव तो उसकी रचनाके कर्ता हो नहीं सकते। यदि जीव कर्ता माना जाय, तो कोई जीव समुद्रका बोध करानेकी इच्छा करके मेरुशब्दको भी समुद्ररूप अर्थका वाचक बनाकर उसे प्रयोगमें लावेगा, कारण कि वह शब्दार्थसम्बन्धकी रचनामें स्वतन्त्र है। ईश्वरको भी कर्ता नहीं मान सकते, कारण कि शब्दार्थसम्बन्धमें अनुमानसे अनादित्व सिद्ध होता है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार है—'कल्पादिकालोंमें शब्दार्थसम्बन्धरूप व्यवहार पूर्व-पूर्व व्यवहारपरम्पराके अधीन है, अभिधान-अभिधेय-व्यवहार होनेसे, [अभिधान शब्द है और अभिधेय अर्थ है अर्थात् वाच्यवाचकव्यवहार] इस कालमें होनेवाले वाच्यवाचकव्यवहारके तुल्य। 'जैसे वर्तमानमें घटशब्दार्थसम्बन्ध अनादि है, वैसे ही आदि कालमें भी अनादि ही था। डित्थ आदि संज्ञाशब्दोंमें इसका व्यभिचार नहीं दिया जा सकता, कारण कि वे डित्थादि शब्द गावी आदि अपभ्रंशशब्दोंके तुल्य शब्दाभास माने गये हैं। [साधुशब्द नहीं माने जाते] 'पररीत्या परो बोधनीयः' न्याय लेकर नैयायिक असाधुशब्दोंमें शक्ति नहीं मानते, अतः वे शब्दाभास माने गये हैं। [वस्तुतः डित्थ आदि शब्दोंमें भी अनादि ही वाच्यवाचकभाव है, इसलिए कोई व्यभिचार नहीं आता]। क्रमिक वाक्यरचनारूप द्वितीय

सृष्टिकालीनं वेदाध्ययनं पूर्ववेदाध्ययनानुस्मृतिनिबन्धनम्, वेदाध्ययनत्वाद्, इदानीन्तनवेदाध्ययनवत्, इत्यनादित्वसिद्धेः। न चैवं सर्वेष्वपि ग्रन्थेष्विदमनादित्वं सुसाधमिति वाच्यम्, तैस्तैरेव ग्रन्थैस्तत्कर्तॄणां प्रतिपादनात् तदागमविरोधात्। इहाऽपि श्रुत्यैव वेदस्य कर्ता प्रतिपाद्यत इति चेत्, किं हिरण्यगर्भविषयया 'इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूँषि' इत्यादिश्रुत्या किं वेश्वरविषयया 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्, इत्यादिश्रुत्या ? नाऽऽद्यः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति' इत्यादिश्रुतौ हिरण्यगर्भोत्पत्तेः प्रागेव वेदसद्भावावगमात्। सतामेव वेदानां हिरण्यगर्भबुद्धौ प्राथमिकमाविर्भावमभिप्रेत्याऽसृजतेति श्रुतिरप्युपपन्ना। न द्वितीयः; उपादानप्रकरणपठिता सा श्रुतिः ईश्वरस्य वेदोपा-

---

पक्ष नहीं कह सकते, कारण कि 'सृष्टिकालका वेदाध्ययन पूर्वकालमें किये गये वेदाध्ययनके स्मरण द्वारा हुआ है, वेदाध्ययन होनेसे, वर्तमानकालके वेदाध्ययनके तुल्य' इस अनुमानके द्वारा पौर्वापर्यविशिष्ट वाक्यरूप वेदमें अनादित्व ही सिद्ध होता है।

शङ्का--तब तो इस प्रकारका अनादित्व सभी ग्रन्थोंमें सरलतासे सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान--उन्हीं ग्रन्थोंसे अपने-अपने कर्ताओंका--रचयिताओंका--प्रतिपादन होनेसे उन ग्रन्थरूप आगमोंसे विरोध आ जाता है। [इसलिए सभी ग्रन्थ अनादि नहीं हो सकते] यदि कहो कि प्रकृतमें भी श्रुतिके द्वारा ही वेदके कर्ताका प्रतिपादन किया जाता है, तो यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि यहांपर प्रश्न होगा कि क्या हिरण्यगर्भको विषय करनेवाली 'इस सबको रचा तथा ऋक् और यजुर्वेदको--' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे उसका प्रतिपादन होता है ? अथवा ईश्वरका निर्देश करनेवाली 'इस महान् ईश्वरका यह निःश्वास है--' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि 'जो ब्रह्म हिरण्यगर्भको रचता है'--इत्याद्यर्थक श्रुतिसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिसे पहले भी वेदके सद्भावका बोध होता है। पूर्वसिद्ध वेदोंका ही हिरण्यगर्भकी--ब्रह्माकी--बुद्धिमें सबसे पहले प्रादुर्भाव हुआ, इसलिए 'असृजत' (बनाया) यह श्रुति भी उपपन्न हो गयी। [हिरण्यगर्भने ही वेदका प्रथम दर्शन (ज्ञान) पाया, इसलिए उपचारतः 'हिरण्यगर्भने वेदको बनाया' ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, नूतन रचना नहीं कही गयी है] दूसरा--ईश्वरको विषय करनेवाली श्रुतिके द्वारा कर्ताका निर्देशरूप--पक्ष भी साधक नहीं है, कारण कि उक्त श्रुति उपादान-

दानत्वमेव ब्रूते न तु वेदकर्तृत्वमपि । ईश्वरोपादनत्वमपौरुषेयत्वं च विरुद्धमिति चेद् , न; एतादृशापौरुषेयत्वस्याऽङ्गीकृतत्वात् । भारतादीनां व्यासादिभिर्मानान्तरेणाऽर्थं बुद्ध्वा रचितत्वं पौरुषेयत्वम् । ततो मूल-प्रमाणापेक्षं तत्प्रामाण्यम् । वेदो नार्थं बुद्ध्वा रचितः, असर्वज्ञवचनत्वाभावे सति धर्माधर्मब्रह्मप्रमाणत्वात् , परपरिकल्पितेश्वरबुद्धिवत् । तथा च ब्रह्मकार्यस्याऽपि वेदस्य स्वतःसिद्धप्रमाण्ये न काचिद्धानिः । ननु प्रमाणदृष्टवादी ह्याप्तः, तददृष्टस्योत्प्रेक्षितस्य च वक्ता नाऽऽप्तः । तथा च वेदो न प्रमाणम् , आप्ताप्रणीतवाक्यत्वाद् , उन्मत्तवाक्यवत् , इति चेद् ,

---

कारणके प्रदर्शक प्रकरणमें पढ़ी गई है, इसलिए ईश्वर वेदका उपादान कारण है, ऐसा ही कहती है, वेदका कर्ता है, ऐसा नहीं कहती है । ईश्वरोपादानकत्व और अपौरुषेयत्व दोनोंका एक स्थलमें होना विरुद्ध है [पुरुषप्रणीत कार्यका ही उपादान कारण होता है, इसलिए सोपादानक पदार्थको पुरुषप्रणीत कार्यके विरुद्ध अपौरुषेय नहीं कह सकते], ऐसा भी नहीं माना जा सकता, कारण कि इस प्रकारका अपौरुषेयत्व—ब्रह्मोपादानकत्व होते हुए भी पुरुषप्रणीतत्वका न होना—स्वीकार ही करते हैं, [इसलिए अपौरुषेय होनेसे वेदोंका स्वतःप्रामाण्य है और जो पुरुष-प्रणीत हैं, उनका परतःप्रामाण्य होता है।] जैसे'—भारत आदि ग्रन्थोंका प्रणयन श्रीव्यासजीने दूसरे वेदादि प्रमाणों द्वारा अर्थका निश्चय करके किया है, इसलिए वे ग्रन्थ पौरुषेय माने जाते हैं। अतः मूल (जिसके द्वारा अर्थ ज्ञान करके ग्रन्थोंका प्रणयन किया गया हो, ऐसे) प्रमाणकी अपेक्षा करके उनका प्रामाण्य माना जाता है। 'वेद अर्थज्ञानपूर्वक रचित नहीं है, असर्वज्ञवचन न होता हुआ धर्माधर्ममें प्रमाणस्वरूप होनेसे, नैयायिक आदि दूसरे वादियोंके सम्मत ईश्वरकी बुद्धिके समान' । [इस अनुमानसे वेदमें भारतादिसे वैलक्षण्य सिद्ध होता है] इसलिए ब्रह्मका कार्य होनेपर भी वेदके स्वतःसिद्ध प्रामाण्य माननेमें कोई हानि नहीं है ।

शङ्का—प्रमाण द्वारा निश्चित अर्थका वक्ता ही आप्त (शिष्ट) कह-लाता है, प्रमाणोंसे अनिश्चित केवल अपनी कल्पनासे कल्पित अर्थका वक्ता आप्त नहीं कहलाता है । इसलिए प्रमाणदृष्ट अर्थका वक्ता न होनेसे वेद प्रमाण नहीं माना जा सकता, कारण कि वह आप्त पुरुष द्वारा नहीं बनाया गया है, उन्मत्त पुरुषके वाक्यके तुल्य ।

मैवम् ; वेदः प्रमाणम् , अनाप्ताप्रणीतवाक्यत्वात् , मन्वादिवाक्यवत् , इत्यपि प्रयोगात् ।

कथं तर्हि निर्णय इत्युच्यते—प्रामाण्यं स्वतःसिद्धमप्रामाण्यं तु कारणदोषादिति ह्यस्मत्सिद्धान्तः । अत्रोन्मत्तवाक्यस्य भ्रान्त्योत्प्रेक्षया वा दुष्टं ज्ञानं मूलम् , इत्यप्रामाण्यमुचितम् । मन्वादिवाक्यस्य स्वत एव प्रामाण्ये सत्याप्तप्रणीतत्वाख्यो गुणोऽपि प्रतिबन्धककारणदोषनिवारकतयोपयुज्यते । वेदस्य तु प्रतिबन्धासंभवादन्तरेणैव गुणं स्वतः प्रामाण्यं सिध्यति । नन्वाप्तप्रयोगानपेक्षत्वे स्मर्यमाणेनाऽपि घटशब्देन घटः प्रमीयेत ? प्रमीयतां नाम, यत्र-कुत्रचित् पुरोवर्तिनि तु घटरहिते स्थले प्रमाणान्तरविरोधाद् न प्रमास्यते ।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिपक्षी अनुमानसे वेदका प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है । [अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—] वेद प्रमाणभूत है, क्योंकि वह अनाप्तसे नहीं बनाया गया है, मनु आदिके वाक्यके समान ।

तब निर्णय कैसे होगा ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर निर्णयका प्रकार कहा जाता है—वेदका प्रामाण्य तो स्वतःसिद्ध है और अप्रामाण्य कारणके दोषसे होता है, यह हम वेदान्तियोंका सिद्धान्त है । इसमें उन्मत्तवाक्यका मूलभूत ज्ञान भ्रम तथा कल्पना रूपसे दोषसे युक्त है, इसलिए उसको अप्रमाण मानना उचित है । यद्यपि मनु आदिके वाक्यका प्रामाण्य स्वतः ही सिद्ध है, तथापि आप्त द्वारा रचितत्वरूप गुण भी प्रामाण्यके प्रतिबन्धक दोषके निवारणका हेतु होनेसे वह प्रामाण्यबोधनमें उपयुक्त होता है । परन्तु वेदमें तो किसी प्रतिबन्धकके न होनेसे गुणके बिना ही प्रामाण्य स्वतःसिद्ध होता है ।

शङ्का—यदि आप्तप्रयोगकी अपेक्षा न होगी, तो स्मृत घटशब्दसे भी घटकी प्रमा—निश्चय—हो जायगी ।

समाधान—उस स्थलमें निश्चय हो जाय, कोई हानि नहीं है, परन्तु घटशून्य किसी भी सामनेके स्थानपर दूसरे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ विरोध आनेसे 'स्मरणविषयीभूत शब्दसे' घटकी प्रमा न होगी, [इसलिए प्रमाजनक आप्तोपदेश आवश्यक होता है] ।

अथ मतं कस्यचित्कदाचिदसति प्रमाणान्तरोदये तस्मिन्नपि स्थले घटः स्मर्यमाणशब्दात् प्रमीयते, तर्ह्याप्तप्रयोग एव प्रामाण्ये हेतुरस्तु। स च प्रयोगो द्वेधा निष्पद्यते—मन्वादिवाक्यानि मानान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य प्रयुक्तानि। वेदवाक्यानि पूर्वपूर्वप्रयोगाननुस्मृत्य प्रयुक्तानि। उन्मत्तवाक्यानि पुनस्तदुभयाभावादप्रमाणान्येव।

नन्वेवं वेदे प्रामाण्यमन्धपरम्पराग्रस्तं भवेदिति चेत्तर्ह्येवं व्यवस्थाऽस्तु। स्मर्यमाणशब्देभ्यस्तात्पर्याभावान्नाऽर्थप्रमितिः। वेदे पुनरध्ययनविधितात्पर्यादाप्तप्रयोगाभावेऽपि प्रमितिरुत्पत्स्यत इति। न चाऽध्ययनविधि-

---

शङ्का—यदि कदाचित् किसी देशमें किसी कारणविशेषसे दूसरे विरोधी प्रमाणका उदय नहीं होगा, तो स्मरणविषयीभूत शब्द द्वारा घटादिकी प्रमा हो ही जायगी।

समाधान—उक्त अतिप्रसङ्गका वारण करनेके लिए आप्त पुरुषके प्रयोगको ही प्रामाण्यमें कारण मानिये। और यह प्रामाण्यग्राहक आप्तप्रयोग दो प्रकारका होता है—एक तो प्रमाणान्तरोंसे अर्थज्ञान प्राप्तकर प्रयुक्त हुए मनु आदिके वाक्य अर्थात् मनुस्मृति आदि-स्मृतियाँ तथा पुराण-ग्रन्थ और दूसरा पूर्व पूर्व कल्पके प्रयोगोंका स्मरण करके प्रयुक्त हुए वेदवाक्य। उन्मत्त वाक्योंमें उक्त दोनों प्रकारोंके न होनेसे वे तो अप्रमाण—प्रामाण्य—शून्य—ही हैं।

शङ्का—इस रीतिसे तो वेदमें अन्धपरम्पराप्राप्त ही प्रामाण्य होगा।

समाधान—इस दोषके वारणके लिए निम्न प्रकारकी व्यवस्था (निर्णय) मानिये। स्मरणके विषयभूत (स्मृतिमें आये हुए) शब्दोंसे अर्थका निश्चय नहीं हो सकता, कारण कि स्मर्यमाण शब्दोंमें कोई तात्पर्य नहीं रहता। वक्ताका ही तात्पर्य शब्दों द्वारा बोधित होता है, उसके बोधनमें उच्चरित शब्द ही समर्थ होता है, अनुच्चरित नहीं, परन्तु वेदमें तो अध्ययनविधिके द्वारा ही तात्पर्यकी प्रतीति हो जाती है, [अन्यथा तात्पर्यशून्यके अध्ययन-विधानका कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा], इसलिए आप्तप्रयोगके न होनेपर भी प्रामाण्य—निश्चयजनकत्व—का उदय हो जायगा। अध्ययनविधि-

वाक्यस्य तात्पर्याभावादप्रामाण्यं शङ्कनीयम्, स्वेनैव तात्पर्यसिद्धेः । न चैवमात्माश्रयो दोषः, शब्दशब्दवत्स्वपरनिर्वाहकेष्वविरोधात् । अतो ब्रह्मवद्वेदस्याऽपि पर्यालोचनायामनादित्वं पर्यवस्यति, न तु कालिदासादिग्रन्थवत्पौरुषेयत्वम् । न चाऽनादित्वेऽपि पुराणवाक्यवदन्यथासंनिवेशप्रणयनं शङ्कनीयम्, नियतक्रमविशिष्टानामेव वर्णपदवाक्यप्रकरणकाण्डादीनां वेदशब्दवाच्यानां कल्पादिप्रलययोरप्याविर्भावतिरोभावमात्रभाजां कूटस्थनित्यत्वाङ्गीकारात् ।

तर्हि वेदो न ब्रह्मोपादानः, अनादित्वात्, कूटस्थनित्यत्वाच्च, ब्रह्मवदिति चेद्, स्वतन्त्रत्वोपाधिहतत्वात् । वेदस्तु ब्रह्मपरतन्त्रः, ब्रह्मण्यारोपितत्वाद्,

---

वाक्यके तात्पर्यके अभावसे अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि स्वयं अपने ही द्वारा तात्पर्यकी सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार आत्माश्रय दोष भी नहीं देना चाहिए, क्योंकि शब्द-शब्दकी भाँति अपने तथा दूसरेके निर्वाहकोंमें आत्माश्रय दोषसे विरोध नहीं आता। [जैसे शब्द-शब्द अपने स्वरूपका भी स्वयं ग्रह कराता है और घट, पट आदि दूसरे शब्दोंका भी बोध कराता है।] इससे ब्रह्मके समान वेदमें भी, विचार करनेपर, अनादित्व निश्चित होता है, कालिदास आदिके बनाये हुये ग्रन्थोंके सदृश पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता। अनादि माननेपर भी पुराण-वाक्योंके सदृश पौर्वापर्यक्रम तथा पदोंका परिवर्तन करके पुरुष द्वारा उनकी रचनाकी आशङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि निश्चित पौर्वापर्यक्रमसे युक्त वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण तथा काण्ड आदि ही वेदशब्दके अर्थ हैं, इसलिए वे कूटस्थ नित्य माने गये हैं। केवल कल्पके आदिमें वेदका प्रादुर्भाव और प्रलयकालमें तिरोभावमात्र होता है [अर्थात् वेद उत्पत्ति और विनाशसे रहित हैं याने वेदका वर्णादिमें से कोई भी क्रम नहीं बदल सकता। यथानुपूर्वीसे ही वेदका प्रादुर्भाव होता है, अतः उसमें पौरुषेयत्वकी किसी प्रकार भी आशङ्का नहीं हो सकती]।

शङ्का—तब तो 'वेद ब्रह्मोपादानक अर्थात् ब्रह्मकार्य नहीं हो सकता, अनादि और कूटस्थ नित्य होनेसे, ब्रह्मके तुल्य' इस अनुमानसे वेदका उपादान ब्रह्म नहीं हो सकता।

समाधान—उक्त अनुमान स्वतन्त्रत्वरूप उपाधि दोषसे दूषित है।

यथा रज्ज्वामारोपितो रज्जुतन्त्रः सर्पः ।

ननु रज्जुसर्पवद्वेदस्य कथं मिथ्यात्वमुच्यते ? निर्वक्तुमशक्यत्वादिति ब्रूमः । तथाहि—किं वर्णमात्रं वेदः किं वा क्रमसहिता वर्णाः ? नाऽऽद्यः, अक्रमव्युत्क्रमोच्चारितेषु वर्णेषु वेदबुद्ध्यभावात् । द्वितीयेऽपि स क्रमः किं वर्णनिष्ठ उच्चारणनिष्ठो वा उपलब्धिनिष्ठो वा ? वर्णनिष्ठत्वेऽपि तावत्क्रमो न देशकृतः संभवति, वर्णानां सर्वगतत्वात् । नाऽपि कालकृतः, नित्यत्वात् । नाऽपि वस्तुकृतः, विरोधात् । नह्येकदैव राजा जारेति जकारस्य पूर्वापरभावो युक्तः । नाऽप्युच्चारणनिष्ठः क्रमो वर्णेषूपरज्यते, उच्चारणतत्क्रमयोः श्रोत्राविषयत्वात् । वेदस्तु वर्णात्मा श्रोत्रग्राह्यः । उपलब्धिनिष्ठोऽपि किं वर्णानां धर्म उत वर्णेष्वारो-

---

दृष्टान्तभूत ब्रह्म स्वतन्त्र है, पक्षभूत वेद स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि वह उपादानभूत ब्रह्ममें आरोपित है, जैसे उपादानस्वरूप रज्जुमें आरोपित रज्जुसर्प रज्जुके अधीन है ।

शङ्का—वेदको रज्जुसर्पकी भांति मिथ्या पदार्थ कैसे कहते हैं ?

समाधान—निर्वचन करना सम्भव न होनेसे मिथ्या कहा जा रहा है, ऐसा हमारा कहना है, [निर्वचनका असम्भव दिखलाते हैं—] क्योंकि क्या केवल वर्ण ही वेद हैं ? अथवा क्रमविशिष्ट वर्ण वेद हैं ? प्रथम कल्प नहीं हो सकता, कारण कि क्रमके बिना तथा उलट-पुलट उच्चारण किये गये वर्णोंमें वेदबुद्धि नहीं होती है । दूसरे पक्षमें भी क्या वह क्रम वर्णोंमें है ? या उच्चारणमें ? अथवा उपलब्धि (श्रावण प्रत्यक्ष) में ? वर्णोंमें माननेसे भी वह क्रम देशकृत नहीं हो सकता, क्योंकि वर्ण सर्वत्र व्याप्त हैं । कालकृत भी नहीं हो सकता, क्योंकि वर्ण नित्य हैं । वस्तु द्वारा भी नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें विरोध आता है, कारण कि एक ही समयमें राजा—इस क्रमसे युक्त वर्णोंमें—जार ऐसा जकारका आगे पीछे चला जाना युक्तियुक्त नहीं है । उच्चारणमें विद्यमान क्रम वर्णोंमें सम्बन्ध नहीं कर सकता, क्योंकि उच्चारण और उच्चारणका क्रम श्रोत्रेन्द्रियका विषय नहीं है । [वर्ण ही कानके विषय होते हैं, क्रियात्मक उच्चारण नहीं] और वेद तो वर्णस्वरूप और श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य है । उपलब्धिमें विद्यमान भी क्या

प्यते किं वा वर्णानामुपलक्षणम् ? नाऽऽद्यः; अन्यनिष्ठस्याऽन्यधर्मत्वानुपपत्तेः । द्वितीयेऽप्यख्यातिवादिनः क्रममात्रस्य वा वर्णमात्रस्य वा वेदशब्दानर्हत्वाद् विशिष्टप्रत्ययस्याऽनङ्गीकाराद् अविवेकमात्रमेव वेद इति अर्थावबोधो न स्यात् । अन्यथाख्यातौ पुनर्विशिष्टप्रत्ययस्याऽनङ्गीकाराद्, (अविवेकमात्रत्वात्) विशिष्टार्थस्य चाऽभावाद् ज्ञानातिरिक्तो वेदो न स्यात् । न तृतीयः, क्रमविशिष्टवर्णप्रत्ययस्य प्रत्यक्षत्वात् ।

वर्णोंका धर्म है अथवा वर्णोंमें आरोपित किया जाता है ? अथवा वर्णोंका उपलक्षण है ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं मान सकते, कारण कि अन्यमें रहनेवाला अन्यका धर्म नहीं हो सकता। दूसरे पक्षके माननेमें भी क्रममात्र या वर्णमात्र वेद नहीं माना जाता और अख्यातिवादी—मीमांसकके मतमें विशिष्टज्ञान माना नहीं गया है । अतः अविवेकमात्र ही वेद कहलायेगा, उससे अर्थबोध नहीं हो सकेगा। [यदि वर्णोंमें उपलब्धिगत क्रमका आरोप माना जाय, तो वह अन्यमें अन्य धर्मका प्रतिभास होनारूप भ्रमज्ञान होगा—और अख्यातिवादी मीमांसक उक्त लक्षणलक्षित भ्रमको परोक्षापरोक्ष दोनों ज्ञानोंका विवेक न होना रूप ही मानता है, जैसे कि प्रथम वर्णकके अध्यासवादमें स्पष्टरूपसे दिखलाया गया है। इससे अतिरिक्त विशिष्ट एक ज्ञान नहीं मानता]। अन्यथाख्यातिवादीके—विज्ञानवादी बौद्धैकदेशी, अथवा नैयायिकके—मतमें यद्यपि विशिष्ट ज्ञानका अङ्गीकार है, [तथापि वह ज्ञान तो भ्रममात्र है।] अतः उक्त विशिष्ट अर्थका अभाव होनेसे विज्ञानसे अतिरिक्त वेद और कुछ न होगा। [बौद्ध आन्तर विज्ञानमय वस्तुका धर्मभूत अनादि वासनासे आरोपित बाह्य वस्तुमें प्रतीत होनेवाले 'इदमिदम्' इत्यादि विशिष्ट ज्ञानको भ्रम मानता है और नैयायिक पुरोवर्ती शुक्ति आदिमें आपणस्थ रजत आदिमें रहनेवाले रजतत्वके आरोप द्वारा उत्पन्न 'यह रजत है' इस विशिष्ट ज्ञानको भ्रम मानते हैं। दोनोंके मतमें बाह्यार्थ शून्य ही भ्रमात्मक विशिष्ट ज्ञान होता है, सामने देशमें वास्तविक बाह्य वस्तुका अभाव ही है। इसलिए यह दूसरा आरोप पक्ष अन्यथाख्याति या अख्याति किसी मतमें भी नहीं बन सकता, इसलिए परिशेषात् उसे अनिर्वचनीय ही मानना होगा]।

तीसरा पक्ष—उपलक्षण मानना—भी उचित नहीं है, कारण कि क्रमविशिष्ट

अतोऽनिर्वचनीयो वेदः। अनिर्वचनीयस्यापि तुच्छव्यावृत्तत्वात् देहात्मवदर्थक्रियासामर्थ्यमविरुद्धम्। तदेवं ब्रह्मविवर्ततयाऽकार्यस्याऽपि वेदस्याऽनादित्वकूटस्थनित्यत्वाभ्यां मानान्तरादर्थोपलब्धिपूर्वकपुरुषेच्छाधीननिष्पाद्यत्वाभावान्न पौरुषेयत्वदोषः, सर्वार्थप्रकाशकवेदोपादानस्य ब्रह्मण उपाध्यायवैलक्षण्यादसर्वज्ञत्वदोषोऽपि न। न च ब्रह्मणः सर्वप्रकाशस्य सर्वसंसर्गित्वादेव सर्वज्ञतासिद्धौ वेदोपादानत्वेन तत्साधनं व्यर्थमिति वाच्यम्, वाय्वाकाशरसगन्धादिसंसर्गिणः सवितृकिरणस्य तत्प्रकाशकत्वा-

वर्णोंका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। उपलक्षण वह माना जाता है जो कदाचित् रहा हो और इदानीं न रहता हुआ भी परिचायक हो। प्रकृतमें वर्णके साथ क्रमका सम्बन्ध ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदमें सर्वदा क्रमविशिष्ट ही वर्ण रहते हैं, क्रमशून्य वर्ण कभी भी नहीं रहते, जिससे क्रम उपलक्षण * माना जाय। इन सब कारणोंसे वेद अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय होते हुए भी वेदके तुच्छ—वन्ध्यापुत्र आदि अलीक—पदार्थोंसे विलक्षण तथा व्यावहारिक सत्तावान् होनेसे देहमें आत्माभिमानके समान उसे व्यवहार करने करानेकी सामर्थ्यसे युक्त मानना कोई विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मका विवर्तरूप कार्य (अतात्त्विक परिणाम) होनेसे तथा अकार्य—किसी पुरुष द्वारा नहीं रचे हुए—वेदमें अनादित्व और कूटस्थ नित्यताके सिद्ध होनेके कारण प्रमाणान्तरोंसे अर्थज्ञान प्राप्त करके पुरुषकी इच्छाके अनुसार वेदका रचा जाना नहीं हो सकता, इसलिए वेदमें पौरुषेय—पुरुषप्रणीत—होनेका दोष नहीं आ सकता। और सम्पूर्ण अर्थोंका—विषयोंका—प्रकाश करनेवाले वेदके उपादानस्वरूप ब्रह्ममें उपाध्यायकी—आधुनिक गुरुकी—अपेक्षा विलक्षणता आनेके कारण असर्वज्ञ—अल्पज्ञ—होनेका दोष भी नहीं आता। स्वयंप्रकाश ब्रह्मका सकल अर्थजातके साथ सम्बन्ध होनेसे सर्वज्ञ होना सिद्ध हो ही जाता है, पुनः शास्त्रयोनित्व—वेदोपादानत्व—रूप हेतुके द्वारा उसका समर्थन करना व्यर्थ नहीं कहा जाना चाहिए, कारण कि वायु, आकाश, रस, तथा गन्ध आदि पदार्थोंके

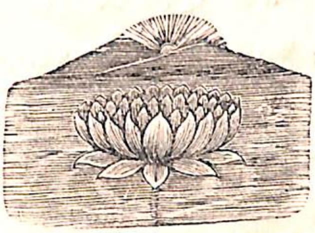
* 'यावत्कार्यमवस्थायिभेदे हेतोरुपाधिता। कादाचित्कतया भेदधीहेतुरुपलक्षणम्" यावत्कार्य पर्यन्त भेदका कारण अनन्वयी होता हुआ उपाधि कहलाता है। और यदि कादाचित्क भेदका कारण हो तो उपलक्षण कहलाता है।

दर्शनात् । तस्मात् सर्वार्थप्रकाशनसमर्थसर्ववेदोपादानतयैव सर्वज्ञत्वं साधनीयमिति सूत्रकाराभिप्रायः ।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे तृतीयसूत्रस्य प्रथमं वर्णकं समाप्तम् ।

साथ सम्बन्ध रखनेवाली सूर्यकी किरण उन वायु आदि पदार्थोंकी प्रकाशक हो, ऐसा नहीं देखा गया है । [अतः सर्वसंसर्गित्वमात्रसे सर्वज्ञत्व—सर्वप्रकाशकत्व—सिद्ध नहीं हो सकता] इसलिए सम्पूर्ण विषयोंके प्रकाशनमें—ज्ञान करानेमें—समर्थ सम्पूर्ण वेदका उपादान होनेसे ही सर्वज्ञताका साधन करना चाहिए, ऐसा सूत्रकारका अभिप्राय है ।

इति श्री पं० ललिताप्रसादडबराल-विरचित-विवरणोपन्यास-भाषानुवादमें तृतीयसूत्रका प्रथम वर्णक समाप्त ।



अथ तृतीयसूत्रे द्वितीयं वर्णकम्

अथवा द्वितीयसूत्रे लक्षणमभिधायाऽनेन प्रमाणं प्रतिज्ञायते—शास्त्रयोनित्वादिति, वेदप्रमाणकत्वादित्यर्थः। अनेकार्थसूचकत्वं सूत्रस्याऽलङ्कारो न वाक्यदोषमावहति, विश्वतोमुखमिति सूत्रलक्षणे दर्शनात्। ब्रह्मप्रमापकं च वेदवाक्यं 'यतो वा इमानि' इत्यादि। यद्यप्येतत्पूर्वसूत्र एवोदाहृतं तथाप्येतत्सूत्रवैयर्थ्यं नाऽस्ति, एतत्सूत्रप्रतिपाद्यं शास्त्रैकवेद्यत्वं ब्रह्मणोऽभिलक्ष्य पूर्वसूत्रस्याऽऽगमग्रथने तात्पर्याभिधानात्। अन्यथा पूर्वसूत्रस्य युक्त्युपन्यासमात्रे तात्पर्यं को निवारयेत्? युक्त्युपन्यासमात्रत्वे च प्रतिकार्यं

तृतीय सूत्रका द्वितीय वर्णक

[पूर्व वर्णकमें वेदका उपादान कारण होनेके कारण ईश्वर सर्वज्ञ है, ऐसा सिद्ध किया गया, अब द्वितीय सूत्र ही से लक्षणप्रतिपादन द्वारा सर्वज्ञताकी सिद्धि माननेपर भी वस्तुकी सिद्धिके लिए प्रमाणकी भी आवश्यकता होती है, क्योंकि 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः', ऐसा न्याय है, इसलिए इस द्वितीय वर्णकसे तृतीय सूत्रका तात्पर्य दिखलानेके लिए कहते हैं—] अथवा दूसरे सूत्रमें लक्षण दिखलाकर इस तीसरे सूत्रसे प्रमाणकी प्रतिज्ञा करते हैं—शास्त्र योनि याने प्रमाण होनेसे अर्थात् ब्रह्ममें वेद प्रमाण होनेसे, ऐसा अर्थ हुआ। सूत्रका यह भूषण ही है कि वह अनेक प्रकारके अर्थोंका सूचन करे, इससे सूत्रमें (अनेकार्थकत्वरूप) वाक्यदोष नहीं आ सकता, कारण कि सूत्रके लक्षणमें 'विश्वतोमुख' चारों ओर दृष्टि रखनेवाला (अर्थात् अनेक अर्थोंका सूचन करनेमें समर्थ), ऐसा विशेषण देखा गया है। ब्रह्ममें प्रमाणभूत वेदवाक्य 'यतो वा इमानि' (जिस ब्रह्मसे यह सब भूत) इत्यादि लेने या समझने चाहिए। यद्यपि 'यतो वा' इत्यादि वेदवाक्य उदाहरणरूपसे पूर्व सूत्रमें ही दिखलाये गये हैं, तथापि इस सूत्रको (पुनः इन वाक्योंको दृष्टान्त देनेके लिए) निष्प्रयोजन नहीं मान सकते, कारण कि ब्रह्मका केवल शास्त्र द्वारा ही बोध होता है, इस प्रकार इस तीसरे सूत्रके प्रतिपादनीय विषयको लक्ष्य करके ही पूर्व सूत्रका 'यतो वा'—इत्यादि श्रुतिवाक्योंका उद्धरण करनेमें तात्पर्य है, अन्यथा पूर्व सूत्रका केवल युक्ति मात्र दिखलानेमें तात्पर्य हैं इस अतिप्रसङ्गका निवारण कौन कर सकेगा? और

पृथक्कारणजन्यताया अपि संभवात्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म जगत्कारणमित्ययमर्थो न सिद्ध्येत्। न च बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्तत्सिद्धिः, बृहत्यर्थवाचिनो ब्रह्मशब्दस्याऽपि वेद एव प्रयोगात्। नहि लोके जगत्कारणे ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते। अतो जन्माद्यस्य यतः शास्त्रैकप्रमाणं तद् ब्रह्मेत्येतावदिदमेकं सूत्रम्, तावता युक्तिमात्रशङ्कानिवृत्तेः। पृथक्करणं तु शास्त्रोपादानत्वेन सर्वज्ञत्वं सुसंपादमिति व्याख्यानान्तरेण कथयितुम्। तस्माज्जगज्जन्मादिनिमित्तोपादानकारणं सर्वज्ञं ब्रह्म शास्त्रैकगम्यमिति सूत्रद्वयेन सिद्धम्।

तत्र बिम्बस्थानीयं ब्रह्म मायाशक्तिमत्कारणं जीवाश्च प्रत्येकमविद्या-

---

केवल युक्तिके प्रदर्शनमें तात्पर्य माननेसे तो प्रत्येक कार्यके पृथक्-पृथक् कारणोंसे उत्पन्न होनेका भी सम्भव होनेसे 'सर्वज्ञ, सकल शक्तिशाली एक ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसारका कारण है' इस अभीष्ट अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। बृहि धातुके अर्थानुगम द्वारा भी उक्त अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, कारण कि बृहि धातुके अर्थके वाचक ब्रह्मशब्दका प्रयोग भी तो वेदमें ही आया है। संसारके कारणभूत किसी वस्तुके लिए लोकमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग नहीं किया जाता है, इसलिए 'जिसके द्वारा इस विश्वके जन्म आदि होते हैं, वह ब्रह्म केवल शास्त्रप्रमाणक है' इतने ही अर्थमें तात्पर्य रखनेवाला यह एक तीसरा सूत्र है। इससे युक्तिमात्रकी शङ्का निवृत्त हो जाती है। पृथक् सूत्र करना तो शास्त्रोपादानत्वरूप हेतुसे ब्रह्मके सर्वज्ञत्वका भली भाँति संपादन किया जा सकता है, ऐसा दूसरे व्याख्यानसे कहनेके लिए है। इस निष्कर्षसे संसारके जन्म आदिका निमित्त तथा उपादान-कारणभूत सर्वज्ञ ब्रह्म केवल शास्त्र द्वारा जाना जा सकता है, ऐसा अर्थ दोनों सूत्रोंसे सिद्ध होता है।

[एक शुद्ध ब्रह्म मायावश जगद्रूपमें परिणत होता हुआ कारण माना जाय, तो विद्याके उत्पन्न होनेपर अविद्याका विनाश हो जानेसे संसारकी निवृत्ति हो जानी चाहिए, इससे एककी ही मुक्तिसे सबकी मुक्ति होगी, इस अतिप्रसङ्गका वारण करनेके लिए मतभेद दिखलाते हैं—] बिम्बस्थानीय मायाशक्तिशाली ब्रह्म प्रपञ्चका कारण है और प्रत्येक जीव अपनी-अपनी (प्रारब्ध कर्मोपार्जित) अविद्यासे घिरे हैं, [इससे जिसमें विद्याका उदय होगा उसीमें

नुबन्धा इति केचित् ।

मायाविद्याप्रतिविम्बितं जगत्कारणं विशुद्धब्रह्मामृतत्वालम्बनं जीवाश्चाऽविद्यानुबन्धा इत्यन्ये ।

प्रथमे पक्षे मायाविद्ययोर्भेदः ब्रह्मणश्च न प्रतिविम्बता द्वितीये तु तद्वैपरीत्यमिति विशेषः ।

ब्रह्मसिद्धिकारास्त्वेवमाहुः—जीवा एव स्वाविद्यया प्रत्येकं प्रपञ्चाकारेण ब्रह्मणि विभ्राम्यन्ति, ब्रह्म तु मायाविशिष्टं बिम्बरूपं प्रतिबिम्बरूपं वा न जगत्कारणम् । यत्त्वया दृष्टं तन्मया दृष्टमिति संवादस्तु बहुपुरुषावगतद्वितीयचन्द्रवत्सादृश्यादुपपद्यते ।

अविद्याके नष्ट होनेसे उसका ही संसार विलीन होगा, सबका नहीं] ऐसा कोई वादी मानते हैं ।

दूसरे वादियोंका मत है कि मायारूप अविद्यामें प्रतिबिम्बित ब्रह्म विश्वका कारण है और मायारहित शुद्ध ब्रह्म अमृतत्वका—मुक्तिका—स्थान है और जीव अविद्या ही से आवृत रहते हैं । [इस मतमें भी पूर्व मतकी भाँति अविद्याके नानात्वसे समाधान किया जाता है । दोनों मतोंमें भेद दिखलाते हैं—]

प्रथम मतमें माया और अविद्यामें भेद माना गया है और ब्रह्म प्रतिबिम्बरूप नहीं माना गया है । दूसरे मतमें तो इसके विपरीत है (अर्थात् माया और अविद्यामें भेद नहीं माना गया और ब्रह्मका प्रतिबिम्बरूप होना भी माना गया है) ।

[ब्रह्मसिद्धिनामक ग्रन्थके रचयिताका (सुरेश्वराचार्यका) कहना है कि जीव ही अपनी-अपनी अविद्याके बलसे प्रत्येक घट, पट आदि रूप प्रपञ्चके आकारसे ब्रह्मविषयक भ्रममें पड़े रहते हैं (अर्थात् अपनी अविद्या द्वारा ब्रह्मको प्रपञ्चाकारमें प्रकट करते हैं) मायाविशिष्ट बिम्बरूप या प्रतिबिम्बरूप ब्रह्म तो प्रपञ्चका कारण नहीं है । [इस मतमें भी अविद्याका नानात्व और प्रपञ्चभेदसे ही समाधान समझना चाहिए] । [प्रपञ्चभेद माननेमें अतिप्रसङ्गका समाधान करते हैं—] 'जिस (घटादि) को तुमने देखा उस (घटादि) को मैंने देखा' इस प्रकार संवाद—दोनोंके दर्शनके विषय घटादि प्रपञ्चमें एकताकी प्रतीति—तो अनेक पुरुषोंसे ज्ञात हुए दूसरे चन्द्रमाके तुल्य सादृश्यमहिमासे होता है । [जैसे सर्वसम्मतिसे चन्द्रमाका एक होना ही सिद्ध है, परन्तु

स्वरूपेणाऽधिष्ठानत्वमपेक्ष्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वव्यपदेश इतीष्टसिद्धिकाराः प्रकारान्तरेण वर्णयन्ति । ब्रह्मैकमेव स्वाविद्यया जगदाकारेण विवर्त्तते स्वप्नादिवदिति ।

सर्वेऽप्येते सिद्धान्ताः, प्रक्रियाणां तत्त्वावबोधाय कल्पितत्वादिति सर्वं निर्मलम् ।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीतविवरणप्रमेयसंग्रहे तृतीयसूत्रस्य द्वितीयं वर्णकं समाप्तम् ।

इति तृतीयसूत्रम् ।

पुरुषके अक्षिगत दोषके कारण कभी कभी दो चन्द्रमा दिखलाई पड़ते हैं। वह दूसरा चन्द्रमा केवल दोषसे कल्पित है और दोष सबके पृथक्-पृथक् हैं, इसलिए उन पृथक्-पृथक् दोषोंसे कल्पित चन्द्रमा भी पृथक्-प्रथक् ही हैं, परन्तु सादृश्यके बलसे संवाद हो जाता है एवं प्रतिपुरुषस्थ पृथक्-पृथक् अविद्यासे पृथक्-पृथक् जीवोंने अपने आपमें घट, पट आदि विश्वकी कल्पना की, परन्तु उनमें सादृश्यकी महिमासे ही संवाद—व्यवहार—हो जाता है। इष्टसिद्धिकार पूर्वोक्त मतका ही दूसरे प्रकारसे वर्णन करते हैं—]

स्वरूपतः अधिष्ठानत्वकी अपेक्षा करके ब्रह्म विश्वका कारण है, ऐसा व्यवहार होता है। एक—अद्वितीय—ब्रह्म ही अपनी अविद्याके द्वारा प्रपञ्चके आकारसे विवर्तरूप परिणामको प्राप्त होता है, स्वप्नादिके तुल्य। [जैसे स्वप्न केवल मनका ही विवर्तरूप है, वैसे ही विश्व भी ब्रह्मका विवर्त है।] उक्त प्रकारके सभी सिद्धान्त हैं, और उनकी प्रक्रियाओंकी कल्पना तत्त्वका—रहस्यका—ज्ञान होनेके ही लिए की गई है, अतः सब कुछ निर्मल—दोषरहित—है। [इससे सिद्धान्तोंकी रीतिके भेदसे अद्वैततत्त्वमें हानि नहीं आ सकती, क्योंकि ये तो सब तत्त्वज्ञानके उपायभूत कल्पनामात्र हैं, अतः उपायोंमें रहनेवाला भेद उपेयमें भेद नहीं ला सकता।]

इति श्री पं० ललिताप्रसादडबरालविरचितविवरणोपन्यास-भाषानुवादमें तृतीय सूत्रका द्वितीय वर्णक समाप्त।

अथ चतुर्थ सूत्रम्

तृतीयसूत्रे ब्रह्मणि वेदान्ताः प्रमाणमिति प्रतिज्ञातं चतुर्थसूत्रे तत्प्रामाण्यमुपपाद्यते ।

ननु सूत्रकारवचनविरोधाद्भूतवस्तुप्रतिपादनायोगात्प्रयोजनशून्यत्वादनधिगतार्थत्वाभावाच्च न ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यं संभवति । सूत्रकारो हि जैमिनिः 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इति सूत्रेणाऽक्रियार्थानां वेदान्तानामानर्थक्यमेवाऽऽह । यद्यप्यादिमध्यावसानेषु वेदान्तानां ब्रह्मैक्यतात्पर्यदर्शनाद् नाऽऽनर्थक्यसंभवस्तथापि न प्रामाण्यं घटते । ब्रह्मबोधका वेदान्ता न प्रमाणम् , मानान्तरयोग्यत्वे सति मानान्तरानुपलभ्यस्य ब्रह्मणो बोधकत्वात् ,

---

अथ चतुर्थ सूत्र

तीसरे सूत्रमें प्रतिज्ञा की गयी कि ब्रह्ममें वेदान्तवाक्य प्रमाण हैं, अब चतुर्थ सूत्रसे उन वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है ।

शङ्का—ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य नहीं हो सकता, कारण कि सूत्रकार—पूर्वमीमांसाकार—जैमिनि मुनिके वचनसे विरोध आता है और सिद्धस्वरूप वस्तुका प्रतिपादन करनेके लिए अवसर ही नहीं आ सकता एवं उसका प्रतिपादन करनेसे कोई प्रयोजन—अभीष्ट—ही सिद्ध नहीं होता है । [तथा उसका प्रतिपादन किन्हीं अपूर्व-प्रमाणान्तरोंसे अज्ञात विषयका प्रतिपादन स्वरूप नहीं होता । प्रामाण्य उन्हीं वाक्योंका माना जाता है, जिनमें उक्त दोष न आते हों । उक्त दोषोंका क्रमशः समन्वय करते हैं—] सूत्रोंके रचयिता जैमिनि मुनिने 'शास्त्र क्रियाके लिए है'—इत्याद्यर्थक सूत्रके द्वारा जो क्रियार्थक नहीं हैं उन वेदान्तवाक्योंको निरर्थक (प्रयोजनशून्य) ही कहा है । यद्यपि आदि (उपक्रम), मध्य (अभ्यास) और अवसान (उपसंहार) में वेदान्तवाक्योंका ब्रह्मकी अद्वितीयतामें तात्पर्य होनेसे वे निरर्थक नहीं हो सकते, तथापि उनका (वेदान्तवाक्योंका) प्रमाण होना संगत नहीं है, [कारण कि अनुमानसे उनका अप्रामाण्य सिद्ध होता है । अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—] 'ब्रह्मका बोध करानेवाले वेदान्त प्रमाण नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे दूसरे प्रमाणोंके योग्य होकर

यथा स्पर्शयोग्यस्य स्पर्शाऽनुपलभ्यस्य चित्रगतनिम्नोन्नतभावस्य बोधकं चाक्षुषज्ञानम् । न च विशेषणासिद्धिः, ब्रह्म मानान्तरयोग्यम्, परिनिष्ठितवस्तुत्वाद्, घटादिवद् । न च ब्रह्मैकप्रमाणवेद्यम्, परिनिष्ठितत्वात्, गन्धादिवदिति वाच्यम्, चक्षुःस्पर्शनग्राह्येषु घटादिद्रव्येष्वनैकान्त्यात् । तथापि प्राभाकराभिमतं कार्यं प्रमाणान्तरयोग्यम्, तुच्छव्यावृत्तत्वाद्, घटवत्, इत्याभाससमानत्वमिति चेद्, न; परिनिष्ठितत्वस्योपाधित्वात् । अनुमेय-

---

दूसरे प्रमाण द्वारा न जाने गए ब्रह्मके बोधक हैं, जैसे स्पर्श द्वारा जानने योग्य स्पर्श द्वारा न जाने जाते हुए चित्रमें दिखलाये गये निम्नोन्नतभाव—ऊँचाई-निचाई—का बोध करानेवाला चाक्षुष प्रत्यक्ष । [चाक्षुष प्रत्यक्षसे चित्रमें ऊँचाई-निचाईका ज्ञान होता है और उँचाई-निचाई स्पर्शके योग्य भी है, परन्तु वह चित्रमें स्पर्शसे ज्ञात नहीं हो सकती । अतः चित्रमें चक्षुसे ऊँचानीचापनका देखना भ्रम है । यदि यथार्थ होता तो स्पर्शसे भी प्रतीत होता एवं सिद्ध वस्तुभूत ब्रह्म शब्दसे अतिरिक्त प्रमाणोंसे भी जाना जा सकता है, परन्तु जाना जा रहा है केवल वेदान्तरूप शब्द ही से, अतः तादृश शब्द प्रमाके जनक नहीं माने जा सकते, सिद्ध वस्तुको केवल शब्दैकगम्य मानना उचित नहीं है, अतः उसको प्रमाणान्तरयोग्य ही मानना चाहिए] 'मानान्तरयोग्यरूप' विशेषणका न हो सकना भी नहीं माना जा सकता, कारण कि ब्रह्म प्रमाणान्तर योग्य—दूसरे प्रमाणोंसे ज्ञात होने योग्य—है, कारण कि वह घटादि पदार्थोंके सदृश परिनिष्ठित—सिद्ध—वस्तुरूप है । 'ब्रह्म केवल एक प्रमाणके ही द्वारा जाना जा सकता है, परिनिष्ठित होनेसे गन्ध आदि परिनिष्ठित पदार्थोंके तुल्य' ऐसा अनुमान भी नहीं हो सकता, कारण कि चक्षु और स्पर्शके द्वारा प्रतीत होने योग्य घटादि द्रव्योंमें व्यभिचार है ।

शङ्का—[यद्यपि उक्त अनुमानसे सिद्ध वस्तुमें प्रमाणान्तरयोग्यता प्रतिपादित की गई—] तथापि (उक्त अनुमान) प्रभाकरानुयायियोंका सम्मत कार्य प्रमाणान्तर योग्य है, तुच्छसे पृथक् होनेसे, घट आदिके तुल्य, [जैसे घट आदि तुच्छ—वन्ध्यापुत्र आदि अलीक—पदार्थसे विलक्षण हैं, अतः प्रमाणान्तरयोग्य हैं, वैसे कार्य भी हैं] इस अनुमानाभासके समान है (अर्थात् पूर्वोक्त अनुमान भी सदनुमान नहीं है) ।

भविष्यद्वृष्ट्यादौ परिनिष्ठितत्वाभावान्न साध्यव्याप्तिरिति चेद्, एवमपि प्रमाणान्तरयोग्यत्वं प्रति प्रतियोग्यपेक्षस्य तुच्छव्यावृत्तत्वस्य प्रयोजकत्वे गौरवं तन्निरपेक्षस्य परिनिष्ठितत्वस्य प्रयोजकत्वे लाघवमिति नाऽस्त्येव साम्यम्। ब्रह्म शब्दैकगम्यम्, रूपादिभिर्व्याप्तिग्रहादिभिश्च हीनत्वात्, परकीयकार्यवत्, इति चेद्, नः अनुभवगम्यताया अपि भवद्भिरङ्गीकारात्। एवं च सति प्रथमानुमाने हेतुगतं मानान्तरानुपलभ्यस्येति विशेषणमसिद्धमिति चेद्, नः अनुमातॄणां ब्रह्मानुभवासिद्धौ विशेषणासिद्धेः। अतः

समाधान—इस अनुमानके तुल्य पूर्वोक्त अनुमान नहीं है, कारण कि इस अनुमानमें परिनिष्ठितत्वरूप उपाधि है (अर्थात् दृष्टान्तभूत घटादि परिनिष्ठित भी हैं और प्रमाणान्तरयोग्य भी हैं, परन्तु कार्य परिनिष्ठितस्वरूप नहीं है)। (उपाधिमें साध्यव्यापकत्वका व्यभिचार देते हैं—) अनुमानसे प्रतीत होने योग्य होनेवाली वृष्टि आदिमें परिनिष्ठितत्वके न होनेसे साध्यके साथ व्याप्ति नहीं है, इस प्रकार यदि कहा जाय, तो भी प्रमाणान्तरयोग्यत्वके प्रति प्रतियोगीकी अपेक्षा रखनेवाले तुच्छव्यावृत्तत्वको प्रयोजक माननेमें गौरव है और प्रतियोगीकी अपेक्षासे शून्य परिनिष्ठितत्वको प्रयोजक माननेमें लाघव है, इसलिए पूर्वोक्त अनुमानाभासकी समानता नहीं हो सकती। [इस अनुमानमें प्राणान्तरयोग्यत्वका प्रयोजक तुच्छव्यावृत्तत्व कहा गया है, इसमें तुच्छव्यावृत्तत्वग्रहके लिए प्रतियोगिभूत तुच्छके ज्ञानकी अपेक्षासे गौरव होता है। और पूर्वोक्त अनुमानमें प्रकृत साध्यका प्रयोजक परिनिष्ठितत्वरूप हेतु है, इसमें प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा न होनेसे लाघव है] यदि 'ब्रह्म केवल शब्दप्रमाणसे ही प्रतीत होने योग्य है, कारण कि वह रूप आदि और व्याप्तिग्रह आदिसे रहित है, जैसे कि दूसरेके कार्य हैं' ऐसा कहा जाय, तो भी उचित नहीं है, कारण कि आप तो अनुभवयोग्य भी ब्रह्मको मानते हो। यदि कहो कि ऐसा—अनुभवगम्य—माननेसे प्रथम अनुमानमें दिये गये 'मानान्तरसे न जानने योग्यरूप' हेतुके विशेषणकी सिद्धि नहीं हो सकती, तो ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि अनुमान करनेवाले वादीके मतमें ब्रह्मविषयक अनुभवकी सिद्धि न होनेसे उक्त विशेषणकी सिद्धि हो जाती है, इसलिए संवादक—सदृश अर्थके प्रमापक—मूल

प्रथमानुमानेन संवादकमूलप्रमाणरहितानां वेदान्तानामप्रामाण्यं सिध्यति। अपौरुषेयवचसां न मूलप्रमाणापेक्षेति चेत्, सत्यम्; तथापि 'अहं मनुष्यः' इति प्रत्यक्षेण बाधितत्वात् 'आदित्यो यूपः' इतिवदप्रामाण्यमेव। उक्तप्रत्यक्षस्य दोषजन्यत्वेन श्रुत्यबाधकत्वेऽपि सिद्धे ब्रह्मणि प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहाररूपप्रयोजनासंभवात् तात्पर्यरहिता वेदान्ता नैव प्रामाण्यं लभन्ते।

अथोच्येत—न प्रयोजनं तात्पर्यं वा प्रामाण्यप्रयोजकं किन्त्वनवगतार्थबोधकत्वमिति। एवमपि मानान्तरायोग्यं कार्यमेव वेदः प्रमापयतु न तु तद्योग्यं सिद्धं ब्रह्म। तस्मादनर्थका वेदान्ताः। अध्ययनविधिपरिगृहीतानामप्रामाण्यमयुक्तमिति चेत्, तर्हि कर्तृरूपस्य जीवस्य देवतारूपस्य ब्रह्मणश्च प्रकाशकत्वेन क्रियाविधिशेषत्वमस्तु, तथा च मन्त्रार्थवादादिवत्प्रामाण्यं सेत्स्यतीति। ब्रह्मविधायकत्वेनैव प्रामाण्यमस्त्विति

प्रमाणोंसे रहित वेदान्तवाक्योंमें प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अपौरुषेय वाक्योंको मूल प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, (वे तो स्वतः प्रमाण हैं) तथापि 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रत्यक्षसे बाधित होनेके कारण 'सूर्य यूप—स्तम्भ—है' इस प्रतीतिके समान इनका अप्रामाण्य ही हो जाता है। यद्यपि उक्त 'अहं मनुष्यः' यह प्रत्यक्ष दोषजनित होनेसे श्रुतिका बाधक नहीं हो सकता, तथापि सिद्धभूत ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे साध्य इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहाररूप किसी भी प्रयोजनका सम्भव न होनेसे वेदान्तवाक्य तात्पर्यशून्य होकर प्रामाण्यको नहीं पा सकते।

यदि कहा जाय कि प्रयोजन या तात्पर्य प्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, किन्तु अनवगत—दूसरे प्रमाणोंसे अज्ञात—अर्थका बोधक होना ही प्रामाण्यका प्रयोजक है, तो भी प्रमाणान्तरके अयोग्य कार्यकी (कर्मकाण्डकी) ही वेद प्रमा करावेगा, प्रमाणान्तरके योग्य सिद्ध ब्रह्मका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करावेगा, इसलिए वेदान्तवाक्य प्रयोजनशून्य ही ठहरे। यदि कहो कि अध्ययनविधिसे प्रयुक्त हुए वेदान्तवाक्योंको अप्रमाण मानना युक्त नहीं है, तो कर्तास्वरूप जीव तथा देवतारूप ब्रह्मके बोधक होनेसे वेदान्तवाक्योंको क्रियाविधिका (अनुष्ठानात्मक कर्मकलापका) अङ्ग मानिये। इससे मन्त्र और अर्थवादके वाक्योंके समान (विधिशेष होनेसे) उनका भी प्रामाण्य सिद्ध हो

चेद्, नः क्रियाविषयस्य विधेः परिनिष्ठितवस्तुन्यसंभवात्। ननु न तावद्वेदान्ता एकस्य विधेः शेषभूताः, 'सोऽरोदीत्' इत्यादिवत्प्रकरणपाठाभावात्। नाऽपि सर्वविधिसमूहस्य, भिन्नवस्तुप्रतिपादकानां सर्वविधीनामेकवाक्यत्वाभावात्। न च धर्मसामान्यमेकमेव सर्वविधिभिः प्रतिपाद्यमिति वाच्यम्, सामान्यस्याऽनुष्ठानानर्हत्वात्। अथोच्येत यथा सर्वक्रतुसंबन्धिन्या जुह्वाः प्रकृतिद्रव्यं समर्पयत्पर्णमयीवाक्यमनारभ्याधीतमपि सर्वक्रतुवाक्यानां प्रत्येकं शेषभावं भजते तथा कर्त्तुः समर्पका वेदान्ता अपीति। नैतत्सारम्; निर्विशेषप्रधानैर्वेदान्तैरात्मनि स्तूयमाने प्रतिपाद्यमाने वा कर्मप्रवृत्तावनुपयोगात्। न चोपयोगः कल्पयितुं शक्यः, कर्तृत्वादिसर्वविशेषनिराकरणस्य प्रवृत्तिविरोधित्वात्। तस्मान्न क्रिया-

---

जायगा। ब्रह्मके विधायक मानकर (अर्थात् विधिशेष न मानकर) तो उनका प्रामाण्य नहीं बन सकता, कारण कि क्रियाकी विषयभूत विधि सिद्धस्वरूप वस्तुमें नहीं हो सकती। वेदान्तवाक्य किसी एक विधानके अङ्ग तो नहीं माने जा सकते, कारण कि 'वह रोया' इत्याद्यर्थक वाक्यके समान किसी प्रकरणमें उनका पाठ नहीं है। और सम्पूर्ण विधानोंके अङ्ग भी नहीं हो सकते, क्योंकि भिन्न-भिन्न वस्तुके प्रतिपादक सम्पूर्ण विधानोंकी एकवाक्यता नहीं होती। सम्पूर्ण विधियोंसे एक ही धर्मसामान्यका विधान भी नहीं मान सकते, कारण कि सामान्यका अनुष्ठान करना सम्भव नहीं हो सकता, [क्योंकि 'अभियुक्तोंका कथन है—'निर्विशेषं न सामान्यम्' अर्थात् विशेषके बिना सामान्य है ही नहीं।] यदि कहा जाय कि जैसे सम्पूर्ण यागोंसे संबन्ध रखनेवाली जुहूके प्रकृति-द्रव्यका—जिससे वह बनती है उस द्रव्यका—समर्पण करनेवाला 'यस्य पर्णमयी जुहूः' यह वाक्य प्रकरणके बिना यद्यपि पढ़ा गया है, तथापि सम्पूर्ण क्रतुवाक्योंमें वह प्रत्येकका अङ्ग होता है, वैसे ही यज्ञकर्ताका बोध करानेवाले वेदान्तवाक्य भी सब विधियोंके अङ्ग हो जायंगे, तो यह कहना भी सारगर्भित नहीं है, क्योंकि निर्विशेषप्रधान (प्रधानतया विशेषशून्यके प्रतिपादक) वेदान्तवाक्यों द्वारा स्तूयमान अथवा प्रतिपाद्यमान आत्मामें कर्मोंकी प्रवृत्ति होनेपर कोई उपयोग नहीं आता। [कर्मोंकी सफलता और अनुष्ठानयोग्यता तो कर्ता तथा देवता दोनोंके सविशेष होनेसे ही हो सकती है]। उपयोगकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, कारण कि कर्तृत्व आदि सम्पूर्ण विशेषोंका

विधिशेषा वेदान्ताः ।

एवं तर्हि सगुणोपासनाविधिशेषा भवन्तु, न चैवं मन्तव्यम् ; उपासनाविधिशेषैरपि वेदान्तैः सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं जगत्कारणं परिनिष्ठितं ब्रह्मस्वरूपं न सिध्यति संवादकमूलप्रमाणाभावात् । अत उपास्यासिद्धौ कथमुपासनाविधिः दूरे तच्छेषत्वं वेदान्तानामिति अनुमानादनिर्दिष्टविशेषे जगत्कारणेऽवगते तस्योपासनाविधौ नित्यशुद्धबुद्धसत्यज्ञानानन्तत्वाद्युपास्यगुणारोपेण वेदान्तानामन्वयात् । ननु वेदान्तानामुपासनाविधिपरत्वेन देवताकाण्डेऽन्वयस्तावन्नाऽस्ति, प्रकरणभेदात्; स्वकाण्डे

निराकरण करना प्रवृत्तिका विरोधी है । इसलिए वेदान्तवाक्य क्रियारूप विधिके अङ्गभूत नहीं हो सकते ।

पुनः वादी अपने मतका समर्थन करता है कि वेदान्त क्रियाकलापात्मक विधिके शेष नहीं हो सकते हों, तो मत हों, परन्तु उन्हें सगुण उपासना (जो क्रियाकलापरूप नहीं है, किन्तु केवल बुद्धिपरिणाममात्र है) रूप विधिके अङ्ग माननेमें क्या हानि है ? समाधान किया जाता है कि ऐसा नहीं मानना चाहिए, कारण कि उपासनाविधिके अङ्गभूत वेदान्तवाक्योंके द्वारा भी सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त और विश्वके कारण सिद्धवस्तुभूत ब्रह्मका स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें सम्मति देनेवाला (प्रमापक) मूल प्रमाण नहीं है [मूल प्रमाणभूत वेदान्तवाक्य तो उपासनाविधिके अङ्ग हो जाते हैं, इसलिए उनको अतिरिक्त प्रधान प्रमाणकी आवश्यकता होगी] इसलिए उपास्य देवताकी सिद्धि न होनेसे जब उपासनाका विधान ही सङ्गत नहीं हो सकता है, तब उस उपासनाविधिका वेदान्तोंको अङ्ग मानना तो दूर ही रहा (अर्थात् नहीं बन सकता) । इसलिए विश्व-प्रपञ्चका कारण विशेषशून्य है, ऐसा अनुमानसे जान लेनेपर उसमें उपासनाविधिके उपयुक्त नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, ज्ञान, अनन्तत्व आदि गुणोंके आरोपसे वेदान्तवाक्योंका समन्वय होता है । [तात्पर्य यह है कि उपासनाका अङ्ग होनेसे ब्रह्मस्वरूपकी सिद्धि नहीं की जा रही है, किन्तु अनुमान द्वारा ज्ञात उपास्यमें गुणोंके आरोप द्वारा वेदान्तोंका उपासनाविधिमें समन्वय किया जा रहा है] । इस प्रकारका समन्वय, उपासनाविधिपरक माननेसे, किया जाय, तो देवताकाण्डमें अन्वय तो भिन्न प्रकरण होनेसे हो नहीं सकता, केवल वस्तु-

तु वस्तुमात्रपर्यवसायिनि न कोऽपि विधिः श्रूयते। न च कल्पयितुं शक्यते, 'पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यादौ द्रव्यदेवतासंबन्धवदत्र विधिकल्पकस्याऽश्रुतत्वादिति चेद्, मैवम्; अध्ययनविधिपरिग्रहेण प्रामाण्यं परिकल्प्य तत्प्रामाण्यान्यथानुपपत्त्योपासनाविधेः कल्पयितुं शक्यत्वात्। फलं च 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इत्याद्यर्थवादगतं मोक्षरूपमवगन्तव्यम्। तस्मान्न ब्रह्मणि वेदान्ताः प्रमाणम्, किन्तूपासनायाम्।

इत्येवं पूर्वपक्षे प्राप्ते सूत्रकार आह—'तत्तु समन्वयात्' इति। तुशब्देन पूर्वपक्षो निषिध्यते। तदिति स्वपक्षे प्रतिज्ञा—तद् ब्रह्म वेदान्तैः प्रमीयते इत्यर्थः। कुतः? वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्येण सम्यगन्वितत्वात्। तात्पर्यं हि पुरुषधर्मः, स च कथं वेदान्तानां स्यादिति चेद्, मैवम्;

मात्रका प्रतिपादन करनेमें तात्पर्यवाले अपने काण्डमें तो किसी विधिका भी श्रवण नहीं है और न उसकी कल्पना करना ही सम्भव है, कारण कि 'सूर्यका प्रपिष्ट द्रव्य भाग है' इत्याद्यर्थक वाक्यमें द्रव्य तथा देवताके सम्बन्धके तुल्य प्रकृतमें विधिका कल्पक वाक्य श्रुतिमें नहीं आया है, समाधान ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि अध्ययनविधिके बलसे (वेदान्तवाक्योंके प्रामाण्यकी कल्पना करके उस कल्पित प्रामाण्यकी अन्यथा अनुपपत्तिके आधारपर (अपने काण्डमें भी) उपासनाविधिकी कल्पना की जा सकती है। और उसका फल (अरे उपासक या जिज्ञासु ! यही या इतना ही अमृतत्व है) इस अर्थवादके बलसे मोक्षरूप समझना चाहिए। इस निष्कर्षसे सिद्ध होता है कि ब्रह्मका प्रतिपादन करनेसे वेदान्तोंका प्रामाण्य नहीं हो सकता, किन्तु उपासनामें तात्पर्य माननेसे ही हो सकता है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष होनेपर सूत्रकार कहते हैं—'तत्तु समन्वयात्' अर्थात् वह ब्रह्म तो वेदान्तवाक्योंसे प्रतिपादित होता है, कारण कि उनका तात्पर्य ब्रह्ममें ही भली भाँति घटता है। 'तु' शब्दसे उक्त पूर्वपक्षका निषेध किया गया है। 'तत्' पदसे अपने पक्षमें प्रतिज्ञा दिखलाई गई है—वह ब्रह्म वेदान्तवाक्योंसे यथार्थज्ञानका विषय किया जाता है, क्योंकि वेदान्तोंका ब्रह्ममें तात्पर्य द्वारा उचित अन्वय किया गया है।

शङ्का—तात्पर्य तो पुरुषका धर्म है, अतः वह पुरुषधर्मस्वरूप तात्पर्य वेदान्तोंका धर्म कैसे हो सकता है ?

नहि विवक्षैव तात्पर्यम्, सत्यामपि विवक्षायामप्रयुक्ते शब्दे तात्पर्यव्यवहाराभावात्। नाऽपि पुरुषप्रयोगमात्रम्, उन्मत्तादिप्रयोगे तदभावात्। अतस्तदर्थप्रमितिशेषत्वं तात्पर्यम्। तच्च शब्दधर्म एव। न च तस्मिन्नपि विवक्षैव तत्प्रयोजिकेति वाच्यम्, केवलव्यतिरेकाभावात्। सत्यपि तादर्थ्ये विवक्षाभावापराधेन तात्पर्याभावादर्शनात्। न च विवक्षाव्य-

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि विवक्षा—कहनेकी इच्छा-मात्र—ही तात्पर्य नहीं कहलाती है, (जिससे कि वह वेदान्तधर्म न हो सके) कारण कि विवक्षाके रहते भी शब्दप्रयोगके बिना तात्पर्यव्यवहार नहीं हो सकता। [वक्ताकी इच्छा है घटादिबोधके तात्पर्यसे घटादि पदोंका उच्चारण करे, परन्तु जब तक वह घटादि पदका प्रयोग न करेगा तब तक उसकी विवक्षा तात्पर्यके रूपमें परिणत न होगी, अतः केवल विवक्षा तात्पर्य नहीं है] और पुरुषका—वक्ताका—शब्दप्रयोगमात्र भी तात्पर्य नहीं है, क्योंकि उन्मत्त—प्रमादी—आदि वक्ताके प्रयोगमें तात्पर्य नहीं रहता। इसलिए तदर्थ-प्रमितिशेषत्व—उस विवक्षित अर्थका यथार्थ ज्ञान करानेकी सामर्थ्य—ही तात्पर्य है। ['स चासौ अर्थः तदर्थस्तस्य प्रमितौ शेषः समर्थः उपकारक इति यावत्, तस्य भावः' इस विग्रहसे उक्त अर्थ सिद्ध होता है।] और इस प्रकारका तात्पर्य शब्दोंका ही धर्म है, [कारण कि अर्थबोधकी विवक्षासे ही उसके अनुसार अर्थबोध करानेके लिए शब्दप्रयोग किया जाता है, अतः तात्पर्य शब्दधर्म है।]

[यद्यपि विवक्षाके अनुसार अर्थबोध करानेके लिए किया हुआ प्रयोग शब्दोंका ही धर्म है, परन्तु शब्दप्रयोगकी नियामिका तो विवक्षा ही है, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] उस प्रकारके प्रयुक्त रूप शब्दधर्ममें भी तो विवक्षा ही नियामिका है। [इससे विवक्षाको ही तात्पर्य कहना चाहिए और वह पुरुषधर्म है, शब्दधर्म नहीं है]।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, कारण कि इसमें केवल-व्यतिरेकका अभाव है। (केवलव्यतिरेकका अभाव दिखलाते हैं—) तादर्थ्यके—अर्थकी प्रमिति करानेमें समर्थ शब्दप्रयोगके—रहते ([1]भी) विवक्षाके अभाव रूपी अपराधसे तात्पर्यका अभाव नहीं देखा गया है। [इसलिए 'विवक्षाके

१ मूलमें अपि पाठ अधिक ही आ गया है।

तिरेकेण तात्पर्यगमकाभावः, उपक्रमादीनां भावात् । न च प्रमेयस्य कार्यत्वमेव तात्पर्यगमकम्, 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादिष्वसत्यपि कार्यत्वे तात्पर्यदर्शनात् । तत्राऽपि तात्पर्यादेव प्रमेयस्य कार्यपर्यवसानमनुमीयतामिति चेद्, न; कार्यत्वप्रमितितात्पर्ययोरन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । कार्यविषयप्रमितौ सत्यां तत्प्रमितिजननसामर्थ्यलक्षणं तात्पर्यं सिध्यति, सिद्धे च तस्मिँस्तत्प्रमितिसिद्धिरिति । ननु तात्पर्याभावः प्रतीतिप्रतिबन्धकः, 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादौ वाक्यादेव प्राप्ताया विषभोजनप्रमितेस्तात्पर्याभावेन प्रतिबध्यमानत्वात् । तत्प्रतिबन्धनिवारकं च तात्पर्यम् । तथा च प्रथमतो वाक्यादेव कार्यप्रमितौ सत्यां पश्चात्तथैव कार्यप्रमित्या प्रतिबन्धनिरासि-

---

अभावमें तात्पर्यका अभाव' ऐसा व्यतिरेक नहीं है ।] विवक्षाके अतिरिक्त किसी तात्पर्यकी प्रतीति करानेवालेका अभाव भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि तात्पर्यके प्रत्यायक उपक्रमादि विद्यमान हैं । प्रमेयका केवल कार्य होना ही तात्पर्यका सूचक नहीं माना जा सकता, [जिससे कि सिद्धवस्तुप्रमेयक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य न होनेसे उनमें अप्रामाण्य माना जाय], कारण कि 'तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ' इत्यादि वाक्यप्रयोगस्थलमें कार्यरूप प्रमेयके न होते हुए भी तात्पर्यकी उपलब्धि होती है । यदि कहो कि ऐसे स्थलोंमें भी तात्पर्यरूप हेतुसे ही प्रमेयमें कार्यत्व अनुमान द्वारा सिद्ध होगा, तो यह कहना उचित नहीं है, कारण कि ऐसा माननेसे कार्यत्वका निश्चय और तात्पर्य —इन दोनोंमें अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा, क्योंकि कार्यविषयक प्रमिति—यथार्थ निश्चय—हो जानेके अनन्तर उसकी प्रमितिके उत्पन्न करनेके सामर्थ्यरूप तात्पर्यकी सिद्धि हो सकती है और तादृश तात्पर्यकी सिद्धि हो जानेपर ही कार्यत्वकी प्रमिति हो सकती है ।

[अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके आशयसे शङ्का करते हैं—] तात्पर्यका अभाव प्रमितिका प्रतिबन्धक होता है जिसमें तात्पर्य नहीं रहता उसकी प्रमा नहीं हो सकती] जैसे 'विषको खा जाओ' इत्यादि वाक्योंमें केवल वाक्यसे प्राप्त हुई विषभक्षणकी प्रमितिका, उसमें तात्पर्य न होनेसे, प्रतिबन्ध हो जाता है, इसलिए तात्पर्य प्रतिबन्धका निवारण करनेवाला माना गया है । इस सिद्धान्तके अनुसार सर्वप्रथम वाक्यश्रवणमात्रसे कार्यज्ञान हो जाता है, अनन्तर उसी प्रकार उस

तात्पर्यमप्यस्तीत्यवगम्यते । न पुनस्तात्पर्येण कार्यप्रमितिर्भाव्यते ततो नाऽन्योन्याश्रय इति चेत्, सत्यम्; तथापि कार्यत्वं न तात्पर्यलिङ्गम्, 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्', 'गवीधुकयवाग्वा वा' इत्यादिषु सत्यपि कार्ये तात्पर्याभावात् । 'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' इत्युत्तरवाक्येनाऽऽरण्य-तिलानां गवीधुकानां च निराकरणात् । तस्मादुपक्रमादीन्येव तात्पर्यलिङ्गानि,

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिश्चये ॥

इत्युक्तत्वात् । प्रसिद्धानि हि सर्वेष्वपि वेदान्तेषु ब्रह्मण उपक्रमा-

---

वाक्यसे कार्यप्रमितिके द्वारा प्रतिबन्धको दूर करनेमें समर्थ तात्पर्य भी प्रकृतमें है, ऐसा निश्चय किया जाता है । तात्पर्य द्वारा कार्यप्रमितिकी भावना नहीं की जाती, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं आया । ['विष भक्षण करो' इत्यादि स्थलमें प्रथम प्रथम उत्पन्न कार्यप्रमिति अनन्तर बाधित होती है, अतः वह तात्पर्यके उन्नयनमें समर्थ नहीं है, परन्तु अन्यत्र 'घटमानय' (घड़ा लाओ) इत्यादि स्थलमें प्रथम उन्नीत कार्यप्रमितिका अनन्तर भी बाध नहीं होता है, अतः प्रतिबन्ध विनाशक तात्पर्यके प्रत्यायनमें वह स्वतः समर्थ है, अपनी सत्तामें तात्पर्यावगतिकी अपेक्षा नहीं रखती] ।

समाधान—वादीकी शङ्का ठीक है, परन्तु इस प्रकार अन्योन्याश्रयका परिहार हो जानेपर भी कार्यत्व तात्पर्यका अनुमापक हेतु नहीं माना जा सकता, कारण कि (अथवा जर्तिल यवागूसे—जंगली तिलोंसे सिद्ध की गई लपसीसे—हवन करे) अथवा (गवीधुक यवागूसे हवन करे) इत्यादि वाक्योंमें कार्यकी प्रतीतिके रहनेपर भी तात्पर्य नहीं है, कारण कि 'जङ्गली तिलसे आहुति नहीं होती है' इस अगले वाक्यसे जङ्गली तिल और गवीधुकका निषेध किया गया है [और अजाक्षीरसे हवनके उपक्रमसे भी विरोध आता है । इसलिए उपक्रम आदि ही तात्पर्यके प्रत्यायक हेतु हैं, (कार्यत्व नहीं) ।

शास्त्रमें उपक्रम (प्रारम्भ, प्रतिज्ञा, अधिकार तथा प्रकरण), उपसंहार (निबर्हण या समाप्ति), अभ्यास (पुनः पुनः आवृत्ति), अपूर्वता (प्रमाणान्तरसे असिद्ध अर्थका प्रतिपादन), फल (प्रयोजन), अर्थवाद (स्तुति–प्रशंसा क्वचित् निन्दारूप) और उपपत्ति—(युक्तियां) ये तात्पर्यके निर्णायक हेतु (प्रयोजक) हैं, ऐसा कहा गया है ।

दीनि । ततस्तात्पर्येण वेदान्ता ब्रह्मणि समन्विताः ।

अन्वयस्य सम्यक्त्वं नामेतरवैलक्षण्येनाऽर्थप्रतिपादनम् । इतरत्र हि 'गामानय' इत्यादिशब्दाः क्रियाकारकसंसर्गं प्रतिपादयन्ति । 'उद्भिदा यजेत' इत्यत्रोद्भिद्यागशब्दयोरेकार्थत्वेऽपि नियोगाकाङ्क्षा विद्यते । 'नीलमुत्पलम्' इत्यत्र गुणगुणिनोर्भेदाभेदौ प्रतिपाद्यौ । एकार्थप्रतिपादकेष्वप्यन्येषु शब्देषु लिङ्गसंख्ये अवर्जनीये । वेदान्तास्तु न तथा संसर्गं वा साकाङ्क्षार्थं वा भेदाभेदौ वा लिङ्गसंख्याविशिष्टं वा प्रतिपादयन्ति, किन्त्वभिधावृत्त्या लक्षणयोपाधिद्वारा वाऽखण्डैकरसमेव जगत्कारणसामान्यानुवादेन प्रतिपादयन्ति ।

तत्र ज्ञानशब्दोऽनेकविकारयुक्तान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बतचैतन्ये व्युत्पन्नः । आनन्दशब्दश्च शुद्धसात्त्विकान्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तायाम-

---

सम्पूर्ण वेदान्तोंमें ब्रह्मके उपक्रम आदि प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए तात्पर्य द्वारा वेदान्त ब्रह्ममें भली भाँति अन्वयको प्राप्त होते हैं।

दूसरे शब्दोंकी अपेक्षा विलक्षण रीति—सरलता—से अर्थ-बोध करा देना ही अन्वयकी सम्यक्ता है। [इतर वाक्योंकी अपेक्षा वेदान्तवाक्योंमें विलक्षणता दिखलाते हैं—] 'गाय ले आवो' इत्यादि शब्द क्रियाकारकभावरूप सम्बन्धात्मक (गाय कर्म और लाओ क्रिया) वाक्यार्थका प्रतिपादन करते हैं। 'उद्भिद् यागसे अपूर्व साधन करे' इत्यादि स्थलमें उद्भिद् और यागका समान अर्थ होनेपर भी नियोगकी आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। 'नील कमल' इस वाक्यमें गुण और गुणीका भेद तथा अभेद दोनोंका प्रतिपादन है। एक ही अर्थके प्रतिपादक दूसरे शब्दोंमें भी लिङ्ग और संख्याकी अपेक्षा छोड़ी ही नहीं जा सकती। वेदान्तवाक्य तो उक्त अन्य वाक्योंके समान संसर्ग या आकाङ्क्षायुक्त अर्थ तथा भेदाभेद अथवा लिङ्ग और संख्यासे विशिष्ट अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु अभिधावृत्ति—प्रथम शब्दशक्ति—से अथवा लक्षणावृत्तिसे उपाधि द्वारा अखण्ड तथा एकरस सर्वात्मा लिङ्ग, संख्यादि रूप विशेषणोंसे भी रहितका ही विश्वके कारणसामान्यके अनुवादसे प्रतिपादन करते हैं।

इसमें ज्ञानशब्द अनेक विकारोंसे युक्त अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप अर्थका वाचक व्युत्पत्तिसिद्ध है और आनन्द शब्द अन्तःकरणकी

त्यनुकूलतया स्फुरन्त्यां कस्यांचिद्व्यक्तौ लोके प्रसिद्धः। तावेतौ ज्ञानानन्दशब्दौ वाक्यान्तरेण नित्यत्वप्रतिपादकेन विरोधाद् वृत्त्यंशं परित्यज्याऽनुकूलतया स्फुरन्तीं व्यक्तिं प्रतिपादयतः। तथा च वृत्तित्यागांशे लक्षणा, इतरांशे तु मुख्यवृत्तिः। एकसत्यानन्तशब्दाः स्वगतभेदाभावमिथ्यात्वाभावसजातीयविजातीयद्वितीयाभावाभिधानद्वारेण तत्र लक्षणया वर्तन्ते। सर्वज्ञः सर्वशक्तिरित्यादिशब्दाश्चाऽनिर्वचनीयप्रपञ्चोपाधितया तत्र वर्तन्ते। 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादिशब्दाश्च भागत्यागलक्षणया ब्रह्मण्येव वर्त्तन्ते। तदेवं सर्वे वेदान्ता अखण्डैकरसब्रह्मप्रतिपादकाः।

ननु सत्यज्ञानादिशब्दानां भिन्नार्थत्वे कथमखण्डैकरसे वृत्तिः ? एकार्थत्वे पुनरुक्तिप्रसङ्गः, नैष दोषः; तात्पर्येण प्रतिपाद्यस्यैकत्वेऽपि व्यावर्त्त्यानामसत्यजडादीनामनिर्वचनीयार्थानामनेकत्वात्। न चाऽनिर्वच-

---

शुद्ध सात्त्विक वृत्तिमें अभिव्यक्त अनुकूल—सुखास्पद—रूपसे प्रतीत होनेवाली किसी एक चिद्व्यक्ति (चैतन्य) रूप अर्थका वाचक है, ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है। कथित ज्ञान और आनन्द शब्द नित्यत्वके प्रतिपादक दूसरे वाक्योंसे विरोध होनेके कारण वृत्तिरूप भागका त्याग करके अनुकूलरूपसे प्रतीत होनेवाली चित्व्यक्तिका ही प्रतिपादन करते हैं। इसलिए वृत्तिभागका त्याग करनेमें लक्षणा और चिद्व्यक्तिरूप दूसरे अंशमें मुख्यवृत्ति—अभिधा—का ही व्यापार है। एक, सत्य और अनन्त शब्द अपनेमें भेदका अभाव, मिथ्यात्वका अभाव, तथा सजातीय-विजातीय-रूप द्वितीयका अभाव प्रतिपादन करते हुए लक्षणा द्वारा उसी चिद्व्यक्तिरूप अर्थके वाचक हैं। सर्वज्ञ और सर्वशक्ति आदि शब्द भी अनिर्वचनीय प्रपञ्चरूप उपाधिके द्वारा उसी चैतन्यके समर्पक हैं। 'यह आत्मा ब्रह्म है वही तुम हो' इत्यर्थक 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि'—आदि शब्द भी भागत्यागलक्षणासे ब्रह्मके ही वाचक हैं। इस रीतिसे सम्पूर्ण वेदान्त अखण्ड एकरस ब्रह्मके ही प्रतिपादक हैं।

शङ्का—सत्य, ज्ञान आदि शब्दोंका उक्त रीतिसे यदि भिन्न-भिन्न अर्थ है, तो अखण्ड एकरसरूप अर्थमें उनकी शक्ति कैसे होगी ? और यदि इनका भिन्न-भिन्न अर्थ न मानकर एक ही अर्थ माना जाय, तो पुनरुक्ति दोषका प्रसङ्ग आ जायगा।

समाधान—यह दोष नहीं आता, कारण कि तात्पर्य द्वारा सबका प्रतिपाद्य अर्थ यद्यपि एक ही है, तथापि व्यावृत्ति—निषेध—के विषयभूत असत्य

नीयपदार्थेन तदभावेन वा परमार्थभावरूपाद्वैतस्य काचित् क्षतिरस्ति। तस्मात् तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादिवाक्यवदखण्डैकरसं प्रतिपादयन्ति । तथाहि—एकं देवदत्तमेकस्मिन् देशे काले च द्वौ पुरुषौ दृष्टवन्तौ, पुनर्देशकालान्तरे तमेव तावेव ददृशतुः । तयोर्मध्ये 'सोऽयं देवदत्तः' इति प्रत्यभिजानात्येकः। अपरस्तु पूर्वदृष्टाद् देवदत्ताद्भिन्नं पश्चाद् दृष्टं मन्यते । तं प्रत्यभिज्ञाहीनमितरो बोधयति 'सोऽयं देवदत्तः' इति । तत्र बोधयिता स्पष्टं भेदेन प्रतीयमानयोस्त त्तद्देशकालयोस्तद्विशिष्टयोर्वा देवदत्तयोरैक्यं न प्रत्यभिजानाति, विरोधात् ; किन्तु विशिष्टद्वयोपलक्षित एको देवदत्तः प्रत्यभिज्ञागोचरः ।

जड आदि अनिर्वचनीय (मिथ्याभूत) अर्थ अनेक हैं, [इसलिए अनेक व्यावर्त्योंका निषेध करनेके लिए पृथक्-पृथक् सत्य, ज्ञान आदि शब्दोंका उपादान है, इससे पुनरुक्त दोष भी नहीं आता और तात्पर्य द्वारा एक ही अर्थके प्रतिपादक होनेमें असामञ्जस्य भी नहीं रहता] । अनिर्वचनीय (मिथ्या) पदार्थ अथवा उसके अभावके कारण परमार्थ भावरूप अद्वैतकी कोई हानि नहीं हो सकती । इस निष्कर्षकी रीतिसे 'वह तुम हो' इत्याद्यर्थक महावाक्य 'वह यह देवदत्त है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञावाक्यके सदृश अखण्ड एकरस (ब्रह्मरूप) अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं । समता दिखलाते हैं—जैसे एक देवदत्तको दो पुरुषोंने एक ही देश और एक ही समयमें देखा । कुछ समय बीतनेपर उसी देवदत्तको उन दोनों (पूर्वद्रष्टाओं) ने ही देशकालान्तरमें पुनः देखा । उनमें से एक तो जानता है कि 'यह वही देवदत्त है' । परन्तु दूसरा पुरुष (भूल जानेसे) पूर्व कालमें देखे हुए देवदत्तसे इस समय देखे गये देवदत्तको दूसरा ही समझता है । प्रत्यभिज्ञा (जानकारी) से रहित उस दूसरे पुरुषको ज्ञाता दूसरा पुरुष बोध कराता है कि यह (सामने दिखलाई देनेवाला) देवदत्त वही (पहले देखा हुआ ही) देवदत्त है । ऐसे स्थलमें दूसरेको बोध करानेवाला दूसरा पुरुष भिन्न-भिन्न रूपसे स्पष्ट प्रतीत होनेवाले देश तथा कालका एवं भिन्न-भिन्न देशकालविशिष्ट दोनों देवदत्तोंकी एकताकी प्रत्यभिज्ञा नहीं कर रहा है, कारण कि इसमें प्रत्यक्ष विरोध है, [परोक्ष और अपरोक्ष एक नहीं हो सकता ।] किन्तु उसकी प्रत्यभिज्ञा देशकालरूपी दो वैशिष्ट्योंसे उपलक्षित एक ही देवदत्तको विषय करती है । [दोनों भिन्न-भिन्न

तत्र प्रत्यभिज्ञानं देवदत्तस्वरूपैक्यम् । विशिष्टाभिधायिभ्यां 'सोऽयम्' इति पदाभ्यां स्वार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशलक्षणया परस्मै प्रतिपादयति ।

ननु 'सोऽयम्' इति पदार्थयोर्यद्देवदत्तैक्यं तदेव वाक्येनाऽपि प्रतिपाद्यते उताऽन्यत् ? आद्येऽनुवादप्रसङ्गः । न द्वितीयः; ऐक्यान्तरस्याऽभावादिति चेद्, न; प्रत्यभिज्ञाया अप्यनेन न्यायेनाऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अभिज्ञावगतस्यैवैक्यस्य बोधनेऽनुवादकत्वम्, ऐक्यान्तरं तु नाऽस्तीत्यत्रापि सुवचत्वात् । एकस्य कालद्वयसंबन्धः प्रत्यभिज्ञाप्रमेयमिति चेद्, न; तस्याऽप्यभिज्ञाद्वयेनैव सिद्धत्वात् । अथ प्रत्यभिज्ञा-

---

देश और कालका वैशिष्ट्य उसमें उपलक्षणमात्र है, उपाधि या विशेषण नहीं है, जिससे विरोधियोंकी एककालमें उपस्थिति बाधित हो सके)। वहांपर उक्त प्रत्यभिज्ञासे देवदत्तके स्वरूपकी एकताका, विशिष्ट देवदत्तको कहनेवाले 'सः' (वह), 'अयम् (यह) इन दो पदोंसे स्वार्थके एक भागका त्याग करके एक देशकी लक्षणाके द्वारा, दूसरेके प्रति प्रतिपादन कर रहा है ।

शङ्का—वह और यह—इन दो पदार्थोंमें जो देवदत्तकी एकता प्रतीत हो रही है, वही एकता क्या वाक्यसे भी प्रतिपादित होती है ? या इससे भिन्न दूसरी ? प्रथम पक्षके माननेमें वाक्य अनुवादक हो जायगा। (जिससे उसका प्रामाण्य ही विनष्ट होगा)। दूसरा पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि दूसरा (भिन्न) ऐक्य है ही नहीं ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है, कारण कि इस प्रकारके न्यायसे (विकल्प करनेपर) तो प्रत्यभिज्ञामें भी अप्रामाण्यका अवसर आ जायगा, कारण कि प्रत्यभिज्ञा भी अभिज्ञा (प्रथम ज्ञान) से ही प्रतीत हुए एकत्वका बोध करानेमें अनुवादक कहलायेगी और दूसरा भिन्न ऐक्य तो है ही नहीं, ऐसा प्रत्यभिज्ञाके विषयमें भी कहा जा सकता है । भूत तथा वर्तमान दोनों कालोंसे एक वस्तुके सम्बन्धका बोध कराना ही प्रत्यभिज्ञाका प्रमेय–विषय–नहीं माना जा सकता, कारण कि वह दोनों कालोंका सम्बन्ध भी दोनों अभिज्ञाओंसे (भूतकालिक ज्ञान तथा वर्तमानकालिक ज्ञानसे) ही सिद्ध हो जाता है । यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा अपूर्व अर्थकी बोधिका नहीं है, तथापि

नस्याऽनधिगतार्थगन्तृत्वाभावेऽपि भेदभ्रमव्युदासित्वादभिज्ञाभ्यां भेदभ्रमाव्युदासिनीभ्यां फलतो विशेषसद्भावात् प्रामाण्यं तर्हि 'सोऽयम्' इति वाक्यस्याऽप्येवमेव पदाभ्यां विशेषसद्भावात् प्रामाण्यमस्तु। एवं च तत्त्वमसिवाक्यमपि त्वंपदार्थे कर्तृत्वाद्यंशं विरोधिनं परित्यज्य साक्षिमात्रमुपादाय तत्पदार्थे परोक्षाद्यंशपरित्यागेनाऽवशिष्टेन चिन्मात्रेणैक्यं पदार्थप्रतीतिसमये प्रतिपन्नमपि भेदभ्रमव्युदासाय प्रतिपादयति। तदयं प्रयोगः—तत्त्वमस्यादिवाक्यं अखण्डार्थनिष्ठम्, कार्यकरणव्यतिरिक्तद्रव्यनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवद् इति।

ननु मृद्घटो नीलमुत्पलमित्यादौ पदार्थयोः प्रत्येकमसाधारणमैक्यमेकैकपदप्रमेयं पदार्थयोरितरेतरैक्यं तु वाक्यप्रमेयमित्यनधिगतार्थगन्तृ-

---

भेदरूप भ्रमका निराकरण करती है, इसलिये भेदभ्रमको दूर करनेमें असमर्थ दोनों अभिज्ञाओंसे प्रत्यभिज्ञा विलक्षण है, अतः प्रत्यभिज्ञाका प्रामाण्य माना जाता है, तो 'सोऽयम्—वह यह' इस वाक्यका भी इसी भांति (भेदभ्रम दूर करना रूप विशेष होनेसे) पदों (पदार्थों) की अपेक्षा विशेष होनेके कारण प्रामाण्य मान लिया जायगा। इससे ही 'तत्त्वमसि—वह तू है' यह वाक्य भी त्वं पदार्थमें विद्यमान कर्तृत्वरूप विरोधी अंशका त्याग करके साक्षी (चैतन) मात्र अर्थका ग्रहण करके तत् पदार्थमें परोक्ष आदि अंशको छोड़कर पदार्थप्रतीति कालमें ज्ञात हुए भी शेष चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) अर्थके साथ एकत्वका—अभेदका—भेदभ्रम दूर करनेके लिए प्रतिपादन करता है। इससे यों अनुमानके प्रयोगका स्वरूप होता है—'तत्त्वमसि' आदि वाक्य अखण्ड अर्थके बोध करानेमें तात्पर्यवाले हैं, कार्यकारणसे अतिरिक्त द्रव्यपरक होते हुए समानविभक्त्यन्त या एकार्थके प्रतिपादक होनेसे, 'सोऽयं देवदत्तः'—वह यह देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञा वाक्यके समान।

शङ्का—'मिट्टी घड़ा, नील कमल' इत्यादि स्थलमें मिट्टी और घड़ा आदि पदार्थोंमें प्रत्येकगत असाधारण एकत्व एक-एक पदका प्रतिपाद्य विषय है, दोनों पदार्थोंका परस्पर एकत्व तो वाक्यका ही प्रतिपाद्य प्रमेय है, इसलिए प्रकृत स्थलमें जैसे अपूर्व अर्थका बोधन करनेसे ही उक्त

त्वादेव यथा वाक्यप्रामाण्यं तथाऽत्राप्यस्तु। तथा च भेदभ्रमव्युदास-मात्रविशेषात् प्रामाण्यमित्येषा कष्टकल्पना न भविष्यतीति चेद्, नः वैषम्यात्। तत्र हि कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणयोश्च भिन्नयोरैक्यं प्रतिपाद्यते 'व्यवहारे भट्टनयः' इति न्यायेन भेदाभेदाभ्युपगमात्। अत्र त्वखण्डैकरसं प्रतिपाद्यत इत्यस्ति महद्वैषम्यम्।

अत्र केचिदाहुः—'य आत्मनि तिष्ठन्' 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' इत्यादिशास्त्राज्जीवब्रह्मणोरपि भेदाभेदावभ्युपेयौ। अन्यथा पदार्थवाक्यार्थयोः साङ्कर्यादिति, ते प्रष्टव्याः—तत्र भेदो ज्ञानेन निवर्त्यते न वेति? न चेन्मोक्षो न स्यात्। निवर्त्यते चेत्, तदाऽपि भेदाभेदविषयमेव

वाक्योंका प्रामाण्य माना जाता है, वैसे ही प्रकृत ('तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य अथवा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञावाक्यमें) भी माना जाना चाहिये। इससे भेदभ्रमके दूरीकरणमात्ररूप विशेषके द्वारा इनका प्रामाण्य होता है, ऐसी क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी होगी।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं है, कारण कि 'मृद्घटः' इस वाक्यकी अपेक्षा (प्रत्यभिज्ञा और महावाक्योंमें) विषमता है, क्योंकि 'मृद्घटः' इत्यादि वाक्योंसे भिन्न-भिन्न कार्य-कारण तथा गुण-द्रव्यका एकत्व प्रतिपादन किया जाता है। [परस्पर भिन्नोंकी एकताके प्रतिपादनमें आनेवाले विरोधका परिहार करते हैं—] 'व्यवहारमें मीमांसक कुमारिलभट्टका मत माना जाता है' इस न्यायसे (कार्य-कारण और गुण-गुणीमें) भेद और अभेद दोनों माने गये हैं। और प्रकृतमें (महावाक्योंसे) तो अखण्ड एकरस—सर्वथा भेदशून्य—का प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए अधिक वैषम्य है।

इस विषयमें भेदाभेदवादी भास्कर आदि किसी व्याख्याताओंका कहना है कि—'जो आत्मामें स्थित होता है', वह यह आत्मा सर्वान्तर—सबका अन्तर्यामी है—' इत्यर्थक शास्त्रसे जीव और ब्रह्ममें भी भेद और अभेद मानना चाहिए—अन्यथा पदार्थ और वाक्यार्थका सांकर्य हो जायगा। इनसे प्रश्न करना है कि यह भेद क्या अभेदज्ञान द्वारा निवृत्त होता है या नहीं? यदि निवृत्त नहीं होता, तो मोक्षकी उपपत्ति नहीं हो सकती। और यदि निवृत्त होता है, तो भी प्रश्न होगा कि भेदाभेदविषयक ही

ज्ञानं तन्निवर्त्तकम् उताऽभेदमात्रविषयं ज्ञानान्तरम् । नाऽऽद्यः, ज्ञानस्य स्वविषयनिरास्यत्वायोगात् । न द्वितीयः, अभेदज्ञानजनकप्रमाणाभावात् । त्वन्मते शास्त्रस्य भेदाभेदविषयत्वात् । शास्त्रजन्यभेदाभेदज्ञानाभ्यासादभेदज्ञानं जायत इति चेद्, एवमपि ज्ञाननिवर्त्त्यत्वे भेदस्य मिथ्यात्वं स्यात् । ज्ञानेनाऽज्ञानं निवर्त्यते, भेदस्तु कर्मभिर्विनश्यतीति चेद्, न; 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्येवकाराभिधेयभेदनिरासस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वावगमात् । अथ ज्ञानप्रागभाववद्भेदस्य ज्ञाननिवर्त्त्यत्वेऽपि न मिथ्यात्वं तथापि किं येनैवाऽऽकारेण जीवस्य ब्रह्मणो भेदस्तेनैवाऽभेदोऽपि उताऽऽकारान्तरेण ? आद्ये भेदनिवृत्तावभेदोऽपि निवर्तेत, तत्प्रयोजकाकारस्यैक्यात् । द्वितीये

ज्ञान उसकी निवृत्ति कर देता है ? अथवा अभेदमात्रविषयक दूसरा ज्ञान उसकी निवृत्ति करता है ? । इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि ज्ञान अपने विषयका निवारक नहीं हो सकता है (अर्थात् ज्ञानसे ज्ञानविषयका निराकरण नहीं हो सकता) । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि अभेद-विषयक अतिरिक्त ज्ञानको उत्पन्न करानेवाला प्रमाण नहीं है । तुम्हारे (भेदाभेदवादीके) मतमें शास्त्रका तो भेदाभेद विषय है । शास्त्र द्वारा उत्पन्न हुए भेदाभेदज्ञानके अभ्यास—पुनः पुनः परिशीलन—से अभेद-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा मान लेनेपर भी तो भेदको, ज्ञान द्वारा निवर्त्य मान लेनेसे, मिथ्या मानना होगा । ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति की जाती है और कर्मोंके द्वारा भेदका विनाश हो जाता है, ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि 'ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है—' इत्यर्थक वाक्यमें एवकार (एवपद) का वाच्य अर्थभूत भेदका विनाश ज्ञानके द्वारा होता है, ऐसा पाया जाता है । यद्यपि कहा जाय कि ज्ञानके प्रागभावके सदृश भेद ज्ञानसे नष्ट होता है, ऐसा माननेपर भी मिथ्या नहीं कह सकते, तथापि प्रश्न होता है कि जिस आकारसे जीव और ब्रह्मका भेद है, उसी आकारसे अभेद भी है ? अथवा दूसरे आकारसे ? इनमें प्रथम पक्षके माननेमें भेदकी निवृत्ति होनेपर ही अभेद की भी निवृत्ति हो जायगी [दोनोंका एक ही आकार होनेसे एककी निवृत्ति होनेपर दूसरे की भी निवृत्ति हो जायगी], कारण कि उसका प्रयोजक आकार एक ही है (जो नष्ट हो चुका) ।

निरवयवब्रह्मभूतस्य जीवस्य धर्मभूतो भेदो न तावत्कर्मणा निवर्त्तयितुं शक्यते। ज्ञानेन तन्निवृत्तावपि यदि तेन भेदेनोपलक्षितो जीवस्तदा ब्रह्मैव जीवः स्यात्। अथ भेदविशिष्टस्तर्हि भेदनाशे जीवोऽपि नश्येत्। अथ विशिष्टाकारनाशेऽपि विशेष्यांशो जीवो ब्रह्मैक्यरूपं मोक्षमनुभवेत्, तर्हि संसारदशायामपि ब्रह्मतादात्म्यापन्नः स एव विशेष्यांशो जीव इत्यभ्युपेयम्; संसारमोक्षयोर्वैयधिकरण्यायोगात्। एतेनैतदप्यपास्तं यदमृतानन्देनोच्यते न युगपज्जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदौ विरोधात्, किन्तु पदार्थत्वदशायामतिरेको वाक्यार्थत्वदशायां चाऽखण्डत्वमिति। 'एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किं चन' इत्यादिश्रुतिविरोधश्च। न च 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतिर्भेदाभेदौ प्रतिपादयति, किन्तु भ्रान्तिप्रसिद्धं भेदमनूद्याऽभेदमेव बोधयति। कथं तर्हि पदार्थवाक्यार्थयोः साङ्कर्यपरिहार इति

दूसरे पक्षके माननेमें अवयवशून्य ब्रह्मात्मक जीवका धर्मभूत भेद कर्म द्वारा तो निवृत्त नहीं किया जा सकता। और ज्ञान द्वारा उसकी निवृत्ति होनेपर भी यदि उस भेदसे उपलक्षित जीव माना जाय, तो ब्रह्म ही जीव कहलायेगा। और यदि भेदविशिष्ट जीव है, तो भेदके नष्ट होनेपर जीवका भी विनाश हो जायगा। यदि कहो कि विशिष्ट आकारका नाश होनेपर भी विशेष्यभूत जीवरूप अंश ब्रह्माभेदरूप मोक्षका भागी हो जायगा, तो संसारदशामें भी ब्रह्मके साथ तादात्म्यको प्राप्त हुआ वही विशेष्यभूत अंश जीव है, ऐसा मानना होगा। कारण कि संसार और मोक्षका वैयधिकरण्यसे सम्बन्ध नहीं हो सकता। (अर्थात् जिसको संसार है, उसको ही मोक्ष भी प्राप्त होता है, अन्यथा मोक्ष पुरुषार्थ नहीं माना जायगा)। इससे यह कहना भी खण्डित हो जाता है कि जो अमृतानन्द ने कहा है 'जीव और ब्रह्मका एक कालमें ही विरोध होनेसे भेद और अभेद नहीं हो सकते, किन्तु पदार्थदशामें भेद और वाक्यार्थदशामें अखण्डत्व—अभेद—है, और 'एक ही प्रकारका दर्शन—साक्षात्कारात्मक ज्ञान—करना चाहिए, इसमें अनेक—भेद—कुछ नहीं है' इत्यर्थक श्रुतिसे भी विरोध आता है। 'जो आत्मामें स्थित हो—' इत्यर्थक श्रुति भी भेदाभेदका प्रतिपादन नहीं करती है। किन्तु भ्रमसिद्ध भेदका अनुवाद करके अभेदका ही बोधन करती है।

पदार्थ तथा वाक्यार्थका सङ्कर होना कैसे हटाया जायगा यदि ऐसा प्रश्न करो,

चेद्, उच्यते—तत्र न तावत् पदवाच्यस्य वाक्यार्थेन साङ्कर्यप्रसङ्गोऽस्ति। वाच्यस्याऽविद्याकल्पितोपाधिविशिष्टत्वात्। पदलक्ष्यस्य तु वाक्यार्थत्वमिष्टमेव। तस्मान्महावाक्यस्याऽखण्डार्थतायां न कदाचिदनुपपत्तिः।

तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्याद्यवान्तरवाक्यमप्यखण्डार्थनिष्ठम्, लक्षणवाक्यत्वात्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यवत्। तत्र कश्चिच्चन्द्रप्रातिपदिकार्थानभिज्ञः कंचित्पप्रच्छ अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रो नामेति? सोऽपि चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थविवक्षया प्रयुङ्क्ते प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति। तत्र प्रकाशशब्दः प्रकाशत्वसामान्याभिधानमुखेन लक्षणया व्यक्तिविशेषे वर्तते। प्रकृष्टशब्दश्च प्रकर्षगुणाभिधानमुखेन लक्षणया प्रकाशविशेषे वर्तते। तत्र गुणसामान्ययोश्चन्द्रपदानभिधेयत्वात्तदुभयं व्युदस्य तत्समवायिप्रकाशविशेष एव चन्द्रपदाभिधेयतया समर्प्यत इति प्रकृष्टप्रकाश-

---

तो उत्तर कहा जाता है—उसमें पदके वाच्यभूत अर्थके साथ तो वाक्यके अर्थका साङ्कर्य प्रसंग नहीं है, कारण कि वाच्य अर्थ अविद्याकल्पित उपाधिसे विशिष्ट है। और पदके लक्ष्यभूत अर्थका वाक्यार्थ होना तो अभीष्ट ही है, इसलिए महावाक्यको अखण्डार्थपरक माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

[एवं 'सत्य, ज्ञान, और अनन्त ब्रह्म है' इत्याद्यर्थक महावाक्योंका भी अखण्डरूप अर्थके बोधनमें ही तात्पर्य है, कारण कि ये लक्षणवाक्य हैं, 'अधिक प्रकाशवाला चन्द्रमा' इस लक्षणवाक्यके सदृश। (दृष्टान्तमें दिये गये लक्षणवाक्यका अखण्ड अर्थमें तात्पर्य दिखलाते हैं—) चन्द्रपदार्थको न जाननेवाला कोई पुरुष किसीसे प्रश्न करता है कि इस प्रकाशमान ग्रहनक्षत्रमण्डलमें चन्द्रमा कौन है। वह भी (उत्तर देनेवाला पुरुष) चन्द्ररूप प्रातिपदिकके ही अर्थको प्रकट करनेकी इच्छासे कहता है कि इनमें सबसे अधिक प्रकाशवाला चन्द्रमा है। इस वाक्यमें प्रकाशपद प्रकाशत्वसामान्यको कहता हुआ लक्षणाके द्वारा व्यक्तिविशेषका बोधक हो जाता है, और प्रकृष्ट शब्द प्रकर्ष—आधिक्य—गुणका बोध कराता हुआ लक्षणासे प्रकाशविशेषका बोध कराता है। इनमें गुण तथा सामान्य ये दो चन्द्रपदके अभिधेय अर्थ नहीं हैं, इसलिए इन दोनोंका त्यागकर उसमें रहनेवाले प्रकाशविशेषका ही चन्द्रपदके अभिधेय अर्थके रूपमें समर्पण किया जाता है, इसलिए प्रकृष्ट,

चन्द्रशब्दानामेकार्थता सिध्यति। न चैवं पदद्वयवैयर्थ्यम्, अप्रकाशमेघादिव्यावृत्तौ प्रकाशपदस्याऽल्पप्रकाशनक्षत्रादिव्यावृत्तौ प्रकर्षपदस्य चोपयोगात्। एवं सत्यज्ञानादिवाक्येऽप्यखण्डार्थता योजनीया।

यत्तूक्तं ब्रह्मणः परिनिष्ठितवस्तुतया मानान्तरयोग्यस्याऽपि मानान्तरेणाऽनुपलभ्यमानत्वात्तद्बोधकानां वेदान्तानां चित्रगतनिम्नोन्नतभावबोधकचक्षुर्वदप्रामाण्यमिति। तत्र वक्तव्यं किं प्रमाणान्तरयोग्यत्वे सति तदनुत्पत्तौ विषयस्याऽभावे निश्चिते तत्र शब्दमिथ्यात्वमाशङ्क्यते किं वा प्रमाणान्तरसंभिन्नार्थविषयत्वात् पौरुषेयवचोवत्सापेक्षं प्रामाण्यमिति उत प्रमाणान्तरयोग्यार्थविषयतया तत्सिद्धार्थानुवादाशङ्केति? नाऽऽद्यः, मानान्तरानुदयमात्रेण तथात्वे सर्वत्राऽतिप्रसङ्गात्। पौरुषेयवचसां मानान्तर-

---

प्रकाश तथा चन्द्र—इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थ सिद्ध होता है। और दो पदोंका देना भी व्यर्थ नहीं हो सकता, कारण कि प्रकाशशून्य मेघ आदिकी व्यावृत्तिके लिए प्रकाशपदका और कम प्रकाशवाले नक्षत्र आदिकी व्यावृत्तिके लिए प्रकर्षपदका उपयोग है। इसी प्रकार सत्य, ज्ञान आदि वाक्यमें सब पदोंका एक ही अखण्डरूप अर्थके बोधनमें तात्पर्य समझना चाहिए।

पूर्वमें जो यह कहा गया था कि परिनिष्ठित—सिद्ध—वस्तु होनेके कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरके योग्य होते हुए भी ब्रह्मका दूसरे प्रमाणोंसे उपलम्भ (ज्ञान) नहीं होता है, अतः चित्रगत रेखात्मक निम्नोन्नत भावको दिखलानेवाले चक्षुके तुल्य ब्रह्मबोधक वेदान्तवाक्य भी अप्रमाण हैं। यहांपर पूछना यह है कि क्या प्रमाणान्तरके योग्य होते हुए उसके प्रमाणान्तरसे उपलब्ध नहीं हो सकनेपर विषयके अभावका निश्चय हो जानेसे शब्दमिथ्यात्व—अर्थात् वेदान्तवाक्यरूप शब्द प्रमाणके मिथ्या होने—की आशङ्का की जा रही है? या प्रमाणान्तरयोग्य अर्थविषयक होनेसे उनका पुरुष द्वारा कथित वचनके सदृश सापेक्ष प्रामाण्य है? अथवा प्रमाणान्तरयोग्य विषय होनेसे उस प्रमाणान्तरसे सिद्ध अर्थके अनुवादक होनेकी आशङ्का है? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बनता, कारण कि दूसरे प्रमाणका केवल उदय न होनेसे ही वैसा (विषयका अभाव) माननेपर सर्वत्र अतिप्रसङ्ग आ जाता है (अर्थात् जिस स्थलमें प्रमाणान्तरकी प्रसिद्धि नहीं होगी वहींपर विषयका अभाव कह देना होगा)। पुरुषकथित वाक्योंमें

सापेक्षत्वेऽपि वेदवचसस्तदयोगात् । न द्वितीयः, मानान्तरसंभिन्नार्थत्वाभावात् । विमतं वेदान्तवाक्यं मानान्तरसंभिन्नार्थम्, भूतार्थविषयत्वाद् नदीतीरफलसत्तावाक्यवदिति चेद्, नः पौरुषेयवचनत्वस्योपाधित्वात् । अनुभूतार्थस्मृतिवदिति निदर्शनेऽपि स्वार्थप्रवृत्तज्ञानान्तरजन्यत्वमुपाधिः । नहि वेदवाक्यं मानान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य विरचितं येन साधनव्यापकता स्यात् । अथ मन्यसे—वेदान्तवाक्यस्य भूतार्थविषयत्वान्मानान्तरयोग्यार्थत्वं साधयित्वा तेन च संभिन्नार्थता साधनीयेति, तर्हि विधिवाक्या-

---

मानान्तरकी अपेक्षा रहते हुए भी 'अपौरुषेय वेदवाक्योंमें सापेक्षत्वका सम्बन्ध नहीं आ सकता । दूसरा पक्ष नहीं हो सकता, कारण कि वेदवाक्योंमें मानान्तरसम्भिन्नार्थत्व—दूसरे प्रमाणसे सिद्ध पदार्थका प्रतिपादक होना—नहीं है ।

शङ्का—'विमत वेदान्तवाक्य दूसरे प्रमाणसे सिद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेमें तात्पर्यवाले हैं, कारण कि उनका विषय सिद्ध वस्तु है, जैसे कि नदीके तीरमें फलोंकी सत्ताका बोधन करनेवाला वाक्य [इस अनुमानसे वेदान्तवाक्य मानान्तरसंभिन्नार्थताके ही प्रतिपादक माने जायँगे] ।

समाधान—उक्त अनुमानमें पौरुषेयवचनत्वरूप उपाधि है । [दृष्टान्तभूत नदीके तीरमें फलोंकी सत्ताका बोधक वाक्य तो पुरुषवचन है और दार्ष्टान्तिक पक्षभूत वेदान्तवाक्य पुरुषवचन नहीं हैं, इससे साधानाव्यापकत्व हुआ] । यदि नदीतीरफलसत्तावाक्यवत्के स्थानपर अनुभूत अर्थके स्मरणके तुल्य ऐसा दृष्टान्त भी दिया जाय, [क्योंकि स्मरणमें पुरुषवचनत्व नहीं है, इससे साध्यव्यापकत्व न होनेसे उक्त उपाधिका अवसर नहीं रहता] तो भी स्वार्थप्रवृत्तज्ञानान्तरजन्यत्व—अपने अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त दूसरे ज्ञानसे उत्पन्न होना—उपाधि है । [स्मरणमें तो ज्ञानान्तरजन्यत्व (अनुभवजन्यत्व) है] परन्तु वेदवाक्य तो दूसरे प्रमाणों द्वारा विषयका ज्ञान प्राप्त करके नहीं रचे गये हैं, जिससे (उपाधिकी विघटक) साधनव्यापकता आ सके । यदि ऐसा भी मानो कि वेदान्तवाक्यका विषय सिद्ध वस्तु है, अतः उसमें मानान्तरयोग्यार्थत्व—दूसरे प्रमाणोंके योग्य विषयवाला होना— सिद्ध करके उससे ही सम्भिन्नार्थता सिद्ध की

नामपि तुच्छव्यावृत्तार्थत्वान्मानान्तरयोग्यविषयतया संभिन्नार्थता केन वार्यते ? न च विधिवाक्यत्वादेव मानान्तरयोग्यार्थत्वाभावः, लौकिकविधिवाक्येषु मानान्तरयोग्यार्थत्वदर्शनात्। तत्राऽपि तदयोग्यार्थत्वे कार्यसंबन्धग्रहणासंभवाद्वेदेऽपि तत्प्रतिपत्तिर्न स्यात्। अथ वैदिककार्यस्य कालत्रयातीतस्वभावत्वाद् न मानान्तरयोग्यता तर्हि ब्रह्मणोऽपि रूपादिहीनस्वभावत्वादेव मानान्तरयोग्यता न भविष्यति। अस्ति

जायगी, तो विधिवाक्य भी तुच्छसे व्यावृत्त अर्थवाले हैं, अतः मानान्तरयोग्य विषयवाले ही हो जायँगे, इससे इनकी संभिन्नार्थताका वारण कैसे किया जा सकता है। [यहांपर मानान्तरयोग्य और मानान्तरसम्भिन्न दो पद पृथक्-पृथक् दिये गये हैं। मानान्तरयोग्यपदसे केवल इतना ही अर्थ लेना चाहिये कि जिस विषयका प्रतिपादन वेदान्तवाक्य कर रहे हैं, वह विषय चक्षुरादिसे भिन्न प्रमाणोंसे भी जाना जा सकता है, क्योंकि वेदान्तवाक्यका विषय घट, पट आदिके सदृश सिद्धवस्तुभूत ब्रह्म है और घट, पट आदि सिद्ध वस्तु केवल शब्दगम्य नहीं हैं, किन्तु मानान्तरगम्य भी हैं। दूसरे मानान्तरसम्भिन्नपदसे वह अर्थ लिया जाता है जो कि दूसरे प्रमाणोंसे—संभिन्न—सम्बद्ध अर्थात् गृहीत है, वह अर्थ केवल योग्यमात्र ही नहीं, किन्तु उसका ग्रहण भी किया गया है। इससे विधिवाक्योंके विषय केवल शब्दैकगम्य ही माने जायँ, तो शब्दोपकल्पितमात्र वन्ध्या पुत्रादिके समान हो जायँगे। उनसे भेद दिखलानेके लिए मानान्तरयोग्यत्वरूप वैलक्षण्य विधिवाक्यप्रतिपाद्य विषयमें मानना आवश्यक है और जो मानान्तरयोग्य है, उसका मानान्तरसम्भिन्न होना कथमपि असम्भव नहीं है, प्रत्युत सुतरां सम्भव है, इसलिए विधिवाक्योंका भी तात्पर्य मानान्तरगृहीतार्थके बोधनमें ही माननेका अतिप्रसङ्ग आ जायगा, जो इष्ट नहीं है]। विधिवाक्य होनारूप हेतुमात्रसे मानान्तरयोग्यार्थत्वका अभाव नहीं कहा जा सकता, कारण कि लौकिक विधिवाक्यमें (घटमानय इत्यादि स्थलमें) मानान्तरयोग्यार्थत्व देखा जाता है। यदि लौकिक वाक्योंमें मानान्तरयोग्यार्थत्वका अभाव हो, तो कार्यके सम्बन्धज्ञानका होना असम्भव हो जायगा, इससे वेदमें भी उसकी—कार्यसम्बन्धग्रहकी—प्रतिपत्ति न हो सकेगी। यदि वेदविहित कार्यका कालत्रयातीत (तीनों कालोंके अगोचर) स्वभाव होनेसे मानान्तरयोग्य होना नहीं माना जा सकता यह कहा जाय, तो ब्रह्मका स्वभाव भी (स्वरूप भी) रूपादिसे विहीन ही है, इसलिए उसमें मानान्तरके विषय

ब्रह्मणि मानान्तरं स्वरूपचैतन्याख्यमिति चेद्, न; तस्यैव ब्रह्मत्वाद्। स्वरूपचैतन्यस्य ब्रह्मप्रमापकत्वेऽपि तत्संभिन्नार्थत्वमात्रेण न तत्सापेक्षत्वदोषः। स्वप्रकाशपुरुषान्तरसंवेदनगोचरानुमानस्य तत्सापेक्षत्वदोषादर्शनात्। नाऽपि तृतीयः, स्पर्शज्ञानयोग्यद्रव्यविषयस्य चक्षुषोऽनुवादकत्वादर्शनात्। शब्द एवेयमनुवादकतेति चेत्, तथापि विधिवाक्ये तामाशङ्कां कथं परिहरिष्यसि। लौकिकस्य विध्यर्थस्य मानान्तरयोग्यत्वेऽपि वैदिकस्य तदयोग्यत्वादिति चेद्, भूतार्थेऽपि तत्समानम्। न च शब्द-

---

होनेकी योग्यता प्राप्त न होगी। ब्रह्ममें विद्यमान स्वरूपचैतन्यनामक मानान्तर भी नहीं कह सकते, कारण कि वही स्वरूपचैतन्य ब्रह्मरूप है। स्वरूपचैतन्यके ब्रह्मनिश्चायक होनेपर भी उसके सिद्धभूत अर्थ होनेसे ही उससे सापेक्ष होनेका दोष नहीं आ सकता (अर्थात् यद्यपि ब्रह्मप्रमा स्वरूपचैतन्य द्वारा ही होती है, इसलिए स्वरूपचैतन्यरूप अन्य प्रमाणसे सिद्धका ही प्रतिपादन वेदान्तवाक्योंसे होता है, ऐसा मानना ही होगा, तथापि वेदान्तवाक्यसे प्रतिपाद्य ब्रह्मको स्वरूपचैतन्यकी अपेक्षा नहीं है); कारण कि स्वप्रकाशभूत दूसरे पुरुषके ज्ञानविषयक अनुमानमें उससे सापेक्ष होना दोष नहीं देखा गया है। [जैसे सांख्यमतमें परपुरुषविषयक अनुमान स्वप्रकाशरूप पुरुषको विषय करता हुआ भी उसके स्वरूपभूत प्रकाशसे सापेक्ष नहीं माना जाता एवं प्रभाकरमतमें परज्ञान-विषयक अनुमान भी स्वप्रकाशरूप ज्ञानको विषय करता हुआ भी स्वरूपभूत स्वप्रकाशज्ञान-सापेक्ष नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी ब्रह्मप्रमा स्वरूपचैतन्यको विषय करती हुई भी स्वरूपचैतन्यापेक्ष नहीं है।] तीसरा पक्ष (मानान्तरके योग्य अर्थको विषय करनेसे अनुवादक होनेकी आशङ्कारूप पक्ष) भी नहीं बनता, कारण कि स्पर्शज्ञानके योग्य घटादि द्रव्यको विषय करनेवाले चक्षु आदि प्रमाण अनुवादक नहीं देखे गये हैं। यदि शब्दरूप प्रमाणस्थलमें ही उक्त रीतिसे अनुवादकता मानी जाती है, ऐसा कहो, तो भी विधिवाक्यस्थलमें उक्त आशङ्काका परिहार कैसे किया जा सकेगा। [विधिवाक्य भी शब्द-प्रमाण ही है।] लौकिकविधिवाक्यके प्रतिपाद्य विषयके मानान्तरयोग्य होनेपर भी वैदिक-विधिप्रतिपाद्य अर्थ मानान्तरयोग्य नहीं हो सकता, यदि ऐसा कहा

स्यैवाऽनुवादकत्वशङ्केति नियन्तुं शक्यम्, शब्दावगतेऽर्थे मानान्तरमेवाऽनुवादकमित्यस्याऽपि सुवचत्वात्। तस्माद्भूतार्थनिष्ठमपि वैदिकं वचो निरपेक्षं प्रमाणम्।

ननु सर्वत्रोत्तमवृद्धो मानान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य तत्र शब्दं प्रयुङ्क्ते। मध्यमवृद्धश्च तस्माच्छब्दात्तमर्थमवगत्य तत्र प्रवर्त्तते। तां च प्रवृत्तिमुपलभ्य बालो व्युत्पद्यते यथाव्युत्पत्ति च शब्दस्य बोधकत्वम्। ततो मानान्तरसंभिन्नस्यैवाऽर्थस्य शब्दप्रमेयतया कथं वचसो निरपेक्षं प्रामाण्यम्? नैष दोषः; बालो हि स्वयं मानासंभिन्नं घटादिप्रमेयमात्रं प्रत्यक्षादि-

---

जाय, तो सिद्धवस्तुविषयक वेदान्तवाक्योंमें भी उक्त कथन समानरूपसे संगत हो सकता है। [और दूसरा समाधान यह भी हो सकता है कि] शब्दप्रमाण ही अनुवादक है, इस आशङ्काका नियमन नहीं किया जा सकता अर्थात् ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता कि शब्दप्रमाण ही अनुवादक है, क्योंकि ऐसा भी कहा जा सकता है कि शब्दप्रमाणसे ज्ञात अर्थका अन्य प्रमाण ही अनुवादक है। इसलिए सिद्धभूत ब्रह्मके प्रतिपादक वेदान्तवचन निरपेक्ष (दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र) प्रमाण हैं।

[शब्द प्रमाणको सापेक्ष सिद्ध करनेके लिए शङ्का करते हैं—] शब्दप्रयोगस्थलमें सर्वत्र देखा गया है कि उत्तम वृद्ध प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाणोंके द्वारा अर्थकी उपलब्धि करके उसका बोध करानेके लिए शब्दका प्रयोग करता है। और मध्यम वृद्ध अर्थात् जिसके प्रति शब्दप्रयोग किया जाता है, वह उस शब्दसे प्रतिपाद्य अर्थका बोध करके उसके अनुसार कार्य करनेमें प्रवृत्त होता है। मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिको देखकर बालकको उस अर्थमें शब्दकी व्युत्पत्तिका ग्रह होता है और व्युत्पत्तिके अनुसार ही शब्द अर्थका बोधक होता है। [व्युत्पत्ति प्रवृत्तिदर्शनसे होती है, प्रवृत्ति शब्दप्रयोगसे होती है और शब्दप्रयोग प्रमाणान्तरसे ज्ञात अर्थकी विवक्षासे किया जाता है, इस परम्परासे शब्द प्रमाण प्रमाणान्तरकी अपेक्षा रखता है, यह सिद्ध होता है—इस आशयसे शङ्काका उपसंहार करते हैं—] इसलिए प्रमाणान्तरसे सिद्ध अर्थ ही शब्दका प्रतिपाद्य प्रमेय होनेसे शब्दप्रमाणमें निरपेक्ष (स्वतन्त्र) प्रामाण्य कैसे हो सकता है?

समाधान—उक्त दोष नहीं आ सकता अर्थात् शब्दमें निरपेक्ष प्रामाण्य है,

भिरवगत्य तत्र प्रवर्त्तमानः स्वदृष्टान्तेन मध्यमवृद्धस्याऽपि मानान्तरामिश्रितशुद्धप्रमेयज्ञानपूर्विकां प्रवृत्तिमनुमाय तस्मिन् प्रमेयमात्रे शब्दस्योत्तमवृद्धप्रयुक्तस्य सामर्थ्यमवगच्छति। न च वाच्यं कार्यस्य केवलस्य शब्दशक्तिविषयत्वेऽपि सिद्धार्थस्य मानान्तरसंभिन्नस्यैव तद्विषयतेति। तत्र तावत् कार्यवाक्यगतसिद्धपदानि मानान्तरासंभिन्नेऽर्थे शक्तिमन्ति कार्यवाक्यगतत्वात्, कार्यपदवत्। तथा च तद्दृष्टान्तेनेतरेषामपि सिद्ध-

---

कारण कि बालक स्वयं दूसरे प्रमाणोंके द्वारा न जाने गये घटादि प्रमेयजातको प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जानकर उन अर्थोंमें प्रवृत्त होता हुआ अपनेको दृष्टान्त बनाकर दूसरे प्रमाणोंसे असंबद्ध शुद्ध प्रमेय ज्ञानके अनन्तर ही मध्यम वृद्धकी भी होनेवाली प्रवृत्तिका अनुमान करके उस प्रमेयमात्रमें (मात्रपदसे मानान्तरसम्भेदका वारण है) उत्तम वृद्ध द्वारा युक्त शब्दकी सामर्थ्य (अर्थबोध करना) समझ लेता है। [व्युत्पित्सु बालक शब्दप्रयोगरूप अथवा घटाहरणादिरूप व्यवहार देखता हुआ स्वयं मानान्तरासंभिन्न शुद्ध घट, पट आदि विषयोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और यथावसर प्राप्त हुए ज्ञानके बलपर घटाहरणादि अथवा घट आदि शब्दके व्यवहारमें प्रवृत्त होता है एवं मध्यम वृद्धिकी प्रवृत्ति देखकर वह निश्चय कर लेता है कि इस मध्यम वृद्धकी प्रवृत्ति भी मेरे समान ही उत्तम वृद्धके शब्दसे मानान्तरासंभिन्न अर्थको जान करके ही हुई है, अतः उत्तम वृद्धका शब्द केवल मानान्तरासम्भिन्न अर्थका ही प्रतिपादक है, ऐसा निश्चय करता है। इस प्रक्रियासे शब्दका निरपेक्ष प्रामाण्य सिद्ध होता है]। केवल कार्यरूप अर्थको शक्तिका (शब्दशक्तिका) विषय मान भी लें, तो भी सिद्धभूत पदार्थ तो प्रमाणान्तरसे सिद्ध होकर ही शब्दशक्तिका विषय हो सकता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, [कारण कि अनुमानसे शब्दोंकी मानान्तरासिद्ध अर्थके बोधनमें सामर्थ्य सिद्ध होती है। [अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—) 'कार्यके प्रतिपादक वाक्यमें पढ़े गये सिद्ध वस्तुपरक पद (पक्ष) मानान्तरसे असम्भिन्न अर्थमें शक्तिशाली (वाचक) हैं (साध्य), कार्यप्रतिपादक वाक्यमें पठित होनेसे (हेतु), कार्यबोधक पदके सदृश (दृष्टान्त)। इस प्रकार उस कार्यपरक वाक्यगत सिद्धवस्तु-

पदानां तत्साधनीयम् । यत्तूक्तमवृद्धस्याऽर्थोपलब्धिहेतुभूतं मानान्तरं तद्विवक्षोत्पादनद्वारा शब्दप्रयोगे हेतुर्न तु शब्दप्रमेयेऽन्तर्भवति तच्च बालस्तदाऽवगमिष्यति यदा स्वयमुत्तमवृद्धो भूत्वा शब्दप्रयोगं करिष्यति ।

अत्र केचिच्चोदयन्ति—व्यर्थोऽयं व्युत्पत्तिनिरूपणप्रयासः । शब्दस्याऽर्थासंस्पर्शित्वात् । नह्यङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इत्यादिशब्दैः कश्चिदर्थः प्रमीयते । यत्राऽप्याप्तवाक्ये प्रमीयते तत्राऽपि मानान्तरनिबन्धना सा प्रमितिर्न शब्दनिबन्धनेति ।

तदेतच्चोद्यं प्राभाकरः परिहरति । यद्यपि पौरुषेयवाक्यैर्नाभिधेयसंसर्गः प्रमीयते तथाप्येवमयं पुरुषो वेदेति वक्तृज्ञानविशेषः प्रमीयते

परक पदको दृष्टान्त करके अन्य भी सिद्ध पदोंका मानान्तरासम्भिन्न अर्थमें शक्तिका होना अनुमान द्वारा सिद्ध कर लिया जायगा। इससे पूर्व उत्तम वृद्धका अर्थज्ञान करनेमें कारणभूत मानान्तरका जो निर्देश किया गया है, वह विवक्षाको उत्पन्न करा कर शब्दप्रयोग करनेमें कारण है। शब्द प्रमेय कोटिमें नहीं आ सकता [विवक्षाके अधीन ही शब्दप्रयोग होता है, और विवक्षा ज्ञात अर्थकी ही होती है, इसलिए मानान्तरसम्भिन्नार्थत्व विवक्षोत्पादन द्वारा प्रयोगमात्रमें हेतु है, शब्द द्वारा अर्थबोध करानेमें हेतु नहीं है] और उस मानान्तरको बालक तब जान सकेगा जब वह स्वयं उत्तम वृद्ध होकर शब्द प्रयोग करेगा।

शब्दप्रमाणके विषयमें कोई कोई वादी कहते हैं कि उक्त प्रकारसे व्युत्पत्तिके निरूपणका परिश्रम करना व्यर्थ है, कारण कि शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता है। जैसे कि 'अङ्गुलीके अग्रभागमें सैकडों हाथियोंका झुंड है' इत्यादि शब्दोंके द्वारा किसी अर्थकी प्रमिति (अबाधित ज्ञान) नहीं होती और जिस आप्त पुरुषके वाक्य-स्थलमें अर्थका अबाधित ज्ञान होता है, उस स्थलमें भी दूसरे प्रमाणोंके द्वारा ही वैसा ज्ञान होता है, शब्दोंके द्वारा नहीं।

गुरुमतानुयायी इस पूर्वपक्षका समाधान करते हैं कि पौरुषेय वाक्योंसे विधेयका सम्बन्ध यद्यपि निश्चित नहीं हो सकता, तथापि 'यह पुरुष ऐसा जानता है'

एव। अङ्गुल्यग्रादिवाक्येष्वप्यव्यभिचारात्। स च ज्ञानविशेषो ज्ञेयविशेषं कल्पयतीति।

सोऽयं परिहरोऽनुपपन्नः, वैयधिकरण्यात्। शब्दस्याऽर्थासंस्पर्शित्वे चोदिते लिङ्गस्य तत्संस्पर्शित्वं प्रतिपाद्यत इति किं केन सङ्गच्छेत। वक्तृज्ञानद्वारा शब्दार्थसंस्पर्शः प्रतिपाद्यत इति चेद्, न; वक्तृज्ञानस्य शब्दप्रमेयत्वायोगात्। 'गामानय' इत्यादिवाक्येषु वक्तृज्ञानवाचकपदाभावात्। वाक्यार्थस्य पदार्थानतिरेकात्। अतिरेकेऽपि किं वक्तृज्ञानमात्रं वाक्यार्थं उत ज्ञेयविशिष्टम्। आद्ये लौकिकवाक्यादप्रमिते ज्ञेये व्यवहारो न स्यात्। ततो व्युत्पत्त्यभावाद्वैदिकवाक्यस्याऽप्यबोधकत्वप्रसङ्गः। द्वितीये

इस प्रकार वक्ताको ज्ञान विशेषका निश्चय होता ही है। 'अङ्गुलीके अग्रभाग—' आदि वाक्योंमें भी व्यभिचार नहीं है और तादृश ज्ञानविशेष ज्ञेयविशेषकी कल्पना करता है। [जिस पुरुषने 'अङ्गुलीके अग्रभागमें सैकड़ों हाथी रहते हैं', ऐसा वाक्य कहा हो, उसका तो ज्ञान ऐसा मानना ही होगा और उस अनुमित ज्ञानविशेषसे ज्ञेयविशेषका अनुमान द्वारा सम्बन्ध सिद्ध हो ही जाता है, इसलिए शब्दोंका अर्थसे सम्बन्ध हो जानेके कारण व्युत्पत्तिके प्रकारका प्रदर्शन उचित ही है]।

गुरुमतानुयायियोंका उक्त परिहार युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि इस समाधानमें वैयधिकरण्य दोष आ जाता है। शब्दका अर्थके साथ सम्बन्धाभावका तो प्रश्न किया गया और हेतुभूत ज्ञानविशेषका अर्थके साथ सम्बन्ध दिखलाया गया, इसलिए किससे कौन सङ्गत हो सकता है। वक्ताके ज्ञान द्वारा शब्द और अर्थके सम्बन्धका प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि वक्ताका ज्ञान शब्दका प्रमेयभूत अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि 'गाय ले आओ' इस वाक्यमें वक्ताके ज्ञानका वाचक कोई पद (शब्द) नहीं है, वाक्यका अर्थ पदके अर्थसे अतिरिक्त नहीं होता है ? यदि अतिरिक्त मान भी लिया जाय, तो भी प्रश्न होता है कि केवल वक्ताका ज्ञान वाक्यार्थ है ? या ज्ञेयसे विशिष्टज्ञान वाक्यार्थ है ? प्रथम विकल्पके माननेमें लौकिक वाक्य द्वारा प्रमित न हुए ज्ञेयमें व्यवहारकी सिद्धि नहीं होगी। इससे व्युत्पत्ति न होनेके कारण वैदिक वाक्य भी अर्थबोधक न हो सकेंगे। दूसरे विकल्पके माननेमें भी

ज्ञेयमेव वाक्यात् प्रमीयताम्, वक्तृज्ञानस्य शब्दप्रयोगलक्षणलिङ्गानुमेयतयाऽन्यथासिद्धेः। ननु ज्ञेयमप्यन्यथासिद्धम्, श्रोता हि पदेभ्यः पदार्थानवगत्य नूनमेषां संसर्गोऽस्तीति सहप्रयोगबलादुत्प्रेक्षत इति चेद्, मैवम्; उत्प्रेक्षाया एवाऽत्र वाक्यजन्यप्रमितित्वात्। न तावदियमुत्प्रेक्षा स्मृतिसंशयविपर्यासेष्वन्तर्भवति, संस्कारजन्यत्वकोटिद्वयबाधानामभावात्। प्रमितित्वेऽपि प्रत्यक्षादिकारणान्तराभावाद् वाक्यजन्यत्वं परिशिष्यते। न च वक्तृज्ञानेनाऽनुमितेन ज्ञेयमन्तरेणाऽनुपपद्यमानेन पदार्थसंसर्गः कल्पयितुं शक्यः, तथा सति वेदे वक्तुरभावात्संसर्गप्रमित्यसिद्धेः। तस्माच्छाब्दमेव संसर्गज्ञानम्। अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानां त्वनाप्तसंसर्गादर्थास्पर्शित्वम्। अर्थसंस्पर्शिनोऽपि

ज्ञेय अर्थकी ही वाक्यसे प्रमिति मानिये, क्योंकि वक्ताका ज्ञान तो शब्दप्रयोगरूप हेतुसे अनुमेय होनेके कारण अन्यथासिद्ध है।

शङ्का—ज्ञेय अर्थ भी अन्यथासिद्ध है; क्योंकि श्रोता पुरुष पदोंसे पदार्थका ज्ञान करके 'निश्चय इन पद-पदार्थोंका सम्बन्ध है' इस प्रकार सहप्रयोगके बलसे सम्भावना कर लेता है।

समाधान—प्रकृतमें सम्भावनाकी ही वाक्य द्वारा प्रमिति होती है। और उक्त सम्भावना स्मरण, संशय तथा विपर्यय (भ्रम) कोटिमें नहीं आ सकती, कारण कि उसमें संस्कारसे उत्पन्न होना, दो कोटियोंका होना एवं बाधज्ञान—इनमें से कोई भी नहीं है। [यदि उक्त वाक्यसे प्रमित सम्भावना संस्कारजन्य होती, तो स्मरणके अन्तर्गत आ सकती, यदि उसमें (यह वा वह) ऐसी दो कोटियां होती, तो संशय आता तथा उत्तरकालमें 'ऐसा नहीं' इस प्रकार बाधज्ञान होता, तो उसे भ्रम माननेका अवसर आता, इनमें से एक भी नहीं है, अतः वह वाक्यजन्य प्रमिति ही है।] प्रमितिके माननेपर भी वहाँ प्रत्यक्ष आदि दूसरे कारणोंका अभाव है, अतः उसे वाक्यजन्य मानना ही शेष रहता है। यदि कहो कि अनुमानसे सिद्ध वक्ताका ज्ञान ज्ञेयके बिना उपपन्न नहीं होता, अतः वह पदार्थके संसर्गकी कल्पना करता है, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण कि ऐसी कल्पना करनेपर वेदमें किसी भी वक्ताके न होनेसे पदार्थसंसर्गके निश्चयकी असिद्धि हो जायगी। इसलिए शब्द द्वारा ही संसर्ग-ज्ञान होता है। और 'अङ्गुलीके अग्रभागमें—' इत्यादि वाक्योंका तो आप्तके साथ संसर्ग न होनेसे अर्थके साथ—स्पर्श—सम्बन्ध—

प्रत्यक्षस्य कारणदोषे सति शुक्त्याद्यर्थासंस्पर्शित्वदर्शनात् । नह्यपौरुषेयस्याऽद्वैतागमस्य कश्चिद्दोषसंसर्गः संभवति येनाऽर्थासंस्पर्शित्वमाशङ्क्येत । यदि द्वैतावभासीनि प्रत्यक्षादीनीति तेन विरुध्येरन् तदा तान्येव बाध्यन्ताम् । 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यादिना मायाख्यदोषजन्यत्वश्रवणात् । दोषजन्यत्वेऽपि स्वप्नवद्व्यवहाराविसंवादे प्रामाण्यलाभात् । अद्वैतागमोऽपि प्रत्यक्षादिविषयस्य द्वैतस्य तत्त्वांशमेव बाधते न व्यवहारसंवादांशम् । एवं च सति यथा मायाकार्याणामपि प्रत्यक्षादीनां स्वस्वविषयेषु व्यावहारिकपदार्थेषु प्रामाण्यं तथैवाऽद्वैतागमस्य मायाकार्यत्वेऽप्यद्वैते स्वविषये प्रामाण्यं किं न स्यात् ? न चैवं शुक्तिरजतादिज्ञानेऽतिप्रसङ्गः शङ्कनीयः, तत्राऽपि यावद्बाधं प्रातिभासिकेषु रजतादिषु ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यानिवारणात् , अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । विशेषदर्शनकालीनबाध-

---

नहीं है । अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणका भी इन्द्रियदोष होनेपर शुक्ति आदि अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं देखा जाता है । अपौरुषेय अद्वैत शास्त्रमें कोई भी दोषका सम्बन्ध तो है नहीं, जिससे कि अर्थसम्बन्धके अभावकी आशङ्का की जा सके । यदि कहो कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वैतका ज्ञान कराते हैं, अतः प्रत्यक्षादि विरोधी होंगे, तो उन विरुद्ध होनेवाले प्रत्यक्ष आदिका ही बाध कीजिये, क्योंकि 'इन्द्र मायाओंके द्वारा' इत्यादि वाक्योंमें द्वैतका मायानामक दोषसे जन्य होना कहा गया है । दोषके कारण उत्पन्न होनेपर भी स्वप्नके समान व्यवहारका विसंवाद न होनेसे प्रामाण्यका लाभ हो जाता है । अद्वैत-शास्त्र भी प्रत्यक्षादि प्रमाणके विषयभूत द्वैतकी यथार्थताका (सत्यताका) ही बाध करता है, व्यवहारवादका बाध नहीं करता । इस दशामें जैसे मायाके कार्यभूत प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका अपने-अपने विषयभूत व्यावहारिक घट, पट आदि पदार्थोंमें प्रामाण्य माना जाता है, वैसे ही मायाकार्य होते हुए भी अद्वैत आगमका अपने विषय अद्वैतमें प्रामाण्य क्यों नहीं माना जायगा ? इस रीतिसे शुक्तिरजतादि (प्रत्यक्ष भ्रमात्मक) ज्ञानमें प्रामाण्य माननेका अतिप्रसङ्ग नहीं दिया जा सकता, कारण कि वहांपर (भ्रमस्थलमें) बाधज्ञानका जबतक उदय न होगा, तबतक प्रतिभाससे सिद्ध शुक्तिरजतादिमें ज्ञानका स्वतःप्रामाण्य नहीं हटाया जा सकता । इसके विपरीत (ज्ञानका स्वतःप्रामाण्य न माननेसे) रजतार्थीकी रजतमें प्रवृत्ति

पर्यालोचनयैवाऽप्रामाण्यव्यवहारात् । न चाऽद्वैतज्ञानस्य कदाचिद्बाधोऽस्ति, येनैतादृशमप्रामाण्यमुच्येत ।

ननु चित्रगतनिम्नोन्नतविषयचाक्षुषज्ञानस्य विषयगतश्यामादिरेखासंनिवेशविशेषाख्याद्दोषादप्रामाण्यं यथा दृष्टं तथाऽत्राप्यद्वैताख्याद्विषयदोषादप्रामाण्यमिति चेद् , न; तत्राऽपि स्पर्शज्ञानबाधादेवाऽप्रामाण्यात् । अनधिगतार्थगन्तृत्वलक्षणस्य प्रामाण्यस्य न संवादापेक्षा शङ्कितुमपि शक्या । न चाऽऽम्नायस्य सर्वस्य क्रियार्थत्वाद्विधिवाक्यानामेव प्रामाण्यमिति वाच्यम् , इतरेतराश्रयत्वात् । विधिवाक्यानामेव प्रामाण्ये सिद्धे

नहीं बनेगी । विशेषज्ञानकालमें उत्पन्न हुए बाधकी पर्यालोचनासे ही पूर्व ज्ञानमें अप्रामाण्यका व्यवहार होता है । और अद्वैतज्ञानका कभी बाध ही नहीं होता, जिससे कि [अद्वैतज्ञानमें] उक्त प्रकारका अप्रामाण्य कहा जा सके ।

शङ्का—जैसे चित्रमें निम्नोन्नतभावका ज्ञान करानेवाले चाक्षुष प्रत्यक्षका अप्रामाण्य उसके विषय—निम्नोन्नत चित्र—गत श्यामादि वर्णकी रेखाओंका विशेष प्रकारसे खींचा जानारूप दोषके द्वारा प्राप्त है, वैसे ही प्रकृतमें भी अद्वैतनामक विषयके दोषसे ही [अद्वैतप्रतिपादक वेदान्तवाक्योंका] अप्रामाण्य होगा ।

समाधान—उक्त कथन युक्त नहीं है, कारण कि दृष्टान्त-स्थलमें भी स्पर्शज्ञान द्वारा बाधका उदय होनेपर ही अप्रामाण्य माना जाता है । अनधिगतार्थगन्तृत्व—अपूर्व अर्थका बोधन कराना—रूप प्रामाण्यमें संवादकी अपेक्षा करनेकी शङ्का भी नहीं की जा सकती । [कारण कि प्रमाणका विषयभूत अर्थ यदि दूसरे प्रमाणसे सिद्ध है, तो वह विषय अपूर्व ही नहीं रहा, यदि अपूर्व—दूसरे प्रमाणोंसे अज्ञात—अर्थके बिना उसका बोध किया जा रहा है, तो वह प्रमाण ही नहीं माना जा सकता, इसलिए प्रमाण-प्रमेयमें संवादकी अपेक्षाका अवसर ही नहीं आता] यदि कहो कि वेद-शास्त्र सम्पूर्ण ही क्रियाकलापात्मक कर्मकाण्डका ही प्रतिपादन करनेके लिए हैं, इसलिए विधिवाक्योंका ही प्रामाण्य माना जायगा, तो यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि ऐसा माननेसे इतरेतराश्रय दोष आता है । [इतरेतराश्रय दिखलाते हैं—] विधिवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध होनेपर ही

सर्वस्याऽऽम्नायस्य क्रियार्थत्वसिद्धिस्ततसिद्धौ चेतरसिद्धिरिति। न च प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्ययोरिष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरभावादपुरुषार्थे ब्रह्मणि कथं वेदान्त-प्रामाण्यमिति शङ्कनीयम् ; लोको हीष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारावेव साक्षात् प्रार्थयते न प्रवृत्तिनिवृत्ती, तयोरायासात्मकत्वात्। अप्राप्तग्रामादिप्राप्ताव-परिहृतरोगादिपरिहारे चाऽऽयासमन्तरेणाऽभिलषितसिद्ध्यभावादायासं पुरुषः सहेताऽपि, यत्र तु प्राप्तमेव कण्ठचामीकरादिकमजानानः पुरुषः पुनः प्राप्तुमिच्छति परिहृतमेव च रज्जुसर्पादिकं परिजिहीर्षति तत्र ज्ञान-मात्रादभीष्टसिद्धौ कुत आयासं सहेत। नहि तत्राऽऽयासोऽपेक्ष्यते, प्रत्युत ज्ञाने सति पूर्वोऽप्यायासः परिह्रियते। एवं च सति नित्यप्राप्तस्य ब्रह्मणः प्राप्तौ नित्यनिवृत्तस्य संसारस्य परिहारे च हेतुभूतं तत्त्वज्ञानं जनयतां

सम्पूर्ण वेदशास्त्रका विधिमें तात्पर्य सिद्ध होगा। और सम्पूर्ण वेदका विधिमें तात्पर्य निर्णीत होनेपर केवल विधिवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध होगा।

शङ्का—प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा की जानेवाली अभीष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति—इन दोनोंके न होनेसे पुरुषार्थशून्य सिद्धभूत ब्रह्मके प्रतिपादनमें वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है, कारण कि संसारमें सभी लोग साक्षात् इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टका निराकरण ही चाहते हैं, प्रवृत्ति तथा निवृत्तिको नहीं चाहते; क्योंकि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों परिश्रमस्वरूप हैं। [और परिश्रम कोई नहीं चाहता।] यद्यपि यह हो सकता है कि प्राप्त न हुए गाँवकी प्राप्ति तथा न छूटे हुए रोगको दूर करनेके लिए परिश्रमके बिना अभीष्टकी सिद्धि (ग्रामप्राप्ति और अनभीष्ट रोगकी निवृत्ति) नहीं हो सकती, अतः भले ही वहांपर पुरुष परिश्रम कर ले, तथापि जहां गलेमें पड़ा हुआ सुवर्णका हार प्राप्त ही है, परन्तु उसे न जानकर पुरुष फिर उसको प्राप्त करना चाहता है और जहाँ रज्जुसर्प वस्तुतः है ही नहीं याने वह परिहृत ही है, तथापि उसको भगाना (परिहृत करना) चाहता है, वहाँ तो ज्ञान हो जानेसे ही अभीष्टकी सिद्धि हो जाती है; फिर उसके लिए उस स्थलमें पुरुष परिश्रम क्यों सहेगा ? ऐसे स्थलोंमें परिश्रम करनेकी अपेक्षा नहीं रहती, बल्कि ज्ञान हो जानेपर पहलेसे प्रारम्भ किया गया परिश्रम भी छोड़ दिया जाता है। इस सिद्धान्तके अनुसार नित्यप्राप्त ब्रह्मकी प्राप्तिमें और नित्यनिवृत्त संसारके त्यागमें कारणभूत

वेदान्तानां कुतोऽपुरुषार्थपर्यवसायित्वशङ्का । तस्माद्वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं केनाऽपि वारयितुं न शक्यम् ।

किञ्च, पुरुषार्थस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वे नित्यनैमित्तिकवाक्यानां प्रामाण्यं गुरुमते दुःसम्पादम् । नहि तत्र फलमस्ति, किन्त्वनुष्ठाने प्रयास एव, अननुष्ठाने तु प्रत्यवायः स्पष्टः । तत उभयथाऽप्यनर्थहेतूनां तेषां कथं प्रामाण्यसिद्धिः । तस्मात्प्रत्यक्षादिवच्छब्दस्याऽप्यनधिगताबाधितासंदिग्धार्थबोधकत्वमात्रं प्रामाण्यनिमित्तम् । तच्च कार्यब्रह्मवाक्ययोः समानम् । तथा च सति पूर्वपक्षिणा वेदान्तानामप्रामाण्यसिद्धये महता प्रयासेन यद्विधिपरत्वकल्पनं तदकाण्डे ताण्डवितम् , तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यमिति ।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणप्रमेयसंग्रहे चतुर्थसूत्रे
प्रथमं वर्णकं समाप्तम् ।

तत्त्वज्ञानके उत्पादक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य पुरुषार्थशून्य पदार्थका बोधन करानेमें कैसे माना जा सकता है ? इसलिए वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें प्रामाण्य मानना किसीसे भी दूर नहीं किया जा सकता ।

[प्रकारान्तरसे भी समर्थन करते हैं—] और यह भी है कि यदि पुरुषार्थको ही प्रामाण्यका प्रयोजक माना जाय, तो गुरुमतमें (प्रभाकरमतमें) नित्य तथा नैमित्तिक कर्म-बोधक वाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकेगा, कारण कि उनका कोई फल नहीं है, किन्तु उनके करनेमें केवल परिश्रम है और न करनेमें प्रायश्चित्त लगता है। इसलिए करने या न करने—दोनों तरहसे भी अनर्थके उत्पादक उन नित्य-नैमित्तिक विधिवाक्योंका प्रामाण्य कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके सदृश अनधिगत (प्रमाणान्तरागृहीत-अपूर्व), अबाधित (बाधज्ञानरहित) तथा असंदिग्ध (सन्देहसे व्यावृत्त) अर्थका बोधक होना ही प्रामाण्यका प्रयोजक है । ऐसा प्रयोजक विधिवाक्य और ब्रह्मबोधकवाक्य दोनोंमें एक-सा ही है । इस दशामें पूर्वपक्षी लोग वेदान्तोंके अप्रामाण्यकी सिद्धिके लिए इतने बड़े प्रयासके साथ जो यह कल्पना करते हैं कि वेदान्तोंका विधिमें तात्पर्य है, वह तो केवल अनवसरमें नृत्य करनेके समान है । इसलिए वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें ही प्रामाण्य है ।

चतुर्थ सूत्रमें प्रथम वर्णक समाप्त ।

द्वितीयं वर्णकम्

शब्दानां सिद्धार्थे शक्तिमङ्गीकृत्याऽपि ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यं न संभवतीति ये मन्यन्ते तेषां मतं पूर्ववर्णके निरस्तम्। ये पुनः कार्यान्वितस्वार्थ एव शब्दशक्तिरिति मन्यमानाः कार्यशेषतयैव ब्रह्म वेदान्तैः प्रमीयते इति कथयन्ति, तेषां मतमस्मिन्वर्णके निरस्यते।

ते ह्येवमाहुः—उत्तमवृद्धेन गामानयेत्युक्तेऽनन्तरं मध्यमवृद्धेन क्रियमाणं गवानयनं व्युत्पित्सुर्बालो गवानयनकार्यमनेन वाक्येन बोधितमित्यवगत्य पुनरश्वमानय गां बधानेत्यादिप्रयोगेष्वावापोद्धाराभ्या-

---

द्वितीय वर्णक

सिद्ध अर्थमें शब्दोंकी शक्तिका स्वीकार करनेपर भी ब्रह्ममें वेदान्त-वाक्योंका प्रामाण्य नहीं हो सकता, इस प्रकार जो मानते हैं, उनके मतका खण्डन पूर्व वर्णकमें किया जा चुका है। अब उन प्राभाकरानुयायियोंके मतका खण्डन किया जाता है, जो कार्यसे सम्बद्ध स्वार्थमें ही शब्दकी शक्ति मानकर विधिके अङ्गरूपसे ही वेदान्तवाक्यों द्वारा ब्रह्मका प्रतिपादन होता है, ऐसा कहते हैं।

वे यों कहते हैं—उत्तम वृद्धने (आज्ञा देनेवाले प्रयोजक पुरुषने) 'गऊ लाओ' ऐसा कहा, तदनन्तर मध्यम वृद्ध (जिससे काम करनेको कहा गया उस पुरुष) द्वारा किये गये गऊके आनयन (लाना) रूप कार्यको देखकर व्युत्पत्तिग्रहकी (जाननेकी) इच्छा रखनेवाला बालक निश्चय करता है कि उक्त वाक्यसे गाय लानारूप कार्य (क्रिया) ही बोधित होता है। तदनन्तर 'घोड़ा लाओ' और 'गाय बांधो' इत्यादि प्रयोगोंमें आवाप और उद्वापसे [अर्थात् अन्वयव्यतिरेकसे पूर्व वाक्यमें जो 'गाय' और 'लाओ' पद थे उन दोनों पदोंके श्रवणसे गायका लाना कार्य किया गया। 'अब घोड़ा लाओ' कहनेसे दूसरे पदार्थका लाना हुआ, और 'गाय बांधो' वाक्यसे गायके साथ दूसरी क्रिया हुई, इस तरह 'गाय लाओ' और 'गाय बांधो' इन दोनों वाक्योंमें 'गाय' पद समान है, क्रियाका कर्म पदार्थ भी गायरूप समान है, इसलिए 'गाय' पदका अर्थ यही सास्नादिमान् पदार्थ है, परन्तु दोनों स्थलोंमें वह कार्यान्वित ही दीख पड़ता है, अतः देखनेवाले बालकने निश्चय किया कि कार्यान्वितमें ही शब्दोंकी शक्ति होती

मेकैकस्य पदस्य कार्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यं प्रतिपद्यते । न चेष्टसाधने व्युत्पत्तिः संभवति, अतीते इष्टसाधनादौ मध्यमवृद्धप्रवृत्त्यभावात् । कृतियोग्ये इष्टसाधने प्रवृत्तिरस्तीति चेत् , तर्ह्यव्यभिचारात्कार्यमेव व्युत्पत्तिप्रयोजकं भविष्यति । अव्यभिचारित्वमात्रेण कार्यस्य प्रयोजकत्वे कार्यगतलौकिकत्वस्याप्यव्यभिचाराद् व्युत्पत्तौ प्रयोजकत्वं प्रसज्येत । तथा च वेदे नियोगप्रतिपत्तिर्न स्यादिति चेद् , न; कार्यं परित्यज्याऽन्वितस्वार्थमात्रस्य प्रयोजकत्वाङ्गीकारे केनाऽन्वित इति साकाङ्क्षत्वप्रसङ्गात् । न च लौकिकत्वपरित्यागे बाधोऽस्ति । ननु सिद्धपदानां कार्यान्वितस्वार्थसंभवेऽपि कार्यपदस्य न तत्संभवः कार्यान्तराभावादिति चेद् , न; धात्वर्थस्याऽपि कार्यतया तदन्वितयोगे कार्यपदस्य व्युत्पत्तेः । यद्यपि

है, एवं 'आनय' पदमें आवाप और उद्वापको देखकर उसका भी अर्थनिर्णय किया, इससे] एक एक पदकी कार्यान्वित स्वार्थमें सामर्थ्यका (शक्तिका) निर्द्धारण करता है । इष्टसाधनमें व्युत्पत्तिग्रह नहीं हो सकता, कारण कि भूतकालिक इष्टसाधनमें मध्यम वृद्धकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । यदि कृति (क्रिया) के योग्य इष्टसाधनमें प्रवृत्ति होती है, ऐसा माना जाय, तो व्यभिचारशून्य होनेसे कार्य ही व्युत्पत्तिका प्रयोजक (शब्दकी शक्तिका ग्राहक) मान लिया जायगा ।

शङ्का—यदि व्यभिचारशून्य होनेसे ही कार्यको व्युत्पत्तिका प्रयोजक माना जाय, तो कार्यमें लौकिकत्वका भी व्यभिचार नहीं है, अतः उस कार्यमें रहनेवाले लौकिकत्वको भी व्युत्पत्तिका प्रयोजक मानना होगा । इससे वेदमें नियोगकी प्रतीति नहीं हो सकेगी ।

समाधान—यदि कार्यको छोड़कर अन्वित स्वार्थमात्रमें (लौकिकत्वमें) ही प्रयोजकत्व माना जाय, तो वह किससे अन्वित है ? इस प्रकार साकाङ्क्ष होनेका प्रसङ्ग आ जायगा । और लौकिकत्वके छोड़नेमें कोई बाध भी नहीं है ।

शङ्का—सिद्ध पदार्थके प्रतिपादक 'गो' आदि पदोंकी शक्ति कार्ययुक्त स्वार्थमें सम्भव होनेपर भी कार्यबोधक 'लाओ' आदि पदका वैसा—कार्यान्वित अर्थका बोधन करना—सम्भव नहीं है ।

समाधान—धातुका अर्थ कार्यरूप होनेसे उस कार्यसे युक्त नियोगमें

लोके 'फलितो द्रुमः' इत्यादिवाक्यानि कार्यरहितान्यपि प्रयुज्यन्ते तथापि तत्र 'तं पश्य'इत्यादिकार्याध्याहारोऽवगन्तव्यः, कार्यान्विते व्युत्पन्नस्य पदस्य कार्यमन्तरेणाऽबोधकत्वात् । अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यप्रयोजनमन्तरेण वाक्यप्रयोगानुपपत्तेर्नियोगनिष्ठा वेदान्ताः । न च रज्जुसर्पकण्ठचामीकरादाविव तत्त्वज्ञानमात्रेण प्रयोजनमुपलभामहे । न चैतच्छास्त्रीयम्, तथा सति श्रवणोत्तरकालीनयोर्मनननिदिध्यासनयोरविधिप्रसङ्गात् । न च सर्वस्य वेदस्य विधिनिष्ठत्वे सत्येकैव मीमांसा षोड़शलक्षणी स्यादिति शङ्कनीयम्, क्रियाविधिप्रतिपत्तिविधिरूपाभ्यां तद्भेदसिद्धेः । यानि वेदान्तवाक्यानि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकानि 'सदेव सोम्येदम्' इत्यादीनि तानि सर्वाणि 'सोऽन्वेष्टव्यः' इत्यादिविधिषु कोऽसावात्मेत्याकाङ्क्षायां तच्छेषतयैवाऽऽत्मविशेषं समर्पयन्ति । तस्मादनन्यशेषाद्वितीयप्रतिपादकत्वं वेदान्तानां नाऽस्तीति ।

कार्यपदकी व्युत्पत्ति सिद्ध हो सकती है। यद्यपि लोकमें (फला हुआ पेड़) इत्यादि वाक्य कार्यशून्य अर्थका भी प्रतिपादन करते ही हैं, तथापि ऐसे वाक्योंमें 'उसको (फलित पेड़को) देखो, इत्यादि प्रकारसे कार्यका अध्याहार समझना चाहिए, कारण कि कार्यान्वित पदार्थमें शक्तिशाली पद कार्यके बिना बोधक नहीं हो सकते। इसलिए प्रवृत्ति या निवृत्तिसे साध्य प्रयोजनके बिना वाक्यका प्रयोग नहीं हो सकनेसे नियोगके बोधनमें ही वेदान्तोंका तात्पर्य है। रज्जुसर्प या गलेके हारके समान तत्त्वज्ञानमात्रसे ही प्रयोजनका सिद्ध होना नहीं माना जा सकता, कारण कि उक्त प्रयोजन शास्त्रका तात्पर्यविषय नहीं है। यदि इसको शास्त्रीय प्रयोजन मान लिया जाय, तो श्रवणके बाद होनेवाले मनन और निदिध्यासनको विधि न माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। यदि कहो कि सभी वेद विधिपरक होंगे, तो सोलह अध्यायकी एक ही मीमांसा हो जायगी, तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि क्रियाविधि और प्रतिपत्ति (ज्ञान) विधिके भेदसे उन दोनोंका भेद ही है। 'सदेव सोम्य०' इत्यादि जो ब्रह्मस्वरूपके प्रतिपादक वाक्य हैं, वे सब 'सोऽन्वेष्टव्यः' इत्यादि विधियोंमें 'आत्मा कौन है ?' इस प्रकारकी आत्मविषयक जिज्ञासा होनेपर उसके अङ्गरूपसे विशेष आत्माका समर्पण करते हैं ? इससे वेदान्त अनन्यशेष अद्वितीय आत्माके प्रतिपादक नहीं हैं।

अत्रोच्यते—न तावन्नियोगब्रह्मणी उभे अपि वेदान्तैः प्रमातुं शक्येते, विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिप्रसङ्गात् । तच्च प्रथमसूत्रद्वितीयवर्णके विस्तृतम् । नाऽपि नियोगमात्रं प्रमातुं शक्यम् , विधेयानिरूपणात् । न तावच्छाब्दं ब्रह्मज्ञानं विधेयम् , तस्याऽऽपातिकस्याऽध्ययनादेव निष्पत्तेः । निर्णयश्च विचारजन्यः । अन्यथाऽग्निहोत्रादिज्ञानस्याऽपि तद्वाक्याध्ययनतद्विचाराभ्यामसिद्धिप्रसङ्गात् । नाऽपि शब्दावगते ब्रह्मणि स्मृतिसन्तानो विधेयः, तद्विधेरदृष्टफलत्वे स्वर्गादिवन्मोक्षस्याऽपि कर्मजन्यत्वेनाऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । अथाऽङ्गमर्दनप्रवाहेण शरीरे सुखप्रवाहोत्पत्तिवदभीष्टब्रह्मविषयस्मृतिसन्तानेनाऽपि सुखसन्तानो दृष्टफलं भवेत् , तर्ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्सिद्धेर्विधिवैयर्थ्यम् । अस्तु तर्हि स्मर्यमाणस्य साक्षात्करणं स्मृति-

---

इस प्रकारके पूर्वपक्षके उत्तरमें कहा जाता है—नियोग और ब्रह्म—इन दोनोंका निश्चय तो वेदान्तवाक्योंके द्वारा नहीं किया जा सकता, कारण कि इसमें विरुद्ध दो त्रिकोंकी आपत्तिका प्रसङ्ग होगा । इसका वर्णन विस्तारपूर्वक प्रथम सूत्रके द्वितीय वर्णकमें किया गया है । केवल नियोगका निश्चय भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस नियोगके विधेयका निरूपण नहीं होता—शब्द द्वारा उत्पन्न ब्रह्मज्ञान तो विधेय हो नहीं सकता, कारण कि विचारके पूर्व भी वेदान्तवाक्योंके केवल पठनसे शब्दजनित ब्रह्मज्ञानकी सिद्धि हो सकती है । और निर्णय तो विचारसे उत्पन्न होता है । यदि ऐसा न माना जाय, तो उन अग्निहोत्रादिके प्रतिपादक वाक्योंके पढ़ने तथा विचार करने से अग्निहोत्रादिके ज्ञानकी भी असिद्धिका प्रसङ्ग आ जायगा । [इसलिए शब्दज्ञानका पठनसे ही और निर्णयका विचारसे ही अस्तित्व मानना होगा] और शब्द द्वारा जाने गये ब्रह्ममें स्मृतिसन्तान (ब्रह्मकी निरन्तर स्मृतिकी उत्पत्ति होते रहना) भी विधेय नहीं हो सकता, कारण कि उस ब्रह्मविषयक स्मृतिसन्तानविधिके अदृष्टफलक होनेके कारण स्वर्गादिके तुल्य मोक्षमें भी, कर्मजन्य होनेसे, अनित्यत्वका प्रसङ्ग आ जायगा । शरीरकी मालिसके निरन्तर चालू रहनेसे शरीरमें जैसे सुखप्रवाहकी उत्पत्ति होतीरहती है, वैसे ही अभीष्ट ब्रह्मविषयक स्मृतिके सन्तानसे (प्रवाहसे) भी निरन्तर सुख होते रहनारूप इष्ट फल यदि उस विधिका कहा जाय, तो यह फल अन्वय-व्यतिरेक द्वारा ही सिद्ध हो सकता है, इसलिए उस फलकी सिद्धिके लिए विधिवाक्यका होना

संतानविधेः प्रयोजनमिति चेत् , तदापि किं स्मृतिसन्तानः स्वयमेव साक्षात्कारं जनयेत् उताऽदृष्टद्वारा अथवा विज्ञानान्तरद्वारा ? नाऽऽद्यः, नहि स्मृतिरूपस्य परोक्षज्ञानस्य सन्तानो विषयसाक्षात्कारं जनयितुमुत्सहते । अन्यथाऽनुमानज्ञानसन्तानोऽप्यनुमेयसाक्षात्कारमुत्पादयेत् । द्वितीयेऽपि न तावत् स्मृतिसन्तानजन्यमदृष्टमात्रं साक्षात्कारोत्पादने प्रभवति; साक्षात्कारस्य प्रमाणजन्यत्वात् । प्रमाणस्याऽप्यदृष्टसहकारित्वे प्रमाणेनैव साक्षात्कारोत्पत्तावदृष्टवैयर्थ्यम् । न तृतीयः, स्मृतिसन्तानजन्यं तद्विज्ञानान्तरं स्वयमेव साक्षात्कारजनकम् उताऽदृष्टद्वारेत्यादिविकल्पदोषप्रसङ्गात् ।

ननु तर्हि शब्दावगते ब्रह्मणि ध्यानं विधीयताम् । न च स्मृति-

व्यर्थ है । [वही विधिवाक्य चरितार्थ होता है, जो अनन्यसिद्ध फलकी सिद्धिके लिए विधानका प्रतिपादन करे] । यदि कहो कि स्मृतिके विषयभूत (ब्रह्मका) साक्षात् (प्रत्यक्ष दर्शन) करना ही स्मृतिसन्तानविधिका फल माना जाय, तो इसपर विकल्प होंगे कि क्या स्मृतिसन्तान स्वयं साक्षात्कारको उत्पन्न करेगा ? अथवा अदृष्टके द्वारा या दूसरे विज्ञानके द्वारा ? इनमें प्रथम विकल्प नहीं हो सकता, कारण कि स्मृतिस्वरूप परोक्ष ज्ञानका सन्तान (प्रवाह) विषयके साक्षात्कारको (प्रत्यक्ष ज्ञानको) उत्पन्न करनेका साहस नहीं कर सकता । अन्यथा (यदि परोक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञानके उत्पादनमें समर्थ मान लिया जाय, तो) अनुमानस्वरूप ज्ञानप्रवाह भी अपने विषय अनुमेयका साक्षात्कार करा देगा । दूसरे विकल्पके माननेमें भी प्रथम तो स्मृतिप्रवाहसे उत्पन्न हुआ अदृष्ट ही साक्षात्कारको उत्पन्न करानेमें समर्थ नहीं हो सकता, कारण कि साक्षात्कार तो प्रमाण द्वारा उत्पन्न होता है । प्रमाणका भी यदि अदृष्ट उपकारी माना जाय, तो प्रमाण द्वारा ही साक्षात्कारकी उत्पत्ति हो जानेपर उसके लिए अदृष्टका मानना ही व्यर्थ है । तीसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, क्योंकि इसमें भी स्मृतिप्रवाहसे उत्पन्न हुआ वह दूसरा विज्ञान क्या स्वयं ही साक्षात्कारका उत्पादक है ? या अदृष्टके द्वारा ? इत्यादि विकल्पदोषोंका प्रसङ्ग विद्यमान ही है ।

शङ्का—तब तो शब्द द्वारा जाने गये ब्रह्ममें ध्यानका विधान करना

सन्तान एव ध्यानम् , स्मृतिसन्तानस्य वस्तुगोचरत्वाद् ध्यानस्याऽऽरोपितविषयतयाऽपि संभवात् । न च प्रयोजनाभावः, ब्रह्मापरोक्षस्य प्रयोजनत्वात् । दृश्यते हि ध्यानाभ्यासप्रचयसामर्थ्यान्मृतपुत्राद्यापरोक्ष्यम् । न च तद्वदेव ब्रह्माऽऽपरोक्ष्यस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, शब्दप्रमाणसंवादसद्भावात् । स्वप्नवस्तुसाक्षात्कारस्याऽपि कस्यचिज्जागरणज्ञानसंवादे प्रामाण्यदर्शनात् , नैतत्सारम् ; स्वतःप्रामाण्यहानिप्रसङ्गात् । न च स्वप्ने चक्षुरादिप्रवृत्तिमन्तरेण वस्तुसाक्षात्कारः संभवति । जागरणसंवादस्तु सादृश्यादुपपद्यते । अथ स्मृतिसन्तानध्यानयोरविधेयत्वेऽपि

उचित है । और स्मृतिप्रवाह ही ध्यान नहीं कहा जा सकता, कारण कि स्मृतिसन्तान तो वास्तव वस्तुको विषय करता है और ध्यानका विषय तो आरोपित (अवास्तव) भी हो सकता है । प्रयोजनका अभाव भी (अर्थात् ध्यानका कोई फल नहीं है, ऐसा भी) नहीं कह सकते, क्योंकि उससे ब्रह्मसाक्षात्काररूप फल हो सकता है । ध्यानके अभ्यासके आधिक्यसे मरे हुए पुत्र आदिका साक्षात्कार देखा भी जाता है । और मृतपुत्र आदिके ध्यानके बलसे उत्पन्न साक्षात्कारकी भाँति ब्रह्मसाक्षात्कारको भ्रम माननेका प्रसङ्ग भी नहीं आ सकता, कारण कि ब्रह्मसाक्षात्कारमें वेदान्तवाक्यरूप शब्द-प्रमाणका संवाद सम्भव है । [और मृत पुत्र आदिके साक्षात्कारमें ध्यानसे अतिरिक्त प्रमाणान्तरका संवाद नहीं मिलता] स्वप्नमें उत्पन्न हुए प्रत्यक्षका जागरणावस्थाके ज्ञानके साथ संवाद मिलनेसे प्रामाण्य देखा गया है ।

समाधान—ध्यानका विधान करनेवाली युक्तियाँ सारभूत नहीं है, कारण कि इससे ज्ञानके स्वतःप्रामाण्यकी हानिका प्रसङ्ग होता है । और स्वप्नमें तो चक्षु आदि प्रमाणोंके व्यापारके बिना वस्तुका साक्षात्कार सम्भव ही नहीं है । जागरणमें संवाद तो केवल सादृश्यसे होता है । [आशय यह है कि यदि ध्यानसन्तानाधिक्यसे उत्पन्न हुआ साक्षात्कार (प्रत्यक्षज्ञान) शब्दप्रमाणके साथ संवाद मिलनेसे प्रमाण माना जाय, तो ज्ञानोंके स्वतःप्रामाण्यकी हानि होगी ! यदि प्रमाणान्तर-संवादसे प्रमाणित न किया जाय, तो वह मृत पुत्र आदिके साक्षात्कारके तुल्य भ्रम माना जायगा । इस प्रकार उक्त युक्तियाँ उभयथा दोषग्रस्त हैं । स्वप्नसाक्षात्कारको प्रमाणान्तरके संवादसे प्रमाण माननेका

शाब्दज्ञानादन्यदेव ज्ञानमलौकिकं श्रवणमननादिकरणकं वेदानुवचनादीतिकर्त्तव्यताकं ब्रह्मापरोक्ष्यफलकं मोक्षकामः कुर्यादिति विधीयत इति चेद्, मैवम्; वेदान्तानां ब्रह्मप्रमापके विधेयज्ञाने प्रामाण्यकल्पनाद् ब्रह्मण्येव साक्षात्प्रामाण्यकल्पनाया लघीयस्त्वात्। न च विधिसंस्पर्शित्वं प्रामाण्यकारणम्, किन्तु प्रमितिजननम्। अन्यथा अग्निहोत्रादिवाक्यं दर्शपूर्णमासविधिनिष्ठमपि स्याद्, विधिसंस्पर्शाविशेषात्। प्रमितिश्च सत्य-

---

प्रतिपादन करना तो बनता ही नहीं, क्योंकि स्वप्नमें वस्तुका साक्षात्कार होता ही नहीं, साक्षात्कार तो चक्षुरादि इन्द्रियोंसे जन्य ही हो सकता है, स्वप्नमें बहिरिन्द्रियाँ निर्व्यापार रहती हैं, अतः स्वप्नमें प्रतीयमान सब भ्रम ही है, जागरणसंवाद तो केवल सादृश्य द्वारा है।]

शङ्का—यद्यपि स्मृतिसंतान और ध्यान विधेय नहीं हैं, तथापि शब्द-जनित (शाब्दबोधरूप) ज्ञानकी अपेक्षा दूसरे अलौकिक श्रवण, मनन आदि साधनोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका, जिसकी इतिकर्त्तव्यता वेदानुवचनादि हैं, और ब्रह्मका साक्षात्कार फल है, मोक्षकी इच्छा रखनेवाला विधान करे, इस प्रकारकी ज्ञानविधि मानेंगे।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि वेदान्तोंका ब्रह्मनिश्चायक विधेयरूप ज्ञानमें प्रामाण्यकल्पनाकी अपेक्षा साक्षात् ब्रह्ममें ही प्रामाण्यकी कल्पना करनेमें लाघव है, विधिके साथ सम्बन्ध होना प्रामाण्यका कारण नहीं है, किन्तु प्रमितिका (निश्चयात्मक ज्ञानका) उत्पन्न करना ही प्रामाण्यका कारण है, [इससे ब्रह्मनिश्चायक होनेसे ही वेदान्तोंका प्रामाण्य हो सकता है, उसमें प्रामाण्य माननेके लिए विधिके संसर्गकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है] अन्यथा (यदि विधिके सम्बन्धसे ही वाक्योंका प्रामाण्य माना जाय, तो) अग्निहोत्रवाक्य दर्शपूर्णमासके विधेयवाक्यमें भी माना जायगा, विधिके साथ सम्बन्ध समान है। [अग्निहोत्र-वाक्यमें दर्शपौर्णमासके नियोगकी प्रतीति तो होती नहीं, इसलिए उसमें उसका प्रामाण्य भी नहीं माना जा सकता, इसलिए जिस वाक्यमें जिस नियोगकी प्रतीति हो वह उसमें ही प्रमाण हो सकता है, इसलिए दर्शपूर्णमासनियोग-बोधक वाक्यमें ही अग्निहोत्रका प्रामाण्य होना चाहिए।] और निश्चयात्मक ज्ञान तो सत्य, ज्ञान

ज्ञानादिवाक्येभ्यो ब्रह्मण्येव जायते, न विधौ । न च लौकिकात् प्रामाण्यादन्यदेव वैदिकं प्रामाण्यं विधिसंसृष्टमिति शङ्कनीयम् , यथा शब्दार्था य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्तथा प्रामाण्यस्याऽपि लोकवेदयोरेकत्वात् । तदेवं वेदान्तेषु न किञ्चिद्विधेयं निरूपयितुं शक्यम् ।

नाऽपि नियोगः सुनिरूपः । लोके ह्याचार्यः शिष्यं नियुङ्क्ते इत्यादावुत्कृष्टस्य पुरुषस्याऽवरपुरुषप्रेरणात्मकोऽभिप्रायभेदो नियोगत्वेनाऽभिमतः । न चाऽसावपौरुषेये वेदे संभवति । ननु नियोगो नाम प्रवर्त्तकः, प्रवर्त्तकत्वं कार्यबुद्धिगम्ये वस्तुनि प्रतिष्ठितमिति चेत् , किमिदं कार्यं नाम किं कृतिसंसृष्टं किंवा कृतियोग्यम् अथवा कृतियोग्यत्वे सति क्रियाकारकफलविलक्षणं किञ्चिदलौकिकम् ? नाऽऽद्यः, कृतिर्हि पुरुषप्रवृत्तिः, कार्यं च प्रवृत्तिनिमित्तम् । न च प्रवृत्तिसंसृष्टस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वं

आदि वाक्योंसे ब्रह्मविषयक ही होता है, विधिविषयक नहीं होता । लौकिक प्रामाण्यकी अपेक्षा भिन्न ही विधिसे सम्बद्ध वैदिक प्रामाण्य है, ऐसा मानना भी नहीं बन सकता, कारण कि जो लौकिक शब्दार्थ हैं, वे ही वैदिक शब्दार्थ हैं, इस प्रकारका प्रामाण्य भी लोक और वेद दोनोंमें समान (एक ही) है, इसलिए वेदान्तोंमें किसी विधेयका निरूपण नहीं किया जा सकता ।

और नियोगका निरूपण करना भी सरल नहीं है, कारण कि लोकमें 'आचार्य शिष्यको नियुक्त करता है' इत्यादि स्थलमें उत्तम पुरुषका अपकृष्ट पुरुषकी प्रेरणारूप एक अभिप्रायविशेष ही नियोग माना गया है। इस अभिप्रायविशेषरूप नियोगका अपौरुषेय वेदमें सम्भव नहीं हो सकता ।

शङ्का—नियोग तो प्रवृत्ति करानेवालेको कहते हैं और प्रवर्तकत्व (प्रवृत्ति कराना) तो कार्यबुद्धिसे प्रतीयमान वस्तुमें स्थित रहता है ।

समाधान—इस कार्यबुद्धिमें कार्य क्या वस्तु है ? कृतिसे (क्रियासे) सम्बन्ध रखनेवाला कार्य है या कृतिके (क्रियाके) योग्यको कार्य कहते हो अथवा कृतिके योग्य होते हुए क्रिया-कारकफलसे विलक्षण कुछ अलौकिक ही कार्य है ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि कृति तो पुरुषकी प्रवृत्ति—व्यापार—है और कार्य प्रवृत्तिका निमित्त है । और प्रवृत्तिके साथ

संभवति। अंशतः, आत्माश्रयत्वात्। न द्वितीयः; दुःखसाधनानामपि कृतियोग्यतया कार्यत्वे सति प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्। न तृतीयः, तस्य प्रत्यक्षाद्यगोचरस्य व्युत्पत्त्ययोग्यस्य शब्दप्रतिपाद्यत्वासंभवात्। न च पराभिमतकार्यानङ्गीकारे प्रवर्त्तकाभावः, कृतियोग्येष्टसाधनस्य प्रवर्त्तकत्वात्। कृतियोग्यत्वविशेषणोपादानान्न चन्द्रोदयादौ व्यभिचारः। यद्यपि कृतियोग्यस्य फलस्याऽपि प्रवर्त्तकत्वमस्ति, तथापि बालस्य व्युत्पत्तिनिमित्ततया मध्यमवृद्धप्रवृत्तिहेतुभूतं गवानयनादिलक्षणमिष्टसाधनमेव। अतश्च येयं महता प्रयासेन कार्यव्युत्पत्तिः साधिता सा नाऽस्माकमनिष्टा, इष्टसाधनस्यैव कृतियोग्यस्य कार्यत्वाभ्युपगमात्। एकमेव हि वस्तु

संसर्गवाली वस्तु प्रवृत्तिका निमित्त नहीं हो सकती, कारण कि इसमें अंशतः आत्माश्रय दोष आ जाता है। (अर्थात् कार्यबुद्धिके अनन्तर ही क्रिया-संसर्गकी प्रतीति होगी और क्रियासंसर्गकी बुद्धि होनेपर ही कार्यबुद्धि हो सकती है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय ही अंशतः आत्माश्रय कहा गया है)। दूसरा कल्प भी संगत नहीं है, कारण कि दुःखके साधनीभूत आघात आदि भी कृतिके योग्य हो सकते हैं। अतः उनके प्रवर्तक होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। तीसरा पक्ष भी नहीं बनता, कारण कि प्रत्यक्ष आदिका विषय न होनेसे तथा व्युत्पत्तिके योग्य न होनेसे उस कार्यका शब्द द्वारा प्रतिपादन करना सम्भव नहीं हो सकता। मीमांसकके माने हुए कार्यका अङ्गीकार न करनेसे प्रवृत्तिजनकका अभाव भी नहीं हो सकता, कारण कि कृतियोग्य इष्ट-साधन प्रवृत्तिका जनक माना जा सकता है। 'कृतियोग्य' ऐसा विशेषण देनेसे चन्द्रोदय आदिमें व्यभिचार नहीं आ सकता, क्योंकि चन्द्रोदयादि इष्ट-साधन होते हुए भी कृतियोग्य नहीं हैं।] यद्यपि कृतियोग्य फल भी प्रवृत्तिजनक हो सकता है, तथापि बालककी व्युत्पत्तिका निमित्त होनेसे मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिका कारण गायका ले आना आदिरूप इष्टसाधन ही प्रवर्तक हैं। इसलिए यह जो आपने बड़े परिश्रमके साथ कार्यको व्युत्पत्तिका साधन कहा, उससे हमारा कोई अनिष्ट नहीं सिद्ध होता, कारण कि उससे कृतियोग्य इष्टसाधन ही कार्यका स्वरूप माना गया है। एक ही वस्तु

कृतिनिरूप्यतया कार्यमित्युच्यते इष्टनिरूप्यतया चेष्टसाधनमिति। न च पराभिमतालौकिककार्ये इवेष्टसाधनेऽपि कृतियोग्येऽननुभूते प्रमाणाभावः शङ्कनीयः, अतीतेष्वन्नपानादिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामिष्टसाधनत्वमवगत्याऽनागतेष्वपि तेषु तदनुमानात्। न चैवं परकीयकार्यमनुमातुं शक्यम्, अलौकिकत्वव्याघातात्। तस्मात् कृतियोग्येष्टसाधनमेव विध्यर्थो न तु नियोगः। न चैतादृशोऽपि विधिर्वेदान्तेषु सम्भवति। तत्राऽविद्यानिवृत्तिलक्षणो मोक्ष इष्टस्तस्य च साधनं ब्रह्मात्मैक्यतत्त्वज्ञानम्। सोऽयं साध्यसाधनभावो लोकसिद्धः। शुक्तित्वज्ञानेन तदविद्यानिवृत्ति-

---

कृतिके द्वारा निरूप्यमाण होनेसे कार्य कहलाती है और वही वस्तु इष्टसे निरूपित होनेपर इष्टसाधन कही जाती है। वस्तु एक ही है।

शङ्का—मीमांसकके अभीष्ट अलौकिक कार्यके समान इष्टसाधनमें भी, जिसका कि कृतियोग्यरूपसे अनुभव नहीं हो सकता, प्रमाणाभाव है।

समाधान—अन्न, पान आदिरूप किये गये भूतकालिक उपभोगोंमें अन्वय-व्यतिरेक द्वारा इष्टसाधनत्वकी प्रतीति करनेके अनन्तर आगामी उपभोगोंमें भी इष्टसाधनत्वका अनुमान हो सकता है। और उक्त रीतिके अनुसार दूसरेके कार्योंका अनुमान नहीं किया जा सकता है, कारण कि इस प्रकार अनुमानसे कार्यज्ञान करनेपर उसकी अलौकिकताका व्याघात हो जायगा। [जैसे हम अन्वयव्यतिरेक द्वारा उपभुक्त अन्न, पान आदिमें अनुभूत इष्टसाधनत्वका आगामी अन्न, पानादिमें भी अनुमान द्वारा ग्रह करके प्रवृत्ति मानते हैं, वैसे ही यदि आप भी कार्यके विषयमें युक्ति कहें, तो आपको अपसिद्धान्त दोष लगेगा, क्योंकि आप तो उस कार्यको अलौकिक मानते हैं और उक्त प्रकारसे तो वह अलौकिक सिद्ध नहीं हो सकता है।] इसलिए कृतियोग्य इष्टसाधन ही विधिका अर्थ हो सकता है, नियोग नहीं। और इस प्रकारका (कृतियोग्य इष्टसाधनरूप) भी विधान वेदान्तोंमें नहीं हो सकता, कारण कि उनमें अविद्याकी निवृत्तिरूप ही मोक्ष इष्ट है और उसका साधन—कारण—जीव ब्रह्मको एक तत्त्व समझना (अद्वैत ज्ञान) ही है। इस रीतिका कार्यकारण—साध्यसाधन—भाव तो लोकसे ही सिद्ध है, क्योंकि शुक्तिके तत्त्व (यथार्थ) ज्ञानसे (उसमें रजतज्ञानकी उत्पादिका)

दर्शनात्। अतस्तद्विधिपरत्वे वेदान्तानामनुवादकत्वप्रसङ्गः। ननु सिद्धे व्युत्पत्त्यभावाद् ब्रह्मपरत्वमपि न सम्भवतीति चेद्, नः 'प्रभिन्न-कमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादावप्रसिद्धमधुकरपदार्थस्य पुरुषस्य प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेण सिद्धार्थेऽपि व्युत्पत्तिदर्शनात्। न च तत्र कार्याध्याहारः कल्पनीयः, प्रयोजनप्रमाणयोरभावात्। न च व्युत्पत्तेः कार्याव्यभिचारः प्रयोजनम्, तस्यैवाऽद्याप्यसम्प्रतिपत्तेः। तस्माद् ब्रह्मण्येव वेदान्तप्रामाण्यम्।

अत्र केचिन्मन्यन्ते—न खलु जीवब्रह्मणोरैक्यमस्ति, 'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति ज्योतिःशब्दाभिधेयस्य ब्रह्मणो ब्रह्मा-ण्डाद्बहिरवस्थानश्रवणात्। यदि सर्वगत्वश्रुतिः कुप्येत, तर्हि सर्वत्र

अविद्याकी निवृत्ति देखी जाती है। इसलिए उसके विधानमें तात्पर्य माननेसे वेदान्तोंमें अनुवादकत्वका प्रसङ्ग होता है, वह इष्ट नहीं है।

शङ्का—सिद्ध पदार्थमें व्युत्पत्तिका सम्भव न होनेसे वेदान्तोंका ब्रह्ममें भी तात्पर्य नहीं माना जा सकता।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं है, कारण कि 'खिले हुए कमलके बीचमें मधुकर मधुका पान करता है' इत्यादि वाक्योंमें मधुकर पदार्थको न जाननेवाले व्युत्पित्सु पुरुषको मधु आदि प्रसिद्ध पदके समभिव्याहार (सांनिध्य) से (भ्रमररूप) सिद्ध अर्थमें भी व्युत्पत्ति होती है, यह देखा जाता है। उक्त स्थलमें कार्यका अध्याहार करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कार्यके अध्याहार करनेका उसमें कोई प्रयोजन या प्रमाण नहीं है। व्युत्पत्तिका कार्यके साथ व्यभिचार न होना भी फल नहीं माना जा सकता, कारण कि उसकी (व्युत्पत्तिका कार्यके साथ व्यभिचार न होनेकी) अब तक सिद्धि नहीं हो पायी है। [इसलिए व्युत्पत्तिका कार्याव्यभिचार स्वीकृत नहीं हो सकता] अतएव ब्रह्ममें ही वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य मानना चाहिए।

इस विषयमें कुछ एकवादियोंका मत है—जीव और ब्रह्मका अभेद (ऐक्य) हो ही नहीं सकता, कारण कि 'जो इस ब्रह्माण्डसे अन्यत्र ज्योति दीप्त हो रही है' इत्यादि श्रुतिमें 'ज्योतिः'शब्दवाच्य पदार्थस्वरूप ब्रह्मकी ब्रह्माण्डसे बाहर अवस्थति प्रतीत होती है। यदि इसमें ब्रह्मको सर्वत्र व्यापक

वर्त्तमानमपि ब्रह्म जीवैर्वा प्रपञ्चेन वा न संस्पृश्यते, 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः । 'अहं ब्रह्मास्मि' इति श्रुतिस्त्वारोपिततादात्म्यरूपेणोपासनं विदधाति । तस्माच्चोपासनान्मोक्षः फलिष्यति यागादिव स्वर्गः । न च वेदान्तानामुपासनाविधिपरत्वे ब्रह्मस्वरूपासिद्धिः, देवताधिकरण-न्यायेन मानान्तरसिद्धिविरोधयोरभावे स्वार्थेऽपि प्रामाण्यसम्भवात् । न च जीवाद्भिन्ने ब्रह्मण्यद्वैतश्रुतिव्याकोपः, तस्याः श्रुतेर्विकारातीत-ब्रह्मविषयत्वात् । तस्य चैकत्वाभ्युपगमात् । न च नैयोगिकफलत्वे मोक्षस्य स्वर्गादिवदनित्यता, 'न स पुनरावर्त्तते' इति श्रुत्याऽनुमानस्य बाधादिति ।

नैतत्सारम् , आद्यन्तशून्यस्य मोक्षस्योपासनात्मकक्रियासाध्यत्वा-योगात् । 'विमुक्तश्च विमुच्यते', 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इत्यादिश्रुतिर्मोक्ष-

---

कहनेवाली श्रुतिसे विरोध आता हो, तो सर्वत्र वर्तमान (व्यापक) भी ब्रह्म जीव अथवा प्रपञ्चसे सम्बद्ध नहीं होता, कारण कि श्रुति कहती है—'वह ब्रह्मरूप पुरुष असङ्ग—सङ्गवर्जित—है' । 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यर्थक श्रुति तो आरोपित अभेद द्वारा उपासनाका विधान करती है, इसलिए जैसे याग द्वारा स्वर्ग फलित होता है, वैसे ही उपासनासे मोक्षकी सिद्धि होती है। वेदान्त-वाक्योंका उपासनाविधिमें तात्पर्य माननेसे ब्रह्मस्वरूपकी असिद्धि होनेका दोष भी नहीं आ सकता, कारण कि देवताधिकरणन्यायसे दूसरे प्रमाणोंसे सिद्धि और विरोधके न आनेसे स्वार्थमें (ब्रह्मस्वरूपमें) भी प्रामाण्य मानना सम्भव हो सकता है । जीवसे ब्रह्मको भिन्न माननेसे अद्वैतकी प्रतिपादक श्रुतिसे विरोध भी नहीं आता, कारण कि उस श्रुतिका विषय विकारशून्य ब्रह्म है और उसका एक होना माना ही गया है, मोक्षको नियोगका फल माननेसे स्वर्गादिके तुल्य वह अनित्य होगा, इस प्रकार दोष भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'वह ब्रह्मज्ञानी पुनः इस संसारमें नहीं लौटता' इत्यर्थक श्रुतिसे अनुमानका बाध हो जायगा ।

[इस मतका खण्डन करते हैं—] उक्त कथन सार—युक्ति—शून्य है । आदि—प्रारम्भ—और अन्त—विनाश—से शून्य मोक्ष उपासनारूप क्रियाके द्वारा साध्य है, ऐसा माननेका अवसर नहीं आ सकता, क्योंकि 'विमुक्त—मोक्षको प्राप्त हुआ—मुक्त हो जाता है', 'ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्मको प्राप्त करता है' इत्याद्यर्थक

स्याऽनादितामाह। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते', 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इत्यादिका चाऽविनाशितां प्रतिपादयति। तथा तदनुग्राहको न्यायोऽप्यनुसंधेयः। सादित्वे च मोक्षस्याऽन्तवत्त्वं स्यात्। अन्तवत्त्वे च पुनर्बन्धान्मोक्षशब्द-स्योपचरितार्थत्वप्रसङ्गः। तथा क्रियासाध्यत्वेऽभ्युदयफलवच्छरीरेन्द्रि-यादिसम्बन्ध उपचयापचयत्वं च केन वार्येत। कर्मफलस्य वैचित्र्य-दर्शनाच्छरीरादिरहितो मोक्षोऽपि तत्फलं भविष्यतीति चेद्, न; शरीरा-दिराहित्यस्य स्वाभाविकत्वात्। तथाहि—न तावदात्मनो देहेन संयोग उपपद्यते, निरवयवत्वात्। नाऽपि समवायः, देहं प्रति समवायिकरण-त्वाभावात् सामान्यादिरूपत्वाभावाच्च। एवं तादात्म्यादिनिराकरणमूह्यम्। ततो वास्तवसम्बन्धाभावे सत्यशरीरत्वं स्वाभाविकं सशरीरत्वं तु मिथ्या-ज्ञानकृतमित्यभ्युपेयम्।

श्रुतियाँ मोक्षको अनादि कहती हैं। और 'विद्या द्वारा अमृतत्वका (मरण-शून्यत्वका) उपभोग होता है', 'ब्रह्मनिष्ठ अमृतत्वको प्राप्त करता है' इत्याद्यर्थक श्रुतियाँ मोक्षको विनाश रहित कहती हैं। एवं इन श्रुतियोंके द्वारा प्रतिपादित अर्थके पोषक न्यायका (अनुमानादिका) अनुसन्धान भी करना चाहिए। यदि मोक्ष सादि माना जाय, तो उसको विनाशी भी मानना होगा। और उसको अन्तवान् (विनाशशाली) माननेसे मोक्षशब्दमें उपचरितार्थकत्वका (लाक्षणिक अर्थका प्रतिपादक होनेका) प्रसङ्ग आ जायगा। एवं मोक्षको क्रियासाध्य माननेसे अभ्युदयरूप फलके ऐसे शरीरेन्द्रियादिका सम्बन्ध होनेसे उसमें उपचय या अपचय होनेका प्रसङ्ग कौन हटा सकेगा? कर्मके फलोंकी विचित्रता देखनेसे शरीरादिसे रहित मोक्ष भी उसका फल हो सकेगा, यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि उसका शरीरादिसे शून्य होना स्वाभाविक है। आत्माका देहके साथ संयोग होना उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा अवयवशून्य है। [और निरवयवसे संयोग नहीं बनता]। समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, कारण कि आत्मा शरीरके प्रति समवायी कारण नहीं है और आत्मा सामान्यादि-रूप भी नहीं है। [समवाय सम्बन्ध या तो समवायिकारणसे होता है अथवा जाति, गुण पदार्थोंसे ही हो सकता है, आत्मा देहका दोनों पदार्थ नहीं है]। इसी रीतिसे तादात्म्य आदि सम्बन्धोंका भी न हो सकना समझना चाहिए। इसलिए संयोगादि वास्तव सम्बन्ध न हो सकनेसे आत्माका शरीर रहित होना

न च मिथ्याज्ञानं कर्मभिर्निवर्त्तते ? नाऽप्यशरीर एव मोक्षः कर्मभिरन्यथा परिणम्यत इति वक्तुं शक्यम् , कूटस्थस्य परिणामायोगात् । नन्वेवमप्युपासनासाध्यत्वमात्रेण मोक्षस्य कथमुपचयादिप्राप्तिरिति चेद् , उच्यते—तत्रोपासनस्य स्वरूपतः संख्यातः कालतो वा परिमितिरस्ति न वा ? न चेत् , तर्ह्यनिर्धारितविशेषस्योपासनस्याऽनुष्ठानमशक्यं स्यात् । अस्ति चेत् , तर्हि सा प्रदर्शनीया ? नहि साङ्गदर्शपूर्णमासपरिमितिवदेतावदिदमित्युपासनास्वरूपपरिमितिः प्रदर्शयितुं शक्यते । न च संख्यातः परिमाणमस्ति । सहस्रं लक्षं वा प्रत्ययानां मोक्षसाधनमित्येतादृशस्य नियामकस्याऽदर्शनात् । नाऽपि कालतः परिमाणमस्ति, एकं शतं सहस्रं वा संवत्सराणामुपासीनस्य मोक्ष इति नियमप्रमाणाभावात् । मरण-

---

स्वभावसिद्ध है । और शरीरसे सम्बन्धका होना तो मिथ्या अज्ञानके द्वारा हुआ है, यह समझना चाहिए ।

और वह मिथ्या (अवास्तव) अज्ञान कर्मकलापके अनुष्ठाताओंके द्वारा नहीं नष्ट किया जा सकता और शरीरके सम्बन्धसे विरहित मोक्षको ही कर्मकाण्डी अन्यथा परिणत कर सकते हैं, क्योंकि कूटस्थका—निर्विकार अर्थात् परिणामशून्यका परिणाम होना सम्भव नहीं है ।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी उपासनासे ही साध्य होनेके कारण मोक्षमें उपचयादिकी प्राप्ति कैसे संगत हो सकती है ?

समाधान—कहा जाता है कि उस उपासनाका स्वरूप, संख्या तथा कालके द्वारा परिच्छेद है या नहीं ? यदि नहीं है, ऐसा मानो, तो विशेषरूपसे निर्द्धारण न हो सकनेसे उस उपासनाका अनुष्ठान करना असम्भव होगा । [विशेषशून्य सामान्यमात्रका तो परिज्ञान भी असम्भव है, इस परिस्थितिमें अनुष्ठान तो दूर रहा] । यदि है, तो वह परिच्छेद दिखलाना होगा । अङ्गसहित दर्शपूर्णमासके परिच्छेदकी भाँति 'इतना यह है' इस प्रकार उपासनाके स्वरूपका परिमाण नहीं किया जा सकता । और संख्याके द्वारा भी परिमाण नहीं है, क्योंकि हजार या लाख उपासनात्मक ज्ञान मोक्षके साधन हैं, ऐसा कोई नियम करनेवाला प्रमाण नहीं है । एवं कालके कारण भी परिच्छेद नहीं हो सकता, कारण कि एक या सौ अथवा हजार वर्षों तक उपासना करनेवालेको मोक्षरूप फल मिलेगा, ऐसा कोई नियम-

मेवाऽवधिरिति चेत्, तथापि दर्शपूर्णमासवदेकाकारा साधनपरिमितिर्न लभ्यते। एकेन दशभिः शतेन सहस्रेण वा कालेन कस्यचिन्मरणात् पुरुषभेदेषूपचयापचयप्रसङ्गात्। उपास्यापरोक्ष्यमवधिरिति चेत्, तथापि कस्यचित्केनचित्कालेनाऽऽपरोक्ष्यात्साधनोपचयापचयौ तदवस्थावेव। अतस्तत्फले मोक्षेऽप्युपचयापचयौ दुर्वारौ। लोके वेदे च क्रियातारतम्यात् तत्फलेऽपि तारतम्यदर्शनात्। न चोपासनैकरूप्याभावेऽपि फलैकरूप्यं शास्त्राद्भविष्यतीति शङ्कनीयम्, शास्त्रस्याऽन्यथाऽनुपपत्तौ न्यायविरुद्ध-कल्पनायोगात्। अतो 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यादिन्यायानुसारेणाऽनित्यत्वा-दिकं मोक्षस्य प्राप्नोति।

कारक प्रमाण नहीं मिलता। यदि मरण (देहावसान) कालकी अवधि—परिच्छेद—माना जाय, तो भी दर्शपूर्णमासके तुल्य एक आकारसे ही साधनका परिमाण नहीं पाया जा सकता। और एक, दस या हजार (दिन, मास या वर्ष आदि) कालमें किसीका मरण होनेसे पुरुषभेदोंमें उपचय और अपचय आनेका प्रसङ्ग आ ही जायगा। (अर्थात् किसी पुरुषका एक, किसीका दो एवं किसीका सौ तथा हजार वर्षमें मरण होनेसे इस प्रकार पुरुषविशेषोंमें कालकृत परिमिति माननेसे कालकृत उपचय तथा अपचय अवश्य आ जायगा। यदि उपास्य (उपासनाका कर्मभूत) ब्रह्मका साक्षात्कार ही अवधि माना जाय, तो भी किसीको कुछ कालमें उपास्यका आपरोक्ष्य होता है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे (पूर्वोक्त दोषके तुल्य) साधनगत उपचय तथा अपचयके होनेका प्रसङ्ग बना ही है। इस रीतिसे उस साधनके फलभूत मोक्षमें भी उपचय तथा अपचय आनेका दोष नहीं हटाया जा सकता, कारण कि लोक या वेद दोनों स्थलोंमें क्रियाके तारतम्यसे उसके फलमें तारतम्य (उपचय-अपचय—कमी-बेशी) देखा जाता है। उपासनाका एक-सा रूप (आकार) न होनेपर भी फलकी एकता (एकाकारता) शास्त्र द्वारा सिद्ध हो जानेकी आशङ्का भी नहीं की जा सकती। शास्त्रकी दूसरे प्रकारसे भी सङ्गति होनेपर न्यायविरुद्ध कल्पना करनेका अवसर नहीं आ सकता, इसलिए (जो कृतक—क्रियाजन्य—है वह अनित्य है) इस व्याप्तिसे केवल मोक्षमें अनित्यत्व आदि दोषोंका प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

यत्तूक्तमपुनरावृत्तिश्रुतिबाधितोऽयं न्याय इति, तदसत्। तत्र किं 'ब्रह्म लोकमभिसंपद्यते' 'न स पुनरावर्त्तते' इत्येषा श्रुतिर्बाधिका उत 'एषैव देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त' इत्येषा श्रुतिः? नाऽऽद्यः, अप्रसक्तप्रतिषेधात्। नहि ब्रह्मलोकाभिसंपत्तिसमये पुनरावृत्तिः प्रसक्ता, अथ न स पुनरावर्त्तिष्यत इति वाक्यार्थः कल्प्येत, तन्न; 'तद्यथेह कर्मजितः' इत्यादिश्रुत्याऽनुमानेन च विरोधे सति श्रुतार्थपरित्यागेनाऽश्रुतार्थकल्पना-सम्भवात्। द्वितीये त्विममिति विशेषणं मानवान्तरे पुनरावृत्तिं दर्शयति। नन्वस्मिन् कल्पेऽनावृत्तिं प्रतिपादयतो वाक्यस्य कल्पान्तरे पुनरावृत्ति-

---

यह जो कहा गया कि पुनरावृत्तिका निषेध करनेवाली श्रुतिसे यह न्याय (मोक्षमें कृतकत्वरूप हेतुसे अनित्यत्वप्रतिपादक अनुमानप्रयोग-रूप न्याय) बाधित हो जाता है। [अर्थात् उस श्रुतिके बलसे मोक्षके कृतकत्व माननेपर भी अनित्यत्व आदि दोष नहीं आ सकते], यह भी सङ्गत नहीं है, कारण कि इसमें विकल्प किया जायगा कि उक्त न्यायका 'ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है और वह पुनः लौटता नहीं' इत्यर्थक 'ब्रह्मलोकम्'—इत्यादि श्रुतिसे बाध होता है? अथवा 'यही देव मार्ग है यही ब्रह्ममार्ग है, इस मार्गसे जानेवाले मानवसृष्टिमें पुनः नहीं आते) एतदर्थक श्रुति उस न्यायका बाध होता है? इसमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि ऐसा माननेसे अप्राप्तका ही निषेध प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्मलोककी प्राप्ति-कालमें पुनः आवृत्ति (लौटना) प्राप्त ही नहीं है। (ब्रह्मलोककी प्राप्तिके कालमें लौटनेकी प्रसक्ति कैसे हो सकती है?) यदि 'वह पुनः नहीं लौटेगा' इस प्रकार (भविष्यमें पुनरावृत्ति करना निषेधपरक) वाक्यकी कल्पना करना भी उचित नहीं है, कारण कि 'जैसे कर्मोंसे अर्जित'—इत्यादि अर्थवाली श्रुति और अनुमान (पूर्वोक्त कृतकत्वरूप-हेतुमूलक) से विरोध होनेपर श्रुत अर्थका परित्याग करके अश्रुत अर्थकी कल्पना करना सम्भव नहीं है। दूसरे कल्पमें तो 'इमम्' यह विशेषण दूसरी मानव-सृष्टिमें पुनरावृत्तिका प्रदर्शन करा रहा है। [अर्थात् इस मानवसृष्टिमें (जिससे वह गया है, उसमें) नहीं आता। परन्तु इससे दूसरे मानवमें नहीं लौटना तो सिद्ध नहीं होता]।

शङ्का—इस कल्पमें पुनरावृत्तिका निषेध करनेवाले वाक्यका दूसरे

प्रतिपादनेऽपि तात्पर्ये वाक्यभेद इति चेद्, नः पुनरावृत्तेरार्थिकत्वात्। अन्यथा सर्वत्र सविशेषणवाक्येष्वस्य चोद्यस्य दुष्परिहरत्वात्। नन्वेषा श्रुतिः कल्पे कल्पे प्रवर्त्तमाना तत्र तत्राऽऽवृत्तिं निषेधति ततोऽर्थादनावृत्तेरात्यन्तिकत्वसिद्धिरिति चेद्, नः प्रतिपत्तृभेदात्। अस्मिन् कल्पे प्रतिपन्नानामागामिकल्पे पुनरावृत्तिस्तत्र प्रतिपन्नानां तत उपरिकल्पे पुनरावृत्तिरित्यभ्युपेयम्। अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात्।

कल्पमें आवृत्ति (लौट आने) के प्रतिपादनमें भी तात्पर्य होनेसे वाक्यभेद होनेका प्रसङ्ग आता है। [इसलिए कल्पान्तरमें पुनरावृत्तिपरक वाक्य नहीं माना जायगा।]

समाधान—उक्त दोष नहीं आ सकता, कारण कि पुनरावृत्ति अर्थात् सिद्ध हो जाती है। [अर्थात् सिद्ध हुए अर्थके लिए वाक्यभेदकी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है] अन्यथा (यदि आर्थिक अर्थका बोध करानेके लिए अतिरिक्त वाक्यकी आवश्यकता हो, तो) विशेषणविशिष्ट सभी वाक्योंमें उक्त दोषका (वाक्यभेद होनेका) समाधान नहीं हो सकता। [किसीने कहा 'मधुर वचन कहा करो' इस वाक्यमें मधुर विशेषणसे अर्थात् प्रतीत होता है कि 'कटु वचन न कहना'। यदि वाक्यके बिना इसकी प्रतीति न हो सके, तो इसके लिए भी 'कटु वचन न कहो' वाक्यभेदका प्रसङ्ग आ जायगा, अतः आर्थिक अर्थकी प्रतीतिके लिए वाक्यभेदकी आवश्यकता नहीं होती और ऐसा भी नहीं है कि अर्थतः प्रतीत होनेवाला कोई अर्थ ही नहीं है, वह तो प्रतीत होता ही है।

शङ्का—यह पुनरावृत्तिका निषेध करनेवाली श्रुति प्रतिकल्पमें प्रवृत्त होती हुई (अपना अर्थबोध कराती हुई) पुनरावृत्तिका प्रत्येक कल्पमें निषेध करती है, इस प्रकार अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि पुनरावृत्तिका निषेध नित्य (अव्यभिचरित) है।

समाधान—उक्त युक्ति उचित नहीं है, कारण कि इसमें प्रतिपत्ताओंका (मुक्तोंका) भेद है। (ऐसी व्यवस्था माननी ही होगी) इस कल्पमें ब्रह्मप्राप्ति करनेवालोंकी आनेवाले कल्पमें पुनरावृत्ति होगी और आनेवाले कल्पमें ब्रह्मप्राप्ति करनेवालोंकी उससे आगेके कल्पमें पुनरावृत्ति होगी, ऐसा मानना ही होगा। नहीं तो 'इमम्' या 'इह' दोनों विशेषण व्यर्थ होंगे।

नन्वस्तु तर्ह्यनित्य एव मोक्षः, अनित्यस्याऽपि स्वर्गादेः पुरुषार्थत्वदर्शनात् । तथा चोपासनक्रियासाध्यो मोक्षो भविष्यतीति चेत्, किं न्यायानुसारेणैवमुच्यते किंवा श्रुत्यनुसारेण ? नाऽऽद्यः, न्यायविच्चाभिमा-

शङ्का—अच्छा तो अनित्य ही मोक्ष रहे । अनित्य होते हुए भी स्वर्गादिको पुरुषार्थ मानना देखा ही गया है, इसलिए उपासनारूप क्रियाका साध्य फल मोक्ष माना जायगा ।

समाधान—ऐसा मानना क्या न्यायका अनुसरण करके कहा जा रहा है ? अथवा श्रुतिका अनुसरण करके ? प्रथम पक्ष नहीं माना जायगा, कारण कि न्यायोंका परिज्ञान रखनेके अभिमानशाली सांख्य, योग, वैशेषिक, नैयायिक,

(१) सांख्य तथा योगशास्त्रकी प्रक्रिया है—द्रष्टा-पुरुष-और दृश्य-अनात्मा प्रकृतिका-अविवेक-पार्थक्येन ज्ञान न होना—ही अविद्या है । वह अनादि कालसे प्रवृत्त है, उसका विनाश तत्त्वज्ञान (विवेकज्ञान) द्वारा ही होता है । उसके विनाशके अनन्तर—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेशरूप क्लेश नष्ट हो जाते हैं । तदन्तर किसी प्रकारकी प्रवृत्ति न होनेसे मोक्ष होता है । इन मतोंमें अविद्यानिवृत्ति ही नित्य मोक्ष होना माना गया ।

एवं वैशेषिककी प्रक्रियासे भी सिद्ध है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायरूप पदार्थोंमें साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा यथार्थ ज्ञानके न हो सकनेसे प्रवृत्त हुआ अनादि मिथ्याज्ञान यथार्थरूपसे तत्त्वज्ञान होनेसे निवृत्त होता है । तदनन्तर नैयायिकप्रक्रियाके अनुसार दोषादिकी निवृत्तिसे क्रमशः मोक्षसिद्धि होती है ।

नैयायिकोंकी प्रक्रिया संक्षेपमें इस प्रकार है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, पृथ्वी आदि विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, मरण, सुख, दुःख और अपवर्ग—इन बारह पदार्थोंमें अनादि-प्रवाहरूपसे चला हुआ अज्ञान तत्त्वज्ञानके द्वारा निवृत्त हो जाता है । तदनन्तर उसके कार्यस्वरूप राग-द्वेष-मोहात्मक दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है और दोषोंकी निवृत्ति हो जानेसे सुख-दुःखको उत्पन्न करनेवाली तन्मूलक प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप प्रवृत्तियोंका होना सम्भव नहीं हो सकता । तदनन्तर प्रवृत्ति-निवृत्ति द्वारा उत्पन्न होनेवाले शुभाशुभ-कर्म-जनित स्थावर जङ्गम किसी भी योनिमें जन्म नहीं मिलता । इसलिए शरीरसम्बन्ध न होनेसे आत्यन्तिक दुःखका ध्वंस सुतरां सिद्ध हो जाता है । इससे नैयायिक मतमें भी तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति ही प्रधानरूप मोक्षकी प्रयोजक सिद्ध होती है ।

बौद्धोंकी प्रक्रिया है कि—स्थायी माननेकी कल्पनाके द्वारा प्रवृत्ति या प्रवृत्तिजनित सुख, दुःख, जन्म, बन्ध आदि फल पर्यन्त राग, द्वेष आदि दोषोंसे विज्ञान दूषित हो जाते हैं । उन दूषित विज्ञानोंमें क्षणिकत्व तथा शून्यत्व रूप दुःखात्मत्वरूप अपने यथार्थ स्वरूपका परिचिन्तन करनेसे स्थायित्व आदि सब विभ्रम मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाते हैं । तदन्तर विशुद्ध विज्ञानके अन्तिम क्षणका उदय होता है, उसीका नाम मोक्ष है । इस मतमें भी मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिसे ही मोक्ष माना गया है ।

निभिरेव सांख्ययोगवैशेषिकनैयायिकबौद्धादिभिः सर्वैः स्वस्वप्रक्रियानुसारेणाऽनादिमिथ्याज्ञानस्य तत्त्वज्ञानेन निवृत्तौ मोक्षो भवति स च नित्य इत्येवाऽङ्गीकारात्। न द्वितीयः, 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति', 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे', 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्याद्याः श्रुतयो ब्रह्मात्मत्वदर्शनसमकालमेवाऽविद्यानिवृत्तावविनाशिनं मोक्षं दर्शयन्त्यो न क्रियानुप्रवेशशङ्कामपि सहन्ते ।

ननु अहं 'ब्रह्मास्मि' इत्यादिशास्त्रं न ब्रह्मात्मैकत्वपरं किन्तु जीवविलक्षणे प्रमाणान्तराविरुद्धे ब्रह्मणि शास्त्रप्रतिपन्ने सम्पदध्यासक्रियायोगसंस्कारेष्वन्यतममपरं भविष्यति । तत्र संपद् नामाल्पे वस्तुन्यालम्बने महद्वस्तुदर्शनम् । यथाऽल्पे मनसि वृत्त्यनन्तत्वसाम्येनाऽनन्तविश्वेदेवसंपादनं कृत्वा

तथा बौद्ध आदि सभी वादियोंने अपनी अपनी प्रक्रियाके अनुसार 'अनादि मिथ्याज्ञानकी तत्त्वज्ञानसे निवृत्ति होनेपर मोक्ष होता है और वह नित्य है' ऐसा सिद्धान्त माना है । दूसरा पक्ष नहीं बनता, कारण कि 'जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह यह सब कुछ हो जाता है', 'यह समझकर वामदेव ऋषिको प्राप्त हुए', 'तुम हमारे पिता (शोकनिवारक) हो जो अविद्याके उस पारको पहुँचा देते हैं । (अर्थात् अविद्या—मिथ्या अज्ञानकी अत्यन्त निवृत्ति करा देते हैं) 'अन्तमें बिलकुल (सर्वात्मना) यह विश्वमाया—प्रपञ्चजात—की निवृत्ति हो जाती है' और 'जो इसको जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं' इत्याद्यर्थक श्रुतियां ब्रह्मसाक्षात्कारके समान कालमें ही अविद्याकी निवृत्ति होनेसे अविनाशी मोक्षका प्रतिपादन करती हुई क्रियाके सम्बन्धको नहीं सह सकतीं ।

शङ्का—'मैं ब्रह्म हूँ' एतदर्थक अनेक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य जीव और ब्रह्मके अभेदबोधनमें नहीं है, किन्तु जीवसे विलक्षण—अतिरिक्त और दूसरे प्रमाणसे विरुद्ध न होनेवाले तथा शास्त्रसिद्ध ब्रह्ममें सम्पद्, अध्यास, क्रियायोग तथा संस्कार इनमें से किसी एकका प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य होगा । इनमें से छोटी वस्तुमें बड़ी वस्तुका दर्शन करना सम्पद् कहलाता है । जैसे छोटेसे मनमें वृत्तियोंके अनन्तत्वकी समानता लेकर अनन्त विश्वेदेवों-

अनन्तलोकजयः । 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' इति श्रुतेः । तथा जीवे चिद्रूपसाम्येन ब्रह्मरूपसम्पादनं कृत्वा ब्रह्मफलमवाप्यते । अध्यासस्त्वन्यस्मिन्नन्यत्वदृष्टिः । यथा 'आदित्यो ब्रह्म' इति श्रुतिवशादब्रह्मरूप आदित्ये ब्रह्मदृष्टिस्तथाऽत्राप्यब्रह्मरूपे जीवे ब्रह्मदृष्टिः । तत्राऽऽलम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा सम्पाद्यस्यैव प्राधान्येन चिन्तनं संपद्, आलम्बनस्यैव प्राधान्येन चिन्तनमध्यास इति तद्विवेकः । क्रियायोगस्तु यथा 'वायुर्वाव संवर्गः' इति श्रुतावग्न्यादीन् संवृणोतीति संवरणक्रिया-सम्बन्धाद् द्वयोः संवर्गगुणत्वेनोपासनं तथा जीवस्य स्वगतेन बृहत्यर्थ-योगेन ब्रह्मगुणतयोपासनम् । संस्कारश्च कर्माङ्गस्य व्रीह्याज्यादेः प्रोक्षणा-वेक्षणादिना यथा भवति तथा कर्तृतया कर्मगुणभूतस्याऽऽत्मनो ब्रह्मदृष्ट्या संस्कारः क्रियत इति ।

की सम्पत्ति करके अनन्त लोकोंका जय होता है, क्योंकि 'मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं, अतः उसके द्वारा वह अनन्त लोकका जय करता है' ऐसी श्रुति है । एवं चिद्रूपसे जीवमें ब्रह्मकी समानता होनेसे उसमें ब्रह्मरूपकी सम्पत्ति करके ब्रह्मरूप फल पाया जाता है । और दूसरे पदार्थमें दूसरे पदार्थकी बुद्धि होना तो अध्यास कहलाता है । जैसे 'सूर्य ब्रह्म है' इत्यर्थक श्रुतिके बलसे ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न सूर्यमें ब्रह्मबुद्धि की जाती है, वैसे ही ब्रह्मसे अतिरिक्त स्वरूपवाले जीवमें ब्रह्म-दृष्टि की जाती है । इनमें आलम्बनभूत वस्तुको अविद्यमानके समान करके (जिसकी उस आलम्बन-भूत वस्तुमें सम्पत्ति की हो) उस सम्पाद्यका ही प्रधानरूपसे चिन्तन करना सम्पद् है और आलम्बनका ही प्रधानरूपसे चिन्तन करना अध्यास है, ऐसा दोनोंका विवेक है । क्रियायोग तो जैसे 'वायु ही संवर्ग है' इत्यर्थक श्रुतिमें वायु, अग्नि आदिका संवरण करता है, अतः संवरण क्रियाके सम्बन्धसे दोनोंकी संवर्गरूप गुणसे उपासना होती है, वैसे ही जीवकी अपनेमें रहनेवाले बृंहणरूप बृह धातुके अर्थके सम्बन्धसे ब्रह्मगुणरूपसे उपासना होती है । और संस्कार जैसे कर्मके अङ्गभूत व्रीहि तथा घृत आदिके प्रोक्षण तथा अवेक्षण आदिसे होता है, वैसे ही कर्ता होनेके कारण कर्मके अङ्गभूत आत्माका ब्रह्मदृष्टिके द्वारा संस्कार किया जाता है ।

नैतत्सारम् ; किं जीवब्रह्मभेदप्रतिभासविरोधभयात् सम्पदादिपरत्वं वेदान्तानां कल्प्यते ? किं वा जीवब्रह्मैक्ये तात्पर्याभावाद् ? उत फलानुसारात् ? नाऽऽद्यः, अभेदेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बवद्भेदप्रतिभासोपपत्तेः । न द्वितीयः, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्तस्यैक्यस्य 'स एष इह प्रविष्टः' इति प्रवेशार्थवादेन 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' इति भेदनिन्दया चोपपादितत्वात् । एवं सर्वश्रुतिष्वप्यैक्यतात्पर्यलिङ्गप्रवेशादिकमवगन्तव्यम् । न तृतीयः, अविद्यानिवृत्तिब्रह्मात्मभावश्च फलं श्रूयते । न च संपदादिपरत्वे तदुपपद्यते, संपदादीनामयथावस्तुत्वेनाऽप्रमाणज्ञानानामविद्यानिवर्त्तकत्वासम्भवात् । अन्यस्याऽन्यात्मत्वविरोधाच्च । तस्मादैक्यपरं शास्त्रम् ।

अत्र कश्चिदाह—ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नो जीवः । ततश्च ब्रह्मणो

समाधान—उक्त कथन सारगर्भित नहीं है; क्या आप जीव और ब्रह्मके भेदकी प्रतीतिके विरोधके भयसे वेदान्तवाक्योंका सम्पद् आदिमें तात्पर्य माननेकी कल्पना करते हैं ? अथवा जीव और ब्रह्मके अभेदमें उनका तात्पर्य न होनेसे ? या फलके बलसे ? इनमें प्रथम कल्प उचित नहीं है, कारण कि अभेद रहनेपर भी बिम्ब और प्रतिबिम्बके समान भेदप्रतीतिकी उपपत्ति हो सकती है। दूसरा कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यर्थक श्रुतिसे प्रतिपादित ऐक्यका (अभेदका)—'वह यह इसमें प्रविष्ट हो गया' इत्याद्यर्थक प्रवेशके अर्थवादसे और 'जो अन्य देवताकी उपासना करता है (अर्थात् यों भेद मानता है) कि वह दूसरा है और मैं दूसरा हूँ वह ज्ञानी नहीं कहा जा सकता' इस प्रकार भेदकी निन्दासे—उपपादन किया गया है। इस रीतिसे सब श्रुतियोंमें भी ऐक्यमें तात्पर्यके लिङ्ग, प्रवेश आदि समझने चाहिएँ। तीसरा पक्ष भी नहीं बनता, कारण कि अविद्यानिवृत्ति और ब्रह्मभावापत्तिरूप फलका श्रवण है। वेदान्तोंका सम्पद् आदिमें तात्पर्य माननेसे उक्त फलकी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि सम्पद् आदि सभी मिथ्याभूत वस्तु हैं, इसलिए अप्रमाण ज्ञान अविद्याका निवर्तक नहीं हो सकता और दूसरेके दूसरेका स्वरूप होनेमें भी विरोध आता है, इसलिए सिद्ध है कि वेदान्तशास्त्रका तात्पर्य जीवब्रह्मकी एकतामें—अभेदमें—ही है।

किसीका (भास्करका) कहना है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न दोनों

नित्यमुक्तता जीवस्य नित्यबद्धता च व्यवस्थामश्नुते । अत्यन्ताभेदे तु ब्रह्मैव स्वसंसराय कथं जगदुत्पादयेत् । विरुद्धा च विशुद्धस्याऽशुद्धताप्रतिपत्तिरिति ।

अत्रोच्यते—न तावत् जीवब्रह्मणोर्जातिव्यक्तिभावो गुणगुणिभावः कार्यकारणभावो विशिष्टस्वरूपत्वमंशांशिभावो वा विद्यते, मानाभावात् । न च तदभावे क्वचिद्भेदाभेदौ दृश्येते, 'ममैवांशो जीवलोके' इति स्मृतेरंशांशितेति चेद्, न; 'निष्कलम्' इति निरंशत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् । 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतिर्नांशांशिभावं ब्रूते, किन्तु ब्रह्मानन्त्यप्रतिपादनाय जीवस्याऽल्पतामात्रमाह । अन्यथा सांशस्य ब्रह्मणो घटादिवदवयवारभ्यत्वप्रसङ्गात् । ननु स्वाभाविकी निरवयवता बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं सांशत्वमिति नोक्तदोष इति चेद्, एवमपि वास्तवभेदो न सिध्येत् ।

प्रकारका है । इससे ब्रह्मका नित्यमुक्त रहना और जीवका नित्यबद्ध रहना व्यवस्थित हो सकता है । यदि ब्रह्मका और जीवका अत्यन्त अभेद माना जाय, तो स्वयं ब्रह्म अपने संसार—बन्धन—के लिए संसारको क्यों उत्पन्न करेगा ? और विशुद्ध ब्रह्मका अशुद्ध होना विरुद्ध भी होता है ।

इस भास्करके कथनपर कहा जाता है कि जीव और ब्रह्ममें जातिव्यक्तिभाव, गुणगुणिभाव, कार्यकारणभाव या विशिष्टस्वरूपत्व तथा अंशांशिभाव नहीं हैं, क्योंकि इनके होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । और इनके न रहनेपर कहीं भी भेद और अभेद नहीं देखे जाते हैं । यदि शङ्का हो कि 'यह जीव संसारमें मेरा (ब्रह्मका) ही अंश है' इस स्मृतिसे जीव और ब्रह्ममें अंशांशिभाव सिद्ध होता है, तो यह भी उचित नहीं है, कारण कि इसमें 'वह निष्कल—निरवयव—है' इत्यर्थक अवयवशून्यताप्रतिपादक श्रुतियोंसे विरोध आता है । 'सम्पूर्ण भूत इसके पाद हैं' एतदर्थक श्रुति तो अंशांशिभाव—अवयवावयविभाव—का बोध नहीं करा रही है, किन्तु ब्रह्मकी अनन्तताका प्रतिपादन करनेके लिए जीवकी केवल अल्पताको कहती है । अन्यथा (ब्रह्मको सावयव माननेमें) सावयवय ब्रह्ममें भी घटादिके सदृश अवयवोंसे आरभ्य होनेका प्रसङ्ग आ जायगा । यदि ब्रह्ममें स्वभावसिद्ध अवयवशून्यता और बुद्धि आदि उपाधिके कारण सावयवता है ऐसा माननेपर उक्त दोष नहीं है, तो भी वास्तविक भेद

नहि निरवयवमाकाशं खड्गधारादिभिर्वस्तुतो भेत्तुं शक्यम् । अथाऽन्तःकरणोपाधीनां वस्तुतो ब्रह्मविदारणसामर्थ्यमस्ति तर्हि ब्रह्म स्वस्याऽनर्थाय कथमुपाधीन् सृजेत् । न च जीवार्था तत्सृष्टिः, तत्सृष्टेः प्राग् जीवविभागासिद्धेः । न च कर्माविद्यासंस्कारा अन्तःकरणोत्पत्तेः प्राग्विद्यमाना अपि जीवं विभजन्ते, अन्तःकरणद्रव्यस्यैव जीवोपाधित्वाङ्गीकारात् । ननु नीलपीतादिवद्भेदः स्वाभाविको द्रव्यत्वादिजातिनिबन्धनश्चाऽभेद इति चेत्, तर्हि 'अयमात्मा ब्रह्म' इति सामानाधिकरण्यं न स्यात्, नीलं पीतमिति सामानाधिकरण्याभावात् । अथ न निष्पन्नो भेदो नाऽप्यनादिः किन्तूपाधिनिबन्धनः केवलं ब्रह्मणि प्रकाशते । स तर्ह्यतस्मिंस्तदारोपो विभ्रम एव

सिद्ध नहीं होता, क्योंकि खड्गकी धारसे अवयवरहित आकाशके वस्तुतः टुकड़े नहीं किये जा सकते। यदि कहा जाय कि अन्तःकरणमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह ब्रह्मका वस्तुतः विदारण—टुकड़े—कर सकता है, तो ब्रह्म अपने अनर्थके लिए उपाधिकी सृष्टि क्यों करेगा ? उपाधिकी सृष्टि जीवके लिए भी नहीं मान सकते, कारण कि उपाधिकी सृष्टिके पूर्व जीवरूप भेदकी ही सिद्धि नहीं है। [अर्थात् उपाधिके द्वारा ही जीव और ब्रह्म ऐसा विभाग बनता है, इससे पूर्व तो अद्वैत ब्रह्म ही है।] अन्तःकरणकी उत्पत्तिसे पूर्वमें रहनेवाले कर्म, अविद्या तथा संस्कार द्वारा भी जीवरूप विभागकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अन्तःकरणरूप द्रव्य ही जीवभेदमें प्रयोजक उपाधि माना गया है।

शङ्का—नील, पीत आदि भेदोंके सदृश जीवभेद भी स्वभावसिद्ध ही है (इससे उपाधिसृष्टिके पूर्व भी जीव विद्यमान रह सकता है) और द्रव्यत्व आदि जातिके कारण अभेद होगा।

समाधान—ऐसा माननेपर 'यह जीवात्मा ब्रह्म है' ऐसा सामानाधिकरण्य नहीं बनेगा। [द्रव्यत्व आदि जातिके कारण सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता] क्योंकि 'नील पीत है' ऐसा सामानाधिकरण्य कहीं नहीं देखा जाता। (नील, पीतके साथ घटत्वादि या पदार्थत्वका सम्बन्ध है ही)। यदि कहा जाय कि भेद सिद्ध नहीं है और अनादि भी नहीं है, किन्तु उपाधिके कारण केवल ब्रह्ममें प्रकाशित होता है, तो वह भेद अन्यमें अन्यका आरोप-

स्यात् । प्रामाणिकस्य भेदस्य कथं विभ्रमत्वमिति चेद्, नः जीवब्रह्मभेदे प्रत्यक्षादीनामप्रसरात् । आगमस्तु न भेदं प्रतिपादयति प्रत्युत 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत' इत्यभेदं प्रतिपाद्य 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति भेदं प्रतिषेधति । न च संसारित्वासंसारित्वव्यवस्थानुपपत्तिर्भेदे मानम्, अभेदस्याऽप्यङ्गीकृतत्वेनाऽव्यवस्थातादवस्थ्यात् । नह्याकाशं घटेनाऽवच्छिद्य तदन्तर्धूमादिसमावेशे सत्याकाशस्य धूमादिसंयोगः परिहर्त्तुं शक्यते, घटावच्छिन्नभागसहितस्यैवाऽऽकाशत्वात् । अथाऽपि भेदांशमुपजीव्य व्यवस्थोच्येत तर्ह्यस्मन्मतेऽपि ब्रह्मण्यविद्यादिसंसर्गासंसर्गाभ्यां व्यवस्था किं न स्यात् । एकस्मिन्नेव वस्तुनि संसर्गस्य

रूप (बिना भेदवालेमें भेदका आरोपरूप) भ्रममात्र ही होगा । प्रमाणसिद्ध भेद भ्रम नहीं हो सकता, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि जीव और ब्रह्मके भेदमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका प्रसङ्ग नहीं है । शास्त्र तो भेदका प्रतिपादन नहीं करता, परन्तु उसके विपरीत 'यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृतरूप है' इस प्रकार अभेदका प्रतिपादन करके 'इससे अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है' इन वाक्योंसे भेदका निषेध करता है । संसारित्व—बद्ध—और असंसारित्व—मुक्त—की व्यवस्थाका न बनना ही भेदकी सिद्धिमें प्रमाण है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; कारण कि अभेदका भी अङ्गीकार कर लेनेसे व्यवस्थाका न बनना वैसे ही है । आकाशको घटरूप उपाधिके द्वारा भिन्न करके (महाकाशसे घटाकाशका भेद सिद्ध करके) उस उपाधिके अन्दर धूमादिका समावेश होनेपर उस उपाध्यवच्छिन्न आकाशके साथ भी धूमादिके संयोगका परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि घटावच्छिन्न भाग सहित ही आकाश है । [अर्थात् अवश्य ही घटान्तर्गत आकाशके साथ धूमका संयोग होनेसे शुद्ध अवच्छिन्नका अभेद माननेवालेके मतमें आकाशसे भी धूमका संयोग है ही । एवं ब्रह्मका अन्तःकरणरूप उपाधिके द्वारा जीवभेद होनेके अनन्तर उस अवच्छिन्नसे संसारका सम्बन्ध होनेसे अवश्य ही ब्रह्मका भी संसारसे सम्बन्ध हो गया । इससे ब्रह्म नित्यमुक्त है यह व्यवस्था नहीं बनेगी ।] यदि भेदभागको लेकर व्यवस्था बनायी जाय, तो हमारे मतसे भी ब्रह्मके साथ अविद्याके संसर्ग तथा संसर्गके अभावसे व्यवस्था क्यों नहीं हो सकेगी । [ब्रह्मके साथ अविद्याका सम्बन्ध होनेसे संसारित्व और संसर्ग छूटनेसे मुक्तत्व व्यवस्था होनेमें कोई असामञ्जस्य नहीं है ।] एक ही पदार्थमें संसर्ग-सम्बन्धका होना और न होना दोनों

भावाभावौ विरुद्धाविति चेद्, न; भेदस्य भावाभावयोरेकत्र त्वयाऽभ्युपगमात्। अभेदो नाम न भेदाभावः, किन्त्वैक्याख्यं धर्मान्तरमिति चेत्, तथापि भेदाभेदौ विरुद्धावेव परस्परनिवर्तकत्वात्। 'अहं मनुष्यः' इति प्रतीतं देहात्मैक्यं 'नाऽहं मनुष्योऽपि तु ब्रह्मास्मि' इत्यनेन देहात्मभेदभानेन निवर्त्तते। तथा द्वौ चन्द्राविति प्रतीतो भेदश्चन्द्रैक्यज्ञानेन निवर्त्तते। अतो विरोधभीतस्त्वं कथं भेदाभेदावङ्गीकुर्वीथाः। तदङ्गीकारे वा ब्रह्मण्यविद्यासंसर्गेण तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तेनोपपादयितुं सुशकयोः कस्तव प्रद्वेषः। न चांऽशभूते जीवे संसारिणि सत्यंशिनो ब्रह्मणस्तदभावे तवाऽस्ति कश्चिद् दृष्टान्तः। नहि वस्त्रैकदेशे देहैकदेशे वा चण्डालसूतिकादिभिरुपस्पृष्टे कृत्स्नौ वस्त्रदेहावप्रक्षालनीयौ भवतः। अतो न त्वन्मते ब्रह्मणोऽसंसारित्वं प्रत्युत सर्वजीवैः

विरुद्ध नहीं रह सकते, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि एकमें ही भेदका होना और न होना दोनों तुम भी मानते आये हो। यदि कहा जाय कि अभेद भेदका अभावरूप पदार्थ नहीं है, किन्तु (अधर्मके सदृश) अभेद एक दूसरा धर्म ही है। तथापि भेद और अभेद एक दूसरेके विरोधी तो हैं ही, कारण कि इनमें एक दूसरा एक दूसरेका निवर्तक है। 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीतिसे सिद्ध हुआ देह और आत्माका अभेद 'मैं मनुष्य नहीं हूँ, प्रत्युत ब्रह्म हूँ' इस प्रतीतिके द्वारा देह और आत्मामें भेदका प्रतिभास होनेसे निवृत्त हो जाता है; इसी प्रकार दो चन्द्र हैं, इस प्रकार प्रतीत हुआ चन्द्रमाका भेद चन्द्रके ऐक्यज्ञानसे निवृत्त होता है। इसलिए विरोधसे भयभीत तुम भेद और अभेद दोनोंकी एकमें स्थिति कैसे मान रहे हो? और यदि विरोधसे न डरकर परस्पर विरुद्धोंकी भी एकमें स्थिति मान सकते हो, तो ब्रह्ममें अविद्याके सम्बन्धसे उन दोको—ब्रह्ममें अविद्याके संसर्ग और उसके अभावको जिनका बिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तसे उपपादन करना सरल है, माननेमें कौन तुम्हारा द्वेष है। और अंशभूत जीवके संसारी होते हुए अंशी—अवयवीस्वरूप—ब्रह्म संसारी नहीं है, इसमें तुम्हारे पास कौन-सा दृष्टान्त है। ऐसा नहीं देखा गया कि वस्त्रका एक भाग अथवा देहके किसी एक अवयवसे चाण्डाल आदि अस्पृश्य जातिका स्पर्श हो जानेसे वह सारा वस्त्र और सम्पूर्ण देह शुद्ध न की जाय। [एक देशमें भी अशुद्धि आ जानेसे सम्पूर्ण अवयवीको ही अशुद्ध मान कर उस अवयवी भरकी शुद्धि की जाती है।] इसलिए तुम्हारे मतमें ब्रह्ममें असंसारित्व (नित्यमुक्तत्व) नहीं बन सकता। प्रत्युत इसके विपरीत

सर्वप्रपञ्चेन चाऽभिन्नतया सर्वं दोषजातं स्वात्मन्येव ब्रह्म पश्येत्। तथा च तादृशब्रह्मप्राप्तेरपुरुषार्थतया शास्त्रारम्भादिकमनुपपन्नं स्यात् । नहि ज्ञान-ध्यानादिभिः स्वोपाधौ कथंचित्प्रविलापितेऽप्यशेषजीवोपाधयः प्रविलापयितुं शक्यन्ते येन ब्रह्मणि सर्वो दोषः परिहियेत । अस्मन्मते तु ब्रह्मणि न कश्चिद्दोषः, प्रतिबिम्बश्यामत्वादीनां बिम्बसंबन्धादर्शनात्। तत्त्वज्ञानेन सर्वोपाधिविनिर्मोक्षश्चोपपद्यते। स्वप्नकल्पितवस्तूनां सर्वेषामपि प्रबोधे निवृत्तिदर्शनात्। शुकवामदेवादितत्त्वज्ञानेन सर्वोपाधिनिवृत्ताविदानीं संसारानुपलब्धिः प्रसज्येतेति चेद्, न; त्वत्पक्षेऽपि समानत्वात् । एकैकस्य जीवस्यैकैक-

---

समस्त जीव तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चके साथ अभेद होनेसे ब्रह्म सम्पूर्ण दोषसमूहको अपनेमें ही समझेगा। इस परिस्थितिमें नित्यबद्ध ब्रह्मकी प्राप्तिमें पुरुषार्थत्व सङ्गत न होनेसे उसके लिए वेदान्त या विचारशास्त्रोंका आरम्भ करना युक्तियुक्त न होगा। ज्ञान या ध्यान आदिसे अपनी उपाधिका किसी प्रकार विलय (विनाश) कर देनेपर सम्पूर्ण जीवोंकी उपाधियोंका विनाश नहीं किया जा सकता, जिससे कि ब्रह्ममें दिये जानेवाले समस्त दोषोंका परिहार हो सके। [जिसको ज्ञान हुआ है और जिसने ध्यानादि या मनन किया है, उसकी उपाधियोंकी निवृत्ति होनेसे अन्य पामर प्राणियोंकी सब उपाधियां नष्ट नहीं हो सकतीं और वे प्राणी भी ब्रह्माऽभिन्न ही हैं, अतः उनके द्वारा ब्रह्म दूषित बना ही रह जायगा, ब्रह्म तो प्राणियोंके भेदसे भिन्न नहीं है, जिससे कि ज्ञानी और ध्यानीके द्वारा प्राप्त ब्रह्मको निर्दोष कह सकें एवं सदोषकी प्राप्ति कथमपि पुरुषार्थ नहीं हो सकती।] और हमारे मतमें तो ब्रह्ममें कोई दोष ही नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्बगत श्यामत्व आदि दोषोंका सम्बन्ध बिम्बके साथ नहीं देखा जाता है। [इससे उपाधिकृत दोषका संसर्ग प्रतिबिम्ब-स्थानीय जीवके साथ ही होगा ब्रह्मके साथ नहीं होगा।] और तत्त्वज्ञानके द्वारा समस्त उपाधियोंसे छुटकारा पा जाना सम्भव है। देखा जाता है कि स्वप्नमें कल्पित सभी पदार्थोंका (जागरणावस्थामें) बोध होनेपर विनाश हो जाता है। हमको श्रीशुकदेवजी तथा श्रीवामदेव मुनिजीको हुए तत्त्वज्ञानके द्वारा समस्त उपाधिके विलय हो जानेपर इस समय संसारकी उपलब्धि नहीं होनी चाहिए, इस प्रकार दूषण देना भी उचित नहीं है, कारण कि यह दोष तो तुमको भी समान ही है। [जो दोष दोनोंको समान होता है, उसका उत्तर करनेके लिए एक ही बाध्य

स्मिन् कल्पे मुक्तावप्यनन्तजीवानामतीतानन्तकल्पेषु मुक्तौ कथं संसार उपलभ्येत । अनुभवमवलम्ब्येदानीन्तनसंसारसमाधानमुभयोः समानम् । उपपत्तिस्त्वेकात्मवादिभिरस्माभिरेव कथञ्चिदुक्तुं शक्यते । तथाहि—यस्त्वं मां प्रति बन्धमोक्षव्यवस्थां पृच्छसि स त्वमेक एव सर्वकल्पनाधिष्ठानभूतश्चिदेकरस आत्मा त्वदन्ये मुक्ता मुच्यमाना मोक्ष्यमाणाश्च सर्वे जीवास्त्वदविद्यया स्वप्न इव कल्पिताः । वामदेवादिमुक्तिश्रुतिश्च त्वत्प्ररोचनाय ब्रह्मविद्याप्रशंसार्था । एवं च सति कस्य बन्धमोक्षावित्येष संदेहस्तव तावत् संसारदशायां मोक्षदशायां वा न जायते । एवं प्रत्येकं तत्तत्पुरुषदृष्ट्या

नहीं होता ।] क्योंकि तुम्हारे मतमें भी एक एक जीवकी (ज्ञानी ध्यानीकी) एक-एक कल्पमें मुक्ति हो जानेसे अनन्त जीवोंकी अनन्त कल्पोंमें मुक्ति हो जानेके कारण संसार कैसे उपलब्ध हो सकेगा? अनुभवके बलपर इस समय यदि दीख पड़नेवाले इस संसारकी स्थितिका समाधान किया जाय, तो यह समाधान दोनोंके लिए एक-सा ही होगा (अर्थात् हम भी अनुभवके बलसे संसारकी स्थिति कहेंगे)। [यदि दोनों पक्षोंमें शङ्का और समाधान समान ही हैं, तो आपका ही मत क्यों माना जाय? इस आशङ्कासे अपने मतके समर्थनमें विनिगमक देते हैं—] एकात्मवादी हमारे मतमें ही उपपत्ति हो सकती है । [वस्तुतः हमारे मतमें अनिर्वचनीय ख्याति है, परन्तु यज्ञानुरूप एवं बलि तुष्यतु दुर्जनन्यायसे कुछ भी निर्वचन हो सकता है, तो हमारे ही मतमें हो सकता है, इस आशयसे 'कथञ्चित्' कहा' उपपत्ति इस प्रकार है—] जो तुम हमसे बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था पूँछ रहे हो, वह तुम अकेले ही समस्त कल्पनाओंके अधिष्ठानभूत चिद्रूप आत्मा हो और तुमसे अतिरिक्त मुक्त हुये या मुक्त होनेकी अवस्थाको प्राप्त हुए अथवा आगे मुक्त होनेवाले सभी जीव तुम्हारी अविद्यासे स्वप्न सदृश कल्पित हैं । और बामदेव आदिकी मुक्ति कहनेवाली श्रुति तो तुमको प्ररोचन करनेके लिए या ब्रह्मविद्याकी प्रशंसाके निमित्त है । इस प्रकार सिद्धान्त निश्चित होनेपर किसको बन्ध तथा मोक्ष होता है, यह सन्देह तुमको तो न संसारदशामें और न मोक्षदशामें हो सकता है । इस प्रकार तत्-तत् पुरुषकी दृष्टिसे वही वही (स्वयं) आत्मा है ।

---

१ यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः । नैकस्तत्राऽनुयोक्तव्यः ।

स स एवाऽऽत्मेति गुरुशास्त्राभ्यां बोधिते सति न कस्याऽपि संदेह उदेतीति किमत्राऽनुपपन्नम् । अतोऽखण्डैकरसात्मवादेऽनुपपत्त्यभावात् तत्तत्परेण शास्त्रेणाऽऽत्मतत्त्वे बोधिते सद्य एवाऽविद्यातत्कार्ययोः स्वप्नवत् प्रविलीनयोः सतोरद्वितीये ब्रह्मणि संपदादिरूपेणोपास्तिक्रियायाः कोऽवसरः । अत एव श्रुतिर्ब्रह्मण उपास्यत्वं निषेधति—'यन्मनसा न मुनते येनाहुर्मनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'इति । न च वेद्यत्ववदुपास्यत्वमपि स्यादिति मन्तव्यम्, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'इति श्रुत्या वेद्यत्वस्याऽपि निषेधात् । अवेद्यत्वेऽप्यखण्डैकरसब्रह्माकारान्तःकरणवृत्त्या चैतन्याभिव्यक्तियुक्तया शास्त्रजन्यया विद्ययाऽविद्यातत्कार्यनिवृत्तेर्ब्रह्मणः शास्त्रवेद्यत्वमुपचर्यते । एतां वृत्तिं प्रति संनिधिमात्रेणाऽखण्डैकरसत्व-

---

ऐसा गुरु तथा शास्त्र द्वारा उपदेश होनेपर किसीको भी सन्देह नहीं हो सकता, फिर कहो कि इसमें क्या अनुपपत्ति है ? इसलिए आत्माके अखण्ड (निरवयव) और एकरस माननेके पक्षमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति न होनेसे तादृश आत्माके बोधनमें तात्पर्यवाले शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्वका बोधन हो जानेपर तुरत ही स्वप्नकी भाँति अविद्या तथा उसके कार्यभूत प्रपञ्चका विलय हो जानेसे अद्वितीय ब्रह्ममें पूर्वोक्त, सम्पदादि रूपसे उपासना क्रियाका अवसर कैसे आ सकता है ? इसीलिए तो श्रुति ब्रह्मके उपासनाविषय होनेका निषेध करती है । 'जिसका मनसे मनन नहीं किया जाता, प्रत्युत जिसके द्वारा मन मनन करनेवाला कहलाता है, वही ब्रह्म है, उसको तुम ब्रह्म जानो, यह ब्रह्म नहीं है, जिसकी कि उपासना की जाती है' इत्यर्थक श्रुति उपासनाका निषेध करती है। वेद्यत्व (ब्रह्म-विद्याविषयत्व) की भाँति ब्रह्मका उपासना विषय होना भी नहीं मानना चाहिए, कारण कि 'वह ब्रह्म ज्ञानविषयसे भी अतिरिक्त है और ज्ञानके अविषयसे भी परे है' एतदर्थक श्रुतिसे ब्रह्मका वेद्य—ज्ञानविषय—होना निषिद्ध किया गया है । [ब्रह्ममें शास्त्रवेद्यत्वकी उपपत्ति दिखलाते हैं—] ब्रह्मके वस्तुतः अवेद्य होनेपर भी चैतन्यकी अभिव्यक्तिसे युक्त तथा शास्त्रसे उत्पन्न ब्रह्मविद्यात्मक अखण्डैकरस ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिके द्वारा अविद्या तथा उसके कार्यस्वरूप प्रपञ्चकी निवृत्ति होनेसे ब्रह्ममें शास्त्रवेद्यत्वका गौण व्यवहार होता है । इस पूर्वोक्त अखण्डैकरस ब्रह्माकारवृत्तिके प्रति

लक्षणस्वाकारसमर्पकतया स्वस्वाकारसमर्पकघटादिवद्वृत्तिव्याप्यत्वलक्षणं विषयत्वं ब्रह्मणोऽभिप्रेत्य 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'एषोऽणुरात्मा वेदितव्यः', 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इत्याद्याः श्रुतयः प्रवृत्ताः । जडेषु घटादिष्विव प्रमाण-

---

अपने केवल सन्निधानसे अखण्डैकरसस्वरूप अपने आकारका समर्पण करनेसे अपने अपने आकारका समर्पण करनेवाले घटादिके सदृश वृत्तिव्याप्यत्वरूप विषयत्व ब्रह्ममें मानकर 'मनके द्वारा ही साक्षात्कार करना चाहिए', 'यह अणु सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूप आत्मा ज्ञेय—जानने योग्य—है' और उस उपनिषदोंके द्वारा जानने योग्य पुरुष—चेतनशक्ति—को' एतदर्थक श्रुतियां प्रवृत्त होती हैं। [यद्यपि ब्रह्म अप्रमेय एवं अवेद्य और अव्यपदेश्य है, इसलिए वह वास्तवमें न तो श्रुतिसे वेद्य और न गुरुके उपदेशसे ज्ञेय हो सकता है। ऐसी दशामें ब्रह्मको शास्त्रवेद्य कैसे कहा जाय? इस शङ्काके समाधानका आशय है कि वस्तुतः ब्रह्म वेद्य नहीं है, परन्तु जैसे स्वप्रकाश भी सूर्य घनीभूत बादलों या धूलीपटलसे आच्छन्न हुआ प्रकाशित नहीं होता, परन्तु उस आवरक मेघमण्डल एवं धूलीपटलके प्रचण्ड वायु द्वारा या अन्य कारणोंसे हट जानेपर अपने स्वरूपसे प्रकाशित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही स्वप्रकाश तथा विशुद्ध भी ब्रह्मात्मा अनादि अविद्या तथा उसके कार्यों द्वारा आच्छन्न हुआ अप्रकाशित-सा रहता है। उस आवरणके अपनयनके लिए प्रचण्ड वायुस्थानीय अन्यविषयव्यावृत्त अन्तःकरणकी शुद्ध वृत्तिकी अपेक्षा होती है। यह वृत्ति अत्यन्त निर्मल होनेसे सन्निहितकी अभिव्यक्ति करती है और उसके आकारको भी ग्रहण कर लेती है, ब्रह्म सर्वव्यापक होनेसे सर्वत्र सन्निहित है, श्रवण, मनन आदि अन्तःकरणकी वृत्तिमें कोई अन्य विषयोंका ज्ञेय शेष नहीं रहता, अतः स्वच्छ अखण्डैकरसकी अभिव्यक्ति तथा उसका आकार लेना ही उस वृत्तिको स्वतः प्राप्त हो जाता है। यही ब्रह्मका विषय होता है, जिसके कारण सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जाते हैं और स्वरूपसिद्ध स्वतःप्रकाश ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, एतावता ब्रह्म शास्त्रवेद्य भी कहा गया है। जड़ पदार्थ घटादिकी वृत्ति द्वारा प्रकाश और ब्रह्मप्रकाशमें भेद दिखलाते हैं—] जड़ पदार्थ घट आदिमें प्रमाण द्वारा उत्पन्न

कृतस्फुरणातिशयस्य स्वप्रकाशे ब्रह्मण्यसंभवात् फलव्याप्यत्वाभावलक्षणमविषयत्वं च 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्याद्याः श्रुतयः प्रत्यपीपदन् । न चाऽत्राऽत्यन्तं फलाभावः, अन्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तत्वोपाधिना ब्रह्मचैतन्यस्यैव फलत्वोपचारात् । घटादिष्वप्यस्यैव फलत्वव्यवहारात् । तदुक्तम्—

'परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ।
संवित् सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥' इति ॥

अतो ब्रह्मचैतन्यमुपान्त्यक्षणेऽवच्छिन्नतया फलावस्थं भूत्वा चरमक्षणे स्वावच्छेदिकां वृत्तिं निवर्त्तयति । तत उपर्यवच्छेदकाभावात् फलावस्थतां परित्यज्य निर्विकल्पकचैतन्यमात्रं मोक्षदशायां परिशिष्यते । एवं च सति नित्यमुक्तं ब्रह्मैव स्वाविद्यादिप्रतिबिम्बितं सज्जीव-

---

किये गये प्रकाशरूप अतिशयका स्वप्रकाशरूप ब्रह्ममें सम्भव नहीं है [क्योंकि ब्रह्म तो स्वयंप्रकाशरूप है, उसमें प्रकाशरूप अतिशय उत्पन्न करानेके लिए किसी प्रमाणजनित वृत्ति आदि दूसरे कारणकी अपेक्षा नहीं है] । इसलिए फलव्याप्यत्वरूप विषयत्वके अभावका भी 'जिस ब्रह्मरूप अवधिसे वाणी निवृत्त हो जाती है' एतदर्थक श्रुतियोंने प्रतिपादन किया है । यहाँ फलका अत्यन्त अभाव है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; कारण कि अन्तःकरणकी उक्त वृत्तिमें अभिव्यक्त होना रूप उपाधिके द्वारा ब्रह्मचैतन्यमें ही फलत्वका गौणरूपसे व्यवहार होता है, क्योंकि घटादि स्थलोंमें भी इसीका फलरूपसे व्यवहार होता है [अर्थात् घटाकार अन्तःकरणकी वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य ही घटावच्छिन्न चैतन्यके नामसे फल कहलाता है] । इस विषयमें कहा भी गया है—

'बहिर्भूत घट, पट आदि विषयस्थलोंमें जिस संवित्‌को फल माना गया है, वही संवित् ही प्रकृत वेदान्तवाक्यरूप शब्द प्रमाण द्वारा प्रमेय अर्थ है [अर्थात् वेदान्तवाक्योंका भी घटावच्छिन्न चैतन्यप्रकाशके तुल्य संविद्रूप ब्रह्मचैतन्य प्रकाश ही प्रमेय है] ।

इसलिए ब्रह्मचैतन्य अन्तिम क्षणके पूर्वक्षणमें अवच्छिन्न होनेसे फलावस्थामें विद्यमान होकर अन्तिम क्षणमें अपनी अवच्छेदिका—उपाधिरूप—वृत्तिमात्रको भी नष्ट कर देता है । तदनन्तर अवच्छेदकारक उपाधिके न रह जानेसे फलावस्थाका त्यागकर निर्विकल्पक चैतन्यमात्र मोक्ष-दशामें अवशिष्ट रह जाता है । इस सिद्धान्तके निर्णीत होनेपर (इस प्रकार व्यवस्था बननेपर) नित्य-

भावमापाद्य संसरति स्वविद्यया च विमुच्यत इत्युक्तं भवति ।

नन्वेवं जीवस्यैव ब्रह्मत्वे 'तत्त्वमसि' आदिमहावाक्येषु पदद्वयस्य पुनरुक्तिः स्यात्, तत्परिहाराय भेदाभेदावभ्युपेयाविति चेद्, नः तथा सति वाक्यार्थज्ञानेन शरीरेन्द्रियादिसंसारस्य निवृत्त्यसिद्धेः। तथाहि—किमुपपत्तितस्तन्निवृत्तिः साध्यते ? उत 'भिद्यते हृदयग्रन्थि०' इत्याद्यागमात् ? नाऽऽद्यः, त्वन्मते देहादिविशिष्टस्यैव जीवस्य ब्रह्मणा सह भेदाभेदयोर्वास्तवयोर्महावाक्यार्थतया तद्गोचरज्ञानेन देहादिनिवृत्त्ययोगात् । न द्वितीयः, वर्त्तमानापदेशिन आगमस्य योग्यानुपलब्धिविरोधेऽर्थवादत्वात् । अथ मोक्ष-

---

मुक्तस्वरूप ब्रह्म ही अपनी अविद्या आदिमें प्रतिबिम्बित होता हुआ जीवभावको प्राप्त कर संसारी हो जाता है और पुनः वही अपनी ही विद्याके द्वारा मुक्त हो जाता है, ऐसा निष्कर्ष निकलता है ।

शङ्का—यदि उक्त रीतिसे जीवको ही ब्रह्मभाव प्राप्त है, तो 'वह तू है' इत्याद्यर्थक महावाक्योंमें (वह तू) ऐसे दो पदोंका देना पुनरुक्त होगा (जो कि दोष माना जाता है) इस दोषका वारण करनेके लिए भेद और अभेद दोनोंका माना जाना उचित ही है ।

समाधान—ऐसा (भेद और अभेद दोनोंके) माननेपर वाक्यार्थज्ञान द्वारा शरीरेन्द्रिय आदि संसारकी निवृत्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विकल्प हो सकते हैं—क्या उपपत्ति—अनुमानप्रयोग—से देहादिकी निवृत्ति सिद्ध की जायगी ? अथवा 'हृदयग्रन्थि टूट जाती है' एतदर्थक शास्त्रके द्वारा ? इनमें प्रथम विकल्प युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे मतमें देहेन्द्रिय आदिसे विशिष्ट जीवका ही ब्रह्मके साथ वास्तव भेदाऽभेद महावाक्योंका अर्थ माना गया है, इस दशामें उन महावाक्योंके वास्तविक भेदाऽभेदविषयक ज्ञानसे देह आदिकी निवृत्तिका होना सम्भव नहीं है । दूसरा कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि 'भिद्यते' इस वर्तमान पदसे व्यवहार करनेवाले शास्त्रको योग्यकी अनुपलब्धिके कारण विरोध आनेसे अर्थवाद माना जायगा । [शास्त्र वर्तमानमें निवृत्ति कहता है और इस कालमें योग्यानुपलब्धिरूप निवृत्ति है नहीं, इसलिए विरोध आनेसे शास्त्रको ब्रह्मविद्याका प्रशंसक ही मानना होगा, स्वार्थपरक नहीं मान सकते । यद्यपि मोक्षावस्थामें देहादिकी निवृत्तिके बोधनमें शास्त्रका तात्पर्य

दशायां देहादिनिवृत्तावागमस्य तात्पर्यं तथापि यदि मोक्षदशायां जीवस्य भेदांशो न निवर्त्तेत तदा तन्निर्वाहाय देहेन्द्रियान्तःकरणाद्युपाधिरप्यभ्युपेयः । ततो न संसाराद्विशेषः । यदि च भेदांशनिवृत्तिः, तदापि न तत्त्वज्ञानात्तन्निवृत्तिः, तस्य स्वविषयानिवर्त्तकत्वात् । त्वन्मते भेदस्याऽपि तत्त्वज्ञानविषयत्वात् । नाऽपि कर्मभिस्तन्निवृत्तिः; आगमविरोधात् । आगमस्य सार्वकालिकभेदाभेदप्रतिपादकत्वाङ्गीकारात् । न च भेदाभेदवादे तत्त्वंपदार्थौ सुनिरूपौ, तत्र कोऽसौ त्वंपदार्थो जीवः? किं भेदाभेदाभ्यामंशाभ्यामंशी किं वांऽशद्वयसमुदाय उतांऽशद्वयमेव? आद्येऽपि यद्यभेदांशो

माना जा सकता है, तथापि यदि मोक्षावस्थामें जीवके भेदरूप अंशकी निवृत्ति नहीं होती, तो उस अवस्थामें उस भेदकी स्थितिके निर्वाहके निमित्त देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण आदि उपाधिका सद्भाव मानना ही होगा। [इससे मोक्षावस्थामें भी निवृत्तिबोधनमें तात्पर्य माननेसे शास्त्र अबाधित नहीं हो सकता] ऐसी दशामें संसारावस्था तथा मोक्षावस्थामें कोई भेद नहीं आ सकता। और यदि भेदरूप अंशकी निवृत्ति मान भी ली जाय, तो भी तत्त्वज्ञानके द्वारा उस भेदकी निवृत्ति नहीं हो सकती 'अर्थात् उस कालमें भेदका निवर्तक न होनेसे भेदकी निवृत्ति हो नहीं सकती, कारण कि वह तत्त्वज्ञान अपने विषय भ्रमात्मक भेदका निवर्तक नहीं बन सकता। तुम्हारे मतमें भेद भी तत्त्वज्ञानका विषय है। और कर्मोंके द्वारा भी भेदकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें शास्त्रोंका विरोध आता है। कारण कि तुम्हारे मतमें सदैव रहनेवाले भेद और अभेद दोनोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र माने गये हैं। और यह भी दोष आता है कि भेदाऽभेदवादीके मतमें 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थोंका निरूपण करना भी सरल नहीं होगा, कारण कि इस अवसरपर पूछा जायगा कि यह जीवरूप 'त्वं' पदार्थ कौन वस्तु है? क्या भेद और अभेद—इन दोनों अंशोंसे युक्त एक अतिरिक्त अवयवी है या केवल दोनों अंशोंका समुदायरूप? अथवा केवल दोनों अंश ही है? प्रथम कल्प माननेमें भी यदि अभेद अंश ब्रह्मरूप है, तो

१—यद्यपि प्रथम सूत्रमें ही कई-एक स्थानपर जीवस्वरूपका वर्णन किया गया है, तथापि त्वंपदार्थभूत जीवके स्वरूपका मोहवश भेदाऽभेदको माननेवाले भास्करके मतका निरूपण करना असम्भव होनेसे उसका मत असङ्गत है, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए जीवस्वरूपविषयक प्रश्नका अवसर आता है।

ब्रह्म तदा ब्रह्मणो जीवांशत्वं जीवस्य च सावयवत्वमापद्येत। अथाऽभेदांशो न ब्रह्म तर्ह्यत्यन्तभेद एव स्यात्। न द्वितीयः; जीवस्याऽवस्तुत्वप्रसङ्गात्। समुदायिव्यतिरिक्तसमुदायानिरूपणात्। तृतीयेऽपि किमभेदांश एव जीवः किं वा भेदांश एव उतांऽशद्वयं प्रत्येकम् अथवांऽशद्वयं परस्परमभिन्नम् अहोस्वित्परस्परमपि भिन्नाभिन्नम्? नाऽऽद्यः, ब्रह्मण एव जीवत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अत्यन्तभेदप्रसङ्गात्। तथाच तत्त्वज्ञानेन मोक्षादिव्यवहारासिद्धिः। न तृतीयः, जीवद्वयप्रसङ्गात्। न चतुर्थः, तदा ब्रह्मैव जीव इति बन्धमोक्षव्यवहारासिद्धेः। न पञ्चमः, भेदाभेदानवस्थाप्रसङ्गात्। कस्य चाऽयं शास्त्रोपदेशः। न तावदभेदांशस्योपदेशः, ब्रह्म-

---

ब्रह्ममें जीवकी अंशताका और जीवमें सावयवताका प्रसङ्ग आ जायगा। और यदि अभेद अंश जीवका ब्रह्मरूप नहीं माना जाता, तो जीव और ब्रह्मका अत्यन्त भेद ही सिद्ध होगा (अभेद नहीं)। दूसरा पक्ष भी संगत नहीं है, कारण कि इसके माननेसे जीव वास्तव पदार्थ नहीं रह जायगा, कारण कि समुदायीसे—अवयवीसे—अतिरिक्त समुदायका निरूपण नहीं किया जा सकता। तीसरा पक्ष माननेमें भी क्या अभेद अंश ही जीव है? या भेदरूप ही अंश? अथवा पृथक् पृथक् दोनों अंश अथवा परस्पर अभिन्न दोनों अंश हैं? अथवा परस्पर भी भिन्नाभिन्न जीव है? इनमें प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, कारण कि ब्रह्ममें ही जीवत्वका प्रसङ्ग आ जायगा। द्वितीय पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि इससे तो जीव ब्रह्मके अत्यन्त भेदका प्रसङ्ग होगा। इन दोनों पक्षोंके माननेसे तत्त्वज्ञान और मोक्षादि व्यवहारकी असिद्धि हो जायगी। तीसरा कल्प नहीं बनता, क्योंकि इससे भी दो जीव होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। चतुर्थ कल्प भी उचित नहीं, कारण कि उस पक्षमें ब्रह्म ही जीव है, इससे बन्ध और मोक्षका व्यवहार नहीं बन सकता, [नित्यमुक्तमें बन्धन होना सम्भव नहीं और बन्धनके बिना मोक्षव्यवहार नहीं बनता]। पांचवां कल्प नहीं हो सकता, कारण कि इसके माननेसे भेद तथा अभेदकी अनवस्था होनेका प्रसङ्ग आ जाता है। [अनवस्थाका उपपादन करते हैं—] यह शास्त्रोपदेश किसके लिए होगा? अभेद अंशके लिए तो उपपन्न नहीं हो सकता, कारण कि अभेदांशके ब्रह्मस्वरूप होनेसे उसको उपदेशकी अपेक्षा नहीं है। और भेदरूप अंशको भी शास्त्रोपदेश प्राप्त नहीं होता, कारण कि उस भेद अंशको

स्वरूपतया तस्योपदेशानपेक्षत्वात् । नाऽपि भेदांशस्योपदेशः । 'अहं ब्रह्मास्मि' इति प्रतिपत्त्ययोगात् । मोक्षावस्थायामभिन्नतया युज्यते सा प्रतिपत्तिरिति चेद्, न भेदांशस्य पुनरभेदः सम्भवति, विरोधात् । अविद्यादिदोषोऽपि न तावदभेदांशस्य युक्तः, ब्रह्मण्येव प्रसङ्गात् । नाऽपि भेदांशस्य, उपाधिजननात् प्राग्भेदाभावात् । अथोपाधिमनपेक्ष्य स्वत एव भिन्नोंऽशोंऽशी वा जीवस्तथापि तदंशविनाशे जीवविनाशात् कस्य मोक्ष उपदिश्येत, अभेदांशस्य ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वाद् । मोक्षोऽपि भिन्नाभिन्नश्चेत् तर्हि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्येवकारविरोधः संसारादविशेषश्च स्यात् । न च स्वर्गनरकबन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्धये भेदाभेदावपेक्षितौ, भेदेनैव कथंचित्तत्सिद्धेः । न च तावेकत्र युक्तौ ।

'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार अभेदका निश्चय नहीं हो सकता । यदि मोक्षावस्थामें अभिन्न हो जानेसे 'मैं ब्रह्म हूं' इत्याकारक प्रतीति होना सम्भव है, ऐसा कहा जाय, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि भेदरूप अंश अभेदके रूपमें हो जाय, कारण कि इनमें परस्पर विरोध है । और अविद्या आदि दोषका भी अभेद अंशमें सम्भव नहीं है अन्यथा ब्रह्ममें भी उन दोषोंका प्रसङ्ग आ जायगा ।

भेदरूप अंशके भी (अविद्या आदि दोष) नहीं हो सकते, कारण कि उपाधिके उत्पन्न होनेसे पूर्व भेदरूप अंश ही नहीं है । यदि उपाधिकी अपेक्षा न रखकर ही जीव भिन्न अंशरूप या अंशी है, ऐसा माना भी जाय, तो भी उस जीवात्मक अंश या अंशीका विनाश होनेसे जीवका भी नाश होगा, इससे किसको शास्त्र द्वारा मोक्षका उपदेश किया जायगा । अभेद अंशरूप तो नित्यमुक्त ही है । यदि मोक्ष भी भिन्नाभिन्नरूप माना जाय, तो 'ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' एतदर्थक वाक्यमें आये हुए निर्धारणार्थक 'एव' पदसे विरोध होगा । ('एव' पदके बलसे तो मोक्ष अभेदरूप ही प्रतीत होता है) और संसारदशासे (मोक्षदशामें) कोई विशेषता भी न रह जायगी । (भेदाऽभेद तो संसारमें है और वही भेदाभेद मोक्षमें भी रहा) । स्वर्ग, नरक, बन्ध और मोक्ष आदि व्यवस्थाके लिए भी भेदाऽभेद माननेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भेदको मानकर भी कथंचित् उक्त व्यवस्था बन सकती है । [स्वर्ग, नरक या बन्ध और मोक्षका सांकर्य दूर करनेके लिए भेदाभेद दर्शाते हो, परन्तु इसके

भेदस्य धर्मिप्रतियोगिसापेक्षत्वादभिन्ने चैकस्मिन् वस्तुनि तदयोगात् । शास्त्रं पुनर्नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा इति भेदोपमर्देनैष त आत्मेत्यभेदमेव प्रतिपादयति, न तु भेदाभेदौ । अथ जीवब्रह्मणोः स्वभावाद्भेदः स त्वद्रव्यत्वादिसामान्यमेव दर्शयति । सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मेति विकारसंस्पर्शपरिहारायैवं कल्प्यत, इति चेद्, न; विकारान्तर्वर्त्तित्वेऽप्यसङ्ग-

---

विपरीत जीव ब्रह्मका अभेद भी माननेसे यदि जीवको नरक या बन्धन है, तो ब्रह्मको भी नरक तथा बन्धका होना सुतरां प्राप्त हो जाता है, इस दशामें असांकर्य कैसे हो पाया । यदि भेद ही दोनोंका माना जाय, तो कथंचित् व्यवस्था बन सकती । अपने (सिद्धान्तीके) मतमें तो भेद वास्तव नहीं है, इसलिए कथंचित् कहा गया । अवास्तव भेदसे अवस्तुभूत बन्ध तथा नरकका होना कोई असङ्गत नहीं है] । उन दोनों भेदाऽभदोंको एक अधिकरणमें मानना भी युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि भेद तो अपने धर्मीके प्रतियोगीकी अपेक्षा रखनेवाला है [जैसे पटमें घटका भेद' । यह भेद अपने धर्मीरूप पटके प्रतियोगी घटकी अपेक्षा रखकर ही चरितार्थ होता है] । अतः भेदशून्य एक ही पदार्थरूप अधिकरणमें उस भेदके होनेका अवसर नहीं आ सकता और शास्त्र तो 'इससे अतिरिक्त भिन्न द्रष्टा कोई नहीं है' इस प्रकार भेदको तिरस्कृत करके 'यह तुम्हारा आत्मा है' इस रीतिसे अभेदका ही प्रतिपादन करता है, भेदाभेद दोनोंका नहीं ।

शङ्का—जीव और ब्रह्मका यदि स्वभावसिद्ध अभेद है, तो सत्त्व तथा द्रव्यत्व आदि सामान्यका ही प्रदर्शन करता है । 'सर्वव्यापी और सब भूतोंका अन्तरात्मा' इस प्रकारकी कल्पना तो केवल विकारजातसे सम्बन्ध परिहारके ही लिए हैं । *

समाधान—विकारके मध्यमें रहनेसे भी असङ्ग स्वभाव होनेके कारण

---

* भास्करके मतमें स्वभावतः भेद और स्वभावतः अभेद दोनों हैं । भेदसे तो स्वर्ग, नरक आदिकी व्यवस्था बनती है और सत्त्वादि सामान्यसे सुवर्णादिका कटक, कुण्डलादिके साथ जैसे अभेद है वैसे स्वभावतः अभेद भी है । भेद इतना ही है सुवर्णादि तो कटक, कुण्डलादिरूपसे परिणामको प्राप्त हो जाता है और ब्रह्ममें उक्त प्रकारसे विकारका संसर्ग नहीं होता है, क्योंकि उसमें वास्तव भेद भी है । नहीं तो विकारमध्यवर्ती होनेसे उसका संसर्ग होना अनिवार्य हो जाता ।

स्वभावतया तत्संस्पर्शाभावात् । अन्यथा मध्यमपरिमाणत्वेन सावयवत्व-प्रसङ्गात् ।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिप्राप्तिश्रुतिबलाद् ब्रह्मणो दूरदेशवर्त्तित्वमिति चेत्, काऽसौ प्राप्तिः? न तावद् ब्रह्मभावः, दूषितत्वात्। नाऽपि जीव-ब्रह्मभ्यामारभ्यमाणं द्रव्यान्तरम्, मोक्षस्य विनाशित्वप्रसङ्गात्। मोक्षस्य नित्यत्वाद् ब्रह्मणः सर्वगतत्वाङ्गीकारे सावयवत्वायोगाद् द्रव्यान्तरारम्भकत्वमेव न स्यात्। जीवब्रह्मणोः संबन्धः प्राप्तिरिति चेद्, मैवम्; न तावत् तादात्म्यम्, अणुमहतोर्विरुद्धयोस्तदयोगात्। नाऽपि समवायादिः, भिन्न-द्रव्ययोः संयोगातिरिक्तसम्बन्धाभावात्। संयोगस्य च विप्रयोगावसानतया

विकारका सम्बन्ध नहीं हो सकता। [इसके लिए कोई कल्पना करनेकी आवश्यकता न थी] अन्यथा याने केवल मध्यवर्तित्वसे उनका संस्पर्श प्राप्त होता, तो [सब भूतोंका अन्तरात्मा (मध्यवर्ती) होनेके कारण] मध्यम परिमाणवाला होनेसे आत्मामें भी सावयवत्वका प्रसङ्ग आ जायगा ।

शङ्का—'ब्रह्मज्ञानी पर ब्रह्मकी प्राप्ति करता है' एतदर्थक प्राप्तिको दिखलानेवाली श्रुतिकी सामर्थ्यसे ब्रह्मका दूर देशमें रहना प्रतीत होता है ।

समाधान—यह प्राप्ति कौनसा पदार्थ है? [जिसके बलपर ब्रह्मका दूर देशमें रहना कहा जा रहा है] ब्रह्मभावको तो प्राप्ति नहीं कह सकते, कारण कि इस ब्रह्मभावकी प्राप्तिमें प्रथम ही दोष दे आये हैं । जीव और ब्रह्म—इन दोनोंके द्वारा बननेवाले अतिरिक्त द्रव्यको भी प्राप्ति नहीं कह सकते, कारण कि (उसका आरम्भ होनेसे) मोक्षमें विनाशित्वका प्रसङ्ग आ जायगा। मोक्ष नित्य पदार्थ है एवं ब्रह्मको सर्वत्र व्यापक माननेसे वह अवयवविशिष्ट नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म अतिरिक्त द्रव्यका आरम्भक ही नहीं बन सकता । जीव और ब्रह्मके सम्बन्धको भी प्राप्ति नहीं कह सकते, कारण कि इनका सम्बन्ध तादात्म्य, तो हो नहीं सकता, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अणुपरिमाण तथा महत्परिमाणवाले जीव और ब्रह्मका तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध हो नहीं सकता। समवाय आदि अन्य सम्बन्ध भी नहीं बन सकते, कारण कि भिन्न-भिन्न द्रव्योंके संयोग सम्बन्धसे अतिरिक्त समवाय आदि सम्बन्ध नहीं हो सकते । और संयोगका अन्त विप्रयोगमें होता है, इसलिए [यदि ब्रह्मप्राप्तिको जीव और ब्रह्मका

पुनरावृत्तिप्राप्तेः। शास्त्रबलादपुनरावृत्तिरिति चेत्, तर्हि 'स स्वराड् भवति' इति ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरं स्वराड्भावप्राप्तिश्रवणादनेकेश्वराः प्रसज्येरन्। तस्माद् ब्रह्म-प्राप्तिश्रुतिरविद्यानिवृत्तौ जीवस्य स्वरूपभूतब्रह्माभिव्यक्तिविषया।

कथं तर्हि 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति मूर्धन्यया नाड्या गमनं मोक्षाय श्रूयत इति चेद्, मैवम्; नाऽमृतत्वं नाम मोक्षः, किन्तूत्तमलोके चिरकालावस्थानम्। 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति स्मृतेः। अन्यथा मूर्धन्यनाड्या निर्गच्छतां प्रतीकोपासकानामपि मोक्षप्रसङ्गात्। न चैतदिष्टम्, तेषामाविद्युल्लोकमेव गमनमित्येकस्मिन्न-धिकरणे निर्णीतत्वात्। अथाऽपि 'स एव तान् ब्रह्म गमयति' इति श्रुत्या

संयोग सम्बन्ध माना जाय, तो] पुनरावृत्तिकी प्राप्तिका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि शास्त्रकी सामर्थ्यसे पुनरावृत्तिका होना न माना जाय, तो 'वह स्वराट् होता है' इत्याद्यर्थक ब्रह्मप्राप्तिके अनन्तर स्वराट् होनेकी श्रुतिके आधारपर अनेक ईश्वरोंका प्रसङ्ग आ जाता है। इसलिए ब्रह्मप्राप्तिकी प्रतिपादक श्रुतिका अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जीवकी अपने स्वरूपभूत ब्रह्मकी अभिव्यक्तिमें ही तात्पर्य है।

शङ्का—तब तो 'उस शिरोनाड़ीके मार्गसे ऊपर जानेवाला अमृत-भाव (मोक्ष) को प्राप्त करता है' इत्यर्थक श्रुतिमें शिरोगत नाडीमार्गसे गमनरूप फलका श्रवण कैसे सङ्गत हो सकता है? [क्योंकि तुम्हारे (वेदान्तीके) मतमें ब्रह्मप्राप्तिके लिए कहीं आने-जानेकी आवश्यकता तो है ही नहीं, वह तो केवल ब्रह्माभिव्यक्ति है]।

समाधान—उक्त दोष देना उचित नहीं है, कारण कि जो अमृतत्व पदार्थ है, वह मोक्ष नहीं है, किन्तु अधिक समय तक उत्तम लोकोंमें स्थिति ही मोक्ष है। स्मृतिमें कहा भी गया है कि 'प्रलय तक स्थायी स्वर्गादि स्थानको अमृत कहते हैं'। अन्यथा (यदि अमृतत्वपदार्थ मोक्षरूप माना जाय, तो) शिरोनाड़ीके द्वारा निकलनेवाले प्रतीक-उपासकोंको भी मोक्षकी प्राप्तिका प्रसङ्ग हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है, उनका तो 'विद्युत्-लोक तक ही गमन होता है, ऐसा एक अधिकरणमें निर्णय किया गया है।

शङ्का—इस उक्त सिद्धान्तके रहते भी 'वही अमानुष पुरुष उन उपा-सकोंको ब्रह्म प्राप्त कराता है' एतदर्थक श्रुतिके द्वारा कोई अमानव दिव्य पुरुष

कश्चिदमानवः पुरुषः संमुखमागत्य ब्रह्मोपासकान् गृहीत्वा विद्युल्लोकादुपरितनान् वरुणेन्द्रप्रजापतिलोकानतिक्रम्य ब्रह्म प्रापयतीत्येवं गमनमेव मोक्षाय प्रतीयत इति चेद्, नः तस्य गमनस्य कार्यब्रह्मविषयत्वात्। न च बृहत्यर्थानुगमात् परमेव ब्रह्माऽत्र ग्राह्यमिति शङ्कनीयम्, ब्रह्मशब्दस्य कार्यब्रह्मणि रूढत्वात्। रूढिश्च योगवृत्तेर्बलीयसी, शीघ्रप्रतिपत्तिहेतुत्वात्। परब्रह्मण्यपि रूढिरस्तीति चेत्, तथापि श्रुत्यन्तरे समानप्रकरणे 'ब्रह्मलोकान् गमयति' इति भोगभूमिविशेषवाचिलोकशब्दश्रवणादन्यास्वपि शाखासु तटाकाश्वत्थराजगृहद्वारपालवेश्मसभापर्यङ्कादीनां भोग्यवस्तूनां प्रतीयमानत्वात् कार्यब्रह्मैवेति निश्चीयते। किञ्चाऽर्चिरादिमार्गेण गच्छतां निर्गुणब्रह्मप्राप्तिश्चेत्तर्हि पञ्चाग्निविद्यावतां गृहस्थानामपि सा स्यात्। न च 'स एतान् ब्रह्म गमयति' इत्येतच्छब्दः पञ्चाग्निविद्व्यतिरिक्तान् परामृशतीति

सामने आ कर ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंको साथ लेकर विद्युत्-लोकसे ऊपरवाले वरुण, इन्द्र और प्रजापतिके लोकोंको पार कराकर ब्रह्मको प्राप्त करा देता है, इस प्रकार वर्णनसे मोक्षकी प्राप्तिके लिए गमनकी प्रतीति होती ही है।

समाधान—वह गमन तो कार्यब्रह्मकी (हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मकी) प्राप्तिको विषय करता है। बृह्धातुके अर्थका अनुगम हो, इसलिए पर ब्रह्मका ही ग्रहण होता है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, कारण कि ब्रह्मपद कार्यब्रह्ममें रूढ़ है। योगार्थकी अपेक्षा रूढिप्राप्त अर्थ बलवान् होता है, कारण कि रूढि—प्रसिद्धि—शीघ्र अर्थका बोध करा देती है। यद्यपि परब्रह्मरूप अर्थमें भी रूढि हो सकती है, तथापि समान प्रकरणमें—उपासनाकी फलश्रुतिरूप प्रकरणमें—पढी गई दूसरी 'ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता है' इस अर्थका बोधन करनेवाली श्रुतिमें भोगके योग्य भूमिविशेषके वाचक लोकशब्दके श्रवणसे और अन्य शाखाओंमें भी तटाक (तालाब) पीपल, राजभवन, द्वारपाल, घर, सभा, पलङ्ग आदि भोगके योग्य वस्तुओंकी प्रतीतिसे कार्यब्रह्मका ही निश्चय होता है। किञ्च, यदि अर्चि आदि मार्गसे जानेवाले उपासकोंको निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, तो पञ्चाग्निविद्याके उपासक गृहस्थोंको भी निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होनी चाहिए। यदि शङ्का हो कि 'वह (दिव्य पुरुष) इनको ब्रह्म प्राप्त कराता है' इस वाक्यमें 'एतत्' (इनको) शब्द पञ्चाग्निविद्वानोंसे अतिरिक्त ज्ञानियोंका परामर्श करता है, तो यह कहना भी युक्ति-

युक्तं वक्तुम्, पञ्चाग्निविदामेव प्राधान्येन प्रकृतत्वात् तेषामनिर्दिष्टफलत्वप्रसङ्गात्। किञ्च, ब्रह्मोपासनानां सर्वेषामपि यद्येकरूपं फलं तदा गुणोपचयापचयाभ्यामुपासनोपचयापचयौ व्यर्थौ स्याताम्। तथा च कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वमिति न्यायविरोधः। अथोपचयापचयवत्तत्फलं तर्हि न विकारासंस्पर्शिब्रह्मप्राप्तिः, तत्र तदभावात्। किञ्च, वैश्वानरोपासनफलं त्रैलोक्यशरीरापत्तिर्यदीष्यते तदा विकारासंसृष्टे ब्रह्मणि कथं तदुपपाद्येत। अथ नेष्यते, तदा 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतिविरोधः स्यात्। किञ्च पित्रादिसङ्कल्पैर्विकारासंसृष्टे ब्रह्मण्युपभोगो न स्यात् चेत्, पित्रादिसङ्कल्पश्रुतिविरोधः।

सङ्गत नहीं है, कारण कि पञ्चाग्निविद्याके विद्वान् ही प्रधानरूपसे प्रकरणप्राप्त हैं। [यदि उनके प्रकरणप्राप्त होनेपर भी ब्रह्मप्राप्तिरूप फलके सम्बन्धकी योग्यता न होनेसे उनसे अतिरिक्त ही लिए जायँ, तो] पञ्चाग्निविद्याके ज्ञाताओंके लिए फलनिर्देशके अभावका प्रसङ्ग आ जायगा। किञ्च, ब्रह्मकी उपासनाके साधनीभूत शाण्डिल्य आदि सम्पूर्ण विद्याओंका यदि एक ही (ब्रह्मप्राप्तिरूप) फल माना जाय, तो गुणोंके उपचय तथा अपचयसे उपासनामें प्राप्त उपचय तथा अपचय निष्प्रयोजन हो जायँगे। [यदि उपासना और कर्मोंके उपचयापचय व्यर्थ माने जायँ, तो 'कर्मोंके आधिक्यसे फलोंका भी आधिक्य होता है' इस न्यायसे विरोध होगा। यदि फलको एकरूप न मानकर उपचयापचयसे युक्त मानो, तो 'वह फल' विकारके सम्बन्धसे विरहित ब्रह्मकी प्राप्तिरूप नहीं हो सकता, कारण कि उस विकारशून्य ब्रह्मप्राप्तिमें उपचय तथा अपचय नहीं हो सकते। और यदि वैश्वानरविद्याका फल त्रैलोक्यशरीरका पाना माना जाय, तो विकारशून्य ब्रह्ममें वह फल कैसे उपपन्न किया जा सकता है? यदि वह फल इष्ट नहीं है, तो 'उसकी जो जिस प्रकारसे उपासना करता है वह वही होता है' एतदर्थक श्रुतिसे विरोध होगा। एवं पित्रादिसंकल्पोंके द्वारा विकारशून्य ब्रह्ममें यदि उपभोगकी प्राप्ति न मानी जाय, तो पित्रादिसंकल्पकी श्रुतिसे, जिसमें कहा गया है कि 'संकल्प द्वारा ही इसको पितृलोक उपस्थित होते हैं, विरोध आ जायगा। और यदि उपभोगकी प्राप्ति

स्याचेद्विकारावर्त्ति ब्रह्म पित्रादियुक्तं स्यात् । किञ्च, विकारावर्त्ति-ब्रह्मप्राप्तोऽपि 'ब्रह्मैवैति मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते' इत्यादिश्रुतौ ब्रह्मण एव भोगः साधनैर्दर्शितः स्यात् । तथा चाऽऽप्तकामता विरुध्येत । स्वार्थप्रयुक्ता च सृष्टिः स्यात् । अथोच्येत न पित्रादिसङ्कल्पैर्ब्रह्मणि भोगोऽभिधीयते, किन्तु ब्रह्मानन्दे निखिलविषयानन्दान्तर्भावादैश्वर्यविशेष उपचर्यत इति, तन्न; बह्वीनां श्रुतीनामुपचारकल्पनायोगात् । तन्निर्णायकचतुर्थाध्यायचतुर्थपादवैफल्य-प्रसङ्गाच्च । किञ्च, विकारावर्तिब्रह्मप्राप्तस्य लिङ्गशरीरमस्ति चेत्, कला-प्रलयश्रुतिर्बाध्येत। नाऽस्ति चेद्, 'मनसैतान्' इति श्रुतिर्बाध्येत। किञ्च, तस्य

मानी जाय, तो विकारशून्य ब्रह्मके पित्रादिसे युक्त हो जानेका प्रसङ्ग होगा। और भी दोष आता है कि विकारशून्य ब्रह्मके प्राप्त होनेपर भी 'इन सब कामों—उपभोगों--का मन—बुद्धि—के द्वारा ब्रह्मदृष्टि रखकर उपभोग करता है और पितृलोककी सम्पत्तिको प्राप्त हुआ पूजित होता है' एतदर्थक श्रुतिमें साधनोंके द्वारा ब्रह्मका ही भोग दिखलाया गया है, यह कहना होगा। इस दशामें आप्तकामता—सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेना—विरुद्ध होती है, [अर्थात् ब्रह्ममें भी साधनोंके द्वारा भोगोंकी प्राप्ति मानी जाय, तो ब्रह्ममें कही गई आप्तकामता उपपन्न नहीं हो सकेगी]। और अपने स्वार्थ—उपभोग—के लिए ही राजादिके समान ब्रह्म, कृतार्थ होनेपर भी, सृष्टि करता है, यह मानना होगा।

शङ्का—पित्रादिसङ्कल्परूप साधनोंसे ब्रह्ममें भोगकी प्राप्ति नहीं दिखलाई जा रही है, किन्तु ब्रह्मरूप आनन्दमें समस्त विषयोंका आनन्द अन्तर्गत होता है, अतः ऐश्वर्य विशेषका उपचार किया जा रहा है।

समाधान—उक्त कथन संगत नहीं है, कारण कि अनेक श्रुतियोंको उप-चारार्थक माननेकी कल्पना करना युक्त नहीं है। और उसका निर्णय करनेके लिए प्रवृत्त चतुर्थ अध्यायका चतुर्थ पाद विफल हो जायगा। और भी दोष आता है कि विकाररहित ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषका यदि लिङ्ग शरीर माना जाय, तो कलाप्रलयश्रुति बाधित होगी। [क्योंकि कलाप्रलयश्रुति कहती है कि पुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली सोलह कलाएँ पर पुरुषको पाकर

लिङ्गशरीरविलयनिमित्तं विद्यैव चेत्, तर्ह्युत्क्रान्तिकाले विलयः स्यात्। लिङ्गशरीरारम्भककर्मणः क्षीणत्वात्। अमानवपुरुषकरसंस्पर्शश्चेत्, तदापि विद्युल्लोके स्यात्। उभयथाऽपि न ब्रह्माण्डादुपरि लिङ्गशरीरविलयः। किञ्चौपाधिकजीवपक्षे जीवस्य न विकारावर्त्तिब्रह्मगमनं संभवति। निरवयवावच्छेदस्य घटाकाशस्येवोद्धृत्याऽऽनयनायोगात्। उद्धरणे च ब्रह्मशून्योऽयं प्रदेशः स्यात्। उपरिष्टाच्च ब्रह्मोपचयः प्राप्नुयात्। तस्मात् उपाधिगमनादात्मनि गमनविभ्रमः। ननूपाधेरपि गमनं न संभवति, तदुपादानस्य ब्रह्मणश्चलनशून्यत्वात्। नहि मृदि निश्चलायां घटस्य

लीन हो जाती हैं]। यदि उसका लिङ्ग शरीर नहीं है, तो 'मनके द्वारा इन उपभोगोंको' एतदर्थक पूर्वोक्त श्रुति बाधित होगी। और यदि ब्रह्मके लिङ्ग शरीरके लीन होनेमें विद्याको ही निमित्त मानें, तो उत्क्रान्ति कालमें याने शरीरसे छुटकारा पानेके समयमें उसका लय होना चाहिए, कारण कि उस समय लिङ्ग शरीरके आरम्भक कर्म्मोंका क्षय हो जाता है। यदि कहो कि अमानव दिव्य पुरुषके हाथका स्पर्श यदि (लिङ्ग शरीरके विनाशमें) कारण है, तो भी विद्युत्-लोकमें उसका विलय होना चाहिए, [क्योंकि विद्युत्-लोकमें ही अमानव पुरुष मिलता है] कुछ भी हो, दोनोंमें से कोई भी कारण माना जाय, तब भी ब्रह्माण्डसे आगे लिङ्ग शरीरका विलय होना प्राप्त नहीं होता। और भी कहा जा सकता है कि जीवको औपाधिक माननेके पक्षमें विकारशून्य ब्रह्ममें जीवका गमन सम्भव नहीं है, कारण कि अवयवरहित अवच्छेदवाले घटाकाशको जैसे निकाल कर ले आना सम्भव नहीं है। [वैसे ही उपाधिमें से अवयवशून्य ब्रह्मको निकाल लेना भी सम्भव नहीं है, जिससे ब्रह्ममें गमन बन सके।] और यदि उससे ब्रह्मका उद्धरण हो जाय, तो वह देश ब्रह्मशून्य हो जायगा और आगे बाहर निकलकर ब्रह्मका उपचय होना प्राप्त हो जायगा। इसलिए उपाधिके गमनसे ही आत्मामें भी गमनका भ्रम होता है।

शङ्का—उपाधिका भी गमन सम्भव नहीं है, कारण कि उस उपाधिका उपादानभूत ब्रह्म गमनक्रियासे रहित है, मृत्तिकाके चलनक्रियासे रहित होनेपर घटके गमनका होना सम्भव नहीं है।

गमनमस्तीति चेद्, एवं तर्हि स्वाप्नगमनवत् मायाविजृम्भितो गमनादिप्रतिभासः। तदेवमाप्तिरपि क्रियापूर्विका परब्रह्मणि नोपपद्यत इति सिद्धम्।

संस्कृतिपक्षेऽपि न तावद् ब्रह्मणि गुणाधानलक्षणः संस्कारः संभवति, अनाधेयातिशयरूपत्वात्। नाऽपि दोषापनयनलक्षणः, नित्यशुद्धस्वभावे दोषाभावात्। अथ मन्यसे निर्मलस्वभावेऽपि दर्पणेऽन्यसंपर्ककृतमलस्याऽपनयनं यथा निघर्षणक्रियया भवति, तथाऽऽत्मन्यप्यविद्याकृतदोषस्याऽपनयनं क्रिययाऽस्त्विति; तत्र वक्तव्यम्—किमात्माश्रितया क्रियया दोषापनयः किं वाऽन्याश्रितया ? नाऽऽद्यः, सर्वगते निरवयव

समाधान—ऐसा मानो, तो स्वप्नावस्थाके गमनसदृश मायाके द्वारा ही गमनकी प्रतीति मानो, (वास्तविक गमन नहीं हो सकता)। इस प्रकारके निष्कर्षसे क्रिया द्वारा होनेवाली प्राप्ति भी परब्रह्मविषयक नहीं हो सकती, ऐसा मत सिद्ध होता है [अर्थात् यदि ब्रह्म कहीं दूर देशमें रहनेवाला हो, तो उसकी प्राप्तिके लिए साधनीभूत क्रियाकलापका विधान सङ्गत हो सकता, परन्तु ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए क्रियाके विधानकी आवश्यकता नहीं है]।

[क्रियाकलाप द्वारा यदि प्राप्तिका सम्भव नहीं है, तो क्रिया द्वारा दर्पणगत मलापनयनरूप संस्कारके तुल्य उपासनादि क्रियाके द्वारा ब्रह्मगत अनादि अविद्यारूप मलके द्वारा प्राप्त अभिव्यक्तिके प्रतिबन्धका निराकरण करनेके लिए ब्रह्ममें संस्कारविशेषकी उपपत्तिकी सम्भावनाका भी खण्डन करते हैं—] संस्कारपक्षमें भी क्रियाके द्वारा ब्रह्ममें गुणोंकी उत्पत्ति करना तो सम्भव नहीं है, कारण कि ब्रह्मका स्वभाव है कि उसमें कोई भी अतिशय उत्पन्न नहीं हो सकता। (अर्थात् वह स्वतः सर्वातिशयपूर्ण है) एवं दोषोंका निराकरणरूप संस्कार भी नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य तथा शुद्ध स्वभाववाले ब्रह्ममें दोष नहीं आ सकते। यदि तुम्हारा मत हो कि शुद्ध (चमकदार स्वभाववाले) दर्पणमें भी हस्तादिके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए मलको निघर्षण (मलकर साफ करना) क्रियासे जैसे दूर करते हैं, वैसे ही आत्मामें (ब्रह्ममें) भी अनादि अविद्याके कारण प्राप्त हुए दोषका निवारण क्रियाके द्वारा सम्भव है, तब भी हम उक्त कथनपर प्रश्न करेंगे कि क्या ब्रह्मगत क्रियाके द्वारा दोषका निराकरण होता है ? या अन्याश्रित क्रियाके

आत्मनि क्रियानुपपत्तेः । न द्वितीयः, प्रत्यगात्मनोऽन्यद्रव्यैः संयोगाभावेन तत्तदाश्रितक्रियां प्रत्यविषयत्वात् । अथाऽऽत्मनि परिस्पन्दपरिणामयोरभावेऽपि मन्त्रदेवताभिधानाद्विषनिरासवदीश्वराभिधानाद्दोषापनयः स्यादिति चेद्, न; तस्य दोषस्य पारमार्थिकत्वे स्वाश्रयविकारमन्तरेणाऽपसारणायोगात् । न चाऽऽत्मनो विकारः संभवति, 'अविकार्योऽयमुच्यते' इति स्मृतेः । दोषस्याऽविद्यात्मकत्वे विद्ययैव निवृत्तिः स्यान्न तु क्रियया । ननु शास्त्रीयैः स्नानाचमनादिकर्मभिरात्मनो गुणाधानलक्षणः संस्कारः श्रूयत इति चेद् , अन्तःकरणविशिष्टस्यैवाऽऽत्मनस्तच्छ्रवणात् । नहि निरुपाधिकस्याऽऽत्मनो धर्माधर्मावनुतिष्ठतस्तत्फलं संभवति । तस्मान्न संस्कृतिरप्यात्मनि संभवति । ततश्चोत्पत्त्यादिचतु-

---

द्वारा ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि सर्वत्र व्याप्त अवयवरहित आत्मामें क्रियाका होना युक्तिसे संगत नहीं है । दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्यगात्माका (ब्रह्मका) अतिरिक्त द्रव्योंसे संगोग नहीं हो सकता, इसलिए उन उन अतिरिक्त द्रव्योंमें आश्रित क्रियाके प्रति ब्रह्मका विषय होना सम्भव नहीं है ।

शङ्का—यद्यपि परमात्मामें परिस्पन्द 'किसी भी प्रकारकी गमनादि क्रिया' तथा परिणाम–विकार–होना सम्भव नहीं है, तथापि मन्त्र या देवताओंके नामका उच्चारण करनेसे जैसे चढ़ा हुआ विष उतर जाता है, वैसे ही ईश्वरके नामके उच्चारणसे दोषोंका निराकरण हो जायगा ।

समाधान—उक्त आशङ्का नहीं बन सकती, कारण कि यदि ब्रह्ममें प्राप्त हुए उस दोषको परमार्थ–सत्य–मानो, तो अपनेमें किसी भी प्रकारके विकारके हुए बिना उस दोषका दूर करना नहीं बन सकता । और आत्माका तो कोई भी परिणाम होना सम्भव नहीं है, क्योंकि स्मृतियोंमें वह विकारशून्य कहा गया है, और यदि दोष अविद्यारूप (मिथ्या) माना जाय, तो उसकी निवृत्ति विद्याके ही द्वारा हो सकती है, क्रियाके द्वारा नहीं । यदि शास्त्रविहित स्नान, आचमन आदि क्रियात्मक कर्मोंके द्वारा आत्मामें गुणोत्पत्तिरूप संस्कारका होना शास्त्रोंमें सुना जाता है, ऐसा कहा जाय, तो वह संस्कार भी अन्तःकरणविशिष्ट (सोपाधिक) आत्माका ही होता सुना जाता है । धर्म तथा अधर्मका अनुष्ठान करते रहनेपर भी उपाधिशून्य आत्माको उनके पुण्यपापरूप फलका मिलना सम्भव नहीं है । [अतएव अभियुक्तोंका वचन है कि—'निस्त्रैगुण्यो

विधफलस्य मोक्षे दुःसम्पादत्वात् तदतिरेकेणाऽन्यस्य क्रियाफलस्याऽभावाच्च विज्ञानस्यैव मोक्षो गोचरो न क्रियायाः । ननु ज्ञानमपि ध्यानवत् मानसक्रियेति चेद् , नः फलतः कारणतश्च ज्ञानक्रिययोर्वैलक्षण्यात् । वस्तुस्फुरणं हि ज्ञानफलं तच्चाऽऽत्मस्वरूपत्वादजन्यम् । तज्जन्मप्रतिभासस्तु तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिजन्मोपाधिकः । न चैवं ध्यानक्रियाफलमजन्यम् , गरुडदेवतादिध्यानाद्विषनिर्हरणवश्याकर्षणादिफलस्य पूर्वमविद्यमानस्यैव जन्मदर्शनात् । कारणं च ध्यानक्रियायाश्चोदनाजन्यपुरुषेच्छापूर्वकः प्रयत्नो न विषयसद्भावः, असत्यपि विषये विधितो योषिदग्न्यादिध्यानदर्शनात् । ज्ञानं तु प्रमाणप्रमेयजन्यं न पुरुषेच्छा-

---

भवाऽर्जुन !' 'तथा निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' आदि । इन वाक्योंसे गुणातीत मार्गमें विचरण करनेवालोंके लिए विधि-निषेधमें अधिकारका अभाव कहा गया है]। इसलिए आत्मामें संस्कारका होना भी नहीं बनता । इससे पूर्व ग्रन्थमें दिखलाये गए उत्पत्ति आदि चारों फलोंका मोक्षमें सम्पादन करना असम्भव है और उनसे अतिरिक्त कोई दूसरा क्रियाका फल है ही नहीं, इसलिए मोक्ष विज्ञानका (तत्त्वनिश्चयका) ही विषय हो सकता है, क्रियाका नहीं ।

शङ्का—ज्ञान भी तो ध्यानके सदृश मनकी क्रिया ही है ।

समाधान—नहीं, नहीं है, कारण कि ज्ञान और क्रियामें फलरूपसे तथा कारणरूपसे परस्पर भेद है, [इसलिए दोनों एक नहीं माने जा सकते । ज्ञान और क्रियामें फल तथा कारणका भेद दिखलाते हैं—] वस्तुका प्रकाश ज्ञानका फल है और वह (वस्तुप्रकाश) आत्माका स्वरूप होनेसे जन्य (क्रियासे उत्पन्न कराने योग्य) ही नहीं है । आत्मस्वरूप प्रकाशके जन्मकी जो प्रतीति होती है, वह तो उस आत्मस्वरूप वस्तुप्रकाशकी अभिव्यञ्जक अन्तःकरणकी तदाकारवृत्तिके जन्मसे ही होती है । और ध्यानरूप क्रियाका फल तो पूर्वोक्त ज्ञानफलके तुल्य अजन्य नहीं है (अर्थात् जन्य ही है), कारण कि गरुड़, देवता आदिके ध्यानसे विषका अपसरण, वशीकरण तथा आकर्षण आदि पूर्वकालमें अविद्यमान ही फलोंका जन्म देखा जाता है । और ध्यानरूप क्रियाका कारण चोदनासे उत्पन्न हुई पुरुषकी इच्छाके द्वारा उत्पन्न हुआ प्रयत्न ही है, विषयकी सत्ता नहीं है, क्योंकि विषयके न रहनेपर भी चोदनाके द्वारा स्त्रीमें अग्नि आदिका ध्यान देखा गया है । ज्ञान तो इससे

मनुवर्त्तते, अनिच्छतोऽपि दुर्गन्धादिज्ञानदर्शनात् । यद्यप्यनुमान-शब्दादिषु ज्ञानस्य न प्रमेयजन्यत्वनियमः, अतीतानागतवस्तुज्ञानेषु तदसम्भवात् , तथापि लिङ्गशब्दादितन्त्रमेव तत्राऽपि ज्ञानम् , न पुरुषेच्छा-तन्त्रमिति क्रियातो विलक्षणमेव ।

ननु संयोगविभागपरम्पराव्यतिरेकेण क्रियैव नाऽस्ति, यतो वैलक्षण्यं ज्ञानस्योपपाद्येत । सर्वत्र संयोगविभागपरम्परावति हि श्येनादौ चलतीति प्रत्ययो जायते । न चैवं स्थाणावपि श्येनसंयोग-विभागवति चलनप्रत्ययः प्रसज्येतेति वाच्यम् , आकाशप्रदेशविशेष-संयोगविभागं प्रत्येव तदङ्गीकारात् । नहि स्थाणुराकाशप्रदेशविशेषैः

विपरीत प्रमाण (ज्ञानके जनक इन्द्रियादि साधन) तथा प्रमेय (विषय) से उत्पन्न होता है, अतः वह पुरुषकी इच्छाका अनुवर्तन नहीं करता, क्योंकि इच्छाके न रहने-पर भी पुरुषको दुर्गन्ध आदि अनिष्ट विषयोंका ज्ञान हो ही जाता है, ऐसा देखा गया है। [इसलिए ज्ञानमें विषयसद्भाव और विषयग्रहणमें समर्थ इन्द्रियोंका विषयसे संनि-कर्षमात्र अपेक्षित है ।] यद्यपि अनुमान तथा शब्द आदि प्रमाणोंके स्थलमें ज्ञान प्रमेयके (विषयके) द्वारा उत्पन्न होता है, ऐसा नियम नहीं है, (अर्थात् उक्त स्थलमें विषयके सद्भावके बिना भी ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है) । कारण कि भूत तथा आगामी पदार्थोंके ज्ञानमें विषयका सद्भाव नहीं रहता, तथापि उक्त स्थलोंमें हेतु तथा शब्द आदिके अधीन ही ज्ञान रहता है, पुरुषकी इच्छाके अधीन नहीं रहता (अर्थात् हेतु तथा शब्द ही ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, इच्छा नहीं करती) । [ज्ञान इच्छाके अधीन नहीं है, ऐसा कहनेमें कहीं भी व्यभिचार नहीं है], इसलिए क्रियाकी अपेक्षा ज्ञान विलक्षण (भिन्न) ही है ।

शङ्का—संयोग तथा विभागकी परम्परासे अतिरिक्त कोई क्रिया पदार्थ ही नहीं है, जिससे कि ज्ञानमें क्रियासे वैलक्षण्यका उपपादन किया जाय, कारण कि संयोग और विभागकी परम्परावाले [पूर्व देशसे विभाग और उत्तर देशसे संयोग यों लगातार जिनमें संयोग-विभाग चलते हों, ऐसे] श्येन आदिमें ही 'चल रहा है (गमन क्रियायुक्त है), ऐसा व्यवहार होता है । यदि कहो कि श्येनके संयोग और विभागशाली स्थाणु आदिमें भी गमन क्रियाकी प्रतीतिका प्रसङ्ग होगा, तो यह भी नहीं कह सकते, कारण कि आकाशरूप देशविशेषके साथ

संयुज्यते विभज्यते वा । तस्मादतिप्रसङ्गाभावान्नाऽस्ति संयोगविभागप्रचयातिरेकिणी क्रियेति चेद् , मैवम् ; बहुलान्धकारावृते नभस्यप्रतीयमाने तत्प्रदेशविशेषसंयोगविभागानामप्यप्रतीतौ खद्योतो चलतीति प्रत्ययसद्भावात् । तस्मात् संयोगाद्यतिरिक्ता क्रिया प्रत्यक्षसिद्धा ।

प्राभाकरस्तु क्रियाया नित्यानुमेयतां मन्वान इत्थं प्रयुङ्क्ते—'विमतावाद्यसंयोगविभागौ, स्वाश्रयगतेनाऽव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नेनाऽतिशयेन जन्यौ, व्यवस्थितद्रव्ये कादाचित्कत्वात्, संयोगविभागजन्यकार्यवत्' इति । तत्र योऽसावतिशयः स एव क्रिया भविष्यति । ईश्वरेच्छया सिद्धसाधनता मा भूदित्युत्पन्नेनेत्युक्तम् । आत्ममनःसंयोगजन्यादृष्टव्य-

---

होनेवाली संयोग-विभागकी परम्परा ही क्रिया मानी गई है, [वृक्षादि नहीं ।] आकाशरूप देशविशेषसे स्थाणु न तो संयोगको ही प्राप्त करता रहता है और न विभागको ही प्राप्त करता रहता है । [श्येन आदि पक्षी तो आकाशरूप देशविशेषसे संयोग तथा विभागकी परम्पराको प्राप्त करते रहते हैं, अतः श्येनादि पक्षी ही क्रियावान् कहे जा सकते हैं, स्थाणु आदि नहीं ।] इसलिए अतिप्रसङ्गका सम्भव न होनेसे संयोग और विभागकी परम्परासे अतिरिक्त क्रिया नामकी कोई वस्तु नहीं है ।

समाधान—उक्त कथन सङ्गत नहीं है, कारण कि घने अन्धकारसे आच्छन्न आकाशकी प्रतीति न होनेपर और उस देशविशेषमें विद्यमान संयोग-विभागकी परम्पराकी प्रतीति न होनेपर भी 'खद्योत (जुगुनू) गमन करता है' ऐसा ज्ञान होता है । इसलिए क्रियाको संयोग-विभाग-परम्परासे अतिरिक्त मानना प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है ।

इस विषयमें क्रिया नित्य अनुमानसे ही प्रतीत होती है, ऐसा माननेवाला प्रभाकरमतानुयायी इस प्रकार अनुमानप्रयोग करता है—'विवादग्रस्त प्रथम संयोग तथा प्रथम विभाग, उस प्रथम संयोग और विभागके आश्रयमें विद्यमान [उस आद्य संयोगविभागके] पूर्व क्षणमें उत्पन्न हुए अतिशयसे जन्य हैं, कारण कि वे व्यवस्थित द्रव्यमें कदाचित् होते हैं, संयोग और विभागसे उत्पन्न हुए कार्यके तुल्य' । उसमें जो अतिशय है, वही क्रियापदसे कहा जायगा । ईश्वरकी इच्छाको लेकर सिद्धसाधन दोष न आ जाय, इसलिए 'उत्पन्नेन' यह पद साध्यमें दिया गया है । [ईश्वरेच्छारूप

वच्छेदायाऽव्यवहितपूर्वक्षणेति । द्रव्येण सहोत्पन्ने शौक्ल्यादावनैकान्तिकत्वव्यवच्छेदाय व्यवस्थिते द्रव्ये इति ।

मैवम् ; किमत्र सयोगिनोर्द्वयोरप्यतिशयः साध्यते किं वाऽन्यतरस्मिन्नेव उताऽविशेषितमतिशयमात्रम् ? नाऽऽद्यः, श्येनस्थाणुसंयोगादावभावात्, तस्याऽन्यतरकर्मजन्यत्वात् । न द्वितीयः, उभयकर्मजन्ये मल्लमेषसंयोगादौ साध्यासम्भवात् । तृतीयेऽपि किमसौ क्रियाख्योऽतिशयः स्थिरादेव द्रव्यादुत्पद्यते उताऽतिशयान्तरात् ? आद्ये संयोगविभागयोरेव तस्माद् द्रव्यादुत्पत्तिरस्तु किमनेनाऽतिशयेन । द्वितीयेऽनवस्थापातः ।

अतिशय सभी कार्यके पूर्वक्षणमें विद्यमान रहता है, अतः उक्त अनुमानमें उसको लेकर सिद्धसाधन दोष होगा, उसका वारण करनेके लिए 'उत्पन्न' पद दिया गया है, ईश्वरेच्छा किसीसे उत्पन्न नहीं होती।] आत्मा तथा मनके संयोगसे उत्पन्न हुए अदृष्टका वारण करनेके लिए 'अव्यवहितपूर्वक्षण' पद दिया गया है। [क्योंकि अदृष्टसे अतिशय होता है और अतिशयसे आद्य संयोगादि होते हैं, इससे अदृष्ट संयोगादिके अव्यवहित पूर्वक्षणमें नहीं रहता ।] एवं द्रव्यके साथ उत्पन्न हुए शुक्ल आदि गुणमें व्यभिचारका वारण करनेके लिए 'व्यवस्थित द्रव्य' कहा गया है ।

प्रभाकर का उक्त मत उचित नहीं है, [कारण कि उसमें कोई विकल्प नहीं बन सकता, क्योंकि हम विकल्प करेंगे कि] क्या उक्त अनुमानमें दोनों संयोगाश्रयोंमें अतिशय सिद्ध किया जा रहा है ? अथवा संयोगाश्रय दोमें से किसी एकमें ही ? या विशेषशून्य (साधारण) अतिशयमात्र ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि श्येन (बाज पक्षी) और स्थाणुके संयोग आदिमें उस (दोनोंमें विद्यमान) अतिशयसे जन्य होनेका अभाव है, कारण कि स्थाणुश्येनसंयोग इनमें से एक ही के कर्मसे उत्पन्न हुआ है। दूसरा भी युक्त नहीं है, क्योंकि दोनोंके कर्मसे उत्पन्न हुए दो मल्ल—पहलवान्—तथा दो भेड़ोंके संयोग आदिमें (एकमें ही अतिशयरूप) साध्यका सम्भव नहीं है । तीसरा पक्ष माना जाय, तो प्रश्न होगा कि यह क्रियानामक अतिशय स्थिर (व्यवस्थित) द्रव्यसे उत्पन्न होता है ? या दूसरे अतिशयसे ? इसमें प्रथम पक्ष माना जाय, तो उस स्थिर द्रव्यसे संयोग और विभागकी ही उत्पत्ति क्यों न साक्षात्

अथ मतं भूमिपादयोः संयोगः पादाश्रितकर्मणा जायते। तच्च कर्म न कर्मान्तरेण जायते, किन्तु प्रयत्नवदात्मपादसंयोगेन, ततो नाऽनवस्थेति, तर्हि प्रयत्नवदात्मपादसंयोगस्यैव भूपादसंयोगारम्भकत्वमिप्यपि वक्तुं शक्यतया न कर्म सिध्येत् , तस्मान्नाऽनुमेया क्रिया किन्तु प्रत्यक्षैव । न च क्षणिकस्य कर्मणः कथमिन्द्रियसंयोगज्ञानलक्षणक्षणद्वयावस्थानमिति वाच्यम् , शब्दविद्युदादिवदविरोधात् । अतश्च प्रत्यक्षसिद्धक्रियातो वैलक्षण्यं ज्ञानस्योपपन्नम् ।

नन्वन्तःकरणपरिणामरूपत्वाद् ज्ञानमपि क्रियैव। सत्यम् , तथापि ध्यान-

---

मान ली जाय ? बीचमें इस अतिशयके माननेका क्या प्रयोजन ? 'अर्थात् मध्यमें अतिशय रखनेसे किस प्रयोजनकी सिद्धि करनी होगी। दूसरे पक्षमें अनवस्था दोष आ जाता है।

शङ्का—यदि माना जाय कि पृथ्वी और पैरोंका संयोग पैरोंमें रहनेवाले कर्मके द्वारा उत्पन्न होता है। और वह कर्म दूसरे कर्मसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु प्रयत्नके समान आत्मा और पैरके संयोगसे होता है; इसलिए अनवस्था नहीं आती।

समाधान—तब तो प्रयत्नके सदृश आत्मा और पैरका संयोग ही पृथ्वी तथा चरणके संयोगका भी आरम्भक है, ऐसा कहा जा सकता है। इससे अतिरिक्त कर्मकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिए क्रियाको अनुमानका विषय नहीं मान सकते, किन्तु क्रिया प्रत्यक्ष गोचर ही है।

शङ्का—क्षणिक कर्मका इन्द्रियसंयोग और ज्ञानरूप दो क्षण तक अवस्थित रहना कैसे हो सकता है ?

समाधान—शब्द और विद्युत् आदिके तुल्य कोई विरोध नहीं है। [जैसे उच्चरितप्रध्वंसी शब्द श्रोत्रेन्द्रियसंयोग तथा शाब्द प्रत्यक्षरूप क्षणोंमें अवस्थित रहता है तथा क्षणचञ्चला बिजलीकी चमक जबतक चाक्षुष ज्ञान होता है तभी तक स्थित रहती है वैसे ही कर्म भी आशुविनाशी होता हुआ उक्त दोनोंमें अवस्थित रह सकता है।] इसलिए प्रत्यक्षसिद्ध क्रियाकी अपेक्षा ज्ञानकी विलक्षणता सङ्गत ही है।

यदि कहो कि अन्तःकरणका परिणामस्वरूप होनेसे ज्ञान भी क्रिया ही है,

वत्पुरुषतन्त्रत्वाभावाद्विधियोग्यक्रियातो वैलक्षण्यमस्त्येव । यथा योषित्यग्निध्यानं विधिजन्यपुरुषेच्छावशात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्त्तुं शक्यम्, न तथा प्रसिद्धेऽग्नावग्निज्ञानं विधातुं पुरुषेच्छयाऽनुष्ठातुं वा शक्यम् । सत्यामपीच्छायां मनःसहकृतस्य चक्षुषः स्पर्शनेन्द्रियस्य वाऽग्निसंयोगमन्तरेण तज्ज्ञानानुदयात् । सति तु तत्संयोगे विनाऽपीच्छां ज्ञानोदयात् । अन्यथाकरणं तु दूरापास्तम् । नहि पुरोवस्थितोऽग्निर्निपुणतरेणाऽपि स्तम्भाद्याकारेणाऽवगन्तुं शक्यते । कथं तर्हि रज्जौ सर्पज्ञानमिति चेत्, तस्य ज्ञानाभासत्वात् । न च सोऽप्याभासः पुरुषतन्त्रः अनिच्छतः

तो यह यद्यपि कहना सत्य है तथापि ध्यानके समान ज्ञान पुरुषव्यापारके अधीन नहीं है, अतः उसका विधान करनेके योग्य क्रियासे वैलक्षण्य (भेद) है ही । जैसे स्त्रीमें अग्निके ध्यानको विधिके द्वारा उत्पन्न हुई पुरुषकी इच्छासे करना या न करना अथवा भिन्न प्रकारसे करना सर्वथा सम्भव है, वैसे ही प्रसिद्ध (महानस आदिमें विद्यमान लोकप्रसिद्ध) अग्निमें अग्निज्ञानके लिए विधान करना या पुरुषकी इच्छावश उस ज्ञानका अनुष्ठान करना सम्भव नहीं है । इच्छाके रहते हुए भी मनसे संयुक्त चक्षुरिन्द्रिय अथवा त्वगिन्द्रियके साथ अग्निका संयोग हुए बिना अग्निके ज्ञानका उदय नहीं हो सकता । और अग्नि तथा इन्द्रियका संयोग हो जानेपर तो इच्छाके बिना भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । अन्यथा करनेकी कथा तो दूर रही । (अर्थात् प्रसिद्ध वस्तुको अन्यथा करना तो हजार इच्छाके रहते भी बन नहीं सकता), कारण कि सामने विद्यमान अग्निको अत्यन्त प्रवीण भी पुरुष स्तम्भ आदिके आकारसे ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । यदि ज्ञान अन्यथा नहीं हो सकता, तो रज्जुमें सर्प-ज्ञान कैसे होता है? [इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—] वह (रज्जुसर्पज्ञान ज्ञान नहीं है, किन्तु) ज्ञानके समान प्रतीत होता है । और वह ज्ञानाभास भी पुरुषके यत्नके अधीन नहीं है; कारण कि इच्छाके न रहते हुए भी तथा डरके कारण काँपते हुए पुरुषको भी रज्जुमें सर्पाभास हो जाता है [यह कोई नहीं चाहता कि मैं भयकम्पित होऊँ, परन्तु यह उसके अधीन नहीं है कि कारणसामग्रीके रहते भयजनित कम्पका कारणभूत रज्जुसर्पज्ञानका उदय न हो] ।

कम्पमानस्याऽपि जायमानत्वात्। ननु लोकेऽमुमग्निं पश्येति केनचेद्विहिते सत्यन्योऽपि स्वेच्छया तदभिमुखो भूत्वा तं पश्यति असत्यां त्विच्छायां विमुखो भूत्वा चक्षुषी निमील्य वा न पश्यति तथा शास्त्रवशादाहवनीयाद्यग्नीन् करणाद्युपेतानवलोकयति । अतः कथं पुरुषस्य ज्ञानविषयकरणाऽकरणाऽन्यथाकरणेषु स्वातन्त्र्याभावः ।

उच्यते—अभिमुख्यवैमुख्ये दर्शनादर्शनयोः सामग्र्यौ। तत्र तत्सम्पादनलक्षणक्रियायामेव पुरुषस्य स्वातन्त्र्यं न ज्ञानाज्ञानयोः। अतः पश्येत्युक्ते सामग्रीं सम्पादयेत्ययमर्थः सम्पद्यते। यदि ज्ञानं पुरुषप्रयत्नजन्यं

शङ्का—लोकमें देखा जाता है कि 'इस अग्निकी ओर देखो' ऐसी आज्ञा पानेपर दूसरा (जिसको आज्ञा दी गई है, वह) पुरुष भी अपनी इच्छासे उस अग्निके संमुख होकर उसकी ओर देखता है और यदि इच्छा नहीं करता, तो उस अग्निकी ओर विमुख होकर (मुँह फेरकर) या आँखें बंद कर नहीं देखता एवं शास्त्रवश (शास्त्रीय आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे) हस्त, पाद आदि करणयुक्त आहवनीय आदि अग्निओंका दर्शन (ध्यान) करता है। [यदि वह पुरुष शास्त्रीय आज्ञा-पालनकी इच्छासे प्रेरित होकर उनके अभिमुख होनेकी चेष्टा न करे, तो आहवनीय आदिका दर्शन नहीं हो सकता। और यदि करणसहितोंकी भावना करनेकी इच्छा न करे, तो अन्यथा-दर्शन भी कर सकता है]। इसलिए कैसे कहा जा सकता है कि ज्ञानके विषयमें करने, न करने या अन्यथा करनेकी पुरुषमें सामर्थ्य नहीं है ?

समाधान—अभिमुख (सामने मुख करना अथवा आँख खोले रखना) तथा विमुख (मुख फेर लेना अथवा आँख बंद कर लेना) दोनों देखने और न देखनेकी क्रमशः सामग्रियाँ (कारण) हैं। इसमें इस सामग्रीको सम्पन्न करनेकी क्रियामें ही पुरुषका स्वातन्त्र्य है, ज्ञानकी उत्पत्ति करने या न करनेमें नहीं है। (सामग्रीके जुटनेपर ज्ञान अवश्य होगा और सामग्रीके अभावमें ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता) इस सिद्धान्तके अनुसार 'देखो' इस आज्ञा देनेवाले वाक्यका तात्पर्यार्थ होता है कि देखनेकी सामग्री (अभिमुख होना आदिको) सम्पन्न करो। [इससे अतिरिक्त ज्ञानोत्पत्ति करनेकी आज्ञा देना उक्त वाक्यका अर्थ नहीं है] यदि ज्ञान पुरुषके प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाला माना जाय, तो

स्यात् तदा धारावाहिकद्वितीयतृतीयादिज्ञानानामुत्पत्तिर्न स्यात्। प्रथमज्ञानस्यैव प्रयत्ननान्तरीयकत्वात्। नहि प्रयत्नजन्यगमनादिक्रियायाः परम्परा सकृत्प्रयत्नमात्रादुत्पद्यमाना दृश्यते। अथ बाणविमोकचक्रभ्रमणादौ प्रथमप्रयत्नादेव क्रियापरम्परा जायत इत्युच्येत, तन्न; तत्रोत्तरोत्तरक्रियाणां वेगाख्यसंस्कारजन्यत्वात्। न च धारावाहिकज्ञानेषु तथा संस्कारोऽस्ति। न च प्रथमज्ञानजन्यसंस्कारादुत्तरोत्तरज्ञानपरम्परा जायतामिति वाच्यम्; तथा सति स्मृतित्वप्रसङ्गात्। स्मृतित्वे चेन्द्रियसंयोगाद्यनपेक्षत्वप्रसङ्गः। तस्मात् द्वितीयतृतीयादिज्ञानानां प्रमाणतन्त्रत्वात् प्रथमज्ञानस्याऽपि तथात्वे वक्तव्ये प्रयत्नान्वयव्यतिरेकौ प्रमाणसामग्रीसम्पादनविषयतयोपपद्येते।

धाराप्रवाहसे होनेवाले दूसरे या तीसरे ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, कारण कि प्रथम ज्ञान ही प्रयत्नका नान्तरीयक है। [अर्थात् यदि ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्न अपेक्षित माना जाय, तो वह प्रयत्न प्रथम ज्ञानको उत्पन्न करके नष्ट हो जायगा। पुनः दूसरे प्रयत्नके बिना ज्ञानान्तरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए प्रथम प्रयत्न और प्रथम ज्ञानका ही सम्बन्ध होना बन सकेगा।] कारण कि प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाली गमनक्रियाकी परम्परा एक ही प्रथम प्रयत्नमात्रसे उत्पन्न होती हुई नहीं देखी गई है। यदि कहो कि बाणके छोड़ने या चक्रके घुमाने आदिमें प्रथम प्रयत्नसे ही क्रियाकी परम्परा (बाणका बराबर चला जाना और चक्रका घूमते रहना) होती ही रहती है, तो यह कहना उचित नहीं है, कारण कि ऐसे स्थलमें उत्तर-उत्तर क्रियाओंकी उत्पत्ति वेगात्मक संस्कारके द्वारा होती है। और धाराप्रवाहसे होनेवाले ज्ञानोंमें ऐसा कोई संस्कार नहीं है। प्रथम ज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कारके कारण उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी धाराका उत्पन्न होना भी नहीं मान सकते, कारण कि उत्तरोत्तर ज्ञानधाराको संस्कारजन्य माननेसे स्मृति—स्मरणरूप ज्ञान—माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। यदि उसको स्मृति मानेंगे, तो इन्द्रियसंयोगकी अपेक्षाके अभावका प्रसङ्ग होगा। इससे द्वितीय और तृतीय आदिमें प्रमाणाधीनत्व होनेसे प्रथम ज्ञानमें भी वही प्रकार मानना होगा, इस अवस्थामें प्रयत्नके अन्वय और व्यतिरेक प्रमाणकी सामग्रीके सम्पादनमें उपपन्न होते हैं।

एवं स्मृतिज्ञानमपि संस्कारोद्बोधाधीनं न पुरुषप्रयत्नाधीनम्, सदृशदर्शनाददृष्टवशाद्वा संस्कारोद्बोधे प्रयत्नमन्तरेणाऽप्यनिष्टविषयस्मृतिदर्शनात्। यदि क्वचित् स्मृतिविशेषे प्रयत्नापेक्षा दृश्येत तदाऽपि प्रयत्नेन चिन्तापरपर्यायचित्तैकाग्र्यमेव जायते, न तु स्मृतिः। तेन चैकाग्र्येण संस्कार उद्बोध्यते। तदुक्तम्—'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति।

यत्तु शास्त्रवशादाहवनीयादीनां शरीरावलोकनम्, तन्नाऽस्ति काचिदाहवनीयदेवताया मूर्त्तिरिति योऽयं परोक्षः प्रत्ययो मूर्तिविशेषविषयः स न पुरुषतन्त्रः, विनैव प्रयत्नं मूर्त्तिविशेषवाचिशब्दैरेव जायमानत्वात्। यच्च पुरोवर्त्त्यङ्गाराणां तन्मूर्त्तिविशेषाकारेण भावनं तन्न ज्ञानम्,

---

उक्त रीतिके अनुसार स्मरणात्मक ज्ञान भी संस्कारके उद्बोधनसे उत्पन्न होता है, पुरुषप्रयत्नके द्वारा उत्पन्न नहीं होता, कारण कि सदृश वस्तुके दर्शनसे अथवा अदृष्टवश संस्कारके जाग्रत् होनेपर प्रयत्नके बिना भी अपनी अनभीष्ट (अप्रिय) वस्तुका स्मरण होना देखा गया है। [अप्रियका स्मरण कोई नहीं चाहता, जिसके लिए प्रयत्न किया जाय।] यदि कहींपर स्मरण विशेषमें प्रयत्नकी अपेक्षा देखी जाती है, तो वहाँपर भी प्रयत्नके द्वारा केवल चिन्तारूपी चित्तकी एकाग्रतामात्र होती है, स्मरणकी उत्पत्ति नहीं होती। [प्रयत्नसे चित्तैकाग्र्य होता है, चित्तकी एकाग्रतासे संस्कारका उद्बोधन और उससे स्मृति होती है, ऐसा नियम दिखलाते हैं—] प्रयत्नजनित उस चित्तकी एकाग्रतासे संस्कार जाग्रत् होता है। इस विषयमें कहा गया है—'सदृश, अदृष्ट तथा चिन्ता आदि स्मृतिके कारणीभूत संस्कारके उद्बोधक हैं।' [इस वचनसे सिद्ध होता है कि चिन्तादि प्रयत्न भी संस्कारके ही उद्बोधक हैं, स्मरणके नहीं।]

शास्त्रके आधारपर आहवनीय आदि अग्निके जिस शरीरका प्रत्यक्ष करना कहा गया है, वह कोई आहवनीय देवताका आकाररूप शरीर नहीं है, इसलिए जो यह शब्दात्मक शास्त्र द्वारा उत्पन्न हुए आकारविशेषका परोक्षात्मक ज्ञान होता है, वह भी पुरुषव्यापाराधीन नहीं है, कारण कि पुरुषकृत प्रयत्न (अभिमुख होना आदि) के बिना भी आकारविशेषके बोधक शब्दोंसे ही तादृश परोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। और सामने विद्यमान

अयथावस्तुत्वात् । न चाऽयथावस्तुत्वे कथं शास्त्रीयत्वमिति वाच्यम्, नहि शास्त्रमङ्गाराणां हस्तपादादीनवयवान् प्रतिपादयति। तथा सति प्रत्यक्षविरोधप्रसङ्गात्, किन्तर्ह्ययथावस्तुगोचरेणाऽपि भावनेन फलविशेषः साध्य इति प्रतिपादयति । न चाऽसौ साध्यसाधनभावो मिथ्या, ततो भावनस्याऽयथावस्तुत्वेऽपि न शास्त्रस्य काचिद्धानिः । भावनस्य च पुरुषतन्त्रत्वमस्माभिरभ्युपेयत एव, तस्य ध्यानक्रियारूपत्वात् । ननु ध्यानमप्यनुभवतन्त्रमेव धारावाहिकस्मृतिज्ञानरूपत्वादिति चेद्, न; अननुभूते स्मृत्ययोगात् । नहि योषिदादेर-

---

लाल अङ्गारोंमें उस आकार-विशेषका जो चिन्तन है, वह तो यथार्थ-ज्ञान नहीं है, कारण कि (अंगारोंका उस आकारविशेषसे चिन्तन करना) यथार्थ वस्तु नहीं है। यदि यथार्थ वस्तु नहीं है, तो शास्त्रकारोंने उसका प्रतिपादन कैसे किया? ऐसी शङ्का करना भी उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्र अङ्गारोंके हाथ, पांव आदि अवयवोंका प्रतिपादन नहीं कर रहा है । यदि ऐसा होगा, तो प्रत्यक्षके साथ विरोध होनेका प्रसङ्ग होगा। [तब शास्त्र किसका प्रतिपादन करता है? यह जिज्ञासा हो, तो सुनो] शास्त्र अयथार्थ-वस्तुविषयक भावनासे भी फलविशेष होता है, ऐसा प्रतिपादन करता है । और उक्त शास्त्रीय साध्य-साधनभाव (कार्यकारणभाव) मिथ्या (अयथार्थ) नहीं है, इसलिए उक्त भावनाके अयथार्थ होनेपर भी शास्त्रकी कोई हानि नहीं है। [विष-शङ्का आदिसे भी मरणादि कार्य देखे जाते हैं, अतः अयथार्थसे भी यथार्थ फलकी उत्पत्ति होनेके कारण शास्त्र द्वारा अयथार्थ भावनासे यथार्थ फलविशेषकी उत्पत्तिका तथा उनमें साध्यसाधनभावका प्रतिपादन होनेपर भी उसमें (शास्त्रमें) अप्रामाण्यरूप हानि नहीं आ सकती।] और भावना पुरुषव्यापारके अधीन है, ऐसा हम स्वीकार करते ही हैं, कारण कि भावना (मानसी क्रिया) ध्यानात्मक क्रियास्वरूप है ।

शङ्का—ध्यान भी तो अनुभवके ही अधीन है, कारण कि धाराप्रवाहसे होनेवाला स्मरणात्मक ज्ञान ही ध्यान है [और स्मरण अनुभवके ही अधीन है]।

समाधान—[अङ्गारोंका आकारविशेष अनुभवमें नहीं आता है, ऐसी दशामें उस आकारविशेषका स्मरणात्मक ध्यान कैसे किया जा सकता है, इस आशयसे

ग्न्यादिरूपत्वं किंचिदनुभूतम् । ननु 'योषा वाव गोतमाग्निः' इत्यागमात्तदनुभव इति वाच्यम्, किमस्मादागमात् प्रमितिर्जायते किं वा विपर्ययानुभवः ? आद्ये योषिदग्नित्वप्रमितिपरेणाऽनेन वाक्येन ध्यानविधिर्न सिध्येत् । अथ विधिपरमेतद्वाक्यं तदा न योषिदग्नित्वं प्रमीयते । उभयपरत्वे वाक्यभेदो विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिश्च । योषिदग्नित्वप्रमितौ प्रत्यक्षविरोधश्च । न द्वितीयः, दोषरहितस्याऽऽगमवाक्यस्य विपर्ययानुभवहेतुत्वायोगात् । तस्मान्नैतेन वाक्येन प्रसिद्धयोर्योषिदग्न्यो-

---

उत्तर देते हैं—] जिसका अनुभव नहीं हुआ है, उसका स्मरण नहीं हो सकता। स्त्री आदिका अग्नि आदिके रूपमें कभी भी अनुभव नहीं हुआ है। 'स्त्री अग्नि है' एतदर्थक आगमके (श्रुतिके) बलसे तादृश अनुभवका होना भी नहीं माना जा सकता, कारण कि इसमें विकल्प किया जा सकता है कि उस शास्त्रसे उक्त प्रमारूप (यथार्थ ज्ञानरूप) अनुभव होता है ? अथवा विपर्ययरूप (अयथार्थरूप) अनुभव होता है ?। प्रथम कल्पके माननेमें स्त्रीमें अग्निका निश्चय करानेवाले शास्त्रसे ध्यानका विधान सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि वह शास्त्र ध्यानका विधायक माना जाय, तो स्त्रीमें अग्निका निश्चय नहीं हो सकता। शास्त्रका दोनोंमें तात्पर्य माननेसे वाक्यभेद और विरुद्ध दो त्रिकोंकी आपत्ति होगी। [सकृदुच्चरित न्यायसे एक वाक्य एक ही अर्थका बोधक होगा, इसलिए दोनों अर्थोंका बोधन करनेके लिए दो वाक्य मानने होंगे, एक विधायक होगा और दूसरा प्रमापक होगा, इस प्रकार वाक्यभेद करनेसे गौरव होगा। इस गौरवसे अतिरिक्त दूसरा भी दोष होगा—यदि योषिदग्निका विधान किया जाय, तो योषिदग्निमें विधेयत्व, उपादेयत्व एवं प्राधान्यरूप त्रिक प्राप्त होते हैं । अथ च योषिदग्निकी उक्त वाक्यसे प्रमा मानी जाय, तो योषिदग्निमें उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व एवं गुणत्वरूप त्रिक प्राप्त होते हैं। विधिस्थलमें योषिदग्नि प्रधान है और प्रमितिस्थलमें योषिदग्नि ध्यानविशेषण होनेसे अप्रधान है, इस प्रकार इन विरुद्ध त्रिकोंके कारण योषिदग्निमें वैरूप्य प्रसङ्ग आ जाता है।] स्त्रीमें अग्निका निश्चय करनेसे प्रत्यक्षविरोध भी स्पष्ट है। दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, कारण कि (अपौरुषेय होनेसे) सर्वथा दूषणशून्य शास्त्रको विपर्ययरूप (अयथार्थरूप) अनुभवात्मक ज्ञानका कारण होना प्राप्त नहीं हो सकता।

स्तादात्म्यमनुभवितुं शक्यम्, किं तर्हि यथा दर्शपूर्णमासादिरूपायाः शारीरक्रियायाः स्वर्गसाधनत्वं तद्वाक्यात् प्रमीयते तथाऽस्मादपि वाक्यात् कस्याश्चिन्मानसक्रियायाः फलविशेषसाधनत्वं प्रमीयते तर्हि योषिदग्निपदद्वयं व्यर्थं स्यादिति चेद्, न; क्रियाभाजो मनस आकार-विशेषसमर्पकत्वात्। यथा 'गोकर्णाकारेण पाणिनाऽऽचामेत्' इत्यत्र गोशब्दः कर्णशब्दो वाऽऽचमनाङ्गस्य पाणेः स्वार्थसदृशाकारं केवलं समर्पयतो न तु प्रसिद्धमर्थं प्रतिपादयतः तथा योषिदग्निशब्दावपि प्रसिद्धस्वार्थमस्पृशन्तावेव तत्सदृशाकारं मनसो ध्यानाङ्गस्य किं न समर्पयेताम्? न च योषिदग्नितादात्म्यस्याऽत्यन्तमप्रसिद्धत्वात् तत्सदृशा-कारसमर्पणमयुक्तमिति वाच्यम्। किं शब्दस्याऽत्यन्ताविद्यमानाकार-समर्पकत्वाभावः किं वा मनसस्तदाकारभाक्त्वाभावः? उभयमपि वक्तु-

---

इसलिए 'योषा वाव' इत्यादि उक्त वाक्यसे लोकमें प्रसिद्ध (अनुभूत) स्त्री अथवा अग्निमें परस्पर तादात्म्यका (अभेद प्रत्ययका) अनुभव नहीं हो सकता, किन्तु जैसे शरीरसे निष्पन्न होनेवाले दर्शपूर्णमास आदि क्रिया-कलापमें शास्त्र द्वारा स्वर्गके प्रति साधनता (हेतुता) निश्चित होती है वैसे ही 'योषा वाव' इस वाक्यसे भी किसी (ध्यानकर्म) मानस क्रियाका फलविशेषके प्रति हेतु होना निश्चित होता है। तब तो 'योषित्' और 'अग्नि'—इन दोनों पदोंका देना व्यर्थ होगा, ऐसी शङ्का करना भी सङ्गत नहीं है, कारण कि क्रिया करनेमें तत्पर अन्तःकरणको आकार प्राप्त करानेके लिए दोनोंका सार्थक्य है। जैसे 'गोके कानका आकार बना कर हाथसे आचमन करना चाहिए' इत्यर्थक वाक्यमें गोशब्द और कर्णशब्द आचमनके अङ्गभूत (साधनीभूत) हाथका केवल गोके कर्णरूप स्वार्थके सदृश आकाररूप अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं, प्रसिद्ध गौके कानरूप अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, वैसे ही प्रकृतमें योषित् और अग्नि-शब्द भी अपने लोकप्रसिद्ध स्वार्थसे सम्बन्ध न रखते हुए ही ध्यानके साधनीभूत अन्तःकरणको अपने स्वार्थके सदृश आकारका ही समर्पण क्यों नहीं कर सकते? योषित् और अग्निका तादात्म्य लोकमें भी प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए उसका प्रति-पादन करना युक्तिसङ्गत नहीं है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण कि इसमें प्रश्न करेंगे कि क्या शब्द अत्यन्त अप्रसिद्ध आकारका समर्पण

मशक्यम् , यतो नरस्य विषाणस्य चाऽत्यन्ताविद्यमानमेव सम्बन्धाकारं नरविषाणशब्दः समर्पयन्नुपलभ्यते मनश्च तमाकारं भजते । ततश्च श्रुतिसमर्पिताकारविशिष्टाया मानसक्रियायाः प्रवाहो ध्यानं न तु स्मृतिप्रवाहः । नन्वविद्यमानविषये ध्यानस्मृतिप्रवाहयोरसाङ्कर्येऽपि विद्यमानविषये चतुर्भुजधारिविष्ण्वादौ शास्त्रेणाऽनुभूते विधीयमानं ध्यानं न स्मृतिप्रवाहाद्विशिष्यत इति चेद् , न; परोक्षत्वेनाऽनुभूताया मूर्त्तेरपरोक्ष-शालग्रामप्रतिमादावनुसन्धानस्य विहितस्य प्रागनुभूतताभावेन स्मृतित्वायोगात् । अपरोक्षतयाऽनुभूतेष्वपि वस्तुषु स्मृतिर्ध्याना-द्विशिष्यते । तद्यथा—बाल्ये पठित्वा वेदं चिरकालव्यवधाने सति पुनः पर्यालोचयन्नेकैकस्मिन् वाक्ये चिरं चित्तैकाग्र्यं कृत्वा तत्तद्वाक्यं यथापठितमेवाऽवगच्छति सैषा स्मृतिः । न चाऽत्र पुरुषः स्वतन्त्रः,

---

करनेमें समर्थ नहीं है ? या अन्तःकरण तादृश आकारको प्राप्त नहीं कर सकता ? इनमें से एकको भी नहीं मान सकते, कारण कि नरविषाणशब्द अत्यन्त अप्रसिद्ध ही मनुष्य और सींगके परस्पर सम्बन्धाकारको समर्पण कराता हुआ देखा जाता है और अन्तःकरण उस आकारको प्राप्त भी होता है । इसलिए शब्दात्मक श्रुतिसे प्राप्त हुए आकारसे युक्त मानस क्रियाकी प्रवाह-परम्परा ही ध्यान पदार्थ है, स्मरणकी परम्परा ध्यानपदार्थ नहीं है ।

शङ्का—अत्यन्त अप्रसिद्धात्मक विषयके स्थलमें ध्यान और स्मृतिकी परम्परामें पार्थक्य सिद्ध होनेपर भी शास्त्र द्वारा अनुभवमें आये हुए चार भुजाओंको धारण करनेवाले विष्णु भगवान्‌के ध्यानका विधान करनेमें तो स्मरण-परम्परासे अतिरिक्त दूसरा ध्यान पदार्थ कोई नहीं है ।

समाधान—शब्द द्वारा परोक्षरूपसे अनुभूत मूर्त्तिके प्रत्यक्ष अनुभूत शालग्राम-शिलारूप प्रतिमा आदिमें जिस अनुसन्धानका (ध्यानका) विधान है, वह अनुभूत न होनेके कारण स्मरणरूप ज्ञान नहीं हो सकता है । प्रत्यक्षरूपसे अनुभूत वस्तुओंका भी स्मरण ध्यानकी अपेक्षा विशिष्ट अर्थात् अतिरिक्त है । जैसे कि बाल्यकालमें वेद पढ़कर बीचमें अधिक समय तक व्यवधान हो जानेसे अनन्तर दुबारा पर्यालोचन करते हुए एक-एक वाक्यमें अधिक काल तक चित्तकी एकाग्रता करके पठनक्रमके अनुसार ही उन वाक्योंका

प्रयत्नेन चित्तैकाग्र्ये संपादितेऽपि कस्मिंश्चिद् वाक्यविशेषे स्मृत्यनुदयात् । न च स्मर्यमाणमपि वाक्यमन्यथा स्मर्त्तुं शक्यम्, अवेदवाक्यत्वप्रसङ्गात् । नाऽपि स्वेच्छावशादस्मर्त्तुं शक्यम्; अनिच्छतो शौचावसरेऽपि कदाचिद्वेदवाक्यस्मृतेरनिवार्यत्वात् । अतः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्त्तुमशक्या यथानुभूतं वस्त्वविलङ्घयन्ती तत्संस्कारोद्बोधमात्राधीना स्मृतिरित्युच्यते । ध्यानं त्वनुभूतेऽननुभूते वा वस्तुनि विद्यमानानामविद्यमानानां वा धर्माणां निरङ्कुशं कल्पनं यल्लोके मनोराज्यमिति प्रसिद्धम् । न च तत्र पुरुषः परतन्त्रः, स्वेच्छामनोभ्यां विना साधनान्तराऽनपेक्षणात् । तर्ह्ययथाशास्त्रमपि देवता-

---

ज्ञान प्राप्त करता है, इसका नाम स्मरण है। इस प्रकारके स्मरणमें पुरुष स्वाधीन नहीं है, कारण कि प्रयत्नके द्वारा चित्तकी एकाग्रताको सम्पन्न कर लेनेपर भी किसी किसी (पठित भी) वाक्यविशेषके स्मरणका उदय नहीं होता और स्मरणमें आनेवाले वाक्यका भी अन्यथा [पठित आनुपूर्वीके विपरीत] स्मरण नहीं हो सकता, कारण कि अन्यथा स्मरणमें आये वाक्यको वेदवाक्य न होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। [अर्थात् जबतक यथापठित आनुपूर्वीका ज्ञान न हो जाय, तबतक तादृश स्मृतिका जनक चित्तैकाग्रतादि व्यापार होता ही रहेगा।] और उसमें अपनी इच्छाका स्वातन्त्र्य भी नहीं है कि उसका स्मरण होना रोक सके, इच्छा न रहते हुए भी अशुद्ध अवस्थामें कभी-कभी वेदवाक्योंका स्मरणमें आ जाना नहीं रोका जा सकता। इसलिए जिसका करना, न करना या अन्यथा-करना सम्भव नहीं है और जो यथानुभूत वस्तुका उल्लङ्घन नहीं करता एवं जो केवल पूर्व अनुभवसे उत्पन्न संस्कारके उद्बोधसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है, उसको स्मरण कहते हैं। और जिस विषयका अनुभव हुआ हो या न हुआ हो, उस (अनुभूत या अननुभूत) वस्तुमें रहने या न रहनेवाले धर्मोंकी निरङ्कुश (स्वेच्छामात्रसे) कल्पना करना ध्यान कहलाता है, जिसको लोकमें मनोराज्य नामसे प्रसिद्धि दी गई है। उस ध्यानमें पुरुष पराधीन (विषयादिके वश) नहीं हैं, क्योंकि अपनी इच्छा तथा अन्तःकरणके अतिरिक्त दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं रहती। तब तो शास्त्रके प्रतिकूल भी (जैसे कि शास्त्रोंमें वर्णित नहीं

दिध्यानं स्वेच्छानुसारेण प्रसज्येतेति चेत्, सत्यम्; तत्केन निवार्यते। नहि मनोराज्यं राजादिना शास्त्रेण वा निवारयितुं। शक्यते परन्तु शास्त्रोक्तध्याने शास्त्रीयः फलविशेषो भवति नेतरत्र, अदृष्टे साध्य-साधनसम्बन्धे शास्त्रस्य नियामकत्वात्। न च शास्त्रमप्ययथावस्तु-गोचरध्यानेन कथं फलविशेषं प्रतिपादयतीति वाच्यम्, नहि वयं शास्त्रं पर्यनुयोक्तुं प्रभवामः, शास्त्रस्याऽचिन्त्यमहिमत्वात्। अन्यथा क्वाऽऽहुतिप्रक्षेपः क्व वा स्वर्गः कामत्रोपपत्तिमद्राक्षीः ? अथाऽपि श्रद्धा-जाड्येन योषिदग्न्यात्मिकां कांचिद्देवतां परिकल्प्य तद्ध्यानस्य वस्तुविषयत्वं ब्रूषे तर्ह्यादित्यो यूपो यजमानः प्रस्तर इत्यादावपि

है) अपनी इच्छामात्रसे देवता आदिके ध्यानकी प्रसक्ति हो जानेकी शङ्का की जाय, तो उचित ही है, क्योंकि ऐसे ध्यानका निवारण कौन कर सकेगा ? मनोरथसे कल्पित राज्यकी निवृत्ति कोई राजा या शास्त्र नहीं कर सकता। परन्तु भेद इतना ही है कि शास्त्रोक्त ध्यानमें शास्त्रोंसे प्रतिपादित फलविशेष होता है और अन्य प्रकारके (अपनी इच्छामात्रसे कल्पित अशास्त्रीय) ध्यानमें उक्त फलकी सिद्धि नहीं होती, कारण अदृष्टरूप कार्यकारणभावमें शास्त्र नियामक (व्यवस्थापक) माना गया है। अयथार्थ-वस्तुविषयक ध्यानसे फलविशेषकी उत्पत्तिका शास्त्र भी कैसे प्रतिपादन करते हैं ? यह शङ्का भी नहीं की जा सकती, कारण कि हम जैसे साधारण बुद्धिवाले पुरुष शास्त्रोंके ऊपर अन्यथा आरोप करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि शास्त्रोंका महत्त्व हम लोगोंके ध्यानमें भी नहीं आ सकता। यदि ऐसा न हो, तो कहाँ आहुतिका देना और कहां स्वर्ग, इसमें तुम कौन-सी उपपत्ति देखते हो ? [अर्थात् अग्निमें घृतादि हविस् द्रव्यका आहुतिरूपसे प्रक्षेप करना होम कहलाता है। और उसका फल स्वर्ग-प्राप्ति शास्त्रोंमें कही गयी है। इस कार्यकारणभाव-सम्बन्धकी उपपत्ति दृष्ट न होनेसे अचिन्त्य ही माननी होगी, अतः शास्त्रोंमें दृष्टानुसारी तर्कबलसे कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता।] यदि उक्त युक्तिसे (शास्त्रोंको अचिन्त्यमहिम मानकर) श्रद्धासे मूक (तर्कशून्य) होकर योषिदग्निरूप किसी नवीन देवताकी कल्पना करके उसके ध्यानको वस्तुविषयक होना कहो, [इससे पूर्व प्रघट्टकमें कहा गया है कि 'योषा वाव'

तत्तद्रूपां देवतां प्रकल्प्य स्वार्थे प्रामाण्यं प्रसज्येत । प्रत्यक्षविरोधस्तु भवतोऽपि समानः । न चैवमिन्द्रादिदेवतानामप्यपलापः, तत्प्रतिपादकमन्त्रार्थवादानां मानान्तरविरोधाभावात् । ननु सर्वेष्वपि वस्तुष्वभिमानिन्यो देवताः सन्ति 'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्' इत्यादौ सूत्रकारेण तदङ्गीकारादिति चेत्, तर्ह्यत्राऽप्यग्न्यभिमानिनी काचिद्देवता योषिदभिमानिनी चाऽपरेति देवताद्वयमस्तु । न च ते देवते अत्र ध्येये,

---

इत्यादि वाक्य द्वारा प्रतिपादित ध्यानमें आकारविशेषसे युक्त कोई देवताकी मूर्ति उल्लिखित नहीं है, केवल ध्यानमात्र है, उसका खण्डन करते हैं कि शास्त्रोंको अचिन्त्यमहिम माननेवाला तादृश आकारकी देवमूर्ति भी मान सकता है। ऐसी दशामें उस शास्त्रीय मूर्तिका ध्यान अवस्तुविषयक नहीं माना जा सकता] तो 'आदित्यो यूपः' (सूर्य यूप—स्तम्भ—है) तथा 'यजमानः प्रस्तरः' (यजमान कुश-मुष्टि है) इत्यादि वाक्योंमें भी तत्तद्रूप देवताविशेषकी कल्पना करके स्वार्थमें प्रामाण्य आ जानेका प्रसङ्ग आ जायगा। [सिद्धान्तमें सूर्यका यूप होना या यजमानका कुश-मुष्टि होना सम्भव न होनेसे उक्त वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वे अर्थवादवाक्य माने जाते हैं, अब तो शास्त्रोंमें श्रद्धाके वश तादृश आकारवाली देवताका होना सम्भव होनेसे स्वार्थमें तात्पर्य मान लेनेका प्रसङ्ग नहीं हटाया जा सकेगा।] प्रत्यक्षविरोध तो आपको भी समान ही है। [जैसे आदित्यका यूप होनेमें प्रत्यक्ष विरोध है, ऐसे ही योषित्का अग्नि होनेमें भी प्रत्यक्ष विरोध है।] उक्त रीतिसे (कल्पित—मिथ्या—वस्तुविषयक ध्यानकी उपपत्ति माननेसे) इन्द्र आदि देवताओंके भी अपलापका (आकारविशेषसे युक्त न माननेका) प्रसङ्ग नहीं आ सकता, कारण कि इन्द्रादि देवताओंके प्रतिपादक मन्त्र तथा अर्थवाद-वाक्योंका प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाणोंसे विरोध नहीं आता है।

शङ्का—सभी पदार्थोंमें अभिमानी देवता हैं—जैसे 'मिट्टीने कहा' या 'जलने कहा' इत्यादि वाक्योंमें सूत्रकारने भी ऐसा माना है।

समाधान—यदि उक्त रीतिसे सर्वत्र अभिमानी देवता माने जायँ, तो प्रकृतमें भी एक अग्निको अभिमानी देवता और दूसरा योषित्का अभिमानी देवता इस प्रकार दो देवता मानने होंगे। [क्योंकि प्रकृतमें योषित् और अग्नि दो पदार्थ हैं, अतः तदभिमानी देवता भी दो ही होंगे।] परन्तु प्रकृतमें उन दो

किन्तु योषिदग्नितादात्म्यम् । न च तादात्म्यस्याऽवास्तवस्याऽभिमानिनी देवता संभवति, नरविषाणादावतिप्रसङ्गात् । न च योषिदग्निनामिका काचिद्देवता स्यादिति मन्तव्यम्, नाममात्रत्वे योषिदवयवेषु यथायोगमग्न्यवयवसम्पादनवैफल्यात् । सम्पाद्यते हि तथा श्रुतौ 'योषा वाव गोतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिः' इत्यादिना । अथैतद्ध्यानफलप्रदाता परमेश्वर एतद्देवता भविष्यति तथापि नाऽसावत्र ध्येयः । नहि सर्वान्तर्यामिणो जगदीश्वरस्याऽतिजुगुप्सितयोषिदवयवरूपेण ध्यानमुचितम् । परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वादविरोध इति चेत्, तर्हि 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इत्यनया न्यायानुगृहीतया श्रुत्योपास्याकारप्राप्तेः फलत्वावगमादुपा-

---

देवता ध्यानके विषय नहीं हैं, किन्तु योषित् और अग्निका तादात्म्य ही ध्यानका विषय है। और अवस्तुभूत दोनोंके तादात्म्यके अभिमानी देवताका सम्भव भी नहीं है। [यदि अवस्तुका भी अभिमानी देवता माना जाय, तो] मनुष्यके सींगरूप वस्तु आदिमें अतिप्रसङ्ग आ जायगा। और योषिदग्निनामवाले किसी अतिरिक्त देवताका मानना भी उचित नहीं है, कारण कि योषिदग्निनामक देवताके माननेमें योषित् (स्त्री) के अवयवोंमें यथोचित अग्निके अवयवोंकी सम्पत्ति करना व्यर्थ है। और 'हे गोतम! स्त्री अग्नि है, उसका उपस्थ ही समिधा है और केश धूम एवं योनि ज्वाला है' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे ऐसी सम्पत्ति दिखलाई गई है। यदि कहो कि उक्त ध्यानके फलविशेषको देनेवाले परमेश्वर ही इस प्रकारके देवता होंगे, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि परमेश्वर प्रकृतमें ध्यानका विषय नहीं हो सकता, कारण कि सर्वान्तर्यामी जगदीश्वरका अत्यन्त घृणास्पद स्त्रीके अवयवरूपसे ध्यान करना उचित नहीं है। यदि कहो कि परमेश्वर सकलस्वरूपात्मक है, अतः विरोध नहीं है [अर्थात् आपकी दृष्टिसे घृणास्पद स्त्रीके अवयवोंका भी स्वरूपभूत जब ईश्वर हो सकता है, तब तद्रूपसे उसका ध्यान करनेमें विरोध ही क्या है ?], तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'उस परमेश्वरकी जिस जिस रूपमें उपासना की जाय, वह उसी रूपमें हो जाता है' एतदर्थक न्यायानुगृहीत श्रुतिसे यह प्रतीत होता है कि उपासकको उपास्यके आकारकी प्राप्तिरूप फल

सकस्याऽत्र जुगुप्सितयोषिदवयवत्वप्राप्तावग्निरूपत्वप्राप्तौ वा सत्यामनर्थफलैव पञ्चाग्निविद्या स्यात् । अथ विशेषशास्त्रबलादत्र ब्रह्मलोकप्राप्तिः फलं तर्हि तद्बलादेव विनाऽप्युपास्यदेवतामवस्तुविषयेण ध्यानेन फलसिद्धौ शास्त्रभक्तंमन्येन त्वया ध्यानस्य वस्तुविषयतायां नाऽत्यन्तमभिनिवेष्टव्यम् ।

अथोच्येत—

'उपपापेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च ।
प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥'

इति स्मृतौ यथावस्तुविषयध्यानमवगम्यते इति । तत्र किं ध्यातृदृष्ट्या वस्तुविषयत्वं शास्त्रदृष्ट्या वा ? आद्येऽपि यदि ध्याता ब्रह्मात्मत्वं जानाति तदा नाऽसौ प्रायश्चित्तेऽधिकरोति, पातकादिसम्बन्धा-

---

मिलता है, इससे प्रकृतमें उपासकको अत्यन्त घृणास्पद स्त्रीके अवयवोंके रूपकी अथवा अग्निरूपकी प्राप्तिरूप फलके मिलनेसे अनर्थ (अनिष्ट) फल देनेवाली ही पञ्चाग्निविद्याकी उपासना होगी । यदि कहो कि प्रकृतमें विशेष शास्त्रके बलसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति ही फल होगा, तो उसी शास्त्रके बलसे उपास्य देवताके बिना भी अवस्तुविषयक ध्यानसे फलकी सिद्धि हो जायगी, फिर अपनेको शास्त्रभक्त कहलानेवाले तुम्हें ध्यानमें वस्तुविषयकत्वकी सिद्धि करनेमें आग्रह नहीं करना चाहिए ।

शङ्का—यदि कहा जाय कि 'सम्पूर्ण उपपातक तथा बड़े बड़े पातकोंके होनेपर रजनीपादमें प्रवेश करके (ब्राह्ममुहूर्तमें) ब्रह्मका ध्यान करना चाहिए' एतदर्थक स्मृतिमें यथार्थ ब्रह्मरूप वस्तुका ध्यान करना प्रतीत होता है । [ऊपर कहे गये सिद्धान्तके अनुसार आप स्मरणको यथावस्तुविषयक और ध्यानको अयथावस्तुविषयक मानते हैं । परन्तु ऐसा मानना असङ्गत है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो प्रकृत स्मृतिमें ब्रह्मध्यानके स्थानमें ब्रह्म-स्मरणपद देना चाहिए था, परन्तु ध्यानपद दिया है, अतः मालूम पड़ता है कि ध्यान यथावस्तुविषयक होता है, यह भाव है ।]

समाधान—तो इसमें प्रश्न किया जा सकता है कि उक्त स्मृतिमें क्या ध्याता पुरुषकी दृष्टिसे ध्यान यथावस्तुविषयक कहा जाता है ? अथवा शास्त्रदृष्टिसे ? प्रथम कल्पको माननेपर भी यदि ध्यान करनेवाले पुरुषने ब्रह्मात्मका साक्षात्कार कर लिया है, तो उसका प्रायश्चित्तमें अधिकार ही

भावात् । अथ न जनाति तदाऽसावात्मानमन्तःकरणविशिष्टतया ब्रह्मस्वरूपं च परोक्षतयाऽवगच्छन्नहं ब्रह्मास्मीति ध्यानं कथं वस्तुविषयं मन्येत । न द्वितीयः, ध्याता ह्यन्तःकरणविशिष्टस्याऽऽत्मनो ब्रह्मत्वं ध्यायति । यद्यपि तत्राऽन्तःकरणाशं विहाय चिदंशस्य ब्रह्मत्वं शास्त्रसंवादि तथाऽपि न तावता ध्यानस्य वस्तुविषयत्वम् । अन्यथाऽनेन न्यायेनांऽशतः संवादिनां शुक्तिरजतादिज्ञानानां यादृच्छिक-संवादिलिङ्गाभासादिजन्यज्ञानानां च वस्तुविषयत्वेन प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

नहीं है, कारण कि उसमें पातक आदिके सम्बन्धका ही सम्भव नहीं है । [स्मृतिकारोंने भी कहा है—'गृहस्थोक्तानि पापानि कुर्वन्त्याश्रमिणो यदि । शौचवच्छोधनं कुर्युरर्वाग् ब्रह्मनिदर्शनात् ॥' अर्थात् यदि गृहस्थके समान पापोंको अन्य आश्रमधारी (ब्रह्मचारी), वानप्रस्थ तथा संन्यासी करें, तो क्रमशः द्विगुण, त्रिगुण और चतुर्गुण प्रायश्चित्त करें, परन्तु उक्त प्रायश्चित्तको ब्रह्मसाक्षात्कारके पूर्व ही करना चाहिए । ब्रह्मसाक्षात्कारके अनन्तर तो 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' के अनुसार कोई पापपुण्यका संसर्ग ही नहीं रहता ।] यदि कहो कि ध्याता पुरुषको ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, तो वह (ध्याता पुरुष) आत्माको अन्तःकरणविशिष्टरूपसे और ब्रह्मस्वरूपको परोक्षरूपसे जानता हुआ 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ध्यानको कैसे वस्तु-विषयक समझ सकेगा । दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, (अर्थात् शास्त्र-दृष्टिसे भी ब्रह्मध्यान यथावस्तुविषयक नहीं हो सकता) कारण कि ध्यान करनेवाला पुरुष अन्तःकरणविशिष्ट आत्माका ब्रह्मरूपसे ध्यान करता है [ध्यानके विषय उस अन्तःकरणविशिष्ट आत्माको ब्रह्म समझता है, जो कि यथार्थ वस्तु नहीं है] । यद्यपि उक्त स्थलमें अन्तःकरणरूप अंशका त्याग करके चैतन्यरूप अंशमें ब्रह्मत्व शास्त्रसम्मत है [अतः यथार्थ वस्तु हो गया] तथापि इतनेसे ध्यानमें यथार्थवस्तुविषयकत्व नहीं माना जा सकता । यदि अंशतः त्याग करनेसे अंशतः यथार्थवस्तुविषयकत्वका ज्ञानमें अङ्गीकार किया जाय, तो अंशतः संवादवाले शुक्तिरजतादि ज्ञानोंको और इच्छा-मात्रसे संवादप्राप्त लिङ्गाभासादिसे उत्पन्न हुए ज्ञानोंमें भी (अंशतः) यथार्थवस्तुविषयकत्व होनेसे प्रामाण्य माननेका प्रसङ्ग आ जायगा ।

ननु विदितब्रह्मात्मतत्त्वानामपि 'ब्रह्मध्यानं करिष्यामः' इति व्यवहार-दर्शनाद्ध्यानस्य वस्तुविषयत्वमिति चेद्, नः प्रबलपूर्ववासनया प्रच्युते ब्रह्मात्मत्वानुभवे तस्यामेवाऽवस्थायामेवं व्यवहारात् । नहि ब्रह्मात्म-त्वमनुभवन्त एवं व्यवहर्तुमर्हन्ति । नहि लोके देवदत्तः स्वस्य मनुष्यत्वमनुभवन् मनुष्यत्वं ध्यायामि ध्यास्यामीति वा व्यवहरति । ननु 'ध्यायति प्रोषितनाथा पतिम्' इत्यत्र वस्तुविषयेऽपि ध्यानव्यवहारोऽस्तीति चेद्, नः तत्र ध्यानशब्दस्य पूर्वानुभूतपतिविषयस्मरणलक्ष-कत्वात् । यद्वा विरहातुरा मनोराज्यं करोतीति मुख्यमेव ध्यान-मस्तु । तस्मादवस्तुविषये ध्याने पुरुषस्य स्वच्छन्दप्रवृत्तौ कः प्रतिबन्धः ? ननु सकृत्प्रयत्नमात्रेण घटिकामात्रं ध्यानानुवृत्तिरुपलभ्यते, तत्र प्राथमिकमनोव्यापारं परित्यज्येतरेषां मनोव्यापाराणां प्रयत्न-

शङ्का—ब्रह्मसाक्षात्कार किये हुए यतियोंका भी 'हम ब्रह्मका ध्यान करेंगे' इत्याकारक व्यवहार देखनेसे ध्यान वस्तुविषयक माना जाय ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि पूर्वजन्मार्जित वासनाके प्राबल्यसे ब्रह्मसाक्षात्कारके छूट जानेपर (विस्मृत हो जानेपर) अज्ञानकी अवस्थामें ही उक्त व्यवहार होता है। देवदत्त अपनेको मनुष्य समझता हुआ 'मैं मनुष्यरूपका ध्यान करता हूँ या करूँगा' ऐसा व्यवहार नहीं करता ।

शङ्का—'प्रोषितभर्तृका (जिस स्त्रीका पति परदेशमें है, वह स्त्री) अपने पतिका ध्यान करती है, इस व्यवहारमें वस्तुभूत पतिविषयक ज्ञानमें भी ध्यानका व्यवहार देखा गया है ।

समाधान—उक्त व्यवहारमें ध्यानपदका लक्षणाके द्वारा पूर्वानुभूत पतिका स्मरण ही अर्थ समझना चाहिए । अथवा विरहके दुःखमें डूबी हुई प्रोषित-भर्तृका (पतिध्यानसे) मनोरथस्वरूप राज्य (विरहाभावका अनुभव) कर रही है, इस अर्थमें उसका तात्पर्य होनेसे (अवस्तुविषयक) मुख्य ही ध्यान उक्तव्यवहारस्थलमें माना जा सकता है । इसलिए अवस्तुविषयक ध्यानके विषयमें पुरुषकी अपनी इच्छा-पूर्वक प्रवृत्ति होनेमें कौन प्रतिबन्ध है ?

शङ्का—केवल एकबारके प्रयत्नमात्रसे घड़ीभर ध्यानकी अनुवृत्ति होती है, उसमें पहलेके मनोजन्य व्यापारको छोड़कर अन्य आगे होनेवाले मनके व्यापारोंको प्रयत्नकी अपेक्षा न रहनेसे धारावाहिक-ज्ञान-न्यायसे प्रथम प्रथम

निरपेक्षत्वाद् धारावाहिकज्ञानन्यायेन तन्निरपेक्षत्वे प्राथमिकस्याऽपि प्राप्ते सति सामग्रीसम्पादन एव प्रयत्न उपक्षीयतां तथा च ज्ञानाद् ध्यानस्य पुरुषतन्त्रत्वकृतं वैषम्यं न भविष्यतीति चेत् , किमिदानीमेवाऽऽरभ्याऽभ्यस्यतामपि सकृत्प्रयत्नाद् ध्यानानुवृत्तिः किं वा पट्वभ्यासवतामेव ? नाऽऽद्यः, अनुभवविरोधात् । न द्वितीयः, प्रतिमनोव्यापारं विद्यमानानामेव पृथक्प्रयत्नानामभ्यासपाटवाभिभूततयाऽनभिमन्यमानत्वात् । यथा बालस्यैकहायनस्य प्राथमिकगमनाभ्यासावसरे

होनेवाले मनोव्यापारमें भी प्रयत्ननिरपेक्षत्वके प्राप्त होनेपर [स्मरणके समान] सामग्रीसम्पादनमें ही प्रयत्नका उपयोग होगा। इस रीतिसे ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानमें पुरुषके प्रयत्न द्वारा किया गया वैषम्य (भेद) नहीं हो सकेगा। [जैसे धाराप्रवाहसे होनेवाले ज्ञान प्रयत्ननिरपेक्ष मनोव्यापारमात्रसे उत्पन्न हो जाते हैं, और सर्वप्रथम ज्ञान भी केवल वैसे ही मनोव्यापारसे हो जाता है, उन्मुखीभवन आदि पुरुष प्रयत्न तो विषयेन्द्रियसंयोग आदि ज्ञान-सामग्रीमात्रका उत्पादन करनेमें उपयुक्त होकर क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही ध्यानस्थलमें भी उक्त न्यायसे पुरुषप्रयत्न केवल ध्यानसामग्रीमात्रके उत्पन्न करानेमें उपक्षीण होगा, ध्यान तो प्रयत्ननिरपेक्ष मनोव्यापारमात्रसे धारावाहिक ज्ञानके तुल्य होता रहेगा, यह भाव है।]

समाधान—उक्त रीतिके माननेसे प्रश्न किया जा सकता है कि प्रथम प्रथम अभ्यास करनेवालोंका भी क्या एक ही बारके प्रयत्नसे ध्यान बराबर बना रहता है ? अथवा पर्याप्त अभ्यास (पुनः पुनः परिशीलन) वालोंका ही ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि इसमें अनुभवविरोध आता है। [अनुभवमें यही आया है कि एकबारके ही प्रयत्नसे ध्यान नहीं बना रहता; ध्यानकी अनुवृत्तिके लिए पर्याप्त अभ्यास करना पड़ता है।] दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि (पर्याप्त अभ्यासवालोंके भी) प्रत्येक मनोव्यापारमें विद्यमान ही पृथक् पृथक् प्रयत्न अभ्यासकी पटुताके कारण अभिभूत हो जाते हैं, अतः प्रतीत नहीं होते। [अर्थात् ध्यानानुवृत्तिस्थलमें सर्वत्र (प्रवीण-अप्रवीण दोनोंके ध्यानमें) प्रथम प्रथम हुए ध्यानके समान पृथक्

प्रतिपादविन्यासं पृथक्प्रयत्नोऽभिव्यज्यते न तथा पुनः शीघ्रगमने तदभिव्यक्तिरस्ति । न चाऽत्र पुनः पृथक्प्रयत्नाभावः, विषमस्थले व्यवधानपतनादिना तदभिव्यक्तेः । एवं ध्यानाभ्यासपाटवोपेतस्याऽपि प्राथमिकध्यानानुसारेण प्रयत्नविशेषा अवगन्तव्याः ।

अथवा यथा वक्रबाणे वेगरहितेऽप्यृजूकृते तस्मिन्नेव वेगस्तथाऽभ्यासात् प्राग्वेगशून्येऽपि ध्यानाभ्यासादृजूकृते मनसि वेगाख्यः संस्कारः कल्प्यताम् । अस्मिन्नपि पक्षे ध्यानस्य प्रयत्नतन्त्रत्वं

पृथक् प्रयत्न प्रत्येक मनोव्यापारोंमें अपेक्षित हैं और वे प्रयत्न होते ही रहते हैं, परन्तु अप्रवीणके तो स्पष्ट प्रतीत होते रहते हैं और प्रवीण पुरुषके अपने अभ्यासके पाटवसे स्पष्ट प्रतीत न होनेसे उन प्रयत्नोंमें न होनेका अभिमानमात्र हो जाता है, वस्तुतः प्रयत्न तो प्रवीणके भी पृथक् पृथक् विद्यमान ही हैं । इस आशयको दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं—] जैसे एक वर्षकी अवस्थावाले बालकका प्रथम चलना सीखनेके अवसरपर प्रत्येक पैर रखनेमें पृथक् पृथक् प्रयत्नोंका होना स्पष्ट प्रतीत होता रहता है, परन्तु (अभ्यास हो जानेपर) शीघ्र चलनेमें तादृश पृथक् पृथक् प्रयत्नोंकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती । और यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त स्थलमें (शीघ्रगमनमें) पृथक् प्रयत्न नहीं है । विषम स्थलमें (ऊचनीच भूमिमें) धीरे धीरे उतरना आदि क्रियाके द्वारा उन पृथक् पृथक् विद्यमान प्रयत्नोंकी स्पष्ट प्रतीति होती है । इस प्रकार ध्यानके अभ्यासकी प्रवीणतासे युक्त पुरुषके भी प्रथम होनेवाले ध्यानके अनुसार पृथक् पृथक् प्रयत्न समझ लेने चाहिए ।

[यदि उक्त सिद्धान्तको न माननेका आग्रह हो, तो पक्षान्तर कहते हैं—] अथवा जैसे वेगशून्य भी वक्रबाणके (टेढ़े बाणके) सीधे कर देनेसे उसीमें वेग उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही ध्यानाभ्याससे पहले वेगरहित भी मनमें, ध्यानाभ्याससे उसके स्थिर होनेपर, वेगनामक संस्कारकी कल्पना करनी चाहिए। [इस कल्पनाके आधारपर शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि वेगसे ही ध्यानकी अनुवृत्ति सिद्ध हो जायगी, उसके लिए पृथक् पृथक् प्रयत्न माननेकी आवश्यकता नहीं है तदनुसार प्रथम ध्यान भी प्रयत्ननिरपेक्ष ही होगा, उसका खण्डन करते हैं—] इस पक्षमें भी ध्यानके प्रयत्नसापेक्ष होनेका निवारण नहीं किया जा सकता, जैसे बाणमें प्रथम

नाऽपैति । बाण इव गमनस्याऽप्याद्यक्रियायाः प्रयत्नान्तरीयकत्वात् । न चैवं धारावाहिकज्ञानेषु पृथक्प्रयत्नाः कल्पयितुं शक्यन्ते । यथाऽनभ्यस्तविषये ध्याने प्राथमिके द्वयोर्द्वयोरावृत्त्योर्मध्ये किंचित् किंचिद्व्यवधानं पृथक्प्रयत्नगमकमस्ति न तथा प्राथमिकेऽपि धारावाहिकज्ञाने तदस्ति । प्रमाणप्रमेयसम्बन्धजन्ये तस्मिन् बालवृद्धयोर्विशेषाऽदर्शनात् । अथ द्वितीयतृतीयादिज्ञानाकारपरिणामपरम्परानिर्वाहाय मनसि वेगः कथंचित् कल्प्येत तथाप्यज्ञानस्य प्रयत्नान्तरीयकत्वाभावान्न ज्ञानं पुरुषतन्त्रम् । नहि ज्ञानं प्रयत्नानन्तरमेव

गमन-क्रिया प्रयत्नके बिना नहीं हो सकती, वैसे ही मनमें भी (ध्यानजनक) प्रथम व्यापार प्रयत्नके बिना हो ही नहीं सकता । [पुनः प्रथम कल्पका सिंहावलोकन करते हैं—] जैसे ध्यानानुवृत्तिस्थलमें पृथक् पृथक् प्रयत्न होते हैं, वैसे धारावाहिक ज्ञानस्थलमें पृथक्-पृथक् प्रयत्नोंकी कल्पना नहीं की जा सकती । [ध्यानस्थलके समान ज्ञानप्रवाहमें प्रयत्नोंकी कल्पनाके आधारका अभाव दिखलाते हैं—] नूतनविषयके प्रथम ध्यानमें जैसे दो दो (ध्यानों) के मध्यमें होनेवाला कुछ-कुछ व्यवधान पृथक्-पृथक् प्रयत्नोंका सूचक है । [यदि मध्यमें दूसरा पृथक् प्रयत्न न होता, तो निरन्तर आवृत्तिकी अनुवृत्ति होनी चाहिए, दोनोंके बीचमें व्यवधान न होता । यह व्यवधान ही पृथक् प्रयत्नको सिद्ध करता है ।] इस भाँति प्राथमिक—प्रथम उत्पन्न हुए—भी धारावाहिक ज्ञानमें कोई गमक नहीं है । ज्ञानस्थलमें तो प्रमाण—इन्द्रियादि—और प्रमेय—विषय—के सम्बन्धसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें बाल तथा वृद्धके कारण कोई विशेष नहीं देखा जाता । [यदि ध्यानके तुल्य ज्ञान भी प्रयत्नसापेक्ष होता, तो बाल तथा वृद्धके ज्ञानमें भी ध्यानके समान विशेषता आनी अनिवार्य होती । अर्थात् अधिक प्रयत्नशाली वृद्धके ज्ञानमें कम प्रयत्नशाली बालकके ज्ञानकी अपेक्षा भेद होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है ।] यद्यपि द्वितीय या तृतीय ज्ञानकी धाराकी सिद्धिके लिए अन्तःकरणमें यथाकथंचित् वेगनामक संस्कारकी कल्पना की भी जाय, तथापि अज्ञान प्रयत्नके अनन्तर ही उत्पन्न नहीं होता है, [अज्ञानपदको अज्ञाननिवृत्तिपरक मान करके तात्पर्य मानना होगा कि यदि अज्ञाननिवृत्तिमें ऐसा नियम होता कि प्रयत्नके ही अनन्तर वह हो सकती है, तो उसके जनक

जायते, किन्तु तेन प्रयत्नेन प्रमाणादिसामग्र्यां सम्पादितायां पश्चादुत्पद्यते तथाऽज्ञाने निवृत्तिरपि न प्रयत्नानन्तरभाविनी, किं तर्हि प्रयत्नेन विरोधिसामग्र्यां सम्पादितायां पश्चान्निवर्त्तते । एवं च सामग्र्याः प्रयत्नतन्त्रत्वे सति ज्ञानमेव पुरुषेण कर्तुमकर्तुं वा शक्यमिति वादिनां विभ्रमः । अन्यथाकरणं तु ज्ञानस्याऽत्यन्तमनाशङ्कनीयमित्युक्तं पुरस्तात् । न च ध्यानमपि प्रयत्नसम्पादितसामग्रीतन्त्रं न प्रयत्नतन्त्रमिति वक्तुं शक्यम्, प्रयत्नातिरिक्तसामग्र्यभावात् । अतो ध्यानस्याऽन्यव्यवधानमन्तरेण साक्षादेव करणाकरणे सुशके । अन्यथाकरणं तु निरङ्कुशं संभवति । तदेवमजन्यफलं वस्तुविषयं प्रमाण-

---

ज्ञानको भी प्रयत्नानन्तर होनेका नियम होनेसे ज्ञान पुरुषाधीन माना जाता, परन्तु उक्त नियम नहीं है] इसलिए ज्ञानका होना पुरुषके अधीन नहीं माना जा सकता । [उक्त आशयका उपपादन करते हैं—] ज्ञान प्रयत्नके अव्यहित अनन्तर ही नहीं होता, किन्तु उस प्रयत्नके द्वारा 'विषयेन्द्रियसंयोग आदि' प्रमाणादि सामग्री सम्पन्न होती है, तदनन्तर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । एवं अज्ञानमें निवृत्ति भी प्रयत्नके अनन्तर ही नहीं होती, किन्तु प्रयत्न द्वारा अज्ञानविरोधी (आवरणभङ्ग आदि) सामग्री उत्पन्न होती है, और उसके पश्चात् अज्ञान निवृत्त होता है । इस निश्चयके अनुसार सामग्रीको ही पुरुषव्यापारके अधीन होना सिद्ध है, इसपर भी अन्य वादियोंका, ज्ञानकी ही उत्पत्ति या अनुत्पत्ति पुरुषके प्रयत्नके अधीन है, यह कहना भ्रममात्र है । ज्ञानके अन्यथा करनेकी तो शङ्का भी नहीं की जा सकती, इसका पहले ही स्पष्ट प्रतिपादन कर आये हैं । उक्त रीतिके अनुसार ध्यानको भी प्रयत्न द्वारा सम्पादित सामग्रीके अधीन मानकर पुरुषप्रयत्नके अधीन नहीं मानते, ऐसा कहना युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि ध्यानमें प्रयत्नके अतिरिक्त सामग्री नहीं है । [अर्थात् ध्यानमें प्रयत्न ही सामग्री है, उस प्रयत्नरूप सामग्रीके नान्तरीयक होनेसे ध्यानका पुरुषाधीन होना निर्विवाद है ।] इसलिए ध्यानकी प्रयत्नके बिना साक्षात् उत्पत्ति होनेसे उसका करना या न करना सम्भव हो सकता है । और अन्यथाकरना तो निर्बाध (किसी भी प्रतिबन्धके बिना) सम्भव है । उक्त सम्पूर्ण प्रघट्टकके निष्कर्षसे फलित होता है कि जन्य

जन्यं ज्ञानं जन्यफलं वस्तुनिरपेक्षं पुरुषेच्छाप्रयत्नमात्रजन्यं ध्यानमिति ज्ञानध्यानयोर्मानसत्वेन समयोरपि फलतो विषयतः कारणतश्च महद्वैलक्षण्यं सिद्धम् । एवं च सत्यपुरुषतन्त्रतयाऽनुष्ठातुमशक्यं ब्रह्मज्ञानं विधियोग्यं न भवतीति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इति तव्यप्रत्ययोऽर्हार्थोऽवगन्तव्यः । कथं तर्ह्यात्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येदिति

फलसे शून्य, वस्तुविषयक तथा प्रमाणके द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान होता है और जन्य फलवाला, वस्तुकी अपेक्षासे विरहित एवं पुरुषकी इच्छासे उत्पन्न प्रयत्नमात्रसे उत्पन्न होनेवाला ध्यान कहलाता है। इस प्रकार मनोजन्य होनेसे ज्ञान और ध्यानमें समता होते हुए भी फल, विषय तथा कारणके द्वारा बहुत बड़ा भेद सिद्ध होता है। इस निष्कर्षके अनुसार पुरुषव्यापारके अधीन न होनेसे ब्रह्मज्ञानका अनुष्ठान (विधान) नहीं हो सकता। इसलिए 'आत्मा वा अरे'—आत्मदर्शन करना चाहिए—इस वाक्यमें योग्यता[1]रूप अर्थका वाचक 'तव्य' प्रत्यय है, ऐसा समझना चाहिए।

शङ्का—'आत्माको अपने आत्मामें ही देखे' एतदर्थक 'आत्मन्येव—' इत्यादि वाक्योंसे दर्शनका विधान कैसे सङ्गत हो सकता है। [यद्यपि प्रकृत वाक्यमें भी अर्ह अर्थमें ही लिङ् हो सकता है, तथापि भाष्यानुकूल समाधान देनेके लिए प्रकृत वाक्यमें शङ्का करते हैं। भगवान् शङ्कराचार्य ब्रह्ममें चोदनाकी विषयताके अभावका प्रतिपादन करके समन्वयसूत्रमें 'किमर्थानि तर्हि आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि' अर्थात् ब्रह्मदर्शनविषयक विधानकी उपपत्ति कैसे हो सकती है? यों शङ्का करके समाधान करते हैं—'स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानि'—अर्थात् इष्ट वस्तुको पानेकी और अनिष्ट वस्तुके परिहारकी उत्कट अभिलाषामें चित्त व्यग्र होनेसे परमात्माकी ओर नहीं झुकता, इसलिए बाहरी विषयोंसे अन्तःकरणकी वृत्तिको हटानेके लिए प्रयत्नशील रहनेके विधानमें उक्त वाक्यघटक लिङादिका तात्पर्य है, इस आशयसे उत्तर देते हैं।]

---

(१) 'अर्हे कृत्यतृचश्च'—पाणिनीय सूत्रसे अर्ह अर्थमें दृशधातुसे तव्य प्रत्यय होकर 'द्रष्टव्यः' पदकी सिद्धि हुई है, 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' सूत्रसे प्रैष—प्रेरणा—रूप अर्थमें नहीं हुई है।

दर्शनविधिरिति चेद्, दर्शनसाधनभूतान्तर्मुखत्वादिविधित्वेन व्याख्येय इति ब्रूमः। व्याख्यातं चाऽस्माभिर्विचारविधिपरत्वेन प्रथमसूत्रतृतीयवर्णके । तदेवं मोक्षपर्यालोचनया उत्पत्त्याद्ययोग्यब्रह्मपर्यालोचनया ज्ञानपर्यालोचनया च विध्यसंभवादहेयानुपादेयात्मतत्त्वे वेदान्ताः पर्यवस्यन्तीत्यभ्युपेयम् ।

नन्वहंप्रत्ययावसेयात्मनः कर्माङ्गत्वात् तत्र पर्यवसितानां वेदान्तानामपि कर्मविधिवाक्यैरेकवाक्यता स्यादिति चेद्, नः अनन्यवेद्ये क्रियाकारकसंसर्गशून्य एवाऽऽत्मनि वेदान्तानां पर्यवसनात् । अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतमिति स्मृतिकारैः सर्वो वेदो धर्मे विनियुक्त इति चेद्, नः 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'सर्वे वेदा यत्प-

---

समाधान—साक्षात्कारके कारणीभूत अन्तर्मुखत्व आदि (बाहरी विषयोंसे विमुख कर अन्तःकरणको आभ्यन्तर कर अध्यात्मके चिन्तनमें लगाना) के विधानमें तात्पर्य मानकर उन वाक्योंका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा हम कहते हैं । और हम प्रथम सूत्रके तृतीय वर्णकमें उक्त वाक्योंका विचारविधिमें तात्पर्य कह आये हैं । इस प्रकार मोक्ष तथा उत्पत्ति आदिके अयोग्य ब्रह्म तथा ज्ञान—इन सबके पूर्वोक्त स्वरूपोंका विवेचन करनेसे विधिका अवसर सम्भव न होनेसे हानोपादानशून्य ब्रह्मतत्त्वका विवेचन करनेमें ही वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य निर्द्धारित करना चाहिए ।

शङ्का—'अहम् 'मैं' इस प्रतीतिसे प्रतीयमान आत्मा ही विश्वजिदादि कर्मकलापका (कर्तव्यत्वेन) अङ्ग है, इसलिए उसी अहंप्रत्ययके विषय आत्मामें तात्पर्य रखनेवाले वेदान्तोंकी भी कर्मविधायक वाक्योंके साथ एकवाक्यता करनी ही उचित है ।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं है, कारण कि किसी भी अन्य प्रमाणसे वेद्य न होनेवाले क्रियाकारकभावरूप सम्बन्धसे विरहित आत्मामें ही वेदान्तोंका तात्पर्य निर्द्धारित होता है । यदि यह शङ्का हो कि 'वेदोंका प्रयोजन (तात्पर्य) अग्निहोत्र आदि कर्मोंका प्रतिपादन करना है और शील तथा सदाचारका प्रतिपादन करना शास्त्रोंका प्रयोजन है' एतदर्थक स्मृतिके रचयिता आचार्योंने सम्पूर्ण वेदोंका चोदनात्मक धर्ममें ही विनियोग किया है, तो यह शङ्का उचित नहीं है, कारण कि

दमामन्ति', 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति श्रुतिस्मृतिवशात् पूर्वस्मृत्यर्थस्य निर्णेतव्यत्वात् ।

नन्वाम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामिति वदन् जैमिनिरित्थं मन्यते—उत्तमवृद्धोक्तशब्दश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिं दृष्ट्वा तया तस्य कार्यज्ञानमनुमाय कार्यान्वित एवाऽर्थे शब्दसामर्थ्यं व्युत्पित्सुर्जानाति । तथा च सिद्धवस्तुन्यगृहीतसामर्थ्यस्य शब्दस्य तद्बोधकत्वासंभवाद्वेदान्तानामप्यद्वैतात्मतत्त्वबोधकत्वं नाऽस्तीति, मैवम्; किं भाट्टमतमवलम्ब्यैवमुच्यते किं वा प्राभाकरमतमवलम्ब्य ? नाऽऽद्यः ।

'उस उपनिषत्—वेदान्त—वाक्योंसे प्रतिपादित पुरुषके विषयमें प्रश्न करता हूँ' एवं 'सब वेद जिस पदका प्रतिपादन करते हैं' इत्यर्थक श्रुतियां और 'सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूं' इत्यर्थक स्मृतिके अनुसार ही 'अग्निहोत्रफला—' इत्यादि पूर्वोक्त स्मृतिके तात्पर्यका निर्णय करना चाहिए ।

शङ्का—'सम्पूर्ण आम्नाय—वेद—क्रियाके (कर्मकाण्डके) प्रतिपादनके ही निमित्त हैं, जो वेदवाक्य क्रियाका प्रतिपादन नहीं करते, वे सब अनर्थक हैं' इस अभिप्रायके 'आन्मायस्य—' इत्यादि सूत्रकी रचना करनेवाले जैमिनि मुनिका सिद्धान्त है कि उत्तम वृद्ध (आज्ञा देनेवाले पुरुष) के द्वारा कहे गए 'गाय लाओ' इत्यादि वाक्य सुननेके अनन्तर प्रयोज्य वृद्धकी (जिसको आज्ञा दी गयी है, उसकी गौ आदि लानेमें) प्रवृत्ति देखकर उस प्रवृत्तिसे प्रयोज्य वृद्धमें कार्यज्ञानका अनुमान करके शब्दार्थव्युत्पत्तिकी इच्छा रखनेवाला अबोध बालक कार्यसे अन्वित ही अर्थमें शब्दकी सामर्थ्य निर्द्धारित करता है [अर्थात् कार्यन्वित अर्थमें ही शब्दकी शक्तिको जानता है ।] इस प्रक्रियाके अनुसार सिद्धभूत (क्रियाऽन्वयशून्य) अर्थमें शब्दशक्तिका ज्ञान न होनेसे शब्दमें तादृश सिद्ध अर्थका बोधकत्वका सम्भव न हो सकनेके कारण वेदान्तवाक्योंका भी अद्वैतरूप आत्मतत्त्वका बोधक होना सम्भव नहीं है । [इसलिए विधिशेष ही वेदान्तवाक्योंको मानना चाहिए ।]

समाधान—जैमिनिसूत्रोंके दो व्याख्याता हैं, एक कुमारिल भट्ट और दूसरे प्रभाकर, इनमें से उक्त कथन क्या भट्टानुयायियोंके मतके आधारपर है ? अथवा प्रभाकरानुयायियोंके मतको लेकर ? इनमें प्रथम कल्प

अभिहितान्वयवादी हि भाट्टः। स चैवं व्युत्पत्तिप्रक्रियां रचयति— उत्तमवृद्धेन वाक्ये प्रयुक्ते श्रोतुर्मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्या विशिष्टसंसर्गज्ञानं शब्दकार्यत्वेनाऽनुमाय शब्दसमुदायस्याऽर्थसमुदाये सामर्थ्यं प्रतिपद्यते। तत्र गामानय गां बधानेत्यादिप्रयोगेष्वावापोद्धाराभ्यामानयनतत्संसर्गव्यभिचारेऽपि गोमात्रस्याऽन्वयाद् बन्धनेऽपि गोशब्दस्य गोमात्रे सम्बन्धं प्रतिपद्यते न त्वानयनतत्संसर्गयोर्व्यभिचरितयोः। एवं सर्वपदानां पदार्थ-

---

नहीं बन सकता, कारण कि भट्टके अनुयायी अभिहितान्वयवादी हैं। उनके मतमें व्युत्पत्तिप्रक्रिया इस रीतिपर दिखलाई गयी है—उत्तम वृद्धके द्वारा 'गाय लाओ' इत्यादि वाक्यके प्रयुक्त होनेपर (श्रोता) मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिसे विशिष्ट सम्बन्धज्ञान शब्दका कार्य है, ऐसा अनुमानकर 'गामानय' इत्यादि शब्द-समुदायके (पृथक् पृथक् एक एक शब्दका नहीं) विशिष्ट संसर्गविषयक अर्थसमुदायमें सामर्थ्यका—शक्तिका—अवधारण करता है। अनन्तर 'गायको लाओ', 'गायको बांधो' इत्यादि प्रयोगोंमें आवाप और उद्वापसे आनयन (लाना) तथा उसके साथ कर्मत्वरूप संबन्धका व्यभिचार होनेपर भी केवल गोपदार्थभूत गाय-मात्रका बन्धनमें भी अन्वय होनेसे गोशब्दके गोपदार्थमात्रमें शक्तिरूप सम्बन्धका बोध होता है, व्यभिचरित होनेवाले आनयन और उसके सम्बन्धमें शक्तिग्रह नहीं होता। [बालक उत्तम वृद्ध द्वारा कहे गये—'गामानय' इत्यादि वाक्यको सुन और तदन्तर मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिको देख कर विशिष्ट (कर्मत्वसम्बन्धसे गोपदार्थान्वित) आनयनरूप अर्थमें ही उक्त वाक्यकी शक्ति समझता है। वह बालक कल्पना करता है कि यदि मध्यम वृद्धको उक्त वाक्यका अर्थबोध न हुआ होता, तो वह वाक्यको सुननेके बाद कार्यमें प्रवृत्त न होता। प्रवृत्ति भी उसकी दूर देशमें विद्यमान गायको समीपमें ले आनेमें ही हुई है, इसलिए निश्चित होता है कि 'गामानय' वाक्यकी सामर्थ्य इसी अर्थका बोध करानेमें है। इससे उसने ऐसा भी निर्द्धारण किया कि वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थका ही ज्ञान होता है, क्योंकि उसने यही अर्थ क्यों समझा ? कोई दूसरा ही कार्य क्यों नहीं किया ?। तदनन्तर उस बालकने उत्तम वृद्धको कहते सुना कि 'गां बधान, अश्वमानय' (गाय बांधो और घोड़ा ले आओ) और मध्यम वृद्धको गाय बांधते और घोड़ा लाते देखा। इसमें कुछ-कुछ दूसरे-दूसरे प्रकारके शब्दोंको सुनने

स्वरूपमात्रेषु सामर्थ्यप्रतिपत्तेः संसर्गबोधः किंनिबन्धन इति वीक्षाया-मनन्यथासिद्धान्वयतिरेकाभ्यां शब्दावगतपदार्थनिबन्धन इति कल्प्यते। ततः पदेभ्यः पदार्थाः पदार्थेभ्यः संसर्ग इत्यभिहितान्वय इति।

तथा कुछ-कुछ दूसरे-दूसरे प्रकारके अर्थोंको देखनेसे विचार किया कि प्रथम वाक्यमें जैसे गोपद था वैसे ही दूसरे वाक्यमें भी है, और अर्थ भी—प्रथम व्युत्पत्तिके समान गलकम्बल, पूछ आदिवाली वस्तु भी—समान ही है। परन्तु आनयनका (दूरदेशसे समीप देशमें लानेका) सम्बन्ध नहीं दीख रहा है, इसलिए उसने निश्चय कर लिया कि गोपदार्थके साथ आनयन तथा उसके सम्बन्धका बोध होना नियमतः नहीं है, अर्थात् व्यभिचरित है, किन्तु गलकम्बल आदिसे युक्त वस्तु तो नियमित दीख रही है, अतः गोपदका शुद्ध (सम्बन्धरहित) गल-कम्बल आदिसे युक्त वस्तु ही अर्थ है। एवं आनयन भी पदार्थसे सम्बन्ध रखता हुआ ही सर्वत्र प्रतीत नहीं होता, कारण कि 'अश्वमानय' इस वाक्यका अर्थ, जो कि 'अश्वमानय' वाक्यके श्रवणके अनन्तर मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिको देखनेसे ज्ञात हुआ है, उसमें गोपदार्थ और उसका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए आनयन पदार्थ भी शुद्ध सम्बन्धरहित दूर देशसे समीप देशमें लानामात्र ही है। इस व्यावहारिक प्रक्रियाके अनुसार व्यवहारके शक्तिग्राहक होनेपर भी उसमें किसी-किसी शब्दकी तथा किसी-किसी अर्थकी अनुवृत्तिरूप आवाप एवं किसी-किसी शब्द तथा अर्थका भी न रहनारूप उद्वापसे गो आदि पदोंकी शक्तिका अन्वयविरहित अर्थमें ही निश्चय होता है, इस आशयसे निष्कर्ष लिखते हैं—] इस प्रकार सभी पदोंका शुद्ध पदार्थस्वरूपमात्रमें सामर्थ्यका (शक्तिका) ज्ञान होता है। यदि पदसे केवल पदार्थका ही बोध होता है, तो अन्वयस्वरूप सम्बन्धकी (जो वाक्यसे प्रतीत होता है) प्रतीति कैसे होगी, यों जिज्ञासा होनेपर उत्तरमें कल्पना की जायगी कि अन्यथासिद्धिको प्राप्त न होनेवाले अन्वय तथा व्यतिरकके बलसे शब्दश्रवणके बाद प्रतीत हुए पदार्थ ही अन्वयकी भी प्रतीति करा देंगे। [अर्थात् पदोंके अन्वय-व्यतिरेक पदार्थमात्रकी प्रतीति करानेमें ही उपयुक्त होते हैं, उनसे संसर्गका बोध नहीं हो सकता, किन्तु पद द्वारा प्रतीत हुए पदार्थ ही अन्वय-व्यतिरेकके बलसे संसर्गका बोध कराते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष-दृष्ट घट, पट आदि पदार्थोंसे संसर्गका बोध नहीं होता, तथापि पदोंके द्वारा उपस्थित

एवं च सत्येतन्मतानुसारेण शब्दस्य न कार्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यं किन्तु स्वार्थमात्रे । ततः सूत्रगतानर्थक्यपदेनाऽक्रियार्थानां शब्दानां नाऽभिधेयाभावो वर्णयितुं शक्यः । अथ प्रयोजनाभावो वर्ण्येत, तन्न; सोऽरोदीदित्यादिवाक्यानां तथात्वेऽपि निरतिशयानन्दरूपब्रह्मप्रतिपादकानां वेदान्तानां निष्प्रयोजनत्वायोगात् ।

नन्वस्तु तर्हि द्वितीयः पक्षः, अन्विताभिधानवादिना प्राभाकरेण भाट्टवद्विरलपदार्थव्युत्पत्त्यनङ्गीकारात् । स ह्येवं व्युत्पत्तिप्रक्रियां रचयति—शुक्लां गामानय दण्डेनेति शब्दस्य श्रवणानन्तरं श्रोतुर्गवानयने प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयकर्त्तव्यताऽनेन श्रोत्रा शब्दात्प्रतिपन्नेति भूतार्थ-

---

पदार्थोंमें संसर्गबोधकत्व स्वभावसिद्ध है ।] इसलिए पदोंसे पदार्थ तथा पदार्थोंसे सम्बन्धका बोध होता है, ऐसा अभिहितान्वयवादी (भाट्ट) कहते हैं । भट्टमतावलम्बियोंकी प्रक्रियाको माननेवालोंके मतमें कार्यसे अन्वित स्वार्थमें शब्दकी शक्ति नहीं है, किन्तु अन्वयरहित स्वार्थमें ही है । इस सिद्धान्तके अनुसार जैमिनि मुनिजीके उक्त 'आम्नायस्य०' इत्यादि सूत्रमें स्थित आनर्थक्यपदसे क्रियामें तात्पर्य न रखनेवाले शब्दोंका अभिधेय (वाच्य अर्थ) नहीं है, ऐसा आनर्थक्य नहीं कह सकते, [क्योंकि उक्त रीतिसे पदमात्रका क्रियानन्वित स्वार्थ ही है] । यदि आनर्थक्यपदसे प्रयोजनका अभाव कहा जाय, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वह रोया' इत्याद्यर्थक वाक्योंके प्रयोजनरहित होनेपर भी अतिशयविरहित (सर्व श्रेष्ठ) आनन्दरूप ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त वेदान्तवाक्य प्रयोजनरहित हो ही नहीं सकते ।

शङ्का—अच्छा तो दूसरा पक्ष ही मानो, अर्थात् प्रभाकरमतके अनुसार उक्त सूत्रका तात्पर्य वर्णन किया जायगा, कारण कि प्रभाकरके अनुयायी भट्टमतानुयायियोंके समान अन्वयके बिना शुद्ध पदार्थमें व्युत्पत्ति नहीं मानते । वे इस प्रकार व्युत्पत्तिप्रक्रियाकी रचना करते हैं—'दण्डसे शुक्ल गाय ले आओ' इस प्रकार शब्दोंके सुननके अनन्तर श्रोता (सुननेवाले) की गाय लानेमें प्रवृत्ति देखकर इस श्रोताने उक्त वाक्यसे गायका ले आनारूप कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त किया, इसलिए (गाय आदि रूप) सिद्ध वस्तुसे अन्वित कार्यमें शब्द-

संसृष्टे कार्ये शब्दसमुदायस्य सामर्थ्यं बालः प्रतिपद्यते। पुनश्च गां बधानाऽश्वमानयेत्यादिप्रयोगान्तरेषु गोशब्दस्याऽन्वये कार्यसंसृष्टगवाकृतेरन्वयात्तदुद्धारे च कार्यसंसृष्टगवाकृतेरेवोद्धारात् कार्यसंसृष्टायां गवि पदसामर्थ्यं कल्प्यते। आनयनतत्संसर्गव्यभिचारेऽपि कार्यसंसर्गाव्यभिचारात्। एवं च सति यथाऽभिहितान्वयवादे पदानां प्रथमावगतसंसर्गबुद्धिहेतुत्वस्याऽपवादो वाक्यवाक्यार्थयोर्मध्ये पदार्थतच्छक्तिव्यवधानगौरवं चेति दोषद्वयमस्ति न तथाऽन्विताभिधानवादे तदस्ति प्रत्युत पदानामेव संसर्गप्रतिपादने लाघवमिति।

समुदायकी शक्तिको बालक निर्द्धारित करता है। तदनन्तर 'गाय बांधो और घोड़ा ले आओ' इत्यादि दूसरे शब्दोंके प्रयोगोंमें गोपदका अन्वय करनेमें कार्यसे सम्बद्ध ही गोपदार्थभूत आकृतिका अन्वय होता है और दूसरे वाक्योंमें गोपदके न रहनेसे (बदल देनेसे) कार्यसम्बद्ध ही गोपदार्थ बदल जाता है, [अनन्वित गोपदार्थ नहीं है], इसलिए कार्यान्वित गोपदार्थमें ही गोपदकी सामर्थ्यकी (शक्तिकी) कल्पना की जाती है। यद्यपि आनयन तथा उसके संसर्गका (कर्मत्व आदिका) 'गौरागच्छति' आदि वाक्यमें व्यभिचार पाया जाता है, तथापि कार्यसामान्यमात्रसे अन्वयका तो कहीं भी व्यभिचार नहीं है। [अभिहितान्वयवादकी अपेक्षा अन्विताभिधानवादमें लाघव दिखलाते हैं—] उक्त अन्विताभिधानवादकी प्रक्रियाके मान लेनेसे जैसे अभिहितान्वयवादमें पदोंके प्रथम (व्यवहारसे) प्रतीत हुए संसर्गज्ञानके कारणका बाध करनारूप एक और दूसरा वाक्य तथा वाक्यार्थके मध्यमें पदार्थ तथा उस वाक्यकी शक्तिके ज्ञानका व्यवधानरूप यों दो दोष आ जाते हैं, वैसे अन्विताभिधानवादमें दोष नहीं आते। इसके विपरीत पदोंका ही सीधा अन्वय प्रतिपादन करनेमें लाघव है। [अर्थात् पद ही सीधे वाक्यार्थरूप अन्वयका बोध करा देते हैं, अतः उसके लिए अतिरिक्त वाक्यशक्ति मानना आवश्यक नहीं है। अभिहितान्वयवादमें तो वाक्यार्थबोधके हेतुभूत पदोंके द्वारा पदार्थस्मृति तो अपेक्षित ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त पदार्थोंका परस्पर अन्वय बोध होनेके लिए वाक्यशक्तिग्रह होनेके अनन्तर व्यवधानसे ही संसर्गावगाही वाक्यार्थबोध होता है, अन्विताभिधान-

नैतत्सारम्, नहि प्रयोगभेदेषु कार्यसंसर्ग एव गवाकृतेर्नियमेन प्रतीयते, किन्तु गुणद्रव्यक्रियाकारकसंसर्गश्च। तथाहि—शुक्लां गामानयेत्यत्र गुणस्य जातियुक्तेन द्रव्येण सम्बन्धः द्रव्यस्य च विभक्त्यर्थेन कारकेण पुनश्च विभक्त्यर्थविशिष्टस्य द्रव्यस्य क्रियया क्रियायाश्च नियोगकार्येणेति व्यवहितः कार्यसम्बन्धः। तथा च सत्यव्यवहितसम्बन्धोपादानसिद्धयेऽन्यान्वितस्वार्थमात्रे शब्दसामर्थ्यमभ्युपेयम्, लाघवात्। अन्यथाऽनुवादप्रसङ्गात्। कार्यान्वितस्वार्थेषु प्रमाणान्तरगृहीतेषु शब्दसामर्थ्यं प्रतिपद्य पश्चाद् वाक्यप्रमाणादपि तावन्मात्रप्रतिपत्तौ कथमनुवादो

वादके समान पदोंके श्रवणान्तर पदशक्तिके द्वारा अव्यवधानसे वाक्यार्थ बोध नहीं हो सकता।]

समाधान—इस प्रकार अन्विताभिधानवादका क्रियान्वित स्वार्थमें पदोंका अर्थवर्णन करनेकी प्रक्रिया सारगर्भित नहीं है अर्थात् असंगत है, कारण कि सब प्रकारके प्रयोगोंमें अकेले गोपदार्थस्वरूपमें कार्यका ही सम्बन्ध नियमसे (अव्यभिचाररूपसे) प्रतीत नहीं होता, किन्तु गुण, द्रव्य, क्रिया तथा कारकका भी सम्बन्ध प्रतीत होता है। [उक्ताशयका उपपादन करते हैं—] 'शुक्ल वर्णकी गायको लाओ' इस वाक्यमें शुक्ल गुणका गोत्वजातिसे युक्त गायरूप द्रव्यके साथ सम्बन्ध और उस द्रव्यका विभक्त्यर्थभूत कारकसम्बन्ध एवं विभक्त्यर्थ कारकसम्बन्धसे विशिष्ट (कर्मकारक) द्रव्यका 'आनयन आदि' क्रियासे तथा क्रियाका (लोडादिके अर्थभूत) नियोगस्वरूप कार्यसे अन्वय होता है। इस प्रकारसे होनेवाली प्रक्रियाके अनुसार गोपदवाच्य गोपदार्थका कार्यके साथ व्यवधानसे ही सम्बन्ध होता है। इस दशामें अव्यवहित सम्बन्धकी सिद्धिके लिए (स्वार्थसे अतिरिक्त) अन्य पदार्थसे अन्वयप्राप्त स्वार्थमें ही लाघवके अनुरोधसे शब्दकी शक्ति मानना उचित है। अन्यथा माननेसे अनुवादका प्रसङ्ग आ जायगा। [तात्पर्य यह है कि कार्यान्वित ही गवादिरूप स्वार्थमें यदि गोपदकी शक्ति मानी जाय, तो कार्यबोधक लोट् आदिका प्रयोग करना गोपदादिसे ही सिद्धार्थका प्रतिपादक होनेसे अनुवादकके अतिरिक्त विधिबोधक नहीं हो सकता], कारण कि 'व्यवहारके दर्शनसे अनुमानादि प्रमाण द्वारा गृहीत कार्यान्वित स्वार्थमें गो आदि पदोंकी शक्तिका निश्चय करके

न भवेत् । न च कार्येण सर्वपदार्थानामव्यवहितः सम्बन्धोऽस्ति येन तत्संसृष्टे सामर्थ्यं स्यात् । अस्ति कार्यस्य सर्वपदार्थैः सम्बन्धः शेषशेषिलक्षण इति चेत्, तत्र कार्यस्य शेषिता नाम किं स्वामिता किं वाऽवयविता उत साध्यता अथवा परमसाध्यता ? नाऽऽद्यः, अचेतनस्य स्वामित्वायोगात् । न द्वितीयः, इतरपदार्थानां कार्यं प्रत्यवयवत्वाभावात्, न तृतीयः, क्रियाया एव सर्वत्र कारकसाध्यत्वात् । न चतुर्थः, स्वर्गादेरेव परमसाध्यत्वात् । अतः सर्वानुगतैकप्रयोजकलाभायाऽन्यान्विते सामर्थ्यमभ्युपेयम् । यदि कार्यान्विते सामर्थ्यं स्यात्

तदनन्तर वाक्यरूप प्रमाणसे भी यदि कार्यान्वयका ही बोध होगा, तो वाक्यमें अनुवादकत्वका प्रसङ्ग क्यों नहीं होगा ? और सम्पूर्ण पदार्थोंका कार्यके (नियोगके) साथ व्यवधानशून्य सम्बन्ध हो भी नहीं सकता, जिससे कि कार्य-सम्बद्ध स्वार्थमें शब्दकी शक्ति हो सके ।

शङ्का—सम्पूर्ण पदार्थोंके साथ कार्यका शेषशेषिभावरूप सम्बन्ध विद्यमान ही है ।

समाधान—यदि शेष-शेषिभाव सम्बन्ध कार्यके साथ है, तो इसमें विकल्प हो सकते हैं कि कार्यमें शेषिता (कार्यको शेषी मानना) क्या स्वामित्वरूप है ? या अवयवितारूप है ? अथवा साध्यतारूप है ? अथवा परमसाध्यतारूप है । इनमें प्रथम कल्प नहीं बन सकता, कारण कि अचेतनका कार्यका स्वामी होना सम्भव नहीं है । दूसरा कल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थ कार्यके अवयव नहीं हो सकते । तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता, कारण कि सर्वत्र क्रिया कारकसे ही साध्य होती है, [अतः प्रकृतमें नियोगात्मक कार्य भी कारकसाध्य ही है] । चतुर्थ पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि परम साध्य तो स्वर्ग आदि ही हैं । इसलिए सर्वत्र अनुगत एक प्रयोजकके लाभके लिए अन्यसे अन्वित पदार्थमें ही शक्ति मानना उचित है । [पूर्वप्रदर्शित रीतिसे नील आदि गुणोंका घटादि द्रव्योंके साथ और गुणान्वित द्रव्योंका विभक्त्यर्थभूत कर्मादिसम्बन्ध द्वारा क्रियाके साथ अन्वय होगा, अनन्तर क्रियाका 'लोट्' आदिके अर्थभूत नियोगके साथ अन्वय होगा, इतनी परम्पराको लेकर आपके अन्तर्गड्भूत नियोगके साथ

तदा कार्यपदस्य तन्न सिध्येत्, कार्यान्तराभावात्। अस्ति धात्वर्थलक्षणं कार्यान्तरमिति चेद्, नः धात्वर्थस्य प्रथमतः कार्यत्वाभावात्। नियोगकार्यस्य साध्यत्वसिद्ध्यर्थं धात्वर्थे विषयत्वेनाऽन्विते पश्चात् करणभूतस्य च तस्य धात्वर्थस्याऽनुष्ठेयतया कार्यत्वं न तु नियोगान्वयकाले। न चैक-

---

पदार्थका अन्वय होगा, इसलिए पदकी सामान्यतः अन्य पदार्थसे अन्वित स्वार्थमें ही शक्ति माननी चाहिए, कार्यान्वितमें नहीं माननी चाहिए, क्योंकि कार्यान्वय सर्वत्र अनुगत नहीं है और व्यभिचरित भी है, इस आशयसे व्यभिचार-स्थल दिखलाते हैं—]—यदि कार्यान्वित स्वार्थमें ही शब्दकी सामर्थ्य मानी जाय, तो कार्यरूप पदका वह (कार्यान्वितरूप स्वार्थ) सिद्ध नहीं होगा, कारण कि वहांपर कार्यरूप पदार्थसे अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं है। [जैसे 'गामभ्याज' इत्यादि वाक्यमें गोपदार्थसे अतिरिक्त लोडन्त पदार्थ प्रेरणारूप क्रियाका नियोगात्मक कार्य विद्यमान है, इसलिए उक्त स्थलमें व्यवहित भी क्रियान्वित स्वार्थका सम्भव है, वैसे जहाँ 'कार्यम्' ऐसा पद है, वहां अतिरिक्त पदार्थ कार्य नहीं है, जिससे कि उसके साथ अन्वित होकर कार्यपद अपने स्वार्थका बोध करा सके। कार्यमें वाचकरूप दो पद हैं—एक कृधातु और दूसरा ण्यत्‌रूप कृत्य प्रत्यय इन दोनोंका कार्य ही अर्थ है, इसलिए परस्परान्वित स्वार्थका बोध हो सकता है, ऐसा समझ कर वादी शङ्का करता है—] यदि कहो कार्यपदमें कृधातुका अर्थस्वरूप अतिरिक्त कार्य भी विद्यमान ही है, [नियोगनिर्वाहके लिए धात्वर्थमें कार्यत्वबुद्धि कर्तव्यबुद्धिके निश्चयके बाद ही हो सकती है, इस आशयसे सिद्धान्तीका समाधान है—] तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि नियोगरूप कार्यके साथ अन्वय होनेसे पहले धात्वर्थ कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नियोगस्वरूप कार्यमें साध्यत्वकी सिद्धिके लिए विषयत्वरूपसे धात्वर्थका अन्वय होता है, अनन्तर करणात्मक उस धात्वर्थमें, अनुष्ठानयोग्य होनेसे, कार्यत्व माना जा सकता है, परन्तु नियोगके साथ अन्वय होते समय वैसा नहीं माना जा सकता। [तात्पर्य यह है कि 'यजेत' इत्यादि स्थलमें लिङादिप्रत्यय द्वारा यागविषय नियोगकी प्रतीति हुई। वह नियोग स्वयं कृतिसाध्य नहीं हो सकता, अतः नियोगमें कृतिसाध्यत्वका निर्वाह करनेके लिए विषयीभूत यजादिधात्वर्थरूप यागादिमें कृति-

स्मिन् कार्यपदे व्यभिचारभयेन बहूनां पदानामव्यभिचरितकार्यान्वितार्थत्वहानमयुक्तमिति वाच्यम् , तथा सत्यर्थगतप्रमाणान्तरग्राह्यत्वस्याऽप्यव्यभिचारितया शब्दसामर्थ्यविषयत्वप्रसङ्गात् । अथोच्येत--अनन्यथा-

---

साध्यत्व माना जाता है । इस रीतिसे जबतक यागका विषयत्वरूपसे नियोगमें अन्वय नहीं होता, तबतक यागमें कृतिसाध्यत्वरूप अनुष्ठेयत्वकी सिद्धि ही नहीं हो सकती, फिर वह कृतिसाध्यरूप कार्य कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि वह तो नियोगविषय होनेसे सिद्ध ही है । और नियोगका तो कार्यत्व-बुद्धिविषयताशून्य शुद्ध धात्वर्थमात्रसे अन्वय होता है, कार्यबुद्धिमें विषय हुए धात्वर्थसे नहीं होता, क्योंकि धात्वर्थभूत यागादि पदार्थमें कर्तव्यबुद्धि तो नियोगमें अन्वय होनेपर ही होती है । इससे यह भी नहीं कह सकते कि नियोगके अनन्तर अन्वय हो जानेपर कार्यबुद्धि होती ही है, अतः कार्यान्वय बन ही गया, कारण कि हम तो यही कहते हैं कि नियोगके साथ अन्वयकालमें तो कार्यके साथ अन्वय नहीं होता । और दूसरा अन्योन्याश्रय दोष भी आता है—विषयके बिना विषयीका सम्भव नहीं है, अतः धात्वर्थ यागादिरूप विषयमें अन्वयके अनन्तर ही विषयी नियोगकी सिद्धि होगी और नियोगमें धात्वर्थके अन्वयके अधीन ही धात्वर्थमें कार्यत्वकी सिद्धि होगी ।]

शङ्का—[पदका कार्यान्वित ही अर्थ है, ऐसा माननेवालोंका कहना है कि] एक कार्यपदमें व्यभिचार होगा, इस डरसे व्यभिचरित न होनेवाले कार्यान्वित अर्थमें अनेक पदोंकी शक्तिका त्याग करना युक्तिसङ्गत नहीं है ।

समाधान—यदि अधिक स्थलमें व्यभिचरित न होनेवाला अर्थ ही पदोंका अर्थ मान लिया जाय, तो पदोंके स्वार्थमें सर्वदा विद्यमान प्रमाणान्तरग्राह्यत्वरूप अर्थमें भी, (अर्थात् घटादि पदार्थ केवल पदके द्वारा ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाणोंसे भी गृहीत होते हैं) अधिक स्थलोंमें व्यभिचार न होनेसे, शब्दशक्तिके विषयत्वका प्रसङ्ग हो जायगा । [यद्यपि विकल्पवृत्तिसे उपस्थित होनेवाले वन्ध्यापुत्रादि पदार्थोंमें प्रमाणान्तरग्राह्यत्वका व्यभिचार है, तथापि अधिक स्थलमें व्यभिचारशून्य होनेके कारण वादीके मतमें अल्प स्थलका व्यभिचार बाधक न होनेसे उक्त अतिप्रसङ्ग दोषमें कोई बाधक नहीं है ।]

सिद्धान्वयव्यतिरेकबलात् सर्वत्र शब्दवाच्यत्वं कल्पनीयम् , प्रमाणान्तरग्राह्यत्वस्याऽव्यभिचारित्वं तु प्रयोगनिमित्ततयाऽन्यथासिद्धम् ; शब्दप्रयोगो हि प्रमाणान्तरगृहीत एवाऽर्थे सम्भवति नाऽन्यथा । तस्मान्नोक्तप्रसङ्ग इति । तर्हि कार्यस्याऽव्यभिचारित्वमप्यन्यथासिद्धम् । मध्यमवृद्धप्रवृत्तिदर्शनेन हि बालस्य व्युत्पत्तिर्भवति । न च कार्यज्ञानेन विना मध्यमवृद्धप्रवृत्तिः, अतः *प्रवृत्तिरूपलिङ्गदर्शनहेतुकार्याव्यभिचारस्याऽन्यथासिद्धेर्न कार्यस्य

शङ्का—यदि वादीका कहना हो कि अन्यथासिद्धिसे शून्य अन्वय और व्यतिरेकके आधारपर ही सर्वत्र शब्दके वाच्य अर्थकी कल्पना की जाती है और प्रमाणान्तरग्राह्यत्वरूप अर्थमें व्यभिचारका न आना तो उसकी प्रयोगमें निमित्तता होनेसे ही अन्यथासिद्ध है । [अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा अर्थज्ञान प्राप्त करके शब्दप्रयोग किया जाता है, अतः अर्थमें गृहीत तथा अव्यभिचरित प्रमाणान्तरगम्यत्व तो प्रयोगमें ही पुरुषको प्रवृत्त करा देनेमें उपयुक्त हो जाता है, उसमें शब्दसामर्थ्यका विषय होनेतक बल ही नहीं रह जाता, अतः प्रयोग द्वारा अन्यथासिद्ध हो जाता है ।] कारण कि शब्दोंका प्रयोग तो प्रमाणान्तरोंसे ज्ञात अर्थमें ही हो सकता है, अन्यथा नहीं होता । [अर्थात् ज्ञात पदार्थोंका ही बोध करानेके लिए शब्दोंका प्रयोग होता है, अज्ञात पदार्थोंके लिए शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकता] इसलिए उक्त अतिप्रसङ्ग (प्रमाणान्तरगम्यत्वरूप अर्थमें शब्दसामर्थ्यविषयत्वरूप दोषका होना) नहीं बन सकता ।

समाधान—तब तो कार्यका भी व्यभिचारसे शून्य होना अन्यथासिद्ध है । [कार्यकी अन्यथासिद्धि दिखलाते हैं—] मध्यम वृद्धकी (जिसको काम करनेकी आज्ञा दी गई है, उसकी) प्रवृत्तिको देखनेसे ही बालकको व्युत्पत्ति (शब्दके अर्थका ज्ञान) होती है । और कार्यज्ञानके बिना मध्मम वृद्धकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती । [अर्थात् यदि काम करनेवालेको कामका ही पता न हो, तो वह करेगा ही क्या ? इस दशामें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, परन्तु बालक उसको काम करते देखता है,

---

* 'प्रवृत्तिरूपलिङ्गदर्शनहेतुकार्याव्यभिचारस्य' इस पदमें प्रवृत्तिरूपं यत् लिङ्गम्, तस्य दर्शनम्, तत्र हेतुर्यः कार्यस्य अव्यभिचारस्तस्य—ऐसा समास है । प्रवृत्तिसे

सर्वपदसामर्थ्यविषयत्वम् । एवं च सति देवदत्तो भुक्त्वा निर्गत इत्येवमादिभिः कार्यशून्यैरपि वाक्यैर्लोके प्रतीयमानाऽर्थप्रमितिरुपपद्यते । न च कार्यरहितस्थले कथं व्युत्पत्तिरिति वाच्यम्, निघण्टुव्याकरणोपदेशैरपि व्युत्पत्तिसम्भवात् । तस्मात् कार्यमनपेक्ष्याऽन्यान्वितस्वार्थं पदान्यभिदधति ।

नन्वन्विताभिधानाङ्गीकारे गोशब्द आनयनबन्धनाद्यनेकप्रतियोगिकान्वयवत्स्वार्थमभिदध्याद् आनयशब्दश्च गवाश्वाद्यनेकप्रतियोगिकान्वयवत्स्वार्थम् । तथा च गामानयेति वाक्यस्याऽर्थो व्यवस्थितो न

इसलिए उसको निश्चय होता है कि कार्यज्ञान इसको अवश्य हुआ है ।] इससे प्रवृत्तिरूप लिङ्गदर्शनमें कारणीभूत कार्यके अव्यभिचारकी (अन्वय-व्यतिरेककी) अन्यथासिद्धि होनेसे कार्य सम्पूर्ण पदोंकी सामर्थ्यका (शक्तिका) विषय है, ऐसा नहीं बन सकता । कार्यमें पदोंकी शक्तिका विषयत्व न होनेसे ही कार्यमें तात्पर्य न रखनेवाले 'देवदत्त भोजन करके चला गया' इत्यादि वाक्योंसे भी लोकमें प्रतीयमान अर्थकी प्रतीति देखी जाती है । यदि कहो कि जहां कार्यशून्य वाक्य हैं, वहाँ अर्थप्रतीति नहीं होती, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, कारण कि निघण्टु (वैदिककोश—या साधारण कोश) तथा व्याकरण आदि शास्त्रोंके उपदेशोंसे भी व्युत्पत्ति (अर्थप्रतीति) हो सकती है । इसलिए कार्यकी अपेक्षा न करके केवल अन्य पदार्थोंसे अन्वित स्वार्थका ही पद अभिधान (शक्ति द्वारा बोध) करते हैं ।

शङ्का—अन्विताभिधानके माननेमें 'गो' शब्द अपनी अभिधाशक्तिके द्वारा आनयन, बन्धन आदि अनेक अर्थोंके अन्वयसे युक्त ही स्वार्थका बोध करावेगा तथा 'आनय' शब्द भी गाय तथा अश्व आदि अनेक पदार्थोंके साथ अन्वित ही अर्थका बोध करावेगा, इस परिस्थितिमें 'गाय ले आओ' इस वाक्यका अर्थ व्यवस्थित नहीं होगा [अर्थात् उक्त वाक्यमें आनयना-

---

ही कार्यके अन्वय तथा व्यतिरेकका अनुमान होता है, इसलिए प्रवृत्ति ही कार्याव्यभिचारका अनुमापक लिङ्ग है । जैसे धूम वह्निका अनुमापक है और धूमदर्शनमें हेतु वह्निका अव्यभिचार—अन्वयव्यतिरेक—है, वैसे ही प्रवृत्तिरूप लिङ्गके दर्शनमें हेतु कार्यका अव्यभिचार है ।

स्यादिति चेद्, मैवम्; गोशब्दार्थान्वयप्रतियोगिविशेषमानयशब्दो नियच्छति तथाऽऽनयशब्दार्थान्वयप्रतियोगिविशेषं गोपदमिति पदद्वय-बलाद्वाक्यार्थव्यवस्थासिद्धेः। नन्वेवमपि गोपदस्याऽऽनयनसंसृष्टगोत्वमर्थः। आनयपदस्याऽपि गोत्वसंसृष्टमानयनमित्यर्थाधिक्याभावात् पदद्वयस्य पर्या-यता स्यादिति चेद्, मैवम्; नहि गामिति पदमात्रादानयनान्वितत्वं गोः प्रतीयते आनयेति वा पदमात्रादानयनस्य गवान्वितत्वं किन्तु पदद्वयेन परस्परान्वितत्वं प्रतीयते, अतो नोक्तदोषः।

न्वित स्वार्थ ही गोपदका अर्थ है, ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती, जब कि गोपदका अनेक पदार्थान्वित स्वार्थ है]।

समाधान—उक्त दोष नहीं आ सकता, कारण कि गोपदार्थके साथ अन्वित होनेवाले पदार्थका नियमन (व्यवस्थापन) आनयपद कर देता है। एवं आनयन पदार्थके साथ अन्वयको प्राप्त होनेवाले पदार्थकी व्यवस्था गोपद करता है, इसलिए गो और आनयन—इन दोनों पदोंके कारण वाक्यार्थकी व्यवस्था बन जाती है। इस प्रकार व्यवस्था बन जानेपर भी शङ्का रह जाती है कि गोपदका आनयनसे सम्बद्ध गोत्व ही (गोपदार्थ) अर्थ है और आनयपदका भी गोपदके स्वार्थसे सम्बद्ध आनयनरूप अर्थ है, यों दोनों पदोंका ('गो' पद और 'आनय' पदका) एक दूसरेके अर्थसे अतिरिक्त अधिक अर्थ न होनेसे उन्हें पर्याय मानना पड़ेगा। उत्तर देते हैं कि उक्त शङ्का नहीं हो सकती, कारण कि केवल गोपदके श्रवणमात्रसे आनयनयुक्त गोपदार्थकी प्रतीति नहीं होती और न केवल आनयपदसे ही गोपदार्थसे अन्वित आनयनकी प्रतीति होती है, किन्तु दोनों पदोंके रहनेसे ही एक दूसरे अर्थसे अन्वित पदार्थकी प्रतीति होती है; इसलिए उक्त दोष नहीं आ सकता *।

---

* पर्यायस्थलमें स्वतन्त्र एक एक शब्द ही प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण स्वार्थका बोध करा देते हैं, इसलिए सब पर्याय शब्दोंका प्रयोग एक साथ प्राप्त नहीं होता। प्रकृतमें इसके विपरीत दोनों पदोंके रहनेसे ही परस्परान्वित अर्थका बोध होता है, केवल एक-एक पदके प्रयोगसे नहीं, इसलिए दोनों पदोंके अर्थमें प्रत्येकके अर्थसे भेद सिद्ध ही है।

ननु गोशब्दोच्चारणे कृते गवाकृतिरेव किमिति प्रतीयते न सामर्थ्य-विषयीभूतं सर्वमिति । अव्यभिचारात्संस्कारभूयस्त्वाद्गवाकृतेरितरेषां व्यभिचारादिति ब्रूमः । ननु गोशब्देनाऽऽनयशब्देन च पूर्वापरीभावादर्थभेद इति वाच्यम्, आहिताग्न्यग्न्याहितशब्दयोरप्यर्थभेदप्रसङ्गात् ।

[यदि अन्यसे अन्वित पदार्थमें पदोंकी शक्ति मानी जाय, तो स्वेतरयावत्पदार्थजात (अपने स्वार्थसे अतिरिक्त सभी अन्य पदार्थ) पदकी शक्तिके विषय हो जायँगे, इस रीतिसे आनयनादिके साथ अन्वयकी प्रतीतिका भी गो आदि पद द्वारा सम्भव होनेके कारण गो और आनय आदि पद समानार्थक होनेसे पर्याय हो जायँगे, ऐसी आशङ्का करते हैं—]

गोशब्दके उच्चारण करनेसे केवल गायका ही आकारविशेष प्रतीत क्यों होता है ? गोपदकी शक्तिके विषय अन्य सकल पदार्थ प्रतीत क्यों नहीं हो जाते ? [जिससे कि पर्याय होनेका दोष निवृत्त हो सके ।]

समाधान—गायकी आकृतिके उपस्थित होनेमें कारण संस्कारका आधिक्य है और गोपदार्थमें उसका व्यभिचार भी नहीं है, इतर सम्पूर्ण पदार्थोंके साथ तो व्यभिचार विद्यमान है, * ऐसा हम कहते हैं। गोशब्द और 'आनय' शब्दको ('गामानय' 'आनय गाम्' इस प्रकार) आगे पीछे बदल कर उसका प्रयोग करनेसे अर्थके परिवर्तनकी भी आशङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि इस प्रकारका परिवर्तन करनेसे तो आहिताग्नि और अग्न्याहित— इन दोनों पदोंके अर्थमें भी भेद (परिवर्तन) हो जायगा ।†

---

* 'गामानय' या 'गां बधान' इत्यादि भिन्न-भिन्न वाक्योंमें गायका आकार तो एक-सा सर्वत्र अन्वित है, उसमें व्यभिचार नहीं है; पर आनयन या बन्धन परस्पर व्यभिचरित हैं, अतः एक दूसरे वाक्यमें एक दूसरे अर्थका अभाव है ।

† 'आहिता अग्नयो येन' 'जिसने अग्निका आधान किया हो' इस बहुव्रीहि समासमें 'आहित' पदका, निष्ठान्त होनेसे, पूर्वप्रयोग नियमतः प्राप्त था, परन्तु 'वाहिताग्न्यादिषु' इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार आहितपदका पूर्वप्रयोग करनेमें विकल्प हो जाता है । इसलिए आहिताग्नि तथा अग्न्याहित, यों दोनों प्रकारका प्रयोग होता है, परन्तु अर्थ दोनों प्रयोगोंसे एक ही प्रतीत होता है, उसमें अग्नि तथा आहितका पूर्वप्रयोग करनेसे कोई भेद नहीं आता, एवं 'गामानय' (गाय लाओ) अथवा 'आनय गाम्' (ले आओ गाय) ऐसा बदल कर प्रयोग करनेपर भी अर्थभेदका प्रसङ्ग नहीं आ सकता, यह भाव है ।

ननु गोशब्देन गोत्वेऽभिहिते तत्संसृष्टमानयनमितरेणाऽभिधीयते तथाऽऽनयशब्देनाऽऽनयनेऽभिहिते तत्संसृष्टं गोत्वं गोशब्देनाऽभिधीयत इत्यन्योन्याश्रयत्वमिति चेद् , नैष दोषः; तत्तत्पदश्रवणदशायां स सोऽर्थः प्रतीयते अन्त्यपदोच्चारणानन्तरं च युगपत्सर्वपदानि स्मर्यमाणानि सम्भूय स्वार्थान् पूर्वमभिहितानेवाऽन्योन्यसंसृष्टतया प्रतिपादयन्ति। तथा च कुत इतरेतराश्रयता। तदुक्तं शालिकनाथेन—

'पदजातं श्रुतं सर्वं स्मारितानन्विताथकम्।
न्यायसम्पादितव्यक्ति पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम् ॥' इति ॥

न चैवमभिहितान्वयवादार्थादविशेषप्रसङ्गः, अभिहितान्वयवादे

शङ्का—गोशब्द द्वारा उसके अर्थभूत गोत्वकी (आकारविशेष गोस्वरूपकी) प्रतीति होनेके अनन्तर गोत्वसे अन्वित आगमनकी प्रतीति होती है एवं आनयशब्दसे आनयनरूप अर्थका अभिधान होनेपर आनयनसे अन्वित गोत्वरूप अर्थकी प्रतीति होती है, इस रीतिसे अन्योन्याश्रय दोष आनेका प्रसङ्ग होता है।

समाधान—उक्त दोष देना उचित नहीं है, कारण कि गो आदि तत्–तत् पदके श्रवणसे गोत्व आदि तत्–तत् अर्थ प्रतीत होता है, अन्तिम (वाक्यमें अन्त्य) पदके सुननेके अनन्तर ही सम्पूर्ण पूर्वोच्चरित एक साथ स्मृतिमें आये हुए पद मिलकर पदश्रवणकालमें आभिहित ही अपने अपने अर्थोंका, एक दूसरे पदार्थके साथ अन्वितरूपसे, प्रतिपादन करते हैं। इस परिस्थितिमें अन्योन्याश्रय दोषका प्रसङ्ग ही कैसे हो सकता है? यही बात शालिकनाथने भी कही है—

'सम्पूर्ण पद श्रवणगोचर होते हुए अनन्वित 'केवल' स्वार्थके स्मारक होते हैं, अनन्तर याने अन्तिम पद श्रवणके पश्चात् आकाङ्क्षादि वाक्यन्यायोंसे एक ही स्मृतिमें व्यक्त हुए सम्पूर्ण पद संसर्गरूप वाक्यार्थके बोधक होते हैं अर्थात् अन्तिम पदके श्रवणके अनन्तर होनेवाली स्मृतिमें आरूढ़ पद परस्पर अन्वित अर्थके बोधक होते हैं'।

यदि शङ्का हो कि उक्त रीतिके अनुसार अन्विताभिधानवादमें अभिहितान्वयवादकी अपेक्षा वैलक्षण्यकी सिद्धि ही नहीं होगी [अर्थात् अभि-

हि पदानि पदार्थानभिधायोपक्षीयन्ते पदार्थेभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तिः। अन्विताभिधानवादे तु पदानामेव वाक्यार्थप्रतिपादकत्वमिति विशेषः। तस्मादन्विताभिधानवादे दोषाभावात् फलितो द्रुम इत्यादिकार्यशून्यवाक्यप्रयोगाणां च लोके भूयसामुपलम्भाद्वेदेऽपि 'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः' 'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यादिकार्यरहितवाक्यानामुपलम्भादन्यान्वितस्वार्थमात्रे शब्दसामर्थ्यं सिद्धम्। यद्यपि तेषु वेदवाक्येषु कर्त्तव्य इति पदमध्याह्रियते तथाऽपि न वाक्यार्थप्रतिपत्तिसिद्धये तदध्याहारः, अन्तरेणाऽप्यध्याहारं तत्प्रतिपत्तेः। किन्तु अपूर्वार्थद्रव्यदेवतासम्बन्धावगमाधीनस्तदध्याहारः।

हितान्वयवादके समान इस मतमें भी श्रवण कालमें पदोंका अनन्वित ही स्वार्थ प्रतीत होता है, इससे कोई वैलक्षण्य नहीं आया, यह भाव है], तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि अभिहितान्वयवादमें पदार्थोंका अभिधान करके पद सामर्थ्यहीन हो जाते हैं, अनन्तर पदोंके द्वारा उपस्थित हुए पदार्थ वाक्यार्थका ज्ञान कराते हैं। और अन्विताभिधानवादमें तो इसके विपरीत पद ही वाक्यके अर्थका प्रतिपादन करते हैं, यों दोनों मतोंमें भेद है, अतः अन्विताभिधानवादमें दोषका अभाव है और 'फला हुआ वृक्ष' इस प्रकार लोकमें कार्यरहित वाक्योंके अनेक प्रयोग पाये जाते हैं तथा वेदमें भी 'वषट्कार करनेवालेका प्रथम भक्ष' एवं 'इसलिए सूर्यका भाग प्रपिष्ट' इत्यादि अर्थवाले कार्यशून्य वाक्य उपलब्ध होते हैं, इससे केवल अन्यान्वित स्वार्थमें पदकी शक्ति सिद्ध होती है। यद्यपि ऊपर कहे गये वेदवाक्योंमें 'कर्तव्य' पदका अध्याहार किया जाता है, [इससे उक्त वाक्योंका 'वषट्कर्ताके लिए प्रथम भक्ष करना चाहिए' और 'सूर्यका भाग प्रपिष्ट करना चाहिए', इस अर्थमें तात्पर्य होनेके कारण वे नियोगशून्य नहीं माने जा सकते] तथापि वाक्यार्थबोधकी सिद्धिके लिए उक्त पदका अध्याहार नहीं किया जाता, कारण कि अध्याहारके बिना भी वाक्यार्थबोधकी सिद्धि हो जाती है [अर्थात् नियोगबोधक 'तव्य' आदिके बिना भी सिद्ध पदार्थोंके परस्पर अन्वयका बोध होनेमें कोई बाधा नहीं है], किन्तु अपूर्वोत्पत्तिके प्रयोजक द्रव्य तथा देवताके सम्बन्धकी प्रतीतिके बलपर 'कर्तव्य' पदका अध्याहार है।*

---

* अर्थात् वषट्कारकके साथ प्रथम भक्षका सम्बन्ध प्रमाणान्तरसे अप्राप्त होनेके कारण अपूर्व

यत्तु वृद्धव्यवहारानुसारिणा सूत्रकारेणैव कार्यान्वितस्वार्थे शब्दसामर्थ्यं दर्शितम्—'तद् भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इति, तत्र धर्मजिज्ञासोपक्रमात् प्रकृतोपयोगितया क्रियार्थतेत्युक्तम्, न तु सिद्धार्थे सामर्थ्याभावाभिप्रायेण, यतो भाष्यकारेणैव गुणगुण्यादीनां विशेषणविशेष्यादिभावेन समन्वयो दर्शितः। यदि जैमिनीयसूत्रं सिद्धार्थे शब्दसामर्थ्याभावपरं

शङ्का—वृद्धव्यवहारका अनुसरण करके सूत्रकार जैमिनिमुनिने ही 'तद् भूतानाम्'—'पूर्वोक्त निष्कर्षके अनुसार सिद्ध पदार्थोंका समाम्नाय—कथन—कार्यके ही निमित्तसे होता है' इत्यर्थक सूत्र द्वारा कार्यान्वित स्वार्थमें पदोंकी शक्ति दिखलाई है।

समाधान—सूत्रकारने उक्त सूत्रमें क्रियार्थपद इसलिए दिया है कि वहाँ धर्मजिज्ञासाका उपक्रम (प्रकरण) होनेसे प्रकृत धर्मजिज्ञासाका वह उपयोगी है, * सिद्ध पदार्थोंका अभिधान करनेमें पदोंकी शक्ति ही नहीं है, इस अभिप्रायसे नहीं दिया गया है, [अर्थात् उक्त सूत्रमें प्रस्तावोपयोगी क्रियार्थपद देनेका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि पदोंका स्वार्थ सिद्धस्वरूप अर्थ नहीं है,] कारण कि जैमिनिमुनिके सूत्रोंके व्याख्याता भाष्यकार शबरस्वामीने गुण तथा गुणी (द्रव्य) आदिका विशेष्यविशेषण आदि भावसे समन्वय दिखलाया है †। यदि आग्रहवश जैमिनिके सूत्रका तात्पर्य सिद्ध (भूत) अर्थमें पदोंकी शक्तिके अभावके बोधनमें ही है, ऐसी कल्पना की जाय, तो

है। तथा प्रपिष्ट भागके साथ सूर्य देवताका सम्बन्ध अपूर्व है, इस प्रकार उक्त वाक्योंका समन्वय होनेसे 'कर्तव्य' पदका अध्याहार है, इसके विपरीत 'कर्तव्य' पदका अध्याहार करनेके अनन्तर उक्त वाक्योंके प्रदर्शित अर्थमें तात्पर्यका निर्णय नहीं किया जाता, इसलिए सिद्ध अर्थोंका अन्वय सम्भव है।

* चोदनात्मक साध्यरूप धर्मके निरूपणके प्रस्तावमें सिद्ध पदार्थोंका कथन क्रियानिमित्त ही माना जा सकता है, अन्यथा साध्यनिरूपणके प्रस्तावमें सिद्धका निरूपण करना व्यर्थ हो जायगा।

† 'शुक्लः पटः' या 'खण्डो गौः' इत्यादि वाक्योंमें शुक्ल पट तथा खण्ड गो आदिका विशेष्यविशेषणभाव दिखलाकर ही पदार्थोंका अन्वय किया गया है; किसी क्रियामें अन्वय करके पदार्थोंका समन्वय नहीं किया गया है। भाष्यकारके साथ उक्त प्रकारसे सिद्ध पदार्थोंका समन्वय करनेसे सूत्रविरोध भी नहीं है, कारण कि सूत्रमें प्रसङ्गसे दिया गया क्रियार्थपद सिद्ध पदार्थोंमें समन्वयके अभावका बोधन नहीं कर रहा है।

कल्प्येत तदानीमखण्डैकरसे ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयप्रतिपादकानि बादरायणसूत्राणि विरुध्येरन् ।

ननु 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादिवेदान्तेषु प्रातिपदिकार्थानामेकरसब्रह्मपरतयाऽन्वयेऽपि प्रथमाविभक्त्यर्थस्य कारकतयाऽन्वये सति कथमखण्डैकरसत्वसिद्धिरिति चेद्, नः पाणिनिना प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तेः स्मरणात् । तत्र लिङ्गसंख्यादयस्त्वर्थात् प्रतीयमाना अपि 'प्रज्ञानघन एव' इत्यादिश्रुतिविरोधादनिर्वचनीया भविष्यन्ति । ननु

अखण्ड, एकरस तथा सिद्धस्वरूप ब्रह्ममें वेदान्तके (उपनिषत्के) वाक्योंके तात्पर्यका वर्णन करनेमें प्रवृत्त व्यासमुनि द्वारा रचित वेदान्तसूत्रोंसे विरोध आ जायगा । [अर्थात् जैमिनिसूत्र तो वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य कार्यमें सिद्ध करेंगे और व्यासमुनिके सूत्र ब्रह्ममें सिद्ध करेंगे, इस प्रकार उनका परस्पर विरोध हो जायगा, अतः सिद्ध अर्थमें भी पदोंकी सामर्थ्य मानना उचित है ।]

शङ्का—यद्यपि 'सत्यं ज्ञानम्'—(सत्य—त्रिकालाऽबाधित—ज्ञान—नित्य संवित्—) इत्यादि वेदान्तवाक्योंमें प्रातिपदिकमात्रके अर्थभूत सत्य, ज्ञान आदि पदार्थोंका एकरूप ब्रह्मके तात्पर्यसे अन्वय हो भी सकता है, तथापि इन सत्य, ज्ञान आदि प्रातिपदिकसे आयी हुई प्रथमा विभक्तिके अर्थका तो कारक सम्बन्धसे ही अन्वय होगा, तब अखण्ड, एकरस ब्रह्मकी सिद्धि कैसे होगी ? [प्रथमा विभक्तिका 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' इस अनुशासनके अनुसार कर्ता या कर्मरूप कारक अर्थ होनेसे एकरस ब्रह्म नहीं हो सकता, कारण कि क्रियाविशिष्टको कर्ता तथा क्रियाजन्यफलाश्रयको कर्म कहते हैं] ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है, कारण कि पाणिनिमुनिने प्रातिपदिकके ही अर्थमें प्रथमा विभक्तिका स्मरण किया है * । उस प्रथमान्त पदके प्रयोगस्थलमें यद्यपि लिङ्ग, संख्या आदिरूप अर्थ अर्थतः प्रतीत होते हैं, तो भी 'प्रज्ञानघन' (वह प्रज्ञानघन रूप ही है) इत्यादि श्रुतिसे विरोध होनेके कारण वे अनिर्वचनीय—मिथ्या या आरोपित—ही होंगे ।

---

* 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इस पाणिनिसूत्रसे प्रथमाका प्रातिपदिकके ही अर्थमें विधान किया गया है, स्मरणपदसे पाणिनीय शास्त्र वेदमूलक स्मृतिके समान प्रमाण माना गया है ।

प्रथमान्तप्रयोगेष्वस्तिक्रियाध्याहारं कात्यायनः सस्मार, तथा च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माऽस्तीत्यध्याहारेऽखण्डत्वं भज्येतेति चेद्, मैवम्, 'एते द्रुमाः फलिताः', 'अयं पुरुषो राजकीयः' इत्यादिप्रयोगेषु सम्बन्धमात्रपर्यवसायिष्वस्तिक्रियाध्याहारस्योपयोगाभावाद्यथा नाऽध्याहारस्तथाऽखण्डार्थपर्यवसायिषु वेदान्तेष्वप्यवगन्तव्यम्। किञ्च, क्रियायामत्यन्तभक्तेनाऽपि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिवाक्येषु भूतार्थे समन्वयो वक्तव्यः, क्रियायाश्चाऽत्राऽसम्भवात्, हननाभावस्य

शङ्का—वार्तिककार कात्यायनकी स्मृति है कि प्रथमान्त पदके प्रयोगमें 'अस्ति' क्रियाका अध्याहार होता है। * इसलिए 'सत्य, ज्ञान तथा अनन्त ब्रह्म' इत्यर्थक वाक्यमें भी 'अस्ति' पदका अध्याहार आवश्यक होनेसे ब्रह्मके अखण्डत्वका भङ्ग हो जायगा। [ब्रह्म अस्तिक्रियाका कर्ताकारक है, अतः उसमें क्रियाका वैशिष्ट्य आनेसे एकरसत्वका विघात स्पष्ट ही है, यह भाव है।]

समाधान—उक्त नियम उचित नहीं है, कारण कि 'फलोंसे परिपूर्ण ये वृक्ष' तथा 'राजाका यह पुरुष' इत्यर्थक सम्बन्धमात्रके बोधनमें तात्पर्य रखनेवाले वाक्योंके प्रयोगमें, 'अस्ति' क्रियाके अध्याहारका उपयोग न होनेके कारण जैसे उसका अध्याहार नहीं होता, वैसे ही 'अखण्ड ब्रह्मरूप अर्थके बोधनमें तात्पर्य रखनेवाले वेदान्तवाक्योंमें भी अस्तिका उपयोग न होनेसे अध्याहार नहीं होता, यह समझना चाहिए। [दूसरा भी दोष देते हैं—] क्रियान्वयमें अधिक आदर (आग्रह) रखनेवालेको भी 'ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिए' इत्याद्यर्थक वाक्योंमें सिद्ध पदार्थको मानकर ही समन्वय करना होगा। [उक्त वाक्यसे कोई काम करना प्रतीत नहीं होता, बल्कि कामकी निवृत्ति (निषेध) ही प्रतीत होती है और निषेध क्रियारूप नहीं हो सकता, इस आशयसे कहते हैं—] कारण कि प्रकृतमें क्रियाका होना असम्भव है, क्योंकि हननका (मारनेका)

* 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' इस वार्तिकके अनुसार सर्वत्र प्रथमासे कर्तृकर्म-कारकरूप अर्थका ही बोध होता है और उसीमें अन्वय होता है, यदि अन्य कोई क्रियाविशेषकी प्रतीतिका होना सम्भव न भी हो, तो भी अस्ति, भवति आदि क्रिया अवश्य ही हो सकती है, अतएव प्रथमान्तस्थलमें 'अस्ति' क्रिया अवश्य ही रहती है।

प्राप्तक्रियानिवृत्तिलक्षणत्वात् । न च निवृत्तेः क्रियात्वम्, औदासीन्यरूपत्वात् ।

अत्र प्राभाकर आह—न तावत् प्रतिषेधवाचि नञ्पदं ब्राह्मणेन सम्बध्यते, प्रत्यक्षस्य ब्राह्मणस्य प्रतिषेधायोगात् । नाऽपि धात्वर्थेन हननेन । हन्तृमनसि प्रवृत्ततया हननस्याऽभावासम्भवात् । नाऽपि तव्यप्रत्ययार्थेन फलप्रार्थनया प्रवृत्तिहेतुना कार्यबुद्ध्या वा । त्रिविधस्याऽपि प्रत्ययार्थस्याऽत्र प्रत्यक्षस्य प्रतिषेधानर्हत्वात् । अतो यथा 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यत्रेक्षणविरोध्यनीक्षणसङ्कल्पक्रिया विधीयते तथाऽत्राऽपि

अभाव प्राप्त हुई मारणरूप क्रियाकी निवृत्ति—निषेध—स्वरूप है । और निवृत्ति क्रिया नहीं मानी जा सकती, कारण कि निवृत्ति तो उदासीनता (कुछ न करना) रूप है ।

प्रकृत विषयमें ['ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस वाक्यके शाब्दबोधप्रकारको लेकर] प्रभाकरानुयायियोंका कथन है कि प्रकृत वाक्यमें निषेधवाचक 'नञ्' पदका ब्राह्मणके साथ सम्बन्ध नहीं होता है अर्थात् नञ्पदार्थ निषेध ब्राह्मण पदार्थके साथ अन्वित नहीं होता, कारण कि प्रत्यक्षरूपसे दृश्यमान ब्राह्मणका निषेध करना सम्भव नहीं है । धातुके अर्थभूत मारनारूप क्रियाके साथ भी अन्वय नहीं किया जा सकता, कारण कि हननक्रिया तो हनन करनेवाले कर्ताके मनमें प्रवृत्त हो ही गई है, अतः उसके अभावका बोधन करना तो सम्भव नहीं हो सकता † । एवं तव्यप्रत्ययके अर्थस्वरूप फलप्रार्थनाके साथ अथवा प्रवृत्तिमें हेतुके साथ या कार्यबुद्धिके साथ भी अन्वय नहीं हो सकता, कारण कि उक्त तीनों प्रत्ययार्थोंका प्रत्यक्ष होनेसे निषेध नहीं किया जा सकता । इसलिए जैसे 'उदय होते समय सूर्यका दर्शन न करे' इत्यादि वाक्यमें देखनेके प्रतिकूल देखनेके अभावके सङ्कल्प (मानस क्रिया) करनारूप क्रियाका विधान किया जाता है वैसे ही 'ब्राह्मणका हनन

---

† उक्त वाक्यका प्राप्त हनन क्रियाका अभाव अर्थ माना जाय, तो सङ्गति नहीं होगी, क्योंकि जो क्रिया हन्ताके मनमें प्राप्त हो गई है, उसका अभाव कैसे ? और क्रिया तो उत्पत्ति-विनाश-शालिनी होती है, अतः उसका विनाश स्वतः सिद्ध है ।

रागप्राप्तहननविरोध्यहननसंकल्पक्रिया विधीयत इति ।

तदेतदसारम् , नञ्पदस्याऽभावे मुख्यत्वात् । न च भावान्तरमेवाऽभावः, तथा सत्यभावस्य प्रतियोगिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात् । ननु तदन्यतद्विरोधिनावपि नञ्पदस्याऽर्थौ । तदुक्तम्—

'नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ् प्रतिषेधकः ।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥' इति ॥

नहीं करना चाहिए' इत्यर्थक वाक्यमें भी रागतः प्राप्त हुई हननक्रियाके प्रतिकूल हननाभावके संकल्परूप मानस क्रियाका विधान किया जाता है ।

उक्त प्रकारके प्रभाकरानुयायियोंकी प्रक्रिया युक्तिहीन है, नञ्पद मुख्य शक्तिके द्वारा अभावमें ही सामर्थ्य रखता है । [अर्थात् नञ्पद अभावका ही वाचक है । मीमांसकका सिद्धान्त है कि भावसे अभाव कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है—जैसे घटाभाव भूतल आदि अधिकरणसे, जो कि भाव ही पदार्थ हैं, अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी हननाभाव हनन-विरोधी-संकल्पक्रियारूप भावपदार्थसे अतिरिक्त नहीं है, इसलिए अभावरूप अर्थ माननेमें भी प्रकृत वाक्यका तात्पर्य संकल्पक्रियाके विधानमें हो सकता है, इस आशङ्काका खण्डन करते हैं—] दूसरे भावपदार्थको ही अभाव पदार्थ कहना उचित नहीं है कारण कि अभावको भावपदार्थ माननेसे अभावको प्रतियोगिनिरपेक्ष मानना पड़ेगा । [जैसे घट, पट आदि पदार्थ दूसरेकी अपेक्षाके बिना ही प्रतीत हो जाते हैं, वैसे अभावपदार्थ जिसका अभाव कहना हो, उस प्रतियोगीके ज्ञानके बिना नहीं हो सकता । अब यदि अभाव भी घट-पटके समान भाव पदार्थ होगा, तो घट, पटके समान प्रतियोगीसे निरपेक्ष हो जायगा ।]

शङ्का—नञ्पदका अभाव ही मुख्य अर्थ नहीं है, किन्तु उससे अन्य (भेद) और उसका विरोधी (विरोध) भी नञ्का अर्थ है ।

कहा है—'नाम (प्रातिपदिक) तथा धातुके साथ सम्बन्ध रखनेवाला नञ् प्रतिषेधका (निषेधका) बोधक नहीं होता । जैसे 'अधर्म' पदमें धर्मरूप प्रातिपदिक अर्थके साथ अन्वयको प्राप्त करनेवाला नञ्पद धर्मविरोधीका बोधक है, धर्मके अभावका नहीं । एवं 'नेक्षत' यहांपर धातुके साथ योग होनेसे

मैवम्, तत्र नञ्पदस्य लाक्षणिकत्वात्। अन्यथाऽनेकार्थत्वस्याऽन्याय्यस्य प्रसङ्गात्। नेक्षेतेत्यत्र तु प्रजापतिव्रतप्रकरणत्वात् तदनुसारेण लाक्षणिकोऽपि विध्यर्थोऽनुष्ठेयव्रतलाभाय स्वीकृतः। न चाऽत्र तथा मुख्यमभावं परित्यज्य लाक्षणिकार्थस्वीकारे किञ्चित् कारणमस्ति। न च हननाभाव एवाऽनुष्ठेय इति वाच्यम्, अनादेः प्रागभावस्य तदयोगात्। अन्यथा विधिप्रतिषेधविभागव्यवहारो लौकिको न सिध्येत्।

ईक्षणविरोधी सङ्कल्पक्रियाका बोध होता है, ईक्षणके अभावका नहीं, स्वयं दृष्टान्त देते हैं—] अब्राह्मण और अधर्म शब्द क्रमशः केवल ब्राह्मणभिन्न तथा धर्मविरोधीरूप अर्थका ही 'नञ्' पद द्वारा बोध कराते हैं।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं है, कारण कि वहाँ नञ्पदका भेद और विरोधरूप अर्थ लाक्षणिक है [अर्थात् उक्त अर्थोंमें नञ् पदकी लक्षणा है मुख्य शक्ति नहीं है]। अन्यथा अन्याय्यत्वरूप अनेकार्थत्वका प्रसङ्ग आ जायगा। [तात्पर्य यह है कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि वाक्योंका असन्दिग्ध अर्थका प्रतिपादक होना आवश्यक है, इसलिए ऐसे वाक्योंमें अनेक अर्थके प्रतिपादक पदोंका आना न्यायसंगत नहीं है; क्योंकि अनेकार्थक शब्दोंके रहनेसे निर्णयके विपरीत संदेह ही रह जाता है।] 'उदय होते हुए सूर्यको न देखे' इत्यर्थक 'नेक्षेत' इत्यादि वाक्यमें तो प्रजापतिव्रतका प्रकरण होनेसे उसके अनुकूल लक्षणासे प्राप्त हुए भी ईक्षणविरुद्ध संकल्पात्मक क्रियाका विधानरूप अर्थ, अनुष्ठानके योग्य व्रतकी सम्पत्तिके लिए, मान लिया जाता है। प्रकृत वाक्यमें ('ब्राह्मणं न हन्यात्' इत्यादिमें) कोई वैसा कारण नहीं है; जिसके आधारपर अभावरूप मुख्य अर्थका परित्याग करके लाक्षणिक अर्थ—(विरोधी हननप्रतिकूल संकल्परूपक्रियाका) स्वीकार किया जाय। और हननका अभाव ही अनुष्ठानका विषय है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अनादि अजन्य प्रागभावका अनुष्ठान करना सम्भव नहीं है। [जन्य ही पदार्थ क्रियासाध्य हो सकता है] और क्रियासाध्य ही अनुष्ठेय होनेके योग्य हो सकते हैं। यदि अनादि प्रागभाव भी अनुष्ठानयोग्य मान लिया जाय, तो लोकसिद्ध विधि और निषेधके विभागका व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकेगा।

---

* लोकमें 'घटं कुरु' इत्यादि नञ्रहित लोडन्तप्रयोगघटित वाक्योंमें अनुष्ठानयोग्य

ननु नञ्पदार्थस्य धात्वर्थेनाऽन्वये सति हि हननप्रागभावोऽत्राऽर्थो भवति। न च तदन्वयः सुलभः, प्रकृत्यर्थस्योपसर्जनत्वात्। अतः प्रधानेन प्रत्ययार्थेन नञर्थस्याऽन्वयो वाच्य इति चेद्, एवमपि नञ्पदस्य नाऽत्र प्रतिषेधपरत्वमपैति। तव्यप्रत्ययो हि विधिं ब्रूते। विधिर्नामेष्ट-साधनम्। ततश्च हननस्य यदिष्टसाधनत्वं पामरदृष्टिसिद्धं पुरुषस्य प्रवर्त्तकं तदेव तव्यप्रत्ययेनाऽनूद्य प्रतिषिध्यते—ब्राह्मणहननमिष्टसाधनं न भवतीति।

शङ्का—नञ्पदार्थस्वरूप अभावका धातुके अर्थ हननके साथ अन्वय होनेके अनन्तर ही प्रकृतमें हननके प्रागभावकी प्रतीति होना सम्भव है, परन्तु वैसा अन्वय (धात्वर्थके साथ नञर्थका अन्वय) हो नहीं सकता, कारण कि प्रकृति ('हन्तव्यः' पदमें तव्यप्रत्ययकी प्रकृति हन्—धातु) प्रत्ययार्थके प्रति उपसर्जन—विशेषणरूप—गौण—हो गई है। [एक पदार्थके साथ दूसरे पदार्थका अन्वय करनेमें व्युपत्ति है 'पदार्थः पदार्थेनाऽन्वेति' अर्थात् पदका प्रधान अर्थ दूसरे पदके प्रधान अर्थके साथ अन्वयको प्राप्त होता है, इस नियमके अनुसार विशेषणभूत धात्वर्थमें नञर्थका अन्वय नहीं हो सकता।] इसलिए प्रकृतमें * प्रधानीभूत प्रत्ययके अर्थके साथ ही नञर्थ अभावका अन्वय करना होगा।

समाधान—इस रीतिसे प्रधानीभूत प्रत्ययार्थके साथ नञर्थका अन्वय करनेपर भी प्रकृत वाक्यमें नञ्पदके अभावरूप अर्थका निषेध नहीं किया जा सकता। [प्रत्ययार्थमें नञर्थके अन्वयका उपपादन करते हैं—] 'तव्य' प्रत्यय विधिका अभिधान करता है। इष्टसाधन ही विधि कहलाती है। जिस हननको साधारण मूर्ख मनुष्योंने इष्टसाधन समझकर प्रवृत्तिका प्रयोजक मान लिया है, उसी हननका 'तव्य' प्रत्ययके द्वारा अनुवाद करके निषेध किया जाता है कि ब्राह्मणहनन इष्टसाधन नहीं हो सकता। [इसलिए

घटादिकृतिकी प्रतीति होनेसे विधिका व्यवहार है। और 'घटं मा कार्षीः' इत्यादि वाक्योंमें निषेधार्थक पदके होनेसे अनुष्ठानके अयोग्य निवृत्तिकी प्रतीति होती है, अतः प्रतिषेधव्यवहार होता है। अभावको भी अनुष्ठान योग्य माननेसे तो निषेधार्थकपदघटित वाक्योंको भी विधि-वाक्य होनेका प्रसङ्ग आ जानेसे लौकिक विधिनिषेधव्यवस्था नहीं बन सकती, सभी वाक्य विधिपरक ही हो जायंगे।

* प्रकृतिप्रत्ययौ 'सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्' प्रकृति (जिससे प्रत्ययका विधान हो) और प्रत्यय—इन दोनोंके अर्थमें प्रत्ययार्थ प्रधान होता है, ऐसा नियम है।

न च प्रत्यक्षमिष्टसाधनत्वमिति वाच्यम्, अदृष्टाविरोधिदृष्टप्रयोजनस्येष्टशब्दार्थत्वात्। हननस्य चाऽदृष्टविरोधित्वात्। नन्विह वाऽमुत्र वाऽनर्थहीनः पुरुषार्थः प्रपञ्चमध्ये नाऽस्ति, अतश्चाऽदृष्टविरोधिनोऽपीष्टत्वमस्त्विति चेत्, सत्यमेतत्सर्वत्राऽर्थोऽनर्थसंयुक्त इति, तथाप्यर्थाधिकः पुरुषार्थोऽनर्थाधिकोऽपुरुषार्थ इति तद्विभागः। तथा चाऽनर्थाधिक्यादपुरुषार्थभूतं ब्राह्मणहननं मुखतः प्रतिषिध्यते। हननप्रवृत्तिहेतुभूतरागाद्युद्बोधनिमित्तप्रध्वंसोऽनुष्ठेय इति त्वर्थात् प्रतीयते। न चाऽर्थिकोऽर्थो

वह हनन प्रवृत्तिजनक भी नहीं हो सकता।] और इष्टसाधनरूप प्रत्ययार्थ प्रत्यक्ष है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि अदृष्टसे विरोध न करनेवाला दृष्ट प्रयोजन ही इष्टशब्दका अर्थ माना गया है। [यदि दृष्ट प्रयोजन ही इष्ट मान लिया जाय, तो अगम्यागमनादिरूप निषिद्धके आचरणमें भी इष्टत्वका प्रसङ्ग होगा, इसलिए उसका अदृष्टसे विरोधी न होना भी आवश्यक है, अगम्याका गमन अदृष्टविरोधी है।] प्रकृतमें हनन अदृष्टका विरोधी है।

शङ्का—विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंमें ऐसा एक भी पुरुषार्थ नहीं है, जो यहां अथवा परलोकमें अनर्थसे रहित हो,* इसलिए अदृष्टविरोधीको भी इष्ट मानना चाहिये।

समाधान—यह सत्य है कि सभी पदार्थ अनर्थसे युक्त हैं, फिर भी जिसमें अर्थकी—अभीष्ट फलकी—मात्रा विपुल होगी, वह पुरुषार्थ माना जायगा और जिसमें अनर्थकी मात्रा अधिक होगी, वह पुरुषार्थ नहीं माना जायगा, इस रीतिसे पुरुषार्थ और अपुरुषार्थकी व्यवस्था बन सकती है। उक्त व्यवस्थाके अनुसार अधिक अनर्थप्रद पुरुषार्थभिन्न ब्राह्मणहत्याका शब्द द्वारा साक्षात् निषेध किया जाता है और हत्यामें होनेवाली प्रवृत्तिके कारणीभूत राग आदिके (आदिपदसे द्वेष आदिका ग्रहण समझना चाहिए) उद्बोधके कारणके ध्वंसका अनुष्ठान करना चाहिए,

---

* 'तात्पर्य यह है कि यज्ञादिका अनुष्ठान परलोकके लिए हितकारी अवश्य है, परन्तु इस लोकमें अर्जित धनका उनमें व्यय होनेसे किसी-न किसी अंशमें वे अनर्थकारी हैं ही एवं ऐहिकमात्र तथा आपाततः रमणीय यादृच्छिक उपायोंसे धन कमाना या विषयोपभोग करना परलोकके लिए अनर्थकारी है तथा अगम्यागमन अथवा चौर्य आदि उभयत्र अनर्थकारी हैं, अतः सर्वत्र अनर्थका संसर्ग है।

विधातुं शक्यः, अशाब्दत्वात्। यश्चाऽर्थादर्थो न स चोदनार्थ इति न्यायात्। अतो हननमिष्टं न भवति, किन्त्वनिष्टमित्येतावति शास्त्रेण बोधिते सति हननरागनिमित्तभूत इष्टत्वभ्रमो निरोद्धव्य इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवाऽवगम्यते। नन्वेवमप्यत्र तव्यप्रत्ययेनाऽपूर्वाभिधानादनुष्ठानपरमेवैतद्वाक्यमिति चेद्, न; मानान्तरागम्येऽपूर्वे सम्बन्धग्रहाभावात्।

ऐसा अर्थात् प्रतीत होता है *। [उक्त निमित्तके प्रध्वंसमें अनुष्ठेय होनेके कारण विधिविषयत्व है। इस आशङ्काका निवारण करते हैं—] और अर्थतः सिद्ध हुए अर्थका विधान नहीं बन सकता, कारण कि वह शाब्द (शब्दशक्तिसे उपस्थित किया गया) अर्थ नहीं है। यह नियम है कि जो अर्थ अर्थतः सिद्ध होता है, वह चोदना—विधि—का अर्थ नहीं हो सकता। [प्रकृत वाक्यका किसी विधिमें तात्पर्य नहीं हो सकनेसे शाब्द अर्थ दिखला कर रागनिमित्तके निरोधरूप अर्थकी अर्थात् सिद्धि दिखलाते हैं—] इसलिए ब्राह्मणकी हत्या इष्ट नहीं हो सकती, प्रत्युत अनिष्ट (पुरुषार्थहीन) है, इतने अर्थकी शास्त्र द्वारा प्रतीति होनेपर अन्वय-व्यतिरेक द्वारा प्रतीत होता है कि हननमें प्रयोजक रागके कारणस्वरूप इष्टत्वभ्रमका निरोध करना चाहिए। [जो इष्ट नहीं हैं, किन्तु अनिष्ट हैं, उनको करनेमें हेतुभूत रागके निमित्त इष्टत्वभ्रमका निवारण तो लौकिक अन्वय-व्यतिरेकसे ही सिद्ध होता है।]

शङ्का—उक्त प्रकारको मान लेनेपर भी प्रकृत वाक्यसे 'हन्तव्यः' पदमें विद्यमान विध्यादि अर्थके वाचक 'तव्य' प्रत्ययके द्वारा अपूर्व—नियोगात्मक—अर्थका अभिधान होनेसे अनुष्ठानमें ही इस वाक्यका तात्पर्य मानना उचित होगा।

समाधान—प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाणोंसे प्रतीत न होनेवाले अपूर्वरूप अर्थके साथ शब्दोंके सम्बन्धका ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्र द्वारा ही अपूर्वको

---

* सारांश यह है कि भ्रमवश ब्राह्मणहननमें इष्टत्वबुद्धि हुई है, अतः हननमें प्रवृत्तिके प्रयोजक राग आदिके उद्बोधका जब प्रसङ्ग होगा, तब 'न हन्तव्यः' इत्यादि शास्त्रसे अर्थात् प्रतीत होता है कि प्रवृत्तिजनक रागादिसे प्राप्त हननमें इष्टत्वग्रहका निरोध करना चाहिए।

आगमादेवाऽपूर्वमवगम्य तत्र सम्बन्धग्रहणे बकबन्धप्रयासः स्यात्। क्षणिकस्य यागस्य श्रुतस्वर्गसाधनत्वानुपपत्त्या तदवगतिरिति चेत्, तर्ह्यपूर्वमशब्दार्थः स्यात्; 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' इति नियमात्।

जान करके उस (शास्त्रसे गृहीत) अपूर्वमें यदि शब्दोंके सम्बन्धका ग्रहण करो, तो बगुलाके पकड़नेमें किये जानेवाले परिश्रमके समान व्यर्थ परिश्रमका ही प्रसङ्ग हो जायगा *।

['स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिसे यागमें स्वर्गसाधनताकी प्रतीति होती है। कारणका कार्यसे अव्यवहित पूर्व रहना आवश्यक है, याग तो क्रियारूप है, अतः उत्पन्न होकर वह नष्ट होनेवाला है। ऐसी दशामें उस यागमें कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गके प्रति श्रुतिसे प्रतिपादित कारणत्वकी रक्षा एक अतिरिक्त अपूर्वके बिना हो नहीं सकती, इस आशयसे शङ्का करते हैं--]

शङ्का--क्षणिक यागमें श्रुतिसिद्ध स्वर्गकारणत्वकी अनुपपत्ति हो जायगी, इसलिए अपूर्वकी प्रतीति होती है [इससे श्रुतार्थापत्तिरूप प्रमाणान्तरसे प्रतीयमान अपूर्वका शब्दोंसे भी सम्बन्ध हो जायगा, ऐसा प्रतिपादन करनेमें बकबन्धप्रयासकी समानताका प्रसङ्ग नहीं हो सकता, यह भाव है।]

समाधान—यदि ऐसा माना जाय; तो अपूर्व किसी शब्दका अर्थ ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि शब्दका अर्थ वही माना जाता है, जो दूसरेसे सिद्ध न हो। यदि अन्य प्रकारसे उपलब्ध अर्थको भी शब्दार्थ मानेंगे, तो

* बकन्धप्रयासका स्वरूप यह है कि किसीने पूछा कि बक कैसे बांधा जा सकता है? उत्तरमें अपनी बुद्धिमत्ताका अभिमान रखनेवाला मन्दमति उपाय बतलाता है—'पहले बकके सिरपर मक्खन रखना चाहिए, जब मध्याह्नमें प्रचण्ड सूर्यकी किरणोंसे वह पिघल जायगा तब उसकी बूंदोंसे आखें भर जायंगी फिर वह अनायास पकड़ा जायगा। परन्तु उक्त उपाय उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जबतक बकको पकड़ न लिया जायगा तबतक उसके मस्तकपर कौन मक्खन रखने जायगा? और यदि पकड़ा ही गया, तो उक्त उपाय करनेकी आवश्यकता ही क्या है? ऐसा ही अपूर्ववादीका भी कथन है कि शब्दात्मक शास्त्रोंके द्वारा ही (प्रमाणान्तरसे अगम्य) अपूर्वका बोध करके शब्दोंसे उसका सम्बन्धग्रह कर लो। परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि जब अपूर्वका शब्दसे सम्बन्धबोधन ही नहीं होगा, तब शब्द द्वारा अपूर्वज्ञान कौन करा सकेगा? और उसका ज्ञान होनेके अनन्तर सम्बन्धग्रह करानेकी आवश्यकता ही क्या है? इसलिए उक्त प्रयास व्यर्थ और असङ्गत है।

अन्यथा शरीरेन्द्रियविषयसम्बन्धमन्तरेण स्वर्गासिद्ध्या शरीरादीनामपि प्रत्ययार्थत्वं प्रसज्येत। तदेवं कार्यान्वितस्वार्थ एव शब्दसामर्थ्यमित्यभिनिविशमानेनाऽपि वाक्यानां भूतार्थसमन्वयस्याऽभ्युपेयत्वे किमपराद्धं वेदान्तैः ? न च वेदान्तैरवगतेऽपि ब्रह्मणि विधिमन्तरेण फलाभाव इति शङ्कनीयम्, तत्त्वावगमेनाऽविद्यायां निवर्त्तितायां तत्कृतशरीरादिसम्बन्धनिवृत्तेः फलत्वात्।

कर्मकृतः शरीरसम्बन्धो नाऽविद्याकृत इति चेत्, किमात्मनः कर्म स्वाभाविकं किंवा शरीरकृतम् ? नाऽऽद्यः, चैतन्यस्य क्रियारहितत्वात्। न द्वितीयः, कर्मशरीरयोरन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गात्। कर्मशरीरव्यक्तीनां प्रवाहाङ्गीकारान्नाऽन्योन्याश्रय इति चेत्, तर्ह्यन्धपरम्परा प्रसज्येत। बीजा-

---

शरीर, इन्द्रिय एवं विषयके साथ सम्बन्धके बिना स्वर्गकी सिद्धि न हो सकनेसे शरीर आदिको भी प्रत्ययार्थ मानना पड़ेगा, [इसलिए अर्थापत्तिसे प्रतीयमान अर्थ शाब्द अर्थ नहीं माना जा सकता]। इस प्रकार उक्त निर्णयके अनुसार कार्यान्वित स्वार्थमें ही शब्दसामर्थ्य माननेके अभिमानीको भी यदि 'न हन्तव्यः' इत्यादि वाक्योंका सिद्धस्वरूप स्वार्थमें समन्वय अभिप्रेत है, तो वेदान्तवाक्योंने कौन-सा अपराध किया ? [जिससे कि उनका तात्पर्य ब्रह्मरूप वस्तुके प्रतिपादनमें न माना जाय।] वेदान्तवाक्योंके द्वारा ब्रह्मकी प्रतीति होनेपर भी विधिके बिना उसका प्रयोजन नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि ब्रह्मरूप तत्त्वकी प्रतीतिके द्वारा अविद्याकी—अज्ञानकी—निवृत्ति हो जानेसे उसके (अविद्याके) द्वारा उत्पन्न हुए शरीरादिसम्बन्धकी निवृत्तिरूप फल (प्रयोजन) विद्यमान है।

शरीरसम्बन्ध तो कर्मोंके द्वारा होता है, अविद्यासे नहीं होता, ऐसी शङ्का यदि की जाय, तो विकल्प उठते हैं कि आत्माका कर्म सच्चा याने स्वभावसिद्ध है ? या शरीरके द्वारा है ? इनमें प्रथम कल्पको नहीं मान सकते, कारण कि चैतन्यस्वरूप आत्मा क्रियासे रहित है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि इस पक्षको माननेसे कर्म और शरीरमें अन्योन्याश्रय दोषका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि कहो कि शरीर और कर्मका प्रवाह मानते हैं, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं हो सकता, तो यह भी नहीं कह सकते, कारण कि अन्धपरम्पराका प्रसङ्ग हो जायगा।

ङ्कुरादिवदविरोध इति चेद् , एवमपि पुत्रादिसम्बन्धवत् शरीरसम्बन्धस्य कर्ममात्रनिमित्तत्वे पुत्रादाविव शरीरेऽप्यहमभिमानस्य गौणत्वं प्रसज्येत । न च तद्युक्तम् , सिंहदेवदत्तयोरिव शरीरात्मनोः प्रसिद्धभेदाभावात् । अन्यथा पुत्रादिशरीरेणेव स्वशरीरेणाऽपि प्रमातृत्वाभावप्रसङ्गात् । तस्मान्न

[अर्थात् इस जन्ममें प्राप्त शरीरसम्बन्ध इससे पूर्वजन्ममें किये गये कर्मोंके द्वारा और उस जन्ममें प्राप्त शरीर उससे भी पूर्वके जन्ममें अर्जित कर्मोंके द्वारा प्राप्त होता है, इस प्रकार पूर्व-पूर्व-प्रवाहका मानना प्रमाणशून्य होनेसे अन्धपरम्परा दोषसे अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा, यह भाव है] ।

शङ्का—बीज और अङ्कुर व्यक्तियोंकी परम्पराके समान प्रकृतमें भी अन्धपरम्परा नहीं है, अतः विरोध नहीं है । [जैसे लोकमें बीजाङ्कुरमें प्रसिद्ध कार्यकारणभावकी रक्षाके लिए मानी गई प्रवाहानादितामें अन्धपरम्परा दोष नहीं माना जाता वैसे ही प्रकृतमें भी प्रवाहानादिता माननेसे उक्त दोष नहीं होगा, यह भाव है ।]

समाधान—यद्यपि इस प्रकार अन्धपरम्परा दोषका परिहार हो सकता है, तथापि पुत्रादिसम्बन्धके सदृश शरीरादिसम्बन्धको केवल कर्म द्वारा मान लेनेसे पुत्रादिमें होनेवाला 'अहम्' व्यवहार जैसे गौण—उपचरितार्थ—माना जाता है; वैसे ही शरीरके लिए होनेवाले 'अहम्' व्यवहारको भी गौण माननेका प्रसङ्ग हो जायगा ।* और इसको गौण मानना युक्तियुक्त भी नहीं है, क्योंकि सिंह और देवदत्तके समान शरीर तथा आत्मामें प्रसिद्ध भेद नहीं है । [और गौण व्यवहारके लिए लोकप्रसिद्ध भेदका होना आवश्यक है ।] अन्यथा पुत्रादिके शरीरके समान अपने शरीरसे भी प्रमातृत्वके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा । [यद्यपि पिता और पुत्रका लोकप्रसिद्ध भेद होनेपर भी अभेदके आरोप द्वारा पुत्रके

* लोकमें पुत्र आदिके दुःखी होनेपर पिताका व्यवहार पाया जाता है कि मैं दुःखी हूं । परन्तु वहांपर पुत्रके साथ अधिक मोह होनेसे अभेदाध्यवसानमूलक पुत्रके लिए 'मैं' व्यवहार किया जाता है, पुत्र पितासे वस्तुतः भिन्न है, इसलिए पुत्रमें 'मैं' व्यवहारको जैसे सर्वसाधारण गौण मानते हैं, वैसे ही अपने शरीरके लिए 'मैं मोटा हूं', इस प्रकारसे किये गए 'मैं' व्यवहारको कोई गौण नहीं मानता, इसलिए शरीरमें किये गए 'मैं' व्यवहारको गौण नहीं कह सकते, यह भाव है ।

कर्मनिमित्तः शरीरादिसम्बन्धः, किन्त्वविद्याकृतः।

स च तत्त्वज्ञाननिवर्त्यः। अत एव श्रुतिस्तत्त्वदर्शिनो यथापूर्वं संसारित्वं व्यावर्त्तयति—'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिका। तर्हि तत्त्वज्ञाने सति सद्यः शरीरपातः स्यादिति चेद्, न; 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति श्रुत्या प्रारब्धकर्मशेषसमाप्तिपर्यन्तमवस्थानावगमात्। 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि' इति श्रुतिस्त्वनारब्धकर्मविषया, 'अपवादविषयं परित्यज्य सामान्यं प्रवर्त्तते' इति न्यायात्।

लिए 'अहम्' ऐसा गौण व्यवहार किया भी जा सकता है, तथापि पुत्रके विद्वान् होनेसे पिता विद्वान् या पुत्रके शरीरसम्बन्धी परिश्रम करनेसे पितामें श्रम आदि नहीं होते। इसलिए सिद्ध होता है कि गौण आत्माके किये हुए कार्योंका साक्षात् सम्बन्ध अपनेसे नहीं होता, इस परिस्थितिमें यदि शरीरके लिए किया गया 'अहम्' व्यवहार भी गौण होगा, तो किये गये कामोंका अपनेसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं होगा, इससे प्रमातृत्व आदि व्यवहार अनुपपन्न हो जायगा।] इसलिए मानना चाहिए कि शरीरादिका सम्बन्ध कर्मके कारण नहीं है; किन्तु अविद्याके ही कारण है।

और वह सम्बन्ध (संसार) तत्त्वज्ञानसे ही छूट सकता है। इसी कारण 'चक्षुके रहते हुए भी वह (तत्त्वज्ञानी) चक्षुरहितके समान और कर्णविशिष्ट होते हुए भी कर्णरहितके समान है' इत्यर्थक श्रुति तत्त्वसाक्षात्कार करनेवालेकी पूर्ववर्ती संसारिताकी व्यावृत्ति करती है। यदि शङ्का हो कि इस दशामें तत्त्वसाक्षात्कार होते ही तुरन्त शरीर छूट जायगा, तो ऐसी आशङ्का भी उचित नहीं है, कारण कि 'उस (ब्रह्मज्ञानीकी) तबतक स्थिति रहती है, जबतक सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्ति न हो जाय, अनन्तर ब्रह्मसम्पत्ति होगी' इत्याद्यर्थक श्रुतिके बलसे अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मोंकी जबतक समाप्ति नहीं होगी, तबतक शरीरकी अवस्थितिकी प्रतीति होती है। 'ब्रह्मज्ञानीके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं' इत्याद्यर्थक श्रुति तो अनारब्ध—संचित तथा क्रियमाण—कर्मोंके विषयमें प्रवृत्त है, क्योंकि वाक्यार्थका निर्णायक न्याय है कि अपवादविषयका परिहार करके ही सामान्य शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय किया जाता है। [ब्रह्मज्ञानीके कर्मोंके विनाशकी प्रतिपादिका

यद्यपि तत्त्वज्ञानमशेषकर्मोपादानभूतामविद्यां निवर्त्तयति, तथापि प्रारब्धकर्मणो न निवर्त्तकम् , स्वयं तत्फलत्वात् । तदुक्तमाचार्यैः—

'आरब्धस्य फले ह्येते भोगो ज्ञानं च कर्मणः ।
अविरोधस्तयोर्युक्तो वैधर्म्यं चेतरस्य तु ॥' इति ॥

न चैवं जीवन्मुक्तस्याऽऽत्मैक्यानुभवद्वैतदर्शनयोर्विरुद्धयोः साहित्यं प्रसज्येतेति मन्तव्यम् , नहि वयं तयोर्यौगपद्यं ब्रूमः, किन्तु

श्रुति सामान्य शास्त्र है। और ब्रह्मज्ञानीकी तुरत विदेह-मुक्ति न कहकर कुछ काल तक उसके शरीरावस्थानको कहनेवाली श्रुति विशेष शास्त्र है, इसलिए सामान्य शास्त्रको प्रारब्ध कर्मसे भिन्न कर्मपरक और विशेष शास्त्रको प्रारब्ध कर्मपरक मानकर व्यवस्था करना उचित है, अन्यथा परस्पर विरोध होनेसे उनमें अप्रामाण्यका प्रसङ्ग हो जायगा।] यद्यपि तत्त्वज्ञान—ब्रह्मसाक्षात्कार—सम्पूर्ण कर्मोंकी कारणीभूत अविद्याको नष्ट कर देता है, तथापि प्रारब्ध कर्मको निवृत्त नहीं करता, कारण कि वह तत्त्वज्ञान स्वयं ही प्रारब्ध कर्मका फल है। [अतः उससे प्रारब्धका विनाश माननेपर उपजीव्यके साथ विरोध होगा विदेह-मुक्तिरूप अवस्थामें उक्त दोषका प्रसङ्ग नहीं आ सकता, कारण कि प्रारब्ध कर्मका सम्बन्ध वर्तमान शरीर तथा उस शरीरके सम्बन्धसे प्राप्त किये हुए तत्त्वज्ञान आदिसे ही है, प्रारब्धकी निश्शेष समाप्ति हो जानेपर शरीरपातके अनन्तर तो तत्त्वमय हो जानेसे तत्त्वज्ञानको अपने उपजीव्यके साथ विरोध करनेका अवसर ही नहीं रह जाता, क्योंकि उसका तो उपभोग द्वारा ही क्षय हुआ है, तत्त्वज्ञानसे नहीं हुआ है]। यही आचार्यपादका भी कहना है—

'भोग और ज्ञान दोनों प्रारब्ध कर्मके फल हैं, इसलिए भोग तथा ज्ञान—इन दोनोंका विरोध न होना ही युक्तियुक्त है। और दूसरेसे तो वैधर्म्य—विरोध—होता ही है'।

शङ्का—जीवन्मुक्त पुरुषमें अर्थात् शरीरसम्बन्धके रहते हुए भी जिसको ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ है, ऐसे पुरुषमें आत्माऽद्वैतका अनुभव और संसारित्वरूप द्वैतका अनुभव यों दोनों विरुद्धोंका एक साथ प्रसङ्ग हो जायगा।

समाधान—हम इन दोनोंका एक कालमें होना नहीं कहते हैं, परन्तु

पर्यायेणोद्भवाभिभवौ। न च शरीरपातात् पूर्वमपरोक्षं तत्त्वज्ञानमेव नाऽस्ति, व्यासादीनां सशरीराणामेव तत्त्वदर्शनस्य पुराणेष्ववगमात्। ननु तत्त्वदर्शिनोऽपि यथा कदाचिद् द्वैतदर्शनं तथा ज्योतिष्टोमादिकर्मानुष्ठानमपि स्यादिति चेद्, न; अनुष्ठानस्य प्रतिनियतदेशकालाधिकारकर्तृप्रतिपत्त्यधीनत्वात्। तत्त्वदर्शिनस्त्वारब्धकर्मनिमित्तदोषोद्भवस्य देशकालनियमाभावेन प्रारब्धानुष्ठानसमाप्तिपर्यन्तमवस्थानायोगात्। यथासं-

---

पर्यायसे एकके अनन्तर दूसरेका उदय और दबना अभिभव कहते हैं। शरीर छूटनेसे पहिले साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान ही नहीं होता, ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि शरीरसम्बन्धके रहते हुए भी व्यास आदि मुनियोंको तत्त्वसाक्षात्कारस्वरूप ज्ञान हुआ था, ऐसा पुराण वचनोंसे प्रतीत होता है।

शङ्का—जैसे तत्त्वसाक्षात्कार होनेके अनन्तर तत्त्वज्ञानीको कभी संसारित्व आदि द्वैतका अनुभव होता रहता है वैसे ही ज्योतिष्टोम आदि यागोंका अनुष्ठान भी प्राप्त क्यों नहीं होता ?

समाधान—उक्त आशङ्का नहीं हो सकती, कारण कि यज्ञयाग आदि कर्मोंका अनुष्ठान नियत देश, काल, अधिकार तथा कर्ताकी प्रतिपत्तिके अधीन है। और तत्त्वसाक्षात्कार करनेवाले जीवन्मुक्त ज्ञानीके तो प्रारब्ध कर्मोंके कारण होनेवाले द्वैतदर्शनरूप या शरीरसम्बन्धरूप दोषको, देश-कालका नियम न होनेसे, आरब्ध ज्योतिष्टोम आदि यागकी समाप्ति तक रहनेका अवसर नहीं है। [तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्त पुरुषको यद्यपि अवशिष्ट प्रारब्धकर्मके कारण कदाचित् बीच बीचमें द्वैतदर्शन (प्रमातृत्व या कर्तृत्वका अभिमानरूप दोष) आता जाता रहता है, तथापि इसमें देश-कालके सम्बन्धका नियम नहीं है कि अमुक देशमें ही जीवन्मुक्तकी ज्योतिष्टोम आदि यागमें होनेवाली प्रवृत्तिमें उपयोगी अधिकार आदि दोषका प्रारब्धवश उदय होगा तथा इतने समय तक अमुक दोष स्थिर रहेगा, जिससे कि आर्यावर्त आदि देशविशेषके तथा पक्ष, मास, वर्ष आदि कालके नियमोंसे नियमित यज्ञका आरम्भ जीवन्मुक्त कर सके। न मालूम किस समय प्रारब्धवश उदय हुआ दोष पुनः उदय हुये तत्त्वज्ञानसे विनष्ट हो जाय, उसी समय प्रारब्ध यज्ञ अपूर्ण ही छूट जायगा।]

यदि शङ्का हो कि जितना भी सम्भव हो सके उतना ही अनुष्ठान उसे प्राप्त हो,

भवमनुष्ठानमिति चेद्, न; पुनः पुनस्तत्त्वदर्शनेनाऽनुष्ठितकर्मणां बाधे सत्यनुष्ठानप्रयोजनाभावात्। प्रत्यहमुपचीयमानदुरितनिवृत्तिः प्रयोजनमिति चेद्, न; ज्ञानिन आगामिदुरितादिसम्बन्धासंभवात्। सम्भवे वा दैनन्दिनतत्त्वदर्शनेनैव तन्निवृत्तेः,

'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥' इति स्मृतेः।

तत्त्वदर्शिनः शास्त्रनियमाभावे यथेष्टाचरणं स्यादिति चेद्, न; आचरणस्य हिताहितप्राप्तिपरिहारप्रार्थनानिमित्तत्वात्। जीवन्मुक्तस्य तु

तो ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है, कारण कि पुनः पुनः तत्त्वसाक्षात्कार होनेके कारण अनुष्ठित कर्मोंका बाध होनेपर अनुष्ठानका कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। [अर्थात् यदि मान लिया जाय कि प्रारब्धवश उत्पन्न दोषकी प्रेरणासे उस दोषके उदयक्षणमें कर्मका अनुष्ठान कर भी लिया जाय, तो भी उससे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, कारण कि पुनः तत्त्वसाक्षात्कारका उदय होनेसे प्रपञ्चमात्रका बाध होनेके कारण फलप्रार्थनाके बीचमें अनुष्ठित कर्मका भी अनुष्ठान कैसे आगे चल सकता है, इस दशामें प्रथम अनुष्ठान करनेमें प्रवर्तक प्रयोजन ही कौनसा होगा, जिससे कि जीवन्मुक्तकी अनुष्ठानमें प्रवृत्ति हो सके।] प्रतिदिन बढ़नेवाले पापकी निवृत्ति भी कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवर्तक प्रयोजन नहीं हो सकती अर्थात् विहित नित्य कर्मोंके न करनेसे होनेवाले पापके भयसे भी ज्ञानीको कर्म करना प्राप्त नहीं हो सकता, कारण कि तत्त्वद्रष्टामें आनेवाले पाप आदि फलोंके सम्बन्धका सम्भव ही नहीं है। यदि उन पाप आदि फलोंके साथ सम्बन्धका सम्भव भी हो, तो भी प्रतिदिन होनेवाले तत्त्वसाक्षात्कारसे ही उसकी निवृत्ति हो जायगी।

स्मृति भी कहती है कि यदि तुम सभी पापियोंसे अधिक पापी भी हो, तो भी ज्ञानरूपी नौकासे सारे पापसागरको पार कर जाओगे।

शङ्का—यदि ब्रह्मसाक्षात्कारवाले ज्ञानी पुरुषमें शास्त्रीय नियमोंका अभाव माना जाना (अर्थात् वह उनसे मुक्त माना जाय), तो उसका मनमाना (निर्मर्याद) व्यवहार हो जायगा।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि व्यवहारमात्र अपने हितकी प्राप्ति और अहितकी निवृत्तिके लिए होता है। जीवन्मुक्त तो अपनी

स्वात्मन्येव निरतिशयानन्दमशेषानर्थनिवृत्तिं च साक्षादनुभवतः साध्यपुरुषार्थप्रार्थनाभावादाचरणमेव नाऽस्ति कुतो यथेष्टाचरणप्रसङ्गः ? भिक्षाटनादिप्रवृत्तिस्त्वारब्धकर्मदोषमूला । न च तद्वत्पुण्यपापे अप्यारब्धकर्मणा प्रवर्तयातामिति वाच्यम् , आरब्धकर्मणः फलमात्रहेतुत्वात् । पुण्यपापयोः पुनर्निमित्तमविद्यारागादि, तच्च तत्त्वज्ञानेन निवर्त्तितम् । न च मनननिदिध्यासनयोः प्रतिबन्दी ग्राह्या, तयोरपि श्रवणवदुपायत्वेन

आत्मामें ही निरतिशय (जिससे अधिक नहीं हो सकता) आनन्द और सब प्रकारके अहितकी निवृत्ति का साक्षात् (अपरोक्ष) अनुभव करता है। इसलिए उसको किसी भी प्रकारके हितप्राप्ति अथवा अनिष्टनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ करनेकी अभिलाषा नहीं रह जाती, इसलिए जब उसका व्यवहार ही नहीं रहता, तब मनमाने व्यवहारका प्रसङ्ग ही कैसे आ सकता है ? और भिक्षाटन आदि व्यवहार तो प्रारब्ध कर्मोंके दोषके कारण होते रहते हैं। भिक्षाटन आदिमें प्रवृत्तिके सदृश प्रारब्ध कर्मके द्वारा पुण्य और पापमें (पुण्यपापजनक कर्मानुष्ठानमें) भी उसकी प्रवृत्ति नहीं कह सकते, कारण कि प्रारब्ध कर्म तो केवल अपने फलके प्रति कारण हैं। और पुण्य तथा पापमें तो अविद्या तथा उसके कार्य राग आदि कारण हैं। [अपने संचितमें से 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥' इस स्मृतिवचनसे मरणसमयके भावोंके अनुसार एकत्रित हुए कर्म ही प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। ये केवल वर्तमान देहके सम्बन्धसे प्राप्त होनेवाले कर्मफलोंमें निमित्त हैं। आगामी देह सम्बन्धके या आगामी देहसम्बन्धसे मिलनेवाले फलोंके कारणीभूत पुण्य-पापके उत्पादक नहीं हैं। इसलिए प्रारब्धमें यह शक्ति नहीं है कि वह तत्त्वज्ञान होनेपर भी आगामी देहसम्बन्धके जनक पुण्यपापको प्राप्त करा सके। आगामी देहसम्बन्धके उत्पादक पुण्यपाप तो अविद्या तथा रागादिसे किये जानेवाले क्रियमाण कर्मोंसे ही उत्पन्न होते हैं, तत्त्वज्ञानीके क्रियमाण कर्म ज्ञानदग्ध हो जाते हैं, इससे फलोत्पादक नहीं होते]। और पुण्यपापके निमित्तभूत अविद्या तथा रागादि तो तत्त्वसाक्षात्कारसे निवृत्त हो गये हैं। मनन और निदिध्यासनको प्रतिबन्दीरूपसे नहीं ले सकते । [जैसे तत्त्वसाक्षात्कार-

तत्त्वदर्शनात् प्रागेवाऽनुष्ठेयत्वात् ।

ननु भेदाभेदयोरुभयोरपि वास्तवत्वान्नाऽद्वैतदर्शनेन द्वैतदर्शनं बाध्यते, येन कर्मप्रवृत्तिर्न सम्भवेत् । न च पूर्वपक्षसिद्धान्तादिनियमस्य भेदाभेदवादिना वक्तुमशक्यत्वात् सर्वसाङ्कर्यमिति शङ्कनीयम्, अद्वैतवादेऽपि समानत्वात् । मैवम्, अद्वैतवादे मायाकल्पितस्य प्रपञ्चस्य यथादर्शनमेव भेदेन व्यवस्थितत्वात् । ब्रह्मण एवाऽद्वितीयत्वात् । त्वन्मते तु साङ्कर्यं दुष्परिहरम् । न च व्यवहारसाङ्कर्येऽप्यदुष्टो मोक्ष इति

जनक श्रवणके अनन्तर भी मनन और निदिध्यासनका अनुष्ठान प्राप्त होता है, वैसे ही अन्य विहित कर्मोंका अनुष्ठान भी प्राप्त हो जायगा, ऐसी शङ्का करना भी उचित नहीं है।] कारण कि मनन और निदिध्यासन भी श्रवणके समान उपाय ही हैं, इसलिए उनका अनुष्ठान भी तत्त्वसाक्षात्कारके पूर्व ही प्राप्त है, अनन्तर प्राप्त नहीं है। [इसलिए उनको लेकर भी प्रतिबन्दी प्रश्न नहीं किया जा सकता।]

शङ्का—भेद तथा अभेद दोनों वास्तव हैं, अतः अद्वैततत्त्वके साक्षात्कारसे द्वैततत्त्वका बाध होता है, यह कहना सम्भव नहीं हो सकता, जिससे कि कर्मोंमें प्रवृत्तिका निवारण किया जा सके। भेदाऽभेदवादीके मतमें सिद्धान्तपक्ष तथा पूर्वपक्षके पार्थक्यके निर्वचनका (भेद और अभेद दोनोंको सत्य माननेसे किसको पूर्वपक्ष और किसको सिद्धान्त पक्षमें रक्खा जाय) संभव न होनेसे पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष सबके साङ्कर्यका (अविवेकका) प्रसङ्ग नहीं कहा जा सकता, कारण कि अद्वैतवादमें भी उक्त दोष समान ही है। [अद्वैतके अतिरिक्त कुछ भी न माननेसे भी पूर्वपक्ष उत्तरपक्षका नियम कैसे उपपन्न हो सकता है, इसलिए 'यश्चोभयोः समो दोषः' इस न्यायके अनुसार भेदाऽभेदवादीको ही उक्त दोष नहीं दिया जा सकता, इसके लिए जैसा भी परिहार अद्वैतवादी करेगा वही परिहार भेदाभेदवादमें भी हो जायगा, यह भाव है।]

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि अद्वैतवादीके मतमें मायाके द्वारा आरोपित दृश्यमान विश्वकी उसके प्रतिभासके अनुसार ही प्रतीयमान भेदके द्वारा व्यवस्था हो सकती है, क्योंकि ब्रह्म ही अद्वितीय पदार्थ है। तुम्हारे (भेदाऽभेदवादीके) मतमें तो साङ्कर्यका निवारण नहीं हो सकता। [अद्वैत-

वाच्यम्, तत्त्वदर्शनेन प्रपञ्चानिवृत्तौ देहात्मभावसुखदुःखादेरप्यबाधादनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। संसारदशायामेव भेदाभेदौ देहात्मभावादिश्चेति चेत्, तथापि भेदाभेदयोः परस्परविरोधः कथं परिह्रियेत। प्रामाणिकत्वादविरोध इति चेद्, न; किं 'खण्डो गौः' इति प्रत्यक्षज्ञानमेकमेव तत्र प्रमाणं किं वा 'मुण्डो गौः' इत्यनेन सहितम् अथवा 'स एवाऽयं गौः' इति तृतीयज्ञानसहितम्? नाऽऽद्यः; खण्डो गौरित्यस्मिन् प्रत्यये भिन्नोऽभिन्नश्चेति प्रतिभासाभावात्। भेदाभेदशब्दोल्लेखाभावेऽपि तत्प्रतीतिरस्त्येवेति चेद्, न; परस्परोपमर्दरूपयोस्तयोः सहप्रतिभासा-

---

वादमें काल्पनिक भेदके प्रतिभासके द्वारा द्वैतकी सिद्धिकी आशङ्का और परमार्थतः ब्रह्मरूप अद्वैत होनेसे उसके बाधरूप सिद्धान्तपक्षकी उपपत्ति हो सकती है, अन्य मतमें तो दोनोंके यथार्थ होनेसे साङ्कर्य नहीं हट सकता, यह भाव है]। व्यवहारका साङ्कर्य होनेपर भी मोक्षकी व्यवस्थामें कोई दोष नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि तत्त्वज्ञानसे प्रपञ्चकी (द्वैतकी) निवृत्ति न होनेपर देहमें आत्मबुद्धि तथा सुख, दुःख आदि भावोंकी निवृत्तिका भी संभव न होनेसे मोक्षका अवसर ही नहीं आ सकता। यद्यपि कहा जा सकता है कि भेद और अभेद दोनोंकी वास्तविक स्थिति और देहात्मभाव आदि संसारदशामें ही हैं, तथापि भेद और अभेदके एक साथ रहनेमें परस्पर विरोधका परिहार तो नहीं किया जा सकता। यदि कहो कि दोनों प्रमाणसिद्ध हैं, अतः उनमें परस्पर विरोध नहीं है, तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि (आप भेदाभेदका मानना किस प्रमाणसे सिद्ध करते हैं) क्या 'यह बैल खण्ड है' यह अकेला ही प्रत्यक्षज्ञान उसमें प्रमाण है? अथवा 'यह मुण्ड है' इस दूसरे प्रत्यक्षज्ञानके साथ उक्त ज्ञान प्रमाण है? या 'वही यह बैल है' इस प्रत्यभिज्ञारूप तीसरे ज्ञानके सहित उक्त ज्ञान प्रमाण है? इनमें प्रथम पक्ष नहीं मान सकते, कारण कि 'बैल खण्ड है' इस एक ज्ञानमें भिन्न (भेद) और अभिन्न (अभेद) इस प्रकार दोनोंकी प्रतीति नहीं होती। यदि कहो कि भेदाऽभेदरूप शब्दोंका उल्लेख न होनेपर भी भेदाभेदरूप अर्थकी प्रतीति तो है ही। [अन्यथा खण्ड और गो पदार्थमें विशेष्यविशेषणभाव ही नहीं हो सकता, परस्पर भेदाऽभेद रहनेसे ही नील, घट आदिमें विशेष्यविशेषणभाव होता है,] तो ऐसा मानना भी उचित

योगात् । अथ जातिव्यक्त्योर्भेदस्तावदभ्युपेयत एव इतरेतरात्मत्वाद-भेदोऽप्यभ्युपेयत इति चेद्, न; भिन्नयोरितरेतरात्मत्वे संप्रतिपन्न-दृष्टान्ताभावात् । न द्वितीयः, खण्डो गौर्मुण्डो गौरित्यनयोर्ज्ञानयोः संभूय प्रमात्वाभावात् । अथाऽपि प्रथमज्ञानेन यस्मिन् गोत्वे खण्डात्मकत्वं गृहीतं तस्मिन्नेव गोत्वे द्वितीयज्ञानेन खण्डत्वं निराकृत्य मुण्डत्वे गृहीतेऽर्थाद्भेदाभेदसिद्धिरिति चेद्, न; 'स एवाऽयं गौः' इति प्रत्यभिज्ञामन्तरेणैकस्य गोत्वस्योभयसम्बन्धासिद्धेः । न तृतीयः, प्रत्ययद्वयस्यैकस्मिन्नर्थे प्रामाण्यायोगात् । न च प्रत्ययत्रयान्यथा-

---

नहीं है कारण कि भेद तथा अभेद एक दूसरेकी प्रतीतिके विनाशक हैं, अतः उन दोनोंका साथ साथ एक ही प्रतीतिमें प्रतिभास नहीं हो सकता । [सुन्दोपसुन्द या सत्प्रतिपक्ष न्यायसे दोनोंका प्रतिभास होना असम्भव होगा ।]

शङ्का—जाति (गोत्व आदि) और व्यक्ति (गोविशेष) का भेद तो माना ही जाता है और इतरेतरस्वरूप होनेसे उनका अभेद भी माना ही जाता है ।

समाधान—दो भिन्न पदार्थोंको एक दूसरेका स्वरूप माननेमें वादी और प्रतिवादी दोनोंका सम्मत दृष्टान्त नहीं मिलता । दूसरा कल्प भी उचित नहीं है, कारण कि 'खण्ड गो' और 'मुण्ड गो' इन संमिलित दोनों ज्ञानोंमें यथार्थ-ज्ञानत्व नहीं माना जाता ।

शङ्का—यद्यपि ये दो ज्ञान मिलकर भ्रमस्वरूप नहीं हैं, तो भी 'खण्डो गौः' इस प्रथम ज्ञानसे जिस गोत्वमें खण्डस्वरूपका ज्ञान हुआ है, उसी गोत्वमें 'मुण्डो गौः' इस दूसरे ज्ञानसे खण्डत्वकी निवृत्ति करके मुण्डत्वका ग्रह होनेपर अर्थात् भेदाऽभेदकी सिद्धि हो जाती है ।

समाधान—वह यही गाय है (अर्थात् जिसमें खण्ड बुद्धि हुई थी, वही यह मुण्ड गाय है) इस प्रत्यभिज्ञाके बिना एक ही गोत्वके सम्बन्धकी सिद्धि खण्ड और मुण्ड दोनों स्थलोंमें नहीं हो सकती । तीसरा पक्ष भी नहीं बनता, कारण कि एक ही अर्थमें दो ज्ञानोंका होना प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ।

शङ्का—एक ही विषयमें विरुद्ध ज्ञानोंके होनेमें खण्ड और मुण्ड—ये दो ज्ञान

नुपपत्तिः प्रामाणम्, ह्रस्वोऽकारो दीर्घोऽकारः स एवाऽयमकार इति प्रत्ययत्रयस्य भेदाभेदावन्तरेणौपाधिकह्रस्वदीर्घत्वोपजीवनेनाऽप्युपपत्तेः। नन्वेवं भेदाभेदयोरसंभवेऽप्यात्मनि तौ स्यातामिति चेद्, न; तत्र भेदासिद्धेः। विवादगोचरापन्नाः स्थावरजङ्गमशरीरव्यक्तयः प्रतिवादिशरीरव्यक्त्यात्मनैवाऽऽत्मवत्यः, शरीरव्यक्तित्वात्, प्रतिवादिशरीरव्यक्तिवदित्येकत्वानुमानात्। अथाऽऽत्मानो भिन्नाः युगपज्जननमरणादिविरुद्ध-

---

और तीसरी प्रत्यभिज्ञा इस प्रकार तीन ज्ञानोंकी अन्यथा अनुपपत्ति ही प्रमाण है।

समाधान—एकमें तीन ज्ञान भेदाऽभेदके बिना भी हो सकते हैं, जैसे ह्रस्व अकार (१), दीर्घ अकार (२) और यह वही अकार (३) इस रीतिसे तीन ज्ञान उपाधि द्वारा उत्पन्न होनेवाले ह्रस्वत्व और दीर्घत्वरूप धर्मोंका आश्रयण करके भी होते हैं। [इससे परस्पर विरुद्ध दो ज्ञानोंका एकमें साधन करनेवाली तीन ज्ञानोंकी अन्यथा अनुपपत्तिको नहीं मान सकते।]

शङ्का—उक्त प्रकारसे भेदाभेदका होना सम्भव न भी हो, परन्तु आत्मामें तो भेदाऽभेद सिद्ध हो ही जायगा।

समाधान—आत्मामें भेदकी सिद्धिका सम्भव नहीं है। [आत्मामें भेदके विरोधी एकत्वकी सिद्धिके लिए अनुमान प्रयोग दिखलाते हैं—] विवादके विषयीभूत [वेदान्ती सर्वत्र आत्माका अभेद मानता है, परन्तु प्रतिवादी घट, पट, वृक्ष आदि जड़ शरीर तथा मनुष्यादि चेतन शरीरमें रहनेवाले आत्माको संसारित्वरूपसे भिन्न मानता है, अतः पक्षको विवादग्रस्त कहा] स्थावर (वृक्षादि) तथा जङ्गम (मनुष्यादि) शरीरव्यक्ति (प्रत्येक शरीर) ये विवादमति रखनेवाले प्रतिवादीके शरीरमें रहनेवाले आत्माके द्वारा ही आत्मावाले हैं, [सर्वत्र वही आत्मा है जो तुम्हारे विवाद करनेवाले प्रतिपक्षीके शरीरमें है, उससे भिन्न आत्मा नहीं है, इससे सकल शरीरव्यक्तिको पक्ष करके आत्माका एकत्वरूप साध्य दिखलाया गया। इसमें हेतु देते हैं—] कारण कि सम्पूर्ण शरीर व्यक्ति ही हैं, प्रतिवादीके शरीरव्यक्तिके तुल्य। इस प्रकार उक्त अनुमानसे एकत्वकी सिद्धि होती है।

शङ्का—उक्त अनुमानके विपरीत आत्मा परस्पर भिन्न हैं, कारण कि एक ही कालमें जन्म, मरण आदि विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं, जैसे अग्नि और

धर्माश्रयत्वादग्न्युदकादिवदिति चेद् , न; जननादीनां शरीराश्रयत्वेन हेत्वसिद्धेः । न चाऽऽत्मैकत्वे सुखदुःखादिसाङ्कर्यप्रसङ्गः, प्रतिबिम्बेषु सत्यप्येकत्वे वर्णसाङ्कर्यादर्शनात् । अन्योन्यवृत्तान्ताननुसन्धानमपि शरीर-

---

जल । [अग्नि तथा जलमें एक ही कालमें उष्णता तथा शैत्य गुण, जो कि परस्पर विरुद्ध हैं, रहते हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही आत्मामें भी एकका तो जन्म हो रहा है और उसी कालमें दूसरेकी मृत्यु होती है, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एक ही कालमें होनेसे आत्माओंमें भेद सिद्ध होता है ।]

समाधान—उक्त अनुमानकी सिद्धि नहीं हो सकती, कारण कि जन्म-मरण आदि विरुद्ध धर्मोंका आश्रय शरीर है, आत्मा नहीं है, इसलिए हेतुकी सिद्धि नहीं हो सकती । [साध्यसमानाधिकरण हेतुसे ही साध्यकी सिद्धि होती है। प्रकृतमें तो भेदरूप साध्यका अधिकरण आत्मा माना जा रहा है और उसका साधक विरुद्ध धर्माश्रयत्वरूप हेतु आत्माश्रय नहीं है, प्रत्युत शरीराश्रय होनेसे व्यधिकरण है, इसलिए सत् हेतु नहीं है, जिससे कि उसके द्वारा साध्यकी सिद्धिका सम्भव हो सके ।] आत्माके एक—अभिन्न—माननेसे सुख-दुःख आदिके साङ्कर्यका प्रसङ्ग नहीं आ सकता । (अर्थात् देवदत्तके सुख-दुःख यज्ञदत्तके भी अनुभवमें आने चाहिएँ, क्योंकि अनुभवका कर्ता आत्मा दोनोंमें एक ही है । ऐसी शङ्काका अवसर नहीं आ सकता ।] कारण कि प्रतिबिम्बोंका वस्तुतः अभेद होनेपर भी उनमें परस्पर वर्णसाङ्कर्य नहीं देखा जाता । जैसे ही मुखादिका एक ही कालमें खड्ग, मुकुर आदि तथा नील, पीत और कृष्ण वर्णके दर्पण आदि उपस्थित अनेक उपाधियोंके भेदसे प्रतिबिम्बोंमें अनेक परस्पर विरुद्धरूपसे प्रतीत होनेवाले लम्ब, वर्तुल आदि आकारभेद एवं नील, रक्त आदि वर्णभेद एक दूसरेमें प्रतीत नहीं होते हैं । यद्यपि सभी प्रतिबिम्ब बिम्बभूत मुखसे अभिन्न हैं तथापि वर्ण आकार आदिका सांकर्य नहीं होता । एवं प्रतिबिम्ब स्थानीय जीवात्माओंका बिम्बस्वरूप आत्मासे अभेद होनेपर भी उपाधिके द्वारा प्राप्त हुए दोषके संसर्गका परस्पर सांकर्य नहीं हो सकता । [यद्यपि उक्त दृष्टान्तसे कल्पना की जा सकती है कि जड़ाश्रित धर्मोंका परस्पर सांकर्य अनुपपन्न है, परन्तु चेतनाश्रय धर्मोंका सांकर्य क्यों नहीं होगा । इस आशङ्कासे कहते हैं—]

भेदादेवोपपद्यते, एकस्याऽऽप्यात्मनोऽतीतशरीदिष्वनुसंधानादर्शनात् । न च जीवानामन्योन्यभेदाभावेऽपि जीवब्रह्मणोर्भेदः स्यादिति मन्तव्यम् , न तावदत्र प्रत्यक्षं क्रमते, जीवब्रह्मणोरतीन्द्रियत्वात् । नाऽपि विरुद्धधर्माश्रयत्वहेतुना अग्न्युदकादिवदिति चेद् , न; जननादीनां शरीराश्रये हेत्वसिद्धेः । नाऽपि नियन्तृनियन्तव्यादि श्रौतलिङ्गं भेदे मानम् ,

---

एक दूसरेके वृत्तान्तका न जानना भी शरीररूप उपाधिके भेदसे ही संगत हो सकता है, जैसे कि एक भी आत्माको बीते हुए उसीके शरीरोंका ज्ञान होता हुआ नहीं देखा जाता है ।

शङ्का—उक्त रीतिसे यद्यपि जीवोंका परस्पर भेद सिद्ध नहीं हो सकता, तथापि जीव और ब्रह्मका भेद तो मानना ही होगा [संसारित्व और मुक्तत्वकी व्यवस्था भेद तथा अभेदके बिना बन ही नहीं सकेगी । इसलिए आत्मभेदका पक्ष जीव और ब्रह्मको ही मानेंगे] ।

समाधान—यह भी नहीं माना जा सकता, कारण कि जीव और ब्रह्मके भेदकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं है, कारण कि जीव और ब्रह्म दोनों इन्द्रियगोचर नहीं हैं । [इन्द्रियातीत पदार्थोंका भेद भी इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता] अग्नि तथा उदकके तुल्य विरुद्ध धर्मके आश्रय होनेके कारण भेदकी सिद्धिका भी सम्भव नहीं है, कारण कि (औपाधिक) जनन-मरण आदि विरुद्ध धर्मके आश्रयभूत शरीरके होनेसे (जीव और ब्रह्मरूप पक्षमें) उक्त हेतुकी सिद्धि नहीं है [अर्थात् व्यधिकरण होनेसे असत् हेतु है और व्यधिकरणधर्माश्रयत्वरूप हेतु भेदसे अव्यभिचरित भी नहीं है, प्रतिबिम्बोंमें इसका व्यभिचार दिखलाया ही गया है ।] एवं नियन्ता—नियमन करनेवाला (जिसके कारण ब्रह्म अन्तर्यामी कहा जाता है) और नियन्तव्य—नियमनका कर्म (जिसका नियमन किया जाता जाता है, जीवात्मा) इन दोनोंमें परस्पर विरुद्ध नियन्तृत्व तथा नियन्तव्यत्व आदि * रूप श्रुतिसिद्ध हेतु (उन वास्तव धर्मोंका आश्रय होना) भी भेदका साधक नहीं हो सकता, कारण कि 'इससे (ब्रह्मसे) अतिरिक्त कोई

---

* आदि पदसे ईश्वर होना तथा ऐश्वर्य होना एवं द्रष्टा होना तथा दृश्य होना आदि धर्म लिये जाते हैं ।

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादिश्रुतिभिस्तस्य बाधात् । नाऽपि 'द्वा सुपर्णा' इति श्रुत्या भेदसिद्धिः, 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इत्याद्येकत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् । भ्रान्तिसिद्धद्वैतानुवादेनाऽपि द्वित्वश्रुत्युपपत्तेः । तस्मान्न भेदाभेदावित्यद्वैतदर्शनेन द्वैतदर्शनस्य बाधः सिद्धः । ततश्च ब्रह्मसाक्षात्कारमात्रेण फलसिद्धेर्न वेदान्तेषु विधिगन्धोऽपि शङ्कनीयः । यदि स्यात्तर्ह्येकैव षोडशलक्षणी धर्ममीमांसा

द्रष्टा नहीं है और ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई श्रोता नहीं है' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंके द्वारा भेदका बाध होता है । [अर्थात् भेद माननेसे उक्त श्रुतिसे विरोध आता है] और 'द्वा सुपर्णा' दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) इत्यादि श्रुतिके द्वारा भी भेदकी सिद्धि नहीं हो सकती, कारण कि 'जो यह पुरुषमें और जो यह सूर्यमण्डलमें वह सब एक ही है' इत्याद्यर्थक एकत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे विरोध आता है। और भेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति तो भ्रमसिद्ध द्वैतका (भेदका) अनुवाद करके भी उपपन्न हो सकती है । [अर्थात् द्वैतका भ्रम मात्र है, कारण कि द्वैतकी सिद्धि प्रमात्मक प्रत्यक्षसे नहीं हो सकती । यदि प्रत्यक्ष द्वारा भेदका ज्ञान माना जाय, तो भेदग्रह तभी हो सकेगा जब धर्मी (जिसमें भेद है) और प्रतियोगी (जिसका भेद है) इन दोनोंकी व्यवस्था बन जाय और इन दोनोंकी व्यवस्थाकी सिद्धि भेदकी सिद्धिके बिना नहीं हो सकती, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष बना ही रह जाता है ।] भेदके भ्रमकल्पित होनेसे भेदाऽभेद दोनों वास्तव नहीं माने जा सकते । इस सिद्धान्तके अनुसार अद्वैतदर्शनसे द्वैतका बाध सिद्ध है । [अतः प्रघट्टकके आरम्भमें ही की गई आशङ्का—अद्वैत दर्शनसे द्वैतका बाध नहीं हो सकता, इस शङ्का—खण्डन हो गया ।] इस निर्णयके अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कारमात्रसे फलकी सिद्धिका सम्भव होता है, अतः वेदान्तवाक्योंका विधिके प्रतिपादनमें तात्पर्य है, ऐसी आशङ्काके लेशकी (जरासा सम्बन्ध होनेकी) तो शङ्का भी नहीं हो सकती । [सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तवाक्योंका, प्रयोजनशून्य होनेसे, विधिमें तात्पर्य है, ऐसी कल्पना भी नहीं बन सकती, कारण कि ब्रह्मसाक्षात्काररूप प्रयोजन सिद्ध ही है । इसके विपर्ययमें दोष देते हैं—] यदि वेदान्तोंका तात्पर्य विधिमें ही होता, तो सोलह अध्यायवाली (बारह अध्याय पूर्वमीमांसाके और चार अध्याय उत्तर-

प्रसज्येत । तथा च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति पृथगारम्भो नोपपद्येत । शरीरेन्द्रियसाध्या विधिभेदाः पूर्वमीमांसायां निरूपिताः, इह तु मानससाध्यो विधिर्निरूपित इति पृथगारम्भ इति चेत्? तर्हि 'अथाऽतः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा' इत्येवाऽऽरभ्येत, न त्वेवमारभ्यते । तस्माद्धर्मब्रह्मभेदादेवाऽनयोर्मीमांसयोर्भेदः । तदेवं विधिशङ्काया अप्यभावान्निर्विघ्नो ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वय इत्यशेषमतिमङ्गलम् ।

मीमांसाके मिलकर यों सोलह अध्यायवाली) एक ही धर्ममीमांसाका प्रसङ्ग हो जायगा । इस परिस्थितिमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि रीतिसे ब्रह्मजिज्ञासारूप अधिकारान्तरके उपक्रमसे अतिरिक्त मीमांसाका आरम्भ करना युक्तिसंगत न होता ।

शङ्का—शरीर और इन्द्रियके संघात द्वारा हो सकनेवाले ज्योतिष्टोम आदि अनुष्ठानविशेषोंका निरूपण पूर्वमीमांसामें किया गया है और इस उत्तरमीमांसामें तो मनके (एकाग्रता आदि) व्यापारसे सिद्ध हो सकनेवाले उपासना आदि अनुष्ठानका विवेचन किया गया है, इसलिए यों वैषम्य होनेके कारण इस उत्तरमीमांसाका पृथक् आरम्भ किया गया है ।

समाधान—यदि उक्त वैषम्यसे पृथक् आरम्भ प्राप्त हो जाय, तो 'सर्वसाम्यके कारण शरीरव्यापारसाध्य विधियोंका प्रतिपादन करनेके अनन्तर परिशिष्ट मनोव्यापारसाध्य विधिका निर्णय करनेवाली धर्मजिज्ञासा प्रारम्भ की जाती है', ऐसा अर्थवाला सूत्र बनाना उचित होता, परन्तु इस प्रकारसे तो उत्तरमीमांसाका प्रारम्भ नहीं किया जा रहा है । इसलिए यही कहना उचित है कि धर्म तथा ब्रह्मके भेदसे ही इन दोनों मीमांसाओंमें भेद है । [अर्थात् धर्मविचार पूर्वमीमांसामें और ब्रह्मका निर्णय उत्तरमीमांसामें है, शरीरेन्द्रियसाध्यत्व और मनोव्यापारसाध्यत्वरूपसे धर्मद्वैविध्यके कारण मीमांसाका द्वैविध्य नहीं है ।] इस प्रकार विधिकी शङ्काका भी अवसर न होनेसे ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय—तात्पर्यका निश्चय—निर्विघ्न (बाधरहित) होता है, अतः यह सारा सिद्धान्त अत्यन्त मङ्गलमय है ।

संगृहीतं विवरणं सहाऽनेकैर्निबन्धनैः ।
टीकायासं विना लोकाः क्रीडन्त्वत्र यथासुखम् ॥
महतां हृदयं बोद्धुमशक्तोऽप्यतिभक्तितः ।
अकार्षं ग्रन्थमेतेन प्रकाशात्मा प्रसीदतु ॥
यद्विद्यातीर्थगुरवे शुश्रूषाऽन्या न रोचते तस्मात् ।
अस्त्वेषा भक्तियुता श्रीविद्यातीर्थपादयोः सेवा ॥

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणप्रमेयसंग्रहे चतुर्थसूत्रे द्वितीयवर्णकम् ।

समाप्तं चेदं सूत्रम् ।

समाप्तश्च विवरणप्रमेयसङ्ग्रहः ।

शुभं भवतु ।

[अन्तमें ग्रन्थकार ग्रन्थरचनेका प्रयोजन बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—]

अनेक ग्रन्थोंकी सहायतासे अर्थात् वेदान्तके अन्य प्रामाणिक ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तके साथ समन्वय करते हुए, विवरणनामक ग्रन्थमें प्रतिपादित प्रमेयोंका (विषयोंका) इस ग्रन्थमें संग्रह किया गया है । जिज्ञासु जन टीकासे होनेवाले परिश्रमके बिना ही इस निबन्धमें विनोदका लाभ करें । [टीकाके द्वारा अर्थबोध करते समय मूल पुस्तकका भी आश्रय करना पड़ता है, इससे अनिवार्य परिश्रम आ ही पड़ता है, जैसी कि ग्रन्थारम्भमें ही प्रतिज्ञा की गई है] ॥ १ ॥

[अभिमानका परिहार करते हैं—] यद्यपि धुरन्धर प्रौढ विद्वानोंका अभिप्राय जाननेमें मैं समर्थ नहीं हूँ, तथापि प्रगाढ़ भक्तिके कारण [अर्थात् गुरु तथा शास्त्रमें अत्यन्त निर्व्याज आदर होनेके कारण प्राप्त हुए बोधके अनुसार] मैंने इस ग्रन्थकी रचना की है, इसलिए प्रकाशात्मानामक मेरे गुरु महाराज इससे प्रसन्न हों ॥ २ ॥

[ग्रन्थरचनासे गुरुकी प्रसन्नताका उपपादन करते हैं—] चूँकि विद्याप्रदान करनेवाले मेरे गुरु महाराजको अन्य किसी प्रकारकी सेवा अच्छी नहीं लगती है,

इसलिए भक्तिसे की गई यह ग्रन्थरचनात्मक सेवा श्रीविद्यातीर्थस्वरूप गुरु महाराजके पैरोंकी सेवा मानी जाय ॥ ३ ॥

श्रीगौरीशङ्करश्रेष्ठिस्थापितन्यासमण्डलात् ।
प्राप्तकण्ठीकृताद्वैतकणिकोऽन्ववदद् द्विजः ॥ १ ॥

विद्यासु शास्त्रेषु न तत्त्वबुद्धौ जागर्ति सोऽयं ललिताप्रसादः ।
तथापि यद्वै कृतवान् प्रयत्नं जागर्ति सोऽयं ललिता-प्रसादः ॥ २ ॥

वाराणस्यधिपस्य पूर्णकृपया विद्यागुरूणां तथा
वाणाङ्काङ्कधरामिते (१९९५) कुजदिने कृष्णे रवौ चापगे ।
माघे वैक्रमवत्सरे स्ववसितो भाषानुवादो ह्ययं
विश्वेशस्य कराम्बुजेषु परया भक्त्याऽर्प्यते सादरम् ॥ ३ ॥

इति श्री पं० ललिताप्रसादडबरालविरिचत विवरणप्रमेयसंग्रह-
भाषानुवादमें चतुर्थसूत्र समाप्त

